JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ GRANTHAMĀLĀ · Sanskrit Grantha No. 42

JAINENDRA SIDDHĀNTA KOŚA

[Part III]

by

Kshu. JINENDRA VARṆĪ

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA PUBLICATION

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪTHA MŪRTIDEVĪ JAIN GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SĀHU SHĀNTIPRASĀD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

SHRĪ MŪRTIDEVĪ

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL, PAURĀNIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRĀKṚTA, SAṂSKṚTA, APABHRAṂŚA, HINDI, KANNAḌA, TAMIL, ETC., ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES AND CATALOGUES OF JAIN BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED.

•

General Editors

Dr. Hiralal Jain, M. A., D. Litt.

Dr. A N. Upadhye, M. A., D. Litt.

•

Published by

Bharatiya Jnanapitha

Head office B/45-47, Connaught Place, New Delhi-1

Publication office Durgakund Road, Varanasi-5

•

Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam. 2470, Vikrama Sam. 2000, 18th Feb., 1944

All Rights Reserved.

संकेत-सूची

अ. ग श्रा /.../ ..	अमितगति श्रावकाचार/अधिकार स./श्लोक म., पं. वंशीधर शोलापुर, प्र. सं., वि. सं. १६७६
अ. ध / ./.../..	अनगारधर्मामृत/अधिकार सं /श्लोक स./पृष्ठ म., पं. खूबचन्द शोलापुर, प्र. स. ई १.६.१६२७
आ अनु./. .	आत्मानुशासन/श्लोक सं.,
आ. प./.. /.../. .	आलापपद्धति/अधिकार स /सूत्र सं./पृष्ठ सं., चौरासी मथुरा, प्र. सं., वी. नि. २४५६
आप्त प./..	आप्तपरीक्षा/श्लोक स./प्रकरण स /पृष्ठ स , वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. स., वि. स २००६
आप्त. मी./ .	आप्तमीमासा/श्लोक स.,
इ.उ.मू / ../	इष्टोपदेश/मूल या टीका/श्लोक स /पृष्ठ सं. (समाधिशतकके पीछे) पं आशाधर जी कृत टी. वीरसेवा मन्दिर, दिल्ली
क पा... /§ . / ..	कषायपाहुड पुस्तक स /६ प्रकरण स./पृष्ठ स /पंक्ति स , दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, प्र सं., वि स. २०००
का. अ./म / .	कार्तिकेयानुप्रेक्षा/मूल या टीका/गाथा स , राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र सं ई. १६६०
कुरल./ ./...	कुरल काव्य/परिच्छेद स./श्लोक स., प. गोविन्दराज जैन शास्त्री, प्र स., वी. सं. २४८०
क्रि. क./ . / ..	क्रियाकलाप/मुख्याधिकार स —प्रकरण स /श्लोक स./पृष्ठ सं., पन्नालाल सोनी शास्त्री आगरा, वि. स /१६६३
क्रि. को./ .	क्रियाकोश/श्लोक स , पं. दौलतराम
क्ष. सा./मू./.../.	क्षपणसार/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ म., जैन सिद्धान्त प्र. कलकत्ता
गुण श्रा./...	गुणभद्र श्रावकाचार/श्लोक स. वसुनन्दि श्रावकाचार/श्लोक सं., वसुनन्दि श्रावकाचारकी टिप्पणीमें
गो. क./मू / ./ .	गोम्मटसार कर्मकाण्ड/मूल या टीका/गाथा सं /पृष्ठ स , जैनसिद्धान्त प्रकाशनी संस्था, कलकत्ता
ज्ञा / ./...	ज्ञानार्णव/अधिकार सं./दोहक स./पृष्ठ स , राजचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र. स , ई. १६०७
ज्ञा सा./ ..	ज्ञानसार/श्लोक स ,
चा. पा./मू./ /	चारित पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ म., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र स., वि. स./१६७७
चा सा / ./. .	चारित्रसार/पृष्ठ स./पंक्ति स , महावीर जी, प्र. स., वि. नि. २४८८
ज प / . / ..	जम्बूदीवपण्णत्तिसगहो/अधिकार स./गाथा सं., जैन सस्कृति सरक्षण संघ, शोलापुर, वि. सं २०१४
त. अनु./ .	तत्त्वानुशासन/श्लोक स , (नागसेन सूरिकृत), वीर सेवा मन्दिर देहली. प्र. स., ई १६६३
त. वृ / ../ /	तत्त्वार्थवृत्ति/अध्याय स /सूत्र सं /पृष्ठ स /पंक्ति स , भारतीय ज्ञानपीठ. प्र स., ई. १६४६
त सा./ . / /. .	तत्त्वार्थसार/अधिकार स /श्लोक स./पृष्ठ स , जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, प्र. स., ई. स. १६२६
त सू /.. / .	तत्त्वार्थसूत्र/अध्याय स./श्लोक सं./सूत्र स ,
ति. प / /..	तिलोयपण्णत्ति/अधिकार स./गाथा सं., जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, प्र स., वि. स. १६६६
त्रि. सा./ ..	त्रिलोकसार/गाथा स., जैन साहित्य बम्बई, प्र. स., ई. १६१८
द. पा /मू /. ./ ..	दर्शन पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ स , माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र स., वि. स. १६७७
द. सा / ..	दर्शनसार/गाथा:स , नाथूराम प्रेमी, बम्बई, प्र. स., वि १६७४
दे०—	देखो
द्र. सं /म./ . /	द्रव्यसंग्रह/मूल या टीका/गाथा सं०/पृष्ठ स०, देहली, प्र. सं ई. १६५३
ध. प./	धर्मपरीक्षा/श्लोक स.
ध. /III/ ../ .	धवला पुस्तक स./खण्ड स , भाग, सूत्र/पृष्ठ स /पंक्ति या गाथा सं. अमरावती, प्र. सं.
न. च. वृ /	बृहद् नयचक्र/गाथा स (श्रीदेवसेनाचार्यकृत), माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र सं., वि. स. १६७७
न. च./श्रुत /	नयचक्र/श्रुत भवन दीपक/अधिकार स /पृष्ठ स. सिद्ध सागर, शोलापुर
नि सा / मू / .	नियमसार/मूल या टीका/गाथा स.
नि सा /ता वृ./क.	नियमसार/तात्पर्य वृत्ति—गाथा सं./कलश स.
न्या दी /. ./§ . /...	न्यायदीपिका/अधिकार स /प्रकरण सं /पृष्ठ स , वीरसेवा मन्दिर देहली, प्र. स., नि.सं. २००२
न्या बि /मू./...	न्यायबिन्दु/मूल या टीका/श्लोक सं., चौखम्बा सस्कृत सीरीज, बनारस
न्या. वि /मू. / / ../	न्यायविनिश्चय/मूल या टीका/अधिकार सं /श्लोक स /पृष्ठ स /पंक्ति स., ज्ञानपीठ बनारस
न्या सू /मू. ./ /	न्यायदर्शन सूत्र/मूल या टीका/अध्याय/आह्निक/सूत्र/पृष्ठ, मुजफ्फरनगर, द्वि. सं., ई. १६३४
पं का /मू /.../ ..	पचास्तिकाय/मूल या टीका/गाथा स./पृष्ठ स , परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, प्र. स., वि. १६७२
पं ध./पू / ..	पचाध्यायी/पूर्वार्ध/श्लोक स., प. देवकीनन्दन, प्र. स , ई. १६३२
प. ध /उ./ ..	पचाध्यायी/उत्तरार्ध/श्लोक स. प देवकीनन्दन, प्र स., ई. १६३२
प. वि / ../. .	पद्मनन्दि पचविंशतिका/अधिकार स./श्लोक स., जीवराज ग्रन्थमाला, प्र. स., ई. १६३२

पं. सं./प्रा./ /.	पंचसंग्रह/प्राकृत/अधिकार सं./गाथा सं., ज्ञानपीठ काशी, प्र. सं., ई. १९६०
पं. सं./सं./ /..	पंचसंग्रह/संस्कृत अधिकार सं./श्लोक सं., पं. सं./प्रा. की टिप्पणी, प्र. सं., ई. १९६०
प. पु./ ./..	पद्मपुराण/सर्ग/श्लोक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्र. सं., वि. सं., २०१६
प. मु./ ./ ./ .	परीक्षामुख/परिच्छेद सं. सूत्र सं./पृष्ठ सं., स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी प्र. सं.
प. प्र./मू./../ .	परमात्मप्रकाश/मूल या टीका/अधिकार सं./गाथा सं./पृष्ठ सं०, राजचन्द्र ग्रन्थमाला, द्वि. सं., वि. सं. २०१७
पा. पु./ ./ .	पाण्डवपुराण/सर्ग सं./श्लोक सं., जीवराज, शोलापुर, प्र. सं. ई. १९६२
पु. सि. उ./..	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय/श्लोक सं.
प्र. सा./मू./ /	प्रवचनसार/मूल या टीका/गाथा सं.
प्रति. सा./ /	प्रतिष्ठासारोद्धार/अध्याय/श्लोक सं.
बा. अ./	बारस अणुवेक्खा/गाथा सं.
बो. पा./मू./ /	बोधपाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
भ. आ./मू./ /.	भगवती आराधना/मूल या टीका/गाथा सं./पृ. सं./पंक्ति सं., सखाराम दोशी, शोलापुर, प्र. सं. ई. १९३५
भा. पा./मू./ /.	भाव पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
म. पु./ /	महापुराण/सर्ग सं./श्लोक सं. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र. सं., ई. सं. १९५१
म. बं./§ ./	महाबन्ध पुस्तक सं./§ प्रकरण सं./पृष्ठ सं., भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र. सं. ई. सं. १९५१
मू. आ./.	मूलाचार/गाथा सं., अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. सं. १९७६
मो. पं./	मोक्ष पंचाशिका/श्लोक सं.
मो. पा./मू./ / .	मोक्ष पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
मो. मा. प्र./ / ./.	मोक्षमार्ग प्रकाशक/अधिकार सं./पृष्ठ सं./पं. सं., सस्ती ग्रन्थमाला, देहली, द्वि. सं., वि. सं. २०१०
यु. अनु./	युक्त्यनुशासन/श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर, सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
यो. सा. अ./ ./ .	योगसार अमितगति/अधिकार सं./श्लोक सं., जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता, ई. सं. १९१८
यो. सा./यो./	योगसार योगेन्दुदेव/गाथा सं., परमात्मप्रकाशके पीछे छपा
र. क. श्रा./	रत्नकरण्ड श्रावकाचार/श्लोक सं.
र. सा./..	रयणसार/गाथा सं०
रा. वा./ / / /	राजवार्तिक/अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., भारतीय ज्ञानपीठ प्र. सं., वि. सं. २००८
रा. वा. हिं./ / /	राजवार्तिक/अध्याय सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं.
ल. सा. मू./ ./	लब्धिसार/मूल/गाथा सं./पृष्ठ सं., जैन सिद्धान्त प्र०, कलकत्ता, प्र. सं.
ला. सं./ /	लाटी संहिता/अधिकार सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं.
लिं. पा. मू./ /	लिंग पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, प्र. सं., वि. सं. १९७७
वसु. श्रा./..	वसुनन्दि श्रावकाचार/गाथा सं., भारतीय ज्ञानपीठ काशी, प्र. सं., वि. सं. २००७
वैशे. द./ /./	वैशेषिक दर्शन/अध्याय/आह्निक/सूत्र सं./पृष्ठ सं., देहली पुस्तक भण्डार देहली, प्र. सं., वि. सं. २०१७
शी. पा. मू./	शील पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पंक्ति सं. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं., वी. सं. १९७७
श्लो. वा./. / ./ ./	श्लोकवार्तिक/पुस्तक सं./अध्याय सं./सूत्र सं./वार्तिक सं./पृष्ठ सं., कुन्थुसागर ग्रन्थमाला शोलापुर, प्र. सं. १९४९-१९५६
ष. खं./ / III/ /	षट्खण्डागम/पुस्तक सं./खण्ड सं./पृष्ठ सं.
स. भं. त./. /	सप्तभङ्गीतरङ्गिनी/पृष्ठ सं./पंक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, द्वि. सं., वि. सं. १९७२
स. म./ / /	स्याद्वादमञ्जरी/श्लोक सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., परम श्रुत प्रभावक मण्डल, प्र. सं. १९९१
स. श./मू./ /.	समाधिशतक/मूल या टीका/श्लोक सं./पृष्ठ सं./इष्टोपदेश युक्त, वीर सेवा मन्दिर देहली, प्र. सं., २०२१
स. सा. मू./ / /	समयसार/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं./पंक्ति सं., अहिंसा मन्दिर प्रकाशन देहली, प्र. सं., ३१/१२/१९५८
स. सा./आ./ /क	समयसार/आत्मख्याति/गाथा सं./कलश सं.
स. सि./ / /	सर्वार्थसिद्धि/अध्याय सं./सूत्र सं./पृष्ठ सं. भारतीय ज्ञानपीठ प्र. सं., ई. १९५५
स्व. स्तो./.	स्वयम्भू स्तोत्र/श्लोक सं., वीरसेवा मन्दिर सरसावा, प्र. सं., ई. १९५१
सा. ध./ /	सागार धर्मामृत/अधिकार सं./श्लोक सं.
सा. पा./ .	सामायिक पाठ अमितगति/श्लोक सं.
सि. सा. सं./ /	सिद्धान्तसार संग्रह/अध्याय सं./श्लोक सं./जीवराज जैन ग्रन्थमाला, प्र. सं., ई. १९५७
सि. वि. मू./ ../ / / .	सिद्धि विनिश्चय/मूल या टीका/प्रस्ताव सं./श्लोक सं./पृष्ठ सं./सं., भारतीय ज्ञानपीठ, प्र. सं., ई. १९५९
सु. र. सं./..	सुभाषित रत्न संदोह/श्लोक सं. (अमितगति), जैन प्र. कलकत्ता, प्र. सं., ई० १९१७
सू. पा./मू./ / .	सूत्र पाहुड/मूल या टीका/गाथा सं./पृष्ठ सं., माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई, प्र. सं., वि. सं. १९७७
ह. पु./ /	हरिवंश पुराण/सर्ग/श्लोक सं., भारतीय ज्ञानपीठ, प्र. सं.

नोट—भिन्न-भिन्न कोष्ठकों व रेखाचित्रोंमें प्रयुक्त संकेतोंके अर्थ क्रमसे उस-उस स्थल पर ही दिये गये हैं।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

[भाग २]

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश

[क्षु० जिनेन्द्र वर्णी]

[प]

पंकप्रभा—१. पंकप्रभा नरकका लक्षण

स सि./३/१/२०३/८ पङ्कप्रभासहचरिता भूमि पङ्कप्रभा। =जिसकी प्रभा कीचडके समान है, वह पंकप्रभा (नाम चतुर्थ) भूमि है। (ति प./२/२१), (रा. वा./३/१/३/१५६/१८), (ज. प./११/११३)

*** आकार व अवस्थानादि**—दे० नरक/५।

२. इसके नामकी सार्थकता

ति प /२/२१ सक्करवालुवपंकाधूमतमातमतमं च समचरियं। जेण अवसेसाओ छप्पुढवीओ वि गुणणामा ।२१। =रत्नप्रभा पृथिवीके नीचे शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पकप्रभा ये शेष छह पृथिवियाँ क्रमश' शक्कर, बालु, कीचड की प्रभामे सहचरित है। इसलिए इनके भी उपर्युक्त नाम सार्थक है ।२१।

पंकभाग—ति. प /२/९,१९ खरपकब्बहुलभागारयणप्पहाए पुढवीए ।९। पंकाजिरो य दीसदि एव पकब्बहुलभागो वि ।१९। [पङ्कबहुलभागे असुरराक्षसानामावासा । रा. वा.] =अधोलोकमें सबसे पहली पृथ्वी है। उसके तीन भाग है—खरभाग, पकभाग और अब्बहुल भाग ।९। पकबहुलभाग भी जो पकसे परिपूर्ण देखा जाता है ।१९। इसमें असुरकुमारों और राक्षसोके आवास स्थान है। (रा वा /३/१/८/१६०/२०); (ज. प./११/११५-१२३)

*** लोकमें पंकभाग पृथिवीका अवस्थान**—दे० लोक/७।

पंकावती – पूर्व विदेहकी एक विभगा नदी। दे० लोक/२।

पंचकल्याणक—दे० कल्याणक।

पंचकल्याणकव्रत—दे० कल्याणकव्रत।

पंचनद—वर्तमान पंजाब (म. पु /प्र /४९ पं. पन्नालाल)।

पंचनमस्कारमंत्रमाहात्म्य—आ० सिंहनन्दी (ई० श० १६) कृत एक कथा।

पंचपोरियाव्रत—व्रतविधान स /१२९—भादो सुदी पाँच दिन जान, घर पच्चीस बाँटे पकवान। =भादो सुदी पंचमीको पचीस घरोमें पकवान बाँटे। (यह व्रत श्वेताम्बर व स्थानकवासी आम्नायमें प्रचलित है।)

पंचमकाल—दे० काल/४।

पंचमीव्रत—पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद शु० ५ को उपवास तथा नमस्कारमन्त्रका त्रिकाल जाप। (व्रतविधान सं./८५) (किशनसिह क्रियाकोश)

पंचमुष्ठी—शरीरके पाँच अंग। दे०—नमस्कार/१ में ध /८)।

पंचवर्ण—एक ग्रह। दे०—ग्रह।

पंचविंशतिकल्याणभावनाव्रत—

ह. पु./३४/११३-११६ पचीस कल्याण भावनाएँ है, उन्हे लक्ष्यकर पचीस उपवास करना तथा उपवासके बाद पारणा करना, यह पंचविंशतिकल्याणभावनाव्रत है ।११३। १ सम्यक्त्व, २ विनय, ३ ज्ञान, ४ शील ५ सत्य, ६. श्रुत, ७ समिति, ८ एकान्त, ९. गुप्ति, १० ध्यान, ११. शुक्लध्यान, १२. संक्लेशनिरोध, १३. इच्छानिरोध, १४. सवर, १५ प्रशस्तयोग, १६. संवेग, १७ करुणा, १८ उद्वेग, १९. भोगनिर्वेद, २०. संसारनिर्वेद, २१ भुक्तिवैराग्य, २२ मोक्ष, २३ मैत्री, २४ उपेक्षा और २५. प्रमोदभावना, ये पचीस कल्याण भावनाएँ है ।११४-११६।

पंचशिखरी—पाँच कूटोसे सहित होनेके कारण हिमवान्, महाहिमवान् और निपधपर्वत पंचशिखरी नामसे प्रसिद्ध है। (ति. प /४/१६६२, १७३२, १७६७)

पंचशिरा—कुण्डलपर्वतस्थ वज्रप्रभकूटका स्वामी नागेन्द्रदेव। दे० लोक/७।

पंचश्रुतज्ञानव्रत—एक 'उपवास एक पारणाक्रमसे १६८ उपवास पूरे करे। 'ओं ह्री पञ्चश्रुतज्ञानाय नम'' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रतविधान संग्रह/७२) (वर्धमान पु /)

पंचसंग्रह—(पं सं /प्र १४/A N. Up) दिगम्बर आम्नायमे पंचसग्रहके नामसे उल्लिखित कई ग्रन्थ उपलब्ध है। सभी कर्मसिद्धान्त विषयक है। उन ग्रन्थोंकी तालिका इस प्रकार है—१. दिगम्बर प्राकृत पंचसग्रह—यह सबसे प्राचीन है। इसमें पाँच अधिकार है, १३२४ गाथाएँ है, और ५०० श्लोकप्रमाण गद्यभाग भी है। इस ग्रन्थके कर्ताका नाम व समय ज्ञात नही, फिर भी वि. श. ५-८ का अनुमान किया जाता है। (पं स /प्र ३९/A N Up) २ श्वेताम्बर प्राकृत पंचसग्रह—यह १००५ गाथा प्रमाण है। इस पर ८०००

श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञवृत्ति भी लिखी गयी है। इसपर मलयागिरि नामकी संस्कृत टीका भी है। इसका रचनाकाल वि० श० ७ है। ३ दि० संस्कृत पंचसंग्रह प्रथम—पंचसंग्रह क्र. १ के आधारपर आचार्य अमितगतिने वि० १०७३ (ई० १०१६) में रचा है। इसमें भी पाँच प्रकरण हैं, तथा इसका प्रमाण १४५६ श्लोक तथा १००० श्लोक प्रमाण गद्य भाग है। ४ दि० संस्कृत पंचसंग्रह द्वि०—पंचसंग्रह क्र० १ आधारपर श्रीपाल सुत श्री उड्ढा नामके एक जैन गृहस्थने वि० श० १७ में रचा था। इसकी समस्त श्लोक संख्या १२४३ तथा गद्यभाग ७०० श्लोक प्रमाण है। ५. द्वि० प्राकृत पंचसंग्रह टीका—पंचसंग्रह क्र. १ पर यह टीका आ० सुमतिकीर्ति भट्टारक द्वारा वि० सं० १६२० (ई० १५६३) में लिखी गयी है। ६. द्वि० प्राकृत पंचसंग्रह मूल (क्र० १) और प्राकृत वृत्ति—पंचसंग्रह क्र० १ के मूलाधार भूत बन्ध बन्धनादि पाँच ग्रन्थोंके ऊपर श्री पद्मनन्दि क्र० ४ (ई० ६६३-१०४३) ने प्राकृत भाषामें चूर्णिकाओंकी शैलीसे एक वृत्ति लिखी थी। इसकी ४१८ गाथाएँ तथा ४००० श्लोकप्रमाण गद्यभाग है। ७. इसके अतिरिक्त भी पंचसंग्रह नामके कई ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता है। जैसे गोम्मटसार ग्रन्थको भी पंचसंग्रह कहा जाता है। ८. श्री हरिदामोदर वेलंकरने अपने जिनरत्नकोशमें 'पंचसंग्रह दीपक' नामके एक और भी ग्रन्थका उल्लेख किया है। उनके अनुसार वह गोम्मटसारका पद्यानुवाद है तथा इन्द्र वामदेव द्वारा रचित है। इसमें पाँच अधिकार हैं तथा १४६८ श्लोकप्रमाण है। ९ पंचसंग्रह टीका—पंचसंग्रह नं १ पर आ० सुमतिकीर्ति (ई० १५६३-१५६८) द्वारा रचित संस्कृत टीका।

पंचस्तूपसंघ—दे० इतिहास/५।

पंचांक—ध १२/४,२,७,२१४/१७०/६ संखेज्जभागवड्ढी पंचको त्ति घेत्तव्वो। =संख्यात भाग वृद्धिकी पंचांक संज्ञा जाननी चाहिए। (गो. जी /मू./३२५/६८४)

पंचाग्नि—पंचाग्निका अर्थ पंचाचार। दे०—अग्नि।

पंचाध्यायी—पं राजमलजी (ई० १५९६-१६०५) द्वारा संस्कृत श्लोकोंमें रचित एक आध्यात्मिक गहन ग्रन्थ। इसके दो ही अध्याय पूरे करके पण्डितजी स्वर्गवास सिधार गये। अतः यह ग्रन्थ अधूरा है। पहले अध्यायमें ७६८ तथा दूसरेमें ११४४ श्लोक हैं।

पंचास्तिकाय—विषय—दे० अस्तिकाय।

ग्रन्थ—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत तत्त्वार्थ विषयक १७३ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध सम्यग्ज्ञान प्रधान ग्रन्थ। यह ग्रन्थ राजा शिवकुमार महाराजके लिए लिखा गया था। इसपर आठ टीकाएँ लिखी गयीं—१. आ० अमृतचन्द्र (ई० ९६२-१०५५) रचित तत्त्वप्रदीपिका नामकी संस्कृत टीका। २ आ० मल्लिषेण (ई० ११२८) द्वारा रचित टीका। ३ आ० जयसेन (ई० १२९२-१३२३) द्वारा रचित संस्कृत टीका। ४ आ० प्रभाचन्द्र, क्र ६ (ई० १२५६) कृत संस्कृत टीका। ५ आ० बालचन्द्र (ई० १३५०) कृत कन्नड टीका। ६. पं. हेमचन्द्र (ई० १६४३-१६७०) कृत भाषा वचनिका। ७. भट्टारक ज्ञानचन्द्र (ई० १५१८) द्वारा रचित टीका। ८. प. बुधजन द्वारा (ई० १८३४) में रचित भाषा टीका।

पंचेन्द्रिय जाति—दे० जाति/१।

पंचेन्द्रिय जीव—दे० इन्द्रिय/४।

पंजिका—क पा २/२,२२/§२६/१४/८ वित्तिसुत्तविसमपयभंजियाए पंजियववएसादो। —वृत्तिसूत्रोंके विषम पदोंको स्पष्ट करनेवाले विवरणको पंजिका कहते हैं।

पंडित—प प्र /मू./२/१४ देहविभिण्णउ णाणमउ जो परमप्पु णिएइ। परमसमाहि-परिट्ठियउ पंडिउ सो जि हवेइ ।१४। =जो पुरुष परमात्माको शरीरसे जुदा केवलज्ञानकर पूर्ण जानता है वही परमसमाधिमें तिष्ठता हुआ पंडित अर्थात् अन्तरात्मा है।

पंडितमरण—दे० मरण/१।

पंप—राजा अरिकेसरीके समयके एक प्रसिद्ध जैन कन्नड कवि। कृतियाँ–आदिपुराणचम्पू (म. पु /प्र. २० प. पन्नालाल), भारत या विक्रमार्जुनविजय। समय—वि. ९९८ (ई ९४१) में 'विक्रमार्जुनविजय' लिखा गया था—(यशस्तिलकचम्पू/प्र २०/पं. सुन्दरलाल)।

पउमचरिउ—दे० पद्मपुराण।

पक्ष—विश्वासके अर्थमें

म. पु /३९/१४६ तत्र पक्षो हि जैनानां कृत्स्नहिंसाविवर्जनम्। मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यैरुपबृंहितम् ।१४६। =मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्यभावसे वृद्धिको प्राप्त हुआ समस्त हिंसाका त्याग करना जैनियोंका पक्ष कहलाता है। (सा.ध./१/१९)।

पक्ष—न्यायविषयक

प. मु /३/२५–२६ साध्य धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।२५। पक्ष इति यावत् ।२६। =कहीं तो (व्याप्ति कालमें) धर्म साध्य होता है और कहीं धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है। धर्मीको पक्ष भी कहते हैं ।२५–२६।

स्या मं /३०/३३४/१७ पच्यते व्यक्तीक्रियते साध्यधर्मवैशिष्ट्येन हेत्वादिभिरिति पक्षः। पक्षीकृतधर्मप्रतिष्ठापनाय साधनोपन्यासः। =जो साध्यसे युक्त होकर हेतु आदिके द्वारा व्यक्त किया जाये उसे पक्ष कहते हैं। जिस स्थलमें हेतु देखकर साध्यका निश्चय करना हो उस स्थलको पक्ष कहते हैं।

जैन सिद्धान्त प्रवेशिका—जहाँ साध्यके रहनेका शक हो। 'जैसे इस कोठेमें धूम है' इस दृष्टान्तमें कोठा पक्ष है।

२. साध्यका लक्षण

न्या. वि /मू./२/३/८ साध्य शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धम् ।...।३।

न्या. दी /३/§२०/६६/६ यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वेन साधयितुं शक्यम् वादिभिमतत्वेनाभिप्रेतम्, संदेहाद्याक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम्। =शक्य अभिप्रेत और अप्रसिद्धको साध्य कहते हैं। (श्लो. वा ३/१/१३/१२२/२६१)। शक्य वह है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित न होनेसे सिद्ध किया जा सकता है। अभिप्रेत वह है जो वादीको सिद्ध करनेके लिए अभिमत है इष्ट है। और अप्रसिद्ध वह है जो सन्देहादिसे युक्त होनेसे अनिश्चित है। वही साध्य है।

प. मु /३/२०–२४ इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ।२०। संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ।२१। अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयो साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम् ।२२। न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ।२३। प्रत्यायनाय हि इच्छा वक्तुरेव ।२४। =जो वादीको इष्ट हो, प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाधित न हो, और सिद्ध न हो उसे साध्य कहते हैं ।२०। —सन्दिग्ध, विपर्यस्त और अव्युत्पन्न पदार्थ ही साध्य हो इसलिए सूत्रमें असिद्ध पद दिया है ।२१। वादीको अनिष्ट पदार्थ साध्य नहीं होता इसलिए साध्यको इष्ट विशेषण लगाया है। तथा प्रत्यक्षादि किसी भी प्रमाणसे बाधित पदार्थ भी साध्य नहीं होते, इसलिए अबाधित विशेषण दिया है ।२२। इनमेंसे 'असिद्ध' विशेषण तो प्रतिवादीकी अपेक्षासे और 'इष्ट' विशेषण वादीकी अपेक्षासे है, क्योंकि दूसरेको समझानेकी इच्छा वादीको ही होती है ।२३–२४।

३. साध्याभास या पक्षाभासका लक्षण

न्या. वि /मू./२/३/१२ ततोऽपरम् साध्याभासं विरुद्धादिसाधनाविषयत्वत. ।३। इति=साध्यसे विपरीत विरुद्धादि साध्याभास है। आदि शब्दसे अनभिप्रेत और प्रसिद्धका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ये तीनों ही साधनके विषय नहीं है, इसलिए ये साध्याभास है। (न्या. दी./३/§२०/७०/३) ।

प. मु /६/१२-१४ तत्रानिष्टादिपक्षाभासः ।१२। अनिष्टो मीमासकस्यानित्यशब्द' ।१३। सिद्ध' श्रावण शब्द. ।१४। =इष्ट असिद्ध और अबाधित इन विशेषणोंसे विपरीत—अनिष्ट सिद्ध व बाधित ये पक्षाभास है ।१२। शब्दकी अनित्यता मीमासकको अनिष्ट है, क्योंकि, मीमासक शब्दको नित्य मानता है ।१३। शब्द कानसे सुना जाता है यह सिद्ध है ।१४।

★ बाधित पक्षाभास या साध्याभासके भेद व लक्षण —दे० बाधित ।

४. अनुमान योग्य साध्योंका निर्देश

प. मु /३/३०-३३ प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ।३०। अग्निमानय देशः परिणामी शब्द इति यथा ।३१। व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।३२। अन्यथा तदघटनात् ।३३। =[कहीं तो धर्म साध्य होता है और कहीं धर्मी साध्य होता है (दे० पक्ष/१) ।] तहाँ—प्रमाणसिद्ध धर्मी और उभयसिद्ध धर्मीमें (साध्यरूप) धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है। जैसे—'यह देश अग्निवाला है', यह प्रमाण सिद्ध धर्मीका उदाहरण है, क्योंकि यहाँ देश प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है। 'शब्द परिणमन स्वभाववाला है' यह उभय सिद्ध धर्मीका उदाहरण है; क्योंकि, यहाँपर शब्दका धर्मी उभय सिद्ध है ।३०-३१। व्याप्तिमें धर्म ही साध्य होता है। यदि व्याप्तिकालमें धर्मको छोडकर धर्मी साध्य माना जायेगा तो व्याप्ति नहीं बन सकेगी ।३२-३३।

५. पक्ष व प्रतिपक्षका लक्षण

न्या. सू./टी /१/४/४१/४०/१६ तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्यते ।४१।

न्या. सू./टी /१/२/१/४१/२१ एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ प्रत्यनीकभावादस्त्यात्मा नास्त्यात्मेति । नानाधिकरणौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति। =साधन और निषेधका क्रमसे आश्रय (साधनका) पक्ष है। और निषेधका आश्रय प्रतिपक्ष है। (न्या. म./३०/३३४/१६) । एक स्थानपर रहनेवाले परस्पर विरोधी दो धर्मपक्ष (अपना मत) और प्रतिपक्ष (अपने विरुद्ध वादीका मत अर्थात् प्रतिवादीका मत) कहाते है। जैसे कि —एक कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि आत्मा नहीं है। भिन्न भिन्न स्थानमें रहनेवाले परस्पर विरोधी धर्म पक्ष प्रतिपक्ष नहीं कहाते। जैसे—एकने कहा आत्मा नित्य है और दूसरा कहता है कि बुद्धि अनित्य है।

६. साध्यसे अतिरिक्त पक्षके ग्रहण का कारण

प.मु/३/३४-३६। साध्यधर्माधारसदेहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।३४। साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसहारवद् ।३५। को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।३६।=साध्यविशिष्ट पर्वतादि धर्मीमें हेतुरूप धर्मको समझानेके लिए जैसे उपनयका प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार साध्य (धर्म) के आधारमें सन्देह दूर करनेके लिए प्रत्यक्ष सिद्ध होनेपर भी पक्षका प्रयोग किया जाता है। क्योंकि ऐसा कौन वादी प्रतिवादी है, जो कार्य, व्यापक, अनुपलम्भके भेदसे तीन प्रकारका हेतु कहकर समर्थन करता हुआ भी पक्षका प्रयोग न करे। अर्थात् सबको पक्षका प्रयोग करना ही पडेगा।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. प्रत्येक पक्षके लिए परपक्षका निषेध—दे० सप्तभगी/४। २. पक्ष विपक्षोंके नाम निर्देश—दे० अनेकात ।४।

पक्षपात—१. लक्षण व विषय आदि—दे० श्रद्धान ।५। २. सम्यग्दृष्टिको पक्षपात नहीं होता—दे० सम्यग्दृष्टि ।४।

पक्षेप—शलाका।

पटच्चर—भरतक्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश। दे० मनुष्य/४।

पटल—१. त्रि. सा /४७६/भाषा तिर्यकरूप बराबरि क्षेत्र विषैं जहाँ विमान पाईए ताका नाम पटल है। २. Dix (ज. प /प्र १०७)

पट्टन—दे० पत्तन।

पट्टावली—दे० इतिहास/४,५।

पणट्ठी—$(२५६)^२$ =६५५३६।

पण्यभवन—सुमेरु पर्वतके नन्दनादि वनोंके पूर्वमें स्थित सोमदेवका भवन/दे० लोक/७।

पण्हसवण—धरसेनाचार्यका ही दूसरा नाम पण्हसवण भी है, क्योंकि 'प्रज्ञाश्रमण' का प्राकृत रूप 'पण्हसवण' है। यह एक ऋद्धि है, जो सम्भवत' धरसेनाचार्यको थी, जिसके कारण उन्हें भी कदाचित् 'पण्हसवण' के नामसे पुकारा गया है। वि० १५५६ में लिखी गयी बृहट्टिप्पणिका नामकी ग्रन्थ सूचीमें जो 'योनि प्राभृत' ग्रन्थका कर्ता 'पण्हसवण'को बताया है, वह वास्तवमें धरसेनाचार्य की ही कृति थी। क्योंकि सूचीमें उसे भूतबलिके लिए लिखा गया सूचित किया गया है। (प खं. १/प्र ३०/H L) दे०—धरसेन।

पत्तन—ति. प /४/१३९९ वररयणाणं जोणीपट्टणणाम विणिद्दिट्ठ। =जो उत्तम रत्नोंकी योनि होता है उसका नाम पट्टन कहा गया है ।१३९९। त्रि. सा /भाषा./६७६)।

ध १३/५,५,६३/३३५/९ नावा पादप्रचारेण च यत्र गमनं तत्पत्तनं नाम। =नौकाके द्वारा और पैरोंसे चलकर जहाँ जाते है उस नगरकी पत्तन सज्ञा है।

पत्ति—सेनाका एक अंग—दे० सेना।

पत्नी— दे० स्त्री।

पत्रचारणऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

पत्रजाति—पत्र जाति वनस्पतिमें भक्ष्याभक्ष्यविचार—दे० भक्ष्याभक्ष्य/४।

पत्रपरीक्षा—आ० विद्यानन्द (ई० ७७५-८४०) द्वारा सस्कृत भाषामें रचित न्याय विषयक ग्रन्थ है। इस पर प. जयचन्द छाबडा (ई० १८०६-१८३४) कृत सक्षिप्त भाषा टीका प्राप्त है।

पद—१. गच्छ अर्थात् Number of Terms.

२. सिद्ध पद आदिकी अपेक्षा

न्या / वि /टी./१/७/१४०/१६ पद्यन्ते ज्ञायन्तेऽनेनेति पद। =जिसके द्वारा जाना जाता है वह पद है।

ध १०/४,२,४,१/१८/६ जस्स जम्हि अवट्ठाण तस्स तं पदं ज्हा सिद्धिखेत्त सिद्धाणं पद। अत्थालावो अत्थावगमस्स पद। • पद्यते गम्यते परिच्छिद्यते इति पदम्। =जिसका जिसमें अवस्थान है वह उसका पद अर्थात् स्थान कहलाता है। जैसे सिद्धिक्षेत्र सिद्धोंका पद है।

क्षेत्रसंयोगपदानि, माथुर वालभः दाक्षिणात्य औदीच्य इत्यादीनि। यदि नामत्वेनाविवक्षितानि भवन्ति। कालसंयोगपदानि यथा, शारद वासन्तक इत्यादीनि। न वसन्तशरद्धेमन्तादीनि तेषा नामपदेऽन्तर्भावात्। भावसयोगपदानि, क्रोधी मानी मायावी लोभीत्यादीनि। न शीलसादृश्यनिबन्धनयमसिंहाग्निरावणादीनि नामानि तेषा नामपदेऽन्तर्भावात्। न चैतेभ्यो व्यतिरिक्तं नामास्त्यनुपलम्भात्। =गुणोंके भावको गौण्य कहते है। जो पदार्थ गुणोंकी मुख्यतासे व्यवहृत होते है वे गौण्यपदार्थ है। वे गौण्यपदार्थपद अर्थात् स्थान या आश्रय जिन नामोके होते है, उन्हे **गौण्यपद नाम** कहते है। जेसे—सूर्यको तपन और भास गुणकी अपेक्षा तपन और भास्कर इत्यादि संज्ञाएँ है। जिन सज्ञाओमे गुणोकी अपेक्षा न हो अर्थात् जो असार्थक नाम है उन्हे **नोगौण्यपद नाम** कहते है। जैसे—चन्द्रस्वामो, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम। ग्रहण किये गये द्रव्यके निमित्तसे जो नाम व्यवहारमे आते है, उन्हे **आदानपद नाम** कहते है। 'पूर्णकलश' इस पदको आदानपद नाम समझना चाहिए। इस प्रकार 'अविधवा' इस पदको भी विचारकर आदानपदनाममे अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। कुमारी वन्ध्या इत्यादिक **प्रतिपक्षनामपद** है क्योकि आदानपदमें ग्रहण किये गये दूसरे द्रव्यकी निमित्तता कारण पडती है ओर यहाँपर अन्य द्रव्यका अभाव कारण पडता है। इसलिए आदानपदनामोके प्रतिपक्ष कारण होनेसे कुमारी या वन्ध्या इत्यादि पद प्रतिपक्ष पदनाम जानना चाहिए। अनादिकालसे प्रवाह रूपसे चले आये सिद्धान्तवाचक पदोको **अनादिसिद्धान्तपद** नाम कहते है जैसे—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय इत्यादि। अपौरुपेय होनेसे सिद्धान्त अनादि है। वह सिद्धान्त जिस नामरूपपदका आश्रय हो उसे अनादिसिद्धान्तपद कहते है। बहुतसे पदार्थोके होनेपर भी किसी एक पदार्थकी बहुलता आदि द्वारा प्राप्त हुई प्रधानतासे जो नाम बोले जाते है उन्हे **प्राधान्यपदनाम** कहते है जैसे—आम्रवन निम्बवन इत्यादि। वनमें अन्य अविवक्षित पदोंके रहनेपर भी विवक्षासे प्रधानताको प्राप्त आम्र और निम्बके वृक्षोके कारण आम्रवन और निम्बवन आदि नाम व्यवहारमें आते है। जो भाषाके भेदसे बोले जाते है उन्हे **नामपद** नाम कहते है जैसे—गौड, आन्ध्र, द्रमिल इत्यादि। गणना अथवा मापकी अपेक्षासे जो सज्ञाएँ प्रचलित है उन्हें **प्रमाणपद** नाम कहते है। जैसे—सौ, हजार, द्रौण, खारी, पल, तुला, कर्ष इत्यादि। ये सब प्रमाणपद प्रमेयोमें पाये जाते है। ·· रोगादिके निमित्त मिलनेपर किसी अवयवके बढ जानेसे जो नाम बोले जाते है उन्हें **उपचितावयवपद** नाम कहते है। जैसे—गलगंड, शिलीपद, लम्बकर्ण इत्यादि। जो नाम अवयवोके अपचय अर्थात् उनके छिन्न हो जानेके निमित्तसे व्यवहारमें आते है उन्हे **अपचितावयवपद** नाम कहते है। जैसे—छिन्नकर्ण, छिन्ननासिक इत्यादि नाम। ·इभ्य, गौथ, दण्डी, छत्री, गर्भिणी इत्यादि **द्रव्य सयोगपद** नाम है, क्योकि धन, गूथ, दण्डा, छत्ता इत्यादि द्रव्यके सयोगसे ये नाम व्यवहारमें आते है। असि, परशु इत्यादि द्रव्यसंयोगपद नाम नही है, क्योकि, उनका आदानपदमे अन्तर्भाव होता है। माथुर, वालभ, दाक्षिणात्य और औदीच्य इत्यादि **क्षेत्रसयोगपद** नाम है, क्योकि माथुर आदि सज्ञाएँ व्यवहारमें आती है। जब माथुर आदि सज्ञाएँ नाम रूपसे विवक्षित न हों तभी उनका क्षेत्रसयोगपदमे अन्तर्भाव होता है अन्यथा नही। शारद वासन्त इत्यादि **काल संयोगपद** नाम है। क्योकि शरद् और वसन्त ऋतुके सयोगसे यह सज्ञाएँ व्यवहारमें आती है। किन्तु वसन्त शरद् हेमन्त इत्यादि संज्ञाओका कालसयोगपद नामोंमें ग्रहण नही होता, क्योकि उनका नामपदमें अन्तर्भाव हो जाता है। क्रोधी, मानी, मायावी और लोभी इत्यादि नाम **भावसंयोगपद** है, क्योकि, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि भावोके निमित्तसे ये नाम व्यवहारमें आते है। किन्तु जिनमे स्वभावकी सदृशता कारण है ऐसी यम, सिंह, अग्नि और रावण आदि संज्ञाएँ भावसयोगपद रूप नही हो सकती है, क्योकि उनका नामपदमें अन्तर्भाव होता है। उक्त दश प्रकारके नामोसे भिन्न और कोई नामपद नहीं है, क्योकि व्यवहारमें इनके अतिरिक्त अन्य नाम पाये जाते है। (ध. ६/४,१,४५/१३५/४), (क पा. १/१,१/§२४/३१/१)।

६. श्रुतज्ञानके भेदोंमें कथित पदनामा ज्ञान व इस 'पद' ज्ञानमें अन्तर

ध. ६/१, ९-१,१४/२३/३ कुदो एदस्स पदसण्णा। सोलहसयचोत्तीसकोडीओ तेसीदिलक्खा अट्ठहत्तरिसदअट्ठासीदिअक्खरे च घेत्तूण एगं दव्वसुदपदं होदि। एदेहिंतो उप्पण्णभावसुद पि उवयारेण पदं ति उच्चदि। =प्रश्न—उस प्रकारसे इस (अल्पमात्र) श्रुतज्ञानके (पाँचवें भेदकी) 'पद' यह सज्ञा कैसे है? उत्तर—सोलह सौ चौंतीस करोड, तेरासी लाख, अठहत्तर सौ अठासी (१६३४८३०७८८८) अक्षरोको लेकर द्रव्य श्रुतका एक पद होता है। इन अक्षरोसे उत्पन्न हुआ भाव श्रुत भी उपचारसे 'पद' ऐसा कहा जाता है।

पदज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

पदधन—सर्वधन। दे०—गणित/II/५।

पदविभागी आलोचना—दे० आलोचना/१।

पदविभागी समाचार—दे० समाचार।

पदसमासज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

पदस्थध्यान—स्वर व्यजनादिके अक्षर या 'ॐ ह्रीं आदि बीज मन्त्र अथवा पचपरमेष्ठीके वाचक मन्त्र अथवा अन्य मन्त्रोको यथा विधि कमलोपर स्थापित करके अपने नाभि हृदय आदि स्थानोमें चिन्तवन करना पदस्थ ध्यान है। इससे ध्याताका उपयोग स्थिर होता है और अभ्यास हो जानेपर अन्तमें परमध्यानकी सिद्धि होती है।

१. पदस्थध्यानका लक्षण

द्र. स./टी/४८/२०५ में उद्धृत—पदस्थ मन्त्रवाक्यस्थ। =मन्त्र वाक्योमे जो स्थित है वह 'पदस्थध्यान' है। (प. प्र/टी./१/६/६ पर उद्धृत), (भा पा./टी/८६/२३६ पर उद्धृत)।

ज्ञा/३८/१ पदान्यवलम्ब्य पुण्यानि योगिभिर्यद्विधीयते। तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः।१। =जिसको योगीश्वर पवित्र मन्त्रोके अक्षर स्वरूप पदोका अवलम्बन करके चिन्तवन करते है, उसको नयोके पार पहुँचने वाले योगीश्वरोने पदस्थ ध्यान कहा है।१।

वसु. श्रा./४६४ ज झाइज्जइ उच्चरिऊण परमेट्ठिमतपयममलं। एयक्खरादि विविह पयत्थझाण मुणेयव्व।४६४। =एक अक्षरको आदि लेकर अनेक प्रकारके पच परमेष्ठी वाचक पवित्र मन्त्रपदोका उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है उसे पदस्थ ध्यान जानना चाहिए।४६४। (गुण. श्रा./२३२) (द्र. स. मू./४६/२०७)।

द्र. स/टी/५०-५५ की पातनिका—'पदस्थध्यानध्येयभूतमर्हत्सर्वज्ञस्वरूप दर्शयामीति। =पदस्थध्यानके ध्येय जो श्री अर्हंत सर्वज्ञ है उनके स्वरूपको दिखलाता हूँ। (इसी प्रकार गाथा५१ आदिकी पातनिकामें सिद्धादि परमेष्ठियोके लिए कही है।)

नोट—पंचपरमेष्ठी रूप ध्येय। दे०—ध्येय।

२. पदस्थ ध्यानके योग्य मूलमन्त्रोंका निर्देश

१ एकाक्षरी मन्त्र—१. 'अ' (ज्ञा/३८/५३); (द्र. सं./टी. ४६) २. प्रणव मन्त्र 'ॐ' (ज्ञा./३८/३१); (द्र. सं./टी/४६)। ३. अनाहत

मन्त्र 'हं' (ज्ञा /३८/७-८)। ४. माया वर्ण 'ह्रीं' (ज्ञा /३८/६७)। ५. 'क्ष्वीं' (ज्ञा /३८/८१)। ६. 'स्त्रीं' (ज्ञा /३८/६०)। २. दो अक्षरीमन्त्र—१ 'अर्हं' (म. पु./२१/२३१), (वसु श्रा./४६५); (गुण. श्रा /२३३); (ज्ञा. सा./२१), (आत्मप्रबोध/११८-११६) (त. अनु /१०१)। २. 'सिद्ध' (ज्ञा./३८/५३) (द्र. स /टी./४६)। ३. चार अक्षरी मन्त्र—'अरहंत' (ज्ञा./३८/५१) (द्र स /टी /४६)। ४. पंचाक्षरी मन्त्र—१ 'अ सि. आ. उ. सा.' (वसु.श्रा / ४६६); (गु श्रा/२३४) (त अनु./१०२), (द्र सं /टी /४६) २ ॐ ह्रां ह्रीं हं ह्रौं हः, अ. सि आ. उ. सा नम' (ज्ञा /३८/५५)। ३. 'णमो सिद्धाणं' या 'नमः सिद्धेभ्य' (म पु./२१/२३३), (ज्ञा / ३८/६२)। ५ छः अक्षरी मन्त्र—१. 'अरहंतसिद्ध' (ज्ञा /३८/५०) (द्र स./टी /४६)। २ अर्हद्भ्यो नम (म. पु /२१/२३२)। ३ 'ॐ नमो अर्हते' (ज्ञा./३८/६३)। ४ 'अर्हद्भ्य नमोऽस्तु', 'ॐ नम सिद्धेभ्य' या 'नमो अर्हत्सिद्धेभ्य' (त. अनु /भाषा/१०८) ६. सप्ताक्षरी मन्त्र—१ 'णमो अरहंताणं' (ज्ञा /३८/४०,६५,८५), (त अनु /१०४)। २ नम सर्वसिद्धेभ्य (ज्ञा /३८/११०)। ७ अष्टाक्षरी मन्त्र—'नमोऽर्हत्परमेष्ठिने' (म पु /२१/२३४) ८ १३ अक्षरी मन्त्र—अर्हतसिद्धसयोगकेवली स्वाहा (ज्ञा /३८/५८)। ६. १६अक्षरी मन्त्र—'अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नम' (म पु./२१/२३५), (ज्ञा / ३८/४८); (द्र स /टी /४६)। १० ३५ अक्षरी मन्त्र—'णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं (द्र स./टी /४६)।

३. पदस्थध्यानके योग्य अन्य मन्त्रोंका निर्देश

१. 'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नम' (ज्ञा /३८/६०)। २ 'ह्रीं ॐ ॐ ह्रीं हंस (ज्ञा /३८/८६)। ३ चत्तारि मंगलं। अरहन्तमंगलं सिद्धमंगलं। साहुमंगलं। केवलिपण्णत्तो धम्मो मंगलं। चत्तारि लोगुत्तमा। अरहन्त लोगुत्तमा। सिद्ध लोगुत्तमा। साहु लोगुत्तमा। केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा। चत्तारि सरणं पव्वज्जामि। अरहंत सरणं पव्वज्जामि। सिद्धसरणं पव्वज्जामि। साहुसरणं पव्वज्जामि। केवलिपण्णत्तो धम्मो सरणं पव्वज्जामि (ज्ञा /३८/५७)। ४. 'ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिणपारिस्से स्वाहा' (ज्ञा /३८/६१) ५. 'ॐ ह्रीं स्वर्हं नमो नमोऽर्हंताणं ह्रीं नम' (ज्ञा /३८/६१) ६. पापभक्षिणी मन्त्र—ॐ अर्हन्मुखकमलवासिनी पापात्मक्षयकरि-श्रुतज्ञानज्वालासहस्रप्रज्वलिते सरस्वति मत्पापं हन हन दह दह क्षां क्षीं क्षूं क्षौं क्षः क्षीरवरधवले अमृतसंभवे वं वं हूं हूं स्वाहा। (ज्ञा / ३८/१०४)।

ज्ञा./३८/१११ इसी प्रकार अन्य भी अनेकों मन्त्र होते हैं, जिन्हें द्वादशांगसे जानना चाहिए।

४. मूल मन्त्रोंकी कमलोंमें स्थापना विधि

१. सुवर्ण कमलकी मध्य कर्णिकामें अनाहत (हं) की स्थापना करके उसका स्मरण करना चाहिए। (ज्ञा /३८/१०)। २ चतुर्दल कमलकी कर्णिकामें 'अ' तथा चारों पत्तोंपर क्रमसे 'सि, आ उ, सा' की स्थापना करके पचाक्षरी मन्त्रका चिन्तवन करें। (वसु श्रा /४६६) ३. अष्टदल कमल पर कर्णिकामें 'अ' चारों दिशाओंवाले पत्तोंपर 'सि, आ उ सा,' तथा विदिशाओंवाले पत्तोंपर दर्शन, ज्ञान, चारित्र व तपके प्रतीक 'द, ज्ञा, चा, त' की स्थापना करे। (वसु श्रा /४६७-४६८) (गुण श्रा /२३५-२३६)। २ अथवा इन सब वर्णोंके स्थानपर णमो अरहन्ताणं आदि पूरे मन्त्र तथा सम्यग्दर्शनाय नम, सम्यग्ज्ञानाय नम आदि पूरे नाम लिखे। (ज्ञा /३८/३६-४०) ३ कर्णिकामें 'अर्हं' तथा पत्र लेखाओंपर पचनमोकार मन्त्रके वलय स्थापित करके चिन्तवन करे (वसु.श्रा./४७०-४७१); (गु.श्रा /२३८-२३६)।

५. ध्येयभूत वर्णमातृका व उसकी कमलोंमें स्थापना विधि

ज्ञा./३८/२ अकारादि १६ स्वर और ककारादि ३३ व्यंजनपूर्ण मातृका है। (इनमें 'अ' या 'स्वर' ये दोनो तो १६ स्वरोंके प्रतिनिधि हैं। क, च, ट, त प, ये पाँच अक्षर कवर्गादि पाँच वर्गोंके प्रतिनिधि है। य 'और श' ये दोनों क्रमसे य, र, ल, व चतुष्क और श, ष, स, ह चतुष्क के प्रतिनिधि है। १ चतुर्दल कमलमें १६ स्वरोंके प्रतीक रूपसे कर्णिकापर 'अ' और चारों पत्तोंपर 'इ, उ, ए, ओ' की स्थापना करे। (त अनु./१०३) २. अष्टदल कमलके पत्तोंपर 'य, र, ल, व, श, ष, स, ह' इन आठ अक्षरोंकी स्थापना करें। (ज्ञा /३८/५) २ कर्णिकापर 'अर्हं' और आठो पत्तोपर स्वर व व्यजनोके प्रतीक रूपसे 'स्वर, क, च, ट, त, प, य, श,' इन आठ अक्षरोंकी स्थापना करें। (त अनु /१०५-१०६। ३ १६ दल कमलके पत्तोंपर 'अ, आ, आदि १६ स्वरोंकी स्थापना करे। (ज्ञा /३८/३) ४ २४ दल कमलकी कर्णिका तथा २४ पत्तोंपर क्रमसे 'क' से लेकर 'म' २५ वर्णोकी स्थापना करे। (ज्ञा./ ३८/४)।

६. मन्त्रों व कमलोंकी शरीरके अंगोंमें स्थापना

दे. ध्यान/३/३ (शरीरमें ध्यानके आश्रयभूत १० स्थान हैं—नेत्र, कान, नासिकाका अग्रभाग, ललाट, मुख, नाभि, मस्तक, हृदय, तालु और भौंहें। इनमेंसे किसी एक या अधिक स्थानोंमें अपने ध्येयको स्थापित करना चाहिए। यथा—

ज्ञा /३८/१०८-१०६ नाभिपङ्कजसंलीनमवर्णं विश्वतोमुखम् ।१०८। सिवर्णं मस्तकाम्भोजे साकारं मुखपङ्कजे। आकारं कण्ठकञ्जस्थे स्मरोंकारं हृदि स्थितम् ।१०६। = पचाक्षरी मन्त्रके 'अ' को नाभिकमलमें 'सि' को मस्तक कमलमें, 'आ' को कण्ठस्थ कमलमें, 'उ' का हृदयकमलमें, और 'सा' को मुखस्थ कमलमें स्थापित करे।

त अनु /१०४ सप्ताक्षरं महामन्त्रं मुखरन्ध्रेषु सप्तसु। गुरूपदेशतो ध्यायेदिच्छन् दूरश्रवादिकम् ।१०४। = सप्ताक्षरी मन्त्र (णमो अरहंताणं) के अक्षरोको क्रमसे दोनो आँखो, दोनों कानों, नासिकाके दोनों छिद्रो व जिह्वा इन सात स्थानोंमें स्थापित करें।

७. मन्त्रों व वर्णमातृकाकी ध्यान विधि

१. अनाहत मन्त्र ('हं') की ध्यान विधि

ज्ञा /३८/ १० १६-२१, २८ कनककमलगर्भे कर्णिकायां निषण्णं विगतमलकलङ्कं सान्द्रचन्द्रांशुगौरम्। गगनमनुसरन्तं सचरन्तं हरित्सु, स्मर जिनवरकल्पं मन्त्रराजं यतीन्द्र ।१०। स्फुरन्तं भ्रूलतामध्ये विशन्तं वदनाम्बुजे। तालुरन्ध्रेण गच्छन्तं स्रवन्तममृताम्बुभि ।१६। स्फुरन्तं नेत्रपत्रेषु कुर्वन्तमलके स्थितिम्। भ्रमन्तं ज्योतिषां चक्रे स्पर्द्धमानं सितांशुना ।१७। संचरन्तं दिशामास्ये प्रोच्छलन्तं नभस्तले। छेदयन्तं कलङ्कौघं स्फोटयन्तं भवभ्रमम् ।१८। अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैकमानस। तथा स्मरत्यसौ ध्यानी यथा स्वप्नेऽपि न स्खलेत् ।२०। इति मत्वा स्थिरीभूतं सर्वावस्थासु सर्वथा। नासाग्रे निश्चलं वत्ते यदि वा भ्रूलतान्तरे ।२१। क्रमात्प्रच्याव्य लक्ष्येभ्यस्ततोऽलक्ष्ये स्थिरं मन। दधतोऽस्य स्फुरत्यन्तर्ज्योतिरत्यक्षमक्षयम् ।२८। = हे मुनीन्द्र! सुवर्णमय कमलके मध्यमें कर्णिकापर विराजमान, मल तथा कलङ्कसे रहित, शरद्-ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाकी किरणोंके समान गौरवर्णके धारक, आकाशमें गमन करते हुए तथा दिशाओंमें व्याप्त होते हुए ऐसे श्री जिनेन्द्रके सदृश इस मन्त्रराजका स्मरण करें।१०। धैर्यका धारक योगी कुम्भक प्राणायामसे इस मन्त्रराजको भौहकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, मुख कमलमें प्रवेश करता हुआ, तालुआके

छिद्रसे गमन करता हुआ, तथा अमृतमय जलसे झरता हुआ।१६। नेत्रकी पलकोंपर स्फुरायमान होता हुआ, केशोमे स्थिति करता तथा ज्योतिषियोके समूहमें भ्रमता हुआ, चन्द्रमाके साथ स्पर्द्धा करता हुआ।१७। दिशाओंमें सचरता हुआ, आकाशमें उछलता हुआ, कलंकके समूहको छेदता हुआ, संसारके भ्रमको दूर करता हुआ।१८। तथा परम स्थानको (मोक्ष स्थानको) प्राप्त करता हुआ, मोक्ष लक्ष्मीसे मिलाप करता हुआ ध्यावै।१९। ध्यान करनेवाला इस मन्त्राधिपको अन्य किसीकी शरण न लेकर, इसहीमें साक्षात् तल्लीन मन करके, स्वप्नमें भी इस मन्त्रसे च्युत न हो ऐसा दृढ होकर ध्यावै।२०। ऐसे पूर्वोक्त प्रकार महामन्त्रके ध्यानके विधानको जानकर, मुनि समस्त अवस्थाओंमें स्थिर स्वरूप सर्वथा नासिकाके अग्रभागमें अथवा भौंहलताके मध्यमें इसको निश्चल धारण करै।२१। तत्पश्चात् क्रमसे (लखने योग्य वस्तुओंसे) छुडाकर अलक्ष्यमें अपने मनको धारण करते हुए ध्यानीके अन्तरंगमें अक्षय तथा इन्द्रियोंके अगोचर ज्योति अर्थात् ज्ञान प्रकट होता है।२८। (ज्ञा./२९/८२/८३) (विशेष दे. ज्ञा./सर्ग २९)।

२. प्रणव मन्त्रकी ध्यान विधि

ज्ञा./३८/३३-३५ हृत्पङ्कजकर्णिकासीनं स्वरव्यञ्जनवेष्टितम्। स्फीतमत्यन्तदुर्द्धर्षं देवदैत्येन्द्रपूजितम्।३३। प्रक्षरन्मूर्ध्निसंक्रान्तचन्द्रलेखामृतप्लुतम्। महाप्रभावसपन्न कर्मकक्षहुताशनम्।३४। महानत्त्व महाबीज महामन्त्र महत्पदम्। शरच्चन्द्रनिभ ध्यानी कुम्भकेन विचिन्तयेत्।३५।=ध्यान करनेवाला संयमी हृदय कमलकी कर्णिकामें स्थिर और स्वर व्यञ्जन अक्षरोंसे वेढा हुआ, उज्ज्वल, अत्यन्त दुर्धर्ष, देव और दैत्योंके इन्द्रोंसे पूजित तथा झरते हुए मस्तकमें स्थित चन्द्रमाकी (लेखा) रेखाके अमृतसे आर्द्रित, महाप्रभाव सम्पन्न, कर्म रूपी वनको दग्ध करनेके लिए अग्नि समान ऐसे इस महातत्त्व, महाबीज, महामन्त्र महापदस्वरूप तथा शरद्के चन्द्रमाके समान गौर वर्णके धारक 'ओं' को कुम्भक प्राणायामसे चिन्तवन करे।३३-३५।

३. मायाक्षर (ह्रीं) की ध्यान विधि

ज्ञा/३८/६८-७० स्फुरन्तमतिस्फीत प्रभामण्डलमध्यगम्। संचरन्तं मुखाम्भोजे तिष्ठन्त कर्णिकोपरि।६८। भ्रमन्त प्रतिपत्रेपु चरन्तं वियति क्षणे। छेदयन्त मनोध्वान्त स्रवन्तममृताम्बुभि'।६९। व्रजन्त तालुरन्ध्रेण स्फुरन्तं भ्रूलतान्तरे। ज्योतिर्मयमिवाचिन्त्यप्रभावं भावयेन्मुनि'।७०।=मायाबीज 'ह्रीं' अक्षरको स्फुरायमान होता हुआ, अत्यन्त उज्ज्वल प्रभामण्डलके मध्य प्राप्त हुआ, कभी पूर्वोक्त मुखस्थ कमलमें सचरता हुआ तथा कभी-कभी उसकी कर्णिकाके ऊपरि तिष्ठता हुआ, तथा कभी-कभी उस कमलके आठो दलोंपर फिरता हुआ तथा कभी-कभी क्षण भरमें आकाशमें चलता हुआ, मनके अज्ञान अन्धकारको दूर करता हुआ, अमृतमयी जलसे चूता हुआ तथा तालुआके छिद्रसे गमन करता हुआ तथा भौहोंकी लताओंमें स्फुरायमान होता हुआ, ज्योतिर्मयके समान अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे माया वर्णका चिन्तवन करें।

४. प्रणव, शून्य व अनाहत इन तीन अक्षरोंकी ध्यान विधि

ज्ञा/३८/८६-८७ यदत्र प्रणव शून्यमनाहतमिति त्रयम्। एतदेव विदु' प्राज्ञास्त्रैलोक्यतिलकोत्तमम्।८६। नासाग्रदेशसंलीन कुर्वन्नत्यन्तनिर्मलम्। ध्याता ज्ञानमवाप्नोति प्राप्य पूर्वं गुणाष्टकम्।८७।=प्रणव और शून्य तथा अनाहत ये तीन अक्षर है, इनको बुद्धिमानोने तीन लोकके तिलकके समान कहा है।८६। इन तीनोंको नासिकाके अग्र भागमें अत्यन्त लीन करता हुआ ध्यानी अणिमा महिमा आदिक आठ ऋद्धियोंको प्राप्त होकर, तत्पश्चाद् अति निर्मल केवलज्ञानको प्राप्त होता है।८७।

५. आत्मा व अष्टाक्षरी मन्त्रको ध्यान विधि

ज्ञा/३८/९५-९८ दिग्दलाष्टकसंपूर्णे राजीवे सुप्रतिष्ठितम्। स्मरत्वात्मानमत्यन्तस्फुरद्ग्रीष्मार्कभास्करम्।९५। प्रणवाद्यस्य मन्त्रस्य पूर्वादिषु प्रदक्षिणम्। विचिन्तयति पत्रेपु वर्णैकैकमनुक्रमात्।९६। अधिकृत्य छदं पूर्वं सर्वाशासमुख परम्। स्मरत्यष्टाक्षरं मन्त्रं सहस्रैकं शताधिकम्।९७। प्रत्यह प्रतिपत्रेपु महेन्द्राशाद्यनुक्रमात्। अष्टरात्रं जपेद्योगी प्रसन्नामलमानस'।९८।=आठ दिशा सम्बन्धी आठ पत्रोसे पूर्ण कमलमें भले प्रकार स्थापित और अत्यन्त स्फुरायमान ग्रीष्मऋतुके सूर्यके समान देदीप्यमान आत्माको स्मरण करै।९५। प्रणव है आदिमें जिसके ऐसे मन्त्रको पूर्वादिक दिशाओंमें प्रदक्षिणारूप एक एक पत्र पर अनुक्रमसे एक एक अक्षरका चिन्तवन करै वे अक्षर 'ॐ णमो अरहताणं' ये है।९६। इनमेंसे प्रथम पत्रको मुख्य करके, सर्व दिशाओके सम्मुख होकर इस अष्टाक्षर मन्त्रको ग्यारह सै बार चिन्तवन करै।९७। इस प्रकार प्रतिदिन प्रत्येक पत्रमें पूर्व दिशादिक्के अनुक्रमसे आठ रात्रि पर्यन्त प्रसन्न होकर जपै।९८।

६. अन्तमें आत्माका ध्यान करे

ज्ञा./३८/११६ विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम्। स्वं तत' पुरुषाकारस्वाङ्गगर्भगतं स्मरेत्।११६। =मन्त्रपदोके अभ्यासके पश्चात् विलय हुए हैं समस्त कर्म जिसमें ऐसे अतिनिर्मल स्फुरायमान अपने आत्माको अपने शरीरमें चितवन करै।११६।

८. धूम ज्वाला आदिका दीखना

ज्ञा/३८/७४-७७ ततो निरन्तराभ्यासान्मासैः षड्भि' स्थिराशय'। मुखरन्ध्राद्विनिर्यान्तीं धूमवर्ति प्रपश्यति।७४। तत संवत्सरं यावत्तथेवाभ्यस्यते यदि। प्रपश्यति महाज्वाला नि'सरन्तीं मुखोदरात्।७५। ततोऽतिजातसंवेगो निर्वेदालम्बितो वशी। ध्यायन्पश्यत्यविश्रान्तं सर्वज्ञमुखपङ्कजम्।७६। अथाप्रतिहतानन्दप्रीणितात्मा जितश्रम। श्रीमत्सर्वज्ञदेवेशं प्रत्यक्षमिव वीक्षते।७७। =तत्पश्चात् वह ध्यानी स्थिरचित्त होकर, निरन्तर अभ्यास करनेपर छह महीनेमें अपने मुखसे निकली हुई धूयेंको वर्तिका देखता है।७४। यदि एक वर्ष पर्यन्त उसी प्रकार अभ्यास करै तो मुखमेंसे निकलती हुई महाग्निकी ज्वालाको देखता है।७५। तत्पश्चात् अतिशय उत्पन्न हुआ है धर्मानुराग जिसके ऐसा वैराग्यावलम्बित जितेन्द्रिय मुनि निरन्तर ध्यान करता-करता सर्वज्ञके मुख कमलको देखता है।७६। यहाँसे आगे वही ध्यानी अनिवारित आनन्दसे तृप्त है आत्मा जिसका और जीता है दुख जिसने ऐसा होकर, श्रीमत्सर्वज्ञदेवको प्रत्यक्ष अवलोकन करता है।७७।

९. पदस्थ ध्यानका फल व महिमा

ज्ञा/३८/श्लोक नं. अनाहत 'हं' के ध्यानसे इष्टकी सिद्धि।२२। ऋद्धि, ऐश्वर्य, आज्ञाकी प्राप्ति तथा।२७। संसारका नाश होता है।३०। प्रणव अक्षरका ध्यान गहरे सिन्दूरके वर्णके समान अथवा मूँगेके समान किया जाय तो मिले हुए जगत्को क्षोभित करता है।३६। तथा इस प्रणवको स्तम्भनके प्रयोगमें सुवर्णके समान पीला चितवन करै और द्वेषके प्रयोगमें कज्जलके समान काला तथा वश्यादि प्रयोगमें रक्त वर्ण और कर्मोके नाश करनेमें चन्द्रमाके समान श्वेतवर्ण ध्यान करै।३७। मायाक्षर ह्रींके ध्यानसे—लोकाग्र स्थान प्राप्त होता है।८०। प्रणव, अनाहत व शून्य ये तीन अक्षर तिहू लोकके तिलक है।८६। इनके ध्यानसे केवलज्ञान प्रगट होता है।८८। 'ॐ णमो अरहन्ताणं' का आठ रात्रि ध्यान करनेसे क्रूर जीव जन्तु भयभीत हो अपना गर्व छोड देते है।९९।

पदानुसारि ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

पदार्थ—न्या. सू./२/२/६३/१४२ व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ' ।६३। ='व्यक्ति', 'आकृति', और 'जाति' ये सब मिलकर पदका अर्थ (पदार्थ) होता है।

न्या. वि /टी /१/७/१४०/१५ अर्थोऽभिधेय' पदस्यार्थ पदार्थ ।=अर्थ अर्थात् अभिधेय। पदका अर्थ सो पदार्थ। (अर्थात् सामान्य रूपसे जो कुछ भी शब्दका ज्ञान है वा शब्दका विषय है वह शब्द 'पदार्थ' शब्दका वाच्य है।

प्र. सा /त. प्र./९३ इह किल य. कश्चन परिच्छिद्यमान पदार्थ' स सर्व एव द्रव्यमय गुणात्मका पर्यायात्मका। =इस विश्वमे जो जाननेमें आनेवाला पदार्थ है वह समस्त द्रव्यमय, गुणमय और पर्यायमय हे।

१. नव पदार्थ निर्देश

प. का./मू./१०८ जीवाजीवा भावा पुण्णं पावं च आसवं तेसि। संवर-णिज्जरबधो मोक्खो य हवंति ते अट्ठा।१०८। =जीव और अजीव दो भाव (अर्थात् मूल पदार्थ) तथा उन दोके पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बध और मोक्ष वह (नव) पदार्थ है।१०८। (गो. जी./मू./६२१/१०७५); (द. पा /टी /१९/१८)।

न. च. वृ /१६० जीवाइ सततच्च पण्णत्तं जे जहत्थरूवेण। न चेव णव-पयत्था सपुण्णपावा पुणो होति।१६०। =जीवादि सप्त तत्त्वोको यथार्थ रूपसे कहा गया है, उन्हींमें पुण्य और पाप मिला देनेसे नव पदार्थ बन जाते है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. नव पदार्थका विषय—दे० तत्त्व।

२. नव पदार्थ श्रद्धानका सम्यग्दर्शनमें स्थान—दे० सम्यग्दर्शन/II

३. द्रव्यके अर्थमें पदार्थ—दे० द्रव्य।

४. शब्द अर्थ व ज्ञानरूप पदार्थ—दे० नय/I/४।

पद्धति—Method (ध. ५/प्र. २७)

पद्धति—१ पद्धतिका लक्षण

क. पा. २/२,२२/§२९/१४/६ सुत्तवित्तिविवरणाए पद्धईववएसादो।=सूत्र और वृत्ति इन दोनोका जो विवरण है, उसकी पद्धति संज्ञा है।

२. आगम व अध्यात्म पद्धतिमें अन्तर

१ आगम व अध्यात्म सामान्यकी अपेक्षा

प. का./ता वृ /१७३/२५५/११ अर्थपदार्थानामभेदरत्नत्रयप्रतिपादका-नामनुकूलं यत्र व्याख्यानं क्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते वीतराग-सर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूप यत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्र भण्यते। =जिसमें अभेद रत्नत्रयके प्रतिपादक अर्थ और पदार्थोंका व्याख्यान किया जाता है उसको अध्यात्म शास्त्र कहते है। वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत छ' द्रव्यो आदिका सम्यक्श्रद्धान, सम्यक्ज्ञान, तथा व्रतादिके अनुष्ठान रूप रत्नत्रयके स्वरूपका जिसमें प्रतिपादन किया जाता है उसको आगम शास्त्र कहते हैं।

द्र. स /टी /१३/४०/६ पुढविजलतेउवाऊ इत्यादिगाथाद्वयेन, तृतीय-गाथापदत्रयेण च "गुणजीवापज्जत्ती पाणासण्णा य मग्गणाओ य। उवओगो वि य कमसो बीस तु परूवणा भणिया।१।" इति गाथा-प्रभृति कथितस्वरूपं धवलजयधवलमहाधवलप्रबन्धाभिधानसिद्धान्त-त्रयबीजपदं सूचितम्। "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" इति शुद्धात्मतत्त्व-प्रकाशक तृतीयगाथाचतुर्थपादेन पञ्चास्तिकायप्रवचनसारसमयसारा-भिधानप्राभृतत्रयस्यापि बीजपदं सूचितमिति।='पुढवीजलतेयवाऊ' इत्यादि गाथाओ और तीसरी गाथा 'णिक्कम्मा अट्ठगुणा' के तीन पदोसे गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोगोंसे इस प्रकार क्रमसे बीस प्ररूपणा कही है।१। इत्यादि गाथामें कहा हुआ स्वरूप धवल, जयधवल और महाधवल प्रबन्ध नामक जो तीन सिद्धान्त ग्रन्थ है उनके बीजपदकी सूचना ग्रन्थकार-ने की है। 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इस तृतीय गाथाके चौथे पादसे शुद्ध आत्म तत्त्वके प्रकाशक पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समय-सार इन तीनो प्राभृतोका बीजपद सूचित किया है।

गो. जी /जी. प्र /२९९/६४९/२ अत्राहेतुवादरूपे आगमे हेतुवादस्या-नधिकारात्।=अहेतुवादरूप आगमविषैं हेतुवादका अधिकार नाहीं। इहाँ तो जिनागम अनुसारि वस्तुका स्वरूप कहनेका अधिकार जानना।

सू. पा./प. जयचन्द/६/५४/५ तहाँ सामान्य विशेषकरि सर्व पदार्थनिका निरूपण करिये है सो आगम रूप (पद्धति) है। बहुरि जहाँ एक आत्मा ही के आश्रय निरूपण करिये सो अध्यात्म है।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी पं. टोडरमल—समयसारादि ग्रन्थ अध्यात्म है और आगमकी चर्चा गोम्मटसारमें है।

परमार्थ वचनिका प. बनारसीदास—द्रव्य रूप तो पुद्गल (कर्मों) के परिणाम है, और भाव रूप पुद्गलाकार आत्माकी अशुद्ध परिणतिरूप परिणाम है। वह दोनो परिणाम आगमरूप स्थापे। द्रव्यरूप तो जीवत्व (सामान्य) परिणाम है और भावरूप ज्ञान दर्शन, सुख, वीर्य आदि अनन्त गुण (विशेष) परिणाम है। यह दोनो परिणाम अध्यात्मरूप जानने।

२. पंच भावोंकी अपेक्षा

स. सा./ता. वृ /३२०/४०८/२१ आगमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिक-क्षायिकं भावत्रयं भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरि-णाम' शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञा लभते। =आगम भाषासे औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक तीन भाव कहे जाते है। और अध्यात्म भाषामें शुद्धात्माके अभिमुख परिणाम, वा शुद्धोपयोग इत्यादि पर्याय नामको प्राप्त होते हैं। (द्र. सं./टी /४५/-१९४/९)।

द्र सं /अधिकार २ की चूलिका/८४/४ आगमभाषया ··भव्यत्वसंज्ञस्य पारिणामिकभावस्य सबन्धिनी व्यक्तिर्भण्यते। अध्यात्मभाषया पुनर्द्रव्यशक्तिरूपशुद्धपारिणामिकभावविषये भावना भण्यते, पर्याया-नामन्तरेण निर्विकल्पसमाधिर्वा शुद्धोपयोगादिक वेति। =आगम भाषासे भव्यत्व संज्ञाधारक जीवके पारिणामिक भावसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यक्ति कही जाती है और अध्यात्म भाषा द्वारा द्रव्य शक्ति रूप शुद्धभावके विषयमें भावना कहते है। अन्य पर्याय नामोंसे इसी द्रव्य शक्ति रूप पारिणामिक भावकी भावनाको निर्विकल्प-ध्यान, तथा शुद्ध उपयोगादिक कहते है।

३. पंचलब्धिकी अपेक्षा

प का /ता वृ /१५१/२१७/१४ यदायं जीव आगमभाषया कालादि-लब्धिरूपमध्यात्मभाषया शुद्धात्माभिमुखपरिणामरूपं स्वसंवेदनज्ञानं लभते तदा सरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा पराश्रितधर्मध्यानबहिरङ्गसह-कारित्वेनानन्तज्ञानादिस्वरूपोऽहमित्यादिभावना - स्वरूपमात्माश्रितं धर्म्यध्यानं प्राप्य आगमकथितक्रमेण शुक्लध्यानमनुभूय · भावमोक्षं प्राप्नोतीति। =जब यह जीव आगम भाषासे कालादि लब्धि रूप और अध्यात्म भाषासे शुद्धात्माभिमुख परिणाम रूप स्व संवेदन ज्ञानको प्राप्त करता है तब सराग सम्यग्दृष्टि होकर पराश्रित धर्म-ध्यानकी बहिरंग सहकारि कारण रूप जो 'अनन्त ज्ञानादि स्वरूप मैं हूँ' इत्यादि भावना स्वरूप आत्माश्रित धर्मध्यानको प्राप्त करके आगम

कथित क्रमसे शुक्लध्यानको अनुभव करते हुए…भावमोक्षको प्राप्त करता है। (द्र. स./टी./३५/१५६/३)।

द्र. सं/टी./४१/१६५/११ समवसरणे मानस्तम्भावलोकनमात्रादेवागम-भाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयसञ्ज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसञ्ज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्वं विलयं गत। =(इन्द्रभूति जन) समवसरणमें गये तब मानस्तभके देखने मात्रसे ही आगम-भाषामें दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीयके क्षयोपशमसे और अध्यात्म भाषामें निज, शुद्ध आत्माके सन्मुख परिणाम तथा कालादि लब्धियोंके विशेषसे उनका मिथ्यात्व नष्ट हो गया। (द्र. स./टी./४५/१६४/६)।

४. सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा

स. सा./ता. वृ /१४५/२०८/१० अध्यात्मभाषया शुद्धात्मभावनां विना आगमभाषया तु वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबन्धकारणमेव न च मुक्तिकारणम्। =अध्यात्म भाषामें शुद्धात्माकी भावनाके बिना और आगम भाषामें वीतराग सम्यक्त्वके बिना व्रत दानादिक पुण्यबंधके ही कारण हैं, मुक्तिके कारण नहीं।

द्र. स./टी /३८/१५६/४ परमागमभाषया पञ्चविंशतिमलरहिता तथाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपा सम्यक्त्वभावनैव मुख्येति विज्ञेयम्। =परमागम भाषासे पच्चीस दोषोंसे रहित सम्यग्दर्शन और अध्यात्म भाषासे निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, इस प्रकार जो रुचि है उस रूप सम्यक्त्वकी भावना ही मुख्य है। ऐसा जानना चाहिए।

५. ध्यानकी अपेक्षा

स. सा./ता. वृ /२१५/२९५/१३ (अध्यात्मभाषया) परमार्थशब्दाभिधेयं ··शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपम्। =(अध्यात्म भाषासे) परमार्थ शब्दका वाच्य शुद्धात्म संवित्ति है लक्षण जिसका और परमागम भाषासे वीतराग धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहते हे।

प. का./ता. वृ./१५०/२१६/१७ (अध्यात्मभाषया) शुद्धात्मानुभूतिलक्षण-निर्विकल्पसमाधिसाध्यागमभाषया रागादिविकल्परहितशुक्लध्यान-साध्ये वा। =(अध्यात्म भाषासे) शुद्धात्मानुभूति है लक्षण जिसका ऐसी निर्विकल्प समाधि साध्य है, और आगम भाषासे रागादि विकल्प रहित शुक्लध्यान साध्य है। (प प्र./टी./१/१/६/२)।

द्र. स /टी./४८/२०१,२०४ ध्यानस्य तावदागमभाषया विचित्रभेदा। ।२०१। अध्यात्मभाषया पुन. सहजशुद्धपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवति निजात्मन्युपादेयबुद्धिं कृत्वा पश्चादनन्तज्ञानोऽहम् इत्यादिरूपमभ्यन्तरधर्मध्यानमुच्यते। तथैव स्वशुद्धात्मनि निर्विकल्पसमाधिलक्षण शुक्लध्यानमिति। =आगम भाषाके अनुसार ध्यानके नाना प्रकारके भेद हैं।२०१। अध्यात्म भाषासे सहज-शुद्ध-परम चेतन्यशाली तथा परिपूर्ण आनन्दका धारी भगवान् निजात्मा है, उसमें उपादेय बुद्धि करके, फिर 'मै अनन्त ज्ञानका धारक हूँ' इत्यादि रूपसे अन्तर ग धर्मध्यान है। ' उसी प्रकार निज शुद्धात्मामें निर्विकल्प ध्यानरूप शुक्लध्यान है।

६. चारित्रकी अपेक्षा

प. का./ता. वृ./१५८/२२८/१५ [अध्यात्मभाषया] निजशुद्धात्मसंवित्त्यनुचरणरूप परमागमभाषया वीतरागपरमसामायिकसञ्ज्ञं स्वचरितं चरति अनुभवति। =(अध्यात्मभाषासे) निज शुद्धात्माकी संवित्ति रूप अनुचरण स्वरूप, परमागम भाषासे वीतराग परम सामायिक नामके स्वचारित्रको चरता है, अनुभव करता है।

प.का /ता वृ./१७१/२४४/१५ य' कोऽपि शुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा आगमभाषया मोक्ष वा व्रततपश्चरणादिक करोति। =जो कोई (अध्यात्मभाषासे) शुद्धात्माको उपादेय करके, आगम भाषासे मोक्षको आदेय करके व्रत तपश्चरणादिक करता है…।

३. तर्क व सिद्धान्त पद्धतिमें अन्तर

द्र सं /टी /४४/१८६/४ तर्काभिप्रायेण सत्तावलोकनदर्शन व्याख्यातम्। सिद्धान्ताभिप्रायेण उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्त यत् प्रयत्नं तद्रूप यत् स्वस्यात्मन. परिच्छेदनमवलोकनं तद्दर्शनं भण्यते। =तर्कके अभिप्रायसे सत्तावलोकनदर्शनका व्याख्यान किया। सिद्धान्तके अभिप्रायसे आगे होनेवाले ज्ञानकी उत्पत्तिके लिए प्रयत्न रूप जो आत्माका अवलोकन वह दर्शन कहलाता हे।

द्र सं /टी./४४/१९२/३ तर्के मुख्यवृत्त्या परसमयव्याख्यानं स्थूलव्याख्यान·· सिद्धान्ते पुन' स्वसमयव्याख्यान मुख्यवृत्त्या सूक्ष्मव्याख्यानम्··। =तर्कमें मुख्यतासे अन्यमतोका व्याख्यान होता है। स्थूल अर्थात् विस्तृत व्याख्यान होता है। सिद्धान्तमें मुख्यतासे निज समयका व्याख्यान है, सूक्ष्म व्याख्यान है।

४. उत्सर्ग व अपवाद व्याख्यानमें अन्तर

पं. का./ता. वृ /१४६/२१२/६ सकलश्रुतधारिणा ध्यान भवति तदुत्सर्गवचन, अपवादव्याख्याने तु पञ्चसमितित्रिगुप्तिप्रतिपादकश्रुतिपरिज्ञानमात्रेणैव केवलज्ञान जायते। वज्रवृषभनाराचसंज्ञप्रथमसहननेन ध्यान भवति तदप्युत्सर्गवचन अपवादव्याख्यान पुनरपूर्वादिगुणस्थानवर्तिना उपशमक्षपकश्रेण्योर्यच्छुक्लध्यान तदपेक्षया स नियम अपूर्वादिधस्तनगुणस्थानेषु धर्मध्याने निषेधकं न भवति। =सकल श्रुतधारियोंको ध्यान होता है यह उत्सर्ग वचन है, अपवाद व्याख्यानसे तो पाच समिति और तीन गुप्तिको प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रके ज्ञानसे भी केवलज्ञान होता है। ··वज्रवृषभनाराच नामकी प्रथम सहननसे ही ध्यान होता है यह उत्सर्ग वचन है। अपवाद रूप व्याख्यानसे तो अपूर्वादि गुणस्थानवर्ती जीवोंके उपशम व क्षपक श्रेणीमें जो शुक्लध्यान होता है उसकी अपेक्षा यह नियम है। अपूर्वकरण गुणस्थानसे नीचेके गुणस्थानोमें धर्मध्यानका निषेध नहीं होता है। (द्र. स /टी./५७/२३२/५)।

* आगमके चारों अनुयोगोंकी कथन पद्धतिमें अन्तर

—दे० अनुयोग/१।

पद्म—१. चक्रवर्तीकी नव निधियोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष/३। २ अपरविदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/७। ३ कालका एक प्रमाण —दे० गणित/I/१। ४, ८वाँ बलदेव था। अपरनाम राम था—दे० राम। ५. ९वाँ बलदेव था। अपरनाम बल था। —दे० शलाकापुरुष/३। ६. म. पु./६६/श्लोक न. पूर्व भव नं. २ में श्रीपुर नगरके राजा प्रजापाल थे (७३)। फिर अच्युत स्वर्गमें देव हुए (७४)। वर्तमान भवमें ९वे चक्रवर्ती हुए। (अपरनाम महापद्म था (ह. पु./२०/१४)। विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष/२।

पद्मकीर्ति—आप एक भट्टारक थे। आपने पार्श्वपुराण (अपभ्रंश) की रचना की थी। समय—वि. ९९९ ई० ९४२ (म. पु /प्र./२०/पन्नालाल)

पद्मकूट—१ पूर्व विदेहस्थ एक वक्षारगिरि—दे० लोक/७। २. पूर्व विदेहस्थ पद्मकूट वक्षारका एक कूट—दे० लोक/७। ३ श्रद्धावान् वक्षारका एक कूट—दे० लोक/७। ४. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

पद्मगुल्म—म. पु./५६/श्लोक विदेह क्षेत्रस्थ वत्स देशकी सुसीमा नगरीके राजा थे (२-३)। चन्दन नामक पुत्रको राज्य देकर दीक्षा धारण कर ली (१५-१६)। विपाकसूत्र तक सब अगोंका अध्ययन किया तथा चिरकाल तक घोर तपश्चरण कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया।

तत्पश्चात् आरण स्वर्गमें देव हुआ (१७-१८)। यह शीतलनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है—दे० तीर्थंकर।

पद्मदेव—१. पद्मकूट वक्षारपर स्थित पद्मकूटका रक्षक देव—दे० लोक/७। २. श्रद्धावान् वक्षारपर स्थित पद्मकूटका रक्षक देव—दे० लोक/७। ३. रम्यकक्षेत्रके बहुमध्य भागस्थ कूटाकार वैताढ्य पर्वत—दे० लोक/७। ४. दक्षिण पुष्करार्ध द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यतर/४। ५ कुण्डल पर्वतस्थ रजतकूटका स्वामी एक नागेन्द्र देव—दे० लोक/७।

पद्मनंदि—दिगम्बर जैन आम्नायमें पद्मनन्दि नामके अनेकों आचार्य हुए है। १. पद्मनन्दि प्रथम जैन आम्नायके मूल स्तम्भ श्री कुन्दकुन्द आचार्यका दूसरा नाम था।—दे० कुन्दकुन्द। २. नन्दिसंघके देशीय गणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास/५/१४) पद्मनन्दि द्वितीय त्रैकाल्य योगीके शिष्य तथा कुलभूषणके गुरु थे। इनका अपरनाम आविद्धकरण व कौमारदेव था। इनके सधर्मा प्रभाचन्द्र न. ४ थे। समय—वि ६८२-१०८० (ई० ९२५-१०23) नोट—(प. वि /प्र २८/A N Up.) के अनुसार इनका समय ई० ११८५-१२03 (वि श १3) बताया जाता है, परन्तु ऐसा स्वीकार करनेसे ये प्रभाचन्द्रके सधर्मा नहीं ठहरते है, क्योंकि उनका समय ई० ९२५-१०२३ तक सिद्ध है। दूसरे ऐसा माननेसे माघनन्दि कोल्लापुरीयके दादा गुरु भी यह नहीं ठहरते है, क्योंकि उनका समय भी ई. ११०८-११३६ सिद्ध किया जा चुका है। अत मानना होगा कि उनके द्वारा मान्य ई० ११८५-१२०३ वाले पद्मनन्दि कोई और नहीं बल्कि ये ही कौमारदेव हैं। ३ काष्ठासंघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास/५/६) आप हेमचन्द्रके शिष्य तथा यश कीर्तिके गुरु थे। समय—वि० १००५ (ई० ९४८) (प्रद्युम्नचरित्र/प्र / प्रेमीजी) (ला स /१/६४-७०) ४. माघनन्दिकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास/५/२२) पद्मनन्दि चतुर्थ वीरनन्दिके प्रशिष्य और बलनन्दिके शिष्य थे। माघनन्दिके प्रशिष्य श्रीनन्दिके लिए आपने जम्बूदीवपण्णत्ति (प्रा०) लिखी थी। इसके अतिरिक्त पचसंग्रह (प्रा०) की प्राकृत वृत्तिकी रचना भी की थी। समय—वि १०५०-११०० (ई ९९३-१०४३) (ज.प /प्र /१3/A N.Up.), (प.वि./प्रा./२७/A N Up); (प स /प्रा /३९ A N.Up.) वसु. श्रा.प्र १८/पं पन्नालाल) ५. पद्मनन्दि पचम श्री वीरनन्दिके शिष्य थे। और ज्ञानार्णवके कर्ता शुभचन्द्राचार्यके भी शिष्य थे। वीरनन्दि इनके दीक्षागुरु थे और शुभचन्द्र शिक्षा गुरु। इनकी पद्मनन्दि पचविंशतिकाके एकत्वसप्तति अधिकारकी टीका वि ११९3 की उपलब्ध है। समय—ई. १०१६-११३६, वि १०७३-११९३ (प वि /प्र २९/३५/A.N.Up.), (प का./प्र २ प पन्नालाल) ६ आप (पद्मनन्दि षष्ठ) नयकीर्तिके शिष्य थे। आपका नामोल्लेख वि १२३८, १२४२ और १२६३ के शिलालेखोंमें आता है। कृति—चरणसार, धम्मरसायण। समय—वि १२२५-१३०० (ई० ११६८-१२४३) (आ अनु / प्र १०/A.N.Up.), (पं.वि /प्र /२८/A N.Up) प का /प्र २/प. पन्नालाल बाकलीवाल) ७ पद्मनन्दि सप्तम त्रैविद्यदेवके शिष्य थे। इनका स्वर्गवास वि १३७३ में हुआ था। समय—वि १३१५-१३७३ (ई० १२५८-१३१६), (प.वि /प्र.२८/A N.Up.) ८. पद्मनन्दि अष्टम एक भट्टारक थे। इनको लघु पद्मनन्दि कहते थे। इनकी रचनाएँ है—१ निघटुवैद्यक, २. परमात्मप्रकाशकी टीका, ३ आराधना सग्रह, ४. यत्याचार, ५ श्रावकाचार, ६ कुलकुण्ड पार्श्वनाथविधान, ७. रत्नत्रयपूजा, ८ देवपूजा, ९ अनन्तकथा, १० रत्नत्रयकथा आदि। समय—वि. १३३७-१३८७ (ई० १२८०-१३30) अथवा (वि० १३६२. ई० १३०५) प का /प्र.२/पं. पन्नालाल बाकलीवाल) ९. भट्ट (पद्मनन्दि नवम) शुभचन्द्र अध्यात्मी न ५ के शिष्य थे। इनको पण्डितकी उपाधि थी। शुभचन्द्र अध्यात्मीका स्वर्गवास वि. १३७० में माना जाता है तदनुसार इनका समय वि० १३५०-१३८० (ई० १२९३-१३२3) आता है। (पं वि./प्र.२८/A.N.Up.) १०. पद्मनन्दि बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास/५/१३) पद्मनन्दि दशम प्रभाचन्द्र न. ७ के शिष्य थे। तथा सकलकीर्ति व देवेन्द्रकीर्तिके गुरु थे। आप ब्राह्मण कुलके थे। आपने ई० १३९3 में आदिनाथ भगवान्की प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करायी थी। आपने भावनापद्धति, व जीरापल्ली पार्श्वनाथस्तुतिकी रचना की थी। समय—ई० १३२८-१३९८ (का.अ /प्र./७/A.N.Up) (पं.वि./प्र /२८/A.N.Up.)।

पद्मनंदि पंचविंशतिका—आ० पद्मनन्दि (ई० १०१६-११३६) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित गृहस्थधर्म प्ररूपक ग्रन्थ है। इसमें २५ अधिकार तथा कुल ८०० श्लोक है।

पद्मनाभ—म पु /५४/श्लोक पूर्वधातकीखण्डमें मगलावतीदेशके रत्नसंचय नामक नगरके राजा कनकप्रभका पुत्र था (१२१-१३१)। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली। तथा ग्यारह अंगोंका पारगामी हो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। आयुके अन्तमें समाधिपूर्वक वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुआ (१५८-१६२)। यह चन्द्रप्रभु भगवान्के पूर्वका दूसरा भव है—दे० चन्द्रप्रभ।

पद्मनाभचरित्र—आ० शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्धग्रन्थ।

पद्मपुराण—पद्मपुराणनामके कई ग्रन्थ उपलब्ध है, सभी राम रावणकी कथाके प्रतिपादक है।—१. आ० रविषेण (ई. ६४३-६८३) द्वारा संस्कृत छन्दोंमें रचित यह ग्रन्थ आचार्य कीर्तिधर (ई० ६००) कृत रामकथाके आधारपर लिखा गया है। इसमें १२३ पर्व है तथा २०,००० श्लोक हैं। इसकी भाषाटीका प० दौलतराम (ई० १७६६) ने की थी। २ विमलसूरि (ई० ६४४-७७८) द्वारा प्राकृत छन्दोंमें निबद्ध इस ग्रन्थका दूसरा नाम 'पउम चरिय' है। ३ कवि स्वयंभू (ई० ६७७-७८३) द्वारा अपभ्रंश छन्दोंमे निबद्ध यह ग्रन्थ आ० कीर्तिधर कृत रामकथाके आधारपर लिखा गया है। इसमें ५६ संधि है, कुल ८००० श्लोकप्रमाण है, इसका नाम 'पउम चरिउ' है। ४. कवि रइधू (ई० १४३९) द्वारा अपभ्रंश छन्दोंमें रचित ग्रन्थ। ५. आ० चन्द्रकीर्ति (ई० १५९७) द्वारा रचित ग्रन्थ। ६ प० दौलतराम (ई० १७६६) द्वारा रचित ग्रन्थ।

पद्मप्रभ—म पु /५२/श्लोक धातकीखण्डके पूर्वविदेहमें वत्सकादेशकी सुसीमानगरीके अपराजित नामक राजा थे (२-३)। फिर उपरिम ग्रैवेयकके प्रीतिंकरविमानमे अहमिन्द्र हुए (१२-१४)। वर्तमान भवमें छठे तीर्थंकर हुए है। विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५।

पद्मप्रभ-मलधारीदेव—आप एक आध्यात्मिक दिगम्बर साधु थे। आपने नियमसार ग्रन्थकी टीका लिखी थी। आपका स्वर्गवास ई० ११८५ (वि० १२४२) में हुआ था। समय—ई० ११४०-११८५ (आ. अनु /प्र /१२/A N Up), (प वि /प्र ३३/A N.Up)।

पद्ममाल—१. सौधर्मस्वर्गका २३वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५। २. सौधर्मस्वर्गके २३वें पटलका इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

पद्मरथ—१ म पु /६०/श्लोक न धातकीखण्डमें अरिष्ट नगरीका राजा था (२-3)। धनरथ पुत्रको राज्य देकर दीक्षित हो गया। तथा ग्यारह अगोंका पाठी हो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया (११)। अन्तमे सल्लेखना पूर्वक मरणकर अच्युत स्वर्गमें इन्द्रपद प्राप्त किया (१२) यह अनन्तनाथ भगवान्का दूसरा पूर्वभव है—दे० अनन्तनाथ। २ ह पु /२०/ श्लोक नं 'हस्तिनापुरमें महापद्म चक्रवर्तीका पुत्र तथा विष्णुकुमारका बडा भाई था (१४)। इन्होंने ही सिंहबल राजाको पकड लानेसे प्रसन्न होकर बलि आदि मन्त्रियोंको

वर दिया था (१७)। इसी वरके रूपमें बलि आदि मन्त्रियोंने सात दिनका राज्य लेकर अकम्पनाचार्यादि सात सौ मुनियोंपर उपसर्ग किया था (२२)।

पद्मलेश्या—दे० लेश्या।

पद्मवान्—१. अपर विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २ विकृतवान् वक्षारका एक कूट—दे० लोक/७। ३ पद्मवान् कूटका रक्षक देव। दे० लोक/७।

पद्मसिंह—ध्यानविषयक ज्ञानसार ग्रन्थके रचयिता एक मुनि। समय—वि १०८६ (ई० १०३६) (त अनु०/१०६ का भावार्थ प० युगलकिशोर)।

पद्मसेन—१. म.पु./५६/श्लोक पश्चिम धातकीखण्डमे रम्यकावती देशके महानगरका राजा था (२-३)। दीक्षित होकर ११ अंगोका पारगामी हो गया। तथा तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर अन्तमे समाधिपूर्वक सहस्रार स्वर्गमें इन्द्रपद प्राप्त किया (८-१०)। यह विमलनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है—दे० विमलनाथ। २ पचस्तूपसंघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास/५/१७) आप धवलाकार वीरसेन स्वामीके शिष्य थे। (म.पु/प्र /३१/पं०)। ३ पुन्नाटसघकी गुर्वावलीके अनुसार आप वीरवितके शिष्य तथा व्याघ्रहस्तके गुरु थे।—दे० इतिहास/५/१८।

पद्महृद—हिमवान् पर्वतस्थ एक ह्रद। जिसमेंसे गगा, सिन्धु व रोहितास्या ये तीन नदियाँ निकलती है। श्रीदेवी इसमे निवास करती है—दे० लोक/३/८।

पद्मांग—कालका एक प्रमाणविशेष—दे० गणित/I/१।

पद्मा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

पद्माल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका नगर—दे० विद्याधर।

पद्मावत—विद्युत्प्रभ गजदन्तस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

पद्मावती—१ पूर्व विदेहस्थ रम्यका क्षेत्रकी मुख्य नगरी—दे० लोक/७। २ म.पु./७३/श्लोक अपने पूर्वभव सर्पिणीकी पर्यायमे कमठके आँठवे उत्तर भव महीपाल द्वारा लक्कडके जलानेपर मारी गयी (१०१-१०३)। परन्तु पार्श्वनाथ भगवान्के उपदेशसे शान्तभावपूर्वक मरण करनेसे पद्मावती बनी (११८-११९)। इसीने भगवान् पार्श्वनाथका उपसर्ग निवारण किया था (१३९-१४१)। अत यह पार्श्वनाथ भगवान्की शासक यक्षिणी है—दे० यक्ष।

पद्मावती कल्प—दे० पूजा।

पद्मासन—दे० आसन।

पद्मोत्तर—१. भद्रशाल वनस्थ एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक/७, २ कुण्डल पर्वतस्थ रजतप्रभ कूटका स्वामी नागेन्द्रदेव—दे० लोक/७, ३ रुचक पर्वतके नन्द्यावर्तकूटपर रहनेवाला देव—दे०लोक/७। ४. म पु /५८/श्लोक पुष्करार्धद्वीपके वत्सकावती देशमें रत्नपुर नगरका राजा था (२)। दीक्षित होकर ११ अंगोका पारगामी हो गया। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर आयुके अन्तमें सन्यासपूर्वक मरणकर महाशुक्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ (११-१३)। यह वासुपूज्य भगवान्का दूसरा पूर्वभव है—दे० वासुपूज्य।

पनसा—भरतक्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

पन्नालाल—आप सघी गोत्री एक पण्डित थे। पं० सदासुखदासजी-के आप शिष्य थे। रत्नचन्द्रजी वैद्य दूनीवालेके पुत्र थे। कृतियाँ—१ राजवार्तिककी भाषावचनिका, २ उत्तरपुराणकी भाषावचनिका; ३ —२७००० श्लोकप्रमाण विद्वद्जन बोधक, ४ सरस्वती पूजा आदि। प० सदासुखदासजीके अनुसार आपका समय—ई० १७९३-१८६३ आता है। (अर्थ प्रकाशिका/प्र. ५/प. पन्नालाल), (र. क. श्रा./प्र. २४/प० परमानन्द)।

परंपरा—१. व्यवहारनिश्चयका परम्परा कारण है। —दे० नय, धर्म आदि वह वह विषय। २ आचार्य परम्परा—दे० इतिहास/४; ३. आगम परम्परा—दे० इतिहास/६।

परंपरा बंध—दे० बंध/१।

परंपरोपनिधा—दे० श्रेणी।

पर—रा. वा /२/३७/१/१४७/२६ परशब्दोऽयमनेकार्थवचन। क्वचिद्व्यवस्थाया वर्तते—यथा पूर्व पर इति। क्वचिदन्यार्थे वर्तते—यथा परपुत्र' परभार्येति अन्यपुत्रोऽन्यभार्येति गम्यते। क्वचित्प्राधान्ये वर्तते—यथा परमिय कन्या अस्मिन्कुटुम्बे प्रधानमिति गम्यते। क्वचिदिष्टार्थे वर्तते—यथा परं धाम गत इष्ट धाम गत इत्यर्थ।

रा वा./३/६/७/१६७/१७ परोत्कृष्टेति पर्यायौ।७। =पर शब्दके अनेक अर्थ है जैसे—१. कही पर व्यवस्था अर्थमें वर्तता है जैसे—पहला, पिछला। २. कहीं पर भिन्न अर्थमें वर्तता है जैसे—'परपुत्र', 'परभार्या'। इससे 'अन्यका पुत्र'. व 'अन्यकी स्त्री' ऐसा ज्ञान होता है। ३. कहीं पर प्राधान्य अर्थमें वर्तता है जैसे—इस कुटुम्बमें यह कन्या पर है। यहाँ 'प्रधान है' ऐसा ज्ञान होता है। ४ कहीं पर इष्ट अर्थमें वर्तता है जैसे—'पर धाम गत' अर्थात् अपने इष्ट स्थानपर गया ऐसा ज्ञान होता है। ५ पर और उत्कृष्ट ये पर्यायवाची नाम हैं। (प प्र./टी /१/२४/२१/८)।

स्या. मं./४/१८/२७ परत्वं चान्यत्व तच्चैकान्तभेदाविनाभावि।

स्या. म /२७/३०५/२७ परशब्दो हि शत्रुपर्यायोऽप्यस्ति। =परत्व शब्द एकान्तभेदका अविनाभावी है। इसका अर्थ अन्यपना होता है। 'पर' शब्द शत्रुशब्दका पर्यायवाची है।

पं. ध /उ /३९७ स्वापूर्वार्थद्वयोरेव ग्राहक ज्ञानमेकश।३९७। =ज्ञान युगपत् स्व और अपूर्व अर्थात् पर दोनों ही अर्थोंका ग्राहक है।

परकृति—न्या. सू./टी /२/१/६३/१०१/४ अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वाद. परकृति। हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिधारयन्ति अथ पृषदाज्यं तदुह चरकाध्वर्यव पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिधारयन्ति "अग्ने प्राणा' पृषदाउस्तोममित्येवमभिदधतीत्येवादि। =जो वाक्य मनुष्योके कर्मोंमें परस्पर विरोध दिखावे उसे 'परकृति' कहते है। जैसे—कोई तो वपाको स्रुवेमें रखकर प्रणीता में डालते है और कोई घृतको स्रुवासे से प्रणीतामें डालते है, और उनकी प्रशसा करते है।

परक्षेत्र—दे० क्षेत्र/१।

परगणानुपस्थापना प्रायश्चित्त—दे० परिहारप्रायश्चित्त।

परघातनामकर्म—स. सि /८/११/३९१/४ यन्निमित्त' परशस्त्रादेर्व्याघातस्तत्परघातनाम। =जिसके उदयसे परशस्त्रादिकका निमित्त पाकर व्याघात होता है, वह परघात नामकर्म है। (रा वा /८/११/१४/५७८/३); (गो क /जी. प्र./३३/२९/१६)।

ध. ६/१,९-१,२८/५९/७ परेषा घात' परघात.। जस्स कम्मस्स उदएण परघादहेदू सरीरे पोग्गला णिप्फज्जति त कम्मं परघाद णाम। त जहा—सप्पदाढासु विसं, विच्छियपुंछे परदुक्खहेउपोग्गलोवचओ, सिंह-वग्घच्छवलादिसु णहदता, सिगिवच्चणाहीधत्तूरादओ च परघादुप्पायया। =पर जीवोके घातको परघात कहते है। जिस कर्मके उदयसे शरीरमें परको घात करनेके कारणभूत पुद्गल निष्पन्न होते है, वह परघात नामकर्म कहलाता है। (ध./१३/५,५,१०१/३६४/१३) जैसे—साँपकी दाढोमें विष, बिच्छूकी पूँछमें पर दु खके कारणभूत पुद्गलोका सचय, सिंह, व्याघ्र और [illegible] आदिमें (तीक्ष्ण) नख और दन्त [illegible] सिंगी, [illegible] और धतूरा आदि विषैले वृक्ष परको दु ख उत्पन्न करनेवाले है।

*** परघात प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान**—दे० वह वह नाम।

परचतुष्टय—दे० चतुष्टय।

परचारित्र—दे० चारित्र/१।

परतन्त्रवाद—

१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा

श्वेताश्वतरोपनिषद्/१/२ काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छाभूतानि योनि पुरुषेति चिन्त्यम्। संयोग एषा न त्वात्मभावादात्माप्यनीश. सुखदु खहेतु'।२। =आत्माको यह सुख व दु ख स्वय भोगनेसे नहीं होते, अपितु काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथ्वी आदि चार भूत, योनिस्थान, पुरुष व चित्त इन नौ बातोके संयोगसे होता है, क्योंकि आत्मा दु ख-सुख भोगनेमे स्वतन्त्र नहीं है।

२. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

प्र. सा./त. प्र /परि./नय नं० २६, ३४ अस्वभावनयेनायस्कारनिशित-तीक्ष्णविशिखवत्संस्कारसार्थक्यकारि ।२६। ईश्वरनयेन धात्रीहटा-वलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ।३४। =आत्मद्रव्य अस्व-भावनयसे संस्कारको सार्थक करनेवाला है (अर्थात आत्माको अस्व-भावनयसे सस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभावसे नोक नहीं होती, किन्तु सस्कार करके) लुहारके द्वारा नोक निकाली गयी हो ऐसे पैने बाणकी भाँति ।२६। आत्मद्रव्य ईश्वरनयसे परतन्त्रता भोगनेवाला है, धायकी दुकानपर पिलाये जानेवाले राहगीरके बालककी भाँति।

*** उपादान कारणकी भी कथंचित् परतन्त्रता—**

—दे० कारण/II/३।

परत्वापरत्व—वै. द./७/२/२१/२५०/३ एकदिक्काभ्यामेक्कालाभ्या सनिकृष्टविप्रकृष्टाभ्या परमपरं च ।२१।=परत्व और अपरत्व दो प्रकारसे होते है। एक देशसम्बन्धसे दूसरे कालसम्बन्धसे। (स सि./५/२२/२९२/१०)।

रा. वा /५/२२/२२/४८१/२३ क्षेत्रप्रशसाकालनिमित्ते परत्वापरत्वे। तत्र क्षेत्रनिमित्ते तावदाकाशप्रदेशाल्पबहुत्वापेक्षे। एकस्या दिशि बहूनाकाशप्रदेशानतीत्य स्थित पर, तत' अल्पानतीत्य स्थितोऽपर। प्रशंसाकृते अहिंसादिप्रशस्तगुणयोगात् परो धर्म, तद्विपरीतोऽधर्मोऽपर इति। कालहेतुके शतवर्ष' पर, षोडशवर्षोऽपर इति। = १. परत्व और अपरत्व क्षेत्रकृत भी है जैसे—दूरवर्ती पदार्थ 'पर' और समीपवर्ती पदार्थ 'अपर' कहा जाता है। २ गुणकृत भी होते है जैसे अहिसा आदि प्रशस्तगुणोके कारण धर्म 'पर' और अधर्म 'अपर' कहा जाता है। ३. कालकृत भी होते है जैसे—सौ वर्षवाला वृद्ध 'पर' और सोलह वर्षका कुमार 'अपर' कहा जाता है।

परद्रव्य—मो. पा./मू /१७ आदसहावादण्ण सच्चित्ताचित्तमिस्सियं हवइ। तं परदव्व भणिय अवितत्थं सव्वदरसींहि।१७।=आत्म स्वभावसे अन्य जो कुछ सचित्त (स्त्री, पुत्रादिक) अचित्त (धन, धान्यादिक) मिश्र (आभूषण सहित मनुष्यादिक) होता है, वह सर्व परद्रव्य है। ऐसा सर्वज्ञ भगवानने सत्यार्थ कहा है।१७।

प प्र /मू /१/११३ ज णियदव्वह भिण्णु जड त पर-दव्वु वियाणि। पुग्गलु धम्माधम्मु णहु कालु वि पचमु जाणि।११३।

प. प्र /टी./२/१०८/२२७/२ रागादिभावकर्म-ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्म शरीरादिनोकर्म च बहिर्विषये मिथ्यात्वरागादिपरिणतासवृतजनोऽपि परद्रव्य भण्यते।

प. प्र./टी./२/११०/२२८/१७ अपध्यानपरिणाम एव परसंसर्ग'। =जो आत्म पदार्थसे जुदा जड़पदार्थ है, उसे परद्रव्य जानो। और वह परद्रव्य पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और पाँचवाँ कालद्रव्य है इन परद्रव्य जानो।११३। अन्दरके विकार रागादि भावकर्म और बाहरके शरीरादि नोकर्म तथा मिथ्यात्व व रागादिसे परिणत असंयत जन भी परद्रव्य कहे जाते हैं।१०८। वास्तवमें अपध्यान रूप परिणाम ही परसंसर्ग (द्रव्य) है।११०।

परनिमित्त—दे० निमित्त/१।

परभविक प्रकृतियाँ—दे० प्रकृति बंध/२।

परम—

१. पारिणामिकभावके अर्थमें

न. च. वृ./३५७-३५९ अत्थित्ताइसहावा सुसंठिया जत्थ सामण्णविसेसा। अवरुप्परमविरुद्धा तं णियतच्च हवे परमं।३५७। होऊण जत्थ णट्ठा होसंति पुणोऽवि जत्थपज्जाया। वट्टंता वट्टंति हु तं णियतच्चं हवे परमं।३५८। णासंतो वि ण णट्ठो उप्पण्णो णेव संभवं जंतो। संतो तियालविसये तं णियतच्चं हवे परमं।३५९। =जहाँ सामान्य और विशेषरूप अस्तित्वादि स्वभाव स्व व पर की अपेक्षा विधि निषेध रूपसे अविरुद्ध स्थित रहते हैं, उसे निज परमतत्त्व या वस्तुका स्वभाव कहते हैं।३५७। जहाँ पूर्वकी पर्याय नष्ट हो गयी हैं तथा भावी पर्याय उत्पन्न होवेंगी, और वर्तमान पर्याय वर्त रही हैं, उसे परम निजतत्त्व कहते हैं।३५८। जो नष्ट होते हुए भी नष्ट नहीं होता और उत्पन्न होते हुए भी उत्पन्न नहीं होता, ऐसा त्रिकाल विषयक जीव परम निजतत्त्व है।

आ. प./६ पारिणामिकभावप्रधानत्वेन परमस्वभाव.। =वस्तुमें पारिणामिक भावप्रधान होनेसे वह परमस्वभाव कहलाता है।

नि.सा./ता. वृ./११० पारिणामिकभावस्वभावेन परमस्वभाव·· स पञ्चम भाव'···उदयोदीरणक्षयक्षयोपशमविविधविकारविवर्जित'। अत कारणादस्यैकस्य परमत्वम् इतरेषा चतुर्णा विभावानामपरमत्वम्। =(भव्यको) पारिणामिक भावरूप स्वभाव होनेके कारण परमस्वभाव है। वह पचमभाव उदय, उदीरणा, क्षय, क्षयोपशम ऐसे विविध विकारोसे रहित है। इस कारणसे इस एकको परमपना प्राप्त है, शेष चार विभावोको अपरमपना है।

२. शुद्धके अर्थमें

पं. का./ता. वृ /१०४/१६५/१६ परमानन्दज्ञानादिगुणाधारत्वात्परशब्देन मोक्षो भण्यते। =परम आनन्द तथा ज्ञानादि गुणोंका आधार होनेसे 'पर' शब्दके द्वारा मोक्ष कहा जाता है।

प प्र./टी /१/१३/२१ परमो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहित। =परम अर्थात् भावकर्म, द्रव्यकर्म व नोकर्मसे रहित।

द्र. स./टी./४६/१९७/६ 'परमं' परमोपेक्षालक्षणं· शुद्धोपयोगाविनाभूतं परम 'सम्मचारित' सम्यक्चारित्रं ज्ञातव्यम्। ='परम' परम उपेक्षा लक्षणवाला (ससार, शरीर असंयमादिमें अनादर) तथा··· शुद्धोपयोगका अविनाभूत उत्कृष्ट 'सम्मचारित्त' सम्यग्चारित्र जानना चाहिए।

३. ज्येष्ठ व उत्कृष्टके अर्थमें

ध. ९/४,१,३/४१/६ परमो ज्येष्ठ.। =परम शब्दका अर्थ ज्येष्ठ है।

ध १३/५,५,५९/३२३/३ कि परमम्। असखेज्जलोगमेत्तसयमवियप्पा। =यहाँ (परमावधिके प्रकरणमें) परम शब्दसे असख्यात लोकमात्र सयमके विकल्प अभीष्ट हैं।

मो. पा./टी./६/३०९/१८ परा उत्कृष्टा प्रत्यक्षलक्षणोपलक्षिता मा प्रमाण यस्येति परम. अथवा परेषा भव्यप्राणिनां उपकारिणी मा लक्ष्मीः

समवशरणविभूतिर्यस्येति परम'। ='परा' अर्थात् उत्कृष्ट और 'मा' अर्थात् प्रत्यक्ष लक्षणसे उपलक्षित प्रमाण, ऐसा उत्कृष्ट प्रमाण (केवलज्ञान) जिसके पाया जाये सो परम है—वे अर्हंत हैं। अथवा 'पर' अर्थात् अन्य जो भव्यप्राणी 'मा' अर्थात् उनकी उपकार करनेवाली लक्ष्मी रूप समवसरण विभूति, यह जिसके पायी जाये ऐसे अर्हंत परम हैं।

४. एकार्थवाची नाम

न. च. वृ./४ तच्च तह परमट्ठ दव्वसहावं तहेव परमपरं। धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हुति अभिहाणा ।४। =तत्त्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध और परम ये सब एक अर्थके वाचक है ।४।

त. अनु./१३९ माध्यस्थ्यं समतोपेक्षा वैराग्य साम्यमस्पृहा। वैतृष्ण्य परम' शान्तिरित्येकार्थोऽभिधीयते ।१३९। =माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, परम, और शान्ति ये सब एक ही अर्थको लिये हुए है ।१३९।

परम अद्वैत—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम–दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परम एकत्व— "

परमर्षि—दे० ऋषि।

परमगुरु—दे० गुरु/१।

परमज्योति—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमतत्त्व— "

परमतत्त्वज्ञान— "

परमधर्म—दे० धर्म/१।

परमध्यान—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमब्रह्म— "

परमभावग्राहकनय—दे० नय/IV/१।

परमभेदज्ञान—निर्विकल्प समाधिका अपरनाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमविष्णु— "

परमवीतरागता— "

परमसमता— "

परमसमरसीभाव— "

परमसमाधि— "

परमस्वरूप— "

परमस्वास्थ्य— "

परमहंस— "

परमाणु—पुद्गल द्रव्यके अन्तिम छोटेसे छोटे भागको परमाणु कहते हे। सूक्ष्मताका द्योतक होनेसे चेतनके निर्विकल्प सूक्ष्म भाव भी कदाचित् परमाणु कह दिये जाते है। जैनदर्शनमें पृथिवी आदिके परमाणुओमें कोई भेद नही है। सभी परमाणु स्पर्श, रस, गन्ध व वर्णवाले होते है। स्पर्श गुणकी हलकी, भारी या कठोर नरमरूप पर्याय परमाणुमें नही पायी जाती हे, क्योंकि वह सयोगी द्रव्यमें ही होनी सम्भव है। इनके परस्पर मिलनेसे ही पृथिवी आदि तत्त्वोकी उत्पत्ति होती है। आदि, मध्य व अन्तकी कल्पनासे अतीत होते हुए भी एकप्रदेशी होनेके कारण यह दिशाओंवाला अनुमान करनेमें आता है।

१. परमाणुके भेद व लक्षण तथा उसके अस्तित्वकी सिद्धि

१. परमार्थ परमाणु सामान्यका लक्षण

ति. प./१/९६ सत्थेण सुतिक्खेण छेत्तु भेत्तु च ज किरस्सक्कं। जलयणलादिहिं णासं ण एदिसो होदि परमाणू ।९६। =जो अत्यन्त तीक्ष्ण

शस्त्रसे भी छेदा या भेदा नही जा सकता, तथा जल और अग्नि आदिके द्वारा नाशको प्राप्त नही होता, वह परमाणु है ।६६।

स. सि./सू./पृ./प्र प्रदिश्यन्त इति प्रदेशा परमाणवः (२/३८/१९२/६) प्रदेशमात्रभाविस्पर्शादिपर्यायप्रसवसामर्थ्येनाण्यन्ते शब्द्यन्त इत्यणव. । (५/२५/२९७/३) =प्रदेश शब्दकी व्युत्पत्ति 'प्रदिश्यन्ते' होती है । इसका अर्थ परमाणु है ।(२/३८)। एक प्रदेशमें होनेवाले स्पर्शादि पर्यायको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य रूपसे जो 'अण्यन्ते' अर्थात् कहे जाते है वे अणु कहलाते है। (रा वा./५/२५/१/४९१/११)

ज. प./१३/१७ जस्स ण कोइ अणुदरो सो अणुओ होदि सव्वदव्वाणं । जावे पर अणुत्त त परमाणू मुणेयव्वा ।१७। =सब द्रव्योमें जिसकी अपेक्षा अन्य कोई अणुत्तर न हो वह अणु होता है। जिसमें अत्यन्त अणुत्व हो उसे सब द्रव्योमें परमाणु जानना चाहिए ।१७।

२. क्षेत्रका प्रमाण विशेष

ज. प./१३/२१ अट्ठहिं तेहि णेया सण्णासण्णहि तह य दव्वेहि । ववहारियपरमाणू णिद्दिट्ठो सव्वदरिसीहि ।२१। =आठ सन्नासन्न द्रव्योसे एक व्यावहारिक परमाणु (त्रुटिरेणु) होता हे । ऐसा सर्व-दर्शियोने कहा है । (विशेष दे० गणित/I/१)

३. परमाणुके भेद

न. च वृ /१०१ कारणरूवाणु कज्जरूवो वा ।· ·।१०१। =परमाणु दो प्रकारका होता है—कारण रूप और कार्यरूप । (नि. सा /ता वृ /२५) (प्र. सा./ता. वृ./८०/१३६/१८) ।

नि. सा./ता. वृ /२५ अणवश्चतुर्भेदा कार्यकारणजघन्योत्कृष्टभेदै. । =अणुओके (परमाणुओके) चार भेद है। कार्य, कारण, जघन्य और उत्कृष्ट ।

पं. का /ता. वृ /१५२/२१९/१६ द्रव्यपरमाणु भावपरमाणु ·। =परमाणु दो प्रकारका होता है—द्रव्य परमाणु और भाव परमाणु ।

४. कारण कार्य परमाणुका लक्षण

नि सा./मू./२५ धाउचउक्कस्स पुणो जं हेऊ कारणं ति त णेयो । खंधाणं अवसाणो णादव्वो कज्जपरमाणू ।२५। =फिर जो (पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन) चार धातुओंका हेतु है, वह कारण परमाणु जानना, स्कन्धोके अवसानको (पृथक् हुए अविभागी अन्तिम अशको) कार्य परमाणु जानना ।२५।

पं.का /ता वृ./८०/१३६/१७ योऽसौ स्कन्धाना भेदको भणित. स कारण-परमाणुरुच्यते यस्तु कारकस्तेषा स कारणपरमाणुरिति । =स्कन्धोके भेदको करनेवाला परमाणु तो कार्यपरमाणु है और स्कन्धोका निर्माण करनेवाला कारण परमाणु है। अर्थात् स्कन्धके विघटनसे उत्पन्न होनेवाला कार्य परमाणु और जिन परमाणुओके मिलनेसे कोई स्कन्ध बने वे कारण परमाणु है ।

५. जघन्य व उत्कृष्ट परमाणुके लक्षण

नि. सा /ता. वृ./२५ जघन्यपरमाणु स्निग्धरूक्षगुणानामानन्त्याभावात् समविषमबन्धयोरयोग्य इत्यर्थ । स्निग्धरूक्षगुणानामनन्तत्वस्योपरि द्वाभ्या चतुर्भि सबन्ध त्रिभि. पञ्चभिर्विषमबन्ध । अयमुत्कृष्ट-परमाणु । =वही (कारण परमाणु), एक गुण स्निग्धता या रूक्षता होनेसे सम या विषम बन्धको अयोग्य ऐसा जघन्य परमाणु है—ऐसा अर्थ है। एक गुण स्निग्धता या रूक्षताके ऊपर—दो गुणवाले और चार गुणवालेका सम बन्ध होता है, तथा तीन गुणवालेका और पाँच गुणवालेका विषम बन्ध होता हे—यह उत्कृष्ट परमाणु है ।·

६. द्रव्य व भाव परमाणुका लक्षण

पं. का./ता. वृ./१५२/२१९/१७ द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं ग्राह्यं भावपरमाणुशब्देन च भावसूक्ष्मत्वं न च पुद्गलपरमाणुः । ··द्रव्य-शब्देनात्मद्रव्यं ग्राह्यं तस्य तु परमाणु । परमाणुरिति कोऽर्थः । रागाद्युपाधिरहिता सूक्ष्मावस्था । तस्या सूक्ष्मत्वं कथमिति चेत् । निर्विकल्पसमाधिविषयादिति द्रव्यपरमाणुशब्दस्य व्याख्यानं । भाव-शब्देन तु तस्यैवात्मद्रव्यस्य स्वसंवेदनज्ञानपरिणामो ग्राह्य. तस्य भाव-स्य परमाणु' । परमाणुरिति कोऽर्थ' । रागादिविकल्परहिता सूक्ष्मा-वस्था । तस्या सूक्ष्मत्व कथमिति चेत् । इन्द्रियमनोविकल्पाविषया-दिति भावपरमाणुशब्दस्य व्याख्यानं ज्ञातव्यं ।=द्रव्यपरमाणुसे द्रव्य-की सूक्ष्मता और भाव परमाणुसे भावकी सूक्ष्मता कही गयी है । उसमें पुद्गल परमाणुका कथन नहीं है ।···द्रव्य शब्दसे आत्म द्रव्य ग्रहण करना चाहिए । उसका परमाणु अर्थात् रागादि उपाधिसे रहित उसकी सूक्ष्मावस्था, क्योंकि वह निर्विकल्प समाधिका विषय है । इस प्रकार द्रव्य परमाणु कहा गया । भाव शब्दसे उसही आत्म द्रव्यका स्वसंवे-दन परिणाम ग्रहण करना चाहिए । उसके भावका परमाणु अर्थात् रागादि विकल्प रहित सूक्ष्मावस्था, क्योंकि वह इन्द्रिय और मनके विकल्पोका विषय नहीं है । इस प्रकार भावपरमाणु शब्दका व्याख्यान जानना चाहिए । (प. प्र /टी./२/३३/१५३/२) ।

रा. वा./हि /६/२९/७३३ भाव परमाणुके क्षेत्रकी अपेक्षा तो एक प्रदेश है । व्यवहार कालका एक समय है । और भाव अपेक्षा एक अविभागी प्रतिच्छेद है । तहाँ पुद्गलके गुण अपेक्षा तो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णके परिणमनका अंश लीजिए । जीवके गुण अपेक्षा ज्ञानका तथा कषाय-का अश लीजिए । ऐसे द्रव्य परमाणु (पुद्गल परमाणु) भाव परमाणु (किसी भी द्रव्यके गुणका एक अविभागी प्रतिच्छेद) यथा सम्भव समझना ।

७. परमाणुके अस्तित्व सम्बन्धी शंका समाधान

रा. वा./५/११/४/४५४/६ अप्रदेशत्वादभाव' (परमाणु) खरविषाणवदिति चेत, न उक्तत्वात ।४। ·प्रदेशमात्रोऽणु', न खरविषाणवदप्रदेश इति।

रा. वा./५/२५/१४-१५/४९२/२३ कथ पुनस्तेषामणूनामत्यन्तपरोक्षाणाम् अस्तित्वावसीयत इति चेत । उच्यते—तदस्तित्वं कार्यलिङ्गत्वात ।१५। · नासत्सु परमाणुषु शरीरेन्द्रियमहाभूतादिलक्षणस्य कार्यस्य प्रादुर्भाव इति । =प्रश्न—अप्रदेशी होनेसे परमाणुका खरविषाणकी तरह अभाव है। उत्तर—नहीं, क्योकि पहले कहा जा चुका है कि परमाणु एक प्रदेशी है न कि सर्वथा प्रदेश शून्य । प्रश्न—अत्यन्त परोक्ष उन परमाणुओंके अस्तित्वकी सिद्धि कैसे होती है ? उत्तर—कार्यलिंगसे कारणका अनुमान किया जाना सर्व सम्मत हे। शरीर, इन्द्रिय और महाभूत आदि स्कन्ध रूप कार्योंसे परमाणुओंका अस्तित्व सिद्ध होता है। क्योकि परमाणुओके अभावमें स्कन्ध रूप कार्य नही हो सकते ।

ध. १४/५,६,७६/५५/२ परमाणूणा परमाणुभावेण सव्वकालमवट्ठाणाभावादो दव्वभावो ण जुज्जदे । ण, पोग्गलभावेण उप्पादविणासवज्जिएण परमाणूण पि दव्वत्तसिद्धीदो । =प्रश्न—परमाणु सदाकाल परमाणु रूपसे अवस्थित नहीं रहते, इसलिए उनमें द्रव्यपना नही बनता ? उत्तर—नही, क्योंकि परमाणुओका पुद्गल रूपसे उत्पाद और विनाश नहीं होता इसलिए उनमें द्रव्यपना भी सिद्ध होता है ।

८. आदि मध्य अन्तहीन भी उसका अस्तित्व है

रा वा./५/११/५/४५४/६ आदिमध्यान्तव्यपदेश' परमाणो स्याद्वा, न वा। यद्यस्ति, प्रदेशवत्त्व प्राप्नोति ।' अथ नास्ति, खरविषाणवदस्याभाव स्यादिति'। तन्न, किं कारणम् । विज्ञानवत् । यथा विज्ञानमादि-मध्यान्तव्यपदेशाभावेऽप्यस्ति तथाणुरपि इति । उत्तरत्र च तस्या-

स्तित्वं वक्ष्यते। =प्रश्न—परमाणु क्या आदि, मध्य, अन्त सहित है। यदि सहित है तो उसको प्रदेशीपना प्राप्त हो जायेगा। और यदि रहित है तो उसका खरविषाणकी तरह अभाव सिद्ध होता है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे—विज्ञानका आदि मध्य व अन्त व्यपदेश न होनेपर भी अस्तित्व है उसी तरह परमाणुमें भी आदि, मध्य और अन्त व्यवहार न होनेपर भी उसका अस्तित्व है।

९. परमाणुमें स्पर्शादि गुणोंकी सिद्धि

रा. वा./२/२०/१/१३३/१ सूक्ष्मेषु परमाण्वादिषु स्पर्शादिव्यवहारो न प्राप्नोति। नैष दोषः, सूक्ष्मेष्वपि ते स्पर्शादयः सन्ति तत्कार्येषु स्थूलेषु दर्शनानुमीयमानाः, न ह्यत्यन्तमसतां प्रादुर्भावोऽस्तीति।

ध. १/१,१,३३/२३८/६ किंतु इन्द्रियग्रहणयोग्या न भवन्ति। ग्रहणायोग्यानां कथं स व्यपदेश इति चेन्न, तस्य सर्वदायोग्यत्वाभावात्। परमाणुगतः सर्वदा न ग्रहणयोग्यश्चेन्न, तस्यैव स्थूलकार्याकारेण परिणतौ योग्यत्वोपलम्भात्। =प्रश्न—सूक्ष्म परमाणुओंमें स्पर्शादिका व्यवहार नहीं बन सकता (क्योंकि उसमें स्पर्शन रूप क्रियाका अभाव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सूक्ष्म परमाणु आदिमें भी स्पर्शादि हैं, क्योंकि परमाणुओंके कार्यरूप स्थूल पदार्थोंमें स्पर्शादि उपलब्धि देखी जाती है। तथा अनुमान भी किया जाता है, क्योंकि जो अत्यन्त असत् होते हैं उनकी उत्पत्ति नहीं होती है। (ध. १/१,१,३३/२३८/४)। प्रश्न—जबकि परमाणुओंमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता तो फिर उसे स्पर्श संज्ञा कैसे दी जा सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि परमाणुगत स्पर्शके इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करनेकी योग्यताका सदैव अभाव नहीं है। प्रश्न—परमाणुमें रहनेवाला स्पर्श इन्द्रियों द्वारा कभी भी ग्रहण करने योग्य नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जब परमाणु स्थूल रूपसे परिणत होते हैं, तब तद्गत धर्मोंकी इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करनेकी योग्यता पायी जाती है। (अथवा उनमें रूढिके वशसे स्पर्शादिका व्यवहार होता है।) (रा. वा./२/२०)।

पं. का./त. प्र./७८ द्रव्यगुणयोरविभक्तप्रदेशत्वात् य एव परमाणोः प्रदेशः, स एव स्पर्शस्य, स एव रसस्य, स एव गन्धस्य, स एव रूपस्येति। ततः क्वचित्परमाणौ गन्धगुणे, क्वचित् गन्धरसगुणयोः, क्वचित् गन्धरसरूपगुणेषु अपकृष्यमाणेषु अविभक्तप्रदेशः परमाणुरेव विनश्यतीति। न तदपकर्षो युक्तः। ततः पृथिव्यप्तेजोवायुरूपस्य धातुचतुष्कस्यैक एव परमाणुः कारणम्। =द्रव्य और गुणके अभिन्न होनेसे जो परमाणुका प्रदेश है वही स्पर्शका है, वही रसका है, वही गन्धका है, वही रूपका है। इसलिए किसी परमाणुमें गन्ध गुण कम हो, किसी परमाणुमें गन्धगुण और रसगुण कम हो, किसी परमाणुमें गन्धगुण, रसगुण और रूपगुण कम हो, तो उस गुणसे अभिन्न अप्रदेशी परमाणु ही विनष्ट हो जायेगा। इसलिए उस गुणकी न्यूनता युक्त नहीं है। इसलिए धातु चतुष्कका एक परमाणु ही कारण है।

२ परमाणु निर्देश

१. वास्तवमें परमाणु ही पुद्गल द्रव्य है

ति. प./१/९९-१०० पूरंति गलंति जदो पूरणगलणेहिं पोग्गला तेण। परमाणुच्चिय जादा इय दिट्ठं दिट्ठिवादम्हि।९९। वण्णरसगंधफासे पूरणगलणाइ सव्वकालम्हि। खंद पि व कुणमाणा परमाणू पुग्गला तम्हा।१००। =क्योंकि स्कन्धोंके समान परमाणु भी पूरते हैं, और गलते हैं, इसलिए पूरण गलन क्रियाओंके रहनेसे वे भी पुद्गलके अन्तर्गत हैं, ऐसा दृष्टिवाद अंगमें निर्दिष्ट है।९९। परमाणु स्कन्धकी तरह सर्वकालमें वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श, इन गुणोंमें पूरण-गलनको किया करते हैं, इसलिए वे पुद्गल ही हैं। (ह. पु./७/३६), (पं.का./त.प्र./७६)।

रा. वा./५/१/२५/२६/४३४/१६ स्यान्मतम्—अणूनां निरवयवत्वात् पूरणगलनक्रियाभावात् पुद्गलव्यपदेशाभावप्रसङ्ग इति, तन्न, किं कारणम्। गुणापेक्षया तत्सिद्धेः। रूपरसगन्धस्पर्शयुक्ता हि परमाणवः एकगुणरूपादिपरिणताः द्वित्रिचतुः-सङ्ख्येयाऽसङ्ख्येयाऽनन्तगुणत्वेन वर्धन्ते, तथैव हानिमपि उपयान्तीति गुणापेक्षया पूरणगलनक्रियोपपत्तेः परमाणुष्वपि पुद्गलत्वमविरुद्धम्। अथवा गुण उपचारकल्पनम् पूरणगलनयोः भावित्वात् भूतत्वाच्च शक्त्यपेक्षया परमाणुषु पुद्गलत्वोपचारः। अथवा पुमांसो जीवाः, तैः शरीराहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्त इति पुद्गलाः। अण्वादिषु तदभावादपुद्गलत्वमिति चेद्, उक्तोत्तरमेतत्। =प्रश्न—अणुओंके निरवयव होनेसे तथा उनमें पूरण गलन क्रियाका अभाव होनेसे पुद्गल व्यपदेशके अभावका प्रसंग आता है? उत्तर—ऐसा नहीं है क्योंकि, गुणोंकी अपेक्षा उसमें पुद्गलपनेकी सिद्धि होती है। परमाणु रूप, रस, गन्ध, और स्पर्शसे युक्त होते हैं, और उनमें एक, दो, तीन, चार, सख्यात, असंख्यात और अनन्त गुणरूपसे हानि-वृद्धि होती रहती है। अतः उनमें भी पूरण-गलन व्यवहार माननेमें कोई बाधा नहीं है। अथवा पुरुष यानी जीव जिनको शरीर, आहार, विषय और इन्द्रिय उपकरण आदिके रूपमें निगलें—ग्रहण करें वे पुद्गल हैं। परमाणु भी स्कन्ध दशामें जीवोंके द्वारा निगले जाते ही हैं, (अत. परमाणु पुद्गल है।)

न. च. वृ./१०१ मुत्तो एयपदेसी कारणरूवोणु कज्जरूवो वा। तं खलु पोग्गलदव्वं खंधा ववहारदो भणिया।१०१। =जो मूर्त है, एक प्रदेशी है, कारण रूप है तथा कार्य रूप भी है ऐसा अणु ही वास्तवमें पुद्गल द्रव्य कहा गया है। स्कन्धको तो व्यवहारसे पुद्गल द्रव्य कहा है। (नि.सा./ता.वृ./२९)।

२. परमाणुमें जातिभेद नहीं है

स. सि./५/३/२६९/८ सर्वेषां परमाणूनां सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्यत्वाभ्युपगमात्। न च केचित्पार्थिवादिजातिविशेषयुक्ताः परमाणवः संन्ति, जातिसंकरेणारम्भदर्शनात्। =सब परमाणुओंमें सब रूपादि गुणवाले कार्योंके होनेकी योग्यता मानी है। कोई पार्थिव आदि भिन्न-भिन्न जातिके अलग-अलग परमाणु हैं यह बात नहीं है, क्योंकि जातिका संकर होकर सब कार्योंका आरम्भ देखा जाता है।

३. सिद्धोंवत् परमाणु निष्क्रिय नहीं

पं. का./त. प्र./९८ जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपा पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः। तदभावान्निःक्रियत्वं सिद्धानाम्। पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरङ्गसाधनं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः। न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति। =जीवोंको सक्रियपनेका बहिरंग साधन कर्म-नोकर्मके संचय रूप पुद्गल हैं; इसलिए जीव पुद्गलकरण वाले हैं। उसके अभावके कारण सिद्धोंको निष्क्रियपना है। पुद्गलको सक्रियपनेका बहिरंग साधन परिणाम निष्पादक काल है; इसलिए पुद्गल कालकरण वाले हैं। कर्मादिककी भाँति काल (द्रव्य) का अभाव नहीं होता, इसलिए सिद्धोंकी भाँति पुद्गलोंको निष्क्रियपना नहीं होता।

४. परमाणु अशब्द है

ति. प./१/९७ सद्दकारणमसद्दं। खंदंतरिदं दव्वं तं परमाणु भणंति बुधा।९७। =जो स्वयं शब्द रूप न होकर भी शब्दका कारण हो एवं स्कन्धके अन्तर्गत हो ऐसे द्रव्यको परमाणु कहते हैं। (ह.पु./७/३३), (दे० मूर्त/२/१)।

प. का./त. प्र./७८ यथा च तस्य (परमाणोः) परिणामवशादव्यक्तो गन्धादिगुणोऽस्तीति प्रतिज्ञायते, न तथा शब्दोऽप्यव्यक्तोऽस्तीति

ज्ञातुं शक्यते तस्यैकप्रदेशस्यानेकप्रदेशात्मकेन शब्देन सहैकत्वविरोधादिति। = जिस प्रकार परमाणुको परिणामके कारण अव्यक्त गन्धादि गुण हैं ऐसा ज्ञात होता है उसी प्रकार शब्द भी अव्यक्त है ऐसा नहीं जाना जा सकता, क्योंकि एक प्रदेशी परमाणुको अनेकप्रदेशात्मक शब्दके साथ एकत्व होनेमें विरोध है।

५. परमाणुकी उत्पत्तिका कारण

ध. १४/५ ६/सू. ९८-९९/१२० वग्गणणिरूवणिदाए इमा एयपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम किं भेदेण किं सघादेण किं भेदसघादेण ।९८। उवरिल्लीण दव्वाण भेदेण ।९९। = प्रश्न—वर्गणा निरूपणकी अपेक्षा एकप्रदेशी परमाणु पुद्गल-द्रव्य-वर्गणा क्या भेदसे उत्पन्न होती है, क्या संघातसे होती है, या क्या भेद संघातसे होती है ।९८। उत्तर = ऊपरके द्रव्योंके (अर्थात् स्कन्धोंके) भेदसे उत्पन्न होती हैं। (त. सू./५/२७), (स सि /५/२७/२९९/२), (रा वा /५/२७/१/४९४/१०)।

६. परमाणुका लोकमें अवस्थान क्रम

त. सू /५/१४ एकप्रदेशादिषु भाज्य पुद्गलानाम् ।१४।

रा. वा /५/१४/२/४५६/३२ तद्यथा—एकस्य परमाणोरेकत्रैव आकाशप्रदेशेऽवगाह, द्वयोरेकत्रोभयत्र च बद्धयोरबद्धयोश्च, त्रयाणामेकत्र द्वयोस्त्रिषु च बद्धानामबद्धाना च। एवं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशाना स्कन्धानामेकसंख्येयासंख्येयप्रदेशेषु लोकाकाशे अवस्थान प्रत्येतव्यम्। = पुद्गलोंका अवगाह लोकाकाशके एकप्रदेश आदिमें विकल्पसे होता है ।१४। यथा—एक परमाणुका एक ही आकाश प्रदेशमें अवगाह होता है, दो परमाणु यदि बद्ध हैं तो एक प्रदेशमें यदि अबद्ध है तो दो प्रदेशोंमें, तथा तीनका बद्ध और अबद्ध अवस्थामें एक दो और तीन प्रदेशोंमें अवगाह होता है। इसी प्रकार बन्धविशेषसे संख्यात-असख्यात और अनन्त प्रदेशी स्कन्धोंका लोकाकाशके एक, सख्यात और असख्यात प्रदेशोंमें अवगाह समझना चाहिए। (प्र सा./त.प्र /१३६)।

७. लोकस्थित परमाणुओंमें कुछ चलित हैं कुछ अचलित

गो जी /मू./५९३/१०३२ पोग्गलदव्वम्हि अणू संखेज्जादि हवंति चलिदा हु। चरिममहक्खंधम्मि य चलाचला होंति पदेसा ॥ = पुद्गल द्रव्यविषै परमाणु अर द्वयणुक आदि सख्यात-असंख्यात अनन्त परमाणुके स्कन्ध ते चलित है। बहुरि अन्तका महास्कन्धविषै केइ परमाणु अचलित है, बहुरि केइ परमाणु चलित है ते यथायोग्य चचल हो है।

८. अनन्तों परमाणु आज तक अवस्थित

ध. ६/१,९-१,२६/४१/६ एग-बे-तिण्णि समयाइ काऊण उक्कस्सेण मेरुपव्वदादिसु अणादि-अपज्जवसिदसरूवेण सट्ठाणावट्ठाणुवलभा। = पुद्गलोंका एक, दो, तीन समयोको आदि करके उत्कर्षत मेरु पर्वत आदिमें अनादि-अनन्त स्वरूपसे एक ही आकारका अवस्थान पाया जाता है।

ध. ४/१,५,४/गा. १९/३२७ वधइ जहुत्तहेदू सादियमथ णादियं चावि ।१९। [अदीदकाले वि सव्वजीवेहि सव्वपोग्गलाणमणतिभागो सव्वजीवरासीदो अणंतगुणो, सव्वजीवरासिउवरिमवग्गादो अणंतगुणहीणो, पोग्गलपुजो भुत्तुज्झिदो। (ध.४/१,५,४/३२९/३)। = पुद्गल परमाणु सादि भी होते हैं, अनादि भी होते हैं और उभय रूप भी होते हैं ।१९। अतीत कालमें भी सर्व जीवोंके द्वारा सर्वपुद्गलोंका अनन्तवाँ भाग, सर्व जीवराशिसे अनन्तगुणा, और सर्व जीवराशिके उपरिम वर्गसे अनन्तगुणहीन प्रमाणवाला पुद्गलपुंज भोगकर छोड़ा गया है। (अर्थात् शेषका पुद्गल पुंज अनुपयुक्त है।)

श्लो वा./२/भाषा /१/३/१२/८४ ऐसे परमाणु अनन्त पड़े हुए हैं जो आज तक स्कन्धरूप नहीं हुए और आगे भी न होवेंगे। (श्लो वा.२/भाषा/१/५/८-१०/१७३/१०)।

९. नित्य अवस्थित परमाणुओंका कथंचित् निषेध

रा वा /५/२५/१०/४९२/११ न चानादिपरमाणुर्नाम कश्चिदस्ति भेदादणुः (त सू./५/२७) इति वचनात्। = अनादि कालसे अणुरूप परमाणुकी अवस्थामें ही रहनेवाला कोई अणु नहीं है। क्योंकि सूत्रमें स्कन्ध भेदपूर्वक परमाणुओंकी उत्पत्ति बतायी है।

१०. परमाणुमें चार गुणोंकी पाँच पर्याय होती हैं

पं.का./मू.८१ एयरसवण्णगंधं दो फासं । खंधंतरिदं दव्वं परमाणुं तं वियाणाहि ।८१। = वह परमाणु एक रसवाला, एक वर्णवाला, एक गन्धवाला तथा दो स्पर्शवाला है। स्कन्धके भीतर हो तथापि द्रव्य है ऐसा जानो। (ति.प./१/९७); (न.च.वृ /१०२), (रा.वा./३/३८/६/२०७/२६), (ह पु /७/३३); (म पु./२४/१४८)।

रा.वा /५/२५/१३-१४/४९१/१८ एकरसवर्णगन्धोऽणुः ।१३। द्विस्पर्शः ।१४। कौ पुन द्वौ स्पर्शौ। शीतोष्णस्पर्शयोरन्यतर स्निग्धरूक्षयोरन्यतरश्च। एकप्रदेशत्वाद्विरोधिनो युगपदनवस्थानम्। गुरुलघुमृदुकठिनस्पर्शाना परमाणुष्वभाव, स्कन्धविषयत्वात्। = परमाणुमें एक रस, एक गन्ध, और एक वर्ण है। तथा उसमें शीत और उष्णमेंसे कोई एक तथा स्निग्ध और रूक्षमेंसे कोई एक, इस तरह दो अविरोधी स्पर्श होते है। गुरु-लघु और मृदु व कठिन स्पर्श परमाणुमें नहीं पाये जाते, क्योंकि वे स्कन्धके विषय हैं। (नि.सा /ता वृ./२७)।

३. परमाणुओंमें कथंचित् सावयव निरवयवपना

१. परमाणु आदि, मध्य व अन्त हीन होता है

नि.सा /मू./२६ अत्तादि अत्तमज्झं अत्तंतं णेव इंदिए गेज्झं। अविभागी जं दव्वं परमाणू जं वियाणाहि ।२६।

नि. सा /ता.वृ /२६ यथा जीवानां नित्यानित्यनिगोदादिसिद्धक्षेत्रपर्यन्तस्थितानां सहजपरमपारिणामिकभावनमात्रेण सहजनिश्चयनयेन स्वस्वरूपादप्रच्यवनत्वमुक्तम्, तथा परमाणुद्रव्याणां पञ्चमभावेन परमस्वभावत्वादात्मपरिणतेरात्मैवादि, मध्यो हि आत्मपरिणतेरात्मैव, अन्तोऽपि स्वस्यात्मैव परमाणु। = स्वय ही जिसका आदि है, स्वय ही जिसका अन्त है (अर्थात् जिसके आदिमें, अन्तमें और मध्यमें परमाणुका निज स्वरूप ही है) जो इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं है और जो अविभागी है, वह परमाणु द्रव्य जान ।२६। (स.सि./५/२५/२९७ पर उद्धृत), (ति.प /१/९८), (रा.वा./३/३८/६/२०७/२५) (रा.वा./५/२५/१/४९१/१८ में उद्धृत); (ज प /१३/१६), (गो.जी./जी प्र /५६४/१००६ पर उद्धृत) जिस प्रकार सहज परम पारिणामिक भावकी विवक्षाका आश्रय करनेवाले सहज निश्चय नयकी अपेक्षासे नित्य और अनित्य निगोदसे लेकर सिद्ध क्षेत्र पर्यन्त विद्यमान जीवोंको निजस्वरूपसे अच्युतपना कहा गया है, उसी प्रकार पंचम भावकी अपेक्षासे परमाणु द्रव्यका परम स्वभाव होनेसे परमाणु स्वयं ही अपनी परिणतिका आदि है, स्वयं ही अपनी परिणतिका मध्य है, और स्वय ही अपनी परिणतिका अन्त भी है।

प्र सा./त प्र /७८ परमाणोर्हि मूर्तत्वनिबन्धनभूता स्पर्शरसगन्धवर्णा आदेशमात्रेणैव भिद्यन्ते, वस्तुतस्तु यथा तस्य स एव प्रदेश आदि, स एव मध्यं, स एवान्त इति। = मूर्तत्वके कारणभूत स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णका, परमाणुसे आदेश मात्र द्वारा ही भेद किया जाता है;

वस्तुतः···परमाणुका वही प्रदेश आदि है वही मध्य, और वही प्रदेश अन्त है।

२. परमाणु अविभागी व एकप्रदेशी होता है

त सू./५/११ नाणोः ।११। =परमाणुके प्रदेश नही होते ।११।

प्र.सा./मू १३७ ··अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ।१३७। =परमाणु अप्रदेशी है; उसके द्वारा प्रदेशोद्भव कहा है। (ति.प /१/९८)

पं. का./मू /७७ सव्वेसिं खंधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू। सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागी मुत्तिभवो ।७७। =सर्व स्कंधोंका अन्तिम भाग उसे परमाणु जानो। वह अविभागी, एक शाश्वत, मूर्तिप्रभव और अशुद्ध है। (नि सा./मू./२६); (ति.प./१/९८); (ह.पु /७/३२)

पं.का /मू.७५···परमाणू चेव अविभागी ।७५। =अविभागी वह सचमुच परमाणु है। (मू.आ./२३१); (ति.प./१/९५): (ध.१३/५,१,१३/गा. ३/१३)।

३. अप्रदेशी या निरवयवपनेमें हेतु

स.सि./५/११/२७६/६ अणो 'प्रदेशा न सन्ति' इति वाक्यशेषः। कुतो न सन्तीति चेत्। प्रदेशमात्रत्वात्। यथा आकाशप्रदेशस्यैकस्य प्रदेशभेदाभावादप्रदेशत्वमेवमणोरपि प्रदेशमात्रत्वात्प्रदेशभेदाभाव'। किं च ततोऽल्पपरिणामाभावात्। न ह्यणोरल्पीयानन्योऽस्ति, यतोऽस्य प्रदेशा भिद्येरन्। (अतः स्वयमेवाद्यन्तपरिणामत्वादप्रदेशोऽणु··· यदि ह्यणोरपि प्रदेशा' स्यु'; अणुत्वमस्य न स्यात प्रदेशप्रचयरूपत्वात्, तत्प्रदेशानामेवाणुत्वं प्रसज्येत (रा वा.) =परमाणुके प्रदेश नही होते, यहाँ सन्ति यह वाक्य शेष है। प्रश्न—परमाणुके प्रदेश क्यों नही होते? उत्तर—क्योंकि वह स्वयं एक प्रदेश मात्र है। जिस प्रकार एक आकाश प्रदेशमें प्रदेशभेद न होनेसे वह अप्रदेशी माना गया है उसी प्रकार अणु स्वयं एक प्रदेश रूप है इसलिए उसमें प्रदेश भेद नही होता। दूसरे अणुसे अल्प परिमाण नहीं पाया जाता। ऐसी कोई अन्य वस्तु नहीं जो परमाणुसे छोटी हो जिससे इसके प्रदेश भेदको प्राप्त होवें। (अत' स्वयमेव आदि और अन्त होनेसे परमाणु अप्रदेशी है। यदि अणुके भी प्रदेशप्रचय हों तो फिर वह अणु ही नहीं कहा जायेगा, किन्तु उसके प्रदेश अणु कहे जायेंगे। (रा वा./५/११/१-३/४५४/३१)।

ह. पु /७/३४-३५ नाशङ्क्यानार्थतत्त्वज्ञैर्नभोंऽशानां समन्तत'। षट्केन युगपद्योगात्परमाणो' षडंशता ।३४। स्वल्पाकाशषडंशाश्च परमाणुश्च संहता। सप्तांशा' स्यु' कुतस्तु स्यात्परमाणो. षड शता ।३५। =तत्त्वज्ञोके द्वारा यह आशंका नहीं होनी चाहिए कि सब ओरसे आकाशके छह अंशोंके साथ सम्बन्ध होनेसे परमाणुमें षडंशता है ।३४। क्योंकि ऐसा माननेपर आकाशके छोटे-छोटे छह अंश और एक परमाणु सब मिलकर सप्तमाश हो जाते है। अत परमाणुमें षड शता कैसे हो सकती है ।३५।

ध.१३/५.३.३२/२३/२ ण ताव सावयवो, परमाणुसद्दाहिहेयादो पुधभूद-अवयवाणुवलंभादो। उवलंभे वा ण सो परमाणू, अपत्तभिज्जमाणभेदपरंतत्तादो। ण च अवयवी चेव अवयवो होदि, अण्णपदत्थेण विणा बहुब्वीहिसमासाणुववत्तीदो सबधेण विणा संबधणिबंधण-ई-पच्चयाणुववत्तीदो वा। ण च परमाणुस्स उद्धाधोमज्झभागाणवयवत्तमत्थि, तेहिंतो पुधभूदपरमाणुस्स अवयविसण्णिदस्स अभावादो। एदम्हि णए अवलबिज्जमाणे सिद्धं परमाणुस्स णिरवयवत्तं। =१. परमाणु तो हो नहीं सक्ता, क्योंकि परमाणु शब्दके वाच्यरूप उसके अवयव पृथक् पृथक् नहीं पाये जाते। २ यदि उसके पृथक् पृथक् अवयव माने जाते है तो वह परमाणु नहीं ठहरता, क्योंकि जितने भेद होने चाहिए उनके अन्तको वह अभी प्राप्त नहीं हुआ है। ३. यदि कहा जाय कि अवयवीको ही हम अवयव मान लेंगे। सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि एक तो बहुव्रीहि समास अन्यपदार्थ प्रधान होता है, कारण कि उसके बिना वह बन नही सकता। दूसरे सम्बन्धके बिना सम्बन्धका कारणभूत 'णिनि' प्रत्यय भी नही बन सक्ता। ४. यदि कहा जाय कि परमाणुके ऊर्ध्व भाग अधोभाग और मध्य भाग रूपसे अवयव बन जायेंगे। सो भी बात नही है, क्योंकि इन भागोके अतिरिक्त अवयवी संज्ञावाले परमाणुका अभाव है। इस प्रकार इस नयके अवलम्बन करनेपर परमाणु निरवयव है, यह बात सिद्ध होती है।

ध. १४/५.६,७७/५६/१ (परमाणु / णिरवयवत्तादो (जे जस्स कज्जस्स आरंभया परमाणू ते तस्स अवयवा होंति। तदारद्धकज्ज पि अवयवी होदि। ण च परमाणू अण्णेहिंतो णिप्पज्जदि, तस्स आरंभयाणमण्णेसिमभावादो। भावे वा ण एसो परमाणू; एत्तो सुहुमाणमण्णेसि सभवादो। ण च एगसंखंकियम्मि परमाणुम्मि विदियादिसंखा अत्थि; एक्कस्स दुब्भावविरोहादो। किं च जदि परमाणुस्स अवयवो अत्थि तो परमाणुणा अवयविणा अभावप्पसंगादो। ण च एवं, कारणाभावेण सयलथूलकज्जाणं पि अभावप्पसंगादो। ण च कप्पियसरूवा अवयवा होंति, अव्ववत्थापसंगादो। तम्हा परमाणुणा णिरवयवेण होदव्वं। ·ण च णिरवयवपरमाणूहिंतो थूलकज्जस्स अणुप्पत्ती, णिरवयवाण पि परमाणूणं सव्वप्पणा समागमेण थूलकज्जुप्पत्तीए विरोहासिद्धीदो। =५ परमाणु निरवयव होता है। जो परमाणु जिस कार्यके आरम्भक होते हैं वे उसके अवयव है, उनके द्वारा आरम्भ किया गया कार्य अवयवी है। ६. परमाणु अन्यसे उत्पन्न होता है यह कहना ठीक नही है, क्योकि उसके आरम्भक अन्य पदार्थ नही पाये जाते। और यदि उसके आरम्भक अन्य पदार्थ होते हैं ऐसा माना जाता है तो वह परमाणु नही ठहरता, क्योकि इस तरह इससे भी सूक्ष्म अन्य पदार्थोंका सद्भाव सिद्ध होता है। ७. एक सख्यावाले परमाणुमें द्वितीयादि सख्या होती है यह कहना ठीक नही है, क्योकि एकको दो रूप माननेमे विरोध आता है। ८. यदि परमाणुके अवयव होते है ऐसा माना जाय तो परमाणुको अवयवी होना चाहिए। परन्तु ऐसा है नही, क्योकि अवयवके विभाग द्वारा अवयवीके सयोगका विनाश होनेपर परमाणुका अभाव प्राप्त होता है। पर ऐसा है नहीं, क्योकि कारणका अभाव होनेसे सब स्थूल कार्योंका भी अभाव प्राप्त होता है। ९ परमाणुके कल्पित रूप अवयव होते हैं, यह कहना भी ठीक नही है, क्योकि इस तरह माननेपर अव्यवस्था प्राप्त होती है। इसलिए परमाणुको निरवयव होना चाहिए। १०. निरवयव परमाणुओसे स्थूल कार्योंकी उत्पत्ति नही बनेगी यह कहना ठीक नहीं है, क्योकि निरवयव परमाणुओंके सर्वात्मना समागमसे स्थूल कार्यकी उत्पत्ति होनेमें कोई विरोध नही आता।

४. परमाणुका आकार

म. पु /२४/१४८ अणव··· ··परिमण्डला' ।१४८। =वे परमाणु गोल होते हैं।

आचारसार/३/१३,२४ अणुश्च पुद्गलोऽभेद्यावयवः प्रचयशक्ति। कायश्च स्कन्धभेदोत्थचतुरस्रस्त्वतीन्द्रिय' ।१३। व्योमामूर्तं स्थित निरय चतुरस्र' समन्धनम्। भावावगाहहेतुश्चानन्तानन्तप्रदेशकम् ।२४। =अणु पुद्गल है, अभेद्य है, निरवयव है, बन्धनेकी शक्तिसे युक्त होनेके कारण कायवान है, स्कन्धके भेदसे होता है। चौकोर और अतीन्द्रिय है ।१३। आकाश अमूर्त है, निरय अवस्थित है, चौकोर अवगाह देनेमें हेतु है, और अनन्तानन्त प्रदेशी है ।२४। (तात्पर्य यह है कि सर्वत' महान् आकाश और सर्वत लघु परमाणु इन दोनोंका आकार चौकोर रूपसे समान है)

परमात्मा—परमात्मा या ईश्वर प्रत्येक मानवका एक काल्पनिक बना हुआ है। वास्तवमें ये दोनों शब्द शुद्धात्माके लिए प्रयोग किये जाते है। वह शुद्धात्मा भी दो प्रकारसे जाना जाता है—एक कारण रूप तथा दूसरा कार्यरूप। कारण परमात्मा देश कालावच्छिन्न शुद्ध चेतन सामान्य तत्त्व है, जो मुक्त व संसारी तथा चीटी व मनुष्य सबमें अन्वय रूपसे पाया जाता है। और कार्य परमात्मा वह मुक्तात्मा है, जो पहले ससारी था, पीछे कर्म काट कर मुक्त हुआ। अत' कारण परमात्मा अनादि व कार्य परमात्मा सादि होता हे। एकेश्वरवादियोंका सर्व व्यापक परमात्मा वास्तवमें वह कारण परमात्मा है और अनेकेश्वरवादियोंका कार्य परमात्मा। अत' दोनोमें कोई विरोध नही है। ईश्वरकर्तावादके सम्बन्धमें भी इसी प्रकार समन्वय किया जा सकता है। उपादान कारणकी अपेक्षा करनेपर सर्व विशेषोमें अनुगताकार रूपसे पाया जानेसे 'कारण परमात्मा' जगत्के सर्व कार्योको करता है। और निमित्तकारणकी अपेक्षा करने पर मुक्तात्मा वीतरागी होनेके कारण किसी भी कार्यको नहीं करता है। जैन लोग अपने विभावोंका कर्ता ईश्वरको नहीं मानते, परन्तु कर्मको मान लेते है। तहाँ उनमे व अजैनोंके ईश्वर कर्तृत्वमें केवल नाम मात्रका अन्तर रह जाता है। यदि कारण तत्त्वपर दृष्टि डालेंगे तो सर्व विभाव स्वत टल जायें और वह स्वय परमात्मा बन जाये।

१. परमात्मा निर्देश

१. परमात्मा सामान्यका लक्षण

स. श/टी/६/२२५/१५ परमात्मा संसारिजीवेभ्य' उत्कृष्ट आत्मा। =संसारी जीवोंमें सबसे उत्कृष्ट आत्माको परमात्मा कहते है।

२. परमात्माके दो भेद

१. कार्य कारण परमात्मा

नि. सा/ता वृ/७ निजकारणपरमात्माभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हन् परमेश्वरः। =निज कारण परमात्माकी भावनासे उत्पन्न कार्य परमात्मा, वही अर्हन्त परमेश्वर है। अर्थात् परमात्माके दो प्रकार है—कारण परमात्मा और कार्यपरमात्मा।

२. सकल निकल परमात्मा

का. अ/मू/१९२ परमप्पा वि य दुविहा अरहंता तह य सिद्धा य।१९२। =परमात्माके दो भेद है—अरहन्त और सिद्ध।

द्र. सं./टी/४४/४६/५ सयोग्योगिगुणस्थानद्वये विवक्षितैकदेशशुद्धनयेन सिद्धसदृश' परमात्मा, सिद्धस्तु साक्षात् परमात्मेति। =सयोगी और अयोगी इन दो गुणस्थानोमे विवक्षित एक देश शुद्ध नयकी अपेक्षा सिद्धके समान परमात्मा है, और सिद्ध तो साक्षात् परमात्मा हैं:ही।

३. कारण परमात्माका लक्षण

नि सा./मू/१७७-१७८ कारणपरमतत्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्—जाइजरमरणरहियं परम कम्मट्ठवज्जिय सुद्धध। णाणाइ चउसहावं अक्खयमविणासमच्छेयं'।१७७। अव्वाबाहमणिंदियमणोवमं पुण्णपावणिमुक्कं। पुणरागमणविरहिय णिच्च अचलं अणालंब।१७८। =कारण परमतत्त्वके स्वरूपका कथन है—(परमात्म तत्त्व) जन्म, जरा, मरण रहित, परम, आठकर्म रहित, शुद्ध, ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला, अक्षय अविनाशी और अच्छेद्य है।१७७। तथा अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्यपाप रहित, पुनरागमन रहित, नित्य, अचल और निरालब है।१७८।

स. श./मू./३०-३१ सर्वेन्द्रियाणि संयम्यास्तमितेनान्तरात्मा। यत्क्षणं पश्यते भाति तत्तत्वं परमात्मन.।३०। य परात्मा स एवाऽह योऽह स परमस्तत। अहमेव मयोपास्यो नान्य' कश्चिदिति स्थिति। =सम्पूर्ण पाँचो इन्द्रियोको विषयोंमें प्रवृत्तिसे रोककर स्थित हुए अन्त करणके द्वारा क्षणमात्रके लिए अनुभव करने वाले जीवोंके जो चिदानन्दस्वरूप प्रतिभासित होता है, वही परमात्माका स्वरूप है।३०। जो परमात्मा है वही मै हूँ, तथा जो स्वानुभवगम्य मै हूँ वही परमात्मा है। इसलिए मै ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य हूँ, दूसरा मेरा कोई उपास्य नही।३१।

प. प्र./मू./१/३३ देहादेवलि जो वसइ देउ अणाइ-अणंतु। केवल-णाण-फुरंत-तणु सो परमप्पु णिभंतु।३३। =जो व्यवहार नयसे देहरूपी देवालयमें बसता है पर निश्चयसे देहसे भिन्न है, आराध्य देव स्वरूप है, अनादि अनन्त है, केवलज्ञान स्वरूप है, नि'सन्देह वह अचलित पारिणामिक भाव ही परमात्मा है।३३।

नि सा./ता वृ/३८ औदयिकादिचतुर्णा भावान्तराणामगोचरत्वाद् द्रव्यभावनोकर्मोपाधिसमुपजनितविभावगुणपर्यायरहित, अनादिनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजपरमपारिणामिकभावस्वभावकरणपरमात्मा ह्यात्मा। =औदयिक आदि चार भावान्तरोको अगोचर होनेसे जो (कारण परमात्मा) द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप उपाधिसे जनित विभाव गुणपर्यायो रहित है, तथा अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाव वाला शुद्ध-सहज-परम-पारिणामिक भाव जिसका स्वभाव है—ऐसा कारण परमात्मा वह वास्तवमें 'आत्मा' है।

४. कार्य परमात्माका लक्षण

मो पा./मू/५ कम्मकलंकविमुक्को परमप्पा भण्णए देवो।५। =कर्म कलकसे रहित आत्माको परमात्मा कहते है।५।

नि सा/मू./७ णिस्सेसदोसरहिओ केवलणाणाइपरमविभवजुदो। सो परमप्पा उच्चइ तव्विवरीओ ण परमप्पा।७। =नि.शेष दोपसे जो रहित है, और केवलज्ञानादि परम वैभवसे जो संयुक्त है, वह परमात्मा कहलाता हे उससे विपरीत परमात्मा नही है।७।

प प्र/मू/१/१५-२५ अप्पा लद्धउ णाणमउ कम्म-विमुक्के जेण। मेल्लिवि सयलु वि दव्वु परु सो परु मुणहि मणेण।१५। केवल-दसण-णाणमउ केवल-सुक्ख सहाउ। केवल वीरिउ सो मुणहि जो जि परावरु भाउ।२४। एयहिं जुत्तउ लक्खणहिं जो परु णिक्कलु देउ। सो तहिं णिवसइ परम-पइ जो तइलोयहं झेउ।२५। =जिसने अष्ट कर्मोंको नाश करके और सब देहादि पर-द्रव्योको छोडकर केवलज्ञानमयी आत्मा पाया है, उसको शुद्ध मनसे परमात्मा जानो।१५। जो केवलज्ञान, केवलदर्शनमयी है, जिसका केवल सुख स्वभाव है, जो अनन्त वीर्य वाला है, वही उत्कृष्ट रूपवाला सिद्ध परमात्मा है।२४। इन लक्षणो सहित, सबसे उत्कृष्ट, नि'शरीरी व निराकार, देव जो परमात्मा सिद्ध है, जो तीन लोकका ध्येय है, वही इस लोकके शिखरपर विराजमान है।२५।

नि.सा./ता वृ/७,३८ सकलविमलकेवलबोधकेवलदृष्टिपरमवीतरागात्मकानन्दाद्यनेकविभवसमृद्ध यस्त्वेवंविध त्रिकालनिरावरणनित्यानन्दैकस्वरूपनिजकारणपरमात्मभावनोत्पन्नकार्यपरमात्मा स एव भगवान् अर्हन् परमेश्वर'।७। आत्मन सहजवैराग्यप्रासादशिखरशिखामणे. परद्रव्यपराङ्मुखस्य पञ्चेन्द्रियप्रसरवर्जितगात्रमात्रपरिग्रहस्य परमजिनयोगीश्वरस्य स्वद्रव्यनिशितमतेरुपादेयो ह्यात्मा। =सकलविमल केवलज्ञान-केवलदर्शन, परम-वीतरागात्मक आनन्द इत्यादि अनेक वैभवसे समृद्ध है, ऐसे जो परमात्मा अर्थात् त्रिकाल निरावरण, नित्यानन्द—एक स्वरूप निज कारण परमात्माकी भावनासे उत्पन्न कार्य परमात्मा वही भगवान् अर्हन्त परमेश्वर है।७। सहज

वाली विभिन्न सामग्रीके मिल जानेसे विभिन्न कार्योंकी सिद्धि हो जायेगी? उत्तर—उपरोक्त हेतुमें कोई अन्वय व्यतिरेक हेतु सिद्ध नहीं होता।

स्या. मं./६/पृ. ४४-५६ यत्तावदुक्तं परे 'क्षित्यादयो बुद्धिमत्कर्तृका', कार्यत्वाद् घटवदिति' तदयुक्तम्।...स चायं जगन्ति सृजन् सशरीरोऽशरीरो वा स्यात्। प्रथमपक्षे प्रत्यक्षबाध। तमन्तरेणापि च जायमाने तृणतरुपुरन्दरधनुरभ्रादौ कार्यत्वस्य दर्शनात् प्रमेयत्वादिवत् साधारणानैकान्तिको हेतु.। द्वितीयविकल्पे पुनरदृश्यशरीरत्वे तस्य माहात्म्यविशेषः कारणम्। इतरेतराश्रयदोषापत्तेश्च। सिद्धे हि माहात्म्यविशेषे तस्यादृश्यशरीरत्वं प्रत्येतव्यम्। तत्सिद्धौ च माहात्म्यविशेषसिद्धिरिति। अशरीरश्चेत् तदा दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यम्।.. अशरीरस्य च सतस्तस्य कार्यप्रवृत्तौ कुत सामर्थ्यम् आकाशादिवत्। बहूनामेककार्यकरणे वैमत्यसंभावना इति नायमेकान्त.। अनेककीटिकाशतनिष्पाद्यत्वेऽपि शक्रमूर्ध्न', अथैतेष्वप्येक एवेश्वर' कर्तेति ब्रूषे। 'तर्हि कुविन्दकुम्भकारादितिरस्कारेण पटघटादीनामपि कर्ता स एव किं न कल्प्यते।...सर्वगतत्वमपि तस्य नोपपन्नम्। तद्धि शरीरात्मना, ज्ञानात्मना वा स्यात्। प्रथमपक्षे तदीयेनैव देहेन जगत्त्रयस्य व्याप्तत्वाद् इतरनिर्मेयपदार्थानाश्रयानवकाश'। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाध्यता।..स जगत्त्रयं निर्मिमाणस्तक्षादिवत् साक्षाद् देहव्यापारेण निर्मिमीते, यदि वा संकल्पमात्रेण। आद्ये पक्षे एकस्यैव ..कालक्षेपस्य सभवाद् बहीयसाप्यनेहसा न परिसमाप्ति। द्वितीयपक्षे तु सकल्पमात्रेणैव कार्यकल्पनायां नियतदेशस्थायित्वेऽपि न किंचिद् दूषणमुत्पश्यामः।......
स हि यदि नाम स्वाधीन सन् विश्वं विधत्ते, परमकारुणिकश्च त्वया वर्ण्यते, तत्कथं सुखितदु खिताद्यवस्थाभेदवृन्दस्थपुटितं घटयति भुवनम् एकान्तशर्मसंपत्कान्तमेव तु किं न निर्मिमीते। अथ जन्मान्तरोपार्जिततत्तत्तदीयशुभाशुभकर्मप्रेरित सन् तथा करोतीति दत्तस्तर्हि स्ववशत्वाय जलाञ्जलि.। कर्मापेक्षश्चेदीश्वरो जगत्कारणं स्यात् तर्हि कर्मणीश्वरत्वम्, ईश्वरोऽनीश्वर' स्यादिति। स खलु नित्यत्वेनैकरूप. सन्, त्रिभुवनसर्गस्वभावोऽतत्स्वभावो वा। प्रथमविधाया जगन्निर्माणात् कदाचिदपि नोपरमेत्। तदुपरमे तत्स्वभावत्वहानि। एवं च सर्गक्रियाया अपर्यवसानाद् एकस्यापि कार्यस्य न सृष्टि। अतत्स्वभावपक्षे तु न जातु जगन्ति सृजेत् तत्स्वभावायोगाद् गगनवत्। अपि च तस्यैकान्तनित्यस्वरूपत्वे सृष्टिवत् संहारोऽपि न घटते।· एकस्वभावात् कारणादनेकस्वभावकार्योत्पत्तिविरोधात्। स्वभावान्तरेण चेद् नित्यत्वहानि। स्वभावभेद एव हि लक्षणमनित्यतायाः। अथास्तु नित्य, तथापि कथं सततमेव सृष्टौ न चेष्टते। इच्छावशात् चेत्, ननु ता अपीच्छ. स्वसत्तामात्रनिबन्धनात्मलाभा. सदैव किं न प्रवर्तयन्तीति स एवोपालम्भ'।
कार्यभेदानुमेयाना तदिच्छानामपि विषमरूपत्वाद् नित्यत्वहानि' केन वार्यते। ततश्चायं जगत्सर्गे व्याप्रियते स्वार्थात्, कारुण्याद् वा। न तावत् स्वार्थात् तस्य कृतकृत्यत्वात्। न च कारुण्यात्.। तत' प्राक् सर्गाज्जीवानामिन्द्रियशरीरविषयानुत्पत्तौ दु खाभावेन कस्य प्रहाणेच्छा कारुण्यम्। सर्गोत्तरकाले तु दु'खिनोऽवलोक्य कारुण्याभ्युपगमे तदुत्तरमितरेतराश्रयम् कारुण्येन सृष्टि सृष्ट्या च कारुण्यम्। इति नास्य जगत्कर्तृत्वं कथमपि सिद्ध्यति। =प्रश्न—पृथिवी आदि बुद्धिमान्‌के बनाये हुए है, कार्य होनेसे घटके समान। दृश्य शरीरसे? उत्तर—शरीर दीखता नही है। दूसरे, घास वृक्षादिको ईश्वरने अपने शरीरसे नहीं रचा है। अत कार्य हेतुपना साधारणैकान्तिक दोषका धारक है। प्रश्न—अदृश्य शरीरसे बनाये है। उत्तर—अदृश्य शरीरकी सिद्धिसे ईश्वरका माहात्म्य, तथा माहात्म्यसे शरीरकी सिद्धि होनेके कारण तथा दोनो ही होनेसे अन्योन्याश्रय दोष आता है। प्रश्न—ईश्वर शरीर रहित होकर बनाता है? उत्तर—दृष्टान्त ही बाधित हो जाता है। दूसरे, शरीर रहित आकाश आदिकमें कार्य करनेकी सामर्थ्य नही है। अतः अशरीरी ईश्वर भी कार्य कैसे कर सकता है। प्रश्न—वह अनेक है। अनेक हों तो मतभेदके कारण कोई कार्य ही न बने। उत्तर—मतभेद होनेका नियम नहीं। बहुतसी चीटियाँ मिलकर बिल बनाती है। प्रश्न—बिल आदिका कर्ता ईश्वर है? उत्तर—तो घट-पट आदिका कर्ता भी इसे ही मानकर कुम्भकार आदिका तिरस्कार क्यो नही कर देते। प्रश्न—ईश्वर सर्वगत है इसलिए कर्ता है? उत्तर—शरीरसे सर्वगत है या ज्ञानसे? यदि शरीरसे तो जगत्‌में और पदार्थको ठहरनेका अवकाश न होगा। शरीर व्यापारसे बनाता है या संकल्प मात्रसे? प्रश्न—शरीर व्यापारसे। उत्तर—तब तो एक कार्यमें अधिक काल लगनेसे सबका कर्ता नही हो सकता। प्रश्न—संकल्प मात्रसे। उत्तर—तब सर्वगतपनेकी आवश्यकता नहीं। परम करुणाभावके धारक ईश्वरने सुख-दु'खसे भरे इस जगतको क्यो बनाया। केवल सुख रूप ही क्यो नहीं बना दिया। प्रश्न—ईश्वर जीवोंके अन्य जन्मोमें उपार्जित कर्मोंसे प्रेरित होकर ऐसा करता है? उत्तर—इस प्रकार तो ईश्वर स्वाधीन न रहा। और कर्मकी मुख्यता होनेसे हमारे मतकी सिद्धि हुई। दूसरे इस प्रकार कर्मोंका कर्ता ईश्वर न हुआ। ·जगत्‌के बनानेसे उसे कभी भी विश्राम न होगा। यदि विश्राम लेगा तो उसके स्वभावके घातका प्रसंग आयेगा। इस प्रकार कोई भी कार्य पूर्ण हुआ न कहलायेगा। प्रश्न—कर्तापना उसका स्वभाव नहीं है। उत्तर—तो फिर वह जगत्‌का निर्माण ही कैसे करे, दूसरे एक ही प्रकारके स्वभावसे निर्माण तथा संहार दो (विरोधी) कार्य नही किये जा सकते। प्रश्न—संहार करनेका स्वभाव अन्य है। उत्तर—नित्यताका नाश हो जायेगा। स्वभाव भेद ही अनित्यताका लक्षण है। कभी किसी स्वभाववाला और कभी किसी स्वभाववाला होगा। निरन्तर वह क्यों नही बनाता। शंका—जब इच्छा नही रहती तब बनाना छोड देता है? उत्तर—इच्छासे ही कर्तापनेकी सिद्धि है, तो सदा इच्छा क्यो नही करता। दूसरे कार्योंकी नानारूपता उसकी इच्छाओंकी भी नानारूपताको सिद्ध करती है। अत. ईश्वर अनित्य है। ईश्वरने जगत्‌को किसी प्रयोजनसे बनाया या करुणा से। शंका—प्रयोजनसे। उत्तर—कृतकृत्यता खण्डित हो जाती है। प्रश्न—करुणाभावसे। उत्तर—दु ख अनादि नही है, तो ईश्वरने इन्हे क्यो बनाया। प्रश्न—दु ख देखकर पीछेसे करुणा उत्पन्न हुई? उत्तर—इससे तो इतरेतराश्रय दोष आया। करुणासे जगत् रचना और जगत् से करुणा उत्पन्न होना।

दे० सत्/१ (सत् स्वभाव ही जगत्‌का कर्ता है)।

४. ईश्वरवादका लक्षण

१. मिथ्या एकान्तकी अपेक्षा

गो.क./मू./८८० अण्णाणी हु अणासो अप्पा तस्स य सुह च दुक्खं च। सग्ग णिरयं गमण सव्व ईसरकय होदि।८८०। =आत्मा अज्ञानी है, अनाथ है। उस आत्माके सुख-दु ख, स्वर्ग-नरकादिक, गमनागमन सर्व ईश्वरकृत है, ऐसा मानना सो ईश्वरवादका अर्थ है।८८०। (स. सि./८/१/५ की टिप्पणी)।

२. सम्यगेकान्तकी अपेक्षा

स.सा/मू./३२२ लोयस्स कुणइ विण्हू समणाणवि अप्पओ कुणई। =लोकके मतमें विष्णू करता है, वैसे ही श्रमणोंके मतमें आत्मा करता है।

प.प्र./मू०/१/६६ अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ। भुवणत्तयहं वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ।६६। =हे जीव। यह आत्मा पगुके समान है, आप कहीं न जाता और न आता है, तीनो लोकोमें जीवको कर्म ही ले जाता है, कर्म ही लाता है।६६।

प्र.सा./त.प्र./परि नय नं. ३४ ईश्वरनयेन धात्रीहट्टावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ।३४। =आत्मद्रव्य ईश्वर नयसे परतन्त्रता भोगनेवाला है। धायकी दुकानपर दूध पिलाये जानेवाले राहगीरके बालककी भाँति।

५. वैदिक साहित्यमें ईश्वरवाद

१. ईश्वरके विविध रूप

१. वैदिक युगके लोग सर्व प्रथम सूर्य, चन्द्र आदि प्राकृतिक पदार्थोंको ही अपना आराध्यदेव स्वीकार करते थे। २ आगे जाकर उनका स्थान इन्द्र, वरुण आदि देवताओंको मिला, जिन्हें कि वे एक साथ या एक-एक करके जगतके सृष्टिकर्ता मानने लगे। ३. इससे भी आगे जाकर वैदिक ऋषि ईश्वरको निश्चित रूप देनेके लिए सत्-असत्, जीवन-मृत्यु आदि परस्पर विरोधी शब्दोंसे ईश्वरका वर्णन करने लगे। ४. इससे भी आगे ब्राह्मणग्रन्थोंकी रचनाके युगमें ईश्वरके सम्बन्धमें अनेकों मनोरंजक कल्पनाएँ जागृत हुई। यथा—प्रजापतिने एकसे अनेक होनेकी इच्छा की। उसके लिए उसने तप किया। जिससे क्रमशः धूप, अग्नि, प्रकाश आदिकी उत्पत्ति हुई। उसीके अश्रुबिन्दुके समुद्रमें गिर जानेसे पृथिवीकी उत्पत्ति हुई। अथवा उसके तपसे ब्राह्मण व जलकी उत्पत्ति हुई, जिससे सृष्टि बनी। ५ उपनिषद् युगमें कभी तो असत्, मृत्यु, क्षुधा आदिसे जल, पृथ्वी आदिकी उत्पत्ति मानी गयी है, कहीं ब्रह्मसे, और कहीं अक्षरसे सृष्टिकी रचना मानी गयी है। (स्या.म/परि पृ ४११)।

२. ईश्वरवादी मत

भारतीय दर्शनोंमें चार्वाक, बौद्ध, जैन, मीमांसक, सांख्य और योगदर्शन तथा वर्तमानका पाश्चात्य जगत् इस प्रकारके सृष्टि रचयिता किसी एक ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार नहीं करता। परन्तु न्याय और वैशेषिक दर्शनोंमें ईश्वरको सृष्टिका रचयिता माना गया है। (स्या म/परि.ग/पृ.४१३)।

३. ईश्वरकर्तृत्वमें युक्तियाँ

इसके लिए वे लोग निम्न युक्तियाँ देते है—१ नैयायिकोंका कहना है कि सृष्टिका कोई कर्ता अवश्य होना चाहिए, क्योंकि वह कार्य है। २ कुछ ईश्वरवादी पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि यदि ईश्वर न होता तो उसके अस्तित्वकी भावना ही हमारे हृदयमें जागृत न होती। ३ वैदिक जनोंका कहना है कि बिना किसी सचेतन नियन्ताके सृष्टिकी इतनी अद्भुत व्यवस्था सम्भव नहीं थी। अपने ऊपर आये आक्षेपोंका उत्तर भी वे निम्न प्रकार देते है—१. कृतकृत्य होकर भी केवल करुणाबुद्धिसे उसने सृष्टिकी रचना की। २ प्राणियोंके पुण्य-पापके अनुसार होनेके कारण वह रचना सर्वथा सुखमय नहीं हो सकती। ३ शरीर रहित होते हुए भी उसने इच्छामात्रसे उसकी रचना की है। ४ प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होनेपर भी वह शब्द प्रमाणसे सिद्ध है। (स्या मं/परि ग/४१३-४१८)।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. लोगोंका ईश्वर कर्तावाद और जैनियोंका कर्म कर्तावाद एक ही बात है—दे० कारक/कर्ता।

२. भक्ति प्रकरणमें ईश्वरमें कर्तापनेका आरोप निषिद्ध नहीं —दे० भक्ति।

३. जीवका कथंचित् कर्ता-अकर्तापना—दे० चेतना/३।

परमाध्यात्मतरंगिनी—आ० अमृतचन्द्र (ई० ९६२-१०१५) द्वारा रचित—समयसारके कलशोंका एक संग्रह ग्रन्थ है। संस्कृत छन्दबद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें ८ अधिकार हैं। कुल २३२ श्लोक हैं। इसपर आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) ने संस्कृतमें टीका लिखी है।

परमानंद—शुद्धात्मोपयोग अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमानन्द विलास—पं. देवीदयाल (ई० १७५४-१७६७) द्वारा रचित भाषापद संग्रह।

परमार्थ—शुद्धोपयोग अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमार्थ—

स./सा/मू./१५१ परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी। तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ।१५१। =निश्चयसे जो परमार्थ है, समय है, शुद्ध है, केवली है, मुनि है, ज्ञानी है, उस स्वभावमें स्थित मुनि निर्वाणको प्राप्त होते हैं।

न.च.वृ/४ तच्चं तह परमट्ठं दव्वसहावं तहेव परमपरं। धेयं सुद्धं परम एयट्ठा हुंति अभिहाणा ।४। =तत्त्व, परमार्थ, द्रव्यस्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध, और परम ये सब एक ही अर्थको जनानेवाले हैं।

स सा/ता वृ/१५१/२१४/११ उत्कृष्टार्थ परमार्थ धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु परमार्थेषु परमउत्कृष्टो मोक्षलक्षणोऽर्थ परमार्थः अथवा मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैक परमार्थ सोऽपि परमात्मैव। =उत्कृष्ट अर्थको परमार्थ कहते हैं। अर्थात धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष लक्षणवाले परमार्थोंमें जो परम उत्कृष्ट है, ऐसा मोक्ष लक्षणवाला अर्थ परमार्थ कहलाता है। अथवा मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय व केवलज्ञानके भेदसे रहित होनेसे निश्चयसे एक ही परमार्थ है वह भी आत्मा ही है।

परमार्थ तत्त्व—शुद्धोपयोग अपर नाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

परमार्थ प्रत्यक्ष—दे० प्रत्यक्ष/१।

परमार्थ बाह्य—स. सा/ता. वृ/१५२-१५३/२१७ भेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्या ।१५२। परमसामायिकमलभमाना परमार्थबाह्या ।१५३। =भेदज्ञानके न होनेके कारण परमार्थबाह्य कहलाते हैं ।१५२। परम सामायिकको नहीं प्राप्त करते हुए परमार्थ बाह्य होते हैं ।१५३।

परमावगाढ सम्यग्दर्शन—दे० सम्यग्दर्शन/१।

परमावधिज्ञान—दे० अवधिज्ञान/१।

परमावस्था—दे० उदय/१।

परमेश्वर—१. भूतकालीन सोलहवें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५। २ आप एक कवि थे। आपने वागर्थसंग्रह पुराणग्रन्थ चम्पू रूपमें लिखा था। समय—ई० ७६३ से पूर्ववर्ती (म.पु./प्र/४८ पं पन्नालाल), ३ परमात्माके अर्थमें परमेश्वर—दे० परमात्मा।

परमेश्वर तत्त्व—ज्ञा/२१/७/२८५ नाभिस्कन्धाद्विनिष्क्रान्तं हृत्पद्मोदरमध्यगम्। द्वादशान्ते सुविश्रान्त तज्ज्ञेयं परमेश्वरम् ।७। =जो नाभिस्कन्धसे निकाला हुआ तथा हृदय कमलमेंसे होकर द्वादशान्त (तालुरन्ध्र) में विश्रान्त हुआ (ठहरा हुआ) पवन है उसे परमेश्वर जानो क्योंकि यह पवनका स्वामी है ।७।

परमेष्ठी—आप एक कवि थे। आपने वागर्थसंग्रह पुराणकी रचना की थी। आपका समय आ० जिनसेनके महापुराण (वि.८९७) से पहले बताया जाता है। (म पु/प्र/२१/पं. पन्नालाल)।

परमेष्ठी—

स्व स्तो/टी/३६ परमपदे तिष्ठति इति परमेष्ठी परमात्मा। =जो परमपदमें तिष्ठता है वह परमेष्ठी परमात्मा होता है।

भा.पा/टी/१४६/२९३/८ परमे इन्द्रचन्द्रधरणेन्द्रवन्दिते पदे तिष्ठतीति

परमेष्ठी।=जो इन्द्र, चन्द्र, धरणेन्द्रके द्वारा वन्दित ऐसे परमपदमें तिष्ठता है वह परमेष्ठी होता है। (स.श./टी./६/२२५)।

२. निश्चयसे पंचपरमेष्ठी एक आत्माकी ही पर्याय है

मो.पा./मू./१०४ अरुहा सिद्धायरिया उज्झाया साहु पच परमेट्ठी। ते वि हु चिट्ठहि आधे तम्हा आदा हु मे सरणं।१०४।=अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय अर साधु ये पचपरमेष्ठी है, ते भी आत्माविषै ही चेष्टा रूप है, आत्माकी अवस्था है, इसलिए निश्चयसे मेरे आत्मा ही का सरणा है।१०४।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. पाँचों परमेष्ठीमें कथंचित् देवत्व—दे० देव/I/१।
२. अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय व साधु—दे० वह वह नाम।
३. आचार्य, उपाध्याय, साधुमें कथंचित् एकता—दे० साधु/६।
४. सिद्धसे पहले अर्हंतको नमस्कार क्यों—दे० मंत्र/२।

परमेष्ठी गुणव्रत—अर्हन्तोके ४६, सिद्धोके ८, आचार्योके ३६, उपाध्यायोंके २५ और साधुओंके २८ ये सब मिलकर १४३ गुण है। निम्न विशेष तिथियोमें एकान्तरा क्रमसे १४३ उपवास करे और नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। १४३ गुणोंकी पृथक् तिथियाँ—अर्हन्त भगवान्के १० अतिशयोकी १० दशमी, केवलज्ञानके अतिशयोकी १० दशमी; देवकृत १४ अतिशयोंकी १४ चतुर्दशी, अष्ट प्रतिहार्योंकी ८ अष्टमी, चार अनन्तचतुष्टय की ४ चौथ=४६। सिद्धोंके सम्यक्त्वादि आठ गुणोंकी आठ अष्टमी। आचार्योके बारह तपोकी १२ द्वादशी, छह आवश्यकोंकी ६ षष्ठी, पंचाचारकी ५ पचमी, दश धर्मोकी १० दशमी; तीन गुप्तियोंकी तीन तीज=३६। उपाध्यायके चौदह पूर्वोंकी १४ चतुर्दशी, ११ अगोकी ११ एकादशी=२५। साधुओंके ५ व्रतकी पाँच पंचमी, पाँच समितियोंकी ५ पचमी, छह आवश्यकोंकी ६ षष्ठी, शेष सात क्रियाओंकी ७ सप्तमी=२८। इस प्रकार कुल ३ तीज, ४ चौथ, २० पचमी, १२ छठ, ७ सप्तमी, ३६ अष्टमी, नवमी कोई नही, ३० दशमी, ११ एकादशी, १२ द्वादशी, त्रयोदशी कोई नहीं, २८ चतुर्दशी=१४३। (व्रतविधान सग्रह/पृ.११८)।

परमेष्ठी मंत्र—दे० मत्र/१/६।

परलोक—प.प्र/ती/११०/१०३/४ पर उत्कृष्टो वीतरागचिदानन्दैकस्वभाव आत्मा तस्य लोकोऽवलोकनं निर्विकल्पसमाधौ वानुभवनमिति परलोकशब्दस्यार्थ, अथवा लोक्यन्ते दृश्यन्ते जीवादिपदार्था यस्मिन् परमात्मस्वरूपे यस्य केवलज्ञानेन वा स भवति लोक, परश्चासो लोकश्च परलोक व्यवहारेण पुन स्वर्गापवर्गलक्षण परलोको भण्यते।=१. पर अर्थात् उत्कृष्ट चिदानन्द शुद्ध स्वभाव आत्मा उसका लोक अर्थात् अवलोकन निर्विकल्पसमाधिमें अनुभवना यह परलोक है। २ अथवा जिसके परमात्म स्वरूपमें या केवलज्ञानमें जीवादि पदार्थ देखे जावें, इसलिए उस परमात्माका नाम परलोक है। ३ अथवा व्यवहार नयकर स्वर्गमोक्षको परलोक कहते है। ४ स्वर्ग और मोक्षका कारण भगवान्का धर्म है, इसलिए केवल। भगवान्को मोक्ष कहते है।

परवश अतिचार—दे० अतिचार/१।

परवाद—ध. १३/५,५,५०/२८८/१ "मस्करी-कणभक्षाक्षपाद-कपिल-शौद्धोदनि-चार्वाक-जैमिनिप्रभृतयस्तद्दर्शनानि च परोद्यन्ते दूष्यन्ते अनेनेति परवादो राद्धान्त। परवादो ति गद।" =मस्करी, कणभक्ष, अक्षपाद, कपिल, शौद्धोदनि, चार्वाक और जैमिनि आदि तथा उनके दर्शन जिनके द्वारा 'परोद्यन्ते' अर्थात् दूषित किये जाते है वह राद्धान्त (सिद्धान्त) परवाद कहलाता है। इस प्रकार परवादका कथन किया।

परव्यपदेश—स.सि/७/३६/३७२/१ अन्यदातृदेयार्पणं परव्यपदेश। =इस दानकी वस्तुका दाता अन्य है यह कहकर देना परव्यपदेश है। (रा. वा/७/३६/३/५५८/२४); (चा. सा./२७/५)

परव्यपदेश नय—दे० नय/III/५।

परशुराम—यमदग्नि तापसका पुत्र (बृहत् कथाकोष/कथा ५६/१०।

परसंग्रह नय—दे० नय/III/४।

परसमय—दे० मिथ्यादृष्टि। २ परसमय व स्वसमयके स्वाध्यायका क्रम—दे० स्वाध्याय/३।

परस्त्री—दे० स्त्री; २. पर स्त्री गमनका निषेध—दे० ब्रह्मचर्य/३।

परस्पर कल्याणक व्रत—दे० कल्याणक व्रत।

परस्पर परिहार लक्षण विरोध—दे० विरोध।

परम्पराश्रय हेत्वाभास—दे० अन्योन्याश्रय।

परा—का.अ./मू./१६६ णीसेस-कम्म-णासे अप्प-सहावेण जा समुप्पत्ती। कम्मज-भाव-खए-विय सा विय पत्ती परा होदि।=समस्त कर्मोंका नाश होनेपर अपने स्वभावसे जो उत्पन्न होता है उसे परा कहते है। और कर्मोसे उत्पन्न होनेवाले भावोंके क्षयसे जो उत्पन्न होता है उसे भी परा कहते है।१६६।
मो.पा./टी /६/३०८/१८ परा उत्कृष्टा।=परा अर्थात् उत्कृष्ट।

पराजय—शास्त्रार्थमें हार जीत सम्बन्धी—दे० न्याय/२।

परात्मा—स.श./टी.६/२२५/१५ परात्मा ससारिजीवेभ्य' उत्कृष्ट आत्मा।=ससारीमेंसे जो उत्कृष्ट आत्मा बन जाती है उसे परात्मा कहते है।

परार्थ प्रमाण—दे० प्रमाण/१।

परार्थानुमान—दे० अनुमान/१।

परावर्त—अशुभ नामकर्मकी २६ प्रकृतिमें—दे०प्रकृति बध/२।

पराशर—पा.पु./७/श्लोक—राजा शान्तनुका पुत्र (७६) तथा गागेय (भीष्म) का पिता था (७८-८०)। एक समय धीवरकी कन्या गुणावतीपर मोहित हो गया। और 'उसकी सन्तानको ही राज्य मिलेगा' ऐसा वचन देकर उससे विवाह किया (८३-११५)।

परिजा—भरत क्षेत्र आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

परिकर्म—दृष्टिप्रवाद अगका प्रथम भेद—दे० श्रुतज्ञान/III/२ आचार्य कुन्दकुन्द (ई. १२७-१२७६) द्वारा षट्खण्डागमके प्रथम तीन खण्डोपर प्राकृत भाषामें लिखी गयी टीका थी। जो आज उपलब्ध नहीं है। यह कर्मसिद्धान्त विषयक ग्रन्थ था।

परिकर्माष्टक—गणित विषयक-सकलन, व्यकलन, गुणकार, भागहार, वर्ग, वर्गमूल, घन और घनमूल ये ८ विषय परिकर्माष्टक कहलाते है (विशेष दे० गणित/II/१)।

परिगणित—Mathematics. (ज प/प्र १०७)।

परिगृहीता—स.सि/७/२८/३६८/१। या (स्त्री) एकपुरुषभर्तृका सा परिगृहीता।=जिसका कोई एक पुरुष भर्ता है वह परिगृहीता कहलाती है। (रा.वा./७/२८/२/५५४/२८)।

परिग्रह—परिग्रह दो प्रकारका है—अन्तरग व बाह्य। जीवोंका राग अन्तरग परिग्रह है और रागी जीवोंको नित्य ही जो बाह्य पदार्थों-

का ग्रहण व संग्रह होता है, वह सब बाह्य परिग्रह कहलाता है। इसका मूल कारण होनेसे वास्तवमें अन्तरंग परिग्रह ही प्रधान है। उसके न होनेपर ये बाह्य पदार्थ परिग्रह संज्ञाको प्राप्त नहीं होते, क्योंकि ये साधकको जबरदस्ती राग बुद्धि उत्पन्न करानेको समर्थ नहीं हैं। फिर भी अन्तरंग परिग्रहका निमित्त होनेके कारण श्रेयोमार्गमें इनका त्याग करना इष्ट है।

१. परिग्रह सामान्य निर्देश

१. परिग्रह के लक्षण

त.सू./७/१७ मूर्च्छा परिग्रहः ।१७। =मूर्च्छा परिग्रह है ।१७।

स.सि./४/२१/२५२/५ लोभकषायोदयाद्विषयेषु सङ्गः परिग्रहः।

स.सि./६/१५/३३३/१० ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रहः।

स.सि./७/१७/३५५/१० रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इति अनात्मस्वभावत्वाद्धेयाः। ततस्तेषु संकल्पः परिग्रह इति युज्यते। =१. लोभ कषायके उदयसे विषयोंके संगको परिग्रह कहते हैं। (रा.वा./४/२१/३/२३६/७), २. 'यह वस्तु मेरी है', इस प्रकारका संकल्प रखना परिग्रह है। (स.सि./७/१८/३५५/६); (रा.वा./६/१५/३/५२५/२७) (त.सा./४/७७); (सा.ध./४/५६)। ३. रागादि तो कर्मोंके उदयसे होते हैं, अतः वह आत्माका स्वभाव न होनेसे हेय है। इसलिए उनमें होनेवाला संकल्प परिग्रह है। यह बात बन जाती है। (रा.वा./७/१७/५/५४५/१८)।

रा.वा./६/१५/३/५२५/२७ ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते। ='यह मेरा है मैं इसका स्वामी हूँ' इस प्रकारका ममत्व परिणाम परिग्रह है।

ध. १२/४,२,८,६/२८२/६ परिगृह्यत इति परिग्रहः बाह्यार्थः क्षेत्रादिः, परिगृह्यते अनेनेति च परिग्रहः बाह्यार्थग्रहणहेतुरत्र परिणामः। ='परिगृह्यते इति परिग्रहः' अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है। इस निरुक्तिके अनुसार क्षेत्रादि रूप बाह्य पदार्थ परिग्रह कहा जाता है, तथा 'परिगृह्यते अनेनेति परिग्रहः' जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है, इस निरुक्तिके अनुसार यहाँ बाह्यपदार्थके ग्रहणमें कारणभूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है।

स.सा./आ./२१० इच्छा परिग्रहः। =इच्छा है वही परिग्रह है।

२. निज गुणोंका ग्रहण परिग्रह नहीं

स.सि./७/१७/३५५/६ यदि ममेदमिति संकल्पः परिग्रहः, संज्ञानाद्यपि परिग्रहः प्राप्नोति तदपि हि ममेदमिति संकल्प्यते रागादिपरिणामवत्। नैष दोषः, 'प्रमत्तयोगात्' इत्यनुवर्तते। ततो ज्ञानदर्शनचारित्रवतोऽप्रमत्तस्य मोहाभावान्न मूर्च्छाऽस्तीति निष्परिग्रहत्वं सिद्धं। किंच तेषां ज्ञानादीनामहेयत्वादात्मस्वभावत्वादपरिग्रहत्वम्।

=प्रश्न—'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प हो परिग्रह है तो ज्ञानादिक भी परिग्रह ठहरते हैं, क्योंकि रागादि परिणामोंके समान ज्ञानादिकमें भी 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि 'प्रमत्तयोगात्' इस पदकी अनुवृत्ति होती है, इसलिए जो ज्ञान, दर्शन और चारित्रवाला होकर प्रमाद रहित है उसके मोहका अभाव होनेसे मूर्च्छा नहीं है, अतएव परिग्रह रहितपना सिद्ध होता है। दूसरे वे ज्ञानादिक अहेय हैं और आत्माके स्वभाव हैं इसलिए उनमें परिग्रहपना नहीं प्राप्त होता। (रा.वा./७/१७/५/५४५/१४)।

३. वातादि विकाररूप मूर्च्छा परिग्रह नहीं

स. सि./७/१७/३५५/१ लोके वातादिप्रकोपविशेषस्य मूर्च्छेति प्रसिद्धिरस्ति तद्ग्रहणं कस्मान्न भवति। सत्यमेवमेतत्। मूर्च्छिरयं मोह सामान्ये वर्तते। 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते" इत्युक्ते विशेषे व्यवस्थित' परिगृह्यते। =प्रश्न—लोकमें वातादि प्रकोप विशेषका नाम मूर्च्छा है ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छाका ग्रहण क्यों नहीं किया जाता? उत्तर—यह कहना सत्य है, तथापि मूर्च्छि धातुका सामान्य मोह अर्थ है, और सामान्य शब्द तद्गत विशेषोंमें ही रहते हैं, ऐसा मान लेनेपर यहाँ मूर्च्छाका विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योंकि यहाँ परिग्रहका प्रकरण है। (रा वा./७/१७/२/५४५/३)।

४. परिग्रहकी अत्यन्त निन्दा

सू. पा./मू./१६ जस्स परिग्गहगहणं अप्पं बहुयं च हवइ लिंगस्स। सो गरहिउ जिणवयणे परिगहरहिओ निरायारो।१६। =जिसके मतमें लिंगधारीके परिग्रहका अल्प वा बहुत ग्रहणपना कहा है सो मत तथा उस मतका श्रद्धावान् पुरुष निन्दा योग्य है जातै जिनमत विषै परिग्रह रहित है सो निरागार है निर्दोष है।

मो. पा./मू./७९ जे पचचेलसत्ता गथग्गाहीय जायणासीला। आधाकम्मम्मि रया ते चत्ता मोक्खमग्गम्मि।७९। =जो पाँच प्रकारके (अण्डज, कर्पासज, वल्कल, रोमज, चर्मज) वस्त्रमें आसक्त है, माँगनेका जिनका स्वभाव है, बहुरि अध कर्म अर्थात् पापकर्म विषै रत है, और सदोष आहार करते हैं ते मोक्षमार्गतैं च्युत हैं।७९।

लिं पा./मू./५ सम्मूहदि रक्खेदि य अट्ट झाएदि बहुपयत्तेण। सो पावमोहिदमदी तिरिक्खजोणी ण सो समणो।५। =जो निर्ग्रन्थ लिंगधारी परिग्रह कूं संग्रह करे है, अथवा ताका चिन्तवन करे है, बहुत प्रयत्नसे उसकी रक्षा करै है, वह मुनि पापसे मोहित हुई है बुद्धि जिसकी ऐसा पशु है श्रमण नहीं।५। (भ आ./मू./११२६-११७३)।

र. सा./मू./१०९ धणधण्ण पडिग्गहणं समणाणं दूसणं होइ।१०९। =जो मुनि धनधान्य आदि सबका ग्रहण करता है वह मुनि समस्त मुनियोंको दूषित करनेवाला होता है।

मू.आ./९१८ मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोग। बाहिरजोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति।९१८। =जो साधु अहिंसादि मूलगुणोंको छेद वृक्षमूलादि योगोंको ग्रहण करता है, सो मूलगुण रहित उस साधुके सब बाहरके योग क्या कर सक्ते हैं, उनसे कर्मोंका क्षय नहीं हो सकता।९१८।

स सि./७/१७/३५५/११ तन्मूला सर्वे दोषा संरक्षणादय' संजायन्ते। तत्र च हिंसावश्यभाविनी। तदर्थमनृतं जल्पति। चौर्यं वा आचरति मैथुने च कर्मणि प्रयतते। तत्प्रभवा नरकादिषु दु'खप्रकारा। =सब दोष परिग्रह मूलक ही होते हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकारके संकल्प होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं। और इसमें हिंसा अवश्यम्भाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्ममें रत होता है। नरकादिकमें जितने दु:ख हैं वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।

प. प्र./मू./२/८८-९० चेल्ला-चेल्ली-पुत्थियहिं तूसइ मूढु णिभंतु। एयहिं लज्जइ णाणियउ बंधहं हेउ मुणंतु।८८। चट्टहिं पट्टहिं कुंडियहिं चेल्ला-चेल्लियएहिं। मोहु जणेविणु मुणिवरहं उप्पहि पाडिय तेहिं।८९। केण वि अप्पउ वंचियउ सिरु लुंचिवि छारेण। सयल वि संग ण परिहरिय जिणवरलिंगधरेण।९०। =अज्ञानी जन चेला चेली पुस्तकादिकसे हर्षित होता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, और ज्ञानीजन इन बाह्य पदार्थोंसे शरमाता है, क्योंकि इन सबोंको बन्धका कारण जानता है।८८। पीछी, कमण्डलु, पुस्तक और मुनि श्रावक रूप चेला, अर्जिका, श्राविका इत्यादि चेली—ये संघ मुनिवरोंको मोह उत्पन्न कराके वे उन्मार्गमें डाल देते हैं।८९। जिस किसीने जिनवरका भेष धारण करके भस्मसे सिरके केश लौंच किये हैं, लेकिन सब परिग्रह नहीं छोडे, उसने अपनी आत्माको ठग लिया।९०।

प्र सा./त. प्र./२१३ २१९ सर्व एव हि परद्रव्यप्रतिबन्धा उपयोगोपरञ्जकत्वेन निरुपरागोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदायतनानि तदभावादेवाच्छिन्नश्रामण्यम्। उपधे छेदत्वमैकान्तिकमेव। =वास्तवमें सर्व ही परद्रव्य प्रतिबन्धक उपयोगके उपरंजक होनेसे निरुपराग उपयोग रूप श्रामण्यके छेदके आयतन हैं; उनके अभावसे ही अच्छिन्न श्रामण्य होता है।२१३। उपधिमें एकान्तसे सर्वथा श्रामण्यका छेद ही है। (और छेद हिंसा है)।

पु. सि. उ./११९ हिंसापर्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु। बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्।११९। =हिंसाके पर्याय रूप होनेके कारण अन्तरंग परिग्रहमें हिंसा स्वयं सिद्ध है, और बहिरंग परिग्रहमें ममत्व परिणाम ही हिंसा भावको निश्चयसे प्राप्त होते हैं।११९।

ज्ञा./१६/१२/१७८ संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाशुभम्। तेन श्वाभ्री गतिस्तस्या दु:ख वाचामगोचरम्।१२। =परिग्रहसे काम होता है, कामसे क्रोध, क्रोधसे हिंसा, हिंसासे पाप, और पापसे नरकगति होती है। उस नरकगतिमें वचनोंके अगोचर अति दु:ख होता है। इस प्रकार दु:खका मूल परिग्रह है।१२।

प. वि./१/५३ दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये, शय्याहेतु तृणाद्यपि प्रशमिना लज्जाकरं स्वीकृतम्। यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं साम्प्रतं, निर्ग्रन्थेष्वपि चेत्तदस्ति नितरां प्राय: प्रविष्ट' कलि:।५३। =जब कि शय्याके निमित्त स्वीकार किये गये लज्जाजनक तृण (प्याल) आदि भी मुनियोंके लिए आर्त-रौद्र स्वरूप दुर्ध्यान एवं पापके कारण होकर उनकी निर्ग्रन्थताको नष्ट करते हैं, तब फिर वे गृहस्थके योग्य अन्य सुवर्णादि क्या उस निर्ग्रन्थताके घातक न होंगे? अवश्य होंगे। फिर यदि वर्तमानमें निर्ग्रन्थ मुनि सुवर्णादि रखता है तो समझना चाहिए कि कलिकालका प्रवेश हो चुका है।५३।

५. साधुके ग्रहण योग्य परिग्रह

प्र. सा./मू./२२२-२२५ छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स। समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता।२२२। अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं। मुच्छादिजणणरहिदं गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं।२२३। उवयरणं जिणमग्गे लिंगं जहजादरूवमिदि भणिदं। गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं।२२५। =जिस उपधिके (आहार-विहारादिकके) ग्रहण विसर्जनमें सेवन करनेमें जिससे सेवन करने वालेके छेद नहीं होता उस उपधि युक्त काल क्षेत्रको जानकर इस लोकमें श्रमण भले वर्ते।२२२। भले ही अल्प हो तथापि जो अनिन्दित हो, असंयतजनोंसे अप्रार्थनीय हो, और जो मूर्च्छादिकी जनन रहित हो, ऐसा ही उपधि श्रमण ग्रहण करो।२२३। यथाजात रूप (जन्मजात-नग्न) लिंग जिनमार्गमें

उपकरण कहा गया है, गुरुके वचन, सूत्रोंका अध्ययन, और विनय भी उपकरण कही गयी है।२२५। (विशेष देखो उपरोक्त गाथाओंकी टीका)।

२. परिग्रह त्याग व्रत व प्रतिमा

१. परिग्रह त्याग अणुव्रतका लक्षण

र. क. श्रा./६१ धनधान्यादिग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता। परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि।६१। =धन धान्यादि दश प्रकारके परिग्रहको परिमित अर्थात् उसका परिमाण करके कि 'इतना रखेंगे' उससे अधिकमें इच्छा नहीं रखना सो परिग्रह परिमाण व्रत है। तथा यही इच्छा परिमाण वाला व्रत भी कहा जाता है।६१। (स. सि./७/२०/३५८/११), (स. सि./७/२६/३६८/११)।

का. अ./मू./३३९-३४० जो लोह णिहणित्ता संतोस-रसायणेण संतुट्ठो। णिहणदि तिण्हा दुट्ठा मण्णंतो विणस्सर सव्वं।३३९। जो परिमाणं कुव्वदि धण-धण्ण-सुवण्ण-खित्तमाईणं। उवओगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स।३४०। =जो लोभ कषायको कम करके, सन्तोष रूपी रसायनसे सन्तुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर दुष्ट तृष्णाका घात करता है। और अपनी आवश्यकताको जानकर धन, धान्य, सुवर्ण और क्षेत्र वगैरहका परिमाण करता है उसके पाँचवाँ अणुव्रत होता है।३३९-३४०।

२. परिग्रह त्याग महाव्रतका लक्षण

मू. आ./९,२९३ जीव णिबद्धा बद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव। तेसिं सक्कच्चाओ इयरम्हि य णिम्मओऽसंगो।९। गामं णगरं रण्णं थूलं सच्चित्त बहु सपडिवक्खं। अज्झत्थं बाहिरत्थं तिविहेण परिग्गहं वज्जे।२९३। =जीवके आश्रित अन्तरंग परिग्रह तथा चेतन परिग्रह, व अचेतन परिग्रह इत्यादिका शक्ति प्रगट करके त्याग, तथा इनसे इतर जो संयम, ज्ञान शौचके उपकरण इनमें ममत्वका न होना परिग्रह त्याग महाव्रत है।९। ग्राम, नगर वन, क्षेत्र इत्यादि बहुत प्रकारके अथवा सूक्ष्म अचेतन एकरूप वस्त्र सुवर्ण आदि बाह्य परिग्रह और मिथ्यात्वादि अन्तरंग परिग्रह—इन सबका मन, वचन, काय कृत कारित अनुमोदनासे मुनिको त्याग करना चाहिए। यह परिग्रह त्याग व्रत है।२९३।

नि. सा./मू./६० सव्वेसिं गंथाणं तागोणिरवेक्ख भावणापुव्वं। पंचमवदमिदि भणिदं चारित्तभरं वहंतस्स।६०। =निरपेक्ष भावना पूर्वक सर्व परिग्रहोंका त्याग उस चारित्र भार वहन करनेवालोंको पाँचवाँ व्रत कहा है।६०।

३. परिग्रह त्याग प्रतिमाका लक्षण

र. क. श्रा./१४५ बाह्येषु दशसु वस्तुषु ममत्वमुत्सृज्य निर्ममत्वरतः। स्वस्थः संतोषपरः परिचितपरिग्रहाद्विरतः।१४५। =जो बाह्यके दश प्रकारके परिग्रहोंमें ममताको छोडकर निर्ममतामे रत होता हुआ मायादि रहित स्थिर और संतोष वृत्ति धारण करनेमें तत्पर है वह सचित परिग्रहसे विरक्त अर्थात् परिग्रहत्याग प्रतिमाका धारक है।१४५। (चा. सा./३८/६)

वसु. श्रा./२९९ मोत्तूण वत्थमेत्तं परिग्गहं जो विवज्जए सेसं। तत्थ वि मुच्छं ण करेइ जाणइ सो सावओ णवमो।२९९। =जो वस्त्रमात्र परिग्रहको रखकर शेष सब परिग्रहको छोड देता है और स्वीकृत वस्त्रमात्र परिग्रहमें भी मूर्च्छा नहीं करता, उसे नवमा श्रावक जानो।२९९। (गुण. श्रा./१८१) (द्र. स./टी./४५/१९५/९)।

का. अ./३८६ जो परिवज्जइ गंथं अब्भंतर-बाहिरं च साणंदो। पावं ति मण्णमाणो णिग्गंथो सो हवे णाणी।३८६। =जो ज्ञानी पुरुष पाप मानकर अभ्यन्तर और बाह्य परिग्रहको आनन्द पूर्वक छोड देता है उसे निर्ग्रन्थ (परिग्रह त्यागी) कहते हैं।३८६।

सा. ध./७/२३-२९ सग्रन्थविरतो यः, प्रागव्रतव्रातस्फुरद्धृतिः। नैते मे नाहमेतेषामित्युज्झति परिग्रहान्।२३। एवं व्युत्सृज्य सर्वस्वं, मोहाभिभवहानये। किंचित्कालं गृहे तिष्ठेदौदास्यं भावयन्सुधीः।२९। =पूर्वोक्त आठ प्रतिमा विषयक व्रतोंके समूहसे स्फुरायमान है सन्तोष जिसके ऐसा जो श्रावक 'ये वास्तु क्षेत्रादिक पदार्थ मेरे नहीं हैं, और मैं इनका नहीं हूँ' ऐसा संकल्प करके वास्तु और क्षेत्र आदिक दश प्रकारके परिग्रहोंको छोड देता है वह श्रावक परिग्रह त्याग प्रतिमावान कहलाता है।२३। तत्त्वज्ञानी श्रावक इस प्रकार सम्पूर्ण परिग्रहको छोडकर मोहके द्वारा होनेवाले आक्रमणको नष्ट करनेके लिए उपेक्षाको विचारता हुआ कुछ कालतक घरमें रहे।२९।

ला. सं./७/३९-४२ 'नवमप्रतिमास्थानं व्रतं चास्ति गृहाश्रये। यत्र स्वर्णादिद्रव्यस्य सर्वतस्त्यजनं स्मृतम्।३९। अस्त्यात्मैकशरीरार्थं वस्त्रवेश्मादि स्वीकृतम्। धर्मसाधनमात्रं वा शेषं निःशेषणीयताम्।४१। स्यात्पुरस्तादितो यावत्स्वामित्वं सद्मयोषिताम्। तत्सर्वं सर्वतस्त्याज्यं निःशल्यो जीवनावधि।४२। =व्रती श्रावककी नवम प्रतिमाका नाम परिग्रह त्यागप्रतिमा है। इस प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक सोना चाँदी आदि समस्त द्रव्यमात्रका त्याग कर देता है।३९। तथा केवल अपने शरीरके लिए वस्त्र घर आदि आवश्यक पदार्थोंको स्वीकार करता है अथवा धर्म साधनके लिए जिन-जिन पदार्थोंकी आवश्यकता पडती है उनका ग्रहण करता है। शेष सबका त्याग कर देता है। भावार्थ—अपनी रक्षाके लिए वस्त्र, घर वा स्थान, अथवा अभिषेक पूजादिके वर्तन, स्वाध्याय आदिके लिए ग्रन्थ वा दान देनेके साधन रखता है। शेषका त्याग कर देता है।४१। इस प्रतिमाको धारण करनेसे पूर्व वह घर व स्त्री आदिका स्वामी गिना जाता था परन्तु अब सबका जन्मपर्यन्तके लिए त्याग करके निःशल्य हो जाना पडता है।४२।

४. परिग्रह त्याग व्रतकी पाँच भावनाएँ

त. सू./७/८ मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जनानि पञ्च।८। =मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियोंके विषयोंमें क्रमसे राग और द्वेषका त्याग करना ये अपरिग्रहव्रतकी पाँच भावनाएँ हैं।८। (भ. आ./मू./१२११) (चा. पा./मू./३६)।

मू. आ./३४१ अपरिग्गहस्स मुणिणो सद्दप्फरिसरसरूवगंधेसु। रागद्दोसादीणं परिहारो भावणा पंच।३४१। =परिग्रह रहित मुनिके शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, इन पाँच विषयोंमें राग द्वेष न होना—ये पाँच भावना परिग्रह त्याग महाव्रत की हैं।३४१।

स. सि./७/९/३४९/४ परिग्रहवान् शकुनिरिव गृहीतमांसखण्डोऽन्येषां तदर्थिनां पतत्त्रिणामिहैव तस्करादीनामभिभवनीयो भवति तदर्जनरक्षणप्रक्षयकृतांश्च दोषान् बहूनवाप्नोति न चास्य तृप्तिर्भवति इन्धनैरिवाग्नेः लोभाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानपेक्षो भवति प्रेत्य चाशुभां गतिमास्कन्दते लुब्धोऽयमिति गर्हितश्च भवतीति तद्विरमणश्रेयः। एवं हिंसादिष्वपायावद्यदर्शनं भावनीयम्।" =जिस प्रकार पक्षी मासके टुकडेको प्राप्त करके उसको चाहनेवाले दूसरे पक्षियोंके द्वारा पराभूत होता है उसी प्रकार परिग्रहवाला भी इसी लोकमें उसको चाहनेवाले चोर आदिके द्वारा पराभूत होता है। तथा उसके अर्जन, रक्षण और नाशसे होनेवाले अनेक दोषोंको प्राप्त होता है, जैसे ईंधनसे अग्निकी तृप्ति नहीं होती। यह लोभातिरेकके कारण कार्य और अकार्यका विवेक नहीं करता, परलोकमें अशुभ गतिको प्राप्त होता है। तथा 'यह लोभी है' इस प्रकारसे इसका तिरस्कार भी होता है इसलिए परिग्रहका त्याग श्रेयस्कर है। इस प्रकार हिंसा आदि दोषोंमें अपाय और अवद्यके दर्शनकी भावना करनी चाहिए।

५. परिग्रह प्रमाणाणुव्रतके पाँच अतिचार

त सू /७/२९ क्षेत्रवास्तुहिरण्यसुवर्णधनधान्यदासीदासकुप्यप्रमाणातिक्रमा ।२९। =क्षेत्र और वास्तुके; हिरण्य और सुवर्णके, धन और धान्यके, दासी और दासके, तथा कुप्यके प्रमाणका अतिक्रम ये परिग्रह प्रमाण अणुव्रतके पाँच अतिचार हैं। ।२९। (सा. ध /४/६४ मे उद्धृत श्री सोमदेवकृत श्लोक)।

र क. श्रा /६२ अतिवाहनातिसंग्रहविस्मयलोभातिभारवहनानि। परिमितपरिग्रहस्य च विक्षेपा' पञ्च लक्ष्यन्ते ।६२। =प्रयोजनसे अधिक सवारी रखना, आवश्यकीय वस्तुओंका अतिशय संग्रह करना, परका विभव देखकर आश्चर्य करना, बहुत लोभ करना, और किसीपर बहुत भार लादना ये पाँच परिग्रहव्रतके अतिचार कहे जाते है।६२।

सा. ध /४/६४ वास्तुक्षेत्रे योगाद् धनधान्ये बन्धनात् कनकरूप्ये। दानात्कुप्ये भावात्—न गवादो गर्भतो मितीमतीयात्।६४। =परिग्रहपरिमाणाणुव्रतका पालक श्रावक मकान और खेतके विषयमे अन्य मकान और अन्य खेतके सम्बन्धसे, धन और धान्यके विषयमे ब्याना बाँधनेसे, स्वर्ण और चाँदीके विषयमें भिन्नधातु वगैरहके विषयमें मिश्रण या परिवर्तनसे तथा गाय बैल आदिके विषयमे गर्भसे मर्यादाको उल्लङ्घन नही करे।६४।

६. परिग्रह परिमाण व्रत व प्रतिमामें अन्तर

ला. स /७/४०-४२ इत' पूर्व सुवर्णादि संख्यामात्रापकर्षण'। इत' प्रवृत्तिवित्तस्य मूलादुन्मूलन व्रतम् ।४०।=परिग्रह त्याग प्रतिमाको स्वीकार करनेवालेके पहले सोना चाँदी आदि द्रव्योका परिमाण कर रखा था, परन्तु अब इस प्रतिमाको धारण कर लेनेपर श्रावक सोना चाँदी आदि धनका त्याग कर देता है।४०।

७. परिग्रह त्यागकी महिमा

भ आ./मू /११८३ रागविवागसतण्णादिगिद्धि अवतित्ति चक्कवट्टिसुहं। णिस्सग णिव्वुइसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभाग पि।११८३। =चक्रवर्तिका सुख राग भावको बढानेवाला तथा तृष्णाको बढानेवाला है। इसलिए परिग्रहका त्याग करनेपर रागद्वेषरहित मुनिको जो सुख होता है, चक्रवर्तीका सुख उसके अनन्त भागकी बराबरी नही कर सकता।११८३। (भ आ /मू /११७४-११८२)।

ज्ञा /१६/३३/१८१ सर्वसंगविनिर्मुक्त. संवृताक्ष' स्थिराशय'। धत्ते ध्यानधुरा धीर. सयमी वीरवर्णिता।३३। =समस्त परिग्रहोसे जो रहित हो और इन्द्रियोको सवररूप करनेवाला हो ऐसा स्थिरचित्त संयमी मुनि ही वर्धमान भगवान्की कही हुई ध्यानकी धुराको धारण कर सकता है।३३।

३. अन्तरंग परिग्रहकी प्रधानता

१. बाह्य परिग्रह, परिग्रह नही अन्तरंग ही है

स. सि./७/१७/३५५/३ बाह्यस्य परिग्रहत्व न प्राप्नोति; आध्यात्मिकस्य सग्रहात्। सत्यमेवमेतत्, प्रधानत्वादभ्यन्तर एव सगृहीत' असत्यपि बाह्ये ममेदमिति संकल्पवान् सपरिग्रह एव भवति। =प्रश्न—बाह्य वस्तुको परिग्रहपना प्राप्त नही होता क्योंकि 'मूर्च्छा' इस शब्दसे अभ्यन्तरका संग्रह होता है? उत्तर—यह कहना सही है, क्योंकि प्रधान होनेसे अभ्यन्तरका ही सग्रह किया है। यह स्पष्ट ही है कि बाह्य परिग्रहके न रहनेपर भी 'यह मेरा है' ऐसा सकल्पवाला पुरुष परिग्रह सहित ही होता है। (रा. वा /७/१७/३/५४५/६)।

स. सा /आ /२१४/क. १४६ पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोग। तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम्।१४६।

स. सा /आ /२१५ वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रह' स्यात्। =पूर्व बद्ध अपने कर्मके विपाकके कारण ज्ञानीके यदि उपभोग हो तो हो, परन्तु रागके वियोगके कारण वास्तवमें उपभोग परिग्रह भावको प्राप्त नही होता।१४६। केवल वियोगबुद्धिसे (हेय बुद्धिसे) ही प्रवर्तमान वह (उपभोग) वास्तवमें परिग्रह नहीं है।

यो. सा अ /५/५७ द्रव्यमात्रनिवृत्तस्य नास्ति निर्वृतिरेनसा। भावतोऽस्ति निवृत्तस्य तात्त्विकी संवृति. पुन।५७।=जो मनुष्य केवल द्रव्यरूपसे विषयोंसे विरक्त हैं, उनके पापोकी निवृत्ति नहीं, किन्तु जो भावरूपसे निवृत्त है, उन्हींके वास्तविकरूपसे कर्मोंका सवर होता है।

२. तीनों काल सम्बन्धी परिग्रहमें इच्छाकी प्रधानता

स. सा /आ /२१५ अतीतस्तावत् अतीतत्वादेव स न परिग्रहभावं बिभर्ति। अनागतस्तु आकाङ्क्ष्यमाण एव परिग्रहभाव बिभृयात् प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्ध्या प्रवर्तमानो दृष्ट'। =अतीत उपभोग है वह अतीतके कारण ही परिग्रह भावको धारण नही करता। भविष्यका उपभोग यदि वाञ्छामें आता हो तो वह परिग्रह भावको धारण करता है, और वर्तमानका उपभोग है वह यदि रागबुद्धिसे हो रहा हो तो ही परिग्रह भावको धारण करता है।

प्र. सा./ता वृ./२२०/२९६/२० विद्यमानेऽविद्यमाने वा बहिरङ्गपरिग्रहेऽभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपा चित्तशुद्धि कर्तुं नायाति। =विद्यमान वा अविद्यमान बहिरंग परिग्रहकी अभिलाषा रहनेपर निर्मल शुद्धात्मानुभूति रूप चित्तकी शुद्धि करनेमें नहीं आती।

३. अभ्यन्तरके कारण बाह्य है, बाह्यके कारण अभ्यन्तर नही

प्र सा./ता वृ./२१८/२९२/२० अध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति न च बहिरङ्गपरिग्रहानुसारेण।= अन्तरंग मूर्च्छारूप रागादिपरिणामोके अनुसार परिग्रह होता है बहिरंग परिग्रहके अनुसार नही।

रा वा./हि/९/४६/७६७ विषयका ग्रहण तो कार्य है और मूर्च्छा ताका कारण है जाका मूर्च्छा कारण नष्ट होयगा ताकै बाह्य परिग्रहका ग्रहण कदाचित् नही होयगा। बहुरि जो विषय ग्रहण कूं तो कारण कहे अर मूर्च्छा कूं कारण न कहे, तिनके मतमें विषय रूप जो परिग्रह तिनकै न होते मूर्च्छाका उदय नाही सिद्ध होय है। (तातै नग्नलिंगी भेषीको नग्नपनेका प्रसग आता है।)

४. अन्तरंग त्याग ही वास्तवमें व्रत है

दे० परिग्रह/२/२ मे नि. सा./मू /६० निरपेक्ष भावसे किया गया त्याग ही महाव्रत है।

दे० परिग्रह/१/२ प्रमाद ही वास्तवमें परिग्रह है, उसके अभावमें निज गुणोंमें मूर्च्छाका भी अभाव होता है।

५. अन्तरंग त्यागके बिना बाह्य त्याग अकिंचित्कर है

भा. पा./मू./३,५,८९ बाहिरचाओ विहलो अब्भतरगथजुत्तस्स।३। परिणाममम्मि असुद्धे गंथे मुचेइ बाहरे य जई। बाहिरगंथच्चाओ भावविहूणस्स किं कुणइ।५। बाहिरसगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो। सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाण।८९।=जो अन्तरंग परिग्रह अर्थात् रागादिसे युक्त है उसके बाह्य परिग्रहका त्याग निष्फल है।३। जो मुनि होय परिणाम अशुद्ध होतैं बाह्य ग्रन्थ कूँ छोडै तौ बाह्य परिग्रहका त्याग है सो भाव रहित मुनिकै कहा करै? कछू भी नही करै।५। जो पुरुष भावनारहित है, तिनिका बाह्य परिग्रहका त्याग, गिरि, कन्दराओ आदिमें आवास तथा ध्यान अध्ययन आदि सब निरर्थक है।८९। (भा.पा./मू./४८-५४)।

नि.सा./मू./७५ चागो वेरग्ग विणा एददो वारिया भणिया ।७५। = वैराग्यके बिना त्याग विडम्बना मात्र है ।७५।

५. बाह्य त्यागमें अन्तरंगकी ही प्रधानता है

स.सा./मू./२०७ को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं। अप्पाणमप्पणो परिगहं तु णियदं वियाणंतो ।२०७। = अपने आत्माको ही नियमसे पर द्रव्य जानता हुआ कौन सा ज्ञानी यह कहेगा कि यह परद्रव्य मेरा द्रव्य है ।२०७। (न.सा./मू./३८)।

स.सा./आ./२०७-२१३ कुतो ज्ञानी परद्रव्यं न गृह्णातीति चेत्।... आत्मानमात्मन परिग्रहं नियमेन विजानाति, ततो न ममेदं स्वं नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्य न परिगृह्णाति ।२०७। इच्छा परिग्रह। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति।। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद्धर्मं (अधर्मं, अशनं, पानम् २-११-२१३) नेच्छति। तेन ज्ञानिनो धर्मं (आदि) परिग्रहो नास्ति।

स.सा./आ./२८५-२८६ यदैव निमित्तभूत द्रव्य प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूत भावं प्रतिक्रामति च यदा तु भाव प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात् ।२८५। समस्तमपि परद्रव्य प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्त।

स.सा./आ./२६५ किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेध। अध्यवसानप्रतिषेधार्थः। भाव प्रत्याचष्टे ।२६५। = प्रश्न—ज्ञानी परको क्यों ग्रहण नहीं करता? उत्तर—आत्माको ही नियमसे आत्माका परिग्रह जानता है, इसलिए 'यह मेरा' 'स्व' नहीं है, मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' ऐसा जानता हुआ परद्रव्यका परिग्रह नहीं करता ।२०७। २. इच्छा परिग्रह है। उसको परिग्रह नहीं है—जिसके इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है, और अज्ञानमयभाव ज्ञानीके नहीं होता है। इसलिए अज्ञानमय भावरूप इच्छाके अभाव होनेसे ज्ञानी धर्मको, (अधर्मको, अशनको, पानको) नहीं चाहता, इसलिए ज्ञानीके धर्मादिका परिग्रह नहीं है ।२१०-२१३। ३. जब निमित्तरूप परद्रव्यका प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान करता है, तब उसके नैमित्तिक रागादि भावोंका भी प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान हो जाता है, तब वह साक्षात् अकर्ता ही है ।२८५। समस्त परद्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावका प्रत्याख्यान करता है ।२८६। ४. अध्यवसानके प्रतिषेधार्थ ही बाह्यवस्तुका प्रतिषेध है।

प्र. सा./त.प्र./२२० उपधेर्विधीयमान प्रतिषेधोऽन्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एव स्यात्। = किया जानेवाला उपधिका निषेध अन्तरंग छेदका ही निषेध है।

का.अ./मू./३८७ बाहिरगंथविहीणा दलिद्द मणुवा सहावदो होंति। अब्भंतर-गंथ पुण ण सक्कदे को वि छंडेदुं ।३८७। = बाह्य परिग्रहसे रहित दरिद्री मनुष्य तो स्वभावसे ही होते हैं, किन्तु अन्तरंग परिग्रहको छोड़नेमें कोई भी समर्थ नहीं होता ।३८७।

४. बाह्य परिग्रहकी कथंचित् मुख्यता व गौणता

१. बाह्य परिग्रहको ग्रन्थ कहना उपचार है

ध. ९/४,१,६७/३२३/६ कथं खेत्तादीणं भावगंथसण्णा। कारणे कज्जो-वयारादो। ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी गंथो, अब्भंतरगंथकारणत्तादो एदस्स परिहरणं णिग्गंथत्तं। = प्रश्न—क्षेत्रादिकी भावग्रन्थ संज्ञा कैसे हो सकती है? उत्तर—कारणमें कार्यका उपचार करनेसे क्षेत्रादिकोंकी भावग्रन्थ संज्ञा बन जाती है। व्यवहारनयकी अपेक्षा क्षेत्रादिक ग्रन्थ हैं, क्योंकि वे अभ्यन्तर ग्रन्थके कारण हैं, और इनका त्याग करनेसे निर्ग्रन्थता है।

२. बाह्य त्यागके बिना अन्तरंग त्याग अशक्य है

भ.आ./वि./११२० [illegible] = [illegible] बिना [illegible] नहीं होता। [illegible] आत्मामें [illegible] हुआ है, [illegible] नहीं होता [illegible]। (भ.आ./मू./११२१) (अन.ध./४/१०६)।

प्र.सा./मू./२२० ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी। अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो ।२२०। = यदि निरपेक्ष त्याग न हो तो भिक्षुके भावकी विशुद्धि नहीं होती, और जो भावमें अविशुद्ध है उसके कर्मक्षय कैसे हो सकता है ।२२०।

भा.पा./मू./३ भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ। = बाह्य परिग्रहका त्याग भाव विशुद्धिके अर्थ किया जाता है।

र.सा./[illegible] [illegible] = [illegible] त्याग करनेके लिए [illegible] उसके त्याग करनेका [illegible] है, और [illegible] त्याग करनेके लिए [illegible] होता है [illegible] नहीं है, इसलिए त्याग करनेके लिए [illegible] नहीं [illegible] है, [illegible]

स.सा./आ./२८५-२८६ [illegible] द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे [illegible] भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्कर्तैव स्यात् ।२८५-२८६। समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं न प्रत्याचष्टे ।२८५-२८६। = १. जब तक उसके (आत्माके) निमित्तभूत परद्रव्यके अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है तब तक उसके रागादि भावोंका अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, और जब तक रागादि भावोंका अप्रतिक्रमण-अप्रत्याख्यान है, तब तक रागादि भावोंका कर्ता ही है ।२८५-२८६। समस्त पर द्रव्यका प्रत्याख्यान न करता हुआ आत्मा उसके निमित्तसे होनेवाले भावका नहीं त्यागता ।२८५-२८६।

ज्ञा./१६/२६-२७/१८० अपि सूर्यस्त्यजेद्धाम स्थिरत्वं वा सुराचल। न पुन संगसंकीर्णो मुनि स्यात्संवृतेन्द्रिय ।२६। बाह्यानपि च य ग्रन्थान्परित्यक्तुमनीश्वर। स क्लीब कर्मणां सैन्यं कथमग्रे हनिष्यति ।२७। = कदाचित् सूर्य अपना स्थान छोड़ दे और सुमेरु पर्वत स्थिरता छोड़ दे तो सम्भव है, परन्तु परिग्रह सहित मुनि इन्द्रियोंको जीतनेवाला नहीं हो सकता ।२६। जो पुरुष बाह्यके भी परिग्रह छोड़नेमें असमर्थ है वह नपुंसक आगे कर्मोंकी सेनाको कैसे हनेगा? ।२७।

रा.वा./हि./७/२६/५७६ बाह्य परिग्रहका ग्रहण होय तो अन्तरंगके मूर्च्छाका अभाव होय नहीं।...जाते विषयका ग्रहण तो कार्य है और मूर्च्छा ताका कारण है। जो बाह्य परिग्रह ग्रहण करै है सो मूर्च्छा तो करै है। जो जाका मूर्च्छा कारण नष्ट होयगा तार्तें बाह्य परिग्रहका ग्रहण कदाचित् नहीं होयगा।

३. बाह्य पदार्थोंका आश्रय करके ही रागादि उत्पन्न होते हैं

स.सा./मू./२६५ वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं। ण य वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्थि ।२६५। = जीवोंके जो अध्यवसान होता है वह वस्तुको अवलम्बन कर होता है तथापि वस्तुसे बन्ध नहीं होता, अध्यवसानसे ही बन्ध होता है ।२६५। (क.पा.१/गा ५३/१०५) (दे राग/५/३)।

प्र.सा./मू./२२१ किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरंभो वा असंजमो तस्स। तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि। = उपधिके सद्भावमें उस भिक्षुके मूर्च्छा, आरम्भ या असंयम न हो, यह कैसे हो सकता

है ? (कदापि नहीं हो सकता) तथा जो पर द्रव्यमें रत हो वह आत्माको कैसे साध सकता है ?

४. बाह्य परिग्रह सर्वदा बन्धका कारण है

प्र सा./मू./२१६ हवदि व ण हवदि बन्धो मदम्हि जीवेऽध काय चेटम्हि । बंधो धुवमुवधीदो इदिसमणा छड्डिया सव्वं ।२१६। =(साधुके) काय चेष्टा पूर्वक जीवके मरनेपर बन्ध होता है अथवा नहीं होता, (किन्तु) उपधिसे-परिग्रहसे निश्चय ही बन्ध होता है। इसलिए श्रमणोंने (सर्वज्ञदेवने) सर्व परिग्रहको छोडा है ।२१६।

५. बाह्याभ्यन्तर परिग्रह समन्वय

१. दोनोंमें परस्पर अविनाभावीपना

भ.आ./मू./१९१५-१९१६ अब्भतरसोधीए गंथे णियमेण बाहिरे च यदि । अब्भतरमइलो चेव बाहिरे गेण्हदि हु गथे ।१९१५। अब्भतर सोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण । अब्भतरदोसेण हु कुणदि णरो बाहिरे दोसे ।१९१६। =अन्तरंगशुद्धिसे बाह्यपरिग्रहका नियमसे त्याग होता है। अभ्यन्तर अशुद्ध परिणामोसे ही वचन और शरीर-से दोषोकी उत्पत्ति होती है। अन्तरगशुद्धि होनेसे बहिरंगशुद्धि भी नियमपूर्वक होती है । यदि अन्तरगपरिणाम मलिन होगे तो मनुष्य शरीर और वचनोसे अवश्य दोष उत्पन्न करेगा ।१९१५-१९१६ ।

प्र सा./त. प्र./२१६ उपधे, तस्य सर्वथा तदविनाभावित्वप्रसिद्धय-दैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिक-मेव ··अतएव चापरैरप्यन्तरङ्गच्छेदवत्तदनन्तरीयकत्वाप्रागेव सर्व एवोपाधि' प्रतिपेध्य' ।२।=परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता, ऐसा जो परिग्रहका सर्वथा अशुद्धोपयोगके साथ अविना-भावित्व है उससे प्रसिद्ध होनेवाले एकान्तिक अशुद्धोपयोगके सद्भाव के कारण परिग्रह तो ऐकान्तिक बन्ध रूप है, इसलिए उसे छेद ऐका-न्तिक ही है। ·· इसलिए दूसरोको भी, अन्तरंगछेदकी भाँति प्रथम ही सभी परिग्रह छोडने योग्य है, क्योंकि वह अन्तरंग छेदके बिना नहीं होता। (प्र सा./त.प्र /२२१), (दे० परिग्रह/४/३,४) ।

२. बाह्य परिग्रहके ग्रहणमें इच्छाका सद्भाव सिद्ध होता है

स. सा./आ /२२०-२२३/क. १५१ ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते, मंक्षे हत न जातु मे यदि पर दुर्भुक्त एवासि भो. । बन्ध स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते, ज्ञान सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् । =हे ज्ञानी ! तुझे कभी कोई भी कर्म करना उचित नहीं है तथापि यदि तू यह कहे कि "पर-द्रव्य मेरा कभी भी नहीं है और मैं उसे भोगता हूँ" तो तुझसे कहा जाता है कि हे भाई, तू खराब प्रकारसे भोगने वाला है, जो तेरा नहीं है उसे तू भोगता है, यह महा खेदकी बात है ! यदि तू कहे कि "सिद्धा-न्तमें यह कहा है कि परद्रव्यके उपभोगसे बध नहीं होता इसलिए भोगता हूँ" तो क्या तुझे भोगनेकी इच्छा है ? तू ज्ञानरूप होकर निवास कर, अन्यथा (यदि भोगनेकी इच्छा करेगा) तू निश्चयत. अपराधसे बन्धको प्राप्त होगा ।

३. बाह्यपरिग्रह दु.ख व इच्छाका कारण है

भ. आ./मू /१९१४ जह पत्थरो पडतो खोभेड दहे पसण्णमवि पंकं । खोभेड पसत पि कसाय जोवस्स तह गथो ।१९१४।=जैसे ह्रदमे पाषाण पडनेसे तलभागमें दबा हुआ भी कीचड क्षुब्ध होकर ऊपर आता है वैसे परिग्रह जीवके प्रशान्त कषायोंको भी प्रगट करते है ।१९१४। (भ. आ./मू./१९१२-१९१३) ।

कुरल/३५/१ मन्ये ज्ञानी प्रतिज्ञाय यत्किंचित परिमुञ्चति । तदुत्पन्न-महादु खान्निजात्मा तेन रक्षित' ।१। =मनुष्यने जो वस्तु छोड दी है उससे पैदा होने वाले दु खसे उसने अपनेको मुक्त कर लिया है ।१।

प प्र./मू /१०८ परु जाणतु वि परम-मुणि पर-संसग्गु चयंति । पर-संगइँ परमप्पयह लक्खह जेण चलंति ।१०८। =परम मुनि उत्कृष्ट आत्म द्रव्यको जानते हुए भी परद्रव्यको छोड देते है, क्योंकि पर-द्रव्यके ससर्गसे ध्यान करने योग्य जो परमपद उससे चलायमान हो जाते है ।१०८।

ज्ञा /१६/२० अणुमात्रादपि ग्रन्थान्मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत् । विसर्पति ततस्तृष्णा यस्या विश्व न शान्तये ।२०। =अणुमात्र परिग्रहके रखने-से मोहकर्मकी ग्रन्थि दृढ होती है और इससे तृष्णाकी ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसकी शान्तिके लिए समस्त लोककी सम्पत्तिसे भी पूरा नहीं पडता है ।२०।

४. इच्छा ही परिग्रह ग्रहणका कारण है

भ. आ./मू./११२१ रागो लोभो मोहो सण्णाओ गारवाणि य उदिण्णा । तो तइया घेत्तु जे गथे बुद्धी णरो कुणइ ।११२१। =राग, लोभ और मोह जब मनमें उत्पन्न होते है तब इस आत्मामे बाह्यपरिग्रह ग्रहण करनेकी बुद्धि होती है ।११२१। (भ आ /मू./१९१२) ।

५. आकिंचन्य भावनासे परिग्रहका त्याग होता है

स. सा./आ./२८६-२८७ अध कर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करो-त्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात्, ततोऽध'-कर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्य न मम कार्यं नित्यमचेतनत्वे सति मत्का-र्यत्वाभावात्, इति तत्त्वज्ञानपूर्वक पुद्गलद्रव्य निमित्तभूत प्रत्या-चक्षाणो नैमित्तिकभूतं बधसाधक भाव प्रत्याचष्टे । =अध कर्म आदि पुद्गलद्रव्यके दोषोंको आत्मा वास्तवमें नहीं करता, क्योंकि वे परद्रव्यके परिणाम है इसलिए उन्हें आत्माके कार्यत्वका अभाव है; इसीलिए अध'कर्म और औद्देशिक पुद्गलकर्म मेरा कार्य नहीं है क्योंकि वह नित्य अचेतन है इसलिए उसको मेरे कार्यत्वका अभाव है," इस प्रकार तत्त्वज्ञान पूर्वक निमित्त भूत पुद्गल द्रव्यका प्रत्याख्यान करता हुआ आत्मा जैसे नैमित्तिक भूत बन्ध साधक भावका प्रत्याख्यान करता है ।

यो. सा, अ /६/३० स्वरूपमात्मनो भाव्यं परद्रव्यजिहासया । न जहाति परद्रव्यमात्मरूपाभिभावक ।३०। =विद्वानोको चाहिए कि पर-पदार्थोंके त्यागकी इच्छासे आत्माके स्वरूपकी भावना करें, क्योंकि जो पुरुष आत्माके स्वरूपकी पर्वा नहीं करते वे परद्रव्यका त्याग कहीं कर सकते है ।३०।

सामायिक पाठ अमितगति/२४ न सन्ति बाह्या मम किचनार्था', भवामि तेषा न कदाचनाहं । इत्थं विनिश्चिन्त्य विमुच्य बाह्य स्वस्थ सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ।२४। ='किंचित् भी बाह्य पदार्थ मेरा नहीं है, और न मै कभी इनका हो सकता हूँ,' ऐसा विचार कर हे भद्र ! बाह्यको छोड और मुक्तिके लिए स्वस्थ हो जा ।२४।

अन. ध /४/१०६ परिमुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भ । त्याज्यं ग्रन्थमशेष त्यक्त्वापरनिर्मम' स्वशर्म भजेत् ।१०६। =इन्द्रिय विषय रूपी मरीचिकाको छोडकर, समस्त आरम्भादिकको छोड-कर, समस्त गृहिणी आदि बाह्य परिग्रहको छोडकर तथा शरीरादिक परिग्रहोके विषयमें निर्मम होकर—'ये मेरे हैं' इस सकल्पको छोडकर साधुओंको निजात्मस्वरूपसे उत्पन्न सुखका सेवन करना चाहिए ।१०६।

६. अभ्यन्तर त्यागमें सर्व बाह्य त्याग अन्तर्भूत है

स. सा./आ /४०४/क २३६ उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्, तथात्तमादेयम-शेषतस्तत् । यदात्मन सहृतसर्वशक्ते, पूर्णस्य संधारणमात्मनीह

।२३६। =जिसने सर्वशक्तियोको समेट लिया है (अपनेमें लीन कर लिया है) ऐसे पूर्ण आत्माका आत्मामें धारण करना सो ही मव छोडने योग्य सब छोडा है, और ग्रहण करने योग्य ग्रहण किया है ।२३६।

७. परिग्रह त्याग व्रतका प्रयोजन

रा. वा./६/२६/१०/६२५/१४ नि'सङ्गत्व निर्भयत्वं जीविताशाव्युदास दोषोच्छेदो मोक्षमार्गभावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थो व्युत्सर्गोऽभिधीयते द्विविध । =नि सगत्व, निर्भयत्व, जीविताशात्याग दोषोच्छेद और मोक्षमार्ग भावनातत्परत्व आदिके लिए दोनो प्रकारका व्युत्सर्ग करना अत्यावश्यक है ।

८. निश्चय व्यवहार परिग्रहका नयार्थ

ध. ६/४,१,६७/३२३/७ ववहारणय पडुच्च खेत्तादी गथो, अब्भतरगंथ-कारणत्तादो । एदस्स परिहरण णिग्गथत्त । णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गंथो, कम्मबधकारणत्तादो। तेसि परिच्चागो णिग्ग थत्त । णइगमणएण तिरयणाणुवजोगी बज्झब्भतरपरिग्गहपरिच्चाओ णिग्गथत्त । =व्यवहार नयकी अपेक्षा क्षेत्रादिक ग्रन्थ है, क्योकि, वे अभ्यन्तर ग्रन्थके कारण है, और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है । निश्चयनयकी अपेक्षा मिथ्यात्वादिक ग्रन्थ हैं, क्योकि वे कर्मबन्धके कारण हैं और इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। नैगमनयकी अपेक्षा तो रत्नत्रयमें उपयोगी पडने वाला जो भी बाह्य व अभ्यन्तर परिग्रहका परित्याग है, उसे निर्ग्रन्थता समझना चाहिए ।

परिग्रह संज्ञा—दे० सज्ञा ।

परिग्रहानंदी रौद्रध्यान—दे० रौद्रध्यान ।

परिग्राहिकी क्रिया—दे० क्रिया/३ ।

परिचारक—

भ. आ /मू./६४७,६४८,६७१ पियधम्मा दिढधम्मा सवेगावज्जभीरुणो धीरा। छदण्हू पच्चइया पच्चक्खाणम्मि य विदण्हू ।६४७। कप्पाकप्पे कुसला समाधिकरणुज्जदा सुदरहस्सा । गीदत्था भयवंता अडदालीस तु णिज्जवया ।६४८। जो जारिसओ कालो भरदेरावदेसु होइ वासेसु । ते तारिसया तदिया चोद्दालीसं पि णिज्जवया ।६७१। =जिनका धर्मपर गाढ प्रेम है और जो स्वय धर्ममे स्थिर है। ससारसे और पापसे जो हमेशा भययुक्त है। धैर्यवान् और क्षपकके अभिप्रायको जाननेवाले हैं, प्रत्याख्यानके ज्ञाता ऐसे परिचारक क्षपककी शुश्रूषा करने योग्य माने गये है ।६४७। ये आहारपानादिक पदार्थ योग्य है, इनका ज्ञान परिचारकोको होना आवश्यक है। क्षपकका चित्त समाधान करनेवाले, प्रायश्चित्त ग्रन्थको जाननेवाले, आगमज्ञ, स्वय और परका उद्धार करनेमें कुशल, तथा जिनकी जगमें कीर्ति है ऐसे परिचायक यति है ।६४८। भरतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्रमें समस्त देशोंमे जो जैसा काल वर्तता है, उसके अनुसार निर्यापक समझना चाहिए ।६७१।

* सल्लेखनागत क्षपककी सेवामें परिचारकोंकी संख्याका नियम—दे० सल्लेखना/१० ।

परिचित द्रव्य निक्षेप—दे० निक्षेप/५/८ ।

परिणमन—१. ज्ञेयार्थ परिणमनका लक्षण

प्र सा /त प्र /५२ उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमान' क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति, न तु ज्ञानादिति । =उदयगत पुद्गल कर्मांशोंके अस्तित्वमें चेतित होनेपर—जाननेपर—अनुभव करनेपर मोह राग द्वेषमे परिणत होनेसे ज्ञेयार्थ परिणमन स्वरूप क्रियाके साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रिया फलरूप बन्धका अनुभव करता है। किन्तु ज्ञानसे नही' (इस प्रकार प्रथम ही अर्थ परिणमन क्रियाके फलभूत बन्धका समर्थन किया गया है।)

स. सा /ता वृ /६५/१५२/१० धर्मास्तिकायोऽयमित्यादि विकल्प यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीव. तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽहमिति विकल्प' उपचारेण घटत इति भावार्थ' । ='यह धर्मास्तिकाय है' ऐसा विकल्प जब जीव, ज्ञेयतत्त्वके विचार कालमें करता है, उस समय वह शुद्धात्माका स्वरूप भूल जाता है (क्योकि उपयोगमें एक समय एक ही विकल्प रह सकता है।); इसलिए उस विकल्पके किये जानेपर 'मै धर्मास्तिकाय हूँ ऐसा उपचारसे घटित होता है। यह भावार्थ है।

प्र सा / प जयचन्द/४२ ज्ञेय पदार्थरूपसे परिणमन करना अर्थात 'यह हरा है, यह पीला है' इत्यादि विकल्प रूपसे ज्ञेयरूप पदार्थोंमें परिणमन करना यह कर्मका भोगना है, ज्ञानका नही।·· ज्ञेय पदार्थोंमें रुकना–उनके सन्मुख वृत्ति होना, वह ज्ञानका स्वरूप नहीं है ।

* अन्य सम्बन्धित विषय

1. परिणमन सामान्यका लक्षण । —दे० विपरिणमन ।
2. एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणमन नहीं कर सकता । —दे० द्रव्य/५ ।
3. गुण भी द्रव्यवत् परिणमन करता है । —दे० गुण/२ ।
4. अखिल द्रव्य परिणमन करता है, द्रव्यांश नहीं । —दे० उत्पाद/३ ।
5. एक द्रव्य दूसरेको परिणमन नहीं करा सकता । —दे० कर्ता व कारण/III ।
6. शुद्ध द्रव्यको अपरिणामी कहनेकी विवक्षा ।—दे० द्रव्य/२ ।

परिणम्य परिणामक शक्ति—

स सा /आ /परि /शक्ति न० १५ परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्ति । =पर और आप जिनका निमित्त है ऐसे ज्ञेयाकार ज्ञानाकार उनका ग्रहण करना और ग्रहण कराना ऐसा स्वभाव जिसका रूप है, ऐसी परिणम्य परिणामकत्व नाम पन्द्रहवीं शक्ति है ।,

परिणाम— Result (ध. ५/प्र. २७)

परिणाम—जीवके परिणाम ही ससारके या मोक्षके कारण है। वस्तुके भावको परिणाम कहते है, और वह दो प्रकारका है—गुण व पर्याय । गुण अप्रवर्तमान या अक्रमवर्ती है और पर्याय प्रवर्तमान व क्रमवर्ती। पर्यायरूप परिणाम तीन प्रकारके है—शुभ, अशुभ और शुद्ध । तहाँ शुद्धपरिणाम ही मोक्षका कारण हे ।

१. परिणाम सामान्यका लक्षण

१ स्वभावके अर्थमें

प्र सा./मू /६६ सदवट्ठिदं सहावे दव्व दव्वस्स जो हि परिणामो । अत्थेसु सो सहावो ट्ठिदिसभवणाससबद्धो ।६६।

प्र सा /त प्र./१०१ स्वभावस्तु द्रव्यपरिणामोऽभिहित ।· द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्या प्रतिक्षण तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणाम । =स्वभावमें अवस्थित (होनेसे) द्रव्य सत है, द्रव्यका जो उत्पादव्यय ध्रौव्य सहित परिणाम है; वह पदार्थोका स्वभाव है।६६। (प्र सा /मू /१०१) द्रव्यका स्वभाव परिणाम कहा गया हे । ··द्रव्यकी वृत्ति तीन प्रकारके समयको (भूत, भविष्यत' वर्तमान कालको) स्पर्शित करती है, इसलिए (वह वृत्ति-

अस्तित्व) प्रतिक्षण उस उस स्वभावरूप परिणमित होनेके कारण द्रव्यका स्वभावभूत परिणाम है।

गो जी./जी /८/१५ उदयादिनिरपेक्ष परिणाम । = उदयादिकी अपेक्षासे रहित सो परिणाम है।

२. भावके अर्थमें

त॰ सू /५/४२ तद्भाव· परिणाम· ।४२।

स. सि /५/४२/३१७/५ धर्मादीनि द्रव्याणि येनात्मना भवन्ति स तद्भावस्तत्त्व परिणाम इति आख्यायते। =धर्मादिक द्रव्य जिस रूपसे होते है वह तद्भाव या तत्त्व है और इसे ही परिणाम कहते है। (रा वा./५/४२/१/५०३/५)।

ध १५/१७२/७ को परिणामो। मिच्छत्तासजम-कसायादो ।=मिथ्यात्व, असयम और कषायादिको परिणाम कहा जाता है।

३. आत्मलाभ हेतुके अर्थमें

रा.वा./ २/१/५/१००/२१ यस्य भावस्य द्रव्यात्मलाभमात्रमेव हेतुर्भवति नान्यन्निमित्तमस्ति सपरिणाम इति परिभाष्यते। = जिसके होनेमें द्रव्यका स्वरूप लाभ मात्र कारण है, अन्य कोई निमित्त नहीं है, उसको परिणाम कहा जाता है। (स सि /२/१/१४६/६), (प का./ त. प्र./५६)।

४. पर्यायके अर्थमें

स सि./५/२२/२९२/६ द्रव्यस्य पर्यायो धर्मान्तरनिवृत्तिधर्मान्तरोपजनरूप अपरिस्पन्दात्मक परिणाम·। =एक धर्मकी निवृत्ति करके दूसरे धर्मके पैदा करने रूप और परिस्पन्दसे रहित द्रव्यकी जो पर्याय है उसे परिणाम कहते हैं। (रा. वा./५/२२/२१/४८१/१६); (स म /२७/३०४/१६)।

रा वा./५/२२/१०/४७७/३० द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोगविस्रसालक्षणो विकार परिणाम ।१०। द्रव्यस्य चेतनस्येतरस्य वाद्रव्यार्थिकनयस्य अविवक्षातो न्यग्भूतां ,स्वा द्रव्यजातिमजहतः पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्य बिभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भाव पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकार· प्रयोगविस्रसालक्षण परिणाम इति प्रतिपत्तव्य । =द्रव्यका अपनी स्व द्रव्यत्व जातिको नही छोडते हुए जो स्वाभाविक या प्रायोगिक परिवर्तन होता है उसे परिणाम कहते है। द्रव्यत्व जाति यद्यपि द्रव्यसे भिन्न नहीं है फिर भी द्रव्यार्थिकको अविवक्षा और पर्यायार्थिकको प्रधानतामें उसका पृथक् व्यवहार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि अपनी मौलिक सत्ताको न छोडते हुए पूर्व पर्यायकी निवृत्तिपूर्वक जो उत्तरपर्यायका उत्पन्न होना है वही परिणाम है। (न.च वृ./१७), (त. सा /३/४६)।

सि. वि./टी./११/५/७०२/१० व्यक्तेन च तादात्म्य परिणामलक्षणम्। =व्यक्तरूपसे तो तादात्म्य रखता हो, अर्थात् द्रव्य या गुणोकी व्यक्तियो अथवा पर्यायोंके साथ तादात्म्य रूपसे रहनेवाला परिणमन, परिणामका लक्षण है।

न्या वि./टी./१/१०/१७८/११ परिणामो विवर्त·।=उसीमेंसे उत्पन्न हो होकर उसीमें लीन हो जाना रूप विवर्त या परिवर्तन परिणाम है।

प. ध./पू /११७ स च परिणामोऽवस्था। =गुणोंकी अवस्थाका नाम परिणमन है। और भी दे० 'पर्याय'

२. परिणामके भेद

प्र. सा./मू /१८१ सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु। परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारण समये। =परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है ओर अशुभ परिणाम पाप है, ऐसा कहा है। (ओर भी देखो प्रणिधान) जो दूसरोके प्रति प्रवर्तमान नही है, ऐसा परिणाम (शुद्ध परिणाम) समयपर दु ख क्षयका कारण है।

रा वा./५/२२/१०/४७७/३४ परिणामो द्विविध —अनादिरादिमाश्च।··· आदिमान् प्रयोगजो वैस्रसिकश्च। =परिणाम दो प्रकारका होता है—एक अनादि और दूसरा आदिमान्। (स सि./४/४२/३१७/६), (रा. वा /५/४२/३/५०३/६) आदिमान् दो प्रकारके है—एक प्रयोगजन्य और दूसरा स्वाभाविक।

ध./१२/४,२,७,३२/२७/६ अपरियत्तमाणा ·परिणामा परियत्तमाणा णाम।· तत्थ उक्कस्सा मज्झिमा जहण्णा त्ति तिविहा परिणामा। =अपरिवर्तमान और परिवर्तमान दो प्रकारके परिणाम होते हैं। उनमे उत्कृष्ट, मध्यम व जघन्यके भेदसे वे परिणाम तीन प्रकारके है। (गो. क /जी प्र./१७७/२०७/१०)।

पं. ध./पू /३२७,३२८ का भावार्थ—परिणाम दो प्रकारके होते हैं—सदृश और विसदृश।

३. परिणाम विशेषोंके लक्षण

१. आदिमान् व अनादिमान् परिणाम

रा.वा /५/२२/१०/४७७/४ अनादिर्लोकसंस्थानमन्दराकारादि.। आदिमान् प्रयोगजो वैस्रसिकश्च। तत्र चेतनस्य द्रव्यौपशमिकादिभाव· कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषेयत्वाद् वैस्रसिक इत्युच्यते। ज्ञानशीलभावनादिलक्षण· आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात्प्रयोगज·। अचेतनस्य च मृदादे घटसंस्थानादिपरिणाम कुलालादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगज। इन्द्रधनुरादिनानापरिणामो वैस्रसिक.। तथा धर्मादेरपि योज्य.।

रा. वा./५/४२/३/५०३/१० तत्रानादिर्धर्मादीनां गत्युपग्रहादि.। न ह्येतदस्ति धर्मादीनि द्रव्याणि प्राक् पश्चाद्गत्युपग्रहादि, प्राग्वा गत्युपग्रहादि· पश्चाद्धर्मादीनि इति। किं तर्हि। अनादिरेषा सबन्ध·। आदिमाश्च बाह्यप्रत्ययापादितोत्पाद·। =लोककी रचना सुमेरुपर्वत आदिके आकार इत्यादि अनादि परिणाम है। आदिमान् दो प्रकारके है—एक प्रयोगजन्य और दूसरे स्वाभाविक। चेतन द्रव्यके औपशमिकादिभाव जो मात्र कर्मोके उपशम आदिकी अपेक्षासे होते है। पुरुष प्रयत्नकी जिनमें आवश्यकता नही होती वे वैस्रसिक परिणाम है। ज्ञान, शील, भावना आदि गुरु उपदेशके निमित्तसे होते है, अत वे प्रयोगज है। अचेतन मिट्टी आदिका कुम्हार आदिके प्रयोगसे होनेवाला घट आदि परिणमन प्रयोगज है और इन्द्रधनुप मेघ आदि रूपसे परिणमन वैस्रसिक है।

धर्मादि द्रव्योके गत्युपग्रह आदि परिणाम अनादि है, जबसे ये द्रव्य है तभीसे उनके ये परिणाम है। धर्मादि पहले और गत्युपग्रहादि बादमें किसी समय हुए हो ऐसा नही है। बाह्य प्रत्ययोंके आधीन उत्पाद आदि धर्मादि द्रव्योके आदिमान् परिणाम है।

२. अपरिवर्तमान व परिवर्तमान परिणाम

ध. १२/४,२,७,३२/२७/८ अणुसमय वड्ढमाणा हीयमाणा च जे सकिलेस-विसोहियपरिणामा ते अपरियत्तमाणा णाम। जत्थ पुण ट्ठाइदूण परिणामतर गंतूण एग-दो आदिसमएहिं आगमण सभवदि ते परिणामा परियत्तमाणा णाम। =प्रति समय बढनेवाले या हीन होनेवाले जो सक्लेश या विशुद्धिरूप परिणाम हाते है वे अपरिवर्तमान परिणाम कहे जाते है। किन्तु जिन परिणामोमें स्थित होकर तथा परिणामान्तरको प्राप्त हो पुनः एक दो आदि समयों द्वारा उन्हीं परिणामोमे आगमन सम्भव होता है उन्हें परिवर्तमान परिणाम कहते है। (गो. क./जी. प्र /१७७/२०७/१०)

३. सदृश व विसदृश परिणाम

पं. ध./पू./१८२ सदृशोत्पादो हि यथा स्यादुष्ण परिणमन् यथा वह्निः। स्यादित्यसदृशजन्मा हरितात्पीतं यथा रसालफलम् ।१८२। =सदृश उत्पाद यह है कि जैसे परिणमन करती हुई अग्नि उष्णकी उष्ण ही रहती है, और आमका फल हरितवर्णसे पीतवर्ण रूप हो जाता है यह असदृश उत्पाद है ।१८२।

पं. ध./पू./३२७-३३० जीवस्य यथा ज्ञान परिणाम परिणमस्तदेवेति। सदृशस्योदाहृतिरिति जातेरनतिक्रमत्वतो वाच्या ।३२७। यदि वा तदिह ज्ञानं परिणाम' परिणमन्न तदिति यत । स्वावसरे यत्सत्त्वं तदसत्त्व परत्र नययोगात्।३२८। अत्रापि च सदृष्टि सन्ति च परिणाम-तोऽपि कालाशा । जातेरनतिक्रमत सदृशत्वनिबन्धना एव ।३२९। अपि नययोगाद्विसदृशसाधनसिद्धयै त एव कालाशा । समय समय' समय सोऽपीति बहुप्रतीतित्वात् ।३३०। =जैसे जीवका ज्ञानरूप परिणाम परिणमन करता हुआ प्रति समय ज्ञानरूप ही रहता है यही ज्ञानत्वरूप जातिका उल्लघन नहीं करनेसे सदृशका उदाहरण है ।३२७। तथा यहाँपर वही ज्ञानरूप परिणाम परिणमन करता हुआ यह वह नहीं है 'अर्थात् पूर्वज्ञानरूप नहीं है' यह विसदृशका उदाहरण है, क्योकि विवक्षित परिणामका अपने समयमें जो सत्त्व है, दूसरे समयमें पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे वह उसका सत्त्व नहीं माना जाता है ।३२८। और इस विषयमें भी खुलासा यह है कि परिणामसे जितने भी ऊर्ध्वांश कल्पनारूप स्वकालके अश है वे सब अपनी अपनी द्रव्यत्व जातिको उल्लघन नहीं करनेके कारणसे सदृशपनेके द्योतक है ।३२९। तथा वे ही कालके अश 'वह भी समय है, वह भी समय है, वह भी समय है' इस प्रकार समयोंमें बहुतकी प्रतीति होने-से पर्यायार्थिकनयकी अपेक्षासे विसदृशताकी सिद्धिके लिए भी समर्थ है ।३३०।

४. तीव्र व मन्द परिणाम

स सि /६/६/३२३/१० बाह्याभ्यन्तरहेतूदीरणवशादुद्रिक्त' परिणाम-स्तीव्र । तद्विपरीतो मन्द । =बाह्य और उदीरणा वश प्राप्त होनेके कारण जो उत्कट परिणाम होता है वह तीव्रभाव है । मन्दभाव इससे उलटा है। (रा. वा./६/६/१/५११/३२)।

४. सल्लेखना सम्बन्धी परिणमन निर्देश

भ.आ./वि /६७/१९४/१० तद्भाव' परिणाम इति वचनात्तस्य जीवादेर्द्र-व्यस्य क्रोधादिना दर्शनादिना वा भवनं परिणाम इति यद्यपि सामान्येनोक्तं तथापि यते स्वेन कर्तव्यस्य कार्यस्यालोचनमिह परिणाम इति गृहीतम्। ='तद्भाव परिणाम' ऐसा पूर्वाचार्यका वचन है अर्थात् जीवादिक पदार्थ क्रोधादिक विकारोंसे अथवा सम्यग्दर्शनादिक पर्यायोंसे परिणत होना यह परिणामशब्दका सामान्य अर्थ है। तथापि यहाँ यतिको अपने कर्तव्यका हमेशा खयाल रहना परिणाम शब्दक प्रकरण सगत अर्थ समझना चाहिए।

५. परिणाम ही बन्ध या मोक्षका कारण

यो. सा. यो./१४ परिणामें बधु जि कहिउ मोक्ख वि तह जि वियाणि। इउ जाणेविणु जीव तहु तह भाव हु परियाणि ।१४। =परिणामसे ही जीवको बन्ध कहा है और परिणामसे ही मोक्ष कहा है।—यह समझ कर, हे जीव। तू निश्चयसे उन भावोंको जान ।१४।

६. मालाके दानोंवत् सत्का परिणमन

प्र.सा /त प्र/९९ स्वभावानतिक्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयम् मुक्ताफलदामवत्। यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ता-फलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्व-त्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धि-मवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्ति निवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामा-नामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूति-सूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति। =स्वभावसे ही त्रिलक्षण परिणाम पद्धतिमें (परिणामोंकी परम्परामें) प्रवर्तमान द्रव्य स्वभावका अतिक्रम नहीं करता इसलिए सत्‌को त्रिलक्षण ही अनुमोदित करना चाहिए। मोतियोंके हारकी भाँति। जैसे—जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुए मोतियोंके हारमें, अपने-अपने स्थानोंमें प्रकाशित होते हुए समस्त मोतियोंमें, पीछे-पीछेके स्थानो पीछे-पीछेके मोती प्रगट होते है इसलिए, और पहले-पहलेके मोती प्रगट नही होते इसलिए, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूतिका रचयिता सूत्र अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धिको प्राप्त होता है। इसी प्रकार जिसने नित्य वृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) होते हुए द्रव्यमें, अपने-अपने अवसरोंमें प्रकाशित होते हुए समस्त परिणामोंमें पीछे-पीछेके अवसरोपर पीछे-पीछेके परिणाम प्रगट होते हैं इसलिए और पहले-पहले के परिणाम नही प्रगट होते है इसलिए, तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचनेवाला प्रवाह अवस्थित होनेसे त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धिको प्राप्त होता है। (प्र. सा./त. प्र./२३), (प्र. सा./त प्र /८०), (पं. ध /पू./४७२-४७३)।

प का /त प्र./१६ का भावार्थ-मालाके दानोके स्थानपर बाँसके पर्वसे सत्‌के परिणमनकी सिद्धि।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. उपयोग अर्थमें परिणाम। —दे० उपयोग/II।

२. शुभ व अशुभ परिणाम। —दे० उपयोग/II।

३. अन्य व्यक्तिके गुप्त परिणाम भी जान लेने सम्भव हैं —दे० विनय/५।

४. परिणामोंकी विचित्रता। निगोदसे निकलकर मोक्ष। —दे० जन्य/५।

५ अप्रमत्त गुणस्थानसे पहिलेके सर्व परिणाम अध. प्रवृत्तकरण रूप होते है। —दे० करण/४।

परिणाम प्रत्यय प्रकृतियाँ—दे० प्रकृति बन्ध/२।

परिणाम योगस्थान—दे० योग/५।

परिणाम शक्ति—स सा./आ०/परि शक्ति नं १६ द्रव्यस्व-भावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिंगितसदृशविसदृशरूपैकास्तित्वमात्रमयी परिणामशक्ति। =द्रव्यके स्वभावभूत ऐसे ध्रौव्य-व्यय-उत्पादोसे स्पर्शित जो समान रूप व असमान रूप परिणाम उन स्वरूप एक अस्तित्व मात्रमयी उन्नीसवीं परिणाम शक्ति है।

परिणाम शुद्धप्रत्याख्यान—दे० प्रत्याख्यान/१।

परिणामी—वह द्रव्योंमें परिणामी अपरिणामी विभाग—दे० द्रव्य/३।

परिदावन—ध.१३/५,४,२१/४६/१२ सतापजननं परिदावणं णाम। सन्ताप उत्पन्न करना परिदावण कहलाता है।

परिदेवन—स सि /६/११/३२९/२ सक्लेशपरिणामावलम्बनं गुण-स्मरणानुकीर्तनपूर्वकं स्वपरानुग्रहाभिलाषविषयमनुकम्पाप्रचुर रोदनं परिदेवनम्। =सक्लेशरूप परिणामोंके होनेपर गुणोंका स्मरण और दूसरेके उपकारकी अभिलाषा करुणाजनक रोना परिदेवन है। (रा वा /६/११/६/५१९/३१)।

परिधि—१. Circumference (ज प./प्र. १०७) २. परिधि निकालनेकी प्रक्रिया—दे० गणित/II/७।

परिपीडित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

परिभोग—दे० भोग।

परिमह—वस्तिकाका एक दोष—दे० 'वस्तिका'

परिमाण—Magnitude. (ध. ५ प्र. २७)

परिमाणहीन—Dimensionless. (ध.५/प्र.२७)।

परिमित—Finite. (ज.प./प्र.१०७)।

परिलेखा—दे० परीलेखा।

परिवर्त—१ आहारका एक दोष—दे० आहार/II/२, २ वस्तिकाका एक दोष—दे० वस्तिका।

परिवर्तन—१ अक्षसंचार—दे० गणित/II/३। २. पंच परिवर्तन-रूप संसार—दे० संसार।

परिवर्तना—ध.९/४.१.५५/२६२/११ अविस्मरणट्ठं पुणो पुणो भावागमपरिमलण परियट्टणा णाम।=ग्रहण किया हुआ अर्थ विस्मृत न हो जावे, एतदर्थ बार-बार भावागमका परिशीलन करना परिवर्तना है। (ध.१४/५.६.१२/९/५)।

परिशातन—ध.९/४,१,६६/३२७/१ तेसिं चेव अप्पिदसरीरपोग्गलक्खधाणं संचएण विणा जा णिज्जरा सा परिसादणकदी णाम।=(पाँचों शरीरोंमेंसे) विवक्षित शरीरके पुद्गलस्कन्धोंकी संचयके बिना जो निर्जरा होती है वह परिशातन कृति कहलाती है।

★ **अन्य सम्बन्धित विषय**

१. पाँचों शरीरोंकी संघातन परिशातन कृति —दे० ध.९/३५५-४५१)।
२ पांचों शरीरोंकी जघन्य उत्कृष्ट परिशातन कृति —दे० ध.९/३३६-४३८।
३. संघातन परिशातन (उभयरूप) कृति —दे० संघातन।

परिशेष न्याय—(ध १/१.१.४४/२७६/१) यह भी नहीं यह भी नहीं तो शेष यह ही रहा।

परिस्पन्द—१. आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द—दे० योग/१। २. जीवके चलिताचलित प्रदेश—दे० जीव/५। ३. परिस्पन्दात्मक भावका विषय—दे० भाव।

परिहार—परस्पर परिहारलक्षणविरोध—दे० विरोध।

परिहार प्रायश्चित्त—

स.सि./९/२२/४४०/९ पक्षमासादिविभागेन दूरत परिवर्जनं परिहार'।=पक्ष महीना आदिके विभागसे संघसे दूर रखकर त्याग करना परिहार प्रायश्चित्त है। (रा.वा./९/२२/९/६२१/३२), (त.सा./७/२६) (भा पा./टी./७८/२२३/१३)।

२. परिहार प्रायश्चित्तके भेद

ध. १३/५,४,२६/६२/४ परिहारो दुविहो अणवट्ठओ पारंचिओ चेदि।=परिहार दो प्रकारका होता है—अनवस्थाप्य और पारंचिक। (चा. सा./१४४/४)।

चा. सा/१४४/४ तत्रानुपस्थापनं निजपरगणभेदाद् द्विविध।=उपरोक्त दो भेदोंमें से अनुपस्थापन भी निजगण और परगणके भेदसे दो प्रकारका होता है।

३. निज गणानुपस्थापन या अनवस्थाप्यका लक्षण

ध. १३/५,४,२६/६२/४ तत्थ अणवट्ठओ जहण्णेण छम्मासकालो उक्कस्सेण बारसवासपेरंतो। कायभूमीदो परदो चेव कयविहारो पडिवंदणविरहिदो गुरुवदिरित्तासेसजणेसु कयमोणाभिग्गहो खवणांयंबिलपुरिमड्ढेयट्ठाणणिव्वियदीहि सोसिय-रस-रुहिर-मांसो होदि।=अनवस्थाप्यपरिहार प्रायश्चित्तका जघन्य काल छह महीना और उत्कृष्ट काल बारह वर्ष है। वह काय भूमिसे दूर रहकर ही विहार करता है, प्रतिवन्दनासे रहित होता है, गुरुके सिवाय अन्य सब साधुओंके साथ मौन रखता है तथा उपवास, आचाम्ल, दिनके पूर्वार्धमें एकासन और निर्विकृति आदि तपों द्वारा शरीरके रस, रुधिर और मांसको शोषित करनेवाला होता है।

चा. सा./१४५/१ तेन ऋष्याश्रमाद् द्वात्रिंशद्दण्डान्तरविहितविहारेण बालमुनीनपि वन्दमानेन प्रतिवन्दनाविरहितेन गुरुणा सहालोचयता शेषजनेषु कृतमौनव्रतेन विधृतपराङ्मुखपिच्छेन जघन्यत' पञ्चपञ्चोपवासा उत्कृष्टत' षण्मासोपवासा' कर्त्तव्या., उभयमप्याद्वादशवर्षादिति। दर्पादिनन्तरोक्तान्दोषानाचरत' निजगणोपस्थापनं प्रायश्चित्त भवति।=जिनको यह प्रायश्चित्त दिया जाता है वे मुनियोंके आश्रमसे बत्तीस दण्डके अन्तरसे बैठते है, बालक मुनियोंको (कम उम्रके अथवा थोडे दिनके दीक्षित मुनियोंको) भी वन्दना करते है, परन्तु बदलेमें कोई मुनि उन्हें वन्दना नहीं करता। वे गुरुके साथ सदा आलोचना करते रहते हैं, शेष लोगोंके साथ बातचीत नहीं करते है परन्तु मौनव्रत धारण किये रहते है, अपनी पीछीको उलटी रखते है। कमसे कम पाँच-पाँच उपवास और अधिकसे अधिक छह-छह महीनेके उपवास करते रहते है, और इस प्रकार दोनों प्रकारके उपवास १२ वर्ष तक करते रहते है यह निज गणानुपस्थापन नामका प्रायश्चित्त है।

आचार सार/६/५४ यह प्रायश्चित्त उत्तम, मध्यम, व जघन्य तीन प्रकारसे दिया जाता है। यथा—उत्तम—१२ वर्ष तक प्रतिवर्ष ६ महीनेका उपवास। मध्यम—१२ वर्ष तक प्रतिवर्ष प्रत्येक मासमें ५ से अधिक और १५ से कम उपवास। जघन्य—१२ वर्ष तक प्रतिवर्ष प्रत्येक मासमें ५ उपवास।

४. परगणानुपस्थापन प्रायश्चित्तका लक्षण

चा. सा./१४५/४ स सापराध स्वगणाचार्येण परगणाचार्यं प्रति प्रहेतव्य. सोप्याचार्यस्तस्यालोचनमाकर्ण्य प्रायश्चित्तमदत्त्वाचार्यान्तर प्रस्थापयति, सप्तम यावत् पश्चिमश्च प्रथमालोचनाचार्यं प्रति प्रस्थापयति, स एव पूर्व' पूर्वोक्तप्रायश्चित्तेनैनमाचरयति।=अपने संघके आचार्य ऐसे अपराधीको दूसरे संघके आचार्यके समीप भेजते है, वे दूसरे संघके आचार्य भी उनकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित्त दिये बिना ही किसी तीसरे संघके आचार्यके समीप भेजते है, इसी प्रकार सात संघोंके समीप उन्हें भेजते हैं अन्तके अर्थात् सातवें संघके आचार्य उन्हें पहिले आलोचना सुननेवाले आचार्यके समीप भेजते है तब वे पहले ही आचार्य उन्हें ऊपर लिखा हुआ (निजगणानुपस्थापनमें कहा हुआ) प्रायश्चित्त देते है।

५. पारंचिक प्रायश्चित्तका लक्षण

ध. १३/५.४.२६/६३/७ जो सो पारंचिओ सो एवंविहो चेव होदि, किंतु साधम्मियवज्जियखेत्ते समाचरेयव्वो। एत्थ उक्कस्सेण छम्मासक्खवण पि उवइट्ठं।=पारंचिक तप भी इसी (अनवस्थाप्य जैसा) प्रकारका होता है। किन्तु इसे साधर्मी पुरुषोंसे रहित क्षेत्रमें आचरण करना चाहिए। इसमें उत्कृष्ट रूपसे छह मासके उपवासका भी उपदेश दिया गया है।

आचार सार/६/६२-६४ स्वधर्मरहितक्षेत्रे प्रायश्चित्ते पुरोदिते। चार' पारञ्चिकं जैनधर्मात्यन्तरतेर्मतम् ।६२। संघोर्वीशविरोधान्त-पुरस्त्रीगमनादिषु। दोषेष्ववन्द्य' पाप्येष पातकीति बहिःकृत ।६३। चतुर्विधेन संघेन देशान्निष्कासितोऽप्यट. ।=अपने धर्म से रहित अन्य क्षेत्रमें जाकर जहाँ लोग धर्मको नहीं जानते वहाँ पूर्व कथित प्रायश्चित्त करना पारंचिक है।६२। संघ और राजासे विरोध और अन्त पुरकी स्त्रियोंमें जाने आदि दोषोंके होनेपर उस पापीको चतुर्विध संघके द्वारा देशसे निकाल देना चाहिए।

चा सा/१४६/३ पारञ्चिकमुच्यते,.. चातुर्वर्ण्यश्रमणा संघं सभूय तमाहूय एष महापातकी समयबाह्यो न वन्द्य इति घोषयित्वा दत्वानुपस्थानं प्रायश्चित्तदेशान्निर्वाटयन्ति। =पारंचिक प्रायश्चित्तकी क्रिया इस प्रकार है—कि आचार्य पहले चारों प्रकारके मुनियोंके संघको इकट्ठा करते हैं, और फिर उस अपराधी मुनिको बुलाकर घोषणा करते हैं कि 'यह मुनि महापापी है अपने मतसे बाह्य है, इसलिए वन्दना करनेके अयोग्य है' इस प्रकार घोषणा कर तथा अनुपस्थान नामका प्रायश्चित्त देकर उसे देशसे निकाल देते हैं।

*** परिहार प्रायश्चित्त किसको किस अपराधमें दिया जाता है**—दे० प्रायश्चित्त /४।

परिहारविशुद्धि—परिहार विशुद्धि अत्यन्त निर्मल चारित्र है जो अत्यन्त धीर व उच्चदर्शी साधुओंको ही प्राप्त होता है।

१. परिहारविशुद्धि चारित्रका लक्षण

स सि/९/१८/४३६/७ परिहरणं परिहारः प्राणिवधान्निवृत्तिः। तेन विशिष्टा शुद्धिर्यस्मिंस्तत्परिहारविशुद्धिचारित्रम्। =प्राणिवधसे निवृत्तिको परिहार कहते हैं। इस युक्त शुद्धि जिस चारित्रमें होती है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। (रा. वा /९/१८/८/६१७/१६) (त. सा /६/४७), (चा सा /८३/५), (गो. क /जी प्र /५४७/७१४/७)।

पं. स /प्रा /१/१३१ पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सया वि जो हु सावज्जं। पंचजमेयजमो वा परिहारयसंजदो साहू ।१३१। =पाँच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त होकर सदा ही सर्व सावद्य योगका परिहार करना तथा पाँच यमरूप भेद संयम (छेदोपस्थापना) को अथवा एक यमरूप अभेद संयम (सामायिक) को धारण करना परिहार विशुद्धि संयम है, और उसका धारक साधु परिहार विशुद्धि संयत कहलाता है। (ध. १/१,१,१२३/गा. १८९/३७२), (गो जी./मू. ४७१); (प स /सं/१/२४१)।

यो. सा यो /१०२ मिच्छादिउ जो परिहरणु सम्मद्द सण-सुद्धि। सो परिहारविसुद्धि मुणि लहु पावहि सिव-सिद्धि ।१०२। =मिथ्यात्व आदिके परिहारसे जो सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि होती है, उसे परिहार-विशुद्धि समझो, उससे जीव शीघ्र मोक्ष-सिद्धिको प्राप्त करता है।१०२।

ध. १/१,१,१२३/३७०/८ परिहारप्रधान शुद्धिसंयत परिहारशुद्धिसंयत.। =जिसके (हिंसाका) परिहार ही प्रधान है ऐसे शुद्धि प्राप्त संयतोंको परिहार-शुद्धि-संयत कहते हैं।

द्र. स /टी /३५/१४८/३ मिथ्यात्वरागादिविकल्पमालाना प्रत्याख्यानेन परिहारेण विशेषेण स्वात्मनः शुद्धिर्नैर्मल्यंपरिहारविशुद्धिश्चारित्रमिति।—मिथ्यात्व रागादि विकल्प मलोंका प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग करके विशेष रूपसे जो आत्मशुद्धि अथवा निर्मलता, सो परिहार विशुद्धि चारित्र है।

२. परिहारविशुद्धि संयम विधि

भ. आ./वि /१५५/३५१/२० जिनकल्पस्यासमर्था कल्पस्थितमाचार्य-मुक्त्वा परिहारसंयम गृह्णन्ति इति परिहारिका भण्यन्ते। शेषास्ते-ऽनुपहारिका। वसतिमाहार च मुक्त्वा नान्यद् गृह्णन्ति· ·। संयमार्थं प्रतिलेखन गृह्णन्ति। · चतुर्विधानुपसर्गान्सहन्ते। दृढधृतयो निरन्तर ध्यानावहितचित्ता। ·· त्रय, पञ्च, सप्त, नव वैषणा निर्यान्ति। रोगेण वदनयोपद्रुताश्च तत्प्रतिकारं च न कुर्वन्ति।· · स्वाध्यायकालप्रतिलेखनादिकाश्च क्रिया न सन्ति तेषां। श्मशानमध्येऽपि तेषां न ध्यानं प्रतिषिद्धं। आवश्यकानि यथाकालं कुर्वन्ति। अनुज्ञाप्य देवकुलादिषु वसन्ति।··· आसीधिकां च निषीधिका च निष्क्रमणे प्रवेशे च संपादयन्ति। निर्देशक मुक्त्वा इतरे दशविधे समाचारे वर्तन्ते। उपकरणादिदानं, ग्रहण, अनुपालन, विनयो, वंदना सल्लापश्च न तेषामस्ति संघेन सह।· तेषां ··परस्परेणास्ति संभोग.। मौनाभिग्रहरतास्तिस्रो भाषा' मुक्त्वा प्रष्टव्याहृतिमनुज्ञाकरणी प्रश्ने च प्रवृत्ता च मार्गस्य शक्तिस्य वा योग्यायोग्यत्वेन शय्याधरगृहस्य, वसतिस्वामिनो वा प्रश्न।·· व्याघ्रादि·· कण्टकादिविद्धे स्वयं न निराकुर्वन्ति। परे यदि निराकुर्युस्तूष्णीमवतिष्ठन्ते। तृतीययामं एव नियोगतो भिक्षार्थं गच्छन्ति। यत्र क्षेत्रे षट्गोचर्या अपुनरुक्ता भवन्ति तत्क्षेत्रमावासप्रयोग्यं शेषमयोग्यमिति वर्जयन्ति। =जिनकल्पको धारण करनेमें असमर्थ चार या पाँच साधु संघमें परिहारविशुद्धि संयम धारण करते हैं। उनमें भी एक आचार्य कहलाता है। शेषमें जो पीछेसे धारण करते हैं उन्हें अनुपहारक कहते हैं। ये साधु वस्तिका, आहार, संस्तर, पीछी व कमण्डलके अतिरिक्त अन्य कुछ भी ग्रहण नहीं करते। धैर्य पूर्वक उपसर्ग सहते हैं। वेदना आदि आनेपर भी उसका प्रतिकार नहीं करते। निरन्तर ध्यान व स्वाध्यायमें मग्न रहते हैं। श्मशानमें भी ध्यान करनेका इनको निषेध नहीं। यथाकाल आवश्यक क्रियाएँ करते हैं। शरीरके अंगोंको पीछीसे पोंछनेकी क्रिया नहीं करते। वस्तिकाके लिए उसके स्वामीसे अनुज्ञा लेता तथा निसही असहीके नियमोंको पालता है। निर्देशको छोडकर समस्त समाचारोंको पालता है। अपने साधर्मीके अतिरिक्त अन्य संघके साथ आदान, प्रदान, वन्दन, अनुभाषण आदि समस्त व्यवहारोंका त्याग करते हैं। आचार्य पदपर प्रतिष्ठित परिहार संयमी उन व्यवहारोंका त्याग नहीं करते। धर्मकार्यमें आचार्यसे अनुज्ञा लेना, विहारमें मार्ग पूछना, वस्तिकाके स्वामीसे आज्ञा लेना, योग्य अयोग्य उपकरणोंके लिए निर्णय करना, तथा किसीका सन्देह दूर करनेके लिए उत्तर देना, इन कार्योंके अतिरिक्त वे मौनसे रहते हैं, उपसर्ग आनेपर स्वयं दूर करनेका प्रयत्न नहीं करते, यदि दूसरा दूर करे तो मौन रहते हैं। तीसरे पहर भिक्षाको जाते हैं। जहाँ छः भिक्षाएँ अपुनरुक्त मिल सकें ऐसे स्थानमें रहना ही योग्य समझते हैं। ये छेदोपस्थापना चारित्रके धारी होते हैं।

३. गुणस्थानोंकी अपेक्षा स्वामित्व

ष. खं. १/१,१/सू १२६/३७५ परिहार-सुद्धि-संजदा दोसु ट्ठाणेसु पमत्तसंजद-ट्ठाणे अप्पमत्त-संजद-ट्ठाणे ।१२६। = परिहार-शुद्धि-संयत प्रमत्त और अप्रमत्त इन दो गुणस्थानोंमें ही होते हैं।१२६। (द्र स /टी /३५/१४८/२), (गो जी./मू /४६७,६८६)।

४. उत्कृष्ट व जघन्य स्थानोंका स्वामित्व

ध. ७/२,११,१६६/५६६/१ एसा परिहारसुद्धिसंजमलद्धी जहण्णिया कस्स होदि। सव्वसंकिलिट्ठस्स सामाइयछेदोवट्ठावणाभिमुहचरिमसमयपरिहारसुद्धिसंजदस्स। =यह जघन्य परिहारशुद्धि संयमलब्धि सर्व संक्लिष्ट सामायिक-छेदोपस्थापना शुद्धि संयमके अभिमुख हुए अन्तिम समयवर्ती परिहार शुद्धिसंयतके होती है।

५. परिहार संयम धारणमें आयु सम्बन्धी नियम

ध ५/१/८/२७१/३२७/१० तीसं वासेण विणा परिहारसुद्धिसंजमस्स संभवाभावा। =तीस वर्षके बिना परिहार विशुद्धि संयमका होना संभव नहीं है। (गो. जी./मू./४७३/८८१)।

ध. ७/२,२,१४६/१६७/८ तीसं वस्साणि गमिय तदो वासपुधत्तेण तित्थयरपादमूले पच्चक्खाणणामधेयपुव्वं पढिदूण पुणो पच्छा परिहारसुद्धिसजमं पडिवज्जिय देसूणपुव्वकोडिकालमच्छिदूण देवेसुप्पण्णस्स वत्तव्वं। एवमट्ठत्तीसवस्सेहि ऊणिया पुव्वकोडी परिहारसुद्धिसजमस्स कालो वुत्तो। के वि आइरिया सोलसवस्सेहि के वि बावीसवस्सेहि ऊणिया पुव्वकोडी त्ति भणंति। =तीस वर्षोको बिताकर (फिर सयम ग्रहण किया। उसके) पश्चात वर्ष पृथक्त्वसे तीर्थंकरके पादमूलमे प्रत्याख्यान नामक पूर्वको पढकर पुन' तत्पश्चात् परिहारविशुद्धि संयमको प्राप्तकर और कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक रहकर देवोंमें उत्पन्न हुए जीवके उपर्युक्त काल प्रमाण कहना चाहिए। इस प्रकार अडतीस वर्षोसे कम पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण परिहार शुद्धि सयतका काल कहा गया है। कोई आचार्य सोलह वर्षोंसे और कोई बाईस वर्षोसे कम पूर्वकोटि वर्षप्रमाण कहते है। (गो. जी./जी. प्र /४७३/८८१/१२; ७१५/११५४/११)।

६. इसको निर्मलता सम्बन्धी विशेषताएँ

ध ७/२,२,१४६/१६७/८ सव्वसुही होदूण ·वासपुधत्तेण तित्थयरपादमूले पच्चक्खाणणामधेयपुव्वं पढिदूण पुणो पच्छा परिहारसुद्धिसजमं पडिवज्जिय ।=सर्व सुखी होकर· पश्चात वर्ष पृथक्त्वसे तीर्थंकरके पाद मूलमे प्रत्याख्यान नामक पूर्वको—पढकर पुनः तत्पश्चात परिहार विशुद्धि सयमको प्राप्त करता है। (गो. जी./जी. प्र /४७३/१६७/८)।

७. इसके साथ अन्य गुणों व ऋद्धियोंका निषेध

प. सं /प्रा /१/१९४ मणपज्जवपरिहारो उवसमसम्मत्त दोण्णि आहारा। एदेसु एक्कपयदे णत्थि त्ति असेसयं जाणे ।१९४। = मन पर्ययज्ञान परिहार विशुद्धि सयम, प्रथमोपशम सम्यक्त्व और दोनो आहारक अर्थात आहारकशरीर और आहारक अगोपाग, इन चारोंमेंसे किसी एकके होनेपर, शेष तीन मार्गणाएँ नही होती ऐसा जानना चाहिए। ।१९४। (गो. जी./मू./७३०/१३२५)।

ध. ४/१,३,६१/१२३/७ (परिहारसुद्धिसजदेसु) समत्तसंजदे तेजाहार णत्थि। =परिहार विशुद्धि संयतके तैजससमुद्घात और आहारक समुद्घात ये दो पद नही होते।

ध. ५/१,८,२७१/३२७/१० ण च परिहारसुद्धिसंजमछद्द तस्स उवसमसेडीचडणट्ठं दसणमोहणीयस्सुवसामण्णं पि संभवइ। = परिहार विशुद्धि सयमको नही छोडनेवाले जीवके उपशमश्रेणीपर चढनेके लिए दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम होना भी संभव नही है। अर्थात परिहारविशुद्धि संयमके उपशम सम्यक्त्व व उपशमश्रेणी होना सम्भव नहीं। (गो. जी /जी. प्र./७१५/१२)।

ध. १४/५,६,१५८/२४७/१ परिहारसुद्धिसजदस्स विउव्वणरिद्धी(ए) आहाररिद्धीए च सह विरोहादो। = परिहारशुद्धिसयतजीवके विक्रियाऋद्धि और आहारक ऋद्धिके साथ इस संयम होनेका विरोध है। (गो. जी./जी. प्र./७१५/११५४/११); (गो. क /जी प्र/ ११९/११३/६)

८. शंका समाधान

ध. १/१,१,१२६/३७५/५ उपरिष्टात्किमित्यय सयमो न भवेदिति चेन्न, ध्यानामृतसागरान्तर्निमग्नात्मना वाचयमानामुपसंहृतगमनागमनादिकायव्यापाराणा परिहारानुपपत्ते। प्रवृत्त· परिहरति नाप्रवृत्तस्ततो नोपरिष्टात् संयमोऽस्ति।

ध. १/१,१,१२६/३७६/२ परिहारर्धेरुपरिष्टादपि सत्त्वात्तत्रास्यास्तु सत्त्वमिति चेन्न, तत्कार्यस्य परिहरणलक्षणस्यासत्त्वतस्तत्र तदभावात। =प्रश्न—ऊपरके आठवे आदि गुणस्थानोंमें यह सयम क्यो नही होता? उत्तर—नही, क्योंकि, जिनकी आत्माएँ ध्यानरूपी सागरमे निमग्न है, जो वचन यमका (मौनका) पालन करते है और जिन्होंने आने जाने रूप सम्पूर्ण शरीर सम्बन्धी व्यापार सकुचित कर लिया है ऐसे जीवोंके शुभाशुभ क्रियाओंका परिहार बन ही नहीं सकता है। क्योंकि, गमनागमन रूप क्रियाओमें प्रवृत्ति करनेवाला ही परिहार कर सकता है प्रवृत्ति नही करनेवाला नही। इसलिए ऊपरके आठवे आदि गुणस्थानोंमे परिहार शुद्धि संयम नहीं बन सकता है। प्रश्न—परिहार ऋद्धिकी आठवे आदि गुणस्थानोंमे भी सत्ता पायी जाती है, अतएव वहाँपर इस संयमका सद्भाव मान लेना चाहिए। उत्तर—नही, क्योंकि, आठवें आदि गुणस्थानोंमें परिहार ऋद्धि पायी जाती है, परन्तु वहाँपर परिहार करने रूप कार्य नही पाया जाता, इसलिए आठवे आदि गुणस्थानोमें इस सयमका अभाव है।

ध. ५/१,८,२७१/३२७/८ एत्थ उवसमसम्मत्त णत्थि, तीसं वासेण विणा परिहारसुद्धिसंजमस्स संभवाभावा। ण च तेत्तियकालमुवसमसम्मत्तस्सावट्ठाणमत्थि, जेण परिहारसुद्धिसंजमेण उवसमसम्मत्तस्सुवलद्धी होज्ज। ण च परिहारसुद्धिसंजमछद्द तस्स उवसमसेडीचडणट्ठं दसणमोहणीयस्सुवसामण्ण पि सभवइ, जेणुवसमसेडिम्हि दोण्हं पि सजोगो होज्ज। =प्रश्न—(परिहारविशुद्धिसंयतोके उपसम सम्यक्त्व क्यों नही होता?) उत्तर—१. परिहार शुद्धि सयतोंके उपशम सम्यक्त्व नहीं होता है क्योकि, तीस वर्षके बिना परिहारशुद्धि सयमका होना सम्भव नही है। और न उतने कालतक उपशम सम्यक्त्वका अवस्थान रहता है, जिससे कि परिहारशुद्धि सयमके साथ उपशम सम्यक्त्वकी उपलब्धि हो सके। २. दूसरी बात यह है कि परिहारशुद्धि सयमको नही छोडनेवाले जीवके उपशम श्रेणीपर चढनेके लिए दर्शन मोहनीय कर्मका उपशम होना भी सम्भव नही है, जिससे कि उपशम श्रेणीमें उपशम सम्यक्त्व और परिहारशुद्धि सयम, इन दोनोका भी सयोग हो सके।

९. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अप्रशस्त वेदोंके साथ परिहार विशुद्धिका विरोध —दे० वह/६।
२. परिहार विशुद्धि व अपहृत संयममें अन्तर। —सयम/२।
३. परिहार विशुद्धि सयमसे प्रतिपात सभव है। —दे० अन्तर/१।
४. सामायिक, छेदोपस्थापना व परिहार विशुद्धिमें अन्तर। —दे० छेदोपस्थापना।
५. परिहार विशुद्धि सयममें क्षायोपशमिक भावों सम्बन्धी। —दे० सयत/२।
६. परिहार विशुद्धि सयममें गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थानके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ। —दे० 'सत्'।
७. परिहार विशुद्धि संयतके सत्, सख्या, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्प बहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
८. परिहार विशुद्धि सयममे कर्मोंका बन्ध, उदय व सत्त्व। —दे० वह वह नाम।
९ सभी मार्गणाओंमे आयके अनुसार व्यय होनेका नियम। —दे० मार्गणा।

परीक्षा—

न्या. सू /टी /१/१/२/८/८ लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा। =उद्दिष्ट पदार्थके जो लक्षण कहे गये, 'वे ठीक है या नही', इसको प्रमाण द्वारा निश्चय कर धारण करनेको परीक्षा कहते है।

गुण-स्थान	गुणकी विशे०	प्रमाण	असम्भव	सम्भव	गुण-स्थान	गुणकी विशे०	प्रमाण	असम्भव	सम्भव
१-७	सामान्य	चा.सा.		२२	१२	सामान्य	चा.सा.	क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल	११
८	„	„	अदर्शन	२१					
६-९	„	स.सि		२२					
९	सवेद	चा.सा.	अदर्शन, अरति	२०					
„	अवेद	„	„ „ स्त्री	१९					
१०-१२	सामान्य	स.सि.	नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना सत्कार-पुरस्कार अदर्शन =८	१४	१३-१४	„	स सि.	„	११
					„	„	चा सा	„	११ उपचार से।
९-१२	मान क० रहित ९	चा.सा	„ =८	१४					

४. मार्गणाकी अपेक्षा परीषहोंकी सम्भावना

चा.सा./१३२/७ नरकतिर्यग्गत्यो' सर्वे परिषहा मनुष्यगतावाद्यभगा भवन्ति देवगतौ घातिकर्मोत्थपरिषहैः सह वेदनीयोत्पन्नक्षुत्पिपासावधै सह चतुर्दश भवन्ति। इन्द्रियकायमार्गणयो सर्वे परिषहाः सन्ति वैक्रियकद्वितयस्य देवगतिभगा तिर्यग्मनुष्यापेक्ष्या द्वाविंशति शेषयोगाना वेदादिमार्गणाना च स्वकीयगुणस्थानभङ्गा भवन्ति। =नरक और तिर्यंचगतिमें सब परीषह होती हैं। मनुष्यगतिमें ऊपर कहे अनुसार (गुणस्थानवत्) होती है। देवगतिमें घातीकर्मके उदयसे होनेवाली सात परीषह और वेदनीयकर्मके उदयसे होनेवाला क्षुधा, पिपासा और वध, इस प्रकार चौदह परीषह होती है। इन्द्रिय और कायमार्गणामें सब परीषह होती है। वैक्रियक और वैक्रियकमिश्रमे देवगतिकी अपेक्षा देवगतिके अनुसार और तिर्यंच मनुष्योकी अपेक्षा बाईस होती है। शेष योग मार्गणामें तथा वेदादि सब मार्गणाओंमे अपने-अपने गुणस्थानोकी अपेक्षा लगा लेना चाहिए।

५. एक समयमें एक जीवको परीषहोंका प्रमाण

त.सू./९/१७ एकादयो भाज्या युगपदेकस्मिन्नैकान्नविंशते.।१७। =एक साथ एक आत्मामें उन्नीस तक परीषह विकल्पसे हो सकते है ॥१७॥

स.सि./९/१७ शीतोष्णपरिषहयोरेकः शय्यानिषद्याचर्याणां चान्यतम एव भवति एकस्मिन्नात्मनि। कुत.। विरोधात्। तत्त्रयाणामपगमे युगपदेकात्मनीतरेषा सभवादेकोनविंशतिविकल्पा बोद्धव्या'। =एक आत्मामें शीत और उष्ण परीषहोंमें-से एक, शय्या, निषद्या और चर्या इनमे-से कोई एक परीषह ही होते है, क्योंकि शीत और उष्ण इन दोनोंके तथा शय्या, निषद्या और चर्या इन तीनोके एक साथ होनेमें विरोध आता है। इन तीनोके निकाल देनेपर एक साथ एक आत्मामें इतर परीषह सम्भव होनेसे सब मिलकर उन्नीस परीषह जानना चाहिए। (रा वा/९/१७/२/६१५/२५)।

६. परीषहोंके कारणभूत कर्मोंका निर्देश

त.सू./९/१३-१६ ज्ञानावरणे प्रज्ञाज्ञाने ॥१३॥ दर्शनमोहान्तराययोरदर्शनालाभौ ॥१४॥ चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुरस्कारा' ॥१५॥ वेदनीये शेषा. ॥१६॥ =ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होते है ॥१३॥ दर्शनमोह और अन्तरायके सद्भावमे क्रमसे अदर्शन और अलाभ परीषह होते है ॥१४॥ चारित्रमोहके सद्भावमें नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार परीषह होते है ॥१५॥ बाकीके सब परीषह वेदनीयके सद्भावमें होते है ॥१६॥ (चा.सा./१२९/३)।

*** परीषह आनेपर वैराग्य भावनाओंका भाना भी कथंचित् परीषहजय है।**—दे० अलोभ, आक्रोश व वध परीषह।

७. परीषह जयका कारण व प्रयोजन

त सू/९/८ मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या. परीषहा।

स. सि/९/८/४१७/१३ जिनोपदिष्टान्मार्गादप्रच्यवमानास्तन्मार्गपरिक्रमणपरिचयेन कर्मागमद्वारं संवृण्वन्त औपक्रमिक कर्मफलमनुभवन्त. क्रमेण निर्जीर्णकर्माणो मोक्षमाप्नुवन्ति। =जिनदेवके द्वारा कहे हुए मार्गसे नहीं च्युत होनेवाले, उस मार्गके सतत अभ्यासरूप परिचयके द्वारा कर्मागम द्वारको संवृत करनेवाले तथा औपक्रमिक कर्मफलको अनुभव करनेवाले क्रमसे कर्मोंकी निर्जरा करके मोक्षको प्राप्त होते है।

अन.ध./६/८३ दु खे भिक्षुरुपस्थिते शिवपथाद्भ्रस्यत्यदु.खाश्रितात् तत्तन्मार्गपरिग्रहेण दुरितं रोद्धधु मुमुक्षुर्नवम्। भोक्तुं च प्रतपनक्षुदादिवपुषो द्वाविंशतिं वेदना, स्वस्थो यत्सहते परीषहजय साध्य' स धोरै' परम् ॥८३॥ =संयमी साधु बिना दु'खोका अनुभव किये ही मोक्षमार्गका सेवन करे तो वह उसमें दु खोंके उपस्थित होते ही भ्रष्ट हो सकता है। जो मुमुक्षु पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करनेके लिए आत्मस्वरूपमें स्थित होकर क्षुधादि २२ प्रकारकी वेदनाओंको सहता है, उसीको परीषह विजयी कहते है।

द्र. सं./टी/५७/२२९/४ परीषहजयश्चेति ध्यानहेतव.। =परीषहजय ध्यानका कारण है।

*** परीषहजय भी संयमका एक अंग है**—दे० कायक्लेश।

३. शंका समाधान

१. क्षुदादिको परीषह व परीषहजय कहनेका कारण

भ.आ./मू. व टी./११७१/११५९ सीदुण्हदंसमसयादियाण दिण्णो परिसहाण उरो। सीदादिणिवारणाए गंथे णियदं जहत्तेण ॥११७१॥ क्षुदादिजन्यदु खविषयत्वात् क्षुदादिशब्दानाम्। तेन क्षुत्पिपासाशीतोष्णदशमशकनाग्न्यादीना परीषहवाचो युक्तिर्न विरुध्यते। =शीत, उष्ण इत्यादिको मिटानेवाला वस्त्रादि परिग्रह जिसने नियमसे छोड दिया है, उसने शीत, उष्ण, दश-मशक वगैरह परीषहोंको छाती आगे करके शूर पुरुषके समान जीत लिया है, ऐसा समझना चाहिए ॥११७१॥ क्षुदादिकोसे उत्पन्न होनेवाला दु ख क्षुदादि शब्दोका विषय है, इस वास्ते क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दशमशक, नाग्न्य इत्यादिकोको परीषह कहना अनुचित नही है।

२. केशलोंचको परीषहोंमें क्यों नहीं गिनते

स सि /९/९/४२६/८ केशलुञ्चसंस्काराभ्यामुत्पन्नखेदसहनं मलसामान्यसहनेऽन्तर्भवतीति न पृथगुक्तम्। =केश लुञ्चन या केशोका सस्कार न करनेसे उत्पन्न खेदको सहना होता है, यह मल परीषह सामान्यमें ही अन्तर्भूत है। अत उसको पृथक् नहीं गिनाया है। (रा.वा /९/९/२४/६१२/१)।

* **परीषहजय व कायक्लेशमें अन्तर**—दे० कायक्लेश।

३. अवधि आदि दर्शन परीषहोंका भी निर्देश क्यों नहीं करते

रा. वा./९/९/३१/६१२/३३ नूनमस्मिंस्तद्योग्या गुणा न सन्तीत्येवमादिवचनसहनमवध्यादिदर्शनारीषहजय, तस्योपसख्यानं कर्तव्यमिति, तन्न, किं कारणम्। अज्ञानपरीषहाविरोधात्। तत्कथमिति चेत्। उच्यते—अवध्यादिज्ञानाभावे तत्सहचरितदर्शनाभाव, आदित्यस्य प्रकाशाभावे प्रतापाभाववत्। तस्मादज्ञानपरीषहेऽवरोध। =प्रश्न—अवधिदर्शन आदिके न उत्पन्न होनेपर भी 'इसमें वे गुण नहीं है' आदि रूपसे अवधिदर्शन आदि सम्बन्धी परीषह हो सकती है, अत. उसका निर्देश करना चाहिए था। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि ये दर्शन अपने-अपने ज्ञानोंके सहचारी है अत अज्ञानपरीषहमें ही इनका अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे—सूर्यके प्रकाशके अभावमें प्रताप नहीं होता, उसी तरह अवधिज्ञानके अभावमें अवधिदर्शन नहीं होता। अत अज्ञानपरीषहमें ही उन उन अवधिदर्शनाभाव आदि परीषहोंका अन्तर्भाव है।

४. दसवें आदि गुणस्थानोंमें परीषहोंके निर्देश सम्बन्धी

स सि /९/१०/४२८/८ आह युक्तं तावद्वीतरागच्छद्मस्थे मोहनीयाभावात् तत्कृतवक्ष्यमाणाष्टपरिषहाभावाच्चतुर्दशनियमवचनम्। सूक्ष्मसाम्पराये तु मोहोदयसद्भावात् 'चतुर्दश' इति नियमो नोपपद्यत इति। तदयुक्तम्, सन्मात्रत्वात्। तत्र हि केवलो लोभसंज्वलनकषायोदय सोऽप्यतिसूक्ष्म। ततो वीतरागछद्मस्थकल्पत्वात् 'चतुर्दश' इति नियमस्तत्रापि युज्यते। ननु मोहोदयसहायाभावान्मन्दोदयत्वाच्च क्षुदादिवेदनाभावात्तत्सहनकृतपरिषहव्यपदेशो न युक्तिमवतरति। तन्न। किं कारणम्। शक्तिमात्रस्य विवक्षितत्वात्। सर्वार्थसिद्धिदेवस्य सप्तमपृथिवीगमनसामर्थ्यव्यपदेशवत्। वीतरागछद्मस्थस्य कर्मोदयसद्भावकृतपरीषहव्यपदेशो युक्तिमवतरति। =प्रश्न—वीतराग छद्मस्थके मोहनीयके अभावसे तत्कृत आगे कहे जानेवाले आठ परीषहोंका अभाव होनेसे चौदह परीषहोंके नियमका वचन तो युक्त है, परन्तु सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानमें मोहनीयका उदय होनेसे चौदह परीषह होते है, यह नियम नहीं बनता? उत्तर-यह कहना अयुक्त है, क्योंकि वहाँ मोहनीयकी सत्तामात्र है। वहाँपर केवल लोभ संज्वलनकषायका उदय होता है, इसलिए वीतराग छद्मस्थके समान होनेसे सूक्ष्मसाम्परायमें भी चौदह परीषह होते है, यह नियम बन जाता है। प्रश्न—इन स्थानोंमें (ग्यारहवेंसे आगे) मोहके उदयकी सहायता न होनेसे और मन्द उदय होनेसे क्षुधादि वेदनाका अभाव है, इसलिए इनके कार्यरूपसे 'परीषह' संज्ञा युक्तिको प्राप्त नहीं होती? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ शक्तिमात्र विवक्षित है। जिस प्रकार सर्वार्थसिद्धिके देवके सातवीं पृथ्वीके गमनकी सामर्थ्यका निर्देश करते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी जानना चाहिए। अर्थात् कर्मोदय सद्भावकृत परीषह व्यपदेश हो सकता है। (रा. वा /९/१०/२-३/६१३/१०)।

* **केवलीमें परीषहों सम्बन्धी शंकाएं**—दे० केवली/४।

परोक्ष—प्रमाणके भेदोंमेंसे परोक्ष भी एक है। इन्द्रियों व विचारणा द्वारा जो कुछ भी जाना जाता है वह सब परोक्ष प्रमाण है। छद्मस्थोंको पदार्थ विज्ञानके लिए एकमात्र यही साधन है। स्मृति, तर्क, अनुमान आदि अनेको इसके रूप है। यद्यपि अविशद व इन्द्रियों आदिमें होनेके कारण इसे परोक्ष कहा गया है, परन्तु यह अप्रमाण नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा पदार्थका निश्चय उतना ही दृढ होता है, जितना कि प्रत्यक्षके द्वारा।

१. परोक्ष प्रमाणका लक्षण

१ इन्द्रियसापेक्षज्ञान

प्र. सा /मू /५८ जं परदो विण्णाणं त तु परोक्ख त्ति भणिदमट्ठेसु।५८। =परके द्वारा होनेवाला जो पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है, वह परोक्ष कहा गया है। (प्र सा /मू./४०), (स. सि./१/११/१०१/५), (रा. वा./१/११/७/५२/३०), (प्र. सा /ता. वृ./५८/७६/१२)

रा. वा /१/११/६/५२/२८ उपात्तानुपात्तपरप्राधान्यादवगम परोक्षम्।६। उपात्तानीन्द्रियाणि मनश्च, अनुपात्तं प्रकाशोपदेशादि पर तत्प्राधान्यादवगमः परोक्षम्।…तथा मतिश्रुतावरणक्षयोपशमे सति ज्ञस्वभावस्यात्मन स्वमेवार्थानुपलब्धुमसमर्थस्य पूर्वोक्तप्रत्ययप्रधान ज्ञान परायत्तत्वात्तदुभयं परोक्षमित्युच्यते। =उपात्त-इन्द्रियाँ और मन तथा अनुपात्त-प्रकाश उपदेशादि 'पर' है। परकी प्रधानतासे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है। (स. सा /आ /१३/क. ८), (त. सा /१/१६) (ध. ९/४,१,४५/१४३/५); (ध. १३/५,५,२१/२१२/१); (प्र सा /त. प्र./५५), (गो. जी /जी. प्र /३६९/७९५/८) तथा उसी प्रकार मतिज्ञानावरण और श्रुतज्ञानावरणका क्षयोपशम होनेपर ज्ञस्वभाव परन्तु स्वय पदार्थोको ग्रहण करनेके लिए असमर्थ हुए आत्माके पूर्वोक्त प्रत्ययोंकी प्रधानतासे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान पराधीन होनेसे परोक्ष है। (स सि./१/११/१०१/५), (ध. ९/४,१,४५/१४४/१)।

प्र. सा /त प्र./५८ यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्त करणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धे संस्कारादालोकादेर्वा निमित्ततामुपगमात्स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदन तत् परत प्रादुर्भवत्परोक्षमित्यालक्ष्यते। =निमित्तताको प्राप्त जो परद्रव्यभूत अन्त करण (मन) इन्द्रिय, परोपदेश, उपलब्धि (जाननेकी शक्ति) संस्कार या प्रकाशादिक है, उनके द्वारा होनेवाला स्वविषयभूत पदार्थका ज्ञान परके द्वारा प्रगट होता है, इसलिए परोक्षके रूपमें जाना जाता है। (द्र स./टी /५/१५/१३)।

२. अविशदज्ञान

प मु /२/१ (विशदं प्रत्यक्ष प मु./२/१) परोक्षमितरत्।१। =विशद अर्थात् स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते है। इससे भिन्न अर्थात् अविशदको परोक्षप्रमाण कहते है।

न्या दी /३/१/५१/१ अविशदप्रतिभास परोक्षम्।…यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदो न भवति तत्परोक्षमित्यर्थ। 'अवैशद्यमस्पष्टत्वम्। =अविशद प्रतिभासको परोक्ष कहते है।…जिस ज्ञानका प्रतिभास विशद नहीं है वह परोक्षप्रमाण है। अविशदता अस्पष्टताको कहते है। (स भ. त /४७/१०)

२. परोक्षज्ञानके भेद—१. मति श्रुतकी अपेक्षा

त सू /१/११ आद्ये परोक्षम्।११। =आदिके दो ज्ञान अर्थात् मति और श्रुतज्ञान परोक्ष प्रमाण है। (ध. ९/४,१,४५/१४३/५), (न च. वृ /१७१), (ज प /१३/५३)।

द्र स./टी /५/१५/२ शेषचतुष्टय परोक्षमिति। =शेष कुमति, कुश्रुत, मति और श्रुतज्ञान ये चार परोक्ष है।

२. स्मृति आदिकी अपेक्षा

त. सू./१/१३ मति: स्मृति: संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्। =मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध ये पर्यायवाची नाम है।

न्या सू /मू /१/१/३/९ प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा: प्रमाणानि ।३।

न्या सू /मू /२/२/१/१०६ न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रामाण्यात् ।१। =न्यायदर्शनमें प्रमाण चार होते है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द ।३। प्रमाण चार ही नहीं होते हैं किन्तु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव ये चार और मिलकर आठ प्रमाण है।

प. मु /३/२ प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदं ।२। =वह परोक्षज्ञान प्रत्यक्ष आदिकी सहायतासे होता है और उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद है।२। (स्या. म./२८/३२१/२१), (न्या. दी./३/§३/५३/१)।

स्या म./२८/३२२/५ प्रमाणान्तराणां पुनरर्थापत्त्युपमानसभवप्रातिभैतिह्यादीनामत्रैव अन्तर्भाव.। =अर्थापत्ति, उपमान, सम्भव, प्रातिभ, ऐतिह्य आदिका अन्तर्भाव प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंमें हो जाता है।

३. परोक्षाभासका लक्षण

प मू /६/७ वैशद्ये ऽपि परोक्ष तदाभास मीमासकस्य करणस्य ज्ञानवत्। =परोक्षज्ञानको विशद मानना परोक्षाभास है, जिस प्रकार परोक्षरूपसे अभिमत मीमासकोका इन्द्रियज्ञान विशद होनेमे परोक्षाभास कहा जाता है।

* मति श्रुत ज्ञान—दे० वह वह नाम।

* स्मृति आदि सम्बन्धी विषय—दे० मति ज्ञान/३।

* स्मृति आदिमें परस्पर कारणकार्यभाव —दे० मतिज्ञान/३।

४. मति श्रुत ज्ञानकी परोक्षताका कारण

प्र. सा./मू /५७ परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा। उवलद्धं तेहिं कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ।५७। —वे इन्द्रियाँ परद्रव्य है, उन्हें आत्मस्वभावरूप नहीं कहा है, उनके द्वारा ज्ञात आत्माका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता ।५७।

रा. वा /२/८/१८/१२२/६ अप्रत्यक्षा घटादयोऽग्राहकनिमित्तग्राह्यत्वाद् धूमाद्यनुमिताग्निवत्। अग्राहकमिन्द्रियं तद्विगमेऽपि गृहीतस्मरणात् गवाक्षवत्। =इन्द्रियाँ अग्राहक है, क्योंकि उनके नष्ट हो जानेपर भी स्मृति देखी जाती है। जैसे खिडकी नष्ट हो जानेपर भी उसके द्वारा देखनेवाला स्थिर रहता है उसी प्रकार इन्द्रियोसे देखनेवाला ग्राहक आत्मा स्थिर है, अत अग्राहक निमित्तसे ग्राह्य होनेके कारण इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ परोक्ष ही है।

क पा. १/१,१/§ १६/२४/३ मदि-सुदणाणाणि परोक्खाणि, पाएण तत्थ अविसदभावदसणादो। =मति और श्रुत ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं, क्योकि इनमे प्राय अस्पष्टता देखी जाती है।

प. मु /२/१२ सावरणत्वे करण जन्यत्वे च प्रतिबन्धसंभवात् ।१२। =आवरण सहित और इन्द्रियोंकी सहायतासे होनेवाले ज्ञानका प्रतिबन्ध सभव है। (इसलिए वह परोक्ष है)।

न्या वि /वृ /१/३/६६/२४ इद तु पुनरिन्द्रियज्ञानं परिस्फुटमपि नात्ममात्रापेक्षं तदन्यस्येन्द्रियस्याप्यपेक्षणात्। अत एकाङ्गविकलतया परोक्षमेवेति मतम्। =इन्द्रियज्ञान यद्यपि विशद है परन्तु आत्ममात्रकी अपेक्षासे उत्पन्न न होकर अन्य इन्द्रियादिककी अपेक्षासे उत्पन्न होता है. अत प्रत्यक्षज्ञानके लक्षणमें एकाग विकल होनेसे परोक्ष ही माना गया है।

नि. सा /ता. वृ./१२ मतिश्रुतज्ञानद्वितयमपि परमार्थत: परोक्षम्। व्यवहारत. प्रत्यक्षं च भवति। = मति और श्रुतज्ञान दोनों ही परमार्थसे परोक्ष है और व्यवहारमे प्रत्यक्ष होते है।

प्र. सा./ता. वृ /५५/७३/११ इन्द्रियज्ञानं यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्षं भण्यते, तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव। = इन्द्रियज्ञान यद्यपि व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहा जाता है, तथापि निश्चयनयसे केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष ही है। (न्या. दी./२/§१२/३४/२)।

प. ध./पू /७०० आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसंनिकर्षजस्तस्मात्। भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सर श्रुतं ज्ञानम् ।७००। =मतिज्ञान विषय विषयीके सन्निकर्षसे उत्पन्न होता है, और श्रुतज्ञान भी नियमसे मतिज्ञान पूर्वक होता है, इसलिए वे दोनो ज्ञान परोक्ष कहलाते है ।७००। (प. ध./पू /७०१,७०७)।

* इन्द्रिय ज्ञानकी परोक्षता सम्बन्धी शंका समाधान —दे० श्रुतज्ञान/I/५।

* मतिज्ञानका परमार्थमें कोई मूल्य नहीं —दे० मतिज्ञान/२।

* सम्यग्दर्शनकी कथंचित् परोक्षता —दे० सम्यग्दर्शन/I/३।

५. परोक्षज्ञानको प्रमाणपना कैसे घटित होता है

रा वा./१/११/७/५३/२६ अत्राऽन्ये उपालभन्ते—'परोक्ष प्रमाणं न भवति, प्रमीयतेऽनेनेति हि प्रमाणम्, न च परोक्षेण किंचित्प्रमीयते-परोक्षत्वादेव इति, सोऽनुपालम्भ:। कुत:। अतएव। यस्मात् 'परायत्तं परोक्षम्' इत्युच्यते न 'अनवबोध' इति। =प्रश्न—'जिसके द्वारा निर्णय किया जाये उसे प्रमाण कहते है' इस लक्षणके अनुसार परोक्ष होनेके कारण उससे (इन्द्रिय ज्ञानसे) किसी भी बातका निर्णय नही किया जा सकता, इसलिए परोक्ष नामका कोई प्रमाण नहीं है? उत्तर—यह शंका ठीक नही है, क्योंकि यहाँ परोक्षका अर्थ अज्ञान या अनवबोध नहीं है किन्तु पराधीन ज्ञान है।

परोदय—परोदय बन्धी प्रकृतियाँ—दे० उदय/७।

परोपकार—दे० उपकार।

पर्यंकासन—दे० आसन।

पर्यनुयोज्योपेक्षण निग्रहस्थान—

न्या सू /५/२/२१/३१७ निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रह: पर्यनुयोज्योपेक्षणम्। ।२१। =निग्रहस्थानमें प्राप्त हुएका निग्रह न करना 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक निग्रहस्थान कहाता है। (श्लो वा. ४/न्या./२४४/४१४/२७ में उद्धृत)।

पर्यवसन्न—निश्चय। (स भ त /४/१)।

पर्याप्ति—योनि स्थानमें प्रवेश करते ही जीव वहाँ अपने शरीरके योग्य कुछ पुद्गल वर्गणाओका ग्रहण या आहार करता है। तत्पश्चात् उनके द्वारा क्रमसे शरीर, श्वास, इन्द्रिय, भाषा व मनका निर्माण करता है। यद्यपि स्थूल दृष्टिमे देखनेपर इस कार्यमे बहुत काल लगता है, पर सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर उपरोक्त छहो कार्यकी शक्ति एक अन्तर्मूहूर्तमें पूरी कर लेता है। इन्हे ही उसकी छह पर्याप्तियाँ कहते है। एकेन्द्रियादि जीवोंको उन-उनमें सम्भव चार, पाँच, छह तक पर्याप्तियाँ सम्भव है। जब तक शरीर पर्याप्ति निष्पन्न नहीं होती, तब तक वह निर्वृत्ति अपर्याप्त सज्ञाको प्राप्त होता है, और शरीर पर्याप्ति पूर्ण कर चुकनेपर पर्याप्त कहलाने लगता है, भले अभी इन्द्रिय आदि चार पर्याप्तियाँ पूर्ण न हुई हों। कुछ जीव तो शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही मर जाते है, वे क्षुद्रभवधारी, एक श्वासमें १८ बार जन्म-मरण करनेवाले लब्ध्यपर्याप्त जीव कहलाते है।

१. भेद व लक्षण

१. पर्याप्ति-अपर्याप्ति सामान्यका लक्षण

पं. स /प्रा /१/४३ 'जह पुण्णापुण्णाइं गिह-घड-वत्थाइयाइं दव्वाइं। तह पुण्णापुण्णाओ पज्जत्तियरा मुणेयव्वा।४३। =जिस प्रकार गृह, घट, वस्त्रादिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनो प्रकारके होते है, उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दोनो प्रकारके होते है। पूर्ण जीवोंको पर्याप्त और अपूर्ण जीवोको अपर्याप्त जानना चाहिए। (ध. २/१,१/गा. २१६/४१७), (प. सं /सं /१/१२७), (गो. जी./मू /११८/३२५)।

ध १/१,१,३४/२५७/४ पर्याप्तीनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्तिः। • जीवन-हेतुत्व तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तिनिष्पत्तिमात्रं पर्याप्तिरुच्यते।

ध. १/१,१,७०/३११/६ आहारशरीर• निष्पत्ति पर्याप्ति। =पर्याप्तियों-की अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते है। इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवन-के कारणपनेकी अपेक्षा न करके इन्द्रियादि रूप शक्तिकी पूर्णता-मात्रको पर्याप्ति कहते है।२५७। आहार, शरीरादिकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते है।३११। (ध.१/१,१,४०/२६७/१०)।

का. अ./मू /१३४-१३५ आहार-सरीरिंदियणिस्सासुस्सास-भास-मण-साणं। परिणइ-वावारेसु य जाओ छ च्चेव सत्तीओ।१३४। तस्सेव-कारणाणं पुग्गलखधाण जाहु णिप्पत्ती। सा पज्जत्ती भण्णदि·।१३५। =आहार शरीर, इन्द्रिय आदिके व्यापारोमें अर्थात् प्रवृत्तियोमें परिणमन करनेकी जो शक्तियाँ है, उन शक्तियोंके कारण जो पुद्गल स्कन्ध हैं उन पुद्गल स्कन्धोकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते है।

गो जी /जी. प्र /२/२१/६ परि-समन्तात, आप्ति-पर्याप्ति शक्तिनिष्पत्ति-रित्यर्थ। =चारों तरफसे प्राप्तिको पर्याप्ति कहते है।

२. पर्याप्त-अपर्याप्त नामकर्मके लक्षण

स. सि./८/११/३९२/२ यदुदयाहारादिपर्याप्तिनिर्वृत्तिः तत्पर्याप्तिनाम। ·· षड्विधपर्याप्त्यभावहेतुरपर्याप्तिनाम। =जिसके उदयसे आहार आदि पर्याप्तियोंकी रचना होती है वह पर्याप्ति नामकर्म है। ··जो छह प्रकारकी पर्याप्तियोंके अभावका हेतु है वह अपर्याप्ति नामकर्म है। (रा. वा./८/११/३१,३३/५७९/११); (ध. ६/१,९-१,२८/६२/३); (गो.क./जी.प्र./३३/३०/१,१३)।

ध. १३/५,५,१०१/३६५/७ जस्स कम्मस्सुदएण जीवापज्जत्ता होंति तं कम्म पज्जत्त णाम। जस्स कम्मस्सुदएण जीवा अपज्जत्ता होंति त कम्ममपज्जत्त णाम। =जिस कर्मके उदयसे जीव पर्याप्त होते हैं वह पर्याप्त नामकर्म है। जिस कर्मके उदयसे जीव अपर्याप्त होते हैं वह अपर्याप्त नामकर्म है।

३. पर्याप्तिके भेद

मू. आ./१०४५ आहारे य सरीरे तह इंदिय आणपाण भासाए। होंति मणो वि य कमसो पज्जत्तीओ जिणमादा।१०४५। =आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन पर्याप्ति—ऐसे छह पर्याप्ति कही हैं। (बो पा./मू./३४); (प सं./प्रा./१/४४), (स सि./८/११/३९२/३), (ध. २/१,१/गा २१८/४१७), (रा वा./८/११/३१/५७९/१३), (ध. १/१,१,३४/२५४/४); (ध. १/१,१,७०/३११/६), (गो. जी./मू./११९/३२६), (का अ./मू./१३४-१३५), (पं.स./सं./१/१२८), (गो.क./जी.प्र./३३/३०/१), (गो.जी./जी.प्र./११९/३२६/१०)।

४. छह पर्याप्तियोंके लक्षण

ध. १/१,१,३४/२५४/६ शरीरनामकर्मोदयाव पुद्गलविपाकिन आहारवर्गणागतपुद्गलस्कन्ध समवेतानन्तपरमाणुनिष्पादिता आत्मावष्टब्धक्षेत्रस्था. कर्मस्कन्धसंबन्धतो मूर्तीभूतमात्मानं समवेतत्वेन समाश्रयन्ति। तेषामुपगतानां खलरसपर्यायैः परिणमनशक्तेर्निमित्तानामाप्तिराहारपर्याप्तिः ।·· त खलभाग तिलखलोपममस्थ्यादिस्थिरावयवैस्तिलतैलसमानं रसभाग रसरुधिरवसाशुक्रादिद्रवावयवैरौदारिकादिशरीरत्रयपरिणामशक्त्युपेतानां स्कन्धानामवाप्तिः शरीरपर्याप्तिः । ··योग्यदेशस्थितरूपादिविशिष्टार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरिन्द्रियपर्याप्तिः । · उच्छ्वासनिस्सरणशक्तेर्निमित्तपुद्गलप्रचयावाप्तिरानपानपर्याप्तिः । ··भाषावर्गणायाः स्कन्धाच्चतुर्विधभाषाकारेण परिणमनशक्तेर्निमित्तनोकर्मपुद्गलप्रचयावाप्तिर्भाषापर्याप्तिः । मनोवर्गणा स्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयः अनुभूतार्थशक्तिनिमित्तः मन.पर्याप्तिः द्रव्यमनोऽवष्टम्भेनानुभूतार्थस्मरणशक्तेरुत्पत्तिर्मनःपर्याप्तिर्वा । =शरीर नामकर्मके उदयसे जो परस्पर अनन्त परमाणुओंके सम्बन्धसे उत्पन्न हुए है, और जो आत्मासे व्याप्त आकाश क्षेत्रमे स्थित है, ऐसे पुद्गल विपाकी आहारकवर्गणा सम्बन्धी पुद्गल स्कन्ध, कर्म स्कन्धके सम्बन्धसे कथंचित मूर्तपनेको प्राप्त हुए है, आत्माके साथ समवाय रूपसे सम्बन्धको प्राप्त होते हैं, उन खल भाग और रस भागके भेदसे परिणमन करनेकी शक्तिसे बने हुए आगत पुद्गल स्कन्धोकी प्राप्तिको **आहार पर्याप्ति** कहते है। ·· तिलकी खलीके समान उस खल भागको हड्डी आदि कठिन अवयव रूपसे और तिल तेलके समान रस भागको रस, रुधिर, वसा, वीर्य आदि द्रव अवयव रूपसे परिणमन करनेवाले औदारिकादि तीन शरीरोंकी शक्तिसे युक्त पुद्गल स्कन्धोकी प्राप्तिको **शरीर पर्याप्ति** कहते है। योग्य देशमें स्थित रूपादिसे युक्त पदार्थोंके ग्रहण करने रूप शक्तिकी उत्पत्तिके निमित्त भूत पुद्गल प्रचयकी प्राप्तिको **इन्द्रियपर्याप्ति** कहते है। · उच्छ्वास और नि.श्वासरूप शक्तिकी पूर्णताके निमित्तभूत पुद्गल प्रचयकी प्राप्तिको **आनपान पर्याप्ति** कहते हैं। ··भाषावर्गणाके स्कन्धोंके निमित्तसे चार प्रकारकी भाषा रूपसे परिणमन करनेकी शक्तिके निमित्तभूत नोकर्मपुद्गलप्रचयकी प्राप्तिको **भाषापर्याप्ति** कहते हैं। · अनुभूत अर्थके स्मरण रूप शक्तिके निमित्तभूत मनोवर्गणाके स्कन्धोसे निष्पन्न पुद्गल प्रचयको **मन पर्याप्ति** कहते हैं। अथवा द्रव्यमनके आलम्बनसे अनुभूत अर्थके स्मरणरूप शक्तिकी उत्पत्तिको मनःपर्याप्ति कहते है।

गो. जी./जी. प्र./११९/३२६/१२ अत्र औदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरनामकर्मोदयप्रथमसमयादि कृत्वा तच्छरीरत्रयषट्पर्याप्तिपर्यायपरिणमनयोग्यपुद्गलस्कन्धान् खलरसभागेन परिणमयितुं पर्याप्तिनामकर्मोदयावष्टम्भसंभूतात्मनः शक्तिनिष्पत्तिराहारपर्याप्तिः । तथा परिणतपुद्गलस्कन्धाना खलभागम् अस्थ्यादिस्थिरावयवरूपेण रसभागं रुधिरादिद्रवावयवरूपेण च परिणमयितुं शक्तिनिष्पत्तिः शरीरपर्याप्तिः। आवरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविजृंभितात्मनो योग्यदेशावस्थितरूपादिविषयग्रहणव्यापारे शक्तिनिष्पत्तिर्जातिनामकर्मोदयजनितेन्द्रियपर्याप्तिः । आहारवर्गणायातपुद्गलस्कन्धान् उच्छ्वासनिश्वासरूपेण परिणमयितुं उच्छ्वासनिश्वासनामकर्मोदयजनितशक्तिनिष्पत्तिरुच्छ्वासनिश्वासपर्याप्तिः । स्वरनामकर्मोदयवशात् भाषावर्गणायातपुद्गलस्कन्धान् सत्यासत्योभयानुभयभाषारूपेण परिणमयितुं शक्तिनिष्पत्तिः भाषापर्याप्तिः। मनोवर्गणापुद्गलस्कन्धान् अंगोपांगनामकर्मोदयबलाधानेन द्रव्यमनोरूपेण परिणमयितु तद्द्रव्यमनोबलाधानेन नोइन्द्रियावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषेणगुणदोषविचारानुस्मरणप्रणिधानलक्षणभावमन परिणमनशक्तिनिष्पत्तिर्मनःपर्याप्तिः । =औदारिक, वैक्रियक वा आहारक इनमेंसे किस ही शरीररूप नामकर्मकी प्रकृतिके उदय होनेका प्रथम से लगाकर, जो तीन शरीर और छह पर्याप्ति रूप पर्याय परिणमने योग्य पुद्गल स्कन्धको खलरस भागरूप परिणमावनेकी पर्याप्तिनामा नामकर्मके उदयसे ऐसी शक्ति निपजै-जैसें तिलको पेलकर खल और तैल रूप परिणमावै, तैसे कोई पुद्गलतौं खल रूप परिणमावै कोई पुद्गल रस रूप। ऐसी शक्ति होनेको **आहार पर्याप्ति** कहते हैं। खलरस भागरूप परिणत हुए उन पुद्गल स्कन्धोमें से खलभागको हड्डी, चर्म आदि स्थिर अवयवरूपसे और रसभागको रुधिर, शुक्र इत्यादि रूपसे परिणमानेकी शक्ति होइ, उसको **शरीर पर्याप्ति** कहते हैं। मति श्रुत ज्ञान और चक्षु-अचक्षु दर्शनका आवरण तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न जो आत्माके यथा योग्य द्रव्येन्द्रियका स्थान रूप प्रदेशोंसे वर्णादिकके ग्रहणरूप उपयोगकी शक्ति जातिनामा नामकर्मसे निपजै सो **इन्द्रिय पर्याप्ति** है। आहारक वर्गणारूप पुद्गलस्कन्धोंकी श्वासोश्वास रूप परिणमावनेकी शक्ति होइ, श्वासोश्वास नामकर्मसे निपजै सो **श्वासोश्वास पर्याप्ति** है। स्वरनामकर्मके उदयसे भाषा वर्गणा रूप पुद्गल स्कन्धोंको सत्य, असत्य, उभय, अनुभय भाषारूप परिणमावनेकी शक्तिकी जो निष्पत्ति होइ सो **भाषापर्याप्ति** है। मनोवर्गणा रूप जो पुद्गलस्कन्ध, उनको अंगोपांग नामकर्मके उदयसे द्रव्यमनरूप परिणमावनेकी शक्ति होइ, और उसी द्रव्यमनके आधारसे मनका आवरण अर वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम विशेषसे गुणदोष विचार, अतीतका याद करना, अनुगतमें याद रखना इत्यादि रूप भावमनकी शक्ति होइ उसको **मन पर्याप्ति** कहते हैं।

५. निर्वृति पर्याप्तापर्याप्तके लक्षण

गो जी./मू./१२१/३३१ पज्जत्तस्सय उदये णियणियपज्जत्ति णिट्ठिदा होदि। जाव सरीरमपुण्णं णिव्वत्ति अपुण्णगो भवदि।१२१। =पर्याप्तिनामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियोकी सम्पूर्णताकी शक्तिसे युक्त होते है। जब तक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नही होती, उतने काल तक अर्थात् एक समय कम शरीरपर्याप्ति सम्बन्धी अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त निर्वृत्ति अपर्याप्त कहते है। (अर्था-

पत्तिसे जब शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है तब निवृत्ति पर्याप्त कहते है।१२१।

का. अ./मू./१३६ पज्जत्तिं गिण्हंतो मणु-पज्जत्तिं ण जाव समणोदि। ता णिव्वत्ति-अपुण्ण मण-पुण्णो भण्णदे पुण्णो।१३६। =जीव पर्याप्ति को ग्रहण करते हुए जब तक मनःपर्याप्तिको समाप्त नहीं कर लेता तबतक निर्वृत्त्यपर्याप्त कहा जाता है। और जब मन पर्याप्तिको पूर्ण कर लेता है तब (निर्वृत्ति) पर्याप्त कहा जाता है।

६. पर्याप्त व अपर्याप्त निर्वृतिके लक्षण

ध १४/५,६,२८७/३५२/८ जहण्णाउ अबधो जहण्णियापज्जत्तणिव्वत्ती-णाम भवस्स पढमसमयप्पहुडि जाव जहण्णाउवबंधस्स चरिमसमयो त्ति ताव एसा जहण्णिया णिव्वत्ति त्ति भणिदं होदि। ·· जहण्ण-बधोघेत्तव्वो ण जहण्णं संत। कुदो? जीवणियट्ठाणाणं विसेसा-हियत्तण्णहाणुववत्तीदो (पृ. ३५३/६)।

ध. १४/५,६,६४६/५०४/६ घात खुद्दा भवग्गहणस्सुवरि तत्तो सखेज्जगुणं अद्धाणं गतूण सुहुमणिगोदजीव अपज्जत्ताणं बधेण जहण्ण जं णिसे-यखुद्दा भवग्गहण तस्स जहण्णिया अपज्जत्तणिव्वत्ति त्ति सण्णा।

ध.१४/५,६,६६२/५१६/१० सरीरपज्जतीए पज्जत्तिणिव्वत्ती सरीरनिव्वत्ति-ट्ठाणं णाम। =१. जघन्य आयुबन्धकी जघन्य पर्याप्तिनिर्वृत्ति संज्ञा है। भवके प्रथम समयसे लेकर जघन्य आयुबन्धके अन्तिम समय तक यह जघन्य निर्वृत्ति होती है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। · यहाँ जघन्य बन्ध ग्रहण करना चाहिए जघन्यसत्त्व नहीं, क्योंकि अन्यथा जीवनीय स्थान विशेष अधिक नहीं बनते। २. घात क्षुल्लक भव ग्रहणके ऊपर उससे सख्यातगुणा अध्वान जाकर सूक्ष्म निगोद अपर्याप्त जीवोंके जघन्य निषेक क्षुल्लक भव ग्रहण होता है उसकी जघन्य अपर्याप्त निर्वृत्ति संज्ञा है। ३. शरीरपर्याप्तिकी निवृतिका नाम शरीर निर्वृतिस्थान है।

७. लब्ध्यपर्याप्तका लक्षण

ध १/१,१,४०/२६७/११ अपर्याप्तनामकर्मोदयजनितशक्त्याविर्भावित-वृत्तय. अपर्याप्ता.। =अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई शक्तिसे जिन जीवोकी शरीर पर्याप्ति पूर्ण न करके मरने रूप अवस्था विशेष उत्पन्न हो जाती है, उन्हें अपर्याप्त कहते है।

गो जी /मू /१२२ उदये दु अपुण्णस्स य सगसगपज्जत्तियं ण णिट्ठवदि। अतोमुहूत्तमरणं लद्धिअपज्जत्तगो सादु।१२२। =अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे एकेन्द्रियादि जे जीव अपने-अपने योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न करके उच्छ्वासके अठारहवें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण पावें ते जीव लब्धि अपर्याप्त कहे गये है।

का अ /मू./१३७ उस्सासट्ठारसमे भागे जो मरदि ण य समाणेदि। एक्को वि य पज्जत्ती लद्धि अपुण्णो हवे सो दु।१३७। = जो जीव श्वासके अठारहवें भागमें मर जाता है, एक भी पर्याप्तिको समाप्त नहीं कर पाता, उसे लब्धि अपर्याप्त कहते है।

गो जी /जी. प्र /१२२/३३२/४ लब्ध्वा स्वस्य पर्याप्तिनिष्ठापनयोग्यतया अपर्याप्ता अनिष्पन्ना लब्ध्यपर्याप्ता इति निरुक्ते। =लब्धि अर्थात् अपनी पर्याप्तियोंकी सम्पूर्णताकी योग्यता तीहिकरि अपर्याप्त अर्थात् निष्पन्न न भये ते लब्धि अपर्याप्त कहिए।

८. अतीत पर्याप्तिका लक्षण

ध. २/१,१/४१६/१३ एदासि छण्हमभावो अदीद-पज्जत्ती णाम। =छह पर्याप्तियोंके अभावको अतीत पर्याप्ति कहते है।

२. पर्याप्ति निर्देश व तत्सम्बन्धी शंकाएँ

१. षट् पर्याप्तियोंके प्रतिष्ठापन व निष्ठापन काल सम्बन्धी नियम

१. सामान्य नियम

ध १/१,१,३४/२५४/६ सा (आहारपर्याप्ति) च नान्तर्मुहूर्तमन्तरेण समये-नैकेनैवोपजायते आत्मनोऽक्रमेण तथाविधपरिणामाभावाच्छरीरोपा-दानप्रथमसमयादारभ्यान्तर्मुहूर्तेनाहारपर्याप्तिर्निष्पद्यत इति यावत्। आहारपर्याप्तेः पश्चादन्तर्मुहूर्तेन निष्पद्यते।·· सापि ततः पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते।· एपापि तस्मादन्तर्मुहूर्तकाले समतीते भवेत। एपापि (भाषापर्याप्ति. अपि) पश्चादन्तर्मुहूर्तादुपजायते।·· एतासा प्रारम्भोऽक्रमेण जन्मसमयादारभ्य तासां सत्त्वाभ्युपगमात्। निष्पत्तिस्तु पुनः क्रमेण।=वह आहार पर्याप्ति अन्तर्मुहूर्तके बिना केवल एक समयमें उत्पन्न नहीं हो जाती है, क्योंकि आत्माका एक साथ आहारपर्याप्ति रूपसे परिणमन नहीं हो सकता है। इसलिए शरीरको ग्रहण करनेके प्रथम समयमे लेकर एक अन्तर्मुहूर्तमें आहारपर्याप्तिपूर्ण होती है। वह शरीर पर्याप्ति आहार पर्याप्तिके पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमें पूर्ण होती है। ·यह इन्द्रियपर्याप्ति भी शरीरपर्याप्ति-के पश्चात् एक अन्तर्मुहूर्तमे पूर्ण होती है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति भी इन्द्रियपर्याप्तिके एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है। भाषा पर्याप्ति भी आनपान पर्याप्तिके एक अन्तर्मुहूर्त पश्चात् पूर्ण होती है···इन छहों पर्याप्तियोका प्रारम्भ युगपत् होता है, क्योंकि जन्म समयसे लेकर ही इनका अस्तित्व पाया जाता है। परन्तु पूर्णता क्रम-से होती है। (गो. जी /मू. व. जी. प्र /१२०/३२८)।

२. गतिकी अपेक्षा

मू. आ /१०४८ पज्जत्तीपज्जत्ता भिण्णमुहुत्तेण होंति णायव्वा। अणु-समयं पज्जत्ती सव्वेसिं चोववादीण।१०४८। =मनुष्य तिर्यंच जीव पर्याप्तियोंकर पूर्ण अन्तर्मुहूर्तमें होते हैं ऐसा जानना। और जो देव नारकी हे उन सबके समय-समय प्रति पूर्णता होती है।१०४८।

ति प./अधिकार/गाथा न. पावेण णिरय बिले जादूणं ता मुहुत्तगमेत्ते। छप्पज्जत्ती पाविय आकस्सिय भयजुदो होदि।२/११३। उप्पज्जते भवणे उववादपुरे महारिहे सयणे। पावंति छपज्जत्तिं जादा अंतो-मुहुत्तेण।३/२०७। जायंते सुरलोए उववादपुरे महारिहे सयणे। जादा य मुहुत्तेण छप्पज्जत्तीओ पावंति।८/५६७। =नारकी जीव · उत्पन्न होकर एक अन्तर्मुहूर्त कालमें छह पर्याप्तियोंको पूर्ण कर आकस्मिक भयसे युक्त होता है।(२/३१३)। भवनवासियोंके भवनमें (देव) उत्पन्न होनेके पश्चात् अन्तर्मुहूर्तमें ही छह पर्याप्तियोंको प्राप्त कर लेते है।(३।२०६)। देव सुरलोकके भीतर एक मुहूर्तमें ही छह पर्याप्तियोको प्राप्त कर लेते है।(८।५६८)।

२. कर्मोदयके कारण पर्याप्त व अपर्याप्त संज्ञा

ध. ३/१,२,७७/३११/२ एत्थ अपज्जत्तवयणेण अपज्जत्तणामकम्मोदय-सहिदजीवा घेत्तव्वा। अण्णहा पज्जत्तणामकम्मोदयसहितणिव्वत्ति अपज्जत्ताण पि अपज्जत्तवयणेण गहणप्पसगादो। एव पज्जत्ता इदि वुत्ते पज्जत्तणामकम्मोदयसहिदजीवा घेत्तव्वा। अण्णहा पज्जत्तणाम-कम्मोदयसहिद णिव्वत्तिअपज्जत्ताणं गहणाणुववत्तीदो। =यहाँ सूत्रमें अपर्याप्त पदसे अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त जीवोंका ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त निर्वृत्त्यपर्याप्त जीवोंका भी अपर्याप्त इस वचनसे ग्रहण प्राप्त हो जायेगा। इसी प्रकार पर्याप्त ऐसा कहनेपर पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त जीवोका ग्रहण करना चाहिए। अन्यथा पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त निर्वृत्त्यपर्याप्त जीवोंका ग्रहण नहीं होगा।

३. कितनी पर्याप्ति पूर्ण होनेपर पर्याप्त कहलाये

ध. १/१,१,७६/३१५/१० किमेकया पर्याप्त्या निष्पन्न उत साकल्येन निष्पन्न इति? शरीरपर्याप्त्या निष्पन्नः पर्याप्त इति भण्यते। =प्रश्न—(एकेन्द्रियादि जीव अपने-अपने योग्य छह, पाँच, चार पर्याप्तियोंमेंसे) किसी एक पर्याप्तिमे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है या सम्पूर्ण पर्याप्तियोसे पूर्णताको प्राप्त हुआ पर्याप्तक कहलाता है? उत्तर—सभी जीव शरीर पर्याप्तिके निष्पन्न होनेपर पर्याप्तक कहे जाते है।

४. विग्रह गतिमें पर्याप्त कहें या अपर्याप्त

ध. १/१,१,६४/३३४/४ अथ स्याद्विग्रहगतौ कार्मणशरीराणा न पर्याप्तिस्तथा पर्याप्तीना षण्णा निष्पत्तेरभावात्। न अपर्याप्तास्ते आरम्भात्प्रभृति आ उपरमादन्तरालावस्थायामपर्याप्तिव्यपदेशात्। न चानारम्भकस्य स व्यपदेश. अतिप्रसङ्गात्। ततस्तृतीयमप्यवस्थान्तर वक्तव्यमिति नैष दोष., तेषामपर्याप्तेष्वन्तर्भावात्। नातिप्रसङ्गोऽपि कार्मणशरीरस्थितप्राणिनामिवापर्याप्तकै सह सामर्थ्याभावोपपादैकान्तानुवृद्धियोगैर्गत्यायु प्रथमद्वित्रिसमयवर्तनेन च शेषप्राणिना प्रत्यासत्तेरभावात्। ततोऽशेषसंसारिणामवस्थाद्वयमेव नापरमिति स्थितम्। =प्रश्न—विग्रह गतिमें कार्मण शरीर होता है, यह बात ठीक है। किन्तु वहाँपर कार्मणशरीरवालोंके पर्याप्ति नही पायी जाती है, क्योकि, विग्रहगतिके कालमें छह पर्याप्तियोकी निष्पत्ति नहीं होती है? उसी प्रकार विग्रहगतिमें वे अपर्याप्त भी नही हो सकते है, क्योंकि, पर्याप्तियोके आरम्भसे लेकर समाप्ति पर्यन्त मध्यकी अवस्थामें अपर्याप्ति यह सज्ञा दी गयी है। परन्तु जिन्होने पर्याप्तियोंका आरम्भ ही नही किया है ऐसे विग्रह गति सम्बन्धी एक दो और तीन समयवर्ती जीवोको अपर्याप्त सज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है, क्योकि ऐसा मान लेनेपर अतिप्रसंग दोष आता है इसलिए यहाँ पर्याप्त और अपर्याप्तसे भिन्न कोई तीसरी अवस्था ही कहना चाहिए। उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि ऐसे जीवोका अपर्याप्तोमें ही अन्तर्भाव किया है, इससे अतिप्रसग दोष भी नही आता है, क्योकि कार्मण शरीरमें स्थित जीवोके अपर्याप्तकोंके साथ सामर्थ्याभाव, उपपादयोगस्थान, एकान्तवृद्धियोगस्थान और गति तथा आयु सम्बन्धी प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें होनेवाली अवस्थाके द्वारा जितनी समीपता पायी जाती है, उतनी शेष प्राणियोके नहीं पायी जाती है। अत: सम्पूर्ण प्राणियोकी दो अवस्थाएँ ही होती है। इनमे भिन्न कोई तीसरी अवस्था नही होती है।

५. निवृत्ति अपर्याप्तको पर्याप्त कैसे कहते हो

ध. १/१,१,३४/२५४/१ तदुदय (पर्याप्तिनामकर्मोदय) वतामनिष्पणशरीराणा कथं पर्याप्तव्यपदेशो घटत इति चेन्न, नियमेन शरीरनिष्पादकाना भाविनि भूतवदुपचारतस्तदविरोधात् पर्याप्तनामकर्मोदयसहचराद्वा। =प्रश्न—पर्याप्त नामकर्मोदयमे युक्त होते हुए भी जब तक शरीर निष्पन्न नही हुआ है तबतक उन्हे (निर्वृत्ति अपर्याप्त जीवोको) पर्याप्त कैसे कह सकते है? उत्तर — नहीं, क्योकि, नियममे शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवोके, होनेवाले कार्यमें यह कार्य हो गया, इस प्रकार उपचार कर लेनेसे पर्याप्त संज्ञा कर लेनेमें कोई विरोध नही आता है। अथवा, पर्याप्त नामकर्मके उदयसे युक्त होनेके कारण पर्याप्त संज्ञा दी गयी है।

६. इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जानेपर भी बाह्यार्थका ग्रहण क्यों नहीं होता

ध. १/१,१,३४/२५५/५ न चेन्द्रियनिष्पत्तौ सत्यामपि तस्मिन् क्षणे बाह्यार्थविषयविज्ञानमुत्पद्यते तदा तदुपकरणाभावात्। = इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जानेपर भी उसी समय बाह्य पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि उस समय उसके उपकरण रूप द्रव्येन्द्रिय नहीं पायी जाती है।

७. पर्याप्ति व प्राणोंमें अन्तर

१. सामान्य निर्देश

ध. १/१,१,३४/२५६-२५७/२ पर्याप्तिप्राणयो: को भेद इति चेन्न, अनयोर्हिमवद्विन्ध्ययोरिव भेदोपलम्भात्। यत आहारशरीरेन्द्रियानापानभाषामन.शक्तीना निष्पत्ते: कारणं पर्याप्तिः। प्राणीति एभिरात्मेति प्राणाः पञ्चेन्द्रियमनोवाक्कायानापानायूंषि इति।२५६। पर्याप्तिप्राणाना नाम्नि विप्रत्तिपत्तिर्न वस्तुनि इति चेन्न, कार्यकारणयोर्भेदात्, पर्याप्तिष्वायुषोऽसत्त्वान्मनोवागुच्छ्वासप्राणानामपर्याप्तिकालेऽसत्त्वाच्च तयोर्भेदात्। तत्पर्याप्तियोऽप्यपर्याप्तकालेन सन्तीति तत्र तदसत्त्वमिति चेन्न, पर्याप्तीनामर्धनिष्पन्नावस्था अपर्याप्ति:, ततोऽस्ति तेषा भेद इति। अथवा जीवनहेतुत्वं तत्स्थमनपेक्ष्य शक्तेर्निष्पत्तिमात्र पर्याप्तिरुच्यते, जीवनहेतव. पुन: प्राणा इति तयोर्भेदः। =प्रश्न—पर्याप्ति और प्राणमें क्या भेद है? उत्तर—नही, क्योंकि, इनमें हिमवान और विन्ध्याचलके समान भेद पाया जाता है। आहार, शरीर, इन्द्रिय भाषा और मनरूप शक्तियोंकी पूर्णताके कारणको पर्याप्ति कहते है। और जिनके द्वारा आत्मा जीवन सज्ञाको प्राप्त होता है उन्हे प्राण कहते है, यही इन दोनोंमें अन्तर है।२५६। प्रश्न—पर्याप्ति और प्राणके नाममें अर्थात् कहने मात्रमें अन्तर है, वस्तुमें कोई विवाद नहीं है, इसलिए दोनोका तात्पर्य एक ही मानना चाहिए? उत्तर—नही, क्योंकि कार्य कारणके भेदसे उन दोनोंमें भेद पाया जाता है, तथा पर्याप्तियोंमें आयुका सद्भाव नही होनेसे और मन, वचन, बल तथा उच्छ्वास इन प्राणोके अपर्याप्त अवस्थामें नहीं पाये जानेसे भी पर्याप्ति और प्राणोंमें भेद समझना चाहिए। प्रश्न—वे पर्याप्तियाँ भी अपर्याप्त कालमें नहीं पायी जाती है, इससे अपर्याप्त कालमें उनका (प्राणोका) सद्भाव नहीं रहेगा? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अपर्याप्त कालमें अपर्याप्त रूपसे उनका (प्राणोका) सद्भाव पाया जाता है। प्रश्न—अपर्याप्त रूपसे इसका तात्पर्य क्या है? उत्तर—पर्याप्तियोंकी अपूर्णताको अपर्याप्ति कहते है, इसलिए पर्याप्ति, अपर्याप्ति और प्राण इनमें भेद सिद्ध हो जाता है। अथवा इन्द्रियादिमें विद्यमान जीवनके कारणपनेकी अपेक्षा न करके इन्द्रियादि रूप शक्तिकी पूर्णता मात्रको पर्याप्ति कहते हैं और जीवनके कारण है उन्हें प्राण कहते है। इस प्रकार इन दोनोंमें भेद समझना चाहिए। (का. अ./टी/१४१/८०/१); (गो. जी./मं प्र/३४१/३४४/१४)।

२. भिन्न-भिन्न पर्याप्तियोंकी अपेक्षा विशेष निर्देश

ध. २/१,१/४१२/४ न (एतेषां इन्द्रियप्राणाणा) इन्द्रियपर्याप्तावन्तर्भाव, चक्षुरिन्द्रियाद्यावरणक्षयोपशमलक्षणेन्द्रियाणा क्षयोपशमापेक्षया बाह्यार्थग्रहणशक्त्युत्पत्तिनिमित्तपुद्गलप्रचयस्य चैकत्वविरोधात्। न च मनोबलं मन पर्याप्तावन्तर्भवति; मनोवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयस्य तस्मादुत्पन्नात्मबलस्य चैकत्वविरोधात्। नापि वाग्बलं भाषापर्याप्तावन्तर्भवति; आहारवर्गणास्कन्धनिष्पन्नपुद्गलप्रचयस्य तस्मादुत्पन्नाया: भाषावर्गणास्कन्धानां श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यपर्यायेण परिणमनशक्तेश्च साम्याभावात्। नापि कायबल शरीरपर्याप्तावन्तर्भवति; वीर्यान्तरायजनितक्षयोपशमस्य खलरसभागनिमित्तशक्तिनिबन्धनपुद्गलप्रचयस्य चैकत्वाभावात्। तथोच्छ्वासनिश्वासप्राणपर्याप्तियो: कार्यकारणयोरात्मपुद्गलोपादानयोर्भेदोऽभिधातव्य इति। =उक्त (प्राणो सम्बन्धी) पाँचो इन्द्रियोका इन्द्रिय पर्याप्तिमे भी अन्तर्भाव नही होता है, क्योकि, चक्षु इन्द्रिय आदिको आवरण करनेवाले कर्मोके क्षयोपशम स्वरूप

इन्द्रियोंको और क्षयोपशमकी अपेक्षा बाह्य पदार्थोंको ग्रहण करनेकी शक्तिके उत्पन्न करनेमें निमित्तभूत पुद्गलोंके प्रचयको एक मान लेनेमें विरोध आता है। उसी प्रकार मनोबलका मनःपर्याप्तिमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि मनोवर्गणाके स्कन्धोंसे उत्पन्न हुए पुद्गल प्रचयको और उससे उत्पन्न हुए आत्मबल (मनोबल) को एक माननेमें विरोध आता है। तथा वचन बल भी भाषा पर्याप्तिमें अन्तर्भूत नहीं होता है, क्योंकि आहार वर्गणाके स्कन्धोंसे उत्पन्न हुए पुद्गलप्रचयका और उससे उत्पन्न हुई भाषा वर्गणाके स्कन्धोंका श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा ग्रहण करने योग्य पर्यायसे परिणमन करने रूप शक्तिका परस्पर समानताका अभाव है। तथा कायबलका भी शरीर पर्याप्तिमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि, वीर्यान्तरायके उदयाभाव और उपशमसे उत्पन्न हुए क्षयोपशमकी और खलरस भागकी निमित्तभूत शक्तिके कारण पुद्गल प्रचयकी एकता नहीं पायी जाती है। इसी प्रकार उच्छ्वास, निश्वास प्राण कार्य है और आत्मोपादानकारणक है तथा उच्छ्वास निःश्वास पर्याप्ति कारण है और पुद्गलोपादान निमित्तक है। अतः इन दोनोंमें भेद समझ लेना चाहिए। (गो. जी./जी. प्र./१२९/३४१/११)।

३. पर्याप्तापर्याप्तका स्वामित्व व तत्संबन्धी शंकाएँ

१. किस जीवको कितनी पर्याप्तियाँ सम्भव हैं

प. खं. १/१,१/सू.-७१-७५ सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव असजदसम्माइट्ठि त्ति ।७१। पंच पज्जत्तीओ पंच अपज्जत्तीओ ।७२। बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति ।७३। चत्तारि पज्जत्तीओ चत्तारि अपज्जत्तीओ ।७४। एइंदियाण ।७५। =सभी पर्याप्तियाँ (छह पर्याप्तियाँ) मिथ्यादृष्टिसे लेकर असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान तक होती हैं ।७१। पाँच पर्याप्तियाँ और पाँच अपर्याप्तियाँ होती हैं ।७२। वे पाँच पर्याप्तियाँ द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रियपर्यन्त होती हैं ।७३। चार पर्याप्तियाँ और चार अपर्याप्तियाँ होती हैं ।७४। उक्त चारों पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवोंके होती हैं। ।७५। (मू. आ./१०४६-१०४७)।

ध. २/१,१/४१६/८ एदाओ छ पज्जत्तीओ सण्णि पज्जत्ताण। एदेसिं चेव अपज्जत्तकाले एदाओ चेव असमत्ताओ छ अपज्जत्तीओ भवंति। मणपज्जत्तीए विणा एदाओ चेव पंच पज्जत्तीओ असण्णिपंचिंदिय-पज्जत्तप्पहुडि जाव बीइंदिय-पज्जत्ताण भवंति। तेसिं चेव अपज्जत्ताण एदाओ चेव असंपुण्णाओ पंच अपज्जत्तीओ वुच्चंति। एदाओ चेव-भासा-मणपज्जत्तीहि विणा चत्तारि पज्जत्तीओ एइंदिय-पज्जत्ताण भवंति। एदेसिं चेव अपज्जत्तकाले एदाओ चेव असंपुण्णाओ चत्तारि अपज्जत्तीओ भवंति। एदासिं छण्हमभावो अदीद-पज्जत्तीणाम्। =छहों पर्याप्तियाँ संज्ञी-पर्याप्तके होती हैं। इन्हीं संज्ञी जीवोंके अपर्याप्तकालमें पूर्णताको प्राप्त नहीं हुई ये ही छह अपर्याप्तियाँ होती हैं। मन पर्याप्तिके बिना उक्त पाँचों ही पर्याप्तियाँ असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तोंसे लेकर द्वीन्द्रिय पर्याप्तक जीवों तक होती हैं। अपर्याप्तक अवस्थाको प्राप्त उन्हीं जीवोंके अपूर्णताको प्राप्त वे ही पाँच अपर्याप्तियाँ होती हैं। भाषा पर्याप्ति और मनपर्याप्तिके बिना ये चार पर्याप्तियाँ एकेन्द्रिय जीवोंके होती हैं। इन्हीं एकेन्द्रिय जीवोंके अपर्याप्त कालमें अपूर्णताको प्राप्त ये ही चार अपर्याप्तियाँ होती हैं। तथा इन छह पर्याप्तियोंके अभावको अतीत पर्याप्ति कहते हैं।

२. अपर्याप्तोंको सम्यक्त्व उत्पन्न क्यों नहीं होता

ध. ६/१,९,८,११/४/४ एत्थवि तं चेव कारण। को अच्चताभावकरणपरिणामाभावो। =यहाँ अर्थात् अपर्याप्तकोंमें भी पूर्वोक्त प्रतिषेध रूप कारण होनेसे प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका अत्यंताभाव है। प्रश्न—अत्यन्ताभाव क्या है? उत्तर—करणपरिणामोंका अभाव ही प्रकृतमें अत्यन्ताभाव कहा गया है।

पर्याप्तिकाल—दे० काल।

पर्याय—पर्यायका वास्तविक अर्थ वस्तुका अंश है। ध्रुव अन्वयी या सहभूत तथा क्षणिक व्यतिरेकी या क्रमभावीके भेदसे वे अंश दो प्रकारके होते हैं। अन्वयीको गुण और व्यतिरेकीको पर्याय कहते हैं। वे गुणके विशेष परिणमनरूप होती हैं। अंशकी अपेक्षा यद्यपि दोनों ही अंश पर्याय हैं, पर रूढिसे केवल व्यतिरेकी अंशको ही पर्याय कहना प्रसिद्ध है। वह पर्याय भी दो प्रकारकी होती है—अर्थ व व्यंजन। अर्थपर्याय तो छहों द्रव्योंमें समान रूपसे होनेवाले क्षणस्थायी सूक्ष्म परिणमनको कहते हैं। व्यंजन पर्याय जीव व पुद्गलकी संयोगी अवस्थाओंको कहते हैं। अथवा भावात्मक पर्यायोंको अर्थपर्याय और प्रदेशात्मक आकारोंको व्यंजनपर्याय कहते हैं। दोनों ही स्वभाव व विभावके भेदसे दो प्रकारकी होती हैं। शुद्ध द्रव्य व गुणोंकी पर्याय स्वाभाविक और अशुद्ध द्रव्य व गुणोंकी विभाविक होती है। इन ध्रुव व क्षणिक दोनों अंशोंसे ही उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप वस्तुकी अर्थ क्रिया सिद्ध होती है।

१. भेद व लक्षण

१. पर्याय सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./१/३३/१/९५/६ परि समन्तादाय. पर्याय'। =जो सर्व ओरसे भेदको प्राप्त करे सो पर्याय है। (ध. १/१,१,१/८४/१); (क. पा.१/१, १३-१४/§१८१/२१७/१), (नि. सा./ता. वृ १४)।

आ. प /६ स्वभावविभावरूपतया याति पर्येति परिणमतीति पर्याय इति पर्यायस्य व्युत्पत्ति'। =जो स्वभाव विभाव रूपसे गमन करती है पर्येति अर्थात् परिणमन करती है वह पर्याय है। यह पर्यायकी व्युत्पत्ति है। (न. च /श्रुत/पृ० ५७)

२ द्रव्याश या वस्तु विशेषके अर्थमें

स. सि./१/३३/१४१/१ पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थ.। =पर्यायका अर्थ-विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है।

रा वा /१/२९/४/८९/४ तस्य मिथो भवन प्रति विरोध्यविरोधिना धर्माणामुपात्तानुपात्तहेतुकाना शब्दान्तरात्मलाभनिमित्तत्वाइ अर्पित-व्यवहारविषयोऽवस्थाविशेष' पर्याय. ।४। =स्वाभाविक या नैमित्तिक विरोधी या अविरोधी धर्मोमें अमुक शब्द व्यवहारके लिए विवक्षित द्रव्यकी अवस्था विशेषको पर्याय कहते है।

ध ९/४,१,४५/१७०/२ एष एव सदादिरविभागप्रतिच्छेदनपर्यन्त सग्रह-प्रस्तार' क्षणिकत्वेन विवक्षित. वाचकभेदेन च भेदमापन्न विशेष-विस्तार पर्याय । =सबको आदि लेकर अविभाग प्रतिच्छेद पर्यन्त यही संग्रह प्रस्तार क्षणिक रूपसे विवक्षित व शब्द भेदसे भेदको प्राप्त हुआ विशेष प्रस्तार या पर्याय है।

स सा./आ./३४५-३४८ क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानाम्। =वृत्त्यशों अर्थात् पर्यायोका क्षणिकत्व होनेपर भी—।

पं. ध./पू /२६,११७ पर्यायाणामेतद्धर्म यत्त्वंशकल्पनं द्रव्ये ।२६। म च परिणामोऽवस्था तेषामेव (गुणानामेव)।११७। =द्रव्यमें जो अंश कल्पना की जाती है यही तो पर्यायोका स्वरूप है।२६। परिणमन गुणोंकी ही अवस्था है। अर्थात् गुणोंकी प्रतिसमय होनेवाली अवस्थाका नाम पर्याय है।

३. द्रव्य विकारके अर्थमें

त सू./५/४२ तद्भाव परिणाम' ।४२। =उसका होना अर्थात् प्रतिसमय बदलते रहना परिणाम है। (अर्थात् गुणोके परिणमनको पर्याय कहते है।)

स. सि./५/३८/३०६-३१०/७ दव्व विकारो हि पज्जवो भणिदो। तेषां विकारा विशेषात्मना भिद्यमाना. पर्याया । =१ द्रव्यके विकारको पर्याय कहते है। २. द्रव्यके विकार विशेष रूपसे भेदको प्राप्त होते हैं इसलिए वे पर्याय कहलाते हैं। (न. च. वृ /१७)।

न. च /श्रुत/पृ. ५७ सामान्यविशेषगुणा एकस्मिन् धर्मणि वस्तुत्व-निष्पादकास्तेषा परिणाम' पर्याय । =सामान्य विशेषात्मक गुण एक द्रव्यमें वस्तुत्वके बतलानेवाले है उनका परिणाम पर्याय है।

४. पर्यायके एकार्थवाची नाम

स सि /१/३३/१४१ पर्यायो विशेषोऽपवादो व्यावृत्तिरित्यर्थः। =पर्यायका अर्थ विशेष, अपवाद और व्यावृत्ति है।

गो. जी /मू./५७२/१०१६ ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो ।५७२। =व्यवहार, विकल्प, भेद और पर्याय ये सब एकार्थ है ।५७२।

स म /२३/२७२/११ पर्यय' पर्यव पर्याय इत्यनर्थान्तरम्। =पर्यय, पर्यव और पर्याय ये एकार्थ वाची है।

प. ध /पू./६० अपि चाश' पर्यायो भागो हारोविधा प्रकारश्च। भेदश्छेदो भग शब्दाश्चैकार्थवाचका एते ।६०। =अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार तथा भेद, छेद और भग ये सब एक ही अर्थके वाचक हैं ।६०।

२. पर्यायके दो भेद

१. सहभावी व क्रमभावी

श्लो वा./४/१/३३/६०/२४५/१ य पर्याय स द्विविध क्रमभावी सहभावी चेति। =जो पर्याय है वह क्रमभावी और सहभावी इस ढंगसे दो प्रकार है।

२ द्रव्य व गुण पर्याय

प्र. सा./त प्र./९३ पर्यायास्तु द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि। =पर्याय गुणात्मक भी है और द्रव्यात्मक भी। (पं. ध./पू./२५, ६२-६३,१३५)।

पं. का /ता. वृ./१६/३५/१२ द्विधा पर्याया द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च। =पर्याय दो प्रकारकी होती है—द्रव्य पर्याय और गुणपर्याय। (प. ध /पू /११२)।

३. अर्थ पर्याय व व्यंजन पर्याय

प का /ता वृ /१६/३६/८ अथवा द्वितीयप्रकारेणार्थव्यजनपर्यायरूपेण द्विधा पर्याया भवन्ति। =अथवा दूसरे प्रकारसे अर्थपर्याय व व्यञ्जन-पर्यायरूपसे पर्याय दो प्रकारकी होती है। (गो. जी./मू /५८१) (न्या दी./३/§७९/१२०)।

४. स्वभाव पर्याय व विभाव पर्याय

न. च. वृ /१७-१९ पज्जयं द्विविध. ।१७। सब्भाव सुविहारं दव्वाण पज्जय जिणुद्दिट्ठं।१८। दव्वगुणाण सहावा पज्जायमतह विहावदो णेग ।१९। =पर्याय दो प्रकारकी होती है—स्वभाव व विभाव। तहाँ द्रव्य व गुण दोनोंकी ही पर्याय स्वभाव न विभावके भेदसे दो-दो प्रकारकी जाननी चाहिए। (प. का /ता वृ /१६/३६/१६)।

आ. प./३ पर्यायास्ते द्वेधा स्वभावविभावपर्यायभेदात्। विभावद्रव्य-व्यंजनपर्याय विभावगुणव्यंजनपर्याय स्वभावद्रव्यव्यंजनपर्याय: ...स्वभावगुणव्यंजनपर्याय.। =पर्याय दो प्रकारकी होती है—स्वभाव व विभाव। ये दोनों भी दो-दो प्रकारकी होती है यथा—विभाव-द्रव्य व्यंजनपर्याय, विभावगुण व्यंजनपर्याय, स्वभाव द्रव्य-व्यंजन पर्याय व स्वभाव गुण व्यंजन पर्याय। (प प्र./टी./१/५७)।

प्र.सा./त प्र /९३ द्रव्यपर्याय । स द्विविध, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च। ..गुणपर्याय । सोऽपि द्विविध स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च। =द्रव्य पर्याय दो प्रकारकी होती है—समानजातीय और असमान जातीय। गुणपर्याय दो प्रकारका है—स्वभाव पर्याय व विभाव पर्याय। (प. का /ता.वृ./१६/३५/१३)।

५. कारण शुद्ध पर्याय व कार्य शुद्ध पर्याय

नि सा./ता.वृ.१५ स्वभावविभावपर्यायाणां मध्ये स्वभावपर्यायस्तावत् द्विप्रकारेणोच्यते। कारणशुद्धपर्याय कार्यशुद्धपर्यायश्चेति। =स्वभाव पर्यायों व विभाव पर्यायोंके बीच प्रथम स्वभाव पर्याय दो प्रकारसे कही जाती है—कारण शुद्धपर्याय, और कार्यशुद्धपर्याय।

३. द्रव्य पर्याय सामान्यका लक्षण

प्र.सा /त प्र /९२ तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्याय.। =अनेक द्रव्यात्मक एकताकी प्रतिपत्तिकी कारणभूत द्रव्य पर्याय है। (प का./ता वृ /१६/३५/१२)।

प.ध /पू /१३५ यतरे प्रदेशभागास्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना ।।१३५।। =द्रव्यके जितने प्रदेश रूप अश है, उतने वे सब नामसे द्रव्यपर्याय हैं।

४. समान व असमान जातीय द्रव्यपर्यायका लक्षण

प्र.सा /त.प्र./९३ तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्वयणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि। =समानजातीय वह है—जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्विअणुक त्रिअणुक, इत्यादि, असमानजातीय वह है—जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि।

प्र.सा /त प्र /५२ स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया सभावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मक पर्याय ।· जीवस्य पुद्गले सस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमान. सभाव्यत एव। =स्वलक्षण भूत स्वरूपास्तित्वसे निश्चित अन्य अर्थमें विशिष्ट (भिन्न-भिन्न) रूपसे उत्पन्न होता हुआ अर्थ (असमान जातीय) अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है। .. जो कि जीवकी पुद्गलमें सस्थानादिमे विशिष्टतया उत्पन्न होती हुई अनुभवमें आती है।

प.का./ता.वृ./१६/३५/१४ द्वे त्रीणि वा चत्वारीत्यादिपरमाणुपुद्गलद्रव्याणि मिलित्वा स्कन्धा भवन्तीत्यचेतनस्यापरेणाचेतनेन सबन्धात्समानजातीयो भण्यते। असमानजातीय कथ्यते-जीवस्य भवान्तरगतस्य शरीरनोकर्मपुद्गलेन सह मनुष्यदेवादिपर्यायोत्पत्तिचेतन-जीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्येण सह मेलापकादसमानजातीय: द्रव्य-पर्यायो भण्यते। =दो, तीन या चार इत्यादि परमाणु रूप पुद्गल द्रव्य मिलकर स्कन्ध बनते हैं, तो यह एक अचेतनकी दूसरे अचेतन द्रव्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाली समानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है। अब असमान जातीय द्रव्य पर्याय कहते हैं—भवान्तरको प्राप्त हुए जीवके शरीर नोकर्म रूप पुद्गलके साथ मनुष्य, देवादि पर्याय रूप जो उत्पत्ति है वह चेतन जीवकी अचेतन पुद्गल द्रव्यके साथ मेलसे होनेके कारण असमानजातीय द्रव्य पर्याय कही जाती है।

५. गुणपर्याय सामान्यका लक्षण

प्र.सा./त.प्र./९३ गुणद्वारेणायतानेक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्याय ।९३। =गुण द्वारा आयतकी अनेकताकी प्रतिपत्तिकी कारणभूत गुणपर्याय है।९३।

प.का./ता वृ /१६/३६/? गुणद्वारेणान्वयरूपाया एकत्वप्रतिपत्तेर्निबन्धनं कारणभूतो गुणपर्याय । =जिन पर्यायोंमें गुणोंके द्वारा अन्वयरूप एकत्वका ज्ञान होता है, उन्हें गुणपर्याय कहते हैं।

प.ध /पू./१३५ यतरे च विशेषास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ।१३५। =जितने गुणके अश हैं, उतने वे सब गुणपर्याय ही कहे जाते हैं ।१३५। (प.ध./पू /६१)।

६. गुणपर्याय एक द्रव्यात्मक ही होती हैं

प्र.सा /त प्र./१०४ एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः गुणपर्यायाणामेक-द्रव्यत्वात्। एकद्रव्यत्व हि तेषा सहकारफलवत्। =गुण पर्यायें एक द्रव्य पर्यायें हैं, क्योंकि गुणपर्यायोंको एक द्रव्यत्व है। तथा वह द्रव्यत्व आम्रफलकी भाँति है।

प का./ता. वृ./१६/३६/५ गुणपर्याय', स चैकद्रव्यगत एव सहकारफले हरितपाण्डुरादिवर्णवत्। =गुणपर्याय एक द्रव्यगत ही होती है, आममें हरे व पीले रंगकी भाँति।

७. स्व व पर पर्यायके लक्षण

मोक्ष पंचाशत/२३-२५ केवलिप्रज्ञया तस्या जघन्योऽशस्तु पर्यय.। तदाऽनन्त्येन निष्पन्नं सा चतुर्तिनिजपर्यया ।२३। क्षयोपशम-वैचित्र्यं ज्ञेयवैचित्र्यमेव वा। जीवस्य परपर्याया षट्स्थानपतितामी ।२५। =केवलज्ञानके द्वारा निष्पन्न जो अनन्त अन्तर्गति या अन्तर्तेज है वही निज पर्याय है।२३। और क्षयोपशमके द्वारा व ज्ञेयोंके द्वारा चित्र-विचित्र जो पर्याय है सो परपर्याय है। दोनों ही षट्स्थान पतित वृद्धि हानि युक्त है।२५।

८. कारण व कार्य शुद्ध पर्यायके लक्षण

नि. सा./ता. वृ /१५ इह हि सहजशुद्धनिश्चयेन अनाद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनसहजचारित्रसहजपरमवीतरागसुखात्मकशुद्धान्तस्तत्त्वस्वरूपस्वभावानन्तचतुष्टयस्वरूपेण सहाचितपचमभावपरिणतिरेव कारणशुद्धपर्याय इत्यर्थ । साद्यनिधनामूर्तातीन्द्रियस्वभावशुद्धसद्भूतव्यवहारेण केवलज्ञान-केवलदर्शनकेवलसुखकेवलशक्तियुक्तफलरूपानन्तचतुष्टयेन सार्द्धं परमोत्कृष्टक्षायिकभावस्य शुद्धपरिणतिरेव कार्यशुद्धपर्यायश्च। =सहज शुद्ध निश्चयसे, अनादि अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाववाले और शुद्ध ऐसे सहज-ज्ञान-सहजदर्शन-सहजचारित्र-सहज परमवीतरागसुखात्मक शुद्ध अन्तस्तत्त्व रूप जो स्वभाव अनन्तचतुष्टयका स्वरूप उसके साथकी जो पूजित पचम भाव परिणति वही कारण शुद्धपर्याय है। सादि-अनन्त, अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववाले, शुद्धसद्भूत व्यवहारसे, केवल-ज्ञान-केवलदर्शन-केवलसुख-केवलशक्तियुक्त फलरूप अनन्त चतुष्टयके साथकी परमोत्कृष्ट क्षायिक भावकी जो शुद्ध परिणति वही कार्य शुद्ध पर्याय है।

२. पर्याय सामान्य निर्देश

१. गुणसे पृथक् पर्याय निर्देशका कारण

न्या. दी /३/§ ७८/१२१/४ यद्यपि सामान्यविशेषौ पर्यायौ तथापि सङ्केतग्रहणनिबन्धनत्वाच्छब्दव्यवहारविषयत्वाच्चागमप्रस्तावेतयो. पृथग्निर्देश'। =यद्यपि सामान्य और विशेष भी पर्याय हैं, और पर्यायोके कथनसे उनका भी कथन हो जाता है—उनका पृथक् निर्देश (कथन) करनेकी आवश्यक्ता नही है तथापि सकेतज्ञानमें कारण होनेसे और जुदा-जुदा शब्द व्यवहार होनेसे उस आगम प्रस्तावमे (आगम प्रमाणके निरूपणमें) सामान्य विशेषका पर्यायोसे पृथक् निरूपण किया है।

२. पर्याय द्रव्यके व्यतिरेकी अंश हैं

स. सि /५/३८/३०९/५ व्यतिरेकिण' पर्याया'। =पर्याय व्यतिरेकी होती है (न च श्रुत /पृ. ५७); (प का /त. प्र /५); (प्र सा./ता. वृ./९३/१२१/११), (प प्र /टी /१/५७), (प. ध /पू १६५)।

प्र. सा /त. प्र /८०, ९५ अन्वयव्यतिरेका पर्याया ।८०। पर्याया आयतविशेषा' ।९५। =अन्वय व्यतिरेक वे पर्याय है ।८०। पर्याय आयत विशेष है ।९५। (प्र. सा /त प्र./९३)।

पं. का /त प्र./५ पदार्थास्तेषामवयवा अपि प्रदेशाख्या' परस्परव्यतिरेकित्वात्पर्याया उच्यन्ते। =पदार्थोके जो अवयव है वे भी परस्पर व्यतिरेकवाले होनेसे पर्यायें कहलाती है।

अध्यात्मकमल मार्तण्ड। वीरसेवा मन्दिर/२/९ व्यतिरेकिणो ह्यनित्यास्तत्काले द्रव्यतन्मयाश्चापि। ते पर्याया द्विविधा द्रव्यावस्थाविशेषधर्माशा ।९। =जो व्यतिरकी है और अनित्य है तथा अपने कालमें द्रव्यके साथ तन्मय रहती है। ऐसी द्रव्यकी अवस्था विशेष, या धर्म, या अंश पर्याय कहलाती है।९।

३. पर्याय द्रव्यके क्रम भावी अंश हैं

आ. प /६ क्रमवर्तिन. पर्याया.। =पर्याय एकके पश्चात दूसरी, इस प्रकार क्रमपूर्वक होती है। इसलिए पर्याय क्रमवर्ती कही जाती है। (स्या म /२२/२६७/२२)।

प प्र /मू./५७ कम-भुव पज्जउ वुत्तु ।५७। =द्रव्यकी अनेक रूप परिणति क्रमसे हो अर्थात् अनित्य रूप समय-समय उपजे, विनशे, वह पर्याय कही जाती है। (प्र. सा /त. प्र /१०), (नि सा./ता. वृ /१०७), (प का./ता वृ./५/१४/९)।

प. मु./४/८ एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन' परिणामा पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्। =एक ही द्रव्यमें क्रमसे होनेवाले परिणामोको पर्याय कहते है जैसे एक ही आत्मामें हर्ष और विषाद।

४. पर्याय स्वतन्त्र है

प. ध /पू०/८९, ११७ वस्त्वस्ति स्वत सिद्धं यथा तथा तत्स्वतश्च परिणामि ।८९। अपि नित्या प्रतिसमय विनापि यत्न हि परिणमन्ति गुणा' ।११७। =जैसे वस्तु स्वत सिद्ध है वैसे ही वह स्वत' परिणमनशील भी है ।८९। =गुण नित्य है तो भी वे निश्चय करके स्वभावसे ही प्रतिसमय परिणमन करते रहते है।

५ पर्याय व क्रियामें अन्तर

रा वा./५/२२/२१/४८१/१९ भावो द्विविध'—परिस्पन्दात्मक अपरिस्पन्दात्मकश्च। तत्र परिस्पन्दात्मक. क्रियेत्याख्यायते, इतर परिणाम'। =भाव दो प्रकारके होते है—परिस्पन्दात्मक व अपरिस्पन्दात्मक। परिस्पन्द क्रिया है तथा अन्य अर्थात अपरिस्पन्द परिणाम अर्थात् पर्याय है।

६. पर्याय निर्देशका प्रयोजन

प. का /ता. वृ /१६/४१/५ अत्र पर्यायरूपेणानित्यत्वेऽपि शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनाविनश्वरमनन्तज्ञानादिरूपशुद्धजीवास्तिकायाभिधानं रागादिपरिहारेणोपादेयरूपेण भावनीयमिति भावार्थः। =पर्याय रूपसे अनित्य होनेपर भी शुद्ध द्रव्यार्थिक नयसे अविनश्वर अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध जीवास्तिकाय नामका शुद्धात्म द्रव्य है उसको रागादिके परिहारके द्वारा उपादेय रूपसे भाना चाहिए, ऐसा भावार्थ है।

३. स्वभाव विभाव, अर्थ व्यंजन व द्रव्य गुण पर्याय निर्देश

१. अर्थ व व्यंजन पर्यायके लक्षण व उदाहरण

ध. ४/१,५,४/३३७/८ वज्जसिलाथभादिसु वंजणसण्णिदस्स अवट्ठाणुवलभादो। मिच्छत्तं पि वजणपज्जाओ। =वज्रशिला, स्तम्भादिमें व्यजन सज्ञिक उत्पन्न हुई पर्यायका अवस्थान पाया जाता है। मिथ्यात्व भी व्यजन पर्याय है।

प्र. सा /त प्र./८७ द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयूतिद्रव्यै क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थपर्याया'। =जो द्रव्यको क्रम परिणामसे प्राप्त करते है, अथवा जो द्रव्योके द्वारा क्रम परिणामसे प्राप्त किये जाते है ऐसे 'अर्थपर्याय' है।

नि. सा /ता वृ /गा. षड्हानिवृद्धिरूपा सूक्ष्मा' परमागमप्रामाण्यादभ्युपगमा अर्थपर्याया'।१६८। व्यज्यते प्रकटीक्रियते अनेनेति व्यञ्जनपर्याय। कुत', लोचनगोचरत्वात पटादिवत। अथवा सादिसनिधनमूर्तविजातीयविभावस्वभावत्वात्, दृश्यमानविनाशस्वरूपत्वात् ।१५। नरनारकादिव्यञ्जनपर्याया जीवाना पंचससारप्रपञ्चाना, पुद्गलानां स्थूलस्थूलादिस्कन्धपर्याया ।१६८। =षट् हानि वृद्धि रूप, सूक्ष्म, परमागम प्रमाणसे स्वीकार करने योग्य अर्थ पर्यायें (होती है) ।१६८। जिसमे व्यक्त हो—प्रगट हो वह व्यंजन पर्याय है। किस कारण? पटादिकी भाँति चक्षु गोचर होनेसे (प्रगट होती है) अथवा सादि-सांत मूर्त विजातीय विभाव-स्वभाववाली होनेसे दिखकर नष्ट होनेवाले स्वरूप वाली होनेसे (प्रगट होती है।) नर-नारकादि व्यजन पर्याय पाँच प्रकारकी ससार प्रपंच वाले जीवोके होती है। पुद्गलोको स्थूल-स्थूल आदि स्कन्ध पर्यायें (व्यजन पर्यायें) होती है ।१६८। (नि सा /ता वृ /१५)।

वसु. श्रा /२५ सुहुमा अवायविसया खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा। वंजणपज्जाया पुण थूलागिरगोयरा चिरविवत्था ।२५। =अर्थ पर्याय सूक्ष्म है, अवाय (ज्ञान) विषयक है, अत शब्दसे नही कही जा सक्ती है और क्षण-क्षणमे बदलती है, किन्तु व्यजन पर्याय स्थूल है, शब्द गोचर है अर्थात् शब्दसे कही जा सकती है और चिरस्थायी है ।२५। (प.का /ता.वृ /१६/३६/९)।

न्या दी /३/§७७/१२०/६ अर्थपर्यायो भूतत्वभविष्यत्वसस्पर्शरहितशुद्धवर्तमानकालावच्छिन्नवस्तुस्वरूपम्। तदेतदृजुसूत्रनयविषयमामनन्त्यभियुक्ता। व्यञ्जन व्यक्ति प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनं जलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वम्। तेनोपलक्षित पर्यायो व्यञ्जनपर्याय', मृदादेर्पिण्ड-स्थास-कोश-कुशूल-घट-कपालादय पर्याया। =भूत और भविष्यत्के उल्लेखरहित केवल वर्तमान कालीन वस्तु-स्वरूपको अर्थपर्याय कहते है। आचार्योंने इसे ऋजुसूत्र नयका विषय माना है। व्यक्तिका नाम व्यजन है और जो प्रवृत्ति-निवृत्तिमें कारणभूत जलके ले आने आदि रूप अर्थ क्रियाकारिता है वह व्यक्ति है उस व्यक्तिसे युक्त पर्यायको व्यजन पर्याय कहते है। जैसे—मिट्टी आदिकी पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल, घट और कपाल आदि पर्यायें है।

प्र. सा /ता. वृ /८०/१०१/१७ शरीराकारेण यदात्मप्रदेशानामवस्थानं स व्यञ्जनपर्याय', अगुरुलघुगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षणं प्रवर्त-माना. अर्थपर्याया. । =शरीरके आकार रूपसे जो आत्म-प्रदेशोंका अवस्थान है वह व्यंजन पर्याय कहलाती है। और अगुरुलघु गुणकी षट् वृद्धि और हानिरूप तथा प्रतिक्षण बदलती है, वे अर्थ पर्याय होती है।

२. अर्थ व गुण पर्याय एकार्थवाची है

पं ध./पू /६२ गुणपर्यायाणामिह केचिन्नामान्तर वदन्ति बुधा'। अर्थो गुण इति वा स्यादेकार्थादर्थपर्याया इति च ।६२। =यहाँ पर कोई-कोई विद्वान् अर्थ कहो या गुण कहो इन दोनोंका एक ही अर्थ-होनेसे अर्थ पर्यायोको ही गुणपर्यायोका दूसरा नाम कहते हे ।६२।

३. व्यजन व द्रव्य पर्याय एकार्थवाची है

ध. ४/१ ५.४/३३७/६ वजणपज्जायस्स दव्वत्तब्भुवगमादो । =व्यजन पर्यायके द्रव्यपना माना गया है। (गो जी /मू.५८२)।

पं.ध /पू /६३ अपि चोद्दिष्टानामिह देशांशैर्द्रव्यपर्यायाणा हि । व्यञ्जन-पर्याया इति केचिन्नामान्तरे वदन्ति बुधा' ।६३।=कोई-कोई विद्वान् यहाँ पर देशांशोके द्वारा निर्दिष्ट द्रव्यपर्यायोंका ही व्यजन पर्याय यह दूसरा नाम कहते है ।६३।

४. द्रव्य व गुण पर्यायसे पृथक् अर्थ व व्यंजन पर्यायके निर्देशका कारण

प. का./ता. वृ /१६/३६/१६ एते चार्थव्यंजनपर्याया' ।अत्र गाथाया च ये द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च भणितास्तेषु च मध्ये तिष्ठन्ति। तर्हि किमर्थं पृथक्कथिता इति चेदेकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया भण्यन्ते चिरकालस्थायिनो व्यञ्जनपर्याया भण्यन्ते इति कालकृतभेदज्ञाप-नार्थम् ।=प्रश्न—यह जो अर्थ व व्यजन पर्याय कही गयी है वे इस गाथामें कथित द्रव्य व गुण पर्यायोमें ही समाविष्ट है, फिर इन्हे पृथक् क्यों कहा गया ? उत्तर—अर्थ पर्याय एक समय स्थायी होती है और व्यजन पर्याय चिरकाल स्थायी होती है, ऐसा काल कृत भेद दर्शानेके लिए ही इनका पृथक् निर्देश किया गया है।

५. सब गुण पर्याय ही हैं फिर द्रव्य पर्यायका निर्देश क्यों

प. ध /पू /१३२-१३५ ननु चैव सति नियमादिह पर्याया' भवन्ति यावन्त । सर्वे गुणपर्याया वाच्या न द्रव्यपर्याया केचित् ।१३२। तन्न यतोऽस्ति विशेष' सति च गुणाना गुणत्ववत्वेऽपि । चिदचिद्यथा तथा स्यात् क्रियावती शक्तिरथ च भाववती ।१३३। यतरे प्रदेशभाग-स्ततरे द्रव्यस्य पर्यया नाम्ना। यतरे च विशेषास्ततरे गुणपर्यया भवन्त्येव ।१३५।=प्रश्न—गुणोके समुदायात्मक द्रव्यके माननेपर यहाँ पर नियमसे जितनी भी पर्यायें होती है, वे सब गुण पर्याय कही जानी चाहिए, किसीको भी द्रव्य पर्याय नही कहना चाहिए ।१३२। उत्तर—यह शका ठीक नहीं है, क्योंकि सामान्यपनेसे गुणत्वके सदृश रहते हुए भी गुणोंमें विशेष भेद है, जैसे—आत्माके चिदात्मक शक्ति रूप गुण और अजीव द्रव्योके अचिदात्मक शक्ति रूप गुण ऐसे तथा वैसे ही द्रव्यके क्रियावती शक्ति रूप गुण और भाववती शक्ति रूप गुण ऐसे गुणोके दो भेद है ।१३३। जितने द्रव्यके प्रदेश-रूप अश है, वे सब नामसे द्रव्य पर्याय है और जितने गुणके अश है वे सब गुण पर्याय कहे जाते है ।१३५। भावार्थ—'अमुक द्रव्यके इतने प्रदेश है', इस कल्पनाको द्रव्यपर्याय कहते है। और प्रत्येक द्रव्य सम्बन्धी जो अनन्तानन्त गुण है। उनकी प्रतिसमय होनेवाली षट्गुणी हानि वृद्धिसे तरतमरूप अवस्थाको गुणपर्याय कहते है।

६. अर्थ व व्यंजन पर्यायका स्वामित्व

ज्ञा /६/४० धर्माधर्मनभ:काला अर्थपर्यायगोचरा: । व्यञ्जनाख्यस्य सम्बन्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ।४०। =धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये चार पदार्थ तो अर्थ पर्याय गोचर हैं, और अन्य दो अर्थात् जीव पुद्गल व्यजन पर्यायके सम्बन्ध रूप है ।४०।

प्र. सा./ता. वृ /१२६/१८१/२१ धर्माधर्माकाशकालानां मुख्यवृत्त्यैकसमय-वर्तिनोऽर्थपर्याया एव जीवपुद्गलानामर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायाश्च । =धर्म, अधर्म, आकाश, कालको तो मुख्य वृत्तिसे एक समयवर्ती अर्थ पर्याय ही होती है, और जीव व पुद्गलमें अर्थ व व्यजन दोनों पर्याय होती हैं। (का अ./टी./२२०/१५४/६)।

७. व्यंजन पर्यायके अभाव होनेका नियम नहीं है

ध ७/२.२.१८७/१७८/३ अभविय भावो णाम वियंजणपज्जाओ, तेणेदस्स विणासेण होदव्वमण्णहा दव्वत्तप्पसंगादो त्ति ? होदु वियंजणपज्जाओ, ण च वियंजणपज्जायस्स सव्वस्स विणासेण होदव्वमिदि णियमो अत्थि, एयंतवादप्पसंगादो । ण च ण विणस्सदि त्ति दव्व होदि उप्पाय-ट्ठिदि-भग-सगयस्स दव्वभावब्भुवगमादो । =प्रश्न—अभव्य भाव जीवकी व्यंजन पर्यायका नाम है, इसलिए उसका विनाश अवश्य होना चाहिए, नहीं तो अभव्यत्वके द्रव्यत्व होनेका प्रसग आ जायेगा ? उत्तर—अभव्यत्व जीवकी व्यंजनपर्याय भले ही हो, पर सभी व्यंजनपर्यायका अवश्य नाश होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेसे एकान्तवादका प्रसंग आ जायेगा। ऐसा भी नहीं है कि जो वस्तु विनष्ट नहीं होती वह द्रव्य ही होना चाहिए, क्योंकि जिसमें उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय पाये जाते हैं, उसे द्रव्यरूपसे स्वीकार किया गया है।

८. अर्थ व व्यंजन पर्यायोंकी स्थूलता सूक्ष्मता

१. दोनोंका काल

ध ६/४,१,४८/२४२-२४४/६ अत्थ पज्जाओ एगादिसमयावट्ठाणो सण्णा संबंध वज्जिओ अप्पकालावट्ठाणादो अइविसेसादो वा । तत्थ जो सो जहण्णुक्कस्सेहिं अतोमुहुत्तासंखेज्जलोगमेत्त कालावट्ठाणो अणाइ-अणंतो वा ।२४२-२४३। असुद्धो उजुसुदणओ सो चक्खुपासियवेंजण-पज्जयविसओ। तेसि कालो जहण्णेण अतोमुहुत्तमुक्कस्सेण छम्मासा सखेज्जा वासाणि वा। कुदो ? चक्खिदियगेज्झवेंजण-पज्जायाणाम-प्पहाणीभूदव्वाणमेत्तिय कालमवट्ठाणुवलंभादो । =१ अर्थपर्याय थोडे समय तक रहनेसे अथवा प्रतिसमय विशेष होनेसे एक आदि समयतक रहनेवाली और सज्ञा-संज्ञी सम्बन्धसे रहित है। और व्यंजन पर्याय जघन्य और उत्कर्षसे क्रमश अन्तर्मुहूर्त और असख्यात लोक मात्र कालतक रहनेवाली अथवा अनादि अनन्त है। (पृ २४२-२४३) २ अशुद्ध ऋजुसूत्र नय चक्षुरिन्द्रियकी विषयभूत व्यजन पर्यायको विषय करनेवाला है। उन पर्यायोका काल जघन्य-से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्षसे छह मास अथवा सख्यातवर्ष है क्योंकि चक्षुरिन्द्रियसे ग्राह्य व्यजन पर्यायें द्रव्यकी प्रधानतासे रहित होती हुई इतने काल तक अवस्थित पायी जाती है।

वसु श्रा /२५ खणखइणो अत्थपज्जया दिट्ठा ।२५। =अर्थपर्याय क्षण-क्षणमे विनाश होनेवाली होती है। अर्थात् एकसमयवर्ति होती है। (प्र. सा /ता वृ./७/१०१/१८); (प.का./ता वृ./१६/३६/६ व १८)।

२ व्यंजनपर्यायमें विलीन अर्थपर्याय

प्र. सा./त. प्र /५४/६४/१ (द्रव्य, क्षेत्र, काल) भावप्रच्छन्नेपु स्थूल-पर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि द्रष्टृत्वं प्रत्यक्षत्वात्। =(द्रव्य, क्षेत्र, काल) व भावप्रच्छन्न स्थूलपर्यायोंमें अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायें है वास्तवमें वह उस अतीन्द्रिय ज्ञानके द्रष्टापन (दृष्टि-गोचर) है।

पं. ध./पू./१७१ स्थूलेष्विव पर्यायेष्वन्तर्लीनाश्च पर्ययाः सूक्ष्मा' ।१७५। =स्थूलोंमें सूक्ष्मकी तरह स्थूल पर्यायोंमें भी सूक्ष्म पर्यायें अन्तर्लीन होती है।

३. स्थूल व सूक्ष्म पर्यायोंकी सिद्धि

पं. ध./पू./१७२,१७३,१८० का भावार्थ—तत्र व्यतिरेक. स्यात् परस्परा भावलक्षणेन यथा। अंशविभाग. पृथगिति सदृशांशानां सतामेव ।१७२। तस्माद् व्यतिरेकस्य तस्य स्यात् स्थूलपर्यय स्थूल । सोऽय भवति न सोऽय यस्मादेतावतैव ससिद्धि.।१७३। तदिदं यथा स जीवो देवो मनुजाद्भवन्नथाप्यन्य । कथमन्यथात्वभाव न लभेत स गोरसोऽपि नयात् ।१८०। =नरकादि रूप व्यजन पर्यायें स्थूल हैं, क्योंकि उनमें एकजातिपनेकी अपेक्षा सदृशता रहते हुए भी व्यतिरेक देखा जाता है। अर्थात् 'यह वह है' यह वह नहीं है', ऐसा लक्षण घटित होता है।१७२-१७३। परन्तु अर्थपर्यायें सूक्ष्म है। क्योंकि, यद्यपि नित्यता तथा अनित्यता होते हुए भी क्रममें कथंचित् सदृशता तथा विसदृशता होती है। परन्तु उसका काल सूक्ष्म होनेके कारण क्रम प्रतिसमय लक्ष्यमें नही आता। इसलिए 'यह वह नही है' तथा 'वह ऐसा नहीं है' ऐसी विवक्षा बन नही सकती।

९. स्वभाव द्रव्य व व्यंजन पर्याय

नि. सा./मू./१५,२८ कम्मोपाधिविवज्जिय पज्जाया ते सहावमिदि भणिया ।१५। अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो ।२८। =कर्मोपाधि रहित पर्यायें वे स्वभाव (द्रव्य) पर्यायें कही गयी है ।१५। अन्यकी अपेक्षासे रहित जो (परमाणुका) परिणाम वह (पुद्गल द्रव्यकी) स्वभाव पर्याय है ।२८।

न च वृ /२१,२५,३० दव्वाणं खु पयेसा जे जे सहाव स ठिया लोए। ते ते पुण पज्जाया जाण तुम दविणसब्भावं ।२१। देहायारपएसा जे थक्का उहयकम्मणिम्मुक्का। जीवस्स णिच्चला खलु ते सुद्धा दव्व-पज्जाया ।२५। जो खलु अणाइणिहणो कारणरूवो हु कज्जरूवो वा। परमाणुपोग्गलाणं सो दव्वसहावपज्जाओ ।३०। =सब द्रव्योंकी जो अपने-अपने प्रदेशोकी स्वाभाविक स्थिति है वही द्रव्यकी स्वभाव पर्याय जानो ।२१। कर्मोसे निर्मुक्त सिद्ध जीवोंमें जो देहाकार रूपसे प्रदेशोकी निश्चल स्थिति है वह जीवकी शुद्ध या स्वभाव द्रव्य पर्याय है ।२५। निश्चयसे जो अनादि निधन कारण रूप तथा कार्य रूप परमाणु है वही पुद्गल द्रव्यकी स्वभाव द्रव्य पर्याय है।३०। (नि सा./ता वृ./२८), (पं. का /ता वृ /५/१४/१३), (प. प्र. टी /५७)।

आ. प /३ स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चरमशरीरात् किंचिन्न्यूनसिद्ध-पर्याया.।·· अविभागीपुद्गलपरमाणु स्वभावद्रव्यव्यञ्जनपर्याय । =चरम शरीरसे किंचित् न्यून जो सिद्ध पर्याय है वह (जीव द्रव्यकी) स्वभाव द्रव्य व्यजन पर्याय है। अविभागी पुद्गल परमाणु द्रव्यकी स्वभाव द्रव्य व्यजन पर्याय है। (द्र. स./टी./२४/६६/११)।

प. का./ता. वृ./१६/३६/११ स्वभावव्यञ्जनपर्यायो जीवस्य सिद्धरूप । =जीवकी सिद्ध रूप पर्याय स्वभाव व्यंजन पर्याय है।

१०. विभाव द्रव्य व व्यजन पर्याय

नि. सा./मू /१५,२८ णरणारयतिरियसुरा पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा ।१५। खधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जाओ ।२८। =मनुष्य, नारक, तिर्यंच, और देवरूप पर्यायें, वे (जोव द्रव्यकी) विभाव पर्यायें कही गयी है।१५। तथा स्कन्ध रूप परिणाम वह (पुद्गल द्रव्यकी) विभाव पर्याय कही गयी है।

न च. वृ /२३,३३ ज चदुगदिदेहीण देहायार पदेसपरिमाण। अह विग्गहगइजोवे तं दव्वविहावपज्जाय ।२३। जे सखाई खंधा परिणामिआ दुअणुआदिखंधेहि। ते विय दव्वविहावा जाण तुमं पोग्गलाणं च ।३३। =जो चारो गतिके जीवोका तथा विग्रहगतिमें जीवोंका देहाकार रूपसे प्रदेशोका प्रमाण है, वह जीवकी विभाव द्रव्य पर्याय है।२३। और जो दो अणु आदि स्कन्धोंसे परिणामित सख्यात स्कन्ध है वे पुद्गलोकी विभाव द्रव्य पर्याय तुम जानो ।३३। (प. प्र./टी./५७), (पं. का./ता वृ /५/१४/१३)।

आ प./३ विभावद्रव्यव्यञ्जनपर्यायाश्चतुर्विधा नरनारकादिपर्याया अथवा चतुरशीतिलक्षा योनय । पुद्गलस्य तु द्व्यणुकादयो विभाव-द्रव्यव्यञ्जनपर्याया । =चार प्रकारकी नर नारकादि पर्यायें अथवा चौरासी लाख योनियाँ जीव द्रव्यकी विभाव द्रव्य व्यजन पर्याय है। ·तथा दो अणुकादि पुद्गलद्रव्यकी विभाव द्रव्य व्यजन पर्याय है। (प. का /ता. वृ./१६/३६/१०,११)।

पं. का./त प्र./१६ सुरनारकतिर्यङ्मनुष्यलक्षणा परद्रव्यसबन्धनिर्वृत्त-त्वादशुद्धाश्चेति । =देव-नारक-तिर्यंच-मनुष्य-स्वरूप पर्यायें पर-द्रव्यके सम्बन्धसे उत्पन्न होती है इसलिए अशुद्ध पर्यायें है। (पं.का / ता वृ./१६/३५/१८)।

नि सा./ता वृ /२८ स्कन्धपर्याय. स्वजातीयबन्धलक्षणलक्षितत्वादशुद्ध इति । =स्कन्ध पर्याय स्व जातीय बन्धरूप लक्षणसे लक्षित होनेके कारण अशुद्ध है।

११. स्वभाव गुण व अर्थ पर्याय

न. च. वृ /२२,२७,३१ अगुरुलहुगा अणंता समय समय स समुब्भवा जे वि। दव्वाणं ते भणिया सहावगुणपज्जया जाण ।२२। णाणं दंसण सुह वीरिय च ज उहयकम्मपरिहीणं। त सुद्ध जाण तुम जीवे गुण-पज्जय सव्व ।२६। रूवरसगधफासा जे थक्का जेसु अणुकदव्वेसु। ते चेव पोग्गलाण सहावगुणपज्जया णेया ।३१। =द्रव्योके अगुरुलघु गुणके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेदोकी समय-समय उत्पन्न होनेवाली पर्यायें है, वह द्रव्योकी स्वभाव गुणपर्याय कही गयी है, ऐसा तुम जानो ।२२। द्रव्य व भावकर्मसे रहित शुद्ध ज्ञान, दर्शन, सुख व वीर्य जीव द्रव्यकी स्वभाव गुणपर्याय जानो ।२३। (प प्र /टी /१/५७) एक अणु रूप पुद्गल द्रव्यमें स्थित रूप, रस, गन्ध व वर्ण है, वह पुद्गल द्रव्यकी स्वभाव गुण पर्याय जानो ।३१। (पं. का /ता. वृ./५/१४-१५/१३)।

आ. प /३ अगुरुलघुविकारा' स्वभावपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपा षड्हानिरूपा । =अगुरुलघु गुणके विकार रूप स्वभाव पर्याय होती है। वे १२ प्रकारकी होती है, छह वृद्धि रूप और छह हानि रूप।

प्र. सा /त. प्र./९३ स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीया-गुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिना-नात्वानुभूति । =समस्त द्रव्योके अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होनेवाली षट् स्थानपतित हानिवृद्धि रूप अनेकत्वकी अनुभूति स्वभाव गुण पर्याय है। (प का /त. प्र./१६); (प. प्र./टी / १/५७), (पं. का /ता वृ /१६/३६/७)।

पं. का /ता. वृ /गा /पृ /पक्ति—परमाणु वर्णादिभ्यो वर्णान्तरादि-परिणमनं स्वभावगुणपर्याय (५/१४/१४) शुद्धार्थपर्याया अगुरुलघुगुण-षड्हानिवृद्धिरूपेण पूर्वमेव स्वभावगुणपर्यायव्याख्यानकाले सर्व-द्रव्याणा कथिता' (१६/१६/१४)। =वर्णसे वर्णान्तर परिणमन करना यह परमाणुकी स्वभाव गुणपर्याय है।(५/१४/१४)। शुद्धगुण पर्यायकी भाँति सर्व द्रव्योकी अगुरुलघुगुणकी षट् हानि वृद्धि रूपसे शुद्ध अर्थ पर्याय होती है।

१२. विभाव गुण व अर्थ पर्याय

न. च./२४,३४/मदिसुदओहीमणपज्जयं च अण्णाण तिण्णि जे भणिया। एवं जोवस्स इमे विभावगुणपज्जया सव्वे ।२४। रूपाइय जे उत्ता जे

दिट्ठा दुअणुआइखंधम्मि। ते पुग्गलाण भणिया विहावगुणपज्जया सव्वे।२४। =मति, श्रुत, अवधि व मन पर्यय ये चार ज्ञान तथा तीन अज्ञान जो कहे गये हैं ये सब जीव द्रव्यकी विभावगुण पर्याय है। (२४) द्वि अणुकादि स्कन्धोमें जो रूपादिक कहे गये हैं, अथवा देखे गये हैं वे सब पुद्गल द्रव्यकी विभाव गुण पर्याय हे। (पं. का/ ता वृ/५/१४/१२), (प. का/ता वृ/१६/३६/५), (प. प्र/टी./१/५७)।

प्र सा/त. प्र./६३ विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्ति। =रूपादिके वा ज्ञानादिके स्व परके कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्थामें होनेवाले तारतम्यके कारण देखनेमें आनेवाले स्वभावविशेष रूप अनेकत्वकी आपत्ति विभाव गुणपर्याय है।

प. का./ता. वृ/१६/३६/१२ अशुद्धार्थपर्याया जीवस्य षट्स्थानगतकषायहानिवृद्धिविशुद्धिसंक्लेशरूपशुभाशुभलेश्यास्थानेषु ज्ञातव्या.। पुद्गलस्य विभावार्थपर्याया द्व्यणुकादिस्कन्धेष्वेव चिरकालस्थायिनो ज्ञातव्या'। =जीव द्रव्यकी विभाव अर्थ पर्याय, कषाय, तथा विशुद्धि संक्लेश रूप शुभ व अशुभलेश्यास्थानो में षट् स्थान गत हानि वृद्धि रूप जाननी चाहिए। द्वि-अणुक 'आदि स्कन्धोमें ही रहने वाली, तथा चिर काल स्थायी रूप, रसादिकी रूप पुद्गल द्रव्य की विभाव अर्थ पर्याय जाननी चाहिए।

१३. स्वभाव व विभाव गुण व्यन्जन पर्याय

आ प./३ विभावगुणव्यञ्जनपर्याया मत्यादय। स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याया अनन्तचतुष्टयस्वरूपा जीवस्य। रसरसान्तरगन्धगन्धान्तरादिविभावगुणव्यञ्जनपर्याया। वर्णगन्धरसैकैकाविरुद्धस्पर्शद्वयं स्वभावगुणव्यञ्जनपर्याया। =मति आदि ज्ञान जीव द्रव्यकी विभाव गुण व्यजन पर्याय है, तथा केवलज्ञानादि अनत चतुष्टय स्वरूप जीवकी स्वभाव गुण व्यजन पर्याय है। रससे रसान्तर तथा गधसे गंधान्तर पुद्गल द्रव्यकी विभाव गुण व्यजन पर्याय है। तथा परमाणुमें रहने वाले एक वर्ण, एक गध, एक रस तथा अविरुद्ध दो स्पर्श पुद्गल द्रव्यकी स्वभाव गुण व्यजनपर्याय हैं।

१४ स्वभाव व विभाव पर्यायोंका स्वामित्व

प. का/ता वृ/२७/५६/१४ परिणामिनौ जीवपुद्गलौ स्वभावविभावपरिणामाभ्या शेषचत्वारि द्रव्याणि विभावव्यञ्जनपर्यायाभावाद् मुख्यवृत्त्या अपरिणामीनि।

प. का/ता वृ/१६/३४/१७ एते समानजातीया असमानजातीयाश्च अनेकद्रव्यात्मिकेकरूपा द्रव्यपर्याया जीवपुद्गलयोरेव भवन्ति अशुद्धा एव भवन्ति। कस्मादिति चेद्। अनेकद्रव्याणा परस्परसंश्लेषरूपेण सबन्धात्। धर्माद्यन्यद्रव्याणा परस्परमश्लेषसंबन्धेन पर्यायो न घटते परस्परसबन्धेनाशुद्धपर्यायोऽपि न घटते। =१. स्वभाव तथा विभाव पर्यायों द्वारा जीव व पुद्गल द्रव्य परिणामी है। शेष चार द्रव्य विभाव व्यजन पर्यायके अभावकी मुख्यतासे अपरिणामी है।२७। २. ये समान जातीय और असमान जातीय अनेक द्रव्यात्मक एक रूप द्रव्य पर्याय जीव व पुद्गलमे ही होती है, तथा अशुद्ध ही होती है। क्योंकि ये अनेक द्रव्योके परस्पर सश्लेश रूप सम्बन्धसे होती है। धर्मादिक द्रव्योंकी परस्पर सश्लेपरूप सम्बन्धसे पर्याय घटित नहीं होती, इसलिए परस्पर सम्बन्धसे अशुद्ध पर्याय भी उनमें घटित नहीं होती।

प. प्र./टी./१/५७ धर्माधर्माकाशकालानां…विभावपर्यायास्तूपचारेण घटाकाशमित्यादि। =धर्माधर्म, आकाश तथा काल द्रव्योंके विभाव गुणपर्याय नहीं है। आकाशके घटाकाश, महाकाश इत्यादिकी जो कहावत है, वह उपचारमात्र है।

पर्यायज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

पर्यायनय—दे० नय/I/५/४।

पर्यायवत्त्व—रा. वा/२/७/१३/११२/२२ पर्यायवत्त्वमपि साधारणं सर्वद्रव्याणां प्रतिनिगतपर्यायोत्पत्तेः। कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम्। =प्रतिनिगत पर्यायोंकी उत्पत्ति होनेसे पर्यायवत्त्व भी सभी द्रव्योंमें पाया जाता है। तथा कर्मोदय आदिकी अपेक्षाका अभाव होनेसे यह भी पारिणामिक है।

पर्याय समासज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

पर्यायार्थिक नय—१ दे० नय/IV/३,४, २. द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिकसे पृथक् गुणार्थिक नय नहीं है। दे० नय/I/१/५ ३ निक्षेपोंका पर्यायार्थिक नयमें अन्तर्भाव—दे० निक्षेप/२।

पर्युदासाभाव—दे० अभाव।

पर्व—१ स. सि./७/२१/३६१/३ प्रोषधशब्द पर्ववाची। =प्रोषधका अर्थ पर्व है। २. कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

पर्वत—लोकमें स्थित पर्वतोंके नकशे—दे० लोक/७। २ प. पु./११/श्लोक क्षीरकदम्बक गुरुका पुत्र था। 'अजैर्यष्टव्यम्' शब्दका राजा वसुके द्वारा विपरीत समर्थन कराने पर लोगोंके द्वारा धिक्कारा गया। उससे दुखी होकर कुतर्क करने लगा (७५)। अन्तमें मृत्युके पश्चात राक्षस बनकर इस पृथ्वीपर हिंसायज्ञकी उत्पत्ति की (१०३)/(म पु/६३/२५६-४५५)।

पल—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१; २. तोलका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

पलायमरण—दे० मरण/१।

पलाशगिरि—भद्रशालवनमें स्थित एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक/७।

पलिकुंचन—सामान्य अतिचारका एक भेद—दे० अतिचार/१।

पल्य—१. रा. वा./३/३८/७/२०८/११ पल्यानि कुशूला इत्यर्थ। =पल्यका अर्थ गड्ढा। २. पल्य प्रमाणके भेद व लक्षण तथा उनकी प्रयोग विधि—दे० गणित/I/१, २ A measure of Time.

पल्लव—दक्षिणमे कांचीके समीपवर्ती प्रदेश। यहाँ इतिहास प्रसिद्ध पल्लव वंशी राजाओका राज्य था। (म पु/प्र. ५०/प. पन्नालाल)।

पल्लव विधान व्रत—इस व्रतकी विधि दो प्रकारसे कही गयी है—लघु व वृहत। लघु विधि —क्रमश १,२,३,४,५,४,३,२,१ इस प्रकार २५ उपवास एकान्तरा क्रमसे करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान सग्रह/पृ ५०) वर्द्धमान पुराण)।

२. वृहत् विधि—वृहत् विधानसंग्रह/पृ. ५०

मास	कृष्ण पक्ष		शुक्ल पक्ष	
	उपवास तिथि	वेला तिथि	उपवास तिथि	वेला तिथि
आश्विन	६,१३	१०-११	१४	
कार्तिक	१२		३,१२	
मंगसिर	११		३,१३	
पौष	२,१५		५,७,१५	
माघ	४,७,१४		१०	७-८
फाल्गुन		६-७	१,११	
चैत्र	४,६,८,११	१-२	७,१०	
वैशाख	४,१०		६,१३	२-३
ज्येष्ठ	१०	१३-१४ का तेला	८,१० १५	
आषाढ	१३-१५ का तेला	१०	८-१० १५	
श्रावण	४,६,८,१४		३,१५	१२-१३
भाद्र	६-७	२,१२	६-१५	५-७ का तेला ११-१३ का तेला

कुल—४ तेला; ७ वेला व ४८ उपवास।

नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करना चाहिए। (किशनसिंह क्रिया कोष।

पवनंजय—प. पु./१५/श्लोक आदित्यपुरके राजा प्रह्लादका पुत्र था (८)। हनुमानका पिता था (३०७)।

पवन—दे० पवन।

पवाइज्जमाण—जो उपदेश आचार्य सम्मत होता है और चिर-कालसे अविच्छिन्न सम्प्रदायके क्रमसे चला आता हुआ शिष्य पर-म्पराके द्वारा लाया जाता है वह पवाइज्जमाण कहा जाता है।

पशु—१. ध. १३/५,५,१४०/३९१/१२ सरोमन्था पशवो नाम।=जो रोथते है वे पशु कहलाते है। २. मुनियोंके लिए पशु सग निषेध।—दे० संगति।

पश्चात् स्तुति—१ आहारका एक दोष—दे० आहार/II/२। २ वस्तिका का एक दोष—दे० वस्तिका।

पश्चातानुपूर्वी—दे० आनुपूर्वी।

पश्यन्ती—दे० भाषा।

पांचाल—१. भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४, २ कुरुक्षेत्रके पूर्ववर्ती देश। चर्मण्वती नदी तक विस्तृत था। दो भाग थे—उत्तर व दक्षिण। उत्तर पांचालकी राजधानी अहिच्छत्रा (अहिक्षेत्र) और दक्षिण पाचालकी राजधानी कम्पिला थी। (म. पु /प्र. ४९/प पन्नालाल)।

पांडव—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार भगवान् वीरके पश्चात् मूल परम्परामे तीसरे ११ अगधारी थे। समय—वी. नि. ३८३-४२० (ई० पू० १४४-१०५)—दे० इतिहास/४/१। २ पा. पु./सर्ग/श्लोक युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल व सहदेव, ये पाँचो कुरुवंशी राजा पाण्डुके पुत्र होनेसे पाण्डव कहलाते थे (८/२१७)। भीमके बलसे अपमानित होने तथा इनका राज्य हडपना चाहनेके कारण कौरव राजा दुर्योधन इनसे द्वेष करता था (१०/३४-४०)। उसी द्वेष वश उसने इनको लाक्षागृहमे जलाकर मारनेका षड्यन्त्र किया, पर किसी प्रकार पाण्डव वहाँसे बच निकले (१८/६०,११५,१६६)। और अर्जुनने स्वयवरमें द्रौपदी व गाण्डीव धनुष प्राप्त किया (१५/१०५)। वहीं पर इनका कौरवोसे मिलाप हुआ (१५/१४३,१८२-२०२) तथा आधा राज्य बाँटकर रहने लगे (१६/२-२)। परन्तु पुन ईर्षावश दुर्योधनने जुएमे इनका सर्व राज्य जीतकर इन्हें बारह वर्ष अज्ञातवास करनेपर बाध्य किया (१६/१४,१०५-१२५)। सहायवनमें इनकी दुर्योधनके साथ मुठभेड हो गयी (१७/८७-२२१)। जिसके पश्चात् इन्हे विराट नगरमें राजा विराटके यहाँ छद्मवेशमे रहना पडा (१७/२३०)। द्रौपदी-पर दुराचारी दृष्टि रखनेके अपराधमें वहाँ भीमने राजाके साले कीचक व उसके १०० भाइयोको मार डाला (१७/२७८)। छद्मवेशमें ही कौरवोसे भिडकर अर्जुनने राजाके गोकुलकी रक्षा की (१९/१५२)। अन्तमें कृष्ण जरासन्ध युद्धमें इनके द्वारा सब कौरव मारे गये (१९/ ९१;२०/२९६)। एक विद्याधर द्वारा हर ली गयी द्रौपदीको अर्जुनने विद्या सिद्ध करके पुन प्राप्त किया (२१/११४,११८)। तत्पश्चात् भगवान् नेमिनाथके समीप जिन दीक्षा धार (१५/१२) शत्रुंजय गिरि पर्वतपर घोर तप किया (२५/१२)। दुर्योधनके भानजे कृत दुस्सह उपसर्गको जीत युधिष्ठिर, भीम व अर्जुन मुक्त हुए और नकुल व सहदेव सर्वार्थसिद्धिमें देव हुए (२५/५२-१३६)।

पांडव पुराण—१. इस नामके कई ग्रन्थ है—आचार्य शुभचन्द्र द्वारा रचित यह ग्रन्थ संस्कृत छन्दबद्ध है। वि०१६०८ ई० १५५१ में लिखा गया था। इसमे २५ पर्व हैं, और कुल ५१०४ श्लोक है। २. आचार्य यश कीर्ति (ई० १४४०-१४५०) द्वारा रचित अपभ्रंश छन्दबद्ध। ३. वादिचन्द्र भट्टारक (ई० १६०१) द्वारा रचित।

पांडु—१. चक्रवर्तीकी नव निधियोंमे से एक।—दे० शलाका पुरुष। २ पा. पु/सर्ग/श्लोक भीष्मके सोतेले भाई व्यासका पुत्र था (७/ ११७)। अन्धकवृष्णिकी कुन्ती नामक पुत्रीसे छद्मवेशमे सम्भोग किया। उससे कर्ण नामक पुत्र उत्पन्न हुआ (७/१६४-१६६,७/२०४)। तत्पश्चात् उसकी छोटी बहन मद्री सहित कुन्तीसे विवाह किया (८/३४-१०७)। कुन्तीसे युधिष्ठिर, अर्जुन व भीम, तथा मद्रीसे नकुल व सहदेव उत्पन्न हुए। ये पाँचो ही आगे जाकर पाण्डव नाम-से प्रसिद्ध हुए (८/१४३-१७५)। अन्तमें दीक्षा धारण कर तीन मुक्त हुए और दो समाधि पूर्वक स्वर्गमे उत्पन्न हुए (९/१२७-१३८)।

पांडुक—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर, २. कुण्डल पर्वतस्थ माहेन्द्रकूटका स्वामी नागेन्द्र देव—दे० लोक/७।

पांडुकंबलाशिला—सुमेरुपर्वतपर एक शिला, जिसपर पश्चिम विदेहके तीर्थंकरोका जन्म कल्याणक सम्बन्धी अभिषेक किया जाता है।—दे० लोक/३/१४।

पांडुशिला—सुमेरु पर्वत पर स्थित एक शिला। जिसपर भरत-क्षेत्रके तीर्थंकरोका जन्म कल्याणके अवसर पर अभिषेक किया जाता है।—दे० लोक/७।

पांडुकवन—सुमेरु पर्वतका चतुर्थ वन। इसमे ४ चैत्यालय है।—दे० लोक/३/१४।

पांडुर—१. दक्षिण क्षीरवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यन्तर/४। २ कुण्डल पर्वतस्थ हिमवतकूटका स्वामी नागेन्द्र देव।—दे० लोक/७।

पांडच—मध्य आर्यखण्डस्थ देश—दे० मनुष्य/४।

पांडचवाटक—मलयगिरिके मध्यभागमें एक पर्वत। —दे० मनुष्य/४।

पांड्य—मद्रासके अन्तर्गत वर्तमान केरल देश। (म पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

पांशुतापि—आकाशोपपन्न देव।—दे० देव/II/१।

पांशुमूल—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

पाक्षिक श्रावक—दे० श्रावक/३।

पाटलीपुत्र—बिहार प्रान्तकी राजधानी वर्तमान पटना (म पु./प्र ४९/पं पन्नालाल)।

पाणिमुक्तागति—दे० विग्रहगति/२।

पाताल—१ विमलनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० यक्ष, २ लवण समुद्रकी तलीमें स्थित बड़े-बड़े खड। ये तीन प्रकारके है—उत्तम, मध्यम व जघन्य (दे० लोक/४/१)।

पातालवासी—रा वा /४/२३/४/२४२/१४ पातालवासिनो लवणोदादिसमुद्रावासा' सुस्थितप्रभासादय । =लवण आदि समुद्रोंमें भली प्रकार रहनेवाले प्रभास आदि देव पातालवासी कहलाते है।

पात्र—मोक्षमार्गमें दानादि देने योग्य पात्र सामान्य भिखारी लोग नहीं हो सकते। रत्नत्रयसे परिणत अविरत सम्यग्दृष्टिसे ध्यानारूढ योगी पर्यन्त ही यहाँ अपनी भूमिकानुसार जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भेदरूप पात्र समझे जाते है। महाव्रतधारी साधु भी यदि मिथ्यादृष्टि हैं तो कुपात्र है पात्र नहीं। सामान्य भिखारी जन तो यहाँ अपात्रकी कोटिमें गिने जाते है। तहाँ दान देते समय पात्रके अनुसार ही दातारकी भावनाएँ होनी चाहिए।

१. पात्र सामान्यका लक्षण

र. सा./१२५-१२६ वसणसुद्धो धम्मज्झाणरदो संगवज्जिदो णिसल्लो। पत्तविसेसो भणियो ते गुणहीणो दु विवरीदो।१२५। सम्माइ गुणविसेस पत्तविसेस जिणेहि णिद्दिट्ठ।१२६। =जो सम्यग्दर्शनसे शुद्ध है, धर्मध्यानमें लीन रहता है, सब तरहके परिग्रह व मायादि शल्योंसे रहित है, उसको विशेष पात्र कहते हैं उससे विपरीत अपात्र है।१२५। जिसमें सम्यग्दर्शनकी विशेषता है उसमें पात्रपनेकी विशेषता समझनी चाहिए।१२६।

स सि./७/३९/३७३/८ मोक्षकारणगुणसयोग पात्रविशेष.। =मोक्षके कारणभूत गुणोंसे संयुक्त रहना यह पात्रकी विशेषता है। अर्थात् जो मोक्षके कारणभूत गुणोंसे सयुक्त होता है वह पात्र होता है। (रा.वा /७/३९/५/५५९/२१)।

सा ध./५/४३ यत्तारयति जन्माब्धे', स्वाश्रितान्यानपात्रवत्। मुक्त्यर्थगुणसंयोग-भेदात्पात्र त्रिधा मतम्।४३। =जो जहाजकी तरह अपने आश्रित प्राणियोंको संसाररूपी समुद्रसे पार कर देता है वह पात्र कहलाता है, और वह पात्र मोक्षके कारणभूत सम्यग्दर्शनादि गुणोंके सम्बन्धसे तीन प्रकारका होता है।४३।

प्र. सा./ता वृ /२६०/३५२/१५ शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणतपुरुषा' पात्र भवन्तीति। =शुद्धोपयोग अथवा शुभोपयोगसे परिणत जीव पात्र कहलाते है।

२. पात्रके भेद

र सा /१२३ अविरददेसमहव्वयआगमरुइणं वियारतच्चण्ह। पत्ततरं सहस्स णिद्दिट्ठ जिणवरिंदेहिं।१२३। =अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती, श्रावक, महाव्रतियोंके भेदसे, आगममें रुचि रखनेवालो तथा तत्त्वके विचार करनेवालोंके भेदसे जिनेन्द्र भगवान्‌ने हजारों प्रकारके पात्र बतलाये है।

वसु.श्रा./२२१ तिविहं मुणेह पत्तं उत्तम-मज्झिम-जहण्णभेएण। =उत्तम मध्यम व जघन्यके भेदसे पात्र तीन प्रकारके जानने चाहिए। (पु.सि. उ./१७१); (प.वि./२/४८); (अ ग.श्रा./१०/२)।

३. नाममात्रका जैन भी पात्र है

सा. ध./२/५४ नामत' स्थापनातोऽपि, जैन पात्रायतेतराम्। स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभि'।५४। =नामनिक्षेपसे और स्थापनानिक्षेपसे भी जैन विशेष पात्रके समान मालूम होता है। वह जैन द्रव्यनिक्षेपसे पुण्यात्माओंके द्वारा तथा भावनिक्षेपसे महात्माओंके द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।५४।

४. उत्तम, मध्यम व जघन्य पात्रके लक्षण

बा अ./१७-१८ उत्तमपत्तं भणियं सम्मत्तगुणेण संजुदो साहू। सम्मादिट्ठी सावय मज्झिमपत्तोहु विण्णेयो।१७। णिद्दिट्ठो जिणसमये अविरदसम्मो जहण्णपत्तोत्ति।१८। =जो सम्यक्त्व गुण सहित मुनि हैं, उन्हें उत्तम पात्र कहा है, और सम्यक्त्वदृष्टि श्रावक हैं, उन्हें मध्यम पात्र समझना चाहिए।१७। तथा व्रतरहित सम्यग्दृष्टिको जघन्य पात्र कहा है।१८। (ज. प./२/१४९-१५१); (पं. वि./२/४८); (वसु. श्रा /२२१-२२२) (गुण. श्रा /१४८-१४९), (अ. ग श्रा./१०/४), (सा. ध./५/४४)।

र. स./१२४ उवसम णिरीह झाणज्झयणाइमहागुणाजहादिट्ठा। जेसिं ते मुणिणाहा उत्तमपत्ता तहा भणिया।१२४। =उपशम परिणामोंको धारण करनेवाले, बिना किसी इच्छाके ध्यान करने वाले तथा अध्ययन करने वाले मुनिराज उत्तम पात्र कहे जाते है।१२४।

५. कुपात्रका लक्षण

ज प/२/१५० उववासमोसियतणू णिस्सगो कामकोहपरिहीणो। मिच्छत्तसंसिदमणो णायव्वो सो अपत्तो त्ति।१५०। =उपवासोंसे शरीरको कृश करनेवाले, परिग्रहसे रहित, काम, क्रोधसे विहीन परन्तु मनमें मिथ्यात्व भावको धारण करनेवाले जीवको अपात्र (कुपात्र) जानना चाहिए।१५०।

वसु. श्रा./२२३ वय-तव-सीलसमग्गो सम्मत्तविवज्जियो कुपत्तं तु।२२३। =जो व्रत, तप और शीलसे सम्पन्न है, किन्तु सम्यग्दर्शनसे रहित है, वह कुपात्र है। (गुण. श्रा./१५०); (अ. ग. श्रा./१०/३८-३९); (प वि /२/४८)

६ अपात्रका लक्षण

बा अ./१८ सम्मत्तरयणरहियो अपत्तमिदि सपरिक्खेज्जो। =सम्यक्त्वरूपी रत्नसे रहित जीवको अपात्र समझना चाहिए।

वसु. श्रा./२२३ सम्मत्त-सील-वयवज्जिओ अपत्त हवे जीओ। २२३। =सम्यक्त्व, शील और व्रतसे रहित जीव अपात्र है। (पं. वि./२/४८), (अ. ग. श्रा /१०/३६-३८)।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. पात्र अपात्र व कुपात्रके दानका फल —दे० दान।
२. नमस्कार योग्य पात्र अपात्र —दे० विनय/४।
३ ज्ञानके योग्य पात्र अपात्रका लक्षण —दे० श्रोता।
४. ज्ञान किसे देना चाहिए और किसे नहीं —दे० उपदेश/३।

पात्रकेसरी—१ आप ब्राह्मण कुलसे थे। न्यायशास्त्रमें पारंगत थे। आचार्य विद्यानन्दिकी भाँति आप भी समन्तभद्र रचित देवागमस्तोत्र सुननेसे ही जैनानुयायी हो गये थे। आपने त्रिलक्षण-

कदर्थन, तथा जिनेन्द्रगुणस्तुति (पात्रकेसरी स्तोत्र) ये दो ग्रन्थ लिखे। समय—पूज्यपादके उत्तरवर्ती और अकलंकदेवसे पूर्ववर्ती है—ई श. ६-७ (सि. वि./प्र /२१/पं. महेन्द्र), (म पु/प्र. ४७/पं. पन्नालाल)। २. श्लोकवार्तिककार आ. विद्यानन्दिका नाम भी पात्रकेसरी प्रसिद्ध था। दे० विद्यानन्दि न. १ (जैन हितैषी, पं. नाथूराम)।

पात्रकेसरीस्तोत्र—आचार्य पात्रकेसरी (ई श ६-७) द्वारा संस्कृत श्लोकोमें निबद्ध जिनेन्द्रकी स्तुतिका पाठ है। इसमें ५० श्लोक है।

पात्र दत्ति—दे० दान।

पाद—१. क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१; २. ¼ (प्रत्येक शताब्दीमें चार पाद होते हैं। प्रत्येक पाद २५ वर्षका माना जाता है।); ३ वर्गमूलका अपरनाम —दे० गणित/I/१/७।

पादुकार—वसतिकाका एक दोष—दे० 'वसतिका'।

पाद्य स्थिति कल्प—भ. आ./वि /४२१/६१६/१० पज्जो समण-कप्पो नाम दशम। वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेषु एकत्रैवावस्थान भ्रमण-त्यागः। स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा क्षितिः। तदा भ्रमणे महान-सयम; ·इति विंशत्यधिक दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्गः। कारणापेक्षया तु हीनाधिकं वावस्थानं, सयताना आषाढशुद्धदशम्या स्थितानां उपरिष्टाच्च कार्तिकपौर्णमास्यास्त्रिंशद्दिवसावस्थानं। वृष्टिबहुलतां, श्रुतग्रहण, शक्त्यभाववैयावृत्त्यकरणं प्रयोजनमुद्दिश्य अवस्थानमेकत्रेति उत्कृष्ट' काल। मार्या, दुर्भिक्षे, ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशान्तरं याति। ·पौर्णमास्या-माषाढ्यामतिक्रान्तायां प्रतिपदादिषु दिनेषु याति। यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य एष। =वर्षा कालमें चार मासमें एक ही स्थानमें रहना अर्थात् भ्रमणका त्याग यह पाद्य नाम-का दसवां स्थिति कल्प है। वर्षाकालमें जमीन स्थावर और त्रस जीवोसे व्याप्त होती है। ऐसे समयमें मुनि यदि विहार करेंगे तो महा असयम होगा। इत्यादि दोषोंसे बचनेके लिए मुनि एक सौ बीस दिवस एक स्थानमें रहते है, यह उत्सर्ग नियम है। कारण वश इससे अधिक या कम दिवस भी एक स्थानमें ठहर सकते है। अ षाढ शुक्ला दशमीसे प्रारम्भ कर कार्तिक पौर्णमासीके आगे भी और तीस दिन तक एक स्थानमें रह सकते है। अध्ययन, वृष्टिकी अधिकता, शक्तिका अभाव, वैयावृत्त्य करना इत्यादि प्रयोजन हो तो अधिक दिन तक रह सकते है। · मारी रोग, दुर्भिक्षमें ग्रामके लोगोंका अथवा देशके लोगोंका अपना स्थान छोडकर अन्य ग्रामा-दिकमें जाना, गच्छका नाश होनेके निमित्त उपस्थित होना, इत्यादि कारण उपस्थित होनेपर मुनि चातुर्मासमें भी अन्य स्थानों-पर जाते है। इसलिए आषाढ पूर्णिमा व्यतीत होनेपर प्रतिपदा वगैरह तिथिमें अन्यत्र चले जाते है। इस प्रकार बीस दिन एकसौ बीसमें कम किये जाते है, इस तरह कालकी हीनता है।

★ **वर्षायोग स्थापना निष्ठापना विधि** (दे० कृतिकर्म/४)

पान—मू.आ /६४४ पाणाणमणुग्गह तहा पाणं। ।६४४। =अशनादि चार प्रकारके आहारमें-से, जिससे दस प्राणोका उपकार हो वह पान है।६४४।

पानक—१—आहारका एक भेद—दे० आहार /I/१

भ.आ /मू/७००/८८२ सत्थ बहल लेवडमलेवडं च ससित्थमसित्थं। छव्विहपाणयमेयं पाणयपरिकम्मपाओग्गं ।७००। ='स्वच्छ (गर्म जल), बहल (इमलीका पानी आदि), लेवड (जो हाथको चिपके), अलेवड (जो हाथको न चिपके जैसे माड); ससिक्थ (भातके दानो सहित माड) ऐसा छह प्रकारका पानक आगममें कहा है। [इन छहोंके लक्षण—दे० वह वह नाम।]

पानदशमी व्रत—व्रतविधान संग्रह/१३० पान दशमि बीरा दश पान। दश श्रावक दे भोजन ठान। =दश श्रावकोको भोजन कराकर फिर स्वयं भोजन करे, वह पान दशमी व्रत कहलाता है। (नवल साहकृत वर्द्धमान पुराण)

पानांग कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष/१।

पाप—निरुक्ति.—

स.सि./६/३/३२०/३ पाति रक्षति आत्मानं शुभादिति पापम्। तद् सद्वेद्यादि। =जो आत्माको शुभसे बचाता है, वह पाप है। जैसे—असाता वेदनीयादि। (रा. वा /६/३/५/५०७/१४)।

भ. आ /वि./३८/१३४/२१ पापं नाम अनभिमतस्य प्रापक। =अनिष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति जिससे होती है ऐसे कर्मको (भावोंको) पाप कहते हैं।

२. अशुभ उपयोग

प्र. सा /मू /१८१ सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं त्ति भणियमण्णेसु। =परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है, और अशुभ परिणाम पाप है।

द्र. स.मु /३८ असुहभावजुत्ता ·पावं हवंति खलु जीवा ।३८। =अशुभ परिणामोंसे युक्त जीव पाप रूप होते है।

स. म./२७/३०२/१७ पाप हिंसादिक्रियासाध्यमशुभ कर्म। =पाप हिंसादिसे होनेवाले अशुभकर्म रूप होता है।

३. निन्दित आचरण

पं. का /मू./१४० सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि। णाण च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ।१४०। =चारो सज्ञाएँ, तीन लेश्याएँ, इन्द्रिय वशता, आर्त रौद्रध्यान, दु प्रयुक्त ज्ञान और मोह-यह भाव पाप प्रद है।१४०।

न. च. वृ./१६२ अहवा कारणभूदा तेसिं च वयव्वयाइ इह भणिया। ते खलु पुण्णं पाव जाण इम पवयणे भणिय ।१६२। =अशुभ वेदादिके कारण जो अव्रतादि भाव है उनको शास्त्रमें पाप कहा गया है।

यो सा. अ /८/३८ निन्दकत्वं प्रतीक्ष्येषु नैर्घृण्यं सर्वजन्तुषु। निन्दिते चरणे राग. पापबन्धविधायक ।३८। =अर्हन्तादि पूज्य पुरुषोंकी निन्दा करना, समस्त जीवोमें निर्दय भाव रहना, और निन्दित आचरणोंमें प्रेम रखना आदि बंधका कारण हैं।

२. पापका आधार बाह्य द्रव्य नहीं

स. सि./६/११/३३०/१ परमकरुणाशयस्य निःशल्यस्य सयतस्योपरि गण्ड पाटयतो दु खहेतुत्वे सत्यपि न पापबन्धो बाह्यनिमित्तमात्रादेव भवति। =अत्यन्त दयालु किसी वैद्यके फोडेकी चीर-फाड और मरहम पट्टी करते समय नि'शल्य सयतको दुख देनेमें निमित्त होने-पर भी केवल बाह्य निमित्त मात्रसे पाप बन्ध नहीं होता।

दे० पुण्य/१/४ (पुण्य व पापमें अन्तरंग प्रधान है)।

३. पाप (अशुभ नामकर्म) के बन्ध योग्य परिणाम

त. सू /६/३,२२ ·अशुभ पापस्य ।३। योगवक्रता विसंवादनं चाशुभस्य नाम्न' ।२२। =अशुभ योग पापास्रवका कारण है।३। योग वक्रता और विसंवाद ये अशुभ नामकर्मके आस्रव है।२२।

प. का /मू /१३९ चरिया पमादबहुला कालुस्स लोलदा य विसयेसु। परपरितावपवादो पावस्स य आसव कुणदि ।१३९। =बहु प्रमाद-वाली चर्या, कलुषता, विषयोंके प्रति लोलुपता, परको परिताप करना तथा परके अपवाद बोलना—वह पापका आस्रव करता है।१३९।

मू. आ /२३५ पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपा सुद्ध एव उवओगो। विवरीदं पावस्स दु आसवहेउं वियाणादि ।२३५। = ·शुभसे विपरीत

निर्दयपना मिथ्याज्ञानदर्शनरूप उपयोग पापकर्मके आस्रवके कारण है।२३५।

रा. वा /६/२२/४/५२८/१८ चशब्द' क्रियते अनुक्तस्यास्रवस्य समुच्चयार्थ । क पुनरसौ । मिथ्यादर्शन-पिशुनताऽस्थिरचित्तस्वभावता-कूटमानतुलाकरण - सुवर्णमणिरत्नाद्यनुकृति - कुटिलसाक्षित्वाङ्गोपाङ्ग-च्यावनवर्णगन्धरसस्पर्शान्यथाभावन-यन्त्रपञ्जरक्रियाद्रव्यान्तरविषय-सबन्धनिकृतिभूयिष्ठता - परनिन्दात्मप्रशंसा-नृतवचन परद्रव्यादान - महारम्भपरिग्रह - उज्ज्वलवेषरूपमद - परुषासभ्यप्रलाप - आक्रोश - मौखर्य - सौभाग्योपयोगवशीकरणप्रयोगपरकुतूहलोत्पादनालंकारा-दर - चैत्यप्रदेशगन्धमाल्यधूपादिमोषण-विलम्बनोपहास-इष्टिकापाक-दवाग्निप्रयोग-प्रतिमायतनप्रतिश्रयारामोद्यानविनाशनतीव्रक्रोधमान - मायालोभ-पापकर्मोपजीवनादिलक्षण । स एष सर्वोऽशुभस्य नाम्न आस्रव । =च शब्द अनुक्तके समुच्चयार्थ है। मिथ्यादर्शन, पिशुनता, अस्थिरचित्तस्वभावता, झूठे बाट तराजू आदि रखना, कृत्रिम सुवर्ण मणि रत्न आदि बनाना, झूठी गवाही, अग उपागोंका छेदन, वर्ण गन्ध रस और स्पर्शका विपरीतपना, यन्त्र पिजरा आदि बनाना, माया बाहुल्य, परनिन्दा, आत्म प्रशंसा, मिथ्या भाषण, पर द्रव्यहरण, महारम्भ, महा परिग्रह, शौकीन वेष, रूपका घमण्ड, कठोर असभ्य भाषण, गाली बकना, व्यर्थ बकवास करना, वशीकरण प्रयोग, सौभाग्योपयोग, दूसरेमे कौतूहल उत्पन्न करना, भूषणोंमे रुचि, मंदिरके गन्धमाल्य या धूपादिका चुराना, लम्बी हँसी, ईंटोंका भट्टा लगाना, वनमें दावाग्नि जलवाना, प्रतिमायतन विनाश, आश्रय-विनाश, आराम-उद्यान विनाश, तीव्र क्रोध, मान, माया व लोभ और पापकर्म जीविका आदि भी अशुभ नामके आस्रवके कारण है। (स. सि /६/२२/३३७/५), (ज्ञा /२/७-७) ।

४. पापका फल दु.ख व कुगतियोंकी प्राप्ति

स सि /७/९-१० हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ।९। दु खमेव वा ।१०। =हिंसादिक पाँच दोषोंमें ऐहिक और पारलौकिक उपाय और अवद्यका दर्शन भावने योग्य है।९। अथवा हिंसादिक दु ख ही है ऐसी भावना करनी चाहिए ।१०।

प्र. सा./मू /१२ असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो। दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चता ।१२। =अशुभ उदयसे कुमानुष, तिर्यंच, और नारकी होकर हजारों दुःखोंसे सदा पीडित होता हुआ (संसारमे) अत्यन्त भ्रमण करता है ।१२।

ध. १/१,१,२/१०५/५ काणि पावफलाणि। णिरय - तिरियकुमाणुस-जोणीसु जाइ-जरा-मरण-वाहि-वेयणा-दालिद्दादीणि । =प्रश्न—पापके फल कौनसे है ? उत्तर—नरक, तिर्यंच और कुमानुषकी योनियोंमें जन्म, जरा, मरण, व्याधि, वेदना और दारिद्र आदिकी प्राप्ति पापके फल है।

५. पाप अत्यन्त हेय है

स. सा./आ /३०६ यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादि स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद्विषकुम्भ एव । =प्रथम तो जो अज्ञानजनसाधारण (अज्ञानी लोगोंको साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं वे तो शुद्ध आत्माकी सिद्धिके अभाव रूप स्वभाववाले है इसलिए स्वयमेव अपराध स्वरूप होनेसे विषकुम्भ ही है। (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य है।)

प्र. सा./त प्र /१२ ततश्चारित्रलेशस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति । =चारित्रके लेशमात्रका भी अभाव होनेसे यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय है।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. व्यवहार धर्म परमार्थतः पाप है। —दे० धर्म/४।
२ पापानुबन्धी पुण्य। —दे० मिथ्यादृष्टि/४।
३. पुण्य व पापमें कथंचित् भेद व अभेद। —दे० पुण्य/२,४।
४. पापकी कथंचित् इष्टता। —दे० पुण्य/३।
५. पाप प्रकृतियोंके भेद। —दे० प्रकृतिबन्ध/२।
६. पापका आस्रव व बन्ध तत्त्वमें अन्तर्भाव। —दे० पुण्य/२/४।
७ पूजादिमें कथंचित् सावद्य है फिर भी वे उपादेय है। —दे० धर्म/४/५।
८. मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है। —दे० मिथ्यादर्शन।
९ मोह-राग द्वेषमें पुण्य-पापका विभाग। —दे० राग/२।

पापोपदेश—दे० अनर्थदण्ड।

पामिच्छ—वसतिकाका एक दोष। —दे० वसतिका।

पामीर—ज प/प्र/१/A.N.Up,H L Jain "पामीरका पूर्व प्रदेश चीनी तुर्किस्तान है। (१४०)। हिन्दुकुशपर्वतका विस्तार वर्तमान भूगोलके अनुसार पामीर प्रदेश और काबुलके पश्चिम कोहे बाबा तक माना जाता है। (४१)। वर्तमान भूगोलके अनुसार पामीरका मान १५०×१५० मील है। वह चारों ओर हिन्दुकुश, काराकोरम, काशगर, कतार पहाडोंसे घिरा हुआ है। —पौराणिक कालमें इसका नाम मेरुमण्डल या इलावृत था।

पारा—भरत आर्य खण्डकी एक नदी —दे० मनुष्य/४।

पारंचिक परिहार प्रायश्चित्त—दे० परिहार-प्रायश्चित्त।

पारपरिमित—Transfinite Cordinals या finite Cordinals.—(ध. ५/प्र /२८)।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष—दे० प्रत्यक्ष।

परामृष्य—आहारका एक दोष—दे० आहार/II/२।

पाराशर—एक नियतवादी—दे० वैनयिक।

पारिणामिक—प्रत्येक पदार्थके निरुपाधिक तथा त्रिकाली स्वभावको उसका पारिणामिक भाव कहा जाता है। भले ही अन्य पदार्थोंके सयोगकी उपाधिवश द्रव्य अशुद्ध प्रतिभासित होता हो, पर इस अचलित स्वभावसे वह कभी च्युत नहीं होता, अन्यथा जीव घट बन जाये और घट जीव।

१ पारिणामिक सामान्यका लक्षण

स सि /२/१/१४९/६ द्रव्यात्मलाभमात्रहेतुक परिणाम । [स. सि /२/७/१६१/२]" पारिणामिकत्वम् · कर्मोदयोपशमक्षयक्षयोपशमानपेक्षित्वात् / =१. जिसके होनेमे द्रव्यका स्वरूप लाभ मात्र कारण है वह परिणाम है। (पं का /त प्र /५६)। २ कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमके बिना होनेसे पारिणामिक है। (रा.वा /२/१/-५/१००/२१)।

रा वा /२/७/२/११०/२२ तद्भावादनादिद्रव्यभवनसम्बन्धपरिणामनिमित्तत्वात् पारिणामिका इति।

रा वा /२/१/६/१००/२७ परिणाम स्वभाव प्रयोजनमस्येति पारिणामिक' इत्यन्वर्थसज्ञा। =कर्मके उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षा न रखनेवाले द्रव्यकी स्वभावभूत अनादि पारिणामिक शक्तिसे ही आविर्भूत ये भाव परिणामिक है। (ध. १/१,१,८/१६१/३),

(ध. ६/१,७,३/१६६/११), (गो.क./मू./८१५/९८८); (नि.सा./ता. वृ./४१), (गो.जी./जी.प्र./८/२६/१५)। परिणाम अर्थात् स्वभाव ही है प्रयोजन जिसका वह पारिणामिक है, यह अन्वर्थ संज्ञा है। (न च.वृ./३७५), (पं का./त प्र /५६)।

ध. ५/१,७,१/१८५/३ जो चउहि भावेहि पुव्वुत्तेहिं वदिरित्तो जीवाजीव-गओ सो पारिणामिओ णाम। =जो क्षायिकादि चारो भावोंसे व्यतिरिक्त जीव अजीवगत भाव है, वह पारिणामिक भाव है।

न. च वृ./३७४ कम्मज भावातीदं जाणगभावं विसेस आहारं। तं परिणामो जीवो अचेयणं भवदि इदराण ।३७४। =जो कर्मजनित औदयिकादि भावोंसे अतीत है तथा मात्र ज्ञायक भाव ही जिसका विशेष आधार है, वह जीवका पारिणामिक भाव है, और अचेतन भाव शेष द्रव्योंका पारिणामिक भाव है।

पं. ध./उ./९७१ कृत्स्नकर्मनिरपेक्षः प्रोक्तावस्थाचतुष्टयात्। आत्मद्रव्य-त्वमात्रात्मा भाव. स्यात्पारिणामिक ।९७१। =कर्मोंके उदय, उप-शमादि चारों अपेक्षाओंसे रहित केवल आत्म द्रव्यरूप ही जिसका स्वरूप है वह पारिणामिक भाव कहलाता है।९७१।

२. साधारण असाधारण पारिणामिक भाव निर्देश

त. सू./२/७ जीवभव्याभव्यत्वानि च ।७।

स सि./२/७ जीवत्वं भव्यत्वमभव्यत्वमिति त्रयो भावा' पारिणामिका अन्यद्रव्यासाधारणा आत्मनो वेदितव्या ।···ननु चास्तित्वनित्यत्व-प्रदेशवत्त्वादयोऽपि भावा' पारिणामिका सन्ति। अस्तित्वादय' पुनर्जीवाजीवविषयत्वात्साधारणा इति चशब्देन पृथग्गृह्यन्ते। =जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व ये तीन पारिणामिक भावके भेद है।७। ये तीनो भाव अन्य द्रव्योमे नहीं होते इसलिए आत्माके (असाधारण भाव) जानने चाहिए। (रा वा /२/७/१/११०/१६), (ध ५/१,७,१/१९२/४); (गो. क./मू /८१९/९९०), (त. सा /२/८), (नि सा./ता. वृ /४१)। अस्तित्व, नित्यत्व और प्रदेशवत्त्व आदिक भी पारिणामिक भाव है।' ये अस्तित्व आदिक तो जीव और अजीव दोनोंमें साधारण हैं इसलिए उनका 'च' शब्दके द्वारा अलग-से ग्रहण किया है।

रा. वा./२/७/१२/१११/२८ अस्तित्वान्यत्व-कर्तृत्व-भोक्तृत्व-पर्यायवत्त्वा-सर्वगतत्वानादिसंततिबन्धनबद्धत्व-प्रदेशवत्त्वारूपत्व - नित्यत्वादि - समुच्चयार्थश्चशब्द' ।१२। =अस्तित्व, अन्यत्व, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, पर्यायवत्त्व, असर्वगतत्व अनादिसन्ततिबन्धनबद्धत्व, प्रदेशवत्त्व, अरूपत्व, नित्यत्व आदिके समुच्चयके लिए सूत्रमें च शब्द दिया है।

३. शुद्धाशुद्ध पारिणामिक भाव निर्देश

द्र. सं./टी./१३/३८/११ शुद्धपारिणामिकपरमभावरूपशुद्धनिश्चयेन गुण-स्थानमार्गणास्थानरहिता जीवा इत्युक्त पूर्वम्, इदानी पुनर्भव्या-भव्यरूपेण मार्गणामध्येऽपि पारिणामिकभावो भणित इति पूर्वापर-विरोध। अत्र परिहारमाह—पूर्वं शुद्धपारिणामिकभावापेक्षया गुण-स्थानमार्गणानिषेधः कृत इदानी पुनर्भव्याभव्यत्वद्वयमशुद्धपारि-णामिकभावरूप मार्गणामध्येऽपि घटते। ननु-शुद्धाशुद्धभेदेन पारि-णामिकभावो द्विविधो नास्ति किन्तु शुद्ध एव, नैव—यद्यपि सामान्य रूपेणोत्सर्गव्याख्यानेन शुद्धपारिणामिकभाव कथ्यते तथाप्य-पवादव्याख्यानेनाशुद्धपारिणामिकभावोऽप्यस्ति। तथाहि— 'जीव-भव्याभव्यत्वानि च'' इति तत्त्वार्थसूत्रे त्रिधा पारिणामिकभावो भणित', तत्र—शुद्धचैतन्यरूप जीवत्वमविनश्वरत्वेन शुद्धद्रव्या-श्रितत्वाच्छुद्धद्रव्यार्थिकसञ्ज्ञ शुद्धपारिणामिकभावो भण्यते, यत्पुन' कर्मजनितदशप्राणरूप जीवत्व, भव्यत्वम्, अभव्यत्व चेति त्रयं, तद्विनश्वरत्वेन पर्यायाश्रितत्वात्पर्यायार्थिकसंज्ञस्त्वशुद्धपारिणामिक-भाव उच्यते। अशुद्धत्वं कथमिति चेत्—यद्यप्येतदशुद्धपारिणामिक-त्रय व्यवहारेण संसारिजीवेऽस्ति तथा 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति वचनाच्छुद्धनिश्चयेन नास्ति त्रयं, मुक्तजीवे पुन. सर्वथैव नास्ति, इति हेतोरशुद्धत्व भण्यते। तत्र शुद्धाशुद्धपारिणामिकमध्ये शुद्ध-पारिणामिकभावो ध्यानकाले ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति, कस्मात् ध्यानपर्यायस्य विनश्वरत्वात्, शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूपत्वादविनश्वर, इति भावार्थ'। =प्रश्न—शुद्ध पारिणामिक परमभावरूप जो शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जीव गुणस्थान तथा मार्गणा स्थानोसे रहित है ऐसा पहले कहा गया है और अब यहाँ भव्य-अभव्य रूपसे मार्गणाएँ भी आपने पारिणामिक भाव कहा, सो यह तो पूर्वापर विरोध है? उत्तर—पूर्व प्रसंगमें तो शुद्ध पारि-णामिक भावकी अपेक्षासे गुणस्थान और मार्गणाका निषेध किया है, और यहाँपर अशुद्ध पारिणामिक भाव रूपसे भव्य तथा अभव्य ये दोनो मार्गणामें भी घटित होते हैं। प्रश्न—शुद्ध-अशुद्ध भेदसे पारिणामिक भाव दो प्रकारका नही है किन्तु पारिणामिक भाव शुद्ध ही है? उत्तर—वह भी ठीक नहीं, क्योंकि, यद्यपि सामान्य रूपसे पारिणामिक भाव शुद्ध है ऐसा कहा जाता है तथापि अप-वाद व्याख्यानसे अशुद्ध पारिणामिक भाव भी है। इसी कारण "जीव भव्याभव्यत्वानि च" (त सू./२/७) इस सूत्रमे पारि-णामिक भाव तीन प्रकारका कहा है। उनमें शुद्ध चैतन्यरूप जो जीवत्व है वह अविनश्वर होनेके कारण शुद्ध द्रव्यके आश्रित होने-से शुद्ध द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा शुद्ध पारिणामिक भाव कहा जाता है। तथा जो कर्मसे उत्पन्न दश प्रकारके प्राणो रूप जीवत्व है वह जीवत्व, भव्यत्व तथा अभव्यत्व भेदसे तीन तरहका है और ये तीनो विनाशशील होनेके कारण पर्यायके आश्रित होनेसे पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अशुद्ध पारिणामिक भाव कहे जाते है। प्रश्न—इसकी अशुद्धता किस प्रकारसे है? उत्तर—यद्यपि ये तीनो अशुद्ध पारिणामिक व्यवहार नयसे ससारी जीवमें है तथापि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" (द्र स /मू./१३)। इस वचनसे तीनो भाव शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा नहीं है, और मुक्त जीवोंमें तो सर्वथा ही नही है, इस कारण उनकी अशुद्धता कही जाती है। उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भावोंमें-से जो शुद्ध पारिणामिक भाव है वह ध्यानके समय ध्येय यानी—ध्यान करने योग्य होता है, ध्यान रूप नही होता। क्योंकि, ध्यान पर्याय विनश्वर है और शुद्ध पारि-णामिक द्रव्यरूप होनेके कारण अविनाशी है, यह साराश है। (स. सा /ता.वृ /३२०/४०८/१५), (द्र.स./टी /५७/२३६/६)।

४. पारिणामिक भाव अनादि निरुपाधि व स्वाभाविक होता है

प का./त. प्र./५८ पारिणामिकस्त्वनादिनिधनो निरुपाधि स्वाभा-विक एव। =पारिणामिक भाव तो अनादि अनत, निरुपाधि, स्वा-भाविक है।

द्र. स टी /५७/२३६/८ यस्तु शुद्धद्रव्यशक्तिरूप शुद्धपारिणामिकपरम-भावलक्षणपरमनिश्चयमोक्ष स च पूर्वमेव जीवे तिष्ठतीदानी भवि-ष्यतीत्येव न। =शुद्ध द्रव्यकी शक्ति रूप शुद्ध पारिणामिक परमभाव रूप परमनिश्चय मोक्ष है वह तो जीवमें पहले ही विद्यमान है, वह परम निश्चय मोक्ष अब होगा ऐसा नही है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. शुद्ध पारिणामिक भावके निर्विकल्प समाधि आदि अनेकों नाम। —मोक्षमार्ग/२/५।
२. जीवके सर्व सामान्य गुण पारिणामिक हैं। —दे० गुण/२।
३. जीवत्व व सिद्धत्व। —दे० वह वह नाम।

४. औदयिकादि भावोंमें भी कथंचित् पारिणामिक व जीवका स्वतत्त्वपन। —दे० भाव/२।
५. सासादन, भव्यत्व, अभव्यत्व, व जीवत्वमें कथंचित् पारिणामिक व औदयिकपना। —दे० वह वह नाम।
६. सिद्धोंमें कुछ पारिणामिक भावोंका अभाव —दे० मोक्ष/३।
७. मोक्षमार्गमें पारिणामिक भावकी प्रधानता। —दे० मोक्षमार्ग/५।
८. ध्यानमें पारिणामिक भावकी प्रधानता। —दे० ध्येय।

पारितापिकी क्रिया—दे० क्रिया/३।

पारियात्र—विन्ध्य देशका उत्तरीय भाग (ज. प./प्र /१४ A. N. Up. हीरालाल)।

पारिषद—१. पारिषद देवोंका लक्षण

स सि./४/४/२३९/४ वयस्यपीठमर्दसदृशा परिषदि भवा' पारिषदाः। =जो सभामे मित्र और प्रेमी जनोंके समान होते है वे पारिषद कहलाते है। (रा वा /४/४/४/२१२/२६), (म पु./२२/२६)।

ति प /३/६७ बाहिरमज्झब्भतरतडयसरिसा हवति तिप्परिसा।६७। =राजाकी बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर समितिके समान देवोंमें भी तीन प्रकारकी परिषद् होती है। इन परिषदोमें बैठने योग्य देव क्रमशः बाह्य पारिषद, मध्यम पारिषद और अभ्यन्तर पारिषद कहलाते है। (त्रि सा./२२४); (ज प./११/२७०)।

ज प /११/२७१-३८२ सविदा चदा य जदू परिसाणं तिण्णि होंति णामाणि। अब्भतरमज्झिमबाहिरा य कमसो मुणेयव्वा।२७१। बाहिरपरिसा णेया अइरु दा णिट्ठुरा पयडा य। बठा उज्जुदसत्था अवसारं तत्थ घोसति।२८०। वेत्तलदागहियकरा मज्झिम आरूढवेसधारी य। कचुइकद अतेउरमहदरा बहुधा।२८१। वव्वरिचिलादिखुज्जाकम्मतियदासिचेडिवग्गो य। अंतेउराभिओगा करंति णाणाविधे वेसे।२८२। =अभ्यन्तर, मध्यम और बाह्य, इन तीन परिषदोके, क्रमश समिता, चन्दा व जतु ये तीन नाम जानना चाहिए।२७१। (ति सा /२२९) बाह्य पारिषद देव अत्यन्त स्थूल, निष्ठुर, क्रोधी, अविनाहित और शस्त्रोंसे उद्युक्त जानना चाहिए। वे वहाँ 'अपसर' (दूर हटो) की घोषणा करते है।२८०। वेत रूपी लताको हाथमें ग्रहण करनेवाले, आरूढ वेषके धारक तथा कचुकीकी पोषाक पहने हुए मध्यम (पारिषद) बहुधा अन्त पुरके महत्तर होते है।२८१। वर्वरी, किराती, कुब्जा, कर्मान्तिका, दासी और चेटी इनका समुदाय (अभ्यन्तर पारिषद) नाना प्रकारके वेषमें अन्त.पुरके अभियोगको करता है।२८२।

* भवनवासी इन्द्रोंके परिवारमें पारिषदोंका प्रमाण
—दे० भवनवासी आदि भेद।

२. कल्पवासी इन्द्रोंके पारिषदोंकी देवियोंका प्रमाण

ति प /८/३२४-३२७ आदिमदो जुगलेसु बम्हादिसु चउसु आणदचउक्के। पुह पुह सव्विंदाण अब्भतरपरिसदेवीओ।३२४। पचसयचउसयाणि तिसया दोसयाणि एक्कसयं। पण्णास पुव्वोदिदठाणेसु मज्झिमपरिसाए देवीओ।३२६। सत्तच्छपंचचउतियदुगएक्कसयाणि पुव्वठाणेसु। सव्विंदाणं होंति हु बाहिरपरिसाए देवीओ।३२७। =आदिके दो युगल, ब्रह्मादिक चार युगल और आनतादिक चारमें सब इन्द्रोकी अभ्यन्तर पारिषद देवियाँ क्रमश' पृथक्-पृथक् ५००, ४००, ३००, २००, १००,५० और पच्चीस जाननी चाहिए।३२४-३२५। पूर्वोक्त स्थानोमें मध्यम पारिषद देवियाँ क्रमसे ६००, ५००, ४००, ३००, २००, १००, और ५० है।३२६। पूर्वोक्त स्थानोमें सब इन्द्रोंके बाह्य पारिषद देवियाँ क्रमसे ७००, ६००, ५००, ४००, ३००, २०० और १०० है।३२७।

पार्थिवी धारण—दे० पृथिवी।

पार्श्व—नेमिनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० यक्ष।

पार्श्वकृष्टि—दे० कृष्टि।

पार्श्वनाथ—म. पु /७३/श्लोक पूर्वके नवमें भवमें विश्वभूति ब्राह्मणके घरमें मरुभूति नामक पुत्र थे (७-९)। फिर वज्रघोष नामक हाथी हुए (११-१२)। वहाँसे सहस्रार स्वर्गमें देव हुए (१६-२४)। फिर पूर्वके छठे भवमें रश्मिवेग विद्याधर हुए (२५-२६)। तत्पश्चात् अच्युत स्वर्गमें देव हुए (२६-३१)। वहाँसे च्युत हो वज्रनाभि नामके चक्रवर्ती हुए (३२)। फिर पूर्वके तीसरे भवमें मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए (४०) फिर आनन्द नामक राजा हुए (४१-४२)। वहाँसे प्राणत स्वर्गमें इन्द्र हुए (६७-६८)। तत्पश्चात् वहाँसे च्युत होकर वर्तमान भवमें २३ वें तीर्थंकर हुए। अपरनाम 'सुभौम' था।१०१। (और भी दे. म. पु /७३/१६६) विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५।

पार्श्वनाथ काव्य पंजिका—आचार्य शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित सस्कृत काव्य ग्रन्थ।

पार्श्व पंडित—आप ई० १२०५ में एक दिगम्बर पण्डित थे। आपने पार्श्वनाथ पुराणकी रचना की थी। (वराग चरित्र/प्र २२) पं० खुशालचन्द)।

पार्श्वपुराण—पार्श्वपुराण नामके कई ग्रन्थ लिखे गये है। १. महाग्रन्थ आ० पद्मकीर्ति (ई० ९४२) द्वारा रचित सस्कृत श्लोक बद्ध है। इसका कविवर भूधरदास जी (वि. श. १८ का मध्य) के द्वारा भाषामें भाषानुवाद किया गया था। इसमें ९ अधिकार हैं तथा कुल १६००० श्लोक प्रमाण है। २—आ० वादिराज (ई० १०००-१०४०) द्वारा रचित 'पार्श्वनाथ चरित्र' नामका संस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ है। ३ आ० पार्श्व पण्डित (ई० १२०५) कृत। ४. आ० सकलकीर्ति (ई० १४३३-१४७३) कृत। ५. कवि रइधू (ई० १४३९) द्वारा अपभ्रंश छन्दोंमें रचित। ६. आ० चन्द्रकीर्ति (ई० १५९७) द्वारा रचित।

पार्श्वस्थ—

भ. आ./मू./१२९६,१२९९ केई गहिदा इंदियचोरेहिं कसायसावदेहिं वा। पंथ छंडिय णिज्जति साधुसत्थस्स पासम्मि।१२९६। पथ छडिय सो जादि साधुसत्थस्स चेव पासाओ। जो पडिसेवदि पासत्य सेवणाओ हु णिद्धम्मो।१२९९। =कितनेक मुनि इन्द्रिय रूपी चोर और कषायरूप हिंस्र प्राणियोंसे जब पकडे जाते है तब साधुरूप व्यापारियोंका त्याग कर पार्श्वस्थ मुनिके पास जाते है।१२९६। साधु सार्थका मार्ग छोडकर जिस मुनिका आश्रय लेते है वह मुनि चारित्रका त्यागी होता है और पार्श्वस्थ मुनियोंकी क्रियाओका आचरण करता है।१२९९। (भ. आ./मू०/१२९८-१३००)।

मू आ /५९४ दसणणाणचारित्तेतवविणए णिच्चकाल पासत्था। एदे अवदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणाम्।५९४। =दर्शन, ज्ञान, चारित्र, और तप विनयसे सदा काल दूर रहनेवाले और गुणी संयमियोंके सदा दोषोंको देखनेवाले पार्श्वस्थादि है। इसलिए नमस्कार करने योग्य नहीं है।५९४।

भ आ /वि /१९५०/१७२२/३ निरतिचारसयममार्गं जानन्नपि न तत्र वर्तते, किंतु सयममार्गपार्श्वे तिष्ठति नैकान्तेनासयत., न च निरतिचारसयम' सोऽभिधीयते पार्श्वस्थ इति। • उत्पादनैषणादोषदुष्ट वा भुङ्क्ते, नित्यमेकस्या वसतौ वसति, एकस्मिन्नेव सस्तरे शेते, एकस्मिन्नेव क्षेत्रे वसति। गृहिणा गृहाभ्यन्तरे निषद्या करोति,•

दु'प्रतिलेखमप्रतिलेख वा गृहाति, मूचीकर्तरि न · ग्राह्यो, सीवनप्रक्षालनावधूननरञ्जनादिबहुपरिकर्मव्यापृतश्च वा पार्श्वस्थ'। क्षारचूर्णं सोवीरलवणसर्पिरित्यादिकं अनागाढकरणेऽपि गृहीत्वा स्थापयन् पार्श्वस्थ'। =अतिचार रहित सयममार्गका स्वरूप जानकर भी उसमे जो प्रवृत्ति नहीं करता है, परन्तु सयम मार्गके पास ही वह रहता है, यद्यपि वह एकातसे असयमी नही है, परन्तु निरतिचार सयमका पालन नही करता है, इसलिए उसको पार्श्वस्थ कहते है।· जो उत्पादन व एषणा दोष सहित आहार ग्रहण करते है, हमेशा एक ही वस्तिकामें रहते है, एक ही संस्तरमें सोते है, एक ही क्षेत्रमें रहते है, गृहस्थोंके घरमें अपनी बैठक लगाते है। जिसका शोधना अशक्य है अथवा जो सोधा नही गया उसको ग्रहण करते है। सुई, कैंची· · आदि वस्तुको ग्रहण करते है। सीना, धोना, उसको टकना, रगाना इत्यादि कार्योंमें जो तत्पर रहते है ऐसे मुनियोको पार्श्वस्थ कहते है। जो अपने पास क्षारचूर्ण सोहाग चूर्ण, नमक, घी वगैरह पदार्थ कारण न होनेपर भी रखते है उनको पार्श्वस्थ कहना चाहिए।

चा. सा /१४३/३ यो वसतिषु प्रतिवद्ध उपकरणोपजीवी च श्रमणाना पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ'। =जो मुनि वसतिकाओंमें रहते है, उपकरणोंसे ही अपनी जीविका चलाते हैं, परन्तु मुनियोंके समीप रहते है उन्हें पार्श्वस्थ कहते है। (भा. पा./टी./१४/१३७/१७)।

*** पार्श्वस्थ साधु सम्बन्धी विषय**

दे० साधु/५।

पार्श्वाभ्युदय—आ० जिनसेन (ई० ८००-८४३) द्वारा रचित सस्कृत काव्य ग्रन्थ है। पार्श्वनाथ भगवान्‌का वर्णन करनेवाला यह काव्य ३६४ मन्दाक्राता वृत्तोंमें पूर्ण हुआ है। काव्य रचनाकी दृष्टिसे कवि कालिदासके मेघदूतसे भी बढकर है।

पालंब—भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृतकेवली हुए —दे० अन्तकृत।

पालक—राजा अवन्तिका पुत्र मालवा (मगध) का राजा था। अवन्ती व उज्जैनी इनकी राजधानी थी, बडा धर्मात्मा था। वीर निर्वाणके समय मगधपर इसीका राज्य था। मगधकी राज्य वंशावलीके अनुसार इसके पश्चात् नन्द वंशका राज्य प्रारम्भ हो गया। तदनुसार इनका समय—वी. नि पू ६०-० ई० पू० ५८६-५२६ आता है (ह. पु /६०/४८८); (ति प./४/१४०६), (विशेष दे० इतिहास/३/१)।

पाहुड़—१. दे० प्राभृत, २ आचार्य कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७६) द्वारा ८५ पाहुड ग्रन्थोंका रचा जाना प्रसिद्ध है, पर उनमेंसे निम्न १२ ही उपलब्ध हैं—१ समयसार, २ प्रवचनसार, ३ नियमसार, ४ पचास्तिकाय, ५. दर्शन पाहुड, ६ सूत्रपाहुड, ७ चारित्र पाहुड ८ बोध पाहुड, ९. भावपाहुड, १०. मोक्षपाहुड, ११. लिंगपाहुड, १२. शील पाहुड।

—दर्शन पाहुडसे लेकर शील पाहुड पर्यन्त आठ ग्रन्थ अष्टपाहुडके नामसे प्रसिद्ध है। इनमेंसे अन्तिम दो लिंग पाहुड व शील पाहुडको छोडकर शेष छ षट्प्राभृत कहलाते है। षट्प्राभृतपर आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत सस्कृत टीका उपलब्ध है। और आठों ही पाहुडपर पं० जयचन्द छाबडाने ई० १८१० मे देशभाषामय वचनिका लिखी है।

पाहुड़िक—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

पिंगल—चक्रवर्तीकी नव निधियोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष।

पिंजरा—ध. १३/५,३,३०/३४/६ तित्तिरलावादिघरणट्ठ रइदकलिंजकलावो पजरो णाम। =तीतर और लाव आदिके पकडनेके लिए जो अनेक छोटी-छोटी पंचे लेकर बनाया जाता है उसे पिंजरा कहते है।

पिंड—द्र स /टी /३५/११४/८ पिण्डस्य कोऽर्थ। मन्दत्वस्य बाहुल्यस्येति। =पिण्ड शब्दका अर्थ गहराई या मोटाई है।

पिंडस्थध्यान—पिण्डस्थ ध्यानकी विधिमें जीव अनेक प्रकारकी धारणाओ द्वारा अपने उपयोगको एकाग्र करनेका उद्यम करता है। उसीका परिचय इस अधिकारमें दिया गया है।

१ पिंडस्थध्यानका लक्षण व विधि सामान्य

१. पिंडस्थ स्वात्मचिन्तनम्

द्र. सं./टी./४८/२०५ पर उद्धृत—पिण्डस्थं स्वात्मचिन्तनम्। =निजात्माका चिन्तवन पिण्डस्थ ध्यान है। (प प्र/टी /१/६/६ पर उदधृत), (भा. पा /टी./८६/२३६ पर उद्धृत)।

२. अर्हंतके तुल्य निजात्माका ध्यान

वसु श्रा /४५९ सियकिरणविप्फुरतं अट्ठमहापाडिहेरपरियरियं। झाइज्जइ ज णियय पिंडत्थ जाण त झाण।४५९। =श्वेत किरणोसे विस्फुरायमान और अष्ट महा प्रातिहार्योंसे परिवृत (सयुक्त) जो निज रूप अर्थात् केवली तुल्य आत्मस्वरूपका ध्यान किया जाता है उसे पिण्डस्थ ध्यान जानना चाहिए।४५९। (ज्ञा./३७/२८,३२), (गुण० श्रा०/२२८)।

ज्ञानसार/१९-२१ निजनाभिकमलमध्ये परिस्थितं विस्फुरद्रवितेज.। ध्यायते अर्हद्रूपं ध्यान तत् मन्यस्व पिण्डस्थ.।१९। ध्यायत निजकरमध्ये भालतले हृदयकन्ददेशे। जिनरूप रवितेज पिण्डस्थं मन्यस्व ध्यानमिद।२०। =अपनी नाभिमें, हाथमें, मस्तकमें, अथवा हृदयमें कमलकी कल्पना करके उसमें स्थित सूर्यतेजवत् स्फुरायमान अर्हन्तके रूपका ध्यान करना पिण्डस्थ ध्यान है।१९-२०।

३. तीन लोककी कल्पना युक्त निजदेह

वसु. श्रा./४६०-४६३ अहवा णाहिं च वियप्पिऊण मेरु अहोविहायम्मि। झाइज्ज अहोलोय तिरियम्म तिरियए वीए।४६०। उड्ढम्मि उड्ढलोयं कप्पविमाणाणि सधपरियंते। गोविज्जमयागीवं अणुद्दिस अणुपएसम्मि।४६१। विजय च वइजयंतं जयतमवराजिय च सव्वत्थं। झाइज्ज मुहपएसे णिलाडदेसम्मि सिद्धसिला।४६२। तस्सुवरि सिद्धणिलय जह सिहर जाण उत्तमगम्मि। एवं ज णियदेह झाइज्जइ त पि पिंडत्थं।४६३। =अथवा अपने नाभि स्थानमें मेरु पर्वतकी कल्पना करके उसके अधोविभागमें अधोलोकका ध्यान करे, नाभि पार्श्ववर्ती द्वितीय तिर्यग्विभागमें तिर्यग्लोकका ध्यान करे। नाभिसे ऊर्ध्व भागमें ऊर्ध्वलोकका चिन्तवन करे। स्कन्ध पर्यन्त भागमें कल्प विमानोंका, ग्रीवा स्थानपर नवग्रैवेयकोंका, हनुप्रदेश अर्थात् ठोडीके स्थानपर नव अनुदिशोंका, मुख प्रदेशपर विजय वैजयन्त, जयन्त, अपराजित, और सर्वार्थसिद्धिका ध्यान करे। ललाटदेशमें सिद्धशिला, उसके ऊपर उत्तमागमें लोक शिखरके तुल्य सिद्ध क्षेत्रको जानना चाहिए। इस प्रकार जो निज देहका ध्यान किया जाता है, उसे भी पिंडस्थध्यान जानना चाहिए।४६०-४६३। (गुण० श्रा०/२२९-२३१); (ज्ञा /३७/३०)।

४. द्रव्य रूप ध्येयका ध्यान करना

त. अनु./१३४ ध्यातु पिण्डे स्थितश्चैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यत। ध्येय पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन।१३४। =ध्येय पदार्थ चूंकि ध्याताके शरीरमें स्थित रूपसे ही ध्यानका विषय किया जाता है, इसलिए कुछ आचार्य उसे पिण्डस्थ ध्येय कहते है।

नोट—ध्येयके लिए—दे० ध्येय।

२. पिंडस्थ ध्यानकी पाँच धारणाएँ

१. पिंडस्थ ध्यानकी विधिमें पाँच धारणाओंका निर्देश

ज्ञा./३७/२-३ पिण्डस्थं पञ्च विज्ञेया धारणा वीरवर्णिता । संयमी यास्वसंमूढो जन्मपाशान्निकृन्तति ।२। पार्थिवी स्यात्तथाग्नेयी श्वसना वाथ वारुणी । तत्त्वरूपवती चेति विज्ञेयास्ता यथाक्रमम् ।३। =पिंडस्थ ध्यानमें श्री वर्धमान स्वामीसे कही हुई जो पाँच धारणाएँ हैं, उनमें संयमी मुनि ज्ञानी होकर संसार रूपी पाशको काटता है ।२। वे धारणाएँ पार्थिवी, आग्नेयी तथा श्वसना, वारुणी और तत्त्वरूपवती ऐसे यथाक्रमसे होती हैं ।२-३। (त. अनु १८३)।

२. पाँचों धारणाओंका संक्षिप्त परिचय

त. अनु /१८४-१८७ आकारं मरुता पूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना । दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म, स्वतो भस्म विरेच्य च ।१८४। ह मन्त्रो नभसि ध्येय क्षरन्नमृतमात्मनि । तेनाऽन्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलम् ।१८५। तत पञ्चनमस्कारै पञ्चपिण्डाक्षरान्वितै. । पञ्चस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकला क्रियाम् ।१८६। पश्चादात्मानमर्हन्त ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणम् । सिद्ध वा ध्वस्तकर्माणममूर्तं ज्ञानभास्वरम् ।१८७। =(नाभिकमलकी कर्णिकामें स्थित) अर्हं मन्त्रके 'अ' अक्षरको पूरक पवनके द्वारा पूरित और (कुम्भक पवनके द्वारा) कुम्भित करके, रेफ (ँ) की अग्निसे (हृदयस्थ) कर्मचक्रको अपने शरीर सहित भस्म करके और फिर भस्मको (रेचक पवन द्वारा) स्वय विरेचित करके 'ह' मन्त्रको आकाशमें ऐसे ध्याना चाहिए कि उससे आत्मामें अमृत झर रहा है और उस अमृतसे अन्य शरीरका निर्माण होकर वह अमृतमय और उज्ज्वल बन रहा है। तत्पश्चात् पंच पिंडाक्षरो (ह्राँ ह्रीं ह्रूँ ह्रौं ह्र), से (यथाक्रम) युक्त और शरीरके पाँच स्थानोंमें विन्यस्त हुए पच नमस्कार मन्त्रोसे—(णमो अरहताणं आदि पाँच पदोंसे) सकल क्रिया करके तदनन्तर आत्माको निर्दिष्ट लक्षण अर्हन्त रूप ध्यावे अथवा सकलकर्म-रहित अमूर्तिक और ज्ञानभास्कर ऐसे सिद्ध स्वरूप ध्यावे ।१८४-१८७।—विशेष दे० वह वह नाम ।

३. तत्त्ववती धारणाका परिचय

ज्ञा /३७/२९-३० मृगेन्द्रविष्टरारूढ दिव्यातिशयसंयुतम् । कल्याणमहिमोपेत देवदैत्योरगार्चितम् ।२९। विलीनाशेषकर्माणं स्फुरन्तमतिनिर्मलम् । स्व तत पुरुषाकार स्वाङ्गगर्भगत स्मरेत् ।३०।=तत्पश्चात् (वारुणी धारणाके पश्चात्) अपने आत्माको अतिशय युक्त, सिंहासनपर आरूढ, कल्याणकी महिमा सहित, देव दानव धरणेन्द्रादिसे पूजित है ऐसा चिन्तवन करै ।२९। तत्पश्चात् विलय हो गये हैं आठ कर्म जिसके ऐसा स्फुरायमान अति निर्मल पुरुषाकार अपने शरीरमें प्राप्त हुए अपने आत्माका चिन्तवन करै । इस प्रकार तत्त्वरूपवती धारणा कही गयी ।३०। (ज्ञा०/३७/२८)।

* **अर्हन्त चिन्तवन पदस्थ आदि तीनों ध्यानोंमें होता है**—दे० ध्येय ।

४. पिण्डस्थ ध्यानका फल

ज्ञा./३७/३१ इत्यविरत स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यास' । शिवसुखमनन्यसाध्य प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ।३१।=इस प्रकार पिण्डस्थ ध्यानमें जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि अन्य प्रकारसे साधनेमें न आवे ऐसे मोक्षके सुखको शीघ्र ही प्राप्त होता है ।३१।

पिच्छिका—

/

भ. आ /मू /९८ रयसेयाणमगहण मद्दव सुकुमालदा लघुत्तं च । जत्थेदे पच गुणा तं पडिलिहण पसंसति ।९८। =जिसमें ये पाँच गुण हे उस शोधनोपकरण पिच्छिका आदिकी साधुजन प्रशंसा करते हैं—धूलि और पसेवसे मैली न हो, कोमल हो, कड़ी न हो। अर्थात् नमनशील हो, और हलकी हो। (मू. आ./९१०)।

२. पिच्छिकाकी उपयोगिता

भ. आ./मू./९७-९८ इरियादाणणिखेवे विवेगठाणे णिसीयणे सयणे। उव्वत्तणपरियत्तण पसारणा उंटणामरसे ।९६। पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ चिण्हं च होइ सगपक्खे। विस्सासियं च लिंगं संजदपडिरूवदा चेव ।९७। =जब मुनि बैठते हैं, खड़े हो जाते हैं, सो जाते हैं, अपने हाथ और पाँव पसारते हैं, संकोच लेते हैं, जब वे उत्तानशयन करते हैं, करवट बदलते हैं, तब वे अपना शरीर पिच्छिकासे स्वच्छ करते हैं ।९६। पिच्छिकासे ही जीव दया पाली जाती है। पिच्छिका लोगोंमें यति विषयक विश्वास उत्पन्न करनेका चिह्न है। तथा पिच्छिका धारण करनेसे वे मुनिराज प्राचीन मुनियोंके प्रतिनिधि स्वरूप हैं, ऐसा सिद्ध होता है ।९७। (मू. आ./९११)।

मू. आ /९१३,९१४ उच्चार पस्सवणं णिसि सुत्तो उट्ठिदो हु काऊण। अप्पडिलिहिय सुवंतो जीववहं कुणदि णियदं तु ।९१३। ण.गे चंकमणादाणणिक्खेवे सयणआसण पयत्ते। पडिलेहणेण पडिलेहिज्जइ लिंगं च होइ सगपक्खे। (९१४)। =रातमें सोतेसे उठा फिर मलका क्षेपण मूत्र श्लेष्मा आदिका क्षेपणकर शोधन बिना किये फिर सो गया ऐसा साधु पीछीके बिना जीवहिंसा अवश्य करता है ।९१३। कायोत्सर्गमें गमनमें कमण्डलु आदिके उठानेमें, पुस्तकादिके रखनेमें, शयनमें, झूठनके साफ करनेमें यत्नसे पीछीसे जीवोंकी हिंसा की जाती है और यह मुनि संयमी है ऐसा अपने पक्षमें चिह्न हो जाता है ।९१४।

पिठरपाक—वैशेषिक दर्शनका एक सिद्धान्त ।

पितृकायिक—आनागाभपन्न देव—दे० देव/II/१ ।

पित्त—औदारिक शरीरमें पित्त धातु निर्देश—दे० औदारिक/२ ।

पिपासा—१. पिपासा परीषहका लक्षण

स सि /९/९/४२०/१२ विरुद्धाहारग्रीष्मातपपित्तज्वरानशनादिभिरुदीर्णा शरीरेन्द्रियोन्माथिनी पिपासा प्रत्यानाद्रियमाणप्रतिकारस्य पिपासानलशिखां धृतिनवमृद्घटपूरितशीतलसुगन्धिसमाधिवारिणा प्रशमयत पिपासासहन प्रशस्यते। =जो अतिरूक्ष आदि विरुद्ध आहार, ग्रीष्म कालीन आतप, पित्तज्वर और अनशन आदिके कारण उत्पन्न हुई तथा शरीर और इन्द्रियोंका मथन करनेवाली पिपासाका प्रतिकार करनेमें आदर भाव नहीं रखता और पिपासारूपी अग्निको सन्तोषरूपी नूतन मिट्टीके घटमें भरे हुए शीतल सुगन्धि समाधि रूपी जलसे शान्त कर रहा है उसके पिपासाजय प्रशंसाके योग्य है। (रा वा /९/९/३/६०८/२४), (चा सा./११०/३)।

* **क्षुधा व पिपासा परीषहमें अन्तर**—दे० क्षुधा ।

पिशाच—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

पिशाच—* **पिशाचोंके वर्ण परिवार अवस्थानादि**

—दे० व्यतर ।

१. पिशाचोंके भेद

ति प./६/४८-४९ कुमडजक्खरक्खसंमोहा तारआ य चोक्खक्खा। कालमहकाल चोक्खा सतालया देहमहदेहा ।४८। तुण्हिअपवयणणामा " ।४९। =कुष्माण्ड, यक्ष, राक्षस, संमोह, तारक, अशुचिनामक काल, महाकाल, शुचि, सतालक, देह, महादेह, तूष्णीक, और प्रवचन नामक, इस प्रकार ये चौदह पिशाचोंके भेद हैं ।४८-४९। (ति सा / २७१-२७२)।

पिशुलि—गो. जी./भाषा/३२६/७००/१३ का भावार्थ (श्रुत ज्ञानके पर्याय, पर्याय-समास आदि २० भेदोंके प्रकरणमें, प्रक्षेपक प्रक्षेपक नामके श्रुतज्ञानको प्राप्त करनेके लिए अनंतका भाग देनेकी जो प्रक्रियाएँ अपनायी गयी हे) वैसे ही क्रमतें जीवराशिमात्र अनतका भाग दीए जो प्रमाण आवै सो सो क्रमतै पिशुलि पिशुलि-पिशुलि जानने।

पिष्टपेसन—दे० अतिप्रसग।

पिहित—१ आहारका एक दोप—दे० आहार/II/२। २. वसतिका-का एक दोष—दे० वसतिका।

पिहितास्रव—१ (ह पु /२७/८) एक दिगम्बर आचार्य, २. एक जैन मुनि (ह पु /२७/६३)। ३. पद्मप्रभ भगवान्‌के पूर्व भवके गुरु (ह पु /६०/१५६) ४ बुद्धकीर्ति (महात्मा बुद्ध) के गुरु थे। पार्श्व-नाथ भगवान्‌की परम्परामें दिगम्बराचार्य थे। (द. सा./प्रशस्ति/२६ पं. नाथूराम प्रेमी) इनके शिष्य बुद्धकीर्तिने बौद्धधर्म चलाया था (द. सा./सू /६-७)।

पीठ—दसवे रुद्र थे।—दे० शलाका पुरुष/७।

पीठिका मंत्र—दे० मत्र/१/६।

पीड़ा—दे० वेदना।

पीत लेश्या—दे० लेश्या।

पुंडरीक—१ छठे रुद्र थे।—दे० शलाका पुरुष/७। २ अपने पूर्वके दूसरे भवमे शल्य सहित मर करके देव हुआ था। वर्तमान भवमें छठे नारायण थे। अपरनाम पुरुष पुण्डरीक था। —दे० शलाका-पुरुष/४। ३ श्रुतज्ञानका १२वाँ अग बाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III। ४ पुष्करवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४। ५ मानु-षोत्तर पर्वतका रक्षक व्यन्तर—दे०/४। ६ विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

पुंडरीक ह्रद—शिखरी पर्वतस्थ एक ह्रद जिसमेसे स्वर्णकूला, रक्ता व रक्तोदा ये तीन नदियाँ निकलती हैं। लक्ष्मीदेवी इसमें निवास करती है—दे० लोक/३/८।

पुंडरीकिणी—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी। —दे० लोक/७।

पुंडरीकिनी—पूर्व विदेहस्थ पुष्कलावर्तकी मुख्य नगरी। अपरनाम पुष्कलावती—दे० लोक/७।

पुंड्र—वर्तमान बगालका उत्तर भाग। अपरनाम गोड़ या पौंड्र। भरतक्षेत्र पूर्व आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

पुन्ड्रवर्धन—पूर्व देशमे एक नगरी हे। 'महिमा' नगरीका अपरनाम प्रतीत होता है। क्योंकि अर्हद्बलि आचार्य द्वारा यहाँ यति सम्मेलन बुलाया गया। और धरसेनाचार्यने महिमा नगरीमे साधुओंको बुलाने-के लिए पत्र लिखा था। महिमा नगरीवाला साधु सघ और अर्हद्बलि आचार्यका साधु सम्मेलन एकार्थवाची प्रतीत होते हे। (ध. १/प्र १४,३१)।

पुण्य—क्षौद्रवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

पुण्य—जीवके दया, दानादि रूप शुभ परिणाम पुण्य कहलाते हे। यद्यपि लोकमें पुण्यके प्रति बडा आकर्षण रहता हे, परन्तु मुमुक्षु जीव केवल बन्धरूप होनेके कारण इसे पापसे किसी प्रकार भी अधिक नही समझते। इसके प्रलोभनसे बचनेके लिए वह सदा इसकी अनि-ष्टताका विचार करते हे। परन्तु इसका यह अर्थ नही कि यह सर्वथा पाप रूप ही है। लौकिकजनोंके लिए यह अवश्य ही पापकी अपेक्षा बहुत अच्छा है। यद्यपि मुमुक्षु जीवोंको भी निचली अवस्थामें पुण्य प्रवृत्ति अवश्य होती है, पर निदान रहित होनेके कारण, उनका पुण्य पुण्यानुबन्धी है, जो परम्परा मोक्षका कारण है। लौकिक जीवोंका पुण्य निदान व तृष्णा सहित होनेके कारण पापानुबन्धी है, तथा ससारमें डुबानेवाला है। ऐसे पुण्यका त्याग ही परमार्थसे योग्य है।

त. सा./४/१६ व्रतादिकलास्रवेत्पुण्य। =व्रतसे पुण्यकर्मका आस्रव होता है।

यो सा./अ/४/३७ अर्हदादौ परा भक्ति कारुण्यं सर्वजन्तुपु। पावने चरणे राग पुण्यबन्धनिबन्धनम्।३७। =अर्हन्त आदि पाँचो परमेष्ठियोमें भक्ति, समस्त जीवोपर करुणा और पवित्रचारित्रमें प्रीति करनेसे पुण्य बन्ध होता है।

ज्ञा./३/३-७ यमप्रशमनिर्वेदतत्त्वचिन्तावलम्बितम्। मैत्र्यादिभावनारूढं मन सूते शुभास्रवम्।३। विश्वव्यापारनिर्मुक्त श्रुतज्ञानावलम्बितम्। शुभास्रवाय विज्ञेय वच सत्य प्रतिष्ठितम्।५। सुगुप्तेन सुकायेन कायोत्सर्गेन वानिशम्। सचिनाति शुभ कर्म काययोगेन सयमी।७। =यम (व्रत), प्रशम, निर्वेद तथा तत्त्वोका चिन्तवन इत्यादिका अवलम्बन हो, एवम् मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य इन चार भावनाओकी जिसके मनमें भावना हो, वही मन शुभास्रव उत्पन्न करता है।३। समस्त विश्वके व्यापारोसे रहित तथा श्रुतज्ञानके अवलम्बनयुक्त और सत्यरूप पारिणामिक वचन शुभास्रवके लिए होते है।५। भले प्रकार गुप्तरूप किये हुए अर्थात् अपने वशीभूत किये हुए कायसे तथा निरन्तर कायोत्सर्गसे सयमी मुनि शुभ कर्मको संचय करते है।

२. पुण्य व पापमें पारमार्थिक समानता

१. दोनों मोह व अज्ञानकी सन्तान हैं

पं. का /मू /१३१ मोहो रागो दोसो चित्तपसादो य जस्स भावम्मि। विज्जदि तस्स सुहो वा असुहो वा होदि परिणामो।१३१। =जिसके भावमें मोह, राग, द्वेप अथवा चित्त प्रसन्नता है उसे शुभ अथवा अशुभ परिणाम होते है। (तहाँ प्रशस्त राग व चित्तप्रसादसे शुभ-परिणाम और अप्रशस्तराग, द्वेप और मिथ्यात्वसे अशुभ परिणाम होते है। (इसी गाथाकी त. प्र. टीका)।

प. प्र /मू /२/५३ बंधहँ मोक्खहँ हेउ णिउ जो णवि जाणइ कोइ। सो पर मोहिं करइ जिय पुण्णु वि पाउ वि दोइ।५३। =बन्ध और मोक्ष-का कारण अपना विभाव और स्वभाव परिणाम है, ऐसा भेद जो नही जानता है, वही पुण्य और पाप इन दोनोको मोहसे करता है। (न. च. वृ /२९९)।

२. परमार्थसे दोनों एक हैं

स सा /आ /१४५ शुभोऽशुभो वा जीवपरिणाम. केवलाज्ञानमयत्वा-देकस्तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म। शुभोऽशुभो वा पुद्गल-परिणाम केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म। शुभोऽशुभो वा फलपाक केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेक कर्म। शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येक जीव-पुद्गलमयत्वादेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रित-त्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म। =शुभ व अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होनेसे एक है, अत. उनके कारणमें अभेद होनेसे कर्म एक ही है। शुभ और अशुभ पुद्गलपरिणाम केवल पुद्गलमय होनेसे एक है, अत उनके स्वभावमें अभेद होनेसे कर्म एक है। शुभ व अशुभ फलरूप विपाक भी केवल पुद्गलमय होनेसे एक है, अत उनके अनुभव या स्वादमें अभेद होनेसे दोनो एक है। यद्यपि शुभरूप (व्यवहार) मोक्षमार्ग केवल जीवमय और अशुभरूप बन्धमार्ग केवल पुद्गलमय होनेसे दोनोंमें अनेकता है, फिर भी कर्म केवल पुद्गल-मयी बन्धमार्गके ही आश्रित है अत उनके आश्रयमे अभेद होनेसे दोनो एक है।

३. दोनोंकी एकतामें दृष्टान्त

स. सा./मू./१४६ सोवण्णियं पि णियल बंधदि कालायसं पि जह पुरिस। बंधदि एवं जीव सुहमसुह वा कद कम्म।१४६। =जैसे लोहेकी बेडी पुरुपको बाँधती है, वैसे ही सोनेकी बेडी भी पुरुपको बाँधती है। इसी प्रकार अपने द्वारा किये गये शुभ व अशुभ दोनो ही कर्म जीवको बाँधते है। (यो. सा /यो /७२); (प्र. सा /त. प्र./७७), (प प्र./टी /१/१६६-१६७/२७१/१६)।

स. सा./आ /१४४/क १०१ एको दूरात्त्यजति मदिरा ब्राह्मणत्वाभिमाना-दन्य. शूद्र स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव। द्वावप्येतौ युगपदु-दरान्निर्गतौ शूद्रिकाया, शूद्रौ साक्षादपि च चरतो जातिभेदभ्रमेण।१०१। =(शूद्राके पेटसे एक ही साथ जन्मको प्राप्त दो पुत्रोमेंसे एक ब्राह्मणके यहाँ और दूसरा शूद्रके यहाँ पला (उनमेंसे) एक तो 'मै ब्राह्मण हूँ' इस प्रकार ब्राह्मणत्वके अभिमानसे दूरसे ही मदिराका त्याग करता है, उसे स्पर्श तक नहीं करता, और दूसरा 'मै स्वयं शूद्र हूँ' यह मानकर नित्य मदिरासे ही स्नान करता है, अर्थात् उसे पवित्र मानता हे। यद्यपि दोनो साक्षात् शूद्र है तथापि वे जातिभेद-के भ्रमसहित प्रवृत्ति करते हे। (इसी प्रकार पुण्य व पाप दोनो ही यद्यपि पूर्वोक्त प्रकार समान हैं, फिर भी मोह दृष्टिके कारण भ्रमवश अज्ञानीजीव इनमें भेद देखकर पुण्यको अच्छा और पापको बुरा समझता है)।

स सा./आ./१४७ कुशीलशुभाशुभकर्मभ्या सह रागससर्गौ प्रतिपिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीरागससर्गवत्। =जैसे कुशील—मनोरम और अमनोरम हथिनीरूप कुट्टनीके साथ (हाथीका) राग और संसर्ग उसके बन्धनका कारण है, उसी प्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और ससर्ग बन्धके कारण होनेसे, शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और ससर्ग करनेका निपेध किया गया है।

४. दोनों ही बन्ध व संसारके कारण हैं

स सि./१/४/१५/३ इह पुण्यपापग्रहण कर्तव्य 'नव पदार्था' इत्यन्यै-रप्युक्तत्वात्। न कर्तव्यम्, आस्रवे बन्धे चान्तर्भावात्। =प्रश्न—सूत्रमें (सात तत्त्वोके साथ) पुण्य पापका ग्रहण करना चाहिए, क्योकि, 'पदार्थ नौ है' ऐसा दूसरे आचार्योंने भी कथन किया है? उत्तर—पुण्य और पापका पृथक् ग्रहण नही करना चाहिए, क्योकि, उनका आस्रव और बन्धमें अन्तर्भाव हो जाता है। (रा. वा./१/४/२८/२७/३०), (द्र.स /टी /अधि० २/ चूलिका/पृ ८१/१०)

ध. १२/४,२,८,३/२७९/७ कम्मबंधो हि णाम सुहासुहपरिणामेहितो जायदे। =कर्मका बन्ध शुभ व अशुभ परिणामोसे होता हे।

न च. वृ /२९९,३७९ असुह सुह चिय कम्म दुविह त पि दव्वभाव-भेयगयं। त पिय पडुच्च मोह संसारो तेण जीवस्स।२९९। भेदुवयारे जइया वट्टदि सो वियसुहासुहाधीणो। तइया कत्ता भणिदो ससारी तेण सो आदा।३७९। =कर्म दो प्रकारके है—शुभ व अशुभ। ये दोनो भी द्रव्य व भावके भेदसे दो-दो प्रकारके है। उन दोनोकी प्रतीतिसे मोह और मोहसे जीवको ससार होता है।२९९। जबतक यह जीव भेद और उपचाररूप व्यवहारमें वर्तता है तबतक वह शुभ और अशुभके आधीन है। और तभी तक वह कर्ता कहलाता है, उससे ही आत्मा संसारी होता है।३७९।

त. सा /४/१०४ ससारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेपत। न नाम निश्चये नास्ति विशेप पुण्यपापयो.।१०४। =निश्चयसे दोनो ही ससारके कारण है, इसलिए पुण्य व पापमें कोई विशेपता नही है। (यो. सा./अ /४/४०)।

प्र. सा /त. प्र./१८१ तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणाम पुण्य, पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणाम पापम्। =पुण्यरूप पुद्गल-कर्मके बन्धका कारण होनेसे शुभपरिणाम पुण्य है और पापरूप पुद्गलके बन्धका कारण होनेसे अशुभपरिणाम पाप है।

स. सा./आ./१५०/क. १०३ कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्, बन्धसाधन-मुशन्त्यविशेषात्। तेन सर्वमपि तत्प्रतिपिद्धं, ज्ञानमेव विहित

शिवहेतुः ।१०३। =क्योंकि सर्वज्ञदेव समस्त (शुभाशुभ) कर्मको अविशेषतया बन्धका साधन कहते हैं, इसलिए उन्होंने समस्त ही कर्मोंका निषेध किया है। और ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है। (पं. ध./उ./३७४)।

पं. ध./उ./७६३ नेह्य प्रज्ञापराधत्वान्निर्जराहेतुरंशतः। अस्ति नाबन्धहेतुर्वा शुभो नाप्यशुभावहात् ।७६३। =बुद्धिकी मन्दतासे यह भी आशंका नहीं करनी चाहिए कि शुभोपयोग एकदेशसे निर्जराका कारण हो सकता है। कारण कि, निश्चयनयसे शुभोपयोग भी संसारका कारण होनेसे निर्जरादिकका हेतु नहीं हो सकता और न वह शुभ ही कहा जा सकता है।

५. दोनों ही दुःखरूप या दुःखके कारण हैं

स. सा./मू./४५ अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति। जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ।४५। =आठों प्रकारका कर्म सब पुद्गलमय है, तथा उदयमें आनेपर सबका फल दुःख है, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्‌ने कहा है। (प. ध./उ./२८०)।

प्र. सा./मू./७२-७५ णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसंभवं दुक्खं। किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ।७२। कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं। देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ।७३। जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि। जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवतंताणं ।७४। ते पुण उदिण्णतिण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि। इच्छंति अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ।७५। =मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव सभी यदि देहोत्पन्न दुःखको अनुभव करते हैं तो जीवोंका वह (अशुद्ध) उपयोग शुभ और अशुभ दो प्रकारका कैसे हो सकता है ।७२। वज्रधर और चक्रधर (इन्द्र व चक्रवर्ती) शुभोपयोगमूलक भोगोंके द्वारा देहादिकी पुष्टि करते हैं और भोगोंमें रत वर्तते हुए सुखी-जैसे भासित होते हैं ।७३। इस प्रकार यदि पुण्य नामकी कोई वस्तु विद्यमान भी है तो वह देवों तकके जीवोंको विषय तृष्णा उत्पन्न करते हैं ।७४। और जिनकी तृष्णा उदित है ऐसे वे जीव तृष्णाओंके द्वारा दुःखी होते हुए मरण पर्यन्त विषयसुखोंको चाहते है, और दुःखोंसे सन्तप्त होते हुए और दुःखदाहको सहन न करते हुए उन्हें भोगते हैं ।७५। (देवादिकोंके वे सुख पराश्रित, बाधासहित और बन्धके कारण होनेसे वास्तवमें दुःख हो हैं—दे० सुख/१)।

यो. सा./अ./६/२५ धर्मतोऽपि भवो भोगो दत्ते दुःखपरम्परा। चन्दनादपि सम्पन्नः पावकः प्लोषते न किम् ।२५। =जिस प्रकार चन्दनसे उत्पन्न अग्नि भी अवश्य जलाती है, उसी प्रकार धर्मसे उत्पन्न भी भोग अवश्य दुःख उत्पन्न करता है।

पं. ध./उ./२५० न हि कर्मोदयः कश्चित् जन्तोर्यः स्यात्सुखावहः। सर्वस्य कर्मणस्तत्र वैलक्षण्यात् स्वरूपतः ।२५०। =कोई भी कर्मका उदय ऐसा नहीं जो कि जीवको सुख प्राप्त करानेवाला हो, क्योंकि स्वभावसे सभी कर्म आत्माके स्वभावसे विलक्षण हैं।

मो. मा. प्र./४/१२१/११ दोन्यों ही आकुलताके कारण हैं, तातैं बुरे ही हैं।···परमार्थतैं जहाँ आकुलता है तहाँ दुःख ही है, तातैं पुण्य-पापके उदयको भला-बुरा जानना भ्रम है।

दे० सुख/१ (पुण्यसे प्राप्त लौकिक सुख परमार्थसे दुःख है।)

६. दोनों ही हेय हैं तथा इसका हेतु

स. सा./मू./१५० रत्तो बंधदि कम्मं मुचदि जीवो विरागसंपत्तो। एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ।१५०। =रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्यको प्राप्त जीव कर्मसे छूटता है, यह जिनेन्द्र भगवान्‌का उपदेश है। इसलिए तू कर्मोंमें प्रीति मत कर। अर्थात् समस्त कर्मोंका त्याग कर। (और भी दे० पुण्य/२/३ में स. सा./आ./१४७; तथा पुण्य/२/४ में स. सा./आ./१५०/क १०३)।

स. सा./आ./१६३/क १०९ संन्यस्तमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना, संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा। सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्, नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ।१०९। =मोक्षार्थीको यह समस्त ही कर्ममात्र त्याग करने योग्य है। जहाँ समस्त कर्मोंका त्याग किया जाता है, तो फिर वहाँ पुण्य व पाप (को अच्छा या बुरा कहने) की क्या बात है? समस्त कर्मोंका त्याग होनेपर, सम्यक्त्वादि अपने स्वभावरूप होनेसे, परिणमन करनेसे मोक्षका कारणभूत होता हुआ, निष्कर्म अवस्थाके साथ जिसका उद्धतरस प्रतिबद्ध है, ऐसा ज्ञान अपनेआप दौड़ा चला आता है।

स. सा./आ./१५० सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयकर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति। =सामान्यपने रागीपनकी निमित्तताके कारण शुभ व अशुभ दोनों कर्मोंको अविशेषतया बन्धके कारणरूप सिद्ध करता है, और इसलिए (आगम) दोनों कर्मोंका निषेध करता है।

प्र. सा./त. प्र./२१२ यतस्तदविनाभाविना अप्रयताचारत्वेन प्रसिद्ध्यदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्कायप्राणव्यपरोपप्रत्ययबन्धप्रसिद्ध्या हिंसक एव स्यात्। ततस्तस्तैः सर्वप्रकारैः शुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्यो यैर्यैस्तदायतनमात्रभूतः प्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो दूरादेव प्रतिषिद्धः स्यात्। =जो अशुद्धोपयोगके बिना नहीं होता ऐसे अप्रयत आचारके द्वारा प्रसिद्ध (ज्ञात) होनेवाला अशुद्धोपयोगका सद्भाव हिंसक ही है, क्योंकि, वहाँ छह कायके प्राणोंके व्यपरोपके आश्रयसे होनेवाले बन्धकी प्रसिद्धि है। (दे० हिंसा/१)। इसलिए उन-उन सर्व प्रकारोंसे अशुद्धोपयोगरूप अन्तरंगछेद निषिद्ध है, जिन-जिन प्रकारोंसे कि उसका आयतनमात्रभूत परप्राणव्यपरोपरूप बहिरंगछेद भी अत्यन्त निषिद्ध हो।

द्र. सं./टी./३८/१५९/८ सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्। =सम्यग्दृष्टि जीवके पुण्य और पाप दोनों हेय हैं। (प. का./ता. वृ./१२१/१८४/१९)।

पं. ध./उ./३७४ उक्तमाक्ष्यं सुखं ज्ञानमनादेयं दृगात्मनः। नादेयं कर्म सर्वं च तद्वद् दृष्टोपलब्धितः ।३७४। =जैसे सम्यग्दृष्टिको उक्त इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञान आदेय नहीं होते हैं, वैसे ही आत्मप्रत्यक्ष होनेके कारण सम्पूर्ण कर्म भी आदेय नहीं होते हैं।

७. दोनोंमें भेद समझना अज्ञान है

प्र. सा./मू./७७ ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं। हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।७७। ='पुण्य और पाप इस प्रकार कोई भेद नहीं है' जो ऐसा नहीं मानता है, वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसारमें परिभ्रमण करता है। (प. प्र./मू./२/५५)।

यो. सा./अ./५/३९ सुखदुःखविधानेन विशेषः पुण्यपापयोः। नित्यं सौख्यमपश्यद्भिर्मन्यते मन्दबुद्धिभिः ।३९। =अविनाशी निराकुल सुखको न देखनेवाले मन्दबुद्धिजन ही सुख व दुःखके कारणरूप विशेषतासे पुण्य व पापमें भेद देखते हैं।

३. पुण्यकी कथंचित् अनिष्टता

१. संसारका कारण होनेसे पुण्य अनिष्ट है

स. सा./मू./१४५ कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं। कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ।१४५। =अशुभकर्म कुशील है और शुभकर्म सुशील है, ऐसा तुम (मोहवश) जानते हो।

किन्तु वह भला सुशील कैसे हो सकता है, जब कि वह संसारमें प्रवेश कराता है।

प्र सा /त.प्र./७७ यस्तु पुनरनयो. ·विशेषमभिमन्यमानो धर्मानुराग-मवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरा-ससार शारीरं दु.खमेवानुभवति। =जो जीव उन दोनों (पुण्य व पाप) में अन्तर मानता हुआ धर्मानुराग अर्थात् पुण्यानुरागपर अवलम्बित है, वह जीव वास्तवमें चित्तभूमिके उपरक्त होनेसे, जिसने शुद्धोपयोग शक्तिका तिरस्कार किया है, ऐसा वर्तता हुआ, ससार पर्यन्त शारीरिक दु खका ही अनुभव करता है।

का. अ /मू /४१० पुण्ण पि जो समिच्छदि ससारो तेण ईहिदो होदि। पुण्ण सुगईहेदुं पुण्णखएणेव णिव्वाणं।४१०। =जो पुण्यको भी चाहता है, वह ससारको चाहता है, क्योंकि, पुण्य सुगतिका कारण है। पुण्यका क्षय होनेसे ही मोक्ष होता है।

२. शुभ भाव कथंचित् पापबन्धके भी कारण हैं

रा. वा /६/३/७/५०७/२६ शुभ पापस्यापि हेतुरित्यविरोध । =शुभ-परिणाम पापके भी हेतु हो सकते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है। (विशेष दे० पुण्य/५)।

३. वास्तवमें पुण्य शुभ है ही नहीं

प ध /उ /७६३ शुभो नाप्यशुभावहात् ।७६३। =निश्चयनयसे शुभोप-योग भी ससारका कारण होनेसे शुभ कहा ही नहीं जा सकता।

४. अज्ञानीजन ही पुण्यको उपादेय मानते हैं

स सा./मू./१५४ परमट्ठ बाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छति। ससारगमणहेदु वि मोक्खहेदु अजाणतो।१५४। =जो परमार्थसे बाह्य हैं, वे मोक्षके हेतुको न जानते हुए ससार गमनका हेतु होने पर भी, अज्ञानसे पुण्यको (मोक्षका हेतु समझकर) चाहते हैं। (ति प /९/५३)।

मो पा /मू /५४ सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू। सो तेण दु अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीओ।५४। =इष्ट वस्तुओंके सयोगमें राग करनेवाला साधु अज्ञानी है। ज्ञानी उससे विपरीत होता है अर्थात् वह शुभ व अशुभ कर्मके फलरूप इष्ट अनिष्ट सामग्रीमें राग-द्वेष नहीं करता।

प. प्र /मू /२/५४ दसणणाणचरित्तमउ जो णवि अप्पु मुणेइ। मोक्खहँ कारणु भणिवि जिय सो पर ताइँ करेइ।५४। =जो सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्रमयी आत्माको नहीं जानता वही हे जीव! उन पुण्य व पाप दोनोंको मोक्षके कारण जानकर करता है। (मो. मा प्र /७/-३२९/१७)।

५. ज्ञानी तो पापवत् पुण्यका भी तिरस्कार करता है

ति. प /९/५२ पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो। मइ-मोहेण य पाव तम्हा पुण्णो वि वज्जेओ।५२। =चूँकि पुण्यसे विभव, विभवसे मद, मदसे मतिमोह और मतिमोहसे पाप होता है, इसलिए पुण्यको भी छोड़ना चाहिए—(ऐसा पुण्य हमें कभी न हो—प. प्र.) (प प्र./मू /२/६०)।

यो. सा./यो/७१ जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु को वि मुणेइ। जो पुण्णु वि पाउ वि भणइ सो बुह को वि हवेइ।७१। =पापको पाप तो सब कोई जानता है, परन्तु जो पुण्यको भी पाप कहता है ऐसा पण्डित कोई विरला ही है।

६. ज्ञानी पुण्यको हेय समझता है

स सा /मू /२१० अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्म। अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण स होई।२१०। =ज्ञानी परिग्रहसे रहित है, इसलिए वह परिग्रहकी इच्छासे रहित है। इसी कारण वह धर्म अर्थात् पुण्य (ता. वृ टीका) को नहीं चाहता इस-लिए उसे धर्म या पुण्यका परिग्रह नहीं है। वह तो केवल उसका ज्ञायक ही है।

का. अ /मू./४०९,४१२ एदे दहप्पयारा पाव कम्मस्स णासिया भणिया। पुण्णस्स य सजणया परपुण्णत्थं ण कायव्वं।४०९। पुण्णे वि ण आयरं कुणह।४१२। =ये धर्मके दश भेद पापकर्मका नाश और पुण्यकर्म-का बन्ध करनेवाले कहे जाते है, परन्तु इन्हें पुण्यके लिए नहीं करना चाहिए।४०९। पुण्यमें आदर मत करो।४१२।

नि. सा./ता. वृ./४१/क. ५९ सुकृतमपि समस्तं भोगिना भोगमूलं, त्यजतु परमतत्त्वाभ्यासनिष्णातचित्त:। ·भवविमुक्त्यै ।५९। =समस्त पुण्य भोगियोके भोगका मूल है। परमतत्त्वके अभ्यासमें निष्णात चित्तवाले मुनीश्वर भवसे विमुक्त होनेके हेतु उस समस्त शुभकर्मको छोड़ो।

७. ज्ञानी तो कथंचित् पापको ही पुण्यसे अच्छा समझते हैं

प. प्र /मू /२/५६-५७ वर जिय पावइँ सुंदरइँ णाणिय ताइँ भणति। जीवहँ दुक्खइँ जणिवि लहु सिवमइ जाइँ कुणति।५६। म पुणु पुण्णइँ भल्लाइँ णाणिय ताइँ भणति। जीवहँ रज्जइँ देवि लहु दुक्खइँ जाइँ जणति।५७। =हे जीव! जो पापका उदय जीवको दु ख देकर शीघ्र ही मोक्षके जाने योग्य उपायोंमें बुद्धि कर देवे, तो वे पाप भी बहुत अच्छे हैं।५६। और फिर वे पुण्य भी अच्छे नहीं जो जीवको राज्य देकर शीघ्र ही नरकादि दु खोंको उपजाते हैं (दे० अगला शीर्षक) ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।

८. मिथ्यात्वयुक्त पुण्य तो अत्यन्त अनिष्ट हैं

भ. आ /मू./५७-६०/१८२-१८७ जे वि अहिंसादिगुणा मरणे मिच्छत्त-कडुगिदा होति। ते तस्स कडुगदोद्धियगद च दुद्ध हवे अफला।५७। जह भेसज पि दोसं आवहइ विसेण सजुद सतं। तह मिच्छत्तविस-जुदा गुणा वि दोसावहा होति।५८। दिवसेण जोयणसयं पि गच्छ-माणो सगिच्छिद देसं। अण्णतो गच्छतो जह पुरिसो णेव पाउणादि।५९। धणिद पि सजमतो मिच्छादिट्ठी तहा ण पावेई। इट्ठ णिव्वुड मग्गं उग्गेण तवेण जुत्तो वि।६०। =अहिंसा आदि पाँच व्रत आत्माके गुण हैं, परन्तु मरण समय यदि ये मिथ्यात्वसे सयुक्त हो जायें तो कड़वी तुम्बीमें रखे हुए दूधके समान व्यर्थ हो जाते है।५७। जिस प्रकार विष मिल जानेपर गुणकारी भी औषध दोषयुक्त हो जाता है, इसी प्रकार उपरोक्त गुण भी मिथ्यात्वयुक्त हो जानेपर दोषयुक्त हो जाते हैं।५८। जिस प्रकार एक दिनमें सौ योजन गमन करनेवाला भी व्यक्ति यदि उलटी दिशामें चले तो कभी भी अपने इष्ट स्थानको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार अच्छी तरह व्रत तप आदि करता हुआ भी मिथ्यादृष्टि कदापि मोक्षको प्राप्त नहीं हो सकता।५९-६०।

प. प्र./मू /२/५९ जे णिय-दसण-अहिमुहा सोक्खु अणतु लहति। तिं विणु पुण्णु करता वि दुक्खु अणतु सहति।७१। =जो सम्यग्दर्शनके सम्मुख हैं, वे अनन्त सुखको पाते हैं, और जो जीव सम्यक्त्व रहित हैं वे पुण्य करते हुए भी, पुण्यके फलसे अल्पसुख पाकर ससारमें अनन्त दु:ख भोगते हैं।५९।

प प्र /मू /२/५८ वर णियदसण अहिमुह मरणु वि जीव लहेसि। मा णियदसणविम्मुहउ पुण्णु वि जीव करेसि।५८। =हे जीव! अपने सम्यग्दर्शनके सम्मुख होकर मरना भी अच्छा है, परन्तु सम्यग्दर्शन-से विमुख होकर पुण्य करना अच्छा नहीं है।५८।

दे० भोग—(पुण्यसे प्राप्त भोग पापके मित्र हैं)।

दे० पुण्य/५/१ (प्रशस्त भी राग कारणकी विपरीतता से विपरीत रूपसे फलित होता है।

प. ध./उ./४४४ नापि धर्मः क्रियामात्रं मिथ्यादृष्टेरिहार्थतः। नित्यं रागादिसद्भावात् प्रत्युताधर्म एव सः ।४४४। =मिथ्यादृष्टिके सदा रागादिभावका सद्भाव रहनेसे केवल क्रियारूप व्यवहार धर्मका अर्थात् शुभयोगका पाया जाना भी धर्म नहीं है। किन्तु अधर्म ही है।४४४।

भा. पा./पं. जयचन्द/११७ अन्यमतके श्रद्धानीकै जो कदाचित् शुभ लेश्याके निमित्ततैं पुण्य भी बन्ध होय तौ ताकूं पाप हीमैं गिणिये।

९. मिथ्यात्व युक्त पुण्य तीसरे भव नरकका कारण है

भ. आ./वि./५८/१८५/६ मिथ्यादृष्टेर्गुणा पापानुबन्धि राज्यमिन्द्रियसुखं दत्त्वा बह्वारम्भपरिग्रहादिषु आसक्तं नरके पातयन्ति। =मिथ्यादृष्टिके ये अहिंसादि गुण (या व्रत) पापानुबन्धी स्वरूप इन्द्रियसुखकी प्राप्ति तो कर देते हैं, परन्तु जीवको बहुत आरम्भ और परिग्रहमें आसक्त करके नरकमें ले जाते हैं।

प. प्र. टी./२/५७/१७९/८ निदानबन्धोपार्जितपुण्येन भवान्तरे राज्यादिविभूतौ लब्धायां तु भोगान् त्यक्तुं न शक्नोति तेन पुण्येन नरकादिदुःखं लभते रावणादिवत्। =निदान बन्धसे उत्पन्न हुए पुण्यसे भवान्तरमें राज्यादि विभूतिकी प्राप्ति करके मिथ्यादृष्टि जीव भोगोंका त्याग करनेमें समर्थ नहीं होता, अर्थात् उनमें आसक्त हो जाता है। और इसलिए उस पुण्यसे वह रावण आदिकी भाँति नरक आदिके दुःखोंको प्राप्त करता है। (द्र. सं./टी./३८/१६०/६); (स. सा./ता. वृ./२२४-२२७/३०५/१७)।

४. पुण्यकी कथंचित् इष्टता

१. पुण्य व पापमें महान् अन्तर है

भ. आ./मू./६१ जस्स पुण मिच्छदिट्ठिस्स णत्थि सीलं वदं गुणो चावि। सो मरणे अप्पाणं कह ण कुणइ दीहसंसारं ।६१। =जब व्रतादि सहित भी मिथ्यादृष्टि संसारमें भ्रमण करता है (दे० पुण्य/३/८) तब व्रतादिसे रहित होकर तो क्यों दीर्घसंसारी न होगा?

मो. पा./मू./२५ वर वयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ णिरइ इयरेहिं। छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ।२५। जिस प्रकार छाया और आतपमें स्थित पथिकोंके प्रतिपालक कारणोंमें बड़ा भेद है, उसी प्रकार पुण्य व पापमें भी बड़ा भेद है। व्रत, तप आदि रूप पुण्य श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है और उससे विपरीत अव्रत व अतप आदिरूप पाप श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि उससे नरककी प्राप्ति होती है। (इ. उ./३), (अन. ध./८/१५/७४०)।

त. सा./४/१०३ हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः। हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे।१०३। =हेतु और कार्यकी विशेषता होनेसे पुण्य और पापमें अन्तर है। पुण्यका हेतु शुभभाव है और पापका अशुभभाव है। पुण्यका कार्य सुख है और पापका दुःख है।

२. इष्ट प्राप्तिमें पुरुषार्थसे पुण्य प्रधान है

भ. आ./मू./१७३१/१५६२ पाओदएण अत्थो हत्थं पत्तो वि णस्सदि णरस्स। दूरादो वि सपुण्णस्स एदि अत्थो अयत्तेण ।१७३१। =पापका उदय आनेपर हस्तगत द्रव्य भी नष्ट हो जाता है और पुण्यका उदय आनेपर प्रयत्नके बिना ही दूर देशसे भी धन आदि इष्ट सामग्रीकी प्राप्ति हो जाती है। (कुरल काव्य/३८/६), (प. वि./१/१८८)।

और भी, नियति/३/५ (दैव ही इष्टानिष्टकी सिद्धिमें प्रधान है। उसके सामने पुरुषार्थ निष्फल है।)

आ. अनु./३७ आयुः श्रीर्वपुरादिकं यदि भवेत्पुण्यं पुरोपार्जितं, स्यात् सर्वं न भवेन्न तच्च नितरामायासितेऽप्यात्मनि।३७। =यदि पूर्वोपार्जित पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी और शरीरादि भी यथेच्छित प्राप्त हो सकते हैं, परन्तु यदि वह पुण्य नहीं है तो फिर अपनेको क्लेशित करनेपर भी वह सब किंचित् भी प्राप्त नहीं हो सकता। (पं. वि./१/१८८)।

पं. वि./३/३६ वाञ्छत्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते। =संसारमें मनुष्य सुखकी इच्छा करते हैं परन्तु वह उन्हें विधिके द्वारा दिया गया प्राप्त होता है।

का. अ./मू./४२८,४३४ लच्छिं वंछेइ णरो णेव सुधम्मेसु आयरं कुणइ। बीएण विणा कत्थ वि किं दीसदि सस्स णिप्पत्ती।४२८। ... उज्जमरहिए वि लच्छिसंपत्ती। धम्मपहावेण...।४३४। =यह जीव लक्ष्मी तो चाहता है, किन्तु सुधर्मसे (पुण्यक्रियाओंसे) प्रीति नहीं करता। क्या कहीं बिना बीजके भी धान्यकी उत्पत्ति देखी जाती है?।४२८। धर्मके प्रभावसे उद्यम न करनेवाले मनुष्यको भी लक्ष्मीकी प्राप्ति हो जाती है।४३४। (प. वि./१/१८६)।

अन. ध./१/३७,६० विश्राम्यत स्फुरत्पुण्या गुडखण्डसितामृतं। स्पर्धमाना फलिष्यन्ते भावाः स्वयमितस्ततः।३७। पुण्यं हि संमुखीनं चेत्सुखोपायशतेन किम्। न पुण्यं संमुखीनं चेत्सुखोपायशतेन किम्।६०। =हे पुण्यशालियो! तनिक विश्राम करो अर्थात् अधिक परिश्रम मत करो। गुड, खाण्ड, मिश्री और अमृतसे स्पर्धा रखनेवाले पदार्थ तुमको स्वयं इधर उधरसे प्राप्त हो जायेंगे।४२८। पुण्य यदि उदयके सम्मुख है तो तुम्हें दूसरे सुखके उपाय करनेसे क्या प्रयोजन है, और वह सन्मुख नहीं है तो भी तुम्हें दूसरे सुखके उपाय करनेसे क्या प्रयोजन है?।४३६।

स. सा./ता. वृ./प्रक्षेपक २१६-१/३०१/१३ अनेन प्रकारेण पुण्योदये सति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे। =इस प्रकारसे (नागफणीकी जड़, हथिनीका मूत, सिन्दूर और सीसा इन्हें भट्टीमें धौंकनीसे धौंकनेके द्वारा) सुवर्ण केवल तभी बन सकता है, जब कि पुण्यका उदय हो, पुण्यके अभावमें नहीं बन सकता।

३. पुण्यकी महिमा व उसका फल

कुरल काव्य/४/१-२ धर्मात् सागुत्तरं कोऽन्यो यतो विन्दन्ति मानवाः। पुण्यं स्वर्गप्रदं नित्यं निर्वाणं च सुदुर्लभम् ।१। धर्मान्नास्त्यपरा काचित् सुकृतिर्देहधारिणाम्। तत्त्यागान्न परा काचित् दुष्कृतिर्देहभागिनाम् ।२। =धर्मसे मनुष्यको स्वर्ग मिलता है और उसीसे मोक्षकी प्राप्ति भी होती है, फिर भला धर्मसे बढकर लाभदायक वस्तु और क्या है?।१। धर्मसे बढकर दूसरी और कोई नेकी नहीं, और उसे भुला देनेसे बढकर और कोई बुराई भी नहीं।२।

ध. १/१,१,२/१०५/४ काणि पुण्ण-फलाणि। तित्थयर-गणहर-रिसि-चक्कवट्टि-बलदेव-वासुदेव-सुर-विज्जाहर-रिद्धीओ। =प्रश्न—पुण्यके फल कौनसे हैं? उत्तर—तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरोंकी ऋद्धियाँ पुण्यके फल हैं।

म. पु./३७/१९१-१९६ पुण्याद्विना कुतस्तादृग्रूपसंपदनीदृशी। पुण्याद्विना कुतस्तादृग् अभेद्यगात्रबन्धनम् ।१९१। पुण्याद्विना कुतस्तादृङ् निधिरत्नर्द्धिरूर्जिता। पुण्याद्विना कुतस्तादृग् इभाश्वादिपरिच्छदः ।१९२। =पुण्यके बिना चक्रवर्तीके समान अनुपम रूप, सम्पदा, अभेद्य शरीरका बन्धन, अतिशय उत्कृष्ट निधि, रत्नोंकी ऋद्धि, हाथी घोड़े आदिका परिवार ।१९१-१९२। (तथा इसी प्रकार) अन्तःपुरका वैभव, भोगोपभोग, द्वीप समुद्रोंकी विजय तथा सर्व आज्ञा व ऐश्वर्यता आदि ।१९३-१९६। ये सब कैसे प्राप्त हो सकते हैं। (प. वि./१/१८८)।

पं. वि./१/१८९ कोऽप्यन्धोऽपि सुलोचनोऽपि जरसा ग्रस्तोऽपि लावण्यवान्, निःप्राणोऽपि हरिर्विरूपतनुरप्याद्युष्यते मन्मथः। उद्योगोज्झित-

चेष्टितोऽपि नितरामालिङ्ग्यते च श्रिया, पुण्यादन्यदपि प्रशस्तमखिलं जायेत यद्दुर्घटम् ।१९९। =पुण्यके प्रभावसे कोई अन्धा भी प्राणी निर्मल नेत्रोंका धारक हो जाता है, वृद्ध भी लावण्ययुक्त हो जाता है, निर्बल भी सिंह जैसा बलिष्ठ हो जाता है, विकृत शरीरवाला भी कामदेवके समान सुन्दर हो जाता है। जो भी प्रशंसनीय अन्य समस्त पदार्थ यहाँ दुर्लभ प्रतीत होते है, वे सब पुण्योदयसे प्राप्त हो जाते हैं ।१९९।

का. अ./मू./४३४ अलियवयण पि सच्चं··। धम्मपहावेण णरो अणओ वि सुहंकरो होदि ।४३४। =धर्मके प्रभावसे जीवके झूठ वचन भी सच्चे हो जाते है, और अन्यान्य भी सब सुखकारी हो जाता है।

४. पुण्य करनेकी प्रेरणा

कुरल काव्य/४/३ सत्कृत्यं सर्वदा कार्यं यदुदर्के सुखावहम्। पूर्णशक्ति समाधाय महोत्साहेन धीमता ।३। =अपनी पूरी शक्ति और पूरे उत्साहके साथ सत्कर्म सदा करते रहो।

म. पु./३७/२०० तत' पुण्योदयोद्भूता मत्वा चक्रभृत. श्रियम्। चिनुध्वं भो बुधा' पुण्यं यत्पुण्य सुखसंपदाम् ।२००। =इसलिए हे पण्डित जनो! चक्रवर्तीकी विभूतिको पुण्यके उदयसे उत्पन्न हुई मानकर, उस पुण्यका संचय करो, जो कि समस्त सुख और सम्पदाओंकी दुकानके समान है ।२००।

आ. अनु /२३,३१,३७ परिणाममेव कारणमाहु. खलु पुण्यपापयो' प्राज्ञा'। तस्मात्पापापचय पुण्योपचयश्च सुविधेय' ।२३। पुण्यं कुरुष्व कृतपुण्यमनीदृशोऽपि, नोपद्रवोऽभिभवति प्रभवेच्च भूत्यै। संतापयञ्जगदशेषमशीतरश्मि', पद्मेषु पश्य विदधाति विकाशलक्ष्मीम् ।३१। इत्यार्याः सुविचार्य कार्यकुशला. कार्येऽत्र मन्दोद्यमा द्रागागामिभवार्थमेव सततं प्रीत्या यतन्ते तराम् ।३७। =विद्वान् मनुष्य निश्चयसे आत्मपरिणामको ही पुण्य और पापका कारण बतलाते है, इसलिए अपने निर्मल परिणामके द्वारा पूर्वोपार्जित पापकी निर्जरा, नवीन पापका निरोध और पुण्यका उपार्जन करना चाहिए ।२३। हे भव्य जीव! तू पुण्य कार्यको कर, क्योंकि, पुण्यवान् प्राणीके ऊपर असाधारण उपद्रव भी कोई प्रभाव नहीं डाल सकता है। उलटा वह उपद्रव ही उसके लिए सम्पत्तिका साधन बन जाता है ।३१। इसलिए योग्यायोग्य कार्यका विचार करनेवाले श्रेष्ठ जन भले प्रकार विचार करके इस लोकसम्बन्धी कार्यके विषयमें विशेष प्रयत्न नहीं करते हे, किन्तु आगामी भवोंको सुन्दर बनानेके लिए ही वे निरन्तर प्रीति पूर्वक अतिशय प्रयत्न करते है ।३७।

पं. वि./१/१८३-१८८ नो धर्मादपरोऽस्ति तारक इहाश्रान्त यतध्वं बुधा ।१८३। निर्धूताखिलदु'खदापदि सुहृद्धर्मे मतिर्धार्यताम् ।१८६। अन्यतरं प्रभवतीह निमित्तमात्रं, पात्रं बुधा भवत निर्मलपुण्यराशे. ।१८८। =इस संसारमें डूबते हुए प्राणियोंका उद्धार करनेवाला धर्मको छोड़कर और कोई दूसरा नहीं है। इसलिए हे विद्वज्जनो! आप निरन्तर धर्मके विषयमें प्रयत्न करें ।१८३। निश्चयसे समस्त दु खदायक आपत्तियोंको नष्ट करनेवाले धर्ममें अपनी बुद्धिको लगाओ ।१८६। (पुण्य व पाप ही वास्तवमें इष्ट सयोग व वियोगके हेतु है) अन्य पदार्थ तो केवल निमित्त मात्र है। इसलिए हे पण्डित जन! निर्मल पुण्यराशिके भाजन होओ अर्थात् पुण्य उपार्जन करो ।१८८।

का अ./मू /४३७ इय पच्चक्खं पेच्छइ धम्माहम्माण विविहमाहप्प। धम्म आयरह सया पावं दूरेण परिहरह ।४३७। =हे प्राणियो! इस प्रकार धर्म और अधर्मका अनेक प्रकार माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर सदा धर्मका आचरण करो, और पापसे दूर ही रहो।

दे० धर्म/५/२ (सावद्य होते हुए भी पूजा आदि शुभ कार्य अवश्य करने कर्त्तव्य हैं)

५. पुण्यकी अनिष्टता व इष्टताका समन्वय

१. पुण्य दो प्रकारका होता है

प्र. सा./मू./२५५ व त. प्र./२५६ रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीद। णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ।२५५। शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भवोपलम्भ' किल फल, तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव। तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भवशून्यकेवलपुण्यापसदप्राप्ति.। फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वं। =जैसे इस जगत्में अनेक प्रकारकी भूमियोंमें पडे हुए बीज धान्यकालमें विपरीततया फलित होते है, उसी प्रकार प्रशस्तभूत राग वस्तु भेदसे विपरीततया फलता है ।२५५। सर्वज्ञ स्थापित वस्तुओंमें युक्त शुभोपयोगका फल पुण्यसचय पूर्वक मोक्षकी प्राप्ति है। वह फल कारणकी विपरीतता होनेसे विपरीत ही होता है। वहाँ छद्मस्थ स्थापित वस्तुमें कारणविपरीतता है, (क्योंकि) उनमें व्रत, नियम, अध्ययन, ध्यान, दान आदि रूपसे युक्त शुभोपयोगका फल जो मोक्षशून्य केवल पुण्यापसदकी प्राप्ति है, वह फलकी विपरीतता है। वह फल सुदेव मनुष्यत्व है। (अर्थात् पुण्य दो प्रकारका है—एक सम्यग्दृष्टिका और दूसरा मिथ्यादृष्टिका। पहिला परम्परा मोक्षका कारण है और दूसरा केवल स्वर्ग सम्पदाका)।

दे० मिथ्यादृष्टि/४ (सम्यग्दृष्टिका पुण्य पुण्यानुबन्धी होता है और मिथ्यादृष्टिका पापानुबन्धी)।

दे० धर्म/७/८-१२ (सम्यग्दृष्टिका पुण्य तीर्थंकर प्रकृति आदिके बन्धका कारण होनेसे विशिष्ट प्रकारका है)।

दे० पुण्य/३/६ (और मिथ्यादृष्टिका पुण्य निदान सहित व भोगमूलक होनेके कारण आगे जाकर कुगतियोंका कारण होता है, अत' अत्यन्त अनिष्ट है)।

दे० मिथ्यादृष्टि/४ (मिथ्यादृष्टि भोगमूलक धर्मकी श्रद्धा करता है। मोक्षमूलक धर्मको वह जानता ही नहीं)।

२. भोगमूलक पुण्य ही निषिद्ध है योगमूलक नहीं

पं. वि./७/२५ पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्ष पर सत्सुख', शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरत.। तस्मात्तत्पदसाधनत्वधरणो धर्मोऽपि नो सम्मत, यो भोगादिनिमित्तमेव स पुन. पाप बुधैर्मन्यते ।२५। =धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंमें केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन सुखसे युक्त होकर सदा स्थिर रहनेवाला है। शेष तीन पुरुषार्थ उससे विपरीत (अस्थिर) स्वभाववाले है। अतएव वे मुमुक्षुजनके लिए छोडनेके योग्य है। इसलिए जो धर्मपुरुषार्थ उपर्युक्त मोक्षपुरुषार्थका साधक होता है वह हमें अभीष्ट है, किन्तु जो धर्म केवल भोगादिका ही कारण होता है, उसे विद्वज्जन पाप ही समझते है।

दे धर्म/७ (यद्यपि व्यवहार धर्म पुण्य प्रधान होता है, परन्तु यदि निश्चय धर्मकी ओर झुका हुआ हो तो परम्परासे निर्जरा व मोक्षका कारण होता है।)

प. प्र./टी /२/६०/१८२/१ इद पूर्वोक्त पुण्यं भेदाभेदरत्नत्रयाराधनारहितेन दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धपरिणामसहितेन जीवेन यदुपार्जित पूर्वभवे तदेव मदमहङ्कार जनयति बुद्धिविनाशं च करोति। न च पुन सम्यक्त्वादिगुणसहित भरतसगररामपाण्डवादिपुण्यबन्धवत्। मदाहङ्कारादिविकल्पं त्यक्त्वा मोक्षं गता। =भेदाभेद रत्नत्रयकी आराधनासे रहित तथा दृष्ट श्रुत व अनुभूत भोगोंकी आकांक्षारूप निदानबन्धसे सहित होनेके कारण ही, जीवोंके द्वारा पूर्वमें उपार्जित किया गया वह पूर्वोक्त पुण्य मद व अहंकार

पुद्गल—जो एक दूसरेके साथ मिलकर बिछुडता रहे, ऐसा पूरण गलन स्वभावी मूर्तीक जड पदार्थ 'पुद्गल' ऐसी अन्वर्थ संज्ञाको प्राप्त होता है। तहाँ भी मूलभूत पुद्गल पदार्थ तो अविभागी परमाणु ही है। उनके परस्पर बन्धसे ही जगत्‌के चित्र विचित्र पदार्थोंका निर्माण होता है, जो स्कन्ध कहलाते है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण ये पुद्गलके प्रसिद्ध गुण हैं।

१. पुद्गल सामान्यका लक्षण

१. निरुक्त्यर्थ

रा. वा /५/१/२४,२६/४३४/१२ पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गलाः ।२४। भेदसघाताभ्या च पूर्यन्ते गलन्ते चेति पूरणगलनात्मिका क्रियामन्तर्भाव्य पुद्गलशब्दोऽन्वर्थः · · पुङ्गिलानाद्वा ।२६। अथवा पुमासो जीवाः, तैः शरीराहारविषयकरणोपकरणादिभावेन गिल्यन्त इति पुद्गलाः। =भेद और संघातसे पूरण और गलनको प्राप्त हो वे पुद्गल। यह पुद्गल द्रव्यकी अन्वर्थ संज्ञा है।२४। अथवा पुरुष यानी जीव जिनको शरीर, आहार विषय और इन्द्रिय-उपकरण आदिके रूपमें निगलें अर्थात् ग्रहण करें वे पुद्गल है।२६।

नि सा / ता. वृ /९ गलनपूरणस्वभावसनाथः पुद्गलः। =जो गलन-पूरण स्वभाव सहित है, वह पुद्गल है। (द्र. सं./ टी./१५/५०/१२); (द्र. स /टी /२६/७४/१)।

२ गुणोंकी अपेक्षा

त. सू /५/२३ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।२३। =स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण वाले पुदगल होते हैं।

२. पुद्गलके भेद

१. अणु व स्कन्ध

त सू /५/२५ अणव स्कन्धाश्च ।२५। =पुद्गलके दो भेद है—अणु और स्कन्ध।

२. स्वभाव व विभाव

नि. सा./ता. वृ./२० पुद्गलद्रव्यं तावद् विकल्पद्वयसनाथम्। स्वभावपुद्गलो विभावपुद्गलश्चेति। =पुद्गल द्रव्यके दो भेद है—स्वभाव-पुद्गल और विभाव पुद्गल।

३. देश प्रदेशादि चार भेद—दे० स्कन्ध/१।

३. स्वभाव विभाव पुद्गलके लक्षण

नि. सा /ता. वृ / तत्र स्वभावपुद्गलः परमाणुः विभावपुद्गलः स्कन्धः। =उनमे, परमाणु वह स्वभावपुद्गल है और स्कन्ध वह विभाव पुद्गल है।

४. पुद्गलके २१ सामान्य विशेष स्वभाव

आ.प./४स्वभावा कथ्यन्ते। अस्तिस्वभाव नास्तिस्वभाव. नित्यस्वभाव' अनित्यस्वभाव' एकस्वभाव' अनेकस्वभाव भेदस्वभाव. अभेदस्वभाव' भव्यस्वभाव अभव्यस्वभाव' परमस्वभाव द्रव्याणामेकादशसामान्यस्वभावा। चेतनस्वभावः, अचेतनस्वभाव' मूर्त्तस्वभाव. अमूर्तस्वभाव' एकप्रदेशस्वभाव' अनेकप्रदेशस्वभाव. विभावस्वभाव. शुद्धस्वभाव' अशुद्धस्वभाव. उपचरितस्वभाव' एते द्रव्याणा दश विशेषस्वभावाः। जीवपुद्गलयोरेकविंशतिः। =स्वभावोको कहते है। १ अस्तिस्वभाव, २. नास्तिस्वभाव, ३ नित्यस्वभाव, ४. अनित्यस्वभाव, ५. एकस्वभाव, ६. अनेकस्वभाव, ७ भेदस्वभाव, ८. अभेदस्वभाव, ९. भव्यस्वभाव, १० अभव्यस्वभाव, और ११ परमस्वभाव, में द्रव्योके ११ सामान्य स्वभाव हे। १२. चेतस्वभाव, १३ अचेतनस्वभाव, १४. मूर्तस्वभाव, १५ अमूर्तस्वभाव, १६. एकप्रदेशस्वभाव, १७. अनेकप्रदेशस्वभाव, १८ विभावस्वभाव, १९. शुद्धस्वभाव, २०. अशुद्धस्वभाव, और २१. उपचरितस्वभाव। (तथा २२. अनुपचरित स्वभाव, २३. एकान्तस्वभाव, और २४. अनेकान्त स्वभाव (न. च. वृ./७० की टी.) ये द्रव्योंके विशेष स्वभाव है। उपरोक्त कुल २४ स्वभावोंमेंसे अमूर्त, चैतन्य व अभव्य स्वभावसे रहित पुद्गलके २१ सामान्य विशेष स्वभाव है (न. च वृ./७०)।

५. पुद्गल द्रव्यके विशेष गुण

त. सू /५/२३ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः ।२३। =पुद्गल स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णवाले होते है। (न. च. वृ./१३); (ध. १५/३३/६); (प्र सा /त. प्र./१३२)।

न. च. वृ./१४ वण्ण रस पंच गंधा दो फासा अट्ठ णायव्वा ।१४। =पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, और आठ स्पर्श ये पुद्गलके विशेष गुण है।

आ. प./२ पुद्गलस्य स्पर्शरसगन्धवर्णाः मूर्त्तत्वमचेतनत्वमिति षट्। =पुद्गल द्रव्यके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, मूर्तत्व और अचेतनत्व, ये छह विशेष गुण हैं।

प्र. सा./त. प्र./१२९, १३९ भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्या चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात् ।१२९। पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरुक्षगुणधर्मत्वाच्च ।१३९। =पुद्गल तथा जीव भाववाले तथा क्रियावाले है। क्योंकि परिणाम द्वारा तथा संघात और भेदके द्वारा वे उत्पन्न होते है टिकते है और नष्ट होते है।१२९। (पं. का./ता. वृ /२७/५७/९), (पं. ध /उ./२५)। बन्धके हेतुभूत स्निग्ध व रुक्षगुण पुद्गलका धर्म है।१३९।

६. पुद्गलके प्रदेश

नि सा./मू /३५ संखेज्जासखेज्जाणंतप्रदेशा हवंति मुत्तस्स ।३५। =पुद्गलोंके संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं। ।१०। (त. सू /५/१०); (प. प्र./मू./२/२४); (द्र. सं./मू /२५)।

प्र सा /त. प्र /१३५ द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य। =पुद्गल द्रव्य यद्यपि द्रव्य अपेक्षासे प्रदेशमात्र होनेसे अप्रदेशी है। तथापि दो प्रदेशोसे लेकर सख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशोंवाली पर्यायोकी अपेक्षासे अनिश्चित प्रदेशवाला होनेसे प्रदेशवान है (गो. जी./मू /५९५/१०२५)।

७. शब्दादि पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है

त सू /५/२४ शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च ।२४। =तथा वे पुद्गल शब्द, बन्ध, सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, सस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, आतप, और उद्योतवाले होते है। ।२४। अर्थात् ये पुद्गल द्रव्यकी पर्याय हैं। (द्र. स./मू./१६)।

रा. वा./५/२४/२४/४९०/२४ स्पर्शादयः परमाणूनां स्कन्धाना च भवन्ति शब्दादयस्तु स्कन्धानामेव व्यक्तिरूपेण भवन्ति। ·सौक्ष्म्यं तु अन्त्यमणुष्वेव आपेक्षिकं स्कन्धेषु। =स्पर्शादि परमाणुओके भी होते हैं स्कन्धोके भी पर शब्दादि व्यक्त रूपसे स्कन्धोके ही होते है। सौक्ष्म्य पर्याय तो अणुमें ही होती है, स्कन्धोंमें तो सौक्ष्म्यपना आपेक्षिक है। (और भी दे० – स्कन्ध/१)।

८. शरीरादि पुद्गलके उपकार हैं

त. सू /५/१९-२० शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम् ।१९। सुखदु:खजीवितमरणोपग्रहाश्च ।२०।

स सि./५/२०/२८९/२ एतानि सुखादीनि जीवस्य पुद्गलकृत उपकारः, मूर्तिमद्धेतुसंनिधाने सति तदुत्पत्तेः। =शरीर, वचन मन और प्राणापान यह पुद्गलोका उपकार है।१९। सुख, दुख, जीवन और

पुन्नाट—कर्नाटक (मैसूरके समीपवर्ती प्रदेश) (ह. पु./प्र./४)।

पुन्नाट संघ—दे० इतिहास/५/१८।

पुमान्—जीवको पुमान् कहनेकी विवक्षा—दे० जीव/१/३।

पुर—दे० नगर।

पुराकल्प—न्या. सू /टी./२/१/६४/१०१/६ ऐतिह्यसमाचरितो विधि. पुराकल्प इति। =ऐतिह्य सहचरित विधिको पुराकल्प कहते है।

पुराण—हरिवंश आदि १२ पुराणोके नाम निर्देश (दे० इतिहास/६/ राज्यवंशोके नाम निर्देश)।

पुराण संग्रह—२४ तीर्थंकरोके जीवन चरित्रके आधारपर रचे गये पुराण संग्रह नामके कई ग्रन्थ उपलब्ध है–१. आचार्य दामनन्दि कृत ग्रन्थमें ६ चरित्रोका सग्रह है। आदिनाथ, चन्द्रप्रभु, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, वर्धमान चरित्र। कुल ग्रन्थ ११६४ श्लोक प्रमाण है। इसका काल ज्ञात नही है। २ आचार्य श्रीचन्द्र द्वारा वि. स १०७०में रचा गया। ३. आचार्य सकलकीर्ति द्वारा (ई. १४३३-१४४२) में रचा गया। (पुराण संग्रह/दामनंदि/प्रस्तावना)।

पुराणसार—आ० श्रीचन्द्र (ई० १४६८-१५१८) द्वारा रचित ग्रन्थ।

पुरु—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

पुरुढ वंश—मालवा (मगध देश) के राज्यवंश। इस वंशका दूसरा नाम मुरुड वंश या मौर्यवंश भी है। (दे० इतिहास/३/१)।

पुरुरवा—(म. पु /६२/८७-८८ एक भील था। एक समय मुनिराजके दर्शनकर मद्य, मास व मधुका त्याग किया। इस व्रतके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। यह महावीर भगवान्का दूरवर्ती पूर्व भव है। उनके मरीचिके भवकी अपेक्षा यह दूसरा पूर्व भव है। —दे० महावीर।

पुरुष—भरतक्षेत्रस्थ दक्षिण आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

पुरुष—१ उत्तम कर्मकी सामर्थ्य युक्त

पं. सं /प्रा./१/१०६ पुरु गुण भोगे सेदे करेदि लोयम्हि पुरुगुण कम्मं। पुरु उत्तमो य जम्हा तम्हा सो वण्णिओ पुरिसो।१०६। =जो उत्तम गुण और उत्कृष्ट भोगमें शयन करता है, लोकमें उत्तम गुण और कर्मको करता है, अथवा यत· जो स्वय उत्तम है, अत वह पुरुष इस नामसे वर्णित किया गया है।१०६। (ध. १/१, १, १०१/गा. १७१/३४१); (गो. जी./मू /२७३)।

ध. १/१,१,१०१/३४१/४ पुरुगुणेषु पुरुभोगेषु च शेते स्वपितीति पुरुष·। सुषुप्तपुरुषवदनुगतगुणोऽप्राप्तभोगश्च यदुदयाज्जीवो भवति स पुरुष. अङ्गनाभिलाष इति यावत्। पुरुगुणं कर्म शेते करोतीति वा पुरुष। कथ स्त्र्यभिलाष पुरुगुण कर्म कुर्यादिति चेन्न, तथाभूतसामर्थ्यानुविद्ध-जीवसहचरितत्वादुपचारेण जीवस्य तत्कर्तृत्वाभिधानात्। =जो उत्कृष्ट गुणोमें और उत्कृष्ट भोगोंमें शयन करता है उसे पुरुष कहते है अथवा, जिस कर्मके उदयसे जीव, सोते हुए पुरुषके समान, गुणोसे अनुगत होता है और भोगोको प्राप्त नहीं करता है उसे पुरुष कहते है। अर्थात् स्त्री सम्बन्धी अभिलाषा जिसके पायी जाती है, उसे पुरुष कहते है। अथवा जो श्रेष्ठ कर्म करता है, वह पुरुष है। (ध ६/१,९–१,२४/४६/१)। प्रश्न—जिसके स्त्री-विषयक अभिलाषा पायी जाती है, वह उत्तम कर्म कैसे कर सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उत्तम कर्मको करने रूप सामर्थ्यसे युक्त जीवके स्त्रीविषयक अभिलाषा पायी जाती है अत· वह उत्तम कर्मको करता है, ऐसा कथन उपचारसे किया गया है।

२. चेतन आत्मा

पु. सि उ /९ अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जित स्पर्शगन्धरसवर्णै·। गुणपर्यय-समवेत. समाहित· समुदयव्ययध्रौव्यै·। =पुरुष अर्थात् आत्मा चेतन स्वरूप है। स्पर्श, गन्ध, रस व वर्णादिकसे रहित अमूर्तिक है। गुण पर्याय संयुक्त है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य युक्त है।९।

गो जी./जी. प्र./२७३/५९५/१ पुरुगुणे सम्यग्ज्ञानाधिकगुणसमूहे प्रवर्तते, पुरुभोगे नरेन्द्रनागेन्द्रदेवेन्द्राद्यधिकभोगचये, भोक्तृत्वेन प्रवर्तते, पुरुगुणं कर्म धर्मार्थकाममोक्षलक्षणपुरुषार्थसाधनरूपदिव्यानुष्ठान करोति च। पुरूत्तमे परमेष्ठिपदे तिष्ठति पुरूत्तम. सन् तिष्ठति इत्यर्थ· तस्मात् कारणात् स जीव· पुरुष इति। =जो उत्कृष्ट गुण सम्यग्-ज्ञानादिका स्वामी होय प्रवर्ते, जो उत्कृष्ट इन्द्रादिकका भोग तीहि विषै भोक्ता होय प्रवर्ते, बहुरि पुरुगुणकर्म जो धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थको करै। और जो उत्तम परमेष्ठीपदमें तिष्ठे, तातै वह जीव पुरुष है।

२. भाव पुरुषका लक्षण

गो. जी./जी. प्र./२७१/५९१/१५ पुंवेदोदयेन स्त्रिया अभिलाषरूपमैथुन-संज्ञाक्रान्तो जीवो भावपुरुषो भवति। =पुरुष वेदके उदयतै पुरुष-का अभिलाष रूप मैथुन सज्ञाका धारक जीव सो भाव पुरुष हो है।

३. द्रव्य पुरुषका लक्षण

स. सि /२/५२/२००/६ पवेदोदयात् सूते जनयत्यपत्यमिति पुमान्। =पुंवेदके उदयसे जो अपत्यको जनता है वह पुरुष है। (रा. वा./ २/५२/१/१५७/४)।

गो.जी /जी.प्र./२७१/५९१/१८ पुवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गो-पाङ्गनामकर्मोदयवशेन श्मश्रुकूर्चशिश्नादिलिगाङ्कितशरीरवि-शिष्टो जीवो भवप्रथमसमयादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्त द्रव्यपुरुषो भवति। =निर्माण नामकर्मका उदय संयुक्त पुरुष वेद रूप आकार-का विशेष लिये अंगोपाग नामकर्मका उदय तै मूँछ दाढी लिंगादिक चिह्न सयुक्त शरीरका धारक जीव सो पर्यायका प्रथम समयतैं लगाय अन्त समय पर्यंत द्रव्य पुरुष हो है।

४. पुरुष वेद कर्मका लक्षण

स. सि./८/९/३८६/२ यस्योदयात्पौंस्नान्भावानास्कन्दति स पुंवेद·। =जिसके उदयसे पुरुष सम्बन्धी भावोको प्राप्त होता है वह पवेद है।

* अन्य सम्बन्धी विषय

१. पुरुष वेद सम्बन्धी विषय। —दे० वेद।
२. जीवको पुरुष कहनेकी विवक्षा। —दे० जीव/१/३।
३. आदि पुरुष। —दे० ऋषभ।
४. ऊर्ध्वमूल अधःशाखा रूप पुरुषका स्वरूप। —दे० मनुष्य/२।
५. पुरुषवेदके बन्ध योग्य परिणाम। —दे० मोहनीय/३/६।

पुरुषतत्त्व—सांख्य व शैव मान्य पुरुष तत्त्व—दे० वह वह नाम।

पुरुषदत्ता—१. एक विद्या—दे० विद्या; २. भगवान् सुपार्श्वनाथकी शासक यक्षिणी—दे० 'यक्ष'।

पुरुष पुंडरीक—दे० पुड्रीक।

पुरुषपुर—वर्तमान पेशावर नगर (म. पु /प्र.५०/१० पन्नालाल)।

पुरुषप्रभ—व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० व्यन्तर।

पुरुषवाद—दे० अद्वैतवाद।

पुरुष व्यभिचार—दे० नय/III/६/८।

पुरुष सिंह—म. पु./६१/श्लोक पूर्वके दूसरे भवमें राजगृह नगरका राजा सुमित्र था (५७)। फिर महेन्द्र स्वर्गमें देव हुआ (६३-६५)। वहाँसे च्युत होकर वर्तमान भवमें ५ वाँ नारायण हुआ (७१)। (विशेष दे० शलाकापुरुष)।

पुरुषाद्वैत—दे० अद्वैत।

पुरुषार्थ—पुरुष पुरुषार्थ प्रधान है, इसलिए लौकिक व अलौकिक सभी क्षेत्रोंमें वह पुरुषार्थसे रिक्त नहीं हो सकता। इसीसे पुरुषार्थ चार प्रकारका है—धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष। इनमें से अर्थ व काम पुरुषार्थका सभी जीव रुचि पूर्वक आश्रय लेते हैं और अकल्याणको प्राप्त होते हैं। परन्तु धर्म व मोक्ष पुरुषार्थका आश्रय लेनेवाले जीव कल्याणको प्राप्त करते हैं। इनमेंसे भी धर्म पुरुषार्थ पुण्य रूप होनेसे मुख्यत लौकिक कल्याणको देनेवाला है, और मोक्ष पुरुषार्थ साक्षात कल्याणप्रद है।

१. चतुःपुरुषार्थ निर्देश

१. पुरुषार्थका लक्षण

स. म /१५/१९२/८ विवेकख्यातिश्च पुरुषार्थः। =(सांख्य मान्य) पुरुष तथा प्रकृतिमें भेद होना ही पुरुषार्थ है।

अष्टशती—पौरुषं पुनरिह चेष्टितम्। =चेष्टा करना पुरुषार्थ है।

२. पुरुषार्थके भेद

ज्ञा /३/४ धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चेति महर्षिभि। पुरुषार्थोऽयमुद्दिष्टश्चतुर्भेद पुरातनै ।४। =महर्षियोंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष यह चार प्रकारका पुरुषार्थ कहा है ।४। (प.वि./७/३५)।

३. अर्थ व काम पुरुषार्थ हेय हैं

भ. आ./मू./१८१३-१८१५/१६२८ असुहा अत्था कामा य ·।१८१३। इहलोगियपरलोगियदोसे पुरिसस्स आवहइ णिच्चं। अत्थो अणत्थमूलं महाभयं मुत्तिपडिपंथो ।१८१४। कुणिमकुडिभवा लहुगत्तकारया अप्पकालिया कामा। उवधो लोए दुक्खावहा य ण य होंति सुलहा ।१८१५। =अर्थ पुरुषार्थ और काम पुरुषार्थ अशुभ हैं ।१८१३। इस लोकके दोष और परलोकके दोष अर्थ पुरुषार्थसे मनुष्यको भोगने पडते हैं। इसलिए अर्थ अनर्थका कारण है, मोक्ष प्राप्तिके लिए यह अर्गलाके समान है ।१८१४। यह काम पुरुषार्थ अपवित्र शरीरसे उत्पन्न होता है, इससे आत्मा हलकी होती है, इसकी सेवासे आत्मा दुर्गतिमें दुख पाती है। यह पुरुषार्थ अल्पकालमें ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है और प्राप्त होनेमें कठिन है। १८१५।

*** पुण्य होनेके कारण निश्चयसे धर्म पुरुषार्थ हेय है** —दे० धर्म/७/५।

४. धर्म पुरुषार्थ कथंचित् उपादेय है

भ.आ./मू /१८१३ एओ चेव सुभो णवरि सव्वसोक्खायरो धम्मो। =एक धर्म (पुरुषार्थ) ही पवित्र है और वही सर्वसौख्योंका दाता है ।१८१३। (प वि./७/२५)।

५. मोक्ष पुरुषार्थ ही महान् व उपादेय है

प. प्र./मू./२/३ धम्महँ अत्थहँ कामहँ वि एयहँ सयलहँ मोक्खु। उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अण्णें जेण ण सोक्खु ।३। —हे जीव! धर्म, अर्थ और काम इन सब पुरुषार्थोंमें से मोक्षको उत्तम ज्ञानी पुरुष कहते हैं, क्योंकि अन्य धर्म, अर्थ कामादि पुरुषार्थोंमें परम सुख नहीं है ।३।

ज्ञा /३/५ त्रिवर्गं तत्र सापायं जन्मजातङ्कदूषितम्। ज्ञात्वा तत्त्वविदः साक्षाद्यतन्ते मोक्षसाधने ।५। —चारों पुरुषार्थोंमें पहिले तीन पुरुषार्थ नाश सहित और संसारके रोगोंसे दूषित हैं, ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष अन्तके परम अर्थात मोक्षपुरुषार्थके साधन करनेमें ही यत्न करते हैं। क्योंकि वह अविनाशी है।

प. वि./८/२५ पुंसोऽर्थेषु चतुर्षु निश्चलतरो मोक्षः परं सत्सुखः। शेषास्तद्विपरीतधर्मकलिता हेया मुमुक्षोरतः। ... ।२५। —चारों पुरुषार्थोंमें केवल मोक्ष पुरुषार्थ ही समीचीन सुखसे युक्त होकर सदा स्थिर रहनेवाला है। शेष तीन इससे विपरीत स्वभाव वाले होनेसे छोड़ने योग्य हैं ।२५।

६. मोक्षमार्गका यथार्थ पुरुषार्थ क्या है

प्र.सा /मू /१२६ कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो। परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं। —यदि श्रमण 'कर्ता, कर्म, करण और कर्मफल आत्मा है' ऐसा निश्चय वाला होता हुआ अन्यरूप परिणमित नहीं हो तो वह शुद्धात्माको उपलब्ध करता है ।१२६।

त. सू./१/१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।१। —सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका मार्ग है।

प्र. सा /त. प्र./८९, य एव···आत्मानं परं च ··निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति। —जो निश्चयसे···आत्माको और परको जानता है। वही (जीव), जिसने कि सम्यक्रूपसे स्व परके विवेकको प्राप्त किया है, सम्पूर्ण मोहका क्षय करता है।

प्र.सा./त प्र./१२६ एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते। ... ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति। —इस प्रकार (षट्कारकी रूपसे) बन्धमार्ग तथा मोक्षमार्गमें आत्मा अकेला ही है, इस प्रकार भानेवाला यह पुरुष, परमाणुकी भाँति एकत्व भावनामें उन्मुख होनेसे, उसे परद्रव्यरूप परिणति किंचित नहीं होती। ·· इसलिए परद्रव्यके साथ असम्बद्धताके कारण सुविशुद्ध होता है।

पु. सि उ./११,१५ सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति। भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ।११। विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वं। यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं ।१५। —जिस समय भले प्रकार पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त उपर्युक्त अशुद्ध आत्मा सम्पूर्ण विभावोंके पारको प्राप्त करके अपने निष्कंप चैतन्यस्वरूपको प्राप्त होता है, तब यह आत्मा कृतकृत्य होता है ।११। विपरीत श्रद्धानको नष्ट कर निज स्वरूपको यथावत् जानके जो अपने उस स्वरूपसे च्युत न होना वह ही पुरुषार्थसिद्धिका उपाय है ।१५।

७. मोक्षमें भी कथंचित् पुरुषार्थका सद्भाव

स. म /८/८६/२० प्रयत्नश्च क्रियाव्यापारगोचरो नास्त्येव, कृतकृत्यत्वात्। वीर्यान्तरायक्षयोत्पन्नतत्त्वस्त्वस्त्येव प्रयत्न दानादिलब्धिवत्। =प्रश्न—मुक्त जीवके कोई प्रयत्न भी नहीं होता, क्योंकि मुक्त जीव कृतकृत्य है। उत्तर—दानादि पाँच लब्धियोंकी तरह वीर्यान्तरायकर्मके क्षयसे उत्पन्न वीर्य लब्धि रूप प्रयत्न मुक्त जीवके होता है।

२. पुरुषार्थकी मुख्यता व गौणता

१. ज्ञान हो जानेपर भी पुरुषार्थ ही प्रधान है

प्र. सा./मू./टी./८८ जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं। सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।८८। अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि। =जो जिनेन्द्रके उपदेशको प्राप्त करके मोह-राग-द्वेषको हनता है वह अल्प कालमें सर्व दुःखोंसे मुक्त होता है।८८। इसलिए सम्पूर्ण प्रयत्नपूर्वक मोहका क्षय करनेके लिए मैं पुरुषार्थका आश्रय ग्रहण करता हूँ।

२. यथार्थ पुरुषार्थसे अनादिके कर्म क्षण भरमें नष्ट हो जाते हैं

कुरल./६२/१० शश्वत्कर्मप्रसक्तो यो भाग्यचक्रे न निर्भरः। जय एवास्ति तस्याहो अपि भाग्यविपर्यये।१०। =जो भाग्यके चक्रके भरोसे न रहकर लगातार पुरुषार्थ किये जाता है वह विपरीत भाग्यके रहनेपर भी उसपर विजय प्राप्त करता है।१०।

प. प्र./मू./२७ जेँ दिट्ठेँ तुट्टंति लहु कम्मइँ पुव्व-कियाइँ। सो परु जाणहि जोइया देहि वसंतु ण काइँ।२७। =जिस परमात्माको देखनेसे शीघ्र ही पूर्व उपार्जित कर्म चूर्ण हो जाते हैं। उस परमात्माको देहमें बसते हुए भी हे योगी! तू क्यों नहीं जानता।२७। (प. प्र./मू./३२)।

३. पुरुषार्थ द्वारा अयथा काल भी कर्मोंका विपाक हो जाता है

ज्ञा./३५/२७ अपक्वपाकः क्रियतेऽस्ततन्द्रैस्तपोभिरुग्रैर्वरशुद्धियुक्तैः। क्रमाद्गुणश्रेणिसमाश्रयेण सुसंवृतान्तःकरणैर्मुनीन्द्रैः।२७। =नष्ट हुआ प्रमाद जिनका ऐसे मुनीन्द्र उत्कृष्ट विशुद्धता सहित होते हुए तपके द्वारा अनुक्रमसे गुणश्रेणी निर्जराका आश्रय करके बिना पके कर्मोंको भी पकाकर स्थिति पूर्ण हुए बिना ही निर्जरा करते हैं।२७। (ज्ञा./३५/२६)।

दे पूजा निर्जरा, तप, उदय, उदीरणा, धर्मध्यान आदि=(इनके द्वारा असमयमें कर्मोंका पाक होकर अनादिके कर्मोंकी निर्जरा होनेका निर्देश किया गया है)।

४. पुरुषार्थकी विपरीतता अनिष्टकारी है

स. सा./आ./१६० ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वादेव बन्धावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजानदज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते। =ज्ञान अर्थात् आत्मद्रव्य, अनादि कालसे अपने पुरुषार्थके अपराधसे प्रवर्तमान कर्ममलके द्वारा लिप्त या व्याप्त होनेसे ही बन्ध अवस्थामें सर्वप्रकारसे सम्पूर्ण अपनेको जानता हुआ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अज्ञान भावसे रह रहा है।

५. स्वाभाविक क्रियाओंमें पुरुषार्थ गौण है

पं. ध./उ./३७६,८१७ प्रयत्नमन्तरेणापि दृङ्मोहोपशमो भवेत्। अन्तर्मुहूर्तमात्रं च गुणश्रेण्यनतिक्रमात्।३७६। नेदं स्यात्पौरुषायत्तं किंतु नूनं स्वभावतः। ऊर्ध्वमूर्ध्वं गुणश्रेणौ यतः सिद्धिर्यथोत्तरम्।८१७। =भव्यत्व, काललब्धि आदि सामग्रीके मिलनेपर प्रयत्नके बिना भी गुण श्रेणी निर्जराके अनुसार अन्तर्मुहूर्तमें ही दर्शन मोहका उपशम हो जाता है।३७६। =निश्चयसे तरतमरूपसे होनेवाली शुद्धताका उत्कर्षपना पौरुषाधीन नहीं होता, स्वभावसे ही सम्पन्न होता है, कारण कि उत्तरोत्तर गुणश्रेणी निर्जरामें स्वयमेव शुद्धताकी तरतमता होती जाती है।८१७।

दे० केवली (केवलीके आसन, विहार व उपदेशादि बिना प्रयत्नके ही होते हैं)।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. कर्मोदयमें पुरुषार्थ कैसे चले। —दे० मोक्ष।
२. मन्दोदयमें ही सम्यक्त्वोत्पत्तिका पुरुषार्थ कार्यकारी है। —दे० उपशम/२/३।
३. नियति, भवितव्यता, दैव व काललब्धिके सामने पुरुषार्थकी गौणता व समन्वय। —दे० नियति।
४. पुरुषार्थ व काललब्धिमें भाषाका ही भेद है। —दे० पद्धति।

पुरुषार्थ नय—प्र. सा./आ./परि. नय नं. ३२ पुरुषकारनयेन पुरुषाकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादीवद्यत्नसाध्यसिद्धिः।३२। =आत्मद्रव्य पुरुषकार नयसे जिसकी सिद्धि यत्न साध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषकारसे नींबूका वृक्ष प्राप्त होता है ऐसे पुरुषकारवादीकी भाँति।

पुरुषार्थवाद—गो. क./मू./८९० आलसड्ढो णिरुच्छाहो फलं किंचि ण भुंजदे। थणक्खीरादिपाणं वा पउरसेण विणा ण हि।८९०। =आलस्यकरि संयुक्त होय उत्साह उद्यम रहित होइ सो किछू भी फलको भोगवै नाहीं। जैसे—स्तनका दूध उद्यमहीतैं पीवनेमें आवै है पौरुष बिना पीवनेमें न आवै। तैसे सर्व पौरुष करि सिद्धि है, ऐसा पौरुषवाद है।८९०।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय—आ० अमृतचन्द्र (ई० ९६२-१०५५) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ। इसमें २४३ श्लोक हैं। इस पर पं० टोडरमल (ई० १७३६) ने भाषामें टीका लिखी है। परन्तु उसे पूरी करनेसे पहिले ही विधिने उनसे शरीर छीन लिया। उनकी इस अधूरी कृतिको उनके पीछे पं० दौलतराम (ई० १७७०) ने पूरा किया।

पुरुषोत्तम—१ व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० व्यंतर। २ म. पु./६०/५०-६६ पूर्वभव नं. २ में पोदनपुरका राजा वसुषेण था फिर अगले भवमें सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ। वर्तमान भवमें चौथा नारायण हुआ। विशेष परिचय—दे० शलाका पुरुष/४।

पुरस्कार परिषह—दे० सत्कार।

पुरोत्तम—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

पुरोहित—चक्रवर्तीके चौदह रत्नोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२।

पुलवि—ध. १४/५,६,९३/पृष्ठ नं./पंक्ति पुलवियाओ णिगोदा त्ति भणंति (८५/१४)। आवासब्भंतरे संट्ठिदाओ कच्छउडंडरवक्खारंतोट्ठियपिसिवियाहि समाणाओ पुलवियाओ णाम। एक्केक्कम्हि आवासे ताओ असंखेज्जलोगमेत्ताओ होंति। एक्केक्कम्हि एक्केक्किस्से पुलवियाए असंखेज्जलोगमेत्ताणि णिगोदसरीराणि ओरालिय-तेजा-कम्मइयपोग्गलोवायाणकारणाणि कच्छउडंडरवक्खारपुलवियाए अंतोट्ठिददव्वसमाणाणि पुधपुध अणंताणंतेहि णिगोदजीवेहि आउण्णाणि होंति। (८६/८)। =पुलवियोंको ही निगोद कहते हैं। (८५/१४), (ध. १४/५,६,५८२/४७०/१)। जो आवासके भीतर स्थित हैं और जो कच्छउडअण्डर वखारके भीतर स्थित पिशवियोंके समान उन्हें पुलवि कहते हैं। एक-एक आवासमें वे असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं। तथा एक-एक आवासकी अलग-अलग एक-एक पुलविमें असंख्यात लोक प्रमाण शरीर होते हैं जो कि औदारिक तैजस और कार्मण पुद्गलोंके उपादान कारण होते हैं और जो कच्छउडअंडर-

वक्खार पुलविके भीतर स्थित द्रव्योंके समान अलग-अलग अनन्तानन्त निगोद जीवोंसे आपूर्ण होते हैं। (विशेष दे० वनस्पति/३/७)।

पुलाक—

स. सि./९/४६/४६०/५ उत्तरगुणभावनापेतमनसो व्रतेष्वपि क्वचित्कदाचित्परिपूर्णतामपरिप्राप्नुवन्तोऽविशुद्धपुलाकसादृश्यात्पुलाका इत्युच्यन्ते।

स. सि./९/४७/४६१/११ प्रतिसेवना-पञ्चानां मूलगुणानां रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद् बलादन्यतमं प्रतिसेवमानः पुलाको भवति।=१. जिनका मन उत्तर गुणोकी भावनासे रहित है, जो कहीं पर और कदाचित् व्रतोंमें भी परिपूर्णताको नहीं प्राप्त होते हैं वे अविशुद्ध पुलाकके समान होनेसे पुलाक कहे जाते हैं। (रा वा/९/४६/१/६३६/११), (चा. सा./१०१/१)। २. प्रतिसेवना—दूसरोंके दबाव वश जबर्दस्तीसे पांच मूल गुण और रात्रि भोजन वर्जनव्रतमेंसे किसी एक की प्रतिसेवना करनेवाला पुलाक होता है (रा.वा./९/४७/६३८/४) (चा.सा/१०४/१)

रा वा. हिं/९/४६/७६३ मूलगुणानि विषै कोइ क्षेत्र कालके वशतैं विराधना होय है तातैं मूलगुणमें अन्यमिलाप भया, वेवन न भये। तातैं परालसहित शालो उपमा दे संज्ञा कही है।

* **पुलाकादि पाँचों साधु सम्बन्धी विषय**—दे० साधु/५।

पुष्कर—१. मध्य लोकका द्वितीय द्वीप—दे० लोक/४/४। २. मध्य लोकका तृतीय सागर —दे० लोक/५।

३. पुष्कर द्वीपके नामकी सार्थकता

स सि/३/३४/४ यत्र जम्बूवृक्षस्तत्र पुष्करं सपरिवारम्। तत एव तस्य द्वीपस्य नाम रूढं पुष्करद्वीप इति। मानुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात्पुष्करार्धसंज्ञा।=जहाँ पर जम्बू द्वीपमें जम्बू वृक्ष है पुष्कर द्वीप में अपने वहाँ परिवारके साथ पुष्करवृक्ष है। और इसीलिए इस द्वीपका नाम पुष्करद्वीप रूढ हुआ है।· इस द्वीपके (मध्य भागमें मानुषोत्तर पर्वत है उस, मानुषोत्तर पर्वतके कारण (इसके) दो विभाग हो गये हैं अत. आधे द्वीपको पुष्करार्ध यह संज्ञा प्राप्त हुई।

* **पुष्कर द्वीपका नक्शा**—दे० लोक/७।

पुष्करावर्त—वर्तमान हस्तनगर। अफगानिस्तानमें है। (म. पु/-प्र.५०/प. पन्नालाल)।

पुष्कल—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७, २. पूर्व विदेहस्थ एकशिल वक्षारका एक कूट—दे० लोक/७, ३. पूर्व विदेहस्थ एकशिल वक्षारपर स्थित पुष्कलकूटका रक्षक देव—दे० लोक/७।

पुष्कलावती—पूर्व विदेहके पुष्कलावर्त क्षेत्रकी मुख्य नगरी। अपरनाम पुण्डरीकिनी। —दे० लोक/७।

पुष्कलावर्त—१. पूर्व विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २. पूर्व विदेहस्थ एकशिल वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव। —दे० लोक/७।

पुष्प—पुष्प सम्बन्धी भक्ष्याभक्ष्य विचार—दे० भक्ष्याभक्ष्य/४।

पुष्पक—आनत प्राणत स्वर्गका तृतीय पटल व इन्द्रक। —दे० स्वर्ग/५।

पुष्पक विमान—राजा वैश्रवणको जीतकर रावणने अत्यन्त सुन्दर पुष्पक विमानको प्राप्त किया। (प.पु/८/२५९)।

पुष्पचारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

पुष्पचूल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

पुष्पदंत—१. उत्तर क्षीरवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव। —दे० व्यन्तर/४। २. म. पु/५०/२-२२ "पूर्वके दूसरे भवमें पुष्कर द्वीपके पूर्व दिग्विभागमें विदेह क्षेत्रकी पुण्डरीकिणी नगरीके राजा महापद्म थे। फिर प्राणत स्वर्गमें इन्द्र हुए। वर्तमान भवमें ९वें तीर्थंकर हुए। अपरनाम सुविधि था। विशेष परिचय—दे० तीर्थंकर/५। ३. यह एक कवि तथा काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। केशव उनके पिता और मुग्धा उनकी माता थीं। ये दोनों शिवभक्त थे। उपरान्त जैनी हो गये थे। पहले भैरव राजाके आश्रय थे, पीछे मान्यखेट आ गये। यहाँके नरेश कृष्ण तृ० के मन्त्री इन्हें अपने शुभतुङ्ग भवनमें रखा था। महापुराण ग्रन्थ श. ९६५ (ई० १०४३) में समाप्त किया था। इसके अतिरिक्त यशोधर चरित्र व नागकुमार चरित्रकी भी रचना की थी। यह तीनों ग्रन्थ अपभ्रंश भाषामें थे। समय—ई. श. ११ (जै. हि. सा. इ/२३ कामता) ई ९६५ (जीवन्धर चम्पू/प्र. ८/A. N. Up.); ई. ९४९ (पउम चरिउ/प्र. देवेन्द्रकुमार), (म. पु./प्र. २०/पं. पन्नालाल)। ४. आप राजा जिनपालितके समकालीन तथा उनके मामा थे। इस परसे यह अनुमान किया जा सकता है कि राजा जिनपालितकी राजधानी वनवास ही आपका जन्म स्थान है। आप वहाँसे चलकर पुण्ड्रवर्धन अर्हद्बलि आचार्यके स्थानपर आये और उनसे दीक्षा लेकर तुरन्त उनके साथ ही महिमा नगर चले गये जहाँ उन्होंने वृहद् यति सम्मेलन एकत्रित किया था। उनका आदेश पाकर यह वहाँसे ही एक अन्य साधु भूतबलि (आचार्य) के साथ धरसेनाचार्यकी सेवार्थ गिरनार चले गये, जहाँ उन्होंने धरसेनाचार्यसे षट्खण्डका ज्ञान प्राप्त किया। इनकी साधनासे प्रसन्न होकर भूत जातिके व्यन्तर देवोंने इनकी अस्त-व्यस्त दन्तपंक्तिको सुन्दर कर दिया था। इसीसे इनका नाम पुष्पदन्त पड गया। अवश्य ही इनका नाम पहले कुछ और रहा होगा, जिसका पता नहीं है। ज्ञान प्राप्त करके आप व भूतबलि दोनों वहाँसे वापस आ गये और एक साथ गुरुके आदेशानुसार षट्खण्डकी रचनामें जुट गये, पर इनकी आयुने साथ न दिया। एक ही खण्डकी रचना करने पाये थे कि इनका स्वर्गवास हो गया और शेष पाँच खण्ड इनके पीछे भूतबलिने पूरे किये। गिरनारसे आकर इन्होंने अंकलेश्वरमें चातुर्मास किया था। अपनी आयु कम जानकर आप वनवास पधारे और अपने मामा जिनपालितको उपदेश करके जिन दीक्षा दी और उनको भूतबलि जीके पास भेज दिया। श्रुतावतारके अनुसार आपके दीक्षा गुरु अर्हद्बलि थे और शिक्षागुरु धरसेन। समय—वी नि. ६९३-६३३ (ई. ६६-१०६); (ष ख १/प्र. ११), (विशेष दे० इतिहास/४/१, ४/४/८)।

पुष्पदंत पुराण—आ गुणवर्म (ई. १२३०) की रचना।

पुष्पनंदि—१ आप तोरणाचार्यके शिष्य और प्रभाचन्द्रके गुरु थे। समय—वि ७६० (ई. ७०३) (जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था द्वारा प्रकाशित समयसारकी प्रस्तावनामें R. B. Pathak)। २. राष्ट्रकूट वंशी राजा गोविन्द तृतीयके समयके अर्थात् श. सं ७२४ और ७१९ केदो ताम्र पत्रोंके अनुसार आप तोरणाचार्यके शिष्य और प्रभाचन्द्र न. २ के गुरु थे। तथा कुन्दकुन्दान्वयमें थे। तदनुसार आपका समय शक स ६५० (ई ७२८) होना चाहिए। (प प्रा./-प्र. ४-५/प्रेमीजी), (स सा./प्र./R. B. Pathak)।

पुष्पमाल—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर – दे० विद्याधर।

पुष्पमाला—नन्दन वनमें स्थित सागर कूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

पुष्पांजली—भूतकालीन चौदहवें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५।

पुष्पांजली व्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे वर्णन की गयी है—उत्तम, मध्यम व जघन्य। पाँच वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद, माघ व चैत्रमें शुक्लपक्षकी—उत्तम—५-६ तक लगातार पाँच उपवास। मध्यम—५,७,६को उपवास तथा ६,८ को एकाशन। जघन्य—५,६ को उपवास तथा ६–८ तक एकाशन 'ओं ह्रीं पंचमेरुस्थ अस्सी जिनालयेभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य। (व्रत विधान सं./पृ. ४१), (क्रियाकोष)।

पुष्य—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

पुष्यमित्र—१. मगध देशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह शक जातिका सरदार था। जिसने मौर्य कालमें ही मगधके किसी भागपर अपना अधिकार जमा लिया था। तदनुसार इनका समय वी. नि. २५५-२८५ (ई. पू २७१-२४६) है। विशेष (दे० इतिहास/३/१) २. म. पु./७४/७१ यह वर्धमान भगवान्‌का दूरवर्ती पूर्व भव है–दे० वर्धमान।

पुष्पसेन—आप एक दिगम्बर आचार्य थे। मूल सघकी गुर्वावलीके अनुसार स्याद्वाद सिद्धि ग्रन्थके कर्ता वादीभ सिहके गुरु थे। शत्रु भयंकर राजा कृष्ण प्रथम (ई० ८७८-६१२) के समकालीन थे। समय—८५३-८८७ (म. पु/प्र/४७/पं पन्नालाल) (स्याद्वादसिद्धि/प्र./२४/ पं. दरबारी लाल)—दे० इतिहास/५/३।

पूजा—राग प्रचुर होनेके कारण गृहस्थोके लिए जिन पूजा प्रधान धर्म है, यद्यपि इसमें पच परमेष्ठीकी प्रतिमाओंका आश्रय होता है, पर तहाँ अपने भाव ही प्रधान है, जिनके कारण पूजकको असख्यात गुणी कर्मकी निर्जरा होती रहती है। नित्य नैमित्तिकके भेदसे वह अनेक प्रकारकी है और जल चन्दनादि अष्ट द्रव्योंसे की जाती है। अभिषेक व गान नृत्य आदिके साथ की गयी पूजा प्रचुर फलप्रदायी होती है। सचित्त, व अचित्त द्रव्यसे पूजा, पचामृत व साधारण जलसे अभिषेक, चावलोंकी स्थापना करने व न करने आदि सम्बन्धी अनेकों मतभेद इस विषयमें दृष्टिगत है, जिनका समन्वय करना ही योग्य है।

१. भेद व लक्षण

१. पूजाके पर्यायवाची नाम

म. पु./६७/१९३ यागो यज्ञः क्रतुः पूजा सपर्येज्याध्वरो मखः। मह इत्यपि पर्यायवचनान्यर्चनाविधेः।१९३। =याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये सब पूजा विधिके पर्यायवाची शब्द हैं।१९३।

२. पूजाके भेद

१. इज्या आदिकी अपेक्षा

म. पु./३८/२६ प्रोक्ता पूजार्हतामिज्या सा चतुर्धा सदार्चनम्। चतुर्मुखमहः कल्पद्रुमश्चाष्टाह्निकोऽपि च।२६। =पूजा चार प्रकारकी है सदार्चन (नित्यमह), चतुर्मुख (सर्वतोभद्र), कल्पद्रुम और अष्टाह्निक। (व. ८/३, ४२/९२/८) (इनके अतिरिक्त एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है। तथा और भी जो पूजाके प्रकार है वे इन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत हैं। (म पु /३८/३२-३३), (चा. सा./४३/१), (सा ध./१/१८, २/२५-२९)

२. निक्षेपोंकी अपेक्षा

वसु. श्रा /३८१ णाम-ट्ठवणा-दव्वे-खित्ते काले वियाणभावे य। छव्विहपूया भणिया समासओ जिणवरिंदेहि।३८१। =नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षा संक्षेपसे छह प्रकारकी पूजा जिनेन्द्रदेवने कही है।३८१। (गुण. श्रा./२१२)।

३ द्रव्य व भावकी अपेक्षा

भ आ./वि /४७/१५९/२० पूजा द्विप्रकारा द्रव्यपूजा भावपूजा चेति। =पूजाके द्रव्यपूजा और भावपूजा ऐसे दो भेद है।

३. इज्या आदि पाँच भेदोंके लक्षण

म पु /३८/२७-३३ तत्र नित्यमहो नाम शश्वज्जिनगृहं प्रति। स्वगृहान्नीयमानार्चा गन्धपुष्पाक्षतादिका।२७। चैत्यचैत्यालयादीनां भक्त्या निर्मापणं च यत्। शासनीकृत्य दानं च ग्रामादीनां सदार्चनम्।२८। या च पूजा मुनीन्द्राणां नित्यदानानुषङ्गिणी। स च नित्यमहो ज्ञेयो यथाशक्त्युपकल्पित।२९। महामुकुटबद्धैश्च क्रियमाणो महामहः। चतुर्मुखः स विज्ञेय सर्वतोभद्र इत्यपि।३०। दत्त्वा किमिच्छकं दानं सम्राड्भिर्यः प्रवर्त्यते। कल्पद्रुममहः सोऽयं जगदाशाप्रपूरणः।३१। आष्टाह्निको महः सार्वजनिको रूढ एव सः। महानैन्द्रध्वजोऽन्यस्तु सुरराजैः कृतो महः।३२। बलिस्नपनमित्यन्यस्त्रिसन्ध्यासेवया समम्। उक्तेष्वेव विकल्पेषु ज्ञेयमन्यच्च तादृशम्।३३। =प्रतिदिन अपने घरसे गन्ध, पुष्प, अक्षत आदि ले जाकर जिनालयमें श्री जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना सदार्चन अर्थात् नित्यमह कहलाता है।२७। अथवा भक्ति पूर्वक अर्हन्त देवकी प्रतिमा और मन्दिरका निर्माण कराना तथा दानपत्र लिखकर ग्राम, खेत आदिका दान भी देना सदार्चन कहलाता है।२८। इसके सिवाय अपनी शक्तिके अनुसार नित्यदान देते हुए महामुनियोंकी जो पूजा की जाती है उसे भी नित्यमह समझना चाहिए।२९। महामुकुटबद्ध राजाओंके द्वारा जो महायज्ञ किया जाता है उसे चतुर्मुख यज्ञ जानना चाहिए। इसका दूसरा नाम सर्वतोभद्र भी है।३०। जो चक्रवर्तियोंके द्वारा किमिच्छक दान देकर किया जाता है और जिसमें जगत्के सर्व जीवोंकी आशाएँ पूर्ण की जाती है, वह कल्पद्रुम नामका यज्ञ कहलाता है।३१। चौथा अष्टाह्निक यज्ञ है जिसे सब लोग करते हैं और जो जगत्में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इनके सिवाय एक ऐन्द्रध्वज महायज्ञ भी है जिसे इन्द्र किया करता है। (चा. सा /४३/२), (सा. ध /२/२५-२९)। बलि अर्थात् नैवेद्य चढाना, अभिषेक करना, तीन सन्ध्याओमें उपासना करना तथा इनके समान और भी जो पूजाके प्रकार है वे उन्हीं भेदोंमें अन्तर्भूत है।३२-३३।

४. नाम, स्थापनादि पूजाओंके लक्षण

१. नामपूजा

वसु. श्रा /३८२ उच्चारिऊण णामं अरुहाईणं विसुद्धदेसम्मि। पुप्फाणि जं खिविज्जति वण्णिया णामपूया सा।३८२। =अरहन्तादिका नाम उच्चारण करके विशुद्ध प्रदेशमें जो पुष्प क्षेपण किये जाते हैं वह नाम पूजा जानना चाहिए।३८२। (गुण. श्रा./२१३)।

२ स्थापना पूजा

वसु. श्रा./३८३-३८४ सब्भावासब्भावा दुविहा ठवणा जिणेहि पण्णत्ता। सायारवंतवत्थुम्मि जं गुणारोवणं पढमा।३८३। अक्खय-वराडओ वा अमुगो एसो त्ति णियबुद्धीए। संकप्पिऊण वयणं एसा विइया असब्भावा।३८४। =जिन भगवान्ने सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना यह दो प्रकारकी स्थापना पूजा कही है। आकारवान् वस्तुमें अर्हन्तादिके गुणोका जो आरोपण करना, सो यह पहली सद्भाव स्थापना पूजा है। और अक्षत, वराटक (कौडी या कमलगट्टा आदिमें अपनी बुद्धिसे यह अमुक देवता है, ऐसा संकल्प करके उच्चारण करना, सो यह असद्भाव स्थापना पूजा जानना चाहिए।३८३-३८४। (गुण. श्रा./२१४-२१५)।

३. द्रव्यपूजा

भ. आ./वि./४७/१५९/२१ गन्धपुष्पधूपाक्षतादिदानं अर्हदाद्युद्दिश्य द्रव्यपूजा। अभ्युत्थानप्रदक्षिणीकरण-प्रणमनादिका-कायक्रिया च। वाचा गुणसंस्तवनं च। =अर्हदादिकोके उद्देश्यसे गंध, पुष्प, धूप, अक्षतादि समर्पण करना यह द्रव्यपूजा है। तथा उठ करके खडे होना, तीन प्रदक्षिणा देना, नमस्कार करना वगैरह शरीर क्रिया करना, वचनोंसे अर्हदादिकके गुणोको स्तवन करना, यह भी द्रव्य-पूजा है। (अ ग श्रा./१२/१२।

वसु. श्रा /४४८-४५१ दव्वेण य दव्वस्स य जा पूजा जाण दव्वपूजा सा। दव्वेण गंध-सलिलाइपुव्वभणिएण कायव्वा।४४८। तिविहा दव्वे पूजा सच्चित्ताचित्तमिस्सभेएण। पच्चक्खजिणाईणं सचित्तपूजा जहाजोग्गं।४४९। तेसिं च सरीराणं दव्वसुदस्सवि अचित्तपूजा सा। जा पुण दोण्हं कीरइ णायव्वा मिस्सपूजा सा।४५०। अहवा आगम-णोआगमाइभेएण बहुविहं दव्वं। णाऊण दव्वपूजा कायव्वा सुत्तमग्गेण।४५१। =जलादि द्रव्यसे प्रतिमादि द्रव्यकी जो पूजा की जाती है, उसे द्रव्यपूजा जानना चाहिए। वह द्रव्यसे अर्थात् जल गन्धादि पूर्वमें कहे गये पदार्थ समूहसे करना चाहिए।४४८। (अ ग श्रा./१२ १३) द्रव्यपूजा, सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारकी है। प्रत्यक्ष उपस्थित जिनेन्द्र भगवान् और गुरु आदिका यथायोग्य पूजन करना सो सचित्तपूजा है। उनके अर्थात् जिन तीर्थंकर आदिके शरीरकी और द्रव्यश्रुत अर्थात् कागज आदिपर लिपिबद्ध शास्त्रकी जो पूजा की जाती है, वह अचित्तपूजा है। और जो दोनोंकी पूजा की जाती है वह मिश्रपूजा जानना चाहिए।४४९-४५०। अथवा आगम-द्रव्य और नोआगमद्रव्य आदिके भेदसे अनेक प्रकारके द्रव्य निक्षेपको जानकर शास्त्र प्रतिपादित मार्गसे द्रव्यपूजा करना चाहिए।४५१। (गुण. श्रा /२१६-२२१)।

४. क्षेत्रपूजा

वसु श्रा /४५२ जिणजम्मण-णिक्खमणे णाणुप्पत्तीए तित्थचिण्हेसु। णिसिहीसु खेत्तपूजा पुव्वविहाणेण कायव्वा। =जिन भगवान्की जन्म कल्याणक भूमि, निष्क्रमण कल्याणक भूमि, केवलज्ञानोत्पत्तिस्थान, तीर्थ चिह्न स्थान और निषीधिका अर्थात् निर्वाण भूमियोंमें पूर्वोक्त

प्रकारसे पूजा करना चाहिए यह क्षेत्रपूजा कहलाती है।४५२। (गुण. श्रा./२२२)।

५. कालपूजा

वसु. श्रा./४५३-४५५ गब्भावयार-जम्माहिसेय-णिक्खमण णाण-णिव्वाणं। जम्हि दिणे संजादं जिणण्हवणं तद्दिणे कुज्जा।४५३। णंदीसरट्ठदिवसेसु तहा अण्णेसु उचियपव्वेसु। ज कीरइ जिणमहिमा विण्णेया कालपूजा सा।४५५। =जिस दिन तीर्थंकरोंके गर्भावतार, जन्माभिषेक, निष्क्रमणकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और निर्वाणकल्याणक हुए है, भगवान्‌का अभिषेक करे। तथा इस प्रकार नन्दीश्वर पर्वके आठ दिनोंमें तथा अन्य भी उचित पर्वोमें जो जिन महिमा की जाती है, वह कालपूजा जानना चाहिए।४५५। (गुण. श्रा./२२३-२२४)

६. भावपूजा

भ. आ./वि./४७/१५६/२२ भावपूजा मनसा तद्गुणानुस्मरणं। =मनसे उनके (अर्हन्तादिके) गुणोंका चिन्तन करना भावपूजा है। (अ. ग. श्रा./१२/१४)।

वसु. श्रा./४५६-४५८ काऊणाणंतचउट्ठयाइ गुणकित्तण जिणाईण। जं वंदणं तियाल कीरइ भावच्चण त खु।४५६। पंचणमोक्कारपएहिं अहवा जाव कुणिज्ज सत्तीए। अहवा जिणिंदथोत्त वियाण भावच्चण त पि।४५७। ज झाइज्जइ झाण भावमह त विणिद्दिट्ठं।४५८। =परम भक्तिके साथ जिनेन्द्र भगवान्‌के अनन्त चतुष्टय आदि गुणोंका कीर्तन करके जो त्रिकाल वन्दना की जाती है, उसे निश्चयसे भावपूजा जानना चाहिए।४५६। अथवा पंच णमोकार पदोंके द्वारा अपनी शक्तिके अनुसार जाप करे। अथवा जिनेन्द्रके स्तोत्र अर्थात् गुणगानको भावपूजन जानना चाहिए।४५७। और…जो चार प्रकारका ध्यान किया जाता है वह भी भावपूजा है।४५८।

५. निश्चय पूजाका लक्षण

स. श./मू./३१ य परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्तत'। अहमेव मयोपास्यो नान्य कश्चिदितिस्थिति'।३१। =जो परमात्मा है वह ही मैं हूँ तथा जो स्वानुभवगम्य मैं हूँ वही परमात्मा है, इसलिए मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य हूँ, दूसरा कोई अन्य नहीं। इस प्रकार ही आराध्य-आराधक भावकी व्यवस्था है।

प. प्र./मू./१/१२३ मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स। बीहि वि समरसि-हूवाह पुज्ज चडावउँ कस्स। =विकल्परूप मन भगवान् आत्मारामसे मिल गया और परमेश्वर भी मनसे मिल गया तो दोनो ही को समरस होनेपर किसकी अब मैं पूजा करूँ। अर्थात् निश्चयनयकर अब किसीको पूजना सामग्री चढाना नहीं रहा।१२३।

दे० परमेष्ठी-पाँचो परमेष्ठी आत्मामें ही स्थित हैं, अत वही मुझे शरण है।

२. पूजा सामान्य निर्देश व उसका महत्त्व

१. पूजा करना श्रावकका नित्य कर्तव्य है

वसु. श्रा./४७८ एसा छव्विहा पूजा णिच्च धम्माणुरायरत्तेहिं। जह जोग्ग कायव्वा सव्वेहि पि देसविरएहिं।४७८। =इस प्रकार यह छह प्रकार (नाम, स्थापनादिकी पूजा धर्मानुरागरक्त सर्व देशव्रती श्रावकोंको यथायोग्य नित्य ही करना चाहिए।४७८।

पं. वि./६/१५-१६ ये जिनेन्द्र न पश्यन्ति पूजयन्ति स्तुवन्ति न। निष्फलं जीवितं तेषां तेषा धिक् च गृहाश्रमम्।१५। प्रातरुत्थाय कर्तव्यं देवतागुरुदर्शनम्। भक्त्या तद्वन्दना कार्या धर्मश्रुतिरुपासकै।१६। =जो जीव भक्तिसे जिनेन्द्र भगवान्‌का न दर्शन करते हैं, न पूजन करते है, और न ही स्तुति करते हैं उनका जीवन निष्फल है, तथा उनके गृहस्थको धिक्कार है।१५। श्रावकोंको प्रात कालमें उठ करके भक्तिसे जिनेन्द्रदेव तथा निर्ग्रन्थ गुरुका दर्शन और उनकी वन्दना करके धर्म श्रवण करना चाहिए। तत्पश्चात् अन्य कार्योंको करना चाहिए।१६।

बो. पा./टी./१७/८५ पर उद्धृत—उक्तं सोमदेव स्वामिना—अपूजयित्वा यो देवान् मुनीननुपचर्य च। यो भुञ्जीत गृहस्थ. सन् स भुञ्जीत परं तम'। =आचार्य सोमदेवने कहा है—कि जो गृहस्थ जिनदेवकी पूजा और मुनियोंकी उपचर्या किये बिना अन्नका भक्षण करता है। वह सातवें नरकके कुम्भीपाक बिलमें दु खको भोगता है। (अ. ग. श्रा./१/५५)।

प. ध./उ./७३२-७३३ पूजामप्यर्हतां कुर्याद्वा प्रतिमासु तद्धिया। स्वरव्यञ्जनानि संस्थाप्य सिद्धानप्यर्चयेत्सुधी'।७३२। सूर्युपाध्यायसाधूना पुरस्तत्पादयो. स्तुतिम्। प्राग्विधायाष्टधा पूजा विदध्यात्स त्रिशुद्धित'।७३३। =उत्तम बुद्धिवाला श्रावक प्रतिमाओंमें अर्हन्तकी बुद्धिसे अर्हन्त भगवान्‌की और सिद्ध यन्त्रमें स्वर व्यंजन आदि रूपसे सिद्धोंकी स्थापना करके पूजन करे।७३२। तथा आचार्य उपाध्याय साधुके सामने जाकर उनके चरणोंकी स्तुति करके त्रिकरणकी शुद्धिपूर्वक उनकी भी अष्ट द्रव्यसे पूजा करे।७३३। (इस प्रकार नित्य होनेवाले जिनबिम्ब महोत्सवमें शिथिलता नहीं करना चाहिए। ।(७३६)।

२. नंदीश्वर व पंचमेरु पूजा निर्देश

ति. प./५/८३,१०१,१०३ वरिसे वरिसे चउविहदेवा णंदीसरम्मि दीवम्मि। आसाढकत्तिएसुं फग्गुणमासे समायन्ति।८३। पुव्वाए कप्पवासी भवणसुरा दक्खिणाए वेंतरया। पच्छिमदिसाए तेसु जोइसिया उत्तरदिसाए।१००। णियणियविभूदिजोग्गं महिमं कुव्वंति थोत्तबहलमुहा। णंदीसरजिणमंदिरजत्तासु विउलभत्तिजुदा।१०१। पुव्वण्हे अवरण्हे पुव्वणिसाए वि पच्छिमणिसाए। पहराणि दोण्णि-दोण्णि वरभत्तीए पसत्तमणा।१०२। कमसो पदाहिणेण पुण्णिमयं जाव अट्ठमीदु। तदो देवा विविहं पूजा जिणिंदपडिमाण कुव्वंति।१०३। =चारों प्रकारके देव नन्दीश्वरद्वीपमें प्रत्येक वर्ष आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन मासमें आते है।८३। नन्दीश्वरद्वीपस्थ जिनमन्दिरोंकी यात्रामें बहुत भक्तिसे युक्त कल्पवासी देव पूर्व दिशामें, भवनवासी दक्षिणमें, व्यन्तर पश्चिम दिशामें और ज्योतिषदेव उत्तर दिशामें मुखसे बहुत स्तोत्रोंका उच्चारण करते हुए अपनी-अपनी विभूतिके योग्य महिमाको करते है।१००-१०१। ये देव आसक्त चित्त होकर अष्टमीसे लेकर पूर्णिमा तक पूर्वाह्न, अपराह्न, पूर्वरात्रि और पश्चिमरात्रिमें दो-दो पहर तक उत्तम भक्ति पूर्वक प्रदक्षिण क्रमसे जिनेन्द्र प्रतिमाओंकी विविध प्रकारसे पूजा करते है।१०२-१०३।

ज. प./५/११२ एवं आगंतूणं अट्ठमिदिवसेसु मंदरगिरिस्स। जिणभवणेसु य पडिमा जिणिंदइंदाण पूयंति।११२। =इस प्रकार अर्थात् बडे उत्सव सहित आकर वे (चतुर्निकायके देव) अष्टाह्निक दिनोंमें मन्दर (सुमेरु) पर्वतके जिन भवनोंमें जिनेन्द्र प्रतिमाओंकी पूजा करते है।११२।

अन. ध./९/६३ कुर्वन्तु सिद्धनन्दीश्वरगुरुशान्तिस्तवै क्रियामष्टौ। शुच्यूर्जतपस्यसिताष्टम्यादिदिनानि मध्याह्ने। =आषाढ, कार्तिक और फाल्गुन शुक्ला अष्टमीसे लेकर पूर्णिमा पर्यन्तके आठ दिनों तक पौर्वाह्निक स्वाध्याय ग्रहणके अनन्तर सब सघ मिला कर, सिद्धभक्ति, नन्दीश्वर चैत्यभक्ति, पचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति द्वारा अष्टाह्निक क्रिया करें।६३।

सर्व पूजाकी पुस्तकोमे अष्टाह्निकपूजा ''सवौषडाहूय निवेश्य ठाभ्या सानिध्यमनीय वषड्पदेन। श्रीपञ्चमेरुस्थजिनालयाना यजाम्यशीति-प्रतिमा. समस्ता ।१। आहूय सवोषडिति प्रणीत्य ताभ्या प्रतिष्ठाप्य मुनिष्ठितार्थान्। वषड्पदेनैव च संनिधाय नन्दीश्वरद्वीपजिना-न्समर्चे ।२। ='सवौषट्' पदके द्वारा बुलाकर, 'ठ' ठ.' पदके द्वारा ठहराकर, तथा 'वषट्' पदके द्वारा अपने निकट करके पाँचों मेरु-पर्वतोपर स्थित अस्सी चैत्यालयोकी समस्त प्रतिमाओंकी मैं पूजा करता हूँ।१। इसी प्रकार 'सवौषट्' पदके द्वारा बुलाकर, 'ठ' ठ.' पदके द्वारा ठहराकर, तथा 'वषट्'के द्वारा अपने निकट करके हम नन्दीश्वरद्वीपके जिनेन्द्रोकी पूजा करते हैं।

३. पूजामें अन्तरंग भावोंकी प्रधानता

ध. ६/४,१,१/८/७ ण ताव जिणो सगवदणाए परिणयाण चेव जीवाणं पावस्स पणासओ, वीयरायत्तस्साभावप्पसगादो। · परिसेसत्तणेण जिणपरिणयभावो च पावपणासओ त्ति इच्छियव्वो, अण्णहा कम्म-क्खयाणुववत्तीदो। =जिन देव वन्दन· जीवोंके पापके विनाशक नही है, क्योंकि ऐसा होनेपर वीतरागताके अभावका प्रसग आवेगा। ·· तव पारिशेष रूपसे जिन परिणत भाव और जिनगुण परिणामको पापका विनाशक स्वीकार करना चाहिए।

४. जिनपूजाका फल निर्जरा व मोक्ष

भ आ /मू /७४६,७५० एया वि सा समत्था जिणभत्ती दुग्गइं णिवारेण। पुण्णाणि य पूरेदुं आसिद्धि परपरसुहाणं ।७४६। बीएण विणा सस्सं इच्छदि सो वासमब्भएण विणा। आराधणमिच्छन्तो आरा-धणभत्तिमकरतो ।७५०। =अकेली जिनभक्ति ही दुर्गतिका नाश करनेमें समर्थ है, इससे विपुल पुण्यकी प्राप्ति होती है और मोक्ष-प्राप्ति होने तक इससे इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, अहमिन्द्रपद और तीर्थ-करपदके सुखोंकी प्राप्ति होती है ।७४६। आराधना रूप भक्ति न करके ही जो रत्नत्रय सिद्धि रूप फल चाहता है वह पुरुष बीजके विना धान्य प्राप्तिकी इच्छा रखता है, अथवा मेघके विना जलवृष्टिकी इच्छा करता है ।७५०। (भ.आ./मू./७५५), (र.सा./१२-१४); (भा.पा / टी./८/१३२ पर उद्धृत), (वसु.श्रा /४८६-४६३)।

भा. पा./मू /१५३ जिणवरचरणवुरुहं णमति जे परमभत्तिराएण। ते जम्मवेलिमूल खणति वरभावसत्थेण ।१५३। =जे पुरुष परम भक्तिसे जिनवरके चरणकूं नमें है ते श्रेष्ठ भावरूप शस्त्रकरि ससाररूप वेलि-का जो मूल मिथ्यात्व आदिकर्म ताहि खणै है।

मू. आ /५०६ अरहतणमोक्कार भावेण य जो करेदि पयदमदी। सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण ।५०६। =जो विवेकी जीव भावपूर्वक अहरन्तको नमस्कार करता है वह अति शीघ्र समस्त दु खोसे मुक्त हो जाता है।५०६। (क.पा.१/१/गा.२/६), (प्र सा/ ता वृ./७६/१०० पर उद्धृत)।

क. पा १/१/६/२ अरहतणमोक्कारो संपहियबंधादो असखेज्जगुणकम्मक्ख-यकारओ त्ति। =अरहन्त नमस्कार तत्कालीन बन्धकी अपेक्षा असख्यातगुणी कर्म निर्जराका कारण है। (ध १०/४,२,४,६६/-२८६/४)।

ध ६/१,६-६,२२/गा १/४२८ दर्शनेन जिनेन्द्राणां पापसंघातकुंजरम्। शतधा भेदमायाति गिरिर्वज्रहतो यथा।

ध ६/१,६-६,२२/४२७/६ जिणबिंबदसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदसणादो। =जिनेन्द्रोके दर्शनसे पाप सघात रूपी कुजरके सौ टुकडे हो जाते है, जिस प्रकार कि वज्रके आघातसे पर्वतके सौ टुकडे हो जाते है।१। जिन बिम्बके दर्शनसे निधत्त और निकाचित रूप भी मिथ्यात्वादि कर्म कलापका क्षय देखा जाता है।

पं. वि./१०/४२ नाममात्रकथया परात्मनो भूरिजन्मकृतपापसंक्षय ।४२। =परमात्माके नाममात्रकी कथासे ही अनेक जन्मोंके सचित किये पापोका नाश होता है।

पं. वि./६/१४ प्रपश्यन्ति जिनं भक्त्या पूजयन्ति स्तुवन्ति ये। ते च दृश्याश्च पूज्याश्च स्तुत्याश्च भुवनत्रये ।१४। =जो भव्य प्राणी भक्तिसे जिन भगवान्‌का पूजन, दर्शन और स्तुति करते हैं वे तीनों लोकोंमें स्वयं ही दर्शन, पूजन और स्तुतिके योग्य हो जाते हैं अर्थात् स्वय भी परमात्मा बन जाते हैं।

सा. ध /२/३२ दृक्पूतमपि यष्टारमर्हतोऽभ्युदयश्रिय·। श्रयन्त्यहम्पूर्वि-कया, किं पुनर्व्रतभूषितम् ।३२। =अर्हन्त भगवान्‌की पूजाके माहा-त्म्यसे सम्यग्दर्शनसे पवित्र भी पूजकको पूजा, आज्ञा, आदि उत्कर्ष-कारक सम्पत्तियाँ 'मैं पहले, मैं पहले', इस प्रकार ईर्ष्यासे प्राप्त होती है, फिर व्रत सहित व्यक्तिका तो कहना ही क्या है ।३२।

दे० धर्म/७/६ (दान, पूजा आदि सम्यक् व्यवहारधर्म कर्मोकी निर्जरा तथा परम्परा मोक्षका कारण है।)

३. पूजा निर्देश व मूर्ति पूजा

१. एक जिन या जिनालयकी वन्दनासे सबकी वन्दना हो जाती है

क. पा. १/१,१/§८७/११२/५ अणंतेसु जिणेसु एयवंदणाए सव्वेसि पि वंदणुववत्तीदो। ''एगजिणवदणाफलेण समाणफलत्तादो सेसजिण-वदणा फलवंता तदो सेसजिणवंदणासु पहियफलाणुवलभादो एक्कस्स चेव वदणा कायव्वा, अणतेसु जिणेसु अक्कमेण छदुमत्थुप-जोगपउत्तीए विसेसरूवाए असंभवादो वा एक्कस्सेव जिणस्स वंदणा कायव्वा त्ति ण एसो वि एयंतग्गहो कायव्वो; एयतावहारणस्स सव्वहा दुण्णयत्तप्पसगादो। =एक जिन या जिनालयकी वन्दना करनेसे सभी जिन या जिनालयकी वन्दना हो जाती है। प्रश्न—एक जिनकी वन्दनाका जितना फल है शेष जिनोंकी वन्दनाका भी उतना ही फल होनेसे शेष जिनोंकी वन्दना करना सफल नहीं है। अतः शेष जिनोकी वन्दनामें फल अधिक नहीं होनेके कारण एक ही जिनकी वन्दना करनी चाहिए। अथवा अनन्त जिनोमें छद्मस्थके उपयोगकी एक साथ विशेषरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इसलिए भी एक जिनकी वन्दना करनी चाहिए? उत्तर—इस प्रकारका एकान्ताग्रह भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि इस प्रकारका निश्चय करना दुर्नय है।

२. एककी वन्दनासे सबकी वन्दना कैसे होती है

क. पा /१/१,१/§८६-८७/१११-११२/५ एक्कजिण-जिणालय-वदणा ण कम्मक्खयं कुणइ, सेसजिण-जिणालय-चासण· ।§८६। ण ताव पक्ख-वाओ अत्थि, एक्क चेव जिण जिणालय वा वदामि त्ति णियमा-भावादो। ण च सेसजिणजिणालयाण णियमेण वदणा ण कया चेव, अणतणाण-दसण-विरिय-सुहादिदुवारेण एयत्तमावण्णेसु अणंतेसु जिणेसु एयवदणाए सव्वेसिं पि वदणुववत्तीदो ।§८७। =प्रश्न—एक जिन या जिनालयकी वन्दना कर्मोका क्षय नहीं कर सकती है, क्योंकि इससे शेष जिन और जिनालयोंकी आसादना होती है? उत्तर—एक जिन या जिनालयकी वन्दना करनेसे पक्ष-पात तो होता नहीं है, क्योंकि वन्दना करनेवालेके 'मैं एक जिन या जिनालयकी वन्दना करूँगा अन्यकी नहीं' ऐसा प्रतिज्ञा रूप नियम नहीं पाया जाता है। तथा वन्दना करनेवालेने शेष जिन और जिनालयोंकी वन्दना नही की ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योकि अनन्त ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सुख आदिके द्वारा अनन्त जिन एकत्वको प्राप्त है। इसलिए उनमें गुणोंकी अपेक्षा कोई भेद नहीं

है अतएव एक जिन या जिनालयकी वन्दनासे सभी जिन या जिनालयकी वन्दना हो जाती है।

३. देव व शास्त्रकी पूजामें समानता

सा. ध./२/४४ ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या, ते यजन्तेऽञ्जसा जिनम्। न किंचिदन्तरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयो'।४४। =जो पुरुष भक्तिसे जिनवाणीको पूजते हैं, वे पुरुष वास्तवमें जिन भगवान्‌को ही पूजते हैं, क्योंकि सर्वज्ञदेव जिनवाणी और जिनेन्द्रदेवमें कुछ भी अन्तर नहीं कहते है।४४।

४. साधु व प्रतिमा भी पूज्य हैं

बो. पा./मू./१७ तस्स य करह पणामं सव्वं पुज्जं च विणयवच्छल्लं। जस्स य दंसण णाणं अत्थि धुवं चेयणा भावो।१७। =ऐसें जिनबिंब अर्थात् आचार्य कूँ प्रणाम करो, सर्व प्रकार पूजा करो, विनय करो, वात्सल्य करो, काहैं तैं—जाकै ध्रुव कहिये निश्चयतैं दर्शन ज्ञान पाइये है बहुरि चेतनाभाव है।

बो. पा./टी./१७/८५/६ जिनबिम्बस्य जिनबिम्बमूर्तेराचार्यस्य प्रणामं नमस्कारं पञ्चाङ्गमष्टाङ्गं वा कुरुत। चकारादुपाध्यायस्य सर्वसाधोश्च प्रणामं कुरुत तयोरपि जिनबिम्बस्वरूपत्वात्। · सर्वां पूजामष्टविधमर्चनं च कुरुत यूयमिति, तथा विनयं · वैयावृत्यं कुरुत यूयं।··· चकारात्पाषाणादिघटितस्य जिनबिम्बस्य पञ्चामृतैः स्नपनं अष्टविधैः पूजाद्रव्यैश्च पूजनं कुरुत यूयं। =जिनेन्द्रकी मूर्ति स्वरूप आचार्यको प्रणाम, तथा पचाङ्ग वा अष्टाग नमस्कार करो।·· च शब्दसे उपाध्याय तथा सर्व साधुओंको प्रणाम करो, क्योंकि वह भी जिनबिम्ब स्वरूप है।·· इन सबकी अष्टविध पूजा, तथा अर्चना करो, विनय, एवं वैयावृत्य करो। ·चकारसे पाषाणादिमें उकेरे गये जिनेन्द्र भगवान्‌के बिम्बका पचामृतसे अभिषेक करो और अष्टविध पूजाके द्रव्यसे पूजा करो, भक्ति करो।

दे० पूजा/१/४ आकारवान व निराकार वस्तुमें जिनेन्द्र भगवान्‌के गुणोंकी कल्पना करके पूजा करनी चाहिए।

दे० पूजा/२/१ (पूजा करना श्रावकका नित्य कर्तव्य है।)

५. साधुकी पूजासे पाप नाश कैसे हो सकता है

ध. ६/४,१,१/११/१ होदु णाम सयलजिणणमोक्कारो पावप्पणासओ, तत्थ सव्वगुणाणमुवलंभादो। ण देसजिणाणमेदेसु तदणुवलंभादो त्ति? ण, सयलजिणेसु व देसजिणेसु तिण्हं रयणाणमुवलंभादो।· तदो सयलजिणणमोक्कारो व्व देसजिणणमोक्कारो वि सव्वकम्मक्खयकारओ त्ति दट्ठव्वो। सयलासयलजिणट्ठियतिरयणाणं ण समाणत्तं। · संपुण्णतिरयणकज्जमसंपुण्णतिरयणाणि ण करेंति, असमाणत्तादो त्ति? ण, णाण-दंसण-चरणाणमुप्पण्णसमाणत्तुवलंभादो। ण च असमाणाणं कज्जं असमाणमेव त्ति णियमो अत्थि, संपुण्णग्गिणा कीरमाणदाहकज्जस्स तदवयवे वि उवलंभादो, अमियघडसएण कीरमाणणिव्विसीकरणादि कज्जस्स अमियस्स चलुवे वि उवलंभादो वा। =प्रश्न—सकलजिन नमस्कार पापका नाशक भले ही हो, क्योंकि उनमें सब गुण पाये जाते हैं। किन्तु देशजिनोंको किया गया नमस्कार पाप प्रणाशक नहीं हो सकता, क्योंकि उनमें वे सब गुण नहीं पाये जाते? उत्तर—नहीं, क्योंकि सकलजिनोंके समान देशजिनोंमें भी तीन रत्न पाये जाते हैं। इसलिए सकलजिनोंके नमस्कारके समान देशजिनोंका नमस्कार भी सब कर्मोंका क्षयकारक है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। प्रश्न—सकल जिनों और देशजिनोंमें स्थित तीन रत्नोंकी समानता नहीं हो सकती क्योंकि सम्पूर्ण रत्नत्रयका कार्य असम्पूर्ण रत्नत्रय नहीं करते, क्योंकि, वे असमान हैं। उत्तर—नहीं, क्योंकि ज्ञान, दर्शन और चारित्रके सम्बन्धमें उत्पन्न हुई समानता उनमें पायी जाती है। और असमानोंका कार्य असमान ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण अग्निके द्वारा किया जानेवाला दाह कार्य उसके अवयवमें भी पाया जाता है, अथवा अमृतके सैकड़ों घड़ोंसे किया जानेवाला निर्विषीकरणादि कार्य चुल्लु भर अमृतमें भी पाया जाता है।

६. देव तो भावोंमें है मूर्तिमें नहीं

प. प्र./मू./१/१२३*१ देउ ण देउले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति। अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ संठिउ सम-चित्ति।१२३। =आत्म देव देवालयमें नहीं है, पाषाणकी प्रतिमामें भी नहीं है, लेपमें भी नहीं है, चित्रामकी मूर्तिमें भी नहीं है। वह देव अविनाशी है, कर्म अंजनसे रहित है, केवलज्ञान कर पूर्ण है, ऐसा निज परमात्मा समभावमें तिष्ठ रहा है।१२३। (यो. सा. यो./४३-४४)

यो. सा. यो./४२ तित्थहिं देवलि देउ णवि इम सुइकेवलि वुत्तु। देहा-देवलि देउ जिणु एहउ जाणि णिरुत्तु।४२। =श्रुतकेवलीने कहा है कि तीर्थोंमें देवालयोंमें देव नहीं है, जिनदेव तो देह देवालयमें विराजमान है।४२।

बो. पा./टी./१६२/३०२ पर उद्धृत—न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये। भावेषु विद्यते देवस्तस्माद्भावो हि कारणं।१। भावविहूणउ जीव तुहु जइ जिणु वहहि सिरेण। पत्थरि कमलु कि निप्पजइ जइ सिंचहि अमिएण।२। =काष्ठकी प्रतिमामें, पाषाणकी प्रतिमामें अथवा मिट्टीकी प्रतिमामें देव नहीं है। देव तो भावोंमें है। इसलिए भाव ही कारण है।१। हे जीव! यदि भाव रहित केवल शिरसे जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार करता है तो वह निष्फल है, क्योंकि क्या कभी अमृतसे सींचनेपर भी कमल पत्थरपर उत्पन्न हो सकता है।२।

दे० पूजा/१/५ (निश्चयसे आत्मा ही पूज्य है।)

७. फिर मूर्तिको क्यों पूजते हैं

भ. आ./वि./४७/१६०/१३ अर्हदादयो भव्यानां शुभोपयोगकारणतामुपायन्ति। तद्वदेतान्यपि तदीयानि प्रतिबिम्बानि। यथा · स्वपुत्रसदृशदर्शनं पुत्रस्मृतेरालम्बनं। एवमर्हदादिगुणानुस्मरणनिबन्धनं प्रतिबिम्बम्। तथानुस्मरणं अभिनवाशुभप्रकृतेः संवरणे, क्षममिति सकलाभिमतपुरुषार्थसिद्धिहेतुतया उपासनीयानीति। =जैसे अर्हदादि भव्योंको शुभोपयोग उत्पन्न करनेमें कारण हो जाते हैं, वैसे उनके प्रतिबिम्ब भी शुभोपयोग उत्पन्न करते हैं। जैसे—अपने पुत्रके समान ही दूसरेका सुन्दर पुत्र देखनेसे अपने पुत्रकी याद आती है। इसी प्रकार अर्हदादिके प्रतिबिम्ब देखनेसे अर्हदादिके गुणोंका स्मरण हो जाता है, इस स्मरणसे नवीन अशुभ कर्मका संवरण होता है।·· इसलिए समस्त इष्ट पुरुषार्थकी सिद्धि करनेमें, जिन प्रतिबिम्ब हेतु होते हैं, अतः उनकी उपासना अवश्य करनी चाहिए।

भ. आ./वि./३००/५११/१८ चेदियभत्ता य चैत्यानि जिनसिद्धप्रतिबिम्बानि कृत्रिमाकृत्रिमाणि तेषु भक्ता। यथा शत्रूणां मित्राणां वा प्रतिकृतिदर्शनाद्द्वेषो रागश्च जायते। यदि नाम उपकारोऽनुपकारो वा न कृतस्तया प्रतिकृत्या तत्कृतापकारस्योपकारस्य वा अनुसरणे निमित्तताऽस्ति तद्वज्जिनसिद्धगुणा अनन्तज्ञानदर्शनसम्यक्त्ववीतरागत्वादयस्तत्र यद्यपि न सन्ति, तथापि तद्गुणानुस्मरणं संपादयन्ति सादृश्यात्तच्च गुणानुस्मरणं अनुरागात्मकं ज्ञानदर्शने संनिधापयति। ते च संवरनिर्जरे महत्यौ संपादयतः। तस्माच्चैत्यभक्तिमुपयोगिनीं कुरुत। =हे मुनिगण! आप अर्हन्त और सिद्धकी अकृत्रिम और कृत्रिम प्रतिमाओंपर भक्ति करो। शत्रुओं अथवा मित्रोंकी फोटो अथवा प्रतिमा दीख पड़नेपर द्वेष और प्रेम उत्पन्न होता है। यद्यपि उस फोटोने उपकार अथवा अनुपकार कुछ भी नहीं किया है, परन्तु वह शत्रुकृत उपकार और मित्रकृत उपकारका स्मरण होनेमें कारण

है। जिनेश्वर और सिद्धोके अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, सम्यग्दर्शन, वीतरागतादिक गुण यद्यपि अर्हत्प्रतिमामें और सिद्ध प्रतिमामें नहीं है, तथापि उन गुणोका स्मरण होनेमें वे कारण अवश्य होती है, क्योकि अर्हंत और सिद्धोका उन प्रतिमाओमें सादृश्य है। यह गुण स्मरण अनुरागस्वरूप होनेसे ज्ञान और श्रद्धानको उत्पन्न करता है, और इनसे नवीन कर्मोका अपरिमित सवर और पूर्वसे बँधे हुए कर्मोकी महानिर्जरा होती है। इसलिए आत्म स्वरूपकी प्राप्ति होनेमें सहायक चैत्य भक्ति हमेशा करो। (ध. ६/४,१,१/८/४), (अन. ध./६/१५)।

८. एक प्रतिमामें सर्वका संकल्प

र. क श्रा./पं. सदासुख/११६/१७३/३ एक तीर्थंकरकै हू निरुक्ति द्वारे चौबीसका नाम सम्भवै है। तथा एक हजार आठ नामकरि एक तीर्थंकरका सौधर्म इन्द्र स्तवन किया है, तथा एक तीर्थंकरके गुणनिके द्वारे असख्यात नाम अनन्तकालतै अनन्त तीर्थंकरके हो गये हे। तातै हूँ एक तीर्थंकरमें एकका भी सकल्प अर चौबीसका भी सकल्प सम्भवै है। · अर प्रतिमाकै चिन्ह हे सो नामादिक व्यवहारके अर्थि है। अर एक अरहन्त परमात्मा स्वरूपकरि एक रूप है अर नामादि करि अनेक स्वरूप है। सत्यार्थ ज्ञानस्वभाव तथा रत्नत्रय रूप करि वीतराग भावकरि पच परमेष्ठी रूप ही प्रतिमा जाननी।

९. पार्श्वनाथकी प्रतिमापर फण लगानेका विधि निषेध

र क श्रा./पं. सदासुख/२३/३६/१० तिनके (पद्मावतीके) मस्तक ऊपर पार्श्वनाथ स्वामीका प्रतिबिम्ब अर ऊपर अनेक फणनिका धारक सर्पका रूप करि बहुत अनुराग करि पूजै हैं, सो परमागमतै जानि निर्णय करो। मूढलोकनिका कहिबो योग्य नाहीं।

चर्चा समाधान/चर्चा न ७० =प्रश्न—पार्श्वनाथजीके तपकाल विषै धरणेन्द्र पद्मावती आये मस्तक ऊपर फणका मण्डप किया। केवलज्ञान समय रहा नाही। अब प्रतिमा विषै देखिये। सो क्योंकर सभवै ? उत्तर—जो परम्परा सौं रीति चली आवै सो अयोग्य कैसे कही जावै।

१०. बाहुबलिकी प्रतिमा सम्बन्धी शंका समाधान

चर्चा समाधान/शका न० ६६ =प्रश्न—बाहुबलिजी की प्रतिमा पूज्य है कि नही ? उत्तर—जिनलिंग सर्वत्र पूज्य है। धातुमें, पाषाणमें जहाँ है तहाँ पूज्य है।' याही तै पाँचो परमेष्ठीकी प्रतिमा पूज्य है।

४. पूजायोग्य द्रव्य विचार

१. अष्टद्रव्यसे पूजा करनेका विधान

ति. प/३/२२३-२२६ भिंगारकलसदप्पणछत्तत्तयचमरपहुदिदव्वेहि। पूजंति फलिहदंडोवमाणवरवारिधारेहि ।२२३। गोसीरमलयचदणकुंकुमपंकेहिं परिमलिल्लेहिं। मुत्ताहल पुंजेहि स लीए तदुलेहिं सयलेहिं ।२२४। वरविविहकुसुममालासएहि धूवगरगधेहिं। अमयादो मुहुरेहि णाणाविहदिव्वभक्खेहिं ।२२५। धूवेहि सुगधेहि रयणपईवेहिं दित्तकरणेहिं। पक्केहिं फणसकदलीदाडिमदक्खादियफलेहिं ।२२६। =वे देव झारी, कलश, दर्पण, तीन छत्र और चामरादि द्रव्योंसे, स्फटिक मणिमय दण्डके तुल्य उत्तम जलधाराओसे, सुगन्धित गोशीर, मलय, चन्दन, और कुंकुमके पंकोसे, मोतियोंके पुंजरूप शालिधान्यके अखण्डित तन्दुलोसे, जिनका रंग और गन्ध फैल रहा है ऐसी उत्तमोत्तम विविध प्रकारकी सैकडों मालाओसे, अमृतसे भी मधुर नाना प्रकारके दिव्य नैवेद्योसे, सुगन्धित धूपोसे, प्रदीप्त किरणोसे युक्त रत्नमयी दीपकोसे, और पके हुए कटहल, केला दाडिम एवं दाख इत्यादि फलोंसे पूजा करते हैं ।२२३-२२६। (ति प/५/१०४-१११, ७/४६; ८/५८६)।

ध. ८/३,४२/९२/३ चरु-बलि-पुप्फ-फल-गधधूवदीवादीहि सगभत्तिपगासो अच्चणा णाम। =चरु, बलि, पुष्प, फल, गन्ध, धूप और दीप आदिकोसे अपनी भक्ति प्रकाशित करनेका नाम अर्चना है। (ज. प./५/११७)।

वसु. श्रा./४२०-४२१···अक्खयचरु-दीवेहि-य धूवेहि फलेहि विविहेहिं। ।४२०। बलिवत्तिएहिं जावारएहिं य सिद्धत्थपण्णरुक्खेहिं। पुव्वुत्तुवयरणेहि य रएज्जपुज्ज सविहवेण ।४२१। =(अभिषेकके पश्चात) अक्षत- चरु, दीपसे, विविध धूप और फलोंसे, बलि वर्तिकोसे अर्थात पूजार्थ निर्मित अगरबत्तियोंसे जवारोंसे, सिद्धार्थ (सरसो) और पर्ण वृक्षोंसे तथा पूर्वोक्त (भेरी, घंटादि) उपकरणोसे पूर्ण वैभवके साथ या अपनी शक्तिके अनुसार पूजा रचे ।४११-४२१) (विशेष दे० वसु. श्रा. (४२५-४४१), (सा. ध./२/२५,३१), (बो. पा./टी./१७/८५/२०)।

२. अष्ट द्रव्य पूजा व अभिषेकका प्रयोजन व फल

वसु. श्रा /४८३-४९२ जलधारणिक्खेवेण पावमलसोहणं हवे णियं। चदणलेवेण णरो जावइ सोहग्गसंपण्णो ।४८३। जायइ अक्खयणिहिरयणसामियो अक्खएहि अक्खोहो। अक्खीणलद्धिजुत्तो अक्खयसोक्खं च पावेइ ।४८४। कुसुमेहिं कुसेसयवयणु तरुणीजणजयण कुसुमवरमाला। बलएणच्चियदेहो जयइ कुसुमाउहो चेव ।४८५। जायइ णिविज्जदाणेण सत्तिगो कंति-तेय सपण्णो। लावण्णजलहिवेलातरंगसंपाविसमरीरो ।४८६। दीवेहि दीवियासेसजीवदव्वाइतच्चसब्भावो। सब्भावजणियकेवलपईवतेएण होइ णरो ।४८७। धूवेण सिसिरयरधवलकित्तिधवलियजगत्तओ पुरिसो। जायइ फलेहि सपत्तपरमणिव्वाणसोक्खफलो ।४८८। घटाहि घंटसद्दाउलेसु पवरच्छराणमज्झम्मि। सकीडइ सुरसघायसेविओ वरविमाणेसु ।४८९। छत्तेहिं एयछत्त भुजइ पुहवी सवत्तपरिहीणो। चामरदाणेण तहा विज्जिज्जइ चमरणिवहेहि ।४९०। अहिसेयफलेण णरो अहिसिंचिज्जइ सुदंसणस्सुवरिं खीरोयजलेण सुरिदप्पमुहदेवेहिं भत्तीए ।४९१। विजयपडाएहिं णरो संगाममुहेसु विजइओ होइ। छक्खंडविजयणाहो णिप्पडिवक्खो जसस्सी य ।४९२। =पूजनके समय नियमसे जिन भगवान्के आगे जलधाराके छोडनेसे पापरूपी मैलका सशोधन होता है। चन्दन रसके लेपसे मनुष्य सौभाग्यसे सम्पन्न होता है ।४८३। अक्षतोंसे पूजा करनेवाला मनुष्य अक्षय नौ निधि और चौदह रत्नोका स्वामी चक्रवर्ती होता है, सदा अक्षोभ और रोग शोक रहित निर्भय रहता है, अक्षीण लब्धिसे सम्पन्न होता है, और अन्तमें अक्षय मोक्ष सुखको पाता है।४८४। पुष्पोसे पूजा करनेवाला मनुष्य कमलके समान सुन्दर मुखवाला, तरुणीजनोके नयनोंसे और पुष्पोकी उत्तम मालाओके समूहसे समर्चित देह वाला कामदेव होता है ।४८५। नैवेद्यके चढानेसे मनुष्य शक्तिमान, कान्ति और तेजसे सम्पन्न, और सौन्दर्य रूपी समुद्रकी वेलावर्ती तरंगोसे सप्लावित शरीरवाला अर्थात् अति सुन्दर होता है ।४८६। दीपोसे पूजा करनेवाला मनुष्य, सद्भावोके योगसे उत्पन्न हुए केवलज्ञानरूपी प्रदीपके तेजसे समस्त जीव द्रव्यादि तत्त्वोके रहस्यको प्रकाशित करनेवाला अर्थात् केवलज्ञानी होता है। ।४८७। धूपसे पूजा करनेवाला मनुष्य चन्द्रमाके समान त्रैलोक्यव्यापी यशवाला होता है। फलोसे पूजा करनेवाला मनुष्य परम निर्वाणका सुखरूप फल पानेवाला होता है ।४८८। --जिन मन्दिरमें घटा समर्पण करनेवाला पुरुष घंटाओके शब्दोसे व्याप्त श्रेष्ठ विमानोंमे सुर समूहसे सेवित होकर अप्सराओके मध्य क्रीडा करता है ।४८९। छत्र प्रदान करनेसे मनुष्य, शत्रु रहित होकर पृथ्वीको एक-छत्र भोगता है। तथा

चमरोंके दानसे चमरोके समूहों द्वारा परिवीजित किया जाता है। जिन भगवान्के अभिषेक करनेसे मनुष्य सुदर्शन मेरुके ऊपर क्षीर-सागरके जलसे सुरेन्द्र प्रमुख देवोके द्वारा अभिषिक्त किया जाता है। ।४९१। जिन मन्दिरमें विजय पताकाओंके देनेसे सग्रामके मध्य विजयी होता है तथा षट्खण्डका निष्प्रतिपक्ष स्वामी और यशस्वी होता है ।४९२।

सा. ध /२/३०-३१ वार्धारा. रजसः शमाय पदयो', सम्यक्प्रयुक्तार्हत सद्गन्धस्तनुसौरभाय विभवा-च्छेदाय सन्त्यक्षता । यष्टुः स्रग्दि-विजस्रजे चरुरुमा-स्वाम्याय दीपस्त्विषे। धूपो विश्वदृगुत्सवाय फलमिष्टार्थाय चार्घाय स' ।३०। नीराद्यैश्चारुकाव्यस्फुरदनणुगुण-ग्रामरज्यन्मनोभि-र्भव्योऽर्चन्दृग्विशुद्धि प्रबलयतु यया, कल्पते तत्प-दाय ।३१। =अरहन्त भगवान्के चरण कमलोमें विधि पूर्वक चढाई गयी जलकी धारा पूजकके पापोके नाश करनेके लिए, उत्तम चन्दन शरीरमें सुगन्धिके लिए, अक्षत विभूतिकी स्थिरताके लिए, पुष्प-माला मन्दरमालाकी प्राप्तिके लिए, नैवेद्य लक्ष्मीपतित्वके लिए, दीप कान्तिके लिए, धूप परम सौभाग्यके लिए, फल इच्छित वस्तुकी प्राप्तिके लिए और वह अर्घ अनर्घपदकी प्राप्तिके लिए होता है।३०। ·· सुन्दर गद्य पद्यात्मक काव्यो द्वारा आश्चर्यान्वित करनेवाले बहुत-से गुणोके समूहसे मनको प्रसन्न करनेवाले जल चन्दनादिक द्रव्यों द्वारा जिनेन्द्रदेवको पूजनेवाला भव्य सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको पुष्ट करे है, जिस दर्शनविशुद्धिके द्वारा तीर्थंकरपदकी प्राप्तिके लिए समर्थ होता है ।३१।

३. पंचामृत अभिषेक निर्देश व विधि

सा. ध /६/२२ आश्रुत्य स्नपन विशोध्य तदिलां, पीठ्या चतुष्कुम्भयुक् कोणाया सकुशश्रिया जिनपति न्यस्तान्तमाप्येष्टदिक्-नीराज्या-म्बुरसाज्यदुग्धदधिभि, सिक्त्वा कृतोद्वर्तन, सिक्त कुम्भजलैश्च गन्धसलिलै' सपूज्य नुत्वा स्मरेत् ।२२। =अभिषेककी प्रतिज्ञा कर अभिषेक स्थानको शुद्ध करके चारो कोनोमें चार कलशसहित सिंहासनपर जिनेन्द्र भगवान्को स्थापित करके आरती उतारकर इष्ट दिशामें स्थित होता हुआ जल, इक्षुरस, घी, दुग्ध, और दही के द्वारा अभिषिक्त करके चन्दनानुलेपन युक्त तथा पूर्व स्थापित कलशो-के जलसे तथा सुगन्ध युक्त जलसे अभिषिक्त जिनराजकी अष्टद्रव्यसे पूजा करके स्तुति करके जाप करे ।२२। (बो पा /टी./१७/८५/१६) (दे० सावद्य/७)।

४. सचित्त द्रव्यों आदिसे पूजाका निर्देश

१. विलेपन व सजावट आदिका निर्देश

ति प /५/१०५ कुंकुमकप्पूरेहिं चदणकालागरुहिं अण्णेहिं। ताणं विले-वणाइ ते कुव्वंते सुगधेहिं ।१०५। =वे इन्द्र कुंकुम कर्पूर चन्दन, कालागुरु और अन्य सुगन्धित द्रव्योसे उन प्रतिमाओंका विलेपन करते है ।१०५। (वसु० श्रा०/४२७); (ज प /५/११५), (दे० सावद्य/७)।

वसु श्रा./३९८-४०० पट्टिचीणणेत्तपट्टाइएहि वत्थेहि बहुविहेहिं तहा। उल्लोविऊण उवरिं चदोवयमणिविहाणेहिं ।३९८। संभूसिऊण चदद्ध-चदबुब्बुयवरायलाईहिं। मुत्तादामेहिं तहा किंकिणिजालेहि विवि-हेहिं ।३९९। छत्तेहिं चामरेहिं य दप्पण-भिंगार तालवट्टेहिं। कलसेहि पुप्फवडिलिय-सुपइट्ठयदीवणिवहेहिं ।४००। =(प्रतिमाकी प्रतिष्ठा करते समय मडपमें चबूतरा बनाकर वहाँ पर) चीनपट्ट (चाइना सिल्क) कोशा आदि नाना प्रकारके नेत्राकर्षक वस्त्रोसे निर्मित चन्द्रकान्त मणि तुल्य चतुष्कोण चदोवेको तानकर, चन्द्र, अर्धचन्द्र, बुद्बुद, वराटक (कौडी) आदिसे तथा मोतियोकी मालाओसे. नाना प्रकारकी छोटी घंटियोंके समूहसे, छत्रोंसे, चमरोंसे, दर्पणोंसे, भृङ्गारसे, तालवृन्तोंसे, कलशोंसे पुष्पपटलोसे सुप्रतिष्ठक (स्वस्तिक) और दीप समूहोंसे आभूषित करे ।३९८-४००।

२. हरे पुष्प व फलोंसे पूजन

ति. प./५/१०७, १११ सयवत्तगा य चपयमाला पुण्णायणायपहुदीहिं। अच्चति ताओ देवा सुरहीहिं कुसुममालाहिं ।१०७। दक्खादाडिम-कदलीणारगयमाहुलिंगचूदेहि। अण्णेहिं वि पक्केहिं फलेहिं पूजति जिणणाहं ।१११। =वे देव सेवन्ती, चम्पकमाला, पुनाग और नाग प्रभृति सुगन्धित पुष्पमालाओंसे उन प्रतिमाओकी पूजा करते है ।१०७। (ज. प./५/११५); (बो पा./टी/१६/७८/पर उद्धृत), (दे० सावद्य/७)। दाख, अनार, केला, नारगी, मातुलिंग, आम तथा अन्य भी पके हुए फलोंसे वे जिननाथकी पूजा करते है ।१११। (ति.प./३/२२६)।

प पु /११/३४५ जिनेन्द्र प्रापित' पूजाममरै' कनकाम्बुजै । द्रुमपुष्पा-दिभि. किं न पूज्यतेऽस्मद्विधैर्जनै' ।३४५। =देवोने जिनेन्द्र भगवान्-की सुवर्ण कमलसे पूजा की थी, तो क्या हमारे जैसे लोग उनकी साधारण वृक्षोके फूलोसे पूजा नही करते है ? अर्थात् अवश्य करते है ।३४५।

म पु /१७/२५२ परिणतफलभेदैराम्रजम्बूकपित्थै' पनसलकुचमोचै-र्दाडिमैर्मातुलिङ्गै. । क्रमुकरुचिरगुच्छैर्नालिकेरैश्च रम्यै' गुरुचरण-सपर्यामातनोदाततश्री ।२५२।

म पु /७८/४०९ तद्विलोक्य समुत्पन्नभक्ति स्नानविशुद्धिभाक्। तत्सरो-वरसभूतप्रसवैर्बहुभिर्जिनान् ।४०९। (अभ्यर्च्य) =जिनकी लक्ष्मी बहुत विस्तृत है ऐसे राजा भरतने पके हुए मनोहर आम, जामुन, कैथा, कटहल, बडहल, केला, अनार, बिजौरा, सुपारियोके सुन्दर गुच्छे और नारियलोसे भगवान्के चरणोकी पूजा की थी ।२५२। (जिन मन्दिरके स्वयमेव किवाड खुल गये) यह अतिशय देख, जीवन्धर कुमारकी भक्ति और भी बढ गयी, उन्होंने उसी सरोवर में स्नान कर विशुद्धता प्राप्त की और फिर उसी सरोवरमें उत्पन्न हुए बहुतसे फूल ले जिनेन्द्र भगवान्की पूजा की ।४०९।

वसु श्रा./४३१-४४१ मालइ कयंब-कणयारि-चपयासोय-बउल-तिलएहिं। मदार-णायचपय-पउमुप्पल-सिंदुवारेहिं ।४३१। कणवीर-मल्लियाहिं कचणारमचकुंद-किंकराएहिं। सुरवणज जूहिया-पारिजातय-जासवण-टगरेहिं ।४३२। सोवण्ण-रुप्पि-मेहिय-मुत्तादामेहिं बहुवियप्पेहिं। जिणपय-पंकयजुयलं पुज्जिज्ज सुरिंदसममहियं ।४३३। जबीर-मोच-दाडिम-कवित्थ-पणस-णालिएरेहि । हिंताल-ताल-खज्जूर-णिंबु-नारग-चारेहिं ।४४०। पूईफल-तिंदु-आमलय-जंबु-विल्लाइसुरहि-मिट्ठेहिं। जिणपयपुरओ रयणं फलेहि कुज्जा सुपक्केहिं ।४४१। =मालती, कदम्ब, कर्णकार (कनेर), चपक, अशोक, बकुल, तिलक, मन्दार, नागचम्पक, पद्म (लाल कमल) उत्पल (नील कमल) सिंदुवार (वृक्ष विशेष या निर्गुण्डी) कर्णवीर (कनेर), मल्लिका, कचनार, मचकुन्द, किंकरात (अशोक वृक्ष) देवोंके नन्दन वनमें उत्पन्न होनेवाले कल्पवृक्ष, जुही, पारिजातक, जपा-कुसुम और तगर (आदि उत्तम वृक्षोंसे उत्पन्न) पुष्पोसे, तथा सुवर्ण चाँदीसे निर्मित फूलोसे और नाना प्रकारके मुक्ताफलोंकी मालाओं-के द्वारा, सौ जातिके इन्द्रोसे पूजित जिनेन्द्रके पद-पकज युगलको पूजे ।४३१-४३३। जंबीर (नीबू विशेष), मोच (केला), अनार, कपित्थ (कवीट या कैथ), पनस, नारियल, हिंताल, ताल, खजूर, निम्बू, नारगी, अचार (चिरौंजी), पूगीफल (सुपारी), तेन्दु, आँवला, जामुन, विल्वफल आदि अनेक प्रकारके सुगन्धित मिष्ट और सुपक्व फलोसे जिन चरणोकी पूजा करे ।४४०-४४१। (र.क श्रा./-प सदासुख दास/११६/१७०/६)।

सा. ध /२/४०/११६ पर फुटनोट-पूजाके लिए पुष्पोकी आवश्यकता पडती है। इससे मन्दिरमें वाटिकाएँ होनी चाहिए।

३. भक्ष्य नैवेद्यसे पूजन

ति. प /५/१०८ बहुविहरसवंतेहिं वरभक्खेहिं विचित्तरूवेहिं। अमय-सरिच्छेहिं सुरा जिणिंदपडिमाओ महयंति ।१०८। =ये देवगण बहुत प्रकारके रसोंसे संयुक्त, विचित्र रूप वाले और अमृतके सदृश उत्तम भोज्य पदार्थोंसे (नैवेद्यसे) जिनेन्द्र प्रतिमाओंकी पूजा करते हैं ।१०८। (ज.प /५/११६)।

वसु. श्रा./४३४-४३५ दहि-दुद्धसप्पिमिस्सेहिं कलमभत्तेहिं बहुप्पयारेहिं। तेवट्ठि-विजणेहि य बहुविहपक्कण्णभेएहिं ।४३४। रुप्पय-सुवण्ण-कंसाइथालि णिहिएहिं विविहभक्खेहिं। पुज्ज वित्थारिज्जो भत्तीए जिणिंदपयपुरओ ।४३५। =चाँदी, सोना, और कांसे आदिकी थालियोंमें रखे हुए दही, दूध और घीसे मिले हुए नाना प्रकारके चावलोंके भातसे, तिरेसठ प्रकारके व्यजनोंसे तथा नाना प्रकारकी जातिवाले पकवानोंसे और विविध भक्ष्य पदार्थोंसे भक्तिके साथ जिनेन्द्र चरणोंके सामने पूजन करे ।४३४-४३५।

र. क. श्रा /प सदासुख/११६/१६६/१७ कोई अष्ट प्रकार सामग्री बनाय चढावै, केई सूका जव, गेहूँ, चना, मक्का, बाजरा, उडद, मूँग, मोठ इत्यादि चढावै, केई रोटी, रावडी, बावडीके पुष्प, नाना प्रकारके हरे फल, तथा दाल-भात अनेक प्रकारके व्यंजन चढावैं। केई मेवा, मोतिनीके पुष्प, दुग्ध, दही, घी, नाना प्रकारके घेवर, लाडू, पेडा, बर्फी, पूडी, पूवा इत्यादि चढावै है।

४. सचित्त व अचित्त द्रव्य पूजाका समन्वय

ति. प /३/२२५ ···। अमयादो मुहुरेहिं णाणाविहदिव्वभक्खेहिं ।२२५। =अमृतसे भी मधुर दिव्य नैवेद्योंसे ।२२५। ··

नि. सा /१७५ दिव्वफलपुप्फहत्था ।१७५। =दिव्य फल पुष्पादि पूजन द्रव्य हस्त विषैं धारैं है। (अर्थात्—देवोंके द्वारा ग्राह्य फल पुष्प दिव्य थे।)

र. क. श्रा /पं सदासुख दास/११६/१७०/६ यहाँ जिनपूजन सचित्त-द्रव्यनितैं हूँ अर अचित्त द्रव्यनितै हूँ · करिये है। दो प्रकार आगम-की आज्ञा-प्रमाण सनातन मार्ग है अपने भावनिके अधीन पुण्यबन्ध-के कारण है। यहाँ ऐसा विशेष जानना जो इस दुषमकालमें विकलत्रय जीवनिकी उत्पत्ति बहुत है। तातै ज्ञानी धर्मबुद्धि है ते तो ·पक्षपात छाडि जिनेन्द्रका प्ररूपण अहिंसा धर्म ग्रहण करि जेता कार्य करो तेता यत्नाचार रूप जीव-विराधना टालि करो इस कलिकालमें भगवान्‌का प्ररूपण नयविभाग तो समझे नाहीं ·· अपनी कल्पना ही तै यथेष्ट प्रवर्तै है।

६. निर्माल्य द्रव्यके ग्रहणका निषेध

नि सा /मू./३२ जिणुद्धारपत्तिट्ठा जिणपूजातित्थवंदण विसयं। धणं जो भुजइ सो भुंजइ जिणदिट्ठं णरयगयदुक्खं ।३२। =श्री जिन-मन्दिरका जीर्णोद्धार, जिनबिम्ब प्रतिष्ठा, मन्दिर प्रतिष्ठा, जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा, जिन यात्रा, रथोत्सव और जिन शासनके आय-तनोंकी रक्षाके लिए प्रदान किये हुए दानको जो मनुष्य लोभवश ग्रहण करे, उससे भविष्यत्‌में होनेवाले कार्यका विध्वंस कर अपना स्वार्थ सिद्ध करे तो वह मनुष्य नरकगामी महापापी है।

रा वा /६/२२/४/५२८/२३ चैत्यप्रदेशगन्धमाल्यधूपादिमोषण ·अशुभस्य नाम्न आस्रव।

रा.वा /६/२७/१/५३१/३३ देवतानिवेद्यानिवेद्यग्रहण (अन्तरायस्यास्रव)। =१. मन्दिरके गन्ध माल्य धूपादिका चुराना, अशुभ नामकर्मके आस्रवका कारण है। २. देवताके लिए निवेदित किये या अनिवेदित किये गये द्रव्यका ग्रहण अन्तराय कर्मके आस्रवका कारण है। (द सा /४/४६)।

५. पूजा-विधि

१. पूजाके पाँच अंग होते हैं

र. क. श्रा /प सदासुख दास/११६/१७३/१५ व्यवहारमें पूजनके पाँच अंगनिकी प्रवृत्ति देखिये है—आह्वानन १, स्थापना २, संनिधिकरण ३, पूजन ४, विसर्जन ५।

२. पूजा दिनमें तीन बार करनी चाहिए

सा. ध /२/२५· भक्त्या ग्रामगृहादिशासनविधा दानं त्रिसन्ध्याश्रया सेवा स्वेऽपि गृहेऽर्चनं च यमिना, नित्यप्रदानानुगम् ।२५। =शास्त्रोक्त विधिसे गाँव, घर, दुकान आदिका दान देना, अपने घरमें भी अरि-हन्तकी तीनों सन्ध्याओंमें की जानेवाली तथा मुनियोंको भी आहार दान देना है बादमे जिसके, ऐसी पूजा नित्यमह पूजा कही गयी है ।२५।

३. रात्रिको पूजा करनेका निषेध

ला.. स /६/१८७ तत्रार्द्धरात्रके पूजा न कुर्यादर्हतामपि। हिंसाहेतोरवश्यं स्याद्रात्रौ पूजाविवर्जनम् ।१८७। =आधी रातके समय भगवान् अरहन्त देवकी पूजा नहीं करनी चाहिए क्योंकि आधी रातके समय पूजा करनेसे हिंसा अधिक होती है। रात्रिमें जीवोंका संचार अधिक होता है, तथा यथोचित रीतिसे जीव दिखाई नहीं पडते, इसलिए रात्रिमें पूजा करनेका निषेध किया है (र. क. श्रा./प. सदासुख दास/११६/१७१/१)।

मो. मा. प्र /६/२८०/२ पापका अंश बहुत पुण्य समूह विषै दोषके अर्थ नाहीं, इस छलकरि पूजा प्रभावनादि कार्यनिविषै रात्रिविषैं दीपकादिकरि वा अनन्तकायादिकका संग्रह करि वा अयत्नाचार प्रवृत्तिकरि हिंसादिक रूप पाप तौ बहुत उपजावैं, अर स्तुति भक्ति आदि शुभ परिणामनिविषैं प्रवर्तै नाहीं, वा थोरे प्रवर्तै, सो टोटा घना नफा थोरा वा नफा किछू नाहीं। ऐसा कार्य करनेमें तो बुरा ही दीखना होय।

४. चावलोंमें स्थापना करनेका निषेध

वसु. श्रा /३८५ हुंडावसप्पिणीए विइया ठवणा ण होदि कायव्वा। लोए कुलिंगमइमोहिए जदो होइ संदेहो ।३८५। =हुंडावसर्पिणी कालमें दूसरी असद्भाव स्थापना पूजा नहीं करना चाहिए, क्योंकि, कुलिंग-मतियोंसे मोहित इस लोकमें सदेह हो सकता है। (र. क श्रा./प सदासुख दास/११६/१७३/७)।

र क श्रा /पं सदासुख दास/११६/१७२/२१ स्थापनाके पक्षपाती स्थापना बिना प्रतिमाका पूजन नाहीं करें। बहुरि जो पीत तन्दुलनिकी अतदाकार स्थापना ही पूज्य है तो तिन पक्षपातीनिके धातु पाषाण-का तदाकार प्रतिबिम्ब स्थापन करना व्यर्थ है। तथा अकृत्रिम चैत्यालयके प्रतिबिम्ब अनादि निधन है तिनमें हू पूज्यपना नाहीं रहा।

५. स्थापनाके विधि निषेधका समन्वय

र. क श्रा./पं. सदासुख/११६/१७३/२४ भावनिके जोडके अर्थि आह्वान-नादिकमें पुष्प क्षेपण करिये है, पुष्पनि कूँ प्रतिमा नहीं जानै। ए तो आह्वाननादिकनिका सकल्पतैं पुष्पांजलि क्षेपण करिये है। पूजनमें पाठ रच्या होय तो स्थापना कर ले नहीं होय तो नाहीं करै। अनेकांतिनिकै सर्वथा पक्ष नाहीं।

६. पूजाके साथ अभिषेक व नृत्य गान आदिका विधान

ति प./८/५८४-५८७ खीरद्धिसलिलपूरिदकंचणकलसेहिं अट्ठ सह-स्सेहिं। देवा जिणाभिसेयं महाविभूदीए कुव्वंति ।५८४। वज्जतेसु

मद्दलजयघटापडहकाहलादीसु दिव्वेसुं तूरेसुं ते तिणपूजं पकुव्वंति ।५८५। भिंगारकलसदप्पणछत्तत्तयचमरपहुदिदव्वेहिं । पूज कादूण तदो जलगंधादीहि अच्चंति ।५८६। तत्तो हरिसेण सुरा णाणाविहणाडयाइं दिव्वाइं । बहुरसभावजुदाइं णच्चंति विचित्त भंगीहिं ।५८७। =उक्त (वैमानिक) देव क्षीरसागरके जलसे पूर्ण एक हजार आठ सुवर्ण कलशोके द्वारा महाविभूतिके साथ जिनाभिषेक करते हैं।५८४। मर्दल, जयघंटा, पटह और काहल आदिक दिव्य वादित्रोके बजते रहते वे देव जिनपूजाको करते है ।५८५। उक्त देव भृंगार, कलश, दर्पण, तीन छत्र और चामरादि द्रव्योसे पूजा करके पश्चात् जल, गन्धादिकसे अर्चन करते है ।५८६। तत्पश्चात् हर्षसे देव विचित्र शैलियोंसे बहुत रस व भावोसे युक्त दिव्य नाना प्रकारके नाटकोको करते है। (उत्तम रत्नोसे विभूषित दिव्य कन्याएँ विविध प्रकारके नृत्योको करती है। अन्तमें जिनेन्द्र भगवान्‌के चरितोका अभिनय करती है। (५/११४), (ति. प /३/२१८-२२७), (ति. प./५/१०४-११६), (और भी दे० पूजा/४/३) ।

७. द्रव्य व भाव दोनों पूजा करनी योग्य हैं

अ ग. श्रा./१२/१५ द्वेधापि कुर्वत' पूजा जिनानां जितजन्मनाम्। न विद्यते द्वये लोके दुर्लभ वस्तु पूजितम् ।१५। =जीता है ससार जिनने ऐसे जिन देवनिकी द्रव्य भावकरि दोऊ ही प्रकार पूजा कौ करता जो पुरुष ताकौ इसलोक परलोकविषै उत्तम वस्तु दुर्लभ नाहीं ।१५।

८. पूजा विधानमें विशेष प्रकारका क्रियाकाण्ड

म. पु /३८/७१-७५ तत्रार्चनाविधौ चक्रत्रयं छत्रत्रयान्वितम्। जिनार्चामभित स्थाप्य समं पुण्याग्निभिस्त्रिभि. ।७१। त्रयोऽग्नयोऽर्हद्गणभृच्छेषकेवलिनिर्वृ तौ। ये हुतास्ते प्रणेतव्या' सिद्धार्चावेद्युपाश्रया' ।७२। तेष्वर्हदिज्याशेषांशै. आहुतिर्मन्त्रपूर्विका। विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यया ।७३। तन्मन्त्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यन्तेऽन्यत्र पर्वणि। सप्तधा पीठिकाजातिमन्त्रादिप्रविभागत ।७४। विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषा मतो जिनैः। अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासके. ।७५। =इस आधान (गर्भाधान) क्रियाकी पूजामें जिनेन्द्र भगवान्‌की प्रतिमाके दाहिनी ओर तीन चक्र, बाँयीं ओर तीन छत्र और सामने तीन पवित्र अग्नि स्थापित करें ।७१। अर्हन्त भगवान्‌के (तीर्थंकर) निर्वाणके समय, गणधर देवोके निर्वाणके समय और सामान्य केवलियोंके निर्वाणके समय जिन अग्नियोमें होम किया गया था ऐसी तीन प्रकारकी पवित्र अग्नियाँ सिद्ध प्रतिमाकी वेदीके समीप तैयार करनी चाहिए ।७२। प्रथम ही अर्हन्त देवकी पूजा कर चुकनेके बाद शेष बचे हुए द्रव्यसे पुत्र उत्पन्न होनेकी इच्छा कर मन्त्रपूर्वक उन तीन अग्नियोंमें आहुति करनी चाहिए ।७३। उन आहुतियोंके मन्त्र पीठिका मन्त्र, जातिमन्त्र आदिके भेदसे सात प्रकारके है ।७४। श्री जिनेन्द्र देवने इन्हीं मन्त्रोंका प्रयोग समस्त क्रियाओमें (पूजा विधानादिमें) बतलाया है। इसलिए उस विषयके जानकार श्रावकोको व्यामोह (प्रमाद) छोडकर उन मन्त्रोका प्रयोग करना चाहिए ।७५। (और भी देखो यज्ञमें आर्ष यज्ञ); (म. पु /४७/३४७-३५४)५

म. पु./४०/८०-८१ सिद्धार्च्चासंनिधौ मन्त्रान् जपेदष्टोत्तरं शतम्। गन्धपुष्पाक्षतार्घादिनिवेदनपुर सरम् ।८०। सिद्धविद्यस्ततो मन्त्रैरेभि' कर्म समाचरेत्। शुक्लवासा. शुचिर्यज्ञोपवीत्यव्यग्रमानसः।८१। =सिद्ध भगवान्‌की प्रतिमाके सामने पहले गन्ध, पुष्प, अक्षत और अर्घ आदि समर्पण कर एक सौ आठ बार उक्त मन्त्रोका जप करना चाहिए।८०। तदनन्तर जिसे विद्याएँ सिद्ध हो गयी है, जो सफेद वस्त्र पहने है, पवित्र है, यज्ञोपवीत धारण किये हुए है, जिसका चित्त आकुलतासे रहित है ऐसा द्विज इन मन्त्रोसे समस्त क्रियाएँ करे।८१।

दे० अग्नि/१/३ गार्हपत्य आदि तीन अग्नियोंका निर्देश व उनका उपयोग।

९. गृहस्थोंको पूजासे पूर्व स्नान अवश्य करना चाहिए

यशस्तिलक चम्पू/३२८ स्नानं विधाय विधिवत्कृतदेवकार्य.। =विवेकी पुरुषको स्नान करनेके पश्चात् शास्त्रोक्त विधिसे ईश्वर-भक्ति (पूजा-अभिषेकादि) करनी चाहिए। (र. क. श्रा./प, सदासुख दास/११६/१६८/१६)।

चर्चा समाधान/शका नं. ७३ केवलज्ञानकी साक्षात्पूजा विषै न्होन नाही, प्रतिमाकी पूजा न्हवन पूर्वक ही कही है। (और भी दे० स्नान)।

पूजाकल्प—दे० पूजापाठ।

पूजापाठ—जैन आम्नायमें पूजा विधान आदि सम्बन्धी कई रचनाएँ प्रसिद्ध है—१. आचार्य पूज्यपाद (ई० श० ५) कृत जैनाभिषेक। २. अभयनन्दि (ई० श० १०-११) कृत श्रेयोविधान। ३ आ० अभयनन्दि (ई० श० १०-११) कृत पूजाकल्प। ४ आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०-११) कृत पूजाकल्प। ५. आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०-११) कृत अकुरारोपण। ६. आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०-११) कृत प्रतिमा संस्कारारोपण। ७. आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०-११) कृत मातृका यन्त्र पूजा। ८. आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०-११) कृत शान्तिचक्रपूजा। ९ आ० नयनन्दि (ई० ९९३-१०४३) कृत सकल विधि विधान। १० आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत सिद्धचक्राष्टक पूजा। ११. आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत श्रुतस्कन्धपूजा। १२. आ० मल्लिषेण (ई० ११२८) द्वारा विरचित ज्वालिनी कल्प। १३. आ० मल्लिषेण (ई० ११२८) द्वारा विरचित पद्मावती कल्प। १४. आ० मल्लिषेण (ई० ११२८) द्वारा विरचित वज्रपजर विधान। १५ पं. आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित जिनयज्ञ कल्प। १६. प. आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित नित्यमहोद्योत। १७. आ० पद्मनन्दि (ई० १२८०-१३३०) कृत कुलकुण्डपार्श्वनाथ विधान। १८. आ० पद्मनन्दि (ई० १२८०-१३३०) कृत देवपूजादि। १९ पं. आशाधरके नित्यमहोद्योतपर आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत महाभिषेक टीका। २० कवि देवी दयाल (ई० १७५५-१७६७) द्वारा भाषामें रचित चौबीसी पाठ। २१. कवि वृन्दावन (ई० १७९१-१८४८) द्वारा भाषामें रचित चौबीसी पाठ। २२ कवि वृन्दावन (ई० १७९१-१८४८) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित समवसरण पूजापाठ। २३. प संतलाल (ई० श० १७-१८) द्वारा भाषा छन्दोमें रचित सिद्धचक्र विधान, जो श्री जिनसेनाचार्य द्वारा महापुराणमें रचित जिन सहस्रनामके आधारपर लिखा गया है। २४. प. संतलाल (ई० श० १७-१८) कृत दशलक्षणी अग। २५. प. सदासुख (ई० १७९३-१८६३) कृत नित्य पूजा। २६. पं. पन्नालाल (ई० १७९३-१८६३) कृत हिन्दी भाषामें रचित सरस्वती पूजा। २७. पं. मनरंग लाल (ई० १८००) द्वारा रचित भाषा छन्द बद्ध चौबीसी पाठ पूजा। २८. प. मनरंग लाल (ई० १७९३-१८४३) द्वारा रचित सप्तऋद्धिपूजा।

पूज्यपाद—१. आप कर्णाटक देशस्थ 'कोले' नामक ग्रामके माधव भट्ट नामक एक ब्राह्मणके पुत्र थे। माताका नाम श्रीदेवी था। सर्पके मुँहमें फँसे हुए मेढकको देखकर आपको वैराग्य आया था। आपके सम्बन्धमें अनेक चमत्कारिक दन्तकथाएँ प्रचलित है। अग्रोक्त शिलालेखके अनुसार आप पाँवमें गगनगामी लेप लगाकर विदेह क्षेत्र जाया करते थे। श्रवणबेलगोलके निम्न शिलालेख न० १०८ (श. सं ११३५) से पता चलता है कि आपके चरण प्रक्षालनके जलके स्पर्शसे लोहा भी सोना बन जाता था। जैसे—श्रीपूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्धिर्जीयाद्विदेहदर्शनपूतगात्रः। यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात्कालायसं किल तदा कनकीचकार।=घोर तपश्चरण आदिके

द्वारा आपके नेत्रोकी ज्योति नष्ट हो गयी थी। शान्त्यष्टकके पाठसे वह पुन प्रकट हो गयी। देवताओने आपके चरणोकी पूजा की। आपको ओषध ऋद्धिकी उपलब्धि थी। आपके अपरनाम जिनेन्द्र-बुद्धि, देवनन्दि व देवेन्द्रकीर्ति थे। नन्दी संघकी गुर्वावलीमें कथित देवनन्दी सम्भवत आप ही है। आपके द्वारा रचित निम्न कृतियाँ है'—१. जैनेन्द्र व्याकरण, २ मुग्धबोध व्याकरण, ३ शब्दावतार, ४, छन्दशास्त्र, ५. वैद्यसार (वैद्यकशास्त्र), ६. सर्वार्थसिद्धि, ७. इष्टोपदेश, ८. समाधिशतक, ६ सारसंग्रह, १०. जैनाभिषेक, ११. सिद्ध भक्ति, १२ शान्त्यष्टक। B. L Atryo के अनुसार आपका जन्म वि. स. २८१ में हुआ था, और वि. सं. ३०८ में आप आचार्यपदपर आसीन हुए थे। आपकी आयु ७१ वर्षकी थी। इस प्रकार आपका समय—वि ३०८-३५२ (ई० २५१-२६५) आता है। कुछ विद्वानोंके अनुसार वि. श. ५-६ (ई श. ५) आता है। इनमेंसे ई श. ५ ही अधिक मान्य है। (श्रवणबेलगोल शिलालेख न. ४०) (सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम/प्र. २ टिप्पणी/प्रेमीजी) (प. प्र /प्र /१११/A.N. Up.); (सि. वि /प्र १६/पं. महेन्द्र), (स. सि./प्र ८२, ८४/पं. फूलचन्द्र) (ह. पु /प्र ७/पं. पन्नालाल) २. आप दिगम्बर आचार्य थे। राजा दुर्विनीतके गुरु थे। समय—वि. ५३५-५७० (ई० ४७८-५१३); (द सा /प्र. ३८ प्रेमीजी), (समाधितन्त्र/प्र. १०/पं. जुगलकिशोर), (स. सि./प्र. ६५/पं. फूलचन्द्र)।

पूति—आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४।

पूतिक—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

पूतिकर्म—दे० कर्म/१।

पूरक—

ज्ञा०/२६/४ द्वादशान्तात्समाकृष्य यः समीर' प्रपूर्यते। स पूरक इति ज्ञेयो वायुविज्ञानकोविदै. ।४। =द्वादशान्त कहिए तालुवेके छिद्रसे अथवा द्वादशअगुल पर्यन्तसे खैंचकर पवनको अपनी इच्छानुसार अपने शरीरमें पूरण करै, उसको वायुविज्ञानी पण्डितोने पूरक पवन कहा है ।४।

* **पूरक प्राणायाम सम्बन्धी विषय**—दे० प्राणायाम।

पूरण—अन्तर पूरणकरण—दे० अन्तर/३।

पूरणकाल—दे० काल/१।

पूरनकश्यप—पूरन कश्यपका परिचय—१. बौद्धग्रन्थ महापरिनिर्वाण सूत्र, महावग्ग, और दिव्यावाहन आदिके अनुसार यह महात्मा बुद्धके समकालीन ६ तीर्थंकरोंमेंसे एक थे। एक म्लेच्छ स्त्रीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। कश्यप इनका नाम था। इससे पहले ६६ जन्म धारण करके अब इनका सौवा जन्म हुआ था इसीलिए इनका नाम पूरन कश्यप पड गया था। गुरुप्रदत्त नाम द्वारपाल था। वह नाम पसन्द न आया। तब गुरुसे पृथक् होकर अकेला वनमे नग्न रहने लगे और अपनेको सर्वज्ञ व अर्हंत आदि कहने लगे। ५०० व्यक्ति उनके शिष्य हो गये। बौद्धोके अनुसार वह अवीचि नामक नरकके निवासी माने जाते हैं। सुत्तपिटकके दीर्घनिकाय (बौद्धग्रन्थ) के अनुसार वह असत्कर्ममें पाप और सत्कर्ममे पुण्य नही मानते थे। कृत कर्मोंका फल भविष्यत्में मिलना प्रामाणिक नहीं। बौद्ध मतवाले इसे मखलि गोशाल कहते हैं। २. श्वेताम्बरीसूत्र 'उवासकदसाग'के अनुसार वह श्रावस्तीके अन्तर्गत शरवणके समीप उत्पन्न हुआ था। पिताका नाम 'मंखलि' था। एक दिन वर्षामें इसके माता-पिता दोनों एक गोशालमें ठहर गये। उनके पुत्रका नाम उन्होंने गोशाल रखा। अपने स्वामीसे [illegible] वह भागा। स्वामीने वस्त्र खेंचे जिससे वह नग्न हो गया। फिर वह साधु हो गया। उसके हजारों शिष्य हो गये। बुद्ध कहते है कि वह मरकर अवीचि नरकमें गया। (द. सा./प्र ३२-३४/प्रेमीजी) । ३ द. सा./प्र. ५२ पर पं. वामदेव कृत संस्कृत-भावसंग्रहका एक निम्नउद्धरण है··· · वीरनाथस्य ससदि ।१८५। जिनेन्द्रस्य ध्वनिग्राहिभाजनाभावतस्तत'। शक्रेणात्र समानीतो ब्राह्मणो गोतमाभिधः।१८६। सद्य' स दीक्षितस्तत्र सध्वने' पात्रतां ययौ। तत' देवसभा त्यक्त्वा निर्ययौ मस्करी मुनि. ।१८७। सन्त्यस्मादृदयोऽप्यत्र मुनय' श्रुतधारिण'। तांस्त्यक्त्वा सध्वने' पात्रमज्ञानी गोतमोऽभवत् ।१८८। सचिन्त्यैवं क्रुधा तेन दुर्विदग्धेन जल्पितम्। मिथ्यात्वकर्मण' पाकादज्ञानत्वं हि देहिनाम् ।१८९। हेयोपादेय-विज्ञानं देहिना नास्ति जातुचित्। तस्मादज्ञानतो मोक्ष इति शास्त्रस्य निश्चयः ।१९०। =वीरनाथ भगवान्के समवशरणमें जब योग्य पात्रके अभावमें दिव्यध्वनि निर्गत नही हुई, तब इन्द्र गोतम नामक ब्राह्मणको ले आये। वह उसी समय दीक्षित हुआ और दिव्य ध्वनिको धारण करनेकी उसी समय उसमे पात्रता आ गयी, इससे मस्करि-पूरण मुनि सभाको छोडकर बाहर चला आया। यहाँ मेरे जैसे अनेक श्रुतधारी मुनि है, उन्हे छोडकर दिव्यध्वनिका पात्र अज्ञानी गोतम हो गया, यह सोचकर उसे क्रोध आ गया। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीवधारियोको अज्ञान होता है। उसने कहा देहियोंको हैयोपादेयका विज्ञान कभी हो ही नही सकता। अतएव शास्त्रका निश्चय है कि अज्ञानसे मोक्ष होता है। पूरणकश्यपका मत—उसके मतसे समस्त प्राणी बिना कारण अच्छे-बुरे होते है। ससारमें शक्ति सामर्थ्य आदि पदार्थ नही है। जीव अपने अदृष्टके प्रभावसे यहाँ-वहाँ संचार करते है। उन्हे जो सुख-दु ख भोगने पडते है, वे सब उनके अदृष्टपर निर्भर है। १४ लाख प्रधान जन्म, ५०० प्रकारके सम्पूर्ण और असम्पूर्ण कर्म, ६२ प्रकारके जीवनपथ, ८ प्रकारकी जन्मकी तहे, ४९०० प्रकारके कर्म, ४९०० भ्रमण करनेवाले सन्यासी, ३००० नरक, और ८४ लाख काल है। इन कालोंके भीतर पण्डित और मूर्ख सबके कष्टोंका अन्त हो जाता है। ज्ञानी और पण्डित कर्मके हाथसे छुटकारा नही पा सकते। जन्मकी गतिसे सुख और दु खका परिवर्तन होता है। उनमें ह्रास और वृद्धि होती है।

पूरिमद्रव्य निक्षेप—दे० निक्षेप/५/९।

पूर्ण—१. क्षौद्रवर समुद्रका रक्षक व्यन्तरदेव (ति प.)—दे० व्यंतर/४, २ इक्षुवर द्वीपका रक्षक व्यन्तरदेव (ह पु.)—दे० व्यंतर/४।

पूर्णघन—प. पु /५/श्लोक विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीमें चक्रवाल नगरका विद्याधर राजा था। राजा सुलोचनके द्वारा अपनी पुत्री इसको न देकर सगर चक्रवर्तीको दिये जानेपर, इसने राजा सुलोचनको मार दिया। (७७-८०) और स्वय उसके पुत्र द्वारा मारा गया (८६)। इसीके पुत्र मेघवाहनको राक्षसोके इन्द्र द्वारा राक्षस द्वीपकी प्राप्ति हुई थी, जिसकी सन्तानपरम्परासे राक्षसवंशकी उत्पत्ति हुई—(दे० इतिहास/७/१२)।

पूर्णप्रभ—उत्तर क्षौद्रवर समुद्रका रक्षक व्यन्तर देव (ति प.)—दे० व्यंतर/४, २. इक्षुवर द्वीपका रक्षक व्यन्तर देव (ह पु.)—दे० व्यंतर/४।

पूर्णभद्र—यक्ष जातिके व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० यक्ष; २ इन यक्ष जातिके देवोने बहुरूपिणी विद्या सिद्ध करते समय रावणकी रक्षा की थी। ३. ह प /४३/१४६-१५८ अयोध्या नगरीके समुद्रदत्त सेठका पुत्र था। अणुव्रत धारण कर सौधर्मस्वर्गमें उत्पन्न हुआ। यह कृष्णके पुत्र प्रद्युम्नकुमारका पूर्वका पाँचवाँ भव है।—दे० प्रद्युम्न।

पूर्णभद्रकूट—१. विजयार्ध पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७, २: माल्यवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

पूर्णभद्रदेव—१ विजयार्ध पर्वतस्थ पूर्णभद्र कूटका स्वामी देव —दे० लोक/७; २ माल्यवान पर्वतस्थ पूर्णभद्र कूटका रक्षक एक देव —दे० लोक/७।

पूर्णांक—Integar (ध. ५/प्र. २८)।

पूर्णिमा—चन्द्रमाके भ्रमणसे पूर्णिमा प्रकट होनेका क्रम—दे० ज्योतिषी/२/८।

पूर्व—कालका प्रमाणविशेष—दे० गणित/I/१।

पूर्वकृष्टि—दे० कृष्टि।

पूर्वगत—१. दृष्टि प्रवाद अगका चौथा भेद —दे० श्रुतज्ञान/III/१। २ ध. १/१,१,२/११४/७ पुव्वाण गयं पत्त-पुव्व-सरूवं वा पुव्वगय-मिदि। =जो पूर्वोको प्राप्त हो, अथवा जिसने पूर्वोके स्वरूपको प्राप्त कर लिया हो उसे पूर्वगत कहते है।

पूर्वज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/III/१।

पूर्वचरहेतु—दे० हेतु।

पूर्वदिशा—पूर्व दिशाकी प्रधानता—दे० दिशा।

पूर्व मीमांसा—दे० दर्शन।

पर्ववत् अनुमान—दे० अनुमान/१।

पूर्वविद्—स. सि./९/३७/४५३/४ पूर्वविदः ··श्रुतकेवलिन इत्यर्थः। =पूर्वविद् अर्थात् श्रुतकेवली। (रा.वा./९/३७/१/६३२/३०)। रा. वा. हिं./९/३७/७४८ प्रमत्त-अप्रमत्त मुनि भी पूर्वके वेत्ता है।

पूर्वविदेह—१. सुमेरु पर्वतकी पूर्व दिशामें स्थित कच्छादि १६ क्षेत्रोंको पूर्व विदेह कहते हैं। २. निषध व नील पर्वतस्थ एक कूट व उसका स्वामी देव—दे० लोक/७; ३ सौमनस गजदन्तस्थ एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७।

पूर्वसमासज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II/१।

पूर्व स्तुति—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका। आहारका एक दोष—दे० आहार/II/२।

पूर्व स्पर्धक—दे० स्पर्धक।

पूर्वांग—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

पूर्वानुपूर्वी—दे० आनुपूर्वी।

पूर्वापर संबंध—दे० संबंध।

पूर्वाभाद्रपद—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

पूर्वाषाढ—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

पूषमांडो—भगवान् नेमिनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष।

पृच्छना—स. सि./९/२५/४४३/४ संशयच्छेदाय निश्चितबला-धानाय वा परानुयोग पृच्छना। =संशयका उच्छेद करनेके लिए अथवा निश्चित बलको पुष्ट करनेके लिए प्रश्न करना पृच्छना है। (रा. वा /९/२५/२/६२४/११), (त.सा./७/१८), (अन.ध /७/८४), (ध १४/५,६,१३/९/३)।

रा. वा./९/२५/२/६२४/११ आत्मोन्नतिपरातिसंधानोपहाससंघर्षप्रहस-नादिविवर्जित संशयच्छेदाय निश्चितबलाधानाय वा ग्रन्थस्या-र्थस्य तदुभयस्य वा पर प्रत्यनुयोगः पृच्छनमिति भाष्यते। =आत्मो-न्नति परातिसन्धान परोपहास संघर्ष और प्रहसन आदि दोषोसे रहित हो संशयच्छेद या निर्णयकी पुष्टिके लिए ग्रन्थ अर्थ या उभय-का दूसरेसे पूछना पृच्छना है। (चा.सा./१५३/१)।

ध. ९/४,१,५५/२६२/८ तत्थ आगमे अमुणिदत्थपुच्छा वा उवजोगो। =आगममें नहीं जाने हुए अर्थके विषयमें पूछना भी उपयोग है।

पृच्छनी भाषा—दे० भाषा।

पृच्छाविधि—ध. १३/५,५/५०/२८५/६ द्रव्य-गुण-पर्यय-विधि-निषेधविषयप्रश्न. पृच्छा, तस्या क्रमः अक्रमश्च अक्रमप्रायश्चित्तं च विधीयते अस्मिन्निति पृच्छाविधिः श्रुतम्। अथवा पृष्टोऽर्थः पृच्छा, सा विधीयते निरूप्यतेऽस्मिन्निति पृच्छाविधिः श्रुतम्। एवं पृच्छा-विधि त्ति गदं। विधान विधिः, पृच्छायाः विधि. पृच्छाविधिः, स विशिष्यतेऽअनेनेति पृच्छाविधिविशेषः। अर्हदाचार्योपाध्याय-साधवोऽनेन प्रकारेण प्रष्टव्याः प्रश्नभङ्गाश्च इयन्त एवेति यतः सिद्धान्ते निरूप्यन्ते ततस्तस्य पृच्छाविधिविशेष इति संज्ञेत्युक्तं भवति। =१. द्रव्य गुण और पर्यायके विधि निषेध विषयक प्रश्नका नाम पृच्छा है। उसके क्रम और अक्रमका तथा प्रायश्चित्त-का जिसमें विधान किया जाता है वह पृच्छा विधि अर्थात् श्रुत है। २ अथवा पूछा गया अर्थ पृच्छा है, वह जिसमें विहित की जाती है अर्थात् कही जाती है वह पृच्छाविधि श्रुत है। इस प्रकार पृच्छाविधिका कथन किया। ३. विधान करना विधि है, पृच्छा-की विधि पृच्छाविधि है। वह जिसके द्वारा विशेषित की जाती है वह पृच्छाविधि विशेष है। अरिहन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु इस प्रकारसे पूछे जाने योग्य है तथा प्रश्नोके भेद इतने ही है, ये सब चूँकि सिद्धान्तमें निरूपित किये जाते है अतः उसकी पृच्छा-विधिविशेष यह संज्ञा है, यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

पृतना—सेनाका एक अंग —दे० सेना।

पृथक्त्व—

१. अन्यत्वके अर्थमें।

प्र. सा./त. प्र./१०६ प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम्। =विभक्त (भिन्न) प्रदेशत्व पृथक्त्वका लक्षण है।

द्र. स /टी./४८/२०३/६ द्रव्यगुणपर्यायाणा भिन्नत्वं पृथक्त्व भण्यते। =द्रव्य, गुण और पर्यायके भिन्नपनेको पृथक्त्व कहते है।

२. एकसे नौके बीचकी गणना

स. सि /१/८/३४/४ पृथक्त्वमित्यागमसज्ञा तिसृणां कोटीनामुपरिनवाना-मधः। =पृथक्त्व यह आगमिक संज्ञा है। इससे तीनसे ऊपर और नौके नीचे मध्यकी किसी संख्याका बोध होता है।

पृथक्त्व विक्रिया—दे० विक्रिया।

पृथक्त्व वितर्क विचार—दे० शुक्लध्यान।

पृथिवी—रुचक पर्वतनिवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

पृथिवी—यद्यपि लोकमें पृथिवीको तत्त्व समझा जाता है, परन्तु जैन दर्शनकारोने इसे भी एकेन्द्रिय स्थावरकी कोटिमें गिना है। इसी अवस्था भेदसे उसके कई भेद हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त यौगिक अनुष्ठानोंमें भी विशेष प्रकारसे पृथिवी मण्डल या पार्थिवी धारणाकी कल्पना की जाती है। सात नरकोंकी सात पृथिवियोके साथ निगोद मिला देनेसे आठ पृथिवियाँ कही जाती है (दे० काय/-२/५) सिद्धलोकको भी अष्टम भूमि कहा जाता है।

★ **पृथिवी सामान्यका लक्षण**—दे० भूमि/१।

१. पृथिवीके भेद

१. कायिकादि चार भेद।

स. सि /२/१३/१७२/३ पृथिव्यादीनामार्षे चातुर्विध्यमुक्त प्रत्येकम्। तत्कथमिति चेत् १ उच्यते—पृथिवी-पृथिवीकायः पृथिवीकायिकः

पृथिवीजीव इत्यादि ।—प्रश्न—आर्षमें पृथिवी आदिक अलग-अलग चार प्रकारके कहे हैं, सो ये चार-चार भेद किस प्रकार प्राप्त होते हैं। उत्तर—पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक और पृथिवीजीव ये पृथिवीके चार भेद हैं। (रा. वा./२/१३/१/१२७/२२), (गो. जी./जी. प्र./१८२/४१६/६)।

२. मिट्टी आदि अनेक भेद

मू. आ./२०६-२०९ पुढवी य वालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य। अय तंब तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य।२०६। हरिदाले हिंगुलए मणोसिला सस्सगंजण पवाले य। अब्भपडलब्भवालु य वादरकाया मणिविधीया।२०७। गोमज्झगे य रुजगे अंके फलिहे य लोहिदंके य। चंदप्पभ वेरुलिए जलकंते सूरकंते य।२०८। गेरुय चंदण वव्वग वगमोए तह मसारगल्लो य। ते जाण पुढविजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा।२०९। —१ मिट्टी आदि पृथिवी, २. बालू, तिकोन, चौकोन रूप, ३. शर्करा, ४. गोल पत्थर, ५ बड़ा पत्थर, ६. समुद्रादिका लवण (नमक), ७. लोहा, ८. ताँबा, ९. जस्ता, १०. सीसा, ११. चाँदी, १२ सोना, १३. हीरा, १४ हरिताल, १५. ईंगुर, १६. मैनसिल, १७ हरारंगवाला सस्यक, १८. सुरमा, १९. मूँगा, २०. भोडल (अभरख), २१ चमकती रेत, २२. गोरोचन वर्णी कर्केतमणि, २३ अलसी पुष्पवर्ण राजवर्तकमणि, २४ पुलकवर्णमणि, २५. स्फटिक मणि, २६ पद्मरागमणि, २७. चन्द्रकान्तमणि, २८ वैडूर्य (नील) मणि, २९. जलकांतमणि, ३०. सूर्यकांत मणि, ३१. गैरूवर्ण रुधिराक्षमणि, ३२. चन्दनगन्धमणि, ३३ बिलावके नेत्रसमान मरकतमणि, ३४. पुखराज, ३५. नीलमणि, तथा ३६. विद्रुमवर्णवाली मणि इस प्रकार पृथिवीके छत्तीस भेद हैं। इनमें जीवोंको जानकर सचित्तका त्याग करे।२०६-२०९। (पं. स./प्रा./१/७७), (ध. १/१,१,४२/गा १४९/२७२), (त.सा./२/५८-६२), (पं.स./सं./१/१५५), (और भी दे० चित्रा)

३. पृथिवीकायिकादि भेदोंके लक्षण

स. सि./२/१३/१७२/४ तत्र अचेतना वैस्रसिकपरिणामनिर्वृत्ता काठिन्यगुणात्मिका पृथिवी। अचेतनत्वादसत्यपि पृथिवीनामकर्मोदये प्रथनक्रियोपलक्षितेवेयम्। अथवा पृथिवीति सामान्यम्; उत्तरत्रयेऽपि सद्भावात्। काय शरीरम्। पृथिवीकायिकजीवपरित्यक्त पृथिवीकायो मृतमनुष्यादिकायवत्। पृथिवीकायोऽस्यास्तीति पृथिवीकायिक.। तत्कायसम्बन्धवशीकृत आत्मा। समवाप्तपृथिवीकायनामकर्मोदय. कार्मणकाययोगस्थो यो न तावत्पृथिवीं कायत्वेन गृह्णाति स पृथिवीजीव.। —अचेतन होनेसे यद्यपि इसमें पृथिवी नामकर्मका उदय नहीं है तो भी प्रथन क्रियासे उपलक्षित होनेके कारण अर्थात् विस्तार आदि गुणवाली होनेके कारण यह पृथिवी कहलाती है। अथवा पृथिवी यह सामान्य भेद है, क्योंकि आगेके तीन भेदोंमें यह पाया जाता है। कायका अर्थ शरीर है, अत पृथिवीकायिक जीवके द्वारा जो शरीर छोड़ दिया जाता है वह पृथिवीकाय कहलाता है। यथा मरे हुए मनुष्य आदिकका शरीर। जिस जीवके पृथिवी रूप काय विद्यमान है उसे पृथिवीकायिक कहते हैं। तात्पर्य यह है कि यह जीव पृथिवीरूप शरीरके सम्बन्धसे युक्त है। कार्मण योगमें स्थित जिस जीवने जबतक पृथिवीको कायरूपसे ग्रहण नहीं किया है तबतक वह पृथिवीजीव कहलाता है। (रा. वा./२/१३/१/१२७/२३), (गो जी./जी. प्र./१८२/४१६/६)।

३. पृथिवीकायिकादिके लक्षणों सम्बन्धी शंका-समाधान

ध. १/१,१,३९/२६५/१ पृथिव्येव काय' पृथिवीकाय' स एषामस्तीति पृथिवीकायिका। ... [illegible] ...रमानस्थितजीवानां पृथिवीकायत्वा-

भाव. [illegible] । [illegible] —[illegible] । प्रश्न—[illegible] पृथिवी [illegible] । उत्तर—[illegible] २. [illegible] पृथिवी [illegible] है।

४. प्राणायाम सम्बन्धी पृथिवी मण्डलका लक्षण

ज्ञा./२९/१९ [illegible] । [illegible] ।१९। —[illegible] पृथ्वी [illegible] है।

ज्ञा./२९/२४ [illegible] ।२४। —[illegible] पृथ्वी[illegible] ।

ज्ञा./२९/[illegible] [illegible] । —[illegible] पृथिवी है।

५. पार्थिवीधारणाका लक्षण

ज्ञा./३७/४-९ [illegible] ।४। [illegible] ।५। [illegible] ।६। [illegible] ।७। [illegible] ।८। [illegible] ।९। —प्रथम ही योगी [illegible], [illegible] रहित, तथा [illegible] ।४। फिर उसके मध्य भागमें [illegible] और [illegible] हुई [illegible], [illegible] ।५। [illegible] ।६। तत्पश्चात् [illegible] पीत रंगकी [illegible] समान [illegible] का ध्यान करे।७। उस [illegible] चन्द्रके समान [illegible] एक ऊँचा सिंहासन चिंतवन करे। उसमें अपने आत्माको सुखरूप, शान्त स्वरूप, क्षोभ रहित।८। तथा समस्त कर्मोंका क्षय करनेमें समर्थ है ऐसा चिन्तवन करे।९।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. पृथिवीमें पुद्गलके सर्वगुणोंका अस्तित्व। —दे० पुद्गल/२।
२. अष्टपृथिवी निर्देश। —दे० भूमि/१।
३. मोक्षभूमि या अष्टम पृथिवी —दे० मोक्ष/१।
४. नरक पृथिवी। —दे० नरक।

५. सूक्ष्म तैजसकायिकादिकोंका लोकमें सर्वत्र अवस्थान। —दे० सूक्ष्म/३।
६. बादर तैजसकायिकादिकोंका भवनवासियोंके विमानोंमें व नरकोंमें अवस्थान। —दे० काय/३।
७. मार्गणाओंमें भावमार्गणाकी इष्टता तथा वहाँ आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम। —दे० मार्गणा।
८. बादर पृथिवीकायिक निर्वृत्त्यपर्याप्तमें सासादन गुणस्थानकी सम्भावना। —दे० जन्म/४।
९. कर्मोंका बन्ध उदय व सत्त्व। —दे० वह-वह नाम।
१०. पृथिवीकायिक जीवोंमें गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणा स्थान आदि सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्।
११ पृथिवीकायिक जीवोंकी सत् (अस्तित्व), सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प बहुत्व रूप आठ प्ररूपणाएँ। —दे० वह-वह नाम।

पृथिवी कोंगणि—अपरनाम श्री पुरुष—दे० श्री पुरुष।

पृथिवीपाल—पानीपतका निवासी था। वि. १६६२ में श्रुत पचमी रासकी रचना की। (हि. जै. सा. इ./१३५/कामता)।

पृथिवीसिंह—जयपुर नरेश। समय—वि. स. १८२७ (ई० १७७७), (मो. मा. प्र./प्र. २१/प. परमानन्द शास्त्री)।

पृथु—कृष्णके भाई बलदेवका १५वाँ पुत्र —दे० इतिहास/७/१०।

पृष्ठक—सौधर्म स्वर्गका २८ वाँ पटल व इन्द्रक —दे० स्वर्ग/५।

पेय—अन. ध./७/१३ जलादिकम् पेयं। =जल, दुग्धादि पदार्थ पेय कहे जाते है। (ला. सं./२/१७)।

पेशि—औदारिक शरीरमें मास पेशियोंका प्रमाण—दे० औदारिक/२।

पैप्पलाद—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद।

पैशुन्य—रा. वा./१/२०/१२/७५/१२ पृष्ठतो दोषाविष्करणं पैशुन्यम्। =पीछेसे दोष प्रकट करनेको पैशुन्य वचन कहते हैं। (ध. १/१,१,२/ ११६/१२); (ध ६/४/१,४५/२१७/३)।

ध. १/४,२,८,१०/२८५/५ परेषा क्रोधादिना दोषोद्भावन पैशुन्यम्। =क्रोधादिके कारण दूसरोके दोषोको प्रकट करना पैशुन्य कहा जाता है। (गो. जी./जी. प्र./३६५/७७८/२०)।

नि. सा /ता. वृ./६२ कर्णेजपमुखविनिर्गतं नृपतिकर्णाभ्यर्णगत चैकपुरुषस्य एककुटुम्बस्य एकग्रामस्य वा महद्विपत्कारण वचःपैशुन्यम्। =चुगलखोर मनुष्यके मुँहसे निकले हुए और राजाके कान तक पहुँचे हुए, किसी एक पुरुष, किसी एक कुटुम्ब अथवा किसी एक ग्रामको महाविपत्तिके कारणभूत ऐसे वचन वह पैशुन्य है।

रा. वा हि./६/११/५०० पैशुन्य कहिये पर तै अदेख सका भावकरि खोटी कहना।

पोत—

स. सि./२/३३/१८०/१ किंचित्परिवरणमन्तरेण परिपूर्णावयवो योनिनिर्गतमात्र एव परिस्पन्दादिसामर्थ्योपेत पोत'। =जिसके सब अवयव बिना आवरणके पूरे हुए है और जो योनिसे निकलते ही हलन-चलन आदि सामर्थ्यसे युक्त है उसे पोत कहते है। (रा. वा./२/ ३३/३/१४४/१); (गो. जी /जी. प्र./८४/२०७/५)।

* पोतज जन्म विषयक—दे० जन्म/२।

पोतकर्म—दे० निक्षेप/४।

पोदन—भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४।

पोन्न—कृष्णराज तृतीयके समयमें एक जैन पण्डित था। तथा उभय भाषा कवि चक्रवर्तीकी उपाधिसे युक्त था। समय—वि. १०२९ (ई० ९७२); (यशस्तिलक चम्पू./प्र. २०/पं. सुन्दरलाल)।

पौंड्र—दे० पुंड्र।

पौर—सौराष्ट्र देशमें वर्तमान पोरबन्दर (नेमिचरित/प्र /प्रेमी)।

पौरुष—दे० पुरुषार्थ।

पौरुषेय—आगमका पौरुपेय व अपौरुषेयत्वपना—दे० आगम/६।

पौलोमपुर—भरत क्षेत्रका एक नगर। सम्भवत. वर्तमान पालमपुर —दे० मनुष्य/४।

प्रकरणसम जाति—न्या सू /मू. व टी./५/१/१३/२६४ उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धे प्रकरणसम.।१६। अनित्यशब्द' प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्येक' पक्ष प्रवर्तयति द्वितीयश्च नित्यसाधर्म्यात्। एवं च सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुरनित्यसाधर्म्येणोच्यमानेन हेतौ तदिदं प्रकरणानतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानं प्रकरणसम। =उभयके साधर्म्यसे प्रक्रियाकी सिद्धि हो जानेसे प्रकरण समा जाति है। (कहीं-कहीं उभयके वैधर्म्यसे भी प्रक्रियाकी सिद्धि हो जानेके कारण प्रकरणसम जाति मानी जाती है।)।१६। जैसे—शब्द अनित्य है प्रयत्नानन्तरीयकत्वसे (प्रयत्नकी समानता होनेसे) घटकी नाईं। इस रीतिसे एक पक्षको प्रवृत्त करता है और दूसरा नित्यके साधर्म्यसे शब्दको नित्य सिद्ध करता है ऐसा होनेसे प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु अनित्यत्व साधर्म्यसे कथन करनेपर प्रकरणकी अनतिवृत्तिसे प्रत्यवस्थान हुआ इसलिए 'प्रकरणसम' है। (श्लो. वा ४/न्या./३८१-३८३/५०८-५०९)।

प्रकरणसम हेत्वाभास—

न्या सू./सू. व टी./१/२/७/४६ यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्ट. प्रकरणसम।७। प्रज्ञापनं त्वनित्य' शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनुपलभ्यमान सोऽयमहेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय प्रकल्पते। =विचारके आश्रय अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्षको प्रकरणसम कहते है।७। जैसे—किसीने कहा कि 'शब्द अनित्य है, नित्यधर्मके ज्ञान न होनेसे' यह प्रकरणसम है। इससे दो पक्षोंमेंसे किसी पक्षका भी निर्णय नहीं हो सकता।' 'जो दो धर्मोंमें एकका भी ज्ञान होता कि शब्द अनित्य है कि नित्य? तो यह विचार ही क्यो प्रवृत्त होता। (श्लो वा. ४/न्या./पु. ४/२७३/४२९/१९)।

न्या दी./३§४०/८७/६ प्रतिसाधनप्रतिरुद्धो हेतु. प्रकरणसम। यथा… अनित्य शब्दो नित्यधर्मरहितत्वात् इति। अत्र हि नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतु प्रतिसाधनेन प्रतिरुद्ध'। किं तत्प्रतिसाधनम्। इति चेत्, नित्य. शब्दोऽनित्यधर्मरहितत्वादिति नित्यत्वसाधनम्। तथा चासत्प्रतिपक्षत्वाभावात्प्रकरणसमत्वं नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतो। =विरोधी साधन जिसका मौजूद हो वह हेतु प्रकरणसम अथवा सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है। जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि वह नित्यधर्म रहित है यहाँ नित्यधर्म रहितत्व हेतुका प्रतिपक्षी साधन मौजूद है। वह प्रतिपक्षी साधन कौन है? शब्द नित्य है, क्योंकि वह अनित्यके धर्मोंसे रहित है इस प्रकार नित्यताका साधन करना उसका प्रतिपक्ष साधन है। अतः असत्प्रतिपक्षताके न होनेसे 'नित्य धर्मरहितत्व' हेतु प्रकरणसम हेत्वाभास है।

प्रकार—प. ध /पू /६० अपि चाश. पर्यायो भागो हारो विधा प्रकारश्च। भेदश्छेदो भङ्ग शब्दाश्चैकार्थवाचका एते।६०। =और अश,

पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार तथा भेद, छेद और भंग ये सब शब्द एक ही अर्थके वाचक हैं।६०।

प्रकारक सूरि—दे० प्रकुर्वी।

प्रकाश—ध. १/१,१,४/१४५/६ स्वतो व्यतिरिक्तबाह्यार्थावगतिः प्रकाशः। —अपनेसे भिन्न बाह्य पदार्थोंके ज्ञानको प्रकाश कहते हैं।

प्रकाश शक्ति—स. सा./आ./परि./शक्ति नं. १२ स्वयं प्रकाशमान विशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः। —अपने आप प्रकाशमान स्पष्ट अपने अनुभवमयी प्रकाश नामा बारहवीं शक्ति है।

प्रकीर्णक—

त्रि. सा./४७५ सेढीण विच्चाले पुप्फपइण्णय इव ट्ठियविमाणा हु। होंति पइण्णइणामा सेढिंदयहीणसव्वसमा।४७५। —श्रेणी बद्ध विमानोंके अन्तरालमें बिखरे हुए पुष्पोंकी भाँति पंक्ति रहित जहाँ-तहाँ स्थित हों उन विमानों (या बिलों) को प्रकीर्णक कहते हैं।४७५। (त्रि. सा./१६६)।

द्र. सं./टी./३५/११६/२ दिग्विदिगष्टान्तरेषु पङ्क्तिरहितत्वेन पुष्पप्रकरवत् यानि तिष्ठन्ति तेषां प्रकीर्णकसंज्ञा। —चारों दिशा और विदिशाओंके बीचमें, पंक्तिके बिना, बिखरे हुए पुष्पोंके समान जो बिले हैं, उनकी 'प्रकीर्णक' संज्ञा है।

प्रकीर्णक तारे—

ति. प./७/४९५ दुविहा चरअचराओ पइण्णताराओ। —प्रकीर्णक तारे चर और अचर दो प्रकारके होते हैं।

* प्रकीर्णक तारोंका अवस्थान व संख्या—दे० ज्योतिष/२।

प्रकीर्णक देव—

स. सि./४/४/२३९/६ प्रकीर्णकाः पौरजानपदकल्पाः। —जो गाँव और शहरमें रहनेवालोंके समान हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। (रा. वा./४/४/७/२१३/८), (म. पु./२२/२९)।

ति. प./३/६७ पइण्णया पुरिजणसरिच्छा। —प्रकीर्णक देव पौर जन अर्थात् प्रजाके सदृश होते हैं। (त्रि. सा./२२३-२२४)।

* भवनवासी आदिके इन्द्रोंके परिवारमें

प्रकीर्णकोंका प्रमाण—दे० भवनवासी आदि भेद।

प्रकीर्णक बिल—दे० नरक/५।

प्रकीर्णक विमान—दे० स्वर्ग/५।

प्रकुर्वी—भ. आ./४५५,४५७ जो णिस्सवणपवेसे सेज्जासंथार उवधिसंभोगे। ठाणणिसेज्जागासे अगदूण विकिंचणाहारे।४५५। इय उप्पपरिस्समसगणित्ताववयस्स सव्वपडिचरणे। वट्टंतो आयरिओ पकुव्वओ णाम सो होइ।४५७। —क्षपक जब वस्तिकामें प्रवेश करता है; अथवा बाहर आता है उस समयमें, वस्तिका, संस्तर और उपकरण इनके शोधन करनेमें, खड़े रहना, बैठना, सोना, शरीर मल दूर करना, आहार पानी लाना आदि कार्यमें जो आचार्य क्षपकके ऊपर अनुग्रह करते हैं। सर्व प्रकार क्षपककी शुश्रूषा करते हैं, उसमें बहुत परिश्रम पड़नेपर भी वे खिन्न नहीं होते हैं ऐसे आचार्यको प्रकुर्वी आचार्य कहते हैं।

प्रकृति—सांख्य व शैव मत मान्य प्रकृति तत्त्व—दे० वह-वह दर्शन।

प्रकृति बंध—राग-द्वेषादिके निमित्तसे जीवके साथ पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध निरन्तर होता है। (दे० कर्म) जीवके भावोंकी विचित्रताके अनुसार वे कर्म भी विभिन्न प्रकारकी फलदान शक्तिको लेकर आते हैं, इसीसे वे विभिन्न स्वभाव या प्रकृतिवाले होते हैं। प्रकृतिकी अपेक्षा वह कर्म मूल ८ भेद हैं, और [illegible] हैं। [illegible] भेद [illegible] हैं। [illegible] हैं, [illegible], [illegible], [illegible] आदि।

१	**भेद व लक्षण**
१	प्रकृतिका लक्षण—१. स्वभाव [illegible]; २. [illegible] मात्र [illegible]।
२	प्रकृति बन्धका लक्षण।
३	कर्मप्रकृतिके भेद—१. मूल व उत्तर दो भेद; २. [illegible] भेद; ३. [illegible] भेद; ४. असंख्यात भेद।
४	सादि-अनादि व ध्रुव-अध्रुव प्रकृतियोंके लक्षण।
५	सान्तर निरन्तर व [illegible] बन्धी प्रकृतियोंके लक्षण।
६	परिणाम, भव व परभविक [illegible] प्रकृतियोंके लक्षण।
७	[illegible] प्रकृतियोंके लक्षण।
८	भुजाकार व अल्पतर आदि प्रकृतियोंके लक्षण।
२	**प्रकृतियोंका विभाग निर्देश**
१	पुण्य पाप प्रकृतियोंकी अपेक्षा।
२	जीव, पुद्गल, क्षेत्र व भवविपाकीकी अपेक्षा।
३	परिणाम, भव व परभविक [illegible] अपेक्षा।
४	बन्ध व अबन्ध योग्य प्रकृतियोंकी अपेक्षा।
*	उदय व सत्त्व व सत्त्व योग्य प्रकृतियाँ। —दे० वह वह नाम।
५	सान्तर, निरन्तर व उभय बन्धीकी अपेक्षा।
६	सादि अनादि बन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा।
७	ध्रुव व अध्रुव बन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा।
८	सप्रतिपक्ष व अप्रतिपक्ष प्रकृतियोंकी अपेक्षा।
*	प्रकृतियोंमें घाती अघातीकी अपेक्षा।—दे० अनुभाग।
९	अन्तर्भाव योग्य प्रकृतियाँ।
*	स्वोदय परोदय बन्धी प्रकृतियाँ। —दे० उदय/७।
*	उदय व्युच्छित्तिके पहले, पीछे या युगपत् बन्ध व्युच्छित्तिवाली प्रकृतियाँ। —दे० उदय/७।
३	**प्रकृति बन्ध निर्देश**
*	द्रव्यकर्मकी सिद्धि आदि। —दे० कर्म/३।
१	आठ प्रकृतियोंके आठ उदाहरण।
*	सिद्धोंके आठ गुणोंमें भिन्न-भिन्न प्रकृतियाँ निमित्त हैं। —दे० मोक्ष/३।
२	पुण्य व पाप प्रकृतियोंका कार्य।
३	अघातिया कर्मोंका कार्य।
*	प्रकृति बन्धमें योग कारण है। —दे० बन्ध/५।
*	किस प्रकृतिमें १० करणोंसे कितने करण संभव हैं। —दे० करण/२।

१. भेद व लक्षण

१. प्रकृतिका लक्षण—१. स्वभावके अर्थमें

पं. सं./प्रा./४/५१४-५१५ पयडी एत्थ सहावो ।५१४। एकम्मि महुर-पयडी ।॰॰ ५१५। =प्रकृति नाम स्वभावका है।॰ ।५१४। जैसे—किसी एक वस्तुमें मधुरताका होना उसकी प्रकृति है।५१५। (पं. स./सं./३६६-३६७), (ध. १०/४,२,४,२१३/५१०/८)।

स. सि./८/३/३७८/१ प्रकृति स्वभाव । निम्बस्य का प्रकृति'। तिक्तता। गुडस्य का प्रकृति'। मधुरता। तथा ज्ञानावरणस्य का प्रकृति'। अर्थानवगम'। ·इत्यादि। =प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है। जिस प्रकार नीमकी क्या प्रकृति है? कडुआपन। गुडकी क्या प्रकृति है? मीठापन। उसी प्रकार ज्ञानावरण कर्मकी क्या प्रकृति है? अर्थका ज्ञान न होना। इत्यादि। (रा वा./८/३/४/५६७/१), (पं ध./उ./९३६)।

ध. १२/४,२,१०,२/३०३/२ प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मन. इति प्रकृतिशब्दव्युत्पत्ते'।॰॰ जो कम्मखंधो जीवस्स वट्टमाणकाले फलं देइ जो च देइस्सदि, एदेसिं दोण्णं पि कम्मक्खंधाण पयडित्तं सिद्धं'। =१ जिसके द्वारा आत्माको अज्ञानादि रूप फल किया जाता है वह प्रकृति है, यह प्रकृति शब्दकी व्युत्पत्ति है। २. जो कर्म स्कन्ध वर्तमानकालमें फल देता है और जो भविष्यत्‌में फल देगा, इन दोनों ही कर्म स्कन्धोंकी प्रकृति संज्ञा सिद्ध है।

२. एकार्थवाची नाम

गो. क./मू./२/३ पयडी सीलसहावो ।॰ ।२। =प्रकृति, शील और स्वभाव ये सब एकार्थ है।

पं. ध./पू./४८ शक्तिर्लक्ष्म विशेषो धर्मो रूपं गुण स्वभावश्च। प्रकृतिः शीलं चाकृतिरेकार्थवाचका अमी शब्दा ।४८। =शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण तथा स्वभाव, प्रकृति, शील और आकृति ये सब एकार्थवाची है।

२. प्रकृति बन्धका लक्षण

नि सा./ता वृ./४० ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मणां तत्तद्योग्यपुद्गलद्रव्य-स्वीकारः प्रकृतिबन्ध.। =ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मोंके उस कर्मके योग्य ऐसा जो पुद्गल द्रव्यका स्व-आकार वह प्रकृति बन्ध है।

३. कर्म प्रकृतिके भेद

१. मूल व उत्तर दो भेद

मू. आ./१२२१ दुविहो य पयडिबंधो मूलो तह उत्तरो चेव। =प्रकृति बन्ध मूल और उत्तर ऐसे दो प्रकारका है।१२२१। (पं. सं./प्रा./२/१) (क. पा. २/२-२२/ चूर्ण सूत्र/§४१/२०)। (रा. वा./८/३/११/५६७/२०); (ध. ६/१,९-१,३/५/६); (पं. सं./सं./२/१)

२. मूल प्रकृतिके आठ भेद

प. खं. १३/५,५/सू. १९/२०५ कम्मपयडी णाम सा अट्ठविहा-णाणावरणीयकम्मपयडी एवं दंसणावरणीय-वेयणीय-मोहणीय-आउअ-णामा-गोद-अंतराइयकम्मपयडी चेदि।१९। =नोआगम कर्म द्रव्य प्रकृति आठ प्रकारकी दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय कर्म प्रकृति।१९। (प. खं. ६/१,९-१/सू. ४-१२/६-१३), (त. सू./८/४); (मू. आ./१२२२), (पं. सं./प्रा./२/२); (न. च. वृ./८४), (गो. क./मू./८/७), (द्र. सं./टी./३१/९०/९)।

३. उत्तर प्रकृतिके १४८ भेद

त. सू./८/५ पञ्चनवद्व्यष्टाविंशतिचतुर्द्विचत्वारिंशद्द्विपञ्चभेदा यथाक्रमम्।५। =आठ मूल प्रकृतियोंके अनुक्रमसे पाँच, नौ, दो, अट्ठाईस, चार, व्यालीस, दो और पाँच भेद हैं।५। (विशेष देखो-उस उस मूल प्रकृतिका नाम) (प. खं./६/१,९-१/सू./पृ.१३/१५; १५/३१; १७/३४,१९/३७,२५/४८,२६/४९,४५/७७,४६/७८); (प. खं. १३/५,५/सू./पृ.२०/२०९, ८४/३६३, ८८/३६६, ९०/३६७,९९/३६२,१०१/३६३,१३५/३८८,१३७/३८९), (प. सं./प्रा./२/४), (गो. क./मू./२२/१५); (पं. सं./सं./२/३-३५)।

४. असंख्यात भेद

गो. क./मू./७/६ तं पुण अट्ठविहं वा अडदालसयं असंखलोगं वा। ताणं पुण घादित्ति अ-घादित्ति य होंति सण्णाओ।७। =सामान्य कर्म आठ प्रकार है, वा एक सौ अडतालीस प्रकार है, वा असंख्यात लोक प्रमाण प्रकार है। तिनकी पृथक्-पृथक् घातिया व अघातिया ऐसी संज्ञा है।७।

पं. ध./उ./१००० उत्तरोत्तरभेदैश्च लोकासंख्यातमात्रकम्। शक्तितोऽनन्तसंज्ञश्च सर्वकर्मकदम्बकम्।१०००। (अवश्य सति सम्यक्त्वे तल्लब्ध्यावरणक्षतिः (पं. ध./८५६) =उत्तरोत्तर भेदोंकी अपेक्षासे कर्म असंख्यात लोक प्रमाण है। तथा अपने अविभाग प्रतिच्छेदोंकी शक्तिकी अपेक्षासे सम्पूर्ण कर्मोंका समूह अनन्त है।१०००। (ज्ञानसे चेतनावरण-स्वानुभूत्यावरण कर्मका नाश अवश्य होता है। इत्यादि ओर भी दे० नामकर्म)।

४. सादि-अनादि व ध्रुव-अध्रुवबन्धी प्रकृतियोंके लक्षण

पं. स./प्रा./४/२३३ साइ अबधाबंधइ अणाइबधो य जीवकम्माणं। धुवबंधो य अभव्वे बध-विणासेण अद्धुवो होज्ज।२३३। =विवक्षित कर्म प्रकृतिके अबन्ध अर्थात् बन्ध विच्छेद हो जानेपर पुन. जो उसका बन्ध होता है, उसे सादिबन्ध कहते हे। जीव और कर्मके अनादि कालीन बन्धको अनादिबन्ध कहते है। अभव्यके बन्धको ध्रुवबन्ध कहते है। एक बार बन्धका विनाश होकर पुनः होनेवाले बन्धको अध्रुवबन्ध कहते है। अथवा भव्यके बन्धको अध्रुवबन्ध कहते है।

ध ८/३,६/१७/७ जिस्से पयडीए पच्चओ जत्थ कत्थ वि जीवे अणादि-धुवभावेण लब्भइ सा धुवबधीपयडी। =जिस प्रकृतिका प्रत्यय जिस किसी भी जीवमें अनादि एव ध्रुव भावसे पाया जाता है वह 'ध्रुव-बन्ध प्रकृति है।

गो. क./मू. व टी./१२३/१२४ सादि अबंधबंधे सेढिअणारूढगे अणादीहु। अभव्वसिद्धम्हि धुवो भवसिद्धे अद्धुवो बंधो।१२३। सादिबन्धः बन्धाभावस्थितस्य कर्मणः पुनर्बन्धे सति स्यात्, यथा ज्ञानावरणपञ्चकस्य उपशान्तकषायादवतरतः सूक्ष्मसाम्पराये। यस्मिन् गुणस्थाने व्युच्छित्तिस्तदनन्तरोपरितनगुणस्थानं अप्राप्तस्य अनादिबन्धः स्यात्, यथा सूक्ष्मसाम्परायचरमसमयादधस्तनस्य तस्य। ध्रुवः पुनः अभव्यसिद्धे ध्रुवबन्धो भवति निरवधित्वात् बन्धस्य तथा चानन्तत्वात्। भव्यसिद्धे अध्रुवबन्धो भवति। सूक्ष्मसाम्पराये बन्धस्य व्युच्छित्त्या तत्पश्चात्कालेनाशित। —जिस कर्मके बन्धका अभाव होकर फिर बन्ध होइ तहाँ तिस कर्मके बन्धको सादि कहिये। जैसे—ज्ञानावरणकी पाँच प्रकृतिका बन्ध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त जीवकै था। पीछे वही जीव उपशान्त कषाय गुणस्थानको प्राप्त भया तब ज्ञानावरणके बन्धका अभाव भया। पीछे वही जीव उतर कर सूक्ष्मसाम्परायको प्राप्त हुआ तहाँ उसके पुनः ज्ञानावरणका बन्ध भया तहाँ तिस बन्धको सादि कहिये। ऐसे ही और प्रकृतिनिका जानना। जिस गुण स्थानमें जिस कर्मकी व्युच्छित्ति होइ, तिस गुणस्थानके अनन्तर, ऊपरिके गुणस्थानको अप्राप्त भया जो जीव ताके तिस कर्मका अनादि बन्ध जानना। जैसे—ज्ञानावरणकी व्युच्छित्ति सूक्ष्मसाम्परायका अन्त विषै है। ताके अनन्तर ऊपरिके गुणस्थानको जो जीव अप्राप्त भया ताकै ज्ञानावरणका अनादिबन्ध है। ऐसे ही अन्य प्रकृतियोंका जानना। —बहुरि अभव्यसिद्ध जो अभव्यजीव तीहि विषैं ध्रुवबन्ध जानना। जातैं निरवधिपनै निरन्तर बन्धी कर्म प्रकृतिका बन्ध अभव्यकै अनादि अनन्त पाइए है। बहुरि भव्यसिद्धविषैं अध्रुव बन्ध है जातैं भव्य जीवकैं बन्धका अभाव भी पाइए वा बन्ध पाइए। जैसे—ज्ञानावरण बन्धकी सूक्ष्म साम्पराय विषै बन्धकी व्युच्छित्ति भई। नोट—(इसी प्रकार उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट तथा जघन्य व अजघन्य बन्धमें चौथा भी सादि अनादि ध्रुव अध्रुव विकल्प यथा सम्भव जानना। (गो. क./जी. प्र./९१/७४/११)।

गो. क./भाषा/९०/७५/४ विवक्षित बन्धका बीचमें अभाव होइ बहुरि जो बन्ध होइ सो सादिबन्ध है। बहुरि कदाचित् अनादि सें बन्धका अभाव न हुआ होइ तहाँ अनादिबन्ध है। निरन्तर बन्ध हुआ करे सो ध्रुवबन्ध है। अन्तर सहित बन्ध होइ सो अध्रुवबन्ध कहते हैं।

५. सान्तर, निरन्तर व उभय बन्धी प्रकृतियोंके लक्षण

ध. ८/३,६/१७/८ जिस्से पयडीए पच्चओ णियमेण सादि अद्धुवो अंतोमुहुत्तादिकालावट्ठाई सा णिरंतरबंधपयडी। जिस्से पयडीए अद्धाक्खएण बंधवोच्छेदो संभवइ सा संतरबंधपयडी। =जिस प्रकृतिका प्रत्यय नियमसे सादि एव अध्रुव तथा अन्तर्मूहूर्त आदि कालतक अवस्थित रहनेवाला है, वह निरन्तर बन्धी प्रकृति है। जिस प्रकृतिका काल क्षयसे बन्ध व्युच्छेद सम्भव है वह सान्तरबन्धी प्रकृति है।

गो. क./भाषा/ ४०६-४०७/५९०/१७ जैसे—अन्यगतिका जहाँ बन्ध पाइये तहाँ तौ देवगति सप्रतिपक्षी है सो तहाँ कोई समय देवगतिका बन्ध होई कोइ समय अन्य गतिका बन्ध होइ ताते सान्तरबन्धी है। जहाँ अन्य गतिका बन्ध नाहीं केवल देवगतिका बन्ध है तहाँ देवगति निष्प्रतिपक्षी है सो तहाँ समय समय प्रति देवगतिका बन्ध पाइए तातै निरन्तर बन्धी है। तातै देवगति उभयबन्धी है।

६. परिणाम, भव व परभविक प्रत्यय रूप प्रकृतियोंके लक्षण

ल. सा./जी. प्र./३०६-३०७/३८८ षड्विंशतिप्रकृतयः परिणामप्रत्ययाः, आत्मनो विशुद्धिसंक्लेशपरिणामहानिवृद्ध्यनुसारेण एतत्प्रकृत्यनुभागस्य हानिवृद्धिसद्भावात्।३०६। चतुस्त्रिंशत्प्रकृतयो भवप्रत्ययाः। एतासामनुभागस्य विशुद्धिसंक्लेशपरिणामहानिवृद्धिनिरपेक्षतया विवक्षित-

भवाश्रयेणैव षट्स्थानपतितहानिवृद्धिसंभवात्। अत. कारणादवस्थित-विशुद्धिपरिणामेऽप्युपशान्तकषाये एतच्चतुस्त्रिंशत्प्रकृतीना अनुभागो-दयस्त्रिस्थानसभवो भवति। कदाचिद्धीयते कदाचिद्वर्धते कदाचिद्धा-निवृद्धिभ्या विना एकादश एवावतिष्ठते।३०७। =पच्चीस प्रकृति **परिणाम प्रत्यय** हैं। इनका उदय होनेके प्रथम समयमें आत्माके विशुद्धि संक्लेश परिणाम हानि वृद्धि लिये जैसे पाइए तैसे हानि वृद्धि लिये इनका अनुभाग तहाँ उदय होइ। वर्तमान परिणामके अनुसार इनका अनुभाग उत्कर्षण अपकर्षण हो है।३०६। चौतीस प्रकृति भव प्रत्यय हैं। आत्माके परिणाम जैसे होई। तिनकी अपेक्षा रहित पर्याय हीका आश्रय करि इनका अनुभाग विषै षट्स्थान रूप हानि वृद्धि पाइये है तातै इनका अनुभागका उदय इहाँ तीन अवस्था लीएँ है। कदाचित् हानि रूप, कदाचित् वृद्धि रूप, कदाचित् अवस्थित जैसा का तैसा रहे है।३०७।

ध. ६/१,६-८,१४/२६३/२५ विशेषार्थ—नामकर्मकी जिन प्रकृतियोका परभव सम्बन्धी देवगतिके साथ बन्ध होता है उन्हें **परभविक नामकर्म** कहा है।

७. बन्ध व सत्त्व प्रकृतियोंके लक्षण

ध. १२/४,२,१४,३८/४९५/११ जासिं पयडीण ट्ठिदिसतादो उवरि कम्हि विकाले ट्ठिदिबधो सभवदि ताओ बधपयडीओ णाम। जासिं पुण पयडीण बधो चेव णत्थि, बधे संते वि जासिं पयडीणं ट्ठिदि सतादो उवरि सव्वकाल बंधो ण सभवदि, ताओ संतपयडीओ, संतपहाणत्तादो। ण च आहारदुग-तित्थयराण ट्ठिदिसंतादो उवरि बधो अत्थि, सम्माइट्ठीसु तदणुवलभादो तम्हा सम्मामिच्छत्ताणं व एदाणि तिण्णि वि सतकम्माणि। =जिन प्रकृतियोंका स्थिति सत्त्वसे अधिक किसी भी कालमें बन्ध सम्भव है, वे **बन्ध प्रकृतियाँ** कही जाती हैं। परन्तु जिन प्रकृतियोका बन्ध ही नहीं होता है और बन्धके होनेपर भी जिन प्रकृतियोंका स्थिति सत्त्वसे अधिक सदा काल बन्ध सम्भव नहीं है वे सत्त्व प्रकृतियाँ है, क्योकि सत्त्वकी प्रधानता हे। आहारक द्विक और तीर्थंकर प्रकृतिका स्थिति सत्त्वसे अधिक बन्ध सम्भव नहीं है, क्योंकि वह सम्यग्दृष्टियोमें नहीं पाया जाता है। इस कारण सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्वके समान तीनो ही सत्त्व प्रकृतियाँ है।

८. भुजगार व अल्पतर बन्धादि प्रकृतियोंके लक्षण

म ब /§ २७०/१४५/२ याओ एण्णि ट्ठिदीओ बधदि अणंतरादिसक्का-विदविदिक्कते समये अप्पदरादो बहुदरं बधदि त्ति एसो भुजगार-बधो णाम। याओ एण्णि ट्ठिदीओ बंधदि अणतरउस्सक्काविद-विदिक्कते समये बहुदरादो अप्पदर बधदि त्ति एसो अप्पदरबधो णाम। याओ एण्णि ट्ठिदीओ बधदि अणतरओसक्काविदउस्स-क्काविदविदिक्कते समये तत्तियाओ तत्तियाओ चेव बधदि त्ति एसो अवट्ठिदबधो णाम। अबंधदो बधदि त्ति एसो अवत्तव्वबधो णाम। =वर्तमान समयमें जिन स्थितियोको बाँधता है उन्हें अनन्तर अतिक्रान्त समयमें घटी हुई बाँधी गयी अल्पतर स्थितिसे बहुतर बाँधता है यह भुजगारबन्ध है।· ··वर्तमान समयमें जिन स्थितियोको बाँधता है, उन्हे अनन्तर अतिक्रान्त समयमे बढी हुई बाँधी गयी बहुतर स्थितिसे अल्पतर बाँधता है यह अल्पतरबन्ध है।

वर्तमान समयमें जिन स्थितियोको बाँधता है, उन्हें अनन्तर अतिक्रान्त समयमें घटी हुई या बढी हुई बाँधी गयी स्थितिसे उतनी ही बाँधता है, यह अवस्थित बन्ध है। अर्थात्–प्रथम समयमें अल्पका बध करके अनन्तर बहुतका बन्ध करना भुजगारबन्ध है। इसी प्रकार बहुतका बन्ध करके अल्पका बन्ध करना अल्पतरबन्ध है। पिछले समयमें जितना बन्ध किया है, अगले समयमें उतना ही बन्ध करना अवस्थितबन्ध है। (गो. क./मू /४६६/६१५,५६३-५६४/७६४) (गो. क /जी. प्र./४५३/६०२/५)। बधका अभाव होनेके बाद पुन' बाँधता है यह अवक्तव्यबन्ध है।

गो. क./जी प्र /४७०/६१६/१० सामान्येन भङ्गविवक्षामकृत्वा अवक्तव्य-बन्ध। =सामान्यपनेसे भङ्ग विवक्षाको किये बिना अवक्तव्यबन्ध है।

२. प्रकृतियोंका विभाग निर्देश

१. पुण्य पाप रूप प्रकृतियोकी अपेक्षा

त.सू /८/२५-२६ सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम्।२५। अतोऽन्यत्पापम्।।२६।=साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये प्रकृतियाँ पुण्यरूप है।२५। इनके सिवा शेष सत्र प्रकृतियाँ पाप रूप है।२६। (न. च. वृ./१६१); (द्र. स /मू /३८), (गो. जी./जी. प्र /६४३/१०६५/३)।

पं.स./प्रा /४५३-४५६ साय तिण्णेवाऊग मणुयदुग देवदुव य जाणाहि। पचसरीरं पचिदियं च सठाणमाईय।४५३। तिण्णि य अंगोवग पसत्थविहायगइ आइसघयण। वण्णचउक्कं अगुरु य परघादुस्सास उज्जोवं।४५४। आदाव तसचउक्कं थिर सुह सुभग च सुस्सरं णिमिणं। आदेज्ज जसकित्ती तित्थयरं उच्च बाद्यानं।४५५। णाणा-तरायदसयं दंसणणव मोहणीय छव्वीस। णिरयगइ तिरियदोण्णि य तेसिं तह आणुपुव्वीयं।४५६। संठाणं पचेव य संघयणं चेव होंति पंचेव। वण्णचउक्कं अपसत्थविहायगई य उवघायं।४५७। एइंदिय-णिरयाऊ तिण्णि य वियलिदियं असायं च। अप्पज्जत्त थावर सुहुमं साहारणं णाम।४५८। दुब्भग दुस्सरमजस अणाइज्ज चेव अथिरमसुहं च। णीचागोदं च तहा वासीदी अप्पसत्थं तु।४५९।

गो. क /मू /४२,४४/४४-४५ अट्ठसट्ठी बादालमभेददो सत्था।४२। बंधुदय पडिभेदे अडणउदि सय दुचदुरसीदिदरे।४४। =**पुण्य-प्रकृतियाँ**—साता वेदनीय, नरकायुके बिना तीन आयु, मनुष्य द्विक, देवद्विक, पाँच शरीर, पंचेन्द्रिय जाति, आदिका समचतुरस्र सस्थान, तीनों अगोपाग, प्रशस्त विहायोगति, आदिका वज्रवृषभ-नाराच सहनन, प्रशस्तवर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, परघात, उच्छ्वास, उद्योत, आतप, त्रस चतुष्क, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, निर्माण, आदेय, यशस्कीर्ति, तीर्थंकर और उच्चगोत्र, ये ब्यालीस प्रशस्त, शुभ या पुण्य प्रकृतियाँ है।४५३–४५५। २ **पाप प्रकृतियाँ**—ज्ञानावरणकी पाँच, अन्तरायकी पाँच, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीय-की छब्बीस, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गति, तिर्यग्गत्यानु-पूर्वी, आदिके बिना शेप पाँच सस्थान आदिके बिना शेष पाँचों सहनन, अप्रशस्त वर्ण चतुष्क, अप्रशस्त विहायोगति, उपघात, एकेन्द्रिय जाति, नरकायु, तीन विकलेन्द्रिय जातियाँ, असाता वेदनीय, अपर्याप्त, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, दुर्भग, दुस्वर, अयश कीर्ति, अनादेय, अस्थिर, अशुभ, और नीचगोत्र, ये ब्यासी (८२) अप्रशस्त, अशुभ या पापप्रकृतियाँ है।४५६–४५९। ३. भेद अपेक्षासे ६८ प्रकृति पुण्य रूप है और अभेद विवक्षाकरि पाँच बन्धन, ५ सघात और १६ वर्णादिक घटाइये ८२ प्रकृति प्रशस्त है।४२। भेद विवक्षाकरि सम्बन्ध रूप ९८ प्रकृतियाँ है, उदयरूप १०० प्रकृतियाँ है। अभेद विवक्षाकरि वर्णादि १६ घटाइ बन्धरूप ४२ प्रकृति है उदय रूप ८४ प्रकृति है।४४। (स सि /८/२५–२६/४०४/३), (रा वा./८/२५–२६/५८६/६,१५), (गो क /मू./४१–४४/४४), (द्र स /टी./३८/१५८/१०), (प स./स /४/२७५–२८४)।

२. जीव, पुद्गल, क्षेत्र व भवविपाकीकी अपेक्षा

पं. सं /प्रा /४९०–४९३ पण्णरस छ तिय छ पंच दोण्णि पंच य हवति अट्ठेव। सरीरादिय फासंता। य पयडीओ आणुपुव्वीए।४९०। अगुरुयलहुगुवघाया परघाया आदवुज्जोव णिमिणणाम च। पत्तेय-

१७-१९/१७), (गो. क./मू./४०४-४०७/५६८), (प. सं./सं./3/-६३-१०१)।

६. सादि अनादि बन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा

प. सं./प्रा./४/२३५-२३६ साइ अणाइ य धुव अद्धुवो य बंधो दु कम्म-छक्कस्स। तइए साइयसेसा अणाइधुव सेसओ आऊ।२३५। उत्तर-पयडीसु तहा धुवियाणं बध चउवियप्पो दु। सादिय अद्धुवियाओ सेसा परियत्तमाणीओ।२३६। = १. मूल प्रकृतियोंकी अपेक्षा—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, नाम, गोत्र और अन्तराय, इन छह कर्मोंका सादि, अनादि, ध्रुव और अध्रुव चारों प्रकारका बन्ध होता है। वेदनीय कर्मका सादि बन्धको छोडकर शेष तीन प्रकारका बन्ध होता है। आयुकर्मका अनादि और ध्रुव बन्धके सिवाय शेष दो प्रकारका बन्ध होता है।२३५। २ उत्तर प्रकृतियोंकी अपेक्षा—उत्तर प्रकृतियोंमें जो सेतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ है. उनका चारों प्रकारका बन्ध होता है। तथा शेष बची जो तेहत्तर प्रकृतियाँ है, उनका सादिबन्ध और अध्रुव बन्ध होता है।२३६। (गो क./मू./१२४/१२६)।

७. ध्रुव व अध्रुव बन्धी प्रकृतियोंकी अपेक्षा

पं. सं./प्रा./४/२३७ आवरण विग्घ सव्वे कसाय मिच्छत्त णिमिण वण्णचदू। भयणिंदागुरुतेयाकम्मुवघाय धुवाउ सगदालं।२३७।

१ ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ—पाँच ज्ञानावरण, नौ दर्शनावरण, पाँच अन्तराय, सभी अर्थात् सोलह कषाय, मिथ्यात्व, निर्माण, वर्णादि चार, भय, जुगुप्सा, अगुरुलघु, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, और उपघात, ये सैतालीस ध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ है।२३७। (पं. स./प्रा./२/६), (प. स./स./३/४२-४३), (पं. स./स./४/१०७-१०८), (गो क./जी प्र./१२४/१२६/६)।

२ अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ—निष्प्रतिपक्ष और सप्रतिपक्षके भेदसे परिवर्तमान (अध्रुवबन्धी) प्रकृतियोंके दो भेद है। अत देखो 'अगला शीर्षक'।

८. सप्रतिपक्ष व अप्रतिपक्ष प्रकृतियोंकी अपेक्षा

प. स./प्रा./२३८-२४० परघादुस्सासाणं आयावुज्जोवमाउ चत्तारि। तित्थयराहारदुय एक्कारस होंति सेसाओ।२३८। सादियरं वेयावि हस्साइचउक्क पच जाईओ। सठाणं सघयण छच्छक्क चउक्क आणु-पुव्वीय य।२३९। गइ चउ दोय सरीर गोय च य दोण्णि अंगवगा य।२३९। दह जुयलाण तमाइं गयणगइदुअ विसट्ठिपरिवत्ता।२४०।

१. निष्प्रतिपक्ष प्रकृतियाँ—परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, चारो आयु, तीर्थंकर और आहारक द्विक ये ग्यारह अध्रुव निष्प्रतिपक्ष प्रकृतियाँ है।२३८। (प सं./प्रा./२१०), (गो. क./मू./१२५), (प. स./स./२/४४), (प स./स./४/१०९-११०)।

२. सप्रतिपक्ष प्रकृतियाँ—साता वेदनीय, असाता वेदनीय, तीनों वेद, हास्यादि चार (हास्य, रति, अरति, और शोक), एकेन्द्रियादि ५ जातियाँ, छह सस्थान, छह सहनन, ४ आनुपूर्वी, ४ गति, औदारिक और वैक्रियक ये दो शरीर तथा इन दोनोंके दो अगोपाग, दो गोत्र, त्रसादि दश युगल (त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुस्वर, सुभग, आदेय, यश कीर्ति ये २०) और दो विहायोगति, ये बासठ सप्रतिपक्ष अध्रुवबन्धी प्रकृतियाँ है।२३९-२४०। (प. स./प्रा./२/११-१२), (गो क./मू./१२५/१२७); (प स./स./२/४५-४६), (प. सं./स./४/१११-११२)

९. अन्तर्भाव योग्य प्रकृतियाँ

गो. क./मू./३४/३६ देहे अविणाभावी बंधणसंघाद इदि अबंधुदया। वण्णचउक्केऽभिण्णे गहिदे चत्तारि बंधुदये।३४। =पाँचों प्रकारके शरीरोंका अपना-अपना बन्धन व सघात अविनाभावी है। इसलिए बन्ध और उदयमे पाँच बन्धन व पाँच सघात ये दशों जुदे न कहे शरीर प्रकृति विषै गर्भित किये। तथा अभेद विवक्षासे वर्णादिककी मूलप्रकृति चार ही ग्रहण की, २० नहीं।

३. प्रकृति बन्ध निर्देश

१. आठ प्रकृतियोंके आठ उदाहरण

प. सं./प्रा./२/३ पड पडिहारसिमज्जाहडि चित्त कुलालभंडयारीणं। जह एदेसिं भावा तह वि य कम्मा मुणेयव्वा।३। =पट (देव-मुखका आच्छादक वस्त्र) प्रतीहार (राजद्वारपर बैठा हुआ द्वारपाल) असि (मधुलिप्त तलवार) मद्य (मदिरा) हडि (पैर फँसानेका खोडा) चित्रकार (चितेरा) कुम्भकार और भण्डारी (कोषाध्यक्ष) इन आठोंके जैसे अपने-अपने कार्य करनेके भाव होते है, उस ही प्रकार क्रमश कर्मोंके भी स्वभाव समझना चाहिए।३। (गो. क./मू./२१/१५), (गो. क./जी. प्र./२०/१३/१३), (द्र. स./टी./३३/९२/८)।

२. पुण्य व पाप प्रकृतियोंका कार्य

प. प्र./मू./२/६३ पावें णारउ तिरिउ जिउ पुण्णें अमरु वियाणु। मिस्सें माणुस-गइ लहइ दोहि वि खइ णिव्वाणु।६३। =यह जीव पापके उदयसे नरकगति और तिर्यंच गति पाता है, पुण्यसे देव होता है, पुण्य और पापके मेलसे मनुष्य गतिको पाता है, और दोनोंके क्षयसे मोक्षको पाता है। (और भी दे०—'पुण्य' व 'पाप'।

३. अघातिया कर्मोंका कार्य

क. पा. १/१,१/७०/९६ पर विशेषार्थ—जिनके उदयका प्रधानतया कार्य ससारकी निमित्तभूत सामग्रीको प्रस्तुत करना है, उन्हें अघातिया-कर्म कहते है।

दे० वेदनीय/२ (वेदनीयकर्मके कारण नाना प्रकारके शारीरिक सुख दुख-के कारणभूत बाह्य सामग्रीकी प्राप्ति होती है।)

४. प्रकृति बन्ध विषयक शंका-समाधान

१. बध्यमान व उपशान्त कर्ममें 'प्रकृति' व्यपदेश कैसे

ध १२/४,२,१०,२/३०३/२ प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मन इति प्रकृतिशब्दव्युत्पत्तेः। ·उदीर्णस्य भवतु नाम प्रकृतिव्यपदेशः, फलदातृत्वेन परिणतत्वात्। न बध्यमानोपशान्तयोः, तत्र तदभावा-दिति। न, त्रिष्वपि कालेषु प्रकृति शब्दसिद्धेः। तेण जो कम्मक्खंधो जीवस्स वट्टमाणकाले फल देइ जो च देइस्सदि. एदेसिं दोण्णं पि कम्मक्खधाणं पयडित्तं सिद्ध। अधवा, जहा उदिण्ण वट्टमाणकाले फलं देदि, एवं वज्झमाणुवसतापि वि वट्टमाणकाले वि देंति फल, तेहि विणा कम्मोदयस्स अभावादो।·· भूदभविस्सपज्जायाणं वट्टमाणत्तब्भुवगमादो वा णेगमणयम्मि एसावुप्पत्ती घडदे। =जिसके द्वारा आत्माको अज्ञानादि रूप फल किया जाता है वह प्रकृति है, यह प्रकृति शब्दकी व्युत्पत्ति है। प्रश्न—उदीर्ण कर्म पुद्गल स्कन्धकी प्रकृति सज्ञा भले ही हो, क्योंकि वह फलदान स्वरूपसे परिणत है। बध्यमान और उपशान्त कर्म-पुद्गल स्कन्धों-की यह सज्ञा नहीं बन सकती, क्योंकि, उनमें फलदान स्वरूपका अभाव है? उत्तर—१ नहीं, क्योंकि तीनो ही कालोंमें प्रकृति शब्दकी सिद्धि की गयी है। इस कारण जो कर्म-स्कन्ध वर्तमान कालमें फल देता है और भविष्यत्में फल देगा, इन दोनो ही कर्म स्कन्धोंकी प्रकृति सज्ञा सिद्ध है। २ अथवा जिस प्रकार उदय प्राप्त कर्म वर्तमान कालमें फल देता है, उसी प्रकार बध्यमान और उपशम भावको प्राप्त कर्म भी वर्तमान कालमें भी फल देते है, क्योंकि, उनके बिना

कर्मोदयका अभाव है। ३. अथवा भूत व भविष्यत् पर्यायोंको वर्तमान रूप स्वीकार कर लेनेसे नैगम नयमें यह व्युत्पत्ति बैठ जाती है।

२. प्रकृतियोंकी संख्या सम्बन्धी शंका

ध. ६/१,९-१,१३/१४/५ अट्ठेव मूलपयडीओ। त कुदो णव्वदे। अट्ठकम्मजणिदकज्जेहितो पुधभूदकज्जस्स अणुवलंभादो। —प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि मूल प्रकृतियाँ आठ ही हैं? उत्तर—आठ कर्मोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले कार्योंसे पृथग्भूत कार्य पाया नहीं जाता, इससे जाना जाता है कि मूल प्रकृतियाँ आठ ही हैं।

नोट—(उत्तर प्रकृतियोंकी संख्या सम्बन्धी शंका समाधान—दे०—उस उस मूल प्रकृतिका नाम)।

३. एक ही कर्म अनेक प्रकृति रूप कैसे हो जाता है

स. सि /८/४/३८१/२ एकेनात्मपरिणामेनादीयमाना पुद्गला ज्ञानावरणाद्यनेकभेदं प्रतिपद्यन्ते सकृदुपभुक्तान्नपरिणामरसरुधिरादिवत्। =एक बार खाये गये अन्नका जिस प्रकार रस, रुधिर आदि रूपसे अनेक प्रकारका परिणमन होता है उसी प्रकार एक आत्मपरिणामके द्वारा ग्रहण किये गये पुद्गल ज्ञानावरणादि अनेक भेदोंको प्राप्त होते हैं। (गो क /जी. प्र /३३/२७/४)।

रा वा /८/४/३,७/५६८/६ यथा अन्नादेरभ्यवह्रियमाणस्यानेकविकारसमर्थवातपित्तश्लेष्मखलरसभावेन परिणामविभाग तथा प्रयोगापेक्षया अनन्तरमेव कर्माणि आवरणानुभवन-मोहापादन-भवधारण-नानाजातिनामगोत्र-व्यवच्छेदकरणसामर्थ्यवैश्वरूप्येण आत्मनि सन्निधान प्रतिपद्यन्ते ।३। यथा अम्भो नभस पतदेकरसं भाजनविशेषात् विष्वग्रसत्वेन विपरिणमते तथा ज्ञानशक्त्युपराधस्वभावाविशेषात् उपनिपतत् कर्म प्रत्यात्मं सामर्थ्यभेदात् मत्याद्यावरणभेदेन व्यवतिष्ठते ।७। =१. जिस प्रकार खाये हुए भोजनका अनेक विकारमें समर्थ वात, पित्त, श्लेष्म, खल, रस आदि रूपसे परिणमन हो जाता है। उसी तरह बिना किसी प्रयोगके कर्म आवरण, अनुभव, मोहापादन, नाना जाति नाम गोत्र और अन्तराय आदि शक्तियोंसे युक्त होकर आत्मामें बन्ध जाते हैं।३। २. जैसे—मेघका जल पात्र विशेषमें पडकर विभिन्न रसोंमें परिणमन कर जाता है (अथवा हरित पल्लव आदि रूप परिणमन हो जाता है। (प्र. सा) उसी तरह ज्ञान शक्ति का उपरोध करनेसे ज्ञानावरण सामान्यत एक होकर भी अनन्तर शक्ति भेदसे मत्यावरण श्रुतावरण आदि रूपसे परिणमन करता है। इसी तरह अन्य कर्मोंका भी मूल और उत्तर प्रकृति रूपसे परिणमन हो जाता है।

ध १२/४,२,८,११/२८७/१० कम्मइयवग्गणाए पोग्गलक्खधा एगसरूवा कध जीवसबधेण अट्ठभेदमाढउक्कते। ण. मिच्छत्तासजम-कसाय-जोगपच्चयावट्ठभवलेण समुप्पण्णट्ठसत्तिसंजुत्तजीवसबधेण कम्मइयपोग्गलक्खधाण अट्ठकम्मायारेण परिणमण पडिविरोहाभावादो। =प्रश्न—कार्मण वर्गणाके पौद्गलिक स्कन्ध एक स्वरूप होते हुए जीवके सम्बन्धसे कैसे आठ भेदको प्राप्त होते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगरूप प्रत्ययोंके आश्रयसे उत्पन्न हुई आठ शक्तियोंसे संयुक्त जीवके सम्बन्धसे कार्मण पुद्गल-स्कन्धोंका आठ कर्मोंके आकारसे परिणमन होनेमें कोई विरोध नहीं है।

४. एक ही पुद्गल कर्ममें अनेक कार्य करनेकी शक्ति कैसे

रा. वा /८/४/६-१४/५६८/२६ पुद्गलद्रव्यस्यैकस्यावरणसुखदु खादिनिमित्तत्वानुपपत्तिर्विरोधात ।६। न वा, तत्स्वाभाव्यादग्नेर्दाहपाकप्रतापप्रकाशसामर्थ्यवत् ।१०। अनेकपरमाणुस्निग्धरूक्षबन्धापादितानेकात्मकत्वपर्यायाभिधानात् स्यादेतत्। तदपि नास्ति विरोधः। ।११। [illegible] दृष्टत्वात्। ...यथा पृथिव्युदकाग्निवायुभिरारब्धानां भिन्नजातीयानां क्षीरादि[illegible], [illegible] इष्ट अचेतनमपि इति ।१२। [illegible] न विरोध इति; तन्न. किं कारणम्। [illegible] वृत्तिभेदात्। [illegible] भिन्नानि [illegible] भिन्ना ।१३। यथा [illegible] क्षीरेण तेजोजातीयस्य [illegible] अचेतनेनापि कर्मणा आत्मनोऽनुग्रह [illegible]। —प्रश्न—पुद्गल द्रव्य एक है, तो वह आवरण और सुख-दुखादि अनेक कार्योंका निमित्त नहीं हो सकता? उत्तर—ऐसा ही स्वभाव है। जैसे एक ही अग्निमें दाह, पाक, प्रताप और सामर्थ्य है, उसी तरह एक ही पुद्गलमें आवरण और सुख दुखादिमें निमित्त होनेकी शक्ति है, इसमें कोई विरोध नहीं है। २. द्रव्य दृष्टिसे पुद्गल एक होकर भी अनेक परमाणुके स्निग्ध-रूक्ष बन्धसे होनेवाली विभिन्न स्कन्ध पर्यायोंकी दृष्टिसे अनेक है, इसमें कोई विरोध नहीं है। ३. जिस प्रकार वैशेषिकके यहाँ पृथिवी, जल, अग्नि और वायु परमाणुओंसे निष्पन्न भिन्न जातीय इन्द्रियोंका एक ही दूध या घी उपकार होता है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिए। ४. जैसे इन्द्रियाँ भिन्न हैं, वैसे उनमें होनेवाली वृत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसे पृथिवी जातीय दूधसे तेजो जातीय चक्षुका उपकार होता है उसी तरह अचेतन कर्मसे भी चेतन आत्माका अनुग्रह आदि हो सकता है। अतः भिन्न जातीय द्रव्योंमें परस्पर उपकार माननेमें कोई विरोध नहीं है।

५. आठों प्रकृतियोंके निर्देशका यही क्रम क्यों

रा. वा /८/४/१६-२३,५६९/२० क्रमप्रयोजनं ज्ञानेनात्मनोऽधिगमात्। ततो दर्शनावरणवचनमनाकारोपलब्धे। ..साकारोपयोगादि अनाकारोपयोगो निकृष्यते अनभिव्यक्तग्रहणात्। उभयोस्तु प्रकृष्यते दर्शोपलब्धितन्त्रत्वात् ।१७। तदनन्तरं वेदनावचनं तदव्यभिचारात् ।... ज्ञानदर्शनाव्यभिचारिणी हि वेदना घटादिष्वप्रवृत्ते ।१८। ततो मोहाभिधानं तद्विरोधात।. क्वचिद्विरोधदर्शनाद्.. न सर्वत्र। मोहाभिभूतस्य हि कस्यचित् हिताहितविवेकादिर्नास्ति ।१९। आयुर्वचनं तन्नमीपे तन्निबन्धनत्वात्। .. आयुर्निबन्धनानि हि प्राणिना सुखादीनि ।२०। तदनन्तरं नामवचनं तदुदयापेक्षत्वात प्रायो नामोदयस्य ।२१। ततो गोत्रवचनं प्राप्तशरीरादिलाभस्य संशब्दनाभिव्यक्ते ।२२। परिशेषादन्ते अन्तरायवचनम् ।२३। =१ ज्ञानसे आत्माका अधिगम होता है अत स्वाधिगमका निमित्त होनेसे वह प्रधान है, अत ज्ञानावरणका सर्वप्रथम ग्रहण किया है ।१६। २ साकारोपयोग रूप ज्ञानसे अनाकारोपयोगरूप दर्शन अप्रकृष्ट है परन्तु वेदनीय आदिसे प्रकृष्ट है क्योंकि उपलब्धि रूप है, अत दर्शनावरणका उसके बाद ग्रहण किया ।१७। ३ इसके बाद वेदनाका ग्रहण किया है, क्योंकि, वेदना ज्ञान-दर्शनकी अव्यभिचारिणी है, घटादि रूप विषयमें नहीं पायी जाती ।१८। ४. ज्ञान, दर्शन और सुख-दु ख वेदनाका विरोधी होनेसे उसके बाद मोहनीयका ग्रहण किया है। यद्यपि मोही जीवोंके भी ज्ञान, दर्शन, सुखादि देखे जाते हैं फिर भी प्राय. मोहाभिभूत प्राणियोंको हिताहितका विवेक आदि नहीं रहते। अत. मोहका ज्ञानादिसे विरोध कह दिया है ।१९। ५. प्राणियोंको आयु निमित्तक सुख-दु ख होते हैं। अत आयुका कथन इसके अनन्तर किया है। तात्पर्य यह है कि प्राणधारियोंको ही कर्म निमित्तक सुखादि होते हैं और प्राण धारण आयुका कार्य है ।२०। ६ आयुके उदयके अनुसार ही प्राय गति आदि नामकर्मका उदय होता है अत आयुके बाद नामकर्मका ग्रहण किया है ।२१। ७. शरीर आदिकी प्राप्तिके बाद ही गोत्रोदयसे शुभ अशुभ आदि व्यवहार होते

है। अत नामके बाद गोत्रका कथन किया गया है।२२। ८. अन्य कोई कर्म बचा नहीं है अत अन्तमें अन्तराय का कथन किया गया है।२३।

गो. क./मू./१६-२० अब्भरहियादु पुव्वं णाणं तत्तो हि दंसणं होदि। सम्मत्तमदो विरियं जीवाजीवगदमिदि चरिमे।१६। आउबलेण अवट्ठिदि भवस्स इदि णाममाउपुव्वं तु। भवमस्सिय णीचुच्चं इदि गोद णामपुव्वं तु।१८। णाणस्स दंसणस्स य आवरणं वेयणीय-मोहणीयं। आउगणामं गोदंतरायमिदि पढिदमिदि सिद्धं।२०। =१. आत्माके सब गुणोंमें ज्ञानगुण पूज्य है, इस कारण सबसे पहले कहा। उसके पीछे दर्शन, तथा उसके भी पीछे सम्यक्त्वको कहा है। तथा वीर्य शक्ति रूप है। वह जीव व अजीव दोनोंमें पाया जाता है। जीवमें तो ज्ञानादि शक्तिरूप, और अजीव-पुद्गलमें शरीरादिकी शक्ति रूप रहता है। इसी कारण सबसे पीछे कहा गया है। इसी-लिए इन गुणोंके आवरण करनेवाले कर्मोंका भी यही क्रम माना है।।१६। २ (अन्तराय कर्म कथंचित अघातिया है, इसलिए उसको सर्व कर्मोंके अन्तमें कहा है) दे० अनुभाग/३/५। ३ नामकर्मका कार्य चार गति रूप शरीरकी स्थिति रूप है। वह आयुकर्म बलसे ही है। इसलिए आयुकर्मको पहले कहकर पीछे नामकर्मको कहा है। और शरीरके आधारसे ही नीचपना व उत्कृष्टपना होता है, इस कारण नामकर्मको गोत्रके पहले कहा है।१८। ४ (वेदनीयकर्म कथंचित् घातिया है। इसलिए उसको घातिया कर्मोंके मध्यमें कहा। दे० अनु-भाग/३/४)। ५. इस प्रकार ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय यह कर्मोंका पाठक्रम सिद्ध हुआ।२०।

६. ध्रुवबन्धी व निरन्तरबन्धी प्रकृतियोंमें अन्तर

ध. ८/३,६/१७/७ णिरंतरबंधस्स धुवबंधस्स को विसेसो। जिस्से पयडीए पच्चओ जत्थ कत्थ वि जीवे अणादिधुवभावेण लब्भइ सा धुवबंधपयडी। जिस्से पयडीए पच्चओ णियमेण सादि-अद्धुओ अंतोमुहुत्तादिकाला-वट्ठाई सा णिरंतरबंधपयडी। = प्रश्न—निरन्तर बन्ध और ध्रुवबन्धमें क्या भेद है? उत्तर—जिस प्रकृतिका प्रत्यय जिस किसी भी जीवमें अनादि एवं ध्रुव भावसे पाया जाता है। वह ध्रुवबन्ध प्रकृति है, और जिस प्रकृतिका प्रत्यय नियमसे सादि एव अध्रुव तथा अन्तर्मुहूर्त आदि काल तक अवस्थित रहनेवाला है वह निरन्तर बन्धी प्रकृति है।

७. प्रकृति और अनुभागमें अन्तर

ध. १२/४,२,७,१९९/९१/७ पयडी अणुभागो किण्ण होदि। ण, जोगादो उप्पज्जमाणपयडीए कसायदो उप्पत्तिविरोहादो। ण च भिण्णकार-णाणं कज्जाणमेयत्तं, विप्पडिसेहादो। किं च अणुभागवुड्ढी पयडि-वुड्ढिणिमित्ता, तीए महतीए सतीए पयडिकज्जस्स अण्णाणादियस्स वुड्ढिदंसणादो। तम्हा ण पयडी अणुभागो त्ति घेत्तव्वो। =प्रश्न—प्रकृति अनुभाग क्यों नहीं हो सकती? उत्तर—१. नहीं, क्योंकि, प्रकृति योगके निमित्तसे उत्पन्न होती है, अतएव उसकी कषायसे उत्पत्ति होनेमें विरोध आता है। भिन्न कारणोंसे उत्पन्न होनेवाले कार्योंमें एक-रूपता नहीं हो सकती, क्योंकि इसका निषेध है। दूसरे, अनुभागकी वृद्धि प्रकृतिकी वृद्धिमें निमित्त होती है, क्योंकि, उसके महान् होनेपर प्रकृतिके कार्य रूप अज्ञानादिककी वृद्धि देखी जाती है। इस कारण प्रकृति अनुभाग नहीं हो सकती, ऐसा जानना चाहिए।

५. प्रकृति बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम

१. युगपत् बन्ध योग्य सम्बन्धी—(गो क./जी. प्र./८००/९७६/५)।

(प्रत्यनीक, अन्तराय, उपघात, प्रद्वेष, निह्नव, आसादन) ये छहो युगपद ज्ञानावरण वा दर्शनावरण दोनोंके बन्धको कारण हैं।

२. सान्तर निरन्तर बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी—(ध. ८/३३/५)।

(विवक्षित उत्तर प्रकृतिके बन्धकालके क्षीण होनेपर नियमसे (उसी मूल प्रकृतिकी उत्तर) प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध सम्भव है।

३. ध्रुव अध्रुव बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी—(ध. ८/२९/४०)।

मूल नियम—(ओघ अथवा निर्देश जिस गुणस्थानमें प्रतिपक्षी प्रकृतियोंका बन्ध होता है उस ओघ या मार्गणा स्थानके उस गुण-स्थानमें उन प्रकृतियोंका अध्रुव बन्धका नियम जानना। तथा जिस स्थानमें केवल एक ही प्रकृतिका बन्ध हे, प्रतिपक्षीका नहीं, उस स्थानमें ध्रुव ही बन्ध जानो। यह प्रकृतियाँ ऐसी है जिनका बन्ध एक स्थानमें ध्रुव होता है तथा किसी अन्य स्थानमें अध्रुव हो जाता है।

४. विशेष प्रकृतियोंके बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम—(ध ८/पृ.); (गो. क/जी. प्र/भा/पृ.)।

प्रमाण	प्रकृति	बन्ध सम्बन्धी नियम
१-२ ज्ञान दर्शनावरण		
गो./८००/९८९	ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी	दोनो युगपत बँधती हैं।
३. वेदनीय		
ध./११८/४०	साता	नरकगतिके साथ न बँधे शेष गतिके साथ बँधे।
ध./११८	असाता	चारों गति सहित बँधे।
ध. ११/३१२	साता, असाता	दोनों प्रतिपक्षी है एक साथ न बँधे।
४. मोहनीय		
ध./५४	पुरुष वेद	नरक गति सहित न बँधे।
ध./६०	हास्य, रति	,,
५. आयु		
गो./६३९/८३६	तिर्यंचायु	सप्तम पृथ्वीमें नियमसे बँधे।
गो./६२५/८०५	मनुष्यायु	तेज, वात, कायको न बँधे।
ध./६३,६५	आयु सामान्य	उस उस गति सहित ही बँधे।
६. नाम		
गो./७२५/८९९	नरक, देवगति	मनुष्य तिर्यंच पर्याप्त ही बँधे अपर्याप्त नहीं।

प्रमाण	प्रकृति	बन्ध सम्बन्धी नियम
गो./७४५/९०३	एकेन्द्रि० जाति अप०	देव नारकी न बाँधे अन्य त्रस स्थावर बांधते हैं।
गो./५४६/७०८	औ० व औ० मिश्र शरीर	देव नरक गति सहित न बँधे।
ध /६६	वै० शरीर	देव नरक गति सहित ही बँधे।
प. स /प्रा./३/९८	तीर्थंकर	सम्यक्त्व सहित ही बँधे।
पं. सं./प्रा./३/९८	आ० दिक्	संयम „ „
गो./५२८/६८६	अंगोपाग सा०	त्रस पर्याप्त व अपर्याप्त सहित ही बँधे।
ध./६६	वैक्रि० अंगोपाग	नरक देव गति सहित ही बँधे
	औ० „	तिर्यंच मनुष्यगति सहित ही बँधे।
गो./५२८/६८६	सहनन सामान्य	त्रस पर्याप्त व अपर्याप्त प्रकृति सहित ही बँधे।
ध /६६	आनुपूर्वी सामान्य	उस उस गति सहित ही बँधे, अन्य गति सहित नहीं।
गो./५२८/६८६	परघात	त्रस स्थावर पर्याप्त सहित ही बँधे।
गो./५२४/६८३	आतप	पृथिवीकाय पर्याप्त सहित ही बँधे।
गो /५२४/६८३	उद्योत	तेज, वात, साधारण वनस्पति, बादर, सूक्ष्म तथा अन्य सर्व सूक्ष्म नहीं बांधते अन्यत्र बँधती है।
गो./५२८/६८६	उच्छ्वास	त्रस स्थावर पर्याप्त सहित ही बँधे।
„	प्रशस्त अप्रशस्त विहायोगति	त्रस पर्याप्त सहित ही बँधे।
„	सुस्वर-दुस्वर	„
ध /७४	स्थिर	नरक गति के साथ न बँधे।
„	शुभ	„
ध./२८	यश कीर्ति	„
ध./९४	तीर्थंकर	नरक व तिर्यंचगतिके साथ न बँधे।
७ गोत्र		
ध./२२	उच्चगोत्र	नरक तिर्यंच गतिके साथ न बँधे।

नोट—जहाँ नियम नहीं कहा वहाँ सर्वत्र ही बन्ध सम्भव जानना।

८. सान्तर निरन्तर बन्धी प्रकृतियों सम्बन्धी नियम—(ध. ८/३)

प्रमाण	प्रकृति	निरन्तर बन्धके स्थान
१. वेदनीय		
	साता	
२. मोहनीय		
५८,२८२,३९४	पुरुष वेद	पद्म शुक्ल लेश्यावाले तिर्यंच मनुष्य १–२ गुणस्थान तक
६०	हास्य	७-८ गुणस्थान
६०	रति	„
३. नाम		
३३,१६६,१६८, १९४,३३२	तिर्यंचगति	तेज, वात, काय, सप्त पृ०, तेज, वात कायसे उत्पन्न हुए, नि अप, जीव या अन्य यथायोग्य मार्गणागत जीव।
२११,२३४,२५२, ३१५,३२२,२१८	मनुष्यगति	आनतादि देव, तथा सासादनसे ऊपर, तथा आनतादिसे आकर उत्पन्न हुए यथा योग्य प. व नि. अप आदि कोई जीव।
६८,२५९,३१४, ६९,२०८	देवगति पंचे० जाति	भोग भूमिया वि. मनुष्य तथा सासादनसे। ऊपर सनत्कुमारादिदेव, नारकी, भोग भूमिज, तिर्यंच, मनुष्य। तथा सासादनसे ऊपर। तथा उपरोक्त देवोंमे आकर उत्पन्न हुए पर्याप्त व नि अप. जीव (पृ. २५९) अन्य कोई भी योग्य मार्गणागत जीव।
७,२११,३८२, ३१५	औ० शरीर	सनत्कुमारादि देव, नारकी व वहाँसे आकर उत्पन्न हुए यथायोग्य प.नि अप, जीव। तथा सासादनसे ऊपर या अन्य
		कोई भी मार्गणागत जीव।
		तेज, वात काय।
—	वै० शरीर	देवगतिवत्।
—	औ०वै० अंगोपांग	औदारिक वैक्रियक शरीरवत्
६८,२५९	समचतुरस्र सं०	देवगतिवत्
४७	वज्र ऋषभ नाराच	सर्वदेवनारकी।
—	ति०, मनु० देव-गत्यानुपूर्वी	उस उस गतिवत्
६९,१९१	परघात	पंचेन्द्रिय जातिवत्
„	उच्छ्वास	„
६८,२५९,३१४	प्र० विहायोगति	देवगतिवत्
६९,२११	प्रत्येक	पंचेन्द्रियजातिवत्
६९,२०८	त्रस	,
६८,२५९,३१४	सुभग	देवगतिवत्
„	सुस्वर	„
६९,२११	बादर	पंचेन्द्रियवत्
„	पर्याप्त	„
६९	स्थिर	प्रमत्त संयतसे ऊपर
६८,२५९,३१४	आदेय	देवगतिवत्
६९	शुभ	प्रमत्त संयतसे ऊपर
	यशःकीर्ति	
४. गोत्र		
२४४,२८२,३१४	उच्च गोत्र	पद्म, शुक्ल लेश्यावाले तिर्यंच मनुष्य १–२ गुणस्थान।
२८		नरक व तिर्यंचगतिके साथ नही बँधता।
१६६-१७६,३४	नीच गोत्र	तिर्यंचगतिवत्।
३४		तेज व वायुकाय तथा सप्तम पृथिवीमें निरन्तर बन्ध होता है।

६. मोह प्रकृति बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम

१. क्रोधादि चतुष्कके बन्ध व्युच्छित्ति सम्बन्धी दृष्टि भेद

ध. ८/३,२४/५६/७ क्रोधसंजलणे विणट्ठे जो अवसेसो अणियट्टिअद्धाए संखेज्जादिभागो तम्हि सखेज्जे खंडे कदे तत्थ बहुभागे गतूण एय-भागावसेसे माणसंजलणस्स बंधवोच्छेदो। पुणो तम्हि एगखंडे संखेज्जखंडे कदे तत्थ बहुखंडे गंतूण एगखंडावसेसे मायासंजलणबंध-वोच्छेदो त्ति। कधमेदं णव्वदे। 'सेसे सेसे सखेज्जे भागे गतूणे त्ति' विच्छाणिद्देसादो। कसायपाहुडसुत्तेणेदं सुत्तं विरुज्झदि त्ति वुत्ते सच्चं विरुज्झइ, किंतु एयंतग्गहो एत्थ ण कायव्वो, इदमेव तं चेव सच्चमिदि सुदकेवलीहि पच्चक्खणाणीहि वा विणा अवहारिज्जमाणे मिच्छत्तप्पसंगादो। =संज्वलन क्रोधके विनष्ट होनेपर जो शेष अनिवृत्तिबादरकालका सख्यातवाँ भाग रहता है उसके सख्यात खण्ड करनेपर उनमें बहुत भागोको बिताकर एक भाग शेष रहनेपर संज्वलन मानका बन्ध व्युच्छेद होता है। पुनः एक खण्डके संख्यात खण्ड करनेपर उनमें बहुत खण्डोको बिताकर एक खण्ड शेष रहनेपर सज्वलन मायाका बन्ध व्युच्छेद होता है। प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है? उत्तर—'शेष शेषमें सख्यात बहुभाग जाकर' इस वीप्सा अर्थात् दो बार निर्देशसे उक्त प्रकार दोनो प्रकृतियोका व्युच्छेद काल जाना जाता है। प्रश्न—कषाय प्राभृतके सूत्रसे तो यह सूत्र विरोधको प्राप्त होता? उत्तर—ऐसी आशका होनेपर कहते है कि सचमुचमें कषाय प्राभृतके सूत्रसे यह सूत्र विरुद्ध है, परन्तु यहाँ एकान्तग्रह नही करना चाहिए, क्योकि, 'यही सत्य है' या 'वही सत्य है' ऐसा श्रुतकेवलियो अथवा प्रत्यक्ष ज्ञानियोके विना निश्चय करनेपर मिथ्यात्वका प्रसग होगा।

२. हास्यादिके बन्ध सम्बन्धी शका समाधान

ध. ८/३,२८/६०/१० णवरि हस्स-रदीओ तिगइसजुत्तं बधइ, तब्बधस्स णिरयगइबधेण सह विरोहादो। =इतना विशेष है कि हास्य और रतिको तीन गतियोसे सयुक्त बाँधता है, क्योकि इनके बन्धका नरकगतिके बन्धके साथ विरोध है।

क. पा ३/३,२२/१६८/७ एदाणि चत्तारि वि कम्माणि उक्कस्ससकिलेसेण किण्ण बज्झंति। ण साहावियादो। =प्रश्न—ये स्त्री वेदादि चारों कर्म उत्कृष्ट सक्लेशसे क्यो नहीं बँधते? उत्तर—नहीं, क्योंकि उत्कृष्ट संक्लेशसे नही बँधनेका इनका स्वभाव है।

क. पा. ३/३,२२/६४८७/२७/६ उक्कस्सट्ठिदिबंधकाले एदाओ किण्ण बज्झति। अच्चसुहत्ताभावादो साहावियादो वा। =प्रश्न—उत्कृष्ट स्थितिके बन्धकालमें ये चारों (क पा ३/३,२२/चूर्णसूत्र/§४८५/२७०) (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, हास्य और रति) प्रकृतियाँ क्यो नही बँधती है? उत्तर—१. क्योकि यह प्रकृतियाँ अत्यन्त अशुभ नही है इसलिए उस कालमें इनका बन्ध नही होता। २. अथवा उस समय न बँधनेका इनका स्वभाव है।

३. शरीर नामकर्म

ध. ८/३,३७/७२/१० अपूर्वकरणके उपरिम सप्तम भागमें इनका (आहारक द्विक) का बन्ध नहीं होता।

गो. क /जी. प्र /५२५/६८४/३ का अनुवाद—आहारकद्विक देवगति सहित ही बान्धै जातै सयतके योग्य जो बन्ध स्थान सो देवगति विना अन्य गति सहित बान्धै नाहीं।

गो.क./जी प्र /५४६/७०८/१ का अनुवाद—देवगति आहारकद्विक सहित स्थान न सभवै है जातैं इसका बन्ध अप्रमत्त अपूर्वकरण विषै ही सभवै है।

४ अंगोपाग नामकर्म

ध. ६/१,६-२,७६/११२/१० एकेन्द्रिय जीवोंमें अगोपांग नहीं होते।

गो. क /जी. प्र./५२८/६८५/१० त्रस पर्याप्त वा अपर्याप्तनि विषै एक किसी प्रकृति सहित छह संहनन, तीन अंगोपाग विषै एक एकका बन्ध हो है।

५. संस्थान नामकर्म

ध.६/१,६-२,६८/१०८/७ का भाषानुवाद—विकलेन्द्रिय जीवोंके हुंडसंस्थान इस एक प्रकृतिका ही बन्ध और उदय होता है। (भावार्थ—तथापि सम्भव अवयवोकी अपेक्षा अन्य भी संस्थान हो सकते है, क्योंकि, प्रत्येक अवयवमें भिन्न-भिन्न संस्थानका प्रतिनियत स्वरूप माना गया है। किन्तु आज यह उपदेश प्राप्त नहीं है कि उनके किस अवयवमें कौनसा संस्थान किस आकाररूपसे होता है। (ध. ६/१, ६-२, १,८/१०७/८ का भावार्थ)।

ध. ६/१,६-२,७६/११२/८ का भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोंके भी हुंडक संस्थानका ही बन्ध व उदय होता है।

६. संहनन नामकर्म

ध.६/१,६-२,६६/१२३/७ का अनुवाद—देवगतिके साथ छहों संहनन नहीं बँधते।

गो. क./जी प्र /५२८/६८५/१० का अनुवाद—त्रस पर्याप्त वा अपर्याप्तनि विषै एक किसी प्रकृति सहित छह संहनन विषैं...एकका बन्ध हो है।

७. उपघात व परघात नामकर्म

गो क /जी. प्र /५२८/६८५/१२ का अनुवाद—पर्याप्त सहित वर्तमान सब ही त्रस स्थावर तिनिकर सहित उच्छ्वास परघात बन्ध योग्य है, अन्य सहित नहीं।

८. आतप उद्योत नामकर्म

ध ६/१,६-२,१०३/१ का अनुवाद—देवगतिके साथ उद्योत प्रकृतिका बन्ध नही होता।

गो.क./जी प्र /५२४/६८३/५ का अनुवाद—पृथ्वीकाय बादर पर्याप्त सहित ही आतप प्रकृति बन्ध योग्य है, अन्य सहित नाही। उद्योत प्रकृति है सो तेज, वायु, साधारण वनस्पती सम्बन्धी बादर सूक्ष्म अन्य सम्बन्धी सूक्ष्म ये अप्रशस्त है तातैं इन विना अवशेष तिर्यंच सम्बन्धी बादर पर्याप्त आदि प्रशस्त प्रकृतिनिविषै किसी प्रकृति सहित बन्ध योग्य है। तातै पृथ्वीकाय बादर पर्याप्त सहित आतप उद्योत विषै एक प्रकृति सयुक्त छब्बीस प्रकृति रूप बन्ध स्थान हो है वा बादर अप्कायिक पर्याप्त, प्रत्येक वनस्पती पर्याप्त विषै किसी करि सहित उद्योत प्रकृति संयुक्त छब्बीस प्रकृति रूप बन्ध स्थान हो है। बहुरि बेंद्री, तेंद्री, चौंद्री, असज्ञी पंचेन्द्रिय, सज्ञी पंचेन्द्री विषै किसी एक प्रकृति करि सहित उद्योत सयुक्त ३० प्रकृति रूप बधस्थान सभवै है।

९. उच्छ्वास नामकर्म

गो. क./जी प्र./५२८/६८६/१२ का अनुवाद—पर्याप्त सहित वर्तमान सर्व ही त्रस स्थावर तिनिकर सहित उच्छ्वास परघात बन्ध योग्य है अन्य सहित नहीं है।

१०. विहायोगति नामकर्म

ध ६/१,६-२,६८/१२४/८ का अनुवाद—(देवगतिके साथ अशुभ प्रकृति नहीं बँधती)।

गो क /जी प्र /५२८/६८५/११ त्रस पर्याप्त सहित ही सुस्वर दुस्वर विषै एकका वा प्रशस्त अप्रशस्तविहायोगतिविषैं एकका बन्ध योग्य है अन्य सहित नाहीं।

११. सुस्वर-दुस्वर, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय

ध. ६/१,९-२,८६/११८/१ का अनुवाद—तीर्थंकर नामकर्मके साथ ध्रुव बन्धी होनेसे दुर्भग दु स्वर और अनादेय, इन प्रकृतियोका नन्ध नहीं होता है।·· संक्लेश कालमें भी सुभग, सुस्वर और आदेय प्रकृतियों-का ही बन्ध पाया जाता है।

ध. ६/१,९-२,९८/१२४/४ का भावार्थ—देवगतिके साथ अप्रशस्त प्रकृतियोका बन्ध नहीं होता है।

गो. क /जी प्र./५२८/६८५/१२ का भावार्थ—त्रस पर्याप्त सहित ही सुस्वर दु स्वर विषैं एकका बन्ध योग्य है। अन्य सहित नहीं।

७. नामकर्मकी प्रकृतियोंके बन्ध सम्बन्धी कुछ नियम

१. गति नामकर्म

ध. ८/३,८/३३/८ तेउक्काइया-वाउक्काइयमिच्छाइट्ठीणं सत्तमपुढविणेरइयमिच्छाइट्ठीणं च भवपडिबद्धसंकिलेसेण णिरंतरबंधोवलंभादो। ··सत्तमपुढविसासणाणं तिरिक्खगइं मोत्तूणण्णगईणं बधाभावादो।

ध. ८/३,१८/४७/४ आणदादिदेवेसु णिरंतरबधं लद्धूण अण्णत्थ सातरबधुवलंभादो।

ध. ८/३,१४५/२०८/१० अपज्जत्तद्धाए तासिं बधाभावादो। =तैजसकायिक और वायुकायिक मिथ्यादृष्टियो तथा सप्तम पृथिवीके नारकी मिथ्यादृष्टियोके भवसे सम्बन्ध सक्लेशके कारण उक्त दोनों (तिर्यग्द्वय) प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध पाया जाता है।·· सप्तम पृथ्वीके सासादन सम्यग्दृष्टियोके तिर्यग्गतिको छोडकर अन्य गतियोंका बन्ध नही होता/३३/८) आनतादि देवोंमें (मनुष्यद्विकको) निरन्तर बन्धको प्राप्तकर अन्यत्र सान्तर बन्ध पाया जाता है/४७/४) अपर्याप्त कालमें उनका (देव व नरक गतिका) बन्ध नहीं होता। (गो क./जी. प्र /५४६/७०८/१)।

ध. ६/१,९-२,६२/१०३/३ णिरयगईए सह जासिमक्कमेण उदओ अत्थि ताओ णिरयगईए सह बधमागच्छंति त्ति केइं भणंति, तण्ण घडदे। =कितने ही आचार्य यह कहते है कि नरकगति नामक नामकर्मकी प्रकृतिके साथ जिन प्रकृतियोंका युगपत उदय होता है, वे प्रकृतियाँ नरकगति नामकर्मके साथ वन्धको प्राप्त होती हैं। किन्तु उनका यह कथन घटित नही होता।

गो. क /जी. प्र /७४५/८९९/५ अष्टाविंशतिकं नरकदेवगतियुतत्वादसंज्ञिसंज्ञितिर्यक्कर्मभूमिमनुष्या एव विग्रहगतिशरीरमिश्रकालावतीत्य पर्याप्तशरीरकाले एव बध्नन्ति। =अठाईसका बन्ध नरक-देवगति युत है। इसलिए असंज्ञी संज्ञी तिर्यंच वा मनुष्य है, ते विग्रहगति मिश्रशरीरको उल्लघकर पर्याप्त कालमें बाँधता है।

२. जाति नामकर्म

गो. क /जी प्र /७४५/८९९/१ देवेषु भवनत्रयसौधर्मद्वयजानामेवैकेन्द्रियपर्याप्तयुतमेव बध २५ एन। =भवनत्रिक सौधर्म द्विक देवनिकै एकेन्द्रिय पर्याप्त युत ही पचीसका बन्ध है।

३ शरीर नामकर्म

ध. ८/३,३७/७२/१० अपुव्वस्सुवरिमसत्तमभागे किण्ण बधो। ण।

गो क /जी. प्र /५२५/६८४/३ आहारकद्वयं देवगत्यैव बध्नन्ति। कुत। सयतबन्धस्थानमितराभिर्गतिभिर्न बध्नातीति कारणात।

गो क /जी. प्र /५४६/७०८/१ नात्र देवगत्याहारकद्वययुतं अप्रमत्ताकरणयोरेव तद्बन्धसंभवात्। =अपूर्वकरणके उपरिम सप्तम भागमें इन (आहारक द्विक) का बन्ध नही होता/ध /८) आहारक द्विक देवगति सहित ही बान्धै जातैं सयतके योग्य जो बन्धस्थान सो देवगति बिना अन्यगति सहित बान्धै नाहीं। (गो. क./५२५)। देवगति आहारक द्विक सहित स्थान न सभवै है जातैं इसका बन्ध अप्रमत्त अपूर्वकरण विषै ही सम्भवै है।

४. अंगोपाग नामकर्म

ध. ६/१,९-२,७६/११२ एइंदियाणमगोवंग णित्थ पत्तदिए। ण।

गो. क./जी. प्र./५२८/६८५/११ त्रसापर्याप्तत्रसपर्याप्तयोरन्यतरबन्धेनैव षट्संहननानां त्र्यङ्गोपाङ्गानां चैकतर बन्धयोग्यं नान्येन। =१. एकेन्द्रिय जीवोंके अगोपांग नहीं होते। २. त्रस पर्याप्त वा अपर्याप्तनि विषै एक किसी प्रकृति सहित छह संहनन, तीन अंगोपांग विषैं एक-एक बध हो है।

५. संस्थान नामकर्म

ध. ६/१,९-२,१८/१०८/७ विगलिंदियाणं बंधो उदओ वि हुंडसंठाणमेवेत्ति।

ध. ६/१,९-२,७५/११२/८ एइंदियाणं छ संठाणाणि णित्थ पत्तविरोहादि। ण पचावयवपरूविदलक्खणपंचसंठाणाणं समूहस्सत्ताए छ संठाणस्थित्तविरोहा। =१. विकलेन्द्रिय जीवोंके हुंडकसंस्थान इस एक प्रकृतिका ही बन्ध और उदय होता है। (भावार्थ—यद्यपि सम्भव अवयवोंकी अपेक्षा उनमें भी संस्थान हो सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक अवयवमें भिन्न-भिन्न संस्थानका प्रतिनियत स्वरूप माना गया है। किन्तु आज यह उपदेश प्राप्त नहीं है कि उनके किस अवयवमें कौनसा संस्थान किस आकार रूपसे होता है। (ध. ६/१,९-२१/८/१०७।८ भावार्थ)। २. एकेन्द्रिय जीवोंके छहों संस्थान नहीं बतलाये क्योंकि प्रत्येक अवयवमें प्ररूपित लक्षणवाले पाँच संस्थानोंको समूह-स्वरूपसे धारण करनेवाले एकेन्द्रियोंके पृथक् पृथक् छह संस्थानोंके अस्तित्वका विरोध है। (अर्थात् एकेन्द्रिय जीवोंके केवल हुंडक-संस्थान ही होता है।)

६. संहनन नामकर्म

ध. ६/१,९-२,६६/१२३/७ देवगदीए सह छ संघडणाणि किण्ण बज्झंति। ण।

गो. क /जी. प्र./५२८/६८५/१० त्रसापर्याप्तत्रसपर्याप्तयोरन्यतरबन्धेनैव षट्संहननानां चैकतर बन्धयोग्यम्। =देवगतिके साथ छहों संहनन नहीं बँधते। २. त्रस पर्याप्त वा अपर्याप्तमेंसे एक किसी प्रकृति सहित छह संहननमेंसे एकका बन्ध होता है।

७. उपघात व परघात नामकर्म

गो. क /जी. प्र./५२८/६८५/१२ पर्याप्तेनैव सम वर्तमानसर्वत्रसस्थावराभ्यां नियमादुच्छ्वासपरघातौ बन्धयोग्यौ नान्येन। =पर्याप्तके साथ वर्तमान सबही त्रस स्थावर तिनिकर सहित उच्छ्वास परघात बन्ध योग्य है, अन्य सहित नहीं।

८. आतप उद्योत नामकर्म

ध. ६/१,९-२,१०२/१२६/१ देवगदीए सह उज्जोवस्स किण्ण बंधो होदि। ण। =देवगतिके साथ उद्योत प्रकृतिका बन्ध नहीं होता।

गो. क./मू व टी./५२९/६८३ भूबादरपज्जत्तेणादाव बधजोग्गमुज्जोवं। तेउतिगूणतिरिक्खपसत्थाण एयदरणेण।५२९। पृथ्वीकायबादरपर्याप्तेनातप बन्धयोग्यो नान्येन। उद्योतस्तेजोवातसाधारणवनस्पतिसबन्धिबादरसूक्ष्माण्यन्यसबन्धिसूक्ष्माणि च अप्रशस्तत्वात् त्यक्त्वा शेषतिर्यक्सम्बन्धिबादरपर्याप्तादिप्रशस्तानामन्यतरेण बन्धयोग्य, तत पृथ्वीकायबादरपर्याप्तेनातपोद्योतान्यतरयुत, बादराप्कायपर्याप्तप्रत्येकवनस्पतिपर्याप्तयोरन्यतरेणोद्योतयुतं च षड्विंशतिकं, द्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपञ्चेन्द्रियकर्मान्यतरेणोद्योतयुत त्रिंशत्कं च भवति। =पृथ्वीकाय बादरपर्याप्त सहित ही आतप प्रकृति बन्धयोग्य है अन्य सहित बन्धै नाहीं। बहुरि उद्योत प्रकृति है सो तेज वायु साधारण वनस्पति सम्बन्धी बादर सूक्ष्म अन्य सबन्धी सूक्ष्म ये अप्रशस्त है तातै इन बिना अवशेष तिर्यंच सम्बन्धी बादर पर्याप्त आदि प्रशस्त प्रकृतिनिविषै किसी

प्रकृति सहित बन्ध योग्य है तातैं पृथ्वीकाय बादरपर्याप्त सहित आतप उद्योत विषै एक प्रकृति संयुक्त छब्बीस प्रकृति रूप बन्ध स्थान है, वा बादर अप्कायिक पर्याप्त, प्रत्येक वनस्पति पर्याप्त विषै किसी करि सहित उद्योत प्रकृति संयुक्त छब्बीस प्रकृति रूप बन्ध स्थान हो है। और बेन्द्री, तेन्द्री, चौन्द्री, पचेन्द्रियसञ्ज्ञी, पंचेन्द्रिय असंज्ञी विषै किसी एक प्रकृतिकरि सहित उद्योत प्रकृतिसंयुक्त तीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान सम्भवै है।

९ उच्छ्वास नामकर्म

गो. क./जी. प्र./५२८/६८६/१२ पर्याप्तैव समं वर्तमानसर्वत्रसस्थावराभ्यां नियमादुच्छ्वासपरघातौ बन्धयोग्यौ नान्येन। =पर्याप्त सहित वर्तमान सर्व ही त्रस स्थावर तिनिकर सहित उच्छ्वास परघात बन्धयोग्य है अन्य सहित नहीं।

१०. विहायोगति नामकर्म

गो क./जी. प्र./५२८/६८५/११ त्रसपर्याप्तबन्धेनैव सुस्वरदुस्वरयोः प्रशस्तविहायोगत्योश्चैकतर बन्धयोग्यं नान्येन। =त्रस पर्याप्त सहित ही सुस्वर दुस्वर विषैं एकका वा प्रशस्त अप्रशस्तविहायोगतिविषै एकका बन्ध योग्य है अन्य सहित नहीं। (देवगतिके साथ अशुभ प्रकृति नहीं बँधती। (ध. ६/१,६-२,६८/१२४/४)।

११. सुस्वर-दुस्वर, दुर्भग-सुभग, आदेय-अनादेय

ध ६/१,६-२,८६/११८/१ दुभग-दुस्सर-अणादेज्जाणं धुवबंधित्तादो संकिलेसकाले वि बज्झमाणेण तित्थयरेण सह किण्ण बंधो। ण तेसिं बंधाणं तित्थयरबंधेण सम्मत्तेण य सह विरोहादो। सकिलेसकाले वि सुभग-सुस्सर-आदेज्जाणं चेव बधुवलंभा। =संक्लेश कालमें भी बँधनेवाले तीर्थंकर नामकर्मके साथ ध्रुवबन्धी होने (पर भी) दुर्भग, दुस्वर और अनादेय इन प्रकृतियोंका बन्ध नहीं होता है, क्योंकि उन प्रकृतियोंके बन्धका तीर्थंकर प्रकृतिके साथ और सम्यग्दर्शनके साथ विरोध है। संक्लेश-कालमें भी सुभग-सुस्वर और आदेय प्रकृतियोंका ही बन्ध पाया जाता है।

ध. ६/१,६-२,६८/१२४/४ का भावार्थ—(देवगतिके साथ अप्रशस्त प्रकृतियोका बन्ध नहीं होता है।)

गो. क /जी. प्र /५२८/६८५/१२ त्रसपर्याप्तेनैव सुस्वर-दुःस्वरयोः ··एकतरं बधयोग्यं नान्येन। =त्रस पर्याप्त सहित ही सुस्वर-दुस्वर विषैं एकका बन्ध योग्य है अन्य सहित नही।

१२. पर्याप्त अपर्याप्त नामकर्म

गो. क./जी. प्र./७४५/८९८/३ एकेन्द्रियापर्याप्तयुतत्वाद्देवनारकेभ्योऽन्ये त्रसस्थावरमनुष्यमिथ्यादृष्टय एव बध्नन्ति। =एकेन्द्रिय अपर्याप्त सहित है तातै इस स्थानको देव नारकी विना अन्य त्रस स्थावर तिर्यंच या मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही बाँधे है।

१३. स्थिर-अस्थिर नामकर्म

ध. ६/१, ६-२,६३/१२२/४ संकिलेसद्धाए बज्झमाण अपज्जत्तेण सह थिरादीण विसोहिपयडीणं बंधविरोहा।

ध. ६/१,६-२,६३/१२४/४ एत्थ अथिरादीणं किण्ण बधो होदि। ण एदासिं विसोहीए बंधविरोहा। =संक्लेशकालमें बँधनेवाले अपर्याप्त नामकर्मके साथ स्थिर आदि विशुद्धि कालमें बँधनेवाली शुभ प्रकृतिके बन्धका विरोध है। २ इन अस्थिर आदि अशुभ प्रकृतियोका (देवगति रूप) विशुद्धिके साथ बँधनेका विरोध है।

१४. यशः अयशः नामकर्म

ध. ६/१,६-२,६८/१२४/४ का भावार्थ (देवगतिके साथ अप्रशस्त कृतियोके बँधनेका विरोध है।)

ध. ८/३,६/२८/७ जसकित्ति पुण णिरयगइं मोत्तूण तिगइसंजुत्तं बंधदि। =यशःकीर्तिको नरकगतिको छोडकर तीन गतियोसे संयुक्त बाँधता है।

६. प्रकृति बन्धकी नियम सम्बन्धी शंकाएँ

१. प्रकृति बन्धकी व्युच्छित्तिका निश्चित क्रम क्यों

ध. ६/१,६-३,२/१३६/७ कुदो एस बधवोच्छेदकमो। असुह-असुहयर-असुहतमभेएण पयडीणमवट्ठाणादो। =प्रश्न—यह प्रकृतियोंके बन्धव्युच्छेदका क्रम किस कारणसे है? उत्तर—अशुभ, अशुभतर और अशुभतमके भेदसे प्रकृतियोका अवस्थान माना गया है। उसी अपेक्षासे यह प्रकृतियोके बन्ध व्युच्छेदका क्रम है।

२. तिर्यग्गति द्विकके निरन्तर बन्ध सम्बन्धी

ध. ८/३३/३,८/३३/७ होदु सातरबंधो पडिवक्खपयडीणं बधुवलंभादो; ण णिरंतरबधो, तस्स कारणाणुवलंभादो त्ति वुत्ते वुच्चदे—ण एस दोसो, तेउक्काइया-वाउक्काइयमिच्छाइट्ठीणं सत्तमपुढविणेरइय-मिच्छाइट्ठीणं च भवपडिबद्धसंकिलेसेण णिरंतरं बधोवलंभादो। =प्रश्न—प्रतिपक्षभूत प्रकृतियोके बन्धकी उपलब्धि होनेसे (तिर्यग्गति व तिर्यग्गति प्रायोग्यानुपूर्वी प्रकृतियोका) सान्तर बन्ध भले ही हो, किन्तु निरन्तर बन्ध नहीं हो सकता, क्योकि उसके कारणोका अभाव है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योकि, तेजकायिक और वायुकायिक मिथ्यादृष्टियो तथा सप्तम पृथिवीके नारकी मिथ्यादृष्टियोके भवसे सम्बद्ध सक्लेशके कारण उक्त दोनो प्रकृतियोंका निरन्तर बन्ध पाया जाता है।

३. पंचेन्द्रिय जाति औदारिक शरीरादिके निरन्तर बन्ध सम्बन्धी

ध ८/३,३२४/३६३/१ पंचिंदियजादि-ओरालियसरीर-अंगोवंग-परघादुस्सास-तस-बादर-पज्जत्त-पत्तेयसरीराणं मिच्छाइट्ठिम्हि सांतरणिरंतरो, सणक्कुमारादिदेवणेरइएसु णिरंतरबंधुवलंभादो। विग्गहगदीए कधं णिरंतरदा। ण, सत्ति पडुच्च णिरंतरत्तुवदेसादो। =पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक शरीरागोपाग, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त और प्रत्येक शरीरका मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें सान्तर-निरन्तर बन्ध होता है, क्योकि, सनत्कुमारादि देव और नारकियोंमें उनका निरन्तर बन्ध पाया जाता है। प्रश्न—विग्रहगतिमें बन्धकी निरन्तरता कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योकि, शक्तिकी अपेक्षा उसकी निरन्तरताका उपदेश है।

४. तिर्यग्गतिके साथ साताके बन्ध सम्बन्धी

ध. ८/३,१३/४०/१ अप्पसत्थाए तिरिक्खगईए सह कधं सादबंधो। ण, णिरयगइं व अच्चतिय अप्पसत्थत्ताभावादो। =प्रश्न—अप्रशस्त तिर्यग्गतिके साथ कैसे साता वेदनीयका बन्ध होना सम्भव है। उत्तर—नही, क्योकि तिर्यग्गति नरकगतिके समान अत्यन्त अप्रशस्त नही है।

५. हास्यादि चारों उत्कृष्ट संक्लेशमें क्यों न बँधे

क. पा. ३/३,२२/१६८/७ एदाणि चत्तारि वि कम्माणि उक्कस्ससकिलेसेण किण्ण बज्झंति। ण, साहावियादो। =प्रश्न—ये स्त्रीवेद आदि (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, हास्य और रति) चारो कर्म उत्कृष्ट सक्लेशसे क्यो नहीं बँधते है? उत्तर—नहीं, क्योकि उत्कृष्ट संक्लेशसे नहीं बँधनेका इनका स्वभाव है।

७. प्रकृति बन्ध विषयक प्ररूपणाएँ

१. सारणीमें प्रयुक्त संकेतोंका परिचय

संकेत	अर्थ
मिथ्या०	मिथ्यात्व
सम्य०	सम्यक्त्वमोहनीय
मिश्र०	मिश्र मोहनीय
अनन्तानु०	अनन्तानुबन्धी चतुष्क
अप्र०	अप्रत्याख्यान चतुष्क
प्र०	प्रत्याख्यान चतुष्क
सं०	संज्वलन ,,
नपुं०	नपुंसक वेद
पु०	पुरुष वेद
हा० चतु०	हास्य, रति, अरति, शोक
तिर्य०	तिर्यंच
मनु०	मनुष्य
नरक, तिर्य०, मनु० देव द्वि०	वह वह गति व आनुपूर्वीय
नरक, तिर्य०, मनु०, देव, त्रिक०	वह वह गति, आनुपूर्वी व आयु
चतु०	वह वह गति, आनुपूर्वी, यथायोग्य शरीर व अंगोपांग
आनु०	आनुपूर्वीय
औ०	औदारिक
वै०	वैक्रियक
आ०	आहारक
औ०, वै०, आ० द्विक	वह वह शरीर व अंगोपांग बन्धन संघात
,, चतु०	शरीर, अंगोपांग, बन्धन, व संघात
तीर्थ	तीर्थंकर
भु	भुज्यमान आयु
ब	बध्यमान आयु
वैक्रि० षट्क	नरक गति व आनुपूर्वी, देवगति व आनुपूर्वी, वैक्रियक शरीर व अंगोपांग।

२. बन्ध व्युच्छित्ति ओघ प्ररूपणा

(ष ख. ८/सू. १-३८/३०-७३); (म. बं. १/§ १६-३६/३२-४१); (पं. सं./प्रा. ३/६-२६; ४/३०७-३२५, ५/४७७-४८१) (पं. सं./सं. ३/१६-३६, ४/१६४); (रा. वा/६/१/२५-२६/५६०-५६१); (गो क./६५-१०२/८२-८६)।

१. कुल बन्ध योग्य प्रकृतियाँ

दृष्टि न० १ वर्णादिक ४ की २० उत्तर प्रकृतियोंमेंसे एक समयमें अन्यतम चारका ही बन्ध होता है। तातैं १६का ग्रहण नाहीं। बन्धन, संघातकी १० प्रकृतियोंका स्व स्व शरीरमें अन्तर्भाव हो जानेसे इन १० का भी ग्रहण नाहीं। सम्यक्त्व व मिश्र मोहनीय उदय योग्य हैं परबन्ध योग्य नहीं, मिथ्यात्वके ही तीन टुकडे हो जानेसे इनका सत्त्व हो जाता है। तातैं कुल बन्ध योग्य प्रकृतियाँ १४८—(१६+१०+२)=१२०। देखो (प्रकृति बन्ध)।

दृष्टि न० २ (पं. सं/सं/२) १४८ प्रकृतियाँ ही अपने-अपने निमित्तको पाकर बन्ध और उदयको प्राप्त होती हैं।

गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध प्रकृतियाँ	पुन बन्ध प्रकृतियाँ	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्ति	शेष बन्ध योग्य
मिथ्यात्व	मिथ्यात्व, नपुं०, हुडक, सृपाटिका, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म अपर्याप्त, साधारण, नरक त्रिक =१६	तीर्थ०, आ० द्वि०=३	×	१२०	३	×	११९	१६	१०१
सासादन	अनन्तानु० चतु०, स्त्यान० त्रिक०, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्य० परि०, स्वाति, कुब्ज, वामन, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलित, अप्रशस्त विहायो०, स्त्रीवेद०, तिर्यक् त्रिक, उद्योत, नीचगोत्र =२५	×	×	१०१	×	×	१०१	२५	७६
मिश्र	×	देव व मनुष्यायु	×	७६	२	×	७४	×	७४
असंयत	अप्रत्याख्यान ४, वज्रऋषभ नाराच, औ० द्विक, मनुष्य त्रिक =१०	×	देव व मनु० तीर्थंकर	७४	×	३	७७	१०	६७
संयतासंयत	प्रत्याख्यान ४ =४	×		६७	×	×	६७	४	६३
प्रमत्त	अस्थिर, अशुभ, अयशःकीर्ति, आसाता, अरति, शोक =६	×	×	६३	×	×	६३	६	५७
अप्रमत्त	देवायु =१	×	आहारकद्विक	५७	×	२	५९	१	५८
अपूर्व०/१	निद्रा, प्रचला =२	×	×	५८	×	×	५८	२	५६
अपूर्व०/२-५	×	×	×	५६	×	×	५६	×	५६
अपूर्व०/६	तीर्थंकर, निर्माण, शुभ विहायो०, पचेन्द्रिय, तैजस, कार्माण, आ० द्वि, वैक्रि० द्वि०, समचतु०, देव द्वि०, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय। =३०	×	×	५६	×	×	५६	३०	२६
अपूर्व०/७	हास्य, रति, भय, जुगुप्सा। =४	×	×	२६	×	×	२६	४	२२

गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ						अबन्ध	पुन' ब	कुलबन्ध योग्य	अबन्ध	पुन' बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्ति	शेष बन्ध योग्य
	सत्त्व स्थान	पुरुष वेद सहित चढा	सत्त्व स्थान	स्त्री वेद सहित चढा	सत्त्व स्थान	नपुंसक वेद सहित								
अनि०/i	२१	×	२१	×	२१	×	×	×	२२	×	×	२२	×	२२
,, /ii	२१	×	२१	×	२१	×	×	×	२२	×	×	२२	×	२२
,, /iii	१३	×	१३	×	१३	×	×	×	२२	×	×	२२	×	२२
,, /iv	१२	×	१३	×	१३	×	×	×	२२	×	×	२२	×	२२
,, /v	११	पुरुष वेद	१२	पुरुष वेद	१३	पुरुष वेद	×	×	२२	×	×	२२	१	२१
अनि०/vi	५	संज्वलन क्रोध	११	सज्वलन क्रोध	११	सज्वलन क्रोध	×	×	२१	×	×	२१	१	२०
,, /vii	४	,, मान	४	,, मान	४	,, मान	×	×	२०	×	×	२०	१	१९
,, /viii	३	,, माया	३	,, माया	३	,, माया	×	×	१९	×	×	१९	१	१८
,, /ix	२	,, लोभ	२	,, लोभ	२	,, लोभ	×	×	१८	×	×	१८	१	१७
सू० सा०	ज्ञानावरणी ५, दर्शनावरणी ४, अन्तराय ५, यश कीर्ति, उच्चगोत्र =१६						×	×	१७	×	×	१७	१६	१
उपशान्त	×						×	×	१	×	×	१	×	१
क्षीण	×						×	×	१	×	×	१	×	१
सयोगी	साता वेदनीय						×	×	१	×	×	१	१	×

३. सातिशय मिथ्यादृष्टिमें बन्ध योग्य प्रकृतियाँ

(ध. ६/१३४); (ल स/११-१५/४६-५२)

गति मार्गणा	कुल बन्ध योग्य	बन्धके अयोग्य प्रकृतियाँ	बन्ध योग्य प्रकृतियाँ
मनुष्यगति	११७	असाता, स्त्रीवेद, नपंसक वेद, आयु चतुष्क, अरति, शोक, नरकगति, तिर्यग्गति, मनुष्यगति, एकेन्द्रिय जाति, द्विइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय. चतुरिन्द्रिय जाति, औदारिक शरीर, आहारक शरीर, न्यग्रोधादि ५ संस्थान औदारिक अंगोपाग, आहारकागोपाग, छहों संहनन, नरकआनुपूर्वी, तिर्यग्गतिआनुपूर्वी, मनु० आनुपूर्वी, आतप, उद्योत, अप्र० विगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, सा० शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश कीर्ति, तीर्थंकर, नीचगोत्र। =४६	५ ज्ञानावरणी, ९ दर्शनावरणी, साता, मिथ्यात्व, अनन्तानु० १६, पुरुष वेद, हास्य. रति, भय, जुगुप्सा, देवगतिद्विक, पंचे० जाति, वैक्रियक शरीर द्विक २, तैजस व कार्माण शरीर, समचतुरस्र सं०, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायो०, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यश कीर्ति, निर्माण, उच्चगोत्र, ५ अन्तराय। =७१
तिर्यग्गति'—	,,	,,	,,
देवगति	१०३	४६—मनुष्य चतुष्क तथा वज्र ऋषभ नाराच सहनन+ देव चतुष्क। =४८	७१—देव चतुष्क+मनुष्य चतुष्क+वजऋषभ नाराच सहनन =७२
नरक गति—			
१-६ पृथिवी	१००	,,	,,
७वीं पृथिवी	९९	४८—तिर्यंच द्विक, नीचगोत्र+मनुष्य द्विक उच्चगोत्र =४८	७२—मनुष्यद्विक, उच्चगोत्र+तिर्यंच द्विक नीच गोत्र =७२
,,	९९	४८—उद्योत =४७	७२+उद्योत =७३

नं.	प्रकृति	बन्ध			
		प्रकृति	स्थिति	अनुभाग	प्रदेश
३२	बादर	है	अंत को.को.	चतु:स्थान	अनुत्कृष्ट
३३	सूक्ष्म	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
३४	पर्याप्त	है	अंत को.को.	चतु:स्थान	अनुत्कृष्ट
३५	अपर्याप्त	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
३६	स्थिर	है	अंत को.को.	चतु:स्थान	अनुत्कृष्ट
३७	अस्थिर	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
३८	आदेय	है	अंत को.को.	चतु:स्थान	अनुत्कृष्ट
३९	अनादेय	नही	नहीं	नहीं	नहीं
४०	यश:कीर्ति	है	अंत को.को.	चतु:स्थान	अनुत्कृष्ट
४१	अयश:कीर्ति	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
४२	तीर्थंकर	नहीं	नहीं	"	"
७	गोत्र—				
	उच्च (सप्तम पृ० में ही)	है	अंत को. को.	चतु स्थान	अनुत्कृष्ट
	नीच	"	"	द्वि स्थान	उत. वा अनु.
८	अन्तराय—				
	पाँचों	है	अंत को.को.	द्वि स्थान	अनुत्कृष्ट

५. बन्ध व्युच्छित्ति आदेश प्ररूपणा

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन: बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन. बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्ति	शेष बन्ध योग्य
१ गति मार्गणा										
१ नरक गति—(म. बं. १/§ ३७/४१); (ष. खं. ८/सू ४३-६२/६३-११२) (गो. क/१०५-१०७/८९-९२)। सामान्य बन्ध योग्य—१२० (देव त्रिक वैक्रि० द्वि, आहा० द्वि०, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अप०, साधारण, नरकत्रिक) १९=१२०-१९=१०१; गुण स्थान=४										
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका =४	तीर्थंकर	×	१०१	१	×	१००	४	९६
	२	ओघवत =२५	×	×	९६	×	×	९६	२५	७१
	३	×	मनुष्यायु	×	७१	१	×	७०	×	७०
	४	ओघवत =१०	×	मनुष्यायु ती १०	७०	×	२	७२	१०	६२
१-३ पृथिवी पर्याप्त		—सामान्यवत्—								
४-६ " "		बन्ध योग्य=१०१—तीर्थंकर=१००, गुणस्थान=४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका=४	×	×	१००	×	×	१००	४	९६
	२-४	—प्रथम पृथिवी पर्याप्तवत्—								
७ पृथिवी पर्याप्त बन्ध योग्य=१०१—मनुष्यायु, तीर्थंकर=९९; गुणस्थान=४										
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका, तिर्यगायु =५	उच्च, मनु० द्वि०	×	९९	३	×	९६	५	९१
	२	ओघवत २५—तिर्यगायु=२४	×	×	९१	×	×	९१	२४	६७
	३	×	×	उच्च, मनु० द्वि०	६७	×	३	७०	×	७०
	४	ओघवत १०—मनुष्यायु =९	×	×	७०	×	×	७०	९	६१
१ पृथिवी अप० बन्धयोग्य=१०१—मनुष्य व तिर्यगायु (मिश्रयोगमें आयु नहीं बँधे)=९९; गुणस्थान=२;										
		(नरक अपर्याप्त सासादन न होय)								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका+सासादनकी २५—तिर्यगायु =२८	तीर्थंकर	×	९९	१	×	९८	२८	७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु =९	×	तीर्थंकर	७०	×	१	७१	९	६२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन: बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन: बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्ति	शेष बन्ध योग्य
२-६ पृथिवी अप० बन्धयोग्य=१०१—मनुष्यायु, तिर्यंचायु, तीर्थंकर=९८; गुणस्थान=१										
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपु०, सृपाटिका+सासादनकी २५—तिर्यंचायु =२८	×	×	९८	×	×	९८	२८	७०
७ वीं पृथिवी अप० बन्ध योग्य=१०१—मनुष्य. तिर्यंचायु, तीर्थंकर, मनुष्य द्वि०, उच्चगोत्र=९६; गुणस्थान=१										
२ तिर्यंच गति—(म. बं./१/§ ३८/४२), (ष ख./८/सू. ६३-७४/११२-१६०), (गो. क./१०८-१०९/९३-९५) सामान्य प० बन्धयोग्य=१२०—तीर्थंकर, आहारक द्विक=११७, गुणस्थान ५										
	१	ओघवत् =१६	×	×	११७	×	×	११७	१६	१०१
	२	ओघवत २५+वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनुष्य त्रिक=३१	×	×	१०१	×	×	१०१	३१	७०
	३	×	देवायु	×	७०	१	×	६९	×	६९
	४	अप्रत्याख्यान ४ =४	×	देवायु	६९	×	१	७०	४	६६
	५	प्रत्याख्यान ४ =४	×	×	६६	×	६६	६६	४	६२
पचेन्द्रिय प०		←— सामान्य तिर्यंचवत —→								
प योनिमति प०		←— ,, ,, —→								
पंचेन्द्रिय नि अप०		बन्धयोग्य=१२०—तीर्थंकर, आहारक द्विक, चारो आयु, नरक द्विक १११; गुणस्थान १, २, ४								
	१	ओघवत् १६—नरक त्रिक =१३	देव द्वि०, वैक्रि० द्वि०	×	१११	४	×	१०७	१३	९४
	२	ओघवत् २५+वज्र वृषभ, औ० द्वि०, मनु० द्वि०-तिर्यगायु=२९	×	×	९४	×	×	९४	२९	६५
	४	अप्रत्याख्यान ४ =४	×	देव द्वि०, वैक्रि० द्वि०	६५	×	४	६९	४	६५
तिर्यंच ल० अप०		बन्धयोग्य=१२०—तीर्थंकर आहारक द्वि०, देव त्रिक, नरक त्रिक, वैक्रि०द्विक=१०९								
३ मनुष्य गति : सामान्य प०		बन्धयोग्य=१२०, गुणस्थान=१४								
	१	ओघवत् =१६	तीर्थ०, आ०द्वि०	×	१२०	३	×	११७	१६	१०१
	२	ओघवत् २५, वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनु० त्रि०	×	×	१०१	×	×	१०१	३१	७०
	३	×	देवायु	×	७०	१	×	६९	×	६९
	४	अप्रत्याख्यान ४ =४	×	देवायु तीर्थ०	६९	×	२	७१	४	६७
	५	प्रत्याख्यान ४ =४	×	×	६७	×	×	६७	४	६३
	६-१४	←— ओघवत —→								
मनुष्यणी प०		←— सामान्य मनुष्यवत —→								
मनु० नि० अप०		बन्धयोग्य=१२०—४ आयु, नरक द्विक, आ० द्वि=११२ गुणस्थान=१, २, ४, ६, १३								
	१	ओघवत १६—नरक त्रिक=१३	देवद्विक, वैक्रि० द्वि, तीर्थ०	×	११२	५	×	१०७	१३	९४
	२	ओघवत् २५+वज्र ऋषभ+औ० द्वि+मनु० द्वि०,—तिर्यगायु =२९	×	×	९४	×	×	९४	२९	६५
	४	अप्रत्याख्यान ४, प्रत्याख्यान ४ =८	×	देव द्विक, वैक्रि० द्वि०, तीर्थ०,	६५	×	५	७०	८	६२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन: बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छित्ति	शेष बन्ध योग्य
	६	अपूर्वकरण ओघवत् ३६-आ० द्वि=३४+९वें की १६, १०वें की १६, ६ठें की ६=६१	×	×	६२	×	×	६२	६१	१
	१३	साता वेदनीय	×	×	१	×	×	१	१	×
मनु० ल. अप.		बन्ध योग्य=१२०–देव त्रिक, नरक त्रिक, वैक्रि० द्वि०, आ० द्वि०, तीर्थ=१०९; गुणस्थान १								
देवगतिः—सामान्य		(ष. खं. ८/सू. ७७-१०१/१६८) (गो. क/१११-११२/९८-१०१) बन्धयोग्य=१२०—सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, २-४ इन्द्रिय, नरकत्रिक, देवत्रिक, वैक्रि० द्वि०, आहारक द्वि०,=१०४,; गुणस्थान=४								
भवनत्रिक-देव पर्याप्त		बन्धयोग्य : सामान्यकी १०४—तीर्थंकर=१०३,								
	१	मिथ्या, हुंडक०, नपुं०, सृपाटिका, एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप =७	×	×	१०३	×	×	१०३	७	९६
	२	ओघवत् २५	×	×	९६	×	×	९६	२५	७१
	३	×	मनुष्यायु	×	७१	१	×	७०	×	७०
	४	ओघवत् =१०	×	मनुष्यायु	७०	×	१	७१	१०	६१
कल्प देवी प.		←———भवन त्रिक वत्———→								
सौधर्म ईशान पर्याप्त		बन्ध योग्य=सामान्य देववत्=१०४; गुणस्थान=४								
	१	मिथ्या, हुंडक, नपु०, सृपाटिका, एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप =७	तीर्थंकर	×	१०४	१	×	१०३	७	९६
	२	ओघवत् =२५	×	×	९६	×	×	९६	२५	७१
	३	×	मनुष्यायु	×	७१	१	×	७०	×	७०
	४	ओघवत =१०	×	मनुष्यायु,तीर्थ०,	७०	×	२	७२	१०	६२
सनत्कुमारादि १० स्वर्ग पर्याप्त		बन्ध योग्य=१०४—एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप=१०१, गुणस्थान=४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका =४	तीर्थंकर	×	१०१	१	×	१००	४	९६
	२	ओघवत =२५	×	×	९६	×	×	९६	२५	७१
	३	×	मनुष्यायु	×	७१	१	×	७०	×	७०
	४	ओघवत =१०	×	मनुष्यायु, तीर्थ.	७०	×	२	७२	१०	६२
आनतादि-४ स्वर्ग व नव ग्रै. प		बन्ध योग्य=१०४—एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप, तिर्यंचत्रिक, उद्योत=९७, गुणस्थान=४								
	१	मिथ्यात्व, हुडक, नपं०, सृपाटिका =४	तीर्थंकर	×	९७	१	×	९६	४	९२
	२	ओघकी २५—तिर्यक्त्रिक, उद्योत =२१	×	×	९२	×	×	९२	२१	७१
	३	×	मनुष्यायु	×	७१	१	×	७०	×	७०
	४	ओघवत =१०	×	मनुष्यायु, तीर्थ	७०	×	२	७२	१०	६२
पंच अनुत्तर व नव अनुदिश प०		बन्ध योग्य=सौधर्मके चतुर्थ गुणस्थानवत=७०, गुणस्थान केवल=१ (चतुर्थ)								

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन. बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	शेष बन्ध योग्य
भवन. त्रि अप.		बन्ध योग्य=१०४—तीर्थंकर, मनुष्य व तिर्यगायु=१०१; गुणस्थान=१, २								
	१	भवनत्रिक पर्याप्तवत् =७	×	×	१०१	×	×	१०१	७	९४
	२	ओघवत् २५—तिर्यंचायु =२४ नोट—सम्यग्दृष्टि यहाँ नहीं उपजते।	×	×	९४	×	×	९४	२४	७०
कल्प देवी अप.		←——भवनत्रिक अपर्याप्तवत्——→								
सौधर्म ईशान अप०		वन्ध योग्य=सामान्य देवकी १०४—मनुष्य, तिर्यंचायु=१०२; गुणस्थान=१,२,४								
	१	सौधर्मपर्याप्तवत् =७	तीर्थंकर	×	१०२	१	×	१०१	७	९४
	२	ओघवत् २५—तिर्यंचायु =२४	×	×	९४	×	×	९४	२४	७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु =९	×	तीर्थंकर	७०	×	१	७१	९	६२
{सनत्कुमा-रादि १० स्वर्गकी अप०		बन्ध योग्य=सामान्य देवकी १०४—एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप, मनुष्य, तिर्यंचायु=९९; गुणस्थान १,२,४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका =४	तीर्थंकर	×	९९	१	×	९८	४	९४
	२	ओघवत् २५—तिर्यंचायु =२४	×	×	९४	×	×	९४	२४	७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु =९	×	तीर्थंकर	७०	×	१	७१	९	६२
आनतादि ४ स्वर्ग व नव ग्रै० अप०		बन्ध योग्य=सामान्यकी १०४—एकेन्द्रि०, स्थावर, आतप, तिर्यंचत्रिक, उद्योत, मनुष्यायु=९६; गुणस्थान=१,२,४								
	१	मिथ्यात्व, हुंडक, नपुं०, सृपाटिका =४	तीर्थंकर	×	९६	१	×	९५	४	९१
	२	ओघवत् २५—तिर्यक् त्रिक व उद्योत =२१	×	×	९१	×	×	९१	२१	७०
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु =९	×	तीर्थंकर	७०	×	१	७१	९	६२
९ अनुदिश व ५ अनुत्तर अप०		बन्ध योग्य=सौधर्म पर्याप्त या नि० अपर्याप्तवत् ४ थे की ७०।								
२. इन्द्रिय मार्गणा—(ष. खं. ८/सू १०२-१३६/१५८-१९२); (गो. क/११३-११४/१०२-१०४)										
सर्व एकेन्द्रिय		वन्ध योग्य=ओघकी १२०—तीर्थंकर, आहार द्वि०, देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रि० द्वि०=१०९; गुणस्थान २								
	१	ओघवत् १६—नरकत्रिक +मनु० ति० आयु =१५	×	×	१०९	×	×	१०९	१५	९४
	२	ओघकी २५+वज्र ऋषभ, औ० द्वि०, मनु० द्वि ३०—तिर्यगायु =२९	×	×	९४	×	×	९४	२९	६५
सर्व विकलेन्द्रिय		←——— एकेन्द्रियवत् ———→								
पंचे० पर्याप्त		←——— ओघवत् ———→								
पंचे नि० अप		बन्ध योग्य=ओघकी १२०—४ आयु, नरक द्विक, आहा० द्वि०=११२ गुणस्थान=१,२,४,६,१३								
	१	ओघवत् १६—नरकत्रिक =१३	देव व वैक्रि० द्वि० तीर्थं०	×	११२	५	×	१०७	१३	९४
	२	ओघवत् २५—तिर्यंचायु =२४	×	×	९४	×	×	९४	२४	७०
	४	अप्रत्याख्यान ४, प्रत्या० ४, औ० द्वि०, वज्र ऋषभ० मनु० द्वि० =१३	×	देव द्वि० वै० द्वि० तीर्थं०	७०	×	५	७५	१३	६२

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन: बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन बन्ध	बन्ध	व्युच्छि०	शेष बन्ध योग्य
	६	अपूर्वकरणकी ओघवत् ३६–आ० द्वि०=३४+६वें की ५, १०वे की १६, ६ठे की ६=६१	×	×	६२	×	×	६२	६१	१
	१३	साता वेदनीय	×	×	१	×	×	१	१	×
पचे० ल० अप०		बन्ध योग्य=ओघकी १२०—देवत्रिक, वैक्रि० द्वि०, आ० द्वि०, तीर्थं०=१०६, गुणस्थान=१								
३. काय मार्गणा—(प. खं. ८/सू. १३७-१३६/१६२-२००), (गो क /११४-११५/१०४-१०६)										
पृथिवी, अप व प्रत्येक वन काय					←——— एकेन्द्रिय वत ———→					
तेज, वात काय		बन्ध योग्य–ओघकी १२०–देवत्रिक, नरकत्रिक, वै० द्वि०, आ० द्वि०, तीर्थ०, मनुष्यत्रिक, उच्चगोत्र=१०५ गुणस्थान=१								
वन० काय साधारण		गुणस्थान=१			←——— एकेन्द्रियवत् ———→					
त्रसकाय प०		गुणस्थान=१४			←—— ओघवत् ——→					
त्रसकाय नि० अप०		गुणस्थान=१, २, ४, ६, १३			←—पंचेन्द्रिय निर्वृ ति अपर्याप्तवत्—→					
त्रसकाय ल० अप०		गुणस्थान=१			←— तिर्यंच लब्ध्य०वत् —→					
४ योग मार्गणा—		(प ख /८/सू १४०-१६०/२०१-२४२); (गो. क./११५-११६/१०६-११६)								
सामान्य मन वचन		बन्धयोग्य=ओघवत् १२०; गुणस्थान=१४			←—— ओघवत् ——→					
सत्य व अनुभय		बन्धयोग्य=ओघवत=१२०, गुणस्थान=१४			←—— ओघवत् ——→					
असत्य व उभय		बन्धयोग्य=ओघवत=१२०; गुणस्थान=१२			←— ओघवत् —→					
सामान्य काययोग		बन्धयोग्य=ओघवत=१२०; गुणस्थान=१४			←—— ओघवत् ——→					
औ० काययोग		बन्धयोग्य=ओघवत=१२०, गुणस्थान=१४			←—— मनुष्यगतिवत् ——→					
औ० मि० काययोग		बन्धयोग्य=ओघकी १२०—आ० द्वि, नरक द्वि०,देव, नरक आयु, पुरुषवेद=११३, गुणस्थान=१, २, ४								
	१	मिथ्या०, नपं०, हुंडक, सृपाटिका, १-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, तिर्यग्, मनुष्यायु =१५	तीर्थंकर, देव द्वि०, वै० द्वि०	×	११३	५	×	१०८	१५	६३
	२	अनन्तानु० ४, स्त्यानत्रिक०, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रो० परि०, स्वाति, कुब्ज, वामन, वज्रनाराच, नाराच, अर्धनाराच कीलित, अप्रशस्त विहायो०, स्त्रीवेद, तिर्यग् द्विक, उद्योत, नीचगोत्र, मनुष्यद्विक, औ० द्वि०, वज्र वृषभ =२६	×	×	६३	×	×	६३	२६	६४
	४	देव द्विक, वै० द्वि०, तीर्थंकर, साता तथा शेष सर्व	×	देवद्विक, वै० द्वि० तीर्थ,	६४	×	५	६६	६६	×

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छि०	शेष बन्ध योग्य
वैक्रि काय० योग		बन्धयोग=सामान्य देववत् १०४, गुणस्थान=४								
		←— सौधर्म ईशान प० देववत् —→								
वै० मि० काययोग		बन्धयोग्य=नि० अप० देववत्=१०२; गुणस्थान=१, २, ४								
		←— सौधर्म देव नि० अप० वत् —→								
आहारक काययोग		बन्धयोग्य=ओघकी षष्ठ गुणस्थानवत्=६३; गुणस्थान=छठा								
		←— ओघमें छठे गुणस्थानवत् —→								
आ० मि काययोग		बन्धयोग्य=ओघ प्रमत्त गुणस्थानवत्=६३ देवायु=६२, गुणस्थान=छठा								
		←— ओघमें छठे गुणस्थानवत् —→								
कार्माण काययोग		बन्धयोग्य=औ० मि० की ११३—मनुष्य, तिर्यंचायु=१११; गुणस्थान=१, २, ४, १३								
		←— उपरोक्त दो आयु रहित औ० मि० वत् —→								
५ वेद मार्गणाः—(ध. खं./८/सू १६६-१८७/२४२-२६६) (गो. क./मू/११६/११४)										
स्त्री वेद पर्याप्त		बन्धयोग्य=ओघवत=१२०—तीर्थंकर, आहारक द्विक, देवगति=११६, गुणस्थान=६								
		←— देवगति, आ० द्वि०, तीर्थ०, रहित ओघवत —→								
स्त्री वेद नि० अप०		बन्धयोग्य=ओघवत १२०—चारो आयु, आ० द्वि०, तीर्थ०, नरक द्वि०, देव द्वि०, वै० द्वि०=१०७ गुणस्थान=२								
	१	ओघवत्=१६—नरकत्रिक=१३	×	×	१०७		×	१०७	१३	९४
	२	ओघवत=२५—तिर्यंचायु=२४		×	९४	×	×	९४	२४	७०
पुरुष वेद पर्याप्त		बन्धयोग्य=ओघवत—१२०; गुणस्थान=६								
		←— ओघवत् —→								
पुरुष वेद नि० अप०		बन्धयोग्य=ओघकी १२०—४ आयु, नरक द्विक, आ०द्वि=११२; गुणस्थान=१, २, ४								
	१	ओघकी १६—नरकत्रिक =१३	देव द्वि०, तीर्थ०, वैक्रि० द्वि०	×	११२	५	×	१०७	१३	९४
	२	ओघवत=२५—तिर्यंचायु=२४	×	×	९४	×	×	९४	२४	७०
	४	ओघवत्=१०—मनुष्यायु=९	×	तीर्थ०, देव द्वि० वै० द्वि०	७०	×	५	७५	९	६६
नपु० वेद प०		बन्धयोग्य=ओघवत १२०—तीर्थ०, आ० दि०, देवगति=११६ गुणस्थान=६								
		←— उपरोक्त ४ प्रकृति रहित ओघवत —→								
नपुं० वेद० नि० अप०		बन्धयोग्य=ओघवत १२०—चारों आयु, आ० दि०, नरक द्वि०, देव द्वि०, वै० द्वि०=१०८ गुणस्थान १, २, ४,								
	१	ओघवत् १६—नरकत्रिक =१३	तीर्थंकर	×	१०८	१	×	१०७	१३	९४
	२	ओघवत २४—तिर्यंचायु =२४	×	×	९४	×	×	९४	२४	७०
	४	ओघवत १०—मनुष्यायु =९	×	तीर्थंकर	७०	×	१	७१	९	६२
		(यह स्थान केवल प्रथम पृथ्वी नारकीको ही सम्भव है।)								
६. कषाय मार्गणा— (ध/८/मू १८८-२०६/२६६-२७१), (गो. क/भापा/११६/११५)										
क्रोध, मान, माया		बन्धयोग्य=ओघवत १२०, गुणस्थान ९								
		←— ओघवत् —→								
लोभ		बन्धयोग्य=ओघवत् १२०, गुणस्थान=१०								
		←— ओघवत् —→								
अकषायी		बन्धयोग्य=ओघवत=साता वेदनीय १, गुणस्थान=११, १२, १३								
		←— ओघवत —→								
७ ज्ञान मार्गणा—(ध/८/मू २०७-२२४/२७६-२९७) (गो क/मा/११६/११५/९६)										
मति, श्रुत अज्ञान व विभंग ज्ञान		बन्धयोग्य=१२०—आ० द्वि०, तीर्थ०=११७, गुणस्थान=२								
		←— ओघवत् —→								

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन: बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन: बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	शेष बन्ध योग्य
मति, श्रुत अवधिज्ञान बन्धयोग्य = ओघके चतुर्थ गुणस्थानवत् = ७७ – आ० द्वि० = ७९; गुणस्थान ४-१२										
				← ओघवत् →						
मन पर्ययज्ञान बन्ध योग्य = ओघके ६ठे गुणस्थानवत् ६३ + आहारक द्वि० = ६५; गुणस्थान ६-१२										
				← ओघवत् →						
केवलज्ञान		बन्धयोग्य = ओघके १३ वे गुणस्थानवत् = १; गुणस्थान २ (१३,१४)								
							← ओघवत् →			
८. सयम मार्गणा—(प खं. ८/सू./२२५-२५२/२६८-३१८), (गो, क./भा./११६/११६/१०)										
सामान्य		बन्धयोग्य = ओघके षष्ठ गुणस्थानवत् = ६३ + आ० द्वि० = ६५; गुणस्थान = ६-९								
							← ओघवत् →			
सामायिक व छेदो०							← संयम सामान्यवत् →			
परिहार विशुद्धि		बन्धयोग्य = ओघके ६ठे गुणस्थानवत् = ६३ + आ० द्वि० = ६५; गुणस्थान = ६-७								
							← ओघवत् →			
सूक्ष्म साम्पराय		बन्धयोग्य = ओघके १० वें गुणस्थानवत् = १७; गुणस्थान = १० वाँ								
							← ओघवत् →			
यथाख्यात		बन्धयोग्य = साता वेदनीय १; गुणस्थान ११-१४								
							← ओघवत् →			
सयमासयम		बन्धयोग्य—ओघके पचम गुणस्थानवत् = ६७; गुणस्थान ५ वाँ								
							← ओघवत् →			
असयत		बन्धयोग्य = ओघकी १२०—आ० द्वि० = ११८, गुणस्थान १-४								
					← ओघवत् (आ० द्वि०रहित) →					
९. दर्शन मार्गणा—(प ख. ८/सू /२५३-२५७/३१८-३१९); (गो क./भाषा/११९/११७/३)										
चक्षु अचक्षु		बन्धयोग्य = १२०; गुणस्थान = १२								
							← ओघवत् →			
अवधि		बन्धयोग्य = ओघके चतुर्थ गुणस्थानवत् = ७७ + आ० द्वि० = ७९; गुणस्थान = ४-१२								
							← ओघवत् →			

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुनः बन्ध	पुनः बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	पुनः बन्ध योग्य
केवल		बन्ध योग्य = ओघके १३ वे गुणस्थानवत् = १ साता; गुणस्थान = १३-१४								
				← — — ओघवत् — — →						
१०. लेश्या मार्गणा—(प. ख. ८/सू. २५८-२७४/३२०-३५८) (गो. क./भा /११९-१२०/११७-१२०)										
कृष्ण, नील, कपोत		बन्धयोग्य = ओघवत् = १२० — आ० द्वि० = ११८; गुणस्थान = १-४								
				← — — ओघवत् — — →						
पीत		बन्ध योग्य = ओघकी = १२० — सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, २-४ इन्द्रिय, नरक त्रिक = १११; गुणस्थान = ७								
	१	मिथ्या., हुडक, नपु., सृपाटिका एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप = ७	तीर्थंकर, आ० द्वि०	×	१११	३	×	१०८	७	१०१
	२-७			← — — ओघवत् — — →						
पद्म		बन्धयोग्य = ओघकी १२० — १-४ इन्द्रिय, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, नरक त्रिक = १०८ गुणस्थान = ७								
	१	मिथ्या० हुडक, नपु० सृपाटिका = ४	तीर्थ०, आ० द्वि०	×	१०८	३	×	१०५	४	१०१
	२-७	←	—		—	ओघवत्		—	—	→
शुक्ल		बन्धयोग्य = पद्म लेश्यावत् १०८ — तिर्यंच त्रिक, उद्योत = १०४, गुणस्थान = १३								
	१	मिथ्या०, हुडक, नपुं०, सृपाटिका = ४	तीर्थ०, आ० द्वि०	×	१०४	३	×	१०१	४	९७
	२	ओघकी २५ - तिर्यग्त्रिक उद्योत = २१	×	×	९७	×	×	९७	२१	७६
	३-१३			← — — ओघवत् — — →						
अलेश्या		बन्धयोग्य = × गुणस्थान = १४ वाँ								
११. भव्य मार्गणा—(प. खं ८/सू. २७५-२७७/३५८-३६३), (गो. क./भा./१२०-१२१/१२१/७)										
भव्य		बन्धयोग्य = ओघवत् १२०; गुणस्थान = १४								
				← — — ओघवत् — — →						
अभव्य		बन्धयोग्य = ओघवत् १२० — आ० द्वि०, तीर्थ० = ११७; गुणस्थान = १								
				← — — ओघवत् — — →						
१२. सम्यक्त्व मार्गणा—(ष.खं/८/सू २७९-३११/३६३-३९६); (गो क./भा०/१२०-१२१/१०)										
सामान्य		बन्धयोग्य = ओघके चतुर्थ गुणस्थानकी ७७ + आ० द्वि० = ७९, गुणस्थान = ४-१४								
				← — — ओघवत् — — →						
क्षायिक सम्यक्त्व				← — — सामान्य सम्यक्त्ववत् — — →						
वेदक सम्यक्त्व		बन्धयोग्य = ओघके चतुर्थ गुणस्थानवत् ७७ + आहा० द्वि० = ७९; गुणस्थान = ४-७								
		← — — ओघवत् (४-६ तक आ० द्वि० बन्ध नहीं) — — →								

मार्गणा	गुण स्थान	व्युच्छित्तिकी प्रकृतियाँ	अबन्ध	पुन. बन्ध	कुल बन्ध योग्य	अबन्ध	पुन. बन्ध	बन्ध	व्युच्छि.	शेष बन्ध योग्य
प्रथमोपशम		बन्धयोग्य=ओघके चतुर्थ गुणस्थानवत् ७७+आ० द्वि०—मनुष्य, देवायु=७७, गुणस्थान=४-७/								
	४	ओघवत् १०—मनुष्यायु =९	आ० द्वि०	×	७७	२	×	७५	९	६६
	५	प्रत्याख्यान ४ =४	×	×	६६	×	×	६६	४	६२
	६	अस्थिर, अशुभ, अयश, असाता, अरति, शोक, =६	×	×	६२	×	×	६२	६	५६
	७	×	×	आ० द्वि०	५६	×	२	५८	×	५८
द्वितीयोपशम		बन्धयोग्य=प्रथमोपशमवत् ७७—(१६ कषाय (ल. सा./२२०))=६१; गुणस्थान=४-११ (ल. सा./जी. प्र /२२०/२६५)								
	४–७		← प्रथमोपशमवत् →							
	८–११		← ओघवत् →							
सम्यग्मिथ्यादृष्टि		बन्धयोग्य=ओघके ३ रे गुणस्थानवत्=७४, गुणस्थान=३ रा								
सासादन		बन्धयोग्य=ओघके दूसरे गुणस्थानवत् १०१, गुणस्थान २ रा								
मिथ्यादर्शन		बन्धयोग्य=ओघकी १२०—तीर्थ०, आ० द्वि०=११७, गुणस्थान= पहला								
१३. संज्ञी मार्गणा—(ष.ख.८/सू. ३२०-३२२/३८६ ३९०), (गो. क./भा /१२१/१२३/४)										
संज्ञी		बन्धयोग्य=ओघवत् १२०, गुणस्थान=१-१२								
			← ओघवत् →							
असज्ञी		बन्धयोग्य=ओघकी १२०—तीर्थ०, आ० द्वि०=११७, गुणस्थान=२								
	१	ओघवत् १६+नरक बिना ३ आयु =१९	×	×	११७	×	×	११७	१९	९८
	२	ओघवत् २५+वज्र ऋषभ०, औ० द्वि०, मनु० त्रिक, तिर्यंचायु व मनुष्यायु =२९	×	×	९८	×	×	९८	२९	६९
१४. आहारक मार्गणा—										
आहारक		बन्धयोग्य=१२०, गुण स० १३	← ओघवत् →							
अनाहारक			← कार्माण काययोगवत् →							

९. सामान्य प्रकृतिबन्ध स्थान ओघ प्ररूपणा

प्रमाण—(प स/प्रा०/३/४-५), (पं. स.प्रा /४/२१९-२२०), (प. स./प्रा /४/२४१), (प. सं./सं./३/११-१२), (प. स /सं /४/८४-८५), (प /स /स /४/११३); (शतक/२७), (शतक/४२)।

गुण स्थान	बन्ध स्थान	गुण स्थान	बन्ध स्थान
१	आयु रहित ७ कर्म अथवा आयु सहित ८ कर्म	८	आयु बिना ७
२	"	९	"
३	आयुके बिना ७ कर्म	१०	आयु व मोह रहित ६
४	आयु रहित ७ कर्म अथवा आयु सहित ८ कर्म	११	एक वेदनीय
५	"	१२	"
६	"	१३	"
७	"	१४	×

७. विशेष प्रकृतिबन्ध स्थान ओघप्ररूपणा

सं.	गुण स्थान	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियोंका विवरण
१	ज्ञानावरणीय—	(पं. स./प्रा./५/४-२४); (प. स./सं./५/५-३०), (ध ६/८१), (गो. क./४५८)			
	१-१२ गुणस्थान	१/१	५	×	पाँचो-प्रकृतियाँ
२	दर्शनावरणीय—	(प. सं./प्रा /४/२४३); (पं. स./• ./४/११५), (शतक/४३), (प. खं./६/सू /७-१६/८२-८७), (गो. क./४५९-४६२/६०६-६०९)			
	१-२ गुणस्थान	१	९	×	सर्व प्रकृतियाँ
	३ ८/I	१	६	×	९-स्त्यान० त्रिक
	८/II	१/३	४	×	चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल
३	वेदनीय—				
	१-६ गुणस्थान	१	१	२	
	७-१३ ,,	१/२	१	१	
४	मोहनीय—	(ध. ६/८७-८८), (गो. क /४५८)			
	नोट—देखो पृथक् सारणी				
५	आयुः—	(ध./६/९८-१०१)			
	१	१	१	४	चारोंमें अन्यतममें ४ भंग
	२	१	१	३	नरक रहित अन्यतम एक
	३	×	×	×	×
		१	१	२	देव, मनुष्यायुमें एक
	४	२/१	१	१/४	देवायु
	५-७				
	विशेष देखो पृथक् सारणी				
६	नाम कर्म— देखो पृथक् सारणी				
७	गोत्र—	(ध. ६/१३१-१३२)			
	मिथ्यादृष्टि सामान्य व सासादन	१	१	२	अन्यतम एक
	सातिशय मिथ्या० ३-१०	१/१	१	१/२	उच्च
८	अन्तराय—				
	१-१२	१/१	५	१/१	सर्व प्रकृतियाँ

८. मोहनीयबन्ध स्थान ओघ प्ररूपणा

(ष. ख /६/सू. २०-४९/८८-९८), (पं.स./प्रा./४/२४६-२५१); (पं. सं./प्रा./५/—२६-२९,३००-३०२); (प. स/सं /४/११८-१२३); (प.सं./ स./५/—३३-३७,३२७-३२९), (सप्ततिका/१४), (सप्ततिका/४२), (गो क /४६३-४७८/६०९-६७८)

सं. गुण स्थान	कुल बन्ध योग्य	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृति	प्रति स्थान भंग	प्रकृतियों व भंगोंका विवरण
१ मिथ्यादृष्टि—	२६	(सम्यक् प्रकृति व मिश्र रहित)			
सामान्य		१	२२	६	(हास्य रति), अरति शोक / १ युगल २ × तीन वेद / ३ = २×३=६
सातिशय	२२	१	२२	१	२६–अरति, शोक, स्त्री, नप. =२२
२ सासादन	२४	(मिथ्यात्व व नपु० रहित)			
		१	२१	४	हास्य युगल या अरति युगल / २ × स्त्री वेद या पुरुष वेद / २ =४
३ मिश्र	१९	(अनन्ता० चतु० व स्त्री वेद रहित)			
		१	१७	२	हास्य युगल या अरति युगल / २ × पुरुष वेद / १ =२
४ अविरत सम्यक् क्षा०, वेदक, कृतकृत्य, वे०, उप०	१९	(अनन्ता० चतु० व स्त्री वेद रहित)			
		१	१७	२	मिश्रवत्
५ संयतासंयत— उपरोक्त ४ सम्य० सहि०	१५	(मिश्रवत् १९-अप्रत्या० ४=१५)			
		१	१३	२	मिश्रवत्
६ प्रमत्त संयत— चारों प्रकार सम्य० सहित	११	(प्रत्या० चतु० रहित)			
		१	९	२	मिश्रवत्
७ अप्रमत्त संयत—	९	(अरति, शोक रहित)			
		१	९	१	स० चतु०, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, पुरुष वेद
८ अपूर्व करण— I-/VII	९	१	९	१	अप्रमत्तवत्
९ अनिवृत्ति करण	५	(स० चतु०, पुरुष वेद)			
९/I-९/V		१	५	१	स० चतु०, पुरुष वेद
९/VI		१	४	१	स० चतु०
९/VII		१	३	१	स० मान, माया, लोभ
९/VIII		१	२	१	स० माया, लोभ
९/IX		१	१	२	स० लोभ
१० सूक्ष्म साम्पराय					

९. नाम कर्म प्ररूपणा सम्बन्धी संकेत

सं०	समूहीकरण	संकेत	कुल प्रकृति	बन्ध प्रकृति	प्रकृतियोंका विवरण
१	ध्रुव बन्धी	ध्रु/६	६	६	तैजस, कार्मण, अगुरुलघु ,उपघात, निर्माण, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श=६
२	प्रतिपक्षी युगल	यु-/६	१८	६	त्रस-स्थावर, बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त, प्रत्येक-साधारण, स्थिर-अस्थिर, शुभ-अशुभ, सुभग-दुर्भग, आदेय-अनादेय, यश-अयश, (इन ६ युगलोंकी १८ में से प्रतियुगल अन्यतम बन्ध होनेसे=६)
३	समूहो से अन्यतम	समूह/५	२२	५	चार गति, पाँच जाति, तीन शरीर, ६ संस्थान, चार आनुपूर्वी (अन्यतम बन्ध होनेसे ५) ।
४	त्रस सहित ही बँधने योग्य समूह	त्रस/२	६	२	छः सहनन, ३ अंगोपाग (त्रसको बन्धने योग्य २) (संहनन औदारिकके साथ बँधते है ।
५	त्रसमें बँधने योग्य	त्रस. यु /२	४	२	दुस्वर-सुस्वर, प्रशस्त-अप्रशस्त विहायोगति, (इनमें से २) ।
६	त्रस स्थावर दोनोंको	उ. परघात/२	२		उश्वास, परघात ।
७	विशेष प्रकृतियाँ	ती आ./३	३		तीर्थंकर व आहारक द्वय (देव नारकके मनुष्य सहित व मनुष्यके देवगति सहित ही बँधे) ।
८		पृ बा /१	१		आतप (पृथ्वी काय बादर पर्याप्त सहित ही बँधे)
९		उद्योत/१	१		उद्योत (पृथ्वी, अप, प्रत्येक वनस्पति, बादर पर्याप्त व त्रस सहित ही बँधे ।

१०. नाम कर्म बन्धके आठ स्थानोंका विवरण

(प स /प्रा./—४/२५६-३०४/, ५/५३-६६), (पं. सं /स./४/१३६-१८८), (पं. स./सं/५/६२-१११), (गो क./५३०-/६८८)

नोट—ध्रुव/६ आदि सकेत=दे० सारणी नं० ६।

सं०	स्थानमें प्रकृतियाँ	कुल भंग	ल स्वामी	नं०	भग न०	प्रत्येक भगमें प्रकृतियों व स्वामियोंका विवरण	
						प्रकृतियोंका विवरण	स्वामियोंका विवरण
१	१	१	३		१	यश कीर्ति	८/७, ९, १० गुणस्थान
२	२३	३	११	I	१	ध्रु /६, स्थावर, अपर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश, तिर्य० द्वि०, एकेन्द्रिय, औ० शरीर हुंडक =२३	सूक्ष्म अप०-पृथिवी, अप, तेज, वायु, साधारण वनस्पति युत =५
				II		उपरोक्त २३-सूक्ष्म+बादर =२३	बा० अप० पृ०, तेज, अप०, वायु०, साधा० वन० युत० =५
				III	३	„ —सूक्ष्म, साधारण+बादर, प्रत्येक =२३	बा० अप० प्रत्येक वनस्पतिके बन्धक =१
३	२५	६४	१७	I	१-४	ध्रु./६, स्थावर, पर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण, स्थिर, शुभ या अस्थिर अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयश., तिर्य० द्वि०, एकेन्द्रिय, औ० शरीर, हुडक =२५ (स्थिर, अस्थिर, शुभ व अशुभ, इन दो युगलोंकी अन्यतम दो से चार भंग)	सू० प्र० पृ०, तेज, अप, वायु, साधा० वन० के बन्धक/१
				II	५-८	उपरोक्त २५—सूक्ष्म+बादर उपरोक्तवत् ४ भग =२५	बा० प० साधारण वनस्पतिके बन्धक =१
				III	९-१३	उपरोक्त (स्थिर, शुभ, यश इन तीन युगलोंसे ८ भग =२५	बा० प० पृ० अप, तेज वायु (आतप रहित) =४

नं०	स्थानमें प्रकृतियाँ	कुल भंग	कुल स्वामी	नं०	भंग	प्रत्येक भंगमें प्रकृतियों व स्वामियोंका विवरण — प्रकृतियोंका विवरण	स्वामियोंका विवरण
				iv	१७-२४	उपरोक्त २५-सूक्ष्म, साधारण + बादर, प्रत्येक = २५ (स्थिर, शुभ, यश इन युगलोंसे ८ भंग)	बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति (उद्योत रहित) =१
				v	२५-४८	ध्रु०/९ त्रस, अप, बादर, प्रत्येक, दुर्भग, अनादेय, स्थिर शुभ व यश युगलोंमें अन्यतम (=८)	
					४९-५६	तिर्य० द्वय, २-५ इन्द्रिय (४) में अन्यतम, औ० द्वय सृपाटिका, हुंडक (३२ भंग) =२५	अप०, द्वी, त्री, चतुरेन्द्रिय (उद्योतरहित) संज्ञी, असंज्ञी, पंचेन्द्रियके बन्धक =५
				vi	७५-९४	उपरोक्त २५-तिर्य० द्वय + मनुष्य द्वय (=८ भंग) =२५	अप० मनुष्यके बन्धक =१
४	२६	४८	८	i	१-८	(उपरोक्त) बा० प० पृ० की २५ + आतप (उसी वत ८ भंग) =२६	बा० प० पृथिवी (आतप युत) =१
				ii	९-१६	(उपरोक्त) बा० प० पृ० की २५ + उद्योत (उसी वत ८ भंग) =२६	बा० प० पृ० अप, वनस्पति (उद्योत युत) =३
				iii	१७-४८	विकलत्रय अप० की २५ (उसीवत् ३२ भंग) =२६	बा० द्वी० त्री० चतुरेन्द्रिय (उद्योत सहित) असंज्ञी पचे० (,,) =४
५	२८	९	२	i	१-८	ध्रु०व/९ त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुभग, आदेय स्थिर शुभ व यश इन तीन युगलोंमें अन्यतम ३ से (८ भंग), देवद्वय, पंचेन्द्रिय, वैक्रि० द्वय, समचतुरस्र, सुस्वर व प्रशस्त विहायो०, उच्छ्वास, परघात (८ भंग) =२८	देवगतिके बन्धक =१
				ii	९	ध्रु०/९ त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, दुर्भग, अनादेय अस्थिर, अशुभ, अयश, नारकद्वय, वैक्रि० द्वय, पचे०, हुंडक, दुस्वर, अप्रशस्त-विहायो०, उच्छ्वास, परघात =२८	नरक गतिके बन्धक =१
६	२९	१२४८० / ९२८८	७	i	१-३२	ध्रु०/९ त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक दुर्भग, अनादेय स्थिर शुभ व यश इन तीन युगलोंमें अन्यतम ३ से ८ भंग, तिर्य० द्वय, औ० द्वय, २-५ इन्द्रिय, इन ४ में अन्यतमसे ४ भंग हुंडक, सृपाटिका, दुस्वर अप्रशस्त विहायो०, उच्छ्वास, परघात (८×४=३२ भंग) =२९	बा० प० बे, ते, चौन्द्रिय व असंज्ञी पंचेन्द्रियका बन्धक (उद्योत रहित) =४
				ii	३३-४६४०	ध्रु०/९ त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक सुभग, आदेय, स्थिर, शुभ, यश इन पाँच युगलोंमें अन्यतमको ५ (के ३२ भंग) तिर्य० द्वय, औ० द्वय, पचेन्द्रिय, ६ संस्थानोंमें अन्यतम १से ६ भंग, ६ संहननमें अन्यतम १से ६ भंग, स्वर द्वय व, विहायोगति द्वय इन दो युगलों-में अन्यतम २ से ४ भंग, उच्छ्वास, परघात (३२×६×६×४=४६०८ भंग) =२९	पं० संज्ञी पंचेन्द्रियका बन्धक =१
				iii	४६४१-९२८०	उपरोक्त २९-तिर्य० द्वय + मनुष्य द्वय, (उसी वत् ४६०८ भंग) =२९	पं० मनुष्यका बन्धक नारकी =१

नं०	स्थान में प्रकृति	कुल भग	कुल स्वामी	नं०	भग न०	प्रत्येक भंगमें प्रकृतियो व स्वामियोका विवरण — प्रकृतियो व भंगोका विवरण	स्वामियोका विवरण
				IV	६२८१-६२८९- -१२४८० ६२८८	ध्रु./६ त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, सुभग, आदेय, स्थिर, शुभ, यश इन ३ युगलोमें अन्यतम ३ के ८ भंग, देव द्वय, वैक्रि० द्वय, पंचेन्द्रिय, समचतुरस्र, सुस्वर, प्रशस्त विहायो०, उच्छ्वास, परघात, तीर्थंकर (३२०० भग) (८ भंग) =२९	देवगति व तीर्थंकरके वन्धक=१
७	३०	३२८	६	I	१-३२	(न ६/I की २९+उद्योत) (उसीवत् भंग=३२) =३०	प० वे०, ते०, चौ, असंज्ञी पं, उद्योतयुत=४
				II	३३-३२०	ध्रु./६ त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, यश, आदेय, अनादेयमें अन्यतम १ के २ भंग, मनुष्य द्वय, औ०द्वय, पचेन्द्रिय, ६ संस्थानों में अन्यतम १ के ६ भंग, ६ सहननोमें अन्यतम १ के ६ भग, स्वर द्वय, विहायोगति द्वय इन दो युगलोमें अन्यतम २ से चार भग, उच्छ्वास, परघात=(२×६×६×४=२८८ भग)+तीर्थ.=३०	मनुष्य व तीर्थंकरका वन्धक=१
				III	३२१-३२८	नं. ६/IV की २९— तीर्थंकर + आहार० द्वि० (उसीवत भग=८) =३०	देव व आहारक युक्त=१
८	३१	८	१	I	१-८	नं. ६/IV की २९+आहार० द्वि०, (उसी वत् भंग ८) =३१	देव गति व आहारक व तीर्थंकर युत=१

११. नाम कर्म वन्ध स्थान ओघ प्ररूपणा—(पं. स./प्रा./५/४०३-४१७) (पं. सं /स./५/४१६-४२८)

गुण स्थान	बन्ध स्थान	गुण स्थान	बन्ध स्थान	गुण स्थान	बन्ध स्थान
१	२३/I-III, २५/I-VI, २६/I-III, २८/I-II, २९/I-III, ३०/I	५	२८/I, २९/IV	१०	१/I
२	२८/I, २९/I-III, ३०/I	६	२८/I, २९/IV		नोट—इनकी विशेषता यथायोग्य सत्त्व व व्युच्छित्ति सारणियोसे जानना तथा आदेशकी अपेक्षा भी यथायोग्य लगा लेना।
३	२८/I, २९/IV	७	२८/I, २९/IV, ३०/III, ३१/I		
४	२८/I, २९/IV, ३०/II	८	२८/I, २९/IV, ३०/III, ३१/I, १/I		
		९	१/I		

१२. जीव समासोंमें नामकर्म वन्ध स्थान प्ररूपणा—(गो. क/७०४-७११/८७८-८८१)

सं०	जीव समास	कुल स्थान	प्रति स्थान प्रकृतियाँ
	अपर्याप्त		
१	सातो जीव समास	५	२३,२५,२६,२९,३०
	पर्याप्त		
१	एकेन्द्रिय सूक्ष्म	५	,,
२	एकेन्द्रिय बादर	५	२३,२५,२६,२९,३०
३	विकलेन्द्रिय	५	,,
४	असंज्ञी पचेन्द्रिय	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
५	संज्ञी पंचेन्द्रिय	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१

१३. नाम कर्म बन्ध स्थान आदेश प्ररूपणा—(प. सं./प्रा./५/४१६-४७२) (गो. क./७१८-७२८/८८७-८९४)

१. गति मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	नरक गति	२	२९,३०
२	तिर्यंच	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
३	मनुष्य	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
४	देव	४	२५,२६,२९,३०

२. इन्द्रिय मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	एकेन्द्रिय	६	२३,२५,२६,२९,३०,३१
२	विकलेन्द्रिय	६	,,
३	पंचेन्द्रिय	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१

३. काय मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	पृ० अप वनस्प०	६	२३,२५,२६,२९,३०,३१
२	तेज, वायु	६	,,
३	त्रस	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१

४. योग मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	सर्व मन, वचन	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	औदारिक	८	,,
३	औ० मिश्र	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
४	वैक्रि०	४	२५,२६,२९,३०
५	वै० मिश्र	४	,,
६	आहारक	२	२८,२९
७	आ० मिश्र	२	,,
८	कार्माण	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०

५ वेद मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	स्त्री वेद	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	नपु० वेद	८	,,
३	पुरुष वेद	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१

६. कषाय मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	सर्व सामान्य	८	(यथा योग्य) २३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१

७. ज्ञान मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	मति, श्रुत अज्ञान	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
२	विभंग	६	,,
३	मति, श्रुत, अवधि	५	२८,२९,३०,३१,१
४	मनःपर्यय	५	,,
५	केवल	५	×

८. संयम मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	सा० छेदो०	५	२८,२९,३०,३१,१
२	परि० वि०	४	२८,२९,३०,३१
३	सूक्ष्म सा०	१	१
४	यथाख्यात	×	×
५	देश संयत	२	२८,२९
६	असंयत	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०

९. दर्शन मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	चक्षु	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	अचक्षु	८	,,
३	अवधि	५	२८,२९,३०,३१,१
४	केवल	×	×

१०. लेश्या मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	कृष्णादि तीन	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
२	पीत	६	२५,२६,२८,२९,३०,३१
३	पद्म	४	२८,२९,३०,३१
४	शुक्ल	५	२८,२९,३०,३१,१

११. भव्य मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	भव्य	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	अभव्य	६	२३,२५,२६,२८, २९, उद्योत सहित से ३०

१२. सम्यक्त्व मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	क्षायिक	५	२८,२९,३०,३१,१
२	वेदक	४	२८,२९,३०,३१
३	उपशम	५	२८,२९,३०,३१,१
४	सम्य० मि०	२	२८,२९
५	सासादन	३	२८,२९,३०
६	मिथ्यादृष्टि	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०

१३. संज्ञी मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	संज्ञी	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	असंज्ञी	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०

१४. आहारक मार्गणा—

नं०	मार्गणा	कुल स्थान	प्रतिस्थान प्रकृतियाँ
१	आहारक	८	२३,२५,२६,२८,२९,३०,३१,१
२	अना० सयोगी	६	२३,२५,२६,२८,२९,३०
३	अना० अयोगी	×	×

१४. मूल उत्तर प्रकृतियोंमें जघन्योत्कृष्ट बन्ध तथा अन्य सम्बन्धी प्ररूपणाओंकी सूची

न.	विषय	प्रमाण
१	मूल व उत्तर प्रकृतियोंकी स्वस्थान व परस्थान सन्निकर्ष प्ररूपणा।	म.बं. १/६५-१३२
२	मूल व उत्तर प्रकृतिके द्रव्य, क्षेत्रादि या प्रकृति प्रदेशादि चार प्रकार बन्ध अपेक्षा उत्कृष्ट जघन्यादि रूप स्वस्थान व परस्थान सन्निकर्ष प्ररूपणएँ।	ध. २/३७०-४७६
३	सर्व-असर्व, उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट, जघन्य-अजघन्य, आदि-अनादि, और ध्रुव-अध्रुव प्रकृति बन्ध प्ररूपणाओंकी ओघ आदेश समुत्कीर्तना।	म. बं. १/२६-३१
४	नाना जीवोंकी अपेक्षा उत्तर प्रकृतियोंका भंगविचय।	म. ब. १/१३३-१४०

प्रकृतिवाद—दे० सांख्य दर्शन।

प्रक्रम—दे० उपक्रम।

प्रक्रिया—१. Process, २. Operation (ध. ५/प्र. २८)।

प्रक्षेपक—(गो जी./भाषा/३२६/७००/८ का भावार्थ—पर्यायसमास ज्ञानका प्रथम भेद विषै पर्याय ज्ञानतैं जितने बंधै तितने जुदे कीए पर्याय ज्ञानके जेते अविभाग प्रतिच्छेद है तींहि प्रमाण मूल विवक्षित जानना। यहु जघन्य ज्ञान है इस प्रमाणका नाम जघन्य स्थाप्या। इस जघन्यकौ जीवराशि मात्र अनंतका भाग दीए जो प्रमाण आवै ताका नाम प्रक्षेपक जानना। इस प्रक्षेपककौ जीवराशि मात्र अनतका भाग दीए जो प्रमाण आवै जो प्रक्षेपक-प्रक्षेपक जानना।

प्रगणना—ध ११/४,२,६,२४६/३४६/१० तत्थ पगणणा णाम इमिस्से इमिस्से ट्ठिदीए बधकारणभूदाणि ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणि एत्तियाणि एत्तियाणि होति त्ति ट्ठिदिबंधज्झवसाणट्ठाणाणं पमाणं परूवेदि। =प्रगणना नामक अनुयोगद्वार अमुक अमुक स्थितिके बन्धके कारणभूत स्थितिबन्धाध्यवसानस्थान इतने इतने होते हैं, इस प्रकार स्थितिबन्धाध्यवसानस्थानोंके प्रमाणकी प्ररूपणा करता है।

प्रज्ञप्ति—१. भगवान् सम्भवनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष, २. एक विद्या—दे० विद्या।

प्रज्ञा—प्रज्ञा व ज्ञानमें अन्तर—दे० ऋद्धि/२/७।

प्रज्ञाकरगुप्त—एक बौद्ध श्रमण था। धर्मकीर्ति इसके गुरु थे। प्रमाणवार्तिकालकारकी इन्होंने रचना की थी। समय—ई. सं. ६६०-७२० (सि. वि./प्र. ३१/प महेन्द्र)।

प्रज्ञापन नय—दे० नय/I/५।

प्रज्ञापरीषह—

स सि/६/६/४२७/४ अङ्गपूर्वप्रकीर्णकविशारदस्य शब्दन्यायाध्यात्मनिपुणस्य मम पुरस्तादितरे भास्करप्रभाभिभूतखद्योतोद्योतवन्नितरां नावभासन्त इति विज्ञानमदनिरासः प्रज्ञापरिषहजयः प्रत्येतव्य। =मै अग, पूर्व और प्रकीर्णक शास्त्रोंमें विशारद हूँ तथा शब्दशास्त्र, न्यायशास्त्र और अध्यात्मशास्त्रमें निपुण हूँ। मेरे आगे दूसरे जन सूर्यकी प्रभासे अभिभूत हुए खद्योतके उद्योतके समान बिलकुल नहीं सुशोभित होते हैं इस प्रकार विज्ञानमदका निरास होना प्रज्ञापरिषह जय मानना चाहिए। (रा वा./६/६/२६/६१२/११), (चा. सा./१२७/४)।

२. प्रज्ञा व अज्ञान परीषहमें अन्तर

स. सि/६/१७/४३५/७ प्रज्ञाज्ञानयोरपि विरोधाद्युगपदसंभवः। श्रुतज्ञानापेक्षया प्रज्ञापरिषहः अवधिज्ञानाद्यभावापेक्षया अज्ञानपरिषह इति नास्ति विरोध। =प्रश्न—प्रज्ञा और अज्ञान परीषहमें भी विरोध है, इसलिए इन दोनोंका एक साथ होना असम्भव है। उत्तर—एक साथ एक आत्मामें श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञापरीषह और अवधिज्ञान आदिके अभावकी अपेक्षा अज्ञान परीषह रह सकते हैं, इसलिए कोई विरोध नहीं है। (रा. वा./६/१७/३/६१५/२८)।

३. प्रज्ञा व अदर्शन परीषहमें अन्तर

रा. वा/६/६/३१/६१३/२ यद्येवं श्रद्धानदर्शनमपि ज्ञानाविनाभावीति प्रज्ञापरीषहे तस्यान्तर्भावः प्राप्नोतीति; नैष दोष; प्रज्ञायां सत्यामपि क्वचित्तत्त्वार्थश्रद्धानाभावाद् व्यभिचारोपलब्धे। =प्रश्न—श्रद्धान रूप दर्शनको ज्ञानाविनाभावी मानकर उसका प्रज्ञा परीषहमें अन्तर्भाव किया जा सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि कभी-कभी प्रज्ञाके होनेपर भी तत्त्वार्थ श्रद्धानका अभाव देखा जाता है, अतः व्यभिचारी है।

४. प्रज्ञा व अज्ञान दोनोंका एक ही कारण क्यों

रा. वा./६/१३/१-२/६१४/१४ ज्ञानावरणे अज्ञानं न प्रज्ञेति, न; अन्यज्ञानावरणसद्भावे तद्भावात्।१। प्रज्ञा हि क्षायोपशमिकी अन्यस्मिन् ज्ञानावरणे सति मदं जनयति न सकलावरणक्षये इति प्रज्ञाज्ञाने ज्ञानावरणे सति प्रादुःस्त इत्यभिसंबध्यते॥ मोहादिति चेत्; न; तद्भेदानां परिगणितत्वात्।२। मोहभेदा हि परिगणिता दर्शनचारित्रव्याघातहेतुभावेन, तत्र नायमन्तर्भवति, चारित्रवतोऽपि प्रज्ञापरीषहसद्भावात्, ततो ज्ञानावरण एवेति निश्चयः कर्तव्य। =१. ज्ञानावरणके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान परीषह होती है। क्षायोपशमिकी प्रज्ञा अन्य ज्ञानावरणके उदयमें मद उत्पन्न करती है, समस्त ज्ञानावरणका क्षय होनेपर मद नहीं होता। अतः प्रज्ञा और अज्ञान दोनो ज्ञानावरणसे उत्पन्न होते हैं। २ मोहनीयकर्मके भेद गिने हुए हैं और उनके कार्य भी दर्शन चारित्र आदिका नाश करना सुनिश्चित है अतः 'मै बडा विद्वान् हूँ।' यह प्रज्ञामद मोहका कार्य न होकर ज्ञानावरणका कार्य है। चारित्रवालोंके भी प्रज्ञापरिषह होती है।

प्रज्ञापिनी भाषा—दे० भाषा।

प्रज्ञाश्रवण ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२/७।

प्रचय—१. दे० क्रम/१, २ Common difference. (ज. प./प्र १०७)।

प्रचला—दे० निद्रा।

प्रच्छना—दे० पृच्छना।

प्रच्छन्न—आलोचनाका एक दोष—दे० आलोचना/२।

प्रजापाल—सुकच्छ देशके श्रीपुर नगरका राजा था। जिन दीक्षा धारण कर ली थी। आयुके अन्तमें समाधि सहित मरणकर अच्युत स्वर्गमें उत्पन्न हुआ। (म. प्र/६६/६७-७५) यह पद्म चक्रवर्तीका पूर्व तीसरा भव है—दे० पद्म।

प्रज्वलित—तीसरे नरकका छठा पटल—दे० नरक/५।

वट्टइ मोचूण विराहणं विसेसेण। सो पडिकमणं उच्चइ पडिकमण-मओ हवे जम्हा।८४। =वचन रचनाको छोडकर, रागादि भावोका निवारण करके, जो आत्माको ध्याता है, उसे प्रतिक्रमण होता है। ।८३। जो (जीव) विराधनाको विशेषतः छोडकर आराधनामें वर्तता है, वह (जीव) प्रतिक्रमण कहलाता है, कारण कि वह प्रतिक्रमण मय है।८४। (इसी प्रकार अनाचारको छोडकर आचारमे, उन्मार्गका त्याग करके जिनमार्गमें, शल्य भावको छोडकर नि:शल्य भावसे, अगुप्ति भावको छोडकर त्रिगुप्ति गुप्तसे, आर्त-रौद्र ध्यानको छोडकर धर्म अथवा शुक्ल ध्यानको, मिथ्यादर्शन आदिको छोडकर सम्यक् दर्शनको भाता है वह जीव प्रतिक्रमण है। (नि. सा /मू /८५-९१)।

भ.आ./वि /१०/४६/१० कृतातिचारस्य यतेस्तदतिचारपराङ्मुखतो योगत्रयेण हा दुष्टं कृतं चिन्तितमनुमन्तं चेति परिणाम प्रतिक्रमणम्। =जब मुनिको चारित्र पालते समय दोष लगते हे तब, मन वचन-योगसे मैंने हा! दुष्ट कार्य किया कराया व करनेवालोका अनुमोदन किया यह अयोग्य किया ऐसे आत्माके परिणामको प्रतिक्रमण कहते है।

२. निश्चय नयकी अपेक्षा

नि. सा./मू /९२ उत्तमअट्ठं आदा तम्हि ठिदा हणदि मुणिवराकम्म। तम्हा दु झाणमेव हि उत्तम अट्ठस्स पडिकमणं।९२। =उत्तमार्थ (अर्थात् उत्तम पदार्थ सच्चिदानन्द रूप कारण समयसार स्वरूप) आत्मामें स्थित मुनिवर कर्मका घात करते हैं, इसलिए ध्यान ही वास्तवमें उत्तमार्थका प्रतिक्रमण है।९२। (न. च वृ./३४६)।

ति. प./९/४९ पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्ती य। णिंदणगरुहणसोही लब्भंति णियादभावणए।४९। =निजात्मा भावनासे प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, प्रतिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दन, गर्हण और शुद्धिको प्राप्त होते है।४९।

यो. सा. अ./५/५० कृताना कर्मणां पूर्वं सर्वेषा पाकमीयुषां। आत्मीयत्वपरित्याग प्रतिक्रमणमीर्यते।५०। =पहिले किये हुए कर्मोंके प्रदत्त फलोंको अपना न मानना प्रतिक्रमण कहा जाता हे।५०।

प्र. सा /ता वृ./२०७/२८१/१४ निजशुद्धात्मपरिणतिलक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन बृहत्प्रतिक्रमणा भण्यते। =निज शुद्धात्म परिणति है लक्षण जिसका ऐसी जो क्रिया है, वह निश्चय नयसे बृहत्प्रतिक्रमण कही जाती है।

३. प्रतिक्रमणके भेद

१. दैवसिक आदिकी अपेक्षा

मू. आ./१२०,६१३ पढमं सव्वदिचार विदिय तिविहं हवे पडिक्कमणं। पाणस्स परिच्चयण जावज्जीवुत्तमट्ठ च।१२०। पडिक्कमण देवसिय रादिय इरियापध च बोधव्व। पक्खिय चादुम्मासिय सवच्छरमुत्तमट्ठं च।६१३। =पहला सर्वातिचार प्रतिक्रमण है अर्थात् दीक्षा ग्रहणसे लेकर सब तपश्चरणके कालतक जो दोष लगे हो उनकी शुद्धि करना, दूसरा त्रिविध प्रतिक्रमण है वह जलके बिना तीन प्रकारका आहारका त्याग करनेमें जो अतिचार लगे थे उनका शोधन करना और तीसरा उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है उसमें जीवन पर्यंत जल-पीनेका त्याग किया था, उसके दोषोकी शुद्धि करना है।१२०। अतिचारोसे निवृत्ति होना वह प्रतिक्रमण है वह दैवसिक रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चतुर्मासिक, सावत्सरिक, और उत्तमार्थ प्रतिक्रमण ऐसे सात प्रकार है /६१३/ (क. पा. १); (६,१/६८८/११३/६) (गो, जी /जी. प्र./३६७/७९०/३)।

२. द्रव्य क्षेत्र आदिकी अपेक्षा

भ. आ./वि /११६/२७५/१४ प्रतिक्रमणं प्रतिनिवृत्ति' षोढा भिद्यते नाम-स्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन।·· केषांचिद्व्याख्यान। चतुर्विधमित्यपरे। =अशुभसे निवृत्त होना प्रतिक्रमण है, उसके छह भेद है—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रतिक्रमण। ऐसे कितने आचार्योंका मत है। कोई आचार्य प्रतिक्रमणके चार भेद कहते है।

४. नाम स्थापनादि प्रतिक्रमणका लक्षण

भ. आ./वि./११६/२७५/१४ अयोग्यनाम्नामनुच्चारणं नामप्रतिक्रमणं। · ·आप्ताभासप्रतिमाया पुर स्थिताया गदभिमुखतया कृताञ्जलिपुटता, शिरोवनति न कर्तव्यम्। एव सा स्थापना परिहृता भवति। त्रस-स्थावरस्थापनानामविनाशन अमर्दन अताडन वा परिहारप्रतिक्रमण। · उद्गमोत्पादनैषणादोषदुष्टन वसतीनां उपकरणाना, भिक्षाणा च परिहरण, अयोग्याना चाहारादीना, गृद्धदर्पस्य च कारणानां संक्लेशहेतूना वा निरसनं द्रव्यप्रतिक्रमण। उदक-कर्दमत्रसस्थावरनिचितेषु क्षेत्रेषु गमनादिवर्जनं क्षेत्रप्रतिक्रमण। यस्मिन्वा क्षेत्रे वसतो रत्नत्रयहानिर्भवति तस्य वा परिहार।· रात्रिरूध्यात्रयस्वाध्यायावश्यककालेषु गमनागमनादिव्यापारा-कारणात् कालप्रतिक्रमणं। · ·आर्तरौद्रमित्यादयोऽशुभपरिणामा', पुण्यास्रवभूताश्च शुभपरिणामा,इह भावशब्देन गृह्यन्ते,तेभ्यो निवृत्ति-र्भावप्रतिक्रमणं इति। =अयोग्य नामोका उच्चारण न करना यह नाम प्रतिक्रमण है।· ·आप्ताभासकी प्रतिमाके आगे खडे होकर हाथ जोडना, मस्तक नवाना, द्रव्यसे पूजा करना, इस प्रकारके स्थापनाका त्याग करना, अथवा त्रस, वा स्थावर जीवोकी स्थापनाओ का नाश करना, मर्दन तथा ताडन आदिका त्याग करना स्थापना प्रतिक्रमण है।·· उद्गमादि दोष युक्त वसतिका, उपकरण व आहारका त्याग करना, अयोग्य अभिलाषा, उन्मत्तता तथा सक्लेश परिणामको बढाने वाले आहारादिका त्याग करना, यह सब द्रव्य प्रतिक्रमण है। पानी, कीचड, त्रसजीव, स्थावर जीवोसे व्याप्त प्रदेश, तथा रत्नत्रय-की हानि जहाँ हो ऐसे प्रदेशका त्याग करना क्षेत्र प्रतिक्रमण है।· · रात्रि, तीनों सन्ध्याओमें, स्वाध्यायकाल, आवश्यक क्रियाके कालोमें आने जानेका त्याग करना यह काल प्रतिक्रमण है।· ·आर्त-रौद्र इत्यादिक अशुभ परिणाम व पुण्यास्रवके कारणभूत अशुभ परिणाम-का त्याग करना भाव प्रतिक्रमण है।

भ. आ /वि./५०६/७२८/१४ हा दुष्कृतमिति वा मन'प्रतिक्रमण। सूत्रो-च्चारणं वाक्य-प्रतिक्रमण। कायेन तदनाचरणं कायप्रतिक्रमणं। =किये हुए अतिचारोंका मनसे त्याग करना यह मन प्रतिक्रमण है। हाय मैंने पाप कार्य किया है। ऐसा मनसे विचार करना यह मन प्रति-क्रमणके सूत्रोका उच्चारण करना यह वाक्य प्रतिक्रमण है। शरीरके द्वारा दुष्कृत्योका आचरण न करना यह कायकृत प्रतिक्रमण है।

* आलोचना व प्रतिक्रमण रूप उभय प्रायश्चित्त

—दे० प्रायश्चित्त

५. अप्रतिक्रमणका लक्षण

स. सा./ता. वृ /३०७/३८६/१७ अप्रतिक्रमण द्विविध भवति ज्ञानि-जनाश्रितं अज्ञानिजनाश्रित चेति। अज्ञानिजनाश्रितं यदप्रतिक्रमणं तद्विषयकषायपरिणतिरूप भवति। ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानलक्षण त्रिगुप्तिरूप। =अप्रतिक्रमण दो प्रकारका है—ज्ञानीजनोंके आश्रित और अज्ञानी जनोंके आश्रित। अज्ञानी जनोंके आश्रित जो अप्रतिक्रमण है वह विषय कषायकी परिणति रूप है अर्थात् हेयोपादेयके विवेकशून्य सर्वथा अत्याग रूप निरर्गल प्रवृत्ति है। परन्तु ज्ञानी जीवोके आश्रित जो अप्रतिक्रमण है वह शुद्धात्माके सम्यग्श्रद्धान ज्ञान व आचरण लक्षण वाले अभेद रत्नत्रयरूप या त्रिगुप्ति रूप है।

स. सा./ता वृ./२८३/३६३/८ पूर्वानुभूतविषयानुभवरागादिस्मरणरूपम-प्रतिक्रमण द्विविध, · द्रव्यभावरूपेण'·। =पूर्वानुभूत विषयोंका

अनुभव व रागादि रूप अप्रतिक्रमण दो प्रकारका है—द्रव्य व भाव अप्रतिक्रमण।

स. सा./पं. जयचन्द/२८४-२८५ अतीत कालमें जो पर द्रव्योंका ग्रहण किया था उनको वर्तमानमें अच्छा जानना, उनका संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व भावका सो द्रव्य अप्रतिक्रमण है। उन द्रव्योंके निमित्तसे जो रागादि भाव (अतीत कालमें) हुए थे, उनको वर्तमान में भले जानना, उनका संस्कार रहना, उनके प्रति ममत्व भाव रहना सो भाव अप्रतिक्रमण है।

२. प्रतिक्रमण विधि

१. आदि व अन्त तीर्थोंमें प्रतिक्रमणकी नितान्त आवश्यकता

मू. आ./६२९,६३० इरियागोयरसुमिणादिसव्वमाचरदु मा व आचरदु। पुरिमचरिमादु सव्वे सव्वं णियमा पडिक्कमदि।६२८। पुरिमचरिमादु जम्हा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य। तो सव्वपडिक्कमणं अंधलघोडय दिट्ठंतो।६३०। =ऋषभदेव और महावीर प्रभुके शिष्य इन सब ईर्यागोचरी स्वप्नादिमें उत्पन्न हुए अतीचारोंको प्राप्त हो अथवा मत प्राप्त हो तो भी प्रतिक्रमणके सब दण्डकोंको उच्चारण करते हैं।६२९। आदि अन्तके तीर्थंकरके शिष्य चलायमान चित्त वाले होते हैं, मूढ बुद्धि होते हैं इसलिए उनके सब प्रतिक्रमण दण्डक उच्चारण करते हैं। इसमें अन्धे घोडेका दृष्टान्त है कि सब औषधियोंके करनेसे वह सूझता है।६३०। (मू आ./६२६) (भ. आ./वि./४२१/६१६/५)।

२. शिष्योंका प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक और गुरुका आलोचनाके बिना ही होता है

मू. आ./६१८ काऊण य किदियम्म पडिलेहिय अंजलीकरणसुद्धो। आलोचिज्ज सुविहिदो गारव माणं च मोत्तूण।६१८। =विनयकर्म करके, शरीर आसनको पीछी व नेत्रसे शुद्ध करके, अंजलि क्रियामें शुद्ध हुआ निर्मल प्रवृत्ति वाला साधु ऋद्धि आदि गौरव और जाति आदिके मानको छोडकर गुरुसे अपने अपराधोंका निवेदन करे।६१८।

रा. वा./९/२२/४/६२१/२२ इदमयुक्तं वर्तते। 'किमत्रायुक्तम्। अनालोचयत न किंचिदपि प्रायश्चित्तम्' इत्युक्तम्, पुनरुपदिष्टम्—'प्रतिक्रमणं मात्रमेव शुद्धिकरम्' इति एतदयुक्तम्। अथ तत्राप्यालोचनापूर्वकत्वमभ्युपगम्यते, तदुभयोपदेशो व्यर्थः, नैष दोषः, सर्वं प्रतिक्रमणमालोचनापूर्वकमेव, किंतु पूर्वं गुरुणाभ्यनुज्ञात शिष्येणैव कर्त्तव्यम्, इदं पुनर्गुरुणैवानुष्ठेयम्। =शंका—पहिले कहा है कि आलोचना किये बिना कुछ भी प्रायश्चित्त नहीं होता और अब कह रहे हैं कि प्रतिक्रमण मात्र ही शुद्धिकारी है। इसलिए ऐसा कहना अयुक्त है। यहाँ भी आलोचना पूर्वक ही जाना जाता है इसलिए तदुभय प्रायश्चित्तका निर्देश करना व्यर्थ है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है—वास्तवमें सभी प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक ही होते हैं। किन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि तदुभय प्रायश्चित्त गुरुकी आज्ञासे शिष्य करता है। जहाँ केवल प्रतिक्रमणसे दोष शुद्धि होती है वहाँ वह स्वयं गुरुके द्वारा ही किया जाता है, क्योंकि गुरु स्वयं किसी अन्यसे आलोचना नहीं करता।

३. अल्प दोषमें गुरु साक्षी आवश्यक नहीं

ध.१३/५,४,२६/६०/१० एदं (पडिक्कमण पायच्छित्तं) कत्थ होदि। अप्पावराहे गुरूहि विणा वट्टमाणम्हि होदि=जब अपराध छोटा सा हो और गुरु समीप न हों, तब यह (प्रतिक्रमण नामका) प्रायश्चित्त है।

चा. सा./१४१/४ अस्थितानां योगानां धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसंनिधानेन विस्मरणे सत्यालोचन पुनरनुष्ठायकस्य संवेगनिर्वेदपरस्य गुरुविरहितस्याल्पापराधस्य पुनर्न करोमि मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमादिभिर्दोषान्निवर्त्तनं प्रतिक्रमणं। =धर्म कथादिमें कोई विघ्नके कारण उपस्थित हो जानेपर यदि कोई मुनि अपने स्थिर योगोंको भूल जाय तो पहिले आलोचना करते हैं और फिर वे यदि संवेग और वैराग्यमें तत्पर रहे समीपमें गुरु न हों तथा छोटा सा अपराध लगा हो तो 'मैं फिर कभी ऐसा नहीं करूँगा यह मेरा पाप मिथ्या हो' इस प्रकार दोषोंसे अलग रहना प्रतिक्रमण कहलाता है।

४. प्रतिक्रमण करनेका विषय व विधि

मू. आ./६१६-६१७ पडिकमिदव्वं दव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सियं तिविहं। खेत्तं च गिहादीयं कालो दिवसादिकालम्हि।११६। मिच्छत्तपडिक्कमणं तह चेव असंजमे पडिक्कमणं। कसाएसु पडिक्कमणं जोगेसु य अप्पसत्थेसु।६१७। =सचित्त अचित्त मिश्ररूप जो त्यागने योग्य द्रव्य है वह प्रतिक्रमितव्य है, घर आदि क्षेत्र है, दिवस मुहूर्त आदि काल है। जिस द्रव्य आदिसे पापास्रव हो वह त्यागने योग्य है।६१६। मिथ्यात्वका प्रतिक्रमण, इसी तरह असंयमका प्रतिक्रमण, क्रोधादि कषायोंका प्रतिक्रमण, और अशुभ योगोंका प्रतिक्रमण करना चाहिए।६१७।

दे० प्रतिक्रमण/२/२ (गुरु समक्ष विनय सहित, शरीर व आसनको पीछी व नेत्रसे शुद्ध करके करना चाहिए)।

दे० कृति कर्म/४ (दैवसिकादि प्रतिक्रमणमें सिद्ध भक्ति आदि पाठोंका उच्चारण करना चाहिए)।

मू. आ./६६३-६६५ भत्ते पाणे गामंतरे य चदुमासिवरिसचरिमेसु। णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए।६६३। काओसग्गम्हिठिदो चिंतिदु इरियावधस्स अतिचारं। तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो।६६४। तह दिवसियरादियपक्खियचदुमासिवरिसचरिमेसु। तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च झायेज्जो।६६५। =भक्त पान ग्रामान्तर, चातुर्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ जानकर धीर पुरुष अतिशय कर दुःखके क्षय निमित्त कायोत्सर्गमें तिष्ठते हैं।६६३। कायोत्सर्गमें तिष्ठा, ईर्यापथके अतिचारके नाशको चिंतवन करता मुनि उन सब नियमोंको समाप्तकर धर्मध्यान और शुक्लध्यान चिन्तवन करो।६६४। इसी प्रकार दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ—इन सब नियमोंको पूर्ण कर धर्मध्यान और शुक्लध्यान ध्यावै।६६५।

५. प्रतिक्रमण योग्य काल

दे० प्रतिक्रमण/१/३ (दिन, रात्रि, पक्ष, वर्ष, व आयुके अन्तमें दैवसिकादि प्रतिक्रमण किये जाते हैं।)

अन. ध./९/४४ योगप्रतिक्रमविधिः प्रागुक्तो व्यावहारिकः। कालक्रमनियमोऽत्र न स्वाध्यायादिवदतः।४४। =रात्रि योग तथा प्रतिक्रमणका जो पहले विधान किया गया है, वह व्यावहारिक है। क्योंकि इनके विषयमें कालके क्रमका अर्थात् समयानुपूर्वीका या काल और क्रमका नियम नहीं है। जिस प्रकार स्वाध्यायादि (स्वाध्याय, देव वन्दन और भक्त प्रत्याख्यान) के विषयमें काल और क्रम नियमित माने गये हैं उस प्रकार रात्रियोग और प्रतिक्रमणके विषयमें नहीं।४४।

*** प्रतिक्रमणमें कायोत्सर्गके कालका प्रमाण** —दे० कायोत्सर्ग/१।

*** प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त किसको कब दिया जाता है, तथा प्रतिक्रमणके अतिचार** —दे० प्रायश्चित्त/४/२।

३. प्रतिक्रमण निर्देश

१. प्रतिक्रमण व सामायिकमें अन्तर

भ. आ./वि./११६/२७६/८ सामायिकस्य प्रतिक्रमणस्य च को भेद'। सावद्ययोगनिवृत्ति. सामायिक। प्रतिक्रमणमपि अशुभमनोवाक्काय-निवृत्तिरेव तत्कथं पडावश्यकव्यवस्था। अत्रोच्यते-सव्वं सावज्जजोगं पच्चक्खामाति वचनाद्विसादिभेदमनुपादाय सामान्येन सर्वसावद्य-योगनिवृत्ति सामायिकं। हिंसादिभेदेन सावद्ययोगविकल्पं कृत्वा ततो निवृत्ति. प्रतिक्रमण।.. इद त्वन्याय्य प्रतिविधानं। योगशब्देन वीर्यपरिणाम उच्यते। स च· क्षायोपशमिको भावस्ततो निवृत्तिर-शुभकर्मादाननिमित्तयोगरूपेण अपरिणतिरात्मन' सामायिकं। मिथ्यात्वामयमकपायाश्च दर्शनचारित्रमोहोदयजा औदयिका। · तेभ्यो विरतिर्व्यावृत्ति प्रतिक्रमण। =प्रश्न—सामायिक और प्रति-क्रमणमें क्या भेद है? सावद्य मन वचन कायकी प्रवृत्तियोसे विरक्त होना यह सामायिकका लक्षण है। और अशुभ मनोवाक्कायकी निवृत्ति होना यह प्रतिक्रमण है। अर्थात् प्रतिक्रमण और सामायिक इनमें कुछ भी भेद नहीं है। इसलिए छ. आवश्यक क्रियाओंकी व्यवस्था कैसे होगी? उत्तर—'सर्वसावद्य योगोंका मै त्याग करता हूँ' ऐसा वचन अर्थात् प्रतिज्ञा सामायिकमे की जाती है। हिंसादिको-के भेद पृथक् न ग्रहण कर सामान्यसे सर्व पापोंका त्याग करना सामा-यिक है। और हिंसादि भेदसे सावद्य योगके विकल्प करके उससे विरक्त होना प्रतिक्रमण है।···इस रीतिसे ऊपरके प्रश्नका कोई विद्वान उत्तर देते है परन्तु यह उनका उत्तर अयोग्य है। योग शब्द-से वीर्य परिणाम ऐसा अर्थ होता है। वह वीर्य परिणाम वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, इसलिए वह क्षायोपशमिक भाव है। ऐसे योगसे निवृत्त होना यह सामायिक है। मिथ्यात्व, असयम और कषाय ये दर्शन मोहनीय कर्मके उदयसे आत्मामें उत्पन्न होते है। · ऐसे परिणामोंसे विरक्ति होना यह प्रतिक्रमण कहा गया है।

२. प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यानमें अन्तर

क पा १/१,१/११५/१ पच्चक्खाणपडिक्कमणाणं को भेओ। उच्चदे, सगं-गट्ठियदोसाणं दव्व-खेत्त-काल-भावविसयाणं परिच्चाओ पच्चक्खाणं णाम। पच्चक्खाणादो अपच्चक्खाणं गंतूण पुणोपच्चक्खाणस्सागमणं पडिक्कमणं। =प्रश्न—प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमणमें क्या भेद है। उत्तर—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके निमित्तसे अपने शरीरमें लगे हुए दोषोका त्याग करना प्रत्याख्यान है। तथा प्रत्याख्यानसे अप्रत्या-ख्यानको प्राप्त होकर पुन प्रत्याख्यानको प्राप्त होना प्रतिक्रमण है।

३. प्रतिक्रमणके भेदोंका परस्परमें अन्तर्भाव

क पा १/१,१/§८८/११३/६ सव्वायिचारिय-तिविहाहारचायियपडिक्कम-णाणि उत्तमट्ठाणपडिक्कमणम्मि णिवदंति। अट्ठावीसमूलगुणाइचार-विसयसव्वपडिक्कमणाणि इरियावहयपडिक्कमम्मि णिवदंति, अवगय-अइचारविसयत्तादो। =सर्वातिचारिक और त्रिविधाहार त्यागिक नामके प्रतिक्रमण उत्तम स्थान प्रतिक्रमणमें अन्तर्भूत होते है। अट्ठाईस मूलगुणोंके अतिचारविषयक समस्त प्रतिक्रमण ईर्यापथ प्रतिक्रमणमें अन्तर्भूत होते हैं, क्योकि प्रतिक्रमण अवगत अतिचारों-को विषय करता है।

* निश्चय व्यवहार प्रतिक्रमणकी मुख्यता गौणता

—दे० चारित्र।

प्रतिज्ञांतर—न्या सू /मू.व.टी./५/३/३/३१० प्रतिज्ञातार्थप्रतिपेधे धर्म-विकल्पात्तदर्थ निर्देश प्रतिज्ञान्तरम्।३। प्रतिज्ञातार्थोऽनित्य' शब्द' ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदित्युक्ते योऽस्य प्रतिपेध प्रतिदृष्टान्तेन हेतु-व्यभिचार सामान्यमैन्द्रियकं नित्यमिति तस्मिंश्च प्रतिज्ञातार्थ-प्रतिपेधे धर्मविकल्पादिति दृष्टान्तप्रतिदृष्टान्तयो साधर्म्ययोगे धर्म-भेदात्सामान्यमैन्द्रियकं सर्वगतमैन्द्रियकस्त्वसर्वगतो घट इति धर्म-विकल्पात्तदर्थ निर्देश इति साध्यसिद्धयर्थं कथं यथा घटोऽसर्वगत एवं शब्दोऽप्यसर्वगतो घटवदेवानित्य इति तत्रानित्य शब्द इति पूर्वा प्रतिज्ञा असर्वगत इति द्वितीया प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरं तत्कथं निग्रहस्थानमिति न प्रतिज्ञाया साधनं प्रतिज्ञान्तरं किंतु हेतु-दृष्टान्तौ साधनं प्रतिज्ञायाः तदेतदसाधनोपादानमनर्थकमिति। अनार्थक्यान्निग्रहस्थानमिति।३। =वादी द्वारा प्रतिज्ञात हो चुके अर्थका प्रतिवादी द्वारा प्रतिषेध करनेपर वादी उस दूषणका उद्धार करनेकी इच्छासे धर्मका यानी धर्मान्तरका विशिष्ट कल्प करके उस प्रतिज्ञात अर्थका अन्य विशेषणसे विशिष्टपने करके कथन कर देता है, यह प्रतिज्ञान्तर है।३। जैसे—शब्द अनित्य है ऐन्द्रियिक होनेसे घटके समान, इस प्रकार वादीके कहनेपर प्रतिवादी द्वारा अनित्यपने-का निषेध किया गया। ऐसी दशामें वादी कहता है कि जिस प्रकार घट असर्वगत है, उसी प्रकार शब्द भी अव्यापक हो जाओ और उस ऐन्द्रियक सामान्यके समान यह शब्द भी नित्य हो जाओ। इस प्रकार धर्मकी विकल्पना करनेसे ऐन्द्रियिकत्व हेतुका सामान्य नाम-को धारनेवाली जाति करके व्यभिचार हो जानेपर भी वादी द्वारा अपनी पूर्वकी प्रतिज्ञाकी प्रसिद्धिके लिए शब्दके सर्वव्यापकपना विकल्प दिखलाया गया कि तब तो शब्द असर्वगत हो जाओ। इस प्रकार वादीकी दूसरी प्रतिज्ञा तो उस अपने प्रकृत पक्षको साधनेमें समर्थ नहीं है। इस प्रकार वादीका निग्रह होना माना जाता है। किन्तु यह प्रशस्त मार्ग नही है। (श्लो वा. ४/न्या १३०/३५४/१६ में इसपर चर्चा की गयी है)।

प्रतिज्ञा—न्या दी./३/§३१/७६/४ तत्र धर्मधर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा। यथा—पर्वतोऽयमग्निमान् इति। =धर्म और धर्मीके समुदायरूप पक्षके कहनेको प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे—यह पर्वत अग्निवाला है।

न्या. सू /टी /१/१/३३/३८/१० साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा सबन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थ। अनित्य' शब्द इति प्रतिज्ञा। =धर्मिके द्वारा साध्य धर्मका सिद्ध करना प्रतिज्ञाका अर्थ है। जैसे—किसीने कहा कि शब्द अनिवार्य है।

प्रतिज्ञाविरोध—न्या. सू./मू. व टी /५/२/४/३११ प्रतिज्ञाहेत्वो-र्विरोध. प्रतिज्ञाविरोध.।४। गुणव्यतिरिक्तद्रव्यमिति प्रतिज्ञा। रूपादितोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति हेतु' सोऽय प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोध कथं यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्य रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुप-लब्धिर्नोपपद्यते। रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धि गुण-व्यतिरिक्त द्रव्यमिति नोपपद्यते गुणव्यतिरिक्त च द्रव्यं रूपादि-भ्यश्चार्थान्तरस्यानुपलब्धिरिति विरुध्यते व्याहन्यते न सभवतीति। =प्रतिज्ञावाक्य और हेतुवाक्यका विरोध हो जाना प्रतिज्ञाविरोध है।४। द्रव्य, गुणसे भिन्न है यह प्रतिज्ञा हुई और रूपादिकोसे अर्थान्तर-की अनुपलब्धि होनेसे, यह हेतु है। ये परस्पर विरोधी हैं क्योकि जो द्रव्य गुणसे भिन्न है, तो रूपादिकोंसे भिन्न अर्थकी अनुपलब्धि इस प्रकार कहना ठीक नही होता है। और जो रूप आदिकोसे भिन्न अर्थकी अनुपलब्धि हो तो 'गुणसे भिन्न द्रव्य' ऐसा कहना नहीं बनता है। इसको प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान कहते है। (श्लो. वा. ४/न्या. १४२/३५६/२२ में इसपर चर्चा)।

प्रतिज्ञा संन्यास—(श्लो वा. ४/मू. व टी./५/२/५/३११ पक्षप्रति-पेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासन्यास।५। अनित्य शब्द. ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते परो ब्रूयात्सामान्यमैन्द्रियक न चानित्यमेवं शब्दोऽप्यैन्द्रियको न चानित्य इति। एवं प्रतिषिद्धे पक्षे यदि ब्रूयात

भिज्ञा झटित्येक्तां परामृषन्ती तदेवेत्युपजायते। सा च मतिरेव निश्चितेत्याह।=उत्तरकी समीचीन प्रतिपत्ति हो जाना प्रतिभा है। किन्हीं लोगोंने उसको न्यारा प्रमाण माना है। किन्तु हम जैनोंके न्यारे प्रमाणस्वरूप नहीं है क्योंकि वाचक शब्दोंकी योजनाका सद्भाव है। किन्तु अत्यन्त अभ्यास हो जानेसे झटिति, कूट, वृक्ष, जल आदिमें उस प्रतिभाके अनुसार प्रवृत्ति हो जाती है। जो यह अनभ्यासी पुरुषकी प्रतिभा है, वह तो श्रुत नहीं है। क्योंकि पहिले कहीं देख लिये गये और अब उत्तर कालमें देखे जा रहे कूट, वृक्ष आदिके एकपनमें झट सादृश्य प्रत्यभिज्ञा उपज जाती है।

प्रतिभाग—लब्ध (ध/प्र०३)।

प्रतिभूत—भूत जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० भूत।

प्रतिभग्न—क. पा /३/३,२२/§४०१/२३१/१ उक्कस्सट्ठिदि बंधतो पडिहग्गपढमादिसमएसु सम्मत्तं ण गेण्हदि त्ति जाणावणट्ठमतोमुहुत्तद्धं पडिभग्गो त्ति भणिदं।=प्रतिभग्न शब्दका अर्थ उत्कृष्ट स्थिति बंधके योग्य उत्कृष्ट संक्लेश रूप परिणामोंसे प्रतिनिवृत्त होकर विशुद्धिको प्राप्त हुआ होता है।

प्रतिमा—१. मूर्ति रूप प्रतिमा—दे० चैत्य चैत्यालय। २. सल्लेखना गत साधुकी १२ प्रतिमाएँ—दे० सल्लेखना/४/१/२। ३ श्रावककी ११ प्रतिमाएँ—दे० श्रावक/१।

प्रतिमान प्रमाण—दे० प्रमाण/५।

प्रतियोगी—१. जिस धर्ममें जिस धर्मका अभाव होता है वह धर्म उस अभावका प्रतियोगी कहलाता है जैसे—घटमें पटत्व। २. वह वस्तु जो अन्य वस्तुपर आश्रित हो।

प्रतिरूप—भूत जातिके व्यन्तर देवोंका भेद—दे० भूत।

प्रतिरूपक—स.सि /७/२७/३६७/८ कृत्रिमैर्हिरण्यादिभिर्वञ्चनापूर्वको व्यवहारः प्रतिरूपकव्यवहारः।=बनावटी चाँदी आदिसे कपट पूर्वक व्यवहार करना प्रतिरूपक व्यवहार है। (रा.वा./७/२७/५/५५४/१७) इसमें मायाचारीका भी दोष आता है—दे० माया/२।

प्रतिलेखन—दे० पिच्छि।

प्रतिलोम क्रम—पं ध./पू०/२८७ भाषा—सामान्यकी मुख्यता तथा विशेषकी गौणता करनेसे जो अस्ति-नास्ति रूप वस्तु प्रतिपादित होती है उसे अनुलोम क्रम कहते हे। तथा विशेषकी मुख्यता और सामान्यकी गौणता करनेसे जो अस्ति नास्ति रूप वस्तु प्रतिपादित होती हे उसे प्रतिलोम क्रम कहते हैं।

प्रति विपला—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित /I/१।

प्रति विपलांस—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित /I/१।

प्रतिश्रमण अनुमति—दे० अनुमति।

प्रतिश्रुति—म पु./३/६३-६६ प्रथम कुलकर थे। सूर्य चन्द्रमाको देखकर भयभीत हुए लोगोंके भयको इन्होंने दूर किया था। विशेष दे.—शलाका पुरुष/६।

प्रतिषेध—दे० निषेध।

प्रतिष्ठा—ष.खं.१३/५,५/सू.४०/२४३ धरणी धारणा ट्ठवणा कोट्ठा पदिट्ठा।४०। प्रतिष्ठन्ति विनाशेन विना अस्यामर्था इति प्रतिष्ठा।=धरणी, धारणा, स्थापना, कोष्ठा और प्रतिष्ठा ये एकार्थ नाम है।४०। जिसमें विनाशके बिना पदार्थ प्रतिष्ठित रहते है वह बुद्धि प्रतिष्ठा है।

प्रतिष्ठाचार्य—दे० आचार्य/१।

प्रतिष्ठा विधान—१. प्रतिष्ठाविधान क्रम—प्रमाण-(क) वसुनन्दि प्रतिष्ठापाठ परिशिष्ट।४। (ख) वसुनन्दिश्रावकाचार; (ग) वसुनन्दिप्रतिष्ठापाठ। १. आठ दस हाथ प्रमाण निर्माण। (ख/३९३-४०१) २. प्रतिष्ठाचार्यमें इन्द्रका संकल्प (ख०/४०२-४०४) ३. मण्डपमें सिंहासनकी स्थापना (ख./४०५-४०६) ४. मण्डपकी ईशान दिशामें पृथक् वेदीपर प्रतिमाका धूलिकलशाभिषेक (ख./४०७-४०८); ५. प्रतिमाकी प्रोक्षण विधि (ख./४०९); ६. आकारकी प्रोक्षण विधि (ख./४१०); ७. गुणारोपण, चन्दनतिलक, मुखावर्ण, मन्त्र न्यास व मुखपट (ख./४११-४२१) ८. प्रतिमाके कंकण बन्धन, काण्डक स्थापन, यव (जौ) स्थापन, वर्ण पूरक, और इक्षु स्थापन, विशेष मन्त्रोच्चारण पूर्वक मुखोद्घाटन (ग./११२/११६), ९. रात्रि जागरण, चार दिन तक पूजन (ख./४२२-४२३); १० नेत्रोन्मीलन।

२. उपरोक्त अंगोंके लक्षण

१. प्रतिमा सर्वांग सुन्दर और शुद्ध होनी चाहिए। अन्यथा प्रतिष्ठा कारकके धन जन हानिको सूचक होती है। (क./१-८१) २. जलपूर्ण घटमें डालकर हुई शुद्ध मिट्टीसे कारीगर द्वारा प्रतिमापर लेप कराना धूलिकलशाभिषेक कहलाता है। (ग./७०-७१) ३. सधवा स्त्रियों द्वारा माँजा जाना प्रोक्षण कहलाता है। (ग /७२); ४. सर्वौषध जलसे प्रतिमाको शुद्ध करना आकर शुद्धि है। (ग./७३-८६); ५ अरहंतादिकी प्रतिमामें उन उनके गुणोंका सकल्प करना गुणारोपण है। (ग./६५-१००); ६. प्रतिमाके विभिन्न अंगोंपर बीजाक्षरोंका लिखना मन्त्र संन्यास है। (ग./१०१-१०३) ७. प्रतिमाके मुखको वस्त्रसे ढाँकना मुखपट विधान है। (ग./१०७), ८. प्रतिमाकी आँखमें काजल डालना नेत्रोन्मीलन कहलाता है। नोट—यह सभी क्रियाएँ यथायोग्य मन्त्रोच्चारण द्वारा निष्पन्न की जाती हैं।

३. अचलप्रतिमा प्रतिष्ठा विधि

स्थिर या अचल प्रतिमा की स्थापना भी इसी प्रकार की जाती है। केवल इतनी विशेषता है कि आकर शुद्धि स्वस्थानमें ही करें। (भित्ति या विशाल पाषाण और पर्वत आदिपर) चित्रित अर्थात् उकेरी गयी, रंगादिसे बनायी गयी या छापी गयी प्रतिमाका दर्पणमें प्रतिबिम्ब दिखाकर और मस्तकपर तिलक देकर तत्पश्चात् प्रतिमाके मुख वस्त्र देवे। आकर शुद्धि दर्पणमें करे अथवा अन्य प्रतिमामें करे। इतना मात्र ही भेद है, अन्य नहीं। (ख/४४३-४४५)

प्रतिष्ठा तिलक—आ० ब्रह्मदेव (ई १२९२-१३२३) द्वारा रचित संस्कृत भाषाका एक ग्रन्थ।

प्रतिष्ठापना शुद्धि—दे० समिति/१।

प्रतिष्ठापना समिति—दे० समिति/१।

प्रतिष्ठा पाठ—१. आ० इन्द्रनन्दि (श.१०-११) की रचना है। इसमें प्रतिमा व वेदीकी प्रतिष्ठा व शुद्धिका विधान बताया है। २. आ० वसुनन्दि (जयसेन) (ई. १०४२-१०५३) द्वारा रचित सस्कृत श्लोक बद्ध ग्रन्थ है, जिसमें कुल १२४ श्लोक है। ३. प० आशाधर (ई. ११७३-१२४३) कृत सस्कृत ग्रन्थ।

प्रतिष्ठित—प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति—दे० वनस्पति/३।

प्रतिसरण—स.सा./ता.वृ./३०६/३८८/१० प्रतिसरण सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रेरणं।=सम्यक्त्वादि गुणोंकी प्रेरणा करना प्रतिसरण है।

प्रतिसारी ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२/४।

प्रतिसूर्य—यह हनुमानजीका मामा था। जो कि हनुमानकी माता अञ्जनाको जगलसे लाया था। (प.पु /१७/३४५-३४६)।

प्रतिसेवना कुशील साधु—दे० कुशील।

प्रतिसेवी अनुमती—दे० अनुमति।

प्रतिहरण—स.सा./ता.वृ./३०६/३८८/१० प्रतिहरणं मिथ्यात्वरागादिदोषेषु निवारणं। =मिथ्यात्व रागादि दोषोंका निवारण करना प्रतिहरण कहलाता है।

प्रतींद्र—दे० इंद्र।

प्रतीक—Symbol (ज.प./प्र./१०६)।

प्रतीच्छना—ध.९/४,१,५५/२६३/८ आइरियभडारएहि परविज्जमाणत्थावहरण पडिच्छणा णाम। =आचार्य भट्टारकों द्वारा कहे जाने वाले अर्थके निश्चय करनेका नाम प्रतीच्छना है।

ध.१४/५,६,१२/६/८ आइरिएहि कहिज्जमाणत्थाणं सुणणं पडिच्छणा णाम। =आचार्य जिन अर्थोंका कथन कर रहे हों उनका सुनना प्रतीच्छना है।

प्रतीच्य—पश्चिम दिशा।

प्रतीति—ध.१/१,१,११/१६६/७ दृष्टि श्रद्धा रुचि. प्रत्यय इति यावत्। =दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय (प्रतीति) ये पर्यायवाची नाम हैं।

प.ध./उ./४१२ प्रतीतिस्तु तथेति स्यात्स्वीकार:...।४१२। =तत्त्वार्थका स्वरूप जिस प्रकार है, वह उसी प्रकार है, ऐसा स्वीकार करना प्रतीति कहलाती है।

प्रतीत्य सत्य—दे० सत्य/१।

प्रत्यक्—पश्चिम दिशा।

प्रत्यक्ष—विशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। वह दो प्रकारका है—सांव्यवहारिक व पारमार्थिक। इन्द्रिय ज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, और इन्द्रिय आदि पर पदार्थोंसे निरपेक्ष केवल आत्मामें उत्पन्न होने वाला ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष है। यद्यपि न्यायके क्षेत्रमें सांव्यवहारिक ज्ञानको प्रत्यक्ष मान लिया गया है, पर परमार्थसे जैन दर्शनकार उसे परोक्ष ही मानते हैं। पारमार्थिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकारका है—सकल व विकल। सर्वज्ञ भगवान्‌का त्रिलोक व त्रिकालवर्ती केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, और सीमित द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव विषयक अवधि व मन:पर्ययज्ञान विकल या देश प्रत्यक्ष है।

१. भेद व लक्षण

१. प्रत्यक्ष ज्ञान सामान्यका लक्षण

१. आत्माके अर्थमें

प्र.सा./मू./५८ जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।५८। =यदि मात्र जीवके (आत्माके) द्वारा ही जाना जाये तो वह ज्ञान प्रत्यक्ष है।

स.सि./१/१२/१०३/१ अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा। तमेव ...प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्। =अक्ष, ज्ञा और व्याप् धातुएँ एकार्थवाची होती हैं, इसलिए अक्षका अर्थ आत्मा होता है। ...केवल आत्मासे होता है वह प्रत्यक्षज्ञान कहलाता है। (रा.वा./१/१२/२/५३/११) (ध.१/४,१,४५/४५/४) (प्र.सा./त.प्र./५७) (स.सा./आ./१३/क.८ के पश्चात्) (स.म./२८/३२१/८) (न्या.दी./२/§११/३६/१) (गो.जी./जी.प्र./३६९/७९१/७)।

प्र.सा./त.प्र./२१ संवेदनालम्बनभूता: सर्वद्रव्यपर्याया: प्रत्यक्षा एव भवन्ति। =संवेदनकी (प्रत्यक्ष ज्ञानकी) आलम्बनभूत समस्त द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं।

प्र.सा./त.प्र./५८ यत्पुनरन्त:करणमिन्द्रियं परोपदेश...आदिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मन: संभूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते। =मन, इन्द्रिय, परोपदेश आदिक सर्व परद्रव्योंकी अपेक्षा रखे बिना एकमात्र आत्मस्वभावको ही कारणरूपसे ग्रहण करके सर्व द्रव्य पर्यायोंके

समूहमें एक समय ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान ज्ञान केवल आत्माके द्वारा ही उत्पन्न होता है, इसलिए प्रत्यक्षके रूपमें माना जाता है।

२. विशद ज्ञानके अर्थमें

न्या. वि./मू./१/३/५७/१५ प्रत्यक्षलक्षणं प्राहु स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ।३। =स्पष्ट और सविकल्प तथा व्यभिचार आदि दोष रहित होकर सामान्य रूप द्रव्य और विशेष रूप पर्याय अर्थोंको तथा अपने स्वरूपको जानना ही प्रत्यक्षका लक्षण है।३। (श्लो. वा./३/१/१२/४.१७/१७४.१८६)।

सि. वि./मू./१/१९/७८/१६ प्रत्यक्ष विशदं ज्ञान। =विशद ज्ञान (प्रतिभास) को प्रत्यक्ष कहते है। (प. मु./२/३) (न्या. दी./२/§१/२३/४)

स. भं. त./४७/१० प्रत्यक्षस्य वैशद्यं स्वरूपम्। =वैशद्य अर्थात् निर्मलता वा स्वच्छता पूर्वक स्पष्ट रीतिसे भासना प्रत्यक्ष ज्ञानका स्वरूप है।

३. परापेक्ष रहितके अर्थमें

रा. वा./१/१२/१/५३/४ इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहण प्रत्यक्षम् ।१। =इन्द्रिय और मनकी अपेक्षाके बिना व्यभिचार रहित जो साकार ग्रहण होता है, उसे प्रत्यक्ष कहते है। (त. सा./१/१७/१४)।

पं. ध./पू./६९६ असहायं प्रत्यक्ष ..।६९६। =असहाय ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं।

२. प्रत्यक्ष ज्ञानके भेद

१. साव्यवहारिक व पारमार्थिक

स्या. मं./२८/३२१/६ प्रत्यक्ष द्विधा-सांव्यवहारिकं पारमार्थिक च। =साव्यवहारिक और पारमार्थिक ये प्रत्यक्षके दो भेद है। (न्या. दी./२/§२१/३१/६)।

२. देवी, पदार्थ व आत्म प्रत्यक्ष

न्या. वि./टी./१/३/११५/२१ प्रत्यक्ष त्रिविध देवै दीप्यतामुपपादितम्। द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषार्थात्मवेदनम् ।३६०। =प्रत्यक्ष तीन प्रकारका होता है--१ देवों द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान, द्रव्य व पर्यायोंको अथवा सामान्य व विशेष पदार्थोंको जानने वाला ज्ञान तथा आत्माको प्रत्यक्ष करनेवाला स्वसंवेदन ज्ञान।

३. प्रत्यक्ष ज्ञानके उत्तर भेद

१. साव्यवहारिक प्रत्यक्षके भेद

स्या. म./२८/३२१/६ साव्यवहारिक द्विविधम् इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तभेदात्। तद् द्वितयम् अवग्रहेहावायधारणाभेदाद् एकेकशश्चतुर्विकल्पम्। =साव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय और मनसे पैदा होता है। इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाले उस साव्यवहारिक प्रत्यक्षके अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा चार चार भेद हे। (न्या दी./२/§११-१२/३१-३३)।

२. पारमार्थिक प्रत्यक्षके भेद

स. सि./१/२०/१२५/९ तद् द्वेधा-देशप्रत्यक्ष सर्वप्रत्यक्ष च। =वह प्रत्यक्ष (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) दो प्रकारका है—देश प्रत्यक्ष और सर्व प्रत्यक्ष। (रा. वा/१/२१ उत्थानिका /७८/२५) (ज. प./१३/४६) (द्र. स./टी /५/१५/१), (प. ध./मू /६९७)।

ध. ६/४,१,४५/१४२/६ तत्र प्रत्यक्षं द्विविध, सकलविकलप्रत्यक्षभेदात्। =प्रत्यक्ष सकल प्रत्यक्ष व विकल प्रत्यक्षके भेदसे दो प्रकारका है। (न्या. दी./२/§१३/३४/१०)।

स्या. म/२८/३२१/८ तद्द्विविधम् क्षायोपशमिक क्षायिकं च। =वह (पारमार्थिक प्रत्यक्ष) क्षायोपशमिक और क्षायिकके भेदसे दो प्रकारका है।

३. सकल और विकल प्रत्यक्षके भेद

स. सि./१/२०/१२५/२ देशप्रत्यक्षमवधिमन पर्ययज्ञाने। सर्वप्रत्यक्ष केवलम्। =देश प्रत्यक्ष अवधि और मन पर्यय ज्ञानके भेदसे दो प्रकारका है। सर्व प्रत्यक्ष केवलज्ञान है। (वह एक ही प्रकारका होता है।) (रा. वा /१/२१/७८/२६ की उत्थानिका) (ध. ६/४,१,४५/१४२-१४३/७) (न. च. वृ./१७१), (नि. सा /ता. वृ./१२) (त. प./१३/४७). (स्या. म /२८/३२१/६), (द्र.सं./टी /५/१५/१) (पं.ध./पू./६९६)।

४. सांव्यवहारिक व पारमार्थिक प्रत्यक्षके लक्षण

प. मु./२/५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः साव्यवहारिकं। =जो ज्ञान स्पर्शनादि इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होता हो उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

स्या. म./२८/३२१/८ पारमार्थिक पुनरुत्पत्तौ आत्ममात्रापेक्षम्। =पारमार्थिक प्रत्यक्षकी उत्पत्तिमें केवल आत्मा मात्रकी सहायता रहती है।

द्र. स./टी./५/१५/६ समीचीनो व्यवहार सव्यवहारः। प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षण सव्यवहारो भण्यते। सव्यवहारे भव साव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। यथा घटरूपमिदं मया दृष्टमित्यादि। =समीचीन अर्थात् जो ठीक व्यवहार है वह संव्यवहार कहलाता है; संव्यवहारका लक्षण प्रवृत्ति निवृत्तिरूप है। संव्यवहारमें जो हो सो साव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। जैसे घटका रूप मैने देखा इत्यादि।

न्या. दी./२/§११-१३/३१-३४/७ यज्ज्ञान देशतो विशदमीषन्निर्मलं तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्यर्थ ।११। लोकसव्यवहारे प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धत्वात्साव्यवहारिकप्रत्यक्षमुच्यते। इदं चामुख्यप्रत्यक्षम्, उपचारसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु परोक्षमेव मतिज्ञानत्वात् ।१२। सर्वतो विशद पारमार्थिकप्रत्यक्षम्। यज्ज्ञानं साकल्येन स्पष्टं तत्पारमार्थिकप्रत्यक्षं मुख्यप्रत्यक्षमिति यावत् ।१३। =१. जो ज्ञान एक देश स्पष्ट, कुछ निर्मल है वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।११। यह ज्ञान लोक व्यवहारमें प्रत्यक्षप्रसिद्ध है, इसलिए सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा जाता है। यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष अमुख्य अर्थात् गौणरूपसे प्रत्यक्ष है, क्योंकि उपचारसे सिद्ध होता है। वास्तवमें परोक्ष ही है, क्योंकि मतिज्ञान है।१२। २. सम्पूर्णरूपसे प्रत्यक्ष ज्ञानको पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते है। जो ज्ञान सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल है, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष हे। उसीको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

५. देश व सकल प्रत्यक्षके लक्षण

ध ६/४,१ ४५/१४२/७ सकलप्रत्यक्ष केवलज्ञानम्, विषयीकृतत्रिकालगोचराशेषार्थत्वात् अतीन्द्रियत्वात् अक्रमवृत्तित्वात् निर्व्यवधानात् आत्मार्थसनिधानमात्रप्रवर्तनात्। अवधिमन पर्ययज्ञाने विकलप्रत्यक्षम्, तत्र साकल्येन प्रत्यक्षलक्षणाभावात्। =१ केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि, वह त्रिकालविषयक समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला, अतीन्द्रिय, अक्रमवृत्ति, व्यवधानसे रहित और आत्मा एव पदार्थकी समीपता मात्रसे प्रवृत्त होनेवाला है। (ज प/१३/४६) २. अवधि और मन पर्यय ज्ञान विकल प्रत्यक्ष है, क्योंकि उनमे सकल प्रत्यक्षका लक्षण नही पाया जाता (यह ज्ञान विनश्वर है। तथा मूर्त पदार्थोंमे भी इसकी पूर्ण प्रवृत्ति नही देखी जाती। (क. पा. १/१,१/§१६/१)।

ज. प./१३/५० दव्वे खेत्ते काले भावे जो परिमिदो दु अवबोधो। बहुविधभेदपभिण्णो सो होदि य वियलपच्चक्खो।५०। =जो ज्ञान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावमे परिमित तथा बहुत प्रकारके भेद प्रभेदोसे युक्त है वह विकल प्रत्यक्ष है।

होनेमें इन्द्रियोंके अभावमें भी ज्ञानका अस्तित्व हो सकता है। एक कार्य सर्वत्र एक ही कारणसे उत्पन्न नहीं होता। इन्द्रियाँ क्षीणा'-वरण जीवके भिन्न जातीय ज्ञानकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण हों, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि ऐसा माननेपर अतिप्रसंग दोष आ जायेगा, या अन्यथा मोक्षके अभावका प्रसग आ जायेगा।...इस कारण अनिन्द्रिय जीवोंमें करण, क्रम और व्यवधानसे अतीत ज्ञान होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। यह ज्ञान निष्कारण भी नहीं है, क्योंकि आत्मा और पदार्थके सन्निधान अर्थात् सामीप्यसे वह उत्पन्न होता है।

ध, ६/४,१,४५/१४३/३ अतीन्द्रियाणामवधि-मन'पर्ययकेवलाना कथं प्रत्यक्षता। नैष दोषः, अक्ष आत्मा, अक्षमक्ष प्रति वर्तत इति प्रत्यक्ष-मवधि-मन.पर्ययकेवलानीति तेषा प्रत्यक्षत्वसिद्धे' =प्रश्न—इन्द्रियोंकी अपेक्षासे रहित अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञानके प्रत्यक्षता कैसे सम्भव है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अक्ष शब्दका अर्थ आत्मा है; अतएव अक्ष अर्थात् आत्माकी अपेक्षा कर जो प्रवृत्त होता है वह प्रत्यक्ष है। इस निरुक्तिके अनुसार अवधि, मन - पर्यय, और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। अतएव उनके प्रत्यक्षता सिद्ध है। (न्या. दी./२/§१८-१६/३८), (न्या दी की टिप्पणीमें उद्धृत न्या. कु./पृ. २६; न्या. वि./पृ. ११)।

प्र. सा./त. प्र./१६/ उत्थानिका—कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति। अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, स्वपर-प्रकाशकत्वलक्षण ज्ञानमनाकुलत्वलक्षण सौख्य च भूत्वा परिणमते। एवमात्मनो ज्ञानानन्दौ स्वभाव एव। स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादि-न्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ सभवत.। =प्रश्न—आत्माके इन्द्रियोंके बिना ज्ञान और आनन्द कैसे होता है। उत्तर—शुद्धोप-योगकी सामर्थ्यसे जिसके घातीकर्म क्षयको प्राप्त हुए है,' स्वयमेव, स्वपर प्रकाशकता लक्षण ज्ञान और अनाकुलता लक्षण सुख होकर परिणमित होता है। इस प्रकार आत्माका ज्ञान और आनन्द स्वभाव ही है। और स्वभाव परसे अनपेक्ष है, इसलिए इन्द्रियोंके बिना भी आत्माके ज्ञान आनन्द होता है।

न्या. दी./२/§२२,२८/४२-५०/८ तत्पुनरतीन्द्रियमिति कथम्। इत्थम्—यदि तज्ज्ञानमैन्द्रियिक स्यात् अशेषविषयं न स्यात् इन्द्रियाणा स्वयोग्यविषय एव ज्ञानजनकत्वशक्ते' सूक्ष्मादीनां च तदयोग्यत्वा-दिति। तस्मात्सिद्ध तदशेषविषय ज्ञानमनैन्द्रियकमेवेति।२२। तदे-वमतीन्द्रियं केवलज्ञानमर्हत एवेति सिद्धम्। तद्वचनप्रामाण्याच्चा-वधिमन'पर्ययोरतीन्द्रिययो' सिद्धिरित्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमनवद्यम्। =प्रश्न—(सूक्ष्म पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान) अतीन्द्रिय है यह कैसे। उत्तर—इस प्रकार यह ज्ञान इन्द्रियजन्य हो तो सम्पूर्ण पदार्थोंको जाननेवाला नहीं हो सकता है; क्योंकि इन्द्रियाँ अपने योग्य विषयमें ही ज्ञानको उत्पन्न कर सकती है। और सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियोंके योग्य विषय नहीं है। अत वह सम्पूर्ण पदार्थ विषयक ज्ञान अनैन्द्रियक ही है।२२। इस प्रकार अतीन्द्रिय केवलज्ञान अरहन्तके ही है, यह सिद्ध हो गया। और उनके वचनोंको प्रमाण होनेसे उनके द्वारा प्रतिपादित अतीन्द्रिय अवधि और मन'पर्यय ज्ञान भी सिद्ध हो गये। इस तरह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है उसके माननेमें कोई दोष या बाधा नहीं है।

प्रत्यक्ष बाधित पक्षाभास—दे० बाधित।

प्रत्यक्ष बाधित हेत्वाभास—दे० बाधित।

प्रत्यनीक—गो. क/जी. प्र./८००/६७६/८ श्रुततद्धरादिषु अविनय-वृत्ति प्रत्यनीक प्रतिकूलतेत्यर्थ।=श्रुत व श्रुतधारकोंमें अविनय रूप प्रवृत्तिका प्रतिकूल होना प्रत्यनीक कहलाता है।

प्रत्यभिज्ञान—

स. सि./५/३१/३०२/३ तदेवेदमिति स्मरणं प्रत्यभिज्ञानम्। तदकस्मात्र भवतीति योऽस्य हेतु' स तद्भाव'। भवनं भावः। तस्य भावस्तद्-भाव'। येनात्मना प्राग्दृष्ट वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते।='वह यही है' इस प्रकारके स्मरणको प्रत्यभिज्ञान कहते है। वह अकस्मात् तो होता नहीं, इसलिए जो इसका कारण है वही तद्भाव है। ·तात्पर्य यह है कि पहले जिस रूप वस्तुको देखा था, उसी रूप उसके पुनः होनेसे 'वही यह है' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है। (स्या. मं/१८/२४५/६) (न्या. सू/मू. व. टी./३/२/२/१८५)।

प. मु./२/५ दर्शनस्मरणकारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं'।५। =प्रत्यक्ष और स्मरणकी सहायतासे जो जोड रूप ज्ञान है, वह प्रत्यभिज्ञान है।

स्या. मं./२८/३२१/२५ अनुभवस्मृतिहेतुकं तिर्यगूर्ध्वतासामान्यादिगोचरं संकलनात्मक ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। यथा तज्जातीय एवायं गोपिण्ड' गोसदृशो गवयः स एवाय जिनदत्त इत्यादि। =वर्तमानमें किसी वस्तुके अनुभव करनेपर और भूत कालमें देखे हुए पदार्थका स्मरण होनेपर तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य आदिको जानने वाले जोड रूप ज्ञानको प्रत्यभिज्ञान कहते है। जैसे—यह गोपिंड उसी जातिका है, यह गवय गौके समान है, यह वही जिनदत्त है इत्यादि (न्या. दी/३/§८/५६/२)।

न्या. दी./३/§१०/५७/३ केचिदाहु'—अनुभवस्मृतिव्यतिरिक्त प्रत्यभिज्ञानं नास्तीति; तदसत्, अनुभवस्य वर्तमानकालवर्ति विवर्त्तमात्रप्रकाशक-त्वम् स्मृतेश्चातीतविवर्त्तद्योतकत्वमिति तावद्वस्तुगति'। कथं नाम तयोरतीतवर्त्तमान·।=कोई कहता है कि अनुभव व स्मृतिसे अति-रिक्त प्रत्यभिज्ञान नामका कोई ज्ञान नहीं है। सो ठीक नहीं है क्योंकि अनुभव केवल वर्तमान कालवर्ती होता है और स्मृति अतीत विवर्त द्योतक है, ऐसी वस्तुस्थिति है। (परन्तु प्रत्यभिज्ञान दोनों का जोड रूप है)।

२. प्रत्यभिज्ञानके भेद

न्या. वि/टी./२/५०/७६/२४प्रत्यभिज्ञा द्विधा मिथ्या तथ्या चेति द्विप्रकारा =प्रत्यभिज्ञा दो प्रकारकी होती है—१. सम्यक् व २ मिथ्या।

प. मु/३/५...प्रत्यभिज्ञान तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षण तत्प्रतियोगी-त्यादि।५। =१, यह वही है, २, यह उसके सदृश है, ३, यह उससे विलक्षण है, ४. यह उससे दूर है, ५, यह वृक्ष है इत्यादि अनेक प्रकारका प्रत्यभिज्ञान होता है।

न्या. दी./३/§६/५६/६ तदिदमेकत्व सादृश्य तृतीये तु पुन'· वैसा-दृश्यम्··प्रत्यभिज्ञानम्। एवमन्येऽपि प्रत्यभिज्ञाभेदा यथाप्रतीति स्वयमुत्प्रेक्ष्या। =वस्तुओंमें रहने वाली १. एकता २. सादृशता और ३. विसदृशता प्रत्यभिज्ञाके विषय है। इसी प्रकार और भी प्रत्यभि-ज्ञानके भेद अपने अनुभवसे स्वयं विचार लेना।

३. प्रत्यभिज्ञानके भेदोंके लक्षण

न्या. वि./मू. व. टी./२/५०-५१/७६ प्रत्यभिज्ञा द्विधा [काचित्साद्दश्य-विनिबन्धना]।५०। काचित् जलविषया न तच्चक्रादिगोचरा साद-शस्य विशेषेण तन्मात्रातिशायिना रूपेण निबन्धनं व्यवस्थापनं यस्या' सा तथेति। सैव कस्मात्तथा इत्याह—प्रमाणपूर्विका नान्या [दृष्टिमान्द्यादिदोषत']इति।५१। प्रमाण प्रत्यक्षादिपूर्वं कारणं यस्या' सा काचिदेव नान्या तच्चक्रविषया यत,· दृष्टेर्मरीचिका-दर्शनस्य मान्द्य यथावस्थिततत्परिच्छित्ति प्रत्यपाटवम् आदिर्यस्य जलाभिलापादे स एव दोषस्तत इति। =१, सम्यक् प्रत्यभिज्ञान प्रमाण पूर्वक होता है जैसे—जलमें उठने वाले चक्रादिको न देखकर केवल जल मात्रमें, पूर्व गृहीत जलके साथ सादृश्यता देखनेसे 'यह

२. मोह राग द्वेष तीन प्रत्यय

न.च वृ./३०१ पच्चयवंतो रागा दोसामोहे य आसवा तेसि । ··।३०१। = राग, द्वेष और मोह ये तीन प्रत्यय है, इनसे कर्मोंका आस्रव होता है।३०१।

३. मिथ्यात्वादि चार प्रत्यय

स.सा./मू /१०९-११० सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो। मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगाय बोद्धव्वा।१०९। तेसि पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरस वियप्पो। मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमतं।११०। = चार सामान्य प्रत्यय निश्चयसे बन्धके कर्ता कहे जाते है, वे मिथ्यात्व अविरमण तथा कषाय और योग जानना।१०९। (प. सं /प्रा /४/७७) (ध.७/२ १ ७ गा./२/९) (ध.८/३ ६/१९/१२) (न.च.वृ /३०२) (यो.सा /३/२) (पं.का /-त प्र./१४९) और फिर उनका यह तेरह प्रकारका भेद कहा गया है जो कि—मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवली (गुणस्थान) पर्यंत है।११०।

४. मिथ्यात्वादि पाँच प्रत्यय

त. सू /८/१ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतव.।१। = मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्धके हेतु है ।१। (मू.आ /१२१९)।

५ प्राणातिपात आदि २८ प्रत्यय

ष. खं./१२/४,२,८/सू २-१/२७५ णेगम-ववहार-संगहाणं णाणावरणीय-वेयणा पाणादिवादपच्चए।२। मुसावादपच्चए।३। अदत्तादाणपच्चए ।४। मेहुणपच्चए।५। परिग्गहपच्चए।६। रादिभोयणपच्चए।७। एव कोह-माण-माया-लोह-राग-दोस-मोह-पेम्मपच्चए।८। णिदाणपच्चए ।९। अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छाणाण-मिच्छदसण-पओअपच्चए।१०। एव सत्तण्ण कम्माणं।११। = नैगम, व्यवहार, और संग्रह नयकी अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना—प्राणातिपात प्रत्ययसे; मृषावाद प्रत्ययसे, अदत्तादान प्रत्ययसे, मैथुन प्रत्ययसे, परिग्रह प्रत्ययसे, रात्रि भोजन प्रत्ययसे, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह और प्रेम प्रत्ययोसे, निदान प्रत्ययसे, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, मेय, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, और प्रयोग इन प्रत्ययोंसे होती है।२-१०। इसी प्रकार शेष सात कर्मोंके प्रत्ययोकी प्ररूपणा करनी चाहिए।११।

६. चार प्रत्ययोंके कुल ५७ भेद

प स./प्रा./४/७७ मिच्छासजम हुति हु कसाय जोगा य बंधहेऊ ते। पच दुवालस भेया कमेण पणुवीस पण्णरस।७७। = मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये चार कर्मबन्धके मूल कारण है। इनके उत्तर भेद क्रमसे पाँच, बारह, पच्चीस और पन्द्रह है। इस प्रकार सब मिलकर कर्म बन्धके सत्तावन उत्तर प्रत्यय होते है।७७। (ध ८/३,६./२१/१) (गो.क /मू /७८६/९५०)

?. प्रमादका कषायमें अन्तर्भाव करके पाँच प्रत्यय ही चार बन जाते हैं

ध/७/२,१,७/११/११ चदुण्हं बंधकारणाण मज्भे कत्थ पमादस्सतब्भावो। कसायेसु, कसायवदिरित्तपमादावणुवल भादो। = प्रश्न—पूर्वोक्त (मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय, और योग) चार बन्धके कारणोमें प्रमादका कहाँ अन्तर्भाव होता है? उत्तर—कषायोमें प्रमादका अन्तर्भाव होता है, क्योकि, कषायोसे पृथक् प्रमाद पाया नहीं जाता। (ध.१२/४,२,८,१०/२८९/१०)

८. प्राणातिपात आदि अन्य प्रत्ययोंका परस्परमें अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता

ध. १२/४,२,८-९/पृ./पं. ण च पाणदिवाद-मुसावाद-अदत्तादाणाणमंतरंगाणं कोधादिपच्चएसु अतब्भावो, कधंचि तत्तो तेसि भेदुवलंभादो (२८२/८)। ण च मेहुणं अतरंगरागे णिपददि, तत्तो कधंचि एदस्स भेदुवलंभादो (२८२/७)। मोहपच्चयो कोहादिसु पविसदि त्ति ण्णिण्णावणिज्जदे। ण, अवयवावयवीणं वदिरेगण्णयसरूवाणमणेगेगसंखाणं कारणकज्जाणं एगाणेगसहावावाणमेगत्तविरोहादो। (२८५/१०)। पेम्मपच्चयो लोभ-राग-पच्चएसु पविसदि त्ति पुणरुत्तो किण्ण जायदे। ण, तेहिंतो एदस्स कधंचि भेदुवलंभादो। त जहा वज्झत्थेसु ममेदं भावो लोभो। ण सो पेम्म, ममेदं बुद्धीए अपडिग्गहिदे वि दक्खाहले परदारे वा पेम्मुवलंभादो। ण रागो पेम्म, माया-लोह-हस्स-रदि-पेम्म-समूहस्स रागस्स अवयविणो अवयवसरूवपेम्मत्त-विरोहादो (२८४/३)। ण च एसो पच्चओ मिच्छत्तपच्चए पविसदि, मिच्छत्तसहचारिस्स मिच्छत्तेण एयत्तविरोहादो। ण पेम्मपच्चए पविसदि, सपयासंपयविसयम्मि पेम्मम्मि सपयविसयम्मि णिदाणस्स पवेसविरोहादो। = १. प्राणातिपात, मृषावाद और अदत्तादान इन अंतरग प्रत्ययोका क्रोधादिक प्रत्ययोमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि, उनसे इनका कथंचित भेद पाया जाता है। २. मैथुन अन्तरंग रागमें गर्भित नही होता, क्योकि, उससे इसमें कथंचित भेद पाया जाता है (२८२/७)। ३. प्रश्न—मोह प्रत्यय चूँकि क्रोधादिकमे प्रविष्ट है अतएव उसे कम क्यों नही किया जाता है? उत्तर—नही, क्योकि क्रमशः व्यतिरेक व अन्वय स्वरूप, अनेक व एक संख्या वाले, कारण व कार्य रूप तथा एक व अनेक स्वभावसे संयुक्त अवयव अवयवीके एक होनेका विरोध है (२८३/१०)। ४ प्रश्न—चूँकि प्रेम प्रत्यय लोभ व राग प्रत्ययोमे प्रविष्ट है अतः वह पुनरुक्त क्यों न होगा? उत्तर—नही, क्योकि उनसे इसका कथंचिद् भेद पाया जाता है। वह इस प्रकारसे—बाह्य पदार्थोंमें 'यह मेरा है' इस प्रकारके भावको लोभ कहा जाता है। वह प्रेम नही हो सकता, क्योकि, 'यह मेरा है' ऐसी बुद्धिके अविषयभूत भी द्राक्षाफल अथवा परस्त्रीके विषयमे प्रेम पाया जाता है। राग भी प्रेम नहीं हो सकता, क्योकि, माया, लोभ, हास्य, रति और प्रेमके समूह रूप अवयवी कहलाने वाले रागके अवयव स्वरूप प्रेम रूप होनेका विरोध है। (२८४/३)। ५. यह (निदान) प्रत्यय मिथ्यात्व प्रत्ययमें प्रविष्ट नहीं हो सकता, क्योकि वह मिथ्यात्वका सहचारी है, अतः मिथ्यात्वके साथ उसकी एकताका विरोध है। वह प्रेम प्रत्ययमे भी प्रविष्ट नही होता, क्योकि, प्रेम सम्पत्ति एवं असपत्ति दोनोको विषय करने वाला है, परन्तु निदान केवल सम्पत्तिको ही विषय करता है, अतएव उसका प्रेममें प्रविष्ट होना विरुद्ध है।

९. अविरति व प्रमादमें अन्तर

रा. वा./८/१/३२/५६५/४ अविरते प्रमादस्य चाविशेष इति चेत, न, विरतस्यापि प्रमाददर्शनात।३२। विरतस्यापि पञ्चदश प्रमादाः सभवन्ति-विकथाकषायेन्द्रियनिद्राप्रणयलक्षणा'। = प्रश्न—अविरति और प्रमादमें कोई भेद नहीं है? उत्तर—नहीं, क्योंकि विरतके भी

नं०	मार्गणा	गुण स्थान	उदयके अयोग्य प्रत्ययोंके नाम	उदय योग्य
	३ सूक्ष्म सा०	१० वाँ	मि० पचक, १२ अविरति, कषाय २५ सूक्ष्म लोभ २४, औ० मि०, वै० द्वि०, आ० द्विक, कार्मण ५+१२+२४+१+२+२,१ =४७	१०
	४ यथाख्यात	११-१४	मि० पंचक, अविरति, २५ कषाय, वै० द्वि०, आ० द्वि० =४६	११
	५. असयमी	१-४	आ० द्वि० =२	५५
	६ देशसयमी	५	अनन्ता० व अप्रत्या० चतु०, मि० पंचक, वै० द्वि०, औ० मि०, आ० द्वि०, कार्मण ८+५+२+१+२+१=२०	३७
९	दर्शन—			
	१. चक्षु व अचक्षु	१२	×	५७
	२. अवधि द०	४-१२	मिथ्यात्व पचक, अनन्तानु० चतु० =९	४८
	३. केवलदर्शन	१३-१४	मि० पचक, १२ अविरति, २५ कषाय, वै० द्वि०, आ० द्वि० असत्य व अनु० मन वच० ४ =५०	७
१०	लेश्या—			
	१. कृष्णादि ३	१-४	आ० द्वि०	५५
	२. पीतादि ३	१-७	×	५७
११	भव्य—			
	१ भव्य	१४	×	५७
	२. अभव्य	१	आ० द्वि०	५५
१२	सम्यक्त्व—			
	१. उपशम	४-७	अनन्तानु० चतु०, मिथ्यात्व पचक, आ० द्वि० =११	४६
	२. वेदक, क्षायिक		मिथ्या० पचक, अनन्तानु० चतु० =९	४८
	३ सासादन	२ रा	मिथ्या० पंचक, आ० द्वि० =७	५०
	४. मिथ्यादर्शन	१	आ० द्वि० =२	५५
	५. मिश्र	३ रा	मिथ्या० पचक, अनन्तानु०, चतु०, आ० द्वि०, औ० मि० वै० मि०, कार्मण =१४	४३
१३	संज्ञा—			
	१. असंज्ञी	२	मन सम्बन्धी अविरति, ४ मन०, अनुभयके बिना ३ वचन०, वै० द्वि०, आ० द्वि० १+४+३+२+२=१२	४५
	२ संज्ञी	१२	×	५७
१४	आहारक—			
	१. आहारक	१३	कार्मण	५६
	२ अनाहारक		कुल योग १५ − कार्मण =१४	४३

४. प्रत्यय स्थान व भंग प्ररूपणा

१. एक समय उदय आने योग्य प्रत्ययों सम्बन्धी सामान्य नियम

१. पाँच मिथ्यात्वोंमेंसे एक काल अन्यतम एक ही मिथ्यात्वका उदय सम्भव है। २. छः इन्द्रियोंकी अविरतिमेंसे एक काल कोई एक ही इन्द्रियका उदय सम्भव है। छः कायकी अविरतिमेंसे एक काल एकका, दोका, तीनका, चारका, पाँचका या छहोंका युगपत् उदय सम्भव है। ३. कषायोंमें क्रोध, मान माया, व लोभमेंसे एक काल किसी एक कषायका ही उदय सम्भव है। अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन इन चारोंमें गुणस्थानोंके अनुसार एक काल अनन्ता० आदि चारोंका अथवा अप्रत्या० आदि तीनका, अथवा प्रत्या० व संज्वलन दो का अथवा केवल सज्वलन एकका उदय सम्भव है। हास्य-रति अथवा शोक-अरति इन दोनों युगलोंमेंसे एक काल एक युगलका ही उदय सम्भव है। भय व जुगुप्सामें एक काल दोनोंका अथवा किसी एकका अथवा दोनोंका ही नहीं, ऐसे तीन प्रकार उदय सम्भव है। ४. पन्द्रह योगोंमें गुणस्थानानुसार किसी एकका ही उदय सम्भव है।

२. उक्त नियमके अनुसार प्रत्ययोंके सामान्य भंग

नोट - बटामें दर्शाया गया ऊपरका अंक एक काल उदय आने योग्य प्रत्ययोंकी गणना और नीचे वाला अंक उस विकल्प सम्बन्धी भंगोंकी गणना सूचित करता है।

मूल प्रत्यय	संकेत	विवरण	एक कालिक प्रत्यय	भंग
मिथ्या०	मि १/५	पाँचों मिथ्यात्वोंमें से अन्यतम एकका उदय	१	५
	इं १/६	छहों इन्द्रियोंकी अविरतिमेंसे अन्यतम एकका उदय	१	६
	का १/१	पृथ्वीकाय सम्बन्धी अविरति	१	१
	का २/१	पृथ्वी व अप् काय सम्बन्धी अविरति	२	१
	का ३/१	पृथ्वी, अप् व तेज काय सम्बन्धी अविरति	३	१
	का ४/१	पृथ्वी, अप्, तेज व वायु काय सम्बन्धी अविरति	४	१
	का ५/१	पाँचों स्थावर काय सम्बन्धी अविरति	५	१
	का ६/१	छहों काय सम्बन्धी अविरति	६	१
कषाय	अनन्त ४/४	अनन्तानु० आदि चारों सम्बन्धी क्रोध या, मान, या माया, या लोभ	४	४
	अप्र. ३/४	अप्रत्याख्यान आदि तीनों सम्बन्धी क्रोध, या मान, या माया, या लोभ	३	४
	प्रत्या २/४	प्रत्याख्यान व सज्वलन सम्बन्धी क्रोध, या मान, या माया, या लोभ	२	४
	स० १/४	संज्वलन क्रोध, या मान, या माया, या लोभ	१	४
	यु० २/२	हास्य-रति, या शोक अरति, इन दोनों युगलोंमेंसे किसी एक युगलका उदय	२	२
	वे० १/३	तीनों वेदोंमेंसे किसी एकका उदय	१	३
	भय १/२	भय व जुगुप्सामेंसे किसी एकका उदय	१	३
	भय २/१	भय व जुगुप्सा दोनोंका उदय	२	१

मूल प्रत्यय	संकेत	विवरण	एक कालिक प्रत्यय	भंग
योग	यो० १/१३	४ मन, ४ वचन, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र व कार्मण इन तेरहमेंसे किसी एकका उदय	१	१३
	यो० १/२	आहारक व आहारक मिश्रमेंसे एक	१	११
	यो० १/१०	४ मन, ४ वचन औदारिक व वैक्रियक इन दोनोमेंसे किसी एकका उदय	१	१०
	यो० १/९	४ मन, ४ वचन, औदारिक इन नौ मेंसे एक	१	९
	यो० १/७	सत्य व अनुभय मन, सत्य व अनुभय, औदारिक, औदारिक मिश्र व कार्मण इन सातमेंसे एक योग		

३. उक्त नियमके अनुसार भंग निकालनेका उपाय

कुछ प्रत्यय ध्रुव हैं और कुछ अध्रुव। विवक्षित गुणस्थानके सर्व स्थानोमें उदय आने योग्य प्रत्यय ध्रुव है और स्थान प्रति स्थान परिवर्तित किये जाने वाले अध्रुव है। तहाँ मिथ्यात्व, इन्द्रिय अविरति, वेद, हास्यादि दोनो युगल, अनन्तानुबन्धी आदि क्रोध, मान, माया, लोभ और योग ये ध्रुव है। क्योंकि सर्व स्थानोंमें इनका एक एक ही विकल्प रहता है। काय अविरति और भय व जुगुप्सा अध्रुव है क्योंकि प्रत्येक स्थानमें इनके विकल्प घट या बढ जाते हैं। कहीं एक कायकी हिंसा रूप अविरति है और कहीं दो आदि कायोंकी। कहीं भयका उदय है और कही नहीं और कहीं भय व जुगुप्सा दोनोंका उदय है। विवक्षित गुण स्थानके आगे तहाँ उदय आने योग्य ध्रुव प्रत्ययोंका निर्देश कर दिया गया है। उन ध्रुवोदयी प्रत्ययोकी गणनामें क्रमसे निम्न प्रकार ध्रुवोदयी प्रत्ययोको जोडनेसे उस उस स्थानके भंग निकल आते है।

स्थान न०	भंग	विवरण
१	१	ध्रुव+का १/१
२	३	ध्रुव+का २/१, ध्रुव+का १/१+भय १/२
३	४	ध्रुव+का ३/१; ध्रुव+का २/१+भय १/२, ध्रुव+का १/२+भय २/१
४	४	ध्रुव+का ४/१; ध्रुव+का ३/१+भय; ध्रुव+का २/१+भय २/१
५	४	ध्रुव+का ५/१; ध्रुव+का ४/१+भय; ध्रुव+का ३/१+भय २/१
६	४	ध्रुव+का ६/१, ध्रुव+का ५/१+भय; ध्रुव+का ४/१+भय २/१
७	३	ध्रुव+का ६/१+भय १/२, ध्रुव+का ५/१+भय २/१
८	१	ध्रुव+का ६/१; भय २/१

४. गुणस्थानोंकी अपेक्षा स्थान व भंग

प्रमाण—(पं. सं./प्रा./४/१०१-२०३) (गो क/मू. व. टी./७९२-७९४/९५७-९६८)।

गुण स्थान	प्रत्यय स्थान	कुल भग	विवरण
१	ध्रुव	—	मि. १/५+इं १/६+वे. १/३+यु. २/२ +अप्र. ३/४+यो. १/१० =९
अनंत विसं.	८	२४	१०/१, ११/३, १२/४, १३/४, १४/४, १५/४, १६/३, १७/१
१	ध्रुव	—	मि. १/५+इं. १/६+वे. १/३+यु. २/२ +अनन्त ४/४+यो. १/१२ =१०
सामान्य	८	२४	११/२, १२/३, १३/४, १४/४, १५/४, १६/४, १७/३, १८/१
२	ध्रुव	—	इं. १/६+वे. १/३+यु २/२+अनन्त ४/४+यो. १/१३
	८	२४	१०/१, ११/३, १२/४, १३/४, १४/४, १५/४, १६/३, १७/१
३	ध्रुव	—	इं. १/६+वे १/३+यु २/२+अप्र. ३/४+यो. १/१०
	८	२४	९/१, १०/३, ११/४, १२/४, १३/४, १४/४, १५/३, १६/१
४	८	२४	——→ मिश्रवत् ←——
५	ध्रुव	—	इ. १/६+वे १/३+यु. २/२+प्र. २/४ +यो. १/९
	७	२०	८/१; ९/३; १०/४; ११/४; १२/४; × १३/३, १४/१
६	५	१	वे. १/३+यु. २/२+ संज्व. १/४+यो. १/९ अथवा पुरुष वे +यु २/२+ सज्व. १/४+यो. १/२
	६	२	५+भय १/२
	७	१	५+भय २/१
७	३	५-७	——→ प्रमत्तवत् ←——
८	३	५-७	——→ ,, ←——
९/I	१	३	वे. १/३+सं १/४+यो. १/९
९/II	१	३	वे. १/२+स्त्री या पुरुष+स. १/४+ यो १/९
९/III	१	३	पुरुषवेद+स. १/४+यो १/९
९/IV	१	२	स १/४+यो. १/९
९/V	१	२	स. १/३ (मान, या माया, या लोभ)+ यो. १/९
९/VI	१	२	स. १/२ (माया या लोभ+यो १/९
९/VII	१	२	स. लोभ+यो. १/९
१०	१	२	स. लोभ (सूक्ष्म)+यो. १/९
११	१	१	यो. १/९
१२	१	१	,,
१३	१	१	,,
१४	×	×	×

५. किस प्रकृतिके अनुभाग बन्धमें कौन प्रत्यय निमित्त है

पं. सं/प्रा /४/४८८-४८९ सायं च उवपच्चइयो मिच्छा सोलहदुपच्चया पणुतीस। सेसा तिपच्चया खलु तित्थयराहार वज्जा दु।४८८। सम्मत्त-

गुणणिमित्तं। तित्थयर संजमेण आहारं। बज्झंति सेसियाओ मिच्छत्ताई हेअहिं ।४८६। =साता वेदनीयका अनुभाग बन्ध चतुर्थ (योग) प्रत्ययसे होता है। मिथ्यात्व गुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली (दे० प्रकृतिबन्ध/७/४) सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्व प्रत्ययक है। दूसरे गुणस्थानमें बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली पच्चीस और चौथेमें बन्धसे व्युच्छिन्न होने वाली दस; (दे० प्रकृति बन्ध /७/४) ये पैतीस प्रकृतियाँ द्विप्रत्ययक है। क्योंकि इनका पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वकी प्रधानतासे, और दूसरेसे चौथे तक असंयमकी प्रधानतासे बन्ध होता है। तीर्थंकर और आहारकद्विकके विना शेष सर्व प्रकृतियाँ (दे० प्रकृतिबन्ध /७/४) त्रिप्रत्ययक है। क्योंकि उनका पहले गुणस्थानमें मिथ्यात्वकी प्रधानतासे, दूसरेसे चौथे गुणस्थानमें असयमकी प्रधानतासे, और आगे कषायकी प्रधानतासे बन्ध होता है ।४८८। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध सम्यक्त्व गुणके निमित्तसे और आहारक द्विकका संयमके निमित्तसे होता है ।४८६।

प्रत्यय नाम— दे० नाम।

प्रत्यय मल— दे० मल/१।

प्रत्ययिक बन्ध— दे० बन्ध/१।

प्रत्यवेक्षण—स. सि./७/३४/३७०/६ जन्तव' सन्ति न सन्ति वेति प्रत्यवेक्षणं चक्षुर्व्यापार'। =जीव है या नहीं है इस प्रकार आँखसे देखना प्रत्यवेक्षण कहलाता है। (रा. वा./७/३४/१/५५७/२२) (चा. सा./२२/५)।

प्रत्याख्यान—आगामी कालमें दोष न करनेकी प्रतिज्ञा करना प्रत्याख्यान है। अथवा सीमित कालके लिए आहारादिका त्याग करना प्रत्याख्यान है। त्याग प्रारम्भ करते समय प्रत्याख्यानकी प्रतिष्ठापना और अवधि पूर्णहोने पर उसकी निष्ठापना की जाती है। वीतराग भाव सापेक्ष किया गया प्रत्याख्यान ही वास्तविक है।

१. भेद व लक्षण

१. प्रत्याख्यान सामान्यका लक्षण

१. व्यवहार नयकी अपेक्षा

मू. आ./२७ णामादीण छण्णं अजोग्गपरिवज्जण तिकरणेण। पच्चक्खाण णेयं अणागयं चागमे काले ।२७। =नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छहोंमें शुभ मन, वचन व कायसे आगामी कालके लिए अयोग्यका त्याग करना प्रत्याख्यान जानना ।२७।

रा. वा./६/२४/११/५३०/१४ अनागतदोषापोहनं प्रत्याख्यानम्। =भविष्यत्में दोष न होने देनेके लिए सन्नद्ध होना प्रत्याख्यान है। (भ. आ./वि./११६/२७६/२१) (भा. पा./टी./७७/२२१/१५)।

ध. ६/१,६-१,२३/४४/४ पच्चक्खाणं संजमो महव्वयाइ ति एयट्ठो। = प्रत्याख्यान, संयम और महाव्रत एक अर्थ वाले है।

ध. ८/३,४१/८५/१ महव्वयाण विणासण-मलारोहणकारणाणि तहा ण होसति तहा करेमि त्ति मणेणालोचिय चउरासीदिलक्खवदसुद्धिपडिग्गहो पच्चक्खाणं णाम। =महाव्रतोके विनाश व मलोत्पादनके कारण जिस प्रकार न होंगे वैसा करता हूँ, ऐसी मनसे आलोचना करके चौरासी लाख व्रतोकी शुद्धिके प्रतिग्रहका नाम प्रत्याख्यान है।

नि. सा./ता. वृ./६५ व्यवहारनयादेशात् मुनयो भुक्त्वा दैनं दैन पुनर्योग्यकालपर्यन्त प्रत्यादिष्टान्नपानखाद्यलेह्यरुचय, एतद् व्यवहारप्रत्याख्यानस्वरूपम्। =मुनि दिन दिनमें भोजन करके फिर योग्य काल पर्यन्त अन्न, पान, खाद्य, और लेह्यकी रुचि छोडते है यह व्यवहार प्रत्याख्यानका स्वरूप है।

२. निश्चय नयकी अपेक्षा

स. सा./मू./३८४ कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि बज्झइ भविस्सं तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ।३८४। =भविष्यत कालका शुभ व अशुभ कर्म जिस भावमें बन्धता है, उस भावसे जो आत्मा निवृत्त होता है, वह आत्मा प्रत्याख्यान है ।३८४।

नि. सा./मू./गा मोत्तूण सयलजप्पमणागयसुहमसुहवारणं किच्चा। अप्पाण जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स ।६५। णियभावं णवि मुच्चइ परभावं णेव गेण्हए केई। जाणदि पस्सदि सव्वं सोह इदि चिंतए णाणी ।६७। सम्म मे सव्वभूदेसु वेरं मज्झं ण केणवि। आसाए वोसरित्ता णं समाहि पडिवज्जए ।१०४। =समस्त जल्पको छोडकर और अनागत शुभ व अशुभका निवारण करके जो आत्माको घ्याता है, उसे प्रत्याख्यान कहते है ।६५। जो निजभावको नहीं छोडता, किंचित् भी परभावको ग्रहण नहीं करता, सर्वको जानता देखता है, वह मै हूँ—ऐसा ज्ञानी चिंतवन करता है ।६७। सर्व जीवोंके प्रति मुझे समता है, मुझे किसीके साथ वैर नही है, वास्तवमें आशाको छोड़कर मै समाधिको प्राप्त करता हूँ ।१०४।

यो. सा. अ./५/५१ आगम्यागोनिमित्तानां भावानां प्रतिषेधनं। प्रत्याख्यानं समादिष्टं विविक्तात्मविलोकिन ।५१। =जो महापुरुष समस्त कर्मजनित वासनाओसे रहित आत्माको देखने वाले है, उनके जो पापोंके आनेमें कारणभूत भावोंका त्याग है, उसे प्रत्याख्यान कहते है।

३. द्वादशांगका एक अंग

द्वादशांगके १४ पूर्वोमेंसे एक पूर्व है। दे० श्रुतज्ञान/III/१।

२. प्रत्याख्यानके भेद

१. सामान्य भेद

मू. आ./६३७-६३६ अणागदमदिकंतं कोडीसहिदं णिखंडिदं चेव। सागारमणागारं परिमाणागद अपरिसेसं ।६३७। अद्धाणगदं णवमं दसमं तु सहेदुग वियाणाहि। पच्चक्खाणवियप्पा णिरुत्तिजुत्ता जिणमदह्मि।६३८। विणय तहाणुभासा हवदि य अणुपालणाय परिणामे। एदं पच्चक्खाण चदुव्विध होदि णादव्वं। =भविष्यत् कालमें उपवास आदि करना जैसे चौदसका उपवास तेरसको वह १. अनागत प्रत्याख्यान है। २ अतिक्रान्त, ३. कोटीसहित, ४. निखंडित, ५. साकार, ६. अनाकार, ७. परिमाणगत, ८. अपरिशेष, ६. अध्वगत १०. सहेतुक प्रत्याख्यान है। इस प्रकार सार्थक प्रत्याख्यानके दस भेद जिनमतमें जानने चाहिए ।६३७-६३८। १. विनयकर, २. अनुभाषाकर, ३. अनुपालनकर, ४. परिणामकर शुद्ध यह प्रत्याख्यान चार प्रकार भी है ।६३६।

२. नाम स्थापनादि भेद

भ आ./वि./११६/२७६/२१ तच्च (प्रत्याख्यानं) नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावविकल्पेन षड्विध। =यह प्रत्याख्यान नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव ऐसे विकल्पसे छ' प्रकारका है।

३. प्रत्याख्यानके भेदोंके लक्षण

सामान्य भेदोंके लक्षण

मू आ./६४०-६४३ कदियम्म उवचारिय विणओ तह णाण-दंसण-चरित्ते। पंचविधविणयजुत्त विणयसुद्धं हवदि त तु ।६४०। अणुभासदि गुरुवयण अक्खरपदवंजणं कमविसुद्धं घोसविसुद्धी सुद्धं एदं अणुभासणासुद्धं ।६४१। आदंके उवसग्गे समे य दुब्भिक्खवुत्ति कंतारे। तं पालिद ण भग्ग एदं अणुपालणासुद्धं ।६४२। रागेण व दोसेण व मण-

परिणामे ण दूसिदं जं तु। तं पुण पच्चक्खाणं भावविसुद्धं तु णादव्वं ।६४३। =१ सिद्ध भक्ति आदि सहित कायोत्सर्ग तपरूप विनय, व्यवहार-विनय, ज्ञान-विनय, दर्शन व चारित्र-विनय—इस तरह पाँच प्रकारके विनय सहित प्रत्याख्यान वह विनयकर शुद्ध होता है।६४०। २ गुरु जैसा कहे उसी तरह प्रत्याख्यानके अक्षर, पद व व्यञ्जनोका उच्चारण करे, वह अक्षरादि क्रमसे पढना, शुद्ध गुरु लघु आदि उच्चारण शुद्ध होना वह अनुभाषणा शुद्ध है।६४१। २ रोगमें, उपसर्गमें, भिक्षाकी प्राप्तिके अभावमें, वनमें जो प्रत्याख्यान पालन क्रिया भग्न न हो वह अनुपालना शुद्ध है।६४२। ३. राग परिणामसे अथवा द्वेष परिणामसे मनके विकारकर जो प्रत्याख्यान दूषित न हो वह प्रत्याख्यान भावविशुद्ध है।

२. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

भ.आ./वि./११६/२७६/२२ अयोग्य नाम नोच्चारयिष्यामीति चिन्ता नामप्रत्याख्यान। आप्ताभासानां प्रतिमा न पूजयिष्यामीति, योगत्रयेण त्रसस्थावरस्थापनापीडा न करिष्यामीति प्रणिधान मनस. स्थापनाप्रत्याख्यानं। अथवा अर्हदादीनां स्थापना न विनशयिष्यामि, नैवानादरं तत्र करिष्यामीति वा। अयोग्याहारोपकरणद्रव्याणि न ग्रहीष्यामीति चिन्ताप्रबन्धो द्रव्यप्रत्याख्यान। अयोग्यानि वानिष्टप्रयोजनानि, सयमहानिं संक्लेशं वा सपादयन्ति यानि क्षेत्राणि तानि त्यक्ष्यामि इति क्षेत्रप्रत्याख्यानं। कालस्य दु परिहार्यत्वात कालसंध्याया क्रियायां परिहृतायां काल एव प्रत्याख्यातो भवतीति ग्राह्य। तेन सध्याकालादिष्वध्ययनगमनादिक न सपादयिष्यामीति चेत कालप्रत्याख्यानं। भावोऽशुभपरिणाम. तं न निर्वर्तयिष्यामि इति संकल्पकरणं भावप्रत्याख्यानं तद्द्विविध मूलगुणप्रत्याख्यानमुत्तरगुणप्रत्याख्यानमिति। =अयोग्य नामका मैं उच्चारण नहीं करूँगा ऐसे सकल्पको नाम प्रत्याख्यान कहते हैं। २ आप्ताभासके हरिहरादिकोंकी प्रतिमाओंकी मैं पूजा नहीं करूँगा, मनसे, वचनसे और कायसे त्रस और स्थावर जीवोकी स्थापना मैं पीडित नहीं करूँगा ऐसा जो मानसिक संकल्प वह स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा अर्हदादि परमेष्ठियोंकी स्थापना—उनकी प्रतिमाओका मैं नाश नहीं करूँगा, अनादर नहीं करूँगा, यह भी स्थापना प्रत्याख्यान है। ३. अयोग्य आहार, उपकरण वगैरह पदार्थोंको ग्रहण मैं न करूँगा ऐसा संकल्प करना, यह द्रव्य प्रत्याख्यान हे। ४. अयोग्य व जिनसे अनिष्ट प्रयोजनकी उत्पत्ति होगी, जो सयमकी हानि करेंगे, अथवा सक्लेश परिणामोको उत्पन्न करेंगे, ऐसे क्षेत्रोको मैं त्यागूँगा, ऐसा संकल्प करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है। ५ कालका त्याग करना शक्य ही नहीं है, इसलिए उस कालमें होनेवाली क्रियाओको त्यागनेसे कालका ही त्याग होता है, ऐसा यहाँ समझना चाहिए। अर्थात सध्याकाल रात्रिकाल वगैरह समयमें अध्ययन करना, आना-जाना इत्यादि कार्य मैं नहीं करूँगा, ऐसा संकल्प करना काल प्रत्याख्यान है। ६. भाव अर्थात् अशुभ परिणाम उनका मैं त्याग करूंगा ऐसा संकल्प करना वह भाव प्रत्याख्यान है। इसके दो भेद है मूलगुण प्रत्याख्यान और उत्तरगुण प्रत्याख्यान। (इनके लक्षण दे० प्रत्याख्यान/३)।

३. मन, वचन, काय प्रत्याख्यानके लक्षण

भ.आ./वि./५०९/७२८/१५ मनसातिचारादीन्न करिष्यामि इति मनःप्रत्याख्यानं। वचसा तन्नाचरिष्यामि इति उच्चारणं। कायेन तन्नाचरिष्यामि इत्यगीकार'। =१ मनसे मैं अतिचारोको भविष्यत कालमें नहीं करूँगा ऐसा विचार करना यह मन.प्रत्याख्यान है। २. अतिचार मैं भविष्यत्में नहीं करूँगा ऐसा बोलना (कहना) यह वचन प्रत्याख्यान है। ३. शरीरके द्वारा भविष्यत् कालमें अतिचार नहीं करना यह काय प्रत्याख्यान है।

२. प्रत्याख्यान विधि

१. प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापना व निष्ठापना विधि

अन.ध./९/३६ प्राणयात्राचिकीर्षायां प्रत्याख्यानमुपोषितम्। न वा निष्ठाप्य विधिवद्भुक्त्वा भूय' प्रतिष्ठयेत ।३६। =यदि भोजन करनेकी इच्छा हो तो पूर्व दिन जो प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण किया था उसकी विधि पूर्वक क्षमापणा (निष्ठापना) करनी चाहिए। और उस निष्ठापनाके अनन्तर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार भोजन करके अपनी शक्तिके अनुसार फिर भी प्रत्याख्यान या उपवासकी प्रतिष्ठापना करनी चाहिए। (यदि आचार्य पास हों तो उनके समक्ष प्रत्याख्यानकी प्रतिष्ठापना वा निष्ठापना करनी चाहिए।)

दे० कृतिकर्म/४/२ प्रत्याख्यान प्रतिष्ठापन व निष्ठापनमें भक्ति आदि पाठोंका क्रम।)

२. प्रत्याख्यान प्रकरणमें कायोत्सर्गके कालका प्रमाण

दे० व्युत्सर्ग/१ (ग्रन्थादिके प्रारंभमें, पूर्णताकालमें, स्वाध्यायमें, वंदनामें, अशुभ परिणाम होनेमें जो कायोत्सर्ग उसमें सत्ताईस उच्छ्वास करने योग्य है)।

३. प्रत्याख्यान निर्देश

१. ज्ञान व विराग ही वास्तवमें प्रत्याख्यान हैं

स.सा./मू./३४ सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं। तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ।३४। =जिससे अपने अतिरिक्त सर्वपदार्थोंको 'पर है' ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, उससे प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा नियमसे जानना। अपने ज्ञानमें त्याग रूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है, दूसरा कुछ नहीं।

नि.सा./मू./१०५-१०६ णिक्कसायस्स दंतस्स सूरस्स ववसायिणो। संसारभयभीदस्स पच्चक्खाणं सुहं हवे ।१०५। एवं भेदब्भासं जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं। पच्चक्खाणं सक्कदि धरिदे सो संजमो णियमा।१०६। =जो निःकषाय है, दान्त है, शूरवीर है, व्यवसायी है और संसारसे भयभीत है, उसे सुखमय (निश्चय) प्रत्याख्यान है ।१०५। इस प्रकार जो सदा जीव और कर्मके भेदका अभ्यास करता है, वह संयत नियमसे प्रत्याख्यान धारण करनेको शक्तिमान है।१०६।

स.सा./ता.वृ./२८३-२८५ निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणं प्रत्याख्यानं। =निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानको प्रत्याख्यान कहते है।

* निश्चय व्यवहार प्रत्याख्यानकी मुख्यता गौणता —दे० चारित्र

२. सम्यक्त्व रहित प्रत्याख्यान प्रत्याख्यान नहीं

भ.आ./वि./११६/२७७/१० सति सम्यक्त्वे चैतदुभयं प्रत्याख्यानं। =सम्यक्त्व यदि होगा तभी यह दो तरहका (दे० अगला शीर्षक) प्रत्याख्यान गृहस्थ व मुनिको माना जाता है। अन्यथा वह प्रत्याख्यान इस नामको नहीं पाता।

३. मूल व उत्तर गुण तथा साधु व गृहस्थके प्रत्याख्यानमें अन्तर

भ.आ./वि./११६/२७७/३ उत्तरगुणानां कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते व्रतोत्तरकालभावित्वादनशनादिक उत्तरगुण इति उच्यते। ...तत्र सयतानां जीवितावधिकं मूलगुणप्रत्याख्यानं। संयतासयतानां अणुव्रतानि मूलगुणव्रतव्यपदेशभाजि भवन्ति तेषां द्विविध प्रत्याख्यानं अल्पकालिकं, जीवितादिकं चेति। पक्षमास-

षण्मासादिरूपेण भविष्यत्काल सावधिकं कृत्वा तत्र स्थूलहिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहान्न चरिष्यामि इति प्रत्याख्यानमल्पकालम् । आमरणमवधिं कृत्वा न करिष्यामि स्थूलहिंसादीनि इति प्रत्याख्यानं जीवितावधिक च । उत्तरगुणप्रत्याख्यान संयतसयतासयतयोरपि अल्पकालिकं जीवितावधिक वा । परिगृहीतसंयमस्य सामायिकादिकं अनशनादिक च वर्तते इति उत्तरगुणत्वं सामायिकादेस्तपसश्च । भविष्यत्कालगोचराशनादित्यागात्मकत्वात्प्रत्याख्यानत्वं ।= १. उत्तरगुणोको कारण होनेसे व्रतोंमें मूलगुण यह नाम प्रसिद्ध है, मूलगुण रूप जो प्रत्याख्यान व मूलगुण प्रत्याख्यान है।.. व्रतोके अनतर जो पाले जाते है ऐसे अनशनादि तपोंको उत्तरगुण कहते है।...२. मुनियोको मूलगुण प्रत्याख्यान आमरण रहता है। सयतासयतके अणुव्रतोको मूलगुण कहते है। गृहस्थ मूलगुण प्रत्याख्यान अल्पकालिक और जीवितावधिक ऐसा दो प्रकार कर सकते हैं। पक्ष, मास, छह महीने आदि रूपसे भविष्यत् कालकी मर्यादा करके उसमें स्थूल हिसा, असत्य, चोरी, मैथुन सेवन, और परिग्रह ऐसे पंच पातक मैं नहीं करूँगा ऐसा संकल्प करना यह अल्पकालिक प्रत्याख्यान है। 'मै आमरण स्थूल हिंसादि पापोको नहीं करूँगा' ऐसा संकल्प कर त्याग करना यह जीवितावधिक प्रत्याख्यान है। ३. उत्तर गुण प्रत्याख्यान तो मुनि और गृहस्थ जीवितावधिक और अल्पावधिक भी कर सकते है। जिसने संयम धारण किया है, उसको सामायिकादि और अनशनादिक भी रहते है, अत सामायिक आदिकोको और तपको उत्तरगुणपना है। भविष्यत्कालको विषय करके अनशनादिकोंका त्याग किया जाता है। अत उत्तरगुण रूप प्रत्याख्यान है, ऐसा माना जाता है। (और भी दे० भ. आ./वि /११६/२७७/१८)

★ **प्रत्याख्यान व प्रतिक्रमणमें अन्तर**— दे० प्रतिक्रमण/३ ।

४. प्रत्याख्यानका प्रयोजन

अन. ध./९/३८ प्रत्याख्यानं विना दैवात् क्षीणायु' स्याद्विराधक'। तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थं पृथुचण्डवत् ।३८। =प्रत्याख्यानादिके ग्रहण विना यदि कदाचित् पूर्वबद्ध आयुकर्मके वशसे आयु क्षीण हो जाय तो वह साधु विराधक समझना चाहिए। किन्तु इसके विपरीत प्रत्याख्यान सहित तत्काल मरण होनेपर थोडी देरके लिए और थोडा सा ग्रहण किया हुआ प्रत्याख्यान चण्ड नामक चाण्डालकी तरह महान् फल देनेवाला है।

प्रत्याख्यानावरण—मोहनीय प्रकृतिके उत्तर भेद रूप यह एक कर्म विशेष है, जिसके उदय होनेपर जीव विषयोका त्याग करनेको समर्थ नही हो सकता।

१. प्रत्याख्यानावरणका लक्षण

स. सि./८/९/३८६/९ यदुदयाद्विरतिं कृत्स्नां संयमाख्यां न शक्नोति कर्तुं ते कृत्स्न प्रत्याख्यानमावृण्वन्त प्रत्याख्यानावरणा क्रोधमानमायालोभा । =जिसके उदयसे सयम नामवाली परिपूर्ण विरतिको यह जीव करनेमें समर्थ नहीं होता है वे सकल प्रत्याख्यानको आवृत करने वाले प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया और लोभ है। (रा. वा./८/९/५/५७५/२) (पं स./प्रा./१/११०,१११) (गो. क./मू./२८३) (गो. जी /मू /४५)।

ध. १३/५,५,९५/३६०/११ पच्चक्खाणं महव्वयाणि तेसिमावारयं कम्म पच्चक्खाणावरणीय। त चउव्विह कोह-माण-माया-लोहभेएण। = प्रत्याख्यानका अर्थ महाव्रत है। उनका आवरण करनेवाला कर्म प्रत्याख्यानावरणीय है। वह क्रोध, मान, माया और लोभके भेदसे चार प्रकारका है। (ध. ६/१,९-१,२३/४४/४) (गो. जी./जी. प्र/२८३/६०८/१५)। (गो क./जी. प्र/३३/२८/४) (गो. क./जी. प्र./४५/४६/१३।

२. प्रत्याख्यानावरणमें भी कथंचित् सम्यक्त्व घातक शक्ति

गो. क./जी. प्र./५४६/७०८/१६ अनन्तानुबन्धिना तदुदयसहचरिताप्रत्याख्यानादीनां च चारित्रमोहत्वेऽपि सम्यक्त्वसंयमघातकत्वमुक्तं तेषां तदा तच्छक्तेरुदयात । अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानोदयरहितप्रत्याख्यानसज्वलनोदयाः सकलसंयमं (घ्नन्ति)। =अनंतानुबन्धीके और इसके उदयके साथ अप्रत्याख्यानादिकके चारित्र मोह-पना होते हुए भी सम्यक्त्व और सयमका घातकपना कहा है।.. 'अनंतानुबन्धी और अप्रत्याख्यानके उदय रहित, प्रत्याख्यान और संज्वलनका उदय है तो वह सकल संयमको घातती है।

३. प्रत्याख्यानावरण कषायका वासना काल

गो. क./मू.व. टी./४६/४७/१० उदयाभावेऽपि तत्संस्कारकालो वासनाकाल स च.. प्रत्याख्यानावरणानामेकपक्षः। =उदयका अभाव होते हुए भी कषायोका सस्कार जितने काल रहे, उसको वासना काल कहते है। उसमें प्रत्याख्यानावरणका वासना काल एक पक्ष है।

४. अन्य सम्बन्धित विषय

१. प्रत्याख्यानावरण प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररुपणा तत्सम्बन्धी नियम व शंका समाधान आदि। दे० वह वह नाम।
२. कषायोंकी तीव्रता-मन्दतामें प्रत्याख्यानावरण नहीं बल्कि लेश्या कारण है। —दे० कषाय/३।
३. प्रत्याख्यानावरणमें दशों करण सम्भव हैं —दे० करण/२।
४. प्रत्याख्यानावरणका सर्वघातीपना —दे० अनुभाग/४।

प्रत्याख्यानावरणी भाषा—दे० भाषा।

प्रत्यागाल—दे० आगाल।

प्रत्यामुंडा—ष. ख. १३/५-५/सू. ३९/२४३ आवायो ववसायो बुद्धी विण्णाणी आउंडी पच्चाउंडी ।३९। प्रत्यर्थमामुण्ड्यते सकोच्यते मीमांसितोऽर्थ अनयेति प्रत्यामुण्डा। =अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुंडा और प्रत्यामुंडा ये पर्याय नाम है।३९। जिसके द्वारा मीमांसित अर्थ अलग अलग 'आमुड्यते' अर्थात संकोचित किया जाता है, वह प्रत्यामुंडा है।

प्रत्यावलि—दे० आवलि।

प्रत्यास—ध. १२/४,२,१४,४३/४६७/१० प्रत्यास्यते अस्मिन्निति प्रत्यास' .. जीवेण ओट्ठद्धखेत्तस्स खेत्तपच्चासे त्ति सण्णा। =जहाँ समीपमें रहा जाता है वह प्रत्यास कहा जाता है।.. जीवके द्वारा अवलम्बित क्षेत्रकी क्षेत्रप्रत्यास सज्ञा है।

प्रत्यासत्ति

रा. वा. हि./१/७/६४ निकटताका नाम प्रत्यासत्ति है। वह द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावके भेदसे चार प्रकार है। तिनके लक्षण निम्न प्रकार हैं— १ कोई पर्यायकै कोई पर्यायकरि समवाय तै निकटता है। जैसे स्मरणकै और अनुभवकै एक आत्मा विषै समवाय है (यह द्रव्य प्रत्यासत्ति है)। २, बगुलाकी पंक्तिके और जलके क्षेत्र प्रत्यासत्ति है। ३, सहचर जो सम्यग्दर्शन ज्ञान सामान्य, तथा शरीर विषै जीव और स्पर्शन विशेष, तथा पहले उदय होय भरणी-कृतिका नक्षत्र, तथा कृतिका-रोहिणी नक्षत्र-इनके काल प्रत्यासत्ति है। ४, गऊ-गवयका एक रूप, केवली-सिद्धके केवलज्ञानका एक स्वरूपपना ऐसे भाव प्रत्यासत्ति है।

प्रत्याहार

म. पु /२१/२३० प्रत्याहारस्तु तस्योपसंहृतौ चित्तनिवृ ति' ।२३०।=मन· की प्रवृत्तिका संकोच कर लेने पर जो मानसिक सन्तोष होता है उसे प्रत्याहार कहते है ।२३०।

ज्ञा./३०/१-३ समाकृष्येन्द्रियार्थेभ्य साक्षं चेत' प्रशान्तधी । यत्र यत्रेच्छया धत्ते स प्रत्याहार उच्यते ।१। नि सङ्गसंवृतस्वान्त' कूर्मवत्संवृतेन्द्रिय' । यमी समत्वमापन्नो ध्यानतन्त्रे स्थिरीभवेत ।२। गोचरेभ्या हृषीकाणि तेभ्यश्चित्तमनाकुलम् । पृथक्कृत्य वशी धत्ते ललाटेऽत्यन्तनिश्चलम् ।३। =जो प्रशान्त बुद्धि विशुद्धता युक्त मुनि अपनी इन्द्रियाँ और मनको इन्द्रियोंके विषयोंसे खैंच कर जहाँ जहाँ अपनी इच्छा हो तहाँ तहाँ धारण करें सो प्रत्याहार कहा जाता है ।१। नि संग और संवर रूप हुआ है मन जिसका कछुएके समान सकोच रूप है इन्द्रियाँ जिसकी ऐसा मुनि ही राग द्वेष रहित होकर ध्यान रूपी तन्त्रमें स्थिर स्वरूप होता है ।२। वशी मुनि विषयोसे तो इन्द्रियोंको पृथक् करे और इन्द्रियोको विषयोंसे पृथक् करे, अपने मनको निराकुल करके अपने ललाटपर निश्चलता पूर्वक धारण करे । यह विधि प्रत्याहारमें कही है ।३।

*** प्रत्याहार योग्य नेत्र ललाट आदि १० स्थान—** दे० ध्यान/३/३ ।

प्रत्युत्पन्न नय—दे० नय/I/१ ।

प्रत्यूष काल—प्रात' का सन्धि काल ।

प्रत्येक बुद्ध—दे० बुद्ध ।

प्रत्येक बुद्धि ऋद्धि—दे० बुद्ध ।

प्रत्येक शरीर नामकर्म—दे० वनस्पति/१ ।

प्रत्येक शरीर वर्गणा—दे० वनस्पति/१ ।

प्रथम स्थिति—दे० स्थिति/१ ।

प्रथमानुयोग—१. आगम सम्बन्धी प्रथमानुयोग—दे० अनुयोग/१; २. दृष्टिप्रवादका तीसरा भेद । दे० श्रुतज्ञान/III ।

प्रथमोपशम विधि—दे० उपशम/२ ।

प्रथमोपशम सम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/IV/३ ।

प्रदक्षिणा—

ध. १३/५,४,२८/८९/१ वंदणकाले गुरुजिणजिणहराण पदक्खिण काऊण णमंसण पदाहिणं णाम । =वन्दना करते समय गुरु, जिन और जिनगृहकी प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है ।

अन. ध /८/९२ दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि । वन्द्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा ।९२। =जिस समय मुमुक्षु संयमी चैत्य वन्दना या निर्वाण वन्दना अथवा योगिवन्दना यद्वा नन्दीश्वर चैत्य वन्दना किया करते है, उस समय उस सम्बन्धी भक्तिका पाठ बोलते हुए वे प्रदक्षिणा दिया करते है ।

*** प्रदक्षिणा प्रयोग विधि**—दे० वन्दना ।

प्रदुष्ट—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१ ।

प्रदेश—१ Space Point (ज प/प्र. १०७) ।
२. Location, Points or Place as decimal Place (ध. ५/प्र. २७) ।

प्रदेश—आकाशके छोटेसे छोटे अविभागी अंशका नाम प्रदेश है, अर्थात एक परमाणु जितनी जगह घेरता है उसे प्रदेश कहते हैं । जिस प्रकार अखण्ड भी आकाशमें प्रदेश भेदकी कल्पना करके अनन्त प्रदेश बताये गये है, उसी प्रकार सभी द्रव्योंमें पृथक् पृथक् प्रदेशोंकी गणनाका निर्देश किया गया है । उपचारसे पुद्गल परमाणुको भी प्रदेश कहते है । और इस प्रकार पुद्गल कर्मोंके प्रदेशोका जीवके प्रदेशोके साथ बन्ध होना प्रदेश बन्ध कहा जाता है ।

जघन्य योगसे युक्त, अधिक प्रकृतिका बन्धक, जघन्य प्रदेशबन्ध करता है। ३. सू ल./१=सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्त, जघन्य योगसे युक्त जीवके अपनी पर्यायका प्रथम समय। ४. सू. ल./२=सूक्ष्म-निगोद लब्ध्यपर्याप्तकी आयु बन्धके त्रिभाग प्रथम समय। ५. सू. ल./च=चरम भवस्थ तथा तीन विग्रहमेंसे प्रथम विग्रहमें स्थित निगोदिया जीव।

उत्कृष्ट प्रदेशबन्ध		जघन्य प्रदेशबन्ध	
गुण स्थान	प्रकृतिका नाम	गुण स्थान व स्वामित्व	प्रकृतिका नाम
१. मूल प्रकृति प्ररूपणा			
१,२,४-९	आयु	सू.ल./१	आयुके बिना सात कर्म
१-६	मोह		
१०	ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, नाम, गोत्र, अन्तराय	सू.ल./२	आयु
२. उत्तर प्रकृति प्ररूपणा			
१	स्त्यान०, निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, अनन्तानु० चतु, स्त्री व नपं० वेद, नरकतिर्यग् व देवगति, पचेन्द्रियादि पाँच जाति, औदारिक, तैजस, व कार्मण शरीर, न्यग्रोधादि ५ संस्थान, वज्रनाराचआदि ५ सहनन, औदारिक अंगोपाग, स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, नरकानुपूर्वी, तिर्यगानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वासा, आतप, उद्योत, अप्रशस्त विहा०, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त, अपर्याप्त, प्रत्येक, साधारण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश, निर्माण, नीचगोत्र =९९	अविरत सम्य० अप्रमत्त संयत असंज्ञी सू ल /च	देवगति, व आनुपूर्वी, वैक्रियक शरीर व अंगापाग, तीर्थंकर =५ आहारक द्वय देवायु, नरकायु नरकगति व आनुपूर्वी =४ उपरोक्तके अतिरिक्त शेष बची =१०९
१-६	असाता, देव व मनुष्यायु, देवगति, देवगत्यानुपूर्वी, वैक्रियक शरीर व अंगोपांग, समचतुरस्र संस्थान, आदेय, सुभग, सुस्वर, प्रशस्तविहायोगति, वज्रऋषभ नाराचसहनन =१३		
४	अप्रत्याख्यान चतुष्क =४		
४-६	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, निद्रा, प्रचला, तीर्थंकर =९		
५	प्रत्याख्यान चतुष्क =४		
७	आहारक द्विक		
९	पुरुष वेद, संज्वलन चतुष्क=५		
१०	ज्ञानावरणकी ५, दर्शनावरणकी चतु आदि ४, अन्तराय ५, साता, यशस्कीर्ति, उच्चगोत्र=१७		

४. प्रकृति बन्धकी अपेक्षा स्वामित्व प्ररूपणा

प्रमाण तथा संकेत—(दे० पूर्वोक्त प्रदेशबन्ध प्ररूपणा नं० १)।

नं०	प्रकृतिका नाम	स्वामित्व व गुणस्थान	
		उत्कृष्ट	जघन्य
१	ज्ञानावरण—		
	पाँचों	१०	सू.ल./च
२	दर्शनावरण—		
१-४	चक्षु, अचक्षु अवधि व केवल दर्शन	१०	,,
५	निद्रा	१०	,,
६	निद्रानिद्रा	१	,,
७	प्रचला	१०	,,
८	प्रचला प्रचला	१	,,
३	वेदनीय—		
१	साता	१०	,,
२	असाता	१-६	,,
४	मोहनीय—		
१	मिथ्यात्व	१	,,
२-५	अनन्ता० चतु०	१	,,
६-१०	अप्रत्या० चतु०	४	,,
११-१४	प्रत्या० चतु०	५	,,
१४-१७	संज्वलन चतु०	९	,,
१७-२३	हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा	४-६	,,
२४	स्त्री वेद	१	,,
२५	पुरुष ,,	१०	,,
२६	नपुं० ,,	१	,,
५	आयु—		
१	नरकायु	१	असंज्ञी
२	तिर्यग्	१	सू.ल./च
३	मनुष्य	१-६	
४	देवायु	,,	
६	नामकर्म—		
१	गति—		
	नरक	१	असंज्ञी
	तिर्यग्	,,	सू.ल /च
	मनुष्य	१	सू ल /च
	देव	१-६	अविरति सम्य०
२	जाति—		
	एकेन्द्रियादि पाँचों	१	सू.ल /च
३	शरीर—		
	औदारिक	१	,,
	वैक्रियक	१-६	अविरत सम्य०
	आहारक	७	अप्रमत्त
	तैजस	१	सू. ल./च

नं०	प्रकृतिका नाम	स्वामित्व व गुणस्थान	
		उत्कृष्ट	जघन्य
	कार्मण	१	सू.म./च
४	अंगोपांग—		
	औदारिक	१	"
	वैक्रियक	१-६	अविरत
	आहारक	७	अप्रमत्त
५	निर्माण	१	सू.म./च
६	बन्धन	"	"
७	संघात	"	"
८	संस्थान—		
	समचतुरस्र	१-६	"
	शेष पाँचों	१	"
९	संहनन—		
	वज्र वृषभ नाराच	१-६	"
	शेष पाँचों	१	"
१०-१३	स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण	"	"
१४	आनुपूर्वी—		
	नरक	१	असं.ज्ञी
	तिर्यग व मनुष्य	"	सू.म./च
	देव	१-६	अविरत सम्य०
१५	अगुरुलघु	१	सू.म./च
१६	उपघात	"	"
१७	परघात	"	"
१८	आतप	१	"
१९	उद्योत	"	"
२०	उच्छ्वास	"	"
२१	विहायोगति—		
	प्रशस्त	१-६	"
	अप्रशस्त	१	"
२२	प्रत्येक	"	"
२३	त्रस	"	"
२४	सुभग	१-६	"
२५	सुस्वर	"	"
२६	शुभ	१	"
२७	सूक्ष्म	"	"
२८	पर्याप्त	"	"
२९	स्थिर	"	"
३०	आदेय	१-६	"
३१	यश कीर्ति	१०	"
३२	साधारण	१	"
३३	स्थावर	१	"
३४	दुर्भग	"	"
३५	दु स्वर	"	"
३६	अशुभ	"	"
३७	बादर	"	"
३८	अपर्याप्त	"	"
३९	अस्थिर	"	"
४०	अनादेय	१	सू.म./च
४१	अयश:कीर्ति	"	"
४२	तीर्थंकर		
७	गोत्र—		
१	उच्च	१०	"
२	नीच	१	"
८	अन्तराय—		
१	पाँचों	१०	"

७. एक योग निमित्तक प्रदेश बंधमें अल्पबहुत्व क्यों

ध. १०/४,२,४,२१०/५११/३ जदि जोगादो पदेसबंधो होदि तो सव्वकम्माणं पदेसपिंडस्स समाणत्तं पावदि, एगकारणत्तादो। ण च एवं, पडिवक्खप्पाबहुगेण सह विरोहादो त्ति। एद पच्चवट्ठिदसिस्ससंदेहविणासणट्ठं जो आगदो 'पयडि पयडिविसेसेण विसेसाहियाणि' त्ति। पयडी णाम सहावो, तस्स विसेसो भेदो, तेण पयडिविसेसेण कम्माणं पदेसा एगकारणत्ते वि संते विसेसाहिया होंति। — प्रश्न—यदि योगसे प्रदेश बन्ध होता है तो सब कर्मोंके प्रदेश समूहमें समानता प्राप्त होती है, क्योंकि उन सबके प्रदेशबन्धका एक ही कारण है। उत्तर—परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, वैसा होनेपर पूर्वोक्त अल्पबहुत्वके साथ विरोध आता है। इस प्रश्नका युक्त शिष्यके लिए उक्त सूत्रमें 'पयडि पयडिविसेसेण विसेसाहियाणि' इस उत्तर अवयवका अवतार हुआ है। प्रकृतिका अर्थ स्वभाव है, उसके विशेषसे अभिप्राय भेदका है। उस प्रकृति विशेषसे कर्मोंके प्रदेश बन्धस्थान एक कारणके होनेपर भी प्रदेशोंसे विशेष अधिक है।

८. सम्यक्त्व व मिश्र प्रकृतिकी अन्तिम फालिमें प्रदेशों सम्बन्धी दो मत

क पा ५/३,२२/§६३१/३३८/११ जइवसहाइरिएण उवएसा वे उवइट्ठा। सम्मत्तचरिमफालीदो सम्मामिच्छत्तचरिमफाली असंखे० गुणहीणा त्ति एगो उवएसो। अवरेगो सम्मामिच्छत्तचरिमफाली तत्तो विसेसाहिया त्ति। एत्थ एदेसिं दोण्हं पि उवएसाणं णिच्छयं काउमसमत्थेण जइवसहाइरिएण एगो एत्थ लिलिहिदो अवरेगो ट्ठिदिसंकमे। तेणेदे वे वि उवदेसा थप्प कादूण वत्तव्वा त्ति। — यतिवृषभाचार्यको दो उपदेश प्राप्त हुए। सम्यक्त्वकी अन्तिम फालिसे सम्यग्मिथ्यात्वकी अन्तिम फालि असंख्यातगुणी हीन है यह पहला उपदेश है। तथा सम्यग्मिथ्यात्वकी अन्तिम फालि उससे (सम्यक्त्वकी अन्तिम फालिसे) विशेष अधिक है यह दूसरा उपदेश है। इन दोनों ही उपदेशोंका निश्चय करनेमें असमर्थ यतिवृषभाचार्यने एक उपदेश यहाँ लिखा और एक उपदेश स्थिति संक्रममें लिखा, अत इन दोनों ही उपदेशोंको स्थगित करके उपदेश करना चाहिए।

९. अन्य प्ररूपणाओं सम्बन्धी विषय सूची

(म. बं. ६/§ पृ.)

नं	मूल उत्तर	विषय	ज. उ पद	भुजगारादि-पद	ज. उ. वृद्धि हानि	षट्-गुण वृद्धि
ओघ व आदेशसे अष्ट कर्म प्ररूपणा						
१	मूल	समुत्कीर्तना		६/१०-१०२/५३-५४	६/१४६-१४७/७६	
		भगविचय		६/१२५-१२६/६५-६६		
		जीवस्थान व अध्यवसाय-स्थान	६/१५४-१५६/८३, ८४			
	उत्तर	सन्निकर्प	६/२६९-५६५/१७८			
		भंग विचय	६/५६६-५६९/३५०-३५४			

प्रदेशत्व—

रा वा./२/७/१३/११३/१ प्रदेशवत्त्वमपि माधारणं संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशोपेतत्वात् सर्वद्रव्याणाम्। तदपि कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात पारिणामिकम्। =प्रदेशवत्त्व भी सर्व द्रव्यसाधारण है, क्योंकि सर्व द्रव्य अपने अपने सख्यात, असख्यात वा अनन्त प्रदेशोंको रखते हैं। यह कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षाका अभाव होनेसे पारिणामिक है।

आ. प /६ प्रदेशस्य भाव· प्रदेशत्वं क्षेत्रत्वं अविभागिपुद्गलपरमाणुनावष्टब्धम्। =प्रदेशके भावको प्रदेशत्व अर्थात् क्षेत्रत्व कहते है। वह अविभागी पुद्गल परमाणुके द्वारा घेरा हुआ स्थान मात्र होता है।

*** षट् द्रव्योंमें सप्रदेशी व अप्रदेशी विभाग—** दे० द्रव्य/३।

प्रदेश विरच— ध. १४/५,६,२८७/३५२/3 कर्मपुद्गलप्रदेशो विरच्यते अस्मिन्निति प्रदेशविरच· कर्मस्थितिरिति यावत। अथवा विरच्यते इति विरच· प्रदेशश्चासौ विरचश्च प्रदेशविरच विरच्यमानकर्मप्रदेश इति यावत। =कर्म पुद्गल प्रदेश जिसमें विरचा जाता है अर्थात स्थापित किया जाता है वह प्रदेश विरच कहलाता है। अभिप्राय यह है कि यहाँपर प्रदेशविरचसे कर्मस्थिति ली गयी है। अथवा विरच पदकी निरुक्ति यह है—विरच्यते अर्थात जो विरचा जाता है उसे विरच कहते हैं। तथा प्रदेश जो विरच वह प्रदेश विरच कहलाता है। प्रदेशविरच्यमान कर्म प्रदेश यह उसका अभिप्राय है।

प्रदोष— स सि /६/१०/३२७/१० तत्त्वज्ञानस्य मोक्षसाधनस्य कीर्तने कृते कस्यचिदनभिव्याहरत अन्त पैशुन्यपरिणाम· प्रदोष·। =तत्त्वज्ञान मोक्षका साधन है, उसका गुणगान करते समय उस समय नहीं बोलने वालेके जो भीतर पैशुन्य रूप परिणाम होता है वह प्रदोष है। (रा.वा./६/१०/१/५१७) (गो. क /जी प्र./८००/९७९/६)।

गो. क./जी. प्र /८००/९७९/६ तत्प्रदोष· तत्त्वज्ञाने हर्षाभाव·। =तत्त्व ज्ञानमें हर्षका अभाव होना प्रदोष है।

रा. वा हि./६/१०/४९४-४९५ कोई पुरुष (किसी अन्यकी) प्रशसा करता होय, ताकूँ कोई सराहै नाही, ताकूँ सुनकरि आप मौन राखै अन्तरंग विषै वा सूं अदेखसका भाव करि तथा (वाकूँ) दोष लगावनेके अभिप्राय करि वाका साधक न करे ताकै ऐसे परिणाम कूँ प्रदोष कहिए।

प्रद्युम्न— ह पु /सर्ग/श्लोक—अपने पूर्वके सातवें भवमें शृगाल था (४३/११५) छठे भवमें ब्राह्मणपुत्र अग्निभूति (४३/१००), पाँचवें भवमें सौधर्म स्वर्गमें देव (४६/१३६), चौथे भवमें सेठ पुत्र पूर्णभद्र (४३/१५८) तीसरे भवमें सौधर्म स्वर्गमें देव (४३/१५८), दूसरे भवमें मधु (४३/१६०) पूर्व भवमें आरणेन्द्र था (४३/४०)। वर्तमान भवमें कृष्णका पुत्र था (४३/४०) जन्मते ही पूर्व वैरी असुरने इसको उठाकर पर्वतपर एक शिलाके नीचे दबा दिया (४३/४४) तत्पश्चात् कालसवर विद्याधरने इसका पालन किया (४३/४७) युवा होनेपर पोषक माता इनपर मोहित हो गयी (४३/५५)। इस घटनापर पिता कालसवरको युद्धमें हरा कर द्वारका आये तथा जन्ममाताको अनेकों बालक्रीडाओं द्वारा प्रसन्न किया (४७/६७)। अन्तमें दीक्षा धारण की (६१/३९), तथा गिरनार पर्वतपरसे मोक्ष प्राप्त किया (६५/१६-१७)

प्रद्युम्न चरित्र— १. आ० सोमकीर्ति (ई० १४७४) द्वारा विरचित सस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ। इसमें १६ सर्ग तथा कुल ४८०० श्लोक है। २. आ० शुभचन्द्र (ई० १५१६-१५५६) द्वारा रचित सस्कृत छन्द बद्ध ग्रन्थ।

प्रधान वाद— दे० साख्यदर्शन।

प्रध्वंसाभाव— दे० अभाव।

प्रबंध काल— दे० काल/१।

प्रभंकर— सौधर्म स्वर्गका २७ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

प्रभंजन— १. मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट व उसका स्वामी भवनवासी वायुकुमारदेव—दे० लोक/७। २. सर्व रत्नकूटका स्वामी गरुड कुमार देव —दे० स्वर्ग/५।

प्रभ— सौधर्म स्वर्गका २१ वाँ पटल व इन्द्रक।—दे० स्वर्ग/५।

प्रभा— रा. वा /३/१/४/१५९/२३ न दीप्तिरूपैव प्रभा। किं तर्हि। द्रव्याणां स्वात्मैव मृजा प्रभा यत्सनिधानात मनुष्यादीनामय संव्यवहारो भवति स्निग्धकृष्णप्रभमिद रूक्षकृष्णप्रभमिदमिति। =केवल दीप्तिका नाम ही प्रभा नहीं है किन्तु द्रव्योंका जो अपना विशेष विशेष सलोनापन होता है, उसीको कहा जाता है कि यह स्निग्धकृष्णप्रभावाला है। यह रूक्ष कृष्ण प्रभा वाला है।

प्रभाकर भट्ट— १. योगेन्दुदेवके शिष्य दिगम्बर साधु थे। योगेन्दु देवके अनुसार इनका समय भी ई. श ६ आता है। (प.प्र./प्र. १००/A. N. Up) मीमांसकोके गुरु थे। कुमारिल भट्टके समकालीन थे। समय—(ई० ६००-६२५) (प. प्र /प्र./१००/A. N. up (स्याद्वाद सिद्धि/प्र. २०/ पं. दरबारी लाल कोठिया) (विशेष दे मीमासा दर्शन)।

प्रभाकर मत— दे० मीमासक दर्शन।

प्रभाचंद्र— १ नंदिसघ बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप लोकचन्द्रके शिष्य और नेमीचन्द्रके गुरु थे। समय-वि शक स. ४५३-४७८ (ई० ५३१-५५६) दे० इतिहास/५/१३; २ राष्ट्रकूट वंशी राजा गोविन्द तृतीयके समयके अर्थात शक संवत् ७२४ व ७१६ के दो ताम्रपत्र मिले है, जिनमें आपका उल्लेख है। आप कुन्दकुन्दान्वयमेंसे थे। आपके गुरुका नाम पुष्पनन्दि और दादा गुरुका नाम तोर्णाचार्य था। तदनुसार आपका समय—शक स. ७१६, ई. ७९७ (प प्रा /प्र ४-५/प्रेमी जी) (स. सा./प्र. R B Pathak) ३ तीसरे प्रभाचन्द्र महापुराणके कर्ता श्रीजिनसेन (ई० ७६३) से पूर्ववर्ती हैं। ये कुमारसेनके शिष्य थे। न्यायशास्त्रमें पारगत थे। कृति—चन्द्रोदय। आपका समय—ई० ७६३ से पहले है। (ह. पु./प्र. ८/प पन्नालाल) (म. पु/प्र. ४५/ प. पन्नालाल)। ४. चौथे

२. इस एक भावनामें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३,४१/९१/३ उपकट्ठपवयणप्पहावणस्स दंसणविसुज्झदादीहि अविणाभावादो। तेणेदं पण्णरसमं कारणं =क्योंकि, उत्कृष्ट, प्रवचन प्रभावनाका दर्शनविशुद्धितादिकोंके साथ अविनाभाव है। इसलिए यह पन्द्रहवाँ कारण है।

* एक मार्ग प्रभावनासे तीर्थंकरत्व बंध संभव

देo—भावना/२

प्रभास—१. लवण समुद्रकी नैऋर्त्य व वायव्य दिशामें स्थित द्वीप व उसके स्वामी देव—देo लोक/७। २. दक्षिण लवण समुद्रका स्वामी देव—देo व्यंतर/४। ३. धातकी खण्डका रक्षक व्यन्तर देव—देo व्यतर/४

प्रभु—न.च.वृ/१०८ घाईकम्मखयादो केवलणाणेण विदिदपरमट्ठो। उवदिट्ठसयलतत्तो लद्धसहावो पहू होई।१०८। =घाति कर्मोंके क्षयसे जिसने केवलज्ञानके द्वारा परमार्थको जान लिया है, सकल तत्त्वों-का जिसने उपदेश दिया है, तथा निजस्वभावको जिसने प्राप्त कर लिया है, वह प्रभु होता है।१०८।

पं.का./त प्र /२७ निश्चयेन भावकर्मणा, व्यवहारेण द्रव्यकर्मणामास्रवणबधनसंवरणनिर्जरणमोक्षणेषु स्वयमीशत्वात् प्रभु'। =निश्चयसे भाव कर्मोंके आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष करनेमें स्वय समर्थ होनेसे आत्मा प्रभु है। व्यवहारसे द्रव्यकर्मोंके आस्रव, बध आदि करनेमें स्वयं ईश होनेसे वह प्रभु है।

पं. का./ता.वृ./२७/६०/१६ निश्चयेन मोक्षमोक्षकारणरूपशुद्धपरिणामपरिणमनसमर्थत्वात्तथैव चाशुद्धनयेन संसारससारकारणरूपाशुद्धपरिणामपरिणमनसमर्थत्वात् प्रभुर्भवति। =निश्चयसे मोक्ष और मोक्षके कारण रूप शुद्ध परिणामसे परिणमनमें समर्थ होनेसे, और अशुद्ध नयसे ससार और संसारके कारण रूप परिणामसे परिणमनमें समर्थ होनेसे यह आत्मा प्रभु होता है।

प्रभुत्व शक्ति—स सा./आ./परि./शक्ति नं. ७ अखण्डितप्रतापस्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः। =जिसका प्रताप अखण्डित है, ऐसा स्वातन्त्र्यसे शोभायमानपना जिसका लक्षण है, ऐसी प्रभुत्व शक्ति है।७।

पं. का./त.प्र./२८ निर्वर्तितसमस्ताधिकारशक्तिमात्र प्रभुत्वं। =प्राप्त किये हुए समस्त (आत्मिक) अधिकारोंकी शक्ति मात्र रूप प्रभुत्व होता है।

प्रमत्त संयत—देo सयत।

प्रमाण—स्व व पर प्रकाशक सम्यग्ज्ञान प्रमाण है। जैनदर्शनकार नैयायिकोंकी भाँति इन्द्रियविषय व सन्निकर्षको प्रमाण नहीं मानते। स्वार्थ व परार्थके भेदसे अथवा प्रत्यक्ष व परोक्षके भेदसे वह दो प्रकार है। परार्थ तो परोक्ष ही होता है, पर स्वार्थ प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रकारका होता है। तहाँ मतिज्ञानात्मक स्वार्थ प्रमाण तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, और श्रुतज्ञानात्मक स्वार्थ परोक्ष है। अवधि, मन पर्यय और केवल ये तीनों ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं। नैयायिकोंके द्वारा मान्य अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, ऐतिह्य व शब्दादि सब प्रमाण यहाँ श्रुतज्ञानात्मक परोक्ष प्रमाणमें गर्भित हो जाते हैं। पहले न जाना गया अपूर्व पदार्थ प्रमाणका विषय है, और वस्तुकी सिद्धि अथवा हित प्राप्ति व अहित परिहार इसका फल है।

४. सम्यग्ज्ञानी आत्मा ही कथंचित् प्रमाण है

ध. ६/४,१,४५/१४१/६ किं प्रमाणम्। निर्बाधबोधविशिष्ट' आत्मा प्रमाणम्। =प्रश्न—प्रमाण किसे कहते हैं। उत्तर—निर्बाध ज्ञानसे विशिष्ट आत्माको प्रमाण कहते है। (ध. ६/४,१,४५/१६४/६)।

द्र. सं./टी./४४/१६०/१० संशयविमोहविभ्रमरहितवस्तुज्ञानस्वरूपात्मैव प्रमाणम्। स च प्रदीपवत् स्वपरगतं सामान्यं विशेषं च जानाति। तेन कारणेनाभेदेन तस्यैव प्रमाणत्वमिति। =संशय-विमोह-विभ्रमसे रहित जो वस्तुका ज्ञान है, उस ज्ञानस्वरूप आत्मा ही प्रमाण है। जैसे—प्रदीप स्व-पर प्रकाशक है, उसी प्रकार आत्मा भी स्व और परके सामान्य विशेषको जानता है, इस कारण अभेदसे आत्माके ही प्रमाणता है।

५. प्रमाणका विषय

ध. ६/४,१,४५/१६६/१ प्रकर्षेण मानं प्रमाणम्, सकलादेशीत्यर्थ'। तेन प्रकाशितानां प्रमाणगृहीतानामित्यर्थ। =प्रकर्ष अर्थात् संशयादिसे रहित वस्तुका ज्ञान प्रमाण है, अभिप्राय यह कि जो समस्त धर्मोंको विषय करनेवाला हो वह प्रमाण है। (क. पा. १/§१७४/२१०/३)।

ध. १/४,२,६३,२५४/४५७/१२ संतविसयाणं पमाणाणमसते वावारविरोहादो। =सत्को विषय करनेवाले प्रमाणोंके असत्में प्रवृत्त होनेका विरोध है।

प. मु./१/१ स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणं।१। =अपना और अपूर्व पदार्थका निश्चय करानेवाला ज्ञान प्रमाण है।

प. मु./४/१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः। =सामान्य और विशेषस्वरूप अर्थात् द्रव्य और पर्यायस्वरूप पदार्थ प्रमाणका विषय होता है।१।

दे० नय./I/३ (सकलादेशी, अनेकान्तरूप व सर्व नयात्मक है।)

६. प्रमाणका फल

सि. वि./मू./१/३/१२ प्रमाणस्य फलं साक्षात् सिद्धि स्वार्थविनिश्चयः। =स्व व पर दोनों प्रकारके पदार्थोंकी सिद्धिमें जो अन्य इन्द्रिय आदिकी अपेक्षा किये बिना स्वयं है वह ज्ञान ही प्रमाण है।

न. च. वृ./१६६ कज्ज सयलसमत्थं जीवो साहेइ वत्थुगहणेण। वत्थू पमाणसिद्धं तह्मा तं जाण णियमेण।१६६। =वस्तुके ग्रहणसे ही जीव कार्यकी सिद्धि करता है, और वह वस्तु प्रमाण सिद्ध है। इसलिए प्रमाण ही सकल समर्थ है ऐसा तुम नियमसे जानो।

प. मु./१/२ हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणं'।२।

प. मु./४/१ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलं।१। =प्रमाण ही हितकी प्राप्ति और अहितके परिहार करनेमें समर्थ है।२। अज्ञानकी निवृत्ति, त्यागना, ग्रहण करना और उपेक्षा करना यह प्रमाणके फल है।१। (और भी—दे० /४/१)।

७. प्रमाणका कारण

पं. ध./पू./६७७ हेतुस्तत्त्वबुभुत्सो संदिग्धस्याथवा च बालस्य। सार्थमनेकं द्रव्यं हस्तामलकवद्वेत्तुकामस्य।६७७। =हाथमें रखे हुए आँवलेकी भाँति अनेक रूप द्रव्यको युगपत् जाननेकी इच्छा रखनेवाले सन्दिग्धकी अथवा अज्ञानीको तत्त्वोंकी जिज्ञासा होना प्रमाणका कारण है।६७७।

८. प्रमाणाभासके विषय आदि

प. मु./६/५५-७२ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादिसंख्याभासं।५५। लोकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात्।५६। सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानां प्रत्यक्षानुमानागमोपमार्थापत्त्यभावैरेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत्।५७। अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वं।५८। तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वं।५९। अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात्। प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात्।६०। विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रं।६१। तथाऽप्रतिभासनात् कार्याकरणाच्च।६२। समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात्।६३। परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात्।६४। स्वयमसमर्थस्याकारकत्वात्पूर्ववत्।६५। फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा।६६। अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः।६७। व्यावृत्त्यापि, न तत्कल्पना फलान्तराद् व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसंगात्।६८। प्रमाणान्तराद् व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य।६९। तस्माद्वास्तवो भेदः।७०। भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः।७१। समवायेऽतिप्रसंगः।७२। =१ संख्याभास—प्रत्यक्ष ही एक प्रमाण है। इस प्रकार एक या दो आदि प्रमाण मानना संख्याभास है।५५। चार्वाक लोग एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानते है, परन्तु उसके द्वारा न तो वे परलोक आदिका निषेध कर सकते हैं और न ही पर बुद्धि आदिका, क्योंकि, वे प्रत्यक्षके विषय ही नहीं है।५६। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण मानते है। सांख्य लोग प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम तीन प्रमाण मानते है। नैयायिक लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम व उपमान ये चार प्रमाण मानते है। प्रभाकर लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान व अर्थापत्ति ये पाँच प्रमाण मानते है, और जैमिनी लोग प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम उपमान, अर्थापत्ति व अभाव ये छह प्रमाण मानते है। इनका इस प्रकार दो आदिका मानना संख्याभास है।५७। चार्वाक लोग परलोक आदिके निषेधके लिए स्वमान्य एक प्रमाणके अतिरिक्त अनुमानका आश्रय लेते है।५८। इसी प्रकार बौद्ध लोग व्याप्तिकी सिद्धिके लिए स्वमान्य दो प्रमाणोंके अतिरिक्त एक तर्कको भी स्वीकार कर लेते हैं।५९। यदि संख्या भंगके भयसे वे उस तर्कको प्रमाण न कहें तो व्याप्तिकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। दूसरे प्रत्यक्षादिसे विलक्षण जो तर्क उसका प्रतिभास जुदा ही प्रकारका होनेके कारण वह अवश्य उन दोनोंसे पृथक् है।६०। २. विषयाभास—प्रमाणका विषय सामान्य ही है या विशेष ही है, या दोनों ही स्वतन्त्र रहते प्रमाणके विषय है, ऐसा कहना विषयाभास है।६१। क्योंकि, न तो पदार्थमे वे धर्म इस प्रकार प्रतिभासित होते है और न इस प्रकार माननेसे पदार्थमें अर्थक्रियाकी सिद्धि हो सकती है।६२। यदि कहोगे कि वे सामान्य व विशेष पदार्थमें अर्थक्रिया करानेको स्वयं समर्थ है तो उसमें सदा एक ही प्रकारके कार्यकी उत्पत्ति होती रहनी चाहिए।६३। यदि कहोगे कि निमित्तों आदिकी अपेक्षा करके वे अर्थक्रिया करते है, तो उन धर्मोंको परिणामी मानना पडेगा, क्योंकि परिणामी हुए बिना अन्यका आश्रय सम्भव नहीं है।६४। यदि कहोगे कि असमर्थ रहते ही स्वयं कार्य कर देते है तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि असमर्थ धर्म कोई भी कार्य नहीं कर सकता।६५। ३. फलाभास—प्रमाणसे फल भिन्न ही होता है या अभिन्न ही होता है, ऐसा मानना फलाभास है।६६। क्योंकि सर्वथा अभेद पक्षमें तो 'यह प्रमाण है और यह उसका फल' ऐसा व्यवहार ही सम्भव नहीं है।६७। यदि व्यावृत्ति द्वारा अर्थात् अन्य अफलसे जुदा प्रकारका मानकर फलकी कल्पना करोगे तो अन्य फलसे व्यावृत्त होनेके कारण उसीमें अफलकी कल्पना भी क्यों न हो जायेगी।६८। जिस प्रकार कि बौद्ध लोग अन्य प्रमाणकी व्यावृत्तिके द्वारा अप्रमाणपना मानते है। इसलिए प्रमाण व फलमें वास्तविक भेद मानना चाहिए।६९-७०। सर्वथा भेद पक्षमें 'यह इस प्रमाणका फल है' ऐसा नहीं कहा जा सकता।७१। यदि समवाय द्वारा उनका परस्पर सम्बन्ध बैठानेका प्रयत्न करोगे तो अतिप्रसंग होगा, क्योंकि, एक, नित्य व व्यापक समवाय नामक पदार्थ भला एक ही आत्मामें प्रमाण व फलका समवाय क्यों करने लगा। एकदम सभी आत्माके साथ उनका सम्बन्ध क्यों न जोड देगा।७२।

३. प्रमाणका प्रामाण्य

१. प्रामाण्यका लक्षण

न्या.दी./१/§१०/११/७ पर प्रत्यक्ष निर्णयसे उद्धृत--इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं यत्प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमत्वेन करणत्वम्। =प्रमाण वही है जो प्रमिति क्रियाके प्रति साधकतमरूपसे करण (जिसके कार्यका उत्पादक) हो।

न्या.दी./१/§१८/१४/११ किमिदं प्रमाणस्य प्रामाण्यं नाम। प्रतिभात-विषयाव्यभिचारित्वम्। =प्रश्न—प्रमाणका यह प्रामाण्य क्या है, जिससे 'प्रमाण' प्रमाण कहा जाता है, अप्रमाण नहीं। उत्तर—जाने हुए विषयमें व्यभिचार (अन्यथापन) का न होना प्रामाण्य है। इसके होनेसे ही ज्ञान प्रमाण कहा जाता है और इसके न होनेसे अप्रमाण कहा जाता है।

२. स्वतः व परतः दोनोंसे होता है

श्लो.वा.३/१/१०/१२६-१२७/११६ तत्राभ्यासात्प्रमाणत्वं निश्चितं स्वतः एव न.। अनभ्यासे तु परत इत्याहु। =अर्थ अभ्यासदशामें ज्ञान स्वरूपका निर्णय करते समय ही युगपत् उसके प्रमाणपनेका भी निर्णय कर लिया जाता है। परन्तु अनभ्यासदशामें तो दूसरे कारणोंसे (परतः) ही प्रमाणपना जाना जाता है। (प्रमाण परीक्षा), (प.मु./१/१३). (न्या.दी./१/§२०/१६)।

दे० ज्ञान/I/३ (प्रमाण स्व-पर प्रकाशक है।)

३. वास्तवमें आत्मा ही प्रामाण्य है ज्ञान नहीं

ध.९/४,१,४५/१४२/२ ज्ञानस्यैव प्रामाण्यं किमिति नेष्यते। न, जानाति परिच्छिनत्ति जीवादिपदार्थानिति ज्ञानात्मा, तस्यैव प्रामाण्याभ्यु-पगमात्। न ज्ञानपर्यायस्य स्थितिविरहितस्य उत्पाद-विनाशलक्षणस्य प्रामाण्यम्, तत्र त्रिलक्षणाभावत। अवस्तुनि परिच्छित्तिलक्षणार्थक्रिया-भावात्, स्मृति-प्रत्यभिज्ञानुसंधानप्रत्ययादीनामभावप्रसंगाच्च। =प्रश्न—ज्ञानको ही प्रमाण स्वीकार क्यों नहीं करते। उत्तर—नहीं, क्योंकि 'जानातीति ज्ञानम्' इस निरुक्तिके अनुसार जो जीवादि पदार्थोंको जानता है वह ज्ञान अर्थात् आत्मा है, उसीको प्रमाण स्वीकार किया गया है। उत्पाद व व्ययस्वरूप किन्तु स्थितिसे रहित ज्ञान पर्यायके प्रमाणता स्वीकार नहीं की गयी, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप लक्षणत्रयका अभाव होनेके कारण अवस्तु स्वरूप उसमें परिच्छित्तिरूप अर्थक्रियाका अभाव है, तथा स्थिति रहित ज्ञान पर्यायको प्रमाणता स्वीकार करनेपर स्मृति प्रत्यभिज्ञान व अनु-सन्धान प्रत्ययोंके अभावका प्रसंग आता है।

४. प्रमाण, प्रमेय, प्रमाताके भेदाभेद सम्बन्धी शंका समाधान

१. ज्ञानको प्रमाण कहनेसे प्रमाणका फल किसे मानोगे

स.सि./१/१०/९७/१ यदि ज्ञानं प्रमाणं फलाभावः।…नैष दोषः, अर्थाधिगमे प्रीतिदर्शनात्। ज्ञस्वभावस्यात्मनः कर्ममलीमसस्य करणालम्बनादर्थनिश्चये प्रीतिरुपजायते। सा फलमित्युच्यते। उपेक्षा अज्ञाननाशो वा फलम्। =प्रश्न—यदि ज्ञानको प्रमाण मानते हो तो फलका अभाव हो जायेगा। (क्योंकि उसका कोई दूसरा फल प्राप्त नहीं होता।) उत्तर—…यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि पदार्थके ज्ञान होनेपर प्रीति देखी जाती है। वही प्रमाणका फल कहा जाता है। अथवा उपेक्षा या अज्ञानका नाश प्रमाणका फल है। (रा.वा./१/१०/६-७/५०/४), (प.मु./१/२)।

२. ज्ञानको ही प्रमाण माननेसे मिथ्याज्ञान भी प्रमाण हो जायेंगे

ध.९/४,१,४५/१४२/२ ज्ञानस्य प्रमाणत्वे अभ्युपगम्यमाने संशयानध्यवसायविपर्ययज्ञानानामपि प्रमाणत्वं प्राप्नोति। न, प्रशब्देन तेषां प्रमाणत्वनिषेधात्। =प्रश्न—ज्ञान प्रमाण है ऐसा कहनेपर संशय, अनध्यवसाय और विपर्यय ज्ञानोंको भी प्रमाणता प्राप्त होती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रमाणमें 'प्र' शब्दके द्वारा संशयादिक प्रमाणता निषिद्ध कर दिया है।

दे० प्रमाण/३/२ दूसरे प्रकार [illegible] कहा जा रहा है इसलिए सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण हो सकते हैं, मिथ्याज्ञान नहीं। (न्या. दी./[illegible])।

३. सन्निकर्ष व इन्द्रियको प्रमाण माननेमें दोष

स.सि./१/१०/९८/३. अत्र सन्निकर्षे प्रमाणे सति इन्द्रिये वा को दोषः। यदि सन्निकर्षः प्रमाणम् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टानामर्थानां ग्रहणं न प्राप्नोति। न हि ते इन्द्रियैः संनिकृष्यन्ते। अतः सर्वज्ञत्वाभावः स्यात्। इन्द्रियमपि यदि प्रमाणं स एव दोषः, अल्पविषयत्वात् चक्षुरादीनां ज्ञेयस्य चापरिमाणत्वात्। सर्वेन्द्रियसंनिकर्षाभावश्च; ९९/७. सन्निकर्षे इन्द्रिये वा प्रमाणे सति अधिगमः फलमर्थान्तरभूतं युज्यते इति तदयुक्तम्। यदि संनिकर्षः प्रमाणं अर्थाधिगमः फलं, तस्य द्विष्ठत्वात्तत्फलेनाधिगमेनापि द्विष्ठेन भवितव्यमिति अर्थादीनामप्यधिगमः प्राप्नोति। =प्रश्न—सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेमें क्या दोष है। उत्तर—१. यदि सन्निकर्षको प्रमाण माना जाता है तो सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थोंके ग्रहण न करनेका प्रसंग प्राप्त होता; क्योंकि इनका इन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञताका अभाव हो जाता है। २. यदि इन्द्रियको प्रमाण माना जाता है तो वही दोष आता है, क्योंकि, चक्षु आदिका विषय अल्प है और ज्ञेय अपरिमित हैं। ३. दूसरे सब इन्द्रियोंका सन्निकर्ष भी नहीं बनता, क्योंकि चक्षु और मन प्राप्यकारी नहीं हैं। इसलिए भी सन्निकर्षको प्रमाण नहीं मान सकते। प्रश्न—(ज्ञानको प्रमाण माननेमें फलका अभाव है) पर सन्निकर्ष या इन्द्रियको प्रमाण माननेपर उनसे भिन्न ज्ञान रूप फल बन जाता है? उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यदि सन्निकर्षको प्रमाण और अर्थके ज्ञानको फल मानते हैं, तो सन्निकर्ष दोमें रहने वाला होनेसे उसके फल रूप ज्ञानको भी दो में रहने वाला होना चाहिए इसलिए घट, पटादि पदार्थोंके भी ज्ञानकी प्राप्ति होती है। (रा. वा./१/१०/१६-२४/५१/५); (ध. ९/[illegible])।

४. प्रमाण व प्रमेयको सर्वथा भिन्न माननेमें दोष

स.सि./१/१०/९८/३ यदि जीवादिरधिगमे प्रमाणं प्रमाणाधिगमे च अन्यत्प्रमाणं परिकल्पयितव्यम्। तथा सत्यनवस्था। नानवस्था प्रदीपवत्। यथा घटादीनां प्रकाशने प्रदीपो हेतुः स्वस्वरूपप्रकाशनेऽपि स एव, न प्रकाशान्तरं मृग्यं तथा प्रमाणमपीति अवश्यं चैतदभ्यु-पगन्तव्यम्। प्रमेयवत्प्रमाणस्य प्रमाणान्तरपरिकल्पनायां स्वाधिगमा-भावात् स्मृत्यभावः। तदभावाद् व्यवहारलोपः स्यात्। =प्रश्न—यदि जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें प्रमाण कारण है तो प्रमाणके ज्ञानमें अन्य प्रमाणको कारण मानना चाहिए। और ऐसा माननेपर अनवस्था दोष प्राप्त होता है। उत्तर—जीवादि पदार्थोंके ज्ञानमें कारण माननेपर अनवस्था दोष नहीं आता, जैसे दीपक। जिस प्रकार घटादि पदार्थोंके प्रकाश करनेमें दीपक हेतु है और अपने स्वरूपको प्रकाश करनेमें भी वही हेतु है, इसके लिए प्रकाशान्तर नहीं ढूँढना पड़ता है। इसी प्रकार प्रमाण भी है, यह बात अवश्य मान लेनी चाहिए। अब यदि प्रमेयके समान प्रमाणके लिए अन्य प्रमाण माना जाता है तो

स्वका ज्ञान नहीं होनेसे स्मृतिका अभाव हो जाता है, और स्मृतिका अभाव हो जानेसे व्यवहारका लोप हो जाता है। (रा. वा./१/१०/१०/५०/१६)।

५. ज्ञान व आत्माको भिन्न माननेमें दोष

स. सि./१/१०/९७/५ आत्मनश्चेतनत्वात्तत्रैव समवाय इति चेत्। न, ज्ञस्वभावाभावे सर्वेषामचेतनत्वात्। ज्ञस्वभावाभ्युपगमे वा आत्मन स्वमतविरोध स्यात्। =प्रश्न—आत्मा चेतन है, अत. उसीमें ज्ञानका समवाय है। उत्तर—नहीं, क्योंकि आत्माको ज्ञस्वभाव नहीं मानने पर सभी पदार्थ अचेतन प्राप्त होते है। यदि आत्माको 'ज्ञ' स्वभाव माना जाता है, तो स्वमतका विरोध होता है।

रा वा /१/१०/६/५०/१५ स्यादेतत्—ज्ञानयोगाज्ज्ञातृत्वं भवतीति, तन्न, किं कारणम्। अतत्स्वभावत्वे ज्ञातृत्वाभाव.। कथम्। अन्धप्रदीपसयोगवत्। यथा जात्यन्धस्य प्रदीपसयोगेऽपि न द्रष्टृत्व तथा ज्ञानयोगेऽपि अज्ञस्वभावस्यात्मनो न ज्ञातृत्वम्। =प्रश्न—ज्ञानके योगसे आत्माके ज्ञातृत्व होता है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि अतत् स्वभाव होनेपर ज्ञातृत्वका अभाव है। जैसे—अन्धेको दीपकका सयोग होने पर भी दिखाई नहीं देता यत' वह स्वयं दृष्टि शून्य है, उसी तरह ज्ञ स्वभाव रहित आत्मामें ज्ञानका सम्बन्ध होने पर भी भी ज्ञत्व नहीं आ सकेगा।

६. प्रमाणको लक्ष्य और प्रमाकरणको लक्षण माननेमें दोष

पं. ध /पू /५३४-५३५ स यथा चेत्प्रमाणं लक्ष्यं तल्लक्षणं प्रमाकरणम्। अव्याप्तिको हि दोष सदेश्वरे चापि तदयोगात् ।७३४। योगिज्ञानेऽपि तथा न स्यात्तल्लक्षण प्रमाकरणम्। परमाण्वादिषु नियमान्न स्यात्तत्संनिकर्षश्च। =यदि प्रमाणको लक्ष्य और प्रमाकरणको उसका लक्षण माना जाये तो निश्चय करके अव्याप्ति नामक दोष आयेगा, क्योंकि प्रमाणभूत ईश्वरके सदैव रहने पर भी उसमें 'प्रमाकरण प्रमाण' यह प्रमाणका लक्षण नहीं घटता है।७३४। तथा योगियोके ज्ञानमें भी प्रमाका करणरूप प्रमाणका लक्षण नहीं जाता है, क्योंकि नियमसे परमाणु वगैरह सूक्ष्म पदार्थोंमें इन्द्रियोंका सन्निकर्ष भी नहीं होता है।७३५।

७. प्रमाण और प्रमेयमें कथंचित् भेदाभेद

रा. वा /१/१०/१०-१३/५०/१६ प्रमाणप्रमेययोरन्यत्वमिति चेत्, न; अनवस्थानात् ।१०। प्रकाशवदिति चेत्, न, प्रतिज्ञाहाने ।११। अनन्यत्वमेवेति चेत्; न, उभयाभावप्रसङ्गात्। यदि ज्ञातुरनन्यत्प्रमाणं प्रमाणाच्च प्रमेयम्, अन्यतराभावे तदविनाभाविनोऽवशिष्टस्याप्यभाव इत्युभयाभावप्रसङ्ग। कथ तर्हि सिद्धि ।१२। अनेकान्तात् सिद्धि' ।१३। स्यादन्यत्वं स्यादनन्यत्वमित्यादि। सज्ञालक्षणादिभेदात् स्यादन्यत्वम्, व्यतिरेकेणानुपलब्धे स्यादनन्यत्वमित्यादि। तत सिद्धमेतत्-प्रमेयं नियमात् प्रमेयम्, प्रमाण तु स्यात्प्रमेयम् इति। =प्रश्न—जैसे दीपक जुदा है और घडा जुदा है, उसी तरह जो प्रमाण है वह प्रमेय नहीं हो सकता और जो प्रमेय है वह प्रमाण नहीं है। दोनोंके लक्षण भिन्न-भिन्न है। उत्तर—१. जिस प्रकार बाह्य प्रमेयोंसे प्रमाण जुदा है उसी तरह उसमें यदि अन्तरङ्ग प्रमेयता न हो तो अनवस्थादूषण होगा। २ यदि अनवस्थादूषण निवारणके लिए ज्ञानको दीपककी तरह स्व-परप्रकाशी माना जाता है, तो प्रमाण और प्रमेयके भिन्न होनेका पक्ष समाप्त हो जाता है। ३ यदि प्रमाता प्रमाण और प्रमेयसे अनन्य माना जाता है, तो एकका अभाव होने पर, दूसरेका भी अभाव हो जाता है। क्योंकि दोनों अविनाभावी है, इस प्रकार दोनोंके अभावका प्रसंग आता है। प्रश्न—तो फिर इनकी सिद्धि कैसे हो। उत्तर—वस्तुत' संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदिकी भिन्नता होनेसे प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयमें भिन्नता है तथा पृथक्-पृथक् रूपसे अनुपलब्धि होनेके कारण अभिन्नता है। निष्कर्ष यह है कि प्रमेय प्रमेय ही है किन्तु प्रमाण प्रमाण भी है और प्रमेय भी।

८. प्रमाण व उसके फलमें कथंचित् भेदाभेद

प.मु /५/२-३ प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च ।२। य प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्याददत्त उपेक्षते चेति प्रतीते ।३। =फल प्रमाणसे कथचित् अभिन्न और कथचित् भिन्न है। क्योंकि जो प्रमाण करता है—जानता है उसीका अज्ञान दूर होता है और वही किसी पदार्थका त्याग वा ग्रहण अथवा उपेक्षा करता है इसलिए तो प्रमाण और फलका अभेद है किन्तु प्रमाण फलकी भिन्न-भिन्न भी प्रतीति होती है इसलिए भेद भी है।२-३।

५. गणनादि प्रमाण निर्देश

१. प्रमाणके भेद

१. गणना प्रमाणकी अपेक्षा
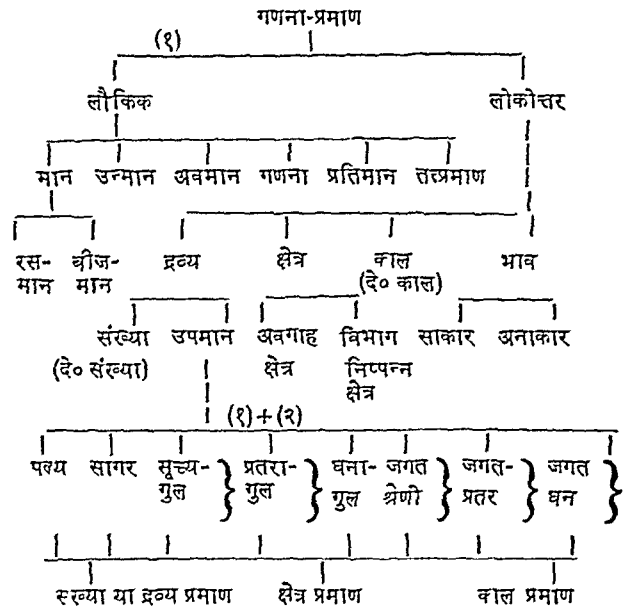
संदर्भ नं. १ —(रा वा./३/३८/२-५/२०५-२०६/१६) (गो. जी /भाषा/पृ. २९०)। सदर्भ नं २'—(मू आ./११२६) (ति. प./१/९३-९४) (ध ३/१,२,१७/गा. ६५/१३२) (ध ४/१,३,२/गा. ५/१०) (गो. जी /भाषा /३१२/७)।

२. निक्षेप रूप प्रमाणोंकी अपेक्षा

ध. ९/४,१,४५/१८०/२ पमाणं पंचविहं दव्व-खेत्त-काल-णयप्पमाण-भेदेहि। भाव-पमाण पचविहं, आभिणिबोहियणाण सुदणाणं ओहिणाणं मणपज्जवणाण केवलणाण चेदि णय-प्पमाणं सत्तविहं, णेगम-सगह-ववहारुज्जुसुद-सद्द-समभिरूढ-एवभूदभेदेहि। =द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नयके भेदसे प्रमाणके पाँच भेद हैं। मति, श्रुत, अवधि, मन पर्यय और केवलज्ञानके भेदसे भावप्रमाण पाँच प्रकार है। (क पा /१/१,१/§२७/३७/१:§२८/४२/१); (ध. ९/१, १,२/९२/४) नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ

म. पु /६२/३०५ कायवाक्चेतसा वृत्तिर्व्रतानां मलकारिणी। या सा षष्ठगुणस्थाने प्रमादो बन्धवृत्तये।३०५। =छठवें गुणस्थानमे व्रतोंमें संशय उत्पन्न करनेवाली जो मन, वचन, कायकी प्रवृत्ति है उसे प्रमाद कहते हैं, यह बन्धका कारण है।

स. सा /आ./३०७/क. १९० कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः। =कषायके भारके भारी होनेको आलस्यका होना कहा है, उसे प्रमाद कहते है।

त. सा./५/१० शुद्धयष्टके तथा धर्मे क्षान्त्यादिदशलक्षणे। योऽनुत्साहः स सर्वज्ञैः प्रमादः परिकीर्तितः।१०। =आठ शुद्धि और दश धर्मोंमें जो उत्साह न रखना उसे सर्वज्ञदेवने प्रमाद कहा है।

द्र स./टी./३०/८८/४ अभ्यन्तरे निष्प्रमादशुद्धात्मानुभूतिचलनरूपः, बहिर्विषये तु मूलोत्तरगुणमलजनकश्चेति प्रमादः। =अन्तरंगमें प्रमाद रहित शुद्धात्मानुभवसे डिगाने रूप, और बाह्य विषयमें मूलगुणो तथा उत्तरगुणोमें मैल उत्पन्न करने वाला प्रमाद है।

२. अप्रमादका लक्षण

ध. १४/५,६,६२/८९/११ पंच महव्वयाणि पंच समदीयो तिण्णि गुत्तीओ णिस्सेसकसायाभावो च अप्पमादो णाम। =पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति और समस्त कषायोके अभावका नाम अप्रमाद है।

३. प्रमादके भेद

पं. सं./प्रा /१/१५ विकहा तहा कसाया इंदियणिद्दा तहेव पणओ य। चदु चदु पण एगेग होंति पमादा हु पण्णरसा।१५। =चार विकथा, चार कषाय, पाँच इन्द्रिय, एक निद्रा, और एक प्रणय ये पन्द्रह प्रमाद होते है।१५। (ध. १/१,१,१४/गा. ११४/१७८) (गो. जी /मू./३४/६४) (पं. सं./सं /१/३३)।

रा. वा./८/१/३०/५६४/२६ प्रमादोऽनेकविधः।३०। भावकायविनयेर्यापथभैक्ष्यशयनासनप्रतिष्ठापनवाक्यशुद्धिलक्षणाष्टविधसंयम - उत्तम - क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिंचन्यब्रह्मचर्यादिविष - यानुत्साहभेदादनेकविधः प्रमादोऽवसेयः। =भाव, काय, विनय, ईर्यापथ, भैक्ष्य, शयन, आसन, प्रतिष्ठापन और वाक्यशुद्धि इन आठ शुद्धियों तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन धर्मोंमें अनुत्साह या अनादर भावके भेदसे प्रमाद अनेक प्रकारका है। (स. सि /८/१/३७६/३)।

भ. आ./वि./६१२/८१२/४ प्रमादः पञ्चविधः। विकथा, कषायाः, इन्द्रियविषयासक्तता, निद्रा, प्रणयश्चेति। अथवा प्रमादो नाम संक्लिष्टहस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्रशिक्षणं, काव्यकरणं, समितिष्वनुपयुक्तता। =प्रमादके पाँच प्रकार हैं—विकथा, कषाय, इन्द्रियोके विषयोंमें आसक्ति, निद्रा और स्नेह; अथवा संक्लिष्ट हस्तकर्म, कुशीलानुवृत्ति, बाह्यशास्त्र, काव्यकरण और समितिमें उपयोग न देना ऐसे भी प्रमादके पाँच प्रकार हैं।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. प्रमादके ३७५०० भेद तथा इनकी अक्षसंचार विधि। —दे० गणित/II/३।

२. प्रमाद कर्मबन्ध प्रत्ययके रूपमें। —दे० बन्ध/१।

३. प्रमादका कषायमें अन्तर्भाव। —दे० प्रत्यय/१।

४. प्रमाद व अविरति प्रत्ययमें अन्तर। —दे० प्रत्यय/१।

५ साधुको प्रमाद वश लगनेवाले दोषोंकी सीमा —दे० संयत/३।

प्रमाद अतिचार—दे० अतिचार/१।

प्रमाद चरित—दे० अनर्थदण्ड।

प्रमार्जन—दे० प्रमार्जित।

प्रमार्जित—स. सि./७/३३/३७०/६ मृदूपकरणेन यत्क्रियते प्रयोजनं तत्प्रमार्जितम्। =कोमल उपकरणसे जो (जीवोंको बचानेको) प्रयोजन साधा जाता है। वह प्रमार्जित (या प्रमार्जन) कहलाता है। (रा. वा /७/३४/२/५५७/२४) (चा. सा./२२/५)।

प्रमिति—न्या. सू./वृ. १/११ यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः। =जाँचनेपर जो ज्ञात हो उसे प्रमिति कहते है।

प्रमृशा—भरत क्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

प्रमेय—स्या. मं /१०/११०/२६ द्रव्यपर्यायात्मनं वस्तु प्रमेयम्, इति तु समीचीनं लक्षणं सर्वसंग्राहकत्वात्। =द्रव्य पर्याय रूप वस्तु ही प्रमेय है यही प्रमेयका लक्षण सर्व संग्राहक होनेसे समीचीन है।

न्या. सू /वृ. १/११ योऽर्थ प्रमीयते तत्प्रमेयं। =जो वस्तु जाँची जावे उसे प्रमेय कहते है।

प्रमेयकमलमार्तण्ड— आ० माणिक्यनन्दि (ई० ९९५-१०२३) कृत परीक्षामुखपर आ० प्रभाचन्द (ई० ९९५-१०२३) द्वारा रचित विस्तृत टीका। यह ग्रन्थ न्याय विषयक ग्रन्थ है।

प्रमेयत्व गुण—आ. प./६ प्रमेयस्य भावः प्रमेयत्वम्। प्रमाणेन स्वपरस्वरूपं परिच्छेद्यं प्रमेयम्। =प्रमेयके भावको प्रमेयत्व कहते है। प्रमाणके द्वारा जो जानने योग्य स्व पर स्वरूप वह प्रमेय है।

प्रमेयरत्न कोश—आ० चन्द्रप्रभ सूरि (ई० ११०२) द्वारा विरचित न्यायविषयक ग्रन्थ।

प्रमेय रत्नाकर—पं० आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा रचित न्याय विषयक संस्कृत भाषा बद्ध ग्रन्थ।

प्रमोद—स. सि./७/११/३४९/७ वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानान्तर्भक्तिरागः प्रमोदः। =मुखकी प्रसन्नता आदिके द्वारा भीतर भक्ति और अनुरागका व्यक्त होना प्रमोद है। (रा. वा./७/११/२/५३८/१६)।

भ. आ /वि./१६९६/१५१६/१५ मुदिता नाम यतिगुणचिन्ता यतयो हि विनीता, विरागा, विभया, विमाना, विरोषा, विलोभा इत्यादिका। =यतियोंके, गुणोका विचार करके उनके गुणोंमें हर्ष मानना यह प्रमोद भावनाका लक्षण है। यतियोमें नम्रता, वैराग्य, निर्भयता, अभिमान रहितपना, निर्दोषता और निर्लोभपना ये गुण रहते है। (ज्ञा०/२७/११-१२)

प्रयोग—ध. १४/४, २, ८१/२८६/६ पओएण जोगपच्चओ परूविदो। =मन, वचन एवं काय रूप योगोंको प्रयोग शब्दसे ग्रहण किया गया है।

प्रयोग कर्म—दे० कर्म/१।

प्रयोग क्रिया—दे० क्रिया/३।

प्रयोग बन्ध—दे० बंध/१।

प्रयोजन—न्या. सू./मू /टी /१/१/२४/३० यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्।२४। यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वाध्यवसाय तदाप्ति हानोपायमनुतिष्ठति प्रयोजनं तद्वेदितव्यम्। =जिस अर्थको पाने या छोडने योग्य निश्चय करके उसके पाने या छोडनेका उपाय करता है, उसे प्रयोजन कहते है।

प्रयोज्यता—प्रयोजनके वश।

प्ररूपणा—

ध. १/१,१.८/१५६/६ प्ररूपणा निरूपणा प्रज्ञापनेति यावत्। =प्ररूपणा, निरूपणा और प्रज्ञापना ये एकार्थवाची नाम हैं।

ध. २/१,१/४११/८ परूवणा णाम किं उत्तं होदि। ओघादेसेहि गुणेसु जीवसमासेसु पज्जत्तापज्जत्तविसेसणेहि विसेसिऊण जा जीव-परिक्खा सा परूवणा णाम। =प्रश्न—प्ररूपणा किसे कहते हैं? उत्तर—सामान्य और विशेषकी अपेक्षा गुणस्थानोंमें · (२० प्ररूपणाओंमें) पर्याप्त और अपर्याप्त विशेषणोंसे विशेषित करके जो जीवोंकी परीक्षा की जाती है, उसे प्ररूपणा कहते हैं।

२. बीस प्ररूपणाओंके नाम निर्देश

प. सं /प्रा /२/२ गुणजीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवओगो वि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिया।२। =गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणाएँ और उपयोग, इस प्रकार क्रमसे ये बीस प्ररूपणा कही गयी हैं।२। (गो. जी /मू./२/२१), (पं. स./स /१/११) विशेष दे० अनुयोग/२।

* **प्ररूपणाओंका मार्गणा स्थानोंमें अन्तर्भाव**

प्रलंब—१. एक ग्रह—दे० ग्रह।

२ भ. आ /वि./११२३/११३०/१६ प्रलम्बं द्विविध मूलप्रलम्बं, अग्रप्रलम्बं च। कदमूलफलाख्य, भूम्यनुप्रवेशि कन्दमूलप्रलम्बं, अङ्कुरप्रवालफलपत्राणि अग्रप्रलम्बानि। =प्रलम्बके मूल प्रलम्ब और अग्र प्रलम्ब ऐसे दो भेद हैं। कन्द मूल और अंकुर जो भूमिमें प्रविष्ट हुए हैं उनको मूल प्रलम्ब कहते हैं। अंकुर, कोमल पत्ते, फल, और कठोर पत्ते इनको अग्रप्रलम्ब कहते हैं।

प्रलय—१. जैन मान्य प्रलयका स्वरूप

ति. प./४/१५४४-१५५४ उणवण्णदिवसविरहिदइगिवीससहस्सवस्स-विच्छेदे। जतुभयकरकालो पलयो त्ति पयट्टदे घोरो।१५४४। ताहे गरुवगभीरो पसरदि पवणो रउद्दसवट्टो। तरुगिरिसिलपहुदीणं कुणोदि चुण्णाइ सत्तदिणे।१५४५। तरुगिरिभंगेहि णरा तिरिया य लहंति गुरुवदुक्खाइ। इच्छंति वसणठाणं विलवंति बहुप्पयारेण।१५४६। गंगासिंधुणदीणं वेयड्ढवणंतरम्मि पविसंति। पुह पुह सखेज्जाइं बाहत्तरि सयलजुवलाइं।१५४७। देवा विज्जाहरया कारुण्णपरा णराण तिरियाणं। सखेज्जजीवरासिं खिवंति तेसु पएसेसुं।१५४८। ताहे गभीरगज्जी मेवा मुंचंति तुहिणखारजलं। विससलिलं पत्तेक्कं पत्तेक्कं सत्तदिवसाणि।१५४९। धूमो धूली वज्ज जलंतजाला य दुप्पेच्छा। वरिसंति जलदणिवहा एक्केक्कं सत्त दिवसाणि।१५५०। एवं कमेण भरहे अज्जाखडम्मि जोयणं एक्कं। चित्ताए उवरि ठिदा दज्झइ वड्ढिगदा भूमी।१५५१। वज्जमहग्गि-बलेण अज्जाखडस्स वड्ढिया भूमी। पुव्विल्लखधरूवं मुत्तूण जादि लोयंतं।१५५२। ताहे अज्जाखंडं दप्पणतलतुलिदकंतिसमवट्ठं। गयधूलिपंककलुसं होइ समं सेसभूमीहि।१५५३। तत्थुवत्थिदणराणं हत्थं उदओ य सोलस वस्सा। अहवा पण्णरसाऊ विरियादी तदणु-रूवा य।१५५४। =अवसर्पिणी कालमें दुखमदुखमा कालके उनचास दिन कम इक्कीस हजार वर्षोंके बीत जानेपर जन्तुओंको भयदायक घोर प्रलयकाल प्रवृत्त होता है।१५४४। उस समय पर्वत व शिलादिको चूर्ण कर देनेवाली सात दिन संवर्तक वायु चलती है।१५४५। वृक्ष और पर्वतोंके भंग होनेसे मनुष्य एवं तिर्यंच वस्त्र और स्थानकी अभिलाषा करते हुए बहुत प्रकारसे विलाप करते हैं।१५४६। इस समय पृथक्-पृथक् संख्यात व सम्पूर्ण बहत्तर युगल गंगा-सिन्धु नदियोंकी वेदी और विजयार्द्धवनमें प्रवेश करते हैं।१५४७। इसके देव और विद्याधर दयार्द्र होकर मनुष्य और तिर्यंचोंमेंसे संख्यात जीव राशि-को उन प्रदेशोंमें ले जाकर रखते हैं।१५४८। उस समय गम्भीर गर्जनासे सहित मेघ तुहिन और क्षार जल तथा विष जलमेंसे प्रत्येक सात दिन तक बरसाते हैं।१५४९। इसके अतिरिक्त वे मेघोंके समूह धूम, धूलि, वज्र एवं जलती हुई दुष्प्रेक्ष्य ज्वाला, इनमेंसे हर एकको सात दिन तक बरसाते हैं।१५५०। इस क्रमसे भरत क्षेत्रके भीतर आर्यखण्डमें चित्रा पृथ्वीके ऊपर स्थित वृद्धिगत एक योजनकी भूमि जलकर नष्ट हो जाती है।१५५१। वज्र और महाग्निके बलसे आर्य-खण्डकी बढ़ी हुई भूमि अपने पूर्ववर्ती स्कन्ध स्वरूपको छोड़कर लोकान्त तक पहुँच जाती है।१५५२। उस समय आर्य खण्ड शेष भूमियोंके समान दर्पण तलके सदृश कान्तिसे स्थित और धूलि एवं कीचड़की कलुषतासे रहित हो जाता है।१५५३। वहाँपर उपस्थित मनुष्योंकी ऊँचाई एक हाथ, आयु सोलह अथवा पन्द्रह वर्ष प्रमाण और वीर्यादिक भी तदनुसार ही होते हैं।१५५४। (म. पु./७३/४४७-४५६), (त्रि. सा /८६४-८६७)।

* **प्रलयके पश्चात् युगका प्रारम्भ**—दे० काल/४।

* **अन्य मत मान्य प्रलयका स्वरूप**—दे० वैशेषिक व सांख्य दर्शन।

प्रलाप—दे० वचन।

प्रवक—भरत क्षेत्र पूर्व आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

प्रवचन—१. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका भेद—दे० पिशाच। २. श्रुतज्ञानका अपरनाम—दे० श्रुतज्ञान।

प्रवचन—

ध. १/१,१,१/२०/७ आगमो सिद्धंतो पवयणमिदि एयट्ठो। =आगम, सिद्धान्त और प्रवचन, ये शब्द एकार्थवाची हैं।

ध. ८/३,४१/९०/१ सिद्धंतो बारहंगाणि पवयणं, प्रकृष्टं प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनमिति व्युत्पत्ते.। · पवयणं सिद्धंतो बारहंगाइं, तत्थ भवा देस-महव्वइणो असंजदसम्माइट्ठिणो च पवयणा। =सिद्धान्त या बारह अंगोंका नाम प्रवचन है, क्योंकि, 'प्रकृष्ट वचन प्रवचन, या प्रकृष्ट (सर्वज्ञ) के वचन प्रवचन हैं' ऐसी व्युत्पत्ति है। सिद्धान्त या बारह अंगोंका नाम प्रवचन है, तो इसमें होनेवाले देशव्रती, महाव्रती और असंयत सम्यग्दृष्टि प्रवचन कहे जाते हैं। (चा. सा./५६।४)।

ध. १३/५,५,५०/२८३/६ प्रकर्षेण कुतीर्थ्यानालीढतया उच्यन्ते जीवादय. पदार्था अनेनेति प्रवचनं वर्णपङ्क्त्यात्मकं द्वादशाङ्गम्। अथवा, प्रमाणाद्यविरोधेन उच्यतेऽर्थोऽनेन करणभूतेनेति प्रवचनं द्वादशाङ्गं भावश्रुतम्। =प्रकर्षसे अर्थात् कुतीर्थ्योंके द्वारा नहीं स्पर्श किये जाने स्वरूपसे जीवादि पदार्थोंका निरूपण करता है, इसलिए वर्ण-पंक्त्यात्मक द्वादशांगको प्रवचन कहते हैं। (भ.आ. वि./३२/१२१/२२) अथवा कारणभूत इस ज्ञानके द्वारा प्रमाण आदिके अविरोध रूपसे जीवादि अर्थ कहे जाते हैं, इसलिए द्वादशांग भावश्रुतको प्रवचन कहते हैं।

भ. आ /वि /४६/१५४/२२ रत्नत्रयं प्रवचनशब्देनोच्यते। तथा चोक्तम्—णाणदंसणचरित्तमेग पवयणमिति। =प्रवचनका अर्थ यहाँ रत्नत्रय है 'रत्नत्रयको प्रवचन कहते हैं', आगमके ऐसे वाक्यसे भी यह सिद्ध होता है। (भ. आ /वि./११८५/११७१/१४)।

गो. जी./जी प्र /१८/४२/१७ प्रकृष्टं वचनं यस्यासौ प्रवचनं आप्तः, प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचन-परमागमः, प्रकृष्टमुच्यते—प्रमाणेन अभिधी-यते इति प्रवचनपदार्थः, इति निरुक्त्या प्रवचनशब्देन तत्त्रयस्याभि-धानात्। =प्रकृष्ट है वचन जिसके ऐसे आप्त प्रवचन कहलाते हैं, अथवा प्रकृष्ट अर्थात् उस आप्तके वचन रूप परमागमको प्रवचन कहते हैं, अथवा प्रकृष्ट अर्थात् प्रमाणके द्वारा जिसका निरूपण किया जाता है ऐसे पदार्थ प्रवचन हैं। इस प्रकार निरुक्तिके द्वारा प्रवचनके आप्त, आगम और पदार्थ ये तीन अर्थ होते हैं।

२. अष्ट प्रवचन माताका लक्षण

मू. आ /२९७ पणिधाणजोगजुत्तो पचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु। स चरित्ताचारो अट्ठविधो होइ णायव्वो।२९७। =आठ प्रवचन मातासे आठ भेद चारित्रके होते है—परिणामके संयोगसे पाँच समिति तीन गुप्तियोंमें न्याय रूप प्रवृत्ति वह आठ भेद वाला चारित्राचार है ऐसा जानना।२९७।

भ. आ./वि./११८५/११७१/१४ एव पञ्च समितय. तिस्रो गुप्तयश्च प्रवचनमातृकाः।=तीन गुप्ति और पाँच समितियोको प्रवचन माता कहते है।

३. इन्हें माता कहनेका कारण

भ. आ /मू /१२०५ एदाओ अट्ठपवयणमादाओ णाणदसणचरित्तं। रक्खंति सदा मुणिओ मादा पुत्त व पयदाओ।१२०५। =ये अष्ट प्रवचन माता मुनिके ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी सदा ऐसे रक्षा करती है जैसे कि पुत्रका हित करनेमे सावधान माता अपायोंसे उसको बचाती है।१२०५। (मू.आ /३३६) (भ आ./वि./११८५/११७१/५)

★ मोक्षमार्गमें अष्ट प्रवचन माताका ज्ञान ही पर्याप्त है

दे० ध्याता/१; श्रुतकेवली।

प्रवचन प्रभावना—दे० प्रभावना।

प्रवचन भक्ति—दे० भक्ति/१।

प्रवचन वात्सल्य—दे० वात्सल्य।

प्रवचन संनिकर्ष—ध. १३/५,५,५०/२८४/४ उच्यन्ते इति वचनानि जीवाद्यर्था प्रकर्षेण वचनानि सनिकृष्यन्तेऽस्मिन्निति प्रवचनसनिकर्षो द्वादशाङ्गश्रुतज्ञानम्। क सनिकर्ष.। एकस्मिन् वस्तुन्येकस्मिन् धर्मे निरुद्धे शेषधर्माणा तत्र सत्त्वासत्त्वविचार सत्त्वेप्येकस्मिन्नुत्कर्षमुपगते शेषाणामुत्कर्षानुत्कर्षविचारश्च सनिकर्ष.। अथवा प्रकर्षेण वचनानि जीवाद्यर्था. सन्यस्यन्ते प्ररूप्यन्ते अनेकान्तात्मतया अनेनेति प्रवचनसन्यास। = जो कहे जाते है' इस व्युत्पत्तिके अनुसार वचन शब्दका अर्थ जीवादि पदार्थ है। प्रकर्ष रूपसे जिसमें वचन सन्निकृष्ट होते है, वह प्रवचन सन्निकर्ष रूपसे प्रसिद्ध द्वादशाग श्रुतज्ञान है। प्रश्न—सन्निकर्ष क्या है? उत्तर—१. एक वस्तुमें एक धर्मके विवक्षित होनेपर उसमें शेष धर्मोंके सत्त्वासत्त्वका विचार तथा उसमें रहनेवाले उक्त धर्मोमेंसे किसी एक-धर्मके उत्कर्षको प्राप्त होनेपर शेष धर्मोंके उत्कर्षानुत्कर्षका विचार करना सन्निकर्ष कहलाता है। २. अथवा, प्रकर्षरूपसे वचन अर्थात् जीवादि पदार्थ अनेकान्तात्मक रूपसे जिसके द्वारा सन्यस्त अर्थात् प्ररूपित किये जाते है, वह प्रवचन संन्यास अर्थात् उक्त द्वादशाग श्रुतज्ञान ही है। श्रुतज्ञानका अपरनाम है—दे० श्रुतज्ञान/२।

प्रवचनसार—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत २७५ प्राकृत गाथाओमें निबद्ध अध्यात्म व तत्त्वार्थ विषयक तथा चारित्र प्रधान ग्रन्थ है। इसपर निम्न टीकाएँ लिखी गयी है—१ आ० अमृतचन्द्र (ई० ९६२-१०५५) द्वारा रचित 'तत्त्व प्रदीपिका' नामकी सस्कृत टीका, २. आ० मल्लिषेण (ई० ११२८) द्वारा रचित टीका; ३ आ० जयसेन (ई० १२९२-१३२३) द्वारा रचित संस्कृत टीका; ४. प. हेमचन्द्र (ई० १६५२) कृत भाषा टीका, ५ कवि देवीदयाल (ई. १७५५-१७६७) द्वारा भाषामें रचित 'प्रवचनसार छन्द'; ६. कवि वृन्दावन (ई १७९१-१८४८) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित टीका।

प्रवचनसारोद्धार — श्वेताम्बराम्नायमें श्री नेमिचन्द्रसूरि (ई. श १३) द्वारा विरचित लोकके स्वरूपका प्ररूपक गाथा बद्ध ग्रन्थ है। इसमें २७६ द्वार तथा १५९९ गाथाएँ है।

प्रवचनाद्धा—ध. १३/५,५,५०/२८४/२ अद्धा काल, प्रकृष्टाना शोभनाना वचनानामद्धा काल. यस्या श्रुतौ सा पवयणद्धा श्रुतज्ञानम्।= अद्धा कालको कहते है, प्रकृष्ट अर्थात् शोभन वचनोंका काल जिस श्रुतिमें होता है, वह प्रवचनाद्धा अर्थात् श्रुतज्ञान है।

प्रवचनार्थ—ध. १३/५,५,५०/२८१/१२ द्वादशाङ्गवर्णकलापो वचनम् अर्यते गम्यते परिच्छिद्यते इति अर्थो नव पदार्था वचन च अर्थश्च वचनार्थौ, प्रकृष्टौ निरवद्यौ वचनार्थौ यस्मिन्नागमे स प्रवचनार्थ'।... अथवा, प्रकृष्टवचनैरर्य्यते गम्यते परिच्छिद्यते इति वचनार्थो द्वादशाङ्गभावश्रुतम्। सकलसयोगाक्षरैर्विशिष्टवचनरचनारचितैर्बहर्थैर्विशिष्टोपादानकारणैर्विशिष्टाचार्यसहायै' द्वादशाङ्गमुत्पाद्यत इति यावत्।=१ द्वादशाग रूप वर्णोका समुदाय वचन है, जो 'अर्यते गम्यते परिच्छिद्यते' अर्थात् जाना जाता है वह अर्थ है। यहाँ अर्थ पदसे नौ पदार्थ लिये गये है। वचन और अर्थ ये दोनो मिलकर वचनार्थ कहलाते है। जिस आगममें वचन और अर्थ ये दोनों प्रकृष्ट अर्थात् निर्दोष है उस आगमकी प्रवचनार्थ सज्ञा है। २.... अथवा, प्रकृष्ट वचनोंके द्वारा जो 'अर्यते गम्यते परिच्छिद्यते' अर्थात् जाना जाता है वह प्रवचनार्थ अर्थात् द्वादशाग भावश्रुत है। जो विशिष्ट रचनासे आरचित है, बहुत अर्थवाले है, विशिष्ट उपादान कारणोंसे सहित है, और जिनको हृदयंगम करनेमें विशिष्ट आचार्योंकी सहायता लगती है, ऐसे सकल सयोगी अक्षरोसे द्वादशाग उत्पन्न किया जाता है। यह कथनका तात्पर्य है।

प्रवचनी—ध. १३/५,५,५०/२८३/६ प्रकृष्टानि वचनान्यस्मिन् सन्तीति प्रवचनी भावागम'। अथवा प्रोच्यते इति प्रवचनोऽर्थ, सोऽत्रास्तीति प्रवचनी द्वादशाङ्गग्रन्थ' वर्णोपादानकारण।=१. जिसमें प्रकृष्ट वचन होते है वह प्रवचनी है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार भावागमका नाम प्रवचनी है। २ अथवा जो कहा जाता है वह प्रवचन है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार प्रवचन अर्थको कहते है। वह इसमें है इसलिए वर्णोपादानकारणक द्वादशाग ग्रन्थका नाम प्रवचनीय है।

प्रवचनीय—ध १३/५.५.५०/२८१/३ प्रबन्धेन वचनीय व्याख्येयं प्रतिपादनीयमिति प्रवचनीयम्।=प्रबन्ध पूर्वक जो वचनीय अर्थात् व्याख्येय या प्रतिपादनीय होता है, वह प्रवचनीय कहलाता है।

प्रवरवाद—ध १३/५,५,५०/२८७/८ स्वर्गापवर्गमार्गत्वाद्रत्नत्रय प्रवर'। स उद्यते निरूप्यते अनेनेति प्रवरवाद।=स्वर्ग और अपवर्गका मार्ग होनेसे रत्नत्रयका नाम प्रवर है उसका वाद अर्थात् कथन इसके द्वारा किया जाता है, इसलिए इस आगमका नाम प्रवरवाद है।

प्रवर्तक साधु—भ.आ /मूलाराधना/६२९/८३१/४ पवत्ती अल्पश्रुत सन्सर्वसंघमर्यादाचरितज्ञः प्रवर्तक।=जो ज्ञानसे अल्प है, परन्तु सर्व संघकी मर्यादा योग्य रहेगी, ऐसे आचरणका जिसको ज्ञान है उसको प्रवर्तक साधु कहते है।

प्रवाद—स्या.म./३०/३३४/१४ प्रकर्षेण उद्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति प्रवादा।=जिसके द्वारा इष्ट अर्थको उत्तमतासे प्रतिपादित किया जाय, उसे प्रवाद कहते है।

प्रवाल—मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

प्रवाल चारणऋद्धि—दे० ऋद्धि/१।

प्रवाह क्रम—दे० क्रम/१।

प्रवाहण जैवलि—पाचाल देश (कुरुक्षेत्र) का कुरुवशी राजा था। जनमेजयका पोता था तथा शतानीकका पुत्र था। समय—ई.पू.

वर्णका, नीरोग, तपमें समर्थ, अति बालत्व व वृद्धत्वसे रहित योग्य आयुका, सुन्दर, दुराचारादि लोकोपवादसे रहित, पुरुष ही जिन लिंगको ग्रहण करनेके योग्य होता है।१०।

३. म्लेच्छ व सत्‌शूद्र भी कदाचित् दीक्षाके योग्य है

ल. सा./जी. प्र./१६५/२४६/१६ म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकलसंयमग्रहणं कथं सभवतीति नाशङ्कितव्यं दिग्विजयकाले चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागताना म्लेच्छराजाना चक्रवर्त्यादिभि' सहजातवैवाहिकसंबन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात् । अथवा तत्कन्यकाना चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्नस्य मातृपक्षापेक्षया म्लेच्छव्यपदेशभाज' संयमसंभवात तथाजातीयकानां दीक्षार्हत्वे प्रतिपेधाभावात। =प्रश्न—म्लेच्छ भूमिज मनुष्यके सकलसयमका ग्रहण कैसे सम्भव है। उत्तर—ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। जो मनुष्य दिग्‌विजयके कालमें चक्रवर्तीके साथ आर्य खण्डमें आते है, और चक्रवर्ती आदिके साथ उनका वैवाहिक सम्बन्ध पाया जाया है, उनके सयम ग्रहणके प्रति विरोधका अभाव है। अथवा जो म्लेच्छ कन्याएँ चक्रवर्ती आदिसे विवाही गयी हैं, उन कन्याओके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न होते है वे माताके पक्षसे म्लेच्छ हैं, उनके दीक्षा ग्रहण सम्भव है।
दे० वर्णव्यवस्था/४/२ (सत्‌शूद्र भी क्षुल्लकदीक्षाके योग्य है)।

४. दीक्षाके अयोग्य पुरुषका स्वरूप

भ. आ./वि./७७/२०७/१० यदि प्रशस्तं शोभनं लिङ्‌ग मेहन भवति। चर्मरहितत्वं, अतिदीर्घत्वं, स्थूलत्व, असकृदुत्थानशीलतेत्येवमादिदोपरहित यदि भवेत्। पुंसत्वलिङ्गता इह गृहोतेति बीजयोरपि लिङ्गशब्देन ग्रहण। अतिलम्बमानतादिदोपरहितता। =यदि पुरुष लिगमें दोष न हो तो औत्सर्गिक लिंग धारण कर सकता है। गृहस्थके पुरुष लिंगमें चर्म न होना, अतिशय दीर्घता, बारम्बार चेतना होकर ऊपर उठना, ऐसे दोष यदि हो तो वह दीक्षा लेनेके लायक नही है। उसी तरह यदि उसके अण्ड भी यदि अतिशय लम्बे हों, बडे हों तो भी गृहस्थ नग्नताके लिए अयोग्य है। (और भी दे० अचेलकत्व/४)।

यो. सा. आ/८/५२ कुलजातिवयोदेहकृत्यबुद्धिक्रुधादय । नरस्य कुत्सिता व्यङ्गास्तदन्ये लिङ्गयोग्यता।५२। =मनुष्यके निन्दित कुल, जाति, वय, शरीर, कर्म, बुद्धि, और क्रोध आदिक व्यग-हीनता है—निर्ग्रन्थ लिगके धारण करनेमे बाधक है, और इनसे भिन्न उसके ग्रहण करनेमें कारण है।

बो. पा/टी./४९/११४/१ कुरूपिणो हीनाधिकाङ्गस्य कुष्ठादिरोगिणश्च प्रव्रज्या न भवति। =कुरूप, हीन वा अधिक अंग वालेके, कुष्ठ आदि रोगों वालोंके दीक्षा नहीं होती है।

५. पंचम कालमें भी दीक्षा सम्भव है

म. पु/४१/७५ तरुणस्य वृषस्योच्चै नदतो विहृतीक्षणात्। तारुण्य एव श्रामण्ये स्थास्यन्ति न दशान्तरे।७५। =समवशरणमें भरत चक्रवर्तीके स्वप्नोका फल बताते हुए भगवान्‌ने कहा कि—ऊँचे स्वरसे शब्द करते हुए तरुण बैलका विहार देखनेसे सूचित होता है कि लोग तरुण अवस्थामें ही मुनिपदमें ठहर सकेंगे, अन्य अवस्थामें नहीं।७५।

नि सा/ता वृ/१४३/क २४१ कोऽपि क्वापि मुनिर्बभूव सुकृती काले कलावप्यल, मिथ्यात्वादिकलङ्कपङ्करहित सद्धर्मरक्षामणि । सोऽयं सप्रति भूतले दिवि पुनर्देवैश्च संपूज्यते, मुक्तानेकपरिग्रहव्यतिकर' पापाटवीपावक'।२४१। =कलिकालमें भी कहीं कोई भाग्यशाली जीव मिथ्यात्वादि रूप मल कीचडसे रहित और सद्धर्म रक्षा मणि ऐसा समर्थ मुनि होता है। जिसने अनेक परिग्रहके विस्तारको छोडा है, और जो पापरूपी अटवीको जलानेवाली अग्नि है, ऐसा यह मुनि इस काल भूतलमें तथा देव लोकमे देवोसे भी भली भाँति पुजता है।

६. दीक्षाके अयोग्य काल

म पु./३९/१५९-१६० ग्रहोपरागग्रहणे परिवेपेन्द्रचापयो' । वक्रग्रहोदये मेघपटलस्थगितेऽम्बरे।१५९। नष्टाधिमासदिनयो सक्रान्तौ हानिमत्तिथौ। दीक्षाविधिं मुमुक्षूणा नेच्छन्ति कृतबुद्धयः।१६०। =जिस दिन ग्रहोका उपराग हो, ग्रहण लगा हो, सूर्य चन्द्रमापर परिवेष (मण्डल) हो, इन्द्रधनुष उठा हो, दुष्ट ग्रहोंका उदय हो, आकाश मेघ पटलसे ढका हुआ हो, नष्ट मास अथवा अधिक मासका दिन हो, सक्रान्ति हो अथवा क्षय तिथिका दिन हो, उस दिन बुद्धिमान् आचार्य मोक्षकी इच्छा करनेवाले भव्योके लिए दीक्षाकी विधि नहीं करना चाहते अर्थात् उस दिन किसी शिष्यको नवीन दीक्षा नही देते है।१५९-१६०।

७. प्रव्रज्या धारणका कारण

ज्ञा./४/१०,१२ शक्यते न वशीकर्तुं गृहिभिश्चपलं मन'। अतश्चित्तप्रशान्त्यर्थं सद्भिस्त्यक्ता गृहे स्थिति।१०। निरन्तरार्त्तानलदाहदुर्गमे कुवासनाध्वान्तविलुप्तलोचने। अनेकचिन्ताज्वरजिह्मितात्मना, नृणा गृहे नात्महित प्रसिद्धयति।१२। =गृहस्थगण घरमें रहते हुए अपने चपलमनको वश करनेमे असमर्थ होते है, अतएव चित्तकी शान्तिके अर्थ सत्पुरुषोने घरमें रहना छोड दिया है और वे एकान्त स्थानमें रहकर ध्यानस्थ होनेको उद्यमी हुए है।१०। निरन्तर पीडा रूपी आर्त ध्यानकी अग्निके दाहसे दुर्गम, बसनेके अयोग्य, तथा काम क्रोधादिकी कुवासना रूपी अन्धकारसे विलुप्त हो गयी है नेत्रोकी दृष्टि जिसमें, ऐसे गृहोमें अनेक चिन्ता रूपी ज्वरसे विकार रूप मनुष्योंके अपने आत्माका हित कदापि सिद्ध नही होता।१२। (विशेष दे० ज्ञा./४/८-१७)।

२. प्रव्रज्या विधि

१. तत्त्वज्ञान होना आवश्यक है

मो. मा. प्र./६/२६४/२ मुनि पद लेनेका क्रम तौ यह है—पहलै तत्त्वज्ञान होय, पीछे उदासीन परिणाम होय, परिषहादि सहनेंकी शक्ति होय तब वह स्वयमेव मुनि बना चाहे।

२. बन्धुवर्गसे विदा लेनेका विधि निषेध

१. विधि

प्र. सा./मू./२०२ आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं। आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायार।२०२। =(श्रामण्यार्थी) बन्धुवर्गसे विदा मागकर बडोंसे तथा स्त्री और पुत्रसे मुक्त होता हुआ ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारको अंगीकार करके।२०२। (म. पु./१७/१९३)।

म पु/३८/१५१ सिद्धार्चना पुरस्कृत्य सर्वानाहूय सम्मतान्। तत्साक्षि सूनवे सर्वं निवेद्यातो गृह त्यजेत्।१५१। =गृहत्याग नामकी क्रियामें सबसे पहले सिद्ध भगवान्‌का पूजनकर समस्त इष्ट जनोको बुलाना चाहिए और फिर उनकी साक्षी पूर्वक पुत्रके लिए सब कुछ सौंपकर गृहत्याग करना चाहिए।१५१।

२. निषेध

प्र सा./ता. वृ./२०२/२७३/१० तत्र नियमो नास्ति। कथमिति चेद्।... तत्परिवारमध्ये यदा कोऽपि मिथ्यादृष्टिर्भवति तदा धर्मस्योपसर्गं करोतीति। यदि पुन. कोऽपि मन्यते गोत्रसम्मतं कृत्वा पश्चात्तपश्चरण करोमि तस्य प्रचुरेण तपश्चरणमेव नास्ति कथमपि तपश्चरणे गृहीतेऽपि यदि गोत्रादि ममत्वं करोति तदा तपोधन एव

प्रस्तर—ध. १४/५.६,६४१/४९५/७ सग्गलोअसेडिबद्धपइण्णया विमाणपत्थडाणि णाम ।··तत्थ (णिरय) तण-पइण्णया णिरयपत्थडाणि णाम ।=स्वर्गलोकके श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक विमान प्रस्तर कहलाते है ··और वहाँके (नरकके) प्रकीर्णक नरक प्रस्तर कहलाते है।

प्रस्तार—अक्ष संचार गणितमें अकोका स्थापन करना प्रस्तार है।—विशेष दे० गणित/II/३।

प्रस्ताव—न्या.वि./टी./१/१६५/५३१/३ प्रस्तूयते प्रमाण-फलत्वेनाधिक्रियते इति प्रस्ताव'।=प्रस्तूयते अर्थात् प्रमाणके फल रूपसे जिसका ग्रहण किया जाता है, ऐसा हेयोपादेय तत्त्वका निर्णय प्रस्ताव है।

प्रस्थ—१. रा.वा./१/३३/७/९७/११ प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन्निति प्रस्थ.।=जिसमें धान्य आदि मापे जा रहे है उसको प्रस्थ कहते है। २. तोलका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित /I/१।

प्रस्थापक—ध ६/१,९-८,१२/२४७/७ कदकरणिज्जपढमसमयप्पहुडि उवरि णिट्ठवगो उच्चदि।=कृतकृत्य वेदक होनेके प्रथम समयसे लेकर ऊपरके समयमें दर्शनमोहकी क्षपणा करनेवाला जीव निष्ठापक कहलाता है।

गो.क /जी.प्र./५५०/७४४/१० दर्शनमोहक्षपणाप्रारम्भप्रथमसमयस्थापितसम्यक्त्वप्रकृतिप्रथमस्थित्यान्तर्मुहूर्तावशेषे चरमसमयप्रस्थापक अनन्तरसमयादाप्रथमस्थितिचरमनिषेकं निष्ठापक। =दर्शनमोह क्षपणाके प्रारभ समयमें स्थापी गयी सम्यक्त्व प्रकृतिकी प्रथम स्थितिका अन्तर्मुहूर्त अवशेष रहनेपर, उसके अन्त समय पर्यन्त तो प्रस्थापक कहलाता है। और उसके अनन्तर समयसे प्रथम स्थितिके अन्त निषेक पर्यन्त निष्ठापक कहलाता है।

प्रहरण—दे० बलीद्र।

प्रहरा—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

प्रहार संक्रामिणी—एक मन्त्र विद्या—दे० विद्या।

प्रह्लाद—१. राजा पद्मका मन्त्री—विशेष दे० बलि। २ आदित्यपुरका राजा। हनुमानका बाबा था। (प.पु /१५/७-८)।

प्रहसित—१ हनुमान्के पिता पवनञ्जयका मित्र (प.पु /१६/१२७) २. मातङ्ग वंशका एक राजा—दे० इतिहास/७/६।

प्राक्—पूर्व दिशा।

प्राकाम्य ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

प्राकार—ध. १४/५,६,४२/४०/७ जिणहरादीणं रक्खट्ठं पासेसु ट्ठविदओलित्तीओ पागारा णाम। पक्किट्टाहि घडिदवरडा वा पागारा णाम।=जिनगृह आदिकी रक्षाके लिए पार्श्वमे जो भीते बनायी जाती है वे प्राकार कहलाती है, अथवा पकी हुई ईंटोसे जो वरण्डा बनाये जाते है वे प्राकार कहलाते है।

प्राकृत संख्या—Natural Number (ज प्र /प्र १०७)।

प्रागभाव—दे० अभाव।

प्राच्य—१. पूर्व दिशा, २. प्राची दिशाकी प्रधानता—दे० दिशा।

प्राण—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

प्राण—जीवमें जीवितव्यके लक्षणोको प्राण कहते है, वह दो प्रकार है—निश्चय और व्यवहार। जीवकी चेतनत्व शक्ति उसका निश्चय प्राण है और पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काय, आयु व श्वासोच्छ्वास ये दस व्यवहार प्राण हैं। इनमें-से एकेन्द्रियादि जीवोके यथा योग्य ४,६,७ आदि प्राण पाये जाते है।

१. प्राण निर्देश व तत्सम्बन्धी शंकाएँ

१. प्राणका लक्षण

१, निरुक्ति अर्थ

पं.सं./प्रा./१/४५ बाहिरपाणेहि जहा तहेव अब्भंतरेहि पाणेहिं। जीवंति जेहिं जीवा पाणा ते होति बोहव्वा ।४५।=जिस प्रकार बाह्य प्राणके द्वारा जीव जीते है उसी प्रकार जिन अभ्यन्तर प्राणोंके द्वारा जीव जीते है, वे प्राण कहलाते है ।४५। (ध /१,१,३४/गा.१४१/२५६) (गो. जी./मू /१२९/३४१) (प.स /सं./१/४५)।

ध./२/१,१/४१२/२ प्राणिति जीवति एभिरिति प्राणा'।=जिनके द्वारा जीव जीता है उन्हे प्राण कहते है।

गो.जी /जी प्र./२/२१/६ जीवन्ति-प्राणति जीवितव्यवहारयोग्या भवन्ति जीवा यैस्ते प्राणा'।=जिनके द्वारा यह जीव जीवितव्य रूप व्यवहारके योग्य है, उनको प्राण कहते है।

२ निश्चय अथवा भाव प्राण

प्र सा /त प्र./१४५ अस्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके ·वस्तुस्वरूपतया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे ।=इस जीवको, सहजरूपसे प्रगट अनन्त ज्ञान शक्ति जिसका हेतु है· ·वस्तुका स्वरूप होनेसे सदा अविनाशी निश्चय जीवत्व होनेपर भी ·।

पं का./त प्र./३० इन्द्रियबलायुरुच्छ्वासलक्षणा हि प्राणा। तेषु चित्सामान्यान्वयिनो भावप्राणा'। =प्राण इन्द्रिय, बल, आयु तथा उच्छ्वास रूप है। उनमें (प्राणोमें) चित्सामान्य रूप अन्वय वाले वे भाव प्राण है। (गो.जी./जी.प्र./१२९/३४१/११)

दे जीव/१/१ निश्चयसे आत्माके ज्ञानदर्शनोपयोग रूप चैतन्य प्राण है।

स्या मं./२७/३०६/६ सम्यग्ज्ञानादयो हि भावप्राणा' प्रावचनिकैर्गीयन्ते।=पूर्व आचार्योंने सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्रको भाव प्राण कहा है।

३. व्यवहार वा द्रव्य प्राण

पं.का./त.प्र /३० पुद्गलसामान्यान्वयिनो द्रव्यप्राणा।=पुद्गल सामान्य रूप अन्वयवाले वे द्रव्यप्राण है।

गो.जी./जी.प्र./१२९/३४१/१० पौद्गलिकद्रव्येन्द्रियादिव्यापाररूपाः द्रव्यप्राणा.।=पुद्गल द्रव्यसे निपजी जो द्रव्य इन्द्रियादिक उनके प्रवर्तन रूप द्रव्य प्राण है।

२. अतीत प्राणका लक्षण

ध. २/१,१,/४१९/१ दसण्ह पाणाणमभावो अदीदपाणो णाम।=दशों प्राणोके अभावको अतीत प्राण कहते है।

३. दश प्राणोंके नाम निर्देश

मू.आ /११९१ पंचय इदियपाणा मणवचकाया दु तिण्णि बलपाणा। आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण होति दस पाणा ।११९१।=पाँच इन्द्रिय प्राण, मन, वचन काय बल रूप तीन बल प्राण, श्वासोच्छ्वास प्राण और आयु प्राण इस तरह दस प्राण है। (पं सं./प्रा./१/४६) (ध २/१,१,/४१२/२) (गो जी./मू /१३०/३४३) (प्र.सा./त प्र /१४६) (का.अ /मू /१३९) (प.सं./सं /१/१२४) (पं.ध./उ./५३९)।

४. इन्द्रिय व इन्द्रिय प्राणमें अन्तर

ध. २/१,१/४१२/३ नैतेषामिन्द्रियाणामेकेन्द्रियादिष्वन्तर्भाव चक्षुरादिक्षयोपशमनिबन्धनानामिन्द्रियाणामेकेन्द्रियादिजातिभिः साम्या-

भावात्। =इन पाँचों इन्द्रियों (इन्द्रिय प्राणों) का एकेन्द्रिय जाति आदि पाँच जातियोंमें अन्तर्भाव नहीं होता है, क्योंकि स्पर्शनेन्द्रियावरण आदि कर्मोंके क्षयोपशमके निमित्तसे उत्पन्न हुई इन्द्रियोंकी एकेन्द्रिय जाति आदि जातियोंके साथ समानता नहीं पायी जाती है।

★ उच्छ्वास व प्राणमें अन्तर—दे० उच्छ्वास।

★ पर्याप्ति व प्राणमें अन्तर—दे० पर्याप्ति/२।

५. आनपान व मन, वचन कायको प्राणपना कैसे है

ध. १/१,१,३४/२५६/४ भवन्त्विन्द्रियायुष्कायाः प्राणव्यपदेशभाजः तेषामाजन्मन आमरणाद्भवधारणत्वेनोपलम्भात्। तत्रैकस्याप्यभावेऽसुमतो मरणसंदर्शनाच्च। अपि तूच्छ्वासमनोवचसां न प्राणव्यपदेशो युज्यते तान्यन्तरेणापि अपर्याप्तावस्थायां जीवनानुपलम्भादिति चेन्न, तैर्विना पश्चाज्जीवतामनुपलम्भतस्तेषामपि प्राणत्वाविरोधात्। =प्रश्न—पाँचों इन्द्रियाँ, आयु और काय बल, ये प्राण कहलाये जा सकते हैं, क्योंकि वे जन्मसे लेकर मरण तक भव धारण रूपसे पाये जाते हैं। और उनमेंसे किसी एकके अभाव हो जानेपर मरण भी देखा जाता है। परन्तु उच्छ्वास, मनोबल और वचन बल इनको प्राण संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि इनके बिना भी अपर्याप्त अवस्थामें जीवन पाया जाता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि उच्छ्वास, मनोबल और वचन बलके बिना अपर्याप्त अवस्थाके पश्चात् पर्याप्त अवस्थामें जीवन नहीं पाया जाता है, इसलिए उन्हें प्राण माननेमें कोई विरोध नहीं है।

६. प्राणोंके त्यागका उपाय

प्र. सा./मू./१५१ उत्थानिका—अथ पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति—जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि। कम्मेहिं सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ॥१५१॥ =अब पौद्गलिक प्राणोंकी सन्ततिकी निवृत्तिका अन्तरंग हेतु समझाते हैं—जो इन्द्रियादिका विजयी होकर उपयोग मात्रका ध्यान करता है, वह कर्मोंके द्वारा रंजित नहीं होता, उसे प्राण कैसे अनुसरण कर सकते हैं। अर्थात् उसके प्राणोंका सम्बन्ध नहीं होता।

७. प्राणोंका स्वामित्व

१. स्थावर जीवोंकी अपेक्षा

स. सि./२/१३/१७२/१० कति पुनरेषां (स्थावराणां) प्राणाः। चत्वारः स्पर्शनेन्द्रियप्राणः कायबलप्राणः उच्छ्वासनिश्वासप्राणः आयुःप्राणश्चेति। =स्थावरोंके चार प्राण होते हैं—स्पर्शनेन्द्रिय, कायबल, उच्छ्वास-निश्वास और आयु प्राण। (रा. वा./२/१३/३/१२८/१६) (ध. २/१,१/४१८/११), (का. अ./मू./१४०)।

२. त्रस जीवोंकी अपेक्षा

स. सि./२/१४/१७६/६ द्वीन्द्रियस्य तावत् षट् प्राणाः, पूर्वोक्ता एव रसनवाक्प्राणाधिकाः। त्रीन्द्रियस्य सप्त त एव घ्राणप्राणाधिकाः। चतुरिन्द्रियस्याष्टौ त एव चक्षुःप्राणाधिकाः। पञ्चेन्द्रियस्य तिरश्चोऽसंज्ञिनो नव त एव श्रोत्रप्राणाधिकाः। संज्ञिनो दश त एव मनोबलप्राणाधिकाः। =पूर्वोक्त (स्पर्शेन्द्रिय, कायबल, उच्छ्वास और आयु प्राण इन) चार प्राणोंमें रसना प्राण और वचन प्राण इन दो प्राणोंके मिला देनेपर दोइन्द्रिय जीवोंके छह प्राण होते हैं। इनमें घ्राणके मिला देनेपर तीन इन्द्रिय जीवके सात प्राण होते हैं। इनमें चक्षु प्राणके मिला देनेपर चौइन्द्रिय जीवके आठ प्राण होते हैं। इनमें श्रोत्र प्राणके मिला देनेपर तिर्यंच असंज्ञीके नौ प्राण होते हैं। इनमें मनोबलके मिला देनेपर संज्ञी जीवोंके दस प्राण होते हैं। (रा. वा./२/१४/३/१२६/१), (पं. सं./प्रा./१/...), (ध. २/१,१/४१८/१), (गो. जी./मू./१३३/५४६), (का. अ./मू./१४०)।

३. पर्याप्तापर्याप्तकी अपेक्षा

पं. सं./प्रा./१/५० [illegible] ... इनमेंसे पञ्चेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, द्वीन्द्रिय ... और ... [illegible] (ध. २/१,१/...), (गो. जी./मू. व टी./१३३/...), (का. अ./मू./१४१)।

४. इन्द्रिय प्राणोंकी अपेक्षा

[illegible]

८. अपर्याप्तावस्थामें भाव मन क्यों नहीं

ध. २/१,१,... [illegible]

=प्रश्न—जीवके ... [illegible] ... उत्तर—नहीं, क्योंकि ... [illegible] ... प्रश्न—... [illegible] ... उत्तर— [illegible]

★ गुणस्थान, मार्गणास्थान, जीवसमास आदि २० प्ररूपणाओंमें प्राणोंका स्वामित्व—दे० सत्।

★ प्राणोंका यथायोग्य मार्गणा स्थानोंमें अन्तर्भाव—दे० मार्गणा।

★ जीवको प्राणी कहनेकी विवक्षा—दे० जीव/१/३।

२. निश्चय व्यवहार प्राण समन्वय

१. प्राण प्ररूपणामें निश्चय प्राण अभिप्रेत है

ध. २/१,१/४०४/३ दव्वेंदियाणं णिप्पत्तिं पडुच्च के वि दस पाणे भणंति। तण्ण घडदे। कुदो। भाविंदियाभावादो। अध दव्विंदियस्स जदि गहणं कीरदि तो सण्णीणमपज्जत्तकाले सत्त पाणा पोडिदूण दो चेव पण्णा भवंति, पंचण्हं दव्वेंदियाणामभावादो।=कितने ही आचार्य द्रव्येन्द्रियोकी पूर्णताकी अपेक्षा (केवलीके) दस प्राण कहते है, परन्तु उनका ऐसा कहना घटित नही होता है, क्योकि सयोगी जिनके भावेन्द्रियाँ नही पायी जाती हैं। यदि प्राणोंमें द्रव्येन्द्रियोंका ही ग्रहण किया जावे तो सज्ञी जीवोके अपर्याप्त कालमे सात प्राणोके स्थानपर कुल दो ही प्राण कहे जायेंगे, क्योकि उनके द्रव्येन्द्रियोका अभाव है।

२. दश प्राण पुद्‌गलात्मक हैं जोवका स्वभाव नहीं

प्र. सा /त प्र /१४७ तत्र जोवस्य स्वभावत्वमवाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात्। =वह उसका (प्राण जीवका) स्वभाव नही है, क्योकि वह पुद्‌गल द्रव्यसे रचित है।

प्र.सा./ता. वृ /१४५ व्यवहारेण···आयुराद्यशुद्धप्राणचतुष्केनापि संबद्धः सन् जीवति। तच्च शुद्धनयेन जीवस्वरूप न भवति। =व्यवहार नयसे· आयु आदि चार अशुद्ध प्राणोंसे सम्बद्ध होनेसे जीता है। वह शुद्ध नयसे जीवका स्वरूप नहीं है।

३. दश प्राणोंका जीवके साथ कथंचित् भेदाभेद

स. सा /ता वृ /३३२-३४४/४२३/२४ कायादिप्राणैः सह कथचिद्‌ भेदाभेद। कथ। इति चेत्, तप्ताय·पिण्डवद्वर्तमानकाले पृथक्त्व कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेद। निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादिप्राणा जीवेन सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेद।=कायादि प्राणोंके साथ जीवका कथंचित् भेद व अभेद है। वह ऐसे है कि तपे हुए लोहेके गोलेकी भाँति वर्तमान कालमें वे दोनो पृथक् नही किये जानेके कारण व्यवहार नयसे अभिन्न है। और निश्चय नयसे क्योकि मरण कालमें कायादि प्राण जीवके साथ नहीं जाते इसलिए भिन्न हैं।

प प्र /टी /२/१२७/२४४/४ स्वकीयप्राणहते सति दु·खोत्पत्तिदर्शनाद्व्यवहारेणाभेद। यदि पुनरेकान्तेन देहात्मनोर्भेदा एव तर्हि परकीयदेहघाते दु ख न स्यान्न च तथा। निश्चयेन पुनर्जीवे गतेऽपि देहो न गच्छतीति हेतोर्भेद एव। =अपने प्राणोंका घात होनेपर दुखकी उत्पत्ति होती है अत व्यवहार नयकर प्राण और जीवको अभेद है। ·· यदि एकान्तसे प्राणोको सर्वथा जुदे माने तो जैसे परके शरीरका घात होनेपर दु ख नही होता वैसे अपने देहका घात होनेपर दु ख नही होना चाहिए। इसलिए व्यवहार नयसे एकत्व है निश्चयसे नहीं, क्योकि देहका विनाश होनेपर भी जीवका विनाश नहीं होता है। इसलिए भेद है।

४. निश्चय व्यवहार प्राणोंका समन्वय

प्र. सा /त प्र./१४५ अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायित्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि ससारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति। =अब इस जीवको सहज रूप (स्वाभाविक) प्रगट अनन्त ज्ञान शक्ति जिसका हेतु है, और तीनों कालोमें अवस्थायित्व जिसका लक्षण है, ऐसा वस्तुका स्वरूपभूत होनेसे सर्वदा अविनाशी जीवत्व होनेपर भी, ससारावस्थामें अनादि प्रवाह रूपसे प्रवर्तमान पुद्गल सश्लेषके द्वारा स्वय दूषित होनेसे उसके चार प्राणोसे सयुक्तता है, जो कि व्यवहार जीवत्वका हेतु है और विभक्त करने योग्य है।

स्या. मं./२७/३०६/६ ससारिणो दशविधद्रव्यप्राणधारणाद्‌ जीवाः सिद्धाश्च ज्ञानादि भावप्राणधारणाद्‌ इति सिद्धम्। =संसारी जीव द्रव्य प्राणोकी अपेक्षासे और सिद्ध जीव भाव प्राणोंकी अपेक्षासे जीव कहे जाते है।

५. प्राणोंको जाननेका प्रयोजन

पं. का /ता. वृ./३०/६८/७ अत्र शुद्धचैतन्यादिशुद्धप्राणसहितः शुद्धजीवास्तिकाय एवोपादेयरूपेण ध्यातव्य इति भावार्थ·। =यहाँ· शुद्ध चैतन्यादि शुद्ध प्राणोसे सहित शुद्ध जीवास्तिकाय ही उपादेय रूपसे ध्याना चाहिए, ऐसा भावार्थ है।

द्र. स /टी./१२/३१/६ अत्रैतेभ्यो भिन्नं निजशुद्धात्मतत्त्वमुपादेयमिति भावार्थः। =अभिप्राय यह है कि इन पर्याप्ति तथा प्राणोसे भिन्न अपना शुद्धात्मा ही उपादेय है।

प्राणत—१ कल्पवासी देवोका एक भेद—दे० स्वर्ग/१। २. कल्पवासी देवोका स्वस्थान—दे० स्वर्ग/१। ३. कल्प स्वर्गोंका १४वाँ कल्प—दे० स्वर्ग/५। ४. आनतप्राणत स्वर्गका द्वितीय पटल—दे० स्वर्ग/५।

प्राणवाद—द्वादशाग श्रुतज्ञानका ११वाँ पूर्व—दे० श्रुतज्ञान/III।

प्राण संयम—दे० संयम।

प्राणातिपात—

ध १२/४,२,८,२/२७५/११ पाणादिवादो णाम पाणेहितो पाणीणं विजोगो। सो जत्तो मण-वयण-कायवावारादीहितो ते वि पाणादिवादो। पाणादिवादो णाम हिंसाविसयजीववावारो। =प्राणातिपातका अर्थ प्राणोंसे प्राणियोंका वियोग करना है। वह जिन मन, वचन या कायके व्यापारादिकोसे होता है, वे भी प्राणातिपात ही कहे जाते है। प्राणातिपातका अर्थ हिंसाविषयक जीवका व्यापार है।

प्राणातिपातिकी क्रिया—दे० क्रिया/३।

प्राणापान—दे० उच्छ्‌वास।

प्राणायाम—श्वासको धीरे-धीरे अन्दर खेंचना कुम्भक है, उसे रोके रखना पूरक है, और फिर धीरे-धीरे उसे बाहर छोडना रेचक है। ये तीनो मिलकर प्राणायाम सज्ञाको प्राप्त होते है। जैनेतर लोग ध्यान व समाधिमें इसको प्रधान अग मानते है, पर जैनाचार्य इसको इतनी महत्ता नहीं देते, क्योंकि चित्तकी एकाग्रता हो जानेपर श्वास निरोध स्वत. होता है।

१. प्राणायाम सामान्यका लक्षण

म. पु./२१/२२७ प्राणायामो भवेद्‌ योगनिग्रह शुभभावन। = मन, वचन और काय इन तीनो योगोका निग्रह करना तथा शुभभावना रखना प्राणायाम कहलाता है।

२. प्राणायामके तीन अंग

ज्ञा /२९/३ त्रिधा लक्षणभेदेन संस्मृत पूर्वसूरिभि। पूरक कुम्भकश्चैव रेचकस्तदनन्तरम्।२९। =पूर्वाचार्योने इस पवनके स्तम्भन स्वरूप प्राणायामको लक्षण भेदसे तीन प्रकारका कहा है—पूरक, कुम्भक और रेचक।

* **प्राणायाम सम्बन्धी ६ तत्त्व**—दे० ध्येय।

३. प्राणायामका स्वरूप

ज्ञा /२९/६ पर उद्‌धृत—समाकृष्य यदा प्राणधारणं स तु पूरक। नाभिमध्ये स्थिरीकृत्य रोधन स तु कुम्भक।१। यत्कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुरातनै। बहि प्रक्षेपणं वायो· स रेचक इति स्मृत।२।

च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ।१४। स्मरगरलमनोविजयं "पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न संदेहः ।१०१। =भले प्रकार निर्णय रूप किया है सत्यार्थ सिद्धान्त जिन्होंने ऐसे मुनियोंने ध्यानकी सिद्धिके तथा मनकी एकाग्रताके लिए प्राणायाम प्रशंसनीय कहा है ।१। ध्यानकी सिद्धिके लिए, मनको एकाग्र करनेके लिए पूर्वाचार्योंने प्रशंसा की है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषोंको विशेष प्रकारसे जानना चाहिए, अन्यथा मनको जीतनेमें समर्थ नहीं हो सकते ।२। साधुओंको अप्रमत्त होकर प्राणवायुके साथ धीरे-धीरे अपने मनको अच्छी तरह भीतर प्रविष्ट करके हृदयकी कर्णिकामें रोकना चाहिए। इस तरह प्राणायामके सिद्ध होनेसे चित्त स्थिर हो जाया करता है, जिससे कि अन्तरंगमें संकल्प विकल्पोंका उत्पन्न होना बन्द हो जाता है, विषयोंकी आशा निवृत्त हो जाती है, और अन्तरंगमें विज्ञानकी मात्रा बढ़ने लगती है ।१०-११। और इस प्रकार मन वश करके भावना करते हुए पुरुषके अविद्या तो क्षणमात्रमें क्षय हो जाती है, इन्द्रियाँ मद रहित हो जाती हैं, कषाय क्षीण हो जाती हैं ।१२। प्राणायाम करनेवालोंके मन इतने स्थिर हो जाते हैं कि उनको जगत्‌का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रत्यक्ष दीखने लगता है ।१४। प्राणायामके द्वारा प्राण वायुका प्रचार करनेमें चतुर योगी कामदेव रूप विष तथा अपने मनपर विजय प्राप्त कर लिया करता है ।१०१।

प्राणासंयम—दे० संयम।

प्रातर—मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

प्रातिहार्य—दे० अर्हंत।

प्रात्ययकी क्रिया—दे० क्रिया/३।

प्राथमिक—Elementary, Primitive (ध./५/प्र./२८)।

प्रादुष्कार—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/२। २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

प्रादोषिक काल—मू. आ./२७० का भावार्थ—जिसमें रातका भाग है वह प्रदोषकाल है अर्थात् रातके पूर्वभागके समीप दिनका पश्चिम भाग वह सुबह शाम दोनों कालोंमें प्रदोषकाल जानना।

प्रादोषिकी क्रिया—दे० क्रिया/३।

प्राप्ति ऋद्धि—दे० ऋद्धि/३।

प्राप्ति समा जाति—न्या. सू./मू./५/१/७/२९० प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याविशिष्टत्वादप्राप्त्यासाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ।७। =हेतुको साध्यके साथ जो प्राप्ति करके प्रत्यवस्थान दिया जाता है, वह प्राप्ति समा जाती है। और अप्राप्ति करके जो फिर प्रत्यवस्थान दिया जाता है, वह अप्राप्ति समा जाति है। (दृष्टान्त—जैसे कि 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यादि समीचीन हेतुका वादी द्वारा कथन किये जा चुकनेपर प्रतिवादी दोष उठाता है कि यह हेतु क्या साध्यको प्राप्त होकर साध्यकी सिद्धि करावेगा क्या अन्य प्रकारसे भी। साध्य और हेतु जब दोनों एक ही स्थानमें प्राप्त हो रहे हैं, तो गायके डेरे और सूधे सींग समान भला उनमेंसे एकको हेतुपना और दूसरेको साध्यपना कैसे युक्त हो सकता है। अप्राप्तिसमाका उदाहरण यों है कि वादीका हेतु यदि साध्यको नहीं प्राप्त होकर साध्यका साधक होगा तब तो सभी हेतु प्रकृत साध्यके साधन बन बैठेंगे अथवा वह प्रकृत हेतु अकेला ही सभी साध्यको साध्य डालेगा (श्लो. वा. ४/न्या./३५३-३५८/४८५ में इसपर चर्चा)।

प्राप्य कर्म—दे० कर्ता/१।

प्राप्यकारी इंद्रियाँ—दे० इन्द्रिय/२।

प्राभृत—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/२। २. समय प्राभृत या षट् प्राभृत आदि नामके ग्रन्थ—दे० पाहुड।

१. पाहुड़ या प्राभृत सामान्यका लक्षण

क. पा./सु. १/१,१२-१३/§२६६/३२६ चूर्णसूत्र—पाहुडे त्ति का णिरुत्ती। जम्हा पदेहि पुदं (फुडं) तम्हा पाहुडं।

क. पा. १/१,१२-१३/§२६७/३२५/१० प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्। प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्तवद्भिराभृतं धारितं व्याख्यातमानीतमिति वा प्राभृतम्। =पाहुड़ इस शब्दकी क्या निरुक्ति है? चूँकि जो पदोंसे स्फुट अर्थात् व्यक्त है, इसलिए वह पाहुड कहलाता है। जो प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थंकरके द्वारा आभृत अर्थात् प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है। अथवा जिनके विद्या ही धन है, ऐसे प्रकृष्ट आचार्योंके द्वारा जो धारण किया गया है, अथवा व्याख्यान किया गया है, अथवा परम्परासे लाया गया है, वह प्राभृत है।

स. सा./ता. वृ./परिशिष्ट/पृ. ५२३ यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थं किंचित्सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभृतं भण्यते। तथा परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषिपरमात्मराजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतं। कस्मात्। सारभूतत्वात् इति प्राभृतशब्दस्यार्थः। =जिस प्रकार कोई देवदत्त नामका पुरुष राजाके दर्शनार्थ कोई सारभूत वस्तु भेंट देता है, उसे प्राभृत कहते हैं। उसी प्रकार परमात्माके आराधक पुरुषके लिए निर्दोष परमात्म राजाके दर्शनार्थ यह शास्त्र प्राभृत है, क्योंकि यह सारभूत है। ऐसा प्राभृत शब्दका अर्थ है।

२. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

नोट—नाम स्थापनादिके लक्षण—दे० निक्षेप।

क. पा. १/१,१३-१४/§२६२-२६६/३२३-३२४ तत्थ सचित्तपाहुडं णाम जहा कोसल्लियभावेण पट्ठविज्जमाणा हयगयविलयादिया। अचित्तपाहुडं जहा मणि-कणयरयणाईणि उवायणाणि। मिस्सयपाहुडं जहा ससुवण्णकरितुरयाणं कोसल्लियपेसणं §२६३। आणंदहेउदव्वपट्ठवणं पसत्थभावपाहुडं। वइरकलहादिहेउदव्वपट्ठवणमप्पसत्थभावपाहुडं। मुहियभावपाहुडस्स पेसणोवायाभावादो §२६४। जिणवइणा उज्झियरायदोसेण भव्वाणमणवज्जबुहाइरियपणालेण पट्ठविदुवालसंगवयणकलावो तदेगदेसो वा। अवरं आणंदमेत्ति पाहुडं §२६५। कलहणिमित्तगद्दह-जर-खेटयादिदव्वमुवयारेण कलहो, तस्स विसज्जणं कलहपाहुडं। =उपहार रूपसे भेजे गये हाथी घोड़ा और स्त्री आदि सचित्त पाहुड़ हैं। भेंट स्वरूप दिये गये मणि, सोना और रत्नादि अचित्त पाहुड़ है। स्वर्णके साथ हाथी और घोड़ेका उपहार रूपसे भेजना मिश्र पाहुड है ।२६३। आनन्दके कारणभूत द्रव्यका उपहार रूपसे भेजना प्रशस्त नोआगम भाव पाहुड है। तथा वैर और कलह आदिके कारणभूत द्रव्यका उपहार रूपसे भेजना अप्रशस्त नोआगम भाव पाहुड़ है। मुख्य नोआगम भाव पाहुड़ (ज्ञाताका शरीर) भेजा नहीं जा सकता है, इसलिए यहाँ औपचारिक (बाह्य) औपचारिक नोआगमभाव पाहुडका उदाहरण दिया गया है। ।२६४। जो राग और द्वेषसे रहित हैं ऐसे जिन भगवान्‌के द्वारा निर्दोष श्रेष्ठ विद्वान् आचार्योंकी परम्परासे भव्य जनोंके लिए भेजे गये बारह अंगोंके वचनोंका समुदाय अथवा उनका एकदेश परमानन्द दोग्रन्थिक पाहुड कहलाता है। इससे अतिरिक्त शेष जिनागम आनन्दमात्र पाहुड है ।२६५। गधा, जीर्ण वस्तु और विष आदि द्रव्य कलहके निमित्त हैं, इसलिए उपचारसे इन्हें भी कलह कहते हैं। इस कलहके निमित्तभूत द्रव्यका भेजना कलह पाहुड़ कहलाता है ।२६६।

प्राभृतक ज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/II।

आत्माका जो उत्कृष्ट ज्ञान अथवा चित्त उसे जो मुनि नित्य धारण करता है, उसे प्रायश्चित्त है ।११६। बहुत कहनेसे क्या ? अनेक कर्मोंके क्षयका हेतु ऐसा जो महर्षियोंका उत्तम तपश्चरण वह सब प्रायश्चित्त जान ।११७। आत्म स्वरूप जिसका अवलम्बन है, ऐसे भावोंसे जीव सर्व भावोंका परिहार कर सकता है, इसलिए ध्यान सर्वस्व है ।११९। (विशेष विस्तार दे० नि. सा./मू व ता. वृ /११३-१२१) ।

का अ /मू./४५५ जो चिंतइ अप्पाणं णाण-सरूवं पुणो पुणो णाणी । विकह-विरत्त चित्तो पायच्छित्तं वरं तस्स ।४५५। =जो ज्ञानी मुनि ज्ञान स्वरूप आत्माका बारम्बार चिन्तन करता है, और विकथादि प्रमादोंसे जिसका मन विरक्त रहता है, उसके उत्कृष्ट प्रायश्चित्त होता है ।४५५।

३. व्यवहारकी अपेक्षा

मू. आ /३६१,३६३ पायच्छित्तं ति तवो जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपावं । पायच्छित्तं पत्तोति तेण वुत्तं· ।३६१। पोराणकम्मखमण खिवण णिज्जरण सोधणं धुमण । पुच्छणमुछिवण छिदणं ति पायचित्तस्स णामाइ ।३६३। =व्रतमें लगे हुए दोषोंको प्राप्त हुआ यति जिससे पूर्व किये पापोंसे निर्दोष हो जाय वह प्रायश्चित्त तप है ।३६१। पुराने कर्मोंका नाम, क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुच्छन (निराकरण) उत्क्षेपण, छेदन (द्वैधीकरण) ये सब प्रायश्चित्तके नाम हैं ।३६३।

स सि./९/२०/४३९/६ प्रमाददोषपरिहार प्रायश्चित्तम् । =प्रमाद जन्य दोषका परिहार करना प्रायश्चित्त तप है । (चा. सा /१३७/२) (अन ध./७/३४) ।

ध १३/५,४,२६/५९/८ कयावराहेण ससवेयणिव्वेएण सगावराहणिराय-रहणट्ठ जमणुट्टाण कीरदि तप्पायच्छित्त णाम तवोकम्म । =संवेग और निर्वेदसे युक्त अपराध करनेवाला साधु अपने अपराधका निराकरण करनेके लिए जो अनुष्ठान करता है वह प्रायश्चित्त नामका तप कर्म है ।

का अ./मू./४५१ दोसं ण करेदि सयं अण्णं पि ण कारएदि जो तिविहं । कुव्वाणं पि ण इच्छदि तस्स विसोही परा होदि ।४५१।=जो तपस्वी मुनि मन वचन कायसे स्वयं दोष नहीं करता, अन्यसे भी दोष नहीं कराता तथा कोई दोष करता हो तो उसे अच्छा नहीं मानता, उस मुनिके उत्कृष्ट विशुद्धि (प्रायश्चित्त) होती है ।४५१।

४. प्रायश्चित्तके भेद

मू आ /३६२ आलोयण पडिकमणं उभय विवेगो तहा विउस्सग्गो । तव छेदो मूलं,पिय परिहारो चेव सद्दहणा ।३६२। =आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान ये दश भेद प्रायश्चित्तके है ।३६२। (ध १३/५,४,२६/गा ११/६०) (चा सा./१३७/३) (अन. ध /७/३७ की भाषा अथवा ३७-५७) ।

त स./९/२२ आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदपरिहारो-पस्थापना ।२२। आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना यह नव प्रकारका प्रायश्चित्त है ।२२।

अन. ध./७/५६ व्यवहारनयादित्थं प्रायश्चित्तं दशात्मकम् । निश्चया-त्तदसंख्येयलोकमात्रभिदिष्यते ।५६। =व्यवहार नयसे प्रायश्चित्तके दश भेद है । किन्तु निश्चयनयसे उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद होते है ।

५. प्रायश्चित्तके भेदोंके लक्षण

१ तदुभय

स सि /९/२२/४४०/७ (तदुभय) संसर्गे सति विशोधनात्तदुभयम् । =आलोचना और प्रतिक्रमण इन दोनोंका संसर्ग होनेपर दोषोंका शोधन होनेसे तदुभय प्रायश्चित्त है । (रा वा /९/२२/४/६२१/२०) (अन. ध./७/४८) ।

ध. १३/५,४,२६/६०/१० सगावराहं गुरुणमालोचिय गुरुसक्खिया अव-राहादो पडिणियत्ती उभय णाम पायच्छित्त । =अपने अपराधको गुरुके सामने आलोचना करके गुरुकी साक्षिपूर्वक अपराधसे निवृत्त होना उभय नामका प्रायश्चित्त है ।

२. उपस्थापना या मूल

स. सि /९/२२/४४०/१० पुनर्दीक्षाप्रापणमुपस्थापना । =पुन. दीक्षा देना उपस्थापना प्रायश्चित्त है । (रा वा./९/२२/१०/६२१/३४) (ध. १३/ ५,४,२६/६२/२) (चा सा./१४४/३) (अन. ध./७/५५) ।

३. श्रद्धान

ध. १३/५,४,२६/६३/३ मिच्छत्तं गतूण ट्ठियस्स महव्वयाणि घेत्तूण अत्ता-गम-पयत्थसद्दहणा चेव (सद्दहण) पायच्छित्त । =मिथ्यात्वको प्राप्त होकर स्थित हुए जीवके महाव्रतोंको स्वीकार कर आप्त आगम और पदार्थोंका श्रद्धान करने पर श्रद्धान नामका प्रायश्चित्त होता है । (चा. सा /१४७/२) (अन ध /७/५७) ।

२. प्रायश्चित्त निर्देश

१. प्रायश्चित्तकी व्याप्ति अन्तरंगके साथ है

भ. आ./मू /४०५/५९४ आलोचणापरिणदो सम्म संपच्छिओ गुरुसयास । जदि अंतरम्मि काल करेज्ज आराहओ होई । =मैं अपने अपराधोंका स्वरूप गुरुके चरण समीप जाकर कहूँगा, ऐसा मनमें विचारकर निकला मुनि यदि मार्गमें ही मरण करे तो भी वह आराधक होता है ।४०५। (भ आ /मू /४०६-४०७/५९५) ।

दे० प्रतिक्रमण/१/२/२ निजात्म भावनासे ही निन्दन गर्हण आदि शुद्धिको प्राप्त होता है ।

२. प्रायश्चित्तके अतिचार

भ आ./वि /४८७/७०७/२० प्रायश्चित्तातिचारनिरूपणा–तत्रातिचाराः । आकंपियअणुमाणियमित्यादिकाश्च । भूतातिचारेऽस्य मनसा जुगुप्सा । अज्ञानत , प्रमादात्कर्मगुरुत्वादालस्याच्चेद अशुभकर्मबन्ध-ननिमित्त अनुष्ठितं, दुष्ट कृतमिति एवमादिकं प्रतिक्रमणातिचार । उक्तोभयातिचारसमवायस्तदुभयातिचार । =प्रायश्चित्त तपके अति-चार–आकंपित अनुमानित वगैरह दोष (दे० आलोचना/२) इस तपके अतिचार हैं । ये अतिचार होनेपर इसके विषयमें मनमें ग्लानि न करना अज्ञानसे, प्रमादसे, तीव्र कर्मके उदयसे और आलस्यसे मैंने यह अशुभ कर्मका बंध करनेवाला कर्म किया है, मैंने यह दुष्ट कर्म किया है, ऐसा उच्चारण करना प्रतिक्रमणके अतिचार हैं । आलोचना और प्रतिक्रमणके अतिचारको उभयातिचार कहते है ।

नोट—विवेक, आलोचना आदि तपके अतिचार —दे० वह वह नाम ।

३. अपराध होते ही प्रायश्चित्त लेना चाहिए

भ. आ /मू. व. वि /५४१/७५७ उत्थानिका–जाते अपराधे तदानीमेव कथितव्य न कालक्षेप कार्य इति शिक्षयति कल्ले परे व परदो काह दसणचरित्तसोधित्ति । इय सकप्पमदीया गयं पि काल ण याणंति ।५४१। तत सशल्य मरण तेषा भवति इति । व्याधय , कर्माणि, शत्रवश्चोपेक्षितानि बद्धमूलानि पुनर्न सुखेन विनाश्यन्ते । अथवा अतिचारकाल गत चिरातिक्रान्तं नैव जानन्ति । ये हि अतिचारा प्रतिदिनं जातास्तेषा काल, सध्या रात्रिदिन इत्यादिक पश्चादालो-चनाकाले गुरुणा पृष्टास्तावन्न वक्तु जानन्ति विस्मृतत्वाच्चिराती-तस्य ।·· अपि शब्देन क्षेत्रभावौ वातिचारस्य हेतू न जानन्ति ।·· इह स्मृतिज्ञानागोचर इति केषाचिद्व्याख्यान । =आराधनामें अतिचार होनेपर उसी क्षणमें उनका गुरुके समक्ष कथन करना चाहिए, कालक्षेप करना योग्य नहीं, ऐसा उपदेश देते है ।—१ कल परसों अथवा

नरसोंमे दर्शन-ज्ञान व चारित्रकी शुद्धि करूँगा, ऐसा जिन्होने अपने मनमें सकल्प किया है, ऐसे मुनि अपना आयु कितना नष्ट हुआ है यह नहीं जानते अर्थात् उनका सशल्य मरण होता है।५४१। रोग, शत्रु और इनकी उपेक्षा करनेसे ये दृढमूल होते है। पुन उनका नाश सुखसे कर नहीं सकते। अथवा जो अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो चुके है, उनका स्मरण होता नहीं। जो अतिचार हुए है, उनके सन्ध्या, दिन, रात्रि, इत्यादि रूप कालका स्मरण गुरुके पूछनेपर शिष्योको होता नहीं, क्योकि अतिचार होकर बहुत दिन व्यतीत हो चुके है। इसी प्रकार क्षेत्र, भाव और अतिचारके कारण इनका भी स्मरण नही होता, वे अतिचार स्मृतिज्ञानके अगोचर है। ऐसा कोई आचार्य इस गाथाका व्याख्यान करते है।

४. बाह्य दोषका प्रायश्चित्त स्वयं तथा अन्तरंग दोषका गुरुके निकट लेना चाहिए

प्र. सा /मू /२११-२१२ पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि। जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया।२११। छेदुवजुत्ता समणो समण ववहारिण जिणमदम्हि। आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कायव्व।२१२। =यदि श्रमणके प्रयत्न पूर्वक की जानेवाली कायचेष्टामें छेद होता है तो उसे आलोचना पूर्वक क्रिया करना चाहिए।२११। किन्तु यदि श्रमण छेदमें (अन्तरग छेदमें) उपयुक्त हुआ हो तो उसे जैनमतमें व्यवहार कुशल श्रमणके पास जाकर आलोचना करके (दोषन्का निवेदन करके) जैसा उपदेश दें वैसा करना चाहिए।२१२।

५. आत्म भावनासे च्युत होनेपर पश्चात्ताप ही प्रायश्चित्त है

इ. उ /मू /३९ निशामयति नि शेषमिन्द्रजालोपमं जगत्। स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते।३९। =योगीजन इस समस्त जगत्को इन्द्रजालके समान देखते है, क्योकि उनके आत्म स्वरूपकी प्राप्तिकी प्रबल अभिलाषा उदित रहती है। यदि कारणवश अन्य कार्यमें प्रवृत्ति हो जाती है, तब उसे संताप होता है।

६. दोष लगनेपर प्रायश्चित्त होता है सर्वदा नहीं

रा. वा /९/२२/१०/६२२/१ भयत्वरणविस्मरणानवबोधाशक्तिव्यसनादिभिर्महाव्रतातिचारे सति प्राक् छेदात् षड्विध प्रायश्चित्तं विधेय। =डरकर भाग जाना, सामर्थ्यकी हीनता, अज्ञान, विस्मरण, यवनादिकोंका आतक, इसी तरहके रोग अभिभव आदि और भी अनेक कारणोसे महाव्रतोमें अतीचार लग जानेपर तपस्वियोके छेदसे पहलेके छहों प्रायश्चित्त होते हैं। (चा सा./१४२/५), (अन ध. ७/५३)।

७. प्रायश्चित्त शास्त्रको जाने बिना प्रायश्चित्त देनेका निषेध

भ. आ /मू./४५१ ४५३/६७८ मोत्तूण रागदोसे ववहारं पट्ठवेइ सो तस्स। ववहारकरणकुसलो जिणवयणविसारदो धीरो।४५१। ववहारमयणंतो ववहरणिज्ज च ववहरतो खु। उस्सीयदि भवपके अयस कम्म च आदियदि।४५२। जह ण करेदि तिगिच्छं वाधिस्स तिरिच्छओ अणिम्मादो। ववहारमयणतो ण सोधिकामो विसुज्झेइ।४५३। =जिन प्रणीत आगममें निपुण, धैर्यवान्, प्रायश्चित्त शास्त्रके ज्ञाता ऐसे आचार्य राग-द्वेष भावना छोडकर मध्यस्थ भाव धारण कर मुनिको प्रायश्चित्त देते है।४५१। ग्रन्थसे, अर्थसे और कर्मसे प्रायश्चित्तका स्वरूप जिसको माल्म नहीं है वह मुनि यदि नव प्रकारका प्रायश्चित्त देने लगेगा तो वह संसारके कीचडमें फँसेगा और जगत्में उसकी अकीर्ति फैलेगी।४५२। जैसे—अज्ञवैद्य रोगका स्वरूप न जाननेके कारण रोगकी चिकित्सा नहीं कर सकता। वैसे ही जो आचार्य प्रायश्चित्त ग्रन्थके जानकार नही है वे रत्नत्रयको निर्मल करनेकी इच्छा रखते हुए भी निर्मल नही कर सकते।४५३।

८. शक्ति आदिसे सापेक्ष ही देना चाहिए

रा. वा /९/२२/१०/६२२/८ तदेतन्नवविध प्रायश्चित्तं देशकालशक्तिसंयमाद्यविरोधेनाल्पानल्पापराधानुरूपं दोषप्रशमनं चिकित्सितवद्विधेयं। जीवस्यासख्येयलोकमात्रपरिणामा परिणामविकल्पा. अपराधाश्च तावन्त एव न तेषा तावद्विकल्प प्रायश्चित्तमस्ति व्यवहारनयापेक्षया पिण्डीकृत्य प्रायश्चित्तविधानमुक्त। =देश, काल, शक्ति और सयममें किसी तरहका विरोध न आने पावे और छोटा बडा जैसा अपराध हो उसके अनुसार वैद्यके समान दोषोका शमन करना चाहिए। प्रत्येक जीवके परिणामोके भेदोंकी संख्या असख्यात लोक मात्र है, और अपराधोंकी सख्या भी उतनी है, परन्तु प्रायश्चित्तके उतने भेद नहीं कहे है। ऊपरके लिखे (९ वा १०) भेद तो केवल व्यवहार नयकी अपेक्षासे समुदाय रूपसे कहे गये हैं। (भ आ./वि./५२९/७२८/२०), (चा. सा /१४७/२); (अन. ध /७/५८)।

९. आलोचना पूर्वक ही लिया जाता है

भ आ /मू./६२०-६२१ एत्थ दु उज्जुगभावा ववहारिदव्वा भवति ते पुरिसा। सका परिहरिदव्वा सो से पट्ठाहि जहि विसुद्धा।६२०। पडिसेवणादिचारे जदि आजंपदि तहाकम्म सव्वे। कुव्वति तहो सोधिं आगमववहारिणो तस्स।६२१। =जो ऋजु भावसे आलोचना करते है, ऐसे पुरुष प्रायश्चित्त देने योग्य है और जिनके विषयमें शंका उत्पन्न हुई हो उनको प्रायश्चित्त आचार्य नहीं देते है। इससे सिद्ध हुआ कि सर्वातिचार निवेदन करनेवालोमें ही ऋजुता होती है, उसको ही प्रायश्चित्त देना योग्य है।६२०। यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे हुए सम्पूर्ण दोष क्षपक अनुक्रमसे कहेगा तो प्रायश्चित्त दानकुशल आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते है।६२१।

१०. प्रायश्चित्तके योग्यायोग्य काल व क्षेत्र

भ. आ /मू /५५४-५५९ आलोयणादिया पुण होइ पसत्थे य सुद्धभावस्स। पुव्वण्हे अवरण्हे व सोमतिहिरक्खवेलाए।५५४। णिप्पत्तकटइल्लं विज्जुहद सुक्खरुक्खकडुदड्ढ। सुण्णघररुद्दउलपत्थररासिट्टियापुंज।५५५। तणपत्तकट्ठछारिय असुइ सुसाण च भग्गपडिद वा। रुद्दाण खुद्दाणं अधिउत्ताण च ठाणाणि।५५६। अण्णं व एवमादी य अप्पसत्थ हवेज्ज जं ठाणं। आलोचण ण पडिच्छदि तत्थ गणीसे अविग्घत्थ।५५७। अरहतसिद्धसागरपउमसरखीरपुप्फफलभरियं। उज्जाणभवणतोरणपासाद णागजक्खघर।५५८। अण्ण च एवमादिया सुपसत्थ हवइ ज ठाण। आलोयण पडिच्छदि तत्थ गणीसे अविग्घत्थ।५५९। =१ विशुद्ध परिणामवाले इस क्षपककी आलोचना प्रतिक्रमणादिक क्रियाएँ दिनमें और प्रशस्त स्थानमे होती है। दिवसके पूर्व भागमें अथवा उत्तर भागमें, सौम्य तिथि, शुभ नक्षत्र, जिस दिनमें रहते है उस दिन होती है।५५४। २ जो क्षेत्र पत्तोसे रहित है, काँटोसे भरा हुआ है, बिजली गिरनेसे जहाँ जमीन फट गयी है, जहाँ शुष्क वृक्ष है, जिसमें कटुरससे वृक्ष भरे है जो जल गया है, शून्य घर, रुद्रका मन्दिर, पत्थरोका ढेर और ईंटोका ढेर है, ऐसा स्थान आलोचनाके योग्य नही है।५५५। जिसमें सूखे पान, तृण, काठके पुज है, जहाँ भस्म पडा है, ऐसे स्थान तथा अपवित्र श्मशान, तथा फूटे हुए पात्र, गिरा हुआ घर जहाँ है वह स्थान भी वर्ज्य है। रुद्र देवताओ, और क्षुद्रदेवताओं इनके स्थान भी वर्ज्य समझने चाहिए।५५६। ऊपरके स्थान वर्ज्य है वैसे ही अन्य भी जो अयोग्य स्थान है, उनमें भी क्षपककी आलोचना आचार्य सुनते

नहीं। क्योंकि ऐसे स्थानोंमें आलोचना करनेसे क्षपककी कार्य-सिद्धि नहीं होती ।५५७। ३. अर्हन्तका मन्दिर, सिद्धोंका मन्दिर, समुद्रके समीपका प्रदेश, जहाँ क्षीरवृक्ष है, जहाँ पुष्प व फलोंसे लदे वृक्ष हैं ऐसे स्थान, उद्यान, तोरण द्वार सहित मकान, नागदेवताका मन्दिर, यक्ष मन्दिर, ये सब स्थान क्षपककी आलोचना सुननेके योग्य हैं ।५५८। और भी अन्य प्रशस्त स्थान आलोचनाके योग्य हैं, ऐसे प्रशस्त स्थानोंमें क्षपकका कार्य निर्विघ्न सिद्ध हो इस हेतुसे आचार्य बैठकर आलोचना सुनते हैं ।५५९।

११. प्रायश्चित्तका प्रयोजन व माहात्म्य

रा. वा./९/२२/१/६२०/२६ प्रमाददोषव्युदासः भावप्रसादो नैःशल्यम् अनवस्थावृत्ति मर्यादात्यागः संयमदार्ढ्यमाराधनमित्येवमादीनां सिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तं नवविधं विधीयते। =प्रमाद दोष व्युदास, भाव प्रसाद, निःशल्यत्व, अव्यवस्था निवारण, मर्यादाका पालन, संयमकी दृढता, आराधना सिद्धि आदिके लिए प्रायश्चित्तसे विशुद्ध होना आवश्यक है। (भा. पा./टी./७८/२२४/६)।

ध./१३/५,४,२६/गा. १०/६० कृतानि कर्माण्यतिदारुणानि तनूभवन्त्यात्मविगर्हणेन। प्रकाशनात्संवरणाच्च तेषामत्यन्तमूलोद्धरणं वदामि ।१०। =अपनी गर्हा करनेसे, दोषोंका प्रकाशन करनेसे और उनका संवर करनेसे किये गये अतिदारुण कर्म कृश हो जाते हैं। अब उनका समूल नाश कैसे हो जाता है, यह कहते हैं।१०। (का. अ./मू./४५१-४५२)।

३. शंका समाधान

१. दूसरेके परिणाम कैसे जाने जाते हैं

भ. आ./वि./६२६/८२८/२० कथं परिणामो ज्ञायते इति चेत् सहवासेन तीव्रक्रोधस्तीव्रमान इत्यादिकं सुज्ञातमेव। तत्कार्योपलम्भात्, तमेव वा परिपृच्छ्य, कीदृग्भवतः परिणामोऽतिचारसमकालं वृत्तः। =प्रश्न—दूसरेके परिणाम कैसे जाने जा सकते हैं? उत्तर—१ सहवाससे परिणाम जाने जा सकते हैं, २. अथवा उसके कार्य देखनेपर उसके तीव्र या मन्द क्रोधादिकका स्वरूप मालूम होता है। ३ अथवा 'जब तुमने अतिचार किये थे तब तुम्हारे परिणाम कैसे थे', ऐसा उसको पूछकर भी परिणामोंका निर्णय किया जा सकता है। (विशेष—दे० विनय/५/१)।

२. तदुभय प्रायश्चित्तके पृथक् निर्देशकी क्या आवश्यकता

दे. प्रतिक्रमण/२/२ सभी प्रतिक्रमण नियमसे आलोचना पूर्वक होते हैं। गुरु स्वयं अन्य किसीसे आलोचना नहीं करता है। इसलिए गुरुसे अतिरिक्त अन्य शिष्योंकी अपेक्षासे तदुभय प्रायश्चित्तका पृथक् निर्देश किया गया है।

४. प्रायश्चित्त विधान

१. प्रायश्चित्तके योग्य कुछ अपराधोंका परिचय

भ. आ./वि./४५०/६७६/८ पृथिवी, आपस्तेजो वायु ···सचित्त द्रव्य··· तृणफलादिकं· अचित्तम्। ससत्त्वं उपकरणं मिश्रम्। एवं त्रिविधा द्रव्यप्रतिसेवना। वर्षासु···अर्धयोजनम्। ततोऽधिकक्षेत्रगमनं·· प्रतिषिद्धक्षेत्रगमनं, विरुद्धराज्यगमनं, छिन्नाध्वगमनं, ततो रक्षणीया गमनम्।···उन्मार्गेण वा गमनम्। अन्तःपुरप्रवेशः। अननुज्ञातगृहभूमिगमनम्—इत्यादिना क्षेत्रप्रतिसेवना। आवश्यककालादन्यस्मिन्काले आवश्यककरणम्। वर्षावग्रहातिक्रम—इत्यादिना कालप्रतिसेवना। दर्पः, प्रमाद, अनाभोगः भयं, प्रदोषः इत्यादिकेषु परिणामेषु प्रवृत्तिर्भावसेवा। =पृथ्वी, पानी आदि·· सचित्त द्रव्य, तृणका गट्ठर फलक वगैरे अचित्त द्रव्य, जीव उत्पन्न हुए हैं ऐसे उपकरणरूप मिश्र द्रव्य, ऐसे तीन प्रकारके द्रव्योंका सेवन करनेसे दोष लगते हैं। वर्षाकालमें (मुनि) आधा योजनसे अधिक गमन करना,···निषिद्ध स्थानमें जाना, विरुद्ध राज्यमें जाना, जहाँ रास्ता टूट गया ऐसे प्रदेशमें जाना, उन्मार्गसे जाना, अन्तःपुरमें प्रवेश करना, जहाँ प्रवेश करनेकी परवानगी नहीं है ऐसे गृहके जमीनमें प्रवेश करना यह क्षेत्रप्रतिसेवना है। आवश्यकोंके नियत कालको उल्लंघन कर अन्य कालमें सामायिकादि करना, वर्षाकाल योगका उल्लंघन करना यह काल प्रतिसेवना है। दर्प, उन्मत्तता, असावधानता, साहस, भय इत्यादि रूप परिणामोंमें प्रवृत्त होना भाव प्रतिसेवना है।

२. अपराधोंके अनुसार प्रायश्चित्त विधान

१. आलोचना

रा. वा./९/२२/१०/६२१/३६ विद्यायोगोपकरणग्रहणादिषु प्रश्नविनयमन्तरेण प्रवृत्तिरेव दोष इति तस्य प्रायश्चित्तमालोचनमात्रम्। =विद्या और ध्यानके साधनोंके ग्रहण करने आदिमें प्रश्न विनयके बिना प्रवृत्ति करना दोष है, उसका प्रायश्चित्त आलोचना मात्र है।

भा. पा./टी./७८/२२३/१४ आचार्यमपृष्ट्वा आतापनादिकरणे पुस्तकपिच्छादिपरोपकरणग्रहणे परपरोक्षे प्रमादत आचार्यादिवचनाकरणे संघनाथमपृष्ट्वा स्वसंघगमने देशकालनियमेनावश्यकर्तव्यव्रतविशेषस्य धर्मकथादिव्यासङ्गेन विस्मरणे सति पुनःकरणे अन्यत्रापि चैवंविधे आलोचनमेव प्रायश्चित्तम्। =आचार्यके बिना पूछे आतापनादि करना, दूसरे साधुकी अनुपस्थितिमें उसकी पीछी आदि उपकरणोंका ग्रहण करना, प्रमादसे आचार्यादिकी आज्ञाका उल्लंघन करना, आचार्यसे बिना पूछे संघमें प्रवेश करना, धर्म कथादिके प्रसंगसे देश काल नियत आवश्यक कर्तव्य व व्रत विशेषोंका विस्मरण होनेपर उन्हें पुनः करना, तथा अन्य भी इसी प्रकारके दोषोंका प्रायश्चित्त आलोचना मात्र है। (अन. ध./७/५३ भाषा)।

२. प्रतिक्रमण

रा. वा./९/२२/१०/६२१/३७ देशकालनियमेनावश्यं कर्तव्यमित्यारब्धानां योगानां धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसंनिधानेन विस्मरणे सति पुनरनुष्ठाने प्रतिक्रमणं तस्य प्रायश्चित्तम्। =देश और कालके नियमसे अवश्य कर्तव्य विधानोंको धर्म कथादिके कारण भूल जानेपर पुनः करनेके समय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त है।

ध. १३/५,४,२६/६०/६ एदं (पडिक्कमणं पायच्छित्तं) कत्थ होदि। अप्पावराहे गुरूहि विणा वट्टमाणम्हि होदि। =जब अपराध छोटा सा हो, गुरु पास न हों तब यह प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त होता है।

भा. पा./टी./७८/२२३/१८ षडिन्द्रियवागादिदुष्परिणामे, आचार्यादिषु हस्तपादादिसंघट्टने, व्रतसमितिगुप्तिषु स्वल्पातिचारे, पैशुन्यकलहादिकरणे, वैयावृत्यस्वाध्यायादिप्रमादे, गोचरगतस्य लिङ्गोत्थाने, अन्यसंक्लेशकरणादौ च प्रतिक्रमणप्रायश्चित्तं भवति। दिवसान्ते रात्र्यन्ते भोजनगमनादौ च प्रतिक्रमणप्रायश्चित्तम्। =छहों इन्द्रिय तथा वचनादिकका दुष्प्रयोग, आचार्यादिसे अपना हाथ-पाँव आदिका टकरा जाना, व्रत, समिति गुप्तिमें छोटे-छोटे दोष लग जाना, पैशुन्य तथा कलह आदि करना, वैयावृत्त्य तथा स्वाध्यायादिमें प्रमाद करना, गोचरीको जाते हुए लिंगोत्थान हो जाना, अन्यके साथ संक्लेश करनेवाली क्रियाओंके होनेपर प्रतिक्रमण करना चाहिए। यह प्रायश्चित्त सायंकाल, और प्रातःकाल तथा भोजनादिके जानेके समय होता है। (अन. ध./७/५२ भाषा)।

३. तदुभय

ध. १३/५,४,२६/६०/११ उभयं णाम पायच्छित्तं। दुस्सुमिणदंसणादिसु। =बुरे स्वप्न देखने आदिके अपराधमें तदुभय प्रायश्चित्त होता है। (चा. सा./१४१/६)।

अन्य दोषोंके द्वारा धर्ममें दोष लगाया है, ऐसे मुनियोंके पारंचिक प्रायश्चित्त होता है। (आचारसार/पृ० ६४). (अन. ध./७/५६ भाषा)।

११. श्रद्धान या उपस्थापन

अन. ध./७/५७ गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्रहणं पुन.। तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि ।५७। =जो साधु सम्यग्दर्शनको छोडकर मिथ्यात्वमे (मिथ्यामार्गमें) प्रवेश कर गया है। उसको पुन. दीक्षा रूप यह प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसका दूसरा नाम उपस्थापन है। कोई-कोई महाव्रतोंका मूलोच्छेद होनेपर पुन. दीक्षा देनेको उपस्थापन कहते है।

३. शूद्रादि छूनेके अवसर योग्य प्रायश्चित्त

आराधनासार/२/७० कपाली, चाण्डाल, रजस्वला स्त्रीको छूनेपर सिरपर कमण्डलसे पानीकी धार डाले जो पैरोंतक आ जाये। उपवास करे तथा महामन्त्रका जाप करे।

प्रायोगिक बन्ध—दे० बन्ध/१।

प्रायोगिक शब्द—दे० शब्द।

प्रायोगिकी क्रिया—दे० क्रिया/१।

प्रायोग्य लब्धि—दे० लब्धि/२।

प्रायोपगमन चारित्र—दे० सल्लेखना/३।

प्रायोपगमन मरण—दे० सल्लेखना/३।

प्रारम्भ क्रिया—दे० क्रिया/३।

प्रावचन—१. श्रुतज्ञानका अपर नाम है—दे० श्रुतज्ञान/२।
२. ध.१३/५,५,५०/२८०/११ प्रवचने प्रकृष्टशब्दकलापे भव ज्ञानं द्रव्यश्रुत वा प्रावचनं नाम। =प्रवचन अर्थात् प्रकृष्ट शब्द कलापमें होनेवाला ज्ञान या द्रव्य श्रुत प्रावचन कहलाता है।

प्राविष्कृत—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

प्रासाद—ध. १४/५,६,६१/३६/३ पक्कसइला सइला आवासा पासादा णाम। =ईंटों और पत्थरोंके बने हुए पत्थरबहुल आवासोंको प्रासाद कहते है।

प्रासुक—

मू. आ/४८५ पगदा असओ जह्मा तह्मादो दव्वदात्ति तं दव्वं। पासुगमिदि। =जिसमेंसे एकेन्द्रिय जीव निकल गये है वह प्रासुक द्रव्य है।

ध. ८/३,४१/८७/५ पगदा ओसरिदा आसवा जम्हा त पासुअ, अथवा ज णिरवज्ज तं पासुअं। कि १ णाणदसण-चरित्तादि। =जिससे आस्रव दूर हो गये है उसका नाम (वह जीव) प्रासुक है, अथवा जो निरवद्य है उसका नाम प्रासुक है। वह ज्ञानदर्शन व चारित्तादिक ही हो सकते है।

नि.सा./ता वृ /६३ हरितकायात्मकसूक्ष्मप्राणिसचारागोचरं प्रासुकमित्यभिहितम्। =हरितकायमय सूक्ष्म प्राणियोके सचारको अगोचर वह प्रासुक (अन्न) ऐसा (शास्त्रमे) कहा है।

* जलादि प्रासुक करनेकी विधि—दे० जलगालन।
* वनस्पति आदिको प्रासुक करनेकी विधि—दे० सचित्त।
* विहारके लिए प्रासुक मार्ग—दे० विहार/१।

प्रास्थल—भरत क्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

प्रिय—१ क पा /१/१,१३-१४/§२१६/२७१/६ स्वरुचिविषयीकृतं वस्तु प्रिय, यथा पुत्रादि। =जो वस्तु अपनेको रुचे उसे प्रिय कहते है। जैसे—पुत्र आदि। २. उत्तरधातकीखण्ड द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यंतर/४।

प्रियकारिणी—भगवान् महावीरकी माता—दे० तीर्थंकर/५।

प्रियदर्शन—१. महोरग नामा जाति व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० महोरग, २. सुमेरु पर्वतका अपरनाम—दे० सुमेरु। ३ उत्तर लवण समुद्रका स्वामी देव—दे० व्यंतर/४। ४. उत्तर धातकीखण्ड द्वीप रक्षक देव—दे० व्यंतर/४।

प्रियमित्र—एक राजपुत्र था। (म पु./७४/२३४-२४०) यह वर्धमान भगवान्‌का पूर्वका चौथा भव है—दे० वर्धमान।

प्रियोद्भव क्रिया—दे० संस्कार/२।

प्रीतिकर— १. म.पु /सर्ग/श्लोक पुण्डरीकिणी नगरीके राजा प्रियसेनका पुत्र था (६/१०८)। स्वयप्रभु मुनिराजसे दीक्षा ले अवधिज्ञान व आकाशगमन विद्या प्राप्त की (६/११०)। ऋषभ भगवान्‌को जबकि वे भोग भूमिज पर्यायमें थे (दे० ऋषभनाथ) सम्बोधनेके लिए भोगभूमिमें जाकर अपना परिचय दिया (६/१०५)। तथा सम्यग्दर्शन ग्रहण कराया (६/१४८)। अन्तमें केवलज्ञान प्राप्त किया (१०/१)। २. म पु /७६/श्लोक अपनी पूर्वकी शृगालीकी पर्यायमें रात्रि भोजन त्यागके फलसे वर्तमान भवमें कुबेरदत्तसेठके पुत्र हुए (२३८-२८१)। बाल्यकालमें ही मुनिराजके पास शिक्षा प्राप्त की (२४४-२४८)। विदेशमें भाइयो द्वारा धोखा दिया जानेपर गुरुभक्त देवोंने रक्षा की (२४६-३८४)। अन्तमें दीक्षा ले मोक्ष प्राप्त किया (३८७-३८८)। ३. प.पु./७७/श्लोक अरिदम राजाका पुत्र था (६५)। पिताके कीट वन जानेपर पिताकी आज्ञानुसार उसको (कीटको) मारने गया। तब कीट विष्ठामें घुस गया (६७)। तब मुनियोंसे प्रबोधको प्राप्त हो दीक्षा धारण की (७०)। ४. नव ग्रैवेयकका नवा पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

प्रीतिक्रिया—दे० संस्कार/२।

प्रेत्य भाव—न्या.सू /मू /१/१/१६/२२ पुनरुत्पत्ति· प्रेत्यभाव । =मरकर फिर किसी शरीरमें जन्म लेनेको प्रेत्यभाव कहते है।

प्रेम—ध./१४/४,२,८,६/२८४/१ प्रियत्व प्रेम। =प्रियताका नाम प्रेम है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१ प्रेम सम्बन्धी विषय	—दे० वात्सल्य।
२ प्रेमप्रत्यय बन्ध कारणके रूपमें	—दे० बंध/५।
३. प्रेम व कषायादि प्रत्ययोंके रूपमें।	—दे० प्रत्यय/१।

प्रेरक निमित्त—दे० निमित्त/१।

प्रेष्य प्रयोग—स.सि /७/३१/३६६/१० एव कुर्विति नियोग प्रेष्यप्रयोग'। =ऐसा करो इस प्रकार काममें लगाना प्रेष्यप्रयोग है।
रा.वा /७/३१/२/५५६/४ परिच्छिन्नदेशाद्बहि स्वयमगत्वा अन्यमप्यनीय प्रेष्यप्रयोगेणैवाभिप्रेतव्यापारसाधन प्रेष्यप्रयोग। =स्वीकृत मर्यादासे बाहर स्वय न जाकर और दूसरेको न बुलाकर भी नौकरके द्वारा इष्ट व्यापार सिद्ध करना प्रेष्य प्रयोग है। (चा सा./१६/१)

प्रोक्षण विधि—प्रतिष्ठाके समय प्रतिमाकी प्रोक्षण विधि—दे० प्रतिष्ठा विधान।

प्रोषधोपवास—पर्वके दिनमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करके धर्म ध्यानमें दिन व्यतीत करना प्रौषधोपवास कहलाता है, उस दिन आरम्भ करनेका त्याग होता है। एक दिनमें भोजनकी दो वेला मानी जाती है। पहले दिन एक वेला, दूसरे दिन दोनों वेला और

दिवस द्वितीयरात्रिं च। अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्द्धं च तृतीयदिवसस्य ।१५६। =उपवाससे पूर्व दिन मध्याह्नको समस्त आरम्भसे मुक्त होकर, शरीरादिकमें ममत्वको त्यागकर उपवासको अंगीकार करे ।१५२। पश्चात् समस्त सावद्य क्रियाका त्यागकर एकान्त स्थानको प्राप्त होवे। और सम्पूर्ण इन्द्रिय विषयोंसे विरक्त हो त्रिगुप्तिमें स्थित होवे। यदि कुछ चेष्टा करनी हो तो प्रमाणानुकूल क्षेत्रमें धर्मरूप ही करे ।१५३। कर ली गयी हैं प्रातःकाल और सन्ध्याकालीन सामायिकादि क्रिया जिसमें ऐसे दिनको धर्मध्यानमें आसक्ततापूर्वक बिताकर, पठन-पाठनसे निद्राको जीतता हुआ पवित्र सथारे पर रात्रिको बितावे ।१५४। तदुपरान्त प्रातः को उठकर तात्कालिक क्रियाओंसे निवृत्त हो प्रासुक द्रव्योंसे जिन भगवान्‌की पूजा करे ।१५५। इसके पश्चात् पूर्वोक्त विधिसे उस दिन और रात्रिको प्राप्त होके तीसरे दिनके आधेको भी अतिशय यत्नाचार पूर्वक व्यतीत करे ।१५६।

वसु. श्रा./२८१-२९२ सत्तमि-तेरसि दिवसम्मि अतिहिजणभोयणावसाणम्मि। भोत्तूण भजणिज्ज तत्थ वि काउण मुहसुद्धिं ।२८१। पक्खालिऊण वयणं कर-चरणे णियमिऊण तत्थेव। पच्छा जिणिंद-भवणं गंतूण जिणं णमंसित्ता ।२८२। गुरुपुरओ किदियम्मं वंदणपुव्वं कमेण काऊण। गुरुसक्खियमुववासं गहिऊण चउव्विहं विहिणा ।२८३। वायण-कहाणुपेहण-सिक्खावण-चिंतणोवओगेहिं। णेऊण दिवससेसं अवराण्हियं वंदणं किच्चा ।२८४। रयणि समयम्हि ठिच्चा काउसग्गेण णियथसत्तीए। पडिलेहिऊण भूमिं अप्पपमाणेण संथारं ।२८५। दाऊण किंचि रत्तिं सइऊण जिणालए णियघरे वा। अहवा सयलं रत्तिं काउसग्गेण णेऊण ।२८६। पच्चूसे उट्ठित्ता वंदणविहिणा जिणं णमंसित्ता। तह दव्व-भावपुज्जं णिय-सुय साहूण काऊण ।२८७। उत्तविहाणेण तहा दियहं रत्तिं पुणो वि गमिऊण। पारणदिवसम्मि पुणो पूयं काऊण पुव्वं व ।२८८। गंतूण णिययगेहं अतिहिविभाग च तत्थ काऊण। जो भुंजइ तस्स फुडं पोसहविहि उत्तमं होइ।२८९। जह उक्कस्सं तह मज्झिमं वि पोसहविहाणमुद्दिट्ठं। णवरं विसेसो सलिलं छंडित्ता वज्जए सेसं ।२९०। मुणिऊण गुरुवकज्जं सावज्जविवज्जियं णियारंभं। जइ कुणइ तं पि कुज्जा सेसं पुव्वं व णायव्वं ।२९१। आयंबिल णिव्वयडी एयट्ठाणं च एयभत्तं वा। जं कीरइ तं णेयं जहण्णयं पोसहविहाणं ।२९२। =१ उत्तम—सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अतिथिजनके भोजनके अन्तमें स्वयं भोज्य वस्तुका भोजन कर और वहीं पर मुखशुद्धिको करके, मुँहको और हाथ-पाँवको धोकर वहाँ ही उपवास सम्बन्धी नियमको करके पश्चात् जिनेन्द्र भवन जाकर और जिन भगवान्‌को नमस्कार करके, गुरुके सामने वन्दना पूर्वक क्रमसे कृतिकर्म करके, गुरुकी साक्षीसे विधिपूर्वक चारों प्रकारके आहारके त्याग रूप उपवासको ग्रहण कर शास्त्र-वाचन, धर्मकथा-श्रवण-श्रावण, अनुप्रेक्षा चिन्तन, पठन-पाठनादिके उपयोग द्वारा दिवस व्यतीत करके, तथा अपराह्णिक वन्दना करके, रात्रिके समय अपनी शक्तिके अनुसार कायोत्सर्गमें स्थित होकर, भूमिका प्रतिलेखन करके और अपने शरीरके प्रमाण बिस्तर लगाकर रात्रिमें कुछ समय तक जिनालयमें अथवा अपने घरमें सोकर, अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्गसे बिताकर प्रातःकाल उठकर वन्दना विधिसे जिन भगवान्‌को नमस्कार कर तथा देव-शास्त्र और गुरुकी द्रव्य वा भाव पूजन करके पूर्वोक्त विधानसे उसी प्रकार सारा दिन और सारी रात्रिको भी बिताकर पारणाके दिन अर्थात् नवमी या पूर्णमासीको पुनः पूर्वके समान पूजन करनेके पश्चात् अपने घर जाकर और वहाँ अतिथिको दान देकर जो भोजन करता है, उसे निश्चयसे उत्तम प्रोषधोपवास होता है। २८१-२८९। २ मध्यम—जिस प्रकार उत्कृष्ट प्रोषधोपवास विधान कहा गया है, उसी प्रकारसे मध्यम भी जानना चाहिए। विशेषता यह है कि जलको छोडकर शेष तीनों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए ।२९०। जरूरी कार्यको समझकर सावद्य रहित यदि अपने घरू आरम्भको करना चाहे, तो उसे भी कर सकता है, किन्तु शेष विधान पूर्वके समान है ।२९०-२९१। ३. जघन्य—जो अष्टमी आदि पर्वके दिन आचाम्ल निर्विकृति, एक स्थान अथवा एकभक्तको करता है, उसे जघन्य प्रोषधोपवास समझना ।२९२। =(गुण. श्रा./१७०-१७४); (का. अ./मू./३७३-३७४); (सा. ध./५/३४-३९), (अन. ध./७/११), (चा. पा./टी./२५/४५/१९)।

६. प्रोषधोपवास प्रतिमाका लक्षण

र. क. श्रा./१४० पर्वदिनेषु चतुर्ष्वपि मासे मासे स्वशक्तिमनिगुह्य। प्रोषधनियमविधायी प्रणिधिपरः प्रोषधानशनः ।१४०। =जो महीने महीने चारों ही पर्वोमें (दो अष्टमी और चतुर्दशीके दिनोंमें) अपनी शक्तिको न छिपाकर शुभ ध्यानमें तत्पर होता हुआ यदि अन्तमें प्रोषधपूर्वक उपवास करता है वह चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमाका धारी है ।१४०। (चा. सा./३७/४) (द्र. सं./४५/१९५)।

७. एकभक्तका लक्षण

मू. आ./३५ उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि। एकम्हि दुअ तिये वा मुहुत्तकालेय भत्तं तु ।३५। =सूर्यके उदय और अस्तकालकी तीन घडी छोडकर, वा मध्याह्न कालमें एक मुहूर्त, दो मुहूर्त, तीन मुहूर्त कालमें एक बार भोजन करना वह एकभक्त मूल गुण है ।३५।

८. चतुर्थभक्त आदिके लक्षण

ह. पु./३४/१२५ विधीनामिह सर्वेषामेषा हि च प्रदर्शना। एकश्चतुर्थकाभिख्यो द्वौ षष्ठ तु त्रयोऽष्टमः। दशमाद्यास्तथा वेद्या षण्मास्यन्तोपवासकाः ।१२५। =उपवास विधिमें चतुर्थक शब्दसे एक उपवास, षष्ठ शब्दसे वेला, और अष्ट शब्दसे तेला लिया गया है, तथा इसी प्रकार आगे दशम शब्दसे चौडा आदि छह मास पर्यन्त उपवास समझने चाहिए। (भ. आ./भाषा./२०९/४२५)।

मू. आ./भाषा./३४८ एक दिनमें दो भोजन वेला कही हैं। (एक वेला धारणके दिनकी, दो वेला उपवासके दिनकी और एक वेला पारणके दिनकी, इस प्रकार) चार भोजन वेलाका त्याग चतुर्थ भक्त अथवा उपवास कहलाता है। छह वेलाके भोजनका त्याग षष्ट भक्त अथवा वेला (२ उपवास) कहलाता है। इसी प्रकार आगे भी चार-पाँच आदि दिनोंसे लेकर छह उपवास पर्यन्त उपवासोंके नाम जानने चाहिए।

व्रतविधान सं./पृ. २६ मात्र एक बार परोसा हुआ भोजन सन्तोष पूर्वक खाना एकलठाना कहलाता है।

२. प्रोषधोपवास व उपवास निर्देश

१. प्रोषधोपवासके पाँच अतिचार

त. सू./७/३४ अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्गादानसंस्तरोपक्रमणानादरस्मृत्यनुपस्थानानि ।३४। =अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित भूमिमें उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तुका आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तरका उपक्रमण, अनादर और स्मृतिका अनुपस्थान ये प्रोषधोपवास व्रतके पाँच अतिचार हैं। (र. क. श्रा./११०)।

२. प्रोषधोपवास व उपवास सामान्यमें अन्तर

र. क. श्रा./१०९ चतुराहारविसर्जनमुपवासः प्रोषधः सकृद्भुक्तिः। स प्रोषधोपवासो यदुपोष्यारम्भमाचरति ।१०९। =चारों प्रकारके आहारका त्याग करना उपवास है। और एक बार भोजन करना प्रोषध है।

पभोगहेतो. स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम् । भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसाया ।१५८। वाग्गुप्तेर्नास्त्यनृत न समस्तादानविरहत. स्तेयम् । नाब्रह्ममैथुनरुच' सङ्गो नाङ्गेऽप्यमूर्च्छस्य ।१५६। इत्थमशेषितहिंस' प्रयाति स महाव्रतित्वमुपचारात् । उदयति चरित्रमोहे लभते तु न संयमस्थानम् ।१६०। =जो जीव इस प्रकार सम्पूर्ण पाप क्रियाओंसे परिमुक्त होकर १६ पहर गमाता है, उसके इतने समय तक निश्चय पूर्वक सम्पूर्ण अहिंसा व्रत होता है।१५७। भोगोपभोगके हेतुसे स्थावर जीवोकी हिसा होती है, किन्तु उपवासधारी पुरुपके भोगोपभोगके निमित्तसे जरा भी हिंसा नही होती है ।१५८। क्योंकि वचनगुप्ति होनेसे झूठ वचन नहीं है, मैथुन, अदत्तादान और शरीरमें ममत्वका अभाव होनेसे क्रमश. अब्रह्म, चोरी व परिग्रहका अभाव है ।१५६। उपवासमें पूर्ण अहिंसा व्रतको पालना होनेके अतिरिक्त अवशेष चारो व्रत भी स्वयमेव पलते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण हिंसाओसे रहित व प्रोपधोपवास करनेवाला पुरुष उपचारसे महाव्रतीपनेको प्राप्त होता है। अन्तर केवल इतना रह जाता है कि चारित्रमोहके उदय रूप होनेके कारण संयम स्थानको प्राप्त नही करता है ।१६०।

व्रत विधान स./पृ. २५ पर उद्धृत—अनेकपुण्यसंतानकारणं स्वर्निबन्धनम् । पापघ्नं च क्रमादेतत व्रतं मुक्तिवशीकरम् ।१। यो विधत्ते व्रतं सारमेतत्सर्वसुखावहम् । प्राप्य पोडशमं नाक स गच्छेत् क्रमश शिवम् ।२। =व्रत अनेक पुण्यकी सन्तानका कारण है, स्वर्गका कारण है, ससारके समस्त पापोका नाश करनेवाला है ।१। जो महानुभाव सर्व सुखोत्पादक श्रेष्ठ व्रत धारण करते है, वे सोलहवें स्वर्गके सुखोको अनुभव कर अनुक्रमसे अविनाशी मोक्ष सुखको प्राप्त करते है ।२।

★ **उपवास भी कथंचित् सावद्य है**—दे० सावद्य ।

३. उपवासमें उद्यापनका स्थान

१. उपवासके पश्चात् उद्यापन करनेका नियम

धर्म परीक्षा/२०/२२ उपवासोंको विधि पूर्वक पूरा करनेपर फलकी वांछा करनेवालोंको उद्यापन भी अवश्य करना चाहिए ।२२।

सा. ध./२/७८ पञ्चम्यादिविधिं कृत्वा, शिवान्ताभ्युदयप्रदम् । उद्द्योतयेद्यथासंपन्निमित्ते प्रोत्सहेन्मन ।७८। =मोक्ष पर्यन्त इन्द्र चक्रवर्ती आदि पदोको प्राप्त करानेवाले पचमी, पुष्पाजली, मुक्तावली तथा रत्नत्रय आदिक व्रत विधानोको करके आर्थिक शक्तिके अनुसार उद्यापन करना चाहिए, क्योंकि नैमित्तिक क्रियाओंके करनेमें मन अधिक उत्साहको प्राप्त होता है।

व्रत विधान सग्रह/पृ. २३ पर उद्धृत—सम्पूर्णे ह्यनुकर्तव्य स्वशक्त्योद्यापनं बुधै' । सर्वथा येऽप्यशक्त्यादिव्रतोद्यापनसद्विधौ । =व्रतकी मर्यादा पूर्ण हो जानेपर स्व शक्तिके अनुसार उद्यापन करे, यदि उद्यापनकी शक्ति न होवे तो व्रतका जो विधान है उससे दूने व्रत करे।

२. उद्यापन न हो तो दुगुने उपवास करे

धर्म परीक्षा/२०/२३ यदि किसीकी विधि पूर्वक उद्यापन करनेकी सामर्थ्य न हो तो द्विगुण (दुगुने काल तक दुगुने उपवास) विधि करनी चाहिए क्योकि यदि इस प्रकार नहीं किया जाये तो व्रत विधि कैसे पूर्ण हो। (व्रत विधान स /पृ २३ पर उद्धृत)।

३. उद्यापन विधि

व्रत विधान सग्रह/पृ. २३ पर उद्धृत—कर्तव्य जिनागारे महाभिपेकमद्भुतम् । सघैश्चतुर्विधै' सार्धं महापूजादिकोत्सवम् ।१। घण्टाचामरचन्द्रोपकभृङ्गार्यार्तिकादय' । धर्मोपकरणान्येव देय भक्त्या स्वशक्तित ।२। पुस्तकादिमहादान भक्त्या देयं वृषाकरम् । महोत्सव विधेय सुवाद्यगीतादिनर्तनै' ।३। चतुर्विधाय सघायाहारदानादिकं मुदा। आमन्त्र्य परमभक्त्या देय सम्मानपूर्वकम् ।४। प्रभावना जिनेन्द्राणां शासनं चैत्यधामनि। कुर्वन्तु यथाशक्त्या स्तोक चोद्यापनं मुदा ।५। =खूब ऊँचे-ऊँचे विशाल जिन मन्दिर बनवाये और उनमें बडे समारोह पूर्वक प्रतिष्ठा कराकर जिन प्रतिमा विराजमान करे। पश्चात् चतु प्रकार सघके साथ प्रभावना पूर्वक महाभिपेक कर महापूजा करे ।१। पश्चात् घण्टा, झालर, चमर, छत्र, सिंहासन, चन्दोवा, झारी, भृंगारी, आरती आदि अनेक प्रकार धर्मोपकरण शक्तिके अनुसार भक्ति पूर्वक देवे ।२। आचार्य आदि महापुरुपोंको धर्मवृद्धि तथा ज्ञानवृद्धि हेतु शास्त्र प्रदान करे। और उत्तमोत्तम बाजे, गीत और नृत्य आदिके अत्यन्त आयोजनसे मन्दिरमें महान् उत्सव करे ।३। चतुर्विध सघको विशिष्ट सम्मानके साथ भक्ति पूर्वक बुलाकर अत्यन्त प्रमोदसे आहारादिक चतु प्रकार दान देवे ।४। भगवान् जिनेन्द्रके शासनका माहात्म्य प्रगट कर खूब प्रभावना करे। इस प्रकार अपनी शक्तिके अनुसार उद्यापनका व्रत विसर्जन करे ।५।

४. उपवासके दिन श्रावकके कर्तव्य अकर्तव्य

१. निश्चय उपवास ही वास्तवमें उपवास है

ध. १३/५,४,२६/५५/३ ण च चउव्विहआहारपरिच्चागो चेव अणेसणं, रागादीहि सह तच्चागस्स अणेसणभावब्भुवगमादो। अत्र श्लोक'—अप्रवृत्तस्य दोपेभ्यस्सहवासो गुणै. सह। उपवासस्स विज्ञेयो न शरीरविशोषणम् ।६। =पर इसका यह अर्थ नहीं कि चारो प्रकारके आहारका त्याग ही अणेपण कहलाता है। क्योकि रागादिके त्यागके साथ ही उन चारोके त्यागको अनेपण स्वीकार किया है। इस विषयमें एक श्लोक है—उपवासमें प्रवृत्ति नही करनेवाले जीवको अनेक दोप प्राप्त होते है और उपवास करनेवालेको अनेक गुण, ऐसा यहाँ जानना चाहिए। शरीरके शोषणको उपवास नहीं कहते।

दे० प्रोषधोपवास/१/१ (इन्द्रिय विषयोंसे हटकर आत्मस्वरूपमें लीन होनेका नाम उपवास है।)

२. उपवासके दिन आरम्भ करे तो उपवास नहीं लंघन होता है

का.आ /मू./३७८ उववास कुव्वतो आरभ जो करेदि मोहादो। सो णिय देहं सोसदि ण झाडए कम्मलेस पि ।३७८। =जो उपवास करते हुए मोहवश आरम्भ करता है वह अपने शरीरको सुखाता है उसके लेशमात्र भी कर्मोंकी निर्जरा नही होती ।३७८।

व्रतविधन सग्रह/पृ २७ पर उद्धृत—कपायविषयारम्भत्यागो यत्र विधीयते। उपवास स विज्ञेयो शेषं लङ्घनं विदु ।=कपाय, विषय और आरम्भका जहाँ संकल्प पूर्वक त्याग किया जाता है, वहाँ उपवास जानना चाहिए। शेष अर्थात् भोजनका त्याग मात्र लघन है।

३. उपवासके दिन स्नानादि करनेका निषेध

इन्द्रनन्दि संहिता/१४ पव्वदिणे ण वयेसु वि ण दंतकट्ठं ण अचमतप्प । ण हाणजणणस्साण परिहारो तस्स सण्णेओ ।१४। = पर्व और व्रतके दिनोंमें स्नान, अंजन, नस्य, आचमन और तर्पणका त्याग समझना चाहिए ।१४।

दे प्रोषधोपवास/१/४ (उपवासके दिन स्नान, माला आदिका त्याग करना चाहिए)।

४. उपवासके दिन श्रावकके कर्तव्य

दे. प्रोषधोपवास/१/४,५ (गृहस्थके सर्वारम्भको छोड़कर मन्दिर अथवा निर्जन वसतिकामें जाकर निरन्तर धर्मध्यानमें समय व्यतीत करना चाहिए)।

५. सामायिकादि करे तो पूजा करना आवश्यक नहीं

ला. स./६/२०२ यदा सा क्रियते पूजा न दोषोऽस्ति तदापि वै। न क्रियते सा तदाप्यत्र दोषो नास्तीह कश्चन।२०२।—प्रोषधोपवासके दिन भगवान् अरहन्तदेवकी पूजा करे तो भी कोई दोष नहीं है। यदि उस दिन वह पूजा न करे (अर्थात् सामायिकादि साम्यभाव रूप क्रियामें बितावे) तो भी कोई दोष नहीं है।२०२।

६. रात्रिको मन्दिरमें सोनेका कोई नियम नहीं

वसु.श्रा./२८६ दाऊण किंचि रत्ति सइऊण जिणालए णियघरे वा। अहवा सयलं रत्ति काउस्सेण णेऊण।२८६।—रात्रिमें कुछ समय तक जिनालय अथवा अपने घरमें सोकर, अथवा सारी रात्रि कायोत्सर्गमें बिताकर अर्थात् बिलकुल न सोकर।२८६।

प्रोष्ठिल—१ यह भावि कालीन नवें तीर्थंकर है। अपरनाम प्रश्नकीर्ति व उदक है।—दे० तीर्थंकर/५। २ श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथम (श्रुतकेवली) के पश्चात् ११ अंग व दश पूर्वधारी हुए। आपका समय—वी. नि. १६२-१६१. (ई. पू. ३६५-३३६)—दे० इतिहास/४/१।

प्लवंग संवत्—दे० इतिहास/२।

प्लुत स्वर—दे० अक्षर।

[फ]

फल—१. फल वनस्पतिके भेद प्रभेद व लक्षण —दे० वनस्पति/१। २. फलोंका भक्ष्याभक्ष्य विचार—दे० भक्ष्याभक्ष्य/४। ३. कर्मोंका फल दान—दे० उदय. ४. कर्म फल चेतना—दे० चेतना/१।

फल चारण ऋद्धि—दे० ऋद्धि।

फलदशमी व्रत—फलदशमी फल दश कर लेय। दश श्रावकके घर घर देय। यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है। (व्रतविधान स./पृ १३०) (नवलसाहकृत वर्द्धमान पु०)।

फल रस—दे० रस।

फल राशि—त्रैराशिक विधानमें जो उत्तर या फलके रूपमें प्राप्त होता है।—विशेष दे० गणित/II/३।

फालि—दे० काण्डक।

फाहियान—चीनी यात्री था। ई० ४०२में भारतमें आया था। ई० ४०५ तक भारतमे रहा। (वर्तमान भारत इतिहास) (हिस्ट्री आफ कैनेडीज लिटरेचर)।

फिलिप्स—यूनान देशका राजा था। मकदूनिया राजधानी थी। सम्राट् सिकन्दर इसका पुत्र था। समय—ई० पू० ३६०-३३६ (वर्तमान भारत इतिहास)।

फूल दशमी व्रत—यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है। फूल दशमि दश फूलनि माल। दश सुपात्र पहिनाय आहार। (व्रत विधान सं/पृ १३०) (नवलसाहकृत वर्धमान पु०)।

फेनमालिनी—अपर विदेहस्थ एक विभंगा नदी—दे० लोक/७।

[ब]

बंग—भरत क्षेत्र पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। २. वर्तमान बंगाल। सुह्मदेशके पूर्ववर्ती क्षेत्र। प्राचीन राजधानी कर्ण सुवर्ण (कनसोना) थी, और वर्तमान राजधानी कालीघट्टपुरी (कलकत्ता) है।

बंध—अनेक पदार्थोंका मिलकर एक हो जाना बन्ध कहलाता है। वह तीन प्रकारका है, जीवबन्ध, अजीवबन्ध और उभयबन्ध। संसार व धन आदि बाह्य पदार्थोंके साथ जीवको मोह होनेके कारण जीवके पर्याय रूप मिथ्यात्व व रागादि प्रत्यय जीवबन्ध या भावबन्ध है। स्पर्शगुणनिमित्तक स्निग्ध रूक्ष परमाणुओंका पारस्परिक बन्ध अजीव बन्ध या पुद्गलबन्ध है। और जीवके प्रदेशोंके साथ कर्म प्रदेशोंका अथवा शरीरका बन्ध उभयबन्ध या द्रव्यबन्ध है। इसके अतिरिक्त भी पारस्परिक संयोगसे बन्धके अनेक भेद किये जा सकते हैं। द्रव्य व भावबन्धमें भावबन्ध ही प्रधान है, क्योंकि इसके बिना कर्मों व शरीरका जीवके साथ बन्ध होना सम्भव नहीं है। मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोंके निरोध द्वारा द्रव्य बन्धका निरोध हो जानेसे जीवको मोक्ष प्रगट होती है।

१. वन्ध सामान्य निर्देश

१. वन्ध सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./१/४/१०/२६/३ वध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा वन्ध' ।१०।
रा. वा /१/४/१७/२६/३० वन्ध इव वन्ध.।
रा वा /५/२४/१/४८५/१० वध्नाति, बध्यतेऽसौ, बध्यतेऽनेन बन्धनमात्रं वा वन्ध ।
रा. वा /८/२/११/५६६/१४ करणादिसाधनेष्वयं वन्धशब्दो द्रष्टव्य'। तत्र करणसाधनस्तावत्—बध्यतेऽनेनात्मेति बन्ध. =१. जिनसे कर्म वँधे वह कर्मोका वँधना वन्ध है। (१/४/१०)। २. बन्धकी भाँति होनेसे बन्ध है। (१/४/१७)। ३. जो बन्धे या जिसके द्वारा बाँधा जाये या बन्धनमात्रको बन्ध होते है। (५/२४/१)। ४ बन्ध शब्द करणादि साधनमें देखा जाता है। करण साधनकी विवक्षामें जिनके द्वारा कर्म बँधता है वह बन्ध है।

२. गति निरोध हेतु

स सि /७/२५/३६६/२ अभिमतदेशगतिनिरोधहेतुबन्ध । =किसीको अपने इष्ट स्थानमें जानेसे रोकनेके कारणको बन्ध कहते है।
रा वा /७/२५/१/५५३/१६ अभिमतदेशगमनं प्रत्युत्सुकस्य तत्गतिबन्धहेतुः कीलादिषु रज्ज्वादिभिर्व्यतिषङ्गो बन्ध इत्युच्यते। =खूँटा आदिमें रस्सीसे इस प्रकार बाँध देना जिससे वह इष्ट देशको गमन न कर सके, उसको बन्ध कहते है। (चा. सा /८/६)।

३. जीव व कर्म प्रदेशोंका परस्पर बन्ध

रा. वा./१/४/१७/२६/२६ आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशलक्षणो बन्ध.।१७। =कर्म प्रदेशोंका आत्मा प्रदेशोंमें एक क्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है।

ध. १४/५.६.१/२/३ दव्वस्स दव्वेण दव्व-भावाणं वा जो संजोगो समवाओ वा सो बंधो णाम। =द्रव्यका द्रव्यके साथ तथा द्रव्य और भावका क्रमसे जो सयोग और समवाय है वही बन्ध कहलाता है। विशेष—दे० बन्ध/१/५।

२. बन्धके भेद-प्रभेद

१. बन्ध सामान्यके भेद

रा वा /१/७/१४/४०/५ बन्ध सामान्यादेशात् एक', द्विविध शुभाशुभभेदात्, त्रिधा द्रव्यभावोभयविकल्पात्, चतुर्धा प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदात्, पञ्चधा मिथ्यादर्शनादिहेतुभेदात्, षोढा नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावैः, सप्तधा तैरेव भवाधिकैः, अष्टधा ज्ञानावरणादिमूलप्रकृतिभेदात्। एवं सङ्ख्येयासङ्ख्येयानन्तविकल्पश्च भवति हेतुफलभेदात्।

रा वा /२/१०/२/१२४/२४ बन्धो द्विविधो द्रव्यबन्धो भावबन्धश्चेति।

रा वा /५/२४/६/४८७/१७ बन्धोऽपि द्विधा विस्रसाप्रयोगभेदात् ।६।

रा वा./८/४/१५/५६६/१० एकादय. संख्येया विकल्पा भवन्ति—शब्दतः तत्रैकस्तावत् सामान्यादेक. कर्मबन्ध स एव पुण्यपापभेदाद् द्विविध, त्रिविधो बन्ध अनादिः सान्त', अनादिरनन्त', सादि सान्तश्चेति, भुजाकाराल्पतरावस्थितभेदाद्वा। प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशाच्चतुर्विध। द्रव्यक्षेत्रकालभवभावनिमित्तभेदात् पञ्चविध'। षड्जीवनिकायविकल्पात् षोढा व्यपदिश्यते। रागद्वेषमोहक्रोधमानमायालोभहेतुभेदात् सप्ततयी वृत्तिमनुभवति। ज्ञानावरणादिविकल्पादष्टधा। एवं सङ्ख्येया विकल्पाः शब्दतो योज्या। चशब्देनाध्यवसायस्थानविकल्पात् असङ्ख्येया.। अनन्तानन्तप्रदेशस्कन्धपरिणामविधिरनन्त, ज्ञानावरणाद्यनुभवाविभागपरिच्छेदापेक्षया वा अनन्त'। =१ सामान्यसे एक प्रकार है—(रा. वा./१ तथा रा वा./८)। २. पुण्य-पापके भेदसे दो प्रकार है—(रा. वा./१ तथा रा. वा /८)। अथवा द्रव्यभावके भेदसे दो प्रकारका है—(रा. वा./२)। अथवा वैस्रसिक या प्रायोगिकके भेदसे दो प्रकार है—(ष. ख १४/५.६/सू. २६/२८), (स सि /५/२४/२९५/७), (रा. वा /५), (त. सा./३/६७)। ३ द्रव्य, भाव व उभय या जीव, पुद्गल व उभयके भेदसे तीन प्रकार है। (रा. वा./१), (प्र सा./मू /१७७), (ध. १३/५.५.८२/३४७/७) (पं ध /उ /१६), अथवा अनादि सान्त, अनादि अनन्त व सादि सान्तके भेदसे तीन प्रकार है। (रा.वा./८), ४. प्रकृति, स्थिति, अनुभव व प्रदेशके भेदसे चार प्रकार है—(मू. आ./१२२१), (त सू./८/३), (रा. वा /१ तथा रा. वा /८), (गो क /मू /८९/७३), (द्र स./मू./३३), (पं ध /उ /९३५), ५ मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय और योगके भेदसे पाँच प्रकारका है। (रा वा /१)। अथवा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भवके भेदसे पाँच प्रकार है। (रा. वा /८)। ६ नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भावके भेदसे छह प्रकार है। (रा. वा./१)। अथवा षट्काय जीवोके भेदसे छह प्रकार है—(रा. वा /८)। ७. नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव व भवके भेदसे सात प्रकार है—(रा. वा./१)। अथवा राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभके भेदसे सात प्रकार है— (रा. वा /८)। ८ ज्ञानावरणादि मूल प्रकृतियोके भेदसे आठ प्रकार है। (रा वा /१ तथा रा. वा /८), (प्रकृति बन्ध/१)। ९ वाचक शब्दोकी अपेक्षा सङ्ख्यात, अध्यवसाय स्थानोकी अपेक्षा असंख्यात, तथा कर्म प्रदेशोकी अथवा कर्मोंके अनुभाग प्रतिच्छेदोकी अपेक्षा अनन्त प्रकार है। (रा. वा /१ तथा रा वा /८)।

२ नोआगम द्रव्यबन्धके भेद

ष ख १४/५.६/सूत्र न./पृष्ठ नं. जो सो णो आगमदो दव्वबंधो सो दुविहो—पओअबंधो चेव विस्ससाबंधो चेव (२६/२८)। जो सो विस्ससाबंधो णाम सो दुविहो—सादियविस्ससाबंधो चेव अणादियविस्ससाबंधो चेव (२८/२८)। जो सो थप्पो पओअबंधो णाम सो दुविहो—कम्मबंधो चेव णोकम्मबंधो—चेव (३८/३६)। जो सो णोकम्मबंधो णाम सो पञ्चविहो—आलावणबंधो अल्लीवणबंधो संसिलेसबंधो सरीरबंधो सरीरिबंधो चेदि (४०/३७)। जो सो सरीरबंधो णाम सो पंचविहो—ओरालियसरीरबंधो वेउव्वियसरीरबंधो आहारसरीरबंधो तेयासरीरबंधो कम्मइयसरीरबंधो चेदि (४४/४१)। जो सो सरीरिबंधो णाम सो दुविहो—सादियसरीरिबंधो चेव अणादियसरीरिबंधो चेव (६१/४४)। जो सो थप्पोकम्मबंधो णाम यथा कम्मेत्ति तहा णेदव्वं (६४/४६)।=१ नोआगम द्रव्यबन्ध दो प्रकारका है—प्रायोगिक व वैस्रसिक (स. सि./५/२४/२९५/७), (रा वा./५/२४/९/४८७/१७); (त सा./३/६७)। २ वैस्रसिक दो प्रकारका है—सादि व अनादि। (रा. वा./५/२४/७/४८७/११)। ३. प्रायोगिक दो प्रकार है—कर्म नोकर्म (स सि /५/२४/२९५/१०), (रा. वा /५/२४/९/४८७/३४), (त. सा./३/६७)। ४. नोकर्म बन्ध पाँच प्रकारका है—आलापन, अल्लीवन, संश्लेष, शरीर व शरीरी (रा. वा /५/२४/९/४८७/३५)। ५ शरीरबन्ध पाँच प्रकार है—औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस व कार्मण (रा. वा /५/२४/९/४८८/३), (विशेष—दे० शरीर)। ६. शरीरी बन्ध दो प्रकार है—सादि व अनादि (रा. वा./५/२४/९/४८८/१४)। ७ कर्म बन्ध कर्म अनुयोग द्वारवत् जानना अर्थात् ज्ञानावरणादि रूप मूल व उत्तर प्रकृतियोकी अपेक्षा अनेक भेद-प्रभेद रूप है। (रा. वा /५/२४/९/४८७/३४), (विशेष—दे० प्रकृतिबंध/१)।

३. नो आगम भावबन्धके भेद

ष. ख. १४/५.६/सूत्र न /पृष्ठ न. जो सो णोआगमदो भावबंधो णाम सो दुविहो—जीवभावबंधो चेव अजीवभावबंधो चेव (१३/९)। जो सो जीवभावबंधो णाम सो तिविहो—विवागपच्चइयो जीवभावबंधो चेव अविवागपच्चइओ जीवभावबंधो चेव तदुभयपच्चइयो जीवभावबंधो चेव (१४/९)। जो सो अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो णाम सो दुविहो—उवसमियो अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो चेव खइयो अविवागपच्चइयो जीवभावबंधो चेव (१६/१२)। जो सो अजीवभावबंधो णाम सो तिविहो विवागपच्चइयो अजीवभावबंधो चेव अविवागपच्चइयो अजीवभावबंधो चेव तदुभयपच्चइयो अजीवभावबंधो चेव (२/२२०)। =१ नो आगम भावबन्ध दो प्रकारका है—जीव भाव बन्ध और अजीव भावबन्ध (१३/९)। २. जीव भावबन्ध तीन प्रकारका है—विपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध, और तदुभय प्रत्ययिक जीवभावबन्ध (१४/९)। ३, अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध दो प्रकारका है—औपशमिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध और क्षायिक अविपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध (१६/१२)। ४. अजीव भावबन्ध तीन प्रकारका है—विपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध, अविपाक प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध और तदुभय प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध (२०/१२)।

३. वैस्रसिक व प्रायोगिक बन्धके लक्षण

१ वैस्रसिक व प्रायोगिक सामान्य

स सि /५/२४/२९५/७ पुरुषप्रयोगानपेक्षो वैस्रसिक.। पुरुषप्रयोगनिमित्त प्रायोगिक'। =पुरुष प्रयोगसे निरपेक्ष वैस्रसिक है और पुरुष प्रयोग सापेक्ष प्रायोगिक। (रा वा /५/२४/८-९/४८७/३०), (ध १४/५,६/३८/३७/१), (त. सा./३/६७)।

२. सादि, अनादि वैस्रसिक

ष ख. १४/५.६/सूत्र नं /पृष्ठ नं जो सो अणादियविस्ससाबंधो णाम सो तिविहो—धम्मत्थिया अधम्मत्थिया आगासत्थिया चेदि (३०/२९)।

जो सो थप्पो सादियविस्ससाबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—वेमादा णिद्धदा वेमादा ल्हुक्खदा बंधो (३२/३०)। से त बंधणपरिणाम पप्प से अब्भाणं वा मेहाणं वा संज्झाणं वा विज्जूणं वा उक्काणं वा कणयाणं वा दिसादाहाणं वा धूमकेदूण वा इंदाउहाणं वा से खेत्त पप्प कालं पप्प उडु पप्प अयण पप्प पोग्गल पप्प जे चामण्णे एवमादिया अंगमलप्पहुडीणि बंधणपरिणामेण परिणमंति सो सव्वो सादियविस्ससाबंधो णाम (३७/३४)। =अनादि वैस्रसिक बन्ध तीन प्रकारका है—धर्म, अधर्म तथा आकाश (३०/२६)। इनके अतिरिक्त इनके भी तीन-तीन प्रकार है—सामान्य, देश व प्रदेशमें परस्पर बन्ध। स्निग्ध रूक्ष गुणके कारण पुद्गल परमाणुमें बंध सादि वैस्रसिक है (३२/३०) वे पुद्गल बन्धनको प्राप्त होकर विविध प्रकारके अभ्ररूपसे, मेघ, सन्ध्या, बिजली, उल्का, कनक, दिशादाह, धूमकेतु, इन्द्रधनुष रूपसे, तथा क्षेत्र, काल, ऋतु, अयन और पुद्गलके अनुसार जो बन्धन परिणामरूपसे परिणत होते है, तथा इनको लेकर अन्य जो अंगमलप्रभृति बन्धन परिणाम रूपसे परिणत होते है, वह सब सादि विस्रसाबन्ध हैं। (३७/३४), (रा. वा /५/२४/७/४८७/१६)।

रा वा /५/२४/७/४८७/२५ कालाणूनामपि सतत परस्परविश्लेषाभावात् अनादि। =इसी प्रकार काल, द्रव्य आदिमें भी बन्ध अनादि है।

४. कर्म व नोकर्मबन्धके लक्षण

१. कर्म व नोकर्म सामान्य

रा. वा /५/२४/९/४८७/३४ कर्मबन्धो ज्ञानावरणादिरष्टतयो वक्ष्यमाणः। नोकर्मबन्धः औदारिकादिविषयः। =ज्ञानावरणादि कर्मबन्ध है—विशेष दे०—प्रकृतिबन्ध। और औदारिकादि नोकर्मबन्ध है—विशेष दे० शरीर।

रा वा /८/भूमिका/५६१/५ मातापितृपुत्रस्नेहसबन्धः नोकर्मबन्धः। =माता, पिता, पुत्र आदिका स्नेह सम्बन्ध नोकर्म बन्ध है।

दे० आगे बंध /५/३ (जीव व पुद्गल उभयबन्ध भी कर्मबन्ध कहलाता है।)

२. आलापन आदि नोकर्म बन्ध

ष. ख. १४/५.६/सू ४१-६३/३८-४६ जो सो आलावणबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—सेसगहाणं वा जाणाणं वा जुगाणं वा गड्डीण वा गिल्लीण वा रहाण वा संदणाणं वा सिवियाण वा गिहाण वा पासादाणं वा गोवुराणं वा तोरणाण वा से कट्ठेण वा लोहेण वा रज्जुणा वा वब्भेण वा दब्भेण वा जे चामण्णे एवमादिया अण्णदव्वाणमण्णदव्वेहि आलावियाण बंधो होदि सो सव्वो आलावणबंधो णाम ।४१। जो सो अल्लीवणबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—से कडयाण वा कुड्डाण वा गोवरपीडाणं वा पागाराणं वा साडियाण वा जे चामण्णे एवमादिया अण्णदव्वाणमण्णदव्वेहि अल्लीविदाण बंधो होदि सो सव्वो अल्लीवणबंधो णाम ।४२। जो सो संसिलेसबंधो णाम तस्स इमो णिद्देसो—जहा कट्ठ-जदूणं अण्णोण्णसंसिलेसिदाणं बंधो संभवदि सो सव्वो संसिलेसबंधो णाम ।४३। जो सो सरीरबंधो णाम सो पंचविहो—ओरालियसरीरबंधो वेउव्वियसरीरबंधो आहारसरीरबंधो तेयासरीरबंधो कम्मइयसरीरबंधो चेदि ।४४। ओरालिय-ओरालियसरीरबंधो ।४५। ओरालिय-तेयासरीरबंधो ।४६। ओरालिय-कम्मइयसरीरबंधो ।४७। ओरालिय-तेयाकम्मइयसरीरबंधो ।४८। वेउव्विय-वेउव्वियसरीरबंधो ।४९। वेउव्विय-तेयासरीरबंधो ।५०। वेउव्विय-कम्मइयसरीरबंधो ।५१। वेउव्विय-तेया-कम्मइयसरीरबंधो ।५२। आहार-आहारसरीरबंधो ।५३। आहार-तेयासरीरबंधो ।५४। आहार-कम्मइयसरीरबंधो ।५५। आहार-तेया-कम्मइयसरीरबंधो ।५६। तेया-तेयासरीरबंधो ।५७। तेया-कम्मइयसरीरबंधो ।५८। कम्मइय-कम्मइयसरीरबंधो ।५९। सो सव्वो सरीरबंधो णाम ।६०। जो सो सरीरिबंधो णाम सो दुविहो—सादियसरीरिबंधो चेव अणादियसरीरिबंधो चेव ।६१। जो सो सादियसरीरिबंधो णाम सो जहा सरीरबंधो तहा णेदव्वो ।६२। जो अणादियसरीरिबंधो णाम यथा अट्ठण्णं जीवमज्झपदेसाण अण्णोण्णपदेसबंधो भवदि सो सव्वो अणादियसरीरिबंधो णाम ।६३। (इतरेषां प्रदेशानां कर्मनिमित्तसंहरणविसर्पणस्वभावत्वादादिमान्। रा. वा)। =१. जो आलापनबन्ध है उसका यह निर्देश है—जो शकटोंका, यानोंका, युगोंका, गड्डियोंका, गिल्लियोंका, रथों, स्यन्दनों, शिविकाओं, गृहों, प्रासादों, गोपुरों, और तोरणोंका काष्ठसे, लोह, रस्सी, चमड़ेकी रस्सी और दर्भसे जो बन्ध होता है तथा इनसे लेकर अन्य द्रव्योंसे आलापित अन्य द्रव्योंका जो बन्ध होता है वह सब आलापनबन्ध है ।४१। २. जो अल्लीवणबन्ध है उसका यह निर्देश है—कटकोंका, कुण्डों, गोबरपीडों, प्राकारों और शाटिकाओंका तथा इनसे लेकर और जो दूसरे पदार्थ हैं उनका जो बन्ध होता है अर्थात् अन्य द्रव्यसे सम्बन्धको प्राप्त हुए अन्य द्रव्यका जो बन्ध होता है वह सब अल्लीवणबन्ध है ।४२। ३. जो संश्लेषबन्ध है उसका यह निर्देश है—जैसे परस्पर संश्लेषको प्राप्त हुए काष्ठ और लाखका बन्ध होता है वह सब संश्लेषबन्ध है ।४३।—विशेष दे० श्लेष। ४. जो शरीरबन्ध है वह पाँच प्रकारका है—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीरबन्ध ।४४। औदारिक-औदारिक शरीरबन्ध ।४५। औदारिक-तैजसशरीरबन्ध ।४६। औदारिक-कार्मण शरीरबन्ध ।४७। औदारिक-तैजस कार्मण शरीरबन्ध ।४८। वैक्रियिक-वैक्रियिक शरीरबन्ध ।४९। वैक्रियिक-तैजस शरीरबन्ध ।५०। वैक्रियिक-कार्मण शरीरबन्ध ।५१। वैक्रियिक-तैजस कार्मण शरीरबन्ध ।५२। आहारक-आहारक शरीरबन्ध ।५३। आहारकतैजस शरीरबन्ध ।५४। आहारक-कार्मण शरीरबन्ध ।५५। आहारक-तैजस-कार्मण शरीरबन्ध ।५६। तैजस-तैजस शरीरबन्ध ।५७। तैजस-कार्मण शरीरबन्ध ।५८। कार्मण-कार्मण शरीरबन्ध ।५९। वह सब शरीरबन्ध है ।६०। ५ जो शरीरिबन्ध है वह दो प्रकारका है—सादि शरीरिबन्ध और अनादि शरीरिबन्ध ।६१। जो सादि शरीरिबन्ध है—वह शरीरबन्धके समान जानना चाहिए ।६२। जो अनादि शरीरिबन्ध है। यथा—जीवके आठ मध्यप्रदेशोंका परस्पर प्रदेशबन्ध होता है यह सब अनादि शरीरिबन्ध है ।६३। (जीवके इतर प्रदेशोंका बन्ध सादि शरीरिबन्ध है रा वा.), (रा वा./५/२४ ९/४८८/३६)।

५. जीव व अजीवबन्धके लक्षण

१. जीवबन्ध सामान्य

ध. १३/५ ५.८२/३४७/८,११ एगसरीरट्ठिदाणमणंताणंताणं णिगोदजीवाण अण्णोण्णबंधो सो। (तथा) जेण कम्मेण जीवा अणंताणंता एक्कम्मि सरीरे अच्छंति तं कम्मं जीवबंधो णाम। =एक शरीरमें स्थित अनन्तानन्त निगोद जीव या तथा जिस कर्मके कारणसे वे इस प्रकार रहते हैं, वह कर्म भी जीवबन्ध है।

२. भावबन्ध रूप जीवबन्ध

प्र सा /मू /१७५ उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि। पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं संबंधो ।१७५। =जो उपयोगमय जीव विविध विषयोंको प्राप्त करके मोह-राग-द्वेष करता है, वह जीव उनके द्वारा बन्धरूप है।

रा वा /२/१०/२/१२४/२४ क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः। =क्रोधादि परिणाम भावबन्ध है।

भ आ./वि /३८/१३४/१९ बध्यन्ते अस्वतन्त्रीक्रियन्ते कार्मणद्रव्याणि येन परिणामेन आत्मनः स बन्धः। =कर्मको परतन्त्र करनेवाले आत्मपरिणामोंका नाम बन्ध-भावबन्ध है।

प्र सा /त. प्र /१७६-१७७ येनैव मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेण पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यते एव। योऽयमुपराग' स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्ध' ।१७६। यस्तु जीवस्यौपाधिकमोह-रागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणाम स केवलजीवबन्ध' ।१७७। =जिस मोह-राग वा द्वेषरूप भावसे देखता और जानता है, उसीसे उपरक्त होता है, यह तो उपराग है यह वास्तवमें स्निग्ध रूक्षत्व स्थानीय भावबन्ध है ।१७६। जीवका औपाधिक मोह-राग-द्वेषरूप पर्यायके साथ जो एकत्व परिणाम है, सो केवल जीवबन्ध है ।

द्र. सं /मू. ३२ बज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबधो सो ।३२। =जिस चेतन परिणामसे कर्म बँधता है, वह भावबन्ध है ।३२।

द्र स /टी /३२/९१/१० मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपेण वाशुद्धचेतन-भावेन परिणामेन बध्यते ज्ञानावरणादि कर्म येन भावेन स भावबन्धो भण्यते। =मिथ्यात्व रागादिमें परिणति रूप अशुद्ध चेतन भाव स्वरूप जिस परिणामसे ज्ञानावरणादि कर्म बँधते है, वह परिणाम भावबन्ध कहलाता है ।

३. द्रव्यबन्धरूप जीवपुद्गल उभयबन्ध

त. सू /८/२ सकषायत्वाज्जीव. कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्ध. ।२। =कषाय सहित होनेसे जीव कर्मके योग्य पुद्गलोको ग्रहण करता है, वह बन्ध है ।२।

स सि./१/४/१४/४ आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रवेशानुप्रवेशात्मकोऽजीव. ।= आत्मा और कर्मके प्रदेशोका परस्पर मिल जाना बन्ध है। (रा वा. /१/४/१७/२६/२६) ।

स सि./८/२/३७७/११ अतो मिथ्यादर्शनाद्यावेशादार्द्रीकृतस्यात्मन' सर्वतो योगविशेषात्तेषा सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहिनामनन्तानन्तप्रदेशाना पुद्गलाना कर्मभावयोग्यानामविभागेनोपश्लेषो बन्ध इत्याख्यायते। यथा भाजनविशेषे प्रक्षिप्ताना विविधरसबीजपुष्पफलाना मदिरा-भावेन परिणामस्तथा पुद्गलानामप्यात्मनि स्थिताना योगकषाय-वशात्कर्मभावेन परिणामो वेदितव्यः। =मिथ्यादर्शनादिके अभिनि-वेश गीले किये गये आत्माके सब अवस्थाओंमे योग विशेषसे, उन सूक्ष्म एक क्षेत्रावगाही अनन्तानन्त कर्मभावको प्राप्त होने योग्य पुद्गलोंका उपश्लेष होना बन्ध है। यह कहा गया है। जिस प्रकार पात्र विशेषमें प्रक्षिप्त हुए विविध रसवाले बीज, फल और फलोका मदिरा रूपसे परिणमन होता है, उसी प्रकार आत्मामें स्थित हुए पुद्गलोका भी योग और कषायके निमित्तसे कर्मरूपसे परिणमन जानना चाहिए। (रा वा /८/२/८-९/५६६/५); (क.पा./१/१३,१४/ /§२५०-२९१/४) (ध १३/५,५,८२/३४७/१३); (द्र स /मू व टी /३२); (गो.क /जी प्र./३३/२७/२) ।

न.च वृ./१५४ अप्पपएसामुत्ता पुग्गलसत्ती तहाविहा णेया। अण्णोण्णं मिल्लता बधो खलु होइ णिद्धाइ ।१५४। =आत्म प्रदेश और पुद्गल-का अन्योन्य मिलन बन्ध है (जीव बन्ध है का. अ), (का अ /मू / २०३); (द्र सं /टी /२८/८५/११) ।

ध १३/५,५,८२/३४७/१० ओरालिय-वेउव्विय-आहार-तेया-कम्मइयव-ग्गणाण जीवाण जो बधो सो जीवपोग्गलबधो णाम। =औदारिक-वैक्रियक-आहारक-तैजस और कार्मण वर्गणाएँ, इनका और जीवो-का जो बंध है वह जीव-पुद्गलबध है ।

भ आ /वि /३८/१३४/१० बध्यते परवशतामापद्यते आत्मा येन स्थिति-परिणतेन कर्मणा तत्कर्म बन्धः। =स्थिति परिणत जिस कर्मके द्वारा आत्मा परतन्त्र किया जाता है, वह कर्म 'बन्ध' है ।

प्र.सा /त प्र /१७७ य पुन जीवकर्मपुद्गलयो परस्परपरिणामनिमित्त-मात्रत्वेन विशिष्टतर परस्परमवगाह स तदुभयबन्ध । =जीव और कर्म पुद्गलके परस्पर परिणामके निमित्तमात्रसे जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है सो उभयबध है। (प ध /उ./४७) ।

गो क./जी प्र./४३८/५९१/१४ मिथ्यात्वादिपरिणामैर्यत्पुद्गलद्रव्यं ज्ञाना-वरणादिरूपेण परिणमति तच्च ज्ञानादीन्यावृणोतीत्यादि संबन्धो बन्ध । =मिथ्यात्वादि परिणामोके द्वारा जो पुद्गल द्रव्य ज्ञानावर-णादि रूप परिणमित होकर ज्ञानादिको आवरण करता है। इनका यह संबंध है सो बध है ।

पं.ध./उ /१०४ जीवकर्मोभयो बन्ध' स्यान्मिथ' साभिलाषुक.। जीव' कर्मनिबद्धो हि जीवबद्धं हि कर्म तत् ।१०४। =जो जीव और कर्मका परस्परमे एक दूसरेकी अपेक्षासे बन्ध होता है, वह उभयबन्ध कह-लाता है। क्योंकि जीव कर्मसे बँधा हुआ है तथा वह कर्म जीवसे बँधा हुआ है ।

६. अनन्तर व परम्पराबन्धका लक्षण

ध १२/४,२,१२,१/३७०/७ कम्मइयवग्गणाए ट्ठिदपोग्गलक्खंधा मिच्छ-त्तादिपच्चएहि कम्मभावेण परिणदपढमसमए अणंतरबंधा। कधमेदेसि-मणंतरबंधत्तं। कम्मइयवग्गणपज्जयपरिच्चत्ताणंतरसमए चेव कम्म-पज्जएण परिणयत्तादो। बंधविदियसमयप्पहुडि कम्मपोग्गलक्ख-धाणं जीवपदेसाणं च जो बंधो सो परंपरबधो णाम।·· पढमसमए बंधो जादो, विदियसमये वि तेसि पोग्गलाणं बंधो चेव, तिदिय-समये वि बधो चेव, एवं बंधस्स णिरंतरभावो बंधपरंपरा णाम। ताए बधापरंपराबंधा त्ति दट्ठव्वा ।

ध. १२/४,२,१२,४/३७२/२ णाणावरणीयकम्मक्खंधा अणंताणंता णिर-तरमण्णोण्णेहि सबद्धा होदूण जे दिट्ठा ते अणतरबधा णाम।· ·अणं-ताणंता कम्मपोग्गलक्खंधा अण्णोणसंबद्धा होदूण सेसकम्मक्खधेहिं असंबद्धा जीवदुवारेण इदरेहि सबधमुवगया परंपरबंधा णाम। =१. कार्मण वर्गणा स्वरूपसे स्थित पुद्गल स्कन्धोका मिथ्यात्वादिक प्रत्ययकोके द्वारा कर्म स्वरूपसे परिणत होनेके प्रथम समयमें जो बन्ध होता है उसे अनन्तरबन्ध कहते है।· चूँकि वे कार्मण वर्गणा रूप पर्यायको छोडनेके अनन्तर समयमें ही कर्म रूप पर्यायसे परिणत हुए है, अत' उनकी अनन्तरबन्ध संज्ञा है।· बन्ध होनेके द्वितीय समयसे लेकर कर्म रूप पुद्गल स्कन्धो और जीवप्रदेशोका जो बन्ध होता है उसे **परम्परा बन्ध** कहते है।···प्रथम समयमें बन्ध हुआ, द्वितीय समयमें भी उन पुद्गलोका बन्ध ही है, तृतीय समयमे भी बन्ध ही है, इस प्रकारसे बन्धकी निरन्तरताका नाम बन्ध परम्परा है। उस परम्परासे होनेवाले बन्धोको परम्परा बन्ध समझना चाहिए। २ जो अनन्तानन्त ज्ञानावरणीय कर्म रूप स्कन्ध निरन्तर परस्परमें सम्बद्ध होकर स्थित हैं वे **अनन्तर बन्ध** है।· जो अनन्ता-नन्त कर्म-पुद्गल स्कन्ध परस्परमें संबद्ध होकर शेषकर्म सबद्धोसे असबद्ध होते हुए जीवके द्वारा इतर स्कन्धोसे सम्बन्धको प्राप्त होते है, वे **परम्परा बन्ध** कहे जाते है ।

७. विपाक व अविपाक प्रत्ययिक जीव भाव बन्धके लक्षण

ध १४/५,६,१४/१०/२ कम्माणमुदओ उदीरणा वा विवागो णाम। विवागो पच्चओ कारणं जस्स भावस्स सो विवागपच्चइओ जीवभाव-बंधो णाम। कम्माणमुदयउदीरणाणमभावो अविवागो णाम। कम्माणमुवसमो खओ वा अविवागो त्ति भणिद होदि। अविवागो पच्चओ कारणं जस्स भावस्स सो अविवागपच्चइयो जीवभावबधो णाम। कम्माणमुदय-उदीरणाहिंतो तदुवसमेण च जो उप्पज्जइ भावो सो तदुभयपच्चइयो जीवभावबधो णाम। =कर्मोके उदय और उदीरणाको विपाक कहते है, और विपाक जिस भावका प्रत्यय अर्थात् कारण है उसे विपाक प्रत्ययिक जीवभावबन्ध कहते है (अर्थात् जीवके औदयिक भाव दे० उदय/९)। कर्मोके उदय और उदीरणाके अभावको अविपाक कहते

हैं। कर्मोके उपशम और क्षयको अविपाक कहते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। अविपाक जिस भावका प्रत्यय है उसे अविपाक प्रत्ययिक जीव भावबन्ध कहते हैं। (अर्थात् जीवके औपशमिक व क्षायिक भाव (दे० उपशम/६)। कर्मोके उदय और उदीरणासे तथा इनके उपशमसे जो भाव उत्पन्न होता है, उसे तदुभय प्रत्ययिक जीवभावबन्ध कहते है। (अर्थात् जीवके क्षायोपशमिक भाव —दे० क्षायोपशम)।

८. विपाक अविपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध

ष. ख १४/५,६/सू. २१-२३/२३-२६—पओगपरिणदा वण्णा पओगपरिणदा सद्दा पओगपरिणदा गधा पओगपरिणदा रसा पओगपरिणदा फासा पओगपरिणदा गदी पओगपरिणदा ओगाहणा पओगपरिणदा सठाणा पओगपरिणदा खधा पओगपरिणदा खधदेसा पओगपरिणदा खधपदेशा जे चामण्णे एवमादिया पओगपरिणदसजुत्ता भावा सो सव्वो विवागपच्चइओ अजीव भावबधो णाम।२१। जे चामण्णे एवमादिया विस्ससापरिणदा सजुत्ता भावा सो सव्वो अविवागपच्चइओ अजीवभावबधो णाम।२२। जे चामण्णे एवमादिया पओअविस्ससापरिणदा सजुत्ता भावा सो सव्वो तदुभयपच्चइओ अजीवभावबधो णाम।२३।

ध. १४/५,६,२०/२२/१३ मिच्छत्तासजम-कसाय-जोगेहितो पुरिसपओगेहि वा जे णिप्पण्णा अजीवभावा तेसि विवागपच्चइओ अजीवभावबधो त्ति सण्णा। जे अजीवभावा मिच्छत्तादिकारणेहि विणा समुप्पण्णा तेसिमविवागपच्चइओ अजीवभावबधो त्ति सण्णा जे दोहि वि कारणेहि समुप्पण्णा तेसि तदुभयपच्चइयो अजीवभावबधो त्ति सण्णा। =१. मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योगसे या पुरुषके प्रयत्नसे जो अजीव भाव उत्पन्न होते हैं उनकी विपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध संज्ञा है। जैसे प्रयोग परिणत वर्ण, प्रयोग परिणत शब्द, प्रयोग परिणत गन्ध, प्रयोग परिणत रस, प्रयोग परिणत स्पर्श, प्रयोग परिणत गति, प्रयोग परिणत अवगाहना, प्रयोगपरिणत सस्थान, प्रयोग परिणत स्कन्ध, प्रयोगपरिणत-स्कन्धदेश और प्रयोग परिणत स्कन्धप्रदेश, ये और इनसे लेकर जो दूसरे भी प्रयोग परिणत सयुक्त भाव होते हैं वह सब विपाक प्रत्ययिक अजीवभावबन्ध है।२१। २ जो अजीव भाव मिथ्यात्व आदि कारणोके बिना उत्पन्न होते हैं उनकी अविपाक प्रत्ययिक अजीव भाव बन्ध यह सज्ञा है। जैसे पूर्व कथित वर्ण, गन्ध आदिसे लेकर इसी प्रकारके विस्रसा परिणत जो दूसरे सयुक्त भाव है वह अविपाक प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध है।२२। ३. जो दोनो ही कारणोसे उत्पन्न होते है उनकी तदुभय प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध यह सज्ञा है। यथा पूर्व कथित ही वर्ण-गन्ध आदिसे लेकर प्रयोग और विस्रसा दोनोसे परिणत जितने भी सयुक्त भाव है वह सब तदुभय प्रत्ययिक अजीव भावबन्ध है।

९. बन्ध अबन्ध व उपरतबन्धके लक्षण

गो. क./भाषा/६४४/८३८ वर्तमान काल विषै जहाँ पर नव सम्बन्धी आगामी आयुका बन्ध होई · तहाँ बन्ध कहिये जो आगामी आयुका अतीतकाल विषै बन्धन भया, वर्तमान काल विषै भी न हो है· तहाँ अबन्ध कहिये। जहाँ आगामी आयुका पूर्वै बन्ध भया हो और वर्तमान काल विषै बन्ध न होता हो· तहाँ उपरतबन्ध कहिये।

२. द्रव्य बन्धकी सिद्धि

१. शरीरसे शरीरधारी अभिन्न कैसे है

ध. ६/४,१,६३/२७०/५ कध सरीरादो सरीरी अभिण्णो। सरीरदाहे जीवे दाहोपलंभादो, सरीरे भिज्जमाणे छिज्जमाणे च जीवे वेयणोवलंभादो सरीरागरिसणे जीवागरिसणदंसणादो, सरीरगमणागमणेहि जीवस्स गमणागमणदसणादो, पडियारखंडगाण व दोण्ण भेदाणुवलभादो, एगीभूददुद्धोदय व एगत्तेणुवलभादो। =प्रश्न—शरीरसे शरीरधारी जीव अभिन्न कैसे है। उत्तर—चूँकि शरीरका दाह होनेपर जीवमे दाह पाया जाता है, शरीरके भेदे जाने और छेदे जानेपर जीवमे वेदना पायी जाती है, शरीरके खीचनेमे जीवका आकर्षण देखा जाता है, शरीरके गमनागमनमें जीवका गमनागमन देखा जाता है, प्रत्याकार (म्यान) और खण्डक (तलवार) के समान दोनोमें भेद नही पाया जाता है। तथा एकरूप हुए दूध और पानीके समान दोनो एकरूपसे पाये जाते है। इस कारण शरीरसे शरीरधारी अभिन्न है।

२. जीव व कर्मका बन्ध कैसे जाना जाये

क. पा. १/१,१/§४०/५७/७ त च कम्म जीवसबद्धं चेव। तं कुदो णव्वदे। मुत्तेण सरीरेण कम्मकज्जेण जीवस्स संबंधण्णहाणुववत्तीदो।· ण च सबंधो; सरीरे छिज्जमाणे जीवस्स दुक्खुवलंभादो। · जीवे गच्छंते ण सरीरेण गतव्व, जीवे रुट्ठे कप पुलउग्गमघम्मादओ सरीरम्मि ण होज्ज ··सव्वेसि जीवाणं केवलणाण · सम्मत्तादओ होज्ज, सिद्धाण वा तदो चेव अणतणाणादिगुणा ण होज्ज। ण च एवं, तहाणब्भुवगमादो। =प्रश्न—कर्म जीवसे सम्बद्ध ही है यह कैसे जाना जाता है? उत्तर—१. यदि कर्मको जीवसे सम्बद्ध न माना जाये तो कर्मके कार्यरूप मूर्त शरीरसे जीवका सम्बन्ध नही बन सकता है. इस अन्यथानुपपत्तिसे प्रतीत होता है कि कर्म जीवसे सबद्ध ही है। २. शरीरादिके साथ जीवका संबन्ध नही है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि शरीरके छेदे जानेपर जीवको दु:खकी उपलब्धि होती है। ३. जीवके गमन करनेपर शरीरको गमन नही करना चाहिए।४ जीवके रुष्ट होनेपर शरीरमें कप, दाह· पसीना आदि कार्य नही होने चाहिए। ५.· जीवकी इच्छासे शरीरका गमन सिर और अगुलियोका सचालन नहीं होना चाहिए। ६. सम्पूर्ण जीवोके केवलज्ञान· सम्यक्त्वादि गुण हो जाने चाहिए। ७. · या सिद्धोके भी (यह केवलज्ञानादि गुण) नही होने चाहिए। ८. यदि कहा जाये कि अनन्तज्ञानादि गुण सिद्धोके नही होते है तो मत होओ, सो भी कहना ठीक नही है, क्योकि ऐसा माना नही गया है।

३. जीवप्रदेशोंमें कर्म स्थित है या अस्थित

ध. १२/४, २,११, १/३६४/६ जदि कम्मपदेसा ट्ठिदा चेव होंति तो जीवेण देसतरगदेण सिद्धसमासेण होदव्व। कुदो। सयलकम्माभावादो।

ध. १२/४,२,११, २/३६५/७ जीवपदेसेसु ट्ठिदअद्दजलं व संचरंतेसु तत्थ समवेदकम्मपदेसाण पि सचरणुवलभादो। जीवपदेसेसु पुणो कम्मपदेसा ट्ठिदा चेव, पुव्विल्लदेस मोत्तूण देसंतरे ट्ठिदजीवपदेसेसु समवेदकम्मक्खधुवलभादो।

ध १२/४, २, ११,३/३६६/५ छदुमत्थस्स जीवपदेसाण केसि पि चलणाभावादो तत्थ ट्ठिदकम्मक्खधा वि ट्ठिदा चेव होति, तत्थेव केसि जीवपदेसाणं संचालुवलभादो तत्थ ट्ठिदकम्मक्खधा वि सचलति, तेण ते अट्ठिदा त्ति भण्णति। =प्रश्न—(जीव प्रदेशमे समवायको प्राप्त कर्म प्रदेश स्थित है कि अस्थित) उत्तर—१. यदि कर्म प्रदेश स्थित ही हो तो देशान्तरको प्राप्त हुए जीवको सिद्ध जीवके समान हो जाना चाहिए, क्योकि उस समय उसके समस्त कर्मोका अभाव है। २ मेघोंमें स्थित जलके समान जीव प्रदेशोका संचार होनेपर उनमें समवायको प्राप्त कर्मप्रदेशोका भी सचार पाया जाता है। परन्तु जीव प्रदेशोंमें कर्म प्रदेश स्थित ही रहते हैं, क्योकि, जीव प्रदेशोंके पूर्वके देशको छोडकर देशान्तरमें जाकर स्थित

होनेपर उनमें समवायको प्राप्त कर्म स्कन्ध पाये जाते हैं। "इससे जाना जाता है कि जीवप्रदेशोंके देशान्तरको प्राप्त होनेपर उनमें कर्मप्रदेश स्थित ही रहते हैं। ३ छद्मस्थके किन्ही जीव प्रदेशोंका चूँकि सचार नहीं होता अतएव उनमें स्थित कर्म प्रदेश भी स्थित ही होते हैं। तथा उसी छद्मस्थके किन्हीं जीव प्रदेशोंका चूँकि सचार पाया जाता है अतएव उनमें स्थित कर्मप्रदेश भी संचारको प्राप्त होते है, इसलिए वे अस्थित कहे जाते हैं।

४. जीवके साथ कर्मोंका गमन कैसे सम्भव है

ध. १२/४,२,११,१/३६४/४ कध कम्माण जीवपदेसेसु समवेदाण गमणं जुज्जदे। ण एस दोसो, जीवपदेसेसु जोगवसेण सचरमाणेसु तदपुध-भूदाण कम्मक्खधाण पि सचरण पडि विरोहाभावादो।

ध. १२/४, २,११, २/३६५/११ अट्ठण्ह म ज्झमजीवपदेसाणं सकोचो विकोचो वा णत्थि त्ति तत्थ ट्ठिदकम्मपदेसाण पि अट्ठिदत्त णत्थि त्ति। तदो सव्वे जीवपदेसा कम्हि वि काले अट्ठिदा होंति त्ति सुत्त-वयण ण घडदे। ण एस दोसो, ते अट्ठमज्झिमजीवपदेसे मोत्तूण सेसजीवपदेसे अस्सिदूण एदस्स सुत्तस्स पवुत्तीदो। =प्रश्न—जीव प्रदेशोंमें समवायको प्राप्त कर्मोंका गमन कैसे सम्भव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि योगके कारण जीवप्रदेशोंका सचरण होनेपर उनसे अपृथग्भूत कर्मस्कन्धोंके भी सचारमें कोई विरोध नहीं आता। प्रश्न—यत जीवके आठ मध्यप्रदेशोंका सकोच अथवा विस्तार नहीं होता अत उनमें स्थित कर्मप्रदेशोंका भी अस्थितपना नहीं बनता और इसलिए सब जीवप्रदेश किसी भी समय अस्थित होते हैं, यह सूत्र वचन घटित नहीं होता। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जीवके उन आठ मध्य प्रदेशोंको छोडकर शेष जीव-प्रदेशोंका आश्रय करके इस सूत्रकी प्रवृत्ति हुई है।

५. अमूर्त जीवसे मूर्त कर्म कैसे बँधे

१ क्योंकि जीव भी कथंचित् मूर्त है

स. सि /२/७/१६१/६ न चामूर्तेः कर्मणा बन्धो युज्यत इति। तन्न, अनेकान्तात्। नायमेकान्त अमूर्तिरेवात्मेति। कर्मबन्धपर्यायापेक्षया तदावेशात्स्यान्मूर्त.। शुद्धस्वरूपापेक्ष्या स्यादमूर्त। =प्रश्न—अमूर्त आत्माके कर्मोंका बन्ध नहीं बनता है? उत्तर—आत्माके अमूर्तत्व-के विषयमें अनेकान्त है। यह कोई एकान्त नहीं कि आत्मा अमूर्ति ही है। कर्म बन्धरूप पर्यायकी अपेक्षा उससे युक्त होनेके कारण कथचित् मूर्त है और शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा कथचित् अमूर्त है। (त. सा /५/१६), (प का /त प्र /२७), (द्र स /टी /७/२०/१)।

ध १३/५,३,१२/११/६ जीव-पोग्गलदव्वाणममुत्त-मुत्ताण कधमेयत्तेण सबधो। ण एस दोसो, ससारावत्थाए जीवाणममुत्तत्ताभावादो। जदि ससारावत्थाए मुत्तो जीवो, कध णिव्वुओ सतो अमुत्तत्त-मल्लियइ। ण एस दोसो, जीवस्स मुत्तत्तणिबधणकम्माभावे तज्ज-णिदमुत्तत्तस्स वि तत्थ अभावेण सिद्धाणममुत्तभावसिद्धीदो। =प्रश्न—जीवद्रव्य अमूर्त है और पुद्गलद्रव्य मूर्त है। इनका एकमेक सम्बन्ध कैसे हो सकता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि ससारअवस्थामें जीवोंके अमूर्तपना नहीं पाया जाता। =प्रश्न—यदि संसारअवस्थामें जीव मूर्त है, तो मुक्त होनेपर वह अमूर्तपनेको कैसे प्राप्त हो सकता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जीवमें मूर्तत्वका कारण कर्म हैं अत कर्मका अभाव होनेपर तज्जनित मूर्तत्वका भी अभाव हो जाता है और इसलिए सिद्ध जीवोंके अमूर्तपनेकी सिद्धि हो जाती है। (यो सा अ /४/३५)।

ध १३/५,५,६३/३३३/६ मुत्तट्ठकम्मेहि अणादिबधणबद्धस्स जीवस्स अमुत्तत्ताणुववत्तीदो। =क्योंकि संसारी जीव मूर्त आठ कर्मोंके द्वारा अनादि कालीन बन्धनसे बद्ध है, इसलिए वह अमूर्त नहीं हो सकता। (ध. १५/३२/८)।

ध. १५/३३-३४/१ ण च वट्टमाणबधपउावणट्ठ जीवस्स वि रूवित्त वोत्तुं जुत्त,—मिच्छत्तासजम-कसायजोगा जीवादो अपुधभूदा कम्मइयवग्गणक्खधाणं तत्तो पुधभूदाण कध परिणामंतरं सपादेंति। ण एस दोसो, वुत्त च—राग-द्वेषाद्यूष्मासयोग-वर्त्यात्मदीप आवर्ते। स्कन्धानादाय पुन' परिणमयति तांश्च कर्मतया।१८। =प्रश्न—वर्तमान बन्धको घटित करानेके लिए पुद्गलके समान जीवको भी रूपी कहना योग्य नहीं है' तथा मिथ्यात्व, असयम, कषाय और योग ये जीवसे अभिन्न होकर उससे पृथग्भूत कार्मण वर्गणाके स्कन्धोंके परिणामान्तर (रूपित्व) का कैसे उत्पन्न करा सकते हैं? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। कहा भी है—संसारमें रागद्वेष रूपी उष्णतासे सयुक्त वह आत्मारूपी दीपक योग रूप बत्तीके द्वारा (कार्मण वर्गणाके) स्कन्धों (रूप तेल) का ग्रहण करके फिर उन्हें कर्मरूपी (कज्जल) स्वरूपसे परिणमाता है।

दे० मूर्त/२ (कर्मबद्ध जीव व भावकर्म कथंचित मूर्त है।)

२. जीव कर्मबन्ध अनादि है

स सि./८/२/३७७/४ कर्मणो जीव. सकषायो भवतीत्येक वाक्यम्। एतदुक्तं भवति—'कर्मण ' इति हेतुनिर्देश कर्मणो हेतोर्जीव' सकषायो भवति नामकर्मस्य कषायलेपोऽस्ति। ततो जीवकर्मणोरनादि-सबन्ध इत्युक्त भवति। तेनामूर्तो जीवो मूर्तेन कर्मणा कथ बध्यते इति चोद्यमपाकृत भवति। इतरथा हि बन्धस्यादिमत्त्वे आत्य-न्तिकी शुद्धि दधत सिद्धस्येव बन्धाभाव' प्रसज्येत। ='कर्मणो जीव' सकषायो भवति' यह एक वाक्य है। इसका अभिप्राय है कि 'कर्मण ' यह हेतुपरक निर्देश है। जिसका अर्थ है कि कर्मके कारण जीव कषाय सहित होता है, कषाय रहित जीवके कषायका लेप नहीं होता। इससे जीव और कर्मका अनादि सम्बन्ध है यह कथन निष्पन्न होता है। और इससे अमूर्त जीव मूर्त कर्मके साथ कैसे बँधता है इस प्रश्नका निराकरण हो जाता है। अन्यथा बन्धको सादि माननेपर आत्यन्तिक शुद्धिको धारण करनेवाले सिद्ध जीवके समान ससारी जीवके बन्धका अभाव प्राप्त होता है। (रा. वा./८/-२/४/५६५/१२), (क पा १/१,१/६४१/५६/३), (त. सा./५/१७-१८) (द्र स./टी /७/२०/४)।

प. प्र./मू./१/५६ जीवहं कम्मु अणाइ जिय जणियउ कम्मु ण तेण। कम्में जीउ वि जणिउ णवि दोहिँ वि आइ ण तेण।५६।—हे आत्मा! जीवोंके कर्म अनादि कालसे है, उस जीवने कर्म नहीं उत्पन्न किये, कर्मोंने भी जीव नहीं उपजाया, क्योंकि जीव कर्म इन दोनोंका ही आदि नहीं है, किन्तु अनादिके है।५६।

प का./त प्र /१३४ अथ निश्चयनयेनामूर्तो जीवोऽनादिमूर्तकर्मनिमित्त-रागादिपरिणामस्निग्ध सन् विशिष्टतया मूर्तानि कर्माण्यवगाहते, तत्परिणामनिमित्तलब्धात्मपरिणामैमूर्तकर्मभिरपि विशिष्टतयाऽव-गाह्यते च। अय त्वन्योन्यावगाहात्मको जीवमूर्तकर्मणोर्बन्धप्रकार। एवममूर्तस्यापि जीवस्य मूर्तेन पुण्यपापकर्मणा कथंचिद्बन्धो न विरुध्यते।१३४। =निश्चयनयसे अमूर्त है ऐसा जीव, अनादि मूर्त कर्म जिसका निमित्त है, ऐसे रागादि परिणामके द्वारा स्निग्ध वर्तता हे, मूर्तकर्मोंका विशिष्ट रूपसे अवगाहता है, और उस परिणामके निमित्तसे अपने परिणामको प्राप्त होते है, ऐसे मूर्तकर्म भी जीवको विशिष्ट रूपसे अवगाहते हैं। यह जीव और मूर्तकर्मका अन्योन्य अवगाह स्वरूप बन्ध प्रकार है। इस प्रकार अमूर्त ऐसे जीवका भी मूर्त पुण्य-पापके साथ कथचित बन्ध विरोधको प्राप्त नहीं होता।१३४।

गो. क./मू./२/३ · जीवंगाणं अणाइ संबधो। कणयोवलेमल वा ताणत्थित्त सयं सिद्धं ।२। =जिस प्रकार सुवर्ण और पाषाण यद्यपि भिन्न-भिन्न वस्तु है, तथापि इनका सम्बन्ध अनादि है, नये नही मिले है। उसी प्रकार जीव और कर्मका सम्बन्ध भी अनादि है।२। इनका अस्तित्व स्वय सिद्ध है।

प ध /उ /५५ तथानादि स्वतो बन्धो जीवपुद्गलकर्मणो । कुत. केन कृत. कुत्र प्रश्नोऽयं व्योमपुष्पवत् ।५५। =जीव और पुद्गल स्वरूप कर्मका बन्ध स्वयं अनादि है. इसलिए किस कारणसे हुआ, किसने कहा तथा कहाँ हुआ, यह प्रश्न आकाशके फूलकी तरह व्यर्थ है। (पं. ध /उ./६,६-७०)।

६. मूर्त कर्म व अमूर्त जीवके बन्धमें दृष्टान्त

प्र. सा./मू. व त. प्र./१७४ उत्थानिका—अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति—रूवादिएहिंरहिदो,पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि। दव्वाणि गुणे य जधा तह बधो तेण जाणीहि ।१७४। · दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम्। तथाहि-यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थितं मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति सबन्ध, विषयभावावस्थितबलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसबन्धो बलीवर्दसबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलै· सहास्ति संबध, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसबन्ध. क पुद्गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव। =अब यह सिद्धान्त निश्चित करते है कि आत्माके अमूर्त होनेपर भी इस प्रकार बन्ध होता है—जैसे रूपादि रहित (जीव) रूपादिक द्रव्योंको तथा गुणोको देखता है और जानता है, उसी प्रकार उसके साथ बन्ध जानो ।१७४। आबालगोपाल सभीको प्रगट हो जाय इसलिए दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। यथा—बाल-गोपालका पृथक् रहनेवाले मिट्टीके बैलको अथवा (सच्चे) बैलको देखने और जाननेपर बैलके साथ सम्बन्ध नही है तथापि विषय रूपसे रहनेवाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उपयोगारूढ वृषभाकार दर्शन-ज्ञानके साथका सम्बन्ध बैलके साथके सम्बन्ध रूप व्यवहारका साधक अवश्य है। इसी प्रकार आत्मा अरूपित्वके कारण स्पर्श शून्य है। इसलिए उसका कर्मपुद्गलोके साथ सम्बन्ध नही है, तथापि एकावगाह रूपसे रहनेवाले कर्म पुद्गल जिनके निमित्त है, ऐसे उपयोगारूढ राग द्वेषादि भावोके साथका सम्बन्ध कर्मपुद्गलोके साथके बन्धरूप व्यवहारका साधक अवश्य है।

७. कर्म जीवके साथ समवेत होकर बँधते है या असमवेत होकर

ध १२/४,२.८,२/२७७/११ कम्मइयक्खधा किं जीवेण समवेदा संता णाणावरणीयपज्जाएण परिणमंति आहो असमवेदा। णादिपक्खो णोकम्मवदिरित्तस्स कम्मइयक्खंधस्स कम्मसरूवेण अपरिणदस्स जीवे समवेदस्स अणुवलंभादो। ·ण बिदिओ वि पक्खो जुज्जदे, जीवे असमवेदाण कम्मइयक्खंधाण णाणावरणीयसरूवेण परिणमणविरोहादो। अविरोहे वा जीवो संसारावत्थाए अमुत्तो होज्ज, मुत्तदव्वेहि संबधाभावादो। ण च एव, जीवगमणे शरीरस्स संबधाभावेण आगमणप्पसंगादो, जीवादोपुधभूदं सरीरमिदि अणुहवाभावादो च। ण पच्छा दोण्ण पि सबधो, एत्थ परिहारो वुच्चदे—जीव समवेदकाले चेव कम्मइयक्खंधा ण णाणावरणीयसरूवेण परिणमंति (त्ति) ण पुव्वुत्तदोसा ढुक्कंति। =प्रश्न—कार्मण स्कन्ध क्या जीवमें समवेत होकर ज्ञानावरणीय पर्याय रूपसे परिणमते है, अथवा असमवेत होकर? १. प्रथम पक्ष तो सम्भव नही है, क्योंकि नोकर्मसे भिन्न और कर्म स्वरूपसे अपरिणत हुआ कार्मण स्कन्ध जीवमें समवेत नहीं पाया जाता। २. दूसरा पक्ष भी युक्तिसगत नही है, क्योकि जीवमें असमवेत कार्मण स्कन्धोके ज्ञानावरणीय स्वरूपसे परिणत होनेका विरोध है। यदि विरोध न माना जाय तो ससार अवस्थामें जीवको अमूर्त होना चाहिए, क्योकि, मूर्त द्रव्योसे उसका कोई सम्बन्ध नही है। परन्तु ऐसा है नही क्योकि, जीवके गमन करनेपर शरीरका सम्बन्ध न रहनेसे उसके गमन न करनेका प्रसग आता है। दूसरे, जीवसे शरीर पृथक् है, ऐसा अनुभव भी नहीं होता। पीछे दोनोका सम्बन्ध होता है, ऐसा भी सम्भव नहीं है। उत्तर—जीवसे समवेत होनेके समयमे ही कार्मण स्कन्ध ज्ञानावरणी स्वरूपसे नही परिणमते है। अतएव पूर्वोक्त दोष यहाँ नहीं ढूकते।

८. कर्मबद्ध जीवमें चेतनता न रहेगी

ध. १२/४,२,६,६/२६७/२ णिच्चेयण-मुत्तपोग्गलक्खधसमवाएण भट्ठसगसरूवस्स कधं जीवत्तं जुज्जदे। ण, अविणट्ठणाण-दसणणाणमुवलभेण जीवत्थित्तसिद्धीदो। ण तत्थ पोग्गलक्खंधो वि अत्थि, पहाणीकयजीवभावादो। ण च जीवे पोग्गलप्पवेसो बुद्धिकओ चेव, परमत्थेण वितत्तो तेसिमभेदुवलंभादो। =प्रश्न—चेतना रहित मूर्त पुद्गल स्कन्धोके साथ समवाय होनेके कारण अपने स्वरूप (चैतन्य व अमूर्तत्व) से रहित हुए जीवके जीवत्व स्वीकार करना कैसे युक्तियुक्त है? उत्तर—नहीं, क्योकि, विनाशको नही प्राप्त हुए ज्ञान दर्शनके पाये जानेसे उसमे जीवत्वका अस्तित्व सिद्ध है। वस्तुत· उसमें पुद्गल स्कन्ध भी नही है, क्योकि, यहाँ जीव भावकी प्रधानता की गयी है। दूसरे, जीवमे पुद्गल स्कन्धोंका प्रवेश बुद्धि पूर्वक नहीं किया गया है, क्योकि, यथार्थत भी उससे उनका अभेद पाया जाता है।

९. बन्ध पदार्थकी क्या प्रमाणिकता

स सि /८/२६/४०५/३ एव व्याख्यात सप्रपञ्च बन्धपदार्थ । अवधिमन पर्ययकेवलज्ञानप्रत्यक्षप्रमाणगम्यस्तदुपदिष्टागमानुमेय । =इस प्रकार विस्तारसे बन्ध पदार्थका व्याख्यान किया। यह अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान, और केवलज्ञान रूप प्रत्यक्ष प्रमाणगम्य है और इन ज्ञानवाले जीवो द्वारा उपदिष्ट आगमसे अनुमेय है।

१०. विस्रसोपचय रूपसे स्थित वर्गणाएँ ही बँधती हैं

त सू /८/२८ नामप्रत्ययाः सर्वतोयोगविशेषात्सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा ।२४। =कर्म प्रकृतियोंके कारणभूत प्रतिसमय योग विशेषसे सूक्ष्म, एक क्षेत्रावगाही और स्थित अनन्तानन्तपुद्गल परमाणु सब आत्मप्रदेशोमें (सम्बन्धको प्राप्त) होते है।

प्र. सा /मू./१६८, १७० ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो। सुहुमेहिं बादरेहि य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहि ।१६८। ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया पुणो वि जीवस्स। सजायते देहा देहतरसकम पप्पा ।१७०। =लोक सर्वत सूक्ष्म तथा बादर और कर्मत्वके अयोग्य तथा योग्य पुद्गल स्कन्धोके द्वारा (विशिष्ट प्रकारसे) अवगाहित होकर गाढ भरा हुआ है ।१६८। (इससे निश्चित होता है कि पुद्गल पिण्डोका लानेवाला आत्मा नहीं है। (प्र सा /टी /१६८) कर्मरूप परिणत वे वे पुद्गलपिंड देहान्तररूप परिवर्तनको प्राप्त करके पुन -पुन जीवके शरीर होते है।

३. कर्म बन्धमे रागादि भाव वन्धकी प्रधानता

१ द्रव्य, क्षेत्रादि की अपेक्षा कर्म बन्ध होता है

रा. वा./३/३९/२/२०५/४ द्रव्य-भव-क्षेत्र-कालभावापेक्षत्वाद् कर्मबन्धस्य। =द्रव्य, भव, क्षेत्र, काल और भावकी अपेक्षासे कर्मका बन्ध होता है।

अनुभागोदयसे संज्वलन क्रोधका बन्ध नहीं पाया जाता। (इसी प्रकार मान, माया लोभमें भी जानना)।

प्र सा /ता. वृ./१६५/२२७/११ परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्व-भावनारूपधर्म्यध्यानशुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जलवालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति। =परम चैतन्य परिणति है लक्षण जिसका ऐसे परमात्म तत्त्वको भावनारूप धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बलसे जैसे जघन्य स्निग्ध, शक्ति स्थानीय क्षीण राग होनेपर, और जघन्य-रूक्ष-शक्ति स्थानीय क्षीण द्वेष होनेपर जल और रेतकी भाँति जीवके बन्ध नही होता है..।

६. परन्तु उससे बन्धसामान्य तो होता ही है

ध ८/३,३६/७७/३ सोलसकसायाणि सामण्णपच्चइयाणि, अणुमेत्तकसाए वि सते तेसिं बधुवलभादो। =सोलह (५ ज्ञानावरण, ५ अन्तराय, ४ दर्शनावरण, यश.कीर्ति, उच्च गोत्र) कर्म कषाय सामान्यके निमित्तसे बँधनेवाले है, क्योकि, अणुमात्र कषायके भी होनेपर उनका बन्ध पाया जाता है।

७. भावबन्धके अभावमें द्रव्यबन्ध नही होता

स सा /मू /२७० एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि। ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पति।२७०। =यह (अज्ञान-मिथ्यादर्शन-अचारित्र) तथा ऐसे और भी अध्यवसान जिनके नहीं है वे मुनि अशुभ या शुभकर्मसे लिप्त नहीं होते।२७०।

८. कर्मोदय बन्धका कारण नहीं रागादि ही है

प्र. सा /ता. वृ /४३/५६/१२ उदयगता ज्ञानावरणादि मूलोत्तर कर्म प्रकृतिभेदा स्वकीयशुभाशुभफल दत्वा गच्छन्ति न च रागादिपरिणामरहिता सन्तो बन्ध कुर्वन्ति। तेषु उदयागतेषु सत्सु कर्मांशेषु मूढोरक्तो दुष्टो व भवति स बन्धनमनुभवति। तत स्थितमेतत् ज्ञानं बन्धकारणं न भवति कर्मोदयेऽपि, किन्तु रागादयो बन्धकारणमिति।४३।

प्र. सा /ता वृ /४५/५८/१६ औदयिका भावा बन्धकारणम् इत्यागमवचन तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह—औदयिका भावा बन्धकारण भवन्ति, पर किन्तु मोहोदयसहिता। द्रव्यमोहोदयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि ससारिणा सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्राय। =१. उदयको प्राप्त ज्ञानावरणादि मूलोत्तर प्रकृतिके भेद अपने-अपने शुभ वा अशुभ फलको देकर झड जाते है। रागादि परिणाम होनेके कारण बन्ध नही करते है। परन्तु जो उदयको प्राप्त कर्मांशोंमें मोही, रागी व द्वेषी होता है वह बन्धको प्राप्त होता है। इसलिए यह निश्चय हुआ कि ज्ञान बन्धका कारण नहीं होता, न ही कर्मका उदय बन्धका कारण होता है, किन्तु रागादि ही बन्धके कारण होते है। प्रश्न—औदयिक भावबन्धके कारण है, यह आगमका वचन वृथा हो जायेगा। उत्तर—औदयिक भावबन्धके कारण होते है, किन्तु मोहके उदय सहित होनेपर ही। द्रव्य मोहके उदय होनेपर भी शुद्धात्म भावनाके बलसे भाव मोहरूपसे परिणमन नहीं करता है, तो बन्ध नही होता है। यदि कर्मोदय मात्रसे बन्ध हुआ होता तो संसारी जीवोंके सर्वदा ही कर्मका उदय विद्यमान होनेके कारण सदा ही बन्ध होता रहता, मोक्ष कभी न होती।

दे० उदय/६/३,४ (मोह जनित औदयिक भाव ही बन्धके कारण है अन्य नहीं। वास्तवमें मोहजनित भाव ही औदयिक है, उसके बिना सब क्षायिक है।)

प ध./उ./१०६४ जले जम्बालवन्नून स भावो मलिनो भवेत्। बन्धहेतु स एव स्यादद्वैतश्चाष्टकर्मणाम्।१०६४। =जलमें काईकी तरह निश्चयसे वह औदयिक भाव मोह ही मलिन होता है, और एक वह भावमोह ही आठो कर्मोंके बन्धका कारण है।

९. रागादि बन्धके कारण हैं तो बाह्यद्रव्यका निषेध क्यों

ध १२/४,२,८,४/२८१/२ एवं विहववहारो किमट्ठं कीरदे सुहेण णाणावरणीयपच्चयपडिबोहणट्ठं कज्जपडिसेहदुवारेण कारणपडिसेहट्ठं च। =प्रश्न—इस प्रकारका व्यवहार (व्रतादि) किस लिए किया जाता है। उत्तर—सुखपूर्वक ज्ञानावरणीयके प्रत्ययोका प्रतिबोध करानेके लिए तथा कार्यके प्रतिषेध द्वारा कारणका प्रतिषेध करनेके लिए भी उपर्युक्त व्यवहार किया जाता है।

स. सा./आ./२६५ अध्यवसानमेव बन्धहेतुर्न तु बाह्यवस्तु। तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेध। अध्यवसानप्रतिषेधार्थ। अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतं, न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते। =अध्यवसान ही बन्धका कारण है, बाह्य वस्तु नहीं। प्रश्न—यदि बाह्यवस्तु बन्धका कारण नही है, तो बाह्यवस्तुका निषेध किस लिए किया जाता है। उत्तर—अध्यवसानके निषेधके लिए बाह्यवस्तुका निषेध किया जाता है। अध्यवसानको बाह्यवस्तु आश्रयभूत है, बाह्यवस्तुका आश्रय किये बिना अध्यवसान अपने स्वरूपको प्राप्त नहीं होता, अर्थात् उत्पन्न नहीं होता।

४. द्रव्य व भाव बन्धका समन्वय

१. एक क्षेत्रावगाह मात्र का नाम द्रव्य बन्ध नहीं

पं. ध./उ /४४ न केवल प्रदेशाना बन्ध' संबन्धमात्रत। सोऽपि भावैरशुद्धै' स्यात्सापेक्षस्तद्द्वयोरिति।४४। =इस प्रकार उन जीव और कर्मोंके अशुद्ध भावोंसे अपेक्षा रखनेवाला वह बन्ध भी केवल प्रदेशोंके सम्बन्ध मात्रसे ही नही होता है।४४। (प. ध./उ./१११)

२. जीव व शरीरकी भिन्नतामें हेतु

ध. ६/१,९,१,६३/२७१/४ जीवसरीरादो भिण्णो, अणादि-अणतत्तादो सरीरे सादि-सातभावदंसणादो, सव्वसरीरेसु जीवस्स अणुगमदंसणादो सरीरस्स तदणुवलभादो, जीवसरीराणमकारणत्त [सकारणत्त] दसणादो। सकारण शरीर, मिच्छत्तादि आसवफलत्तादो; णिक्कारणो जीवो, जीवभावेण धुवत्तादो सरीरदाहच्छेद-भेदे हि जीवस्स तदणुवलभादो। =१. जीव शरीरसे भिन्न है, क्योंकि वह अनादि अनन्त है, परन्तु शरीरमें सादि सान्तता पायी जाती है। २. सब शरीरोंमें जीवका अनुगम देखा जाता है, किन्तु शरीरके जीवका अनुगम नहीं पाया जाता। ३. तथा जीव अकारण और शरीर सकारण देखा जाता है। शरीर सकारण है, क्योंकि वह मिथ्यात्वादि आस्रवोंका कार्य है, जीव कारण रहित है, क्योंकि वह चेतन भावकी अपेक्षा नित्य है। ४ तथा शरीरके दाह और छेदन भेदनसे जीवका दाह एव भेदन नहीं पाया जाता।

३. जीव व शरीरमें निमित्त व नैमित्तिकपना भी कथंचित् मिथ्या है

ध १/१,१,३३/२३४/१ तद्द (जीवप्रदेशस्य) भ्रमणावस्थायां तत (शरीरस्य) समवायाभावात्। =जीव प्रदेशोंकी भ्रमणरूप अवस्थामें शरीरका उनसे समवाय सम्बन्ध नही रहता।

प. ध /पू०/२७०-२७१ अपि भवति बध्यबन्धकभावो यदि वानयोर्न शङ्क्यमिति। तदनेकत्वे नियमात्तद्बन्धस्य स्वतोऽप्यसिद्धत्वात् ।२७०। अथ चेदवश्यमेतन्निमित्तनैमित्तिकत्वमस्ति मिथ.। न यत स्वयं स्वतो वा परिणममानस्य किं निमित्ततया।२७१। =शरीर और आत्मामें बन्ध्यबन्धक भाव है यह भी आशका नहीं करनी चाहिए,

२. प्रत्ययोंके सद्भावमें वर्गणाओंका युगपत् कर्मरूप परिणमन क्यों नहीं

ध.१२/४,२,८,२/२७६/६ पाणादिवादो जदि णाणावरणीयबन्धस्स पच्चओ- होज्ज तो तिहुवणेट्ठिदकम्मइयखंधा णाणावरणीयपच्चएण अक्कमेण किण्ण परिणमते, कम्मजोगत्त पडिविसेसाभावादो। ण, तिहुवणब्भं- तरकम्मइयखंधेहि देसविसयपच्चासत्तीए अभावादो· जदि एवखेत्तो- गाढाकम्मइयखंधा पाणादिवादादो कम्मपज्जाएण परिणमति तो सव्वलोगगयजीवाण पाणादिवादपच्चएण सव्वे कम्मइयखंधा· अक्कमेण णाणावरणीयपज्जाएण परिणदा होंति।· पच्चासत्तीए एगोगा- हणविसयाए सतीए वि ण सव्वे कम्मइयक्खधा णाणावरणीयसरूवेण एगसमएण परिणमति, पत्त दज्झ दहमाणदहणम्मि व जीवम्मि तहाविहसत्तीए अभावादो। किं कारण जोवम्मि तारिसी सत्ती णत्थि। साभावियादो।'=प्रश्न—यदि प्राणातिपात (या अन्य प्रत्यय ही) ज्ञानावरणीय (आदि) के बन्धका कारण है तो तीनो लोकोंमें स्थित कार्मण स्कन्ध ज्ञानावरणीय पर्यायस्वरूपसे एक साथ क्यों नहीं परिणत होते है, क्योकि, उनमें कर्म योग्यताकी अपेक्षा समानता है ? उत्तर—नहीं, क्योकि, तीनों लोकोके भीतर स्थित कार्मण स्कन्धोंमें देश विषयक प्रत्यासत्तिका अभाव है। प्रश्न—यदि एक क्षेत्रावगाह रूप हुए कार्मण स्कन्ध प्राणातिपातके निमित्तसे कर्म पर्याय रूप परिणमते है तो समस्त लोकमें स्थित जीवोके प्राणाति- पात प्रत्ययके द्वारा सभी कार्मण स्कन्ध एक साथ ज्ञानावरणीय रूप पर्यायसे परिणत हो जाने चाहिए। उत्तर—एक अवगाहनाविषयक प्रत्यासत्तिके होनेपर भी सब कार्मण स्कन्ध एक समयमें ज्ञानावरणीय स्वरूपसे नहीं परिणमते है, क्योकि, प्राप्त ईंधन आदि दाह्य वस्तुको जलानेवाली अग्निके समान जीवमें उस प्रकारकी शक्ति नहीं है। प्रश्न—जीवमें वैसी शक्ति न होनेका कारण क्या है। उत्तर—उसमें वैसी शक्ति न होनेका कारण स्वभाव ही है।

ध.१५/३४/६ जदि मिच्छत्तादिपच्चएहि कम्मइयवग्गणक्खंधा अट्ठ- कम्मागारेण परिणमति तो एगसमएण सव्वकम्मइयवग्गणक्खधा कम्मगारेण [किं ण] परिणमंति, णियमाभावादो। ण, दव्व-खेत्त-काल- भावे त्ति चदुहि णियमेहि णियमिदाण परिणामुवलभादो। दव्वेण अभवसिद्धिएहि अणतगुणाओ सिद्धाणमणंतभागमेत्ताओ चेव वग्ग- णाओ एगसमएण एगजीवादो कम्म सरूवेण परिणमति। =प्रश्न—यदि मिथ्यात्वादिक प्रत्ययोके द्वारा कार्मण वर्गणाके स्कन्ध आठ कर्मरूपसे परिणमन करते है, तो समस्त कार्मण वर्गणा के स्कन्ध एक समयमें आठ कर्मरूपसे क्यो नही परिणत हो जाते, क्योकि, उनके परिणमनका कोई नियामक नही है ? =उत्तर—नही, क्योकि द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चार नियामको द्वारा नियमको प्राप्त हुए उक्त स्कन्धोका कर्मरूपसे परिणमन पाया जाता है। यथा— द्रव्यकी अपेक्षा अभवसिद्धिक जीवोसे अनन्तगुणी और सिद्ध जीवोके अनन्तवे भाग मात्र ही वर्गणाएँ एक समयमे एक जीवके साथ कर्म स्वरूपसे परिणत होती है।

३. एक प्रत्ययसे अनन्त वर्गणाओंमें परिणमन कैसे

ध १२/४,२,८ २/२७८/१२ कधमेगो पाणादिवादो अणते कम्मइयक्खधे णाणावरणीय सरूवेण अक्कमेण परिणमावेदि, बहुसु एकस्स अक्कमेण वुत्तिविरोहादो। ण, एयस्स पाणादिवादस्स अणंतसत्तिजुत्तस्स तदविरोहादो। =प्रश्न—प्राणातिपात रूप एक ही कारण अनन्त कार्मण स्कन्धोको एक साथ ज्ञानावरणीय स्वरूपसे कैसे परिणमाता है, क्योकि, बहुतोंमें एककी युगपत् वृत्तिका विरोध है ? उत्तर— नहीं, क्योकि, प्राणातिपात रूप एक ही कारणके अनन्त शक्तियुक्त होनेसे वैसा होनेमें कोई विरोध नही आता।

४ बन्धके प्रत्ययोंमें मिथ्यात्वकी प्रधानता क्यों

प.ध./उ./१०३७-१०३८ सर्वे जीवमया भावा. दृष्टान्तो बन्धसाधक। एकत्र व्यापक. कस्मादन्यत्राव्यापकः कथम्।१०३७। अथ तत्रापि केषाचित्संज्ञिनां बुद्धिपूर्वक। मिथ्याभावो गृहीताख्यो मिथ्यार्था- कृतिसस्थित'।१०३८। =प्रश्न—जबकि सब ही भाव जीवमय है तो कहींपर कोई एक भाव (मिथ्यात्व भाव) व्यापक रूपसे बन्धका साधक दृष्टान्त क्यो, और कहीं पर कोई एक भाव (इतर भाव) व्याप्य रूपसे ही बन्धके साधक दृष्टान्त क्यो ? उत्तर—उसमे व्यापक रूपसे बन्धके साधक भावोमें भी किन्हीं संज्ञी प्राणियोके वस्तुके स्वरूपको मिथ्याकारमें गृहीत रखनेवाला गृहीत नामक बुद्धिपूर्वक मिथ्यात्व भाव पाया जाता है।१०३८।

५. कषाय और योग दो प्रत्ययोंसे बन्धमें इतने भेद क्यों

ध १२/४,२,८,१४/२९०/४ कधं दो चेव पच्चयो अट्ठण्णं कम्माणं बत्तीसाणं पयडि-ट्ठिदि-अणुभाग-पदेसबंधाण कारणत्तं पडिवज्जते। ण, असुद्धपज्जवट्ठिए उजुसुदे अणंतसत्तिसजुत्तेगदव्वत्थित्तं पडि- विरोहाभावादो।=प्रश्न—उक्त दो ही (योग व कषाय ही) प्रत्यय आठ कर्मोके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप बत्तीस बन्धों- की कारणताको कैसे प्राप्त हो सकते है ? उत्तर—नहीं, क्योकि अशुद्ध पर्यायार्थिक रूप ऋजुसूत्र नयमें अनन्त शक्ति युक्त एक द्रव्यके अस्तित्वमें कोई विरोध नही है।

६. अविरति कर्म बन्धमें कारण कैसे

ध. १२/४,२,८,३/२७६-२८१/६ कम्मबंधो हि णाम, सुहासुहपरिणामेहितो जायदे, असतवयणं पुण ण सुहपरिणामो, णो असुहपरिणामो पोग्गलस्स तप्परिणामस्स वा जीवपरिणामत्तविरोहादो। तदो णासतवयणं णाणावरणीयबंधस्य कारणं। ण पाणादिवाद- पच्चओ वि, भिण्ण जीवविसयस्स पाण-पाणिविओगस्स कम्मबंध- हेउत्तविरोहादो। णाणावरणीयबंधणपरिणामजणिदो वहृदे पाण- पाणिवियोगो वयणक्लावो च। तम्हा तदो तेसिमभेदो तेणेव कारणेण णाणावरणीयबंधस्स तेसिं पच्चयत्त पि सिद्ध। =प्रश्न—कर्मका बन्ध शुभ व अशुभ परिणामोंसे होता है। १ परन्तु असत्य वचन न तो शुभ परिणाम है और न अशुभ परिणाम है, क्योकि पुद्गलके अथवा उसके परिणामके जीव परिणाम होनेका विरोध है। इस कारण असत्य वचन ज्ञानावरणीयके बन्धका कारण नहीं हो सकता। २. इसी प्रकार प्राणातिपात भी ज्ञानावरणीयका प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योकि, अन्य जीव विषयक प्राण—प्राणि वियोगके कर्म बन्ध- में कारण होनेका विरोध है ? उत्तर—प्रकृतमें प्राण-प्राणि वियोग और वचन कलाप चूँकि ज्ञानावरणीय बन्धके कारणभूत परिणामसे उत्पन्न होते है अतएव उससे अभिन्न है। इस कारण वे ज्ञानावरणीय बन्धके प्रत्यय भी सिद्ध होते है।

बंधक—१. बन्धकके भेद

नोट—नाम स्थापनादि भेद। दे० निक्षेप।

ध. ७/२,१,१/३-५/६
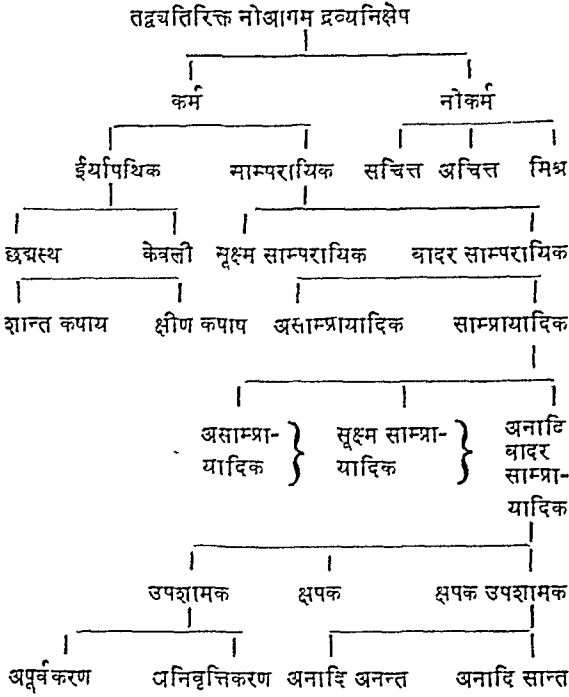
२ बन्धकके भेदोंके लक्षण

ध ७/२,१,१/पृ /प तत्थ सचित्तणोकम्मदव्वबंधया जहा हत्थीणं बंधया, अस्साण बंधया इच्चेवमादि। अचित्तणोकम्मदव्वबंधया तहा कट्ठाण बंधया, सुप्पाण बंधया कडयाणं बंधया इच्चेवमादि। मिस्सणोकम्मदव्वबंधया जहा साहरणाण हत्थीण बंधया इच्चेवमादि।(४/८)। तत्थ जे बंधपाहुडजाणया उवजुत्ता आगमभावबंधया णाम। णोआगमभावबंधया जहा कोह-माण-माय-लोहपेम्माइं अप्पाणाइं करेंता।(५/११)। =सचित्तनोकर्मद्रव्यबन्धक जैसे--हाथी बाँधनेवाले, घोडे बाँधनेवाले इत्यादि। अचित्तनोकर्मद्रव्यबन्धक जैसे—लकडी बाँधनेवाले, सूपा बाँधनेवाले, कट (चटाई) बाँधनेवाले इत्यादि। मिश्र नोकर्म द्रव्य बन्धक जैसे—आभरणो सहित हाथियोंके बाँधनेवाले इत्यादि।(४/८)। उनमें बन्धप्राभृतके जानकार और उसमें उपयोग रखनेवाले आगमभाव बन्धक है। नो आगम भावबन्धक जैसे—क्रोध, मान, माया, लोभ व प्रेमको आत्मसात् करनेवाले।

नोट—इनके अतिरिक्त शेष भेदोंके लक्षण—दे० निक्षेप।

बंधन—१. बन्धन नामकर्मका लक्षण

स. सि /८/११/३८६/१२ शरीरनामकर्मोदयवशादुपात्तानां पुद्गलानामन्योन्यप्रदेशसंश्लेषणं यतो भवति तद्बन्धननाम। (तस्याभावे शरीरप्रदेशाना दारुनिचयवत् असपर्क स्यात रा वा.)। =शरीर नामकर्मके उदयमे प्राप्त हुए पुद्गलोका अन्योन्य प्रदेश सश्लेष जिसके निमित्तमे होता है, वह बन्धन नामकर्म है। इसके अभावमें शरीर लकडियोंके ढेर जैसा हो जाता है। रा वा) (रा वा./८/११/६/-५७६/२४) (ध १३/५,५,१०१/३६४/१) (गो क/जी प्र./३३/-२९/१)।

ध.६/१,९-१,२८/५२/११ सरीरट्ठमागयाण पोग्गलक्खंधाण जीवसबद्धाण जेहि पोग्गलेहि जीवसबद्धेहि पत्तोदएहि परोप्पर कीरइ तेसिं पोग्गलक्खंधाण सरीरबंधणसण्णा, कारणे कज्जुवयारादो, कत्तारणिद्देसादो वा। जइ सरीरबंधणणामकम्मं जीवस्स ण होज्ज, तो वालुवाकाय पुरिससरीरं व सरीर होज्ज परमाणूणमण्णोण्णे बंधाभावा। =शरीरके लिए आये हुए जीव सम्बद्ध पुद्गल स्कन्धोंका जिन जीव सम्बद्ध और उदय प्राप्त पुद्गलोंके साथ परस्पर बन्ध किया जाता है उन पुद्गल स्कन्धोंकी शरीर बन्धन सज्ञा कारणमें कार्यके उपचारसे, अथवा कर्तृ निर्देशमे है। यदि शरीर बन्धन नामकर्म जीवके न हो, तो बालुका द्वारा बनाये पुरुष-शरीरके समान जीवका शरीर होगा, क्योंकि परमाणुओंका परस्परमें बन्ध नहीं है।

२. बन्धन नामकर्मके भेद

ष. ख ६/१,९-१/सू. ३२/७० जं त शरीरबंधणणामकम्मं तं पंचविहं, ओरालियसरीरबंधणणामं वेउव्वियसरीरबंधणणामं आहारसरीरबंधणणामं तेजासरीरबंधणणामं कम्मइयसरीरबंधणणामं चेदि।३२। =जो शरीर बन्धन नामकर्म है वह पाँच प्रकारका है—औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म, वैक्रियिक शरीर बन्धन नामकर्म, आहारक शरीर बन्धननामकर्म, तैजसशरीर बन्धननामकर्म और कार्मणशरीर बन्धन नामकर्म। (ष खं. १३/५,५/सू. १०५/३६७), (पं. सं./प्रा/११), (प. स./प्रा./२/४/पृ. ४७/प. ६); (म. बं./ १/§ ६/२६); (गो. क./जी. प्र./३३/२९/१)।

★ बन्धन नामकर्मकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणाएँ तथा तत्सम्बन्धी नियम शंकादि—दे० वह वह नाम।

बंधन बद्धत्व—रा. वा./२/७/१३/११२/२७ अनादिसंततिबन्धनबद्धत्वमपि साधारणम्। कस्मात्। सर्वद्रव्याणा स्वात्मीयसंतानबन्धनबद्धत्व प्रत्यनादित्वात्। सर्वाणि हि द्रव्याणि जीवधर्माधर्माकाशपुद्गलाख्यानि प्रतिनियतानि पारिणामिकचैतन्योपयोगगतिस्थित्यवकाशदान-वर्तनापरिणाम-वर्ण-गंध-रस-स्पर्शादिपर्याय-सतानबन्धनबद्धानि। कर्मोदयाद्यपेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम्। यदस्यानादिकर्मसंततिबन्धनबद्धत्व तदसाधारणमपि सन्न पारिणामिकम्, कर्मोदयनिमित्तत्वात्। =अनादि बन्धन बद्धत्व भी साधारण गुण है। सभी द्रव्य अपने अनादिकालीन स्वभाव सन्ततिसे बद्ध है, सभीके अपने-अपने स्वभाव अनादि अनन्त है। अर्थात् जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल नामके द्रव्य क्रमश. पारिणामिक चैतन्य उपयोग, गतिदान, स्थितिदान, अवकाशदान, वर्तनापरिणाम, और वर्ण-गन्ध-रस और स्पर्शादि पर्याय सन्तानके बन्धनसे बद्ध है। इस भावमें कर्मोदय आदिकी अपेक्षा न होनेसे पारिणामिक है। और जो यह अनादिकालीन कर्म बन्धन बद्धता जीवमें पायी जाती है, वह पारिणामिक नहीं है, किन्तु कर्मोदय निमित्तक है।

बंध विधान—ध १४/५ ६,१/२/१ पयडि-ट्ठिदिअणुभाग-पदेसभेदभिण्णा बंधवियप्पा बंधविहाण णाम। =प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे भेदको प्राप्त हुए बन्धके भेदोंको बन्ध विधान कहते है।

बंधसमुत्पत्तिक स्थान—दे० अनुभाग/१।

बंध स्थान—स. सा /आ /५३-५५ यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि· । =भिन्न-भिन्न प्रकृतियोके परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे जो बन्ध स्थान·।

बंध स्पर्श—दे० स्पर्श।

बंधावलि—दे० आवली।

वकुश—

स. सि /९/४६/४६०/६ नैर्ग्रन्थ्यं प्रतिस्थिता अखण्डितव्रता शरीरोपकरणविभूषानुवर्तिनोऽविविक्तपरिवारा मोहशबलयुक्ता बकुशा। शबलपर्यायवाची बकुश.। =जो निर्ग्रन्थ होते हैं, व्रतोंका अखण्ड

रूपसे पालन करते है, शरीर और उपकरणोंकी शोभा बढानेमें लगे रहते है, परिवारसे घिरे रहते है (ऋद्धि और यशकी कामना रखते है, सात और गौरवके आधार है (रा. वा.) और विविध प्रकारके मोहसे युक्त हैं, वे बकुश कहलाते है। यहाँ पर बकुश शब्द 'शबल' (चित्र-विचित्र) शब्दका पर्यायवाची है। (रा वा./९/४६/२/६३६/-२१) (चा. सा./१०१/२)।

२. बकुश साधुके भेद

स. सि./९/४७/४६१/१२ बकुशो द्विविध –उपकरण-बकुश शरीरबकुश-श्चेति। तत्रोपकरणबकुशो बहुविशेषयुक्तोपकरणाकाङ्क्षी। शरीर-संस्कारसेवी शरीरबकुशः'। =बकुश दो प्रकारके होते है,—उपकरण बकुश और शरीरबकुश। उनमेंसे अनेक प्रकारकी विशेषताओंको लिये हुए उपकरणोंको चाहनेवाला उपकरण बकुश होता है, तथा शरीरका संस्कार करनेवाला शरीर-बकुश है।

रा. वा./९/४७/४/६३८/५ बकुशो द्विविध'—उपकरणबकुश शरीर-बकुशश्चेति। तत्र उपकरणाभिष्वक्तचित्तो विविधविचित्रपरिग्रहयुक्तः बहुविशेषयुक्तोपकरणकाङ्क्षी तत्संस्कारप्रतीकारसेवी भिक्षुरुपकरण-बकुशो भवति। शरीरसंस्कारसेवी शरीरबकुश। =बकुश दो प्रकार-के है—उपकरण-बकुश और शरीर-बकुश। उपकरणोंमें जिसका चित्त आसक्त है, जो विचित्र परिग्रह युक्त है, जो सुन्दर सजे हुए उपकरणोंकी आकांक्षा करते हैं तथा इन सस्कारोके प्रतीकारकी सेवा करनेवाले भिक्षु उपकरण बकुश है। शरीर संस्कारसेवी शरीर बकुश है। (चा सा./१०४/१)।

भ. आ./वि./१६५०/१७२२/८ रात्रौ यथेष्ट शेते, सस्तर च यथाकाम बहुतरं करोति, उपकरणबकुशो। देहबकुश' दिवसे वा शेते च य. पार्श्वस्थ'। =जो रातमें सोते है, अपनी इच्छाके अनुसार बिछौना भी बडा बनाते है, उपकरणोका संग्रह करते है, उनको उपकरण बकुश कहते हैं। जो दिनमे सोता है उसको देहबकुश कहते है।

* बकुश साधु सम्बन्धी विषय—दे० साधु/५।

बड़ा नगर—राजस्थानमें कोटाका प्रदेश। (जैन साहित्य इति-हास। पृ. २५६/प्रेमी जी)।

बद्ध—प ध./उ./६६ मोहकर्मावृतो बद्ध'। =मोहनीय कर्मसे आवृत ज्ञानको बद्ध कहते है।

बध—स सि./६/११/३२९/२ =आयुरिन्द्रियबलप्राणवियोगकारणं बध'।

स. सि./७/२५/३६६/२ दण्डकशावेत्रादिभिरभिघात प्राणिना बध', न प्राणव्यपरोपणम्, तत प्रागेवास्य विनिवृत्तत्वात्। =१. आयु, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वासका जुदा कर देना बध है। (रा. वा./६/-११/५/५१९/२८), (प. प्र./टी./२/१२७)। २ डडा, चाबुक और बेंत आदिसे प्राणियोंको मारना बध है। यह बधका अर्थ प्राणोका वियोग करना नही लिया गया है, क्योकि अतिचारके पहले ही हिंसाका त्याग कर दिया जाता है। (रा. वा./७/२५/२५५३/१८)।

प. प्र./टी/२/१२७/२४३/६ निश्चयेन मिथ्यात्वविषयकषायपरिणाम रूपवध स्वकीय'। =निश्चयकर मिथ्यात्व विषय कषाय परिणाम-रूप निजघात'।

बध परिषह—स सि/९/९/४२४/६ निशितविशसनमुशलमुद्गरा-द्यिप्रहरणताडनपीडनादिभिर्व्यापाद्यमानशरीरस्य व्यापादकेषु मनागपि मनोविकारमकुर्वतो मम पुराकृतदुष्कर्मफलमिदमिमे वराका किं कुर्वन्ति, शरीरमिद जलबुद्बुदवद्विशरणस्वभाव व्यसनकारणमेतै-र्बाध्यते, संज्ञानदर्शनचारित्राणि मम न केनचिदुपहन्यते इति चिन्त-यतो वासिलक्षणचन्दनानुलेपनसमदर्शिनो बधपरिषहक्षमा मन्यते। =तीक्ष्ण तलवार, मूसर और मुद्गर आदि अस्त्रोंके द्वारा ताडन और पीडन आदिसे जिसका शरीर तोडा मरोडा जा रहा है तथापि मारने वालोंपर जो लेशमात्र भी मनमें विकार नही लाता, यह मेरे पहले किये गये दुष्कर्मका फल है, ये बेचारे क्या कर सकते हैं, यह शरीर जलके बुलबुलेके समान विशरण स्वभाव है, दुखके कारणको ही ये अतिशय बाधा पहुँचाते है, मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रको कोई नष्ट नही कर सकता इस प्रकार जो विचार करता है वह वसूलीसे छीलने और चन्दनसे लेप करनेमें समदर्शी होता है, इसलिए उसके बध परीषह जय माना जाता है। (रा. वा/९/९/१८/६११/४); (चा. सा./१२९/३)।

बध वचन—दे० वचन।

बध्यघातक विरोध—दे० विरोध।

बध्यमान आयु—दे० आयु।

बध्यमान कर्म—ध. १२/४, २,१०,२/३०३/४ मिथ्यात्वाविरति-प्रमादकषाय-योगै' कर्मरूपतामापाद्यमान. कार्मणपुद्गलस्कन्धो बध्यमान। =मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके द्वारा कर्म स्वरूपको प्राप्त होने वाला कार्मण पुद्गल स्कन्ध बध्यमान कहा जाता है।

बनवारी लाल—माखनपुरके निवासी जैन पण्डित थे। खतौलीके चैत्यालयमें वि १६६६ में भविष्यदत्तचरित्र रचा जो कि कवि धन-पालके अपभ्रंश ग्रन्थका पद्यानुवाद है। (हि. जै. सा. इ./१०५ कामता)।

वनस्पति—१ जैन दर्शनमें वनस्पतिको भी एकेन्द्रिय जीवका शरीर माना गया है। वह दो प्रकारका है—प्रत्येक व साधारण। एक जीवके शरीरको प्रत्येक और अनन्तों जीवोंके साझले शरीरको साधारण कहते है, क्योंकि उस शरीरमें उन अनन्तों जीवोंका जन्म, मरण-श्वासोच्छ्वास आदि साधारणरूपसे अर्थात् एक साथ समानरूपसे होता है। एक ही शरीरमें अनन्तों बसते हैं, इसलिए इस शरीरको निगोद कहते है, उपचारसे उसमें बसनेवाले जीवोंको भी निगोद कहते है। वह निगोद भी दो प्रकारका है नित्य व इतरनिगोद। जो अनादि कालसे आजतक निगोद पर्यायसे निकला ही नही, वह नित्य निगोद है। और त्रसस्थावर आदि अन्य पर्यायोंमें घूमकर पापोदय-वश पुन -पुन. निगोदको प्राप्त होनेवाले इतरनिगोद हैं। प्रत्येक शरीर बादर या स्थूल ही होता है पर साधारण बादर व सूक्ष्म दोनों प्रकार-का। २ नित्य खाने-पीनेके काममें आनेवाली वनस्पति प्रत्येक शरीर है। वह दो प्रकार है—अप्रतिष्ठित और सप्रतिष्ठित। एक ही जीवके शरीरवाली वनस्पति अप्रतिष्ठित है, और असंख्यात साधारण शरीरोके समवायसे निष्पन्न वनस्पति सप्रतिष्ठित है। तहाँ एक-एक वनस्पतिके स्कन्धमें एक रस होकर असंख्यात साधारण शरीर होते है, और एक-एक उस साधारण शरीरमें अनन्तानन्त निगोद जीव वास करते है। सूक्ष्म साधारण शरीर या निगोद जीव लोकमें सर्वत्र ठसाठस भरे हुए हैं, पर सूक्ष्म होनेसे हमारे ज्ञानके विषय नहीं हैं। सन्तरा, आम, आदि अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति हैं और आलू, गाजर, मूली आदि सप्रतिष्ठित प्रत्येक। अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति पत्ते, फल, फूल आदि भी अत्यन्त कच्ची अवस्थामें सप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं—जैसे कोंपल। पीछे पक जानेपर अप्रतिष्ठित हो जाते है। अनन्त जीवोंकी साझली काय होनेसे सप्रतिष्ठित प्रत्येकको अनन्तकायिक भी कहते है। इस जातिकी सर्व वनस्पतियाँ यहाँ अभक्ष्य स्वीकार किया गया है।

१. वनस्पति व प्रत्येक वनस्पति सामान्य निर्देश

१. वनस्पति सामान्यके भेद

ष. खं. १/१,१/सू. ४१/२६८ वणप्फइकाइया दुविहा, पत्तेयसरीरा साधारणसरीरा। पत्तेयसरीरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। साधारणसरीरा दुविहा, बादरा सुहुमा। बादरा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता। सुहुमा दुविहा, पज्जत्ता अपज्जत्ता चेदि।४१। =वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके है, प्रत्येकशरीर और साधारणशरीर। प्रत्येक शरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके है, पर्याप्त और अपर्याप्त। साधारणशरीर वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके है—बादर और सूक्ष्म। बादर दो प्रकारके है, पर्याप्त और अपर्याप्त।

ष. ख १४/५,६/सू ११६/२२५ सरीरिसरीरपरूवणाए अत्थि जीवा पत्तेय-साधारण-सरीरा।११६। =शरीरिशरीर प्ररूपणाकी अपेक्षा जीव प्रत्येक शरीरवाले और साधारण शरीरवाले है। (गो. जी./जी प्र/१८५/४२२/३)।

२. प्रत्येक वनस्पति सामान्यका लक्षण

ध. १/१,१,४१/२६८/६ प्रत्येकपृथक्शरीर येषां ते प्रत्येकशरीराः खदिरादयो वनस्पतय। =जिनका प्रत्येक अर्थात् पृथक्-पृथक् शरीर होता है, उन्हे प्रत्येक शरीर जीव कहते है जैसे—खैर आदि वनस्पति। (गो जी./जी प्र/८५/४२२/४)।

ध ३/१.२,८७/३३३/१ जेण जीवेण एक्केण चेव एकसरीरट्ठिएण सुहदुक्खमणुभवेदव्वमिदि कम्ममुवज्जिदं सो जीवो पत्तेयसरीरो। =जिस जीवने एक शरीरमें स्थित होकर अकेले ही सुख दुःखके अनुभव करने योग्य कर्म उपार्जित किया है, वह जीव प्रत्येकशरीर है।

ध. १४/५.६.११६/२२५/४ एक्कस्सेव जोवस्स जं सरीरं तं पत्तेयसरीरं। तं सरीरं जं जीवाणं अत्थि ते पत्तेयसरीरा णाम। अथवा पत्तेयं पुधभूदं सरीरं जेसिं ते पत्तेयसरीरा। =एक ही जीवका जो शरीर है उसकी प्रत्येक शरीर सज्ञा है। वह शरीर जिन जीवोंके है वे प्रत्येक शरीर-जीव कहलाते है। अथवा प्रत्येक अर्थात् पृथक् भूत शरीर जिन जीवोंका है वे प्रत्येकशरीर जीव है।

गो. जी/जी. प्र/१८६/४२३/१४ यावन्ति प्रत्येकशरीराणि तावन्त एव प्रत्येकवनस्पतिजीवाः तत्र प्रतिशरीरं एकैकस्य जीवस्य प्रतिज्ञानात्। =जितने प्रत्येक शरीर है, उतने वहाँ प्रत्येक वनस्पति जीव जानने चाहिए, क्योंकि एक-एक शरीरके प्रति एक-एक जीवके होनेका नियम है।

३. प्रत्येक वनस्पतिके भेद

का. अ/मू/१२८ पत्तेया वि य दुविहा णिगोद-सहिदा तहेव रहिया य। दुविहा होंति तसा वि य वि-ति चउरक्खा तहेव पचक्खा।१२८। =प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते है—एक निगोद सहित, दूसरे निगोद रहित।।१२८। (गो.जी/जी.प्र/१८५/४२२/५)।

गो. जी/जी प्र/८१-८३/२०१/१३ तृण वल्ली गुल्म वृक्ष मूल चेति पञ्चापि प्रत्येकवनस्पतयो निगोदशरीरैः प्रतिष्ठिता-प्रतिष्ठितभेदाद्द्विधा। =तृण, बेलि, छोटे वृक्ष, बडे वृक्ष, कन्दमूल ऐसे पाँच भेद प्रत्येक वनस्पतिके है। ये पाँचो वनस्पतियाँ जब निगोद शरीरके आश्रित हो तो प्रतिष्ठित प्रत्येक कही जाती है, तथा निगोदसे रहित हो तो अप्रतिष्ठित प्रत्येक कही जाती है। (और भी दे० वनस्पति/३/५)।

४. वनस्पतिके लिए ही प्रत्येक शब्दका प्रयोग है

ध. १/१,१,४१/२६८/६ पृथिवीकायादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेशस्तथा सति स्यादिति चेन्न इष्टत्वात्। तर्हि तेषामपि प्रत्येकशरीरविशेषणं विधातव्यमिति चेन्न, तत्र वनस्पतिष्विव व्यवच्छेद्याभावात्। =(जिनका पृथक् पृथक् शरीर होता है, उन्हे प्रत्येक शरीर जीव कहते है—दे० वनस्पति/१/३) =प्रश्न—प्रत्येक शरीरका इस प्रकार लक्षण करनेपर पृथ्वीकाय आदि पाँचो शरीरोंको भी प्रत्येक शरीर संज्ञा प्राप्त हो जायेगी? उत्तर—यह आशंका कोई आपत्तिजनक नहीं है, क्योंकि पृथ्वीकाय आदिके प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है। प्रश्न—तो फिर पृथ्वीकाय आदिके साथ भी प्रत्येक शरीर विशेषण लगा देना चाहिए? उत्तर—नही, क्योंकि, जिस प्रकार वनस्पतियोंमें प्रत्येक वनस्पतिसे निराकरण करने योग्य साधारण वनस्पति पायी जाती है, उस प्रकार पृथिवी आदिमें प्रत्येक शरीरसे भिन्न निराकरण करने योग्य कोई भेद नही पाया जाता है, इसलिए पृथिवी आदिमें अलग विशेषण देनेकी आवश्यकता नही है। (ध ३/१-२,८७/३३१/४)।

५. मूल बीज अग्रबीज आदिके उदाहरण

गो जी/जी प्र/१८६/४२३/४ मूलं बीजं येषां ते मूलबीजाः। (येषां मूलं प्रादुर्भवति ते) आर्द्रकहरिद्रादयः। अग्रं बीजं येषां ते अग्रबीजाः (येषां अग्रं प्ररोहयति ते) आर्यकोदीच्यादयः। पर्व बीजं येषां ते पर्वबीजाः इक्षुवेत्रादयः। कन्दो बीजं येषां ते कन्दबीजाः पिण्डालसूरणादयः। स्कन्धो बीजं येषां ते स्कन्धबीजाः सल्लकीकण्टकीपलाशादयः। बीजात् रोहन्तीति बीजरुहा शालिगोधूमादयः। सम्मूर्छे समन्तात् प्रसृतपुद्गलस्कन्धे भवाः सम्मूर्छिमाः मूलादिनियतबीजनिरपेक्षाः।... एते मूलबीजादिसम्मूर्छिमपर्यन्ताः सप्रतिष्ठिताप्रतिष्ठितप्रत्येकशरीरजीवास्तेऽपि सम्मूर्छिमा एव भवन्ति। =१ जिनका मूल अर्थात् जड ही बीज हो (जो जडके बोनेसे उत्पन्न होती है), वे मूलबीज कही जाती है जैसे—अदरख, हल्दी आदि। २ अग्रभाग ही जिनका बीज हो (अर्थात् टहनी की कलम लगानेसे व उत्पन्न हों) वे अग्रबीज है जैसे—आर्यक व उदीची आदि। ३. पर्व ही है बीज जिनका वे पर्वबीज जानने। जैसे—ईख, बेंत आदि। ४ जो कन्दसे उत्पन्न होती है, वे कन्दबीजी कही जाती है जैसे—आलू सूरणादि। ५ जो स्कन्धसे उत्पन्न होती है वे स्कन्धबीज है जैसे सलरि, पलाश

आदि। ६ जो बीजमे ही उत्पन्न होती है, वे बीजरुह कहलाती है। जैसे—चावल, गेहूँ आदि। ७ और जो नियत बीज आदिकी अपेक्षा-से रहित, केवल मट्टी और जलके सम्बन्धसे उत्पन्न होती है, उनको सम्मूर्छिम कहते है। जैसे—फूई, काई आदि।…ये मूलादि सम्मूर्छिम वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दोनो प्रकारकी होती है। और सबकी सब सम्मूर्छिम ही होती है, गर्भज नही।

८ प्रत्येक शरीर नामकर्मका लक्षण

स सि /८/११/३९१/८ शरीरनामकर्मोदयान्निर्वर्त्यमान शरीरमेकात्मोपभोगकारण यतो भवति तत्प्रत्येक शरीर नाम। (एकमेकमात्मान प्रति प्रत्येकम्, प्रत्येक शरीर प्रत्येकशरीरम् (रा. वा.) ।=शरीर नामकर्मके उदयमे रचा गया जो शरीर जिसके निमित्तसे एक आत्माके उपभोगका कारण होता है, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है। (प्रत्येक शरीरके प्रति अर्थात एक एक शरीरके प्रति एक एक आत्मा हो, उसको प्रत्येकशरीर कहते है। रा वा.) (रा वा./८/११/१९/५७८/१८) (गो. क /जी प्र /३३/३०/२)।

ध. ६/१,९-१,२८/६२/८ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो पत्तेयसरीरो होदि, तस्स कम्मस्स पत्तेयसरीरमिदि सण्णा। जदि पत्तेयसरीरणामकम्म ण होज्ज, ता एक्कम्हि सरीरे एगजीवस्सेव उवलंभो ण होज्ज। ण च एवं, णिव्वाहमुवलभा।=जिस कर्मके उदयसे जीव प्रत्येक शरीरी होता है, उस कर्मकी 'प्रत्येकशरीर' यह संज्ञा है। यदि प्रत्येक शरीर नामकर्म न हो, तो एक शरीरमें एक जीवका ही उपलम्भ न होगा। किन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि, प्रत्येक शरीर जीवोंका सद्भाव बाधा-रहित पाया जाता है।

ध. १३/५,५,१०१/३६५/८ जस्स कम्मस्सुदएण एक्कसरीरे एक्को चेव जीवो जीवदि त कम्म पत्तेयसरीरणाम।=जिस कर्मके उदयसे एक शरीर-में एक ही जीव जीवित रहता है, वह प्रत्येक शरीर नामकर्म है।

९. प्रत्येक शरीर वर्गणाका प्रमाण

ध. १४/५,६,११६/१४४/२ वट्टमाणकाले पत्तेयसरीरवग्गणाओ उक्कस्सेण असंखेज्जलोगमेत्तीओ चेव होंति त्ति णियमादो।=वर्तमानकालमें प्रत्येक शरीर वर्गणाएँ उत्कृष्ट रूपसे असख्यात लोक प्रमाण ही होती है, यह नियम है।

२. निगोद निर्देश

१. निगोद सामान्यका लक्षण

ध १४/५,६,९३/८५/१३ के णिगोदा णाम। पुलवियाओ णिगोदा त्ति भणति।=प्रश्न—निगोद किन्हें कहते है। उत्तर—पुलवियोंको निगोद कहते है। विशेष दे० वनस्पति/३/७। (ध. १४/५,६,५८२/४७०/१)।

गो. जी./जी. प्र /१९१/४२९/१५ साधारणनामकर्मोदयेन जीवा निगोदशरीरा भवन्ति। नि—नियतां गा—भूमि क्षेत्रं निवास, अनन्तानन्तजीवानां ददाति इति निगोदम्। निगोदशरीर येषां ते निगोदशरीरा इति लक्षणसिद्धत्वात।=साधारण नामक नामकर्मके उदयसे जीव निगोद शरीरी होता है। 'नि' अर्थात् अनन्तपना है निश्चित जिनका ऐसे जीवोंको, 'गो' अर्थात् एक ही क्षेत्र, 'द' अर्थात् देता है, उसको निगोद कहते है। अर्थात् जो अनन्तों जीवोंको एक निवास दे उसको निगोद कहते है। निगोद ही शरीर है जिनका उनको निगोद शरीरी कहते है।

२. निगोद जीवोंके भेद

ध. १४/५,६ १२८/२३६/५ तत्थ णिगोदेसु जे ट्ठिदा जीवा ते दुविहा—चदुग्गदिणिगोदा णिच्चणिगोदा चेदि।=निगोदोंमें स्थित जीव दो प्रकारके है—चतुर्गतिनिगोद और नित्यनिगोद (ये दोनो बादर भी होते है सूक्ष्म भी का अ.) (का. अ./मू /१२५)।

३. नित्य व अनित्य निगोदके लक्षण

१. नित्यनिगोद

प ख. १४/५,६/सू १२७/२३३ अत्थि अणता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो भावकलंकअपउरा णिगोदवासं ण मुचंति।१२७।=जिन्होंने अतीत कालमें त्रसभावको नही पाया है ऐसे अनन्त जीव हैं, क्योकि वे भाव कलंक प्रचुर होते है, इसलिए निगोदवासको नहीं त्यागते।१२७। (मू. आ /१२०३), (प. स /प्रा /१/८५), (ध. १/१,१,४१/गा. १४८/२७१), (ध ४/१,५,३१०/गा. ४२/४७७), (गो. जी./मू./१९७/४४१) (प स./स./१/११०), (का. अ./टी./१२५)।

रा. वा./२/३२/२७/१४३/२० त्रिष्वपि कालेषु त्रसभावयोग्या ये न भवन्ति ते नित्यनिगोता। =जो कभी त्रस पर्यायको प्राप्त करनेके योग्य नही होते, वे नित्य निगोद है।

ध. १४/५,६,१२८/२३६/८ तत्थ णिच्चणिगोदा णाम जे सव्वकाल णिगोदेसु चेव अच्छति ते णिच्चणिगोदा णाम।=जो सदा निगोदोमें ही रहते है वे नित्य निगोद हैं।

२. अनित्य निगोद

रा. वा /२/३२/२७/१४३/२१ त्रसभावमवाप्ता अवाप्स्यन्ति च ये ते अनित्यनिगोता। =जिन्होने त्रस पर्याय पहले पायी थी अथवा पायेगे वे अनित्य निगोद है।

ध. १४/५,६,१२८/२३६/६ जे देव-णेरइय-तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पज्जियूण पुणो णिगोदेसु पविसिय अच्छति ते चदुगइणिच्चणिगोदा णाम। =जो देव, नारकी, तिर्यंच और मनुष्योमें उत्पन्न होकर पुन निगोदोमे प्रवेश करके रहते है वे चतुर्गतिनिगोद जीव कहे जाते है। (गो. जी./जी प्र./१९७/४४१/१४)।

४. सूक्ष्म वनस्पति तो निगोद ही है, पर सूक्ष्म निगोद वनस्पतिकायिक ही नहीं है

प ख ७/२,१०/सू. ३१-३२/५०४ सुहुमवणप्फदिकाइय-सुहुमणिगोद-जीवपज्जत्ता सव्वजीवाण केवडिओ भागो।३१। सखेज्जा भागा।३२।

ध. ७/२,१,३२/५०४/१२ सुहुमवणप्फदिकाइए भणिदूण पुणो सुहुमणिगोद-जीवे वि पुध भणदि, एदेण णव्वदि जधा सव्वे सुहुमवणप्फदिकाइया चेव सुहुमणिगोदजीवा ण होति त्ति। जदि एव तो सव्वे सुहुमवणप्फदिकाइया णिगोदा चेवेत्ति एदेण वयणेण विरुज्झदि त्ति भणिदे ण विरुज्झदे, सुहुमणिगोदा सुहुमवणप्फदिकाइया चेवेत्ति अवहारणाभावादो। कधमेदं णव्वदे। बादरणिगोदजीवा णिगोदपदिट्ठिदा अप्पज्जत्ता असखेज्जगुणा (प. ख. ७/२,११/सू ८६/५४५) णिगोद पदिट्ठिदाण बादरणिगोदजीवा त्ति णिद्देसादो, बादरवणप्फदि-काइयाणमुवरि 'णिगादजीवा विसेसाहिया' (प. ख. ७/२,११/सू ७५/५३९) त्ति भणिदवयणादो च णव्वदे।

ध. ७/२,११,७५/५३९/११ एत्थ चोदगो भणदि—णिप्फलमेदं सुत्त, वणप्फदिकाइएहिंतो पुधभूदणिगोदाणमणुवलंभादो। ण च वणप्फ-दिकाइएहिंतो पुधभूदा पुढविकाइयादिसु णिगोदा अत्थि त्ति आइरियाणामुवदेसो जेणेदस्स वयणस्स सुत्तत्तं पसज्जदे इदि। एत्थ परिहारो वुच्चदे—होदु णाम तुब्भेहिं वुत्तस्स सच्चत्तं, बहुएसु सुत्तेसु वणप्फदीण उवरि णिगोदपदस्स अणुवलभादो णिगोदाणामुवरि वणप्फदिकाइयाण पढणस्सुवलभादो बहुएहि आइरिएहि सम्मदत्तादो च। किं तु एदं सुत्तमेव ण होदि त्ति णावहारणं काउ जुत्त। सो एव भणदि जो चोद्दसपुव्वधरो केवलणाणी वा।… तदो थप्पं काऊण वे

वि सुत्ताणि सुत्तासायणभीरुहि आइरिएहि वक्खाणेयव्वाणि त्ति। =सूक्ष्म वनस्पतिकायिक व सूक्ष्म निगोद जीव पर्याप्त सर्व जीवोंके कितनेवें भाग प्रमाण है ?।३१। उपर्युक्त जीव सर्व जीवोंके संख्यात बहुभाग-प्रमाण है।३२। 'सूक्ष्म वनस्पतिकायिकको कहकर पुनः सूक्ष्म निगोद जीवोंको भी पृथक् कहते हैं, इससे जाना जाता है कि सब सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही सूक्ष्म निगोद जीव नहीं होते। **प्रश्न**—यदि ऐसा है तो 'सर्व सूक्ष्म वनस्पतिकायिक निगोद ही है' इस वचनके साथ विरोध होगा ? **उत्तर**—उक्त वचनके साथ विरोध नहीं होगा, क्योंकि, सूक्ष्म निगोद जीव सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही है, ऐसा यहाँ अवधारण नहीं है। 'प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है ? उत्तर—(बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर अपर्याप्तोंसे निगोद प्रतिष्ठित बादर निगोदजीव अपर्याप्त असंख्यातगुणे है। यहाँपर) निगोद प्रतिष्ठित जीवोंके बाद 'निगोद जीव' इस प्रकारके निर्देशसे, तथा ('वनस्पतिकायिकोंसे निगोद जीव विशेष अधिक हैं' इस सूत्रमें) बादर वनस्पतिकायिकोंके आगे 'निगोद जीव विशेष अधिक है' इस प्रकार कहे गये सूत्रवचनसे भी जाना जाता है। प्रश्न—यहाँ शंकाकार कहता है कि यह सूत्र निष्फल है क्योंकि, वनस्पतिकायिक जीवोंसे पृथग्भूत निगोद जीव पाये नहीं जाते। तथा 'वनस्पतिकायिक जीवोंसे पृथग्भूत पृथिवीकायिकादिकोंमें निगोद जीव पाये नहीं जाते। तथा वनस्पतिकायिक जीवोंसे पृथग्भूत पृथिव कायिकादिकोंमें निगोद जीव है' ऐसा आचार्योंका उपदेश भी नहीं है, जिससे इस वचनको सूत्रत्वका प्रसंग हो सके ? **उत्तर**—यहाँ उपर्युक्त शंकाका परिहार कहते हैं—तुम्हारे द्वारा कहे हुए वचनमें भले ही सत्यता हो, क्योंकि बहुतसे सूत्रोंमें वनस्पतिकायिक जीवोंके आगे 'निगोद' पद नहीं पाया जाता, निगोद जीवोंके आगे वनस्पतिकायिकोंका पाठ पाया जाता है, ऐसा बहुतसे आचार्योंसे सम्मत भी है। किन्तु 'यह सूत्र ही नहीं है' ऐसा निश्चय करना उचित नहीं है। इस प्रकार तो वह कह सकता है जो कि चौदह पूर्वोंका धारक हो अथवा केवलज्ञानी हो। अतएव सूत्रकी आशातना (छेद या तिरस्कार) से भयभीत रहनेवाले आचार्योंको स्थाप्य समझकर दोनों ही सूत्रोंका व्याख्यान करना चाहिए।

४. प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिको उपचारसे सूक्ष्म निगोद भी कह देते हैं

ध. ७/२,१०,३२/५०५/३ के पुण ते अण्णे सुहुमणिगोदा सुहुमवणप्फदिकाइये मोत्तूण। ण, सुहुमणिगोदेसु व तदाधारेसु वणप्फदिकाइएसु वि सुहुमणिगोदजीवत्तसंभवादो। तदो सुहुमवणप्फदिकाइया चेव सुहुमणिगोदजीवा ण होति त्ति सिद्धं। सुहुमकम्मोदएण जहा जीवाणं वणप्फदिकाइयादीण सुहुमत्तं होदि तहा णिगोदणामकम्मोदएण णिगोदत्तं होदि। ण च णिगोदणामकम्मोदओ बादरवणप्फदिपत्तेयसरीराणमत्थि जेण तेसिं णिगोदसण्णा होदि त्ति भणिदे—ण, तेसिं पि आहारे आहेओवयारेण णिगोदत्ताविरोहादो। =**प्रश्न**—तो फिर सूक्ष्म वनस्पतिकायिकोंको छोडकर अन्य सूक्ष्म निगोद जीव कौनसे हैं ? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि सूक्ष्म निगोद जीवोंके समान उनके आधारभूत (बादर) वनस्पतिकायिकोंमें भी सूक्ष्म निगोद जीवत्वकी सम्भावना है। इस कारण 'सूक्ष्म वनस्पतिकायिक ही सूक्ष्म निगोद जीव नहीं होते, यह बात सिद्ध होती है। **प्रश्न**—सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे जिस प्रकार वनस्पतिकायिकादिक जीवोंके सूक्ष्मपना होता है, उसी प्रकार निगोद नामकर्मके उदयसे निगोदत्व होता है। किन्तु बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवोंके निगोद नामकर्मका उदय नहीं है जिससे कि उनकी 'निगोद' संज्ञा हो सके ? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर जीवोंके भी आधारमें आधेयका उपचार करनेसे निगोदपनेका कोई विरोध नहीं है।

५. प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिको उपचारसे बादर निगोद भी कहते हैं

ध. १/१,१,४१/२७१/५ बादरनिगोदप्रतिष्ठिताश्चार्षान्तरेषु श्रूयन्ते, क तेषामन्तर्भावश्चेद् प्रत्येकशरीरवनस्पतिष्विति ब्रूमः। के ते। स्नुगार्द्रकमूलकादयः। =**प्रश्न**—बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित वनस्पति दूसरे आगमोंमें सुनी जाती है, उनका अन्तर्भाव वनस्पतिके किस भेदमें होगा ? **उत्तर**—प्रत्येक शरीर वनस्पतिमें उसका अन्तर्भाव होगा, ऐसा हम कहते हैं। **प्रश्न**—जो बादर निगोदसे प्रतिष्ठित हैं, वे कौन हैं ? **उत्तर**—थूहर, अदरख और मूली आदिक वनस्पति बादर निगोदसे प्रतिष्ठित हैं।

ध. ३/१,२,८७/३४७/७ पत्तेगसाधारणसरीरवदिरित्तो बादरणिगोदपदिट्ठिदरासी ण जाणिज्जदि त्ति वुत्ते सच्चं, तेहि वदिरित्तो वणप्फइकाइएसु जीवरासी णत्थि चेव, किं तु पत्तेयसरीरा दुविहा भवंति बादरणिगोदजीवाणं जोणीभूदसरीरा तव्विवरीदसरीरा चेदि। तत्थ जे बादरणिगोदाणं जोणीभूदसरीरपत्तेगसरीरजीवा ते बादरणिगोदपदिट्ठिदा भण्णंति। के ते। मूलयद्दु-भल्लय सूरण-गलोइ-लोगेसरपभादओ। =**प्रश्न**—प्रत्येक शरीर और साधारण शरीर, इन दोनों जीव राशियोंको छोडकर बादरनिगोद प्रतिष्ठित जीवराशि क्या है, यह नहीं मालूम पडता है ? **उत्तर**—यह सत्य है कि उक्त दोनों राशियोंके अतिरिक्त वनस्पतिकायिकोंमें और कोई जीव राशि नहीं है, किन्तु प्रत्येकशरीरवनस्पतिकायिक जीव दो प्रकारके होते हैं, एक तो बादरनिगोद जीवोंके योनिभूत प्रत्येक शरीर और दूसरे उनसे विपरीत शरीरवाले अर्थात् बादरनिगोद जीवोंके अयोनिभूत प्रत्येकशरीर जीव। उनमेंसे जो बादरनिगोद जीवोंके योनिभूत शरीर प्रत्येकशरीर जीव है उन्हें बादरनिगोद प्रतिष्ठित कहते हैं। **प्रश्न**—वे बादरनिगोद जीवोंके योनिभूत प्रत्येक शरीर जीव कौन हैं ? **उत्तर**—मूली, अदरक (?), भल्लक (भद्रक), सूरण, गलोइ (गुडुची या गुरवेल), लोकेश्वरप्रभा ? आदि बादरनिगोद प्रतिष्ठित हैं।

ध. ७/२,११,७५/५४०/८ णिगोदाणामुवरि वणप्फदिकाइया विसेसाहिया होंति बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीरमेत्तेण, वणप्फदिकाइयाणं उवरि णिगोदा पुण केण विसेसाहिया होंति त्ति भणिदे वुच्चदे। तं जहा—वणप्फदिकाइया त्ति वुत्ते बादरणिगोदपदिट्ठिदापदिट्ठिदजीवा ण घेत्तव्वा। कुदो। आधेयादो आधारस्स भेददंसणादो। वणप्फदिणामकम्मोदइल्लत्तणेण सव्वेसिमेगत्तमत्थि त्ति भणिदे होदु तेण एगत्तं, किंतु तमेत्थ अविवक्खियं. आहारअणाहारत्तं चेव विवक्खियं। तेण वणप्फदिकाइएसु बादरणिगोदपदिट्ठिदापदिट्ठिदा ण गहिदा। वणप्फदिकाइयाणामुवरि 'णिगोदा विसेसाहिया' त्ति भणिदे बादरवणप्फदिकाइयपत्तेयसरीरेहि बादरणिगोदपदिट्ठिदेहि य विसेसाहिया। बादरणिगोदपदिट्ठिदापदिट्ठिदाणं कधं णिगोदववएसो। ण, आहारे आहेओवयारादो तेसिं णिगोदत्तसिद्धीदो। वणप्फदिणामकम्मोदइल्लाणं सव्वेसिं वणप्फदिसण्णा सुत्ते दिस्सदि। बादरणिगोदपदिट्ठिदअपदिट्ठिदाणमेत्थ सुत्ते वणप्फदिसण्णा किण्ण णिद्दिट्ठा। गोदमो एत्थ पुच्छेयव्वो। अम्हेहि गोदमो बादरणिगोदपदिट्ठिदाणं वणप्फदिसण्णं णेच्छदि त्ति तस्स अहिप्पओ कहिओ। =**प्रश्न**—निगोद जीवोंके ऊपर वनस्पतिकायिक जीव बादर वनस्पतिकायिक प्रत्येक शरीर मात्रसे विशेषाधिक होते हैं, परन्तु वनस्पतिकायिक जीवोंके आगे निगोदजीव किसमें विशेष अधिक होते है। **उत्तर**—उपर्युक्त शंकाका उत्तर इस प्रकार देते हैं—'वनस्पतिकायिक-जीव' ऐसा कहनेपर बादर निगोदोंसे प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित जीवोंका ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि, आधेयसे आधारका भेद देखा जाता है। **प्रश्न**—वनस्पति नामकर्मके उदयसे संयुक्त होनेकी अपेक्षा सबोंके एकता है। **उत्तर**—वनस्पति नामकर्मोदयकी अपेक्षा एकता रहे, किन्तु उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। यहाँ आधारत्व और अना-

शरीर वनस्पति जीव बादर ही होते हैं सूक्ष्म नहीं, क्योंकि जिस प्रकार साधारण शरीरोंमें उत्सर्ग विधिकी बाधक अपवाद विधि पायी जाती है, उस प्रकार प्रत्येक वनस्पतिमें अपवाद विधि नहीं पायी जाती है अर्थात् उनमें सूक्ष्म भेदका सर्वथा अभाव है।

३. वनस्पतिमें ही साधारण जीव होते हैं पृथिवी आदिमें नहीं

प. खं. १४/५,६/सू १२०/२२५ तत्थ जे ते साहारणसरीरा ते णियमा वणप्फदिकाइया। अवसेसा पत्तेयसरीरा।१२०। =उनमें (प्रत्येक व साधारण शरीर वालोंमें) जो साधारण शरीर जीव है वे नियमसे वनस्पतिकायिक होते है। अवशेष (पृथ्वीकायादि) जीव प्रत्येक शरीर है।

४. पृथिवी आदि व देव नारकी, तीर्थंकर आदि प्रत्येक शरीरी ही होते हैं

ध. १/१,१,४१/२६८/७ पृथिवीकायादिपञ्चानामपि प्रत्येकशरीरव्यपदेशस्तथा सति स्यादिति चेन्न, इष्टत्वात्। =प्रश्न—(जिनका पृथक्-पृथक् शरीर होता है, उन्हें प्रत्येकशरीर जीव कहते हैं) प्रत्येक-शरीरका इस प्रकार लक्षण करनेपर पृथिवीकायादि पाँचों शरीरोको भी प्रत्येक शरीर संज्ञा प्राप्त हो जायेगी? उत्तर—यह आशका कोई आपत्ति-जनक नहीं है, क्योंकि पृथिवीकाय आदिको प्रत्येकशरीर मानना इष्ट ही है।

ध. १४/५,६,९१/८१/८ पुढवि-आउ-तेउ-वाउक्काइया देव णेरइया आहार-सरीरा पमत्तसजदा सजोगि-अजोगिकेवलिणो च पत्तेयसरीरा-वुच्चति; एदेसिं णिगोदजीवेहिं सह सबधाभावादो। =पृथिवि-कायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, देव, नारकी, आहारक शरीरी, प्रमत्तसयत, सयोगि केवली और अयोगि ये जीव प्रत्येक शरीरवाले होते हैं, क्योंकि इनका निगोद जीवोसे सम्बन्ध नही होता। (गो जी /मू /२००/४४६)।

५. कन्द मूल आदि सभी वनस्पतियाँ प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित होती है

मू. आ./२१३-२१५ मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीजबीजरुहा। समुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणतकाया य।२१३। कंदा मूला छल्ली खध पत्त पवालपुप्फफल। गुच्छा गुम्मा वल्ली तणाणि तह पव्व-काया य।२१४। सेवाल पणय केणग कवगो कुहणो य बादरा काया। सव्वेवि सुहुमकाया सव्वत्थ जलत्थलागासे।२१५। =१. मूलबीज, अग्रबीज, पर्वबीज, कन्दबीज, स्कन्ध बीज, बीजरुह- और सम्मूर्छिम, ये सब वनस्पतियाँ प्रत्येक (अप्रतिष्ठित प्रत्येक) और अनन्तकाय (सप्रतिष्ठित प्रत्येक) के भेदसे दोनो प्रकारकी होती है।२१३। (प. स/प्रा/१/८१) (ध १/१,१,४१/गा १५३/२७३) (त. सा /२/६६), (गो. जी /मू /१८६/४२३), (प,सं /स /१/१०६)। २ सूरण आदि कद, अदरख आदि मूल, छालि, स्कन्ध, पत्ता, कौपल, पुष्प, फल, गुच्छा, करजा आदि गुल्म, वेल तिनका और बेंत आदि ये सम्मूर्छन प्रत्येक अथवा अनतकायिक हे।२१४। ३. जलकी काई ईंट आदिकी काई, कूडेमे उत्पन्न हरा नीला रूप, जटाकार, आहार काजी आदिसे उत्पन्न काई ये सब बादरकाय जानने। जल, स्थल, आकाश सब जगह सूक्ष्मकाय भरे हुए जानना।२१५।

६. अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति स्कन्धमें भी संख्यात या असंख्यात जीव होते हैं

गो. जी./जी. प्र /१८६/४२३/१३ अप्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीराणि यथासभव असख्यातानि सख्यातानि वा भवन्ति। यावन्ति प्रत्येक-शरीराणि तावन्त एव प्रत्येक वनस्पतिजीवा' तत्र प्रतिशरीरं एकैकस्य जीवस्य प्रतिज्ञानात्। =एक स्कन्धमें अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति जीवोंके शरीर यथासभव असख्यात वा संख्यात भी होते हैं। जितने वहाँ प्रत्येक शरीर हैं, उतने ही वहाँ प्रत्येक वनस्पति जीव जानने चाहिए। क्योंकि एक एक शरीरके प्रति एक-एक ही जीव होनेका नियम है।

७. प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति स्कन्धमें अनन्त जीवोंके शरीरकी रचना विशेष

ध १४/५,६,९३/८६/१ संपहि पुलवियाणं एत्थ सरूवपरूवणं कस्सामो। तं जहा–खधो अडरं आवासो पुलविया णिगोदशरीरमिदि पच होंति। तत्थ बादरणिगोदाणमासयभूदो बहुएहि वक्खारएहि सहियो वलजंतवाणियकच्छउडसमाणो मूलय-थूहल्लयादिववएसहरो खधो णाम। ते च खधा असंखेज्जलोगमेत्ता; बादरणिगोदपदिट्ठिदाणम-संखेज्जलोगमेत्तसखुवलभादो। तेसिं खधाण ववएसहरो तेसिं भवाणमवयवा वलजुअकच्छउडपुव्वावरभागसमाणा अंडर णाम। अडरस्स अतोट्ठियो कच्छउडंडरतोट्ठियवक्खारसमाणो आवासो णाम। अंडराणि असंखेज्जलोगमेत्ताणि। एक्केक्कम्हि अडरे असखेज्ज-लोगमेत्ता आवासा होंति। आवासब्भतरे संट्ठिदाओ कच्छउडंडर-वक्खारतोट्ठियविसिवियाहि समाणाओ पुलवियाओ णाम। एक्के-क्कम्हि आवासे ताओ असखेज्जलोगमेत्ताओ होंति। एक्केक्कम्हि एक्के-क्किस्से पुलवियाए-असखेज्जलोगमेत्ताणि णिगोदसरीराणि ओरालिय-तेजाकम्मइयपोग्गलोवायाणकारणाणि कच्छउडंडरवक्खारपुलवियाए अतोट्ठिददव्वसमाणाणि पुध पुध अणताणतेहि णिगोदजीवेहिं आउण्णाणि होंति। तिलोग-भरह जणवय-गामपुरसमाणाणि खधड-रावास पुलविसरीराणि त्ति वा घेत्तव्वं। =अब यहाँ पर पुलवियों-के स्वरूपका कथन करते हैं—यथा-स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि और निगोद शरीर ये पाँच होते हैं—१. उनमेंसे जो बादर निगोदों-का आश्रय भूत है, बहुत वक्खारोंसे युक्त है तथा वलजंतवाणिय कच्छउड समान है ऐसे मूली, थूअर और आर्द्रक आदि सज्ञाको धारण करनेवाला स्कन्ध कहलाता है, वे [स्कन्ध असख्यात लोक प्रमाण होते हैं, क्योंकि बादर प्रतिष्ठित जीव असख्यात लोक प्रमाण पाये जाते है। २. जो उन स्कन्धोंके अवयव हैं और जो वलजुअ-कच्छउडके पूर्वापर भागके समान है उन्हे अण्डर कहते है। ३. जो अण्डरके भीतर स्थित है तथा कच्छउडअण्डरके भीतर स्थित वक्खारके समान है उन्हे आवास कहते है। अण्डर असख्य त लोक प्रमाण होते है। तथा एक अण्डरमें असख्यात लोक प्रमाण आवास होते है। ४. जो आवासके भीतर स्थित हैं और जो कच्छउड-अण्डरवक्खारके भीतर स्थित पिशवियोके समान है उन्हे पुलवि कहते है। एक एक आवासमें वे असंख्यात लोक प्रमाण होती हैं। तथा एक एक आवासकी अलग अलग एक एक पुलविमें असंख्यात लोकप्रमाण निगोद शरीर होते है जो कि औदारिक, तैजस और कार्मण पुद्गलोके उपादान कारण होते हैं, और जो कच्छउडअण्डर-वक्खारपुलविके भीतर स्थित द्रव्योंके समान अलग-अलग अनन्ता-नन्त निगोद जीवोंसे आपूर्ण होते है। ५. अथवा तीन लोक, भरत, जनपद, ग्राम और पुरके समान स्कन्ध, अण्डर, आवास, पुलवि, और शरीर होते है ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। (गो.जी /-मू./१९४-१९५/४३४,४३६)।

४. साधारण वनस्पति परिचय

१. साधारण शरीर नामकर्मका लक्षण

स सि./८/११/३९१/६ बहूनामात्मनामुपभोगहेतुत्वेन साधारणं शरीर यतो भवति तत्साधारणशरीरनाम। =बहुत आत्माओके उपभोग-

सर्वे मूलोन्मूल्वा गृहिवते '।९३। स्कन्धपत्रपय' पर्वतुर्यसाधारणा यथा। गडीरकस्तथा चार्कदुग्ध साधारणं मतम् ।९४। पुष्पसाधारणा केचित्करीरसर्षपादय । पर्वसाधारणाश्चेक्षुदण्डा' साधारणाग्रका' ।९५। फलसाधारण स्यातं प्रोक्तोदुम्बरपञ्चकम् । शाखा साधारणा ख्याता कुमारीपिण्डकादय' ।९६। कुम्पलानि स सर्वेपा मृदूनि च यथागमम् । सन्ति साधारणान्येव प्रोक्तकालावधेरध ।९७। शाका' साधारणा' केचित्केचित्प्रत्येकमूर्तय । वल्य साधारणा' काश्चित्काश्चित्प्रत्येकका' स्फुटम् ।९८। तल्लक्षण यथा भङ्गे समभाग' प्रजायते। तावत्साधारणं ज्ञेय शेषं प्रत्येकमेव तद् ।१०१।=१. किसी वृक्षकी जड साधारण होती है, किसी का स्कन्ध साधारण होता है, किसीकी शाखाएँ साधारण होती है, किसीके पत्ते साधारण होते है, किसीके फूल साधारण होते है, किसीके पर्व (गाँठ) का दूध, अथवा किसीके फल साधारण होते है ।९१। इनमेंसे किसी किसीके तो मूल, पत्ते, स्कन्ध, फल, फूल आदि अलग-अलग साधारण होते है और किसीके मिले हुए पूर्णरूपसे साधारण होते है ।९२। २. मूली, अदरक, आलू, अरवी, रतालू, जमीकन्द, आदि सब मूल (जडें) साधारण है ।९३। गण्डीरक (एक कडुआ जमीकन्द) के स्कन्ध, पत्ते, दूध और पर्व ये चारों ही अवयव साधारण होते है। दूधोंमें आकका दूध साधारण होता है ।९४। फूलोमें करीरके व सरसोके फूल और भी ऐसे ही फूल साधारण होते है। तथा पर्वोंमें ईखकी गाँठ और उसका आगेका भाग साधारण होता है ।९५। पाँचो उदम्बर फल तथा शाखाओमें कुमारीपिण्ड (गँवारपाठा जो कि शाखा रूप ही होता है) की सब शाखाएँ साधारण होती है ।९६। वृक्षोपर लगी कोंपले सब साधारण है पीछे पकनेपर प्रत्येक हो जाती है ।९७। शाकोंमें 'चना, मेथी, बथुआ, पालक, कुलफो आदि) कोई साधारण तथा कोई प्रत्येक, इसी प्रकार बेलोंमें कोई लताएँ साधारण तथा कोई प्रत्येक होती है ।९८। ३ साधारण व प्रत्येकका लक्षण इस प्रकार लिखा है कि जिसके तोडनेमें दोनों भाग एकसे हो जाये जिस प्रकार चाकूसे दो टुकडे करनेपर दोनो भाग चिकने और एकसे हो जाते है उसी प्रकार हाथसे तोडनेपर भी जिसके दोनों भाग चिकने एकसे हो जाये वह साधारण वनस्पति है। जब तक उसके टुकडे इसी प्रकार होते रहते है तब तक साधारण समझना चाहिए। जिसके टुकडे चिकने और एकसे न हों ऐसी बाकीकी समस्त वनस्पतियोको प्रत्येक समझना चाहिए ।१०१।

गो. जी /जी प्र /१८८/४२७/५ तच्छरीर साधारणं-साधारणजीवाश्रितत्वेन साधारणमित्युपचर्यते। प्रतिष्ठितशरीरमित्यर्थ' ।=प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिमें पाये जानेवाले असंख्यात शरीर ही साधारण है ।) यहाँ प्रतिष्ठित प्रत्येक साधारण जीवोंके द्वारा आश्रितकी अपेक्षा उपचार करके साधारण कहा है। (का. अ./टी /१२८)

६. एक साधारण शरीरमें अनन्त जीवोंका अवस्थान

ष.ख. १४/५,६/सू. १२६,१२८/२३१-२३४ बादरसुहुमणिगोदा बद्धा पुट्ठा य एयमेएण। ते हु अणंता जीवा मूलयथूहल्लयादीहि ।१२६। एगणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा। सिद्धेहि अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण ।१२८।=१ बादर निगोद जीव और सूक्ष्म निगोद जीव ये परस्परमें (सब अवयवोंसे) बद्ध और स्पष्ट होकर रहते हैं। तथा वे अनन्त जीव है जो मूली, थूवर, और आर्द्रक आदिके निमित्तसे होते है ।१२६। २. एक निगोद शरीरमें द्रव्य प्रमाणकी अपेक्षा देखे गये जीव सब अतीत कालके द्वारा सिद्ध हुए जीवोंसे भी अनन्तगुणे है ।१२८। (प स /प्रा /१/८४) (ध १/१,१,४१/गा १४७/२७०) (ध.४/१,५,३१/गा ४३/४७८) (ध १४/५,६,९३/८६/१२) (ध १४/५,६,९३/९८/६) (गो. जी./मू./१९६/४३७)।

७. साधारण शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहना

गो. जी./जी. प्र /१८६/४२३/११ प्रतिष्ठितप्रत्येकवनस्पतिजीवशरीरस्य सर्वोत्कृष्टमवगाहनमपि घनाङ्गुलासख्येयभागमात्रमेवेति पूर्वोक्तार्द्रकादिस्कन्धेषु एकैकस्मिस्तानि असंख्यातानि असंख्यातानि सन्ति। =प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीरको सर्वोत्कृष्ट अवगाहना घनागुलके असंख्यात भाग मात्र ही है। क्योंकि पूर्वोक्त आतकको आदि लेकर एक-एक स्कन्धमें असंख्यात प्रतिष्ठित प्रत्येक शरीर (त्रैराशिक गणित विधानके द्वारा) पाये जाते हैं।

५. साधारण शरीरमें जीवोंका उत्पत्ति क्रम

१. निगोद शरीरमें जीवोंकी उत्पत्ति क्रमसे होती है

ष खं. १४/५,६/५८२-५८६/४६६ जो णिगोदो पढमदाए वक्कममाणो अणंता वक्कमंति जीवा। एयसमएण अणंताणंतसाहारणजीवेण घेत्तूण एगसरीर भवदि असंखेज्जलोगमेत्तसरीराणि घेत्तूण एगो णिगोदो होदि ।५८२। विदियसमए असंखेज्जगुणहीणा वक्कमंति ।५८३। तदियसमए असंखेज्जगुणहीणा वक्कमंति ।५८४। एव जाव असंखेज्जगुणहीणाए सेडीए णिरंतरं वक्कमंति जाव उक्कस्सेण आवलियाए असंखेज्जदि भागो ।५८५। तदो एक्को वा दो वा तिण्णि वा समए अंतरं काऊण णिरंतरं वक्कमंति जाव उक्कस्सेण आवलियाए असंखेज्जदि भागो ।५८६।

ध. १४/५,६,१२७/२३३/५ एवं सांतरणिरंतरकमेण ताव उप्पज्जंति जाव उप्पत्तीए संभवो अत्थि। =प्रथम समयमें जो निगोद उत्पन्न होता है उसके साथ अनन्त जीव उत्पन्न होते है। यहाँ एक समयमें अनन्तानन्त जीवोको ग्रहण कर एक शरीर होता है, तथा असंख्यात लोकप्रमाण शरीरोको ग्रहण कर एक निगोद होता है ।५८२। दूसरे समयमें असंख्यात गुणे हीन निगोद जीव उत्पन्न होते है ।५८३। तीसरे समयमें असंख्यात गुणे हीन निगोद जीव उत्पन्न होते है ।५८४। इस प्रकार आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण कालतक निरन्तर असंख्यातगुणे हीन श्रेणी रूपसे निगोद जीव उत्पन्न होते है ।५८५। उसके बाद एक, दो और तीन समयसे लेकर आवलिके असंख्यातवें भाग प्रमाण कालका अन्तर करके आवलिके असंख्यातवें भागप्रमाणकालतक निरन्तर निगोद जीव उत्पन्न होते है ।५८६। इस प्रकार सान्तर निरन्तर क्रमसे जबतक जीव उत्पन्न होते है जबतक उत्पत्ति सम्भव है। (गो. जी /जी. प्र./१९३/४३२/५)।

गो जी /जी. प्र /१९३/४३२/६ एवं सान्तरनिरन्तरक्रमेण तावदुत्पद्यन्ते यावत्प्रथमसमयोत्पन्नसाधारणजीवस्य सर्वजघन्यो निर्वृत्त्यपर्याप्तकालोऽवशिष्यते २० पुनरपि तत्प्रथमादिसमयोत्पन्नसर्वसाधारणजीवाना आहारशरीरेन्द्रियोच्छ्वासनि.श्वासपर्याप्तीना स्वस्वयोग्यकाले निष्पत्तिर्भवति। =इस प्रकार सान्तर निरन्तर क्रमसे तबतक जीव उत्पन्न होते है जबतक प्रथम समयमें उत्पन्न हुआ साधारण जीवका जघन्य निर्वृत्ति अपर्याप्त अवस्थाका काल अवशेष रहे। फिर पीछे उन प्रथमादि समयमें उपजे सर्वसाधारण जीवके आहार, शरीर, इन्द्रिय श्वासोच्छ्वासकी सम्पूर्णता अपने-अपने योग्य कालमें होती है।

२. निगोद शरीरमें जीवोंकी मृत्यु क्रम व अक्रम दोनों प्रकारसे होती है

ष खं. १४/५,६/सू. ६३१।४८५ जो णिगोदो जहण्ण वक्कमंतो जहण्णएण पबन्धणकालेण पबद्धो तेसिं मो' ग्राममें आपने पबद्धाण मरणक्कमेण णिग्गमो होदि ।६३१। । प्राप्त करके पट्खण्ड-

ध. १४/५.६.६३१/४८६/६ एक्कम्हि सरीरे उप्पज्जमाणबादरणिगोदा किमक्कमेण उप्पज्जंति आहो कमेण। जदि अक्कमेण उप्पज्जति तो अक्कमेणेव मरणेण वि होदव्व, एक्कम्हि मरते सते अण्णेसिं मरणाभावे साहारणत्तविरोहादो। अह जइ कमेण असखेज्जगुणहीणाए सेडीए उप्पज्जति तो मरण पि जवमज्झागारेण ण होदि, साहारणत्तस्स विणासप्पसंगादो त्ति। एत्थ परिहारो वुच्चदे—असखेज्जगुणहीणाए कमेण वि उप्पज्जंति अक्कमेन वि अणता जीवा एगसयए उप्पज्जति। ण च फिट्टदि। एदीय गाहाए भणिदलक्खणाणमभावे साहारणत्तविणासदो। तदो एगसरीरुप्पण्णाणं मरणक्कमेण णिग्गमो होदि त्ति एदं पि ण विरुज्झदे। ण च एगसरीरुप्पण्णा सव्वे समाणाउवा चेव होति त्ति णियमो अत्थि जेण अक्कमे तेसि मरण होज्ज। तम्हा एगसरीरट्ठिदाणं पि मरणजवमज्झं समिलाजवमज्झं च होदि त्ति घेत्तव्वं। =जो निगोद जघन्य उत्पत्ति कालके द्वारा बन्धको प्राप्त हुआ है उन बादर निगोदोका उस प्रकारसे बन्ध होनेपर मरणके क्रमानुसार निर्गम होता है।६३१। प्रश्न—एक शरीरमें उत्पन्न होनेवाले बादर निगोद जीव क्या अक्रमसे उत्पन्न होते हैं या क्रमसे? यदि अक्रमसे उत्पन्न होते हैं तो अक्रमसे हो मरण होना चाहिए, क्योंकि एकके माननेपर दूसरोंका मरण न होनेपर उनके साधारण होनेमें विरोध आता है। यदि क्रमसे असंख्यातगुणी हीन श्रेणी रूपसे उत्पन्न होते हैं, तो मरण भी यवमध्यके आकार रूपसे नहीं हो सकता है, क्योंकि साधारणपनेके विनाशका प्रसंग आता है। उत्तर—असंख्यातगुणी हीन श्रेणिके क्रमसे भी उत्पन्न होते हैं, और अक्रमसे भी अनन्त जीव एक समयमें उत्पन्न होते हैं। और साधारणपना भी नष्ट नहीं है। (साधारण आहार व उच्छ्वासका ग्रहण साधारण जीवोंका लक्षण है—दे० वनस्पति/४/२)। इस प्रकार गाथा द्वारा कहे गये लक्षणोंके अभावमें ही साधारणपनेका विनाश होता है। इसलिए एक शरीरमें उत्पन्न हुए निगोदोंका मरणके क्रमसे निर्गम होता है इस प्रकार यह कथन भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है। और एक शरीरमें उत्पन्न हुए सब समान आयुवाले ही होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, जिससे अक्रमसे उनका मरण होवे, इसलिए एक शरीरमें स्थित हुए निगोदोका मरण यवमध्य और शामिला यवमध्य है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

३. आगे-पीछे उत्पन्न होकर भी उनकी पर्याप्ति युगपत् होती है

ध. १४/५,६,१२४/२२६/२ एक्कम्हि सरीरे जे पढम चेव उप्पण्णा अणंता जीवा जे च पच्छा उप्पण्णा ते सव्वे समग वक्कंता णाम। कथं भिण्णकालमुप्पण्णाण जीवाणं समगत्त जुज्जदे। ण, एगसरीरसबंधेण तेसिं सव्वेसिं पि समगत्त पडिविरोहाभावादो। एक्कम्हि सरीरे पच्छा उप्पज्जमाणा जीवा अत्थि, कथ तेसि पढम चेव उप्पत्ती होदि। ण, पढमसमए उप्पण्णाण जीवाणमणुग्गहणफलस्स पच्छा उप्पण्णजीवेसु वि उवलभादो। तम्हा एगणिगोदसरीरे उप्पज्जमाणसव्वजीवाण पढमसमए चेव उप्पत्ती एदेण णाएण जुज्जदे।

ध. १४/५,६,१२२/२२७/४ एदस्स भावत्थो—सव्वजहण्णेण पज्जत्तिकालेण जदि पुव्वुप्पण्णणिगोदजीवा सरीरपज्जत्ति-इंदियपज्जत्ति-आहार-आणपाणपज्जत्तीहि पज्जत्तयदा होंति तम्हि सरीरे तेहि समुप्पण्णमदजोगिणिगोदजीवा वि तेणेव कालेग एदाओ पज्जत्तीओ समाणेंति, अण्णहा आहारगहणादीण साहारणत्ताणुववत्तीदो। जदि दीहकालेन पढममुप्पण्णजीवा चत्तारि पज्जत्तीओ समाणेंति तो तम्हि सरीरे पच्छा उप्पण्णजीवा तेणेव कालेण ताओ पज्जत्तीओ समाणेति जोवने एक शदि। सरीरिंदियपज्जत्तीण साहारणत्त किण्ण परूके अनुभव करनेरुणावणिद्द सो देसामासिओ त्ति तेसिं पि एत्थेव शरीर है। १ एक शरीरमें जो पहले उत्पन्न हुए अनन्त जीव है, और जो बादमें उत्पन्न हुए अनन्त जीव हैं वे सब एक साथ उत्पन्न हुए कहे जाते हैं। प्रश्न—भिन्न कालमें उत्पन्न हुए जीवोंका एक साथपना कैसे बन सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, एक शरीरके सम्बन्धसे उन जीवोंके भी एक साथपना होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। प्रश्न—एक शरीरमें बादमें उत्पन्न हुए जीव हैं, ऐसी अवस्थामें उनकी प्रथम समयमें ही उत्पत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रथम समयमें उत्पन्न हुए जीवोंके अनुग्रहणका फल बादमें उत्पन्न हुए जीवोंमें भी उपलब्ध होता है, इसलिए एक निगोद शरीरमें उत्पन्न होनेवाले सब जीवोंकी प्रथम समयमें ही उत्पत्ति इस न्यायके अनुसार बन जाती है। २ इसका तात्पर्य यह है कि—सबसे जघन्य पर्याप्ति कालके द्वारा यदि पहले उत्पन्न हुए निगोद जीव शरीरपर्याप्ति, इन्द्रियपर्याप्ति, आहारपर्याप्ति और उच्छ्वासनिश्वास पर्याप्तिसे पर्याप्त होते हैं, तो उसी शरीरमें उनके साथ उत्पन्न हुए मन्दयोगवाले जीव भी उसी कालके द्वारा इन पर्याप्तियोंको पूरा करते हैं, अन्यथा आहार ग्रहण आदिका साधारणपना नहीं बन सकता है। यदि दीर्घ कालके द्वारा पहले उत्पन्न हुए जीव चारों पर्याप्तियोंको प्राप्त करते हैं तो उसी शरीरमें पीछेसे उत्पन्न हुए जीव उसी कालके द्वारा उन पर्याप्तियोंको पूरा करते हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। प्रश्न—शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति ये सबके साधारण हैं ऐसा (सूत्रमें) क्यों नहीं कहा। उत्तर—नहीं, क्योंकि गाथा सूत्रमें 'आहार' और आनपानका ग्रहण देशामर्शक है, इसलिए उनका भी इन्हींमें अन्तर्भाव हो जाता है।

४. एक ही निगोद शरीरमें जीवोंके आवागमनका प्रवाह चलता रहता है

ध. १४/५,६,५८३/४७०/५ एगसमएण जम्हि समए अणंतजीवा उप्पज्जति तम्हि चेव समए सरीरस्स पुलवियाए च उप्पत्ती होदि, तेहि विणा तेसिमुप्पत्तिविरोहादो। कत्थ वि पुलवियाए पुव्वं पि उप्पत्ती होदि, अणेगसरीराधारत्तादो। =जिस समयमें अनन्त जीव उत्पन्न होते हैं उसी समयमें शरीरकी और पुलविकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि इनके बिना अनन्त जीवोंकी उत्पत्ति होनेमें विरोध है। कहींपर पुलविकी पहले भी उत्पत्ति होती है क्योंकि वह अनेक शरीरोंका आधार है।

गो. जी./जी प्र/१९३/४३१/१६ यन्निगोदशरीरे यदा एको जीव स्वस्थितिक्षयवशेन म्रियते तदा तन्निगोदशरीरे समस्थितिका अनन्तानन्ता जीवा' सहैव म्रियन्ते। यन्निगोदशरीरे यदा एको जीव' प्रक्रमति उत्पद्यते तथा तन्निगोदशरीरे समस्थितिका' अनन्तानन्ता जीवा सहैव प्रक्रामन्ति। एवमुत्पत्तिमरणयो' समकालत्वमपि साधारणलक्षणं प्रदर्शितं। द्वितोयादिसमयोत्पन्नानामनन्तानन्तजीवानामपि स्वस्थितिक्षये सहैव मरण ज्ञातव्य एवमेकनिगोदशरीरे प्रतिसमयमनन्तानन्तजीवास्तावत्सहैव म्रियन्ते सहैवोत्पद्यन्ते यावदसख्यातसागरोपमकोटिमात्री असख्यातलोकमात्रसमयप्रमिता उत्कृष्टनिगोदकायस्थिति' परिसमाप्यते। =एक निगोद शरीरमें जब एक-एक जीव अपनी आयुकी स्थितिके पूर्ण होनेपर मरता है तब जिनकी आयु उस निगोद शरीरमें समान हो वे सब युगपत् मरते हैं। और जिस कालमें एक जीव उस निगोद शरीरमें जन्म लेता है, तब उस हीके साथ समान स्थितिके धारक अनन्तानन्त जीव उत्पन्न होते हैं। ऐसे उपजने मरनेके समकालपनेको भी साधारण जीवका लक्षण कहा है (दे० वनस्पति/४/२) और द्वितीयादि समयोंमें उत्पन्न हुए अनन्तानन्त जीवोंका भी अपनी आयुका नाश होनेपर साथ ही मरण होता है। ऐसे एक निगोद शरीरमें अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं, एक साथ मरते हैं, और निगोद शरीर ज्योंका त्यों बना रहता है। इस निगोद शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति असख्यात कोडाकोडी सागर

प्रमाण है। सो असंख्यात लोकमात्र समय प्रमाण जानना। जब तक वह स्थिति भावत पूर्ण नहीं होती, तनतक जीवोंका मरना उत्पन्न होना रहा करता है।

५. बादर व सूक्ष्म निगोद शरीरोंमें पर्याप्त व अपर्याप्त जीवोंके अवस्थान सम्बन्धी नियम

प खं. १४/५,६/सू. ६२६-६३०/४८३ सव्वो बादरणिगोदो पज्जत्तो वा वामिस्सो वा ।६२६। सु मणिगोदवग्गणाए पुण णियमा वा मिस्सो ।६३०।

ध. १४/५,६,६२६/४८३-४८४/१० खंधंडरावासपुलवियाओ अस्सिदूण एट सुत्त परूविद ण सरीरे, एगम्मि सरीरे पज्जत्तापज्जत्ताजीवाणमवट्ठाणविरोहादो। सव्वो बादरणिगोदो पज्जत्तो वा होदि। कुदो। बादरणिगोदपज्जत्तेहि सह खधडरावासपुलवियासु उप्पण्णबादरणिगोदअणंतापज्जत्तएसु अतोमुहुत्तेण कालेण णिस्सेस मुदेसु सुद्धाण बादरणिगोदपज्जत्ताण चेव तत्थावट्ठाणदसणादो। एत्तो हेट्ठा पुण बादरणिगोदो वामिस्सो होदि, खंधडरावासपुलवियासु बादरणिगोदपज्जत्तापज्जत्ताणं अणताणं सहावट्ठाणदसणादो।

ध. १४/५,६,६३०/४८४/६ सुहुमणिगोदवग्गणाए पज्जत्तापज्जत्ता ष जेण सव्वकाल सभवति तेण सा णियमा पज्जत्तापज्जत्तजीवेहिं वामिस्सा होदि। किमट्ठ सव्वकालं सभवदि। सुहुमणिगोदपज्जत्तापज्जत्ताण वक्कमणपदेसकालणियमाभावादो। एत्थ पदेसे एत्तियं चेव कालमुप्पत्ती परदो ण उप्पज्जति त्ति जेण णियमो णत्थि तेण सा सव्वकाले वामिस्सा त्ति भणिदं होदि। =सब बादर निगोद पर्याप्त है या मिश्र रूप है ।६२६। परन्तु सूक्ष्म निगोद वर्गणामें नियमसे मिश्र रूप है ।६३०। स्कन्ध अण्डर आवास और पुलवियोंका आश्रय लेकर यह सूत्र कहा गया है, शरीरोंका आश्रय लेकर नहीं कहा गया है, क्योंकि एक शरीरमें पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंका अवस्थान होनेमें विरोध है। सब बादर निगोद जीव पर्याप्त होते हैं, क्योंकि बादर निगोद पर्याप्तकोके साथ स्कन्ध, अण्डर, आवास, और पुलवियोंमें उत्पन्न हुए अनन्त बादर निगोद अपर्याप्त जीवोके अन्तर्मुहूर्त कालके भीतर सबके मर जानेपर वहाँ केवल बादर निगोद पर्याप्तकोंका ही अवस्थान देखा जाता है। परन्तु इससे पूर्व बादर निगोद व्यामिश्र होता है, क्योंकि स्कन्ध, अण्डर, आवास और पुलवियोमें अनन्त बादर निगोद पर्याप्त और अपर्याप्त [illegible]वोंका एक साथ अवस्थान देखा जाता है। यत· सूक्ष्म निगोद [illegible]णामें पर्याप्त और अपर्याप्त जीव सर्वदा सम्भव है, इसलिए वह [illegible]यमसे पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोसे मिश्र रूप होती है। प्रश्न—उसमें सर्वकाल किसलिए सम्भव है। उत्तर—क्योकि सूक्ष्म निगोद पर्याप्त और अपर्याप्त जीवोंकी उत्पत्तिके प्रदेश और कालका कोई नियम नही हे। इस प्रदेशमें इतने ही काल तक उत्पत्ति होती है, आगे उत्पत्ति नहीं होती इस प्रकारका चूँकि नियम नही है, इसलिए वह सूक्ष्म निगोद वर्गणा मिश्ररूप होती है।

गो जी /जी. प्र /१९३/४३२/३ अत्र विशेषोऽस्ति स च क। एकबादरनिगोदशरीरे सूक्ष्मनिगोदशरीरे वा अनन्तानन्ता साधारणजीवा, केवलपर्याप्ता एवोत्पद्यन्ते पुनरपि एकशरीरे केवलमपर्याप्ता एवोत्पद्यन्ते न च मिश्रा उत्पद्यन्ते तेषा समानकर्मोदयनियमात्। =इतना विशेष है कि एक बादर निगोद शरीरमें अथवा सूक्ष्म निगोद शरीरमें अनन्तानन्त साधारण जीव केवल पर्याप्त ही उत्पन्न होते हैं, वहाँ अपर्याप्त नहीं उपजते। और कोई शरीरमें अपर्याप्त ही उपजते है वहाँ पर्याप्त नहीं उपजते। एक ही शरीरमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनो युगपत् नही उत्पन्न होते। क्योकि उन जीवोके समान कर्मके उदयका नियम है।

६. अनेक जीवोंका एक शरीर होनेमें हेतु

ध. १/१,१,४१/२६६/८ प्रतिनियतजीवप्रतिबद्धै· पुद्गलविपाकित्वादाहारवर्गणास्कन्धानां कायाकारपरिणमनहेतुभिरौदारिककर्मस्कन्धै. कथ भिन्नजीवफलदातृभिरेकं शरीरं निष्पाद्यते विरोधादिति चेन्न, पुद्गलानामेकदेशावस्थितानामेकदेशावस्थितमिथ समवेतजीवसमवेतानां तत्स्थाशेषप्राणिसंबन्ध्येकशरीरनिष्पादनं न विरुद्धं साधारणकारणत समुत्पन्नकार्यस्य साधारणत्वाविरोधात्। कारणानुरूप कार्यमिति न निषेद्धुं पार्यते सकलनैयायिकलोकप्रसिद्धत्वात्। =प्रश्न—जीवोंसे अलग-अलग बँधे हुए, पुद्गल विपाकी होनेसे आहार-वर्गणाके स्कन्धोंको शरीरके आकार रूपसे परिणमन करानेमें कारण रूप और भिन्न-भिन्न जीवोंको भिन्न-भिन्न फल देनेवाले औदारिक कर्म स्कन्धोंके द्वारा अनेक जीवोके एक-एक शरीर कैसे उत्पन्न किया जा सकता है, क्योकि ऐसा माननेमें विरोध आता है। उत्तर—नही, क्योकि, जो एक देशमें अवस्थित हैं और जो एक देशमें अवस्थित तथा परस्पर सम्बद्ध जीवोंके साथ समवेत हैं, ऐसे पुद्गल वहाँपर स्थित सम्पूर्ण जीव सम्बन्धी एक शरीरको उत्पन्न करते है, इसमें कोई विरोध नही आता है, क्योकि, साधारण कारणसे उत्पन्न हुआ कार्य भी साधारण होता है। कारणके अनुरूप ही कार्य होता है. इसका निषेध भी तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि, यह बात सम्पूर्ण नैयायिक लोगोमें प्रसिद्ध है।

७. अनेक जीवोंका एक आहार होनेमे हेतु

ध· १४/५,६,१२२/२२७/६ कथमेगेण जीवेण गहिदो आहारो तक्काले तत्थ अणंताणं जीवाणं जायदे। ण, तेणाहारेण जणिसत्तीए पच्छा उप्पण्णजीवाण उप्पणपढमसमए चेव उवलभादो। जदि एव तो आहारो साहारणो होदि आहारजणिदसत्ती साहारणे त्ति वत्तव्व। न एस दोसो, कज्जे कारणोवयारेण आहारजणिदसत्तीए वि आहारववएससिद्धीओ। =प्रश्न—एक जीवके द्वारा ग्रहण किया गया आहार उस कालमें वहाँ अनन्त जीवोका कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योकि उस आहारसे उत्पन्न हुई शक्तिका बादमें उत्पन्न हुए जीवोके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें ही ग्रहण हो जाता है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'आहार साधारण है' इसके स्थानमें 'आहार जनित शक्ति साधारण है' ऐसा कहना चाहिए। उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योंकि कार्यमें कारणका उपचार कर लेनेसे आहार जनित शक्तिके भी आहार सज्ञा सिद्ध होती है।

बनारसीदास—आगरा निवासी श्रीमाल वैश्य थे। इनका जन्म जौनपुरमें खरगसेनके घर माघ शु ११ वि १६४३में हुआ था। पहिले आप श्वेताम्बर आम्नायमें थे बादमें दिगम्बर हो गये। कुछ समय तक जवाहरातका व्यापार भी किया। वेदान्ती विचारोके कारण अध्यात्मी कहलाते थे। महाकवि गोस्वामी तुलसीदासके समकालीन थे। आपकी निम्न कृतिमें प्रसिद्ध है—१ नवरस पद्यावली (यह एक शृंगार रसपूर्ण रचना थी जो पीछे विवेक जागृत होनेपर इन्होंने जमुनामें फेंक दी।) २ नाममाला, ३ नाटक समयसार (वि. १६६३) ४. बनारसी विलास (वि. १७०१), ५ कर्म प्रकृति विधान (वि १७००); ६. अर्ध कथानक (वि १६९८)। **समय**—वि १६४३-१७०० (ई १५८७-१६४४)। (समयसार नाटक/१), (स सा /कलश टीका/ब्र शीतल प्रसाद), (हि जे. सा इ/११०/बा कामता प्रसाद)।

बनारसी विलास—प बनारसीदास (ई० १६४४) द्वारा रचित भाषा पद सग्रह।

वापदेव—उत्कलिका ग्रामके समीप 'मणवल्ली' ग्राममें आपने आचार्य शुभनन्दि व रविनन्दिसे ज्ञान व उपदेश प्राप्त करके षट्खण्ड-

के प्रथम ५ खण्डोंपर व्याख्या प्रज्ञप्ति नामकी टीका तथा कषाय पाहुड की भी एक उच्चारणा नामकी संक्षिप्त टीका लिखी। पीछे चित्रकूटपुर ग्राममें श्री वीरसेनस्वामीने इनके पाससे सिद्धान्तका अभ्यास करके षट्खण्डके पाँच खण्डोंपर धवला नामकी टीका रची थी। आचार्य वीरसेन स्वामीके अनुसार आपका समय—ई० ७६७-७९८ के लगभग होना चाहिए। (ष. खं. १/प्र. ३६-५२/H. L. Jain)।

बल—१ मन, वचन, व काय बल—दे० वह वह नाम। २. तुल्य बल विरोध—दे० विरोध।

बल ऋद्धि—दे० ऋद्धि/६।

बलचंद्र—श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं. ७ के अनुसार आप दिगम्बराचार्य धर्मसेन नं. २ के शिष्य थे। समय—वि. ७५७ (ई० ७००) (भ. आ./प्र. १९/प्रेमी)।

बलदेव—१. पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप मित्रवीरके शिष्य तथा मित्रकके गुरु थे। (दे० इतिहास/५/१८); २ श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं. १५ के आधारपर आप कनकसेनके गुरु थे। समय—वि. ७०७ (ई० ६५०) (भ आ /प्र. १९/प्रेमी) ३. श्रवणबेलगोलाके शिलालेख नं ७ के आधारपर आप धर्मसेनके गुरु थे। समय—वि० ७५७ (ई० ७००) (भ आ./प्र १९/प्रेमी जी) ४. ह. पु./सर्ग/श्लोक न. वसुदेवका पुत्र था (३२/१०) कृष्णको जन्मते ही नन्द गोपके घर पहुँचाया (३५/१२) वहाँ जाकर उसको शिक्षित किया (३५/६४) द्वारकाकी रक्षाके लिए द्वैपायन मुनिसे प्रार्थना करनेपर केवल प्राण भिक्षा मिली (६१/४८-८६) जंगलमें जरतकुमार द्वारा कृष्णके मारे जानेपर (६३/७) ६ माह तक कृष्णके शवको लिये फिरे (६३/११-६०)। फिर देवके (जो पहले सिद्धार्थ नामक सारथि था) सम्बोधे जानेपर (६३/६१-७१) दीक्षा धारण कर (६३/७२) घोर तप किया (६५/११४)। सौ वर्ष तपश्चरण करनेके पश्चात् स्वर्गमें देव होकर (६५/३३) नरकमें जाकर कृष्णको सम्बोधा (६५/४२-५४)—विशेष दे० शलाका पुरुष/३।

बलदेव सूरि—आप भगवती आराधनाकार आचार्य शिवकोटि (शिवार्य) के गुरु बताये जाते हैं। आप स्वयं चन्द्रनन्दि नामक आचार्यके शिष्य थे। तदनुसार आपका समय—ई० श० १ पूर्वार्ध आता है। (भ. आ /प्र./१६/प्रेमी जी)।

बलभद्र—१ सुमेरु सम्बन्धी नन्दन वनमें स्थित एक प्रधान कूट व उसका स्वामी देव। अपरनाम मणिभद्र है।—दे० लोक/७। २ सनत्कुमार स्वर्गका छठा पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

बलमद—दे० मद।

बलमित्र—श्वेताम्बर आम्नायके अनुसार इनका अपरनाम वसुमित्र था।—दे० वसुमित्र।

बलाक पिच्छ—मूल संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप आचार्य उमास्वामीके शिष्य थे। समन्तभद्र आचार्यके समकालीन तथा लोहाचार्य तृतीयके सहधर्मा थे। लोहाचार्यका नाम मूल नन्दिसंघमें आता है। पर इनका नाम उसी नन्दिसंघके देशीय गण नं० २ में आता है। अर्थात् ये देशीय गण नं. २ के अग्रणी थे। समय—वि. २०१-२१३) (ई. १४४)—विशेष दे० इतिहास/५/३।

बलात्कार गण—नन्दि संघकी एक शाखा—दे० इतिहास/५।

बलाधान कारण—दे० निमित्त/१।

बलि—१. पूजा (प प्र/२/१३६), २. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/२. ३ वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका। ४. ह. पु /२०/श्लोक न० उज्जयनी नगरीके राजा श्रीधर्माके ४ मन्त्री थे। बलि, प्रह्लाद, बृहस्पति व नमुचि। (४) एक समय राजाको संघ मुनि वन्दनार्थ जाना पड़ा (८)। जाते समय एक मुनिसे वाद-विवाद हो गया जिसमें इनको परास्त होना पड़ा (१०)। इससे क्रुद्ध हो प्रतिकारार्थ रात्रिको मुनि हत्याका उद्यम करनेपर वनदेवता द्वारा कील दिये गये। तथा देशसे निकाल दिये गये (११)। तत्पश्चात् हस्तनागपुरमें राजा पद्मके मन्त्री हो गये। वहाँ उनके शत्रु सिंहरथको जीतकर राजासे वर प्राप्त किया (१७)। मुनि संघके हस्तनागपुर पधारनेपर वरके बदलेमें सात दिनका राज्य ले (२२) नरमेध यज्ञके बहाने, सकल मुनिसंघको अग्निमें होम दिया (२३)। जिस उपसर्गको विष्णु कुमार मुनिने दूर कर इन चारोंको देश निकाला दिया (६०)।

बलीन्द्र—वर्तमानकालीन भारतमें प्रतिनारायण थे। अपरनाम प्रहरण व प्रह्लाद था। (म. पु./६६/१०६) विशेष परिचय—दे० शलाका पुरुष/५।

बल्लाक देव—कर्नाटक देशस्थ होय्सलका राजा था। इसके समयमें कर्नाटक देशमें जैन धर्मका प्रभाव खूब बढ़ा। विष्णुवर्धनके उत्तराधिकारी नारसिंह और उसके उत्तराधिकारी बल्लाक देव हुए। विष्णुवर्धन द्वारा किया गया जैनियोंपर अत्याचार इसने दूर किया। यद्यपि ध. ३/प्र. ४ के अनुसार इनका समय ई० ११०० बताया गया है, परन्तु उपरोक्त कथनके अनुसार इनका समय—ई० ११६३-११८० आना चाहिए। (ध नं. ३/प्र ८/ H. L. Jain)।

बहल—भ. आ./वि /७००/८८२/६ तितिणीकाम्लरसप्रभृतिकं च अन्यद्बहलं। = राजी, द्राक्षारस, इमलीका सार, वगैरह गाढ पानकको बहल कहते हैं।

बहिरात्मा—

मो. पा /मू /८-९ बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचओ। णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ।८। णियदेहसरिच्छं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण। अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण।९। = बाह्य धनादिकमें स्फुरत अर्थात् तत्पर है मन जिसका, वह इन्द्रियोंके द्वारा अपने स्वरूपसे च्युत है अर्थात् इन्द्रियोंको ही आत्मा मानता हुआ अपनी देहको ही आत्मा निश्चय करता है, ऐसा मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है।८। (स श./७) (प. प्र./मू./१/१३) वह बहिरात्मा मिथ्यात्व भावसे जिस प्रकार अपने देहको आत्मा मानता है, उसी प्रकार परका देहको देख अचेतन है फिर भी उसको आत्मा माने है, और उसमें बडा यत्न करता है।९।

नि. सा /मू /१४९-१५२ ··आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा।१४९। अंतरबाहिरजप्पे जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा·।१५०।·· झाणविहीणो समणो बहिरप्पा इदि विजाणीहि।१५१। = षट् आवश्यक क्रियाओंसे रहित श्रमण वह बहिरात्मा है।१४९। और जो अन्तर्बाह्य जल्पमें वर्तता है, वह बहिरात्मा है।१५०। अथवा ध्यानसे रहित आत्मा बहिरात्मा है ऐसा जान।१५१।

र. सा /१३५-१३७ अप्पाणाणज्झाणज्झयणसुहमियरसायणप्पाणं। मोत्तूणक्खाणसुहं जो भुंजइ सो हु बहिरप्पा।१३५। देहकलत्तं पुत्तं मित्ताइ विहावचेदणारूवं। अप्पसरूवं भावइ सो चेव हवेइ बहिरप्पा।१३७। = आत्माके ज्ञान, ध्यान व अध्ययन रूप सुखामृतको छोड़कर इन्द्रियोंके सुखको भोगता है, सो ही बहिरात्मा है।१३५। देह, कलत्र, पुत्र व मित्रादिक जो चेतनाके विभाविक रूप हैं, उनमें अपनापनेकी भावना करनेवाला बहिरात्मा होता है।१३७।

यो. सा यो /७ मिच्छा-दंसण-मोहियउ परु अप्पा ण मुणेइ। सो बहिरप्पा जिण भणिउ पुण संसार भमेइ।७। = जो मिथ्यादर्शनसे मोहित जीव परमात्माको नहीं समझता, उसे जिन भगवान्ने बहिरात्मा कहा है, वह जीव पुनः पुनः संसारमें परिभ्रमण करता है।७।

ज्ञानसार/३० मदमोहमानसहितः रागद्वेषैर्नित्यसतप्त'। विषयेषु तथा शुद्ध' वहिरात्मा भण्यते सैष'।३०। =जो मद, मोह व मान सहित है, राग-द्वेपसे नित्य संतप्त रहता है, विषयोंमें अति आसक्त है, उसे बहिरात्मा कहते है।३०।

का./अ./मू./१९३ मिच्छत्त-परिणदप्पा तिव्व-कसाएण सुट्ठु आविट्ठो। जीव देह एक्कं मण्णतो होदि बहिरप्पा।१९३। =जो जीव मिथ्यात्व कर्मके उदय रूप परिणत हो, तीव्र कषायसे अच्छी तरह आविष्ट हो, और जीव तथा देहको एक मानता हो, वह बहिरात्मा है।१९३।

प्र. सा./ता. वृ./२३८/३२६/१२ मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्था। =मिथ्यात्व व राग-द्वेषादि कषायोंसे मलीन आत्माकी अवस्थाको बहिरात्मा कहते है।

द्र. स./टी./१४/४६/८ स्वशुद्धात्मसवित्तिसमुत्पन्नवास्तवसुखात्प्रतिपक्षभूतेनेन्द्रियसुखेनासक्तो बहिरात्मा,' अथवा देहरहितनिजशुद्धात्मद्रव्यभावनालक्षणभेदज्ञानरहितत्वेन देहादिपरद्रव्येष्वेकत्वभावनापरिणतो बहिरात्मा, अथवा हेयोपादेयविचारकचित्तं निर्दोषपरमात्मनो भिन्ना रागादयो दोषा, शुद्धचैतन्यलक्षण आत्मा, इत्युक्तलक्षणेषु चित्तदोषात्मासु त्रिषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतेषु अन्येषु वा पदार्थेषु यस्य परस्परसापेक्षनयविभागेन श्रद्धानं ज्ञानं च नास्ति स बहिरात्मा। =१ निज शुद्धात्माके अनुभवसे उत्पन्न यथार्थ सुखसे विरुद्ध जो इन्द्रिय सुख उसमें आसक्त सो बहिरात्मा है। २ अथवा देह रहित निज शुद्धात्म द्रव्यकी भावना रूप भेदविज्ञानसे रहित होनेके कारण देहादि अन्य द्रव्योंमें जो एकत्व भावनासे परिणत है यानी—देहको ही आत्मा समझता है सो बहिरात्मा है। ३. अथवा हेयोपादेयका विचार करनेवाला जो 'चित्त' तथा निर्दोष परमात्मासे भिन्न रागादि 'दोष' और शुद्ध चैतन्य लक्षणका धारक 'आत्मा' इन (चित्त, दोष व आत्मा) तीनोमें अथवा सर्वज्ञ कथित अन्य पदार्थोंमें जिसके परस्पर सापेक्ष नयो द्वारा श्रद्धान और ज्ञान नहीं है वह बहिरात्मा है।

२. बहिरात्मा विशेष

का अ./टी./१९३ उत्कृष्टा बहिरात्मा गुणस्थानादिमे स्थिता। द्वितीये मध्यमा, मिश्रे गुणस्थाने जघन्यका इति। =प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है, दूसरे सासादन गुणस्थानमें स्थित मध्यम बहिरात्मा है, और तीसरे गुणस्थान वाले जघन्य बहिरात्मा है।

बहिर्यानक्रिया—दे० संस्कार/२।

बहु—मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४।

बहुकेतु—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

बहुजनपृच्छा दोष—दे० आलोचना/४।

बहुमान—मू आ/२८३ सुत्तत्थं जप्पतो वायतो चावि णिज्जराहेदु। आसादण ण कुज्जा तेण किद होदि बहुमाण।२८३।=अंगपूर्वादिका सम्यक् अर्थ उच्चारण करता वा पढता, पढाता हुआ जो भव्य कर्म निर्जराके लिए अन्य आचार्योंका वा शास्त्रोंका अपमान नहीं करता है वही बहुमान गुणको पालता है।

भ. आ/वि/११३/२६१/३ बहुमाणे सन्मान। शुचे कृताञ्जलिपुटस्य अनाक्षिप्तमनस' सादरमध्ययनम्।=पवित्रतासे, हाथ जोडकर, मनको एकाग्र करके बडे आदरसे अध्ययन करना बहुमान विनय है।

बहुमुखी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० 'विद्याधर'।

बहुरूपिणी—भगवान् नेमीनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष।

बहुवज्रा—भरत क्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

बहुविध—मतिज्ञानका एक भेद—दे० मतिज्ञान/४।

बहुश्रुत—ध ८/३,४१/८९/७ बारसगपारयाबहुसुदाणाम।=जो बारह अगोंके पारगामी है वे बहुश्रुत कहे जाते है।

बहुश्रुत भक्ति—दे० भक्ति/१।

बाकी—Substraction (ध. ५/प्र २८)।

बाण—१ Hight of a segment (ज. प./प्र. १०७) २. बाण निकालनेकी प्रक्रिया—दे० गणित/II/७।

बाणभट्ट—१ इन्होने कादम्बरी व हर्ष चरितकी रचना की थी। समय—वि० ६६७-७०७ (क्षत्र चूडामणि/प्र.८/प्रेमी) २ मगध (मालवा) देशके राज्य वंशके अनुसार (दे० इतिहास) भृत्यान्ध्र वशका ही अपरनाम बाणभट्ट है—दे० इतिहास/३/१।

बाणा—भरतक्षेत्रस्थ आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

बादर—दे० सूक्ष्म।

बादरायण—एक अज्ञानवादी थे—दे० अज्ञानवाद। वेदान्तके सर्व प्रधान ब्रह्मसूत्रोंके ई० ४०० में कर्ता हुए है—दे० वेदान्त।

बादाल—(पणट्ठी)^{२} =४२९४९६७२९६.

बाधित—१. बाधित विषयके भेद

प. मु/६/१५ बाधित' प्रत्यक्षानुमानागमलोकस्ववचनै।१५।=प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक एव स्ववचन बाधितके भेदसे बधित पाँच प्रकार है।१५। (न्या दी./३/§६३/१०२/१४)।

२. बाधितके भेदोंके लक्षण

प. मु/६/१६-२० तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा—अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।१६। अपरिणामी शब्द' कृतकत्वाद् घटवत्।१७। प्रेत्यासुखप्रदो धर्म पुरुषाश्रितत्वादधर्मवत्।१८। शुचि नरशिर' कपाल प्राण्यङ्गत्वाच्छुक्तिवत्।१९। माता मे वन्ध्या पुरुषसयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत्।२०।=१ अग्नि ठण्डी है क्योकि द्रव्य है जैसा जल। यह प्रत्यक्ष बाधितका उदाहरण है। क्योंकि स्पर्शन प्रत्यक्षसे अग्निकी शीतलता बाधित है।१६। शब्द अपरिणामी है, क्योकि वह किया जाता है जैसे 'घट', यह अनुमानबाधितका उदाहरण है।१७। धर्म परभवमें दु ख देनेवाला है क्योंकि वह पुरुषके अधीन है जैसा अधर्म। यह आगम बाधितका उदाहरण है, क्योकि यहाँ उदाहरण रूप 'धर्म' तो परभवमें सुख देनेवाला है।१८। मनुष्यके मस्तककी खोपडी पवित्र है क्योंकि वह प्राणीका अग है. जिस प्रकार शख, सीप प्राणीके अग होनेसे पवित्र गिने जाते है, यह लोकबाधितका उदाहरण है।१९। मेरी माँ बाँझ है क्योंकि पुरुषके संयोग होनेपर भी उसके गर्भ नहीं रहता। जैसे प्रसिद्ध बध्या स्त्रीके पुरुषके सयोग रहनेपर भी गर्भ नही रहता। यह स्ववचनबाधितका उदाहरण है, क्योकि मेरी माँ और बाँझ ये बाधित वचन है।२०।(न्या. दी./३/§६३/१०२/१४)।

बानमुक्त—भरत क्षेत्रमें दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

बानर—बानर मनुष्य नही तिर्यञ्च होते है (म पु./८/२३०)।

बारस अणुवेक्खा—आ कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत वैराग्य विषयक ९१ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थमे बारह वैराग्य भावनाओंका कथन है। इसपर कोई टीका उपलब्ध नही है।

बारह तप व्रत—शुक्ल पक्षकी किसी तिथिको प्रारम्भ करके प्रथम १२ दिनमें १२ उपवास, आगे १२ एकाशन, १२ काजिक (जल व भातका आहार), १२ निगोरस (गोरसरहित भोजन), १२ अल्पाहार, १२ एक लठाना (एक स्थानपर मौन सहित भोजन),

१२ मूंगके आहार, १२ मोठके आहार, १२ चौलाके आहार, १२ चनाके आहार, १२ में मात्र जल, १२ घृत रहित आहार। इस प्रकार ६ कर्मोंमें बारह-बारह दिनका अन्तराय चतुर्दश मौन सहित भोजन करे। तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करना। इस प्रकार कुल १४४ दिनमें व्रत समाप्त होता है। (व्रतविधान सं./पृ.११५), (किशनसिंह क्रियाकोष)।

बारह बिजोरा व्रत—एक वर्षकी २४ द्वादशियोंके २४ उपवास करे तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे (व्रतविधान संग्रह। पृ. ६६) (वर्द्धमान पुराण)।

बारा दशमी व्रत—यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है। 'बारा दशमी सुहारी नेम, बारा बारा दश धर देय।' (व्रत विधान संग्रह। पृ. १३१), (नवलसाहकृत वर्द्धमान पु.)।

बाल—स. सा./ता./१५२/२१२/२८ यथार्थप्रतिपत्त्यभावादज्ञानिनो बाला मिथ्यादृष्ट्यादयः।=यथार्थ प्रतिपत्तिका अभाव होनेसे मिथ्यादृष्टि आदिको अज्ञानी अथवा बाल कहते हैं।

बालक्रिया—दे० क्रिया/३।

बालचंद्र—यह एक दिगम्बर साधु थे। समय—ई. श. १४ का मध्य (ई. १३५०) कृतियाँ १. पंचास्तिकायकी कन्नडी टीका, २ परमात्मप्रकाशकी कन्नडी टीका; ३ तत्त्वार्थ सूत्रकी कन्नडी टीका। (प. प्र./प्र./१२३/A.N.Up); (जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था द्वारा प्रकाशित समयसारकी प्रस्तावनामें K. B. Pathak); (पं. का./प्र./३/पं. पन्नालाल), (तत्त्वार्थसूत्र/प्र. पं. कैलाशचन्द्र)।

बालतप—दे० धर्म/२/६।

बालनंदि—माघनन्दिकी गुर्वावलीके अनुसार आप वीरनन्दि नं. ३ के शिष्य तथा जम्बूदीवपण्णत्तिके कर्ता पद्मनन्दि नं. ४ (ई. ९९३-१०४३) के गुरु थे। पद्मनन्दि नं. ४ के अनुसार इनका समय ई. ६६८-१०१८ आता है।—दे० इतिहास/५/२२ (पं. सं./प्र. ३६/A.N. Up.), (पं. वि./प्र./१२/A. N. Up.); (ज. प./प्र. १३/A.N. Up); (व. सु. श्रा./प्र./१८/पं. गजाधरलाल)।

बाल मरण—दे० मरण/१।

बालव्रत—दे० चारित्र/३/१०।

बालाग्र—क्षेत्रका प्रमाण विशेष/अपरनाम केशाग्र—दे० गणित/I/१।

बालाचार्य—दे० आचार्य/३।

बालादित्य—ई. श. ५ में एक बौद्धमतानुयायी राजा था। इसने नालन्दाके मठ बनवाये थे।

बालादित्य—कुबेर देशका राजा था। एक बार म्लेच्छों द्वारा पकड़ा गया। इसकी अनुपस्थितिमें इसकी पुत्रीने पुरुषके वेशमें राज्य किया। बहुत समय पीछे वनवासी रामने इसे मुक्त कराया। (प. पु./३४/३६-९७)।

बालिस्त—क्षेत्रका प्रमाण विशेष, अपरनाम वितस्ति।—दे० गणित/I/१।

बाली—प. पु./९/श्लोक नं. किष्किन्धपुरके राजा सूर्यरजका पुत्र था (१) रावणके युद्ध होनेपर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली (९०)। एक समय रावणने क्रुद्ध हो तपश्चरण करते समय इनको पर्वत सहित उठा लिया। तब मुनि बालीने जिन मन्दिरकी रक्षार्थ पैरका अँगूठा दबाकर पर्वतको स्थिर किया (१३२) अन्तमें इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया (२२१)।

२. बालीकी दीक्षा सम्बन्धी दृष्टिभेद

प. पु./९/९० के अनुसार सुग्रीवके भाई बालीने दीक्षा धारण कर ली थी। परन्तु म. पु./६८/४६४ के अनुसार बाली लक्ष्मणके हाथों मारा गया था।

बालुकाप्रभा—स. सि./३/१/२०३/८ बालुकाप्रभासहचरिता भूमिर्वालुकाप्रभा।=जिसकी प्रभा बालुकाकी प्रभाके समान है, वह बालुका प्रभा है। (इसका नाम सार्थक है); (ति. प./२/२१); (रा. वा./३/१/३/१५८/१८)।

*** बालुका प्रभा पृथिवीका आकार व अवस्थान**—दे० नरक/५।

बासी भोजन—बासी भोजनका निषेध—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

बाहुबली—एक कवि थे। इन्होंने धर्मनाथ पुराण की रचना की थी। (म. पु./प्र. २०/पन्नालाल)। २ म. पु./सर्ग/श्लोक नं. अपने पूर्व भव नं. ७ में पूर्व विदेह वत्सकावती देशके राजा प्रीतिवर्धनके मन्त्री थे (८/२११) फिर छठे भवमें उत्तरकुरुमें भोग भूमिज हुए (८/२१२), पाँचवें भवमें कनकाभदेव (८/२१३) चौथे भवमें वज्रजंघ (आदिनाथ भगवानका पूर्व भव) के 'आनन्द' नाम पुरोहित हुए (८/२१७) तीसरे भवमें अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए (९/९०) दूसरे भवमें वज्रसेनके पुत्र महाबाहु हुए (११/१२) पूर्व भवमें अहमिन्द्र हुए (११/१६०-१६६) वर्तमान भवमें ऋषभ भगवान्‌के पुत्र बाहुबली हुए (१६/६) बड़ा होनेपर पोदनपुरका राज्य प्राप्त किया (१७/७७)। स्वाभिमानी होनेपर भरतको नमस्कार न कर उनसे जल, मल्ल व दृष्टि युद्धमें हरा दिया (३६/६०) भरतने क्रुद्ध होकर इनपर चक्र चला दिया, परन्तु उसका इनपर कुछ प्रभाव न हुआ (३६/६६)। इससे विरक्त हो इन्होंने दीक्षा ले ली (३६/१०४)। एक वर्षका प्रतिमा योग धारण किया (३६/१०६) एक वर्ष पश्चात् भरतने आकर भक्तिपूर्वक इनकी पूजा की तभी इनको केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी (३६/१८५)। अन्तमें मुक्ति प्राप्त की। ३ बाहुबलीजीके एक भी शल्य न थी—दे० शल्य ४। बाहुबलीजीकी प्रतिमा सम्बन्धी दृष्टिभेद—दे० पूजा/३/१०।

बाहुल्य—१. Hight (त्रि. सा./टी./१७०) २. Width (ज. प./प्र./१०७)।

बाह्य—१. स. सि./९/१९/४३६/३ बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात्परप्रत्यक्षत्वाच्च बाह्यत्वम्।=बाह्य द्रव्यके आलम्बनसे होता है, और दूसरोंके देखनेमें आता है, इसलिए इसे बाह्य (तप) कहते हैं। २. परमार्थ बाह्य—दे० परमार्थ।

बाह्य उपकरण इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

बाह्यकारण—दे० कारण/IV/१।

बाह्यतप—दे० वह वह नाम।

बाह्यनिर्वृति इन्द्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

बाह्य परिग्रह आदि—दे० वह वह विषय।

बाह्य वर्गणा—दे० वर्गणा।

बिंब—१ Disc. (ज. प./प्र. १०७)। २ बो. पा./मू./१६ जिणबिंब णाणमयं संजमसुद्धं सुवीयरायं च। जं देइ दिक्खसिक्खा कम्मक्खयकारणे सुद्धा ॥१६॥=जो ज्ञानमयी है, संयमसे शुद्ध है, अतिशय वीतराग है, और कर्मके क्षयका कारण है, शुद्ध है ऐसी दीक्षा और शिक्षा देता है। ऐसा जिनबिम्ब अर्थात् जिनेन्द्र भगवान्‌का प्रतिबिम्बस्वरूप आचार्यका स्वरूप है।

बिंबसार—वर्तमान भारत इतिहासके अनुसार यह साम्प्रतिका पुत्र था, और सम्राट् अशोकका पिता था। मौर्यवंशमें था। मगधका विशाल राज्य इसके आधीन था। मौर्यवंशकी वंशावलीके अनुसार इसका समय—१. जैन मान्यताके अनुसार ई. पू ३२४-२८४।२ इतिहासकारोंके अनुसार ई. पू २९८-२७३—दे० इतिहास/३/१।

बिल—श्रेणीबद्ध बिल—दे० श्रेणी/१।

बीज—१ बीजरूप वनस्पतिके भेद व लक्षण—दे० वनस्पति/१। २ बीजोंका भक्ष्याभक्ष्य विचार—दे० सचित्त/३। ३ बीजमें जीवका जन्म होने सम्बन्धी नियम—दे० जन्म/१।

बीजगणित—Algebra. (ज. प/प्र. १०७), (ध./५/प्र २८)।

बीजपद—दे० पद।

बीजबुद्धिऋद्धि—दे० ऋद्धि/४।

बीजमानप्रमाण—दे० प्रमाण/५।

बीजसम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/I/१।

बीजा—पूर्व उत्तर आर्यखण्डके मध्यमें स्थित एक नदी—दे० मनुष्य/४।

बीजाक्षर—दे० अक्षर।

बीथी—Orbit. (ज. प./प्र. १०७)।

बीसीय—ल. सा/भाषा/२२८/२७५/७ जिन (कर्मनि) की बीस कोडाकोडी (सागर) उत्कृष्ट स्थिति है, ऐसे नाम, गोत्र तिनि कूँ बीसिय कहिए।

बुद्ध—द सा./मू/६-७ के अनुसार बुद्धकीर्ति नामक जैन साधुने बौद्ध-धर्म चलाया था। बुद्धकीर्ति शायद बुद्धदेवका ही नामान्तर है। दर्शनसारके कर्ताके अनुसार इसने दीक्षासे भ्रष्ट होकर अपना नया मत चलाया, इसका अभिप्राय यह है कि यह पहले जैनसाधु था। बुद्ध-कीर्ति नाम जैनसाधुओं जैसा ही है। दर्शनसार ग्रन्थमें बुद्धकीर्तिको पिहितास्रव नामक साधुका शिष्य बताया है। स्वामी आत्मारामजीके अनुसार पिहितास्रव भगवान् पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परामें थे। (द सा/प्र २६ प्रेमीजी) इनका अपरनाम महात्मा बुद्ध था। इनका शिष्य मौगलायन था, जिसने बुद्धमतका प्रचार किया। (द सा./मू/७-८)।

१. बुद्ध सामान्यका लक्षण

प. प्र/टी/१/१३/२१/५ बुद्धोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहित इति। =केवल-ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय सहित होनेसे आत्मा बुद्ध है। (प्र म/चूलिका/२८/८०/१)।

भा. पा/टी./१४९/२९३/१४ बुद्ध्यत सर्वं जानातीति बुद्ध। =बुद्धिके द्वारा सब कुछ जानता है, इसलिए बुद्ध है।

२. प्रत्येकबुद्ध व बोधितबुद्धके लक्षण

स. सि/१०/९/४७२/६ स्वशक्तिपरोपदेशनिमित्तज्ञानभेदात् प्रत्येकबुद्ध-बोधितविकल्पा। =अपनी शक्तिरूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेद-से प्रत्येक बुद्ध होते है। और परोपदेशरूप निमित्तसे होनेवाले ज्ञानके भेदसे बोधित बुद्ध होते है। (रा वा/१०/९/८/६४७/११)।

ति प/४/१०२२ कम्माण उवसमेण य गुरूवदेसं विणा वि पावेदि। सण्णाणतवप्पगमं जीए पत्तेयबुद्धी सा।१०२२। =जिसके द्वारा गुरु उपदेशके बिना ही कर्मोके उपशमसे सम्यग्ज्ञान और तपके विषयमें प्रगति होती है, वह प्रत्येकबुद्धि ऋद्धि कहलाती है। (रा.वा/३/३६/३/२०२/२४), (भ. आ/वि/३४/१२५/११)।

* **स्वयभू बुद्धका लक्षण**—दे० स्वयंभू।

बुद्धगुप्त—ई.श. ५ में एक बौद्ध मतानुसारी राजा था, इसने नालन्दा-के मठ बनवाये थे।

बुद्धस्वामी—ई.श. ८ में बृहत्कथा श्लोक सग्रहके रचयिता एक जैन कवि थे। (जीवधरचम्पू/प्र. १८/A. N. Up.)।

बुद्धि—

प. ख. १३/५,५/सू. ४०/२४३ आवायो ववसायो बुद्धी विण्णाणी आउंडी पच्चाउंडी।३९।·· ऊहितोऽर्थो बुद्ध्यते अवगम्यते अनया इति बुद्धि। =अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुण्डा और प्रत्यामुण्डा ये पर्याय नाम है।३९। ··जिसके द्वारा ऊहित अर्थ 'बुद्ध्यते' अर्थात् जाना जाता है वह बुद्धि है।

यो सा अ/८/८२ बुद्धिमक्षाश्रया। =जो इन्द्रियोंके अवलम्बनसे हो वह बुद्धि है।

स म./८/८८/३० बुद्धिशब्देन ज्ञानमुच्यते। =बुद्धिका अर्थ ज्ञान होता है।

न्या. सू./मू./१/१/१५/२० बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्। =बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान इनका एक ही अर्थ है। केवल नामका भेद है।

२. बुद्धिपूर्वक व अबुद्धिपूर्वकका लक्षण

स सा./२७२ पं. राजमल्ल—जो रागादि परिणाम मनके द्वारा बाह्य विषयोंको अवलम्बन कर प्रवर्तें है और जो प्रवर्तता हुआ जीवके स्वय जाननेमें आता है और वैसे ही दूसरेको भी अनुमानमें जाना जाता है, वह परिणाम बुद्धि पूर्वक है। जो रागादि परिणाम मनके व्यापार रहित केवल मोहके उदयके निमित्तसे होता है, और जिसको जाननेमें नहीं आता वह परिणाम अबुद्धिपूर्वक है।

बुद्धिऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

बुद्धिकीर्ति—अपरनाम महात्मा बुद्ध था—दे० बुद्ध। (द सा/मू/७-८), (द. स/प्रशस्ति २६/९. नाथूराम)।

बुद्धिकूट—रुक्मि पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

बुद्धिदेवी—रुक्मि पर्वतस्थ महापुण्डरीक ह्रद व बुद्धिकूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

बुद्धिल—दे० बुद्धिलिंग।

बुद्धिलिंग—श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आपका अपरनाम बुद्धिल था। आप भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात् नवें ११ अग व १० पूर्वधारी हुए है। समय—वी. नि २६५-३१५ (ई पू. २३२-२१२)—दे० इतिहास/४/१।

बुद्धेशभवनव्याख्यान—आ. विद्यानन्दि (ई ७७५-८४०) द्वारा सस्कृत भाषामें की गयी रचना।

बुध—१ एक ग्रह—दे० 'ग्रह', २ बुध ग्रहका लोकमें अवस्थान—दे० ज्योतिष/४। ३ स्या म/२३/२७३/२६ बुध्यन्ते यथावस्थित वस्तु-तत्त्वं सारेतरविषयविभागविचारणया इति बुधा। =यथावस्थित वस्तु तत्त्वको सार व असारके विषय विभागकी विचारणाके द्वारा जो जानते हैं, वे बुध है।

बुधजन—आप जयपुर निवासी खण्डेलवाल जैन पण्डित थे। आपका पूरा नाम विरधीचन्द था। तथा आपको बुधचन्द वा विधिचन्द भी कहते थे। आपकी निम्न कृतियाँ उपलब्ध है—तत्त्वार्थ बोध (१८७१) बुधजन सतसई (१८८१), पचास्तिकाय (१८९१), बुधजनविलास (१८९२)। समय—ई. १८७०-१८९५ (हि जै सा इ/१९७ कामता)।

बुधजनविलास—पं बुधजन द्वारा (ई १८३५) में रचित भाषा पदसंग्रह।

बुधजनसतसई—पं. बुधजन द्वारा (ई. १८२८) में रचित भाषा पदसंग्रह।

बुलाकीदास—आगरे निवासी गोयलगोत्री अग्रवाल दिगम्बर जैन श्रावक थे। इनकी माता जैनी पण्डित हेमचन्दकी पुत्री थीं। पिताका नाम नन्दलाल था। आपने भारत भाषामें पाण्डव पुराणकी रचना की थी। समय--वि. १७५४ (हिं. जै. सा. इ /१७० कामता)।

बूचीराज—शुभचन्द्र सिद्धान्तिक देवके शिष्य तथा मन्त्री गंगराजके सहचर थे। श. १०३७ को समाधि मरणके समय सर्व परिग्रहका त्याग करके स्वर्ग लाभ लिया। मन्त्री गंगराजने इनकी स्मृतिमें स्तम्भ खड़ा कराया था। समय—श. १०१५-१०३७ (ई. १०९३-१११५), (ध. २/प्र /११)।

वेलंधर—१ लवण समुद्रस्थ कौस्तुभ व कौस्तुभाभास पर्वतके स्वामी-देव—दे० लोक/७। लवण समुद्रके ऊपर वेलन्धर नामवाले नागकुमार जातिके भवनवासी देवोंकी ४२००० नगरियाँ हैं।

वेलड़ी—व्रतविधान सं./पृ. २६ केवल पानी और मिर्च मिलाकर खाना सो वेलडी कहलाता है।

वेलन—Cylinder (ज. प./प्र. १०७)।

वेलनाकार—Cylindrical. (ध. ५/प्र २८)।

वेलाव्रत—प्रथमदिन दोपहरको एकाशन, विवक्षित दो दिनोंमें उपवास तथा अगले दिन दोपहरको एकाशन करे। (ह पु /३४/..) (व्रतविधान स/पृ. १२३)।

वोद्दनराय—राष्ट्रकूटका राजा था। अपरनाम अमोघवर्ष था—दे० अमोघवर्ष।

बोधपाहुड़—आ. कुन्दकुन्द (ई १२७-१७९) कृत आयतन चैत्य-गृह आदि ११ विषयों सम्बन्धी संक्षिप्त परिचायक ६२ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इसपर आ० श्रुतसागर (ई १४७३-१५३३) कृत संस्कृत टीका और पं जयचन्द छाबडा (ई. १८६७) कृत देश-भाषा वचनिका उपलब्ध है।

बोधायन—ब्रह्मसूत्रके टीकाकार—दे० वेदान्त।

बोधि—प. प्र /टी./१/९/१६/८ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामप्राप्तप्रापण बोधि। =सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रकी प्राप्ति नहीं होती और इनका पाना ही बोधि है। (द्र. स /टी./३५/१४४/६)।

बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा—दे० अनुप्रेक्षा।

बोधितबुद्ध—दे० बुद्ध।

बौद्धदर्शन—**१. सामान्य परिचय**

१ इस मतका अपरनाम सुगत है। सुगतको तीर्थंकर, बुद्ध अथवा धर्म-धातु कहते हैं। ये लोग सात सुगत मानते हैं—विपश्यी, शिखी, विश्वभू, क्रकुच्छन्द, काचन, काश्यप और शाक्यसिंह। ये लोग बुद्ध भगवान्को सर्वज्ञ मानते हैं। २ बुद्धोंके कण्ठ तीन रेखाओंसे चिह्नित होते हैं। बौद्धसाधु चमर, चमडेका आसन, व कमण्डलु रखते हैं। मुण्डन कराते हैं। सारे शरीरको एक गेरुवे वस्त्रसे ढके रहते हैं।

२. उत्पत्ति व आचार-विचार

१ काल व उपदेशकी समानताके कारण जैन व बौद्धमतको कोई-कोई एक मानता है, पर वास्तवमें में ऐसा नहीं है। जैन शास्त्रोंमें इसकी उत्पत्ति सम्बन्धी दो दृष्टियाँ प्राप्त हैं।

२. उत्पत्ति सम्बन्धी दृष्टि नं १

द. सा./मू./६-७ श्री पार्श्वनाथतीर्थे सरयूतीरे पलाशनगरस्थ। पिहितास्रवस्य शिष्यो महाश्रुतो बुद्धिकीर्तिमुनिः।६। तिमिपूर्णाशनं अधिगतप्रव्रज्यातः परिभ्रष्टः। रक्ताम्बरं धृत्वा प्रवर्तितं तेन एकान्तम्।७।

गो. जी./जी. प्र./१६ बुद्धदर्शनादय एकान्तमिथ्यादृष्टयः। =श्रीपार्श्वनाथ भगवान्के तीर्थमें सरयू नदीके तटवर्ती पलाश नामक नगरमें पिहिताश्रव साधुका शिष्य बुद्धिकीर्ति मुनि हुआ, जो महाश्रुत व बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था।६। मछलियोंका आहार करनेसे यह ग्रहण की हुई दीक्षासे भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मतकी प्रवृत्ति की।७। बुद्धदर्शन आदिक ही एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं।

द. सा /प्र /२६ प्रेमी जी. बुद्धकीर्ति सम्भवतः बुद्धदेव (महात्मा बुद्ध) का ही नामान्तर था। दीक्षासे भ्रष्ट होकर एकान्त मत चलानेसे यह अनुमान होता है कि यह अवश्य ही पहले जैन साधु था। बुद्धिकीर्तिको पिहिताश्रव नामक साधुका शिष्य बतलाया है। स्वयं ही आत्मारामजी ने लिखा है कि पिहिताश्रव पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परामें था। श्वेताम्बर ग्रन्थोंसे पता चलता है कि भगवान् महावीरके समयमें पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परा मौजूद थी।

३. उत्पत्ति सम्बन्धी दृष्टि नं. २

धर्म परीक्षा/१/६ रुष्ट श्रीवीरनाथस्य तपस्वी मौडिलायन। शिष्य श्रीपार्श्वनाथस्य विदधे बुद्धदर्शनम्।६। शुद्धोदनसुतं बुद्ध परमात्मानमब्रवीत्। =भगवान् पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परामें मौडिलायन नामका तपस्वी था। उसने महावीर भगवान्से रुष्ट होकर बुद्धदर्शनको चलाया और शुद्धोदनके पुत्र बुद्धको परमात्मा कहा।

द. सा /प्र /२७ प्रेमी जी नं. १ व नं. २ दृष्टियोंमें कुछ विरोध मालूम होता है, पर एक तरहसे उनकी संगति बैठ जाती है। महावग्ग आदि बौद्ध ग्रन्थोंसे मालूम होता है कि मौडिलायन और सारीपुत्त दोनों बुद्धदेवके शिष्य थे। वे जब बुद्धदेवके शिष्य होने जा रहे थे, तो उनके साथी संजय परिव्राजकने उन्हें रोका था। इससे मालूम होता है कि 'धर्म' परीक्षाकी मान्यताके अनुसार ये अवश्य पहले जैन रहे होंगे।

परन्तु इस प्रकार वे बुद्धके शिष्य थे न कि मतप्रवर्तक। सम्भवतः बौद्धधर्मके प्रधान प्रचारकोंमें से होनेके कारण इन्हें प्रवर्तक कह दिया गया हो। बस जो नं. १ व नं. २ की संगति ऐसे बैठ जाती है कि भगवान् पार्श्वनाथके तीर्थमें पिहिताश्रव मुनि हुए। उनके शिष्य बुद्धदेव हुए, जिन्होंने बौद्धधर्म चलाया, और उनके शिष्य मौडिलायन हुए जिन्होंने इस धर्मका बहुत अधिक प्रचार किया।

४. बौद्ध लोगोंका आचार-विचार

द सा /मू /८-९ मांसस्य नास्ति जीवो यथा फले दधिदुग्धशर्करायां च। तस्मात्तं वाञ्छन् तं भक्षन् न पापिष्ठः।८। मद्यं न वर्जनीयं द्रवद्रव्यं यथा जलं तथा एतत्। इति लोके घोषयित्वा प्रवर्तितं सर्वसावद्यं।९। =फल, दूध, दही, शक्कर आदिके समान मांसमें भी जीव नहीं है। अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करनेमें पाप नहीं है।८। जिस प्रकार जल एक तरल पदार्थ है उसी प्रकार मद्य भी तरल पदार्थ है, वह त्याज्य नहीं है। इस प्रकारकी घोषणा करके उस (बुद्धकीर्ति) ने संसारमें सम्पूर्ण पापकर्मकी परिपाटी चलायी।९।

द. सा /प्र /२७ प्रेमी जी, उपरोक्त बात ठीक मालूम नहीं होती, क्योंकि बौद्धधर्म प्राणिवधका तीव्र निषेध करता है, वह 'मांसमें जीव नहीं है' यह कैसे कह सकता है। दूसरे बौद्ध साधुओंके विनयपिटक आदि ग्रन्थोंमें दशशील ग्रहण करनेका आदेश है, जो एक प्रकारसे बौद्धधर्मके मूलगुण हैं, उनमेंसे पाँचवाँ शील इन शब्दोंमें ग्रहण करना पडता है। 'मैं मद्य या किसी भी मादक द्रव्यका सेवन नहीं करूँगा', ऐसी

दशामें मद्य सेवनकी आज्ञा बुद्धदेवने दी होगी, यह नहीं कहा जा सकता।

स. म./परि० ख/३८६ यद्यपि बौद्ध साधु जीव दया पालते हैं, चलते हुए भूमिको बुहार कर चलते हैं, परन्तु भिक्षा पात्रोंमें आये हुए मांसको भी शुद्ध मानकर खा लेते हैं। ब्रह्मचर्य आदि क्रियाओंमें दृढ रहते हैं।

३. बौद्ध सम्प्रदाय

१. बुद्ध निर्वाणके पश्चात् बौद्ध लोगोंमें दो सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये। महासंघिक व स्थविर। ई० पू० ४००० की वैशाली परिषद्में महासंघिक ६ शाखाओंमें विभक्त हो गये—महासंघिक, एक व्यवहारिक, लोकोत्तरवादी, कुक्कुल्लिक, बहुश्रुतीय, प्रज्ञप्तिवादी, चैत्तिक अपरशैल, और उत्तरशैल। स्थविरवादी ११ शाखाओंमें विभक्त हुए—हैमवत, सर्वास्तिवाद, धर्मगुप्तिक, महीशासक, काश्यपीय, सौत्रान्तिक, वात्सीपुत्रीय, धर्मोत्तरीय, भद्रयानीय, सम्मितीय, और छन्नागरिक। सर्वास्तिवादी (वैभाषिक) और सौत्रान्तिकके अतिरिक्त इन शाखाओंका कोई विशेष उल्लेख अब नहीं मिलता। (परि. ख/३८५)।

२ बौद्धोंके प्रधान सम्प्रदाय निम्न प्रकार हैं—
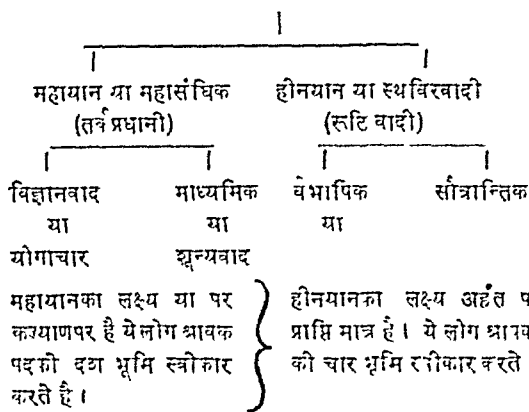
महायानका लक्ष्य या पर कल्याणपर है ये लोग श्रावक पदकी दश भूमि स्वीकार करते हैं।	हीनयानका लक्ष्य अर्हत पदकी प्राप्ति मात्र है। ये लोग श्रावक पद की चार भूमि स्वीकार करते हैं।

४. प्रवर्तक साहित्य व समय

स. म./परि० ख/३८६-३८८ १. विनय पिटक, सुत्तपिटक, और अभिधम्म पिटक ये पिटकत्रय ही बौद्धोंका प्रधान आगम है। इनमेंसे सुत्तपिटकके पाँच खण्ड हैं—दीघनिकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय, अंगुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय। (भारतीयदर्शन)। २. सौत्रान्तिकोंमें धर्मत्राता (ई० १००) कृत पंचवस्तु विभाषा शास्त्र, संयुक्ताभिधर्महृदयशास्त्र, अवदान सूत्र, घोष (ई० १५०) कृत अभिधर्मामृत शास्त्र, बुद्धदेव (ई० १००) का कोई शास्त्र उपलब्ध नहीं है, वसुमित्र (ई० १००) कृत अभिधर्मप्रकरणपाद, अभिधर्म धातुकाय पद, अष्टादश निकाय तथा आर्यवसुमित्र, बोधिसत्त्व, संगीत शास्त्र—ये चार विद्वान् व उनके ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। (स. म./परि. ख/३८८)। ३ वैभाषिकोंमें—कात्यायनी पुत्रका ज्ञानप्रस्थानशास्त्र या विभाषा; सारीपुत्रका धर्मस्कन्ध, पूर्णका धातुकाय, मौद्गलायनका प्रज्ञप्ति शास्त्र, देवक्षेमका विज्ञानकाय, सारीपुत्रका संगीतिपर्याय और वसुमित्रका प्रकरणपाद प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त भी ई० ४२० ५०० में वसुबन्धुने अभिधर्म कोश (वैभाषिक कारिका तथा उसका भाष्य लिखा) यशोमित्रने इस ग्रन्थपर अभिधान धर्मकोश व्याख्या लिखी। संघभद्रने समय प्रदीप, न्यायानुसार नामक ग्रन्थ लिखे। दिङ्नागने भी प्रमाणसमुच्चय, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रहमरु, प्रमाणसमुच्चय वृत्ति, आलम्बन परीक्षा, त्रिकाल-परीक्षा आदि न्याय ग्रन्थोंकी रचना की। ४ इनके अतिरिक्त भी धर्मकीर्ति (ई० ६३५) विनीतदेव, शान्तभद्र, धर्मोत्तर (ई० ८४७) रत्नकीर्ति, पण्डित अशोक, रत्नाकर, शान्ति आदि विद्वान इन सम्प्रदायोंके उल्लेखनीय विद्वान् हैं।

५. मूल सिद्धान्त विचार

१. बौद्ध दर्शनमें दु:खसे निवृत्तिका उपाय ही प्रधान है तत्त्व या प्रमेयोंका विचार नहीं। ये लोग चार आर्य सत्य मानते हैं—संसार दु:खमय है, दु:ख समुदय अर्थात् दु:खका कारण, दु:ख निरोध अर्थात् दु:खनाशकी सम्भावना और दु:ख निरोधगामिनी प्रतिपद अर्थात् दु:ख नाशका उपाय। २ संसार दु:खमय है। दु:ख परम्पराका मूल अविद्या है। अविद्या हेतुक परम्पराको प्रतीत्य समुत्पाद कहते हैं। यह निम्न प्रकार १२ भागोंमें विभाजित है। १ अविद्यासे संस्कार, २. संस्कार से विज्ञान, ३. विज्ञानसे नामरूप, ४ नामरूपसे षडायतन (मन सहित पाँच इन्द्रियाँ), ५. षडायतनसे स्पर्श, ६ स्पर्शसे वेदना, ७. वेदनासे तृष्णा, ८. तृष्णासे उपादान, ९ उपादानसे भव (संसारमें होनेकी प्रवृत्ति) १०. भवसे जाति, ११ जातिसे जरा, १२. जरासे मरण। ३ १ सम्मादिट्ठि (आर्य सत्योंका ज्ञान), २. सम्मा सकप्प (रागादिकेत्यागका दृढ निश्चय), ३ सम्मावाचा (सत्य वचन), ४ सम्मकम्मन्त (पापोंका त्याग), ५. सम्माआजीव (न्यायपूर्वक आजीविका), ६ सम्मा वायाम (अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति), ७ सम्मासत्ति (चित्त शुद्धि), ८. सम्मा समाधि (चित्तकी एकाग्रता)। ये आठ दु:ख निवृत्तिके उपाय हैं। ४ बुद्धत्व प्राप्तिकी श्रेणियाँ हैं—श्रावकपद, प्रत्येक बुद्ध अर्थात् जन्मसे ही सम्यग्दृष्टि व बोधिसत्त्व अर्थात् स्व व पर कल्याणकी भावना।

६. श्रावककी भूमियाँ

१ हीनयान (स्थविर वादी) चार भूमियाँ मानते हैं—स्रोतापन्न (सम्यग्दृष्टि आदि साधक), सकृद्गामी (एक भवावतारी), अनागामी (चरम शरीरी), अर्हत् (बोधिको प्राप्त)। २. महायान (महासंघिक) दस भूमियाँ मानते हैं—१. मुदिता (पर कल्याणकी भावनाका उदय), २. विमला (मन, वचन, काय द्वारा शीलपारमिताका अभ्यास व भावना), ३. प्रभाकरी (धैर्यपारमिताका अभ्यास अर्थात् तृष्णाओंकी क्षति), ४. अर्चिष्मती (वीर्य पारमिताका अभ्यास अर्थात् चित्तकी साम्यता), ६ अभिमुक्ति (प्रज्ञा पारमिताका अभ्यास अर्थात् समताका अनुभव, स्वपर समान दयाका भाव) ७. दूरंगमा (सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति), ८. अचला (अपनेको जगत्से परे देखता है), ९. साधुमति (लोगोंके कल्याणार्थ उपाय सोचता है), १० धर्ममेघ (समाधिनिष्ठ होकर अन्तमें बुद्धत्वको प्राप्त अवस्था)।

७. हीनयान वैभाषिककी अपेक्षा तत्त्वविचार

जगत् व चित्त सन्तति दोनोंकी पृथक्-पृथक् सत्ताको स्वीकार करते हैं। तहाँ जगत्की सत्ता बाहरमें है जो इन्द्रियों द्वारा जाननेमें आती है, और चित्त सन्ततिकी सत्ता अन्तरंगमें है। यह बाह्य प्रत्यक्षवादी है। १. समस्त जगत् तीन भागोंमें विभक्त है—स्कन्ध, आयतन, धातु। २. स्कन्ध पाँच हैं—चार स्कन्धोंका सम्बन्ध मानसिक वृत्तियोंसे है। ३ आयतन १२ हैं—मन सहित पाँच इन्द्रियाँ तथा छह इनके विषय। इन्हें धातु कहते हैं। इनमेंसे ही समस्त ज्ञान उत्पन्न होता है। आत्माका ग्रहण इन्द्रियोंसे नहीं होता, इसलिए आत्मा कोई वस्तु नहीं है। सबमें ६० धर्म हैं और वे सभी क्षणिक हैं। ४ धातु १८ हैं—६ इन्द्रिय धातु (चक्षु धातु, श्रोत्र धातु, घ्राण-धातु, रसनाधातु, कायधातु, मनोधातु), ६ इन्द्रियोंके विषय (रूप-धातु, शब्द, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य तथा धर्मधातु), ६ विज्ञान (चक्षु-

विज्ञान, श्रोत्र, घ्राण, रसना, काय, और मनोविज्ञान या उपर्युक्त इनके भावोंका ज्ञान। ५. धर्म—भूत और चित्तके इन सूक्ष्म तत्त्वोंको धर्म कहते हैं जिनके आघात व प्रतिघातसे समस्त जगत्‌की स्थिति होती है। सभी धर्म सत्तात्मक हैं तथा क्षणिक हैं। ये दो प्रकारके हैं—असंस्कृत व संस्कृत। नित्य, स्थायी, शुद्ध व अहेतुक (पारिणामिक) धर्मोंको असंस्कृत कहते हैं। ६. असंस्कृत धर्म तीन हैं—प्रतिसंख्या निरोध, अप्रतिसंख्या निरोध तथा आकाश। प्रज्ञाद्वारा रागादिक सास्रव धर्मोंका निरोध (अर्थात् संवर) प्रतिसंख्या निरोध कहलाता है। बिना प्रज्ञाके सास्रव धर्मोंका निरोध (अर्थात् शुक्लध्यान) अप्रतिसंख्यानिरोध कहलाता है। प्रतिसंख्या ही वास्तविक निरोध है। आवरणके अभावको आकाश कहते हैं। यह नित्य व अपरिवर्तनशील है। ७. संस्कृत धर्म चार हैं—रूप, चित्त, चैतसिक, तथा चित्त विप्रयुक्त। इनमें भी रूपके ११, चित्तका १, चैतसिकके ४६ और चित्त विप्रयुक्तके १४ भेद हैं। पाँच इन्द्रिय तथा पाँच उनके विषय तथा अविज्ञप्ति ये ग्यारह रूप अर्थात् भौतिक पदार्थोंके भेद हैं। इन्द्रियों व उनके विषयोंके परस्पर आघातसे चित्तके विषयाक परस्पर आघातसे चित्त उत्पन्न होता है। यही मुख्य तत्त्व है। इसीमें सब संस्कार रहते हैं। इसको विज्ञान कहा जाता है, क्योंकि हेतु प्रत्ययसे उत्पन्न होता है। यह एक है, पर उपाधियोंके कारण इसके अनेक भेद-प्रभेद हैं। यह प्रतिक्षण बदलता है। इस लोक व परलोकमें यही आता-जाता है। चित्तसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले मानसिक व्यापारोंको चैतसिक या चित्त संप्रयुक्त धर्म कहते हैं। इसके ४६ भेद हैं। जो धर्म न रूप धर्मोंमें और न चित्त धर्मोंमें परिगणित हों, उन्हें चित्त विप्रयुक्त धर्म कहते हैं। इनकी संख्या १४ है। ८. निर्वाण—एक असंस्कृत या स्वाभाविक धर्म है, जिसे आर्य जन सत्य मार्गके अनुसरणसे प्राप्त करते हैं। यह स्वतन्त्र, सत् व नित्य है। यह ज्ञानसे प्राप्त है। यह एक है तथा सर्व भेद इसमें विलीन हो जाते हैं। यह आकाशवत् अनन्त, अपरिमित व अनिर्वचनीय है।

८. हीनयान सौत्रान्तिककी अपेक्षा तत्त्व विचार

१. अन्तर जगत् सत् है पर बाह्य जगत् नहीं। यह केवल चित्तमें उत्पन्न होने वाले धर्मोंपर निर्भर है। २. इनके मतमें बुद्धि रूप 'निर्वाण' धर्मोंके अनुत्पाद रूप है, यह असंस्कृत धर्म नहीं है, क्योंकि मार्गके द्वारा उत्पन्न होता है। ३. इनके मतमें उत्पत्ति व विनाशके पश्चात् वस्तुकी स्थिति नहीं रहती, अतः वह अनित्य है। ४. सत्तागत दो वस्तुओंमें कार्य-कारण भाव ये लोग नहीं मानते। ५. वर्तमान कालके अतिरिक्त भूत, भविष्यत् काल भी नहीं है। ६. इनके मतमें परमाणु निरवयव होता है। अतः इनके संघटित होनेपर भी यह पृथक् ही रहते हैं। केवल उनका परिणाम ही बढ़ जाता है। ७. प्रतिसंख्या व अप्रतिसंख्या धर्मोंमें विशेष भेद नहीं मानते। प्रतिसंख्या निरोधमें प्रज्ञा द्वारा रागादिकका निरोध हो जानेपर भविष्यमें उसे कोई क्लेश न होगा। और अप्रतिसंख्या निरोधमें क्लेशोंका नाश हो जानेपर दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जायेगी, जिससे कि वह भव चक्रसे छूट जायेगा।

९. महायान योगाचार या विज्ञानवादकी अपेक्षा तत्त्व-विचार

१. बाह्य जगत् असत् है। २. चित्त या विज्ञान ही एक मात्र परम तत्त्व है। चित्त ही की प्रवृत्ति व मुक्ति होती है। सभी वस्तुएँ एक मात्र चित्तके विकल्प हैं। अविद्याके कारण ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेयमें भेद मालूम होता है। वह दो प्रकारका है—प्रवृत्ति विज्ञान व आलय विज्ञान। ३. [illegible]

१०. महायान माध्यमिक या शून्यवादकी अपेक्षा तत्त्व-विचार

१. [illegible] ४. [illegible] [illegible]

११. प्रमाण विचार

१. [illegible] अविसंवादी ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। वह दो प्रकार है—प्रत्यक्ष व अनुमान। २. कल्पना व भ्रान्तिसे रहित ज्ञान प्रत्यक्ष है। वह चार प्रकारका है—इन्द्रिय, मन, [illegible] ([illegible]), आत्मसंवेदन ([illegible] द्वारा सुख आदि [illegible] धर्मोंका [illegible] प्रकट होता है), योगिज्ञान ([illegible] भावनाजन्य ज्ञान)। प्रत्यक्ष ज्ञान स्वलक्षण है, तथा [illegible] प्रमाण है। ३. अनुमान दो प्रकार है—स्वार्थ व परार्थ। हेतु, दृष्टान्त व लिंगका ध्यान करने हुए जो ज्ञान स्वतः हो उसे स्वार्थ कहते हैं। उपदेशादि द्वारा दूसरेसे प्राप्त किया गया ज्ञान परार्थानुमान है। ४. इसमें तीन प्रकारके हेतु होते हैं—अनुपलब्धि, स्वभाव व कार्य। किसी स्थान विशेषपर घटका न मिलना उसकी अनुपलब्धि है। स्वभाव स्वभाववान्‌का हेतु स्वभाव हेतु है। धूम [illegible] अग्नि [illegible] कार्य हेतु है। इन तीनोंके अतिरिक्त अन्य हेतु नहीं है। अनुमान ज्ञान [illegible] है। हेतुमें पक्ष, सपक्ष और विपक्ष व्यावृत्ति ये तीनों बातें रहनी चाहिए, अन्यथा वह हेत्वाभास होगा। ५. हेत्वाभास तीन प्रकार है—असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक। ६. अनुभव दो प्रकार है—ग्रहण व अध्यवसाय। ज्ञानका निर्विकल्प रूप (दर्शन) ग्रहण कहलाता है। तत्पश्चात् होनेवाला साकार ज्ञान अध्यवसाय कहलाता है। चक्षु, मन व श्रोत्र दूर ही से अपने विषयका ज्ञान प्राप्त करते हैं। किन्तु अन्य इन्द्रियोंके लिए अपने-अपने विषयके साथ सन्निकर्ष करना आवश्यक है।

१२. जैन व बौद्धधर्मकी तुलना

शुद्ध पर्यायार्थिक ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा बौद्धवत् जैनदर्शन भी एक निरवयव, अविभागी, एक समयवर्ती तथा स्वलक्षणभूत निर्विकल्प ही तत्त्व है। अहिंसाधर्म तथा धर्म व शुक्लध्यानकी अपेक्षा भी दोनोमें समानता है। अनेकान्तवादी होनेके कारण जैनदर्शन तो उसके विपक्षी द्रव्यार्थिक नयसे उसी तत्त्वको अनेक सावयव, विभागी, नित्य व गुण पर्याय युक्त आदि भी स्वीकार कर लेता है। परन्तु एकान्तवादी होनेके कारण बौद्धदर्शन उसे सर्वथा स्वीकार नही करता है। इस अपेक्षा दोनोमें भेद है। बौद्धदर्शन ऋजुसूत्र नयाभासी है। (दे० अनेकान्त/२/६) एकत्व अनेकत्वका विधि निषेध व समन्वय दे० द्रव्य/४) नित्यत्व व अनित्यत्वका विधि निषेध व समन्वय दे० उत्पाद/२।

ब्रह्म—१ पुष्पदन्त भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० यक्ष, २. कल्पवासी देवोका एक भेद—दे० स्वर्ग/१, ३ कल्पवासी देवोंका अवस्थान—दे० स्वर्ग/५; ४ कल्पवासी स्वर्गोंका पाँचवा कल्प—दे० स्वर्ग/५।

१. ब्रह्मका लक्षण

स सि /७/१६/३५४/४ अहिंसादयो गुणा यस्मिन् परिपाल्यमाने बृ हन्ति वृद्धिमुपयान्ति तद् ब्रह्म। =अहिंसादि गुण जिसके पालन करनेपर बढते है वह ब्रह्म कहलाता है। (चा सा /६५/२।

ध. ६/४.१,२६/६४/२ ब्रह्मचारित्र पंचव्रत-समिति-त्रिगुप्त्यात्मकम्, शान्तिपुष्टिहेतुत्वात्। =ब्रह्मका अर्थ पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप चारित्र है, क्योकि, वह शान्तिके पोषणका हेतु है।

द्र. स./टी./१४/४७/५ परमब्रह्मसंज्ञनिजशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसुखामृततृप्तस्य सत उर्वशीरम्भातिलोत्तमाभिर्देवकन्याभिरपि यस्य ब्रह्मचर्यव्रतं न खण्डित स परमब्रह्म भण्यते। =परमब्रह्म नामक निज शुद्ध आत्माकी भावनासे उत्पन्न सुखामृतसे तृप्त होनेके कारण उर्वशी, तिलोत्तमा, रंभा आदि देवकन्याओं द्वारा भी जिसका ब्रह्मचर्य खण्डित न हो सका अत वह 'परम ब्रह्म' कहलाता है।

२. शब्द ब्रह्मका लक्षण

स सा./आ./५ इह किल सकलोद्भासि स्यात्पदमुद्रित शब्दब्रह्म। =समस्त वस्तुओंको प्रकाश करनेवाला और स्यात् पदसे चिह्नित शब्द ब्रह्म है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१ सर्व जीव एक ब्रह्मके अंश नहीं हैं—दे० जीव/२।

२ परम ब्रह्मके अपरनाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

३. आदि ब्रह्मा—दे० ऋषभ।

ब्रह्मऋषि—दे० ऋषि।

ब्रह्मचर्य—अध्यात्म मार्गमें ब्रह्मचर्यको सर्व प्रधान माना जाता है, क्योकि, ब्रह्ममें रमणता ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है। निश्चयसे देखनेपर क्रोधादि निग्रहका भी इसीमें अन्तर्भाव हो जानेसे इसके १८००० भंग हो जाते है। परन्तु स्त्रीके त्यागरूप ब्रह्मचर्यकी भी लोक व परमार्थ दोनों क्षेत्रोमें बहुत महत्ता है। वह ब्रह्मचर्य अणुव्रत रूपसे भी ग्रहण किया जाता है महाव्रत रूपसे भी। अब्रह्म सेवनसे चित्त भ्रम आदि अनेक दोष होते है, अत विवेकी जनोको सदा ही अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार दुराचारिणी स्त्रियोके अथवा पर स्त्रीके, वा स्वस्त्रीके भी सगसे बचकर रहना चाहिए, और इसी प्रकार स्त्रीको पुरुषोंसे बचकर रहना चाहिए। यद्यपि ब्रह्मचर्यको भी कथंचित सावद्य कहा जाता है, परन्तु फिर भी इसका पालन करना श्रेयस्कर है।

१. भेद व लक्षण

१. ब्रह्मचर्य सामान्यका लक्षण—१ निश्चय

भ आ /मू./८७८ जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरियाहविज्ज जा जदिणो। त जाण बंभचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स।८७८। =जीव ब्रह्म है, जीव ही में जो मुनिकी चर्या होती है उसको परदेहकी सेवा रहित ब्रह्मचर्य जानो। (द्र स /टी /३५/१०६ पर उद्धृत)।

प. वि /१२/२ आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्यं पर। स्वाङ्गासगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुने। ।२। =ब्रह्म शब्दका अर्थ

निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उस आत्मामें लीन होनेका नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनिका मन अपने शरीरके भी सम्बन्धमें निर्ममत्व हो चुका है, उसीके ब्रह्मचर्य होता है। (अन. ध/४/६०)।

अन. ध./६/५५ चरणं ब्रह्मणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा। चरणं ब्रह्मणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिन. ।५५। =मैथुन कर्मसे सर्वथा निवृत्त वर्णीकी आत्मतत्त्वके उपदेष्टा गुरुओंकी प्रीति पूर्वक अधीनता स्वीकार कर ली गयी है, अथवा ज्ञान और आत्माके विषयमें स्वतन्त्रतया की गयी प्रवृत्तिको ब्रह्मचर्य कहते हैं।

२. व्यवहारकी अपेक्षा

का अ/मू/८० सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीण तासु मुयदि दुब्भावम्। सो बम्हचेरभावं सुक्कदि खलुदुद्धरं धरदि ।८०। =जो पुण्यात्मा स्त्रियोंके सारे सुन्दर अंगोंको देखकर उनमें रागरूप बुरे परिणाम करना छोड़ देता है वही दुर्धर ब्रह्मचर्यको धारण करता है। (पं. वि/१/१०४)।

स सि/९/६/४१३/३ अनुभूताङ्गनास्मरणकथाश्रवणस्त्रीसंसक्तशयनासनादिवर्जनाद् ब्रह्मचर्य परिपूर्णमवतिष्ठते। स्वतन्त्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थो वा गुरुकुलवासो ब्रह्मचर्यम्। =अनुभूत स्त्रीका स्मरण न करनेसे, स्त्री विषयक कथाके सुननेका त्याग करनेसे और स्त्रीसे सटकर सोने व बैठनेका त्याग करनेसे परिपूर्ण ब्रह्मचर्य होता है। अथवा स्वतन्त्र वृत्तिका त्याग करनेके लिए गुरुकुलमें निवास करना ब्रह्मचर्य है। (रा. वा/९/६/२२/५९८/२७)।

भ. आ/वि/४६/१५४/१६ ब्रह्मचर्यं नवविधब्रह्मपालनं। =नव प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करना ब्रह्मचर्य है।

पं वि/१२/२ स्वाङ्गासंगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुनेः। एवं सत्यबला स्वमातृभगिनीपुत्रीसमाः प्रेक्षते, वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत् ।२। =जो अपने शरीरसे निर्ममत्व हो चुका है, वह इन्द्रिय विजयी होकर वृद्धा आदि स्त्रियोंको क्रमसे माता, बहन और पुत्रीके समान समझता है, तो वह मुनि ब्रह्मचारी होता है।

का. अ./मू/४०३ जो परिहरेदि संगं महिलाणं णेव पस्सदे रूवं। कामकहादि-णिरीहो णव-विह-बंभ हवे तस्स ।४०३। जो मुनि स्त्रियोंके संगसे बचता है, उनके रूपको नहीं देखता, काम कथादि नहीं करता उसके नवधा ब्रह्मचर्य होता है ।४०३।

२. ब्रह्मचर्य विशेषके लक्षण

१. दस प्रकारका ब्रह्मचर्य

भ. आ./मू/८७९-८८१ उत्थानिका—मनसा वचसा शरीरेण परशरीरगोचरव्यापारातिशयं त्यक्तवतः दशविधाब्रह्मत्यागात् दशविधं ब्रह्मचर्यं भवतीति वक्तुकामो अब्रह्मभेदमाचष्टे—इच्छिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्खो य पणिदरससेवा। संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव ।८७९। सक्कारो संकारो अदीदसुमरणमणागदभिलासे। इट्ठविसयसेवा वि य अब्बंभ दसविहं एदं ।८८०। एवं विसग्गिभूदं अब्बंभं दसविहं पि णादव्वं। आवादे मधुरमिव होदि विवागे य कडुयदरं ।८८१। =मनसे, वचनसे और शरीरसे परशरीरके साथ जिसने प्रवृत्ति करना छोड़ दिया है, ऐसा मुनि दस प्रकारके अब्रह्मका त्याग करता है। तब वह दस प्रकारके ब्रह्मचर्योंका पालन करता है। ग्रन्थकार अब दस प्रकारके अब्रह्मका वर्णन करते हैं—१ स्त्री सम्बन्धी विषयोंकी अभिलाषा, २ वत्थिमोक्खो—अपने इन्द्रिय अर्थात् लिंगमें विकार होना, ३ वृष्यरससेवा—पौष्टिक आहारका ग्रहण करना, जिससे बल व वीर्यकी वृद्धि हो। ४ संसक्तद्रव्यसेवा—स्त्रीका स्पर्श अथवा उसकी शय्या आदि पदार्थोंका सेवन करना। ५. तदिंद्रियालोचन—स्त्रियोंके सुन्दर शरीरका अवलोकन करना। ६. सत्कार—स्त्रियोंका सत्कार करना, ७. सम्मान—उनके देहपर प्रेम रखकर वस्त्र आदिसे सत्कार करना। अतीत स्मरण—भूतकालमें की रति, क्रीडाओंका स्मरण करना, अनागताभिलाष—भविष्यत् कालमें उनके साथ ऐसी क्रीडा करूँगा ऐसी अभिलाषा मनमें रखना। इष्टविषय सेवा—मनोवांछित सौध, उद्यान वगैरहका उपभोग करना। ये अब्रह्मके दस प्रकार हैं ।८७९-८८०। ये दस प्रकारका अब्रह्म विष और अग्निके समान है, इसका आरम्भ मधुर, परन्तु अन्त कटुआ है। (ऐसा जानकर जो इसका त्याग करता है वह दस प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करता है।) ।८८१। (अन. ध/४/६१), (भा. पा/टी./९८/२४९ पर उद्धृत)।

२. नव प्रकारका ब्रह्मचर्य

चा. प्र/टी/४०: तस्य मुनेः ब्रह्मचर्यं भवेत्, नवप्रकारं स्त्रकारितानुमतगुणितमनोवचनकायैः कृत्वा स्त्रीसंगं वर्जयतीति ब्रह्मचर्यं स्यात्। =जो मुनि स्त्री संगका त्याग करता है उसीके मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदनाके भेदसे नौ प्रकारका ब्रह्मचर्य होता है। (भ पा/टी./९८/२४५/२२)।

३. ब्रह्मचर्य महाव्रत व अणुव्रतका लक्षण

१ महाव्रत

नि. सा/मू./५९ दट्ठूण इत्थिरूवं वांछाभावं णिवत्तदे तासु। मेहुणसण्णविवज्जियपरिणामो अहव तुरीयवदं ।५९। =स्त्रियोंका रूप देखकर उनके प्रति वांछा भावकी निवृत्ति अथवा मैथुनसंज्ञा रहित जो परिणाम वह चौथा व्रत है। (चा पा/टी./२९/४९/२४)।

मू आ./८.२९२ मादुसुदा भगिणीविय दट्ठूणित्थित्तियं च पडिरूवं। इत्थिकहादिणियत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं ।८। अच्चित्तदेवमाणुसतिरिक्खजादं च मेहुणं चदुधा। तिविहेण तं ण सेवदि णिच्चं पि मुणीहि पयदमणो ।२९२। =जो वृद्धा बाला यौवनवाली स्त्रीको देखकर अथवा उनकी तस्वीरोंको देखकर उनको माता पुत्री बहन समान समझ स्त्री सम्बन्धी कथादिका अनुराग छोड़ता है, वह तीनों लोकोंका पूज्य ब्रह्मचर्य महाव्रत है ।८। चित्र आदि अचेतन, देवी, मानुषी, तिर्यंचनी सचेतन स्त्री ऐसी चार प्रकार स्त्रीको मन, वचन कायसे जो नहीं सेवता तथा प्रयत्न मनसे ध्यानादिमें लगा हुआ है, यही ब्रह्मचर्य व्रत है ।२९२।

२. अणुव्रत

र. क/५९ न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्। सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि ।५९। =जो पापके भयसे न तो पर स्त्रीके प्रतिगमन करे और न दूसरोंको गमन करावे, वह परस्त्री त्याग तथा स्वदार सन्तोष नामका अणुव्रत है ।५९। (सा ध/४/५२)।

स सि/७/२०/३५८/१० उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनायाः संगान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम्। =गृहस्थके स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्रीका संग करनेसे रति हट जाती है इसलिए उसके परस्त्री त्याग नामका चौथा अणुव्रत होता है। (रा. वा/७/२०/४/५४७/१३)।

वसु श्रा./२१२ पव्वेसु इत्थिसेवा अणंगकीडा सया विवज्जंतो। थूलयडबंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि ।२१२। =अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वके दिनोंमें स्त्री-सेवन और सदैव अनंग क्रीडाका त्याग करनेवाले जीवको प्रवचनमें भगवान्ने स्थूल ब्रह्मचारी कहा है ।२१२। (गुण श्रा./१३६)।

का अ/मू/३३७-३३८ असुइ-मयं दुग्गंधं महिला-देहं विरच्चमाणो जो। रूवं लावण्णं पि य मण-मोहण-कारणं मुणइ ।३३७। जो मण्णदि परमहिलं जणणी-बहिणी-सुआइ-सारिच्छं। मण-वयणे कायेण वि बंभ-

वई सो हवे थूलो ।३३८। =जो स्त्रीके शरीरको अशुचिमय और दुर्गन्धित जानकर उसके रूप-लावण्यको भी मनमें मोहको पैदा करनेवाला मानता है। तथा मन-वचन और कायसे परायी स्त्रीको माता, बहन और पुत्रीके समान समझता है, वह श्रावक स्थूल ब्रह्मचर्यका धारी है।

चा पा./२१/४३/२१ ब्रह्मचर्यं स्वदारसंतोषः परदारनिवृत्तिः कस्यचित्सर्वस्त्री निवृत्तिः'। =स्व स्त्री सन्तोष, अथवा परस्त्रीसे निवृत्ति-वा किसीके सर्वथा स्त्रीके त्यागका नाम ब्रह्मचर्य व्रत है।

४. ब्रह्मचर्य प्रतिमाका लक्षण

र. क. श्रा./१४३ मलबीजं मलयोनिं गलन्मलं पूतिगन्धिबीभत्सं पश्यन्नङ्गमनङ्गाद्विरमति यो ब्रह्मचारी स'।१४३। =जो मलके बीजभूत, मलको उत्पन्न करनेवाले, मलप्रवाही, दुर्गंध युक्त, लज्जाजनक वा ग्लानियुक्त अंगको देखता हुआ काम-सेवनसे विरक्त होता है, वह ब्रह्मचर्य प्रतिमाका धारी ब्रह्मचारी है।१४३।

वसु. श्रा./२९७ पुव्वुत्तणवविहाणं पि मेहुणं सव्वदा विवज्जंतो। इत्थिकहाइणिवित्तो सत्तमगुणवंभयारी सो ।२९७। =जो पूर्वोक्त नौ प्रकारके मैथुनको सर्वदा त्याग करता हुआ स्त्रीकथा आदिसे भी निवृत्त हो जाता है, वह सातवें प्रतिमा रूप गुणका धारी ब्रह्मचारी श्रावक है ।२९७। (गुण. श्रा./१८०), (द्र सं./टी/४५/८), (का अ/३८४), (सा. ध/७/१७), (ला. सं/६/२१)।

५. शीलके लक्षण

शील. पा./मू/४० सील विसयविरागो ।४०। =पंचेन्द्रियके विषयसे विरक्त होना शील कहलाता है।

ध. ८/३,४१/८२/५ वद परिरक्खण सील णाम। =व्रतोकी रक्षाको शील कहते है। (प. प्र/टी/२/६७)।

अन. ध./४/१७२ शीलं व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम्। सञ्ज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादियममलात्यय क्षमादींश्च ।१७२। =जिसके द्वारा व्रतोकी रक्षा की जाय उसको शील कहते है। संज्ञाओंका परिहार और इन्द्रियोका निरोध करना चाहिए, तथा उत्तमक्षमादि दस धर्मको धारण करना चाहिए।१७२।

दे० प्रकृति/१/१ (प्रकृति, शील और स्वभाव ये एकार्थवाची है)।

६. शीलके १८००० भंग व भेद

१. सामान्य भेद

भा. पा./पं. जयचन्द/१२०/२४०/१ शीलकी दोय प्रकार प्ररूपणा है—एक तो स्वद्रव्य परद्रव्यके विभाग अपेक्षा है अर दूसरी स्त्रीके ससर्गकी अपेक्षा है।

१. स्वद्रव्य परद्रव्यके विभागकी अपेक्षा

मू. आ./१०१७-१०२० जोए करणे सण्णा इंदिय भोम्मादि समणधम्मे य। अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसील सहस्साइं ।१०१७। तिण्ह सुहसंजोगो जोगो करणं च असुहसंजोगो। आहारादी सण्णा फासंदिय इंदिया णेया ।१०१८। पुढविगदगागणिमारुदपत्तेयअणतकायिया चेव। विगतिगचदुपचेंदिय भोम्मादि हवदि दस एदे ।१०१९। खती मद्दव अज्जव लाघव तव संजमो आकिंचणदा। तह होदि बभचेरं सच्च चागो य दस धम्मा ।१०२०। =१. तीन योग तीन करण चार सज्ञा पाँच इन्द्रिय दस पृथ्वी आदिक काय, दस मुनि धर्म—इनको आपसमें गुणा करनेसे अठारह हजार शील होते है।१०१७। २ मन, वचन, कायका शुभकर्मके ग्रहण करनेके लिए व्यापार वह योग है और अशुभके लिए प्रवृत्ति वह करण है। आहारादि चार सज्ञा है, स्पर्शन आदि पाँच इन्द्रियाँ हैं ।१०१८। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक वनस्पति, साधारण वनस्पति, दो इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पचेन्द्रिय—ये पृथिवी आदि दस है।१०१९। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, तप, संयम, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य, सत्य, त्याग ये दस मुनिधर्म है ।१०२०। (भा. पा./टी/११८/२६७/६), (भा, पा/पं. जयचन्द/१२०/२४०/४)।

२. स्त्री संसर्गकी अपेक्षा

काष्ठ, पाषाण, चित्राम (३ प्रकार अचेतन स्त्री)×मन अर काय=(३×२=६) (यहाँ वचन नाही)। कृत कारित-अनुमोदना=(६×३=१८)। पाँच इन्द्रिय (१८×५=९०)। द्रव्यभाव (९०×२=१८०)। क्रोध-मान-माया-लोभ (१८०×४=७२०)। ये तो अचेतन स्त्रीके आश्रित कहे। देवी, मनुष्यणी, तिर्यंचिनी (३ प्रकार चेतन, स्त्री)×मन, वचन, काय (३×३=९)। कृत-कारित अनुमोदना (९×३=२७)। पचेन्द्रिय (२७×५=१३५)। द्रव्य भाव (१३५×२=२७०)। चार संज्ञा (२७०×४=१०८०)। सोलह कषाय (१०८०×१६=१७२८०)। इस प्रकार चेतन स्त्रीके आश्रित १७२८० भेद कहे। कुल मिलाकर (७२०+१७२८०) शीलके १८००० भेद हुए। (भा पा/टी/११८/२६७/१४) (भा. पा/प. जयचन्द/१२०/२४०)।

२. ब्रह्मचर्य निर्देश

१. ब्रह्मचर्य व्रतकी ५ भावनाएँ

भ. आ/मू./१२१० महिलालोयणपुव्वरदिसरणं संसत्तवसहिविकहाहिं। पणिदरसेहिं य विरदी भावना पंच बभस्स।१२१०। =स्त्रियोके अंग देखना, पूर्वानुभूत भोगादिका स्मरण करना, स्त्रियाँ जहाँ रहती है वहाँ रहना, शृंगार कथा करना, इन चार बातोसे विरक्त रहना, तथा बल व उन्मत्तता, उत्पादक पदार्थोंका सेवन करना, इन पाँच बातोका त्याग करना ये ब्रह्मचर्यकी पाँच भावनाएँ है।१२१०। (मू. आ./३४०) (चा. पा/मू. (३५)।

त. सू/७/७ स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागाः पञ्च।७। =स्त्रियोंमें रागको पैदा करनेवाली कथाके सुननेका त्याग, स्त्रियोके मनोहर अंगोको देखनेका त्याग, पूर्व भोगोके स्मरणका त्याग, गरिष्ठ और इष्ट रसका त्याग तथा अपने शरीरके संस्कारका त्याग ये ब्रह्मचर्यव्रतकी पाँच भावनाएँ है।७।

स सि/७/९/३४७/११ अब्रह्मचारी मदविभ्रमोद्भ्रान्तचित्तो वनगज इव वासिता वञ्चितो विवशो वधबन्धनपरिक्लेशाननुभवति मोहाभिभूतत्वाच्च कार्याकार्यानभिज्ञो न किंचित्कुशलमाचरति पराङ्गनालिङ्गनसङ्गकृतरतिश्चेहैव वैरानुबन्धिनो लिङ्गच्छेदनवधबन्धसर्वस्वहरणादीनपायान् प्राप्नोति प्रेत्य चाशुभां गतिमश्नुते गर्हितश्च भवति अतो विरतिरात्महिता। =जो अब्रह्मचारी है, उसका चित्त मदसे भ्रमता रहता है। जिस प्रकार वनका हाथी हथिनीसे जुदा कर दिया जाता है, और विवश होकर उसे वध, बन्धन, और क्लेश आदि दुःखोको भोगना पडता है, ठीक यही अवस्था अब्रह्मचारीकी होती है। मोहसे अभिभूत होनेके कारण वह कार्य अकार्यके विवेकसे रहित होकर कुछ भी उचित आचरण नही करता। पर स्त्रीके रागमें जिसकी रति रहती है, इसलिए वह वैरको बढानेवाले लींगका छेदा जाना, मारा जाना, बाँधा जाना और सर्वस्वका अपहरण किया जाना आदि दुःखोंको और परलोकमें अशुभगतिको प्राप्त होता है। तथा गर्हित होता है। इसलिए अब्रह्मका त्याग आत्महितकारी है।

२. ब्रह्मचर्य धर्मके पालनार्थ कुछ भावनाएँ

भ आ/मू./८८२/९९४ कामकदा इत्थिक्दा दोसा असुचित्तवुड्ढसेवा य। ससग्गीदोमावियकरंति इत्थीसु वेरग्गं ।८८२। =कामदोष, स्त्रीकृत दोष, शरीरकी अपवित्रता, वृद्धोकी सेवा, और संसर्ग दोष इन पाँच कारणोसे स्त्रियोंसे वैराग्य उत्पन्न होता है।८८२।

रा वा /९/६/२७/५९६/३० ब्रह्मचर्यमनुपालयन्तं हिंसादयो दोषा न स्पृशन्ति। नित्याभिरतगुरुकुलावासमधिवसन्ति गुणसंपदः। वराङ्गनाविलासविभ्रमविधेयीकृत पापैरपि विधेयीक्रियते। अजितेन्द्रियता हि लोके प्राणिनामवमानदात्रीति। एवमुत्तमक्षमादिषु तत्प्रतिपक्षेषु च गुणदोषविचारपूर्विकाया क्रोधादिनिवृत्तौ सत्यां तन्निबन्धनकर्मास्रवाभावात् महान् संवरो भवति। =ब्रह्मचर्यको पालन करनेवालेके हिंसा आदि दोष नहीं लगते। नित्य गुरुकुल वासीको गुण सम्पदाएँ अपने-आप मिल जाती हैं। स्त्री विलास विभ्रम आदिका शिकार हुआ प्राणी पापोंका भी शिकार बनता है। संसारमें अजितेन्द्रियता बड़ा अपमान कराती है। इस तरह उत्तम क्षमादि गुणोंका तथा क्रोधादि दोषोंका विचार करनेसे क्रोधादिकी निवृत्ति होनेपर तन्निमित्तक कर्मोंका आस्रव रुककर महान् संवर होता है।

पं. वि /१/१०८ अविरतमिह तावत्पुण्यभाजो मनुष्याः, हृदि विरचितरागा कामिनीना वसन्ति। कथमपि न पुनस्ता जातु येषा तदङ्घ्री, प्रतिदिनमतिनम्रास्तेऽपि नित्यं स्तुवन्ति।१०८। =लोकमें पुण्यवान् पुरुष रागको उत्पन्न करके निरन्तर ही स्त्रियोंके हृदयमें निवास करते है। ये पुण्यवान् पुरुष भी जिन मुनियोंके हृदयमें वे स्त्रियाँ कभी और किसी प्रकारसे भी नहीं रहती हैं उन मुनियोंके चरणोंकी प्रतिदिन अत्यन्त नम्र होकर नित्य ही स्तुति करते हैं।१०८।

२. ब्रह्मचर्य अणुव्रतके अतिचार

१. स्वदार संतोष व्रतकी अपेक्षा

दे० ब्रह्मचर्य/१/२ (स्वस्त्री भोगाभिलाष, इन्द्रियविकार, पुष्टरससेवा, स्त्री द्वारा स्पर्श की हुई शय्याका सेवन करना, स्त्रीके अंगोपांगका अवलोकन करना, स्त्रीका अधिक सत्कार करना, स्त्रीका सम्मान करना, पूर्वभोगानुस्मरण, आगामी भोगाभिलाष, इष्ट विषय सेवन ये दस अब्रह्मके प्रकार हैं।)

मू. आ./९९६-९९८ पढमं विउलाहारं विदियं काय सोहणं। तदियं गन्धमल्लाइं चउत्थं गीयवाइयं।९९६। तह सयणसोधणं पि य इत्थिसंसग्गंपि अत्थसंगहणं। पुव्वरदिसरणमिंदियविसयरदी पणीदरससेवा।९९७। दसविहमब्बंभमिणं संसारमहादुहाणमावाहं। परिहरेइ जो महप्पा सो दढबंभव्वदो होदि।९९८। =१. बहुत भोजन करना, २. तैलादिसे शरीरका संस्कार करना, ३. सुगन्ध पुष्पमालादिका सेवन, ४. गीत-नृत्यादि देखना, ५. शय्या-क्रीडागृह या चित्रशाला आदिकी खोज करना, ६. कटाक्ष करती स्त्रियोंके साथ खेलना, ७. आभूषण वस्त्रादि पहनाना, ८. पूर्व भोगानुस्मरण, ९. रूपादि इन्द्रियविषयोंमें प्रेम, १० इष्ट व पुष्ट रसका सेवन, ये दस प्रकारका अब्रह्म संसारके महा दुःखोंका स्थान है। इसको जो महात्मा संयमी त्यागता है, वही दृढ ब्रह्मचर्य व्रतका धारी होता है।

त. सू./७/२८ परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडाकामतीव्राभिनिवेशा ।२८। =पर विवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वरिका-अपरिगृहीतागमन, अनङ्गक्रीडा, और कामतीव्राभिनिवेश ये स्वदारसन्तोष अणुव्रतके पाँच अतिचार है।२८। (र क श्रा./६०)।

ज्ञा /११/७-९ आद्यं शरीरसंस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनम्। तौर्यत्रिकं तृतीयं स्यात्संसर्गस्तुर्यमिष्यते।७। योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्तितम्। तदङ्गवीक्षणं षष्ठं संस्कार सप्तमं मतम्।८। पूर्वानुभोगसंभोगस्मरणं स्यात्तदष्टमम्। नवमं भाविनी चिन्ता दशमं बस्तिमोक्षणम्।९। =प्रथम तो शरीरका संस्कार करना, २ पुष्टरसका सेवन करना, ३. गीत-वादित्रादिका देखना-सुनना, ४. स्त्रीमें किसी प्रकार का संकल्प वा विचार करना, ५. स्त्रीके अंग देखना, ६ देखनेका संस्कार हृदयमें रहना, ७. पूर्वमें किये भोगका स्मरण करना, ८ आगामी भोगनेकी चिन्ता करनी, १० शुक्रका क्षरण। इस प्रकार मैथुनके दश भेद हैं, इन्हें ब्रह्मचारीको सर्वथा त्यागने चाहिए।७-९।

२. परस्त्री त्याग व्रतकी अपेक्षा

सा. ध./३/२३ कन्यादूषणगान्धर्व-विवाहादि विवर्जयेत्। परस्त्रीव्यसनत्यागव्रतशुद्धिविधित्सया।२३। =परस्त्री व्यसनका त्यागी श्रावक परस्त्री व्यसनके त्यागरूप व्रतकी शुद्धिकी करनेकी इच्छासे कन्याके लिए दूषण लगानेको और गान्धर्व विवाह आदि करनेको छोड़े।२३।

ला. सं./२/१९६,२०७ भोगपत्नी निषिद्धा स्यात्सर्वतो धर्मवेदिनाम्। ग्रहणस्याविशेषेऽपि दोषो भेदस्य संभवात्।१९६। एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूति समक्षतः। पराङ्गनासु नादेया बुद्धिर्धीधनशालिभिः।२०७। =धर्मके जाननेवाले पुरुषोंको भोगपत्नीका पूर्णरूपसे त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि यद्यपि विवाहित होनेके कारण वह ग्रहण करने योग्य है, तथापि धर्मपत्नीसे वह सर्वथा भिन्न है, सब तरहके अधिकारोंसे रहित है, इसलिए उसका सेवन करनेमें दोष है।१९६। (धर्मपत्नी आदि भेद—दे० स्त्री०)। अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सबको स्त्रियोंके भेदोंमें समझकर बुद्धिमान् पुरुषोंको परस्त्रियोंका सेवन करनेमें अपनी बुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिए।२०७।

३. वेश्या त्याग व्रतकी अपेक्षा

सा. ध./३/२० त्यजेत्तौर्यत्रिकासक्तिं, वृथाट्यां विड्गसंगतिम्। नित्यं पण्याङ्गनात्यागी, तद्गेहगमनादि च।२०। =वेश्या व्यसनका त्यागी, श्रावक गीत, नृत्य और वाद्यमें आसक्तिको, बिना प्रयोजन घूमनेको, व्यभिचारी पुरुषोंकी संगतिको, और वेश्याके घर आने-जाने आदिको सदा छोड़ देवे।२०।

४. शीलके दस दोष

द. पा. टी /९/९/४ कास्ता शीलविराधना: स्त्रीसंसर्ग सरसाहार सुगन्धसंस्कार कोमलशयनासनं शरीरमण्डनं गीतवादित्रश्रवणम् अर्थग्रहणं कुशीलसंसर्ग राजसेवा रात्रिसंचरणम् इति दशशीलविराधना। =१. स्त्रीका संसर्ग, २. स्वादिष्ट आहार, ३ सुगन्धित पदार्थोंसे शरीरका संस्कार, ४. कोमल शय्या व आसन आदिपर सोना, बैठना, ५. अलंकारादिसे शरीरका शृङ्गार, ६. गीत वादित्र श्रवण, ७ अधिक धन ग्रहण, ८. कुशील व्यक्तियोंकी संगति, ९. राजाकी सेवा, १०. रात्रिमें इधर-उधर घूमना, ऐसे दस प्रकारसे शीलकी विराधना होती है।

३. अब्रह्मका निषेध व ब्रह्मचर्यकी प्रधानता

१. वेश्या गमनका निषेध

वसु. श्रा./८८-९३ कारुय-किराय-चंडाल-डोंब पारसियाणमुच्छिट्ठं। सो भक्खेइ जो सह वसइ एयरत्ति पि वेस्साए।८८। रत्तं णाऊण णरं सव्वस्सं हरइ वंचणसएहिं। काऊण मुयइ पच्छा पुरिसं चम्मट्ठिपरिसेसं।८९। पभणइ पुरओ एयस्स सामी मोत्तूण णत्थि मे अण्णो। उच्चइ अण्णस्स पुणो करेइ चाडूणि बहुयाणि।९०। माणी कुलजो सूरो वि कुणइ दासत्तणं पि णीचाणं। वेस्सा कएण बहुगं अवमाणं सहइ कामंधो।९१। जे मज्जमंसदोसा वेस्सा गमणम्मि होंति ते सव्वे। पावं पि तत्थ हिट्ठं पावइ णियमेण सविसेसं।९२। पावेण तेण दुक्खं पावइ संसारसायरे घोरे। तम्हा परिहरियव्वा वेस्सा मण-वयण-काएहिं।९३। =जो कोई भी मनुष्य एक रात भी वेश्याके साथ निवास करता है, वह कारु (लुहार), चमार, किरात (भील), चण्डाल, डोंब (भंगी) और पारसी आदि नीच लोगोंका जूठा खाता है। क्योंकि, वेश्या इन सभी लोगोंके साथ समागम करती है।८८। वेश्या, मनुष्यको अपने ऊपर आसक्त जानकर सैकड़ों वचनाओंसे उसका सर्वस्व हर लेती है और पुरुषको अस्थि-चर्म परिशेष करके, छोड़ देती है।८९।

वह एक पुरुषके सामने कहती है कि तुम्हे छोडकर तुम्हारे सिवाय मेरा स्वामी कोई नही है। इसी प्रकार वह अन्यसे भी कहती है और अनेक खुशामदी बातें करती है।९०। मानी, कुलीन, और शूरवीर भी मनुष्य वेश्यामें आसक्त होनेसे नीच पुरुषोकी दासताको करता है, और इस प्रकार वह कामान्ध होकर वेश्याके द्वारा किये गये अपमानोको सहता है।९१। जो दोष मद्य-मांसके सेवनमें होते है, वे सब दोष वेश्यागमनमें भी होते है। इसलिए वह मद्य और मास सेवनके पापको तो प्राप्त होता ही हे, किन्तु वेश्या-सेवनके विशेष अधर्मको भी नियमसे प्राप्त होता है।९२। वेश्या सेवन जनित पापसे यह जीव घोर ससार सागरमे भयानक दु खोंको प्राप्त होता है, इसलिए मन, वचन और कायसे वेश्याका सर्वथा त्याग करना चाहिए।९३।

ला. सं /२/१२९-१३२ पण्यस्त्री तु प्रसिद्धा या वित्तार्थं सेवते नरम्। तन्नाम दारिका दासी वेश्या पत्तननायिका।१२९। तत्त्याग' सर्वत' श्रेयान् श्रेयोऽर्थं यतता नृणाम्। मद्य-मासादि दोषान्वै निःशेषान् त्यक्तुमिच्छताम्।१३०। आस्ता तत्सङ्गमे दोषो दुर्गतौ पतन नृणाम्। इहैव नरकं नूनं वेश्यासक्तचेतसाम्।१३१। उक्त च या. खादन्ति पलं पिबन्ति च सुरां, जल्पन्ति मिथ्यावच'। स्निह्यन्ति द्रविणार्थमेव विदधत्यर्थप्रतिष्ठाक्षतिम्। नीचानामपि दूरवक्रमनसः पापात्मिका. कुर्वते, लालापानमहर्निश न नरक वेश्यां विहायापरम्। रजकशिलासदृशीभि कुक्कुरकर्परसमानचरिताभि.। वेश्याभिर्यदि सग. कृतमित्र परलोकवार्ताभि.। प्रसिद्ध' बहुभिस्तस्यां प्राप्ता दु खपरंपरा। श्रेष्ठिना चारुदत्तेन विख्यातेन यथा परा.॥ =जो स्त्री केवल धनके लिए पुरुषका सेवन करती है, उसको वेश्या कहते है, ऐसी वेश्याएँ ससारमें प्रसिद्ध है, उन वेश्याओंको दारिका, दासी, वेश्या वा नगरनायिका आदि नामोंसे पुकारते है।१२९। जो मनुष्य मद्य, मांस आदिके दोषोको त्यागकर अपने आत्माका कल्याण करना चाहते है, उनको वेश्या सेवनका त्याग करना चाहिए।१३०। वेश्या सेवनसे नरकादिक दुर्गतियोमें पडना पडता है। और इस लोकमें भी नरकके सदृश यातनाएँ व दु ख भोगने पडते है।१३१। कहा भी है—यह पापिनी वेश्या मांस खाती है, शराब पीती है, झूठ बोलती है, धनके लिए प्रेम करती है, अपने धन और प्रतिष्ठाका नाश करती है और कुटिल मनसे वा बिना मनके नीच लोगोकी लारको रात-दिन चाटती है, इसलिए वेश्याको छोडकर संसारमें कोई नरक नही है। वेश्या तो धोबीकी शिलाके सदृश है, जिसपर आकर ऊँच-नीच अनेक पुरुषोके घृणितसे घृणित और अत्यन्त निन्दनीय ऐसे वीर्य वा लार आदि मल आकर बहते है. अथवा वह वेश्या कुत्तेके मुँहमें लगे हुए हड्डीके खप्परके समान आचरण करती है ऐसी वेश्याके साथ जो पुरुष समागम करते है, वे साथ-साथ परलोककी बातचीत भी अवश्य कर लेते है अर्थात् वह नरक अवश्य जाते है। इस वेश्या सेवनमें आसक्त जीवोने बहुत दु.ख जन्म-जन्मान्तर तक पाये है। जैसे अत्यन्त प्रसिद्ध सेठ चारुदत्तने इस वेश्या सेवनसे ही अनेक दु ख पाये थे।१३२।

२. परस्त्री निषेध

कुरल/१५/१० वरमन्यत्कृत पापमपराधोऽपि वा वरम्। पर न साध्वी त्वत्पक्षे कांक्षिता प्रतिवेशिनी।१०। =तुम कोई भी अपराध और दूसरा कैसा भी पाप क्यो न करो पर तुम्हारे पक्षमें यही श्रेयस्कर है कि तुम पडोसीकी स्त्रीसे सदा दूर रहो।

वसु.श्रा./गा. नं णिस्ससइ रुयइ गायइ णियवसिर हणइ महियले पडइ। परमहिलमलभमाणो असप्पलाव पि जंपेहा।११३।अह भुजइ परमहिल अणिच्छमाण बलाधरेऊण। ।११८। अह कावि पाव बहुला असई णिण्णासिऊण णियमील। सयमेव पच्छिआओ उवरोहवमेण अप्पाण।११९। जइ देइ जह वि तत्थ सुण्णहर खंडदेउलयमज्झम्मि। सचित्ते भयभीओ सोक्ख किं तत्थ पाउणइ।१२० सोऊण किं पि सद्दं सहसा परिवेवमाणसव्वंगो। ल्हुक्कइ पलाइ पखलइ चउद्दिसं णियइ भयभीओ।१२१। जइ पुणकेण वि दीसइ णिज्जइ तो बधिऊण णिवगेहं। चोरस्स णिग्गहं सो तत्थ वि पाउणइ सविसेस।१२२। परलोयम्मि अणंतं दुक्खं पाउणइ इह भव समुद्दम्मि। परयारा परमहिला तम्हा तिविहेण वज्जिज्जा।१२४। =पर स्त्री लम्पट पुरुष जब अभिलषित परमहिलाको नहीं पाता है, तब वह दीर्घ निश्वास छोडता है, रोता है, कभी गाता है, कभी सिरको फोडता है और कभी भूतलपर गिरता है और असत्प्रलाप भी करता है।११३। नहीं चाहनेवाली किसी पर-महिलाको जबर्दस्ती पकडकर भोगता है। ·।११८। यदि कोई पापिनी दुराचारिणी अपने शीलको नाश करके उपरोधके वशसे कामी पुरुषके पास स्वय उपस्थित भी हो जाय, और अपनेआपको सौप भी देवे।११९। तो भी उस शून्य गृह या खंडित देवकुलके भीतर रमण करता हुआ वह अपने चित्तमें भयभीत होनेसे वहाँपर क्या सुख पा सकता है।१२०। वहाँपर कुछ भी जरा-सा शब्द सुनकर सहसा थर-थर काँपता हुआ इधर-उधर छिपता है, भागता है, गिरता है और भयभीत हो चारों दिशाओको देखता है।१२१। इसपर यदि कोई देख लेता है तो वह बाँधकर राजदरबारमें ले जाया जाता है और वहाँपर वह चोरसे भी अधिक दण्डको पाता है।१२२। पर स्त्री-लम्पटी परलोकमें इस संसार समुद्रके भीतर अनन्त दु खको पाता है। इसलिए परिगृहीत या अपरिगृहीत परस्त्रियोंको मन, वचन कायसे त्याग करना चाहिए।१२४।

ला सं./२/२०७ एतत्सर्वं परिज्ञाय स्वानुभूमिसमक्षत। पराङ्गनासु नादेया बुद्धिर्धीधनशालिभि।२०७। =अपने अनुभव और प्रत्यक्षसे इन सब स्त्रियोके भेदोको (दे० स्त्री) समझकर बुद्धिमान् पुरुषोको परस्त्रियोके सेवन करनेमें अपनी बुद्धि कभी नहीं लगानी चाहिए।२०७। (ला स./६/६०)।

३. दुराचारिणी स्त्रीका निषेध

सा ध/३/१० भजन् मद्यादि भाज' स्त्री-स्तादृशै. सह ससृजन्। भुक्त्यादौ चैति साकीर्ति मद्यादि विरतिक्षतिम्।१०। =मद्य, मांस आदिको खानेवाली स्त्रियोको सेवन करनेवाला और भोजनादिमें मद्यादिके सेवन करनेवाले पुरुषोके साथ ससर्ग करनेवाला व्रतधारी पुरुष निन्दा सहित मद्य-त्याग आदि मूलगुणोकी हानिको प्राप्त होता है।१०।

४. स्त्रीके लिए परपुरुषादिका निषेध

भ आ./मू/९९४ जह सीलरक्खयाण पुरिसाण णिंदिदाओ महिलाओ। तह सीलरक्खयाण महिलाण णिंदिदापुरिसा।९९४। =शीलका रक्षण करनेवाले पुरुषको स्त्री जैसे निन्दनीय अर्थात् त्याग करने योग्य है, वैसे शीलका रक्षण करनेवाली स्त्रियोको भी पुरुष निन्दनीय अर्थात् त्याज्य है।

५. अब्रह्म सेवनमें दोष

भ आ/मू./९२२ अवि य वहो जीवाण मेहुणसेवाए होइ बहुगाण। तिलणालीए तत्ता सलायवेसो य जोणीए।९२२। =मैथुन सेवन करनेसे वह अनेक जीवोंका वध करता है। जैसे तिलकी फलीमें अग्निसे तपी हुई सलई प्रविष्ट होनेसे सब तिल जलकर खाक होते है वैसे मैथुन सेवन करते समय योनिमें उत्पन्न हुए जीवोंका नाश होता है।९२२। (विशेष विस्तार दे० भ आ/मू/८९०-१११७), (पु.सि/उ./१०९)।

स्या. म/२३/२७६/१५ पर उद्धृत मेहुण सण्णारूढो णवलक्ख हणेइ सुहुमजीवाणं। केवलिणा पण्णत्ता सद्दहिअव्वा सया काल।३। इत्थीजोणीए सभवति वेइंदिया उ जे जीवा। इक्को व दो व तिण्णि व लक्खपुहुत्त उ उक्कोस।४। पुरिसेण सह गयाए तेसिं जीवाण होइ उद्दवणं। वेणुगदिट्ठंतेण तत्तायसलागणाएण।५। पंचिंदिया मणुस्सा

एगणर भुत्तणारिगब्भम्मि। उक्कोस णवलक्खा जायंति एगवेलाए।६। णव लक्खाण मज्झे जायइ इक्कस्स दोण्ह व समत्ती। सेसा पुण एमेव य विलयं वच्चति तत्थेव।७। =केवली भगवान्‌ने मैथुनके सेवनमें नौ लाख जीवोंका घात बताया है, इसमें सदा विश्वास करना चाहिए।३। तथा स्त्रियोकी योनिमें दो इन्द्रिय जीव उत्पन्न होते हैं। इन जीवोकी संख्या एक, दो, तीनसे लगाकर लाखोंतक पहुँच जाती है।४। जिस समय पुरुष स्त्रीके साथ सभोग करता है, उस समय जैसे अग्निमे तपायी हुई लाहेकी सलाईको बाँसकी नलीमें डालनेसे नलीमें रखे तिल भस्म हो जाते है, वैसे ही पुरुषके संयोगसे योनिमें रहनेवाले सम्पूर्ण जीवोका नाश हो जाता है।५। पुरुष और स्त्रीके एक बार संयोग करनेपर स्त्रीके गर्भमें अधिकसे अधिक नौ लाख पंचेन्द्रिय मनुष्य उत्पन्न होते है। इन नौ लाख जीवोंमें एक या दो जीव जीते है बाकी सब जीव नष्ट हो जाते है।

६. शीलकी प्रधानता

शी पा./मू./१६ जीवदयादम सच्चं अचोरियं बंभचेरसतोसे। सम्मद्दंसण णाणं तओ य सीलस्स परिवारो।१९। =जीव दया, इन्द्रिय दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप ये सर्व शीलके परिवार है।१९।

७. ब्रह्मचर्यकी महिमा

भ. आ./मू./१११५/११२३ तेल्लोक्काडविडहणो कामग्गी विसयरुक्खपज्जलिओ। जोव्वणतणिल्लचारी ज ण डहइ सो हवइ धण्णो।१११५। =कामाग्नि विषयरूपी वृक्षोका आश्रय लेकर प्रज्वलित हुआ है, त्रैलोक्यरूपी वनको यह महाग्नि जलानेको उद्यत हुआ है। परन्तु तारुण्य रूपी तृणपर संचार करनेवाले जिन महात्माओको वह जलानेमें असमर्थ है वे महात्मा धन्य है। (अन. ध./४/६६)।

अन./४/६० या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचप्रवृत्ति.। तद्ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति पर प्रमोदम्।६०। =शुद्ध और बुद्ध अपने चित्स्वरूप ब्रह्ममें परद्रव्योका त्याग करनेवाले व्यक्तिकी अप्रतिहत परिणति रूप जो चर्या होती है उसीको ब्रह्मचर्य कहते है। यह व्रत समस्त व्रतोंमें सार्वभौमके समान है जो पुरुष इसका पालन करते है। वे ही पुरुष सर्वोत्कृष्ट आनन्द-मोक्ष सुखको प्राप्त किया करते हैं।६०।

स्या. म/२३/२७७/२५ पर उद्धृत एकरात्रौपितस्यापि या गतिर्ब्रह्मचारिणः। न सा क्रतुसहस्रेण प्राप्तु शक्या युधिष्ठिर। =हे युधिष्ठिर। एक रात ब्रह्मचर्यसे रहनेवाले पुरुषको जो उत्तमगति मिलती है, वह गति हजारो यज्ञ करनेसे भी नहीं होगी।

४ शंका-समाधान

१. स्त्री पुरुषादिका सहवास मात्र अब्रह्म नहीं हो सकता

रा. वा./७/१६/६/५४४/१४ मिथुनस्य भाव (मैथुनं) इति चेन्न द्रव्यद्वयभवनमात्रप्रसंगादिति, तदसत् अभ्यन्तरपरिणामाभावे बाह्यहेतुरफलत्वात्। अभ्यन्तरचारित्रमोहोदयापादितस्त्रैणपौरनात्मकरतिपरिणामाभावात् बाह्यद्रव्यद्वयभवनेऽपि न मैथुनम्। "स्त्रीपुसयो' कर्मेति चेन्न पच्यादिक्रियाप्रसगात् इति; तदर्माप्रतम्; कुत' तद्विपयस्यैव ग्रहणात्। तयोरेव यत्कर्म तदिह गृह्यते, पच्यादिकर्म पुनः अन्येनापि क्रियते। 'नमस्काराद्युपयुक्तस्य वन्दनादिमिथुनकर्मणि न मैथुनम्। ='मिथुनस्य भाव" इस पक्षमें जो दो स्त्री-पुरुष रूप द्रव्योंकी सत्ता मात्रको मैथुनत्वका प्रसग दिया जाता है, वह उचित नहीं है, क्योंकि अभ्यन्तर चारित्र मोहोदय रूपी परिणामके अभावमें बाह्य कारण निरर्थक है। उसी तरह अभ्यन्तर चारित्रमोहोदयके स्त्रैण पौस्न रूप रति परिणाम न होनेसे बाह्यमें रति परिणाम रहित दो द्रव्योके रहनेपर भी मैथुनका व्यवहार नही होता। —स्त्री और पुरुषके कर्म पक्षमें पाकादि क्रिया और वन्दनादि क्रियामें मैथुनत्वका प्रसंग उचित नही है, क्योंकि स्त्री और पुरुषके संयोगसे होनेवाला कर्म वहाँ विवक्षित है, पाकादि क्रिया तो अन्यसे भी हो जाती है। (स. सि/७/१६/३५३/११)।

२. मैथुनके लक्षणसे हस्तक्रिया आदिमें अब्रह्म सिद्ध नहीं होगा

रा. वा./७/१६/५-८/५४३-५४४/३३ न वैतद्युक्तम्। कुत.। एकस्मिन्नप्रसङ्गात्। हस्तपादपुद्गलसंघट्टनादिभिरब्रह्मसेवमाने एकस्मिन्नपि मैथुनमिष्यते, तन्न सिद्ध्यति।५। यथा स्त्रीपसयो रत्यर्थे संयोगे परस्पररतिकृतस्पर्शाभिमानात् सुखं तथैकस्यापि हस्तादिसघट्टनात् स्पर्शाभिमानस्तुल्य'। तस्मान्मुख्य एव तत्रापि मैथुनशब्दलाभ. रागद्वेपमोहाविष्टत्वात्।७। यथैकस्यापि पिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वं तथैकस्य चारित्रमोहोदयाविष्कृतकामपिशाचवशीकृतत्वात् सद्वितीयत्वसिद्धेः मैथुनव्यवहारसिद्धि। =प्रश्न—यह मैथुनका लक्षण युक्त नहीं है, क्योंकि एक ही व्यक्तिके हस्तादि पुद्गलके रगडसे अब्रह्मके सेवन करनेपर भी मैथुन क्रिया मानी गयी है। परन्तु इससे (मैथुनके लक्षणसे) वह सिद्ध न होगी। उत्तर—जिस प्रकार स्त्री और पुरुपका रतिके समय संयोग होनेपर स्पर्श सुख होता है, उसी तरह एक व्यक्तिका भी हाथ आदिके सयोगसे स्पर्श सुखका भान होता है, अत हस्तमैथुन भी मैथुन कहा जाता है, यह औपचारिक नहीं है, क्योकि राग, द्वेप, मोहसे आविष्ट है। (अन्यथा इससे कर्म बन्ध न होगा)।७। यहाँ एक ही व्यक्ति चारित्र मोहके उदयसे प्रकट हुए कामरूपी पिशाचके सम्पर्कसे दो हो गया है और दोके कर्मको मैथुन कहनेमें कोई बाधा नहीं है।

३. परस्त्री त्याग सम्बन्धी

ला. स./२/श्लोक नं. ननु यथा 'धर्मपत्न्या यैव दास्यां क्रियैव सा। विशेपानुपलब्धेश्च कथं भेदोऽवधार्यते।१८९। मैवं स्पर्शादि यद्वस्तु बाह्यं विषयसज्ञिकम्। तद्धेतुस्तादृशो भावो जीवस्यैवास्ति निश्चयात्।१९१। दृश्यते जलमेवैकमेकरूप स्वरूपत। चन्दनादिवनराजि प्राप्य नानात्वमध्यगात्।१९२। त्याज्यं वत्स परस्त्रीपु रतिं तृष्णोपशान्तये। विमृश्य चापदां चक्रं लोकद्वयविध्वंसिनीम्।२०१। आस्तां यन्नरके दु'खं भावतीव्रानुवेदिनाम्। जातं परांगनासक्ते लोहागनादिलिंगनात्।२१२। इहैवानर्थसंदोहो यावानस्ति सुदुस्सह' तावान्न शक्यते वक्तुमन्वयोपिन्मतेरिति'।२१३। =प्रश्न—विपय सेवन करते समय जो क्रिया धर्मपत्नीमे की जाती है वही क्रिया दासीमें की जाती है। अत' क्रियामे भेद न होनेसे उन दोनोंमें कोई भेद नहीं होना चाहिए।१८९। उत्तर—कर्मबन्धमें वा परिणामोमे शुभ अशुभपना होनेमें स्पर्श करना वा विपय सेवना आदि बाह्य वस्तु ही कारण नहीं है किन्तु जीवोंके वैसे परिणाम होना ही निश्चय कारण है। (अर्थात् दासीके सेवनमे तीव्र लालसा होती है इससे तीव्र अशुभ कर्मका बन्ध होता है)।१९१। जल एक स्वरूपका होनेपर भी चन्दनादि वनराजिको प्राप्त होनेपर पात्रके भेदसे नाना प्रकारका परिणत हो जाता है। उसी प्रकार दासी व धर्मपत्नीके साथ एक सी क्रिया होने पर भी पात्र भेदसे परिणामोंमें अन्तर होता है तथा परिणामोमें अन्तर होनेसे शुभ व अशुभ कर्मबन्धमें अन्तर पड जाता है।१९२। हे वत्स। परस्त्रीमें प्रेम करना आपत्तियोंका स्थान है, वह परस्त्री दोनों लोकोके हितका नाश करनेवाली है, यही समझकर अपनी तृष्णा व लालसाको शान्त करनेके लिए परस्त्रीमे प्रेम करना छोड।२०१। परस्त्री सेवनेवालोको नरकमें उनकी तीव्र लालसाके

कारण गरम लोहेकी स्त्रियोंसे आलिंगन करानेसे तो महा दुःख होता है, किन्तु इस लोकमें भी अत्यन्त असह्य दुःख व अनेक अनर्थ उत्पन्न होते हैं।२१२-२१३।

४. ब्रह्मचर्य व्रत व ब्रह्मचर्य प्रतिमामें अन्तर

सा. ध./७/१९ प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता, ये पञ्चाऽपनयादयः । तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्यु-र्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ।१९। =जो प्रथम आश्रमवाले (ब्रह्मचर्याश्रमी) मौंजी बन्धन पूर्वक व्रत ग्रहण करनेवाले उपनय आदिक पाँच प्रकारके ब्रह्मचारी (दे० ब्रह्मचारी) कहे गये हैं वे सब नैष्ठिकके बिना शेष सब शास्त्रोंको पढ़कर स्त्रीको स्वीकार करते हैं।१९।

दे० ब्रह्मचर्य/१/३-४ (द्वितीय प्रतिमामें ग्रहण किये एक ब्रह्मचर्य अणुव्रतमें तो अपनी धर्मपत्नीका भोग करता था। परन्तु इस ब्रह्मचर्य प्रतिमाको स्वीकार करनेपर नव प्रकारसे तीनोंकाल सम्बन्धी समस्त स्त्रीमात्रके सेवनका त्याग कर देता है)।

ब्रह्मचर्य तप ऋद्धि—घोर व अघोर गुण ब्रह्मचर्य तप ऋद्धि —दे० ऋद्धि/५।

ब्रह्मचारी—

दे० ब्रह्मचर्य/१/१ में प. वि. (जो ब्रह्ममें आचरण करता है, और इन्द्रिय विजयी होकर वृद्धा आदिको माता, बहन व पुत्रीके समान समझता है वह ब्रह्मचारी होता है)।

२. ब्रह्मचारीके भेद

चा. सा./४२/१ तत्र ब्रह्मचारिणः पंचविधाः—उपनयावलम्बादीक्षागूढनैष्ठिकभेदेन । =ब्रह्मचारी पाँच प्रकारके होते हैं—उपनय, अवलम्ब, अदीक्षा, गूढ और नैष्ठिक। (सा. ध./७/१९)।

३. ब्रह्मचारी विशेषके लक्षण

ध ९/४,१,१०/९४/२ ब्रह्म चारित्रं पंचव्रत-समिति त्रिगुप्त्यात्मकम्, शान्तिपुष्टिहेतुत्वात् । अघोरा शान्तगुणा यस्मिन् तदघोरगुणं, अघोरगुणं ब्रह्म चरन्तीति अघोरगुणब्रह्मचारिणः । तेसिं तवोमहप्पेण डमरादि-मारि-दुब्भिक्ख-वइरोहादिपसमणसत्ती समुप्पण्णा ते अघोरगुणबम्हचारिणो त्ति उत्तहोदि। =१ ब्रह्मका अर्थ पाँच व्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति स्वरूप चारित्र है, क्योंकि वह शान्तिके पोषणका हेतु है। अघोर अर्थात् शान्त है गुण जिसमें वह अघोर गुण है, अघोर गुण ब्रह्मका आचरण करनेवाले अघोरगुण ब्रह्मचारी कहलाते हैं। जिनके तपके प्रभावसे डमरादि, रोग, ..रोध आदिको नष्ट करनेकी शक्ति उत्पन्न हुई है वे अघोरगुण ब्रह्मचारी हैं।

चा. सा./४२/१ तत्रोपनयब्रह्मचारिणो गणधरसूत्रधारिणः समभ्यस्तागमा गृहधर्मानुष्ठायिनो भवन्ति। अवलम्बब्रह्मचारिणः क्षुल्लकरूपेणागममभ्यस्य परिगृहीतगृहावासा भवन्ति। अदीक्षाब्रह्मचारिणः वेषमन्तरेणाभ्यस्तागमा गृहधर्मनिरता भवन्ति। गूढब्रह्मचारिणः कुमारश्रमणा सन्तः स्वीकृतागमाभ्यासा बन्धुभिर्दुःसहपरीषहैरात्मना नृपतिभिर्वा निरस्तपरमेश्वररूपा गृहवासरता भवन्ति। नैष्ठिकब्रह्मचारिणः समाधिगतशिखालक्षितशिरोलिङ्गा गणधरसूत्रोपलक्षितोरोलिङ्गा, शुक्लरक्तवसनखण्डकौपीनलक्षितकटीलिङ्गा स्नातका भिक्षावृत्तयो देवतार्चनपरा भवन्ति। =२. जो गणधर सूत्रको धारण कर अर्थात् यज्ञोपवीतको धारणकर उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं उन्हें उपनय ब्रह्मचारी कहते हैं। ३. जो क्षुल्लकका रूप धर शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं और फिर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हें अवलम्ब ब्रह्मचारी कहते हैं। ४. जो बिना ही ब्रह्मचारीका वेष धारण किये शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं, और फिर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं उन्हें अदीक्षा ब्रह्मचारी कहते हैं। ५. जो कुमार अवस्थामें ही मुनि होकर शास्त्रोंका अभ्यास करते हैं। तथा पिता, भाई आदि कुटुम्बियोंके आग्रहसे अथवा घोर परिषहोंके सहन न करनेसे किंवा राजाकी विशेष आज्ञासे अथवा अपनेआप ही जो परमेश्वर भगवान् अरहंत देवकी दिगम्बर दीक्षा छोड़कर गृहस्थ धर्म स्वीकार करते हैं उन्हें गूढ ब्रह्मचारी कहते हैं। ६. समाधि मरण करते समय शिखा (चोटी) धारण करनेसे जिसके मस्तकका चिह्न प्रगट हो रहा है। यज्ञोपवीत धारण करनेसेसे जिसका उरोलिंग (वक्षस्थल चिह्न) प्रगट हो रहा है। सफेद अथवा लाल रंगके वस्त्रके टुकड़ेकी लंगोटी धारण करनेसे जिसकी कमरका चिह्न प्रगट हो रहा है, जो सदा भिक्षा वृत्तिसे निर्वाह करता है। जो स्नातक वा व्रती हैं, जो सदा जिन पूजादिमें तत्पर रहते हैं। उन्हें नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं।

४. ब्रह्मचारीका वेष

दे० संस्कार/२/३ में व्रतचर्या क्रिया (जिसने मस्तकपर शिखा धारण की है, श्वेत वस्त्रकी कोपीन पहनी है, जिसके शरीरपर एक वस्त्र है, जो भेष और विकारसे रहित है, जिसने व्रतोंका चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीत धारण किया है, उसका ब्रह्मचारी कहते हैं)।

* पाँचों ब्रह्मचारियोंको स्त्रीके ग्रहण सम्बन्धी

दे० ब्रह्मचारी/४/४।

ब्रह्मदत्त—१२ वाँ चक्रवर्ती था।—विशेष दे० शलाका पुरुष।

ब्रह्मदेव—आप बाल ब्रह्मचारी थे। इसीसे इनका नाम ब्रह्मदेव पड़ गया था। आप समयसारके टीकाकार आ० जय सेनाचार्य नं ६ (ई० १२९२-१३२३) के अवश्य ही सधर्मा रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि दोनोंकी उपदेश शैली बिलकुल एक ही प्रकारकी है। (प. प्र./प्र./मनोहरलाल तथा द्र. स./प्र./११ में जवाहरलालके अनुसार) आपको वि. श. १६. का विद्वान् बताया जाता है। हो सकता है कि आप जयसेन नं. ६. के पश्चात् हुए हों। परन्तु उनकी शैलीपरसे यह मान्यता कुछ नहीं जँचती। आपने निम्न कृतियाँ रची हैं—१ द्रव्य संग्रहकी टीका; २. परमात्म प्रकाशकी टीका, ३. तत्त्व दीपक, ४. ज्ञान दीपक, ५ त्रिवर्णाचार दीपक; ६. प्रतिष्ठा तिलक, ७ विवाह पटल, ८ कथा कोष। समय—ई. १२९२-१३२३. (का. अ./प्र./६७/A N UP.) (द्र. स./प्र./अ./प. अजित प्रसाद) (प. प्र./प्र. ६४, १२१/A N. UP.)।

ब्रह्मराक्षस—राक्षस जातीय व्यन्तर देवोंका भेद—दे० राक्षस

ब्रह्मवाद—दे० अद्वैतवाद।

ब्रह्मविद्या—आ. मल्लिषेण (ई ११२८ द्वारारचित संस्कृत छन्दबद्ध अध्यात्मिक ग्रन्थ।

ब्रह्मसेन—लाड़ बागड़ संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप जयसेनके शिष्य तथा वीरसेनके गुरु थे। समय—वि. १०८० (ई. १०२३) (सि. सा. स. की प्रशस्ति/१२/८८-६५) (जयसेनाचार्यकृतधर्मरत्नाकर ग्रन्थकी प्रशस्ति। (सि सा सं/प्र/८/A. N. Up) —दे० इतिहास/५/२५।

ब्रह्महृदय—लान्तव स्वर्गका प्रथम पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग ।१.१.

ब्रह्मेश्वर—शीतलनाथ भगवानका शासक यक्ष—दे० यक्ष।

ब्रह्मोत्तर—१. ब्रह्म स्वर्गका चौथा पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/१.५. २. कल्पवासी स्वर्गोंका छठा कल्प—दे० स्वर्ग/६.५

ब्रह्मोत्तर—१. कल्पवासी देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/१.५। २. कल्पवासी देवोंका अवस्थान—दे० स्वर्ग/१.५।

बृहस्पति—१. एक ग्रह—दे० ग्रह, २ इसका लोकमें अवस्थान—दे० ज्योतिष/४।

ब्राह्मण—जैन आम्नायमें अणुव्रतधारी विवेकवान् श्रावक ही सुसंस्कृत होनेके कारण द्विज या ब्राह्मण स्वीकार किया गया है, केवल जन्मसे सिद्ध अविवेकी व अनाचारी व्यक्ति नहीं।

१. ब्राह्मण व द्विजका लक्षण

म. पु./३८/४३-४८ तपःश्रुतं च जातिश्च त्रयं ब्राह्मण्यकारणम्। तपःश्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव स ।४३। ब्राह्मणा व्रतसंस्कारात्‌ ।४६। तपःश्रुताभ्यामेवातो जातिसंस्कार इष्यते। असंस्कृतस्तु यस्ताभ्यां जातिमात्रेण स द्विजः ।४७। द्विर्जातो हि द्विजन्मेष्टः क्रियातो गर्भतश्च यः। क्रियामन्त्रविहीनस्तु केवलं नामधारकः ।४८। =१ तप, शास्त्रज्ञान और जाति ये तीन ब्राह्मण होनेके कारण हैं। जो मनुष्य तप और शास्त्रज्ञानसे रहित है वह केवल जातिसे ही ब्राह्मण है।४३। अथवा व्रतोंके संस्कारसे ब्राह्मण होता है।४६। २. द्विज जातिका संस्कार तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे ही माना जाता है, परन्तु तपश्चरण और शास्त्राभ्याससे जिसका संस्कार नहीं हुआ है वह जातिमात्रसे द्विज कहलाता है।४७। जो एक बार गर्भसे और दूसरी बार क्रियासे इस प्रकार दो बार उत्पन्न हुआ हो उसको दो बार जन्मा अर्थात् द्विज् कहते हैं (म पु /३९/९३)। परन्तु जो क्रियासे और मन्त्र दोनोंसे रहित है वह केवल नामको धारण करनेवाला द्विज है।४८।

२. ब्राह्मणके अनेकों नामोंमें रत्नत्रयका स्थान

म. पु /३९/१०८-१४१ का भावार्थ—जन्म दो प्रकारका होता है—एक गर्भसे दूसरा संस्कार या क्रियाओंसे। गर्भसे उत्पन्न होकर दूसरी बार संस्कारसे जन्म धारे सो द्विज है। केवल जन्मसे ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होकर द्विजपना जतलाना मिथ्या अभिमान है। जो ब्रह्मासे उत्पन्न हो सो ब्राह्मण है। जो बिना योनिके उत्पन्न हो सो देव है। जिनेन्द्रदेव, स्वयंभू, भगवान्, परमेष्ठी ब्रह्मा कहलाते हैं। उस परमदेव सम्बन्धी रत्नत्रयकी शक्ति रूप संस्कारसे जन्म धारनेवाला ही अयोनिज, देवब्राह्मण या देवद्विज हो सकता है। स्वयंभूके मुखसे सुनकर संस्कार रूप जन्म होता है, इसीसे द्विज स्वयम्भूके मुखसे उत्पन्न हुआ कहा जाता है। व्रतोंके चिह्न रूपसे सूत्र ग्रहण करे सो ब्राह्मण है केवल डोरा लटकानेसे नहीं। जिनेन्द्रका अहिंसामयी सम्यक्धर्म न स्वीकार करके वेदोंमें कहे गये हिंसामयी धर्मको स्वीकार करे वह ब्राह्मण नहीं हो सकता।

३ ब्राह्मणत्वमें गुण कर्म प्रधान हैं जन्म नहीं

द्र सं./टी./३५/१०६ पर उद्धृत—जन्मना जायते शूद्रः क्रियया द्विज उच्यते। श्रुतेन श्रोत्रियो ज्ञेयो ब्रह्मचर्येण ब्राह्मणः ।१। =जन्मसे शूद्र होता है, क्रियासे द्विज कहलाता है, श्रुत शास्त्रसे श्रोत्रिय और ब्रह्मचर्यसे ब्राह्मण जानना चाहिए।

दे. ब्राह्मण/१ तप शास्त्रज्ञान और जाति तीनसे ब्राह्मण होता है। अथवा व्रतसंस्कारसे ब्राह्मण है।

म. पु./३८/४२ विशुद्धा वृत्तिरेषैषां षट्तयोष्टा द्विजन्मनाम्। योऽतिक्रामेदिमां सोऽज्ञो नाम्नैव न गुणैर्द्विजः ।४२। =यह ऊपर कही हुई छह प्रकारकी विशुद्धि (पूजा, विशुद्धि पूर्वक खेती आदि करना रूप वार्ता, दान, स्वाध्याय, संयम और तप) वृत्ति इन द्विजोंके करने योग्य है। जो इनका उल्लंघन करता है, वह मूर्ख नाममात्रसे ही द्विज है, गुणसे द्विज नहीं है।४२।

धर्म परीक्षा/१७/२४-३४ सदाचार कदाचारके कारण ही जाति भेद होता है, केवल ब्राह्मणोंकी जाति मात्र ही श्रेष्ठ है ऐसा नियम नहीं है। मनुष्यजातिमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र यह चारों ही एक मनुष्य जाति हैं। परन्तु आचार मात्रसे इनके चार विभाग किये जाते हैं।२५। कोई कहे कि, ब्राह्मण जातिमें क्षत्रिय कदापि नहीं हो सकता क्योंकि चावलोंकी जातिमें कोदों कदापि उत्पन्न हुए नहीं देखे।२६। प्रश्न—तुम पवित्राचारके धारकको ही ब्राह्मण कहते हो शुद्ध शीलकी धारी ब्राह्मणीसे उत्पन्न हुएको ब्राह्मण क्यों नहीं कहते? उत्तर—ब्राह्मण और ब्राह्मणीका सदाचार बहुत कालसे पवित्राचार नहीं रह सकता, क्योंकि बहुत काल बीत जानेपर स्त्रियाँ सदाचार भ्रष्ट हो जाती हैं, और उनके उदरसे पुत्र पैदा होते हैं।२७-२८। इस कारण जिस जातिमें संयम-नियम-शील तप-दान-जितेन्द्रियता और दयादि वास्तवमें विद्यमान हों उसको ही सत्पुरुषोंने पूज्य जाति कहा है।२९। शील संयमादिके धारक नीच जाति तिर्यंच भी स्वर्गमें गये हैं। और जिन्होंने शील संयमादि त्याग दिये हैं ऐसे कुलीन भी नरकमें गये हैं।३१।

४. जैन श्रावक ही वास्तविक ब्राह्मण हैं

म. पु /३९/१४२ विशुद्धवृत्तयस्तस्माज्जैना वर्णोत्तमा द्विजाः। वर्णान्तःपातिनो नैते जगन्मान्या इति स्थितम् ।१४२।

म पु /४१/१८४-१८६ [illegible] च [illegible]द्विजाः। तादृशं [illegible] जातिवादावलेपतः ।१८५। [illegible] मता वा [illegible]। [illegible] द्विजा मान्या [illegible]र्हता ।१८६। =इससे यह बात निश्चित हो चुकी कि विशुद्ध वृत्तिको धारण करनेवाले जैन लोग ही सब वर्णोंमें उत्तम हैं। वे ही द्विज हैं। ये ब्राह्मण आदि वर्णोंके अन्तर्गत न होकर वर्णोत्तम हैं और जगत्पूज्य हैं।१४२। चूँकि यह मद (अहंकार आदि) आजकल इनमें (नाममात्रके ब्राह्मणोंमें) है और जातिके अभिमानसे ये द्विज हिंसा आदिको प्रवृत्ति करनेवाले वेद शास्त्रके अर्थको बहुत कुछ मानते हैं। इसलिए इन्हें सामान्य प्रजाके समान ही मानना चाहिए अथवा उससे भी निकृष्ट मानना चाहिए। इन सब कारणोंसे इनकी कुछ भी मान्यता नहीं रह जाती है, जो द्विज अर्हन्त भगवान्‌के भक्त हैं वही मान्य गिने जाते हैं।१८४-१८६।

५. वर्तमानका ब्राह्मण वर्ण मर्यादासे च्युत हो गया है

म. पु./४१/४६-५१, ५५ आयुष्मन् भवता सृष्टा य एते गृहमेधिनः। ते तावदुचिताचारा यावत्कृतयुगस्थितिः ।४६। ततः कलियुगेऽभ्यर्णे जातिवादावलेपतः। भ्रष्टाचाराः प्रपत्स्यन्ते सन्मार्गप्रत्यनीकताम् ।४७। तेऽपि जातिमदाविष्टा वयं लोकाधिका इति। पुरा दुरागमैर्लोकं मोहयन्ति धनाशया ।४८। सत्कारलाभसंवृद्धगर्वा मिथ्यामदोद्धताः। जनान् प्रतारयिष्यन्ति स्वयमुत्पाद्य दुःश्रुतीः ।४९। त इमे कालपर्यन्ते विक्रियां प्राप्य दुर्दृशः। धर्मद्रुहो भविष्यन्ति पापोपहतचेतनाः ।५०। सत्त्वोपघातनिरता मधुमांसाशनप्रियाः। प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं घोषयिष्यन्त्यधार्मिकाः ।५१। इति कालान्तरे दोषबीजमप्येतदञ्जसा। नाधुना परिहर्तव्यं धर्मसृष्टेरनतिक्रमात् ।५५। =ऋषभ भगवान् भरतके प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं कि—हे आयुष्मन्! तूने जो गृहस्थोंकी रचना की है, सो जब तक कृतयुग अर्थात् चतुर्थकालकी स्थिति रहेगी, तब तक तो ये उचित आचार-विचारका पालन करते रहेंगे। परन्तु जब कलियुग निकट आ जायेगा, तब ये जातिवादके अभिमानसे सदाचारसे भ्रष्ट होकर मोक्षमार्गके विरोधी बन जायेंगे।४६। पंचम कालमें ये लोग, हम सब लोगोंमें बड़े हैं, इस प्रकार जातिके मदसे युक्त होकर केवल धनकी आशासे खोटे-खोटे शास्त्रोंको रचकर लोगोंको मोहित करेंगे।४७। सत्कारके लाभसे जिनका गर्व बढ़ रहा है और जो मिथ्या मदसे उद्धत हो रहे हैं ऐसे ये ब्राह्मण लोग स्वयं शास्त्रोंको बनाकर लोगोंको ठगा करेंगे।४८। जिनकी चेतना पापसे दूषित हो रही है ऐसे ये मिथ्यादृष्टि लोग इतने समय तक

विकार भावको प्राप्त होकर धर्मके द्रोही बन जायेंगे ।५०। जो प्राणियोंकी हिंसा करनेमे तत्पर हैं तथा मधु और मासका भोजन जिन्हे प्रिय है ऐसे ये अधर्मी ब्राह्मण हिंसारूप धर्मकी घोषणा करेंगे ।५१। इस प्रकार यद्यपि यह ब्राह्मणोकी सृष्टि कालान्तरमें दोषका बीज रूप है तथापि धर्म सृष्टिका उल्लघन न हो इसलिए इस समय इसका परिहार करना भी अच्छा नही है ।५५।

६. ब्राह्मण अनेक गुण सम्पन्न होता है

म पु./३६/१०३-१०७ स यजन् याजयन् धीमान् यजमानैरुपासित.। अध्यापयन्नधीयानो वेदवेदाङ्गविस्तरम् ।१०३। स्पृशन्नपि महीं नैव स्पृष्टो दोषैर्महीगतै । देवत्वमात्मसात्कुर्याद इहैवाभ्यर्चितैर्गुणै ।१०४। नाणिमा महिमैवास्य गरिमैव न लाघवम् । प्राप्ति प्राकाम्यमीशित्वं वशित्व चेति तद्गुणा' ।१०५। गुणैरेभिरुपारूढमहिमा देवसाद्भवम् । बिभ्रल्लोकातिग धाम मह्यामेप महीयते ।१०६। धर्म्यैराचरितै सत्यशौचक्षान्तिदमादिभि । देवब्राह्मणता श्लाघ्या स्वस्मिन् संभावयत्यसौ ।१०७। =पूजा करनेवाले यजमान जिसकी पूजा करते है, जो स्वय पूजन करता है, और दूसरोमे भी कराता है, और जो वेद और वेदागके विस्तारको स्वय पढता है, तथा दूसरोको भी पढाता है, जो यद्यपि पृथिवीका स्पर्श करता तथापि पृथिवी सम्बन्धी दोष जिसका स्पर्श नहीं कर सकते है, जो अपने प्रशंसनीय गुणोसे इसी पर्यायमें देवत्वको प्राप्त हुआ है ।१०३-१०४। जिसके अणिमा ऋद्धि (छोटापन) नही है किन्तु महिमा (बडप्पन) है, जिसके गरिमा ऋद्धि है, परन्तु लघिमा नहीं है। जिसमें प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व आदि देवताओंके गुण विद्यमान है ।१०५। उपर्युक्त गुणोसे जिसकी महिमा बढ रही है, जो देव रूप हो रहा है, जो लोकको उल्लघन करनेवाला उत्कृष्ट तेज धारण करता है ऐसा यह भव्य-पृथ्वीपर पूजित होता है ।१०६। सत्य, शौच, क्षमा और दम आदि धर्म सम्बन्धी आचरणोसे वह अपनेमे प्रशसनीय देव ब्राह्मणपनेकी सम्भावना करता है ।१०७।

७. ब्राह्मणके नित्य कर्तव्य

म. पु./३८/२४.४६ इज्यां वार्तां च दत्तिं च स्वाध्यायं सयम तप । श्रुतोपासकसूत्रत्वात स तेभ्य समुपादिशत ।२४। ततेषा जातिसस्कार द्रढयन्निति सोऽधिराट् । स प्रोवाच द्विजन्मेभ्य' क्रियाभेदानशेषत. ।४६। =भरतने उन्हे उपासकाध्ययनागसे इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, सयम और तपका उपदेश दिया ।२४। (क्रिया और मन्त्रसे रहित केवल नाम मात्रके द्विज न रह जाये) इसलिए इन द्विजोकी जातिके संस्कारको दृढ करते हुए सम्राट् भरतेश्वरने द्विजोंके लिए नीचे लिखे अनुसार क्रियाओंके समस्त भेद कहे ।४६। (गर्भादानादि समस्त क्रियाएँ—दे० सस्कार/२)।

८. ब्राह्मणमें विद्याध्ययनकी प्रधानता

म पु /४०/१७४-२१२ का भावार्थ (द्विजोंके जीवनमें दस मुख्य अधिकार हे। उनको यथाक्रमसे कहा जाता है—१. बालपनेसे ही उनको विद्या अध्ययन करना रूप अतिबाल विद्या अधिकार है, २. अपने कुलाचारकी रक्षा करना रूप कुलावधि अधिकार, ३ समस्त वर्णोंमें श्रेष्ठ होना रूप वर्णोत्तम अधिकार, ४ दान देनेकी योग्यता भी इन्हींमें होती है ऐसी पात्रत्व अधिकार, ५ कुमार्गियोंकी सृष्टिको छोडकर क्षात्रिय रचित धर्म सृष्टिकी प्रभावना करना रूप सृष्ट्यधिकारता अधिकार, ६. प्रायश्चित्तादि कार्योंमें स्वतन्त्रता रूप व्यवहारेशिता अधिकार, ७ किसी अन्यके द्वारा अपनेको गुणोंमें हीन न होने देना तथा लोकमें ब्रह्महत्याको महान् अपराध समझा जाना रूप अवध्याधिकार, ८ गुणाधिकताके कारण किसी अन्यके कारण किसी अन्यके द्वारा दण्ड नहीं दिया जा सकना रूप अदण्ड्यता अधिकार; ९ सबके द्वारा सम्मान किया जाना रूप मान्यार्हता अधिकार; १० अन्य जनोके सयोगमें आनेपर स्वयं उनसे प्रभावित न होकर उनको अपने रूपमें प्रभावित कर लेना रूप सम्बन्धान्तर अधिकार। इन दश प्रकारके गुणोंका धारक ही वास्तवमें द्विज या ब्राह्मण है।

★ **ब्राह्मण वर्णकी उत्पत्तिका इतिहास**—दे० वर्णव्यवस्था।

ब्राह्मी—भगवान् ऋषभ देवकी पुत्री थी, जिसने कुमारी अवस्थामें दीक्षा धारण कर ली थी। (म. पु./१२/४२)।

[भ]

भंग—१. सप्त भग निर्देश—दे० सप्तभंगी/१। २ अक्षरके अनेको भग—दे० अक्षर, ३ द्वि त्रि सयोगी भग निकालना—दे० गणित/II/४। ४ अक्ष निकालना—दे० गणित/II.३। ५. भरत क्षेत्र मध्य आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भंग—१. भंग सामान्यका लक्षण

१. खण्ड, अंश वा भेदके अर्थमें

गो. क /जी प्र./३५८/५१५/१४ अभिन्नसंख्यानां प्रकृतीना परिवर्तनं भङ्ग', संख्याभेदेनैकत्वे प्रकृतिभेदेन वा भंग ।=एक सख्या रूप प्रकृतियोमें प्रकृतियोका बदलना सो भग है अथवा संख्या भेदकर एकत्वमें प्रकृति भेदके द्वारा भग होता है।

दे० पर्याय/१/१ (अंश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार, भेद, छेद और भग ये एकार्थ वाचक हैं।)

२. श्रुतज्ञानके अर्थमें

ध. १३/५,५,५०/२८४/१३ अहिंसा-सत्यास्तेय-शील-गुण-नय-वचन-द्रव्यादिविकल्पा भगा'। ते विधीयन्तेऽनेनेति भंगविधि श्रुतज्ञानम्। अथवा भगो वस्तुविनाश स्थित्युत्पत्त्यविनाभावी, सोऽनेन विधीयते निरूप्यत इति भंगविधि श्रुतम्। =१. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शील, गुण, नय, वचन और द्रव्यार्थिकके भेद भग कहलाते है। उनका जिसके द्वारा विधान किया जाता है वह भगविधि अर्थात श्रुतज्ञान है। २. अथवा, भगका अर्थ स्थिति और उत्पत्तिका अविनाभावी वस्तु विनाश है, जिसके द्वारा विहित अर्थात् निरूपित किया जाता है वह भगविधि अर्थात श्रुत है।

२. भंगके भेद

गो क /मू /८२०/९९१ ओघादेस संभव भावमूलुत्तरं ठवेदूण। पत्तेये अविरुद्धे परसगजोगेवि भगा हु ।८२०। =गुणस्थान और मार्गणा स्थानमें मूल व उत्तर भावोको स्थापित करके अक्ष सचारका विधान कर भावोंके बदलनेमे प्रत्येक भंग, अविरुद्ध परसयोगी भंग, और स्वसंयोगी भग होते है।

३. भंगके भेदोंके लक्षण
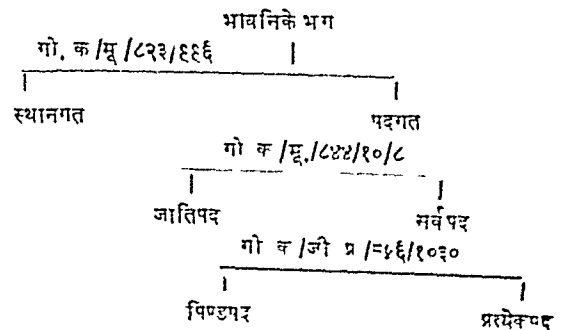
१. जहाँ जुदे जुदे भाव कहिये तहाँ प्रत्येक भंग जानने। (जैसे औदयिक भाव, उपशमभाव, क्षायिक भाव इत्यादि पृथक्-पृथक्) (गो. क./भाषा/८२०/९९२) २. जहाँ अन्य अन्य भावके संयोग रूप भंग होंइ तहाँ पर संयोग कहिये (जैसे औदयिक औपशमिक द्विसंयोगी वा औदयिक क्षायोपशमिक पारिणामिक त्रिसंयोगी सन्निपातिक भाव) (गो. क./भाषा/८२०/९९२) ३. जहाँ निज भावके भेदनिका ही संयोग रूप ही भंग होइ तहाँ स्वसंयोगी कहिये। (जैसे क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक चारित्रवाला द्विसंयोगी क्षायिक भाव) (गो. क./भाषा/८२०/९९२) ४. एक जीव के एक काल जितने भाव पाइये तिनके समूहका नाम स्थान है, ताकि अपेक्षाकरि जे भंग करिये तिनको स्थानगत कहिये। (गो. क./भाषा/८२३/९९६) ५. एक जीवके एक काल जे भाव पाइये तिनकी एक जातिका वा जुदे जुदेका नाम पद कहिये ताकी अपेक्षा जे भंग करिये तिनको पदगत कहिये। (गो. क./भाषा/८२३/९९६) ६. जहाँ एक जातिका ग्रहण कीजिये जैसे मिश्रभाव (क्षायोपशमिक भाव) विषै ज्ञानके चार भेद होतें भी एक ज्ञान जातिका ग्रहण है। ऐसे जाति ग्रहणकरि जे भंग करिये ते जातिपदगत भंग जानने। (गो. क./भाषा/८४४/१०१८)। ७. जे जुदे जुदे सर्व भावनि (जैसे क्षायोपशमिकके ही ज्ञान दर्शनादि भिन्न-भिन्न भावनिका) का ग्रहणकरि भंग कीजिये ते सर्वपदगत भंग जानने। (गो. क./भाषा/८४४/१०१८)। ८. जो भाव समूह एक काल एक जीवके एक एक ही सम्भवै, सर्व न सम्भवै जैसे चारों गति विषैं एक जीवके एकै काल विषैं एक गति ही सम्भवै च्यारों न सम्भवै तिस भाव समूहको पिंडपद कहिये। (गो. क./भाषा/८५६/१०३१)। ९. जो भाव एक जीवकै एक काल विषैं युगपत् भी सम्भवै ऐसे भाव तिनि कौं प्रत्येक-पद कहिये। (जैसे अज्ञान, दर्शन, लब्धि आदि क्षायोपशमिक भाव)।

भंडार दशमीव्रत—यह व्रत श्वेताम्बर आम्नायमें प्रचलित है। भंडार दशमिव्रत शक्ति सुपाय, दस जिन भवन भंडार चढाय। (व्रत विधान सं./पृ. १२१), (वर्द्धमान पु.)।

भक्त—गणितकी भागहार विधिमें भाज्य राशिको भागहार द्वारा भक्त किया गया कहते हैं।—दे० गणित/१/६।

भक्त प्रत्याख्यान मरण—दे० सल्लेखना/3।

भक्तामर कथा—१. आ. रायमल्ल (ई. १५५६-१६०६) द्वारा भाषामें रचित कथा। पं. जयचन्द छाबड़ा (ई. १८१३) द्वारा हिन्दी भाषामें रचित कथा।

भक्तामर स्तोत्र—आ. मानतुंग (ई. १०२१-१०२५) द्वारा रचित ऋषभदेव भगवान्‌का संस्कृत छन्दबद्ध स्तोत्र। इसे आदिनाथ स्तोत्र भी कहते हैं। इसमें ४८ श्लोक हैं।

भक्ति—१. साधुओंकी नित्य नैमित्तिक क्रियाओंके प्रयोगमें आनेवाली निम्न दस भक्तियाँ हैं—१. सिद्ध भक्ति; २. श्रुतभक्ति, ३. चारित्र भक्ति, ४. योगि भक्ति, ५. आचार्य भक्ति, ६. पंच महागुरु भक्ति, ७. चैत्य भक्ति, ८. वीर भक्ति; ९. चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति, १०. समाधि भक्ति। इनके अतिरिक्त भी ११. निर्वाण भक्ति, १२. नन्दीश्वर भक्ति, और शान्ति भक्ति आदि ३ भक्तियाँ हैं। परन्तु [illegible] १० ही मानी गयी हैं। इनमें प्रथम ६ भक्तियाँ तथा निर्वाण भक्ति संस्कृत व प्राकृत दोनों भाषामें प्राप्त हैं। शेष सब संस्कृतमें हैं। (१) प्राकृत भक्तिके पाठ आ. कुन्दकुन्द व पद्मनन्दि (ई. [illegible]) कृत हैं। (२) संस्कृत भक्तिके पाठ आ. पूज्यपाद (ई. [illegible]) कृत हैं। तथा अन्य भी भक्ति पाठ उपलब्ध हैं। यथा—[illegible] (ई. [illegible]) द्वारा रचित सिद्धभक्ति। (क्रिया-कलाप/पृ. १६७)। २. प्राथमिक भूमिकामें अर्हन्त आदिकी भक्ति मोक्षमार्गका प्रधान अंग है। यद्यपि बाहरमें उपास्यको कर्ता आदि बनाकर भक्ति की जाती है। परन्तु अन्तरंग भावोंके सापेक्ष होनेपर ही यह सार्थक है अन्यथा नहीं। आत्मस्पर्शी सच्ची भक्तिसे तीर्थंकरत्व पदकी प्राप्ति तक भी सम्भव है। इसके अतिरिक्त साधुको आहारदान करते हुए नवधा भक्ति और साधुके नित्यके कृतिकर्ममें चतुर्विंशतिस्तव आदि भी भक्ति ही है।

१. भक्ति सामान्य निर्देश

१. भक्ति सामान्यका लक्षण—१. निश्चय

नि. सा./ता. वृ./१३४ निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानावबोधाचरणात्मकेषु शुद्धरत्नत्रयपरिणामेषु भजनं भक्तिराराधनेत्यर्थः। एकादशपदेषु श्रावकेषु सर्वे शुद्धरत्नत्रयभक्तिं कुर्वन्ति। =निज परमात्म तत्त्वके सम्यक् श्रद्धान-अवबोध-आचरणस्वरूप शुद्ध रत्नत्रय-परिणामोका जो भजन वह भक्ति है, आराधना ऐसा उसका अर्थ है। एकादशपदी श्रावकोंमें सब शुद्ध रत्नत्रयकी भक्ति करते हैं।

स. सा./ता. वृ./१७३-१७६/२४३/११ भक्तिः पुनः⋯ निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति। =निश्चय नयसे वीतराग सम्यग्दृष्टियोके शुद्ध आत्म तत्त्वकी भावनारूप भक्ति होती है।

२. व्यवहार

नि. सा./मू./१३५ मोक्खगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि। जो कुणदि परम भत्तिं ववहारणयेण परिकहियं।१३५। =जो जीव मोक्षगत पुरुषोंका गुणभेद जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है, उस जीवको व्यवहार नयसे भक्ति कही गयी है।

म. मि./६/२४/३३६/४ भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। =भावोंकी विशुद्धिके साथ अनुराग रखना भक्ति है।

भ. आ./वि./४७/१५९/२० का भत्ती⋯। अर्हदादिगुणानुरागो भक्तिः। =अर्हदादि गुणोंमें प्रेम करना भक्ति है। (भा. पा./टी./७७/२२१/१०)।

स. सा./ता. वृ./१७३-१७६/२४३/११ भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पंचपरमेष्ठ्याराधनारूपा। =व्यवहारसे सराग सम्यग्दृष्टियोंके पंचपरमेष्ठीकी आराधनारूप सम्यक् भक्ति होती है।

पं. ध./उ./४७० तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसा शमात्। । =उन दोनोंमें दर्शनमोहनीयका उपशम होनेसे वचन काय और मन सम्बन्धी उद्धतपनेके अभावको भक्ति कहते है।

२. निश्चय भक्ति ही वास्तविक भक्ति है

स. सा./मू./३० णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि। देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति।३०। =जैसे नगरका वर्णन करनेपर भी राजाका वर्णन नहीं किया जाता इसी प्रकार शरीरके गुणका स्तवन करनेपर केवलीके गुणोका स्तवन नहीं होता है।३०।

३. सच्ची भक्ति सम्यग्दृष्टिको ही होती है

ध ८/३,४१/८९/५ ण च एसा (अरहंत भत्ती) दंसणविसुज्झदादीहि विणा संभवइ, विरोहादो। =यह (अर्हन्त भक्ति) दर्शन विशुद्धि आदिके बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेमें विरोध है।

मो. मा. प्र./७/३२७/८ यथार्थपनेकी अपेक्षा तौ ज्ञानी कै साची भक्ति है—अज्ञानीकै नाहीं है।

प. प्र./प. दौलत/२/१४३/२५६ बाह्य लौकिक भक्ति इससे संसारके प्रयोजनके लिए हुए, वह गिनतीमें नहीं। ऊपरकी सब बातें निःसार (थोथी) है, भाव ही कारण होते हैं, सो भाव-भक्ति मिथ्यादृष्टिके नहीं होती (सम्यग्दृष्टिके ही होती है)।

४. व्यवहार भक्तिमें ईश्वर कर्तावादका निर्देश

भा. पा /मू /१६३ ते मे तिहुवणमहिया सिद्धा सुद्धा णिरंजणा णिच्चा। दिंतु वर भावसुद्धिं दसण णाणे चरित्ते य।१६३। =जो नित्य है, निरंजन है, शुद्ध है तथा तीन लोकके द्वारा पूजनीक है, ऐसे सिद्ध भगवान् ज्ञान-दर्शन और चारित्रमे श्रेष्ठ उत्तम भावकी शुद्धता दो।१६३।

प्र. सा./मू./१ ·पणमामि वड्ढमाणं तित्थ धम्मस्स कत्तारं।१। = तीर्थरूप और धर्मके कर्ता श्री वर्धमान स्वामीको नमस्कार हो।१।

पं. वि /२०/१,६ त्रिभुवनगुरो जिनेश्वर परमानन्दैककारण कुरुष्व। मयि किंकरेऽत्र करुणा तथा यथा जायते मुक्तिः।१। अपहर मम जन्म दयां कृत्वेत्येकत्र वचसि वक्तव्ये। तेनातिदग्ध इति मे देव बभूव प्रजापित्वम्।६। =तीनों लोकोंके गुरु और उत्कृष्ट सुखके अद्वितीय कारण ऐसे हे जिनेश्वर। इस मुझ दासके ऊपर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मुझे मुक्ति प्राप्त हो जाये।१। हे देव। आप कृपा करके मेरे जन्म (ससार) को नष्ट कर दीजिए, यही एक बात मुझे आपसे कहनी है। परन्तु चूँकि मै इस ससारसे अति पीडित हूँ, इसलिए मै बहुत बक्वादी हुआ हूँ।

थोस्सामि दण्डक/८ कित्तिय वदिय महिया एदे लोगोत्तमा जिणा सिद्धा। आरोग्गणाणलाह दिंतु समाहिं च मे बोहिं।७। =वचनोंसे कीर्तन किये गये, मनसे वन्दना किये गये, और कायसे पूजे गये ऐसे ये लोकोत्तम कृतकृत्य जिनेन्द्र मुझे परिपूर्ण ज्ञान, समाधि और बोधि प्रदान करें।७।

५. प्रसन्न हो इत्यादिका प्रयोजन

आप्त. परि./टी /२/८/६ प्रसाद पुनः परमेष्ठिनस्तद्विनेयानां प्रसन्नमनविषयत्वमेव, वीतरागाणां तुष्टिलक्षणप्रसादासम्भवात् कोपासभववत्। तदाराधकजनैस्तु प्रसन्नेन मनसोपास्यमानो भगवान् 'प्रसन्न' इत्यभिधीयते, रसायनवत्। यथैव हि प्रसन्नेन मनसा रसायनमासेव्य तत्फलमवाप्नुवन्त सन्तो 'रसायनप्रसादादिदमस्माकमारोग्यादिफलं समुत्पन्नम्' इति प्रतिपाद्यन्ते तथा प्रसन्नेन मनसा भगवन्तं परमेष्ठिनमुपास्य तदुपासनफलं श्रेयोमार्गाधिगमलक्षण प्रतिपाद्यमानस्तद्विनेयजना. 'भगवत्परमेष्ठिन प्रसादादस्माक श्रेयोमार्गाधिगम संपन्न.' इति समनुमन्यन्ते। =परमेष्ठीमें जो प्रसाद गुण कहा गया है, वह उनके शिष्योंका प्रसन्न मन होना ही उनकी प्रसन्नता है, क्योंकि वीतरागोंके तुष्टात्मक प्रसन्नता सम्भव नहीं है। जैसे क्रोधका होना उनमें सम्भव नहीं है। किन्तु आराधकजन जब प्रसन्न मनसे उनकी उपासना करते है तो भगवान्‌को 'प्रसन्न' ऐसा कह दिया जाता है। जैसे प्रसन्न मनसे रसायन (औषधि) का सेवन करके उसके फलको प्राप्त करनेवाले समझते है और शब्द व्यवहार करते है कि 'रसायन' के प्रसादसे यह हमे आरोग्यादि फल मिला।' उसी प्रकार प्रसन्न मनसे भगवान् परमेष्ठीकी उपासना करके उसके फल—श्रेयोमार्गके ज्ञानको प्राप्त हुए उनके शिष्यजन मानते हैं कि 'भगवन् परमेष्ठीके प्रसादसे हमें श्रेयोमार्गका ज्ञान हुआ।'

मो. मा प्र /१/३२१/१७ उस (अर्हंत) के उपचारसे यह विशेषण (अधमोद्धारकादिक) सम्भवे है। फल तौ अपने परिणामनिका लागै है।

दे० पूजा/२/३ जिन गुण परिणत परिणाम पापका नाशक समझना चाहिए।

* सल्लेखनाकी स्मृति—दे० भ. आ./अमित /२२४८-२२४२)।

* शक्तिका महत्त्व—दे० विनय/२ तथा पूजा/२/४।

२. भक्ति विशेष निर्देश

१. अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत व प्रवचन भक्तिके लक्षण

स. सि /६/२४/३३६/४ अर्हदाचार्येषु बहुश्रुतेषु प्रवचने च भावविशुद्धियुक्तोऽनुरागो भक्तिः। =अर्हन्त, आचार्य, बहुश्रुत, और प्रवचन इनमें भावोंकी विशुद्धताके साथ अनुराग रखना अरहन्तभक्ति, आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति, और प्रवचनभक्ति है। (रा. वा /६/२४/१०/५३०/६); (चा.सा /५१/३, ५५/१); (भा पा./टी /७७/२२१/१०)।

ध. ८/३,४१/८९-९०/४ तेसु (अरहतेसु) भत्ती अरहतभत्ती। अरहतवुत्ताणुट्ठाणाणुवत्तणं तदणुट्ठाणपासो वा अरहतभत्ती णाम। बारसंगपारया बहुसुदा णाम, तेसु भत्ती-तेहि वक्खाणिद आगमत्थाणुवत्तणं तदणुट्ठाणपासो वा बहुसुदभत्ती। तम्हि (पवयणे) भत्ती तत्थ पदुप्पादिदत्थाणुट्ठाण। ण च अण्णहा तत्थ भत्ती सभवइ, असंपुण्णे सपुण्णववहारविरोहादो। =अरहन्तोंमें जो गुणानुरागरूप भक्ति होती है, वह अरहन्त भक्ति कहलाती है। अथवा अरहन्तके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठानके अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठानके स्पर्शको अरहन्त भक्ति कहते हैं। जो बारह अंगोके पारगामी है वे बहुश्रुत कहे जाते है, उनके द्वारा उपदिष्ट आगमार्थके अनुकूल प्रवृत्ति करने या उक्त अनुष्ठानके स्पर्श करनेको बहुश्रुतभक्ति कहते है।· प्रवचनमें (दे० प्रवचन) कहे हुए अर्थका अनुष्ठान करना, यह प्रवचनमे भक्ति कही जाती है। इसके बिना अन्य प्रकारसे प्रवचनमें भक्ति सम्भव नहीं है, क्योंकि असम्पूर्णमें सम्पूर्णके व्यवहारका विरोध है।

२. सिद्ध भक्तिका लक्षण

नि. सा./मू /१३४-१३५ सम्मत्तणाण चरणे जो भत्ति कुणइ सावगो समणो। तस्स दु णिव्वुदि भत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं।१३४। मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेद जाणिऊण तेसिं पि। जो कुणदि परमभत्ति ववहारणयेण परिकहियं।१३५। =जो श्रावक अथवा श्रमण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यग्चारित्रकी भक्ति करता है, उसे निर्वृतिभक्ति (निर्वाणकी भक्ति) है, ऐसा जिनोने कहा है।१३४। जो जीव मोक्षगत पुरुषोंका गुणभेद जानकर उनकी भी परम भक्ति करता है, उस जीवके व्यवहारनयसे निर्वाण भक्ति कही है।१३५।

द्र. स /टी /१८/५६ पर उद्धृत—सिद्धोऽहं सुद्धोऽहं अणतणाणाइगुणसमिद्धोऽहं। देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य। इति गाथाकथितसिद्धभक्तिरूपेण। =मै सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनन्तज्ञानादि गुणोंका धारक हूँ, शरीर प्रमाण हूँ, नित्य हूँ, असख्यात प्रदेशी हूँ, तथा अमूर्तिक हूँ।१। इस गाथामे कही हुई सिद्धभक्तिके रूपसे।

पं. का /त प्र./१६६ शुद्धात्मद्रव्यविश्रान्तिरूपा पारमार्थिकीं सिद्धभक्तिमनुबिभ्राण. । =शुद्धात्म द्रव्यमे विश्रान्तिरूप पारमार्थिक सिद्धभक्ति धारण करता हुआ।

द्र. सं /टी /१७/५५/८ सिद्धवदनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपोऽहमित्यादि व्यवहारेण सविकल्पसिद्धभक्तियुक्तानाः। ='मै सिद्ध भगवान्‌के समान अनन्तज्ञानादि गुणरूप हूँ' इत्यादि व्यवहारसे सविकल्प सिद्धभक्तिके धारक।

३. योगिभक्तिका लक्षण

नि. सा./मू /१३७ रायादीपरिहारे अप्पाण जोदु जुजदे साहू। सो जोगभत्तिजुत्तो इदरस्स य कह हवे जोगो।१३७। =जो साधु रागादिके परिहारमें आत्माको लगाता है (अर्थात् आत्मामें आत्माको लगाकर रागादिका परिहार करता है) वह योगिभक्ति युक्त है, दूसरेको योग किस प्रकार हो सकता है।१३७। (नि सा./मू./१३८)।

४. अर्हन्तादिमेंसे किसी एक भक्तिमें शेष १५ भावनाओंका समावेश

ध. ८/३,४१/८९/४ कधमेत्थ सेसकारणाणं संभवो। वुच्चदे अरहंतवुत्ताणुट्ठाणाणुवत्तण तदणुट्ठाणपासो वा अरहंतभत्ती णाम। ण च एसा दंसणविसुज्झदादीहि विणा ण सभवइ, विरोहादो।· दंसणविसुज्झदादीहि विणाएदिस्से (बहुसुदभत्तीए) असंभवादो।·· एत्थ (पवयण भत्तीए) सेसकारणाणमंतब्भावो वत्तव्वो। =प्रश्न—इसमें शेष कारणोंकी सम्भावना कैसे है। उत्तर—अरहन्तके द्वारा उपदिष्ट अनुष्ठानके अनुकूल प्रवृत्ति करनेको या उक्त अनुष्ठानके स्पर्शको अरहन्तभक्ति कहते हैं। यह दर्शनविशुद्धतादिकोंके बिना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेमें विरोध है। यह (बहुश्रुत भक्ति) भी दर्शनविशुद्धि आदिक शेष कारणोंके बिना सम्भव नहीं है।·· इस (प्रवचन भक्ति) में शेष कारणोंका अन्तर्भाव कहना चाहिए।

* दशभक्ति निर्देश व उनकी प्रयोग विधि

—दे० कृतिकर्म।

* प्रत्येक भक्तिके साथ आवर्त आदि करनेका विधान

—दे० कृतिकर्म।

५. साधुकी आहारचर्या सम्बन्धी नवभक्ति निर्देश

म. पु./२०/८६-८७ प्रतिग्रहमित्युच्चैः स्थानेऽस्य विनिवेशनम्। पादप्रधावनं चर्चा नति शुद्धिश्च सा त्रयी।८६। विशुद्धिश्चाशनस्येति नवपुण्यानि दानिनाम्।···।८७। =मुनिराजका पडिगाहन करना, उन्हें उच्चस्थानपर विराजमान करना, उनके चरण धोना, उनकी पूजा करना, उन्हें नमस्कार करना, अपने मन, वचन, कायकी शुद्धि और आहारकी विशुद्धि रखना, इस प्रकार दान देने वालेके यह नौ प्रकारका पुण्य अथवा नवधा भक्ति कहलाती है। (पु. सि. उ./१६८); (चा॰ सा./२६/३ पर उद्धृत); (वसु. श्रा./२२५), (गुण.श्रा./१५२), (का. अ./प. जयचन्द/३६०)।

६ नवधा भक्तिका लक्षण

वसु. श्रा./२२६-२३१ पत्तं णियघरदारे दट्ठूणण्णत्थ वा विमग्गित्ता। पडिगहणं कायव्वं णमोत्थु ठाहु त्ति भणिऊण।२२६। णेऊण णिययगेहं णिरवज्जाणु तह उच्चठाणम्मि। ठविऊण तओ चलणाणधोवणं होइ कायव्वं।२२७। पाओदयं पवित्तं सिरम्मि काऊण अच्चणं कुज्जा। गंधक्खय-कुसुम-णेवज्ज-दीव-धूवेहिं य फलेहिं।२२८। पुप्फंजलिं खिवित्ता पयपुरओ वंदणं तओ कुज्जा। चऊण अट्टरुद्दे मणसुद्धी होइ कायव्वा।२२९। णिट्ठुर-कक्कस वयणाइवज्जणं तं वियाण वचिसुद्धिं। सव्वत्थ मपुडंगस्स होइ तह कायसुद्धी वि।२३०। चउदसमलपरिसुद्धं जं दाणं सोहिऊण जइणाए। संजमिजणस्स दिज्जइ सा णेया एसणासुद्धी।२३१। =पात्रको अपने घरके द्वारपर देखकर अथवा अन्यत्रसे विमार्गणकर, 'नमस्कार हो, ठहरिए', ऐसा कहकर प्रतिग्रह करना चाहिए।२२६। पुन अपने घरमें ले जाकर निर्दोष तथा ऊँचे स्थानपर बिठाकर, तदनन्तर उनके चरणोंको धोना चाहिए।२२७। पवित्र पादोदकको सिरमें लगाकर पुन गन्ध, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फलोंसे पूजन करना चाहिए।२२८। तदनन्तर चरणोंके समीप पुष्पांजलि क्षेपणकर वन्दना करे। तथा आर्त और रौद्र ध्यान छोड़कर मन शुद्धि करना चाहिए।२२९। निष्ठुर और कर्कश आदि वचनोंके त्याग करनेको वचनशुद्धि जानना चाहिए, सब ओर संपुटित अर्थात् विनीत अंग रखनेवाले दातारके कायशुद्धि होती है।२३०। चौदह मलदोषों (दे० आहार/II/२/३) से रहित, यत्नसे शोधकर, संयमी जनको जो आहार दान दिया जाता है, वह एषणा शुद्धि जानना चाहिए।

* मन वचन काय तथा आहार शुद्धि—दे० शुद्धि।

३. स्तव निर्देश

१. स्तव सामान्यका लक्षण

१. निश्चय स्तवन

स. सा./मू./३१-३२ जोइन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं। तं खलु जिदिंदियं ते भणंति ये णिच्छिदा साहू।३१। जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं। तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति।३२। =जो इन्द्रियोको जीतकर ज्ञान स्वभावके द्वारा अन्य द्रव्यसे अधिक आत्माको जानते हैं उन्हें, जो निश्चयनयमें स्थित साधु हैं वे वास्तवमें जितेन्द्रिय कहते हैं।३१। जो मुनि मोहको जीतकर अपने आत्माको ज्ञान स्वभावके द्वारा अन्य द्रव्य भावोंसे अधिक जानता है, उस मुनिको परमार्थके जाननेवाले जितमोह कहते हैं। (इस प्रकार निश्चय स्तुति कही)।

यो सा. अ./५/४८ रत्नत्रयमयं शुद्धं चेतनं चेतनात्मकं। विविक्तं स्तुवतो नित्यं स्तवज्ञै· स्तूयते स्तव·।४८। =जो पुरुष रत्नत्रय स्वरूप शुद्ध, चैतन्य गुणोंके धारक और समस्त कर्मजनित उपाधियोंसे रहित आत्माकी स्तुति करता है, स्तवनके जानकार महापुरुषोंने उसके स्तवनको उत्तम स्तवन माना है।४८।

द्र स./टी./१/४/१२ एकदेशशुद्धनिश्चयनयेन स्वशुद्धात्माराधनालक्षणभावस्तवनेन· ·नमस्करोमि। =एक देश शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे निज शुद्ध आत्माका आराधन करने रूप भावस्तवनसे·· नमस्कार करता हूँ।

२. व्यवहार स्तवन वा स्तुति

स्व. स्तो./मू./८६ गुण-स्तोकं सदुल्लङ्घ्य तद्बहुत्वकथास्तुति·। =विद्यमान गुणोंकी अल्पताको उल्लंघन करके जो उनके बहुत्वकी कथा (बढा चढाकर कहना) की जाती है उसे लोकमें स्तुति कहते हैं।८६।

स. सि./७/२३/३६४/११ मनसा ज्ञानचारित्रगुणोद्भावन प्रशंसा, भूताभूतगुणोद्भाववचन सस्तव·। =ज्ञान और चारित्रका मनसे उद्भावन करना प्रशंसा है, और· जो गुण हैं या जो गुण नहीं हैं इन दोनोंका सद्भाव बतलाते हुए कथन करना संस्तव है। (रा. वा./७/२३/१/५५२/१२)।

ध. ८/३,४१/८४/१ तीदा-णागद-वट्टमाणकालविसयपंचपरमेसराणं भेदमकाऊण णमो अरहंताणं णमो जिणाणमिच्चादि णमोक्कारो दव्वट्ठियणिबंधणो थवो णाम। =अतीत, अनागत और वर्तमानकालविषयक पाँच परमेष्ठियोंके भेदको न करके 'अरहन्तोंको नमस्कार हो, जिनोंको नमस्कार हो' आदि द्रव्यार्थिक निबन्धन नमस्कारका नाम स्तव है।

द्र स./टी. १/४/१३ असद्भूतव्यवहारनयेन तत्प्रतिपादकवचनरूपद्रव्यस्तवनेन च नमस्करोमि। =असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा उस निज शुद्ध आत्माका प्रतिपादन करनेवाले वचनरूप द्रव्य स्तवनसे नमस्कार करता हूँ।

३. स्तव आगमोपसंहारके अर्थमें

ध. ६/४,१,५५/२६३/२ बारसंगसवारो सयलंगविसयप्पणादो थवो णाम। तम्हि जो उवजोगो वायण-पुच्छणपरियट्टणाणुवेक्खणसरूवो सो वि थओवयारेण=सब अंगोंके विषयोंकी प्रधानतासे बारह अंगोंके उपसंहार करनेको स्तव कहते हैं। उसमें जो वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षण स्वरूप उपयोग है वह भी उपचारसे स्तव कहा जाता है।

ध. १४/५,६,१२/९/६ सव्वसुदणाणविसओ उवजोगो थवो णाम। =समस्त श्रुतज्ञानको विषय करनेवाला उपयोग स्तव कहलाता है।

गो. क./मू /७३/८८ सयलग ·सवित्थर ससंखेवं वण्णणसत्थं थय· होइ नियमेण ।८८।=सकल अग सम्बन्धी अर्थको विस्तारसे वा संक्षेपसे विषय करनेवाले शास्त्रको स्तव कहते है ।

४. स्तुति आगमोपसंहारके अर्थमें

ध. ६/४,१,५५/२६३/३ बारसंगेसु एक्कगोवसंघारो थुदी णाम । तम्हि जो उवजोगो सो वि थुदि त्ति घेत्तव्वो ।=बारह अगोमेंसे एक अगके उपसंहारका नाम स्तुति है । उसमें जो उपयोग है, वह भी स्तुति है ऐसा ग्रहण करना चाहिए ।

ध १४/५,६,१४/६/६ एगंगविसओ एयपुव्वविसओ वा उवजोगो थुदी णाम ।=एक अंग या एक पूर्वको विषय करनेवाला उपयोग (या शास्त्र गो. क,) स्तुति कहलाता है । (गो. क./मू./८८) ।

* प्रशंसा व स्तुतिमें अन्तर—दे० अन्यदृष्टि ।

२. चतुर्विंशतिस्तवका लक्षण

मू. आ /२४ उसहादिजिणवराणं णामणिरुत्ति गुणाणुकित्तिं च । काऊण अच्चिदूण य तिसुद्धपणमो थओ णेओ ।२४।=ऋषभ अजित आदि चौबीस तीर्थंकरोके नामकी निरुक्तिके अनुसार अर्थ करना, उनके असाधारण गुणोको प्रगट करना, उनके चरणोको पूजकर मन वचन-कायकी शुद्धतासे स्तुति करना उसे चतुर्विंशतिस्तव कहते है । (अन. ध./८/३७) ।

रा वा /६/२४/११/५३०/१२ चतुर्विंशतिस्तव' तीर्थकरगुणानुकीर्तनम् । =तीर्थंकरोके गुणोका कीर्तन चतुर्विंशतिस्तव है । (चा. सा./५६/१), (भा. पा./टी /७७/२२१/१३) ।

भ. आ /वि./११६/२७४/२७ चतुर्विंशतिसंख्यानां तीर्थकृतामत्र भारते प्रवृत्ताना वृषभादीना जिनवरत्वादिगुणज्ञानश्रद्धानपुरस्सरा चतुर्विंशतिस्तवनपठनक्रिया नोआगमभावचतुर्विंशतिस्तव इह गृह्यते । =इस भरतक्षेत्रमें वर्तमानकालमें वृषभनाथसे महावीर तक चौबीस तीर्थकर हो गये है । उनमें अर्हन्तपना वगैरह अनन्तगुण हैं, उनको जानकर तथा उसपर श्रद्धान रखते हुए उनकी स्तुति करना यह चतुर्विंशतिस्तव है ।,

३. स्तवके भेद

मू. आ /५३८ णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले य होदि भावे य । एसो थवम्हि णेओ णिक्खेवो छव्विहो होइ ।५३८।=नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव स्तवके भेदसे चौबीस तीर्थंकरोके स्तवनके छह भेद है । (अन ध./८/३८) ।

४. स्तवके भेदोंके लक्षण

भ. आ./वि./५०६/७२८/११ मनसा चतुर्विंशति तीर्थकृतां गुणानुस्मरण 'लोगस्सुज्जोययरे' इत्येवमादीना गुणानां वचन ललाटविन्यस्तकरमुकुलता जिनेभ्य' कायेन ।=मनसे चौबीस तीर्थंकरोके गुणोका स्मरण करना, वचनमे 'लोयस्सुज्जोययरे' इत्यादि श्लोकोंमें कही हुई तीर्थंकर स्तुति बोलना, ललाटपर हाथ जोडकर जिनेन्द्र भगवान्को नमस्कार करना ऐसे चतुर्विंशतिस्तुतिके तीन भेद होते है ।

क. पा. १/१,१/§८५/११०/१ गुणाणुसरणदुवारेण चउवीसण्ह पि तित्थयराणं णामट्ठसहस्सग्गहण णामत्थओ । कट्टिमाकट्टिमजिणपडिमाण सब्भावासब्भावट्ठवणाए ट्ठविदाण बुद्धीए तित्थयरेहिं एयत्त गयाण तित्थयराणंतासेसगुणभरियाणं कित्तणं वा ट्ठवणाथवो णाम। चउवीसण्ह पि तित्थयरसरीराण · असेसवेयणुम्मुक्काण चउसट्ठि लक्खणावुण्णाण सुहसठाणसंघडणाण सुवण्णदडसुरहिचामरविराइयाण सुहवण्णाण सरूवाणुसरणपुरस्सरं तक्कित्तणं दव्वत्थओ णाम । तेसिं जिणाणमणतणाण-दंसण-विरियसुहसम्मत्तव्वाबाह-विरायभावादि गुणाणुमरणपरूवणाओ भावत्थओ णाम ।=चौबीस तीर्थंकरोके गुणोके अनुसरण द्वारा उनके एक हजार आठ नामोका ग्रहण करना नामस्तव है । जो सद्भाव असद्भावरूप स्थापनामे बुद्धिके द्वारा तीर्थंकरोसे एकत्वको प्राप्त है, अतएव तीर्थंकरोके समस्त गुणोको धारण करती है, ऐसी जिन प्रतिमाओके स्वरूपका अनुसरण (कीर्तन) करना स्थापनास्तव है ।· ·जो अशेष वेदनाओसे रहित है ·· स्वस्तिकादि चौसठ लक्षण चिह्नोसे व्याप्त है, शुभ सस्थान व शुभ सहनन है सुवर्णदण्डसे युक्त चौसठ सुरभि चामरोंसे सुशोभित हैं, तथा जिनका वर्ण शुभ है, ऐसे चौबीस तीर्थंकरोके शरीरोके स्वरूपका अनुसरण करते हुए उनका कीर्तन करना द्रव्यस्तव है (क्षेत्र व कालस्तव दे० अगला प्रमाण अन. ध) उन चौबीस जिनोंके अनन्तज्ञान, दर्शन, वीर्य, और अनन्त सुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अव्याबाध, और विरागता आदि गुणोके अनुसरण करनेकी प्ररूपणा करना भावस्तव है । (अन. ध./८/३९-४४) ।

अन. ध./८/४२-४३ क्षेत्रस्तवोऽर्हतां स स्यात्तत्स्वर्गावतरादिभि' । पूतस्य पूर्वनाद्यादेर्यत्प्रदेशस्य वर्णनम् ।४२। कालस्तवस्तीर्थकृतां स ज्ञेयो यदनेहस' । तद्गर्भावतराद्युद्धक्रियादृप्तस्य कीर्तनम् ।४३। =तीर्थंकरोके गर्भ, जन्म आदि कल्याणकोके द्वारा पवित्र हुए नगर वन पर्वत आदिके वर्णन करनेको क्षेत्रस्तव कहते है । जैसे—अयोध्यानगरी, सिद्धार्थवन, व कैलास पर्वत आदि ।४२। भगवान्के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकोकी प्रशस्त क्रियाओसे जो महत्ताको प्राप्त हो चुका है ऐसे समयका वर्णन करनेको कालस्तव कहते है ।४३।

५. चतुर्विंशतिस्तव विधि

मू आ /५३९,५७३ लोगुज्जोराधम्मतित्थयरे जिणवरे य अरहते । कित्तण केवलिमेव य उत्तमबोहिं मम दिसतु ।५३९। चउरगुलंतरपादो पडिलेहिय अंजलीकयपसत्थो । अव्वक्खारवित्तो वुत्तो कुणदि य चउवीसथोत्तयं भिक्खू ।५७३।=जगतको प्रकाश करनेवाले उत्तम क्षमादिधर्म तीर्थके करनेवाले सर्वज्ञ प्रशसा करने योग्य प्रत्यक्षज्ञानी जिनेन्द्र देव उत्तम अर्हन्त मुझे बोधि दें ।५३९। जिसने पैरोका अन्तर चार अगुल किया है, शरीर भूमि चित्तको जिसने शुद्ध कर लिया हो, अजलिको करनेसे सौम्य भाववाला हो, सब व्यापारोसे रहित हो, ऐसा सयमी मुनि चौबीस तीर्थंकरोकी स्तुति करे ।५७३।

६. चतुर्विंशतिस्तव प्रकरणमें कायोत्सर्गके कालका प्रमाण

मू. आ./६६१ उद्दसे णिद्दसे मज्झाए वंदणे य परिधाणे । सत्तावीसुस्सासा काओसग्गम्हि कादव्वा ।६६१।=ग्रन्थादिके आरम्भमें, पूर्णताकालमें, स्वाध्यायमें, वन्दनामें, अशुभ परिणाम होनेमें जो कायोत्सर्ग उसमें सत्ताईस उच्छ्वास करने योग्य है ।६६१। नोट—वास्तवमे इस क्रियाका कोई विशेष विधान नहीं है । प्रत्येक क्रियामें पढी जाने वाली भक्तिके पूर्वमें नियमसे चतुर्विंशति स्तुति पढो जाती है । अत प्रतिक्रमण, वन्दनादि क्रियाओमें इसका अन्तर्भाव हो जाता है ।

भक्ष्याभक्ष्य—मोक्षमार्गमे यद्यपि अन्तरग परिणाम प्रधान है, परन्तु उनका निमित्त होनेके कारण भोजनमें भक्ष्याभक्ष्यका विवेक रखना अत्यन्त आवश्यक हे । मद्य, मास, मधु व नवनीत तो हिंसा, मद व प्रमाद उत्पादक होनेके कारण महाविकृतियाँ है ही, परन्तु पंच उदुम्बर फल, कन्दमूल, पत्र व पुष्प जातिकी बनस्पतियाँ भी क्षुद्र त्रस जीवोंकी हिंसाके स्थान अथवा अनन्तकायिक होनेके कारण अभक्ष्य है । इनके अतिरिक्त बासी, रस चलित, स्वास्थ्य बाधक, अमर्यादित, संदिग्ध व अशोधित सभी प्रकारकी खाद्य वस्तुएँ अभक्ष्य है । दालों के साथ दूध व दहीका संयोग होनेपर विदल सज्ञावाला अभक्ष्य हो जाता है । विवेकी जनोको इन सबका त्याग करके शुद्ध अन्न जल आदिका ही ग्रहण करना योग्य है ।

१. भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी सामान्य विचार

१. बहु पदार्थ मिश्रित द्रव्य एक समझा जाता है

क्रियाकोष/१२५७ लाडू पेडा पाक इत्यादि औषध रस और चूरण आदि । बहुत वस्तु करि जो नियजेह, एक द्रव्य जानो बुध तेह ।

२. रुग्णावस्थामें अभक्ष्य भक्षणका निषेध

ला. सं./२/८० मूलबीजा यथा प्रोक्ता फलकाद्यार्द्रकादय' । न भक्ष्या दैवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात् ।८०।=उपरोक्त मूलबीज और अग्रबीज आदि अनन्तकायिक जो अदरख आदि बनस्पति उन्हे किसी भी अवस्थामें भी नही खाना चाहिए । रोगियोको भी औषधिके बहाने उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए ।

३ द्रव्य क्षेत्रादि व स्वास्थ्य स्थितिका विचार

भ. आ/मू /२५५/४७६ भत्तं खेत्त काल धादं च पडुच्च तह तव कुज्जा । वादो पित्तो सिंभो व जहा खोभ्र ण उवयाति ।=अनेक प्रकारके भक्त पदार्थ, अनेक प्रकारके क्षेत्र, काल भी—शीत, उष्ण, व वर्षा काल रूप तीन प्रकार है, धातु अर्थात् अपने शरीरकी प्रकृति तथा देशकालका विचार करके जिस प्रकार वात-पित्त-श्लेष्मका क्षोभ न होगा इस रीतिसे तप करके क्षपकको शरीर सल्लेखना करनी चाहिए ।२५५।

दे० आहार/३/२ सात्म्य भोजन करे । तथा योग्य मात्रामें करे जितना कि जठराग्नि सुगमतासे पचा सके ।

र. क श्रा /८६ यदनिष्ट तद्व्रतयेद्यच्चानुपसेव्यमेतदपि जह्यात् । अभिसधिकृता विरतिर्विषयाद्योग्याद्व्रत भवति ।८६।=जो अनिष्ट अर्थात शरीरको हानिकारक है वह छोडै, जो उत्तम कुलके सेवन करने योग्य (मद्य-मांस आदि) नही वह भी छोडै, तो वह व्रत, कुछ व्रत नही कहलाता, किन्तु योग्य विषयोसे अभिप्राय पूर्वक किया हुआ त्याग ही वास्तविक व्रत है ।

आचारसार/४/६४ रोगोका कारण होनेसे लाडू पेडा, चावल, के बने पदार्थ वा चिकने पदार्थोंका त्याग द्रव्यशुद्धि है ।

४. अभक्ष्य वस्तुओंको आहारसे पृथक् करके वह आहार ग्रहण करनेकी आज्ञा

अन. ध /५/४१ कन्दादिषट्क त्यागार्हमित्यन्नाद्विभजेन्मुनि । न शक्यते विभक्तु चेत् त्यज्यता तर्हि भोजनम् ।४१।=कन्द, बीज, मूल, फल, कण और कुण्ड ये छह वस्तुएँ आहारसे पृथक् की जा सकती है । अतएव साधुओको आहारमें ये वस्तुएँ मिल गयी हो तो उनको पृथक् कर देना चाहिए । यदि कदाचित् उनका पृथक् करना अशक्य हो तो आहार ही छोड देना चाहिए । (मू. आ /भाव /४८४), (और भी दे विवेक/१) ।

५. नीच कुलीनोंके हाथका तथा अयोग्य क्षेत्रमें रखे भोजन-पानका निषेध

भ आ /भाषा./पृ ६७५ अशुद्ध भूमिमे पडया भोजन, तथा म्लेछादिकनिकरि स्पर्श्या भोजन, पान तथा अस्पृश्य शूद्रका लाया जल तथा शूद्रादिकका किया भोजन तथा अयोग्य क्षेत्रमें धरया भोजन, तथा मांम भोजन करने वालेका भोजन, तथा नीच कुलके गृहनिमें प्राप्त भया भोजन जलादिक अनुपसेव्य है । यद्यपि प्रासुक होइ हिंसा रहित होइ तथापि अणुपसेव्यापणातै अगीकार करने योग्य नही है । (और भी दे. वर्णव्यवस्था/४/१) ।

६. अभक्ष्य पदार्थोंके खाये जानेपर तद्योग्य प्रायश्चित्त

दे. प्रायश्चित्त/४/४ में रा. वा. कारण वश अप्रासुकके ग्रहण करनेमें प्रासुकका विस्मरण हो जाये और पीछे स्मरण आ जाय तो विवेक (उत्सर्ग) करना ही प्रायश्चित्त है ।

अन. ध./५/४० पूयादिदोषे त्यक्त्वापि तदन्नं विधिवच्चरेत्। प्रायश्चित्तं नखे किंचित् केशादौ त्वन्नमुत्सृजेत् ।४०। =चौदह मलों (दे आहार/II) मेंसे आदिके पीव, रक्त, मांस, हड्डी और चर्म इन पाँच दोषोंको महादोष माना है। अतएव इनसे संसक्त आहारको केवल छोड ही न दे किन्तु उसको छोडकर आगमोक्तविधिसे प्रायश्चित्त भी ग्रहण करे। नखका दोष मध्यम दर्जेका है। अतएव नख युक्त आहारको छोड देना चाहिए, किन्तु कुछ प्रायश्चित्त लेना चाहिए। केश आदिका दोष जघन्य दर्जेका है। अतएव उनसे युक्त आहार केवल छोड देना चाहिए।

७. पदार्थोंकी मर्यादाएँ

नोट—(ऋतु परिवर्तन अष्टाह्निकासे अष्टाह्निका पर्यन्त जानना चाहिए)। (व्रत विधान स./३१), (क्रिया कोष)।

न०	पदार्थका नाम	मर्यादाएँ		
		शीत	ग्रीष्म	वर्षा
१	बूरा	१ मास	१५ दिन	७ दिन
२	दूध (दुहनेके पश्चात्)	२ घडी	२ घडी	२ घडी
	दूध (उबालनेके पश्चात्)	८ पहर	८ पहर	८ पहर
	नोट— यदि स्वाद बिगड जाये तो त्याज्य है।			
३	दही (गर्म दूधका)	८ पहर	८ पहर	८ पहर
	(अ ग श्रा /६/८४), (सा. ध /३/११), (चा पा.टी./- २१/४३/१७)।	१६ पहर	१६ पहर	१६ पहर
४	छाछ—			
	बिलोते समय पानी डाले	४ पहर	४ पहर	४ पहर
	पीछे पानी डालें तो	२ घडी	२ घडी	२ घडी
५	घी	(जब तक स्वाद न बिगडे)		
६	तेल	"	"	"
७	गुड	"	"	"
८	आटा सर्व प्रकार	७ दिन	५ दिन	३ दिन
९	मसाले पीसे हुए	"	"	"
१०	नमक पिसा हुआ	२ घडी	२ घडी	२ घडी
	मसाला मिला दें तो	६ घण्टे	६ घण्टे	६ घण्टे
११	खिचडी, कढी, रायता, तरकारी	२ पहर	२ पहर	२ पहर
१२	अधिक जल वाले पदार्थ रोटी, पूरी, हलवा, बडा आदि।	४ पहर	४ पहर	४ पहर
१३	मौन वाले पकवान	८ पहर	८ पहर	८ पहर
१४	बिना पानीके पकवान	७ दिन	५ दिन	३ दिन
१५	मीठे पदार्थ मिला दही	२ घडी	२ घडी	२ घडी
१६	गुड मिला दही व छाछ	सर्वथा	अभक्ष्य	

२. अभक्ष्य पदार्थ विचार

१. बाईस अभक्ष्योंके नाम निर्देश

व्रत विधान स /पृ. ११ ओला घोलवडा निशि भोजन, बहुबीजक, बैंगन, सधान/ बड, पीपल, ऊमर, कठूमर, पाकर-फल, जा होय अजान॥ कन्दमूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन अरु मदिरापान। फल अति तुच्छ, तुषार, चलितरस, जिनमत ये बाईस अखान॥

२. मद्य, मांस, मधु व नवनीत अभक्ष्य है

भ. आ./वि /१२०६/१२०४/१६ मासं मधु नवनीतं· च वर्जयेत् 'तत्स्पृष्टानि सिद्धान्यपि च न दद्यान्न खादेत्, न स्पृशेच्च। =मांस, मधु व मक्खनका त्याग करना चाहिए। इन पदार्थोंका स्पर्श जिसको हुआ है, वह अन्न भी न खाना चाहिए और न छूना चाहिए।

पु सि. उ /७१ मधु मद्यं नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः। वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ।७१। — शहद, मदिरा, मक्खन और मांस तथा महाविकारोंको धारण किये पदार्थ व्रती पुरुषको भक्षण करने योग्य नहीं है क्योंकि उन वस्तुओंमें उसी वर्ण व जातिके जीव होते हैं ।७१।

३. चलित रस पदार्थ अभक्ष्य है

भ आ /वि./१२०६/१२०४/२० विपन्नरूपरसगन्धानि, कुथितानि पुष्पितानि, पुराणानि जन्तुसंस्पृष्टानि च न दद्यान्न खादेत् न स्पृशेच्च। =जिनका रूप, रस व गन्ध तथा स्पर्श चलित हुआ है, जो कुथित हुआ है अर्थात् फूई लगा हुआ है, जिसको जन्तुओंने स्पर्श किया है ऐसा अन्न न देना चाहिए, न खाना चाहिए और न स्पर्श करना चाहिए।

अ. ग. श्रा /६/८५ आहारो नि शेषो निजस्वभावादन्यभावमुपयातः। योऽनन्तकायिकोऽसौ परिहर्तव्यो दयालीढैः ।८५। =जो समस्त आहार अपने स्वभावतैं अन्यभावको प्राप्त भया, चलितरस भया, बहुरि जो अनन्तकाय सहित है सो वह दया सहित पुरुषोंके द्वारा त्याज्य है।

चा. पा /टी./२१/४३/१६ सूलितपुष्पितस्वादचलितमन्नं त्यजेत्। =अकुरित हुआ अर्थात् जडा हुआ, फुई लगा हुआ या स्वाद चलित अन्न अभक्ष्य है।

ला सं./२/५६ रूपगन्धरसस्पर्शाच्चलितं नैव भक्षयेत्। अवश्य त्रसजीवानां निकोतानां समाश्रयात् ।५६। =जो पदार्थ रूप गन्ध रस और स्पर्शसे चलायमान हो गये हैं, जिनका रूपादि बिगड गया है, ऐसे पदार्थोंको भी कभी नहीं खाना चाहिए। क्योंकि ऐसे पदार्थोंमें अनेक त्रस जीवोंकी, और निगोद राशिकी उत्पत्ति अवश्य हो जाती है।

४. बासी व अमर्यादित भोजन अभक्ष्य है

अ ग. श्रा./६/८४ · दिवसद्वितयोषिते च दधिमथिते त्याज्या। =दो दिनका बासी दही और छाछ त्यागना योग्य है। (सा. ध /३/११), (ला. स./२/५७)।

चा. पा /टी./२१/४३/१३ लवणतैलघृतधृतफलसंधानकमुहूर्तद्वयोपरि-नवनीतमांसादिसेविभाण्डभाजनवर्जनं। · षोडशप्रहरादुपरि तक्रं दधि च त्यजेत्। =नमक, तेल व घीमें रखा फल और आचारको दो मुहूर्तसे ऊपर छोड देना चाहिए। तथा मक्खन व मांस जिस बर्तनमें पका हो वह बर्तन भी छोड देना चाहिए। सोलह पहरसे ऊपरके दहीका भी त्याग कर देवे।

ला स /२/३३ केवलेनाग्निना पक्वं मिश्रितेन घृतेन वा। उषितान्नं न भुञ्जीत पिशिताशनदोषवित् ।३३। =जो पदार्थ रोटी भात आदि केवल अग्निपर पकाये हुए हैं, अथवा पूडी कचौडी आदि गर्म घीमें पकाये हुए हैं अथवा परामठे आदि घी व अग्नि दोनोंके संयोगसे पकाये हुए हैं। ऐसे प्रकारका उषित अन्न मांस भक्षणके दोषोंके जाननेवालोंको नहीं खाना चाहिए। (प्रश्नोत्तर श्रावकाचार)।

५. अँचार व मुरब्बे आदि अभक्ष्य हैं

वसु श्रा./५८ ·· संधाण णिच्चं तसंसंसिद्धाइं ताइं परिवज्जियव्वाइं ।५८। =अँचार आदि नित्य त्रस जीवोंसे संसिक्त रहते हैं, अतः इनका त्याग कर देना चाहिए। (सा ध./३/११)।

ला. स./२/७८ उदुम्बरफलान्येव नादेयानि दृगात्मभि'। नित्यं साधारणान्येव त्रसाङ्गैराश्रितानि च।७८। =सम्यग्दृष्टियोको उदुम्बर फल नहीं खाने चाहिए क्योंकि वे नित्य साधारण (अनन्तकायिक) है। तथा अनेक त्रस जीवोसे भरे हुए है।

दे. श्रावक./४/१ पाँच उदुम्बर फल तथा उसीके अन्तर्गत खुम्भी व साँप-की छतरी आदि भी त्याज्य है।

२. अनजाने फलोंका निषेध

दे. उदुम्बर/२ उदुम्बर त्यागी जिनका नाम मालूम नही है ऐसे सम्पूर्ण अजानफलोको नही खावे।

३. कंदमूलका निषेध व कारण

भ. आ./मू./१५३३/१४१४ ण य खति· पलडुमादीयं।=कुलीन पुरुष प्याज, लहसुन वगैरह कन्दोका भक्षण नहीं करते है।

मू. आ./८२५ फलकदमूलवीयं अणग्गिपक्क तु आमयं किं चि। णच्चा अणेसणीय णवि य पडिच्छंति ते धीरा।८२५।=अग्नि कर नहीं पके पदार्थ फल कन्द मूल बीज तथा अन्य भी जो कच्चा पदार्थ उसको अभक्ष्य जानकर वे धीर मुनि खानेकी इच्छा नहीं करते। (भा पा./मू./१०३)।

र क. श्रा /८५ अल्पफलबहुविघातान्मूलकमार्द्राणि शृङ्गवेराणि। अवहेयं।८५।=फल थोडा परन्तु त्रस हिंसा अधिक होनेसे सचित्त मूली, गाजर, आर्द्रक, ·इत्यादि छोडने योग्य है।८५। (स सि./७/२१/३६१/१०)।

भ. आ /वि.१२०६/१२०४/१६ फलं अदारितं, मूलं, पत्र, साङ्कुरं कन्दं च वर्जयेत्।=नही विदारा हुआ फल, मूल, पत्र, अंकुर और कन्दका त्याग करना चाहिए। (यो. सा अ/८/६३)

सा. ध./५/१६-१७ नालीसूरणकालीन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत्। आजन्म तद्भुजा ह्यल्प, फलं घातश्च भूयसाम्।१६। अनन्तकाया' सर्वेऽपि, सदा हेया दयापरै'। यदेकमपि त हन्तु, प्रवृत्तो हन्त्यनन्तकान्।१७।=धार्मिक श्रावक, नाली, सूरण, कलींदा और द्रोणपुष्प आदि सम्पूर्ण पदार्थोंको जीवन पर्यन्तके लिए छोड देवे क्योकि इनके खाने वालेको उन पदार्थोके खानेमें फल थोडा और घात बहुत जीवोका होता है।१६। दयालु श्रावकोके द्वारा सर्वदाके लिए सब ही साधारण वनस्पति त्याग दी जानी चाहिए क्योंकि एक भी उस साधारण वनस्पतिको मारनेके लिए प्रवृत्त व्यक्ति अनन्त जीवोको मारता है।१७।

चा. पा./टी./२१/४३/१० मूलनालिकापद्मिनीकन्दलशुनकन्दतुम्बकफल-कुसुम्भशाककलिंगफलसूरणकन्दत्यागश्च।=मूली, कमलकी डण्डी, लहसुन, तुम्बक फल, कुसुभेका शाक, कलिंग फल, आलू आदिका त्याग भी कर देना चाहिए।

भा पा /टी /१०१/२५४/३ कन्द सूरणं लशुन पण्डालु क्षुद्रबृहन्मुस्ता-शालूकं उत्पलमूल शृङ्गवेरं आर्द्रवरवर्णिनी आर्द्रहरिद्रेत्यर्थ· किमपि ऐर्वावादिक अशित्वा· भ्रमिस्त्व हे जीव अनन्तससारे।=कन्द अर्थात् सूरण, लहसुन, आलू, छोटी या बडी शालूक, उत्पल-मूल (भिस), शृंगवेर, अद्रक, गीली हल्दी आदि इन पदार्थोमेंसे कुछ भी खाकर हे जीव! तुझे अनन्त ससारमें भ्रमण करना पडा है।

ला. स /२/७९-८० अत्रोदुम्बरशब्दस्तु नून स्यादुपलक्षणम्। तेन साधारणास्त्याज्या ये वनस्पतिकायिका।७९। मूलबीजा यथा प्रोक्ता फलकाद्यार्द्रकादय'। न भक्ष्या देवयोगाद्वा रोगिणाप्यौषधच्छलात्।८०।=यहाँपर जो उदुम्बर फलोका त्याग कराया है वह उपलक्षण मात्र है। इसलिए जितने वनस्पति साधारण या अनन्त-कायिक है उन सबका त्याग कर देना चाहिए।७९। ऊपर जो अदरख आलू आदि मूलबीज, अग्रबीज, पोरबीजादि अनन्तकायात्मक साधारण बतलाये है, उन्हे कभी न खाना चाहिए। रोग हो जानेपर भी इनका भक्षण न करे।८०।

४. पुष्प व पत्र जातिका निषेध

भा पा./मू.१०३ कंदमूलं वीयं पुष्फं पत्तादि किंचि सच्चित्तं। असिऊण माणगव्वं भमिओसि अणंतससारे।१०३।=जमीकन्द, बीज अर्थात चनादिक अन्न, मूल अर्थात् गाजर आदिक, पुष्प अर्थात् फूल, पत्र अर्थात् नागरवेल आदिक इनको आदि लेकर जो कुछ सचित्त वस्तुओंको गर्वसे भक्षण कर, हे जीव! तू अनन्त ससारमें भ्रमण करता रहा है।

र क श्रा /८५ निम्बकुसुमं कैतकमित्येवमवहेय।८५।=नीमके फूल, केतकीके फूल इत्यादि वस्तुएँ छोडने योग्य है।

स सि /७/२१/३६१/१० केतक्यर्जुनपुष्पादीनि शृङ्गवेरमूलकादीनि बहु-जन्तुयोनिस्थानान्यनन्तकायव्यपदेशार्हाणि परिहर्तव्यानि बहुघाताल्पफलत्वात्।=जो बहुत जन्तुओंकी उत्पत्तिके आधार है और जिन्हे अनन्तकाय कहते है, ऐसे केतकीके फूल और अर्जुनके फूल आदि तथा अदरख और मूली आदिका त्याग कर देना चाहिए, क्योंकि इनके सेवनमें फल कम है और घात बहुत जीवोंका है। (रा वा /७/२१/२७/५५०/४)

गुण. श्रा./१७८ मूल फलं च शाकादि पुष्प बीज करीरकम्। अप्रासुक त्यजेन्नीर सचित्तविरतो गृही।१७८।=सचित्तविरत श्रावक सचित्त मूल, फल, शाक पुष्प, बीज, करीर व अप्रासुक जलका त्याग कर देता है (वसु. श्रा./२९५)।

वसु श्रा /५८ तरुपसूणाइं। णिच्चं तससंसिद्धाइं ताइं परिवज्जियव्वाइं।५८।=वृक्षोके फूल नित्य त्रसजीवोसे संसिक्त रहते है। इसलिए इन सबका त्याग करना चाहिए।५८।

सा ध /५/१६ द्रोणपुष्पादि वर्जयेत्। आजन्म तद्भुजां ह्यल्प, फलं घातश्च भूयसाम्।=द्रोणपुष्पादि सम्पूर्ण पदार्थोको जीवन पर्यन्तके लिए छोड देवे। क्योंकि इनके खानेमें फल थोडा और घात बहुत जीवोका होता है। (सा. ध /३/१३)।

ला. स/२/३५ ३७ शाकपत्राणि सर्वाणि नादेयानि कदाचन। श्रावकैर्मांसदोषस्य वर्जनार्थं प्रयत्नत।३५। तत्रावश्य त्रसा सूक्ष्मा' केचित्स्युर्दृष्टिगोचरा। न त्यजन्ति कदाचित्त शाकपत्राश्रय मनाक्।३६। तस्माद्धर्मार्थिना नूनमात्मनो हितमिच्छता। आताम्बूल दल त्याज्य श्रावकैर्दर्शनान्वितै'।३७।=श्रावकोको यत्नपूर्वक मासके दोषोका त्याग करनेके लिए सब तरहकी पत्तेवाली शाक भाजी भी कभी ग्रहण नही करनी चाहिए।३५। क्योंकि उस पत्तेवाले शाकमें सूक्ष्म त्रस जीव आश्रय होते है। उनमेंसे कितने ही जीव तो दृष्टिगोचर हो जाते है और कितने ही दिखाई नही देते। किन्तु वे जीव उस पत्तेवाले शाकका आश्रय कभी नही छोडते।३६। इस लिए अपने आत्माका कल्याण चाहनेवाले धर्मात्मा जीवोको पत्तेवाले सब शाक तथा पान तक छोड देना चाहिए और दर्शन प्रतिमाको धारण करनेवाले श्रावकोको विशेषकर इनका त्याग करना चाहिए।३७।

भगवती आराधना—आ. शिवकोटि कृत (ई. श. १) मे २२७९ अपभ्रंश गाथा बद्ध यत्याचार विषयक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थपर निम्न टीकाएँ उपलब्ध है—(१) आराधना पंजिका नामकी एक टीका है जिसका कर्ता व काल अज्ञात है। (२) आ. अपराजित (वि. श. ६) द्वारा विरचित विजयोदया नाम की विस्तृत सस्कृत टीका। (३) इस ग्रन्थकी गाथाओके अनुरूप आ. अमितगति (ई ९९३—१०२१) द्वारा रचित स्वतंत्र श्लोक। (४) प. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) द्वारा विरचित मूल आराधना नाम की संस्कृत टीका। (५) पं शिवलाल (वि १८१८) द्वारा विरचित भावार्थ दीपिका नाम की भाषा टीका। (६) प. सदासुखदास (ई. १७९३-१८६३) द्वारा विजयोदया टीका-की देशभाषा रूप टीका। (भ आ./प्र २३ प्रेमीजी)।

भद्रशाल वन—सुमेरु पर्वतके मूलमें स्थित वन। इसकी चारो दिशाओंमें चार जिन चैत्यालय है—दे० लोक/३/१४।

भद्रा—१. वर्तमान 'भादर' नदी। जसदणके पासके पर्वतसे निकली है और नवी बन्दरसे आगे अरब सागरमें गिरती है। (नेमिचरित प्रस्तावना/प्रेमीजी), २ रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

भद्रा व्याख्या—दे० वांचना।

भद्राश्व—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

भय—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग /१।

भय—

स. सि./८/६/३८६/१ यदुदयादुद्वेगस्तद्भयम्।=जिसके उदयमे उद्वेग होता है वह भय है। (रा. वा./८/६/४/५७४/१८), (गो. क/जी प्र/३३/२८/८)।

ध. ६/१,९-१,२४/४७/६ भीतिर्भयम्। कम्मक्खंधेहि उदयमागदेहि जीवस्स भयमुप्पज्जउ तेसिं भयमिदि सण्णा, कारणे,कज्जुवयारादो। =भीतिको भय कहते है। उदयमें आये हुए जिन कर्म स्कन्धोके द्वारा जीवके भय उत्पन्न होता है उनकी कारणमे कार्यके उपचारसे 'भय' यह सज्ञा है।

ध. १३/५,५.६४/३३६/८ परचक्कागमादओ भयं णाम।

ध १३/५.५.९६/३६१/१२ जस्स कम्मस्स उदएण जीवस्स सत्त भयाणि समुप्पज्जंति त कम्मं भय णाम। =पर चक्रके आगमनादिका नाम भय है। अथवा जिस कर्मके उदयसे जीवके सात प्रकारका भय उत्पन्न होता है, वह भय कर्म है।

२. भयके भेद

मू. आ./५३ इहपरलोयत्ताण अगुत्तिमरणं च वेयणाकस्सि भया। = =इसलोक भय, परलोक, अरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना और आकस्मिक भय ये सात भय है। (स. सा/आ/२२८/क० १५५-१६०); (स. सा./ता. वृ./२२८/३०१/६), (पं. ध/उ./५०४-५०५), (द. पा./२ प. जयचन्द), (रा. वा. हि./६/२४/५१७)।

३. सातों भयोंके लक्षण

स सा/प. जयचन्द/२२८/क० १५५-१६० इस भवमें लोकोंका डर रहता है कि ये लोग न मालूम मेरा क्या बिगाड़ करेंगे, ऐसा तो इस लोकका भय है, और परभवमें न मालूम क्या होगा ऐसा भय रहना परलोकका भय है।१५५। जिसमें किसीका प्रवेश नही ऐसे गढ़, दुर्गादिकका नाम गुप्ति है उसमें यह प्राणी निर्भय होकर रहता है। जो गुप्त प्रदेश न हो, खुला हो, उसको अगुप्ति कहते है, वहाँ बैठनेमे जीवको जो भय उत्पन्न होता है उसको अगुप्ति भय कहते हे।१५८। अकस्मात भयानक पदार्थसे प्राणीको जो भय उत्पन्न होता है वह आकस्मिक भय है।

पं. ध/उ./श्लोक नं तत्रेह लोकतो भीति क्रन्दितं चात्र जन्मनि। इष्टार्थस्य व्ययो माभून्माभून्मेऽनिष्टसगम'।५०६। परलोक परत्रात्मा भाविजन्मान्तराशभाक्। तत कम्प इव त्रासो भीति परलोक तोऽस्ति सा।५१६। भद्र चेज्जन्म स्वर्लोके माभून्मे जन्म दुर्गतौ। इत्याद्याकुलितं चेत' साध्वस पारलौकिकम्।५१७। वेदनागन्तुका बाधा मलानां कोपतस्तनौ। भीति प्रागेव कम्प स्यान्मोहाद्वा परिदेवनम्।५२४। उल्लाघोऽहं भविष्यामि माभून्मे वेदना क्वचित्। मूर्च्छेव वेदनाभीतिश्चिन्तनं वा मुहुर्मुहु।५२५। अत्राणं क्षणिकैकान्ते पक्षे चित्तक्षणादिवत्। नाशात्प्रागंशनाशस्य त्रातुमक्षमतात्मन।५३१। असज्जन्म सतो नाश मन्यमानस्य देहिन। कोऽवकाशस्ततो मुक्ति-मिच्छतोऽगुप्तिसाध्वसात।५३७। तद्भीतिर्जीवितं भूयान्मा भून्मे मरणं क्वचित्। कदा लेभे न वा दैवात इत्याधिः स्वे तनुव्यये।५४०। अकस्माज्जातमित्युच्चैराकस्मिकभयं स्मृतम्। तद्यथा विद्युदादीना पातात्पातोऽसुधारिणाम्।५४३। भीतिर्भूयाद्यथा सौस्थ्यं माभूद्दौस्थ्य कदापि मे। इत्येवं मानसी चिन्ता पर्याकुलितचेतसा।५४४। =१. मेरे इष्ट पदार्थका वियोग न हो जाये और अनिष्ट पदार्थका सयोग न हो जाये इस प्रकार इस जन्ममें क्रन्दन करनेको इहलोक भय कहते है। २ परभवमें भावि पर्यायरूप अंशको धारण करने वाला आत्मा परलोक हे और उस परलोकसे जो कपनेके समान भय होता है, उसको परलोक भय कहते है।५१६। यदि स्वर्गमें जन्म हो तो अच्छा है, मेरा दुर्गतिमें जन्म न हो इत्यादि प्रकारसे हृदयका आकुलित होना पारलौकिक भय कहलाता है।५१७। ३. शरीरमें वात, पित्तादिके प्रकोपसे आनेवाली बाधा वेदना कहलाती है। मोहके कारण विपत्तिके पहले ही करुण क्रन्दन करना वेदना भय है।५२४। मै निरोग हो जाऊँ, मुझे कभी भी वेदना न होवे, इस प्रकारकी मूर्च्छा अथवा बार-बार चिन्तवन करना वेदना भय है।५२५। ४. जैसे कि बौद्धोके क्षणिक एकान्त पक्षमें चित्त क्षण प्रतिसमय नश्वर होता है वैसे ही पर्यायके नाशके पहले अंश रूप आत्माके नाशकी रक्षाके लिए अक्षमता अत्राणभय (अरक्षा भय) कहलाता है।५३१। ५. असत् पदार्थके जन्मको सत्‌के नाशको माननेवाले, मुक्तिको चाहनेवाले शरीरधारियोंको उस अगुप्ति भयसे कहाँ अवकाश है।५३७। ६. मै जीवित रहूँ, कभी मेरा मरण न हो, अथवा दैवयोगसे कभी मृत्यु न हो, इस प्रकार शरीरके नाशके विषयमें जो चिन्ता होती है, वह मृत्युभय कहलाता है।५४०। ७ अकस्मात् उत्पन्न होने वाला महान् दु:ख आकस्मिकभय माना गया है। जैसे कि बिजली आदिके गिरनेसे प्राणियोंका मरण हो जाता है।५४३। जैसे मैं सदैव नीरोग रहूँ, कभी रोगी न होऊँ, इस प्रकार व्याकुलित चित्त पूर्वक होनेवाली चिन्ता आकस्मिक भीति कहलाती है।५४४।

* **भय प्रकृतिके वंधयोग्य परिणाम**—दे० मोहनीय/३।
* **सम्यग्दृष्टिका भय भय नहीं**—दे० नि.शंकित।
* **भय द्वेष है**—दे० कषाय/४।

भय संज्ञा—दे० सज्ञा।

भरणी—एक नक्षत्र दे० नक्षत्र।

भरत—१. म. पु/सर्ग/श्लोक न. पूर्व भव न = में वत्सकावतीदेशका अतिगृधनामक राजा (८/१९१) फिर चौथे नरकका नारकी (८/१९२) छठे भवमें व्याघ्र हुआ (८/१९४) पाँचवेंमें दिवाकरप्रभ नामक देव (८/२१०) चौथे भवमें मतिसागर मन्त्री हुआ (८/११५) तीसरे भवमें अधोग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुआ (९/९०-९२) दूसरे भवमें सुबाहु नामक राजपुत्र हुआ (११/१२) पूर्व भवमे सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ (११/१६०), (युगपत् सर्व भवके लिए दे० म पु/४७/३६३-३६४) वर्तमान भवमें भगवान् ऋषभ देवका पुत्र था (१५/१५८) भगवान्‌की दीक्षाके समय राज्य (१७/७६) ओर केवलज्ञानके समय चक्र तथा पुत्ररत्नकी प्राप्ति की (२४/२) छह खण्डको जीतकर (३४/३) बाहुबलीसे युद्धमें हारा (३६/६०) क्रोधके वश भाईपर चक्र चला दिया, परन्तु चक्र उनके पास जाकर ठहर गया (३४/६६) फिर एक वर्ष पश्चात् इन्होने योगी बाहुबलीकी पूजा की (३६/१८५) एक समय श्रावकोंकी स्थापना कर उनको गर्भान्वय आदि क्रियाएँ। (३८/२०-३१०) दीक्षान्वय क्रियाओं (३९/२-८०) षोडश सस्कार व मन्त्रो आदिका उपदेश दिया (४०/२-२१६) आयुको क्षीण जान पुत्र अर्ककीर्तिको राज्य देकर दीक्षा धारण की। तथा

तत्क्षण मन पर्यय व केवलज्ञान प्राप्त किया। (४६/३६३-३६५) (विशेष दे० लिंग/३) फिर चिरकाल तक धर्मोपदेश दे मोक्षको प्राप्त किया (४७/३६८)। ये भगवान्‌के मुख्य श्रोता थे (७६/५२६) तथा प्रथम चक्रवर्ती थे। विशेष परिचय—दे० शलाकापुरुष। २. प. पु./सर्ग/श्लोक न राजा दशरथका पुत्र था (२५/३५) माता केकयी द्वारा वर माँगनेपर राज्यको प्राप्त किया था (२५/१६२)। अन्तमें रामचन्द्र जी के वनवाससे लौटनेपर दीक्षा धारण की (८६/६) और कर्मोंका नाशकर मुक्तिको प्राप्त किया (८८/३६)। ३. यादववंशी कृष्णजीका २२ वाँ पुत्र—दे० इतिहास/७/१०। ४. ई० ६४५-६७२ में मान्यखेटके राजा कृष्ण तृतीयके मन्त्री थे। (हि. जै. सा. इ /४६ कामता)।

भरत कूट—१. विजयार्ध पर्वतकी उत्तर व दक्षिण श्रेणियोंपर स्थित कूट व उसके रक्षक देव—दे० लोक/७। २. हिमवान् पर्वतस्थ भरत कूट व उसका स्वामी देव—दे० लोक/७।

भरत क्षेत्र—१ अढाई द्वीपोंमें स्थित भरत क्षेत्रका लोकमें अवस्थान व विस्तार आदि—दे० लोक/३६२। इसमें वर्तनेवाले उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालकी विशेषताएँ—दे० काल।

३. रा वा./३/१०/१,२/१७१/६ विजयार्धस्य दक्षिणतो जलधेरुत्तरतः गङ्गासिन्ध्वोर्बहुमध्यदेशभागे विनीता नाम नगरी द्वादशयोजनायामा, नवयोजनविस्तारा। तस्यामुत्पन्नः सर्वराजलक्षणसम्पन्नो भरतो नामाद्यश्चक्रधरः षट्खण्डाधिपतिः। अवसर्पिण्यां राज्यविभागकाले तेनादौ भुक्तत्वात्, तद्योगाद्भरत इत्याख्यायते वर्षः। अथवा जगतोऽनादित्वादहेतुका अनादिसम्बन्धपारिणामिकी भरतसंज्ञा। =विजयार्धसे, समुद्रसे उत्तर और गंगा-सिन्धु नदियोंके मध्य भागमें १२ योजन लम्बी ९ योजन चौडी विनीता नामकी नगरी थी। उसमें भरत नामका षट्खण्डाधिपति चक्रवर्ती हुआ था। उसने सर्व प्रथम राज्य विभाग करके इस क्षेत्रका शासन किया था अतः इसका (इस क्षेत्रका) नाम भरत पडा अथवा, जैसे संसार अनादि है उसी तरह क्षेत्र आदिके नाम भी किसी कारणसे अनादि हैं।

भरतेश्वराभ्युदय—पं. आशाधर (ई० ११७३-१२४३) द्वारा संस्कृत काव्यमें रचित ग्रन्थ।

भरुकच्छ—भरत क्षेत्र पश्चिम आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भर्तृप्रपंच—वेदान्त ग्रन्थोंके टीकाकार थे। यह वैश्वानरके उपासक थे। ब्रह्मके पर व अपर दोनों भेदोंको सत्य मानते थे। समय—ई. श ७ (म. म /परि. च /४४०)।

भर्तृहरि—१. राजा विक्रमादित्यके बडे भाई थे। तदनुसार इनका समय ई. पू ५७ आता है। (ज्ञा /प्र. ४/पन्नालाल)। २. चीनी यात्री इत्सिंगने भी एक भर्तृहरिका उल्लेख किया है। जिसकी मृत्यु ई० ६५० में हुई बतायी है। समय—ई० ६२५-६५० (ज्ञा. प्र. ४/पं. पन्नालाल)। ३ राजा सिंहलके पुत्र व राजा मुंजके छोटे भाई थे। राजा मुंजने इन्हें पराक्रमी जानकर राज्यके लोभसे देशसे निकलवा दिया था। पीछे ये एक तापसके शिष्य हो गये और १२ वर्षकी कठिन तपस्याके पश्चात् स्वर्ण रसकी सिद्धि की। ज्ञानार्णवके रचयिता आचार्य शुभचन्द्रके लघु भ्राता थे। उनसे सम्बोधित होकर इन्होंने दिगम्बर दीक्षा धारण कर ली थी। तब इन्होंने शतकत्रय लिखे। विद्यावाचस्पतिने तत्त्वबिन्दु नामक ग्रन्थमें इनको धर्मवाह्य बताया है, जिससे सिद्ध होता है कि अवश्य पीछे जाकर जैन साधु हो गये थे। राजा मुंजके अनुसार आपका समय—वि. १०६०-११२५ (ई० १००३-१०६८)—विशेष दे० इतिहास/३/४ (ज्ञा./प्र /प० पन्नालाल)। ४ आप ई० सं ६५० में एक अजैन बडे वैय्याकरणी थे। आपके गुरु वसुरात थे। (सि वि /२२/प० महेन्द्र)।

भव—

स. सि./२/२१/१२५/६ आयुर्नामकर्मोदयनिमित्त आत्मनः पर्यायो भवः। =आयुनामकर्मके उदयका निमित्त पाकर जो जीवकी पर्याय होती है उसे भव कहते हैं। (रा. वा./२/२१/१/७६/६)।

ध. १०/१,२,४,८/३५/५ उत्पत्तिवारा भवा। =उत्पत्तिके वारोंका नाम भव है।

ध. १५/५/६/१४ उप्पण्णपढमसमयप्पहुडि जाव चरिमसमओ त्ति जो अवत्था-विसेसो सो भवो णाम। =उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लेकर अन्तिम समय तक जो विशेष अवस्था रहती है, उसे भव कहते हैं।

भ. आ./वि./२५/८५/१८ पर उद्धृत—देहो भवोत्ति उच्चदि'। =देहको भव कहते हैं।

२. क्षुल्लक भवका लक्षण

ध. १४/५,६,६४६/५०४/२ आउअबंधे संते जो उवरि विस्समणकालो सव्वजहण्णो तस्स खुद्दाभवग्गहणं ति सण्णा। सो तत्तो उवरि होदि। असंखेयद्धस्सुवरि खुद्दाभवग्गहणं त्ति सुत्ते। =आयु बन्धके होनेपर जो सबसे जघन्य विश्रमण काल है उसकी क्षुल्लक भव ग्रहण संज्ञा है। वह आयु बन्धकालके ऊपर होता है। असंक्षेपाद्धाके ऊपर (मृत्युपर्यन्त) क्षुल्लक भवग्रहण है।

* अन्यसम्बन्धित विषय

१. सम्यग्दृष्टिको भव धारणकी सीमा —दे० सम्यग्दर्शन/I/५।
२. श्रावकको भव धारणकी सीमा —दे० श्रावक/२।
३. एक अन्तर्मुहूर्तमें सम्भव क्षुद्रभवोंका प्रमाण —दे० आयु/७।
४. नरक गतिमें पुन:-पुन: भव धारणकी सीमा —दे० जन्म/६/१०।
५. लब्ध्यपर्याप्तकोंमें पुन:-पुनः भव धारणकी सीमा —दे० आयु/८।

भवन—भवनोंमें रहनेवाले देवोंको भवनवासी देव कहते हैं जो असुर आदिके भेदसे १० प्रकारके हैं। इस पृथिवीके नीचे रत्नप्रभा आदि सात पृथिवियोंमेंसे प्रथम रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग व अब्बहुल भाग। उनमेंसे खर व पंक भागमें भवनवासी देव रहते हैं, और अब्बहुल भागमें प्रथम नरक है। इसके अतिरिक्त मध्य लोकमें भी यत्र-तत्र भवन व भवनपुरोंमें रहते हैं।

१. भवन व भवनवासी देव निर्देश

१. भवनका लक्षण

ति. प. ३/२२ रयणप्पहाए भवणा·।२२। =रत्नप्रभा पृथिवीपर स्थित (भवनवासी देवोंके) निवास स्थानोंको भवन कहते हैं। (ति प/६/७), (त्रि. सा./२९४)।

ध. १४/५,६,६४१/४९५/५ वलहि-कूडविवज्जिया सुरणरावासा भवणाणि णाम। =वलभि और कूटसे रहित देवों और मनुष्योंके आवास भवन कहलाते हैं।

२. भवनपुरका लक्षण

ति प /३/२२ दीवसमुद्दाणं उवरि भवणपुरा।२२। =द्वीप समुद्रोंके ऊपर स्थित भवनवासी देवोंके निवास स्थानोंको भवनपुर कहते हैं। (ति. प /६/७), (त्रि सा./२९४),

३. भवनवासी देवका लक्षण

स. सि /४/१०/२४३/२ भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिनः। =जिनका स्वभाव भवनोंमें निवास करना है वे भवनवासी कहे जाते हैं। (रा. वा /४/१०/१/२१६/३)।

४. भवनवासी देवोंके भेद

त.सू./४/१० भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि-द्वीपदिक्कुमारा. ।१०। =भवनवासी देव दस प्रकार है—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार। (ति. प/३/९), (त्रि. सा./२०९)।

५. भवनवासी देवोंके नामके साथ 'कुमार' शब्दका तात्पर्य

स. सि /४/१०/२४३/३ सर्वेषां देवानामवस्थितवय:स्वभावत्वेऽपि वेषा-भूषायुधयानवाहनक्रीडनादि कुमारवदेषामाभासत इति भवनवासिषु कुमारव्यपदेशो रूढ । =यद्यपि इन सब देवोंका वय और स्वभाव अवस्थित है तो भी इनका वेष, भूषा, शास्त्र, यान, वाहन और क्रीडा आदि कुमारोके समान होती है, इसलिए सब भवनवासियोमें कुमार शब्द रूढ है। (रा. वा /४/१०/७/२१६/२०); (ति. प /३/१२५-१२६)।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१ असुर आदि भेद विशेष। —दे० वह वह नाम।
२. भवनवासी देवोंके गुणस्थान, जीव समास, मार्गणा-स्थानके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाऐं। —दे० सत्।
३ भवनवासी देवोंके सत् (अस्तित्व) सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व रूप आठ प्ररूपणाऐं। —दे० वह वह नाम।
४. भवनवासियोंमें कर्म प्रकृतियोंका बन्ध, उदय व सत्त्व। —दे० वह वह नाम।
५ भवनवासियोंमें सम्यक्त्व व गुणस्थानों आदि सम्बन्ध। —दे० देव/II/३।
६ भवनवासियोंमें सम्भव कषाय, वेद, लेश्या, पर्याप्ति आदि। —दे० वह वह नाम।
७. भवनवासी देव मरकर कहा उत्पन्न हों और कौन-सा गुणस्थान या पद प्राप्त करें। —दे० जन्म/६।
८. भवनत्रिक देवोंकी अवगाहना। —दे० अवगाहना/२।

२. भवनवासी इन्द्रोंका वैभव

१. भवनवासी देवोंके इन्द्रोंकी संख्या

ति. प/३/१३ दससु कुलेसु पुह पुह दो दो इंदा हवंति णियमेण। ते एक्कस्सि मिलिदा वीस विराजंति भूदीहिं।१३। =दश भवनवासियो-के कुलोंमें नियमसे पृथक्-पृथक् दो-दो इन्द्र होते है। वे सब मिलकर २० इन्द्र होते हैं, जो अपनी-अपनी विभूतिसे शोभायमान है।

२. भवनवासी इन्द्रोंके नाम निर्देश

ति प /३/१४-१६ पढमो हु चमरणामो इंदो वइरोयणो त्ति विदिओ य। भूदाणदो धरणाणदो वेणू य वेणुदारी य।१४। पुण्णवसिट्ठजल-प्पहजलकता तह य घोसमहघोसा। हरिसेणो हरिकंतो अमिदगदी अमिदवाहणग्गिसिही।१५। अग्गिवाहणणामो वेलंबपभंजणाभिधाणा य। एदे असुरप्पहुदिसु कुलेसु दोद्दो कमेण देविंदा।१६। =असुर-कुमारोमें प्रथम चमर नामक और दूसरा वैरोचन इन्द्र, नागकुमारोंमें भूतानन्द और धरणानन्द, सुपर्णकुमारोमे वेणु और वेणुधारी, द्वीप-कुमारोंमें पूर्ण और वशिष्ठ, उदधिकुमारोमे जलप्रभ और जलकान्त, स्तनितकुमारोमें घोष और महाघोष, विद्युत्कुमारोंमें हरिषेण और हरिकान्त, दिक्कुमारोमें अमितगति और अमितवाहन, अग्नि-कुमारोंमें अग्निशिखी और अग्निवाहन, वायुकुमारोमें वेलम्ब और प्रभंजन नामक इस प्रकार दो-दो इन्द्र क्रमसे उन असुरादि निकायोंमें होते है।१४-१६। (इनमें प्रथम नम्बरके इन्द्र दक्षिण इन्द्र है और द्वितीय नम्बरके इन्द्र उत्तर इन्द्र है। (ति. प /६/१७-१६)।

३. भवनवासियोंके वर्ण, आहार, श्वास आदि

देवका नाम	वर्ण ति. प./३ ११९-१२०	मुकुट चिह्न ति.प./३/१०/ त्रि सा./२१३	चैत्य वृक्ष ति.प/३/१३६	प्रविचार (ति.प./३/१३०)	आहारका अन्तराल मू आ./११४६ ति.प /३/१११-११६ त्रि.सा./२४८	श्वासोच्छ्वासका अन्तराल ति. प./३/११४-११७ त्रि सा./२४८
असुरकुमार	कृष्ण	चूडा-मणि	अश्वत्थ		१५०० (मू आ) १००० वर्ष	१५ दिन
नागकुमार	काल श्याम	सर्प	सप्तपर्ण		१२½ दिन	१ ½ मुहूर्त
सुपर्णकुमार	श्याम	गरुड	शाल्मली		,,	,,
द्वीपकुमार	,,	हाथी	जामुन	↓	,,	,,
उदधि कुमार	काल श्याम	मगर	वेतस	काय प्रविचार	१२ दिन	१२ मुहूर्त
स्तनित कुमार	,,	स्वस्तिक	कदंब		,,	,,
विद्युत कुमार	बिजलीवत्	वज्र	प्रियगु		,,	,,
दिक्कुमार	श्यामल	सिंह	शिरीष		७½ दिन	७½ मुहूर्त
अग्निकुमार	अग्नि-वातवत्	कलश	पलाश	↑	,,	,,
वायुकुमार	नीलकमल	तुरग	राजद्रुम		,,	,,
{ इनके सामानिक, त्रायस्त्रिंश पारिषद व प्रतीन्द्र					स्व इन्द्रवत	स्व इन्द्रवत्
१००० वर्षकी आयुवाले देव					२ दिन	७ श्वासो०
१ पल्य की ,, ,, ,,					५ ,,	५ मुहूर्त

* भवनवासियोंके शरीर सुख-दु:ख आदि —दे० देव/II/२।

४. भवनवासियोंकी शक्ति व विक्रिया

ति. प./३/१६२-१६६ का भावार्थ-दश हजार वर्षकी आयुवाला देव १०० मनुष्योंको मारने व पोसनेमें तथा डेढसौ धनुष प्रमाण लम्बे चौडे क्षेत्रको बाहुओंसे वेष्टित करने व उखाडनेमें समर्थ है। एक पल्यकी आयुवाला देव छह खण्डकी पृथिवीको उखाडने तथा वहाँ रहनेवाले मनुष्य व तिर्यञ्चोंको मारने वा पोसनेमें समर्थ है। एक सागरकी आयुवाला देव जम्बूद्वीपको समुद्रमें फेंकने और उसमें स्थित मनुष्य व तिर्यंचोंको पोसणेमें समर्थ है। दश हजार वर्षकी आयुवाला देव उत्कृष्ट रूपसे सौ, जघन्यरूपसे सात, मध्यरूपसे सौसे कम सातसे अधिक रूपोंकी विक्रिया करता है। शेष सब देव अपने-अपने अवधिज्ञानके क्षेत्रोंके प्रमाण विक्रियासे पूरित करते है। संख्यात व असंख्यात वर्षकी आयुवाला देव क्रमसे संख्यात व असंख्यात योजन जाता व उतने ही योजन आता है।

५. भवनवासी इन्द्रोंका परिवार

स=सहस्र

ति. प./३/७६-९९ (त्रि. सा /२२६-२३५)

इन्द्रोंके नाम	देवियोंका परिवार: पट्ट देवी	देवियोंका परिवार: परिवार	देवियोंका परिवार: वल्लभा	देवियोंका परिवार: योग	प्रतीन्द्र	सामानिक	त्रायस्त्रिंश	पारिषद: अभ्यं० समित	पारिषद: मध्य चन्द्रा	पारिषद: बाह्य जुक्त	आत्मरक्ष	लोकपाल	७ अनीक में-से प्रत्येक	प्रकीर्णक
चमरेन्द्र	५	४० स	१६ स.	५६ स.	१	६४ स.	३३	२८ स	३० स.	३२ स	२५६ स	४	सहस्र ८१२८ स.	असंख्यात
वैरोचन	"	"	"	"	"	६० स	"	२६ स.	२८ स	३० स	२४० स.	"	७६२०	"
भूतानन्द	"	"	१० स.	५० स.	"	५६ स.	"	६ स.	८ स.	१० स.	२२४ स.	"	७११२ स.	"
धरणानन्द	"	"	"	"	"	५० स.	"	४ स.	६ स.	८ स.	२०० स.	"	६३५० स.	"
वेणु	"	"	४० स.	४४ स	"	"	"	उपरोक्त पूर्ण उक्तवत्			"	"	"	"
वेणुधारी	"	"	"	"	"	"	"				"	"	"	"
पूर्ण शेष सर्व इन्द्र	"	"	२० स	३२ स.	"	"	"				"	"	"	"

३. भवनवासी देवियोंका निर्देश

१. इन्द्रोंकी प्रधान देवियोंका नाम निर्देश

ति प./३/९०,९४ किण्हा रयणसुमेघा देवीणामा सुकंदअभिधाणा। णिरुवमरूवधराओ चमरे पचग्गमहिसीओ।९०। पउमापउमसिरीओ कणयसिरी कणयमालमहपउमा। अग्गमहिसीउ बिदिए ।९४। =चमरेन्द्रके कृष्णा, रत्ना, सुमेघा देवी नामक और सुक्दा या सुकान्ता (शुकाढ्या) नामकी अनुपम रूपको धारण करनेवाली पाँच अग्रमहिषियाँ है।९०। (त्रि. सा./२३६) द्वितीय इन्द्रके पद्मा, पद्मश्री, कनकश्री, कनकमाला और महापद्मा, ये पाँच अग्रदेवियाँ है।

२. प्रधान देवियोंकी विक्रियाका प्रमाण

ति प./३/९३,९८ चमरग्गिममहिसीण अट्ठसहस्सविकुव्वणा संति। पत्तेक्क अप्पसम णिरुवमलावण्णरूवेहि।९२। दीविंदप्पहुदीण देवीणं वरविउव्वणा संति। छस्सहस्सं च समं पत्तेक्कं विविहरूवेहिं।९८। =चमरेन्द्रकी अग्रमहिषियोंमेंसे प्रत्येक अपने साथ अर्थात् मूल शरीर सहित, अनुपम रूप लावण्यसे युक्त आठ हजार प्रमाण विक्रिया निर्मित रूपोंको धारण कर सकती है।९२। (द्वितीय इन्द्रकी देवियों तथा नागेन्द्रों व गरुड़ेन्द्रों (सुपर्ण) की अग्र देवियोंकी विक्रियाका प्रमाण भी आठ हजार है। (ति. प./३/९४-९६)। द्वीपेन्द्रादिकोंकी देवियोंमेंसे प्रत्येकके मूल शरीरके साथ विविध प्रकारके रूपोंसे छह हजार प्रमाण विक्रिया होती है।९८।

३. इन्द्रों व उनके परिवार देवोंकी देवियाँ

ति. प /३/१०२-१०६ (त्रि. सा./२३७-२३९)

इन्द्रका नाम	इन्द्र	प्रतीन्द्र	सामानिक	त्रायस्त्रिंश	पारिषद: अभ्यन्तर	पारिषद: मध्यम	पारिषद: बाह्य	आत्मरक्ष	लोकपाल	सेनाग्र	महत्तर	आभियोग
चमरेन्द्र	देखो भवनवासी/२/५	इन्द्रवत्	इन्द्रवत्	इन्द्रवत्	२५०	२००	१५०	१००	इन्द्रवत्	५०	१००	३२
वैरोचन					३००	२५०	२००	"		"	"	"
भूतानन्द					२००	१६०	१४०	"		"	"	"
धरणानन्द					"	"	"	"		"	"	"
वेणु					१६०	१४०	१२०	"		"	"	"
वेणुधारी					"	"	"	"		"	"	"
शेष सर्व इन्द्र					१४०	१२०	१००	"		"	"	"

४. भावन लोक

१. भावन लोक निर्देश

दे० रत्नप्रभा (मध्य लोककी इस चित्रा पृथिवीके नीचे रत्नप्रभा पृथिवी है। उसके तीन भाग है—खरभाग, पंकभाग, अब्बहुलभाग।)

ति. प /३/७ रयणप्पहपुढवीए खरभाए पंकबहुलभागम्मि। भवणसुराणं भवणाई होंति वररयणसोहाणि।७। =रत्नप्रभा पृथिवीके खरभाग और पंकबहुल भागमें उत्कृष्ट रत्नोंसे शोभायमान भवनवासी देवोंके भवन है।७।

रा. वा /३/१/८/१६०/२२ तत्र खरपृथिवीभागस्योपर्यधश्चैकैकं योजनसहस्रं परित्यज्य मध्यमभागेषु चतुर्दशसु योजनसहस्रेषु किंनरकिंपुरुष सप्तानां व्यन्तराणां नागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिक्कुमाराणां नवानां भवनवासिनां चावासाः। पङ्कबहुलभागे असुरराक्षसानामावासाः। =खर पृथिवी भागके ऊपर और नीचेकी ओर एक-एक हजार योजन छोडकर मध्यके १४ हजार योजनमें किन्नर, किम्पुरुष आदि सात व्यन्तरोके तथा नाग, विद्युत, सुपर्ण, अग्नि, वात, स्तनित, उदधि, द्वीप और दिक्कुमार इन नव भवनवासियोंके निवास है। पंकबहुल भागमें असुर और राक्षसोके आवास है। (ह. पु./४/५०-५१; ५९-६५), (ज प./११/१२३-१२७)।

दे० व्यंतर/४/१,५ (खरभाग, पंकभाग और तिर्यक् लोकमें भी भवनवासियोंके निवास है)।

★ भावन लोकमें बादर अप् व तेज कायिकोंका अस्तित्व —दे० काय/२/५।

५ भावन लोक

ति. प./५/१३१-१३३ का भावार्थ (लोक विनिश्चयके अनुसार कुण्डवर द्वीपके कुण्ड पर्वतपरके पूर्वादि दिशाओंमें १६ कूटोंपर १६ नागेन्द्रदेव रहते हैं।१३१-१३३।)

४. खर पंक भागमें स्थित भवनोंकी संख्या

ति. प./३/११-१२; २०-२१); (रा. वा /४/१०/८/२१६/२६), (ज. प /११/ १२४-१२७) ।

ल=लाख

देवोंका नाम	भवनोंकी संख्या		
	उत्तरेन्द्र	दक्षिणेन्द्र	कुल योग
असुरकुमार	३४ ल	३० ल	६४ ल
नागकुमार	४४ ल	४० ल	८४ ल
सुपर्णकुमार	३८ ल	३४ ल	७२ ल
द्वीपकुमार	४० ल	३६ ल	७६ ल
उदधिकुमार	,,	,,	,,
स्तनित कुमार	,,	,,	,,
विद्युत कुमार	,,	,,	,,
दिक्कुमार	,,	,,	,,
अग्निकुमार	,,	,,	,,
वायुकुमार	५० ल	४६ ल	९६ ल
			७७२ ल

२. भवनवासी देवोंके निवास स्थानोंके भेद व लक्षण

ति. प./३/२२-२३ भवणा भवणपुराणि आवासा अ सुराण होंदि तिविहा णं । रयणप्पहाए भवणा दीवसमुद्दाण उवरि भवणपुरा ।२२। दहसेल-दुमादीणं रम्माणं उवरि होंति आवासा। णागादीणं केसि तियणिलया भवणमेक्कमसुराणं ।२३। =भवनवासी देवोंके निवास-स्थान भवन, भवनपुर और आवासके भेदसे तीन प्रकार होते है। इनमेंसे रत्नप्रभा पृथिवीमें स्थित निवासस्थानोको भवन, द्वीप समुद्रोंके ऊपर स्थित निवासस्थानोको भवनपुर, और तालाब, पर्वत और वृक्षादिके ऊपर स्थित निवासस्थानोंको आवास कहते है। नागकुमारादिक देवोंमेंसे किन्हीके तो भवन, भवनपुर और आवास तीनो ही तरहके निवास स्थान होते है, परन्तु असुरकुमारोंके केवल एक भवन रूप ही निवासस्थान होते है।

३. मध्य लोकमें भवनवासियोंका निवास

ति प./४/२०६२,२१२६ का भावार्थ—(जम्बूद्वीपके विदेह क्षेत्रमें देवकुरु व उत्तरकुरुमें स्थित दो यमक पर्वतोंके उत्तर भागमें सीता नदीके दोनो ओर स्थित निषध, देवकुरु, सूर, सुलस, विद्युत् इन पाँचो नामोके युगलोरूप १० द्रहोंमें उन-उन नामवाले नागकुमार देवोंके निवासस्थान (आवास) है।२०६२-२१२६।)

ति. प/४/२७८०-२७८२ का भावार्थ (मानुषोत्तर पर्वतपर ईशान दिशाके वज्रनाभि कूटपर हनुमान नामक देव और प्रभजनकूटपर वेणुधारी भवनेन्द्र रहता है।२७८१। वायव्य दिशाके वेलम्ब नामक और नैऋत्य दिशाके सर्वरत्न कूटपर वेणुधारी भवनेन्द्र रहता है।२७८२। अग्नि दिशाके तपनीय नामक कूटपर स्वातिदेव और रत्नकूटपर वेणु नामक भवनेन्द्र रहता है।२७८०।)

५. भवनोंकी बनावट व विस्तार आदि

ति प./३/२४-६१ का भावार्थ (ये सब देवों व इन्द्रोंके भवन समचतुष्कोण तथा वज्रमय द्वारोसे शोभायमान हैं।२५। ये भवन बाहल्यमें ३०० योजन और विस्तारमें सख्यात व असख्यात योजन प्रमाण है।२६-२७। भवनोंकी चारो दिशाओमें·· उपदिष्ट योजन प्रमाण जाकर एक-एक दिव्यवेदी (परकोट) है।२८। इन वेदियोकी ऊँचाई दो कोस और विस्तार ५०० धनुष प्रमाण है।२६। गोपुर द्वारोसे युक्त और उपरिम भागमें जिनमन्दिरोंसे सहित वे वेदियाँ है।३०। वेदियोके बाह्य भागोमें चैत्य वृक्षोसे सहित और अपने नाना वृक्षोसे युक्त पवित्र अशोकवन, सप्तच्छदवन, चपकवन और आम्रवन स्थित है।३१। इन वेदियोंके बहुमध्य भागमें सर्वत्र १०० योजन ऊँचे वेत्रासनके आकार रत्नमय महाकूट स्थित है।४०। प्रत्येक कूटपर एक-एक जिन भवन है।४३। कूटोके चारो तरफ भवनवासी देवोके प्रासाद है।५६। सब भवन सात, आठ, नौ व दश इत्यादि भूमियों (मंजिलों) से भूषित ·· जन्मशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, ओलगशाला (परिचर्यागृह) और यन्त्रशाला (सहित) सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह, और लतागृह इत्यादि गृहविशेषोंसे सहित··· पुष्करिणी, वापी और कूप इनके समूहसे युक्त · गवाक्ष और कपाटोंसे सुशोभित नाना प्रकारकी पुत्तलिकाओंसे सहित· अनादिनिधन है।५७-६१।

६. प्रत्येक भवनमें देवों की बस्ती

ति प./३/२६ २७ ·संखेज्जरुंदभवणेसु भवणदेवा वसति संखेज्जा ।२६। संखातीदा सेय छत्तीसगुरा य होंदि सखेज्जा। ।२७।=सख्यात योजन विस्तारवाले भवनोंमें और शेष असख्यात योजन विस्तारवाले भवनोमें असंख्यात भवनवासी देव रहते है।

भवनतापि आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/१।

भवन भूमि—दे० समवशरणकी ७ वीं भूमि।

भव परिवर्तन रूप संसार—दे० संसार/२।

भवप्रत्यय ज्ञान—दे० अवधिज्ञान/१,६।

भव प्रत्यय प्रकृतियाँ—दे० प्रकृतिबन्ध/२।

भव विचय धर्मध्यान—दे० धर्मध्यान/१।

भव विपाकी प्रकृतियाँ—दे० प्रकृतिबन्ध/२।

भव स्थिति—भवस्थिति व कायस्थितिमें अन्तर —दे० स्थिति/२।

भवाद्धा—गो. जी./भाषा/२५८/५६६/१६ पर्याय सम्बन्धी (पर्याय विशेषमें परिभ्रमणका उत्कृष्ट काल) सो भवाद्धा है।

भवितव्य—दे० नियति/४।

भविष्यदत्त कथा—आ श्रीधर (ई. श. १४) की एक प्राकृत छन्द बद्ध रचना।

भविष्यदत्त चरित्र—आ रायमल्ल (ई. १५५६-१६१०) द्वारा रचित ग्रन्थ।

भविष्यवाणी—आगममें अनेकों विषयों सम्बन्धी भविष्यवाणी की गयी है। यथा—

ति प /४/१४८१, १४८३-१४८५ मउडधरेसु चरिमो जिणदिक्खं धरदि चदगुत्तो य। तत्तो मउडधरादुप्पव्वज्जं णेव गेण्हंति।१४८१। वीस-सहस्सं तिसदा सत्तारस वच्छराणि सुदतित्थं। धम्मपयट्टणहेदू वोच्छिस्सदि कालदोसेण।१४९३। तेत्तियमेत्ते काले जम्मिस्सदि चाउवण्णसघाओ। अविणीदो दुम्मेधो वि य असूयको तह य पाएण।१४९४। सत्तभयअट्ठमदेहिं जुत्तो सल्लगारवहिं। कलहपिओ रागिट्ठो कूरो कोहालुओ लोओ।१४९५। =१ मुनिदीक्षा सम्बन्धी—मुकुटधरोंमें अन्तिम चन्द्रगुप्तने जिनदीक्षा धारण की। इसके पश्चात मुकुटधारी दीक्षाको धारण नहीं करते।१४८१। २. द्रव्य श्रुतके व्युच्छेद सम्बन्धी—जो श्रुततीर्थ धर्म प्रवर्तनका कारण है, वह बीस हजार तीन सौ सतरह (२०३१७) वर्षोंमें काल दोषसे व्युच्छेदको प्राप्त हो जायेगा।१४९३। ३ चतुसंघ सम्बन्धी—इतने मात्र समयमें (२०३१७ वर्ष तक) चातुर्वर्ण्य संघ जन्म लेता रहेगा।१४९३। ४ मनुष्यकी बुद्धि सम्बन्धी—किन्तु लोक प्राय अविनीत, दुर्बुद्धि, असूयक, सात भय व आठ मदोंसे संयुक्त, शल्य एव गारवोंसे सहित, कलह प्रिय, रागिष्ट, क्रूर एव क्रोधी होगा।१४९५।

दे. स्वप्न। भरत महाराजके १६ स्वप्नोंका फल वर्णन करते हुए भगवान् ऋषभदेवने पंचमकालमें होनेवाली घटनाओं सम्बन्धी भविष्य वाणी की।

भव्य—संसारमें मुक्त होनेकी योग्यता सहित संसारी जीवोंको भव्य और वैसी योग्यतासे रहित जीवोंको अभव्य कहते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सारे भव्य जीव अवश्य ही मुक्त हो जायेंगे। यदि यह सम्यक् पुरुषार्थ करे तो मुक्त हो सकता है अन्यथा नहीं, ऐसा अभिप्राय है। भव्योंमें भी कुछ ऐसे होते हैं जो कभी भी उस प्रकार-का पुरुषार्थ नहीं करेंगे, ऐसे जीवोंको अभव्य समान भव्य कहा जाता है। और जो अनन्तकाल जानेपर पुरुषार्थ करेंगे उन्हें दूरानुदूर भव्य कहा जाता है। मुक्त जीवोंको न भव्य कह सकते हैं न अभव्य।

१. भेद व लक्षण

१. भव्य व अभव्य जीवका लक्षण

स. सि./२/७/१६१/३ सम्यग्दर्शनादिभावेन भविष्यतीति भव्यः। तद्विपरीतोऽभव्यः। =जिसके सम्यग्दर्शन आदि भाव प्रकट होनेकी योग्यता है वह भव्य कहलाता है। अभव्य इससे उल्टा है (रा वा /२/७/८/११३/७)

प. सं./प्रा./१५५-१५६ [illegible] णियमा। सिज्झंति भव्वजीवा अभव्वजीवा ण सिज्झंति।१५५। भविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते भवंति भवसिद्धा। तव्विवरीयाऽभव्वा संसाराओ ण सिज्झंति।१५६। =जो भव्य जीव हैं वे नियमसे संख्यात, असंख्यात व अनन्त कालके द्वारा मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं परन्तु अभव्य जीव कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर पाते हैं। जो जीव सिद्ध पदकी प्राप्तिके योग्य हैं उन्हें भवसिद्ध कहते हैं। और उनसे विपरीत जो जीव संसारसे छूटकर सिद्ध नहीं होते वे अभव्य हैं।१५५-१५६। (ध १/१,१,१४२/गा. २११/३९४); (गो. जी./मू./५५७/९९७)। (ध ७/२,१,३/७/५), (न. च. वृ /१२७); (गो. जी./मू /५५७/९९७)।

ध. १३/५,५,५०/२८६/२ भवतीति भव्यम्—(आगम) वर्तमान कालमें है इसलिए उसकी भव्य संज्ञा है।

नि सा /ता वृ /१५६ भाविकाले स्वभावानन्तचतुष्टयात्मसहजज्ञानादि-गुणैः भवनयोग्या भव्याः, एतेषां विपरीता ह्यभव्याः। =भविष्यकालमें स्वभाव-अनन्त चतुष्टयात्मक सहज ज्ञानादि गुणोंरूपसे भवन (परिणमन) के योग्य (जीव) वे भव्य हैं, उनसे विपरीत (जीव) वे वास्तवमें अभव्य है। (गो जी /जी. प्र./७०४/११४५/८)।

द्र.सं./टी /२१/८४/४ की चूलिका—स्वशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरण-रूपेण भविष्यतीति भव्यः। =निज शुद्ध आत्माके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा आचरण रूपसे जो होगा उसे भव्य कहते हैं।

२. भव्य अभव्य जीवकी पहिचान

प्र सा./मू /६२ णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं ति विगदघादीणं। सुणिदूण ते अभव्वा भव्वा वा तं पडिच्छंति। =‘जिनके घातीकर्म नष्ट हो गये हैं, उनका सुख (सर्व) सुखोंमें उत्कृष्ट है’ यह सुनकर जो श्रद्धा नहीं करते वे अभव्य हैं, और भव्य उसे स्वीकार (आदर) करते हैं श्रद्धा करते हैं।६२।

पं. वि./४/२३ तत्प्रतिप्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।२३। =उस आत्म तेजके प्रति मनमें प्रेमको धारण करके जिसने उसकी बात भी सुनी है वह निश्चयसे भव्य है। वह भविष्यमें प्राप्त होनेवाली मुक्तिका पात्र है।२३।

३. भव्य मार्गणाके भेद

प. सं /प्रा /१/१४१/२६० भवियाणुवादेण अत्थि भवसिद्धिया अभव-सिद्धिया।१४१। =भव्यमार्गणाके अनुवादसे भव्यसिद्ध और अभव्य-सिद्ध जीव होते हैं।१४१। (द्र स /टी./१३/३८/६)।

ध./२/१,१/४१६/६ भवसिद्धिया वि अत्थि, अभवसिद्धिया वि अत्थि, णेव भवसिद्धिया णेव अभवसिद्धिया वि अत्थि। =भव्यसिद्धिक जीव होते हैं, अभव्यसिद्धिक जीव होते हैं और भव्यसिद्धिक तथा अभव्यसिद्धिक इन दोनों विकल्पोंसे रहित भी स्थान होता है।

गो जी /जी प्र /७०४/११४१/६ भव्यः स च आसन्नभव्य दूरभव्य अभव्यसमभव्यश्चेति त्रेधा। =भव्य तीन प्रकार है—आसन्न भव्य, दूर भव्य और अभव्यसम भव्य।

४. आसन्न व दूर भव्य जीवके लक्षण

प्र सा /त प्र /६२ ये पुनरिदमिदानीमेव वच प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजन समासन्नभव्या भवन्ति। ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते दूरभव्या

इति ।=जो उस (केवली भगवान्‌का सुख सर्व सुखोंमें उत्कृष्ट है)। वचनको इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं वे शिवश्रीके भाजन आसन्न भव्य हैं। और जो आगे आकर स्वीकार करेंगे वे दूर भव्य हैं।

गो जी /भाषा/७०४/११४४/२ जे थोरे कालमें मुक्त होते होइ ते आसन्न भव्य हैं। जे बहुत कालमें मुक्त होते होंइ ते दूर भव्य हैं।

५. अभव्य समभव्य जीवका लक्षण

क. पा /२/२,२२/६४२६/१६५/११ अभव्वेसु अभव्वसमाणभव्वेसु च णिच्च-णिगोदभावमुवगएसु··।=जो अभव्य हैं या अभव्योंके समान नित्य निगोदको प्राप्त हुए भव्य हैं।

गो. जी /भाषा/७०४/११४४/३ जे त्रिकाल विषै मुक्त होनेके नाहीं केवल मुक्त होनेकी योग्यता ही कौ धरैं हैं ते अभव्य सम भव्य हैं।

६. अतीत भव्य जीवका लक्षण

पं सं /प्रा /१/१५७ ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहा होंति तीदससारा। ते जीवा णायव्वा णो भव्वा णो अभव्वा य।१५७।=जो न भव्य हैं और न अभव्य हैं, किन्तु जिन्होंने मुक्तिको प्राप्त कर लिया है और अतीत ससार हैं। उन जीवोंको नो भव्य नो अभव्य जानना चाहिए। (गो. जी./मू /५५६) (पं स /स /१/२८५)।

७. भव्य व अभव्य स्वभावका लक्षण

आ.प./६ भाविकाले परस्वरूपाकारभवनाद् भव्यस्वभाव·। कालत्रयेऽपि परस्वरूपाकारा भवनादभव्यस्वभाव ।=भाविकालमें पर स्वरूपके (नवीन पर्यायके) आकार रूपसे होनेके कारण भव्यस्वभाव है। और तीनों कालमें भी पर स्वरूपके (पर द्रव्यके) आकार रूपसे नहीं होनेके कारण अभव्य स्वभाव है।

पं का /त प्र /३७ द्रव्यस्य सर्वदा अभूतपर्यायै भाव्यमिति. द्रव्यस्य सर्वदा भूतपर्यायैरभाव्यमिति।

प का./ता वृ /३७/७६/११ निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरिणामेन भवन परिणमनं भव्यत्व अतीतमिथ्यात्वरागादिभावपरिणामेनाभवनमपरिणमनमभव्यत्व।=द्रव्य सर्वदा भूत पर्यायों रूपसे भाव्य (परिणमित होने योग्य) है। द्रव्य सर्वदा भूत पर्यायों रूपसे अभाव्य (न होने योग्य) है (त.प्र) निर्विकार चिदानन्द एक स्वभाव रूपसे होना अर्थात् परिणमन करना सो भव्यत्व भाव है। और विनष्ट हुए विभाव रागादि विभाव परिणाम रूपसे नहीं होना अर्थात् परिणमन नहीं करना अभव्यत्व भाव है।ता वृ।

२. भव्याभव्य निर्देश

१. सम्यक्त्वादि गुणोंकी व्यक्तिकी अपेक्षा भव्य अभव्य व्यपदेश है

रा.वा./८/६/८-६/५७१/२५ न सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रशक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्व कल्प्यते। कथ तर्हि ।२५। सम्यक्त्वादिव्यक्तिभावाभावाभ्यां भव्याभव्यत्वमिति विकल्प कनकेतरपाषाणवत् ।६। यथा कनकभावव्यक्तियोगमवाप्स्यति इति कनकपाषाण इत्युच्यते तदभावादन्धपाषाण इति। तथा सम्यक्त्वादिपर्यायव्यक्तियोगार्हो य स भव्यस्तद्विपरीतोऽभव्य' इति चोच्यते।=भव्यत्व और अभव्यत्व विभाग ज्ञान, दर्शन और चारित्रकी शक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा नहीं है। प्रश्न—तो किस आधारसे यह विकल्प कहा गया है? उत्तर—शक्तिकी प्रगट होनेकी योग्यता और अयोग्यताकी अपेक्षा है। जैसे जिसमें सुवर्ण पर्यायके प्रगट होनेकी योग्यता है वह कनकपाषाण कहा जाता है और अन्य अन्धपाषाण। उसी तरह सम्यग्दर्शनादि पर्यायोंकी अभिव्यक्तिकी योग्यता वाला भव्य तथा अन्य अभव्य है। (स. सि./८/६/३८२/६)

२. भव्य मार्गणामें गुणस्थानोंका स्वामित्व

प. ख १/१,१/सू १४२-१४३/३९४ भवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव अजोगिकेवलि त्ति।१४२। अभवसिद्धिया एइंदिय-प्पहुडि जाव सण्णि-मिच्छाइट्ठि त्ति।१४३।=भव्य सिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर अयोगि केवली गुणस्थान तक होते हैं।१४२। अभव्यसिद्ध जीव एकेन्द्रियसे लेकर संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक होते हैं।१४३।

प. स /प्रा /४/६७ खीणताभव्वम्मि य अभव्वे मिच्छमेय तु।=भव्य मार्गणाकी अपेक्षा भव्य जीवोंके क्षीण कषायान्त बारह गुणस्थान होते हैं। (क्योंकि सयोगी व अयोगीके भव्य व्यपदेश नहीं होता (प. स./प्रा.टी /४/६७) अभव्य जीवोंके तो एकमात्र मिथ्यात्व गुणस्थान होता है।६७।

*** भव्य मार्गणामें जीवसमास आदि विषयक २० प्ररूपणाएँ**
—दे० सत्।

*** भव्य मार्गणाकी सत् संख्या आदि ८ प्ररूपणाएँ**
—दे० वह वह नाम।

*** भव्य मार्गणामें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व**
—दे० वह वह नाम।

३. सभी भव्य सिद्ध नहीं होते

प स /प्रा./१/१५४ सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते भवंति भवसिद्धा। ण उ मलविगमे णियमा ताणं कणकोपलाणमिव।=जो जीव सिद्धत्व अवस्था पानेके योग्य हैं वे भव्यसिद्ध कहलाते हैं। किन्तु उनके कनकोपल (स्वर्ण पाषाण) के समान मलका नाश होनेमें नियम नहीं है। (विशेषार्थ—जिस प्रकार स्वर्णपाषाणमें स्वर्ण रहते हुए भी उसको पृथक् किया जाना निश्चित नहीं है। उसी प्रकार सिद्धत्वकी योग्यता रखते हुए भी कितने ही भव्य जीव अनुकूल सामग्री मिलनेपर भी मोक्षको प्राप्त नहीं कर पाते)। (ध./१/१,१,४/गा ६५/१५०) (गो जी./मू./५५८) (पं स./स /१/२८३)।

रा वा /१/३/६/२४/२ केचित् भव्या' संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन केचिदनन्तेन अपरे अनन्तानन्तेन सेत्स्यन्ति।=कोई भव्य संख्यात, कोई असंख्यात और कोई अनन्तकालमें सिद्ध होंगे। और कुछ ऐसे हैं जो अनन्त कालमें भी सिद्ध न होंगे।

ध.४/१,५,३१०/४७८/४ ण च सत्तिमंताणं सव्वेसि पि वत्तीए होदव्वमिदि णियमो अत्थि सव्वस्स वि हेमपासाणस्स हेमपज्जाएण परिणमणप्पसंगा। ण च एवं, अणुवलंभा।=यह कोई नियम नहीं है कि भव्यत्वकी शक्ति रखनेवाले सभी जीवोंके उसकी व्यक्ति होना ही चाहिए, अन्यथा सभी स्वर्ण-पाषाणके स्वर्ण पर्यायसे परिणमनका प्रसंग प्राप्त होगा? किन्तु इस प्रकारसे देखा नहीं जाता।

४. मिथ्यादृष्टिको कथंचित् अभव्य कह सकते हैं

क. पा ४/३,२२/§६१५/३२५/२ अभवसिद्धियपाओग्गे त्ति भणिदे मिच्छादिट्ठिपाओग्गे त्ति घेत्तव्वं। उक्कस्सट्ठिदिअणुभागबंधे पडुच्च समाणत्तणेण अभव्ववएसं पडि विरोहाभावादो।=सूत्रमें 'अभवसिद्धिपाओग्गे' ऐसा कहनेपर उसका अर्थ मिथ्यादृष्टिके योग्य ऐसा लेना चाहिए। क्योंकि उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभागकी अपेक्षा समानता होनेसे मिथ्यादृष्टिको अभव्य कहनेमें कोई विरोध नहीं आता है।

५. शुद्ध नयसे दोनों समान हैं और अशुद्ध नयसे असमान

स. श./मू./४ बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।...।४। =बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्मा ये तीन प्रकारके आत्मा सर्व प्राणियोंमें हैं।...।४।

द्र. स./टी./१४/४८/१ त्रिविधात्मसु मध्ये मिथ्यादृष्टिभव्यजीवे बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण तिष्ठति, अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयापेक्षया व्यक्तिरूपेण च। अभव्यजीवे पुनर्बहिरात्मा व्यक्तिरूपेण अन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेणैव च भाविनैगमनयेनेति। नन्वभव्यजीवे परमात्मा शक्तिरूपेण वर्तते तर्हि कथमभव्यत्वमिति चेत् परमात्मशक्तेः केवलज्ञानादिरूपेण व्यक्तिर्न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, शक्तिः पुनः शुद्धनयेनोभयत्र समाना। यदि पुनः शक्तिरूपेणाप्यभव्यजीवे केवलज्ञानं नास्ति तदा केवलज्ञानावरणं न घटते भव्याभव्यद्वयं पुनरशुद्धनयेनेति भावार्थः। एवं यथा मिथ्यादृष्टिसंज्ञे बहिरात्मनि नयविभागेन दर्शितमात्मत्रयं तथा शेषगुणस्थानेष्वपि। तद्यथा—बहिरात्मावस्थायामन्तरात्मपरमात्मद्वयं शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन व्यक्तिरूपेण च विज्ञेयम्, अन्तरात्मावस्थायां तु बहिरात्मा भूतपूर्वन्यायेन घृतघटवत्, परमात्मस्वरूपं तु शक्तिरूपेण भाविनैगमनयेन, व्यक्तिरूपेण च। परमात्मावस्थायां पुनरन्तरात्मबहिरात्मद्वयं भूतपूर्वनयेनेति। =तीन प्रकारके आत्माओंमें जो मिथ्यादृष्टि भव्य जीव है, उसमें बहिरात्मा तो व्यक्ति रूपसे रहता है और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे रहते हैं, एवं भावि नैगमनयकी अपेक्षा व्यक्ति रूपसे भी रहते हैं। मिथ्यादृष्टि अभव्य जीवमें बहिरात्मा व्यक्ति रूपसे और अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे ही रहते हैं, भावि नैगमनयकी अपेक्षा भी अभव्यमें अन्तरात्मा तथा परमात्मा व्यक्ति रूपसे नहीं रहते। प्रश्न—अभव्य जीवमें परमात्मा शक्तिरूपसे रहता है तो उसमें अभव्यत्व कैसे। उत्तर—अभव्य जीवमें परमात्मा शक्तिकी केवलज्ञान आदि रूपसे व्यक्ति न होगी इसलिए उसमें अभव्यत्व है। शुद्ध नयकी अपेक्षा परमात्माकी शक्ति तो मिथ्यादृष्टि भव्य और अभव्य इन दोनोंमें समान है। यदि अभव्य जीवमें शक्ति रूपसे भी केवलज्ञान न हो तो उसके केवलज्ञानावरण कर्म सिद्ध नहीं हो सकता। साराश यह है कि भव्य व अभव्य ये दोनों अशुद्ध नयसे हैं। इस प्रकार जैसे मिथ्यादृष्टि बहिरात्मामें नय विभागसे तीनों आत्माओंको बतलाया उसी प्रकार शेष तेरह गुणस्थानोंमें भी घटित करना चाहिए जैसे कि बहिरात्माकी दशामें अन्तरात्मा तथा परमात्मा ये दोनों शक्ति रूपसे रहते हैं और भावि नैगमनयसे व्यक्ति रूपसे भी रहते हैं ऐसा समझना चाहिए। अन्तरात्माकी अवस्थामें बहिरात्मा भूतपूर्वन्यायसे घृतके घटके समान और परमात्माका स्वरूप शक्तिरूपसे तथा भावि नैगमनयकी अपेक्षा व्यक्ति रूपसे भी जानना चाहिए। परमात्म अवस्थामें अन्तरात्मा तथा बहिरात्मा भूतपूर्व नयकी अपेक्षा जानने चाहिए। (स. श./टी./४)।

दे० पारिणामिक/३ शुद्ध नयसे भव्य व अभव्य भेद भी नहीं किये जा सकते। सर्व जीव शुद्ध चेतन्य मात्र हैं।

३. शंका-समाधान

१. मोक्षकी शक्ति है तो इन्हें अभव्य क्यों कहते हैं

स. सि./८/६/३८२/२ अभव्यस्य मनःपर्ययज्ञानशक्तिः केवलज्ञानशक्तिश्च स्याद्वा न वा। यदि स्यात् तस्याभव्यत्वाभावः। अथ नास्ति तत्तावरणद्वयकल्पना व्यर्थेति। उच्यते—आदेशवचनान्न दोषः। द्रव्यार्थादेशान्मनःपर्ययकेवलज्ञानशक्तिसंभवः। पर्यायार्थादेशात्तच्छक्त्यभावः। यद्येवं भव्याभव्यविकल्पो नोपपद्यते उभयत्र तच्छक्तिसद्भावात्। न शक्तिभावाभावापेक्षया भव्याभव्यविकल्प इत्युच्यते। =प्रश्न—अभव्य जीवके मनःपर्ययज्ञानशक्ति और केवलज्ञानशक्ति होती है या नहीं होती। यदि होती है तो उसके अभव्यपना नहीं बनता। यदि नहीं होती है तो उसके उक्त दो आवरण-कर्मोंकी कल्पना करना व्यर्थ है। उत्तर—आदेश वचन होनेसे कोई दोष नहीं है। अभव्यके द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है पर पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उसके उसका अभाव है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो भव्याभव्य विकल्प नहीं बन सकता है क्योंकि दोनोंके मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान शक्ति पायी जाती है। उत्तर—शक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा भव्याभव्य विकल्प नहीं कहा गया है। (अपितु व्यक्तिके सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा यह विकल्प कहा गया है। (दे० भव्य/२/१), (रा. वा/८/६/८-६/५७१/२५), (गो. क./जी. प्र/३३/२७/८), (और भी दे./भव्य/२/५)।

२. अभव्य सम भव्यको भी भव्य कैसे कहते हैं

रा वा./२/७/६/१११/६ योऽनन्तेनापि कालेन न सेत्स्यत्यसावभव्य एवेति चेत्; न, भव्यराश्यन्तर्भावात्।६।... यथा योऽनन्तकालेनापि कनकपाषाणो न कनकीभविष्यति न तस्यान्धपाषाणत्वं कनकपाषाणशक्तियोगात्, यथा वा आगामिकालो योऽनन्तेनापि कालेन नागमिष्यति न तस्यागामित्वं हीयते, तथा भव्यस्यापि स्वशक्तियोगाद् असत्यामपि व्यक्तौ न भव्यत्वहानिः। =प्रश्न—जो भव्य अनन्त कालमें भी सिद्ध न होगा वह तो अभव्यके तुल्य ही है। उत्तर—नहीं, वह अभव्य नहीं है, क्योंकि उसमें भव्यत्व शक्ति है। जैसे कि कनक पाषाणको जो कभी भी सोना नहीं बनेगा अन्धपाषाण नहीं कह सकते अथवा उस आगामी कालको जो अनन्त कालमें भी नहीं आयेगा अनागामी नहीं कह सकते उसी तरह सिद्धि न होनेपर भी भव्यत्व शक्ति होनेके कारण उसे अभव्य नहीं कह सकते। वह भव्य राशिमें ही शामिल है।

ध. १/१,१,१४१/३९३/७ मुक्तिमनुपगच्छतां कथं पुनर्भव्यत्वमिति चेन्न, मुक्तिगमनयोग्यापेक्षया तेषां भव्यव्यपदेशात्। न च योग्याः सर्वेऽपि नियमेन निष्कलङ्का भवन्ति सुवर्णपाषाणेन व्यभिचारात्। =प्रश्न—मुक्तिको नहीं जानेवाले जीवोंके भव्यपना कैसे बन सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, मुक्ति जानेकी योग्यताकी अपेक्षा उनके भव्य संज्ञा बन जाती है। जितने भी जीव मुक्ति जानेके योग्य होते हैं वे सब नियमसे कलंक रहित होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है, क्योंकि, सर्वथा ऐसा मान लेनेपर स्वर्णपाषाणमें व्यभिचार आ जायेगा। (ध. ४/१.५.३१०/४७८/३)।

३. भव्यत्वमें कथंचित् अनादि सान्तपना

ष. खं. ७/२,२/सू. १८३-१८४/१७६ भवियाणुवादेण भवसिद्धिया केवचिरं कालादो होंति।१८३। अणादिओ सपज्जवसिदो।१८४।

ध ७/२,२,१८४/१७६/८ कुदो। अणाइसरूवेणागयस्स भवियभावस्स अजोगिचरिमसमए विणासुवलंभादो। अभवियसमाणो वि भवियजीवो अत्थि त्ति अणादिओ अपज्जवसिदो भवियभावो किण्ण परूविदो। ण, तत्थ अविणाससत्तीए अभावादो। सत्तीए चेव एत्थ अहियारो, वत्तीए णत्थि त्ति कधं णव्वदे। अणादि-सपज्जवसिदसुत्तण्णहाणुववत्तीदो। =प्रश्न—भव्यमार्गणाके अनुसार जीव भव्यसिद्धिक कितने कालतक रहते हैं।१८३। उत्तर—जीव अनादि सान्त भव्यसिद्धिक होता है।१८४। क्योंकि अनादि स्वरूपसे आये हुए भव्यभावका अयोगिकेवलीके अन्तिम समयमें विनाश पाया जाता है। प्रश्न—अभव्यके समान भी तो भव्य जीव होता है, तब फिर भव्य भावको अनादि और अनन्त क्यों नहीं प्ररूपण किया। उत्तर—नहीं, क्योंकि

भव्यत्वमें अविनाश शक्तिका अभाव है, अर्थात् यद्यपि अनादिसे अनन्त कालतक रहनेवाले भव्य जीव हैं तो सही, पर उनमें शक्ति रूपसे तो ससार विनाशकी सम्भावना है, अविनाशित्वकी नहीं। प्रश्न—यहाँ, भव्यत्व शक्तिका अधिकार है, उसकी व्यक्तिका नहीं, यह कैसे जाना जाता है। उत्तर—भव्यत्वको अनादि सपर्यवसित कहनेवाले सूत्रकी अन्यथा उपपत्ति बन नहीं सकती, इसीसे जाना जाता है कि यहाँ भव्यत्व शक्तिसे अभिप्राय है।

४. भव्यत्वमें कथंचित् सादि-सान्तपना

प. खं. ७/२,२/सू. १८५/१७७ (भवियाणुवादेण) सादिओ सपज्जवसिदो ।१८५।

ध. ७/२,२,१८५/१७७/३ अभविओ भवियभावं ण गच्छदि भवियाभवियभावाणमच्चंताभावपडिग्गहियाणमेयाहियरणतविरोहादो। ण सिद्धो भविओ होदि, णट्ठासेसावरण पुणरुप्पत्तिविरोहादो। तम्हा भवियभावो ण सादि त्ति। ण एस दोसो, पज्जवट्ठियणयावलंबणादो अप्पडिवण्णे सम्मत्ते अणादि-अणतो भवियभावो अतादीदससारादो, पडिवण्णे सम्मत्ते अण्णो भवियभावो उप्पज्जइ, पोग्गलपरियट्टस्स अद्धमेत्तससारावट्ठाणादो। एवं समऊण-दुसमऊणादिउवड्ढपोग्गलपरियट्टसंसाराणां जीवाणं पुध-पुध भवियभावो वत्तव्वो। तदो सिद्धं भवियाणं सादि-सातत्तमिदि। =(भव्यमार्गणानुसार) जीव सादि सान्त भव्यसिद्धिक भी होता है।१८५। प्रश्न—अभव्य भव्यत्वको प्राप्त हो नहीं सकता, क्योंकि भव्य और अभव्य भाव एक दूसरेके अत्यन्ताभावको धारण करनेवाले होनेसे एक ही जीवमें क्रमसे भी उनका अस्तित्व माननेमें विरोध आता है। सिद्ध भी भव्य होता नहीं है, क्योंकि जिन जीवोके समस्त कर्मास्रव नष्ट हो गये हैं उनके पुन' उन कर्मास्रवोकी उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। अत' भव्यत्व सादि नहीं हो सकता। उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योंकि पर्यायार्थिक नयके अवलम्बनसे जबतक सम्यक्त्व ग्रहण नहीं किया तबतक जीवका भव्यत्व अनादि-अनन्त रूप है, क्योंकि, तबतक उसका संसार अन्तरहित है। किन्तु सम्यक्त्वके ग्रहण कर लेनेपर अन्य ही भव्यभाव उत्पन्न हो जाता है, क्योंकि, सम्यक्त्व उत्पन्न हो जानेपर फिर केवल अर्धपुद्गल परिवर्तनमात्र कालतक ससारमें स्थिति रहती है। इसी प्रकार एक समय कम उपार्ध पुद्गल परिवर्तन ससारवाले, दो समय कम उपार्धपुद्गलपरिवर्तन ससारवाले आदि जीवोंके पृथक्-पृथक् भव्यभावका कथन करना चाहिए। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि भव्य जीव सादि-सान्त होते है।

५. भव्याभव्यत्वमें पारिणामिकपना कैसे है

प. खं. ५/१,७/२६३/२३० अभवसिद्धिय त्ति को भावो, पारिणामिओ भावो ।६३।

ध./प्र. ५/१,७,६३/२३०/६ कुदो। कम्माणमुदएण उवसमेण खएण खओवसमेण वा अभवियत्ताणुप्पत्तीदो। भवियत्तस्स वि पारिणामिओ चेय भावो, कम्माणमुदयउवसम-खय-खओवसमेहि भवियत्ताणुप्पत्तीदो। प्रश्न—अभव्य सिद्धिक यह कौन-सा भाव है। उत्तर—पारिणामिक भाव है। क्योंकि, कर्मोंके उदयसे, उपशमसे, क्षयसे अथवा क्षयोपशमसे अभव्यत्व भाव उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार भव्यत्व भी पारिणामिक भाव ही है, क्योंकि, कर्मोंके उदय, उपशम क्षय और क्षयोपशमसे भव्यत्व भाव उत्पन्न नहीं होता। (रा वा./२/७/२/११०/२१)।

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. अभव्य भाव जीवकी नित्य व्यंजन पर्याय है—दे० पर्याय/३/७।
२. मोक्षमें भव्यत्व भावका अभाव हो जाता है पर जीवत्वका नहीं —दे० जीवत्व/५।
३. निर्व्यय अभव्योंमें अनन्तताकी सिद्धि कैसे हो—दे० अनन्त/२।
४. मोक्ष जाते-जाते भव्य राशि समाप्त हो जायेगी—दे० मोक्ष/६।
५. भव्यत्व व अभव्यत्व कथंचित् औदयिक है—दे० असिद्धत्व/२।
६. भव्यत्व व अभव्यत्व कथंचित् अशुद्धपारिणामिक भाव है —दे० पारिणामिक/३

भव्यकुमुद चन्द्रिका—पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) की संस्कृत भाषाबद्ध रचना।

भव्यसेन—श्रावस्ती नगरी सघनायक एकादशागधारी तपस्वी थे। मुनिगुप्तने एक विद्याधर द्वारा रानी रेवतीको धर्मवृद्धि भेजी, परन्तु इनके लिए कोई सन्देश न भेजा। तब उस विद्याधरने इनकी परीक्षा ली, जिसमें ये असफल रहे। (बृ. क को'/कथा न, ७/पृ २१-२६)।

भव्यस्पर्श—दे० स्पर्श/१।

भाग—Division (ध. ५/प्र. २७)। २. अश, पर्याय, भाग, हार, विधा, प्रकार तथा भेद, छेद और भग एकार्थवाची हैं—दे० पर्याय/-१/१)।

भागहार—Divisor अर्थात् जिसपर भाग दें।—दे० गणित/II/१/६।

भागाभाग—कुल द्रव्यमेंसे विभाग करके कितना भाग किसके हिस्सेमें आता है, इसे भागाभाग कहते हैं। जैसे एक समयप्रबद्ध सर्व कर्म प्रदेशोका कुछ भाग ज्ञानावरणीको मिला, उसमेंसे भी चौथाई-चौथाई भाग मतिज्ञानावरणीको मिला। इसी प्रकार कर्मोंके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेशबन्धमें, उनके चारों प्रकारके सत्त्वमें अथवा भुजगार व अल्पतर बन्धक जीवों आदि विषयोंमें यथायोग्य लागू करके विस्तृत प्ररूपणाएँ की गयी हैं। जिनके सन्दर्भोंकी सूची नीचे दी गयी है—

नं०	प्रकृति विषयक — मूल प्रकृति	प्रकृति विषयक — उत्तर प्र०	स्थिति विषयक — मूल प्र०	स्थिति विषयक — उत्तर प्र०	अनुभाग विषयक — मूल प्र०	अनुभाग विषयक — उत्तर प्र०	प्रदेश विषयक — मूल प्र०	प्रदेश विषयक — उत्तर प्र०
१	**अष्ट कर्म बन्ध सम्बन्धी** (म ब/पु न./६ नं०)							
१	जघन्य उत्कृष्ट बन्ध—							
	×	×	×	×	×	×	×	६/१६५-१६७
२	जघन्य उत्कृष्ट बन्धके स्वामियोंमें							
	×	१/२०४-२४६	२/१४१-१४७	३/४४६-४५१	४/१४६-१८६	४/३६४	×	६/५३०-५३१
३	भुजगारादि पदोंके स्वामियोंमें—							
	×	×	२/३०२-३०४	३/७४८-७६६	४/२८६	५/४१८	६/१२३	
४	वृद्धि हानि रूप पदोंके स्वामियोंमें—							
	×	×	२/३८६-३९६	३/६१६-६१८	४/३६२	५/६१८		
२	**मोहनी कर्म सत्त्व सम्बन्धी** (क. पा./पु. नं./६ नं०)							
१	जघन्य उत्कृष्ट सत्त्व स्थानोंके स्वामियोंकी अपेक्षा—							
	१/७८-७९	×	३/९८-१०३	३/५९९-६०३	५/८८-९२	५/३४५-३५०		
२	कर्म सत्त्वासत्त्वकी अपेक्षा—							
	२/६० ६६	२/१६०-६७						
३	२८,२४,२३ आदि सत्त्व स्थानोंकी अपेक्षा—							
	×	२/३५०-३५३						
४	भुजगारादि पदोंके स्वामियोंकी अपेक्षा—							
	×	२/४५०-४५२	३/३९८-३९९	४/१०४-१०८	५/११२	५/४६०-४६२		
५	वृद्धि हानि रूप पदोंके स्वामियोंकी अपेक्षा—							
	×	२/५०८-५११	३/८६५-८६८	४/३६५-३६७	५/१७६	५/५४३-५४६		
६	कषायोंके सत्त्वासत्त्वकी अपेक्षा—							
	१/३७८-३७९							

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. जघन्य उत्कृष्ट योग स्थानोंमें स्थित जीवोंका ओघ व आदेशसे भागाभाग। —दे० (ध १०/६१/१)।

२ प्रथमादि योग वर्गणाओंमें जीव प्रदेशोंका ओघ व आदेशसे भागाभाग। —दे० (ध १०/४४८/११)

३. जघन्य उत्कृष्ट अवगाहना स्थानोंमें स्थित जीवोंका ओघ व आदेशसे भागाभाग। —दे० (ध.११/२७/१६)

४. जघन्य उत्कृष्ट क्षेत्रोंमें स्थित जीवोंका ओघ व आदेशसे भागाभाग। —दे० (ध ३२/१६)।

५. २३ वर्गणाओंमें परमाणुओंका भागाभाग। —दे० (ध १४/१६०-१६३)

६. पाँच शरीरोंके जघन्य उत्कृष्ट व उभय स्थितिमें स्थित जीवोंके निषेकोंका भागाभाग। —दे० (प ख. १४ सू ३३१-३३६/३७०)।

७. आठों कर्मोंकी मूलोत्तर प्रकृतियोंके प्रकृति रूप भेदोंकी, समय प्रबद्धार्थता व क्षेत्र प्रयासकी अपेक्षा प्रमाणका परस्पर भागाभाग। —दे० (प ख. १२/६ सू १-२१/५०१)।

भागाहार—१. दे० संक्रमण/१/३. २. भागाहार सम्बन्धी प्रक्रिया। —दे० गणित/II/१/६।

भाग्य—नियति/३।

भाग्यपुर—वर्तमान हैदराबाद (दक्कन) (म. पु/प्र ५०/प० पन्नालाल)।

भाजक—Divisor (ध. ५/प्र २८)।

भाजनांग कल्पवृक्ष—दे० वृक्ष/१।

भाजित—गणितकी भागाहार विधिमें भाज्य राशिको भागहार द्वारा भाजित किया गया कहते है।—(दे० गणित/II/१/६)।

भाज्य—गणितकी भागहार विधिमें जिस राशिका भाग किया जाय वह भाज्य है।—दे० गणित/II/१/६।

भाटक जीविका—दे० सावद्य/२।

भाद्रवन सिंहनिष्क्रिडित व्रत—निम्न प्रस्तारके अनुसार एक वृद्धि क्रमसे १-१३ तक उपवास करना, फिर एक हानि क्रमसे १३ से १ तक उपवास करना। बीचके सर्व स्थानोंमें एकाशना या पारणा करना। प्रस्तार—१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १३, १२, ११, १०, ९, ८, ७, ६, ५, ४, ३, २, १=१७५। नमस्कार मन्त्र-का त्रिकाल जाप करे/(व्रतविधान सं. /पृ. ५८)।

भानु—कृष्णका सत्यभामा रानीसे पुत्र था (ह. पु./४४/१) अन्तमें दीक्षा धारणकर मुनि हो गया था (ह. पु./६१/३९)।

भानुमती—दुर्योधनकी पत्नी (पा. पु./१७/१०८)।

भानुकीर्ति—नन्दी संघके देशीय गणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप गण्ड विमुक्तदेवके शिष्य थे। समय—वि. १२१५-१२४५ (ई० ११५८-११८८), (ध. २/प्र. ४/H. L. Jain) दे० इतिहास/५/१४।

भानुगुप्त—मगध देशको राज्य वंशावली (दे० इतिहास) के अनुसार यह गुप्तवंशका छठा व अन्तिम राजा था। इसको हूण राजा तोरमाण व मिहिरकुलने ई० ५०० व ५०७ में परास्त करके गुप्तवंशका विनाश कर दिया। समय—ई० ४६०-५०७ दे० (इतिहास/३/१)।

भानुनंदि—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप नेमिचन्द्र न० १ के शिष्य और सिंहनन्दि न० १ के गुरु थे। समय—विक्रम शक स. ४८७-५०८ (ई० ५६५-५८६) —दे० इतिहास/५/१३।

भानुमित्र—मालवा (मगध) देशके राज्यवंशमें अग्निमित्रके स्थानपर श्वेताम्बर आम्नायमें भानुमित्र नाम लिया जाता है अत, अग्निमित्रका ही अपरनाम भानुमित्र है।—दे० अग्निमित्र।

भामंडल—प पु./सर्ग/श्लोक सीताका भाई था (२६/१२१) पूर्व वैरसे किसी देवने जन्म लेते ही इसको चुराकर (२६/१२१) आकाश-से नीचे गिरा दिया (२६/१२६)। बीचमें ही किसी विद्याधरने पकड लिया और इसका पोषण किया (२६/१३२)। युवा होनेपर बहन सीतापर मुग्ध हो गया (२८/२२२) परन्तु जाति स्मरण होने-पर अत्यन्त पश्चात्ताप किया (३०।३८)। अन्तमें वज्रपातके गिरने-से मर गया (१११/१२)।

भारद्वाज—१. एक ब्राह्मण पुत्र (म. पु/७४/७६) यह वर्धमान भग-वान्‌का दूरवर्ती पूर्वभव है—दे० वर्धमान। २. भरतक्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भारमल्ल—१. नागौरका राजा। कोट्यधीशधनकुबेर इसकी उपाधि थी। समय—ई. श. १६ (हि जे सा. इ./३६ कामता)। २. परशुरामके पुत्र थे। पहले फरूखाबाद और पीछे भिण्ड रहे थे। ये वास्तवमें एक कवि नहीं अपितु तुकबन्द थे। इन्होंने सोमकीर्तिके संस्कृत चारुदत्त चरित्रके आधारपर हिन्दी चौपाई दोहा छन्दमें चारुदत्त चरित्र रचा, इसके अतिरिक्त शील कथा, दर्शनकथा, निशिभोजन कथा भी रची। समय—वि. १८१३। हिं जै सा. इ./२१८ कामता), (चारुदत्त चरित्र/प्र./परमेष्ठीदास)।

भार्गव—भरत क्षेत्र पूर्व आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

भार्गवाचार्यकी वंश परम्परा—भार्गव धनुर्विद्याके प्रसिद्ध आचार्य थे। जिनकी शिष्य परम्परामें कौरवों और पाण्डवोंके गुरु द्रोणाचार्य हुए थे। उन भार्गवाचार्यकी शिष्यपरम्परा निम्न प्रकार है।—इनका प्रथम शिष्य आत्रेय था। फिर क्रमसे कौथुमि-अमरा-वर्त-सित-वामदेव-कपिष्ठल-जगत्स्थामा. सरवर-शरासन-रावण-विद्रावण और विद्रावणका पुत्र द्रोणाचार्य था। जो समस्त भार्गव वंशियोके द्वारा वन्दित था। उसका पुत्र अश्वत्थामा था। (ह पु/४५/४३-४८)।

भाव—चेतन व अचेतन सभी द्रव्यके अनेकों स्वभाव हैं। वे सब उसके भाव कहलाते हैं। जीव द्रव्यकी अपेक्षा उनके पाँच भाव है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक। कर्मोंके उदयसे होनेवाले रागादि भाव औदयिक। उनके उपशमसे होनेवाले सम्यक्त्व व चारित्र औपशमिक है। उनके क्षयसे होनेवाले केवलज्ञानादि क्षायिक है। उनके क्षयोपशमसे होनेवाले मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक है। और कर्मोंके उदय आदिसे निरपेक्ष चैतन्यत्व आदि भाव पारिणामिक है। एक जीवमें एक समयमें भिन्न-भिन्न गुणोंकी अपेक्षा भिन्न-भिन्न गुणस्थानोंमें यथायोग्य भाव पाये जाने सम्भव है, जिनके संयोगी भंगोंको सन्निपातिक भाव कहते हैं। पुद्गल द्रव्यमें औदयिक, क्षायिक व पारिणामिक ये तीन भाव तथा शेष चार द्रव्योंमें केवल एक पारिणामिक भाव ही सम्भव है।

१. भेद व लक्षण

१. भाव सामान्यका लक्षण

एक ग्रह है—दे० ग्रह।

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./१/५/२८/६ भवनं भवतीति वा भावः। = होना मात्र या जो होता है सो भाव है।

ध. ५/१,७,१/१८७/१० भवनं भावः, भूतिर्वा भाव इति भावशब्दस्य व्युत्पत्तिः। = 'भवनं भावः' अथवा 'भूतिर्वा भावः' इस प्रकार भाव शब्दकी व्युत्पत्ति है।

२. गुणपर्यायके अर्थमें

सि. वि./टी./४/११/२६८/११ सहकारिनिमित्तो न स्वतः कार्यचित्प्रवृत्तिरेव भावलक्षणम्। = किसी कार्यकी उत्पत्तिमें जो सहकारीकारण होता है, उसकी सन्निधिमें स्वतः ही द्रव्य कथंचित् उत्तरोत्तर रूपसे जो परिणमन करता है, वही भावका लक्षण है।

ध. १/१,१,८/गा. १०३/१६१ भावो खलु परिणामो। = पदार्थोंके परिणामको भाव कहते हैं। (पं. ध./उ.२५)।

ध. १/१,१,७/१५६/६ कम्म-कम्मोदय-परूवणाहि विणा.. छ-वड्ढि-हाणि-ट्ठिय-भावसंखमसंतेण भावपरूवणाणुववत्तीदो वा। = कर्म और कर्मोदयके निरूपणके बिना अथवा षट्गुण हानि व वृद्धिमें स्थित भावकी संख्याके बिना भाव प्ररूपणाका वर्णन नहीं हो सकता।

ध. ५/१,७,१/१८३/६ भावो णाम . दव्वपरिणामो। = द्रव्यके परिणामको भाव कहते हैं। अथवा पूर्वापर कोटिसे व्यतिरिक्त वर्तमान पर्यायसे उपलक्षित द्रव्यको भाव कहते हैं। दे० निक्षेप/८/१) (ध. ६/८,१,३/४३/५)।

प्र. सा./त. प्र./१२६ परिणाममात्रलक्षणो भावः। = भावका लक्षण परिणाम मात्र है। (स. सा./ता. वृ./१२९/१८९/१)।

त. अनु./१०० भावः स्याद्गुण-पर्ययौ।१००। = गुण तथा पर्याय दोनों भाव रूप हैं।

गो. जी./जी. प्र./१६५/३९१/६ भावः चित्परिणामः। = चेतनके परिणामको भाव कहते हैं।

पं.ध./पू./२७९,४७९ भावः परिणामः किल स चैव तत्त्वस्वरूपनिष्पत्तिः। अथवा शक्तिसमूहो यदि वा सर्वस्वसारः स्यात्।२७९। भावः परिणाममयः शक्तिविशेषोऽथवा स्वभावः स्यात्। प्रकृतिः स्वरूपमात्रं लक्षणमिह गुणश्च धर्मश्च।४७९। = निश्चयसे परिणाम भाव है, और वह तत्त्वके स्वरूपकी प्राप्ति ही पड़ता है। अथवा गुणसमुदायका नाम भाव है अथवा सम्पूर्ण द्रव्यके निजसारका नाम भाव है।२७९। भाव परिणाममय होता है अथवा शक्ति विशेष स्वभाव प्रकृति स्वरूपमात्र आत्मभूत लक्षण गुण और धर्म भी भाव कहलाता है।४७९।

३. कर्मोदय सापेक्ष जीव परिणामके अर्थमें

स. सि./१/८/२९/८ भावः औपशमिकादिलक्षणः। = भावसे औपशमिकादि भावोंका ग्रहण किया गया है। (रा. वा./१/८/६/४२/१७)।

पं. का./त. प्र./१५० भावः खल्वत्र विवक्षितः कर्मावृतचैतन्यस्य क्रमप्रवर्तमानज्ञप्तिक्रियारूपः। = यहाँ जो भाव विवक्षित है वह कर्मावृत चैतन्यकी क्रमानुसार प्रवर्तती ज्ञप्तिक्रिया रूप है।

४ चित्तविकारके अर्थमें

प. प्र./टी./१/१२१/१११/८ भावश्चित्तोत्थ उच्यते। = भाव अर्थात् चित्तका विकार।

५. शुद्ध भावके अर्थमें

द्र स./टी./३६/११०/१३ निर्विकारपरमचैतन्यचिच्चमत्कारानुभूतिसंजातसहजानन्दस्वभावसुखामृतरसास्वादरूपो भाव इत्याध्याहार। =निर्विकार परम चैतन्य चित चमत्कारके अनुभवसे उत्पन्न सहज-आनन्द स्वभाव सुखामृतके आस्वाद रूप, यह भाव शब्दका अध्याहार किया गया है।

प्र. सा./ता. वृ /११५/१६१/१४ शुद्धचैतन्यं भाव'। =शुद्ध चेतन्य शुद्ध भाव है।

भा. पा./टी./६६/२१०/१८ भाव आत्मरुचि' जिनसम्यक्त्वकारणभूतो हेतुभूत'=आत्माकी रुचिका नाम भाव है, जो कि सम्यक्त्वका कारण है।

६. नव पदार्थके अर्थमें

प. का /त. प्र /१०७ भावा खलु कालकलितपञ्चास्तिकायविकल्परूपा नव पदार्था'।=काल सहित पंचास्तिकायके भेदरूप नवपदार्थ वे वास्तवमें भाव हैं।

२. भावोंके भेद

१. भाव सामान्यके भेद

रा. वा./५/२२/२१/४८१/१६ द्रव्यस्य हि भावो द्विविध' परिस्पन्दात्मक', अपरिस्पन्दात्मकश्च।=द्रव्यका भाव दो प्रकारका है—परिस्पन्दात्मक और अपरिस्पन्दात्मक। (रा. वा /६/६/८/११५/१५)।

रा. वा हिं/४ चूलिका./पृ. ३९८ ऐसे भाव छह प्रकारका है। जन्म-अस्तित्व-निर्वृत्ति-वृद्धि-अपक्षय और विनाश।

२. निक्षेपोंकी अपेक्षा

नोट—नाम स्थापनादि भेद—दे० निक्षेप/१।

ध. ५/१,७,१/१८४/७ तव्वदिरित्त णोआगमदव्वभावो तिविहो सचित्ताचित्त-मिस्सभेएण।· णोआगमभावभावो पंचविह=नो आगमद्रव्य भावनिक्षेप, सचित्त, अचित्त और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका है। नो आगम भावनिक्षेप पाँच प्रकार है। (दे० अगला शीर्षक)

३. कालकी अपेक्षा

ध ५/१,७,१/१८८/४ अणादिओ अपज्जवसिदो जहा-अभव्वाणमसिद्धदा, धम्मत्थिअस्स गमणहेदुत्तं, अधम्मत्थिअस्सठिदिहेउत्त, आगासस्स ओगाहणलक्खणत्त, कालदव्वस्स परिणामहेदुत्तमिच्चादि। अणादिओ सपज्जवसिदो जहा—भव्वस्स असिद्धदा भव्वत्त मिच्छत्तमसजदो इच्चादि। सादिओ अपज्जवसिदो जहा—केवलणाणं केवलदसणमिच्चादि। सादिओसपज्जवसिदो जहा—सम्मत्तसंजमपच्छायदाण मिच्छत्तासजमा इच्चादि=१, भाव अनादि निधन है। जैसे—अभव्य जीवोंके असिद्धता, धर्मास्तिकायके गमनहेतुता, अधर्मास्तिकायके स्थितिहेतुता, आकाश द्रव्यके अवगाहना स्वरूपता, और कालके परिणमन हेतुता आदि। २. अनादि सान्तभाव जैसे—भव्य जीवकी असिद्धता, भव्यत्व, मिथ्यात्व, असंयम इत्यादि। ३. सादि अनन्तभाव—जैसे—केवलज्ञान, केवलदर्शन इत्यादि। ४. सादि सान्त भाव, जैसे सम्यक्त्व और संयम धारण कर पीछे आये हुए जीवोंके मिथ्यात्व असयम आदि।

४. जीव भावकी अपेक्षा

प. का./मू ५६ उदयेण उवसमेण य खयेण दुहि मिस्सिदेहिं परिणामे जुत्ताते जीवगुणा· ।५६।=उदयसे, उपशमसे, क्षयसे, क्षयोपशमसे और परिणामसे युक्त ऐसे (पाँच) जीव गुण (जीवके परिणाम) है। (त. सू./२/१) (ध ५/१,७,१/गा ५) १८७) (ध. ५/१,७,१/१८४/१३; १८८/६) (त सा./२/३) (गो. क./मू /८१३/९८७) (प. ध./उ./९६५-९६६)।

रा. वा /२/७/२१/११४/१ आर्षे सानिपातिकभाव उक्त।=आर्षमें एक सान्निपातिक भाव भी कहा गया है।

३. स्व पर भावका लक्षण

रा. वा /हिं /६/७/६७२ मिथ्यादर्शनादिक अपने भाव (पर्याय) सो स्वभाव है। ज्ञानावरणादि कर्मका रस सो पर भाव है।

४. निक्षेप रूप भेदोंका लक्षण

ध ५/१,७,१/१८४/८ तत्थ सचित्तो जीवदव्वं। अचित्तो पोग्गल-धम्माधम्म-कालागासदव्वाणि। पोग्गल-जीव दव्वाणं सजोगो कधचिज्जच्चंतरत्तमावण्णो णोआगममिस्सदव्वभावो णाम।=जीव द्रव्य सचित्त भाव है। पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, काल और आकाश द्रव्य अचित्तभाव है। कथचित् जात्यन्तर भावको प्राप्त पुद्गल और जीव द्रव्योंका संयोग नोआगममिश्रद्रव्य भावनिक्षेप है।

२. पंचभाव निर्देश

१. द्रव्यको ही भाव कैसे कह सकते हैं

ध, ५/१,७,१/१८४/८ कधं दव्वस्स भावव्ववएसो। ण, भवन भाव', भूतिर्वा भाव इति भावसद्दस्स विउप्पत्ति अवलंबणादो। =प्रश्न—द्रव्यके 'भाव' ऐसा व्यपदेश कैसे हो सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, 'भवनं भाव' अथवा 'भूतिर्वा भाव'' इस प्रकार भाव शब्दकी व्युत्पत्तिके अवलम्बनसे द्रव्यके भी 'भाव' ऐसा व्यपदेश बन जाता है।

२. भावोंका आधार क्या है

ध. ५/१,७/१/१८८/४ कत्थ भावो, दव्वम्हि चेव, गुणिव्वदिरेगेण गुणाणमसभवा। =प्रश्न—भाव कहाँपर होता है, अर्थात् भावका अधिकरण क्या है। उत्तर—भाव द्रव्यमें ही होता है, क्योंकि गुणीके बिना गुणोंका रहना असम्भव है।

३. पंचभावका कथंचित् जीवके स्वतत्त्व है

त सू./२/१ जीवस्य स्वतत्त्वम् ।१। (स्वो भावोऽसाधारणो धर्म. रा. वा.)। =ये पाँचो भाव जीवके स्वतत्त्व है। (स्वभाव) अर्थात् जीवके असाधारण धर्म (गुण) है। (त. सा /२/२)।

रा. वा./१/२/१०/२०/२ स्यादेतत्—सम्यक्त्वकर्मपुद्गलाभिधायित्वेऽप्यदोष इति; तन्न, किं कारणम्। मोक्षकारणत्वेन स्वपरिणामस्य विवक्षितत्वात्। औपशमिकादिसम्यग्दर्शनमात्मपरिणामत्वात् मोक्षकारणत्वेन विवक्ष्यते न च सम्यक्त्वकर्मपर्याय, पौद्गलिकत्वेऽस्य परपर्यायत्वात्। =प्रश्न—सम्यक्त्व नामकी कर्मप्रकृतिका निर्देश होनेके कारण सम्यक्त्व नामका गुण भी कर्म पुद्गलरूप हो जावे। इसमें कोई दोष नहीं है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, अपने आत्माके परिणाम ही मोक्षके कारणरूपसे विवक्षित किये गये है। औपशमिकादि सम्यग्दर्शन भी सीधे आत्मपरिणामस्वरूप होनेसे ही मोक्षके कारणरूपसे विवक्षित किये गये है, सम्यक्त्व नामकी कर्म पर्याय नहीं, क्योंकि वह तो पौद्गलिक है।

पं. का./मू./५६ ते जीवगुणा बहुसु य अत्थेसु विच्छिण्णा।५६। =ऐसे (पाँच) जीवगुण (जीवके भाव) हैं। उनका अनेक प्रकारसे कथन किया गया है। (ध १/,१,१/८/६०/७)।

४. सभी भाव कथंचित् पारिणामिक है

दे० सासादन/३/३ सभी भावोंके पारिणामिकपनेका प्रसग आता है तो आने दो, कोई दोष नहीं है।

ध. ५/१,८,१/२४२/६ केणप्पाबहुअं। पारिणामिएण भावेण। =अल्पबहुत्व पारिणामिक भावसे होता है।

क पा १/१,१३-१४/§२८४/३१६/६ ओदइएण भावेण कसाओ। एदं णेगमादिचउण्ह णयाणं। तिण्ह सद्दणयाण पारिणामिएण भावेण कसाओ; कारणेण विणा कज्जुप्पत्तीदो। =कषाय औदयिक भावसे होती है। यह नैगमादि चार नयोंकी अपेक्षा समझना चाहिए। शब्दादि तीनों नयोकी अपेक्षा तो कषाय पारिणामिक भावसे होती है, क्योंकि इन नयोंकी दृष्टिमें कारणके बिना कार्योंकी उत्पत्ति होती है।

५. छहों द्रव्योंमें पंचभावोंका यथायोग्य सत्त्व

ध. ५/१,७,१/१८६/७ जीवेसु पंचभावाणमुवलंभा। ण च सेसदव्वेसु पच भावा अत्थि, पोग्गलदव्वेसु ओदइयपारिणामियाणं दोण्ह चेव भावाणमुवलंभा, धम्माधम्मकालागासदव्वेसु एक्कस्स पारिणामियभावस्सेवुवलंभा। =जीवोंमें पाँचों भाव पाये जाते है किन्तु शेष द्रव्योमें तो पाँच भाव नही है, क्योंकि, पुद्गल द्रव्योमें औदयिक और पारिणामिक, इन दोनो ही भावोंकी उपलब्धि होती है, और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल द्रव्योमे केवल एक पारिणामिक भाव ही पाया जाता है। (ज्ञा./६/४१)।

६. पाँचों भावोंकी उत्पत्तिमें निमित्त

ध. ५/१,७,१/१८१/१ केण भावो। कम्माणमुदएण खयणखओवसमेण कम्माणमुवसमेण सभावदो वा। तत्थ जीवदव्वस्स भावा उत्तपचकारणहिंतो होंति। पोग्गलदव्वभावा पुण कम्मोदएण विस्सासादो वा उप्पज्जति। सेसाण चदुण्ह दव्वाणं भावा सहावदो उप्पज्जंति। =प्रश्न—भाव किससे होता है, अर्थात् भावका साधन क्या है। उत्तर—भाव कर्मके उदयसे, क्षयसे, क्षयोपशमसे, कर्मोंके उपशमसे, अथवा स्वभावसे होता है। उनमेंसे जीव द्रव्यके भाव उक्त पाँचो ही कारणोंसे होते हे, किन्तु पुद्गल द्रव्यके भाव कर्मोंके उदयसे अथवा स्वभावसे उत्पन्न होते हे। शेष चार द्रव्योंके भाव स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं।

७. पाँच भावोंका कार्य व फल

स. सा./मू. व टी /१७१ जह्मा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि। अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।१७१। स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अवस्तादवश्यभाविरागसद्भावात् बन्धहेतुरेव स्यात्। =क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुणके कारण फिरसे भी अन्यरूपसे परिणमन करता है, इसलिए वह कर्मोंका बन्धक कहा गया है।१७१। वह (ज्ञान गुणका जघन्य भावसे परिणमन) यथाख्यात चरित्र अवस्थाके नीचे अवश्यम्भावी रागका सद्भाव होनेसे बन्धका कारण ही है।

ध ७/२,१,७/गा,३/६ ओदइया बंधयरा उवसम-खय मिस्सया य मोक्खयरा। भावो दु पारिणामिओ करणोभयवज्जियो होंदि।३। =औदयिक भाव बन्ध करनेवाले हैं, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्षके कारण हैं, तथा पारिणामिक भाव बन्ध और मोक्ष दोनोके कारणसे रहित हैं।३।

८. सारणीमें प्रयुक्त संकेत सूची

आ०	आहारक	प०	पर्याप्त
औद०	औदयिक	पारि०	पारिणामिक
ओदा०	औदारिक	पु०	पुरुष वेद
औप०	औपशमिक	मनु०	मनुष्य
क्षयो०	क्षयोपशमिक	मि०	मिश्र
क्षा०	क्षायिक	वैक्रि०	वैक्रियक
नपुं०	नपुंसक वेद	सम्य०	सम्यक्
पंचे०	पंचेन्द्रिय	सामा०	सामान्य

९. पंच भावोंके स्वामित्वकी ओघ प्ररूपणा

(ष. ख. ५/१,७/सू. २-६/१६४-२०५); (रा. वा./२/१/१३-२४/५८८-१६०), (गो जी /मू./११-१४)।

प्रमाण सू /पृ.	मार्गणा	मूल भाव	अपेक्षा
२/१६४	मिथ्यादृष्टि	औद०	मिथ्यात्वकी मुख्यता
३/१६६	सासादन	पारि०	दर्शन मोहकी मुख्यता
४/१६८	मिश्र	क्षयो०	श्रद्धानांशकी प्रगटताकी अपेक्षा
५/१६६	असंयत सम्य०	औप.क्षा क्षयो०	दर्शनमोहकी मुख्यता
६/२०१	,	औद०	असंयम (चारित्र मोह) की मुख्यता
७/२०१	संयतासयत	क्षयो०	चारित्र मोह (सयमासयम) की मुख्यता
८/२०४	प्रमत्त संयत	,,	,, ,, (सयम) ,, ,,
,,	अप्रमत्त संयत	,,	,, ,, ,, ,, ,,
,,	अपूर्वकरण-सूक्ष्म साम्पराय उपशामक	औप०	एक देश उपशम चारित्र व भावि उपचार
६/२०५	८-१० (क्षपक)	क्षा०	एक देश क्षय व भावि उपचार
,,	उपशान्त कषाय	औप०	उपशम चारित्रकी मुख्यता
,,	क्षीण कषाय	क्षा०	क्षायिक चारित्रकी मुख्यता
,,	सयोगी व अयोगी	क्षा०	सर्वघातियोंका क्षय

१०. पंच भावोंके स्वामित्वकी आदेश प्ररूपणा

(प. खं. ५/१,७/सू. ९-९३/१९४-२३८); (प. खं. ७/२,१/सू. ५-९१/३०-११३), (ध. ९/४,१,६६/३१५-३१७) ।

प्रमाण प.ख./पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
१. गतिमार्गणा				
७/५	१. नरकगति सा		औद०	नरकगति उदयकी मुख्यता
५/१०	,,	१	,,	मिथ्यात्वकी मुख्यता
५/११	,,	२	पारि०	ओघवत्
५/१२	,,	३	क्षयो०	,,
५/१३	,,	४	औप० क्षा० क्षयो०	,,
५/१४		,,	औद०	,,
५/१५	प्रथम पृथिवी	१-४	—	सामान्यवत्
५/१६	२-७ ,,	१-३	—	,,
५/१७	,,	४	औप क्षयो	क्षायिक सम्यग्दृष्टि प्रथम पृथिवीसे ऊपर नहीं जाता। वहाँ क्षा० सम्यग् नहीं उपजता।
५/१८	,,	असंयत	औद०	
७/७	२. तिर्यंच सा.		औद०	तिर्यंचगतिके उदयकी मुख्यता
५/१६	पचे. सा. व पचे० प०	१-५	—	ओघवत्
५/१६	योनिमति प०	१,२,३,५	—	,,
५/२०	,,	४	औप क्षयो.	बद्धायुष्क क्षायिक सम्य० वहाँ उत्पन्न नहीं होता और वहाँ नया क्षा० सम्य० नहीं उपजता।
५/२१		असंयत	औद०	
७/६	३ मनुष्य सा०		औद०	मनुष्यगतिके उदयकी मुख्यता
५/२२	सामा० मनु० प० मनुष्यणी	१-१४	—	ओघवत्
७/११	४. देव सा०		औद०	देवगतिके उदयकी मुख्यता
५/२३	आदेश सामान्य	१-४	—	ओघवत्
५/२४	{ भवनत्रिक देवदेवी व सौधर्म ईशानदेवी	१,२,३	—	ओघवत्
५/२५		४	औप, क्षयो.	{ क्षा० सम्यक्त्वीकी उत्पत्तिका वहाँ अभाव है तथा नये क्षायिक सम्य० की उत्पत्तिका अभाव
५/२६		असंयत	औद०	
५/२७	{ सौधर्म उपरिम ग्रैवेयक अनुदिश सर्वार्थसि०	१-४	—	ओघवत्
५/२८		४	औप० क्षा० क्षयो०	द्वितीयोपशम सम्यक्त्वापेक्षया
५/२९		असंयत	औद०	ओघवत्
२. इन्द्रिय मार्गणा				
७/१५	१-५ इन्द्रिय सा.		क्षयो०	स्व स्व इन्द्रिय (मतिज्ञानावरण) की अपेक्षा
५/३०	पंचेन्द्रिय पर्याप्त	१-१४	—	ओघवत्
	शेष सर्व तिर्यंच	१	औद०	मिथ्यात्वापेक्षया
७/१७	अनिन्द्रिय		क्षा०	सर्व ज्ञानावरणका क्षय
३. काय मार्गणा				
७/२९-२६	पृथिवी त्रस पर्यन्त सा०		औद०	उस उस नामकर्मका उदय
	स्थावर	१	औद०	मिथ्यात्व अपेक्षा
५/३१	त्रस व त्रस प०	१-१४	—	ओघवत्
७/३१	अकायिक		क्षा०	नामकर्मका सर्वथा क्षय
४. योग मार्गणा				
७/३३	मन वच० काय सा०		क्षयो०	वीर्यान्तराय इन्द्रिय व नोइन्द्रियावरणका क्षयोपशम मुख्य
७/३५	अयोगी सा०		क्षा०	शरीरादि नामकर्मका निर्मूल क्षय
५/३२	५ मन ५ वचन काय औदा०	१-१४	—	ओघवत्
५/३३	औदा० मिश्र	१-२	—	ओघवत्
५/३४	,,	४	क्षा० क्षयो०	प्रथमोपशममें मृत्युका अभाव। द्वितीयो० औदा० मिश्रमें नहीं वैक्रि० मिश्रमें जाता है
५/३५	,,	असंयत	औद०	
५/३६	,,	१३	क्षा०	
५/३७	वैक्रियक	१-४	—	ओघवत्
५/३८	वैक्रि० मिश्र	१,२,४	ओघवत्	औपशमिक भाव द्वितीयोपशमकी अपेक्षा
५/३६	आ० व आ० मिश्र	६	क्षयो०	प्रमत्तसयतापेक्षया
५/५०	कार्मण	१,२ ४, १३	—	ओघवत्
५/६३	,,	१४	क्षा०	

५. वेद मार्गणा

प्रमाण पृ./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/३६	स्त्री पु नपुं सा.		औद०	चारित्रमोह (वेद) उदय मुख्य
७/३६	अवेदी सा०		औप० क्षा०	९ वें मे ऊपर वेदका उपशम वा क्षय मुख्य
५/४१	स्त्री, पु. नपु	१-९	—	ओघवत
५/४२	अपगतवेद	९-१४	—	ओघवत

६. कषाय मार्गणा

प्रमाण पृ./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/४१	चारों कषाय सा	३१	औद०	चारित्र मोहका उदय मुख्य
७/४३	अकषायी सा०		औप० क्षा०	११ वें मे औप०, १२-१४ में क्षा. (चा मोहापेक्षा)
५/४३	चारों कषाय	१-१०	—	ओघवत
५/४४	अकषाय	११-१४	—	,,

७. ज्ञान मार्गणा

प्रमाण पृ./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/४५	ज्ञान व अज्ञान सा०		क्षयो०	स्व स्व ज्ञानावरणका क्षयोपशम
७/४७	केवलज्ञान		क्षा०	केवलज्ञानावरणका क्षय
५/४५	मति श्रुत अज्ञान, विभंग	१-२	—	—
५/४६	मति, श्रुत, अवधिज्ञान	४-१२	—	—
५/४७	मन पर्यय ज्ञान	६-१२	—	—
५/४८	केवलज्ञान	१३-१४	—	ओघवत्

८. संयम मार्गणा

प्रमाण पृ./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/४९	संयम सा०		औप० क्षा० क्षयो०	चारित्रमोहका उपशम क्षय व क्षयोपशम मुख्य
,,	सामायि, छेदो-पस्था०	सामान्य	,,	,,
७/५१	परिहार विशुद्धि	,,	क्षयो०	चारित्रमोहका क्षयोपशम
७/५३	सूक्ष्म साम्पराय	,,	औप० क्षा०	उपशम व क्षायिक दोनों श्रेणी हैं
,,	यथाख्यात	,,	,,	,,
७/५४	संयतासंयत	,,	क्षयो०	अप्रत्याख्यानावरणका क्षयोपशम
७/५५	असंयत	,,	औद०	चारित्रमोहका उदय
५/४९	संयम सा०	६-१४	—	ओघवत
५/५०	सामायिक, छेदोप०	६-९	—	,,
५/५१	परिहार विशुद्धि	६-७	—	,,
५/५२	सूक्ष्म साम्पराय	१०	—	,,
५/५३	यथाख्यात	११-१४	—	,,
५/५४	संयतासंयत	५	—	,,
५/५५	असंयत	१-४	—	,,

९. दर्शन मार्गणा

प्रमाण पृ./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/५७	चक्षु अचक्षु अवधि सा०		क्षयो०	स्व स्व देशघातीका उदय
७/५९	केवलदर्शन सा०		क्षा०	दर्शनावरणका निर्मूल क्षय
५/५६	चक्षु अचक्षु	१-१२	—	ओघवत
५/५७	अवधिदर्शन	४-१२	—	,,
५/५८	केवलदर्शन	१३-१४	—	,,

१०. लेश्या मार्गणा

प्रमाण पृ./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/६१	छहों लेश्या सा.		औद०	कषायोंके तीव्रमन्द अनुभागोंका उदय
७/६३	अलेश्य सा०		क्षा०	कषायोंका क्षय
५/५९	कृष्ण, नील, कापोत	१-४	—	ओघवत
५/६०	पीतपद्म	१-७	—	,,
५/६१	शुक्ल	१-१३	—	,,

११. भव्य मार्गणा

प्रमाण पृ./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/६५	भव्य, अभव्य सा०		पारि०	सुगम
७/६६	न भव्य न अभव्य		क्षायि०	,,
५/६२	भव्य	१-१४	—	ओघवत
५/६३	अभव्य		पारि०	उदयादि निर्पेक्ष (मार्गणापेक्षया)
,,	,,		औद०	गुणस्थानापेक्षया

१२. सम्यक्त्व मार्गणा

प्रमाण पृ./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/६९	सम्यक्त्व सा०		औप० क्षा० क्षयो०	दर्शनमोहके उपशम, क्षय, क्षयो० अपेक्षा
७/७१	क्षायिक सामान्य		क्षा०	दर्शनमोहका क्षय
७/७३	वेदक ,,		क्षयो०	,, ,, क्षयोपशम
७/७५	उपशम ,,		औप०	,, ,, उपशम
७/७७	सासादन ,,		पारि०	उप० क्षय० क्षयो० निर्पेक्ष
७/७९	सम्यग्मिथ्यात्व ,,		क्षयो०	मिश्रित श्रद्धानका सद्भाव
७/८१	मिथ्यात्व		औद०	दर्शनमोहका उदय
५/६४	सम्यक्त्व सा०	४-१४	—	ओघवत
५/६५	क्षायिक	४	क्षा०	दर्शनमोहका क्षय
५/६७	,,	,,	औद०	असंयतत्वकी अपेक्षा
५/६८	,,	५-७	क्षयो०	चारित्र मोहापेक्षया
५/६९	,,	,,	क्षा०	दर्शन मोहापेक्षया
५/७०	,,	८-११	औप०	चारित्रमोहापेक्षया
५/७१	,,	,,	क्षा०	दर्शनमोहापेक्षया
५/७२	,,	८-१४	,,	दर्शन व चारित्र मोहापेक्षया
५/७४	वेदक	४	क्षयो०	दर्शनमोहापेक्षया
५/७६	,,	,,	औद०	चारित्रमोहापेक्षा

प्रमाण ध./ख. पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
५/७७	वेदक	५–७	क्षयो०	दर्शन व चारित्रमोहापेक्षा
५/७९	उपशम	४	औप०	दर्शनमोहापेक्षा
५/८१	,,	,,	औद०	चारित्र मोहापेक्षा
५/८२	,,	५–७	क्षयो०	,,
५/८३	,,	,,	औप०	दर्शन मोहापेक्षा
५/८४	,,	८–११	,,	दर्शन चारित्र मोहापेक्षा
५/८६	सासादन	२	—	ओघवत
५/८७	सम्यग्मिथ्या-दृष्टि	३	—	,,
५/८८	मिथ्यादृष्टि	१	—	,,

१३. संज्ञी मार्गणा

प्रमाण ध./ख. पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/८३	संज्ञी सामान्य		क्षयो०	नो इन्द्रियावरण देश घातीका उदय
७/८५	असंज्ञी ,,		औद०	,, ,, सर्व ,, ,, ,,
७/८७	न सज्ञी न असंज्ञी		क्षा०	,, ,, का सर्वथा क्षय
५/८९	सज्ञी	१–१२		ओघवत्
५/९०	असंज्ञी	१	औद०	औदा० वैक्रि० व आ० शरीर नामकर्मको उदय

१४. आहारक मार्गणा

प्रमाण ध./ख. पु./सू.	मार्गणा	गुण स्थान	मूल भाव	कारण
७/८९	आहारक सा०		औद०	औदा० वैक्रि० व आ० शरीर नामकर्मका उदय। तैजस व कार्मणका नहीं।
७/९१	अनाहारक सा०		औद०	विग्रहगतिमें सर्वकर्मोंका उदय
	,,		क्षा०	अयोग केवली व सिद्धों में सर्व कर्मोंका क्षय
५/९१	आहारक	१–१२	—	ओघवत्
५/९२	अनाहारक	१,२,४ १३	—	कार्मण काय योगवत-(ओघवत)
५/९३	,,	१४	क्षा०	कार्मण वर्गणाओके आगमनका अभाव

११. भावोंके सत्त्व स्थानोंकी ओघ प्ररूपणा

(ध. ५/१,७२/गा. १३-१४/१९४), (गो. क./मू./८२०/९९२)

नोट—औदयिकादि भावोंके उत्तर भेद—दे० वह वह नाम

गुण स्थान	मूल भाव	कुल भाव	कुल भंग	उत्तर भाव	भाव
१	ओद० क्षयो० व पारि०	३	१०	औद० २१ (सर्व)+क्षयो १० (३ अज्ञान, २ दर्शन, ५ लब्धि)+पारि० ३ (जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व	३४
२	,,	,,	,,	औद० २० (सर्व-मिथ्यात्व)+क्षयो १० (उपरोक्त)+पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	३२
३	,,	,,	,,	औद २० (सर्व-मिथ्यात्व)+क्षयो० १० (मिश्रित ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि)+पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	३३
४	पाँचों	५	२६	ओद० २० (उपरोक्त)+क्षयो० १२ (३ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि १ सम्यक्त्व)+उप० १+क्षा०+१ (सम्य०)+पारि० २ (जीवत्व व भव्यत्व)	३६
५	,,	,,	,,	औद० १४ (१ मनुष्य, १ तिर्यग्गति, ३ लिंग, ३ शुभलेश्या, १ असिद्ध अज्ञान)+क्षयो० १३ (३ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि, १ सम्यक्त्व)+उप० १+क्षा० १ (सम्यक्त्व)+पारि० २	३१
६	,,	,,	,,	औद० १३ (मनुष्यगति, ३ लिंग, ३ शुभलेश्या, ४ कषाय, १ असिद्ध, १ अज्ञान)+क्षयो० १४ (४ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि, १ सम्य०, सराग चारित्र)+१ उप०+१ क्षा० (सम्य०)+पारि० (जीवत्व भव्यत्व)	३१
उपशमक व क्षपक—					
८	पाँचो	५	३५	औ० ११ (मनुष्यगति, ४ कषाय, ३ लिंग, शुक्ल लेश्या, असिद्ध अज्ञान)+क्षयो० १२ (४ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि) उप० २ (सम्य०, चारित्र)+क्षा० २ (सम्य०, चारित्र)+पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	२९
९	,,	,,	,,	,,	,,
१०	,,	,,	,,	औद० ५ (मनुष्यगति, शुक्ल लेश्या, असिद्ध, अज्ञान, कषाय+क्षयो० १२ (४ ज्ञान, ३ दर्शन, ५ लब्धि)+उप० (सम्य०, चारित्र)+क्षा० २ (सम्य०, चारित्र)+पारि० २ (उपरोक्त)	२३
११	पाँचों	५	३५	उपरोक्त २३ (औद० ४+क्षयो० १२+उप० २+क्षा० १+पारि० २)—लोभ, क्षा० चारित्र	२१
१२	औद० क्षा० क्षयो० परि०	४	१९	उपरोक्त २१—उप० २ (सम्य० चारित्र) +क्षा० चारित्र)	२०
१३	औद० क्षा० परि०	३	१०	औद० ३ (मनुष्यगति, शुक्ल लेश्या, असिद्धत्व)+क्षा० ९ (सर्व)+पारि० २ (जीवत्व, भव्यत्व)	१४
१४	,,	,,	,,	उपरोक्त १४–शुक्ल लेश्या	१३
सि०	क्षा० पारि०	२	५	क्षा० ४ (सम्य०, दर्शन, ज्ञान, चारित्र) +पारि० (जीवत्व)	५

१२. अन्य विषयों सम्बन्धी सूचीपत्र

नं.	प्रकृति		स्थिति		अनुभाग		प्रदेश	
	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०	मूल प्र०	उत्तर प्र०
१	अष्टकर्म बन्धके स्वामियों सम्बन्धी—(म. ब. पु. नं./§ नं.)							
१	जघन्य उत्कृष्ट बन्धके स्वामियोंके—							
		१/३९१-४२३	२/२२१-२२२	३/५६५-६५६	४/२५६-	५/४१५-४१६	६/९७-९८	
२	भुजगारादि पदोंके स्वामियोके—							
			२/३३७	३/८-७	४/३०२	५/५४७	६/१४२	
३	वृद्धि हानिरूप पदोंके स्वामियोंके—							
			२/४०५	ताड़पत्र नष्ट	४/३६७	५/६२७		
२	मोहनीय कर्मके स्वामियों सम्बन्धी—(क. प/पु नं/§ न.)							
१	जघन्य उत्कृष्ट पदोके स्वामियोके—							
			३/१६३	३/७०७-७०८	५/१३८	५/४२८		
२	भुजगारादि पदोके स्वामियोकी—							
		२/४६८	३/३२३	४/१९२	५/१६०	५/५०९		
३	वृद्धि हानि पदोंके स्वामियोके—							
		५/५३२	३/३४२	४/४५६	५/१८४	५/५६६		
४	२८, २४ आदि सत्त्व स्थानोके स्वामियो—							
		२/३८३						
५	सत्त्व असत्त्वका भाव सामान्य—							
		२/१९६						
३	अन्य विषय—(क. पा/पु नं/§ न)							
१	कषायोंका ओघ आदेशसे भाव—							
	१/३९३							
२	नोकर्म बन्धकी सघातन परिशातनकी ज० उ० आदि पदो सम्बन्धी ओघ व आदेश प्ररूपणा—							
	६/४२८-४२९							
३	अध कर्मादि षट्कर्मके स्वामियोंके—(ध./पु न/पृ न.)							
	१३/१७२-१७५							
४	पाँच शरीरोंके २, ३, ४ आदि भगोके स्वामियोंके—							
	१४/३०१							
५	२३ प्रकार वर्गणाके स्वामियोंके—							
	१४/१५२-१५३							

३. भाव अभाव शक्तियाँ

१. आत्माकी भावाभाव आदि शक्तियोंके लक्षण

प. का./मू व त. प्र./२१ एव भावमभावं भावाभावं अभावभावं च। गुणपज्जयेहिं सहिदो संसारमाणो कुणदि जीवो ।२१।···जीवद्रव्यस्य · तस्यैव देवादिपर्यायरूपेण प्रादुर्भवतो भावकर्तृत्वमुक्तं, तस्यैव च मनुष्यादिपर्यायरूपेण व्ययतोऽभावकर्तृत्वमाख्यात; तस्यैव च सतो देवादिपर्यायस्योच्छेदमारभमाणस्य भावाभावकर्तृत्वमुदित, तस्यैव चासत पुनर्मनुष्यादिपर्यायस्योत्पादमारभमाणस्याभावभावकर्तृत्वमभिहितम्। =गुण पर्यायो सहित जीव भ्रमण करता हुआ भाव, अभाव, भावाभाव और अभावभावको करता है ।२१। देवादि पर्याय रूपसे उत्पन्न होता है इसलिए उसीको (जीव द्रव्यको ही) भावका (उत्पादका) कर्तृत्व कहा गया है। मनुष्यादि पर्याय रूपसे नाशको प्राप्त होता है, इसलिए उसीको अभावका (व्ययका) कर्तृत्व कहा गया है। सत् (विद्यमान) देवादि पर्यायका नाश करता है, इसलिए उसीको भावाभावका (सत्‌के विनाशका) कर्तृत्व कहा गया है, और फिरसे असत् (अविद्यमान) मनुष्यादि पर्यायका उत्पाद करता है इसलिए उसीको अभावभावका (असत्‌के उत्पादका) कर्तृत्व कहा गया है।

स. सा./आ./परि./शक्ति न. ३३-४० भूतावस्थत्वरूपा भावशक्ति ।३३। शून्यावस्थत्वरूपा अभावशक्ति ।३४। =भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्ति ।३५। अभवत्पर्यायोदयरूपा अभावभावशक्ति ।३६। भवत्पर्यायभवनरूपा भावाभावशक्ति ।३७। अभवत्पर्यायाभवनरूपा अभावभावशक्ति ।३८। कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्ति ।३९। =विद्यमान-अवस्थायुक्ततारूप भावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें विद्यमान हो उस रूप भावशक्ति) ।३३। शून्य (अविद्यमान) अवस्थायुक्तता रूप अभावशक्ति। (अमुक अवस्था जिसमें अविद्यमान हो उस रूप अभावशक्ति) ।३४। प्रवर्तमान पर्यायके व्ययरूप भावाभावशक्ति ।३५। अप्रवर्तमान पर्यायके उदय रूप अभावभावशक्ति ।३६। प्रवर्तमान पर्यायके भवन रूप भावभावशक्ति ।३७। अप्रवर्तमान पर्यायके अभवनरूप अभावभावशक्ति ।३८। (कर्ता कर्म आदि) कारकोंके अनुसार जो क्रिया उससे रहित भवनमात्रमयी (होने मात्रमयी) भावशक्ति ।३९।

२. भाववती शक्तिका लक्षण

प्र. सा./त. प्र. १२९ तत्र परिणाममात्रलक्षणो भाव। =भावका लक्षण परिणाम मात्र है।

प. ध./पू./१३८ भाव' शक्तिविशेषस्तत्परिणामोऽथ वा निरंशांशै। =शक्तिविशेष अर्थात् प्रदेशत्वसे अतिरिक्त शेष गुणोंको अथवा तरतम अंशरूपसे होनेवाले उन गुणोंके परिणामको भाव कहते हैं। (पं. ध./उ./२६)।

भावकर्म—दे० कर्म/३।

भावनय—दे० नय/I/५/३।

भावना—भावना ही पुण्य-पाप, राग-वैराग्य, संसार व मोक्ष आदिका कारण है, अत जीवको सदा कुत्सित भावनाओंका त्याग करके उत्तम भावनाएँ भानी चाहिएँ। सम्यक् प्रकारसे भायी सोलह प्रसिद्ध भावनाएँ व्यक्तिको सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पदमें भी स्थापित करनेको समर्थ है।

१. भावना सामान्य निर्देश

१. भावना सामान्य व मति, श्रुत ज्ञान सम्बन्धी भावना

रा. वा./७/३/१/५३५/२६ वीर्यान्तरायक्षयोपशमचारित्रमोहोपशमक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभापेक्षेण आत्मना भाव्यन्ते ता इति भावना। =वीर्यान्तराय क्षयोपशम चारित्रमोहोपशम-क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मोदयकी अपेक्षा रखनेवाले आत्माके द्वारा जो भायी जाती हैं—जिनका बार-बार अनुशीलन किया जाता है, वे भावना है।

पं. का./ता. वृ./४६/८६/१ ज्ञातेऽर्थे पुन. पुनश्चिन्तनं भावना। =जाने हुए अर्थको पुन:-पुन. चिन्तन करना भावना है।

* **मति श्रुतज्ञान**—दे० वह वह नाम।

२. पाँच उत्तम भावना निर्देश

भ. आ./मू./१८७-२०३ तवभावना य सुदसत्तभावणेगत्त भावणे चेव। धिदिबलविभावणाविय असंकिलिट्ठावि पंचविहा ।१८७। तवभावणाए पचेंदियाणि दंताणि तस्स वसमेंति। इंदियजोगायरिओ समाधिकरणाणि सो कुणइ ।१८८। सुदभावणाए णाणं दंसणतवसंजमं च परिणवइ। तो उवओगपइण्णा सुहमच्चविदो समाणेइ ।१९४। देवेहिं भेसिदो वि हु कयावराधो व भीमरूवेहिं। तो सत्तभावणाए वहइ भरं णिब्भओ सयलं ।१९६। एयत्तभावणाए ण कामभोगे गणे सरीरे वा। सज्जइ वेरग्गमणो फासेदि अणुत्तरं धम्मं ।२००। कसिणा परीसहचमू अब्भुट्ठइ जइ वि सोवसग्गावि। दुद्धरपहकरवेगा भयजणणी अप्पसुत्ताणं ।२०२। धिदिधणिदबद्धकच्छो जोधेइ अणाइलो तमच्चाई। धिदिभावणाए सूरो संपुण्णमणोरहो होई ।२०३। =तपो भावना, श्रुतभावना, सत्त्व भावना, एकत्व भावना, और धृतिबल भावना ऐसी पाँच भावनाएँ असंक्लिष्ट है ।१८७। (अन. ध./७/१००)। तपश्चरणसे इन्द्रियोंका मद नष्ट होता है, इन्द्रियाँ वशमें हो जाती है, सो तब इन्द्रियोंको शिक्षा देनेवाला आचार्य साधु-रत्नत्रयमें जिनसे स्थिरता होती हैं ऐसी तप भावना करते है ।१८८। श्रुतकी भावना करना अर्थात् तद्विषयक ज्ञानमें बारम्बार प्रवृत्ति करना श्रुत भावना है। इस श्रुतज्ञानकी भावनासे सम्यग्ज्ञान, दर्शन, तप, संयम इन गुणोंकी प्राप्ति होती है ।१९४। वह मुनि देवोंसे त्रस्त किया गया, भयकर व्याघ्रादिरूप धारण कर पीडित किया गया तो भी सत्त्व भावनाको हृदयमें रखकर, दुखोंको सहनकर और निर्भय होकर संयमका सम्पूर्ण भार धारण करता है ।१९६। एकत्व भावनाका आश्रय लेकर विरक्त हृदयसे मुनिराज कामभोगमें, चतुर्विध संघमें, और शरीरमें आसक्त न होकर उत्कृष्ट चारित्र रूप धारण करता है ।२००। चार प्रकारके उपसर्गोंके साथ भूख, प्यास, शीत, उष्ण वगैरह बाईस प्रकारके दुखोंको उत्पन्न करनेवाली बावीसपरीषह रूपी सेना, दुर्धर संकटरूपी वेगसे युक्त होकर जब मुनियोंपर आक्रमण करती है तब अल्प शक्तिके धारक मुनियोंको भय होता है ।२०२। धैर्यरूपी परिधान जिसने बाँधा है ऐसा पराक्रमी मुनि धृतिभावना हृदयमें धारण कर सफल मनोरथ होता है ।२०३।

प. का./ता. वृ./१७३/२५४/१३ अनशनादिद्वादशविधनिर्मलतपश्चरणं तपोभावना, तस्या' फल विषयकषायजयो भवति प्रथमानियोगचरणानियोगकरणानियोगद्रव्यानियोगभेदेन चतुर्विध आगमाभ्यास, श्रुतभावना।·· मूलोत्तरगुणाद्यनुष्ठानविषये निर्गूहनवृत्ति सत्त्वभावना, तस्या फलं घोरोपसर्गपरीषहप्रस्तावेऽपि निर्गूहनेन मोक्ष साधयति पाण्डवादिवत्। एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो। सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा। (भा. पा./मू./५९),

भाव निक्षेप—दे० निक्षेप।

भाव निर्जरा—दे० निर्जरा/१।

भाव परमाणु—दे० परमाणु/१।

भाव परिवर्तन रूप संसार—दे० संसार/२।

भाव पाहुड़—आ. कुन्दकुन्द (ई. १२७-१७९) कृत, जीवके शुभ अशुभ व शुद्ध भाव प्ररूपक, १६५ प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध ग्रन्थ है। इसपर आ श्रुतसागर (ई. १४७३-१५३३) कृत सस्कृत टीका और पं. जयचन्द छाबडा (ई. १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है।

भाव बंध—दे० बंध/२।

भाव मल—दे० मल।

भाव मोक्ष—दे० मोक्ष/१।

भाव लिंग—दे० लिंग/१।

भाव लेश्या—दे० लेश्या/१।

भाव शुद्धि—दे० शुद्धि।

भाव श्रुतज्ञान—दे० श्रुतज्ञान/I/१,२।

भाव संग्रह—१. आ. गुणभद्र (ई. ८०३-८६५) द्वारा रचित संस्कृत श्लोक बद्ध आध्यात्मिक रचना है। २. आ. देवसेन (ई. ८९३-९४३) द्वारा रचित प्राकृत भाषा बद्ध ग्रन्थ है। इसमें दर्शनसार वत मिथ्यामतोंका वर्णन है।

भाव संवर—दे० संवर/१।

भाव सत्य—दे० सत्य/१।

भाव सिंह—जीवराजजी व भावसिंह दोनों सहयोगी थे। पुण्यास्रव कथाकोषकी रचना करते हुए अधूरा छोडकर ही स्वर्ग सिधार गये। शेष भाग वि. १७९२ में जीवराजजीने पूरा किया था। समय—१७९२ (हिं. जे. सा. इ./१७८ कामता)।

भावसेन—लाड बागड संघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप गोपसेनके शिष्य तथा जयसेन नं, प्रथमके गुरु थे। समय—वि. १०३० (ई. ९७३), (आ जयसेन कृत धर्मरत्नाकर ग्रन्थकी प्रशस्ति) और भी दे० इतिहास/५/२५।

भावार्थ—आगमका अर्थ करनेकी विधिमें इसका स्थान—दे० आगमज्ञान/३।

भावार्थ दीपिका—भगवती आराधनाकी भाषा टीका—दे० भगवती आराधना।

भावास्रव—दे० आस्रव/१।

भावि नैगम नय—दे० नय/III/२।

भावेंद्रिय—दे० इन्द्रिय/१।

भाव्य भावक भाव—दे० संबंध।

भाषा—साधारण बोलचालको भाषा कहते हैं। मनुष्योंकी भाषा साक्षरी तथा पशु पक्षियोंकी निरक्षरी होती है। इसी प्रकार आमन्त्रणी आक्षेपिणी आदिके भेदसे भी उसके अनेक भेद हैं।

१. भाषा सामान्यके भेद

स. सि./५/२४/२९४/१२ शब्दो द्विविधो भाषालक्षणो विपरीतश्चेति। भाषात्मको द्विविधः साक्षरोऽनक्षरश्चेति।—भाषा रूप शब्द और अभाषा शब्द इस प्रकार शब्दोंके दो भेद हैं। भाषात्मक शब्द दो प्रकारके हैं—साक्षर और अनक्षर। (रा. वा./५/२४/३/४८५/२३); (ध. १३/५, ५, २६/२२१/६); (पं. का./ता. वृ. ७९/१३५/५); (द्र. स. टी./१६/५२/२); (गो. जी./जी.प्र./३१५/६७३/१४)।

२. अक्षरात्मक भाषाके भेद व लक्षण

स. सि./५/२४/२९५/१ अक्षरीकृतः शास्त्राभिव्यञ्जकः संस्कृतविपरीतभेदादार्यम्लेच्छव्यवहारहेतुः।—जिसमें शास्त्र रचे जाते हैं, जिसमें आर्य और म्लेच्छोंका व्यवहार चलता है ऐसे संस्कृत शब्द और इससे विपरीत शब्द ये सब साक्षर शब्द हैं। (रा. वा./५/२४/३/४८५/२४) (पं. का./ता. वृ./७९/१३५/६)।

ध. १३/५,५,२६/२२१/११ अक्खरगया अणुवघादिदियसण्णिपंचिंदियपज्जत्तभासा। सा दुविहा—भासा कुभासा चेदि। तत्थ कुभासाओ कोरपारसिय-सिंघल-वव्वरियादीण विणिग्गयाओ सत्तसयभेदभिण्णाओ। भासाओ पुण अट्ठारस हवंति तिकुरुक-तिलाढ तिमरहट्ठ-तिमालव-तिगउड-तिमागधभासभेदेण।—उपघातसे रहित इन्द्रियोंवाले संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंकी भाषा अक्षरात्मक भाषा है। वह दो प्रकारकी है—भाषा और कुभाषा। उनमें कुभाषाएँ काश्मीर देशवासी, पारसीक, सिंहल और वर्वरिक आदि जनोंके (मुखसे) निकली हुई सात सौ भेदोंमें विभक्त हैं। परन्तु भाषाएँ तीन कुरुक (कर्णाट) भाषाओं, तीन लाढ भाषाओं, तीन मरहठा (गुर्जर) भाषाओं, तीन मालव भाषाओं, तीन गौड भाषाओं, और तीन मागध भाषाओंके भेदसे अठारह होती हैं। (पं. का./ता. वृ./मंगलाचरण/पृ. ४/५)।

द्र. सं./टी./१६/५२/३ तत्राप्यक्षरात्मकः संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचिकादिभाषाभेदेनार्यम्लेच्छमनुष्यादिव्यवहारहेतुर्बहुधा।—अक्षरात्मक भाषा संस्कृत प्राकृत और उनके अपभ्रंश रूप, पैशाची आदि भाषाओंके भेदसे आर्य व म्लेच्छ मनुष्योंके व्यवहारके कारण अनेक प्रकारकी है।

३. अनक्षरात्मक भाषाके भेद व लक्षण

स. सि./५/२४/२९५/२ अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादीनामतिशयज्ञानस्वरूपप्रतिपादनहेतुः।—जिससे उनके सातिशयज्ञानका पता चलता है ऐसे द्वि इन्द्रिय आदि जीवोंके शब्द अनक्षरात्मक शब्द हैं। (रा. वा./५/२४/३/४८५/२५)।

ध १३/५,५,२६/२२१/१० तत्थ अणक्खरगया बीइंदियप्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदियाणं मुहसमुब्भुदा बालमूअसण्णिपंचिंदियभासा च।—द्वीन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके मुखसे उत्पन्न हुई भाषा तथा बालक और मूक संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवोंकी भाषा भी अनक्षरात्मक भाषा है।

पं. का./ता. वृ./७९/१३५/७ अनक्षरात्मको द्वीन्द्रियादिशब्दरूपो दिव्यध्वनिरूपश्च।—अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादिके शब्दरूप और दिव्यध्वनि रूप होते हैं।

४. दुर्भाषाके भेद

ज्ञा./१८/९ पर उद्धृत—कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी। छेद्यांकुरा मध्यकृशातिमानिनी भयंकरी। भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषा दशधा त्यजेत्।२।—कर्कश, परुष, कटु, निष्ठुर, परकोपी, छेद्यांकुरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, भयंकरी, और जीवोंकी हिंसा करनेवाली ये दश दुर्भाषा हैं, इनको छोड़े। (अन. ध./४/१६५-१६६)।

५. आमंत्रणी आदि भाषा निर्देश

भ. आ./मू. वि./११९४-११९६/११९३ आमंतणि आणवणी जायणि संपुच्छणी य पण्णवणी। पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥११९५॥ संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा। णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया ॥११९६॥ टी०—आमंतणी

यथा वाचा परोऽभिमुखीक्रियते सा आमंत्रणी। हे देवदत्त इत्यादि अगृहीतसकेतानभिमुखी करोति तेन न मृषा गृहीतागृहीतसकेतयो: प्रतीतिनिमित्तमनिमित्त चेति ह्यात्मकता। स्वाध्याय कुरुत, विरमतासयमात् इत्यादिका अनुशासनवाणी आनवणी। चोदितायां क्रियाया करणमकरणं वापेक्ष्या नैकान्तेन सत्या न मृषैव वा। जायणी ज्ञानोपकरण पिच्छादिक वा भवद्भिर्दातव्य इत्यादिका याचनी। दातुरपेक्षया पूर्ववदुभयरूपा। निरोधवेदनास्ति भवता न वेति प्रश्नवाक् सपुच्छणी यद्यस्ति सत्या न चेदितरा। वेदना भावाभावमपेक्ष्य प्रवृत्तेरुभयरूपता। पण्णवणी नाम धर्म्मकथा। सा बहून्निर्दिश्य प्रवृत्ता केश्चिन्मनसि करणमितरैरकरण चापेक्ष्य करणत्वाद्द्विरूपा। पच्चक्खवाणी नाम केनचिद्गुरुमननुज्ञाप्य इद क्षीरादिकं इयत कालं मया प्रत्याख्यात इत्युक्त कार्यान्तरमुद्दिश्य तत्कुर्वित्युदितं गुरुणा प्रत्याख्यानावधिकालो न पूर्ण इति नैकान्तत: सत्यता गुरुवचनात्प्रवृत्तो न दोषायेति न मृषैकान्त। इच्छानुलोमा य ज्वरितेन पृष्ट घृतशर्करामिश्र शरार शोभनमिति। यदि परो ब्रूयात् शोभनमिति। माधुर्यादिप्रज्ञस्य गुणसद्भाव ज्वरवृद्धिनिमित्तता चापेक्ष्य न शोभनमिति वचा न मृषैकान्ततो नापि सत्यमेवेति द्व्यात्मक्ता।११६८। ससयवयणी किमय स्थाणुरुत पुरुष इत्यादिका द्वयोरेकस्य सद्भावमितरस्याभाव चापेक्ष्य द्विरूपता। अणक्खरगदा अगुलिस्फोटादिध्वनि: कृताकृतसकेतपुरुषापेक्षया प्रतीतिनिमित्ततामनिमित्तता च प्रतिपद्यते इत्युभयरूपा।=१. जिस भाषासे दूसरोंको अभिमुख किया जाता है, उसको आमन्त्रणी—सम्बोधिनी भाषा कहते हैं। जैसे—'हे देवदत्त यहाँ आओ' देवदत्त शब्दका सकेत जिसने ग्रहण किया है उसकी अपेक्षासे यह वचन सत्य है जिसने सकेत ग्रहण नही किया उसकी अपेक्षासे असत्य भी है। २. आज्ञापनी भाषा—जैसे स्वाध्याय करो, असयमसे विरक्त हो जाओ, ऐसी आज्ञा दी हुई क्रिया करनेसे सत्यता और न करनेसे असत्यता इस भाषामें है, इसलिए इसको एकान्त रीतिसे सत्य भी नहीं कहते और असत्य भी नहीं कह सकते हैं। ३. ज्ञानके उपकरण शास्त्र और सयमके उपकरण पिच्छादिक मेरेको दो ऐसा कहना यह याचनी भाषा है। दाताने उपर्युक्त पदार्थ दिये तो यह भाषा सत्य है और न देनेकी अपेक्षासे असत्य है। अत: यह सर्वथा सत्य भी नहीं है और सर्वथा असत्य भी नहीं है। ४. प्रश्न पूछना उसको प्रश्नभाषा कहते है। जैसे—तुमको निरोधमें—कारागृहमें वेदना दुख है या नहीं वगरह। यदि वेदना होती हो तो सत्य समझना न हो तो असत्य समझना। वेदनाका सद्भाव और असद्भावकी अपेक्षा इसको सत्यासत्य कहते है। ५. धर्मोपदेश करना इसको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। यह भाषा अनेक लोगोंको उद्देश्य कर कही जाती है। कोई मन:पूर्वक सुनते है और कोई सुनते नही, इसकी अपेक्षा इसको असत्यमृषा कहते हैं। ६ किसीने गुरुका अपनी तरफ लक्ष न खींच करके 'मैने इतने काल तक क्षीरादि पदार्थोंका त्याग किया है ऐसा कहा। कार्यांतरको उद्देश्य करके वह करो ऐसा गुरुने कहा। प्रत्याख्यानकी मर्यादाका काल पूर्ण नहीं हुआ तब तक वह एकान्त सत्य नहीं है। गुरुके वचनानुसार प्रवृत्त हुआ है इस वास्ते असत्य भी नहीं है। यह प्रत्याख्यानी भाषा है। ७ इच्छानुलोमा—ज्वरित मनुष्यने पूछा घी और शक्कर मिला हुआ दूध अच्छा नहीं है? यदि दूसरा कहेगा कि वह अच्छा है, तो मधुरतादिक गुणोका उसमें सद्भाव देखकर वह शोभन है ऐसा कहना योग्य है। परन्तु ज्वर वृद्धिको वह निमित्त होता है इस अपेक्षासे वह शोभन नहीं है, अत: सर्वथा असत्य और सत्य नही है इसलिए इस वचनमें उभयात्मकता है।११६८। ८. सशय वचन—यह असत्यमृषाका आठवाँ प्रकार है। जैसे—यह ठूठ है अथवा मनुष्य है इत्यादि। इसमें दोनोमें से एक की सत्यता है और इतरका अभाव है इस वास्ते उभयपना इसमें है। ९ अनक्षर वचन—चुटकी बजाना, अगुलीमे इशारा करना, जिसको चुटकी बजानेका सकेत मालूम है उसको अंगुलीसे उसको वह प्रतीतिका निमित्त है, और जिसको संकेत मालूम नही है उसको अप्रतीतिका निमित्त होती है। इस तरह उभयात्मकता इसमें है ।११६९। (मू. आ./३१५-३१६); (गो. जी /मू./२२५-२२६/४८५)।

६. पश्यन्ती आदि भाषा निर्देश

रा. वा. हिं/१/२०/१९९ शब्दाद्वैतवादी वाणी चार प्रकारकी मानते हैं—पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, सूक्ष्मा। १. पश्यन्ती—जामें विभाग नाहीं। सर्व तरफ सकोचा है क्रम जाने ऐसी पश्यन्ती कहिए—लब्धिके अनुसार द्रव्य वचनको कारण जो उपयोग। (जैनके अनुसार इसे ही उपयोगात्मक भाव वचन कहते हैं।) २ मध्यमा—वक्ताकी बुद्धि तो जाको उपादान कारण है, बहुरि सासोच्छ्वासको उलघि अनुक्रमतै प्रवर्तती ताकू मध्यमा कहिए· (शब्द वर्गणा रूप द्रव्य वचन। (जैनके अनुसार इसे शब्द वर्गणा कहते हैं।) ३ वैखरी—कण्ठादिके स्थाननिको भेदकरि पवन निसरा ऐसा जो वक्ताका सासोच्छ्वास है कारण जाकू ऐसी अक्षर रूप प्रवर्तती ताकू वैखरी कहिए· (अर्थात) कर्णेन्द्रिय ग्राह्य पर्याय स्वरूप द्रव्य वचन। (जैनके अनुसार इसे इसी नामसे स्वीकारा गया है।) ४ सूक्ष्मा—अन्तर प्रकाश रूप स्वरूप ज्योति रूप नित्य ऐसी सूक्ष्मा कहिए। (क्षयोपशमसे प्रगटी आत्माकी अक्षरको ग्रहण करनेकी तथा कहनेकी शक्ति रूप लब्धि। (जैनके अनुसार इसे लब्धि रूप भाव वचन स्वीकारा गया है।)

अन्य सम्बन्धित विषय

१. अभाषात्मक शब्द —दे० शब्द।
२. अभ्याख्यान व कलह आदि रूप भाषा —दे० वचन।
३. कलह पैशुन्य आदि —दे० वह वह नाम।
४ असम्बद्ध प्रलाप आदि —दे० वचन।
५ गुणवाची, क्रियावाची आदि शब्द —दे० नाम/१।
६. आगम व अध्यात्म भाषामें अन्तर —दे० पद्धति।
७. चारों अनुयोगोंकी भाषामें अन्तर —दे० अनुयोग।
८. ढोलादिके शब्दको भाषात्मक क्यों कहते हैं —दे० शब्द।

भाषा पर्याप्ति—दे० पर्याप्ति/१।

भाषा वर्गणा—दे० वर्गणा/१।

भाषा समिति—दे० समिति/१।

भासुर—एक ग्रह=दे० ग्रह।

भास्कर (कवि)—विश्वामित्र गोत्री भासवका पुत्र कन्नड जैन ब्राह्मण कवि थे। जीवन्धरचरित्रकी कन्नड भाषामें रचना की। समय—ई० १४२४ (जीवन्धर चम्पू/प्र ६/A. N. UP.

भास्करनंदि— ई श १३ में तत्त्वार्थ सूत्रकी सुखबोध नामक वृत्तिके कर्ता हुए। (मोक्षशास्त्र/प्र. १३/प. कैलाश)।

भास्कर वेदांत—द्वैताद्वैत—दे० वेदांत/III।

भिक्षा—साम्यरसमे भीगे होनेके कारण साधुजन लाभ-अलाभमें समता रखते हुए दिनमें एक बार तथा दातारपर किसी प्रकारका भी भार न पडे ऐसे गोचरी आदि वृत्तिसे भिक्षा ग्रहण करते हैं, वह भी मौन सहित, रस व स्वादसे निरपेक्ष यथा लब्ध केवल उदर पूर्तिके लिए करते है। इतना होनेपर भी उनमें याचना रूप दीन व हीन भाव जागृत नहीं होता। भक्ति पूर्वक किसीके प्रतिग्रह करनेपर अथवा न करनेपर श्रावकके घरमें प्रवेश करते हैं, परन्तु विवाह व

यज्ञशाला आदिमें प्रवेश नहीं करते, नीच कुलीन, अति दरिद्री व अति धनाढ्यका आहार ग्रहण नहीं करते हैं।

१. भिक्षा निर्देश व विधि

१. साधु भिक्षा वृत्तिसे आहार करते हैं

मू. आ./८१६, ९३७ पयणं व पायणं वा ण करेंति अ णेव ते करावेंति। पयणारभणियत्ता सतुट्ठाभिक्खमेत्तेण।८१६। जोगेसु मूल जोगं भिक्खाचरियं च वण्णियं सुत्ते। अण्णे य पुणो जोगा विण्णाणविहीण एहिं कया।९३७। =आप पकाना दूसरेसे पकवाना न तो करते हैं न कराते हैं वे मुनि पकानेके आरम्भसे निवृत्त हुए एक भिक्षा मात्रसे सन्तोपको प्राप्त होते हैं।८१६। आगममें सब मूल उत्तरगुणोंके मध्यमें भिक्षा चर्या ही प्रधान व्रत कहा है, और अन्य जो गुण हैं वे चारित्र हीन साधुओं कर किये जानने।९३७। (प्र. सा./मू./२२६), (प. पु./४/९७)।

२. यथा काल, वृत्ति परिसंख्यान सहित भिक्षार्थ चर्या करते हैं

रा. वा /९/६/१६/५९७/१६ भिक्षाशुद्धि' 'आचारसूत्रोक्तकालदेशप्रकृतिप्रतिपत्तिकुशला चन्द्रगतिरिव हीनाधिकगृहा, विशिष्टापस्थाना ·· । =आचार सूत्रोक्त कालदेश प्रकृतिकी प्रतिपत्तिमें कुशल है। चन्द्रगतिके समान हीन या अधिक घरोंकी जिसमें मर्यादा हो, विशिष्ट विधानवाली हो ऐसी भिक्षा शुद्धि है।

भ. आ /वि./१५०/३४५/१० भिक्षाकालं, बुभुक्षाकाल च ज्ञात्वा गृहीतावग्रह', ग्रामनगरादिक प्रविशेदीर्यासमितिसपन्न.। =भिक्षाका समय, और क्षुधाका समय जानकर कुछ वृत्तिपरिसख्यानादि नियम ग्रहण कर ग्राम या नगरमें ईर्यासमितिसे प्रवेश करे।

३. भिक्षा योग्य काल

भ. आ /वि./१२०६/१२०३/२२ भिक्षाकाल', बुभुक्षाकालोऽवग्रहकालश्चेति कालत्रय ज्ञातव्यं। ग्रामनगरादिपु इयता कालेन आहारनिष्पत्तिर्भवति, अमीपु मासेपु, अस्य वा कुलस्य वाटस्य वाय भोजनकाल इच्छाया' प्रमाणादिना भिक्षाकालोऽवगन्तव्य.। मम तीव्रा मन्दा वेति स्वशरीरव्यवस्था च परीक्षणीया। अयमवग्रह पूर्वं गृहीत। एवभूत आहारो मया न भोक्तव्य' इति अयायमवग्रहो ममेति मीमासा कार्या। =भिक्षा काल, बुभुक्षा काल और अवग्रह काल ऐसे तीन काल है। गाँव, शहर वगैरह स्थानोंमें इतना काल व्यतीत होनेपर आहार तैयार होता है। अमुक महीनेमें अमुक कुलका, अमुक गलीका अमुक भोजन काल है यह भिक्षा या भोजन कालका वर्णन है।१। आज मेरेको तीव्र भूख लगी है या मन्द लगी है। मेरे शरीरकी तबियत कैसी है, इसका विचार करना यह बुभुक्षा कालका स्वरूप है। अमुक नियम मैंने कल ग्रहण किया था। इस तरहका आहार मैंने भक्षण न करनेका नियम लिया था। आज मेरा उस नियमका दिन है। इस प्रकारका विचार करना अवग्रह काल है।

आचारसार/१/६८ जिस समय बच्चे अपना पेट भरकर खेल रहे हों।६८। जिस समय श्रावक बलि कर्म कर रहे हों अर्थात् देवताको भातादि नैवेद्य चढा रहे हों, वह भिक्षा काल है।

सा. ध./६/२४ में उद्धृत—प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति। तथाऽग्नावुद्रिक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ, प्रयुञ्जीताहार विधिनियमित काल. स हि मत। =मल मूत्रका त्याग हो जानेके पश्चात्, हृदयके प्रसन्न होनेपर, वात पित्त और कफ जनित दोषोंके अपने-अपने मार्गगामी होनेपर मलवाहक द्वारोंके खुलनेपर, भूखके लगनेपर, वात या वायुके ठीक-ठीक अनुसरण होनेपर, जठराग्निके प्रदीप्त होनेपर, इन्द्रियोंके प्रसन्न होनेपर, देहके हलका होनेपर, विधि पूर्वक तैयार किया हुआ, नियमित आहारका ग्रहण करे। यही भोजनका लाभ माना गया है।

यहाँ 'काले' इस पदके द्वारा भोजनके कालका उपदेश दिया गया है। चर्चा समाधान/प्रश्न ६३/पृ. ५४ यदि आवश्यकता पड़े तो मध्याह्न कालमें भी चर्या करते है।

४. मौन सहित व याचना रहित चर्या करते हैं

मू. आ./८१७-८१८ णवि ते अभित्थुणंति य पिंडत्थं णवि य किंचि जायते। मोणव्वदेण मुणिणो चरंति भिक्खं अभासंता ।८१७। देहीति दीणकलुसं भासं णेच्छंति एरिसं वत्तुं। अवि णीदि अलाभेण ण य मोणं भजदे धीरा।८१८। =मुनिराज भोजनके लिए स्तुति नहीं करते और न कुछ माँगते है। वे मौन व्रतकर सहित नही कुछ कहते हुए भिक्षाके निमित्त विचरते है।८१७। तुम हमको ग्रास दो ऐसा करुणा रूप मलिन वचन कहनेकी इच्छा नहीं करते। और भिक्षा न मिलनेपर लौट आते है, परन्तु वे धीर मुनि मौनको नहीं छोडते है।८१८।

कुरल का./१०७/१,६ अभिक्षुको वरीवर्ति भिक्षो' कोटिगुणोदय'।— याचनास्तु वदान्ये वा निजादधिगुणे च वै।१। एकोऽपि याचना-शब्दो जिह्वाया निर्वृ ति परा। वरमस्तु स शब्दोऽपि पानीयार्थं हि गो' कृते।६। =जो आदमी भीख नही माँगने वालेसे करोड गुना अच्छा है, फिर वह माँगनेवाला चाहे ऐसे ही आदमियोंसे क्यो न माँगे कि जो वडे उत्साह और प्रेमसे दान देते है।१। तुम चाहे गायके लिए पानी ही क्यो न माँगो, फिर भी जिह्वाके लिए याचना सूचक शब्दोंको उच्चारण करनेसे बढकर अपमान जनक बात और कोई नहीं है।६।

रा. वा./९/६/१६/५९७/१८ भिक्षाशुद्धि···दीनवृत्तिविगमा प्रासुकाहारग-वेषणप्रणिधाना। =दीन वृत्तिसे रहित होकर प्रासुक आहार ढूँढना भिक्षा शुद्धि है। (चा. सा./७८/१)।

दे० भिक्षा/२/२ याचना करना, अथवा अस्पष्ट शब्द बोलना आदि निषिद्ध है। केवल बिजलीकी चमकके समान शरीर दिखा देना पर्याप्त है।

आ. अनु/१५१ ·· प्राप्तागमार्थ तव सन्ति गुणाः कलत्रमप्रार्थ्यवृत्तिरसि यासि वृथैव याच्ञाम् ।१५१। =हे प्राप्तागमार्थ। गुण ही तेरी स्त्रियाँ है। ऐसा तथा किसीसे याचना करने रूप वृत्ति भी तुझमें पायी नहीं जाती। अब तू वृथा ही याचनाको प्राप्त हो है, सो तेरे लिए इस प्रकार दीन बनना योग्य नही।

५. कदाचित् याचनाकी आज्ञा

भ. आ./मू./१२०१/१२०६ ···उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए ।१२०१। =आगमसे अविरुद्ध ज्ञान व सयमोपकरणकी याचना करनी तृतीय अर्थात् अचौर्य महाव्रतकी भावना है।

कुरल./१०६/२,८ अपमान विना भिक्षा प्राप्यते या मुदैवत.। प्राप्ति-काले तु संप्राप्ता मा भिक्षा हर्षदायिनी।२। याचका यदि नैव स्युर्दान-धर्मप्रवर्तका। काष्ठपुत्तलनृत्य स्याद् तदा संसारजालकम्।८। =यदि तुम विना किसी तिरस्कारके पाना चाहते हो वह पा सको तो माँगना आनन्ददायी है।२। यदि दान धर्मप्रवर्तक याचक न हो तो इस सारे ससारका अर्थ कठपुतलीके नाचसे अधिक न होगा।८।

दे० अपवाद/३/३ (सल्लेखना गत क्षपककी वैयावृत्यके अर्थ कदाचित निर्यापक साधु आहार माँगकर लाता है।)

दे० आलोचना/२/आकपित दोष (आचार्यकी वैयावृत्यके लिए साधु आहार माँगकर लाता है।)

६. अपने स्थानपर भोजन लानेका निषेध

मू. आ./८१२ ·अभिहडं च। सुत्तप्पडिकुट्ठाणि य पडिसिद्ध तं विव-ज्जेंति।८१२। = ·अन्य स्थानसे आया सूत्रके विरुद्ध' और सूत्रसे निषिद्ध ऐसे आहारको वे मुनि त्याग देते है।८१२।

रा. वा./७/१/१६/५३५/७ नेदं संयमसाधनम्—आनीय भोक्तव्यमिति। =ला कर भोजन करना यह सयमका साधन भी नही है।

भ. आ./वि./११८५/११७१/१२ क्वचिद्भाजने दिवैव स्थापितं आत्मवासे भुञ्जानस्यापरिग्रहव्रतलोप स्यात्। =किसी पात्रमें दिनमें स्थापित किया हुआ आहार वस्तिकामें ले जाकर भोजन करनेसे अपरिग्रह व्रतका रक्षण कैसे हुआ।

७. गोचरी आदि पाँच भिक्षा वृत्तियोंका निर्देश

र. सा./मू./११६ उदरग्गिसमणक्खमक्खण गोयारसब्भपूरणभमरं। णाऊण तप्पयारे णिच्चेव भुंजए भिक्खु।११६। =मुनियोंकी चर्या पाँच प्रकारकी बतायी गयी है—उदराग्निप्रशमन, अक्षम्रक्षण, गोचरी, श्वभ्रपूरण और भ्रामरी।११६। (चा. सा./७८/३)।

मू. आ./८१५ अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति··। =गाडीके धुरा चुपरनेके समान आहार लेते है।

रा. वा./९/६/१६/५९७/२० सा लाभालाभयो' सुरसविरसयोश्च सम-संतोषाद्भिक्षेति भाष्यते। यथा सलीलसालंकारवरयुवतिभिरुपनीय-मानघासो गौर्नतदङ्गगतसौन्दर्यनिरीक्षणपर. तृणमेवात्ति, यथा तृणो-लूप नानादेशस्थं यथालाभमभ्यवहरति न योजनासपदमवेक्षते तथा भिक्षुरपि भिक्षापरिवेपजनमृदुललितरूपवेषविलासावलोकननिरुत्सुक शुष्कद्रवाहारयोजनाविशेषं चानवेक्षमाण' यथागतमश्नाति इति गौरिव चारो गोचार इति व्यपदिश्यते, तथा गवेषणेति च। यथा शकट रत्नभारपरिपूर्णं येन केनचिद् स्नेहेन अक्षलेपं कृत्वा अभि-लपितदेशान्तर वणिगुपनयति तथा मुनिरपि गुणरत्नभरितां तनु-शकटीमनवद्यभिक्षायुरक्षम्रक्षणेन अभिप्रेतसमाधिपत्तन प्रापयतीत्यक्ष-म्रक्षणमिति च नाम निरूढम्। यथा भाण्डागारे समुत्थितमनलमशुचिना शुचिना वा वारिणा शमयति गृही तथा यतिरपि उदराग्नि प्रशमय-तीति उदराग्निप्रशमनमिति च निरुच्यते। दातृजनबाधया विना कुशलो मुनिर्भ्रमरवदाहरतीति भ्रमराहार इत्यपि परिभाष्यते। येन केनचित्प्रकारेण स्वभ्रपूरणवदुदरगर्त मनगारः पूरयति स्वादुनेतरेण वेति स्वभ्रपूरणमिति च निरुच्यते। =यह लाभ और अलाभ तथा सरस और विरसमें समान सन्तोष होनेसे भिक्षा कही जाती है। १ गोचरी—जैसे गाय गहनोंसे सजी हुई सुन्दर युवतिके द्वारा लायी गयी घासको खाते समय घासको ही देखती है लानेवालीके अग-सौन्दर्य आदिको नहीं, अथवा अनेक जगह यथालाभ उपलब्ध होने-वाले चारेके पूरेको ही खाती है उसकी सजावट आदिको नही देखती, उसी तरह भिक्षु भी परोसने वालेके मृदु ललित रूप वेष और उस स्थानकी सजावट आदिको देखनेकी उत्सुकता नही रखता और न 'आहार सूखा है या गीला या कैसे चाँदी आदिके बरतनोमें रखा है या कैसी उसकी योजना की गयी है', आदिकी ओर ही उसकी दृष्टि रहती है। वह तो जैसा भी आहार प्राप्त होता है वैसा खाता है। अत. भिक्षाको गौ की तरह चार—गोचर या गवेषणा कहते है। २ अक्षम्रक्षण—जैसे वणिक् रत्न आदिसे लदी हुई गाडीमें किसी भी तेलका लेपन करके—(ओगन देकर) उसे अपने इष्ट स्थानपर ले जाता है उसी तरह मुनि भी गुण रत्नसे भरी हुई शरीररूपी गाडीको निर्दोष भिक्षा देकर उसे समाधि नगरतक पहुँचा देता है, अत. इसे अक्षम्रक्षण कहते है। ३. उदराग्निप्रशमन—जैसे भण्डारमें आग लग जानेपर शुचि या अशुचि कैसे भी पानीसे उसे बुझा दिया जाता है, उसी तरह यति भी उदराग्निका प्रशमन करता है, अत' इसे उदराग्निप्रशमन कहते है। ४. भ्रमराहार—दाताओको किसी भी प्रकारकी बाधा पहुँचाये बिना मुनि कुशलतासे भ्रमर की तरह आहार ले लेते है। अत इसे भ्रमराहार या भ्रामरीवृत्ति कहते है। ५. गर्तपूरण—जिस किसी भी प्रकारसे गड्ढा भरनेकी तरह मुनि स्वादु या अस्वादु अन्नके द्वारा पेटरूप गड्ढेको भर देता है अत' इसे स्वभ्रपूरण भी कहते है।

८. वर्तनोंकी शुद्धि आदिका विचार

भ. आ./वि /१२०६/१२०४/१६ दातुरागमनमार्ग अवस्थानदेश, कडुच्छकभाजनादिक च शोधयेत् खण्डेन भिन्नेन वा कडकच्छुकेन दीयमानं वा। =दाताका आनेका रास्ता, उसका खडे रहनेका स्थान, पली और जिनमें अन्न रखा है ऐसे पात्र—उनकी शुद्धताकी तरफ विशेष लक्ष्य देना चाहिए। टूटी हुई अथवा खण्डयुक्त हुई ऐसे पलीके द्वारा दिया हुआ आहार नहीं लेना चाहिए।

२. दातारके घरमें प्रवेश करने सम्बन्धी नियम व विवेक

१. अभिमत प्रदेशमें गमन करे अनभिमतमें नहीं

भ आ/मू./१२०६/१२०६ वज्जणमणण्णुणादगिहप्पवेसस्स गोयराजीसु। ..।१२०६। =गृहके स्वामीने यदि घरमें प्रवेश करनेकी मनाही की होगी तो उसके घरमें प्रवेश करना यतिको निषिद्ध है।

भ. आ /वि /१५०/३४४/२१ अन्ये भिक्षाचरा यत्र स्थित्वा लभन्ते भिक्षा, यत्र वा स्थितानां गृहिण प्रयच्छन्ति तावन्मात्रमेव भूभाग यति प्रविशेन्न गृहाभ्यन्तरम्। तद्द्वारकाद्युल्लङ्घने कुप्यन्ति च गृहिण। =इतर भिक्षा माँगने वाले साधु जहाँ खडे होकर भिक्षा प्राप्त करते है, अथवा जिस स्थानमें ठहरे हुए साधुको गृहस्थ दान देते हैं, उतने ही भूप्रदेशतक साधु प्रवेश करें, गृहके अभ्यन्तर भागमें प्रवेश न करें क्योंकि द्वारादिकोंका उल्लंघन कर जानेमे गृहस्थ कुपित होगे। (भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१२), (भ आ/प. सदासुख/२५०/१३१/६)।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/पंक्ति न, द्वारमर्गल कवाट वा नोद्घाटयेत ।१०। परोपरोधवर्जिते, अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत्। ।१५। =यदि द्वार बन्द होगा, अर्गलासे बन्द होगा तो उसको उघाडना नहीं चाहिए।१०। परोपरोध रहित अर्थात् दूसरोंका जहाँ प्रतिबन्ध नहीं है ऐसे घरमें जाने-आनेका मार्ग छोडकर गृहस्थोंके प्रार्थना करनेपर खडे होना चाहिए।१५। (और भी देखो अगला शीर्षक)।

२. वचन व काय चेष्टारहित केवल शरीर मात्र दिखाये

भ. आ /वि /१२०६/१२०४/१३ याच्आमव्यक्तस्वनं वा स्वागमनिवेदनार्थं न कुर्यात। विद्युदिव स्वां तनु च दर्शयेत्, कोऽमलभिक्षा दास्यतीति अभिसंधिं न कुर्यात्। =याचना करना अथवा अपना आगमन सूचित करनेके लिए अस्पष्ट बोलना या खंकारना आदि निषिद्ध है। बिजलीके समान अपना शरीर दिखा देना पर्याप्त है। मेरे को कौन श्रावक निर्दोष भिक्षा देगा ऐसा सकल्प भी न करे।

आचारसार/५/१०८ क्रमेणायोग्यागाराणि पर्यटना प्राङ्गणावधि। विशेन्मौनी विकाराद्यसज्ञाया चोज्झितो यति। =क्रम पूर्वक योग्य घरोंके आगेसे घूमते हुए मौन पूर्वक घरके प्रागण तक प्रवेश करते है। तथा शरीरके अगोपांगसे किसी प्रकारका इशारा आदि नहीं करते है।

चर्चा समाधान/प्रश्न ५३/पृ. ५४ =प्रश्न—व्रती तो द्वारापेक्षण करे पर अव्रती तो न करे। उत्तर—गृहस्थके आँगनमें चौथाई तथा तीसरे भाग जाइ चेष्टा विकार रहित देह मात्र दिखावे। फिर गृहस्थ प्रतिग्रह करे।

भ. आ /प सदासुखदास/२५०/१३१/८ बहुरि गृहनिमें तहाँ ताई प्रवेश करे जहाँ ताई गृहस्थनिका कोऊ भेषी अन्य गृहस्थीनिकैं आनेकी अटक नही होय। बहुरि अगणमें जाय खडे नही रहे। आशीर्वादादिक मुखतैं नहीं कहै। हाथकी समस्या नहीं करे। उदरकी कृशता नही दिखावै। मुखकी विवर्णता नही करे। हुंकारादिका सैन संज्ञा समस्या नही करै, पडिगाहे तो खडे रहे, नही पडिगाहे तो निकसि अन्य गृहनिमें प्रवेश करै।

३. छिद्रमें-से झाँककर देखनेका निषेध

भ. आ./वि /१२०६/१२०४/१६ छिद्रद्वार कवाट, प्राकार वा न पश्येत् चौर इव। =चोरके समान, छिद्र, दरवाजा, किवाड तट वगैरहका अवलोकन न करे।

४. गृहस्थके द्वार पर खड़े होनेकी विधि

भ. आ./वि /१२०६/१२०४/१५ अनिर्गमनप्रवेशमार्गे गृहिभिरनुज्ञातस्तिष्ठेत्। समे विच्छिद्रे, भूभागे चतुरङ्गुलपादान्तरो निश्चल. कुड्यस्तम्भादिकमनवलम्ब्य तिष्ठेत। =घरमें जाने-आनेका मार्ग छोडकर गृहस्थोंके प्रार्थना करनेपर खडे होना चाहिए। समान छिद्र रहित ऐसी जमीन पर अपने दोनों पाँवोमें चार अगुल अन्तर रहेगा इस तरह निश्चल खडे रहना चाहिए। भीत, खम्भ वगैरहका आश्रय न लेकर स्थित खडे रहना चाहिए।

५. चारों ओर देखकर सावधानीसे वहाँ प्रवेश करे

भ. आ. वि./१५०/३४५/3 द्वारमप्यायामविष्कम्भहीन प्रविशत गात्रपीडासङ्कुचिताङ्गस्य विवृताधोभागस्य वा प्रवेश दृष्ट्वा कुप्यन्ति वा। आत्मविराधना मिथ्यात्वाराधना च। द्वारपार्श्वस्थजन्तुपीडा स्वगात्रमर्द्दने शिक्यावलम्बितभाजनानि वा अनिरूपितप्रवेशी वा अभिहन्ति। तस्मादूर्ध्वं तिर्यक् चावलोक्य प्रवेष्टव्य। =दीर्घता व चौडाईसे रहित द्वारमें प्रवेश करनेसे शरीरको व्यथा होगी, अगोंको सकुचित करके जाना पडेगा। नीचेके अवयवोंको पसार कर यदि साधु प्रवेश करेगा तो गृहस्थ कुपित होंगे अथवा हास्य करेंगे। इनसे साधुकी आत्म विराधना अथवा मिथ्यात्वाराधना होगी। सकुचित द्वारसे गमन करते समय उसके समीप रहनेवाले जीवोंका पीडा होगी, अपने अवयवोंका मर्दन होगा। यदि ऊपर साधु न देखे तो सीकेमें रखे हुए पात्रोंको धक्का लगेगा अत साधु ऊपर और चारो तरफ देखकर प्रवेश करें।

६ सचित्त व गन्दे प्रदेशका निषेध

भ आ /वि./१५०/पृ न./प नं गृहिभिस्तिष्ठ प्रविशेरयभिहितोऽपि नान्धकार प्रविशेत्त्रसस्थावरपीडापरिहृतये। (३४४/२२) तदानीमेव लिप्ता, जलसेकाद्रा, प्रकीर्णहरितकुसुमफलपत्रादिभिर्निरन्तरां, सचित्तमृत्तिकावतीं, छिद्रबहुला, विचरत्त्रसजीवाना (३४५/६) मूत्रासृक्पुरीषादिभिरुपहता भूमि न प्रविशेत (३४५/८) =गृहस्थोंके तिष्ठो, प्रवेश करो ऐसा कहनेपर भी अन्धकारमें साधुको प्रवेश करना युक्त नहीं। अन्यथा त्रस व स्थावर जीवोंका विनाश होगा। (३४४/२२) तत्काल लेपी गयी, पानीके छिडकावसे गीली की गयी, हरातृण, पुष्प, फल, पत्रादिक जिसके ऊपर फैले हुए है ऐसी, सचित्त मिट्टीसे युक्त, बहुत छिद्रोंसे युक्त, जहाँ त्रस जीव फिर रहे है। जो मूत्र, रक्त, विष्टादिसे अपवित्र बनी है, ऐसी भूमिमे साधु प्रवेश न करे। अन्यथा उसके संयमकी विराधना होगी व मिथ्यात्व आराधनाका दोष लगेगा।

भ. आ./वि /१२०६/१२०४/३,७,११ अकर्दमेनानुदकेन अत्रसहरितबहुलेन वर्त्मना।३। तुषगोमयभस्मबुसपलालनिचय, दलोपलफलादिक च परिहरेत।७। पुष्पै. फलैर्बीजैर्वाविकीर्णा भूमि वर्जयेत। तदानीमेव लिप्ता। =जिसमें कीचड नही है, पानी फैला हुआ नहीं है, जो त्रस व हरितकाय जन्तुओंसे रहित है, ऐसे मार्गसे प्रयाण करना चाहिए। धानके छिलके, गोबर, भस्मका ढेर, भूसा, वृक्षके पत्ते, पत्थर फलकादिको का परिहार करके गमन करना चाहिए। जो जमीन पुष्प, फल और बीजोसे व्याप्त हुई है अथवा हालमें ही लीपी गयी है उस परसे जाना निषिद्ध है।

७. व्यस्त व शोक युक्त गृहका निषेध

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१२ तथा कुटुम्बिषु व्यग्रविषण्णदीनमुखेषु च सत्सु नो तिष्ठेत्। =जहाँ मनुष्य, किसी कार्यमें तत्पर दीखते हों, खिन्न दीख रहे हों उनका मुख दीनता युक्त दीख रहा हो तो वहाँ ठहरना निषिद्ध है।

८. पशुओं व अन्य साधु युक्त प्रदेशका निषेध

भ. आ./वि /१५०/३४४/१५ तथा भिक्षानिमित्त गृह प्रवेष्टुकाम पूर्वं अवलोकयेत्किमत्र बलीवर्दा, महिष्य, प्रसूता वा गाव, दुष्टा वा सारमेया, भिक्षाचरा श्रमणा सन्ति न सन्तीति। सन्ति चेन्न प्रविशेत। यदि न बिभ्यति ते यत्नेन प्रवेशं कुर्यात्। ते हि भीता यतिं बाधन्ते स्वयं वा पलायमाना त्रसस्थावरपीडा कुर्यु। क्लिश्यन्ति, महति वा गर्तादौ पतिता मृतिमुपेयु। गृहीतभिक्षाणा वा तेषा निर्गमने गृहस्थै प्रत्याख्यानं वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा प्रवेष्टव्य। अन्यथा बहव आयाता इति दातुमशक्ता कस्मैचिदपि न दद्यु। तथा च भोगान्तराय कृत स्यात। क्रुद्धा परे भिक्षाचरा निर्भर्त्सनादिकं कुर्युरस्माभिराशया प्रविष्ट गृहं किमर्थं प्रविशतीति।' (एलक वत्स वा नातिक्रम्य प्रविशेत। भीता पलायनं कुर्युरारमानं मा पातयेयु')। =भिक्षाके लिए श्रावक घरमें प्रवेश करते समय प्रथमत इस घरमें बैल, भैंस, प्रसूत गाय, दुष्ट कुत्ता, भिक्षा माँगनेवाले साधु हैं या नहीं यह अवलोकन करे, यदि न होंगे तो प्रवेश करे अथवा उपर्युक्त प्राणी साधुके प्रवेश करनेसे भययुक्त न होवे तो यहाँसे सावधान रहकर प्रवेश करे। यदि वे प्राणी भययुक्त होंगे तो उनसे यतिको बाधा होगी। इधर-उधर वे प्राणी दौड़ेंगे तो त्रसजीवोंका, स्थावर जीवोंका विनाश होगा अथवा साधुके प्रवेशसे उनको क्लेश होगा। किंवा भागते समय गड्ढेमें गिरकर मृत्यु वश होंगे। जिन्होंने भिक्षा ली है ऐसे अन्य साधु घरसे बाहर निकलते हुए देखकर अथवा गृहस्थोंके द्वारा उनका निराकरण किया हुआ देखकर वा सुनकर तदनन्तर प्रवेश करना चाहिए। यदि मुनिवर इसका विचार न कर श्रावक गृहमें प्रवेश करें तो बहुत लोक आये है ऐसा समझकर दान देनेमें असमर्थ होकर किसीको भी दान न देंगे। अत विचार बिना प्रवेश करना लाभातरायका कारण होता है। दूसरे भिक्षा माँगनेवाले पाखण्डी साधु जैन साधु प्रवेश करनेपर हमने कुछ मिलनेकी आशासे यहाँ प्रवेश किया है, यह मुनि क्यों यहाँ आया है ऐसा विचार मनमें लाकर निर्भर्त्सना तिरस्कारादिक करेंगे।... घरमें बछडा अथवा गायका बछडा हो तो उसको लाघकर प्रवेश न करे अन्यथा वे डरके मारे पलायन करेंगे वा साधुको गिरा देंगे।

भ. आ /वि./१२०६/१२०४/१० बालवत्स, एलक, शुनो वा नोल्लङ्घयेत्। ··भिक्षाचरेषु परेषु लाभार्थिषु स्थितेषु तद्गेहं न प्रविशेत। =छोटा बछडा, बकरा और कुत्ता इनको लाँघ कर नहीं जाना चाहिए।·· जहाँ अन्य भिक्षु आहार लाभके लिए खडे हुए हैं, ऐसे घरमे प्रवेश करना निषिद्ध है।

९. बहुजन संसक्त प्रदेशका निषेध

रा वा./९/६/१६/५९७/१६ भिक्षाशुद्धि ·दीनानाथदानशाला विवाहयजनगेहादिपरिवर्जनोपलक्षिता ··।=दीन अनाथ दानशाला विवाह-यज्ञ भोजनादिका जिसमें परिहार होता है, ऐसी भिक्षा शुद्धि है।

भ. आ /वि /१५०/३४५/७ गृहिणा भोजनार्थं कृतमण्डनपरिहारा, देवताभ्युपिता निरन्तोभूतनानाजनामन्तिकस्थासनशयनामासीनशयितपुरुषा· भूमिं न प्रविशेत। =जहाँ गृहस्थोंके भोजनके लिए रगावली रची गयी है, देवताओंकी स्थापनासे युक्त, अनेक लोग जहाँ बैठे हे, जहाँ आसन और शय्या रखे है, जहाँ लोक बैठे है और सोये है ऐसी भूमिमें साधु प्रवेश न करें।

भ. आ /वि./१२०६/१२०४/८ न गीतनृत्यबहुलं, उच्छ्रितपताकं वा गृहं प्रविशेत्। यज्ञशाला, दानशाला, विवाहगृह, वार्यमाणानि, रक्ष्यमाणानि, अन्यमुक्तानि च गृहाणि परिहरेत। =जहाँ पताकाओंकी पंक्ति सजायी जा रही है ऐसे घरमें प्रवेश न करे।···यज्ञशाला दानशाला, विवाहगृह, जहाँ प्रवेश करनेकी मनाई है, जो पहरेदारोंसे युक्त है, जिसको अन्य भिक्षुकोंने छोड़ा है ऐसे गृहोका त्याग करना चाहिए।

१०. उद्यान गृह आदिका निषेध

भ. आ./वि /१२०६/१२०४/१४ रहस्यगृह, वनगृह कदलीलतागुल्मगृहं, नाट्यगान्धर्वशालाश्च अभिनन्द्यमानोऽपि न प्रविशेत। =एकांतगृह, उद्यानगृह, कदलियोसे बना हुआ गृह, लतागृह, छोटे-छोटे वृक्षोंसे आच्छादित गृह, नाट्यशाला, गन्धर्वशाला, इन स्थानोमें प्रतिग्रह करनेपर भी प्रवेश करना निषिद्ध है।

३. योग्यायोग्य कुल व घर

१. विधर्मी आदिके घरपर आहार न करे

दे० आहार/I/२/२ अनभिज्ञ साधर्मी और आचार क्रियाओंको जाननेवाले भी विधर्मी द्वारा शोधा या पकाया गया, भोजन नहीं ग्रहण करना चाहिए।

दे० भिक्षा/३/१ नीच कुल अथवा कुलिंगियोंके गृहमें आहार नहीं लेना चाहिए।

क्रियाकोष/२०८-२०९ जेनधर्म जिनके घर नाहीं। आन-आन देव जिनके घर माँही।२०८। तिनिको छूआ अथवा करको। कबहू न खावे तिनके घरको।२०९।

२. नीच कुलीनके घर आहार करनेका निषेध

मू. आ /४९८, ५०० अभोजगिहपवेसण।४९८। कारणभूदा अभोयणस्सेह।५००।=अभोज्य घरमें प्रवेश करना भोजन त्यागका कारण है, अर्थात २१ वाँ अन्तराय है।

लिं. पा /मू /२१ पुच्छलिघरि जो भुजइ णिच्च सथुणदि पोसए पिंड। पावदि बालसहाव भावविणट्ठो ण सो सवणो।२१। =जो लिंगधारी व्यभिचारिणी स्त्रीके घर भोजन करते है, और 'यह बडी धर्मात्मा है' इस प्रकार उसकी सराहना करते हैं। सो ऐसा लिंगधारी बालस्वभावको प्राप्त होता है, अज्ञानी है, भाव विनष्ट है, सो श्रमण नहीं है।२१।

रा. वा /९/६/१६/५९७/१७ भिक्षाशुद्धि · लोकगर्हितकुलपरिवर्जनपरा ·। =भिक्षा शुद्धि लोक गर्हित कुलोंका परिवर्जन या त्याग करानेवाली है।

भ. आ./वि /४२१/६१३/१४ ऐतेषां पिण्डो नामाहार, उपकरण वा प्रतिलेखनादिक शय्याधरपिण्डस्तस्य परिहरण तृतीय· स्थितिकल्प। सति शय्याधरपिण्डग्रहणे प्रच्छन्नमय योजयेदाहारादिक। धर्मफललोभाद्यो वा आहार दातुमक्षमो दरिद्रो लुब्धो वा न चासौ वसति प्रयच्छेत्। सति वसतौ आहारादाने वा लोको मां निन्दति–स्थिता वसतावस्य यतयो न चानेन मन्दभाग्येन तेषा आहारे दत्त इति। यते स्नेहश्च स्यादाहार वसति च प्रयच्छति तस्मिन् बहूपकारितया।तत्पिण्डाग्रहणे तु नोक्तदोषसंस्पर्श·। =इनके (शय्याधरोंके दे० शय्याघर) आहारका और इनकी पिच्छिका आदि उपकरणोंका त्याग करना यह तीसरा स्थितिकल्प है। यदि इन शय्याधरोंके घरमें मुनि आहार लेंगे तो धर्म फलके लोभसे ये शय्याधर मुनियोंको आहार देते है ऐसी निन्दा होगी। जो आहार देनेमें असमर्थ है, जो दरिद्री है, लोभी कृपण है, वह मुनियोंको वसतिका दान न देवें। उसने वसतिका दान किया तो भी इस मन्दभाग्यने मुनिको आश्रय दिया परन्तु आहार नहीं दिया ऐसी लोग निन्दा करते हैं। जो वसतिका ओर आहार दोनो देता है

उसके ऊपर मुनिका स्नेह भी होना सम्भव है क्योंकि उसने मुनिपर बहुत उपकार किया है। अत उनके यहाँ मुनि आहार ग्रहण नही करते।

भ आ/वि./१२०६/१२०४/८ मत्ताना गृहं न प्रविशेत्। सुरापण्याङ्ना-लोकगर्हितकुलं वा। · · ·· उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। =मत्त पुरुषोके घरमें प्रवेश न करे। मदिरा अर्थात् मदिरा पीनेवालोका स्थान, वेश्याका घर, तथा लोक निन्द्य कुलोंका त्याग करना चाहिए। ·आचार विरुद्ध चलनेवाले श्रमन्त लोगोके घरका त्याग करना चाहिए।

आचारसार/५/१०१-१०७ कोतवाल, वेश्या, बन्दीजन, नीच कर्म करने-वालेके घरमें प्रवेशका निषेध है।

सा. ध /३/१०/१८६ पर फुटनोट— मद्यादिस्वादिगेहेषु पानमन्नं च नाचरेत्। तदामूत्रादिसपर्कं न कुर्वीत कदाचन। = मद्य पीनेवालोंके घरोंमें अन्न पान नहीं करना चाहिए। तथा मल मूत्रादिका सम्पर्क भी उस समय नही करना चाहिए।

बो.पा /टी /४८/११२/१५ कि तदयोग्य गृह यत्र भिक्षा न गृह्यते इत्याह— गायकस्य तलारस्य, नीचकर्मोपजीविन। मालिकस्य विलिङ्गस्य वेश्यायास्तैलिकस्य च।१। अस्यायमर्थ·—गायकस्य गन्धर्वस्य गृहे न भुज्यते। तलारस्य कोटपालस्य, नीचकर्मोपजीविन चर्मजलशकटा देर्वाहकादे श्रावकस्यापि गृहे न भुज्यते। मालिकस्य पुष्पोपजीविन; विलिङ्गस्य भरटस्य, वेश्याया गणिकाया., तैलिकस्य घाचिक्स्य। दीनस्य सूतिकायाश्च छिपकस्य विशेषत। मद्यविक्रयिणो मद्यपायि-संसर्गिणश्च न।२। दीनस्य श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भाषते। सूति-काया या बालकाना जननं कारयति। अन्यत्सुगमं। शालिको मालिकश्चैव कुम्भकारस्तिलंतुद। नापितश्चेति विज्ञेया पञ्चैते पञ्चकारव।३। रजकस्तक्षकश्चैव अय. सुवर्णकारक.। दृषत्कारादय-श्चेति कारवो बहव. स्मृता।४। क्रियते भोजन गेहे यतिना मोक्तु-मिच्छुना। एवमादिकमप्यन्यच्चिन्तनीय स्वचेतसा।५। वर स्वहस्तेन कृत' पाको नान्यत्र दुर्दृशा। मन्दिरे भोजन यस्मात्सर्वसावद्य-संगम।६। =वे अयोग्य घर कौनसे है जहाँसे साधुको भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए। सो बताते है—गायक अर्थात् गानेकी आजीवि-का करनेवाले गन्धर्व लोगोके घरमें भोजन नहीं करना चाहिए। तलार अर्थात् कोतवालके घर तथा चमडेका तथा जल भरनेका तथा रथ आदि हाँकने इत्यादिका नीचकर्म करनेवाले श्रावकोके घरमे भी भोजन नही करना चाहिए। माली अर्थात् फूलोकी आजीविका करने-वालेके घर, तथा कुलिंगियोंके घर तथा वेश्या अर्थात् गणिकाके घर और तेलीके घर भी भोजन नहीं करना चाहिए।१। इसके अतिरिक्त निम्न अनेक घरोमें भोजन नहीं करना चाहिए—श्रावक होते हुए भी जो दीन वचन कहे, सूतिका अर्थात् जिसने हाल ही में बच्चा जना हो, छिपी (कपडा रंगनेवाले), मद्य बेचने वाले, मद्य पीनेवाले, या उनके संसर्गमें रहनेवाले।२। जुलाहे, माली, कुम्हार, तिलतुड अर्थात् तेली, नावि अर्थात् नाई इन पाँचोंको पाँच कारव कहते है।३। रजक (धोबी), तक्षक (बढई), लुहार, सुनार, दृषत्कार अर्थात् पत्थर घडने-वाले इत्यादि अनेकों कारव है।४। ये तथा अन्य भी अपनी बुद्धिसे विचारकर, मोक्षमार्गी यतियोको इनके घर भोजन नहीं करना चाहिए।५। अपने हाथसे पकाकर खा लेना अच्छा है परन्तु ऐसे कुदृष्टि व नीचकर्मोपजीवी लोगोके घरमें भोजन करना योग्य नहीं है, क्योकि इससे सर्व सावद्यका प्रसंग आता है।

३. शूद्रसे छूनेपर स्नान करनेका विधान

आचारसार/२/७० स्पृष्टे कपालिचाण्डालपुष्पवत्यादिके सति। जपेदु-पोषितो मन्त्र प्रागुप्लुत्याशु दण्डवत्।७०। =कपाली, चण्डाली और रजस्वला स्त्रीसे छूनेपर सिरपर कमण्डलसे पानीकी धार डाले, जो पाँवो तक आ जाये। उपवास करे। महा मन्त्रका जाप करे।

सा. ध./२/३३/१०६ पर फुटनोट—यस्तेऽस्तु दुर्जनस्पर्शात्स्नानमन्यद्वि-गर्हितं। =दुर्जन (अर्थात् अस्पर्श चाण्डाल आदिके साथ स्पर्श होने-पर मुनिको स्नान करना चाहिए।

अन. ध./५/५६ तद्वच्चाण्डालादिस्पर्श. च।६। = चाण्डालादिका स्पर्श हो जानेपर अन्तराय हो जाता है।

४. अति दरिद्रीके घर आहार करनेका निषेध

रा. वा./६/६/१६/५६७/१८ भिक्षाशुद्धि, ··· दीनानाथं··· गेहादिपरि-वर्जनोपलक्षिता। =दीन अनाथोके घरका त्याग करना भिक्षा शुद्धि है।

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/६ दरिद्रकुलानि उत्क्रमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। =अतिशय दरिद्री लोगोके घर तथा आचार विरुद्ध श्रमन्तोंके घरमें भी प्रवेश न करे।

बो. पा./टी./४८/११२ पर उद्धृत-दीनस्य श्रावकोऽपि सन् यो दीनं भाषते। =श्रावक होते हुए भी जो दीन वचन कहे, उसके घर भोजन नही करना चाहिए।

५. कदाचित् नीच घरमें भी आहार ले लेते हैं

मू. आ /८१३ अण्णादमणुण्णादं भिक्खं णिच्चुच्चमज्झिमकुलेसु। घर-पंतिहि हिंडंति य मोणेण मुणी समादिंति।८१३। =दरिद्र, धनवान, सामान्य घरोंमें की पंक्तिसे वे मुनि भ्रमण करते है और फिर मौन पूर्वक अज्ञात अनुज्ञात भिक्षाको ग्रहण करते है।८१३।

६. राजा आदिके घरपर आहारका निषेध

भ. आ./वि /४२१/६१३/१८ राजपिण्डाग्रहणं चतुर्थ स्थितिकल्प। राज-शब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाता। राजते रञ्जयति इति वा राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते। तस्य पिण्ड। स त्रिविधो भवति। आहार, अनाहार, उपधिरिति। तत्राहारश्चतुर्विधो भवति अशनादिभेदेन। तृणफलकपीठादि अनाहार, उपधिर्नाम प्रतिलेखनं वस्त्रं पात्रं वा। एवंभूतस्य राजपिण्डस्य ग्रहणे को दोष इति चेत् अत्रोच्यते—द्विविधा दोषा आत्मसमुत्था परसमुत्था मनुजति-र्यक्कृतविकल्पेनेति। तिर्यक्कृता द्विविधा ग्रामारण्यपशुभेदात्। ते द्विप्रकारा अपि द्विभेदा दुष्टा भद्राश्चेति। हया, गजा, गावो, महिषा, मेण्ढा, श्वानश्च ग्राम्या दुष्टा। दुष्टेभ्य संयतोपघात। भद्रा. पलायमाना. स्वय दु खिता पातेन अभिघातेन वा व्रतिनो मारयन्ति वा धावनोल्लंघनादिपरा। प्राणिन आरण्यकास्तु व्याघ्रक्रव्याद्द्वीपिनो, वानरा वा राजगृहे बन्धनमुक्ता यदि क्षुद्रास्तत आत्मविपत्तिर्भद्रा-श्चेत्पलायने पूर्वदोष। मानुषास्तु तलवरा म्लेच्छभेदा, प्रेष्या, दासा· दास्य इत्यादिका तैराकुलत्वात् दु प्रवेशनं राजगृहे प्रविशन्त मत्ता, प्रमत्ता, प्रमुदिताश्च दासादय· उपहसति, आक्रोशयन्ति वारयन्ति वा। अवरुद्धाया स्त्रिया मैथुनसंज्ञया बाध्यमाना पुत्रार्थिन्यो वा बलात्स्वगृह प्रवेशयन्ति भोगार्थं। विप्रकीर्णं रत्नसुवर्णादिकं परे गृहीत्वा अत्र संयता अयाता इति दोषमध्यारोपयन्ति। राजा विश्वस्त श्रमणेषु इति श्रमणरूप गृहीत्वागत्य दुष्टा. खलीकुर्वन्ति। ततो रुष्टा अविवेकिन दूषयन्ति श्रमणान्मारयन्ति बध्नन्ति वा एते परसमुद्भवा दोषा। आत्मसमुद्भवास्तूच्यन्ते। राजकुले आहारं न शोधयति अदृष्टमाहृत च गृह्णाति। विकृतिसेवनादिगालदोष, मन्द-भाग्यो वा दृष्ट्वानर्घ्यं रत्नादिकं गृहीयाद्वामलोचना वानुरूपा समवलोक्यानुरक्तस्तासु भवेत्। ता विभूतिं, अन्त पुराणि, पण्याङ्गना वा विलोक्य निदान कुर्यात्। इति दोषसंभवो यत्र तत्र राजपिण्ड-ग्रहणप्रतिषेधो। =राजाके यहाँ आहार नही लेना चाहिए यह चौथा स्थिति कल्प है। १ राजासे तात्पर्य —इक्ष्वाकुवंश हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजाका पालन करना, तथा उनकी दुष्टोंसे रक्षा करना, इत्यादि उपायोंसे अनुरंजन करता है उसको

राजा कहते है। राजाके समान जो महर्द्धिके धारक अन्य धनाढ्य व्यक्ति है, उसको भी राजा कहते है। ऐसोंके यहाँ पिण्ड ग्रहण करना राजपिण्ड है। राजपिण्डका तात्पर्य—उपरोक्त लोगोंके हा आहार राजपिण्ड है। इसके तीन भेद है—आहार, अनाहार और उपधि। अन्न, पान और खाद्य, स्वाद्यके पदार्थोको आहार कहते हे। तृण, फलक आसन वगैरहके पदार्थोंको अनाहार कहते हे। पिछी, वस्त्र, पात्र आदिको उपधि कहते है। राजपिण्ड ग्रहणमें परकृतदोष —राजपिण्ड ग्रहण करनेमे क्या दोष है ? इस प्रश्नका उत्तर ऐसा हे—आत्मसमुत्थ और परसमुत्थ—ऐसे दोषोके दो भेद है। ये दोष मनुष्य और तिर्यंचो-के द्वारा होते हैं। तिर्यंचोंके ग्राम्य और अरण्यवासी ऐसे दो भेद है। ये दोनों प्रकारके तिर्यंच दुष्ट और भद्र ऐसे दो प्रकारके है। घोडा, हाथी, भैसा, मेढा, कुत्ता इनका ग्राम्य पशु कहते है। सिंह आदि पशु अरण्यवासी हैं। ये पशु राजाके घरमें प्राय. होते हैं। तिर्यंचकृत उपद्रव—यदि ये उपरोक्त पशु दुष्ट स्वभावके होगे तो उनसे मुनियोको बाधा पहुँचती है। यदि वे भद्र हों तो वे स्वय मुनिको देखकर भयसे भागकर दुखित होते हे। स्वय गिर पडते है अथवा धक्का देकर मुनियोको मारते है। इधर उधर कूदते हे। बाघ, सिंह आदि मास भक्षी प्राणी, बानर वगैरह प्राणी राजाके घरमें बन्धनसे यदि मुक्त हो गये होगे तो उनसे मुनिका घात होगा और यदि वे भद्र होगे तो उनके इधर-उधर भागनेपर भी मुनिको बाधा होनेकी सम्भावना हे। मनुष्यकृत उपद्रव—मनुष्योसे भी राजाके घरमें मुनियोंको दुख भोगने पडते है। उनका वर्णन इस प्रकार है—राजाके घरमें तलवर (कोतवाल) म्लेच्छ, दास, दासी वगैरह लोक रहते है। इन लोगोसे राजगृह व्याप्त होनेसे वहाँ प्रवेश होनेमें कठिनता पडती है। यदि मुनिने राजाके घरमें प्रवेश किया तो वहाँ उन्मत्त दास वगेरह उनका उपहास करते है, उनको निंद्य शब्द बोलते हैं, कोई उनको अन्दर प्रवेश करनेमें मनाई करते है, कोई उनको उल्लंघन करते हे। वहाँ अन्त पुरकी स्त्रियाँ यदि काम विकारसे पीडित हो गयीं अथवा पुत्रकी इच्छा उनको हो तो मुनिका जबरदस्तीसे उपभोगके लिए अपने घरमें प्रवेश करवाती है। कोई व्यक्ति राजाके घरके सुवर्ण रत्नादिक चुराकर 'यहाँ मुनि आया था उसने चोरी की है' ऐसा दोषारोपण करते है। यह राजा मुनियोका भक्त है, ऐसा समझकर दुष्ट लोक मुनि वेष धारणकर राजाके यहाँ प्रवेश करते है, और वहाँ अनर्थ करते है, जिससे असली मुनियोको बाधा पहुँचनेकी बहुत सम्भावना रहती है। अर्थात् राजा रुष्ट होकर अविवेकी बनकर मुनियोंको दुख देता है। अथवा अविवेकी दुष्ट लोक मुनियोको दोष देते हे, उनको मारते है। ऐसे इतर व्यक्तियोसे उत्पन्न हुए अर्थात् परसमुत्थ दोषोका वर्णन किया। आत्म समुत्थ दोष—अब राजाके घरमें प्रवेश करनेसे मुनि स्वयं कौनसे दोष करते हे, ऐसे आत्म-समुत्थ दोषोका वर्णन करते है—राजगृहमें जाकर आहार शुद्ध है या नही इसका शोध नहीं करेगा, देख-भालकर न लाया हुआ आहार ही ग्रहण कर लेता है। विकार उत्पन्न करनेवाले पदार्थ सेवन करनेसे इंगाल नामक दोष उत्पन्न होता हे, अर्थात् ऐसे पदार्थ भक्षण करनेमें लम्पट हो जाता है। दुर्दैवसे वहाँके रत्नादिक अमूल्य वस्तु चुरानेके भाव उत्पन्न होकर उसको उठा लेगा। अपने योग्य स्त्रीको देखकर उसमें अनुरक्त होगा। राजाका वैभव उसका अन्त पुर, वेश्या वगैरहको देखकर निदान करेगा। ऐसे दोषोंका सम्भव होगा ऐसे राजाके घरमें आहारका त्याग करना चाहिए।

दे० भिक्षा/२/१ में भ. आ पहरेदारोसे युक्त गृहका त्याग करना चाहिए।

७. कदाचित् राजपिंडका भी ग्रहण

भ आ /वि./४२१/६१४/८ इति दोषसंभवो यत्र तत्र राजपिण्डग्रहणप्रति-षेधो नमर्यत्र प्रकल्प्यते। ग्लानार्थे राजपिण्डोऽपि दुर्लभद्रव्य। आगाढ-कारणे वा श्रुतस्य व्यवच्छेदो माभूदिति। =(उपरोक्त शीर्षकमें कथित) राजपिंडके दोषोका सम्भव जहाँ होगा ऐसे राजाके घरमें आहारका त्याग करना चाहिए। परन्तु जहाँ ऐसे दोषोंकी सम्भावना नहीं है वहाँ मुनिको आहार लेनेकी मनाई नहीं है। मन्वन्तर न हो अथवा श्रुतज्ञानका नाश होनेका प्रसग हो तो इसका रक्षण करनेके लिए राजगृहमें आहार लेनेका निषेध नहीं है। ग्लान मुनि अर्थात् बीमार मुनिके लिए राजपिंड यह दुर्लभ द्रव्य है। बीमारी, श्रुतज्ञान का रक्षण ऐसे प्रसगमें राजाके यहाँ आहार लेना निषिद्ध नहीं है।

म पु /२०/६६-८१ का भावार्थ—श्रेयान्सकुमारने भगवान् ऋषभदेवको आहारदान दिया था।

८. मध्यम दर्जेके लोगोंके घर आहार लेना चाहिए

भ. आ./वि./१२०६/१२०४/१० दरिद्रकुलानि उत्कमाढ्यकुलानि न प्रविशेत्। ज्येष्ठान्यम-गानि सममेवाटेत्। =अतिशय दरिद्री लोगोंके घर तथा आचार विरुद्ध चलनेवाले श्रमन्त लोगोंके गृहका त्याग करके बडे छोटे व मध्यम ऐसे घरोंमें प्रवेश करना चाहिए।

दे. भिक्षा/३/५ दरिद्र व धनवान रूप मध्यम दर्जेके घरोंकी पंक्तिमें वे मुनि भ्रमण करते हैं।

भिक्षु—(दे० साधु)।

भित्तिकर्म—दे० निक्षेप/४।

भिन्नदश पूर्वी—दे० श्रुतकेवली/१।

भिन्न—Fraction (ध ५/प्र २८)।

भिन्न अंकगणित—दे० गणित/II/१।

भिन्न परिकर्माष्टक—दे० गणित/II/१।

भिन्न मुहूर्त—कालका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

भिल्लक संघ—दे० इतिहास/६।

भीम—१. वर्तमान कालीन नारद थे—दे० शलाका पुरुष/६। २. राक्षस जातिके व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० राक्षस। ३. राक्षसोंका इन्द्र भीम जिसने सगर चक्रवर्तीके शत्रु पूर्णघनके पुत्र मेघवाहनको अजितनाथ भगवान्की शरणमें आनेपर लका दी थी जिससे राक्षस-वशकी उत्पत्ति हुई (प. पु /५/१६०)। ४ पा. पु /सर्ग/श्लोक पूर्वके दूसरे भवमें सोमिल ब्राह्मणके पुत्र थे (२३/८१) पूर्वभवमें अच्युत स्वर्गमे देव हुए (२३/१०१)। वर्तमान भवमें पाण्डुका कुन्ती रानीसे पुत्र थे (८/१६७-२४/७५) ताऊ भीष्म तथा गुरुद्रोणाचार्यने शिक्षा प्राप्त की। (८/२०४-२१४)। लाक्षा गृह दहनके पश्चात् (दे० पाण्डव) तुण्डी नामक देवीसे नदीमें युक्त किया विजय प्राप्तकर नदीमे बाहर आये (१२/३४३) फिर पिशाच विद्याधरको हराकर उसकी पुत्री हिडम्बासे विवाह किया, जिससे घुट्टक नामक पुत्र उत्पन्न हुआ (१४/५१-६५)। फिर असुर राक्षस (१४/७५) मनुष्यभक्षी राजा बकको हराया (१४/१३१-१३४)। कर्णके मदमस्त हाथीको वशमें किया (१४/१६८) यक्ष द्वारा गदा प्राप्त की (१४/१०३) द्रौपदीपर कीचकके मोहित होनेपर द्रौपदीके वेशमें कीचकको मार डाला (१७/२७८) फिर कृष्ण व जरासधके युद्धमे दुर्योधनके ९९ भाई तथा और भी अनेकोको मारा (२०/२६६)। अन्तमें नेमिनाथ भगवान्के समवशरणमें अपने पूर्वभव सुनकर विरक्त हो दीक्षा धारण की (२५/१२—) घोर तपकर अन्तमें दुर्योधनके भाजेकृत उपसर्गको जीत मोक्ष प्राप्त किया। (२५/५२-१३३)। और भी—दे० पाण्डव।

भीमरथी—भरत आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य /४।

भीमसेन—१ पुन्नाट सघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अभयसेन न. २ के शिष्य तथा जिनसेनके गुरु थे।—दे० इतिहास/५/१८।

२. काष्ठासंघकी गुर्वावलीके अनुसार यह लक्ष्मणसेनके शिष्य तथा सोमकीर्तिके गुरु थे। समय—वि ११०६ (ई० १४४६) दे० इतिहास/५/६।

भीमावलि—वर्तमान कालीन प्रथम रुद्र—दे० शलाका-पुरुष/७।

भीष्म—अपरनाम गांगेय—दे० गांगेय।

भुजंग—महोरग नामा व्यन्तर जातिका एक भेद—दे० महोरग।

भुजंगदेव—लवण समुद्रके ऊपर आकाशमें स्थित भुजगनामक देवोंकी २८००० नगरियाँ है।

भुजंगशाली—दे० भुजग।

भुजगार बंध—दे० प्रकृतिबंध/१।

भुज्यमान आयु—दे० आयु/१।

भुवनकीर्ति—नन्दिसंघ बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप सकलकीर्तिके शिष्य तथा ज्ञानभूषणके गुरु थे। समय—१. गजाधर लालके अनुसार वि. १५३५ (ई १४७८); A. N. Up के अनुसार ई १४५१-१४७० (तत्त्वज्ञान तरंगिनी/प्र/१८/२१ प्रशस्ति) (का. अ/प्र.७६/A. N Up) (तत्त्वज्ञान-तरंगिनी/प्र.२/प. गजाधर) दे० इतिहास/५/१३।

भूगोल—दे० लोक।

भूत—१. प्राणी सामान्य

स. सि./६/१२/३३०/११ तासु तासु गतिषु कर्मोदयवशाद् भवन्तीति भूतानि प्राणिन इत्यर्थ।=जो कर्मोदयके कारण विविध गतियोंमें होते है, वे भूत कहलाते है। भूत यह प्राणीका पर्यायवाची शब्द है। (रा. वा./६/१२/१/५२२/१२) (गो. क./जी प्र/८०१/९८०/१)।

ध./१३/५.५.५०/२८६/२ अभूत इति भूतम्।=श्रुत अतीतकालमें था इसलिए इसकी भूत सज्ञा है।

२. व्यन्तर देव विशेष

ति प./६/४६ भूदा इमे सरूवा पडिरूवा भूदउत्तमा होंति। पडिभूदमहाभूदा पडिछण्णकासभूदत्ति।४६।=स्वरूप, प्रतिरूप, भूतोत्तम, प्रतिभूत, महाभूत, प्रतिच्छन्न और आकाशभूत इस प्रकार ये सात भेद भूतोंके है। (त्रि. सा./२६६)।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. भूतों के वर्ण परिवार आदि	—दे० व्यन्तर।
२. भूत देवोंके इन्द्रके वैभव व अवस्थानादि	—दे० व्यन्तर।
३. भूत शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं।	—दे० व्यन्तर।
४ भूत शरीरका खडा होना भागना आदि	—दे० सल्लेखना/६/१।

भूत नैगम नय—दे० नय/III/२।

भूतवर—मध्यलोकके अन्तसे पंचम सागर व द्वीप—दे० लोक/५।

भूतबली—इसी कोपके इतिहास प्रकरणमे श्रुतावतारमे किये गये कथनानुसार आपके दीक्षा गुरु अर्हद्बलि थे, और शिक्षा गुरु धरसेन। आप पुष्पदन्त आचार्यके गुरु भाई थे। उनके साथ ही गुरु अर्हद्बलिने इन्हे महिमा नगरके सघसे गिरनार पर्वतपर धरसेनाचार्यकी सेवामे भेजा था। जहाँ जाकर आपने उनमे षट्खण्डागमका ज्ञान प्राप्त किया और उनके पश्चात् उसे लिपि बद्ध करके उनकी भावनाको पूरा किया। आप अल्पवयमे ही दीक्षित हुए थे, इसलिए पुष्पदन्त आचार्यके पीछे तक भी बहुत वर्ष जोवित रहे और इसी कारण षट्खण्डका अधिकाश भाग आपने ही पूरा किया। समय—वी. नि. ५९३-६८३ (ई. ६६-१५६) विशेष दे० इतिहास/४/१; ४/४/१०)।

भूतारण्यक वन—अपर विदेहस्थवन—दे० लोक/३/१४।

भूतोत्तम—भूत जाति व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० भूत।

भूधरदास—आगरा निवासी खण्डेलवाल थे। कृति—पार्श्वनाथ पुराण; जैन शतक, पद संग्रह। समय—वि. श. १८ का मध्य। (हि. जै. सा इ/१७२ कामता)।

भूपाल—म. पु./६५/श्लोक न. भरतक्षेत्रमें भूपाल नामका राजा (५१) युद्धमे मान भग होनेके कारण चक्रवर्ती पदका निदान कर दीक्षा धारण कर ली (५२-५४)। संन्यास मरणकर महाशुक्र स्वर्गमे देव हुआ (५५) यह सुभौम चक्रवर्तीका पूर्वका तीसरा भव है। —दे० सुभौम।

भूपाल चतुर्विंशतिका—प. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) द्वारा रचित सस्कृत ग्रन्थ।

भूमि—अन्त; last term in numerical series—विदेश दे० गणित/II/५।

भूमि—लोकमें जीवोके निवासस्थानको भूमि कहते है। नरककी सात भूमियाँ प्रसिद्ध है। उनके अतिरिक्त अष्टम भूमि भी मानी गयी है। नरकोके नीचे निगोदोकी निवास भूत कलकल नामकी पृथिवी अष्टम पृथिवी है और ऊपर लोकके अन्तमें मुक्त जीवोकी आवासभूत ईषत्प्राग्भार नामकी अष्टम पृथिवी है। मध्यलोकमें मनुष्य व तिर्यंचोंकी निवासभूत दो प्रकारकी रचनाएँ है—भोगभूमि व कर्मभूमि। जहाँके निवासी स्वय खेती आदि षट्कर्म करके अपनी आवश्यकताएँ पूरी करते हैं उसे कर्मभूमि कहते है। यद्यपि भोग भूमि पुण्यका फल समझी जाती है, परन्तु मोक्षके द्वारा रूप कर्म भूमि ही है भोगभूमि नहीं है।

१ भूमिका लक्षण

ध. ४/१,३,१/८/२ आगास गगणं देवपथ गोज्झगाचारिद अवगाहणलक्खणं आधेय वियापगमाधारो भूमित्ति एयट्ठो।=आकाश, गगन, देवपथ, गुह्यकाचरित (यक्षोके विचरणका स्थान) अवगाहनलक्षण, आधेय, व्यापक, आधार और भूमि, ये सब नो आगमद्रव्यक्षेत्रके एकार्थक नाम है।

२. अष्टभूमि निर्देश

ति. प./२/२४ सत्तच्चियभूमीओ णवदिसभाएण घणोवहिविलग्गा। अट्ठमभूमी दसदिसभागेसु घणोवहिं छिवदि।=सातो पृथिवियाँ ऊर्ध्वदिशाको छोड शेष नौ दिशाओमे घनोदधि वातवलयसे लगी हुई है। परन्तु आठवीं पृथिवी दशो दिशाओमे ही घनोदधि वातवलयको छूती है।

ध. १४/५.६.६४/४६५/२ धम्मादिसत्तणिरयपुढवीओ ईसप्पभारपुढवीए सह अट्ठ पुढवीओ महाखधस्स ट्ठाणाणि होंति।=ईषत्प्राग्भार (दे० मोक्ष) पृथिवीके साथ धर्मा आदि सात नरक पृथिवियाँ मिलकर आठ पृथिवियाँ महास्कन्धके स्थान हैं।

३. कर्मभूमि व भोगभूमिके लक्षण—कर्मभूमि—

स सि./३/३७/२३२/५ अथ कथं कर्मभूमित्वम्। शुभाशुभलक्षणस्य कर्मणोऽधिष्ठानत्वात्। ननु सर्वं लोकत्रितय कर्मणोऽधिष्ठानमेव। तत एव प्रकर्षगतिर्विज्ञास्यते, प्रकर्षेण यत्कर्मणोऽधिष्ठानमिति। तत्राशुभकर्मणस्तावत्सप्तमनरकप्रापणस्य भरतादिष्वेवार्जनम्, शुभस्य च सर्वार्थसिद्ध्यादिस्थानविशेषप्रापणस्य कर्मण उपार्जन तत्रैव, कृष्यादिलक्षणस्य षड्विधस्य कर्मण' पात्रदानादिसहितस्य तत्रैवारम्भात्कर्म

भूमिव्यपदेशो वेदितव्य'। =प्रश्न—कर्मभूमि यह संज्ञा कैसे प्राप्त होती है? उत्तर—जो शुभ और अशुभ कर्मोंका आश्रय हो उसे कर्मभूमि कहते है। यद्यपि तीनों लोक कर्मका आश्रय है फिर भी इससे उत्कृष्टताका ज्ञान होता है कि ये प्रकर्ष रूपसे कर्मका आश्रय है। सातवें नरकको प्राप्त करनेवाले अशुभ कर्मका भरतादि क्षेत्रोंमें ही अर्जन किया जाता है, इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि आदि स्थान विशेषको प्राप्त करानेवाले पुण्य कर्मका उपार्जन भी यहींपर होता है। तथा पात्र दान आदिके साथ कृषि आदि छह प्रकारके कर्मका आरम्भ यहींपर होता है इसलिए भरतादिकको कर्मभूमि जानना चाहिए। (रा. वा /३/३७/१-२/२०४-२०५)।

भ. आ./वि./७८१/९३६ पर उद्धृत—कर्मभूमिसमुत्थाश्च भोगभूमिभवास्तथा। अतरद्वीपजाश्चैव तथा सम्मूर्च्छिमा इति। असिर्मषि' कृषि' शिल्पं वाणिज्य व्यवहारिता। इति यत्र प्रवर्तन्ते नृणामाजीवयोनय। प्रपाल्य सयम यत्र तप कर्मपरा नरा'। सुरसगति वा सिद्धि प्रयान्ति हतशत्रव। एता कर्मभुवो ज्ञेया पूर्वोक्ता दश पञ्च च। यत्र सभूय पर्याप्ति यान्ति ते कर्मभूमिता। =कर्म भूमिज, आदि चार प्रकार मनुष्य है (दे० मनुष्य/१)। जहाँ असि—शस्त्र धारण करना, मषि—वही खाता लिखना, कृषि—खेती करना, पशु पालना, शिल्पकर्म करना अर्थात् हस्त कौशल्यके काम करना, वाणिज्य—व्यापार करना और व्यवहारिता—न्याय दानका कार्य करना, ऐसे छह कार्योंसे जहाँ उपजीविका करनी पडती है, जहाँ सयमका पालन कर मनुष्य तप करनेमें तत्पर होते है और जहाँ मनुष्योको पुण्यसे स्वर्ग प्राप्ति होती है और कर्मका नाश करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है ऐसे स्थानको कर्मभूमि कहते है। यह कर्मभूमि अढाई द्वीपमें पन्द्रह हे अर्थात् पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह।

२. भोगभूमि

स. सि./३/३७/२३२/१० दशविधकल्पवृक्षकल्पितभोगानुभवनविषयत्वाद्‍-भोगभूमय इति व्यपदिश्यन्ते। =इतर क्षेत्रोमें दस प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त हुए भोगोके उपभोगकी मुख्यता है इसलिए भरतादिकको कर्मभूमि जानना चाहिए।

भ. आ /वि./७८१/९३६/१६ ज्योतिषाख्यैस्तरुभिस्तत्र जीविका'। पुरग्रामादया यत्र न निवेशा न चाधिप। न कुलं कर्म शिल्पानि न वर्णाश्रमसस्थिति। यत्र नार्यो नराश्चैव मैथुनीभूय नीरुज। रमन्ते पूर्वपुण्याना प्राप्नुवन्ति पर फल। यत्र प्रकृतिभद्रत्वात् दिव यान्ति मृता अपि। ता भोगभूमयश्चोक्तास्तत्र स्युर्भोगभूमिजा। =ज्योतिरग आदि दश प्रकारके (दे० वृक्ष) जहाँ कल्पवृक्ष रहते है। और इससे मनुष्योंकी उपजीविका चलती है। ऐसे स्थानको भोगभूमि कहते है। भोग भूमिमें नगर, कुल, असिमष्यादि क्रिया, शिल्प, वर्णाश्रमकी पद्धति ये नही होती है। यहाँ मनुष्य और स्त्री पूर्वपुण्यसे पतिपत्नी होकर रममाण होते है। वे सदा नीरोग ही रहते है और सुख भोगते है। यहाँके लोक स्वभावसे ही मृदुपरिणामी अर्थात् मन्द कषायी होते है, इसलिए मरणोत्तर उनको स्वर्गकी प्राप्ति होती है। भोगभूमिमें रहने वाले मनुष्योंको भोगभूमिज कहते हे। (दे० वृक्ष/१/१)।

४. कर्मभूमिकी स्थापनाका इतिहास

म. पु./१६/श्लोक न केवल भावार्थ—कल्पवृक्षोंके नष्ट होनेपर कर्मभूमि प्रगट हुई।१४६। शुभ मुहूर्तादिमें (१४६) इन्द्रने अयोध्यापुरीके बीचमें जिनमन्दिरकी स्थापना की। इसके पश्चात् चारो दिशाओंमें जिनमन्दिरोंकी स्थापना की गयी (१४९-१५०) तदनन्तर देश, महादेश, नगर, वन और सीमा सहित गाँव तथा खेडो आदिकी रचना की थी (१५१) भगवान् ऋषभदेवने प्रजाको असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प ये छह कार्योंका उपदेश दिया (१७९-१७८) तब सब प्रजाने भगवान्‌को श्रेष्ठ जानकर राजा बनाया (२२४) तब राज्य प्रकार भगवान्‌ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इस प्रकार चतुर्वर्णकी स्थापना की (२४५)। उक्त छह कर्मोंकी व्यवस्था होनेसे यह कर्मभूमि कहलाने लगी थी (२४९) तदनन्तर भगवान्‌ने कुरुवंश, हरिवंश आदि राज्यवंशोकी स्थापना की (२५६—), (विशेष दे० सम्पूर्ण सर्ग), (और भी दे० काल/४/९)।

५. मध्य लोकमें कर्मभूमि व भोगभूमिका विभाजन

मध्य लोकमें मानुषोत्तर पर्वतसे आगे नागेन्द्र पर्वत तक सर्व द्वीपोंमें जघन्य भोगभूमि रहती है (ति. प./५/१६६,१७३)। नागेन्द्र पर्वतसे आगे स्वयम्भूरमण द्वीप व स्वयम्भूरमण समुद्रमें कर्मभूमि अर्थात् दुखमा काल वर्तता है। (ज प./२/१७४)। मानुषोत्तर पर्वतके इस भागमें अढाई द्वीप प्रमाण मनुष्य क्षेत्र है (दे० मनुष्य/४) इन अढाई द्वीपोंमें पाँच सुमेरु पर्वत है। एक सुमेरु पर्वतके साथ भरत हैमवत आदि सात-सात क्षेत्र है। तिनमेंसे भरत ऐरावत व विदेह ये तीन कर्मभूमियाँ हे, इस प्रकार पाँच सुमेरु सम्बन्धी १५ कर्मभूमियाँ हे। यदि पाँचों विदेहोंके ३२-३२ क्षेत्रोंकी गणना भी की जाय तो पाँच भरत, पाँच ऐरावत, और १६० विदेह, इस प्रकार कुल १७० कर्मभूमियाँ होती हैं। इन सभीमें एक-एक विजयार्ध पर्वत होता है, तथा पाँच-पाँच म्लेच्छ खण्ड तथा एक-एक आर्य खण्ड स्थित है। भरत व ऐरावत क्षेत्रके आर्य खण्डोंमें षट् काल परिवर्तन होता है। (ज. प./१७६) सभी विदेहोंके आर्य खण्डोमें सदा दुखमा-सुखमा काल वर्तता है। सभी म्लेक्ष खण्डोंमें सदा जघन्य भोगभूमि (सुखमा-दुखमा काल) होती है। सभी विजयार्धोंपर विद्याधरोंकी नगरियाँ है उनमें सदैव दुखमा-सुखमा काल वर्तता है। हेमवत, हैरण्यवत इन दो क्षेत्रोंमें सदा जघन्य भोगभूमि रहती हे। हरि व रम्यक इन दो क्षेत्रोंमें सदा मध्यम भोगभूमि (सुखमा काल) रहती हे। विदेहके बहुमध्य भागमें सुमेरु पर्वतके दोनो तरफ स्थित उत्तरकुरु व देवकुरुमें (दे० लोक/७) सदैव उत्तम भोगभूमि (सुखमा-सुखमा काल) रहती है। लवण व कालोद समुद्रमें कुमानुषोके ९६ अन्तर्द्वीप हे। इसी प्रकार १६० विदेहोंमेंसे प्रत्येकके ५६-५६ अन्तर्द्वीप है। (दे० लोक/७) इन सर्व अन्तर्द्वीपोंमें कुमानुष रहते हैं। (दे० म्लेच्छ) इन सभी अन्तर्द्वीपोंमें सदा जघन्य भोगभूमि वर्तती है (ज. प /११/५४-५५)। इन सभी कर्म व भोग भूमियोकी रचनाका विशेष परिचय (दे० काल/४/१९)।

६. कर्म व भोगभूमियोंमें सुख-दुःख सम्बन्धी नियम

ति. प./४/२९५४ छण्णउदिसदुदेकसयप्पमाणभोगखिदीण सुहमेक्क। कम्मखिदीसु णराण हवेदि सोक्ख च दुक्ख च।२९५४। =मनुष्योंको एक सो छब्बीस भोगभूमियोमें (३० भोगभूमियों और ९६ कुभोग भूमियोमे) केवल सुख, और कर्म भूमियोमें सुख एव दु'ख दोनो ही हाते है।

ति. प /५/२९२ सव्वे भोगभुवाणं सकप्पवसेण होइ सुहमेक्क। कम्मावणितिरियाण सोक्ख दुक्ख च सकप्पो।२९८। =सब भोगभूमिज तिर्यंचोके सकल्प वशसे केवल एक सुख ही हाता है, और कर्मभूमिज तिर्यंचोके सुख व दु'ख दोनोकी कल्पना होती है।

७. कर्म व भोगभूमियोंमे सम्यक्त्व व गुणस्थानोंके अस्तित्व सम्बन्धी

ति. प./४/२९३६-२९३७ पचविदेहे सट्ठिसमण्णिदसद अज्जखडए अवरे। छग्गुणठाणे तत्तो चोद्दसपेरत दीसति।२९३६। सव्वेसु भोगभुवे दो गुणठाणाणि सव्वकालम्मि। दीसति चउवियप्प सव्वमिलिच्छम्मि मिच्छत्त।२९३७। =पाँच विदेहोके भीतर एक सौ साठ आर्य खण्डो-

में जघन्य रूपसे छह गुणस्थान और उत्कृष्ट रूपसे चौदह गुणस्थान तक पाये जाते है।२९३६। सब भोगभूमिजोंमें सदा दो गुणस्थान (मिथ्यात्व व असंयत) और उत्कृष्ट रूपमे चार गुणस्थान तक रहते है। सब म्लेच्छखण्डोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।२९३७। (ति. प./५/३०३), (ज प/२/१६५)।

स. सि./१०/९/४७१/१३ जन्मप्रति पञ्चदशसु कर्मभूमिषु, संहरणं प्रति मानुषक्षेत्रे सिद्धि। = जन्मकी अपेक्षा पन्द्रह कर्मभूमियोमें और अपहरणकी अपेक्षा मानुष क्षेत्रमें सिद्धि होती है। (रा. वा./१/१०/२/६४६/१६)।

ध. १/१,१,८५/३२७/१ भोगभूमावुत्पन्नानां तद् (अणुव्रत) उपादानानुपपत्ते। =भोगभूमिमें उत्पन्न हुए जीवोंके अणुव्रतोंका ग्रहण नहीं बन सकता। (ध. १/१,१,१५७/४०२/१)।

भ. आ./वि/७८१/९३७/९ एतेषु कर्मभूमिजमानवानां एव रत्नत्रयपरिणामयोग्यता नेतरेषा इति। = इन (कर्मभूमिज, भोगभूमिज, अन्तरद्वीपज, और सम्मूर्च्छन चार प्रकारके) मनुष्योंमें कर्मभूमिज है उनको ही रत्नत्रय परिणामकी योग्यता है। इतरोको नही है।

गो. क/जी. प्र/५५०/७४४/११ का भावार्थ —कर्म भूमिका अबद्धायु मनुष्य क्षायिक सम्यग्दर्शनकी प्रस्थापना व निष्ठापना कर सकता है। परन्तु भोगभूमिमें क्षायिक सम्यग्दर्शनकी निष्ठापना हो सकती है, प्रस्थापना नहीं। (ल. सा/जी. प्र/१११)।

गो. जी./जी. प्र/७०३/११३७/८ असयते भोगभूमितिर्यग्मनुष्या कर्मभूमिमनुष्या उभये। =असंयत गुणस्थानमें भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच, कर्मभूमिज मनुष्य पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों होते हैं।

दे. वर्णव्यवस्था/१/६ (भोगभूमिमें वर्णव्यवस्था व वेषधारी नहीं है।)

८. कर्म व भोगभूमियोंमें जीवोंका अवस्थान

दे. तिर्यंच/३ भोगभूमियोंमें जलचर व विकलेन्द्रिय जीव नही होते, केवल सज्ञी पचेन्द्रिय ही होते हैं। विकलेन्द्रिय व जलचर जीव नियमसे कर्मभूमिमें होते है। स्वयप्रभ पर्वतके परभागमें सर्व प्रकारके जीव पाये जाते है। भोगभूमियोंमें संयत व सयतासयत मनुष्य या तिर्यंच भी नहीं होते हे, परन्तु पूर्व वैरीके कारण देवो द्वारा ले जाकर डाले गये जीव वहाँ सम्भव है।

दे. मनुष्य/४ मनुष्य अढाई द्वीपमें ही होते हैं, देवोंके द्वारा भी मानुषोत्तर पर्वतके पर भागमें उनका ले जाना सम्भव नही है।

९. भोगभूमिमें चारित्र क्यों नहीं

ति प/४/३८६ ते सव्वे वरजुगला अण्णोण्णुप्पण्णवेमसमुद्धा। जम्हा तम्हा तेसु सावयवदसजमो णत्थि।३८६। = क्योकि वे सब उत्तम युगल पारस्परिक प्रेममें अत्यन्त मुग्ध रहा करते हैं, इसलिए उनके श्रावकके व्रत और सयम नहीं होता।३८६।

रा. वा./३/३७/२०४/३१ भोगभूमिषु हि यद्यपि मनुष्याणा ज्ञानदर्शने स्त. चारित्रं तु नास्ति अविरतभोगपरिणामित्वात्। =भोगभूमियोंमें यद्यपि ज्ञान, दर्शन तो होता है, परन्तु भोग परिणाम होनेसे चारित्र नही होता।

१० अन्य सम्बन्धित विषय

१. अष्टमभूमि निर्देश —दे० मोक्ष/१/७।
२ कर्मभूमियोंमें वशोंकी उत्पत्ति —दे० इतिहास/८।
३ कर्मभूमिमें वर्ग व्यवस्थाकी उत्पत्ति —दे० वर्णव्यवस्था/२।
४ कर्मभूमिका प्रारम्भकाल (कुलकर) —दे० शलाका पुरुष/९।
५. कुभोग भूमि —दे० म्लेच्छ/अन्तर्द्वीपज।
६ आर्य व म्लेच्छ खण्ड —दे० वह वह नाम।
७. कर्म व भोग भूमिकी आयुके बन्ध योग्य परिणाम —दे० आयु/३।
८. इसका नाम कर्मभूमि क्यों पडा
९. कर्म व भोगभूमिमें सुखमा आदि षट् काल व्यवस्था —दे० काल/४।
१०. भोगभूमिजोंमें क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्ति क्यों नहीं —दे० तिर्यंच/१/११।
११. भोग व कर्म भूमिज कहाँसे मर कर कहाँ उत्पन्न हो —दे० जन्म/६।
१२. कर्मभूमिज तिर्यंच व मनुष्य —दे० वह वह नाम।
१३. सर्व द्वीप समुद्रोंमें संयतासयत तिर्यंचोंकी सम्भावना —दे० तिर्यंच/२/१०।
१४. कर्मभूमिज व्यपदेशसे केवल मनुष्योंका ग्रहण —दे० तिर्यंच/२/१२।

भूमिकल्प—आ० इन्द्रनन्दि (ई० श० १०-११) की रचना है।

भूमिकुंडल—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

भूमितिलक—विजयार्धको उत्तर श्रेणीका नगर —दे० विद्याधर।

भूमिशुद्धि—पूजा विधानादिमें भूमिशुद्धिके मन्त्र—दे० मन्त्र/१/६।

भूषणांग वृक्ष—दे० वृक्ष/१।

भृंगनिभा—सुमेरुके नन्दनादि वनोमें स्थित एक वापी। —दे० लोक/७।

भृंगा—सुमेरुके नन्दनादि वनोंमें स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

भृकुटि—मुनिसुव्रतनाथ भगवान्का शासक यक्ष—दे० यक्ष।

भृत्य वंश—अपरनाम कुशान वंश—दे० इतिहास/३/१।

भेडकर्म—दे० निक्षेप/४।

भेद—

१. विदारणके अर्थमें

स सि/५/२६/२९८/४ सघातानां द्वितयनिमित्तवशाद्विदारणं भेद'। =अन्तरंग और बहिरंग इन दोनों प्रकारके निमित्तोसे सघातोंके विदारण करनेको भेद कहते है। (रा वा/५/२६/१/४९३/२३)।

रा. वा./५/२४/१/४८५/१४ भिनत्ति, भिद्यते, भेदमात्र वा भेद'। =जो भेदन करता है, जिसके द्वारा भेदन किया जाता है या भेदनमात्रको भेद कहते है।

ध. १४/५,६ ९८/१२१/३ खधाणं विहडणं भेदो णाम। =स्कन्धोका विभाग होना भेद है।

दे पर्याय/१/१ 'अश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, और भग ये एकार्थवाची है।

२ वस्तुके विशेषके अर्थमें

आ. प/६ गुणगुण्यादिसज्ञाभेदाद् भेदस्वभाव'। =गुण और गुणीमें सज्ञा भेद होनेसे भेद स्वभाव है।

न च. वृ/६२ भिण्णा हु वयणभेदेण हु वे भिण्णा अभेदादो। =द्रव्य-गुण पर्यायमें वचन भेदसे तो भेद है परन्तु द्रव्य रूपसे अभेद रूप है।

स्या. म./५/२४/२० अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यास कारणभेदश्चेति। =विरुद्ध धर्मोंका रहना और भिन्न-भिन्न कारणोंका होना यही भेद है और भेदका कारण है।

२. भेदके भेद

प्र सा /त. प्र /२ को नाम भेद'। प्रादेशिक अताद्भाविको वा। =भेद दो प्रकार है—अताद्भाविक, व प्रादेशिक।

स सि./५/२४/२९६/४ भेदा पोढा, उत्करचूर्णखण्डचूर्णिकाप्रतराणुचटनविकल्पात्। =भेदके छह भेद है—उत्कर, चूर्ण, खण्ड, चूर्णिका, प्रतर और अणुचटन।

द्र. स./टी./१६/५३/६ गोधूमादिचूर्णरूपेण घृतखण्डादिरूपेण बहुधा भेदो ज्ञातव्य'। =पुद्गल गेहूँ आदिके चून रूपसे तथा घी, खाड आदि रूपसे अनेक प्रकारका भेद जानना चाहिए।

३. उत्कर, चूर्ण आदिके लक्षण

स. सि /५/२४/२९६/४ तत्रोत्कर' काष्ठादीनां करपत्रादिभिरुत्करणम्। चूर्णो यवगोधूमादीना सक्तुकणिकादि। खण्डो घटादीना कपालशर्करादि'। चूर्णिका मापमुद्गादीनाम्। प्रतरोऽभ्रपटलादीनाम्। अणुचटन सतप्ताय'पिण्डादिपु अयोघनादिभिरभिहन्यमानेपु स्फुलिङ्गनिर्गम'। =करोत आदिसे जो लकडी आदिको चीरा जाता है वह उत्कर नामका भेद है। जो और गेहूँ आदिका जो सत्तु और कनक आदि बनती है वह चूर्ण नामका भेद है। घट आदिके जो कपाल और शर्करा आदि टुकडे होते है वह खण्ड नामका भेद है। उडद और मूँग आदि का जो खण्ड किया जाता है वह चूर्णिका नामका भेद है। मेघके जो अलग-अलग पटल आदि होते है वह प्रतर नामका भेद है। तपाये हुए लोहेके गोले आदिको घन आदिसे पीटनेपर जो फुलगे निकलते है वह अणुचटन नामका भेद है। (रा. वा./५/२४/१४/४८६/५)।

* अन्य सम्बन्धी विषय

१. द्रव्यमें कथचित् भेदाभेद।	—दे० द्रव्य/४।
२. द्रव्यमें अनेक अपेक्षाओसे भेदाभेद।	—दे० सप्तभगी/५।
३ उत्पाद व्यय ध्रौव्यमें भेदाभेद।	—दे० उत्पाद/२।
४. भेद सापेक्ष वा भेद निरपेक्ष द्रव्यार्थिक नय	—दे० नय/II/२।
५. भिन्न द्रव्यमें परस्पर भिन्नता	—दे० कारक/२।
६. परके साथ एकत्व कहनेका तात्पर्य।	—दे० कारक/२।

भेदग्राही शब्द नय—दे० नय/III/६।

भेदज्ञान—१. दे०ज्ञान/II, २. इसके अपरनाम—दे० मोक्षमार्ग/२/५।

भेदवाद—भेद व अभेदवादका विधि निषेध व समन्वय—दे० द्रव्य/४।

भेद संघात—दे० सघात।

भेदाभेदवाद—दे० वेदान्त।

भेदाभेद विपर्यय—दे० विपर्यय/४।

भोक्ता—

पं. का./त. प्र /२७ निश्चयेन शुभाशुभकर्मनिमित्तसुखदु।खपरिणामानां, व्यवहारेण शुभाशुभकर्मसपादितेष्टानिष्टविपयाणां भोक्तृत्वाद्भोक्ता। =निश्चयसे शुभाशुभकर्म जिनका निमित्त है ऐसे सुखदुखपरिणामोका भोक्तृत्व होनेमे भोक्ता है। व्यवहारसे (असद्भूत व्यवहार नयसे) शुभाशुभ कर्मोंसे सम्पादित इष्टानिष्ट विपयोका भोक्तृत्व होनेसे भोक्ता है।

स. सा /आ /३२०/प. जयचन्द—जो स्वतन्त्रपने करे—भोगे उसको परमार्थमें कर्ता भोक्ता कहते है।

२. भोक्तृत्वका लक्षण

रा./वा./२/७/१३/११२/१३ भोक्तृत्वमपि साधारणम्। कुत'। तल्लक्षणोपपत्ते'। वीर्यप्रकर्पात परद्रव्यवीर्यादानसामर्थ्यं भोक्तृत्वलक्षणम्। यथा आत्मा आहारादे परद्रव्यस्यापि वीर्याभिसमादरणाद्भोक्ता।... कर्मोदयापेक्षाभावात्तदपि पारिणामिकम्। =भोक्तृत्व भी साधारण है क्योंकि उसके लक्षणसे ज्ञात होता है। एक प्रकृष्ट शक्तिवाले द्रव्यके द्वारा दूसरे द्रव्यकी सामर्थ्यको ग्रहण करना भोक्तृत्व कहलाता है। जैसे कि आत्मा आहारादि द्रव्यकी शक्तिको खींचनेके कारण भोक्ता कहा जाता है।...कर्मोंके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं होनेके कारण यह भी पारिणामिक भाव है।

पं. का./त. प्र./२८ स्वरूपभूतस्वातन्त्र्यलक्षणसुखोपलब्धिरूपं भोक्तृत्वं। =स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य जिसका लक्षण है ऐसे सुखकी उपलब्धि रूप 'भोक्तृत्व' होता है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. सम्यग्दृष्टि भोगोंका भोक्ता नहीं है।	—दे० राग/६।
२. षट् द्रव्योंमें भोक्ता अभोक्ता विभाग।	—दे० द्रव्य/३।
३. जीवको भोक्ता कहनेकी विवक्षा।	—दे० जीव/१/३।
४. भोग सम्बन्धी विषय।	—दे० भोग

भोक्ता भोग्य भाव—दे० चेतना/३।

भोक्तृत्व नय—दे० नय/I/५/४।

भोगंधरी—गन्धमादन पर्वतके स्फटिक कूटकी स्वामिनी देवी। —दे० लोक/७।

भोग—

१. सामान्य भोग व उपभोगकी अपेक्षा

र. क. श्रा./८३ भुक्त्वा परिहातव्यो भोगो भुक्त्वा पुनश्च भोक्तव्य:। उपभोगोऽशनवसनप्रभृति पञ्चेन्द्रियो विषय। =भोजन-वस्त्रादि पचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय जो भोग करके पुन' भोगनेमें न आवें वे तो भोग हैं और भोग करके फिर भोगने योग्य हो तो उपभोग हैं। (ध. १३/५.५.१३७/३८९/१४)।

स. सि /२/४४/१९५/८ इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोग। =इन्द्रिय रूपी नालियोके द्वारा शब्दादिके ग्रहण करनेको उपभोग कहते हैं।

स. सि /७/२१/३६१/७ उपभोगोऽशनपानगन्धमाल्यादि। परिभोग- आच्छादनप्रावरणालकारशयनासनगृहयानवाहनादि। =भोजन,पान, गन्ध, मालादि उपभोग कहलाते है। तथा ओढना-बिछाना, अलंकार, शयन, आसन, घर, यान और वाहन आदि परिभोग कहलाते हैं।

रा. वा /७/२१/९-१०/५४८/११ उपेत्यात्मसात्कृत्य भुज्यते अनुभूयत इत्युपभोग। अशनपानगन्धमाल्यादि'।९। सकृद् भुक्त्वा परित्यज्य पुनरपि भुज्यते इति परिभोग इत्युच्यते। आच्छादनप्रावरणालंकार' आदि।१०। =उपभोग अर्थात् एक बार भोगे जानेवाले अशन, पान, गन्ध, माला आदि। परिभोग अर्थात जो एक बार भोगे जाकर भी दुबारा भोगे जा सके जैसे-वस्त्र अलकार आदि। (चा. सा./२३/२)।

२. क्षायिक भोग व उपभोगकी अपेक्षा

स सि./२/४/१५४/७ कृत्स्नस्य भोगान्तरायस्य तिरोभावादाविर्भूतोऽतिशयवाननन्तो भोग क्षायिक। यत' कुसुमवृष्ट्यादयो विशेषा प्रादुर्भवन्ति। निरवशेपस्योपभोगान्तरायस्य प्रलयात्प्रादुर्भूतोऽनन्त उपभोग क्षायिक। यत' सिंहासनचामरच्छत्रत्रयादयो विभूतय।

=समस्त भोगान्तराय कर्मके क्षयसे अतिशयवाले क्षायिक अनन्त भोगका प्रादुर्भाव होता है, जिससे कुसुमवृष्टि आदि आश्चर्य विशेष होते हैं। समस्त उपभोगान्तरायके नष्ट हो जानेसे अनन्त क्षायिक उपभोग होता है, जिससे सिंहासन, चामर और तीन छत्र आदि विभूतियाँ होती हैं। (रा वा /२/४/४-५/१०६/३)।

* क्षायिक भोग-उपभोग विषयक शंका-समाधान —दे० दान/२/३।

२. भोग व काममें अन्तर

आ./११३८ कामो रसो य फासो सेसा भोगेत्ति आहीया/११३८/=रस और स्पर्श तो काम है, और गन्ध, रूप, शब्द भोग हैं ऐसा कहा है। (स. सा /ता वृ /४/११/१५)।

दे इन्द्रिय/३/७ दो इन्द्रियोंके विषय काम हैं तीन इन्द्रियोंके विषय भोग हैं।

३. भोग व उपभोगमें अन्तर

रा वा./८/१३/१/५८१/२ भोगोपभोगयोरविशेष । कुत । सुखानुभवननिमित्तत्वाभेदादिति, तन्न; किं कारणम्।· गन्धमाल्यशिर स्नानवस्त्रान्नपानादिषु भोगव्यवहार'।१। शयनासनाङ्गनाहस्त्यश्वरथ्यादिषूपभोगव्यपदेश ।=प्रश्न—भोग और उपभोग दोनों सुखानुभवमें निमित्त होनेके कारण अभेद है। उत्तर—नहीं, क्योंकि एक बार भोगे जानेवाले गन्ध, माला, स्नान, वस्त्र और पान आदिमें भोग व्यवहार तथा शय्या, आसन, स्त्री, हाथी, रथ, घोडा आदिमें उपभोग व्यवहार होता है।

४ निश्चय व्यवहार भोक्ता-भोग्य भाव निर्देश

द्र स /मू /९ ववहारासुहदुक्खं पुग्गलकम्मप्फलं पभुंजेदि। आदा णिच्छयणयदो चेदणभावं खु आदस्स।९।=व्यवहार नयसे आत्मा सुख-दु ख रूप पुद्गल कर्मोंके फलका भोक्ता है और निश्चयनयसे अपने चेतन भावको भोगता है।९।

दे. भोक्ता/१ निश्चयनयसे कर्मोंसे सम्पादित सुख व दु ख परिणामोंका भोक्ता है, व्यवहारसे शुभाशुभ कर्मोंसे उपार्जित इष्टानिष्ट विषयोका भोक्ता है।

५. अभेद भोक्ता योग्य भावका मतार्थ

पं. का /ता /वृ २७/६१/११ भोक्तृत्वव्याख्यान कर्ता कर्मफल न भुक्त इति बौद्धमतानुसारि शिष्यप्रतिबोधनार्थं।=कर्मके करनेवाला स्वय उसका फल नहीं भोगता है ऐसा माननेवाले बौद्ध मतानुयायी शिष्यके प्रतिबोधनार्थ जीवके भोगतापनेका व्याख्यान किया है।

६. भेदाभेद भोक्ता-भोग्य भावका समन्वय

पं. का /त प्र /६८ यथात्रोभयनयाभ्या कर्मकर्तृ, तथैकेनापि नयेन न भोक्तृ। कुत । चैतन्यपूर्वकानुभूतिसद्भावाभावात्। ततश्चेतनत्वात् केवल एव जीव कर्मफलभूताना कथंचिदात्मन सुखदु खपरिणामाना कथंचिदिष्टानिष्टविषयाणा भोक्ता प्रसिद्ध इति।=जिस प्रकार यहाँ दोनों नयोंसे कर्म कर्ता है, उसी प्रकार एक भी नयसे वह भोक्ता नहीं है। किसलिए—क्योंकि उसे चैतन्य पूर्वक अनुभूतिका सद्भाव नहीं है। इसलिए चेतनपनेके कारण मात्र जीव ही कर्मफलका-कथंचित् आत्माके सुख-दु ख परिणामोंका और कथंचित् इष्टानिष्ट विषयोंका भोक्ता प्रसिद्ध है।

७. लौकिक व अलौकिक दोनों भोग एकान्तमें होते है

नि. सा./मू /१५७ लद्धूणं णिहि एक्को तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्ते। तह णाणी णाणणिहिं भुंजेइ चइत्तु परतत्ति।१५७।=जैसे कोई एक (दरिद्र मनुष्य) निधिको पाकर अपने वतनमें (गुप्तरूपसे) रहकर उसके फलको भोगता है, उसी प्रकार ज्ञानी परजनोंके समूहको छोड कर ज्ञाननिधिको भोगता है।

नि सा./ता. वृ /१५७/२६८ अस्मिन् लोके लौकिक कश्चिदेको लब्ध्वा पुण्यात्काञ्चनाना समूहम्। गूढो भूत्वा वर्तते त्यक्तसङ्गो, ज्ञानी तद्वद् ज्ञानरक्षा करोति।२६८।=इस लोकमें कोई एक लौकिक जन पुण्यके कारण धनके समूहको पाकर, संगको छोड गुप्त होकर रहता है, उसीकी भाँति ज्ञानी (परके संगको छोडकर गुप्त रूपसे रहकर) ज्ञानकी रक्षा करता है।२६८।

* अन्य सम्बन्धित विषय

* जीव पर पदार्थोंका भोक्ता कब कहलाता है —दे० चेतना/३।
* सम्यग्दृष्टिके भोग सम्बन्धी —दे० राग/६।
* लौकिक भोगोंका तिरस्कार —दे० सुख।
* ऊपर ऊपरके स्वर्गोंमें भोगोंकी हीनता —दे० देव/II/२।
* चक्रवर्तीके दशाग भोग —दे० शलाका पुरुष/२।

भोग पत्नी—दे० स्त्री।

भोगभूमि—दे० भूमि।

भोगमालिनी—माल्यवान् गजदन्तस्थ रजत कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

भोगान्तराय कर्म—दे० अन्तराय/१।

भोगावती—१. गन्धमादन पर्वतके लोहिताक्ष कूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७। २. माल्यवान् गजदन्तस्थ सागर कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

भोगोपभोग परिमाण व्रत

र क श्रा /८२, ८४ अक्षार्थाना परिसंख्यान भोगोपभोगपरिमाण। अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये।८२।=राग रति आदि भावोंको घटानेके लिए परिग्रह परिमाण व्रतकी की हुई मर्यादामें भी प्रयोजनभूत इन्द्रियके विषयोंका प्रतिदिन परिमाण कर लेना सो भोगोपभोगपरिमाण नामा गुणव्रत कहा जाता है।८२। (सा. ध / ५/१३)।

स सि./७/२१/३६१/६ तयो परिमाणमुपभोगपरिभोगपरिमाणम्। यानवाहनाभरणादिष्वेतावदेवेष्टमतोऽन्यदनिष्टमित्यनिष्टान्निवर्तनं कर्त्तव्य कालनियमेन यावज्जीव वा यथाशक्ति = इनका (भोग व उपभोगका) परिमाण करना उपभोग-परिभोगपरिमाण व्रत है। यान, वाहन और आभरण आदिमें हमारे लिए इतना ही इष्ट है, शेष सब अनिष्ट है इस प्रकारका विचार करके कुछ कालके लिए या जीवन भरके लिए शक्त्यनुसार जो अपने किये अनिष्ट हो उसका त्याग कर देना चाहिए। (रा. वा./७/२१/१०/५४८/१४, २७/५५०/६), (चा. सा / २४/१), (पु. सि. उ /१६५), (और भी दे० आगे रा. वा)।

रा. वा./७/२१/२७/५५०/७ न हि असत्यभिसन्धिनियमे व्रतमिति। इष्टानामपि चित्रवस्त्रविकृतवेषाभरणादीनामनुपसेव्याना परित्याग कार्य' यावज्जीवम्। अथ न शक्तिरस्ति कालपरिच्छेदेन वस्तु परिमाणेन च शक्त्यनुरूपं निवर्तनं कार्यम्।=जो विचित्र प्रकारके वस्त्र विकृतवेष आभरण आदि शिष्ट जनोंके उपसेव्य—धारण करने लायक नहीं है वे अपनेको अच्छे भी लगते हों तब भी उनका यावत् जीवन परित्याग कर देना चाहिए। यदि वैसी शक्ति नहीं है तो अमुक समयकी मर्यादासे अमुक वस्तुओंका परिमाण करके निवृत्ति करनी चाहिए। (चा सा /२४/१)।

का. अ./मू./३५० जाणित्ता संपत्ती भोयण-तंबोल-वत्थमादीणं। जं परिमाणं कीरदि भोउवभोयं वयं तस्स।३५०। =जो अपनी सामर्थ्य जानकर, ताम्बूल, वस्त्र आदिका परिमाण करता है, उसको भोगोपभोग-परिमाण नामका गुणव्रत होता है।३५०।

२. भोगोपभोग व्रतके भेद

र. क. श्रा./८७ नियमो यमश्च विहितौ द्वेधा भोगोपभोगसंहारनियम' परिमितकालो यावज्जीवं यमो ध्रियते।८७। =भोगोपभोगके त्यागमें नियम और यम दो प्रकारका त्याग विधान किया गया है। जिसमें कालकी मर्यादा है वह तो नियम कहलाता है, जो जीवन पर्यन्त धारण किया जाता है, वह यम है। (सा. ध./५/१४)।

रा. वा./७/२१/२७/५५०/१ भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसघातप्रमादबहुविधानिष्टानुपसेव्यविषयभेदात्। =त्रसघात, बहुघात, प्रमाद, अनिष्ट और अनुपसेव्य रूप विषयोंके भेदसे भोगोपभोग परिमाण व्रत पाँच प्रकारका हो जाता है। (चा. सा./२३/३); (सा. ध./५/१५)।

३. नियम धारण करनेकी विधि

र. क. श्रा./८८-८९ भोजनवाहनशयनस्नानपवित्राङ्गरागकुसुमेषु। ताम्बूलवसनभूषणमन्मथसंगीतगीतेषु।८८। अद्य दिवा रजनी वा पक्षो मासस्तथर्तु रयनं वा। इति कालपरिच्छित्त्या प्रत्याख्यानं भवेन्नियमः।८९। =भोजन, सवारी, शयन, स्नान, कुंकुमादिलेपन, पुष्पमाला, ताम्बूल, वस्त्र, अलंकार, कामभोग, संगीत और गीत इन विषयोंमें आज एक दिन अथवा एक रात, एक पक्ष, एक मास तथा दो मास अथवा छह मास इस प्रकार कालके विभागसे त्याग करना नियम है।

४. भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार

त. सू./७/३५ सचित्तसंबन्धसंमिश्राभिषवदुःपक्वाहाराः।३५। =सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रतके पाँच अतिचार हैं।३५। (सा. ध./५/२०), (चा. सा./२५/१)

र. क. श्रा./९० विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ। भोगोपभोगपरिमाणव्यतिक्रमाः पञ्च कथ्यन्ते।९०। =विषयरूपी विषकी उपेक्षा नहीं करना, पूर्वकालमें भोगे हुए विषयोंका स्मरण रखना, वर्तमानके विषयोंमें अति लालसा रखना, भविष्यमें विषय प्राप्तिकी तृष्णा रखना, और विषय नहीं भोगते भी विषय भोगता हूँ ऐसा अनुभव करना ये पाँच भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचार हैं।

५. दुःपक्व आहारमें क्या दोष है

रा. वा./७/३५/६/५५८/१६ तस्याभ्यवहारे को दोषः। इन्द्रियमदवृद्धिः स्यात्, सचित्तप्रयोगो वा वातादिप्रकोपो वा, तत्प्रतीकारविधाने स्यात् पापलेप, अतिथयश्चैनं परिहरेयुरिति। =प्रश्न—उस (दुष्पक्व व सचित्त पदार्थका) आहार करनेमें क्या दोष है। उत्तर—इनके भोजनसे इन्द्रियाँ मत्त हो जाती हैं। सचित्त प्रयोगसे वायु आदि दोषोंका प्रकोप हो सकता है, और उसका प्रतिकार करनेमें पाप लगता है, अतिथि उसे छोड भी देते हैं। (चा. सा./२५/४)।

६. भोगोपभोग परिमाण व्रतीको सचित्तादि ग्रहण कैसे हो सकता है

रा. वा./७/३५/४/५५८/११ कथं पुनरस्य सचित्तादिषु वृत्तिः। प्रमादसंमोहाभ्यां सचित्तादिषु वृत्तिः। क्षुत्पिपासातुरत्वात् त्वरमाणस्य सचित्तादिषु अशनाय पानायानुलेपनाय परिधानाय वा वृत्तिर्भवति। =प्रश्न—इस भोगोपभोग परिमाण व्रतधारीकी सचित्तादि पदार्थोंमें वृत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—प्रमाद तथा मोहके कारण क्षुधा, तृषा आदिसे पीड़ित व्यक्तिकी जल्दी-जल्दीमें सचित्त आदि भोजन, पान, अनुलेपन तथा परिधान आदिमें प्रवृत्ति हो जाती है।

७. सचित्त सम्बन्ध व सम्मिश्रमें अन्तर

रा. वा./७/३५/२-४/५५८/४ तेन चित्तवता द्रव्येणोपश्लिष्टः संबन्ध इत्याख्यायते।३। तेन सचित्तेन द्रव्येण व्यतिकीर्णः संमिश्र इति कथ्यते।४। स्यान्मतम्—संबन्धेनाविशिष्टः संमिश्र इति। तन्न। किं कारणम्। तत्र संसर्गमात्रत्वात्। सचित्तसम्बन्धे हि संसर्गमात्रं विवक्षितम्, इह तु सूक्ष्मजन्तुव्याकुलत्वे विभागीकरणस्याशक्यत्वात् नानाजातीयद्रव्यसमाहारः सूक्ष्मजन्तुप्राय आहारः संमिश्र इष्टः। =सचित्तसे उपश्लिष्ट या संसर्गको प्राप्त सचित्त सम्बन्ध कहलाता है।३। और उससे व्यतिकीर्ण संमिश्र कहलाता है।४। प्रश्न—सम्बन्धसे अविशिष्ट ही संमिश्र है। इन दोनोंमें अन्तर ही क्या है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, सम्बन्धमें केवल संसर्ग विवक्षित है तथा संमिश्रमें सूक्ष्म जन्तुओंसे आहार ऐसा मिला हुआ होता है जिसका विभाग न किया जा सके। नाना जातीय द्रव्योंसे मिलकर बना हुआ आहार सूक्ष्म जन्तुओंका स्थान होता है, उसे सम्मिश्र कहते हैं। (चा. सा./२५/२)।

८. भोगोपभोग परिमाण व्रतका महत्त्व

पु. सि. उ./१५८, १६६ भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषाम्। भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः।१५८। इति यः परिमितिभोगैः संतुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्। बहुतरहिंसाविरहात्तस्याहिंसाविशिष्टा स्यात्।१६६। =निश्चय करके इन देशव्रती श्रावकोंके भोगोपभोगके हेतुसे स्थावर जीवोंकी हिंसा होती है, किन्तु उपवासधारी पुरुषके भोग उपभोगके त्यागसे लेश मात्र भी हिंसा नहीं होती है।१५८। जो गृहस्थ इस प्रकार मर्यादा रूप भोगोंसे तृप्त होकर अधिकतर भोगोंको छोड देता है, उसका बहुत हिंसाके त्यागसे उत्तम अहिंसाव्रत होता है, अर्थात् अहिंसा व्रतका उत्कर्ष होता है।१६६।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. इस व्रतमें कन्द, मूल, पत्र, पुष्प आदिका त्याग। —दे० भक्ष्याभक्ष्य।

२. इस व्रतमें मद्य मांस मधुका त्याग। —दे० वह वह नाम।

३. व्रत व भोगोपभोगानर्थक्य नामा अतिचारमें अन्तर। —दे० अनर्थदण्ड।

४. व्रत तथा सचित्त त्याग प्रतिमामें अन्तर। —दे० सचित्त।

भोज—राजा भोजकी वंशावलीके अनुसार (दे० इतिहास) राजा मुञ्जके पुत्र व जयसिंहके पिता थे। मालवा देश (मगध) के राजा थे। धारा व उज्जैनी इनकी राजधानी थी। संस्कृत विद्याके आश्रयदाता थे। मुञ्जकी वंशावलीके तथा प्रेमी जीके अनुसार इनका समय—वि. १०७८—१११२ ई. १०२१-१०५५, A. N. UP. के अनुसार वि. १०७५-१११७ ई. १०१८-१०६०, प. कैलाशचन्द्रके अनुसार वि. १०७५-१११० ई. १०१८-१०५३ विशेष (दे० इतिहास/३/४,७/८)। २. योग दर्शन सूत्रोंके भाष्यकार। समय ई. श. १० —दे० योगदर्शन।

भोजवंश—१. पुराणकी अपेक्षा इस वंशका निर्देश।—दे० इतिहास/७/८, इतिहासकी अपेक्षा इस वंशका निर्देश—दे० इतिहास/३/४।

भोजकवृष्णि—मथुराके स्वामी सुवीरके पुत्र थे तथा उग्रसेनके पिता थे। (ह. पु./१८/११-१६)।

व परम निरुद्ध।२०१२। इनमें भी निरुद्धाविचार दो प्रकार है—प्रकाशरूप और अप्रकाशरूप।२०१६। (मू. आ./५९); (दे० निक्षेप/५/२)।

रा. वा./७/२२/२/५५०/१६ मरणं द्विविधम्—नित्यमरणं तद्भवमरणं चेदि। =मरण दो प्रकारका है—नित्यमरण और तद्भवमरण। (चा. सा./४७/३)।

भ. आ./वि./२५/८६/१०,१३ मरणानि सप्तदश कथितानि।(८६/१०)।— १. अवीचिमरणं, २. तद्भवमरण, ३. अवधिमरणं, ४. आदिअतायं, ५. बालमरणं, ६ पडितमरणं, ७. आसण्णमरणं, ८. बालडिदं, ९. ससल्लमरण, १०. बलायमरणं, ११. वोसट्टमरणं, १२. विप्पाणसमरणं, १३. गिद्धपुट्ठमरण, १४. भत्तपच्चक्खाणं, १५. पाउवगमणमरण, १६. इगिणामरण, १७. केवलिमरण चेदि।(८६/१३)। =मरण १७ प्रकारके बताये गये है—१. अवीचिमरण, २. तद्भवमरण, ३. अवधिमरण, ४. आदिअन्तिममरण, ५. बालमरण, ६. पण्डितमरण, ७. ओसण्ण मरण, ८. बालपण्डितमरण, ९. सशल्यमरण, १० बालाकामरण, ११. वोसट्टमरण, १२. विप्पाणसमरण, १३. गिद्धपुट्ठमरण, १४. भक्तप्रत्याख्यानमरण, १५. प्रायोपगमनमरण, १६. इंगिनीमरण, १७. केवलिमरण। (तहाँ इनके भी उत्तर भेद निम्न प्रकार हैं)। (भा. पा /टी./३२/१४७-१४९); (विशेष दे० उस-उस मरणके लक्षण)।
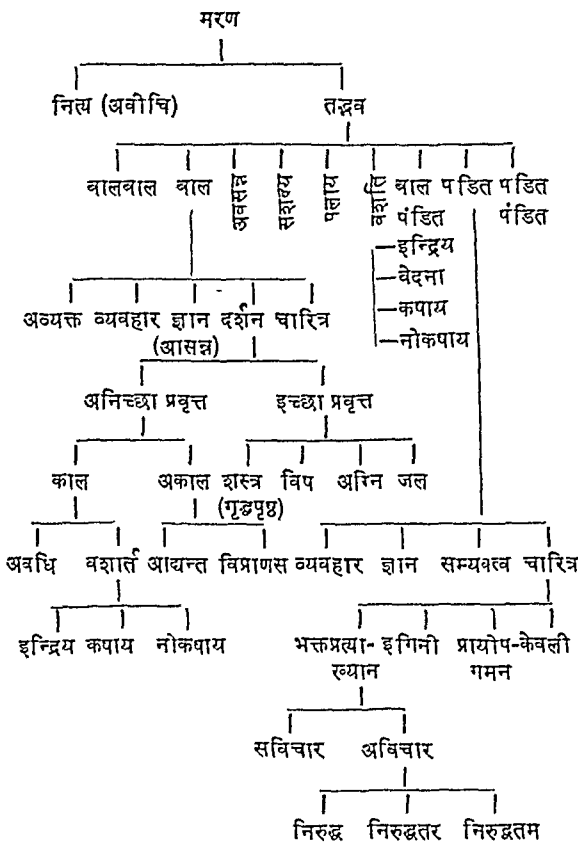
३. नित्य व तद्भव मरणके लक्षण

रा वा./७/२२/२/५५०/२० तत्र नित्यमरणं समयसमये स्वायुरादीना निवृत्ति। तद्भवमरण भवान्तरप्राप्त्यनन्तरोपश्लिष्टं पूर्वभवविगमनम्। =प्रतिक्षण आयु आदि प्राणोका बराबर क्षय होते रहना नित्यमरण है (इसको ही भ. आ. व भा पा. में 'अवीचिमरण' के नामसे कहा गया है)। ओर नूतन शरीर पर्यायको धारण करनेके लिए पूर्व पर्यायका नष्ट होना तद्भवमरण है। (भ. आ./वि /२५/८६/१७); (चा. सा./४७/४), (भा पा./टी /३२/१४७/६)।

४. बाल व पण्डितमरण सामान्य व उनके भेदोंके लक्षण

भ. आ./मू./गा. पंडिदपंडिदमरणे खीणकसाया मरंति केवलिणो। विरदाविरदा जीवा मरंति तदियेण मरणेण।२७। पाओपगमणमरण भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव। तिविहं पंडियमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स।२९। अविरदसम्मादिट्ठी मरंति बालमरणे चउत्थम्मि। मिच्छादिट्ठी य पुणो पंचमए बालबालम्मि।३०। इह जे विराधयित्ता मरणे असमाधिणा मरेज्जण्ह। तं तेसिं बालमरणं होइ फलं तस्स पुव्वुत्तं।१९६२। =क्षीणकषाय केवली भगवान् पण्डितपण्डित मरणसे मरते है। (भ. आ /मू./२१५९) विरताविरत जीवके मरणको बालपण्डितमरण कहते है। (विशेष दे० अगला सन्दर्भ)।२७। (भ. आ./मू./२०७८), (भ. आ./वि./२५/८८/२१)। चारित्रवान् मुनियोको पण्डित मरण होता है। वह तीन प्रकारका है—भक्त प्रत्याख्यान, इगिनी व प्रायोपगमन (इन तीनोके लक्षण दे० सल्लेखना)।२९। अविरत सम्यग्दृष्टि जीवके मरणको बालमरण कहते है। और मिथ्यादृष्टि जीवके मरणको बालबाल मरण कहते है।३०। अथवा रत्नत्रयका नाश करके समाधिमरणके बिना मरना बालमरण है।१९६२।

भ. आ /मू./२०८३-२०८४/१८०० आसुक्कारे मरणे अव्वोच्छिण्णाए जीविदासाए। णादीहि वा अमुक्को पच्छिमसल्लेहणपकासी।२०८३। आलोचिदणिस्सल्लो सघरे चेवारुहिंतु सथारं। जदि मरदि देसविरदो तं वुत्त बालपंडिदयं।२०८४।—इन १२ व्रतोको पालनेवाले गृहस्थको सहसा मरण आनेपर, जीवितकी आशा रहनेपर अथवा बन्धुओंने जिसको दीक्षा लेनेकी अनुमति नही दी है, ऐसे प्रसगमें शरीर सल्लेखना और कषाय सल्लेखना न करके भी आलोचना कर, निःशल्य होकर घरमे ही सस्तरपर आरोहण करता है। ऐसे गृहस्थकी मृत्युको बालपण्डितमरण कहते है।२०८३-२०८४।

मू. आ /गा. जे पुण पणट्ठमदिया पचलियसण्णाय वक्कभावा य। असमाहिणा मरंते णहु ते आराहिया भणिया।६०। सत्थग्गहणं विसभक्खणं च जलण जलप्पवेसो य। अणयारभंडसेवी जम्मणमरणाणुबंधीणी।७४। णिमम्मो णिरहंकारो णिक्कसाओ जिदिंदिओ धीरो। अणिदाणो दिट्ठिसपण्णो मरंतो आराहओ होइ।१०३। =जो नष्टबुद्धिवाले अज्ञानी आहारादिकी वाछारूप संज्ञावाले मन वचन कायकी कुटिलतारूप परिणामवाले जीव आर्तरौद्र ध्यानरूप असमाधिमरण कर परलोकमें जाते है, वे आराधक नही है।६०। शस्त्रसे, विषभक्षणसे, अग्नि द्वारा जलनेसे, जलमें डूबनेसे, अनाचाररूप वस्तुके सेवनसे अपघात करना जन्ममरणरूप दीर्घ संसारको बढानेवाले हे अर्थात् बालमरण है।७४। निर्मम, निरहंकार, निष्कषाय, जितेन्द्रिय, धीर, निदान रहित, सम्यग्दर्शन सम्पन्न जीव मरते समय आराधक होता है, अर्थात् पण्डित मरणसे मरता है।१०३।

भ आ./वि /२५/८७/२१ बालमरणमुच्यते—बालस्य मरण, स च बाल पञ्चप्रकार'—अव्यक्तबाल, व्यवहारबाल', ज्ञानबाल, दर्शनबाल', चारित्रबाल' इति। अव्यक्त शिशु, धर्मार्थकामकार्याणि यो न वेत्ति न च तदाचरणसमर्थशरीर' सोऽव्यक्तबाल'। लोकवेदसमयव्यवहारान्यो न वेत्ति शिशुर्वासौ व्यवहारबाल। मिथ्यादृष्टि सर्वथा तत्त्वश्रद्धानरहिता' दर्शनबाला। वस्तुयाथात्म्यग्राहिज्ञानन्यूना ज्ञानबाला'। अचारित्रा प्राणभृतश्चारित्रबाला'। दर्शनबालस्य पुन सक्षेपतो द्विविध मरणमिष्यते। इच्छया प्रवृत्तमनिच्छयेति च। तयोराद्यमग्निना धूमेन, शस्त्रेण, उदकेन, मरुत्प्रपातेन, विरुद्धाहारसेवनया बाला मृतिं ढौकन्ते, कुतश्चिन्निमित्ताज्जीवितपरित्यागैषिण', काले अकाले वा अध्यवसानादिना यन्मरणं जिजीविषो तद्द्वितीयम्।...पण्डितमरणमुच्यते—व्यवहारपण्डित', सम्यक्त्वपण्डित', ज्ञानपण्डितश्चारित्रपण्डित इति चत्वारो विकल्पा। लोकवेदसमय-

व्यवहारनिपुणो व्यवहारपण्डितः, अथवानेकशास्त्रज्ञः शुश्रूषादिबुद्धि-गुणसमन्वितः व्यवहारपण्डितः, क्षायिकेण क्षायोपशमिकेनौपशमिकेन वा सम्यग्दर्शनेन परिणतः दर्शनपण्डितः। मत्यादिपञ्चप्रकारसम्यग्ज्ञा-नेषु परिणतः ज्ञानपण्डितः। सामायिकच्छेदोपस्थापनापरिहारविशुद्धि-सूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातचारित्रेषु कस्मिंश्चित्प्रवृत्तश्चारित्रपण्डितः। —अज्ञानी जीवके मरणको बालमरण कहते हैं। वह पाँच प्रकारका है—अव्यक्त, व्यवहार, ज्ञान, दर्शन व चारित्रबालमरण। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंको जानता नहीं तथा उनका आचरण करनेमें जिसका शरीर असमर्थ है वह अव्यक्तबाल है। लोकव्यवहार, वेदका ज्ञान, शास्त्रज्ञान, जिसको नहीं है वह व्यवहारबाल है। तत्त्वार्थश्रद्धान रहित मिथ्यादृष्टि जीव दर्शनबाल है। जीवादि पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान जिनको नहीं है वे ज्ञानबाल हैं। चारित्रहीन प्राणीको चारित्रबाल कहते हैं। दर्शनबालमरण दो प्रकारका है—इच्छाप्रवृत्त और अनिच्छाप्रवृत्त। अग्नि, धूम, विष, पानी, गिरि-प्रपात, विरुद्धाहारसेवन इत्यादि द्वारा इच्छापूर्वक जीवनका त्याग इच्छा प्रवृत्त दर्शनबाल मरण है। और योग्य कालमें या अकालमें ही मरनेके अभिप्रायसे रहित जो जीवोंका इच्छारहित दर्शनबालोंका जो मरण होता है वह अनिच्छाप्रवृत्त दर्शनबालमरण है। पण्डित-मरण चार प्रकारका है—व्यवहार, सम्यक्त्व, ज्ञान व चारित्रपण्डित मरण। लोक, वेद, समय इनके व्यवहारमें जो निपुण हैं वे व्यवहार-पण्डित हैं, अथवा जो अनेक शास्त्रोंके जानकार तथा शुश्रूषा, श्रवण, धारणादि बुद्धिके गुणोंसे युक्त हैं, उनको व्यवहारपण्डित कहते हैं। क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनसे जीव दर्शन-पण्डित होता है। मति आदि पाँच प्रकारके सम्यग्ज्ञानसे जो परिणत हैं उनको ज्ञानपण्डित कहते हैं। सामायिक छेदोपस्थापना आदि पाँच प्रकार चारित्रके धारक चारित्रपण्डित हैं। (भ. आ./वि./२५/८७/२०)।

५. अन्य भेदोंके लक्षण

भ. आ./वि./२५/८७/१३ यो यादृशं मरणं साम्प्रतमुपैति तादृगेव मरणं यदि भविष्यति तदवधिमरणम्। तद्द्विविधं देशावधिमरणं सर्वाव-धिमरणम् इति।. यदायुर्यथाभूतमुदेति साम्प्रतं प्रकृतिस्थित्यनुभाग-प्रदेशैस्तथाभूतमेवायु प्रकृत्यादिविशिष्टं पुनर्बध्नाति उदेष्यति च यदि तत्सर्वावधिमरणम्। यत्साम्प्रतमुदेत्यायुर्यथाभूतं तथाभूतमेव बध्नाति देशतो यदि तद्देशावधिमरणम्।. साम्प्रतेन मरणेनासा-दृश्यभावि यदि मरणमाद्यन्तमरणं उच्यते, आदिशब्देन साम्प्रतं प्राथमिकं मरणमुच्यते तस्य अन्तो विनाशभावो यस्मिन्नुत्तरमरणे तदेतदाद्यन्तमरणम् अभिधीयते। प्रकृतिस्थित्यनुभवप्रदेशैर्यथाभूतं साम्प्रतमुपैति मृतिं तथाभूतां यदि सर्वतो देशतो वा नोपैति तदाद्यन्तमरणम्।

भ. आ./वि./२५/८८/१२ निर्वाणमार्गप्रस्थितात्संयतसार्थाद्यो हीनः प्रच्युतः सोऽभिधीयते ओसण्ण इति। तस्य मरणमासण्णमरणमिति। ओसण्ण-ग्रहणेन पार्श्वस्थाः, स्वच्छन्दाः, कुशीलाः, संसक्ताश्च गृह्यन्ते।. सशल्यमरणं द्विविधं यतो द्विविधं शल्यं द्रव्यशल्यं भावशल्य-मिति।...द्रव्यशल्येन सह मरणं पञ्चानां स्थावराणां भवति असंज्ञिनां त्रसानां च।..भावशल्यविनिर्मुक्तं द्रव्यशल्यमपेक्षते।..एतच्च संयते, संयतासंयते, अविरतसम्यग्दृष्टावपि भवति।...विनयवैया-वृत्त्यादावकृतादरः. ध्याननमस्कारादेः पलायते अनुपयुक्ततया, एतस्य मरणं बलायमरणं। सम्यक्त्वपण्डिते, ज्ञानपण्डिते, चरणपण्डिते च बलायमरणमपि संभवति। ओसण्णमरणं ससल्लमरणं च यदभिहितं तत्र नियमेन बलायमरणम्। तद्व्यतिरिक्तमपि बलायमरणं भवति।... वसट्टमरणं नाम—आर्ते रौद्रे च प्रवर्तमानस्य मरणं। तत्पुनश्चतुर्विधं—इंदियवसट्टमरणं, वेदणावसट्टमरणं, कसायवसट्टमरणं, णोकसायवसट्ट-मरणम् इति। इंदियवसट्टमरणं यत्पञ्चविधं इन्द्रियविषयापेक्षया..

मनोज्ञेषु रक्तो ऽमनोज्ञेषु द्विष्टो म्रियते।.. इति इन्द्रियवशार्त-मरणविकल्पाः। वेदनावशार्तमरणं द्विविधं सातवेद-नावशार्तमरणं असातवेदनावशार्तमरणं। शारीरे मानसे वा सुखे उपयुक्तस्य मरणं सातवेदनावशार्तमरणम्।... तथा शारीरे मानसे वा दुःखे उपयुक्तस्य मरणं असातवेदनावशार्तमरणम्। कषायवशार्तमरणं चतुर्विधं भवति। [illegible] भवति। [illegible]...[illegible] ...[illegible] भवति। [illegible] [illegible] ...[illegible]...[illegible] [illegible] [illegible]... [illegible] [illegible] [illegible]...[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible]मिति। —जो प्राणी जिस प्रकारका मरण वर्तमानकालमें प्राप्त करता है, वैसा ही मरण यदि आगे भी उसको प्राप्त होगा तो ऐसे मरणको अवधिमरण कहते हैं। इसके दो प्रकार हैं—सर्वावधि व देशावधि। प्रकृति स्थिति अनुभाग व प्रदेशोंसे जो आयु वर्तमान समयमें जैसी उदयमें आती है वैसी ही आयु फिर प्रकृत्यादि विशिष्ट बँधकर उदयमें आवेगी तो उसको सर्वावधिमरण कहते हैं। यदि वही आयु आंशिक रूपसे सदृश होकर बँधे व उदयमें आवेगी तो उसको देशावधि मरण कहते हैं। यदि वर्तमानकालके प्रकृत्यादि रूप या प्रदेशादिसे सदृश उदय पुनः आगामी कालमें नहीं आवेगा, तो उसे आद्यन्तमरण कहते हैं। मोक्षमार्गमें स्थित मुनियोंका संघ जिसने छोड़ दिया है ऐसे पार्श्वस्थ, स्वच्छन्द, कुशील व संसक्त साधु अवसन्न कहलाते हैं। उनका मरण अवसन्नमरण है। सशल्य मरणके दो भेद हैं—द्रव्य-शल्य व भावशल्य। यहाँ माया मिथ्या आदि भावोंको भावशल्य और इनके कारणभूत कर्मोंको द्रव्यशल्य कहते हैं। भावशल्यकी जिनमें सम्भावना नहीं है, ऐसे पाँचों स्थावरोंके व असंज्ञी त्रसोंके मरणको द्रव्यशल्यमरण कहते हैं। भावशल्यमरण संयत, संयता-संयत व अविरत सम्यग्दृष्टिको होता है। विनय वैयावृत्त्य आदि कार्योंमें आदर न रखनेवाले तथा इसी प्रकार सर्व धुनिकर्म, व्रत, समिति आदि, धर्मध्यान व नमस्कारादिसे दूर भागनेवाले मुनिके मरणको पलायमरण या बलाकामरण कहते हैं। सम्यक्त्वपण्डित, ज्ञानपण्डित व चारित्रपण्डित ऐसे लोग इस मरणसे मरते हैं। इनके सिवाय अन्य भी इस मरणसे मरते हैं। आर्त रौद्र भावोंयुक्त मरना वशार्तमरण है। यह चार प्रकार है—इन्द्रियवशार्त, वेदनावशार्त, कषायवशार्त और नोकषायवशार्त। पाँच इन्द्रियोंके पाँच विषयोंकी अपेक्षा इन्द्रियवशार्त पाँच प्रकारका है। मनोहर विषयोंमें आसक्त होकर और अमनोहर विषयोंमें द्विष्ट होकर जो मरण होता है वह श्रोत्र आदि इन्द्रियों व मन सम्बन्धी वशार्तमरण है। शारीरिक व मानसिक सुखोंमें अथवा दुःखोंमें अनुरक्त होकर मरनेसे वेदनावशार्त शात व अशातके भेदसे दो प्रकारका है। कषायोंके क्रोधादि भेदोंकी अपेक्षा कषायवशार्त चार प्रकारका है। स्वतमें दूसरेमें अथवा दोनोंमें उत्पन्न हुए क्रोधके वश मरना क्रोधकषायवशार्त है। (इसी प्रकार आठ मदोंके वश मरना मानवशार्त है, पाँच प्रकारकी मायासे मरना मायावशार्त और परपदार्थोंमें ममत्वके वश मरना लोभवशार्त है)। हास्य रति अरति आदिसे जिसकी बुद्धि मूढ हो गयी है ऐसे व्यक्तिका मरण नोकषायवशार्त मरण है। इस मरणको बालमरणमें अन्तर्भूत कर सकते हैं। दर्शनपण्डित, अविरतसम्यग्दृष्टि और

संयतासंयत जीव भी वशार्तमरणको प्राप्त हो सकते है। उनका यह मरण बालपण्डित मरण अथवा दर्शनपण्डितमरण समझना चाहिए। विप्राणस व गृद्धपृष्ठ नामके दोनों मरणोंका न तो आगममें निषेध है और न अनुज्ञा। दुष्कालमें अथवा दुर्लंघ्य जंगलमें, दुष्ट राजाके भयसे, तिर्यंचादिके उपसर्गमें, एकाकी स्वयं सहन करनेको समर्थ न होनेसे, ब्रह्मव्रतके नाशसे चारित्रमें दोष लगनेका प्रसंग आया हो तो संसारभीरु व्यक्ति कर्मोंका उदय उपस्थित हुआ जानकर जब उसको सहन करनेमें अपनेको समर्थ नहीं पाता है, और न ही उसको पार करनेका कोई उपाय सोच पाता है, तब 'वेदनाको सहनेसे परिणामोंमें संक्लेश होगा और उसके कारण रत्नत्रयकी आराधनामें निश्चय ही मैं च्युत हो जाऊँगा ऐसी निश्चल मतिको धारते हुए, निष्कपट होकर चारित्र और दर्शनमें निष्कपटता धारण कर धैर्य युक्त होता हुआ, ज्ञानका सहाय लेकर निदान रहित होता हुआ अर्हन्त भगवान्के समीप आलोचना करके विशुद्ध होता है। निर्मल लेश्याधारी वह व्यक्ति अपने श्वासोच्छ्वासका निरोध करता हुआ प्राण त्याग करता है। ऐसे मरणको विप्राणसमरण कहते है। उपर्युक्त कारण उपस्थित होनेपर शस्त्र ग्रहण करके जो प्राण त्याग किया जाता है वह गृद्धपृष्ठमरण है। (भा. पा./टी./३२/१४७/११)।

२. मरण निर्देश

१. आयुका क्षय ही वास्तविक मरण है

ध. १/१,१,५६/२९२/१० न तावज्जीवशरीरयोर्वियोगमरणम्। =आगममें जीव और शरीरके वियोगको मरण नहीं कहा गया है। (अथवा- पूर्णरूपेण वियोग ही मरण है एकदेश वियोग नहीं। और इस प्रकार समुद्घात आदिको मरण नहीं कह सकते। —दे० आहारक।३/५। अथवा नारकियोंके शरीरका भस्मीभूत हो जाना मात्र उनका मरण नहीं है, बल्कि उनके आयु कर्मका क्षय ही वास्तवमें मरण है—दे० मरण/४/३)।

२. चारों गतियोंमें मरणके लिए विभिन्न शब्दोंका प्रयोग

ध. ६/१,९-१,७६-२४३/४७७/२२ विशेषार्थ—सूत्रकार भूतबलि आचार्यने भिन्न-भिन्न गतियोंसे छूटनेके अर्थमें सम्भवतः गतियोंकी हीनता व उत्तमताके अनुसार भिन्न-भिन्न शब्दोंका प्रयोग किया है (दे० मूल सूत्र—७३-२४३)। नरकगति, व भवनत्रिकदेवगति हीन हे, अतएव उनसे निकलनेके लिए उद्वर्तन अर्थात् उद्धार होना कहा है। तिर्यंच और मनुष्य गतियाँ सामान्य है, अतएव उनसे निकलनेके लिए काल करना शब्दका प्रयोग किया है। और सौधर्मादिक विमानवासियोंकी गति उत्तम है, अतएव वहाँसे निकलनेके लिए च्युत होना शब्दका प्रयोग किया गया है। जहाँ देवगति सामान्यसे निकलनेका उल्लेख किया गया है वहाँ भवनत्रिक व सौधर्मादिक दोनोंकी अपेक्षा करके 'उद्वर्तित और च्युत' इन दोनों शब्दोंका प्रयोग किया गया है।

३. पण्डित व बाल आदि मरणोंकी इष्टता अनिष्टता

भ. आ./मू./२८/११२ पंडिदपंडिदमरणं च पंडिदं बालपंडिदं चेव। एदाणि तिण्णि मरणाणि जिणा णिच्चं पसंसंति।२८। =पण्डित-पण्डित, पण्डित व बालपण्डित इन तीन मरणोंकी जिनेन्द्रदेव प्रशंसा करते है।

मू. आ./६१ मरणे विराधिदे देवदुग्गई दुल्लहा य किर बोही। संसारो य अणंतो होइ पुणो आगमे काले।६१। =मरण समय सम्यक्त्व आदि गुणोंकी विराधना करनेवाले दुर्गतियोंको प्राप्त होते हुए अनन्त संसारमें भ्रमण करते है, क्योंकि रत्नत्रयकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है।

दे० मरण/१/४ (विप्राणस व गृद्धपृच्छमरणका आगममें न निषेध है और न अनुज्ञा।)

३. गुणस्थानों आदिमें मरण सम्बन्धी नियम

१. आयुबन्ध व मरणमें परस्पर गुण स्थान सम्बन्धी

ध. ८/३,८४/१४५/४ जेण गुणेणाउवंधो संभवदि तेणेव गुणेण मरदि, ण अण्णगुणेणेत्ति परमगुरूवदेसादो। ण उवसामगेहि अणेयंतो, सम्मत्तगुणेण आउवंधाविरोहिणा णिस्सरणे विरोहाभावादो। =१. जिस गुणस्थानके साथ आयुबन्ध संभव है उसी गुणस्थानके साथ जीव मरता है। (ध ४/१,५,४६/३६३/३)। २. अन्य गुणस्थानके साथ नहीं (अर्थात् जिस गतिमें जिस गुणस्थानमें आयुकर्मका बन्ध नहीं होता, उस गुणस्थान सहित उस गतिसे निर्गमन भी नहीं होता— (ध. ६/४६३/८) इस नियममें उपशामकोंके साथ अनैकान्तिक दोष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि, आयु बन्धके अविरोधी सम्यक्त्व गुणके साथ निकलनेमें कोई विरोध नहीं है। (ध. ६/१.९-१,१३०/४६३/८)।

२. निम्न स्थानोंमें मरण सम्भव नहीं

गो. क./मू./६६०-६६१/७६२ मिस्साहारस्सयया खवगा चडयमाडपढमपुव्वा य। पढमुवसमया तमतमगुडपडिवण्णा य ण मरंति।६६०। अणसंजोजिदमिच्छे मुहुत्तअंतं तु णत्थि मरणं तु। किद करणिज्जं जाव दु सव्वपरट्ठाण अट्ठपदा।६६१। =आहारकमिश्र काययोगी, चारित्रमोह क्षपक, उपशमश्रेणी आरोहणमें अपूर्वकरणके प्रथम भागवाले प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि, सप्तमपृथिवीका नारकी सम्यग्दृष्टि, अनन्तानुबन्धी विसंयोजनके अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्त तथा कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि इन जीवोंका मरण नहीं होता है।

३. सासादन गुणस्थानमें मरण सम्बन्धी

ध. १/१,१,८३/३२४/१ नापि बद्धनरकायुष्क. सासादनं प्रतिपद्य नारकेषूत्पद्यते तस्य तस्मिन्गुणे मरणाभावात्। =नरक आयुका जिसने पहले बन्ध कर लिया है, ऐसा जीव सासादन गुणस्थानको प्राप्त होकर नारकियोंमें उत्पन्न नहीं होता (विशेष दे० जन्म/४/१) क्योंकि ऐसे जीवका सासादन सहित मरण ही नहीं होता।

ध. ६/१,९-८,१४/३३१/५ आसाणं पुण गदो जदि मरदि, ण सक्को णिरयगदिं तिरिक्खगदिं मणुसगदिं वा गंतु, णियमा देवगदिं गच्छदि। हदि तिसु आउएसु एक्केण वि बद्धेण ण सक्को कसाए उवसामेदुं, तेण कारणेण णिरयतिरिक्ख-मणुसगदीओ ण गच्छदि। =(द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव) सासादनको प्राप्त होकर यदि मरता है तो नरक तिर्यंच व मनुष्य इन तीन गतियोंको प्राप्त करनेके लिए समर्थ नहीं होता है। नियमसे देवगतिको ही प्राप्त करता है। क्योंकि इन तीन आयुओंमेंसे एक भी आयुका बन्ध हो जानेके पश्चात् जीव कषायोंको उपशमानेके लिए समर्थ नहीं होता है। इसी कारण वह इन तीनों गतियोंको प्राप्त नहीं करता हे। (दूसरी मान्यताके अनुसार ऐसे जीव सासादन गुणस्थानको ही प्राप्त नहीं होते—दे० सासादन)। (ल. सा/मू/३४९-३५०/४३८)।

गो. क./जी. प्र/५४८/७१८/१८ सासादना भूत्वा प्राग्बद्धदेवायुष्का मृत्वा अबद्धायुष्का' केचिद्देवायुर्बध्वा च देवनिर्वृत्त्यपर्याप्तसासादना स्यु। =(पूर्वोक्त द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसे सासादनको प्राप्त होनेवाला जीव) सासादनको प्राप्त होकर यदि पहले ही देवायुका बन्ध कर चुका है तो मरकर अन्यथा कोई-कोई जिन्होंने पहले कोई आयु नहीं बाँधी है, अब देवायुको बाँधकर देवगतिमें उत्पन्न होते है। इस प्रकार निवृत्त्यपर्याप्त देवोंमें सासादन गुणस्थान होता है।

४. मिश्र गुणस्थानमें मरणके अभाव सम्बन्धी

ध ४/१,५,१७/गा. ३३/३४९ णय मरइ णेव संजमुवेइ तह देससंजमं वावि। सम्मामिच्छादिट्ठी ण उ मरणंत समुग्घादो।३३। =सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव न तो मरता है और न मारणान्तिक समुद्घात ही करता है। (गो. जी./मू./२४/४९)।

वर्ती जीव मरणके समय मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको प्राप्त होकर ही मरते है। (विशेष दे० जन्म/६)।

१०. देव गतिमें मरण समयकी लेश्या

ध. ८/३,२५८/३२३/१ सव्वे देवा सुदयक्खणेण चेव अणियमेण असुह-तिलेस्सासु णिवदंति ··अण्णे पुण आइरिया सुददेवाणं सव्वेसि वि काउलेस्साए चेव परिणामब्भुवगमादो। =सब देव मरण क्षणमें ही नियम रहित अशुभ तीन लेश्याओंमें गिरते है, और अन्य आचार्यों-के मतसे सब ही मृत देवोंका कापोत लेश्यामें ही परिणमन स्वीकार किया गया है।

११. आहारकमिश्र काययोगीके मरण सम्बन्धी

ध. ११/६४/१ आहारसरीरमुट्ठावेंतस्स अपज्जत्तद्धाए मरणाभावादो। =आहारक शरीरको उत्पन्न करनेवाले जीवका अपर्याप्तकालमें मरण सम्भव नहीं है। (और भी दे० मरण/३/२)।

गो. जी./मू /२३८/५०१ अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे। पज्जत्तीसपुण्णो मरणं पि कदाचि सभवई। =आहारक शरीर अव्याघाती है, अन्तर्मुहूर्त कालस्थायी है, और पर्याप्तिपूर्ण हो जाने पर उस आहारक शरीरधारी मुनिका कदाचित मरण भी सम्भव है।

४. अकाल मृत्यु निर्देश

१. कदलीघातका लक्षण

भा. पा /मू /२५ विसवेयणरत्तक्खय-भयमत्थग्गहणसंकिलिस्साण। आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिणए आऊ ।१२। =विष खा लेनेसे, वेदनासे, रक्तका क्षय होनेसे, तीव्र भयसे, शस्त्रघातसे, सक्लेशकी अधिकतासे, आहार और श्वासोच्छ्वासके रुक जानेसे आयु क्षीण हो जाती है। (इस प्रकारसे जो मरण होता है उसे कदलीघात कहते है) (ध. १/१,१,१/गा. १२/२३), (गो. क./मू./५७/५५)।

२. बद्धायुष्ककी अकाल मृत्यु सम्भव नहीं

ध. १०/४,२,४,३९/२३७/६ परभवि आउए बद्धे पच्छा भुजमाणाउस्स कदलीघादो णत्थि जहासरूवेण चेव वेदेत्ति जाणावणट्ठं 'कमेण कालगदो' त्ति उत्तं। परभवियाउअ बंधिय भुजमाणाउए घादिज्जमाणे को दोसो त्ति उत्ते ण, णिज्जिण्णभुजमाणाउस्स अपत्तपरभवियाउअउदयस्स चउगइबाहिरस्स जीवस्स अभावप्प-संगादो। =परभव सम्बन्धी आयुके बँधनेके पश्चात् भुज्यमान आयुका कदलीघात नहीं होता, किन्तु वह जितनी थी उतनीका ही वेदन करता है, इस घातका ज्ञान करानेके लिए 'क्रमसे कालको प्राप्त होकर' यह कहा है। प्रश्न—परभविक आयुको बाँधकर भुज्यमान आयुका घात मानने में कौन सा दोष है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिसकी भुज्यमान आयुकी निर्जरा हो गयी है, किन्तु अभी तक जिसके परभविक आयुका उदय नहीं प्राप्त हुआ है, उस जीवका चतुर्गतिसे बाह्य हो जानेसे अभाव प्राप्त होता है।

३. देव नारकियोंकी अकालमृत्यु संभव नहीं

स.सि /३/५/२०६/१० छेदनभेदनादिभि· शकलीकृतमूर्तीनामपि तेषां न मरणमकाले भवति। कुत· अनपवर्त्यायुष्कत्वात। =छेदन, भेदन आदिके द्वारा उनका (नारकियोंका) शरीर खण्ड-खण्ड हो जाता है, तो भी उनका अकालमें मरण नहीं होता, क्योंकि, उनकी आयु घटती नहीं है। (रा. वा /३/५/८/१६६/११), (ह पु /४/३६४), (म. पु /१०/८२); (त्रि.सा /१९४) (और भी दे० नरक/३/६/७)।

ध. १४/५,३,१०१/३६०/६ देवणेरइएसु आउअस्स कदलीघादाभावादो। =देव और नारकियोंमें आयुका कदलीघात नहीं होता। (और भी, दे. आयु/५/४)।

ध.१/१,१,८०/३२१/६ तेषामपमृत्योरसत्त्वात्। भस्मसाद्भावमुपगत-देहानां तेषां कथं पुनर्मरणमिति चेन्न, देहविकारस्यायुर्विच्छित्त्य-निमित्तत्वात्। अन्यथा बालावस्थात प्राप्तयौवनस्यापि मरणप्रस-ङ्गात। =नारकी जीवोंके अपमृत्युका सद्भाव नहीं पाया जाता है। प्रश्न—यदि उनकी अपमृत्यु नहीं होती है, तो जिनका शरीर भस्मीभावको प्राप्त हो गया है, ऐसे नारकियोंका पुनर्मरण कैसे बनेगा? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, देहका विकार आयु-कर्मके विनाशका निमित्त नहीं है। अन्यथा जिसने बाल अवस्थाके पश्चात् यौवन अवस्था को प्राप्त कर लिया है, ऐसे जीवको भी मरण-का प्रसंग आ जायेगा।

४. भोगभूमिजोंकी अकालमृत्यु संभव नहीं

दे.आयु./५/४/ (असंख्यात वर्षकी आयुवाले जीव अर्थात् भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं।)

ज प /२/१६० पढमे विदिये तदिये काले जे होंति माणुसा पवरा। ते अवमिच्चुविहूणा एयतसुहेहिं संजुत्ता ।१६०। =प्रथम, द्वितीय व तृतीय कालमें जो श्रेष्ठ मनुष्य होते हैं वे अपमृत्युसे रहित और एकान्त सुखोंसे संयुक्त होते है ।१६०।

५. चरमशरीरियों व शलाका पुरुषोंमें अकालमृत्युकी संभावना व असम्भावना

दे. प्रोपधोपवास /२/५/ (अघातायुष्क मुनियोका अकालमें मरण नहीं होता)।

दे. आयु./५/४/ (परमोत्तम देहधारी अनपवर्त्य आयुवाले होते है)।

रा वा /२/५३/६/१५७/२५ अन्त्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोऽपवर्त दर्श-नादव्याप्ति ।६। न वा, चरमशब्दस्योत्तमविशेषणत्वात् ।७। उत्तमग्रहण-मेवेति चेत; न; तदनिवृत्ते ।८। चरमग्रहणमेवेति चेत्, न, तस्योत्तमत्व-प्रतिपादनार्थत्वात ।९। · चरमदेहा इति वा केषांचित् पाठ। एतेषा नियमेनायुरनपवर्त्यमितरेषामनियम। =प्रश्न—उत्तम देहवाले भी अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त और कृष्ण वासुदेव तथा और भी ऐसे लोगों की अकाल मृत्यु सुनी जाती है, अत यह लक्षण ही अव्यापी है। उत्तर—चरमशब्द उत्तमका विशेषण है, अर्थात् अन्तिम उत्तम देह-वालोंकी अकाल मृत्यु नहीं होती। यदि केवल उत्तम पद देते तो पूर्वोक्त दोष बना रहता है। यद्यपि केवल 'चरमदेहे' पद देनेसे कार्य चल जाता है, फिर भी उस चरम देहकी सर्वोत्कृष्टता बतानेके लिए उत्तम विशेषण दिया है। कहीं 'चरमदेहा' यह पाठ भी देखा जाता है। इनकी अकालमृत्यु कभी नहीं होती, परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य व्यक्तियोंके लिए यह नियम नहीं है।

त. वृ./२/५३/११०/५ चरमोऽन्त्य उत्तमदेह शरीर येषा ते चरमोत्तम-देहा तज्जन्मनिर्वाणयोग्यास्तीर्थंकरपरमदेवा ज्ञातव्या'। गुरुदत्त-पाण्डवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनान्नास्त्यनपवर्त्यायुर्नियम इति न्यायकुमुदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणोक्तमस्ति। तथा चोत्तमदेवत्वेऽपि सुभौमब्रह्मदत्तापवर्त्यायुर्दर्शनाद, कृष्णस्य च जरत्कुमारबाणेनाप-मृत्युदर्शनात सकलार्धचक्रवर्तिनामप्यनपवर्त्यायुर्नियमो नास्ति इति राजवार्तिकालङ्कारे प्रोक्तमस्ति। =चरमका अर्थ है अन्तिम और उत्तमका अर्थ है उत्कृष्ट। ऐसा है शरीर जिनका वे, उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करने योग्य तीर्थंकर परमदेव जानने चाहिए, अन्य नहीं; क्योंकि, चरम देही होते हुए भी गुरुदत्त, पाण्डव आदिका मोक्ष उपसर्गके समय हुआ है—ऐसा श्री प्रभाचन्द्र आचार्यने न्याय-कुमुद-चन्द्रोदय नामक ग्रन्थमें कहा है, और उत्तम देही होते हुए भी

सुभौम, ब्रह्मदत्त आदिकी और कृष्णकी जरत्कुमारके बाणसे अपमृत्यु हुई है। इसलिए उनकी आयुके अनपवर्त्यपनेका नियम नहीं है, ऐसा राजवार्तिकालंकारमें कहा है।

६. जघन्य आयुमें अकालमृत्युकी सम्भावना व असम्भावना

ध. १४/५,६,२९०/पृष्ठ पंक्ति एत्थ कदलीघादम्मि वे उवदेसा, के वि आइरिया जहण्णाउअम्मि आवलियाए असंखे० भागमेत्ताणि जीवणियट्ठाणाणि लब्भंति त्ति भणंति। तं जहा—पुव्वभणिदसुहुमेइंदियपज्जत्तसव्वजहण्णाउअणिव्वत्तिट्ठाणस्स कदलीघादो णत्थि। एवं समउत्तरदुसमउत्तरादिणिव्वत्तीणं पि घादो णत्थि। पुणो एदम्हादो जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणादो सखेज्जगुणमाउअं बंधिदूण सुहुमपज्जत्तेसुववण्णस्स अत्थि कदलीघादो (३५४/७)। के वि आइरिया एवं भणंति—जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणमुवरिमआउअवियप्पेहि वि घाद गच्छदि। केवलं पि घादं गच्छदि। णवरि उवरिमआउवियप्पेहि जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणं घादिज्जमाणं समऊणदुसमऊणादिकमेण हीयमाणं ताव गच्छदि जाव जहण्णणिव्वत्तिट्ठाणस्स संखेज्जे भागे ओदारिय सखेभागो सेसो त्ति। जदि पुण केवलं जहण्णणिव्वत्तिट्ठाण चेव घादेदि तो तत्थ दुविहो कदलीघादो होदि—जहण्णओ उक्कस्सओ चेदि (३५५/१)। सुट्ठु जदि थोवं घादेदि तो जहण्णियणिव्वत्तिट्ठाणस्स सखेज्जे भागे जीविदूण ससमंखे० भागस्स सखेज्जे भागे संखेज्जदिभागं वा घादेदि। जदि पुण बहुअं घादेदि तो जहण्णणिवत्तिट्ठाण सखे० भागं जीविदूण संखेज्जे भागे कदलीघादेण घादेदि (३५६/१)। एत्थ पढमवक्खाणं ण भद्दयं, खुद्दाभवग्गहणादो (३५७/१)।=यहाँ कदली घातके विषयमें दो उपदेश पाये जाते है। कितने ही आचार्य जघन्य आयुमें आवलिके असंख्यातवें भाग-प्रमाण जीवनीय स्थान लब्ध होते है ऐसा कहते है। यथा पहले कहे गये सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तकी सबसे जघन्य आयुके निर्वृत्तिस्थानका कदलीघात नहीं होता। इसी प्रकार एक समय अधिक और दो समय अधिक आदि निर्वृत्तियोंका भी घात नहीं होता। पुन. इस जघन्य निर्वृत्तिस्थानसे असंख्यातगुणी आयुका बन्ध करके सूक्ष्म पर्याप्तकोंमें उत्पन्न हुए जीवका कदलीघात होता है। (३५४/७)। कितने ही आचार्य इस प्रकार कथन करते है—जघन्य निर्वृत्तिस्थान उपरिम आयुविकल्पोंके साथ भी घातको प्राप्त होता है और केवल भी घातको प्राप्त होता है। इतनी विशेषता है, कि उपरिम आयुविकल्पोके साथ घातको प्राप्त होता हुआ जघन्य निर्वृत्तिस्थान एक समय और दो समय आदिके क्रमसे कम होता हुआ वह तब तक जाता है जब तक जघन्य निर्वृत्तिस्थानका संख्यात बहुभाग उतरकर संख्यातवें भागप्रमाण शेष रहता है। यदि पुन: केवल जघन्य निर्वृत्तिस्थानको घातता है तो वहाँपर दो प्रकारका कदलीघात होता है—जघन्य और उत्कृष्ट यदि अति स्तोकका घात करता है, तो जघन्य निर्वृत्तिस्थानके संख्यात बहुभाग तक जीवित रहकर शेष संख्यातवे भागके संख्यात बहुभाग या संख्यातवें भागका घात करता है। यदि पुन: बहुतका घात करता है तो जघन्य निर्वृत्तिस्थानके संख्यातवें भागप्रमाण कालतक जीवित रहकर संख्यात बहुभागका कदलीघात द्वारा घात करता है। (३५५/१)। यहाँपर प्रथम व्याख्यान ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें क्षुल्लक भवका ग्रहण किया है। (३५७/१)।

७. पर्याप्त होनेके अन्तर्मुहूर्त काल तक अकाल मृत्यु सम्भव नहीं

ध. १०/४,२,४,४१/२४०/७ पज्जत्तिसमाणिदसमयप्पहुडि जाव अतोमुहुत्तं ण गदं ताव कदलीघादं ण करेदि त्ति जाणावणट्ठमंतोमुहुत्तणिद्देसो कदो।=पर्याप्तियोको पूर्ण कर चुकनेके समयसे लेकर जबतक अन्तर्मुहूर्त नही बीतता है, तबतक कदलीघात नहीं करता, इस बातका ज्ञान करानेके लिए (सूत्रमें) 'अन्तर्मुहूर्त' पदका निर्देश किया है।

८. कदलीघात द्वारा आयुका अपवर्तन हो जाता है

ध./१०/४.२,४,४१/२४०/६ कदलीघादेण विणा अंतोमुहुत्तकालेण परभवियमाआउअं किण्ण बज्झदे। ण, जीविदूणागदस्स आउअस्स अद्धादो अहियआवाहाए परभवियआउअस्स बधाभावादो।

ध. १०/४,२,४,४६/२४४/३/ जीविदूणागदअंतोमुहुत्तद्धपमाणेण उवरिममंतोमुहुत्तूणपुव्वकोडाउअं सव्वमेगसमएण सरिसखंडं कदलीघादेण घादिदूण घादिदसमए चेव पुणो...।=प्रश्न—कदलीघातके बिना अन्तर्मुहूर्त काल द्वारा परभविक आयु क्यो नहीं बाँधी जाती। उत्तर—नहीं, क्योकि, जीवित रहकर जो आयु व्यतीत हुई है उसकी आधीसे अधिक आबाधाके रहते हुए परभविक आयुका बन्ध नहीं होता।· जीवित रहते हुए अन्तर्मुहूर्त काल गया है उससे अर्धमात्र आगेका अन्तर्मुहूर्त कम पूर्वकोटि प्रमाण उपरिम सब आयुको एक समयमें सदृश खण्डपूर्वक कदलीघातसे घात करनेके समयमें ही पुन: (परभविक आयुका बन्ध कर लेता है)। (और भी देखो आगे शीर्षक ९)

९. अकाल मृत्युका अस्तित्व अवश्य है

रा. वा./२/५३/१०/१५८/८ अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्त्याभाव इति चेत्; न; दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ।१०। यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीनां दृष्ट. पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः।=प्रश्न—अप्राप्तकालमें मरणकी अनुपलब्धि होनेसे आयुके अपवर्तनका अभाव है। उत्तर—जैसे पयाल आदिके द्वारा आम आदिको समयसे पहले ही पका दिया जाता है उसी तरह निश्चित मरण कालसे पहले भी उदीरणाके कारणोंसे आयुका अपवर्तन हो जाता है।

श्लो. वा/५/२/५३/२/२६१/१६ न हि अप्राप्तकालस्य मरणाभाव: खड्गप्रहारादिभि. मरणस्य दर्शनात्। =अप्राप्तकाल मरणका अभाव नहीं है, क्योंकि, खड्ग प्रहारादि द्वारा मरण देखा जाता है।

ध.१३/५,५,६३/३३४/१ कदलीघादेण मरंताणमाउट्ठिदिचरिमसमए मरणाभावेण मरणाउट्ठिदिचरिमसमयाणं समाणाहियरणाभावादो च। =कदलीघातसे मरनेवाले जीवोंका आयुस्थितिके अन्तिम समयमें मरण नहीं हो सकनेसे मरण और आयुके अन्तिम समयका सामानाधिकरण नहीं है।

भ आ./वि./८२४/९६४/१२ अकालमरणाभावोऽयुक्तः केषुचित्कर्मभूमिजेषु तस्य सतो निषेधादित्यभिप्राय:। =अकाल मरणका अभाव कहना युक्त नही है, क्योकि. कितने ही कर्मभूमिज मनुष्योंमें अकाल मृत्यु है। उसका अभाव कहना असत्य वचन है; क्योंकि, यहाँ सत्य पदार्थका निषेध किया गया है। (दे० असत्य/३)

१०. अकाल मृत्युकी सिद्धिमें हेतु

रा. वा./२/५३/११/१५८/१२ अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायनं चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम्। न चादोऽस्ति। अत आयुर्वेदसामर्थ्यादस्त्यकालमृत्यु:। दु:खप्रतीकारार्थ इति चेत्, न; उभयथा दर्शनात् ।१२। कृतप्रणाशप्रसग इति चेत्; न, दत्त्वैव फलं निवृत्ते: ।१३।... वितताईपटशोषवत् अयथाकालनिर्वृत्त: पाक इत्ययं विशेष:। =१ आयुर्वेदशास्त्रमें अकाल मृत्युके वारणके लिए औषधिप्रयोग बताये गये हैं। क्योंकि, दवाओंके द्वारा श्लेष्मादि दोषोंको बलात् निकाल दिया जाता है। अत यदि अकाल मृत्यु न मानी जाय तो रसायनादिका उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। उसे

केवल दु:खनिवृत्तिका हेतु कहना भी युक्त नहीं है; क्योंकि, उसके दोनों ही फल देखे जाते हैं। (श्लो. वा ५/२/५३/श्लो. २/२५६ व वृत्ति/२६२/२६)। २ यहाँ कृतप्रणाशकी आशंका करना भी योग्य नहीं है, क्योंकि, उदीरणामें भी कर्म अपना फल देकर ही झडते हैं। इतना विशेष है, कि जैसे गीला कपडा फैला देनेपर जल्दी सूख जाता है, वही यदि इकट्ठा रखा रहे तो सूखनेमें बहुत समय लगता है, उसी तरह उदीरणाके निमित्तोंके द्वारा समयके पहले ही आयु झड जाती है। (श्लो वा/५/२/५३/२/२६६/१४)।

श्लो. वा./५/२/५३/२/२६१/१६ प्राप्तकालस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत्, क. पुनरसौ कालं प्राप्तोऽपमृत्युकालं वा; द्वितीयपक्षे सिद्धसाध्यता, प्रथमपक्षे खड्‌गप्रहारादिनिरपेक्षत्वप्रसंग। =प्रश्न—३. प्राप्तकाल ही खड्‌ग आदिके द्वारा मरण होता है। उत्तर—यहाँ कालप्राप्तिसे आपका क्या तात्पर्य है—मृत्युके कालकी प्राप्ति या अपमृत्युके कालकी प्राप्ति? यहाँ दूसरा पक्ष तो माना नहीं जा सकता क्योंकि वह तो हमारा साध्य ही है और पहला पक्ष माननेपर खड्‌ग आदिके प्रहारसे निरपेक्ष मृत्युका प्रसंग आता है।

११. स्वकाल व अकाल मृत्युका समन्वय

श्लो वा. ५/२/५३/२/२६१/१८ सकलबहि कारणविशेषनिरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युकालव्यवस्थिते'। शस्त्रसंपातादिबहिरङ्गकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकालत्वोपपत्ते। =असि प्रहार आदि समस्त बाह्य कारणोंसे निरपेक्ष मृत्यु होनेमें जो कारण है वह मृत्युका स्वकाल व्यवस्थापित किया गया है। और शस्त्र संपात आदि बाह्य कारणोंके अन्वय और व्यतिरेकका अनुसरण करनेवाला अपमृत्युकाल माना जाता है।

प. वि/३/१८ यैव स्वकर्मकृतकालकलात्र जन्तुस्तत्रैव याति मरणं न पुरो न पश्चात्। मूढास्तथापि हि मृते स्वजने विधाय शोकं परं प्रचुरदु'खभुजो भवन्ति।१८। =इस संसारमें अपने कर्मके द्वारा जो मरणका समय नियमित किया गया है उसी समयमें ही प्राणी मरणको प्राप्त होता है, वह उससे न तो पहले ही मरता है और न पीछे ही। फिर भी मूर्खजन अपने किसी सम्बन्धीके मरणको प्राप्त होनेपर अतिशय शोक करके बहुत दु'खके भोगनेवाले होते हैं नोट—(बाह्य कारणोंसे निरपेक्ष और सापेक्ष होनेसे ही काल व अकाल मृत्युमें भेद है, वास्तवमें इनमें कोई जातिभेद नहीं है। कालकी अपेक्षा भी मृत्युके नियत कालसे पहले मरण हो जानेको जो अकाल मृत्यु कहा जाता है वह केवल अल्पज्ञताके कारण ही समझना चाहिए, वास्तवमें कोई भी मृत्यु नियतकालसे पहले नहीं होती, क्योंकि, प्रत्यक्षरूपसे भविष्यको जाननेवाले तो बाह्य निमित्तों तथा आयुकर्मके अपवर्तनको भी नियत रूपमें ही देखते हैं।)

५. मारणान्तिक समुद्‌घात निर्देश

१. मारणान्तिक समुद्‌घातका लक्षण

रा. वा./१/२०/१२/७७/१५ औपक्रमिकानुपक्रमायु क्षयाविर्भूतमरणान्तप्रयोजनो मारणान्तिकसमुद्‌घात। =औपक्रमिक व अनुपक्रमिक रूपसे आयुका क्षय होनेसे उत्पन्न हुए कालमरण या अकाल मरणके निमित्तसे मारणान्तिक समुद्‌घात होता है।

ध.४/१,३,२/२६/१० मारणान्तियसमुग्घादो णाम अप्पणो वट्टमाणसरीरमछड्डिय रिजुगईए विग्गहगईए वा जावुप्पज्जमाणखेत्तं ताव गंतूण अंतोमुहुत्तमच्छणं। =अपने वर्तमान शरीरको नहीं छोडकर ऋजुगति द्वारा अथवा विग्रह गति द्वारा आगे जिसमें उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्रतक जाकर अन्तर्मुहूर्त तक रहनेका नाम मारणान्तिक समुद्‌घात है। (द्र.सं./टी/१०/२५/उद्‌धृत श्लोक न. ४)।

गो. जी/जी. प्र./६६६/४४४/२ मरणान्ते भव' मारणान्तिक समुद्‌घात उत्तरभवोत्पत्तिस्थानपर्यन्तजीवप्रदेशप्रसर्पणलक्षण'। =मरणके अन्तमें होनेवाला तथा उत्तर भवकी उत्पत्तिके स्थान पर्यन्त जीवके प्रदेशोंका फैलना है लक्षण जिसका, वह मारणान्तिक समुद्‌घात है। (का.अ/टी./१७६/११६/२)।

२. सभी जीव मारणान्तिक समुद्‌घात नहीं करते

गो. जी./जी. प्र/५४४/९५०/१ सौधर्मद्वयजीवराशौ घनाङ्गुलतृतीयमूलगुणितजगच्छ्रेणिप्रमिते · पल्यासंख्यातेन भक्ते एकभाग. प्रतिसमयं म्रियमाणराशिर्भवति। · तस्मिन् पल्यासंख्यातेन भक्ते बहुभागौ विग्रहगतौ भवति। तस्मिन् पल्यासंख्यातेन भक्ते बहुभागो मारणान्तिक समुद्‌घाते भवति। ···अस्य पल्यासंख्यातैकभागो दूरमारणान्तिके जीवा भवन्ति। =सौधर्म ईशान स्वर्गवासी देव (घनांगुल १/३×जगश्रेणी) इतने प्रमाण हैं। इसके पल्य/असं. भागप्रमाण प्रति समय मरनेवाले जीवोंका प्रमाण है। इसका पल्य/असं. बहुभाग प्रमाण विग्रह गति करनेवालोंका प्रमाण है। इसका पल्य/असं. बहुभाग प्रमाण मारणान्तिक समुद्‌घात करनेवालोंका प्रमाण है। इसका पल्य/असं भागप्रमाण दूर मारणान्तिक समुद्‌घातवाले जीवोंका प्रमाण है। (और भी दे० ध. ७/२,६,२२७,१४/३०६,३१२)।

३. ऋजु व वक्र दोनों प्रकारकी विग्रहगतिमें होता है

का अ/टी/१७६/११६/३ स च ससारी जीवाना विग्रहगतौ स्यात्। =मारणान्तिक समुद्‌घात संसारी जीवोंको विग्रहगतिमें होता है।

दे० मारणान्तिक समुद्‌घातका लक्षण/ध. ४ (ऋजुगति व विग्रह गति दोनों प्रकारसे होता है)। (ध.७/२,६,१/३)।

४. मारणान्तिक समुद्‌घातका स्वामित्व

दे० समुद्‌घात—(मिश्र गुणस्थान तथा क्षपकश्रेणीके अतिरिक्त सभी गुणस्थानोंमें सम्भव है। विकलेन्द्रियोंके अतिरिक्त सभी जीवोंमें सम्भव है।)

ध. ४/१,४,२५/२०४/७ जदि सासणसम्मादिट्ठिणो हेट्ठाण मारणंतियं मेल्लंति, तो तेसिं भवणवासियदेवेसु मेरुतलादो हेट्ठा ट्ठिदेसु उप्पत्ती ण पावदि त्ति वुत्ते, ण एस दोसो, मेरुतलादो हेट्ठा सासणसम्मादिट्ठीण मारणंतियं णत्थि त्ति एद सामण्णवयणं। विसेसादो पुण भण्णमाणे णेरइएसु हेट्ठिम एइंदिएसु वा ण मारणंतियं मेल्लंति त्ति एस परमत्थो। =प्रश्न—यदि सासादन सम्यग्दृष्टि जीव मेरुतलसे नीचे मारणान्तिक समुद्‌घात नहीं करते हैं तो मेरुतलसे नीचे स्थित भवनवासी देवोंमें उनकी उत्पत्ति भी नहीं प्राप्त होती है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, 'मेरुतलसे नीचे सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंका मारणान्तिक समुद्‌घात नहीं होता है' यह सामान्य वचन है। किन्तु विशेष विवक्षासे कथन करनेपर तो वे नारकियोंमें अथवा मेरुतलसे अधोभागवर्ती एकेन्द्रिय जीवोंमें मारणान्तिक समुद्‌घात नहीं करते हैं यह परमार्थ है। (क्योंकि उन गतियोंमें उनके उपपाद नहीं होता है। —दे० जन्म/४/११)।

दे० सासादन/१/१०—[लोकनालीके बाहर सासादन सम्यग्दृष्टि समुद्‌घात नहीं करते।]

ध ४/१,४,१७३/३०५/१० मणुसगदीए चेव मारणंतियं दसणादो। =मनुष्य गतिमें ही (उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोंके) मारणान्तिक समुद्‌घात देखा जाता है।

दे० क्षेत्र/३—(गुणस्थान व मार्गणास्थानोंमें मारणान्तिक समुद्‌घातका यथासम्भव अस्तित्व)।

५. प्रदेशोंका पूर्ण संकोच होना आवश्यक नहीं

ध. ४/१,३,२/३०/४ विग्गहगदीए मारणतियं कादूणुप्पण्णाणं पढमसमए असंखेज्जजोयणमेत्ता ओगाहणा होदि, पुव्वं पसारिदएग-दो-तिदंडाणं पढमसमए उवसंघाराभावादो। =मारणान्तिक समुद्घात करके विग्रहगतिसे उत्पन्न हुए जीवोंके पहले समयमें असंख्यात योजनप्रमाण अवगाहना होती है, क्योंकि, पहले फैलाये गये एक, दो और तीन दण्डोंका प्रथम समयमें संकोच नहीं होता है।

ध. ४/१,४,४/१६५/४ के वि आइरिया 'देवा णियमेण मूल सरीरं पविसिय मरंति' त्ति भणंति,·· विरुद्धं' ति ण घेत्तव्वं। =कितने ही आचार्य ऐसा कहते है कि देव नियमसे मूल शरीरमें प्रवेश करके ही मरते हैं। परन्तु यह विरोधको प्राप्त होता है, इसलिए उसे नहीं ग्रहण करना चाहिए।

ध. ७/२,७,१६४/४२६/११ हेट्ठा दोरज्जुमेत्तद्धाणं गंतूण ट्ठिदावत्थाए छिण्णाउआणं मणुस्सेसुप्पज्जमाणाणं देवाणं उववादखेत्तं किण्ण घेप्पदे। ण, तस्स पढमदंडेणूणस्स छच्चोद्दसभागेसु चेव अंतब्भावादो, तेसिं मूलसरीरपवेसमंतरेण तदवत्थाए मरणाभावादो च। =प्रश्न—नीचे दो राजुमात्र जाकर स्थित अवस्थामें आयुके क्षीण होनेपर मनुष्योंमें उत्पन्न होनेवाले देवोंका उत्पादक्षेत्र क्यों नहीं ग्रहण किया। उत्तर—नहीं, क्योंकि, प्रथम दण्डसे कम उसका ६/१४ भागमें ही अन्तर्भाव हो जाता है (दे० क्षेत्र/४) तथा मूल शरीरमें जीव प्रदेशोंके प्रवेश बिना उस अवस्थामें उनके मरणका अभाव भी है।

ध. ११/४,२,५,१२/२२/६ णेरइएसुप्पण्णपढमसमए उवसंहरिदपढमदंडस्स य उक्कस्सखेत्ताणुववत्तीदो। =नारकियोंमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें (महामत्स्यके प्रदेशोंमें) प्रथम दण्डका उपसंहार हो जानेसे उसका उत्कृष्ट क्षेत्र नहीं बन सकता।

६. प्रदेशोंका विस्तार व आकार

ध. ७/२,६,१/२९९/११ अप्पप्पणो अच्छिदपदेसादो जाव उप्पज्जमाणखेत्तं ति आयामेण एगपदेसमादिं कादूण जावुक्कस्सेण सरीरतिगुणबाहल्लेण कंडेक्कखंभट्ठियत्तोरण हल-गोमुत्तायारेण अंतोमुहुत्तावट्ठाणं मारणंतियसमुग्घादो णाम। =आयामकी अपेक्षा अपने-अपने अधिष्ठित प्रदेशसे लेकर उत्पन्न होनेके क्षेत्रतक (और भी दे० अगला शीर्षक नं ७), तथा बाहल्यसे एक प्रदेशको आदि करके उत्कर्षतः शरीरसे तिगुने प्रमाण जीव प्रदेशोंके काण्ड, एक खम्भ स्थित तोरण, हल व गोमूत्रके आकारसे अन्तर्मुहूर्त तक रहनेको मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं।

ध. ११/४,२,५,१२/२१/७ सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जमाणस्स महामच्छस्स विक्खंभुस्सेहा तिगुणा ण होंति, दुगुणा विसेसाहिया वा होंति त्ति कधं णव्वदे। अधोसत्तमाए पुढवीए णेरइएसु से काले उप्पज्जिहिदि त्ति सुत्तादो णव्वदे। संतकम्मपाहुडे पुण णिगोदेसु उप्पाइदो, णेरइएसु उप्पज्जमाणमहामच्छो व्व सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जमाणमहामच्छो वि तिगुणशरीरबाहल्लेण मारणंतियसमुग्घादं गच्छदि त्ति। ण च एदं जुज्जदे, सत्तमपुढवीणेरइएसु असादबहुलेसु उप्पज्जमाणमहामच्छवेयणा-कसाएहिंतो सुहुमणिगोदेसु उप्पज्जमाणमहामच्छवेयण-कसायाणं सरिसत्ताणुववत्तीदो। तदो एसो चेव अत्थो पहाणो त्ति घेत्तव्वो। =प्रश्न—सूक्ष्म निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यका विष्कम्भ और उत्सेध तिगुना नहीं होता, किन्तु दुगुना अथवा विशेष अधिक होता है, यह कैसे जाना जाता है। उत्तर—"नीचे सातवीं पृथिवीके नारकियोंमें वह अनन्तर कालमें उत्पन्न होगा" इस सूत्रसे जाना जाता है।—सत्कर्मप्राभृतमें उसे निगोद जीवोंमें उत्पन्न कराया है, क्योंकि, नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यके समान सूक्ष्म निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाला महामत्स्य भी [illegible] बाहल्यसे मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त होता है। परन्तु यह योग्य नहीं है, क्योंकि, अत्यधिक असाताका अनुभव करनेवाले सातवीं पृथिवीके नारकियोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यकी वेदना और कषायकी अपेक्षा सूक्ष्म निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाले महामत्स्यकी वेदना और कषाय सदृश नहीं हो सकती। इस कारण यही अर्थ प्रधान है, ऐसा ही ग्रहण करना चाहिए।

गो. जी./जी. प्र./५४३/९४२/१३ अस्मिन् रज्जुसंख्यातैकभागायाम-सूच्यङ्गुलसंख्यातैकभागविष्कम्भोत्सेधक्षेत्रस्य घनफलेन प्रतराङ्गुल-संख्यातैकभागगुणितजगच्छ्रेणिसंख्यातैकभागेन गुणिते दूरमारणान्तिकसमुद्घातस्य क्षेत्रं भवति। =एक जीवके दूरमारणान्तिक समुद्घात विषै शरीरसे बाहर यदि प्रदेश फैले तो मुख्यपने राजूके संख्यातभागप्रमाण लम्बे और सूच्यंगुलके संख्यातवें भागप्रमाण चौडे व ऊँचे क्षेत्रको रोकते है। इसका घनफल जगश्रेणी × प्रतरांगुल होता है।

गो जी./जी. प्र./५८४/१०२५/१० तदुपरि प्रदेशोत्तरेषु स्वयंभूरमण-समुद्रबाह्यस्थण्डिलक्षेत्रस्थितमहामत्स्येन सप्तमपृथिवीमहारौरवनाम-श्रेणीबद्धं प्रति मुक्तमारणान्तिकसमुद्घातस्य पञ्चशतयोजनतदर्धविष्कम्भोत्सेधे कार्धषड्रज्ज्वायतप्रथमद्वितीयतृतीयवक्रोत्कृष्टपर्यन्तेषु। =वेदना समुद्घातगत जीवके उत्कृष्ट क्षेत्रसे ऊपर एक-एक प्रदेश बढता-बढता मारणान्तिक समुद्घातवाले जीवका उत्कृष्ट क्षेत्र होता है। वह स्वयंभूरमण समुद्रके बाह्य स्थण्डिल क्षेत्रमें स्थित जो महामत्स्य वह जब सप्तमनरकके महारौरव नामक श्रेणीबद्ध बिलके प्रति मारणान्तिक समुद्घात करता है तब होता है। वह ५०० यो० चौडा, २५० यो० ऊँचा और प्रथम मोडेमें १ राजू लम्बा, दूसरे मोडेमें १/२ राजू और तृतीय मोडेमें ६ राजू लम्बा होता है। मारणान्तिक समुद्घातगत जीवका इतना उत्कृष्ट क्षेत्र होता है।

७. वेदना कषाय और मारणान्तिक समुद्घातमें अन्तर

भ. ४/१,३,२/२७/२ वेदणकसायसमुग्घादा मारणंतियसमुग्घादे किण्ण पदंति त्ति वुत्ते ण पदंति। मारणंतिय समुग्घादो णाम बद्धपरभवियाउआणं चेव होदि। वेदणकसायसमुग्घादा पुण बद्धाउआणमबद्धाउआणं च होंति। मारणंतियसमुघादो णिच्छएण उप्पज्जमाण दिसाहिमुहो होदि, ण चे अराणमेगदिसाए गमणणियमो, दससु वि दिसासु गमणे पडिबद्धत्तादो। मारणंतियसमुग्घादस्स आयामो उक्कस्सेण अप्पणो उप्पज्जमाणखेत्तपज्जवसाणो, ण चेअराणमेस णियमो त्ति। =प्रश्न—वेदना समुद्घात और कषायसमुद्घात ये दोनों मारणान्तिकसमुद्घातमें अन्तर्भूत क्यों नहीं होते है। उत्तर—१. नहीं होते, क्योंकि, जिन्होंने पर भवकी आयु बाँध ली है, ऐसे जीवोंके ही मारणान्तिक समुद्घात होता है (अबद्धायुष्क और वर्तमानमें आयुको बाँधनेवालोंके नहीं होता—(ध. ७/४,२,१३,८६/४१०/७), किन्तु वेदना और कषाय समुद्घात बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क दोनों जीवोंके होते हैं। २. मारणान्तिक समुद्घात निश्चयसे आगे जहाँ उत्पन्न होना है ऐसे क्षेत्रकी दिशाके अभिमुख होता है। किन्तु अन्य समुद्घातोंके इस प्रकार एक दिशामें गमनका नियम नहीं है, क्योंकि, उनका दशों दिशाओंमें भी गमन पाया जाता है (दे० समुद्घात)। ३. मारणान्तिक समुद्घातकी लम्बाई उत्कृष्टतः अपने उत्पद्यमान क्षेत्रके अन्त तक है, किन्तु इतर समुद्घातोंका यह नियम नहीं है। दे० पिछला शीर्षक नं० ६)।

८. मारणान्तिक समुद्घातमें कौन कर्म निमित्त है

ध. ६/१,९-१, २८/५७/२ अचत्तसरीरस्स विग्गहगईए उजुगईए वा जं गमणं तं कस्स फलं। ण, तस्स पुव्वखेत्तपरिच्चायाभावेण गमणाभावा। जीवपदेसाणं जो पसरो सो ण णिक्कारणो, तस्स आउअसंतफल-

ो। =प्रश्न—पूर्व शरीरको न छोडते हुए जीवके विग्रह गतिमें वा ऋजुगतिमे जो गमन होता है, वह किस कर्मका फल है। र—नही, क्योकि, पूर्व शरीरको नही छोडनेवाले उस जीवके क्षेत्रके परित्यागके अभावसे गमनका अभाव है (अत. वहाँ आनुर्वी नामकर्म कारण नही हो सकता)। पूर्व शरीरको नही छोडने- भी जीव प्रदेशोका जो प्रसार होता है, वह निष्कारण नही है, ोकि, वह आगामी भवसम्बन्धी आयुकर्मके सत्त्वका फल है।

ा भय—दे० भय।

चि—१. यह भगवान् महावीर स्वामीका दूरवर्ती पूर्व भव है ०० वर्धमान) पूर्वभव न० २ मे पुरुरवा नामक भील था। पूर्वभव ० १ में सौधर्म स्वर्गमें देव हुआ। वर्तमान भवमें भरतकी अनन्त- ा नामक स्त्रीसे मरीचि नामक पुत्र हुआ। इसने परिव्राजक बन ३ मिथ्या मतोकी प्रवृत्ति की। चिरकाल भ्रमण करके त्रिपृष्ठ नामक तभद्र और फिर अन्तिम तीर्थंकर हुआ। (प, पु /३/२९३), (म. /६२/८८-९२ तथा ७४/१४,२०,५१,५६,१९९,२०४)। २, एक क्रिया- दी—(दे० क्रियावाद)।

—१, किम्पुरुप जातिका एक व्यन्तर—दे० किंपुरुप।

त—१. सौधर्म स्वर्गका १२ वॉ पटल—दे० स्वर्ग/५। २ एक ौकान्तिकदेव—दे० लौकान्तिक। ३ वायु—दे० वायु।

त चारण—दे० ऋद्धि/१।

देवी—भगवान् ऋपभनाथकी माता—दे० तीर्थंकर/५।

द्देव—१२ वें कुलकर—दे० शलाका पुरुप/९।

प्रभ—किंपुरुप जातिका एक व्यन्तर—दे० किंपुरुप।

भूति—म. पु./७३/श्लोक—भरत क्षेत्र पोदनपुर निवासी विश्व- ूति ब्राह्मणका पुत्र था। (७-९)। कमठ इसका वडा भाई था, जिसने इसकी स्त्रीपर बलात्कार करनेके हेतु इसे मार डाला। यह रकर सल्लकी वनमें वज्रघोप नामक हाथी हुआ। (११-१२)। यह पार्श्वनाथ भगवान्का पूर्वका ९ वाँ भव है।—दे० पार्श्वनाथ।

र्मस्थान—औदारिक शरीरमें मर्मस्थानोका प्रमाण—दे० औदारिक /२

र्यादा—भोजनमें कालगत मर्यादाएँ—दे० भक्ष्याभक्ष्य/१।

ल—ति प /१/गाथा—दोण्णि वियप्पा होति हु मलस्स इमं दव्वभाव- भेएहिं। दव्वमलं दुविहप्प बाहिरमब्भतरं चेय।१०। सेदमलरेणुकद्दम- पहुदी बाहिरमलसमुद्दिट्ठ। पुणु दिढजीवपदेसे णिबधरूवाइ पय- डिठिदिआई।११। अणुभागपदेसाइं चउहिं पत्तेक्भेज्जमाण तु। णाणा- वरणप्पहुदी अट्ठविह कम्ममखिलपावरयं।१२। अब्भतरदव्वमल जीव- पदेसे णिबद्धमिदि हेदो। भावमलं णादव्वं अणाणदसणादिपरिणामो।१३। अहवा बहुभेयगयं णाणावरणादि दव्वभावमलभेदा।१४। पावमलं ति भण्णइ उवचारसरूवएण जीवाण।१७। =द्रव्य और भावके भेदसे मलके दो भेद है। इनमेंसे द्रव्यमल भी दो प्रकारका है—बाह्य व अभ्यन्तर।१०। स्वेद, मल, रेणु, कर्दम इत्यादिक बाह्य द्रव्यमल कहा गया है, और दृढ रूपसे जीवके प्रदेशोमें एक क्षेत्रावगाहरूप बन्धको प्राप्त, तथा प्रकृति स्थिति अनुभाग व प्रदेश इन चार भेदोसे प्रत्येक भेदको प्राप्त होनेवाला, ऐसा ज्ञानावरणादि आठ प्रकारका सम्पूर्ण कर्मरूपी पापरज, चूँकि जीवके प्रदेशोंमे सम्बद्ध है, इस हेतुसे वह अभ्यन्तर द्रव्यमल है। अज्ञान अदर्शन इत्यादिक जीवके परिणामोको भावमल समझना चाहिए।११-१३। अथवा ज्ञाना- वरणादिक द्रव्यमलके और ज्ञानावरणादिक भावमलके भेदसे मलके अनेक भेद है।१४। अथवा जीवोके पापको उपचारसे मल कहा जाता है।१७। (ध. १/१,१,१/३२/६)।

ध.१/१,१,१/३३/२अथवा अर्थाभिधानप्रत्ययभेदात्त्रिविधं मलम्।उक्तमर्थ- मलम्।अभिधानमल तद्वाचक शब्दः। तयोरुत्पन्नबुद्धि. प्रत्ययमलम्। अथवा चतुर्विधं मलं नामस्थापनाद्रव्यभावमलभेदात्। अनेकविध वा। =अथवा अर्थ, अभिधान व प्रत्ययके भेदसे मल तीन प्रकारका होता है। अर्थमल तो द्रव्य व भावमलके रूपमें ऊपर कहा जा चुका है। मलके वाचक शब्दोको अभिधानमल कहते हैं। तथा अर्थमल और अभिधानमलमे उत्पन्न हुई बुद्धिको प्रत्ययमल कहते है। अथवा नाममल, स्थापनामल, द्रव्यमल और भावमलके भेदसे मल चार प्रकारका है। अथवा इसी प्रकार विवक्षा भेदसे मल अनेक प्रकारका भी है।

२. सम्यग्दर्शनका मल दोप

अन. ध./२/५९/१८३ तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मण। मलिनं मलसङ्गेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत्।५९।

अन. ध./२/६१ में उद्धृत—वेदक मलिनं जातु शङ्काद्यै र्यत्कलंकयते। =जिस प्रकार शुद्ध भी स्वर्ण चाँदी आदि मलके संसर्गसे मलिन हो जाता है उसी प्रकार सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व नामक कर्मके उदयसे शुद्ध भी सम्यग्दर्शन मलिन हो जाता है। ५९ (गो.जी /जी.प्र/२५/ ५१/२२ मे उद्धृत) शंका आदि दूपणोसे कलङ्कित सम्यग्दर्शनको मलिन कहते है।

३. अन्य मलोंका निर्देश

१. शरीरमें मलका प्रमाण —दे० औदारिक/२।

२. मल-मूत्र निक्षेपण सम्बन्धी —दे० समिति/१ में प्रतिष्ठापना समिति।

४. मल परिषह निर्देश

स. सि./९/९/४२६/४ अप्कायजन्तुपीडापरिहारायामरणादस्नानव्रत- धारिणः पटुरविकिरणप्रतापजनितप्रस्वेदाक्तपवनानीतपांसुनिचयस्य सिध्मकच्छूदद्रूदीर्णकण्डूयायामुत्पन्नायामपि कण्डूयनविमर्दन- संघट्टनविवर्जितमूर्तेः स्वगतमलोपचयपरगतमलोपचययोरसंकल्पित- मनसः सज्ज्ञानचारित्रविमलसलिलप्रक्षालनेन कर्ममलपङ्कनिराकरणाय नित्यमुद्यतमतेर्मलपीडासहनमाख्यायते। =अप्कायिक जीवोकी पीडाका परिहार करनेके लिए जिसने मरणपर्यन्त अस्नानव्रत स्वीकार किया है। तीक्ष्ण किरणोंके तापसे उत्पन्न हुए पसीनेमें जिसके पवनके द्वारा लाया गया धूलि संचय चिपक गया है। सिध्म, दाद और खाजके होनेपर भी जो खुजलाने, मर्दन करने और दूसरे पदार्थसे घिसनेरूप क्रियासे रहित है। स्वगत मलका उपचय और परगत मलका अपचय होनेपर जिसके मनमे किसी प्रकार विकल्प नही होता, तथा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूपी विमल जलके प्रक्षालन द्वारा जो कर्ममलपंकको दूर करनेके लिए निरन्तर उद्यत- मति है, उसके मलपीडासहन कहा गया है। (रा वा /९/९/२३/६११/ ३३), (चा. सा./१२५/६)।

मलद—भरत क्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मलय—१. भरतक्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डका एक पर्वत—दे० मनुष्य/४। २ मद्रास प्रेजिडेन्सीका मलाया प्रदेश (कुरलकाव्य/प्र २१/प गोविन्द- राय शास्त्री)।

मलौषध—दे० ऋद्धि/७।

मल्ल—भरतक्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश।—दे० मनुष्य/४।

मल्लधारी देव—१. नन्दि संघके देशीयगणके अनुसार श्रीधरदेवके शिष्य तथा चन्द्रकीर्तिके गुरु थे। समय—वि. १०७५-११०५ (ई० १०१८-१०४८)—दे० इतिहास/५/१४। २ मल्लिषेणकी उपाधि थी। (विशेष दे० मल्लिषेण/२)। ३ नियमसारकी टीकाके रचयिता पद्मप्रभकी उपाधि थी।—दे० पद्मप्रभ। ४ आ० बालचन्द्रकी उपाधि थी।—दे० बालचन्द्र।

मल्लवादी—१ नयचक्र प्रथमके कर्ता एक आचार्य। समय—वि. स. ४१४ (ई० ३५७)—(सि. वि /प्र. ३२/प. महेन्द्र)। २. एक तार्किक श्वेताम्बराचार्य थे। आ. विद्यानन्दिके समक्ष जो नयचक्र विद्यमान था वह सम्भवत इन्हींकी रचना थी। इनके नयचक्रपर उपा० यशोभद्रजीने टीका लिखी है। कृतियाँ—नयचक्र, सन्मति टीका। समय—वि. श. ८-९ (ई० श. ८ का अन्त); (न. च /प्र. २/प्रेमीजी)।

मल्लिनाथ—(म. पु /६६/श्लोक) पूर्व भव नं २ में कच्छकावती देशके वीतशोक नगरके राजा वैश्रवण थे।(२)। पूर्व भव नं. १ में अपराजित विमानमें अहमिन्द्र थे।(१४-१६)। (युगपत सर्वभव—दे० ६६/६६)। वर्तमान भवमें १९ वें तीर्थंकर हुए—दे० तीर्थंकर/५।

मल्लिनाथ पुराण—आ. सकलकीर्ति (ई० १४३३-१४७३) की एक रचना।

मल्लिभूपाल—एक राजा (ई. श. १६)—(मो. मा. प्र./प्र. २३/ A N Up. के अनुसार प. परमानन्द शास्त्री)।

मल्लिभूषण—नन्दि सघके बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार विद्यानन्दि न २ के शिष्य तथा श्रुतसागरके सहधर्मा और लक्ष्मीचन्द्र व ब्र नेमिदत्तके गुरु थे। समय—वि. १५३०-१५६० (ई. १४४८-१४९८)—दे० इतिहास/५/१३।

मल्लिषेण—१ सस्कृत व प्राकृत दोनो भाषाओंके कवि एक दिगम्बराचार्य। कृतियाँ—महापुराण, नागकुमार महाकाव्य, सज्जनचित्त वल्लभ। समय—(वि. ११०४ (ई. १०४७); (स म /प्र १९/पं. नाथूरामजी कृत विद्वद्रत्नमाला से उद्धृत टिप्पणीके आधारपर जगदीशचन्द्र शाह), (म. पु /प्र. २०/पं. पन्नालाल)। २. मल्लधारी देवके नामसे प्रसिद्ध एक दिगम्बराचार्य। कृतियाँ—प्रवचनसार टीका, पचास्तिकाय टीका, ज्वालिनीकल्प, पद्मावती कल्प, वज्रपजर विधान, ब्रह्मविद्या, आदि पुराण। समय—श.स१०५० (ई. ११२८)। ३ अत्यन्त मध्यस्थ स्वभावी एक श्वेताम्बर आचार्य। आप स्त्रीमुक्ति आदि विवादग्रस्त विषयोंकी चर्चाओंमें न पड़ते थे। उदयप्रभसूरिके शिष्य थे। कृतियाँ—स्याद्वादमंजरी, महापुराण। समय—१ प. महेन्द्रजीके अनुसार—ई० १०४७। २. जगदीश चन्द्रके अनुसार श. स १२१४ (ई० १२९२) इनमेंसे दूसरा मत ठीक जँचता है, क्योंकि अन्ययोगव्यवच्छेद, जिसपर कि उन्होंने स्याद्वादमंजरी नामकी टीका लिखी है, के कर्ता श्री हेमचन्द्रसूरिका समय ई० १०८८-११७३ है। (सि. वि /प्र ८०/प. महेन्द्र कुमार), (स म./प्र. १६/जगदीश चन्द्र)।

मल्लिषेण प्रशस्ति—श्रवणबेलगोलाका शिलालेख नं. ५४ मल्लिषेण प्रशस्तिके नामसे प्रसिद्ध है। समय—श. स १०५० (वि. ११८५); (पु अनु /प्र. ४१/प. जुगल किशोर मुख्तार)।

मशक परिग्रह—दे० दश परिग्रह।

मसिकर्म—दे० सावद्य/२।

मस्करी गोशाल—बौद्धोंके महा परिनिर्वाण सूत्र, महावग्ग और दिव्यावदान आदि ग्रन्थोंके अनुसार ये महात्मा बुद्धके समकालीन ६ तीर्थंकरोंमेंसे एक थे। (द. सा./प्र. ३२/प्रेमीजी)।

भा. सं/१७६-१७९ मसयरि-पूरणरिसिणो उप्पण्णो पासणाहतित्थम्मि। सिरिवीरसमवसरणे अगहियझुणिणा नियत्तेण।१७६। बहिणिग्गएण उत्तं मज्झ एयारसागधारिस्स। णिग्गइ झुणी ण, अरुहो णिग्गय विस्सासमसीसस्स।१७७। ण मुणइ जिणकहियसुयं सपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ। विप्पो वेयब्भासी तम्हा मोक्खं ण णाणाओ।१७८। अण्णाणाओ मोक्खं एव लोयाण पयडमाणो हु। देवो अ णत्थि कोई सुण्ण झाएह इच्छाए।१७९। = पार्श्वनाथके तीर्थमें मस्करि-पूरण ऋषि उत्पन्न हुआ। वीर भगवान्के समवशरणमें योग्यपात्रके अभावमें जब दिव्य ध्वनि न खिरी, तब उसने बाहर निकलकर कहा कि मैं ग्यारह अंगका ज्ञाता हूँ, तो भी दिव्यध्वनि नहीं हुई। पर जो जिनकथित श्रुतको ही नहीं मानता है और जिसने अभी हाल ही में दीक्षा ग्रहण की है ऐसा वेदाभ्यासी गोतम (इन्द्रभूति) इसके लिए योग्य समझा गया। अत जान पडता है कि ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता है। वह लोगोंपर यह प्रगट करने लगा कि अज्ञानसे ही मोक्ष होता है। देव या ईश्वर कोई है ही नहीं। अत स्वेच्छापूर्वक शून्यका ध्यान करना चाहिए।

मस्करी पूरन—दे० पूरन कश्यप।

मस्तक—भरतक्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मस्तिष्क—औदारिक शरीरमें मस्तिष्कका प्रमाण—दे० औदारिक/२।

मह—याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये पर्यायवाची नाम है।—दे० पूजा/१/१।

महत्तर—त्रि. सा./६८३/टीका—महत्तर कहिए कुल विषै बडा।

महत्ता—Magnitude (ज प /प्र १०७)।

महाकच्छ—पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७।

महाकच्छा—पूर्वविदेहस्थ पद्मकूट वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७।

महाकक्ष—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर

महाकल्प—द्वादशाग श्रुतज्ञानका ११वाँ अगबाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III

महाकाल—१. पिशाच जातीय एक व्यन्तर—दे० पिशाच। २. एक ग्रह—दे० ग्रह। ३. दक्षिण कालोद समुद्रका रक्षक देव—दे० व्यन्तर।४ ४. चक्रवर्तीकी नव निधियोंमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२ ५. षष्ट नारद—दे० शलाका पुरुष/६।

महाकाली—१ भगवान् श्रेयासकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष। २ एक विद्या—दे० विद्या।

महाकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

महाकौशल—मध्यप्रदेश। अपर नाम सुकौशल (म. पु./प्र./४८ पं. पन्नालाल)।

महाखर—असुरकुमार जातीय एक भवनवासी देव—दे० असुर।

महागंध—उत्तर नन्दीश्वरद्वीपका रक्षक देव—दे० भवन/४।

महागौरी—एक विद्या—दे० विद्या।

महाग्रह—दे० ग्रह।

महाचंद्र—शान्तिनाथचरित्रके रचयिता एक दि. साधु। समय-वि. १५८७।

महाज्वाल—विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर

महातनु—महोरग जातीय एक व्यन्तर—दे० महोरग।

महातप ऋद्धि—दे० ऋद्धि/५।

महातमःप्रभा—१ स. सि./३/१/२०३/६ महातम प्रभासहचरिता भूमिर्महातम'प्रभा इति=जिसकी प्रभा गाढ अन्धकारके समान है वह महातम प्रभाभूमि है। (ति प/२/२१)। (रा. वा/१/३/३/१५६/१६); (विशेष दे० तम प्रभा)। २. इसका अपर नाम माधवी है। इसका आकार अवस्थान आदि—दे० नरक/५।

महात्मा—प्र. सा./ता वृ./६२/११६/१५ — मोक्षलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा।=मोक्ष लक्षणवाले महाप्रयोजनको साधनेके कारण श्रमणको महात्मा कहते है।

महादेह—पिशाच जातीय एक व्यन्तर—दे० व्यन्तर।

महापद्म—१. महाहिमवान पर्वतका एक ह्रद जिसमेंसे रोहित व रोहितास्या ये दो नदियाँ निकलती हैं। ह्री देवी इसकी अधिष्ठात्री है।—दे० लोक/३/८। २. अपर विदेहका एक क्षेत्र।—दे० लोक /७। ३. विकृतवान् वक्षारका एक कूट—दे० लोक/७। ४ कुण्डपर्वतके सुप्रभकूटका रक्षक एक नागेन्द्र देव—दे० लोक/७। ५. कुरुवशकी वशावली-के अनुसार यह एक चक्रवर्ती थे जिनका अपर नाम पद्म था—दे० पद्म। ६. भावी कालके प्रथम तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५। ७ म. पु. ।५५। श्लोक—पूर्वी पुष्करार्धके पूर्व विदेहमें पुष्कलावती देशका राजा था (२-३)। धनपद नामक पुत्रको राज्य दे दीक्षा धारण की। (१८-१६)। ग्यारह अंगधारी होकर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। समाधिमरणकर प्राणतस्वर्गमें देव हुआ। (१६-२२)। यह सुविधिनाथ भगवान्‌का पूर्वका भव नं २ है।—दे० सुविधिनाथ।

महापुंडरीक—१. द्वादशाग श्रुतका १३वाँ अग वाह्य—दे० श्रुतज्ञान/III। २. रुक्मि पर्वतपर स्थित एक ह्रद जिसमेंसे नारी और रूपकूला ये दो नदियाँ निकली हैं। बुद्धि नामक देवी उसकी अधिष्ठात्री है—दे० लोक/३/८।

महापुर—१. भरतक्षेत्रका एक नगर—दे० मनुष्य/४। २. विजयार्ध-की उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

महापुराण—१. आ. जिनसेन (ई. ८००-८४८) की काव्य कलापूर्ण एक सुन्दर व विस्तृत रचना। इसमें भगवान् ऋषभदेव व भरत चक्रवर्तीका विस्तृत चरित्र उल्लिखित है। इस ग्रन्थकी पूर्ति इनके पीछे इनके शिष्य गुणभद्र (ई. ८०३-८६५) ने उत्तरपुराण लिखकर की है, जिसमें शेष २३ तीर्थंकरोंका वर्णन निबद्ध है। आ० जिनसेन कृत खण्डका नाम आदिपुराण और गुणभद्र कृत खण्डका नाम उत्तर-पुराण है। दोनो मिलकर महापुराण कहलाते हैं। इस पुराणको जैन पुराण कोश कहे तो अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि इसमें प्राय: सभी कथाएँ व चारित्र प्रसंगवश आ जाते हैं। इसमें आदिपुराणके ४७ पर्व और १५०० श्लोक है। उत्तरपुराणमें २६ पर्व और ८००० श्लोक है। २. द्वि. महापुराण आ. मल्लिषेणने. १०४७ में रचा है। ३. तृतीय महापुराण श्वेताम्बराचार्य मल्लिभूषण (ई. १२६२) ने रचा था।

महापुरी—अपर विदेहके महापद्म क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे० लोक/७।

महापुरुष—किंपुरुष जातीय एक व्यन्तर—दे० किंपुरुष।

महाप्रभ—१. उत्तर घृतवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यन्तर।४। २. घृतवर समुद्रका रक्षक देव—दे० व्यन्तर।४। ३. कुण्डल पर्वतका एक कूट—दे० लोक।७।

महाबल—१. असुर जातीय एक भवनवासी देव—दे० असुर। २. (म. पु./सर्ग/श्लोक)—राजा अतिबलका पुत्र था। (४/१३३)। राज्य प्राप्त किया। (४/१५६)। जन्मोत्सवके अवसरपर अपने मन्त्री स्वयबुद्ध द्वारा जीवके अस्तित्वकी सिद्धि सुनकर आस्तिक हुआ (५/८७)। स्वयं बुद्ध मन्त्रीको आदित्यगति नामक मुनिराजने बताया था कि ये दसवें भवमें भरतक्षेत्रके प्रथम तीर्थंकर होगे। (५/२००)। मन्त्रीके मुखसे अपने स्वप्नोंके फलमें अपनी आयुका निकटमें क्षय जानकर समाधि धारण की। (५/२२६,२३०)। २२ दिनकी सल्लेखना-पूर्वक शरीर छोड (५/२४८-२५०)। ईशान स्वर्गमें ललिताग नामक देव हुए। (५/२५३-२५४)। यह ऋषभदेवका पूर्व भव नं. ६ है—दे. ऋषभदेव। ३ म. पु/५०/श्लोक—मंगलावती देशका राजा था। (२-३)। विमलवाहन मुनिसे दीक्षा ले ११. अंगका पाठी हो तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। (१०-१२)। समाधिमरणपूर्वक विजय नामक अनुत्तर विमानमें अहमिन्द्र हुआ। (१३)। यह अभिनन्दननाथ भगवान्‌का पूर्व भव न. २ है। ४. (म. पु. /६०/श्लोक) पूर्व विदेहके नन्दन नगरका राजा था। (५८)। दीक्षाधार। (६१)। संन्यास मरण पूर्वक सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ। (६२)। यह सुप्रभ नामक बलभद्रका पूर्व भव नं. २ है। ५ नेमिनाथपुराणके रचयिता एक जैन कवि। समय—(ई १२४२)—(बरागचरित्र/प्र. २३/ पं. खुशालचन्द)

महाभारत—१. रामाकृष्णा द्वारा सशोधित 'इक्ष्वाकु वंशावली' में महाभारत युद्धका काल ई. पू. १५५० बताया गया है। (भारतीय इतिहास/पु० १/पृ. २८६)। २. महाभारत युद्धका वृत्तान्त—दे. ह. पु./सर्ग ४५-४६; सर्ग ४७/१-१६, तथा सर्ग ५४)।

महाभिषेक—पं. आशाधरजी (ई ११७३-१२४३) कृत 'नित्य महोद्योत' पर आ. श्रुतसागर (ई. १४७३-१५३३) कृत महाभिषेक नामक एक टीका ग्रन्थ।

महाभीम—१ राक्षस जातीय एक व्यन्तर—दे० राक्षस। २. द्वि. नारद—दे० शलाका पुरुष/६।

महाभुज—कुण्डल पर्वतके कनकप्रभ कूटका रक्षक एक नागेन्द्र देव—दे० लोक/७।

महाभूत—भूत जातीय एक व्यन्तर—दे० भूत।

महामंडलीक—राजाओंमें एक ऊँची श्रेणी—दे० राजा।

महामति—(म पु./ सर्ग/श्लोक)—महाबल भगवान् ऋषभदेवका पूर्व भव न. १। (५/२००)। का मन्त्री था। मिथ्यादृष्टि था। (४/१६१-१६२)। इसने राजाके जन्मोत्सवके अवसरपर उसके मन्त्री स्वयबुद्धके साथ विवाद करते हुए चार्वाक मतका आलम्बन लेकर जीवतत्त्वकी सिद्धिमें दूषण दिया था। (५/२६-२८)। मरकर निगोदमें गया। (१०/७)।

महामत्स्य—दे० सम्मूर्च्छक।

महामह—दे० पूजा।

महामात्य—त्रि. सा./टी./५८३ महामात्य कहिए सर्व राज्यकार्यका अधिकारी।

महामानसी—१. भगवान् कुन्थनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष। २. एक विद्या—दे० विद्या।

महायक्ष—भगवान् अजितनाथका शासक यक्ष—दे० यक्ष।

महायान—एक बौद्ध सम्प्रदाय—दे० बौद्धदर्शन।

महायोजन—क्षेत्रका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१।

महाराजा—राजाओमे एक श्रेणी—दे० राजा।

महाराष्ट्र—कृष्णानदीसे नर्मदा नदी तकका क्षेत्र (म. पु./प्र.४९/पं. पन्नालाल)।

महारुद्र—१. एक ग्रह—दे० ग्रह। २. चतुर्थ नारद दे० शलाका-पुरुष/६।

महालतांग—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I।

महालता—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१/।

महावत्सा—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २. वैश्रवण वक्षारका एक कूट व देव—दे० लोक/७।

महावप्र—१. अपर विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २. सूर्यगिरि वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव —दे० लोक/७।

महावीर—१. प्रथम दृष्टिसे भगवान्‌की आयु आदि

ध. ९/४,१,४४/१२० पण्णारहदिवसेहि अट्ठहि मासेहि य अहिय पचहत्तरिवासावसेसे चउत्थकाले ७५-८-१५ पुप्फुत्तरविमाणादो आसाढजोण्णपक्खछट्ठीए महावीरो बाहत्तरिवासाउओ तिणाणहरो गब्भमोइण्णो। तत्थ तीसवसाणि कुमारकालो, बारसवसाणि तस्स छदुमत्थकालो, केवलिकालो वि तीस वासाणि; एदेसिं तिण्ह कालाण समासो बाहत्तरिवासाणि। =१५ दिन और ८ मास अधिक ७५ वर्ष चतुर्थ कालमें शेष रहनेपर पुष्पोत्तर विमानसे आषाढ शुक्ला षष्ठीके दिन ७२ वर्ष प्रमाण आयुसे युक्त और तीन ज्ञानके धारक महावीर भगवान् गर्भमें अवतीर्ण हुए। इसमें ३० वर्ष कुमारकाल, १२ वर्ष उनका छद्मस्थकाल और ३० वर्ष केवलिकाल इस प्रकार इन तीनो कालोका योग ७२ वर्ष होता है। (क. पा १/१.१/§ ५६/-७४/६)।

२. दिव्यध्वनि या शासनदिवसकी तिथि व स्थान

ध. १/१,१,१/गा ५२-५७/६१-६३ पचसेलपुरे रम्मे विउले पव्वदुत्तमे। ...।५२। महावीरेणत्थो कहिओ भवियलोयस्स। इम्मिस्से वसिप्पिणीए चउत्थ-समयस्स पच्छिमे भाए। चोत्तीसवाससेसे किंचि विसेसूणए संते।५५। वासस्स पढममासे पढमे पक्खम्हि सावणे बहुले। पाडिवदपुव्वदिवसे तित्थुप्पत्ती दु अभिजिम्हि।५६। सावण बहुलपडिवदे रुद्दमुहुत्ते सुहोदए रविणो। अभिजिस्स पढमजोए जत्थ जुगादी मुणेयव्वो।५७। =पंचशैलपुरमें (राजगृहमें) रमणीक, विपुल व उत्तम, ऐसे विपुलाचल नामके पर्वतके ऊपर भगवान् महावीरने भव्य जीवोको उपदेश दिया।५२। इस अवसर्पिणी कल्पकालके दुःषमा सुषमा नामके चौथे कालके पिछले भागमें कुछ कम ३४ वर्ष बाकी रहनेपर, वर्षके प्रथममास अर्थात् श्रावण मासमें प्रथम अर्थात् कृष्णपक्ष प्रतिपदाके दिन प्रातःकालके समय आकाशमें अभिजित् नक्षत्रके उदित रहनेपर तीर्थकी उत्पत्ति हुई।५५-५६। श्रावणकृष्ण प्रतिपदाके दिन रुद्रमुहूर्तमें सूर्यका शुभ उदय होनेपर और अभिजित् नक्षत्रके प्रथम योगमें जब युगकी आदि हुई तभी तीर्थकी उत्पत्ति समझना चाहिए। (ध. ९/४,१,४४/गा २६/१२०), (क पा /१/१-१/§ ५६/गा. २०/७४)।

ध. ९/४,१,४४/१२०/६ छासट्ठिदिवसावणयणं केवलकालम्मि किमट्ठ करिदे। केवलणाणे समुप्पण्णे वि तत्थ तित्थाणुप्पत्तीदो। =केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेपर भी ६६ दिन तक उनमे तीर्थकी उत्पत्ति नही हुई थी, इसलिए उनके केवलीकालमें ६६ दिन कम किये जाते हैं। (क पा. १/१-१/§ ५७/७५/५)।

३. द्वि० दृष्टिसे भगवान्‌की आयु आदि

ध ९/४,१,४४/टीका व गा. ३०-४१/१२१-१२६ अण्णे के वि आइरिया पचहि दिवसेहि अट्ठहि मासेहि य ऊणाणि बाहत्तरि वासाणि त्ति वड्ढमाणजिणिंदाउअं परूवेंति ७१-३-२५। तेसिमहिप्पाएण गब्भत्थ-कुमार-छदुमत्थ-केवल-कालाणं परूवणा करिदे। तं जहा.. (पृष्ठ १२१/५)। आसाढजोण्णपक्खे छट्ठीए जोणिमुवगादो। गा. ३१। अच्छित्ता णवमासे अट्ठ य दिवसे चइत्तसियपक्खे। तेरसिए रत्तीए जादुत्तरफग्गुणीए दु। गा. ३३। अट्ठावीसं सत्त य मासे दिवसे य बारसयं। गा. ३४। आहिणिबोहियबुद्धो छट्ठेण य मग्गसीसबहुले दु। दसमीए णिक्खंतो सुरमहिदो णिक्खमणपुज्जो। गा. ३५। गमइ छदुमत्थत्तं बारसवासाणि पंच मासे य। पण्णारसाणि दिण्णाणि य तिरयणसुद्धो महावीरो। गा ३६। वइसाहजोण्णपक्खे दसमीए खवगसेढिमारूढो। हंतूण घाइकम्मं केवलणाणं समावण्णो। गा. ३८। वासाणूणत्तीसं पंच य मासे य वीसदिवसे य।...। गा ३९। पाच्छा पावाणयरे कत्तियमासे य किण्हचोद्दसिए। सादीए रत्तीए सेसरयं छेत्तु णिव्वाओ। गा. ४०। परिणिव्वुदे जिणिंदे चउत्थकालस्स जं भवे सेसं। वासाणि तिण्णि मासा अट्ठ य दिवसा वि पण्णरसा। गा. ४१। "एदं कालं वड्ढमाणजिणिंदाउअम्मि पक्खित्ते दसदिवसाहियपंचहत्तरिवाससेत्तावसेसे चउत्थकाले सग्गादो वड्ढमाणजिणिंदस्स ओदिण्णकालो होदि। =अन्य कितने ही आचार्य भगवान्‌की आयु ७१ वर्ष ३ मास २५ दिन बताते हैं। उनके अभिप्रायानुसार गर्भस्थ, कुमार, छद्मस्थ और केवलज्ञानके कालोंकी प्ररूपणा करते हैं। वह इस प्रकार कि—गर्भावतार तिथि=आषाढ शु ६, गर्भस्थकाल=९ मास-८ दिन, जन्म-तिथि व समय=चैत्र शु १३ की रात्रिमें उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र, कुमारकाल=२८ वर्ष ७ मास १२ दिन, निष्क्रमण तिथि=मगसिर कृ. १०; छद्मस्थकाल=१२ वर्ष ५ मास १५ दिन, केवलज्ञान तिथि=वैशाख शु १०; केवलीकाल=२९ वर्ष ५ मास २० दिन, निर्वाण तिथि=कार्तिक कृ. १४ में स्वाति नक्षत्र। भगवान्‌के निर्वाण होनेके पश्चात् शेष बचा चौथा काल=३ वर्ष ८ मास १५ दिन। इस कालको वर्धमान जिनेन्द्रकी आयुमें मिला देनेपर चतुर्थकालमें ७५ वर्ष १० दिन शेष रहने पर भगवान्‌का स्वर्गावतरण होनेका काल प्राप्त होता है। (क पा. १/१-१/§ ५८-६२/टीका व गा. २१-३१/७६-८१)।

४. भगवान्‌की आयु आदि सम्बन्धी दृष्टिभेदका समन्वय

ध. ९/४,१,४४/१२६/५ दोसु वि उवएसेसु को एत्थ समजसो, एत्थ ण बाहइ जिब्भमेलाइरियवच्छओ, अलद्धोवदेसत्तादो दोण्णमेक्कस्स बाहाणुवलभादो। किंतु दोसु एक्केण होदव्वं। तं जाणिय वत्तव्व। =उक्त दो उपदेशोमेंसे कौन-सा उपदेश यथार्थ है, इस विषयमें एलाचार्यका शिष्य (वीरसेन स्वामी) अपनी जीभ नहीं चलाता, क्योंकि, न तो इस विषयका कोई उपदेश प्राप्त है और न दोनोमेंसे एकमें कोई बाधा ही उत्पन्न होती है। किन्तु दोनोमेंसे एक ही सत्य होना चाहिए। उसे जानकर कहना उचित है। (क पा./१/-१-१/§ ६३/८१/१२)।

* **वीर निर्वाण संवत् सम्बन्धी**—दे० इतिहास/२।

५. भगवान्‌के पूर्व भवोंका परिचय

म. पु /७४/श्लोक नं. "दूरवर्ती पूर्वभव नं. १ में पुरुरवा भील थे। १४-१६। न. २ में सौधर्म स्वर्गमें देव हुए।२०-२२। नं. ३ में भरत का पुत्र मरीचि कुमार।५१-६६। नं. ४ में ब्रह्म स्वर्गमे देव।६७। न. ५ में जटिल ब्राह्मणका पुत्र।६८। नं. ६ में सौधर्म स्वर्गमें देव।६९।

नं. ७ में पुष्यमित्र ब्राह्मणका पुत्र ।७१। नं ८ में सौधर्म स्वर्गमें देव ।७२-७३। न. ६ में अग्निसह ब्राह्मणका पुत्र ।७४। न. १० में ७ सागरकी आयुवाला देव ।७५। नं ११ में अग्निमित्र ब्राह्मणका पुत्र ।७६। न. १२ मे माहेन्द्र स्वर्गमें देव ।७६। न. १३ में भारद्वाज ब्राह्मणका पुत्र ।७७। न १४ में माहेन्द्र स्वर्गमें देव ।७८। तत्पश्चात् अनेकों त्रस स्थावर योनियोमे असख्यातो वर्ष भ्रमण करके वर्तमानसे पहले पूर्वभव नं. १८ में स्थावर नामक ब्राह्मणका पुत्र हुआ ।७६-८३। पूर्वभव न. १७ में महेन्द्र स्वर्गमें देव ।८५। पूर्वभव न. १६ में विश्वनन्दी नामक राजपुत्र हुआ ।८६-११७। पूर्वभव नं १५ में महाशुक्र स्वर्गमें देव ।११८-१२०। पूर्वभव न. १४ में त्रिपृष्ठ नारायण ।१२०-१६७। पूर्वभव न. १३ में सप्तम नरकका नारकी ।१६७। पूर्वभव नं. १२ में सिह ।१६६। पूर्वभव नं. ११ में प्रथम नरकका नारकी ।१७०। पूर्वभव न. १० मे सिंह ।१७१-२१६। पूर्वभव नं. ६ में सिहकेतु नामक देव ।२१६। पूर्वभव न. ८ में कनकोज्ज्वल नामक विद्याधर ।२२०-२२६। पूर्वभव न. ७ में सप्तम स्वर्गमे देव ।२३०। पूर्वभव नं. ६ में हरिषेण नामक राजपुत्र ।२३२-२३३। पूर्वभव न ५ में महाशुक्र स्वर्गमें देव ।२३४। पूर्वभव नं. ४ में प्रियमित्र नामक राजपुत्र ।२३४-२४०। पूर्वभव नं. ३ में सहस्रार स्वर्गमें सूर्यप्रभ नामक देव ।२४१। पूर्वभव नं. २ में नन्दन नामक सज्जनपुत्र ।२४२-२५१। पूर्वभव न. १ मे अच्युत स्वर्गमें अहमिन्द्र ।२४६। वर्तमान भवमे २४ वे तीर्थंकर महावीर हुए ।२५१। (युगपत् सर्वभव --दे० म. पु./७६/५३४)।

* भगवान्के कुल, संघ आदिका विशेष परिचय —दे० तीर्थंकर/५।

महावीर पुराण—१. आ. शुभचन्द्र (ई १५१६-१५५६) द्वारा विरचित सस्कृत छन्द-बद्ध एक रचना। इसमें २० अध्याय है। २. आ सकलकीर्ति (ई १४३३-१४७३) को एक रचना।

महावीराचार्य—आप राजा अमोघवर्ष प्रथमके परम मित्र थे। दोनों साथ-साथ रहते थे। पीछेसे आपने दीक्षा ले ली थी। कृति—गणितसार सग्रह। समय—राजा अमोघवर्ष ई. ८१४-८७८ आता है। (आ अनु /प्र. १०/A N. Up.)।

महाव्रत—दे० व्रत।

महाशंख—लवण समुद्रमें स्थित एक पर्वत—दे० लोक/७।

महाशिरा—कुण्डल पर्वतके कनक कूटका रक्षक देव--दे० लोक/७।

महाशुक्र—१ स्वर्गोंमें १०वाँ कल्प--दे० स्वर्ग/५।
२ शुक्र स्वर्गका एक पटल व इन्द्रक—दे. स्वर्ग/५।

महाश्वेता—एक विद्या—दे० विद्या।

महासत्ता—सर्व पदार्थोंका अस्तित्व सामान्य—दे० अस्तित्व।

महासंघिक—एक बौद्ध सम्प्रदाय—(दे० बौद्धदर्शन)।

महासर्वतोभद्र—एक व्रत—दे० सर्वतोभद्र।

महासेन—१. भोजक वृष्णिका पुत्र उग्रसेनका भाई—(ह पु /१८/१६)। २. यादववंशी कृष्णका दसवाँ पुत्र—दे इतिहास/७/१०। ३. सुलोचनाचरित्रके रचयिता एक दिगम्बराचार्य। (वरांगचरित्र/प्र /२२/प. खुशालचन्द), (ह पु /प्र /७/पं. पन्नालाल)।

महास्कन्ध—सर्व व्यापक पुद्गल द्रव्य सामान्य—दे० स्कन्ध/२।

महास्वर—गन्धर्व जातीय एक व्यन्तर—दे० गन्धर्व।

महाहिमवान—१. हैमवत क्षेत्रके उत्तर दिशामें स्थित पूर्वापर लम्बायमान वर्षधर पर्वत। अपरनाम पचशिखरी है। इसका नकशा आदि—दे० लोक/३,७।

रा. वा./३/११/३/१८२/२६ हिमाभिसबन्धाद्धिमवदभिधानम्, महाश्चासौ हिमवांश्च महाहिमवानिति, असत्यपि हिमे हिमवदाख्या इन्द्रगोपवद्। =हिमके सम्बन्धसे हिमवान् संज्ञा होती है। महान् अर्थात् बड़ा है और हिमवान् है, इसलिए महाहिमवान् कहलाता है। अथवा हिमके अभावमें भी 'इन्द्रगोप' इस नामकी भाँति रूढिसे इसे महाहिमवान् कहते है। २ महाहिमवान् पर्वतका एक कूट व उसका स्थायी देव —दे० लोक/७; ३. कुण्डलपर्वतके अकप्रभकूटका स्वामी नागेन्द्र देव—दे० लोक/७।

महिमा—१ आन्ध्रदेशके अन्तर्गत वेणा नदीके किनारे पर स्थित एक प्राचीन नगर। आज वेण्या नामकी नदी बम्बई प्रान्तके सितारा जिलेमें है और उसी जिलेमे महिमानगढ नामका एक गाँव भी है। सम्भवत: यह महिमानगढ ही वह प्राचीन महिमा नगरी है, जहाँ कि अर्हद्बलि आचार्यने यति-सम्मेलन किया था और जहाँसे कि धरसेन आचार्यके पत्रके अनुसार पुष्पदन्त व भूतबली नामके दो साधु उनकी सेवामें गिरनार भेजे गये थे। इसका अपर नाम पुण्ड्रवर्धन भी है। (ध. १/प्र ३१/H.L. Jain)। २. भरत क्षेत्र पश्चिम आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४। ३. एक विक्रिया ऋद्धि —दे० ऋद्धि/३।

महिष—मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

महिषग—दक्षिण देशका वर्तमान मैसूर प्रान्त। (म पु./प्र. ५०/पं. पन्नालाल)।

महिषमति—नर्मदा नदी पर स्थित एक नगर—दे० मनुष्य/४।

महीदेव—मूल सघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अकलक भट्टके शिष्य थे। समय—(ई ६६५-७०५)। (दे० इतिहास/५/३)। (सि. वि./प्र ७/पं. महेन्द्र कुमार)।

महीपाल—१ म पु /७३/श्लोक—महीपाल नगरका राजा तथा भगवान् पार्श्वनाथका नाना था ।६६। महादेवीके वियोगमें पंचाग्नि तप तपता था। कुमार पार्श्वनाथसे योग्य विनय न पानेपर क्रुद्ध हुआ। कुमार द्वारा बताये जाने पर उनकी सत्यताकी परीक्षा करनेके लिए जलती हुई लकडीको कुल्हाडीसे चीरा तो वास्तवमें ही वहाँ सर्पका जोडा देखकर चकित हुआ। यह कमठका जीव था तथा भगवान्के जीवसे वैर रखता था। शल्यसहित मरणकर शम्बर नामक ज्योतिष देव बना, जिसने तप करते हुए भगवान्पर घोर उपसर्ग किया ।६७-११७। यह कमठका आगेका आठवाँ भव है। २. प्रतिहार वंशका राजा था। बढवाण प्रान्तमें राज्य करता था। धरणी वराह इसका अपर नाम था। समय—(श स. ८३६, वि. सं. ६७१ (ई. ६१४), (ह. पु./प्र. ६/प. पन्नालाल)।

महीशुर—दक्षिण देशका वर्तमान मैसूर नगर। (म. पु./प्र. ५०/प. पन्नालाल)।

महेंद्र—प पु /१५/१३-१६—महेन्द्रगिरिका राजा तथा हनुमान्की माता अंजनाका पिता था।

महेंद्र देव—तत्त्वानुशासनके रचयिता श्री नागसेन आचार्यके शिक्षागुरु थे। नागसेनके समयके अनुसार इनका समय—वि. श. १३ से पहले अर्थात् ई. श १२ आता है। (त. अनु./प्र. २/प्र. श्री लाल)।

महेंद्रिका—भरत क्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डकी एक नदी। —दे० मनुष्य/४।

महेश्वर—महोरग जातीय एक व्यन्तर—दे० महोरग।

महोदय—दे० विद्यानन्दि महोदय।

महोरग—ध. १३/५,५,१४०/३९१/११ सर्पाकारेण विकरणप्रिया. महोरगा' नाम।=सर्पाकार रूपसे विक्रिया करना इन्हें प्रिय है, इसलिए महोरग कहलाते है।

२. महोरग देवोंके भेद

ति. प./६/३८ भुजगा भुजगसाली महतणु अतिकायखंधसाली य। मह-असणिजमहसर गंभीर पियदसणा महोरगगा।३८। =भुजग, भुजगशाली, महातनु, अतिकाय स्कन्धशाली, मनोहर, अशनिजव, महेश्वर, गम्भीर और प्रियदर्शन ये दश महोरग जातिके देवोंके भेद है। (त्रि. सा./२६१)।

* इसके वर्ण वैभव अवस्थान आदि—दे० व्यन्तर/४।

मांडलीक—एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

मांस—*** मांसकी अभक्ष्यताका निर्देश**—दे० भक्ष्याभक्ष्य/२।

१. मांसत्याग व्रतके अतिचार

सा. ध./३/१२ चर्मस्थमम्भ. स्नेहश्च हिंग्वसहृतचर्म च। सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोष' स्यदामिषव्रते।१२।=चमड़ेमें रखे हुए जल, घी, तेल आदि चमड़ेसे आच्छादित अथवा सम्बन्ध रखनेवाली हींग और स्वादचलित सम्पूर्ण भोजन आदि पदार्थोंका खाना मास त्याग व्रतमें दोष है।

ला. स./२/श्लोक—तद्भेदा बहव' सन्ति मादृशा वागगोचरा'। तथापि व्यवहारार्थं निर्दिष्टा· केचिदन्वयात्।१०। =उन अतिचारोंके बहुतसे भेद है जो मेरे समान पुरुषसे कहे जाने सम्भव नहीं हैं, तथापि व्यवहारके लिए आम्नायके अनुसार कुछ भेद यहाँ कहे जाते है।१०। चमड़ेके बर्तनमें रखे हुए घी, तेल, पानी आदि।११। अशोधित आहार।१८। त्रस जीवोंका जिसमें सन्देह हो, ऐसा भोजन।२०। बिना छाना अथवा विधिपूर्वक दुहरे छलनेसे न छाना गया, घी, दूध, तेल, जल आदि।२३-२४। शोधन विधिसे अनभिज्ञ साधर्मी या शोधन विधिसे परिचित विधर्मीके हाथसे तैयार किया गया भोजन।२८। शोधित भी भोजन यदि मर्यादासे बाहर हो गया है तो।३२। दूसरे दिनका सर्व प्रकारका बासी भोजन।३३। पत्तेका शाक।३५। पान।३७। रात्रिभोजन।३८। आसव, अरिष्ट, अचार, मुरब्बे आदि।५५। रूप, रस, गन्ध व स्पर्शसे चलित कोई भी पदार्थ।५६। अमर्यादित दूध, दही आदि।५७।

२. मांस निषेधका कारण

मू. आ./३५३ चत्तारि महावियडि य होंति णवणीदमज्जमसमधू। कखापसगदप्पासजमकारीओ एदाओ।३५३। =नवनीत, मद्य, मांस और मधु ये चार महा विकृतियाँ है, क्योंकि वे काम, मद व हिंसाको उत्पन्न करते है। (पु. सि. उ./७१)।

पु. सि. उ./६५-६८ न बिना प्राणविघातान्मासस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्। मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा।६५। यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादे। तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात्।६६। आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांसपेशीषु। सातत्त्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानां।६७। आमां वा पक्वां वा खादति य स्पृशति वा पिशितपेशिं। स निहन्ति सतत निचित पिण्डं बहुजीवकोटीनाम्।६८।=१ प्राणियोके घातके बिना मांसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, इसलिए मासभक्षीको अनिवारित रूपसे हिंसा होती है।६५। २. स्वयं मरे हुए भैंस व बैल आदिके मांस भक्षणमें भी हिंसा होती है, क्योंकि तदाश्रित अनन्तों निगोद जीवोंकी हिंसा वहाँ पायी जाती है।६६। ३. कच्ची हो या अग्नि पर पकी हुई हो अथवा अग्निपर पक रही हो ऐसी सब ही मांसकी पेशियोंमें, उस ही जातिके अनन्त निगोद जीव प्रति समय निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं।६७। इसलिए कच्ची या पकी हुई किसी भी प्रकारकी मांसपेशीको खाने या छूने वाला उन करोड़ों जीवोंका घात करता है।६८। (यो. सा./अ./८/६०-६१)।

३. धान्य व मांसको समान कहना योग्य नहीं

सा. ध./२/१० प्राण्यङ्गत्वे समेऽप्यन्नं भोज्यं मांसं न धार्मिकैः। भोग्या स्त्रीत्वाविशेषेऽपि जनैर्जायैव नाम्बिका।१०। (अन्य उद्धृत)—पञ्चेन्द्रियस्य कस्यापि वधे तन्मांसभक्षणे। यथा हि नरकप्राप्तिर्न तथा धान्यभोजनात्। धान्यपाके प्राणिवधः परमेकोऽवशिष्यते। गृहिणां देशयमिनां स तु नात्यन्तबाधकः। =यद्यपि मांस व अन्न दोनों ही प्राणीके अंग होनेके नाते समान है, परन्तु फिर भी धार्मिक जनोंके लिए मांस खाना योग्य नहीं है। जैसे कि स्त्रीपनेकी अपेक्षा समान होते हुए भी पत्नी ही भोग्य है माता नहीं।१०। दूसरी बात यह भी है कि पंचेन्द्रिय प्राणीको मारने या उसका मांस खानेसे जैसी नरक आदि दुर्गति मिलती है वैसी दुर्गति अन्नके भोजन करनेसे नहीं होती। धान्यके पकनेपर केवल एकेन्द्रियका ही घात होता है, इसलिए देशसंयमी गृहस्थोंके लिए वह अत्यन्त बाधक नहीं है।

* दूध व मांस समान नहीं है—दे० भक्ष्याभक्ष्य।

* अनेक वनस्पति जीवोंकी अपेक्षा एक त्रस जीवकी हिंसा ठीक है—यह हेतु उचित नहीं—दे० हिंसा/५।

४. चर्म निक्षिप्त वस्तुके त्यागमें हेतु

ला. सं./२/११-१३ चर्मभाण्डे तु निक्षिप्ता' घृततैलजलादय। त्याज्या' यतस्त्रसादीनां शरीरपिशिताश्रिता'।११। न चाशङ्क्यं पुनस्तत्र सन्ति वा न सन्ति ते। सशयोऽनुपलब्धित्वाद्व दुर्वारे व्योमचित्रवत।१२। सर्वं सर्वज्ञज्ञानेन दृष्टं विश्वैकचक्षुषा। तदाज्ञया प्रमाणेन माननीय मनोषिभि।१३। =चमड़ेके बर्तनमें रखे हुए घी, तेल, जलादिका त्याग कर देना चाहिए क्योंकि ऐसी वस्तुओंमें उस-उस जीवके मांसके आश्रित रहनेवाले त्रस जीव अवश्य रहते है।११। वहाँ वे जीव हैं या नहीं ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, व्योमचित्रकी भाँति इन्द्रियोसे न दिखाई देनेके कारण यद्यपि वे जीव किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है।१२। तो भी सर्वज्ञदेवने उनका वहाँ प्रत्यक्ष किया है और उसीके अनुसार आचार्योंने शास्त्रोंमें निर्देश किया है, अत. बुद्धिमानोको सर्वज्ञदेवकी आज्ञा मानकर उनका अस्तित्व वहाँ स्वीकार कर लेना चाहिए।१३।

५. सूक्ष्म त्रस जीवोंके भक्षणमें पाप है

ला. स./२/१४ नोह्यमेतावता पापं स्याद्वा न स्यादतीन्द्रियात्। अहो मांसाशिनोऽवश्य प्रोक्त जैनागमे यत। =इन्द्रियोंके अगोचर ऐसे सूक्ष्म जीवोंके भक्षणसे पाप होता है या नहीं, ऐसी आशंका करना भी योग्य नहीं है, क्योंकि मांस भक्षण करनेवालोंको पाप अवश्य होता है, ऐसा जैनशास्त्रोंमें स्पष्ट उल्लेख है।१४।

* विधर्मीसे अन्न शोधन न करानेमें हेतु—दे० आहार/२।

मागध—लवण समुद्रकी ईशान व आग्नेय दिशामें स्थित द्वीप व उसके रक्षक देव।—दे० लोक/७।

माघ—गुजरात नरेश श्रीपालके मन्त्री सुप्रभदेवके दो पुत्र थे—दत्त व शुभंकर। दत्तके पुत्र महाकवि माघ थे। इन्होने 'शिशुपाल वध' नामक ग्रन्थकी रचना की है। (उपमिति भव प्रपच कथा/ प्र. २/ प्रेमीजी)।

माघनन्दि—१. श्रुतावतार व नन्दिसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अर्हद्बलि गुणधर व धरसेन आचार्योंके सहधर्मा थे। नन्दिसघकी प्राकृत पट्टावलीमें आपका नाम भद्रबाहु व गुप्तिगुप्तको नमस्कार करनेके पश्चात् सबसे पहले आता है। अतः पता चलता है कि आप ही नन्दिसघके मूल नायक थे। अर्हद्बलि आचार्य द्वारा बुलाये गये महिमानगरके प्रसिद्ध यतिसम्मेलनमें मूल संघ अनेकों संघोंमें विभाजित हो गया था। तहाँ नन्दिसघके अग्रणी इन्हींको बनाया गया था। इनके नामके साथ नन्दि शब्द होनेसे ही इस सघका नाम नन्दिसघ रखा गया था। यद्यपि धरसेन आचार्य भी उस समय विद्यमान थे, परन्तु विद्याभ्यासी होनेके कारण उन्होंने यह भार लेना स्वीकार नहीं किया था। कुन्दकुन्द आचार्य आपके प्रशिष्य थे। समय—श्रुतावतारके अनुसार वी० नि० ५९३-६१४ (ई० ६६-८७); नन्दिसघके अनुसार श० सं० ३६-४० (ई० ११४-११८)—दे० इतिहास/४/१ व ५/१३। २. माघनन्दिकी गुर्वावली के अनुसार आप वीरनन्दि व सकलचन्द्रके गुरु थे तथा मूल कुन्दकुन्द आम्नायमें थे। समय वि० ९७५-१०३० (ई० ९१८-९७३)—दे० इतिहास/२२। ३ नन्दिसघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप कुलचन्द्रके शिष्य तथा माघनन्दि त्रैविद्यदेव व देवकीर्तिके गुरु थे। 'कोल्लापुरीय' आपकी उपाधि थी। समय—वि० श० १०३०-१०५८ (ई० ११०८-११३६)—(दे० इतिहास/५/१४—तथा H L. Jain के अनुसार ई० १२३५-१३०३। (ध. २/प्र ४/H L Jain), (पं. वि./प्र. २८/A. N Up.)। ४ नन्दिसघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप माघनन्दि कोल्लापुरीयके शिष्य थे। अपर नाम त्रैविद्यदेव था। समय—वि० ११९०-१२२० (ई० ११३३-११६३)—दे० इतिहास/५/१४। (ध. २/प्र. ४/H. L. Jain.), (पं. वि/प्र. २८/A. N. Up.)।

माघवी—नरककी सातवीं पृथिवी महातम प्रभाका अपर नाम—दे० नरक/५।

माठर—एक अक्रियावाद—दे० अक्रियावादी।

माणव—दे० मालव।

माणिकभद्र—विजयार्ध पर्वतका एक कूट और उसका रक्षक देव।—दे० लोक/७।

माणिक्यनन्दि—१. नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप रत्ननन्दिके शिष्य तथा मेघचन्द्रके गुरु थे। समय—विक्रम शक. सं. ५८५-६०१ (ई० ६६३-६७९), —दे० इतिहास/५/१३। २. नन्दिसघ देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप त्रैकाल्ययोगीके शिष्य तथा प्रभाचन्द्रके गुरु थे। कृति—परीक्षामुख। समय—वि० ९८२-१०८० (ई० ९२५-१०२३)—दे० इतिहास/५/१४। (ध २/प्र. ४/ H. L Jain), (सि वि./प्र. ४०/प. महेन्द्रकुमार)।

मातंग—१ पद्मप्रभु व पार्श्वनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० यक्ष। २ राजा विनमिका पुत्र जिससे मातगवंशकी उत्पत्ति हुई—दे० इतिहास/७/९।

मातंगवंश—दे० इतिहास/७/९।

मातृकायंत्र—दे० यत्र।

मात्सर्य—स सि./६/१०/३२७/१२ कुतश्चित्कारणाद् भावितमपि विज्ञानं दानार्हमपि यतो न दीयते तन्मात्सर्यम्। =विज्ञानका अभ्यास किया है, वह देने योग्य भी है तो भी जिस कारणसे वह नहीं दिया जाता वह मात्सर्य है। (रा. वा./६/१०/३/५१७/१५)।

स. सि./७/३६/३७२/१ प्रयच्छतोऽप्यादराभावोऽन्यदातृगुणासहनं वा मात्सर्यम्। =दान करते हुए भी आदरका न होना या दूसरे दाताके गुणोंको न सह सकना मात्सर्य है। (रा वा/७/३६/४/५५८/२६)।

माथुरसंघ—दे० इतिहास/५/२३।

माधव—मीमासा दर्शनका एक टीकाकार—दे० मीमांसा दर्शन।

माधवचन्द्र—नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कृत त्रिलोकसारकी टीकाके रचयिता। तथा उपाध्यायजीके अनुसार एक स्वतन्त्र क्षपणसार ग्रन्थके रचयिता भी। समय—अनुमानत ई. श. ११ का मध्यभाग। (जैन साहित्य इतिहास। पृ. २७१), (ज. दी. प./प्र. १११/ A. N. Up. व H. L Jain)।

माधव सिंह—जयपुरके राजा। समय—वि. १८११-१८२४ (ई० १७५४-१७६७); (मा मा प्र./प्र २९/पं. परमानन्द)।

माधवसेन—माथुर सघकी गुर्वावलीके अनुसार आप नेमिषेणके शिष्य तथा श्रावकाचारके कर्ता अमितगतिके गुरु थे। समय—वि० १०२५-१०७५ (ई० ९६८-१०१८)—दे० इतिहास/५/२३। (अमितगति श्रावकाचारकी प्रशस्ति), (यो. सा/अमितगति/प्र. २/ पं. गजाधर लाल)।

माधवाचार्य—सायणाचार्यका अपर नाम—दे० सायणाचार्य।

माध्यदिन—एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद।

माध्यमिक—एक बौद्ध सम्प्रदाय—दे० बौद्धदर्शन।

माध्यस्थ—

स. सि./७/११/३४९/८ रागद्वेषपूर्वकपक्षपाताभावो माध्यस्थम्। =रागद्वेषपूर्वक पक्षपातका न करना माध्यस्थ है। (रा वा/७/११/४/ ५३८/२१)।

दे० सामायिक/१ [माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृह, शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म यह सब एकार्थवाचक शब्द हैं। (क्रोधी, पापी, मासाहारी) व नास्तिक आदि जनोंमें माध्यस्थभाव होना उपेक्षा कहलाती है।]

माध्व वेदान्त—

ई. श १२-१३ में पूर्णप्रज्ञ माध्वदेव द्वारा इस मतका जन्म हुआ। न्यायसुधा व पदार्थ सग्रह इसके मुख्य ग्रन्थ है। अनेक तत्त्व माननेके कारण भेदवादी हैं।—विशेष दे० वेदान्त/६।

मान—

१. अभिमानके अर्थमें

रा वा./८/९/५/५७४/३० जात्याद्युत्सेकावष्टम्भाद् परा प्रणतिर्मानः शैलस्तम्भास्थिदारुलतासमानश्चतुर्विधः। =जाति आदि आठ मदोंसे (दे० मद) दूसरेके प्रति नमनेकी वृत्ति न होना मान है। वह पाषाण, हड्डी, लकडी और लताके भेदसे चार प्रकारका है।—दे० कषाय।३।

ध १/१,१,१/१११/३४९/७ रोषेण विद्यातपोजात्यादिमदेन वान्यस्यानवनतिः। =रोषसे अथवा विद्या तप और जाति आदिके मदसे (दे० मद) दूसरेके तिरस्काररूप भावको मान कहते हैं।

ध. ६/१,९-१,२३/४१/४ मानो गर्वः स्तब्धमित्येकोऽर्थः। =मान, गर्व, और स्तब्धत्व ये एकार्थवाची हैं।

ध. १३/४,२,८,८/२८३/६ विज्ञानैश्वर्यजातिकुलतपोविद्याजनितो जीवपरिणाम औद्धत्यात्मको मानः =विज्ञान, ऐश्वर्य, जाति, कुल, तप और विद्या इनके निमित्तसे उत्पन्न उद्धतता रूप जीवका परिणाम मान कहलाता है।

नि. सा./ता.वृ./११२ कवित्वेन…सकलजनपूज्यतया—कुलजातिविशुद्धया वा…निरुपमबलेन च संपद्वृद्धिविलासेन, अथवा ऋद्धिभिः सप्तभिर्वा…वपुर्लावण्यरसविसरेन वा आत्माहंकारो मानः।=कवित्व कौशलके कारण, समस्तजनों द्वारा पूजनीयपनेसे, कुलजातिकी विशुद्धिसे, निरुपम बलसे, सम्पत्तिकी वृद्धिके विलाससे, सात ऋद्धियोंसे, अथवा शरीर लावण्यरसके विस्तारसे होनेवाला जो आत्म-अहंकार वह मान है।

२. प्रमाण या मापके अर्थमें

ध. १३/४,२,८,१०/२८५/६ मानं प्रस्थादि' हीनाधिकभावमापन्न.। =हीनता अधिकताको प्राप्त प्रस्थादि मान कहलाते है।

न्या. वि./वृ./१/११६/४२५/१ मानं तोलनम्।=मान अर्थात् तोल या माप।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. मान सम्बन्धी विषय विस्तार —दे० कषाय।
२. जीवको मानी कहनेकी विवक्षा —दे० जीव/१/३।
३. आहारका एक दोष —दे० आहार/II/४।
४. वसतिकाका एक दोष —दे० वसतिका।
५. आठ मद। —दे० मद।
६. मान प्रमाण व उसके भेदाभेद —दे० प्रमाण/५।
७. मानकी अनिष्टता —दे० वर्ण व्यवस्था/१/५।

मानतुंग—भक्तामर स्तोत्रके कर्ता एक प्रसिद्ध दिगम्बर आचार्य। आप राजा भोज, कवि कालिदास व शुभचन्द्राचार्यके समकालीन थे। महाकवि कालिदासकी चुगलीके कारण राजाने आपको जेलखानेमें बन्द कर दिया। धर्म प्रभावनाके अर्थ आपने रात्रिके समय ही ४८ श्लोकोंमें भक्तामर स्तोत्र की रचना की जिसके प्रतापसे जेलखानेके ४८ द्वार क्रमपूर्वक खुलते चले गये। समय—ई. १०२१-१०५५/(ज्ञा प्र. १/ पं. पन्नालाल)।

मानव—१. एक ग्रह—दे० ग्रह। २ विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। ३. चक्रवर्तीकी नवनिधियोंमेंसे एक—दे० शलाकापुरुष/२। ४. जीवको मानव कहनेकी विवक्षा—दे० जीव/१/३/५।

मानव योजन—क्षेत्रका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१।

मानवर्तिक—भरतक्षेत्रमें पूर्व आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मानवी—एक विद्या—दे० विद्या।

मानस—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मानस—ध. १३/५,५,६३/३३२/१० मणम्मि भवं लिंगं माणस, अधवा मणो चेव माणसो। =मनमें उत्पन्न हुए चिह्नको मानस कहते हैं अथवा मनकी ही संज्ञा मानस है।

मानसरोवर—भरतक्षेत्रमें मध्य आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

मानसाहार—दे० आहार/I/१।

मानसिक दुःख—दे० दुःख।

मानसी—१. भगवान् शान्तिनाथकी शासिका यक्षिणी—दे० यक्ष। २. एक विद्या—दे० विद्या।

मानस्तंभ—

ति. प./४/गा. का भावार्थ—१. मानस्तम्भ भूमियोंके अभ्यन्तर भागमें कोट होते हैं।७६२। जिनके भीतर अनेकों वनखण्ड, देवोंके क्रीड़ा नगर, वन, वापियाँ आदि शोभित हैं।७६३-७६५। उनके अभ्यन्तर भागमें पुनः कोट होते हैं, जिनके मध्य एकके ऊपर एक तीन पीठ हैं।७६७-७६८। प्रथम पीठकी ऊँचाई भगवान् ऋषभदेवके समवशरणमें $\frac{25}{3}$ धनुष इसके आगे नेमिनाथ पर्यन्त प्रत्येकमें १/३ धनुषकी हानि होती गयी है। पार्श्वनाथके समवशरणमें इसकी ऊँचाई ५/६ धनुष और वर्धमान भगवान्के समवशरणमें $\frac{2}{3}$ धनुष है। द्वितीय व तृतीय पीठोंकी ऊँचाई समान होती हुई सर्वत्र प्रथम पीठसे आधी है।७६६-७७०। इन तीनों पीठोंकी चारों दिशाओंमें सीढ़ियाँ हैं। प्रथम पीठपर आठ-आठ और शेष दोनों पर चार-चार हैं।७७१। तृतीय पीठका विस्तार $\frac{3000}{3}$ धनुषसे प्रारम्भ होकर आगे प्रत्येक तीर्थमें $\frac{125}{3}$ कम होता गया, पार्श्वनाथके समवशरणमें $\frac{625}{6}$ और वर्धमान भगवान्के समवशरणमें $\frac{500}{6}$ धनुष था।७७३-७७४। २. तृतीय पीठपर मानस्तम्भ होते हैं। जिनकी ऊँचाई अपने-अपने तीर्थंकरकी ऊँचाईसे १२ गुणी होती है। भगवान् ऋषभनाथके समवशरणमें मानस्तम्भका बाहल्य २३६५२ धनुष प्रमाण था। पीछे प्रति तीर्थंकर ६६८ धनुष कम होते-होते भगवान् पार्श्वनाथके मानस्तम्भका बाहल्य $\frac{2465}{24}$ धनुष प्रमाण था और भगवान् वर्द्धमानके मानस्तम्भका ४६६ धनुष प्रमाण था। ।७७५-७७७। सभी मानस्तम्भ मूल भागमें वज्रद्वारोंसे युक्त होते हैं और मध्यभागमें वृत्ताकार होते हैं।७७८-७७६। ऊपरसे ये चारों ओर चमर, घण्टा आदिसे विभूषित तथा प्रत्येक दिशामें एक-एक जिन प्रतिमासे युक्त होते हैं।७८०-७८१। इनके तीन-तीन कोट होते हैं। कोटोंके बाहर चारों दिशाओंमें वीथियाँ व द्रह होते हैं जो कमलों व कुण्डोंसे शोभित होते है।७८२-७९१। (इसका नकशा—दे० समवशरण)। नोट—३. (मानस्तम्भके अतिरिक्त सर्व ही प्रकारके देवोंके भवनोंमें तथा अकृत्रिम चैत्यालयोंमें भी उपरोक्त प्रकार ही मानस्तम्भ होते हैं—तहाँ भवनवासियोंके भवनोंके लिए—(दे० त्रि. सा./२१६), व्यन्तर देवोंके भवनोंके लिए—दे० त्रि. सा./२५५। अकृत्रिम चैत्यालयोंके लिए—दे० त्रि. सा./१००३-१०१२]।

१. मानस्तम्भ नामकी सार्थकता

ति. प./४/७८२ माणुल्लासयमिच्छा वि दूरदो दंसणेण थंभाणं। ज होति गलिदमाणा माणत्थंभं ति तं भणिदं।७८२। =चूँकि दूरसे ही मानस्तम्भोंके देखनेसे मानसे युक्त मिथ्यादृष्टि लोग अभिमानसे रहित हो जाते है, इस लिए इनको मानस्तम्भ कहा गया है।

मानुष—१. मानुषोत्तर पर्वतके रजतकूटका रक्षक एक भवनवासी देव—लोक/७। २. एक यक्ष—दे० यक्ष।

मानुषोत्तर—मध्यलोक पुष्कर द्वीपके मध्य स्थित एक कुण्डलाकार पर्वत—दे० लोक/४/४।

स. सि./३/३५/२२८/१० पुष्करद्वीपबहुमध्यदेशभागी वलयवृत्तो मानुषोत्तरो नाम शैल'। तस्यात्प्रागेव मनुष्या न बहिरिति। ततो न बहिः पूर्वोक्तक्षेत्रविभागोऽस्ति। ·तोऽस्यान्वर्थसंज्ञा। =पुष्कर द्वीपके ठीक मध्यमें चूड़ीके समान गोल मानुषोत्तर नामका पर्वत है। उसके पहले-पहले ही मनुष्य है, उसके बाहर नही (क्योंकि उसको उल्लंघन करनेकी शक्ति मनुष्योंमें नहीं है—(दे० मनुष्य/४/२) इसलिए इस पर्वतका मानुषोत्तर यह नाम सार्थक है। (रा. वा/३/३५/ /-१९७/३०)।

मान्यखेट—निजाम हैदराबाद राज्यके अन्तर्गत शोलापुरसे ६० मील दक्षिण पूर्वमें स्थित वर्तमानका मलखेडा ग्राम (क. पा. १/प्र. ७३/-पं. महेन्द्र)।

मापिकी—Measuration (ज. प्र./प्र. १०८)।

माय—स्व. स्तोत्र/टी./१४१/२६७ माय प्रमाणं केवलज्ञानलक्षणं आगमस्वरूपं वा। =माय अर्थात् प्रमाण जिसका लक्षण केवलज्ञान या आगमस्वरूप है।

माया—

स. सि./६/१६/३३४/२ आत्मन कुटिलभावो माया निकृति'। =आत्माका कुटिल भाव माया है। इसका दूसरा नाम निकृति (या वचना) है। (स. सि./७/१८/३५६/८), (रा. वा./६/१६/१/५२६/६,७/१८/२/-५४५/१४); (ध. १/१,१,१११/३४६/७), (ध १,९-१,२३/४१/४)।

रा वा/८/९/५/५७४/३१ परातिसधानतयोपहितकौटिल्यप्राय प्रणिधिर्माया प्रत्यासन्नवंशपर्वोपचितमूलमेषशृ ग-गोमूत्रिकाऽवलेखनी-सदृशी चतुर्विधा। =दूसरेको ठगनेके लिए जो कुटिलता या छल आदि किये जाते है वह माया है। यह बाँसकी गँठीली जड, मेढेका सींग, गायके मूत्रकी वक्र रेखा और लेखनीके समान चार प्रकार-की है। (और भी दे० कषाय/३)।

ध. १२/४,२,८,८/२८३/७ स्वहृदयप्रच्छादार्थमनुष्ठानं माया। =अपने हृदयके विचारको छुपानेकी जो चेष्टा की जाती है उसे माया कहते है।

नि. सा./ता वृ/११२ गुप्तपापतो माया। =गुप्त पापसे माया होती है।

द्र स./टी/४२/१८३/६ रागात् परकलत्रादिवाञ्छारूपं, द्वेषात् परवधबन्धच्छेदादिवाञ्छारूपं च मदीयापध्यान कोऽपि न जानातीति मत्वा स्वशुद्धात्मभावनासमुत्पन्नसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसनिर्मलजलेन चित्तशुद्धिमकुर्वाण सन्नयं जीवो बहिरङ्गबकवेशेन यल्लोकरञ्जना करोति तन्मायाशल्य भण्यते। =रागके उदयसे परस्त्री आदिमें वाञ्छारूप और द्वेपसे अन्य जीवोके मारने, बाँधने अथवा छेदनेरूप जो मेरा दुर्ध्यान बुरा परिणाम है, उसको कोई भी नहीं जानता है, ऐसा मानकर निज शुद्धात्म भावनासे उत्पन्न, निरन्तर आनन्दरूप एक लक्षणका धारक जो सुख-अमृतरसरूपी निर्मल जलसे अपने चित्तकी शुद्धिको न करता हुआ, यह जीव बाहरमें बगुले जैसे वेपको धारण कर जो लोकोंको प्रसन्न करता है वह मायाशल्य कहलाती है।

२. मायाके भेद व उनके लक्षण

भ आ./वि./२५/९०/३ माया पञ्चविकल्पा—निकृति', उपाधि, सातिप्रयोग', प्रणिधि, प्रतिकुञ्चनमिति। अतिसधानकुशलता धने कार्ये वा कृताभिलापस्य वञ्चना निकृति. उच्यते। सद्भाव प्रच्छाद्य धर्मव्याजेन स्तेन्यादिदोपे प्रवृत्तिरुपधिसंज्ञिता माया। अर्थेषु विसवाद स्वहस्तनिक्षिप्तद्रव्यापहरण, दूपण, प्रशसा, वा सातिप्रयोग। प्रतिरूपद्रव्यमानकरणानि, ऊनातिरिक्तमान, सयोजनया द्रव्यविनाशनमिति प्रणिधिमाया। आलोचनं कुर्वतो दोपविनिगूहन प्रतिकुञ्चनमाया। =मायाके पाँच प्रकार है—निकृति, उपधि, सातिप्रयोग, प्रणिधि और प्रतिकुंचन। धनके विषयमें अथवा किसी कार्यके विषयमें जिसको अभिलापा उत्पन्न हुई है, ऐसे मनुष्यका जो फँसानेका चातुर्य उसको, निकृति कहते है। अच्छे परिणामको ढँककर धर्मके निमित्तसे चोरी आदि दोपोमें प्रवृत्ति करना उपधि सज्ञक माया है। धनके विषयमें असत्य बोलना, किसीकी धरोहरका कुछ भाग हरण कर लेना, दूपण लगाना अथवा प्रशसा करना सातिप्रयोग माया है। हीनाधिक कीमतकी सदृश वस्तुएँ आपसमें मिलाना, तोल और मापके सेर, पसेरी वगैरह साधन पदार्थ कम-ज्यादा रखकर लेन-देन करना, सच्चे और झूठे पदार्थ आपसमें मिलाना, यह सब प्रणिधि माया है। आलोचना करते समय अपने दोप छिपाना यह प्रतिकुंचन माया है।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. माया कषाय सम्बन्धित विषय। —दे० कषाय।
२. आहारका एक दोप। —दे० आहार/II/४।
३ वसतिकाका एक दोप। —दे० वसतिका।
४. जीवको मायी कहनेकी विवक्षा। दे० जीव/१/३।
५. *मायाकी अनिष्टता।* —दे० आयु/३/१।

माया क्रिया—दे० क्रिया/३।

मायागता चूलिका—दे० श्रुतज्ञान/III।

मायावाद—दे० वेदान्त।

मायूरी—एक विद्याधर विद्या—दे० विद्या।

मार—चौथे नरकका द्वितीय पटल—दे० नरक/५।

मारणान्तिक समुद्घात—दे० मरण/५।

मारसिंह—आप गगवशीय राजा राजमल्लके पूर्वाधिकारी थे और आचार्य अजितसेनके शिष्य थे। राजा राजमल्लके अनुसार आपका समय—वि. सं. १०२०-१०४० (ई. ९६३-९८३) आता है।

मारीच—प. पु./७८/८१/८२—रावणका मन्त्री था। रावणको युद्धसे रोकनेके लिए इसने बहुत प्रयत्न किया और रावणकी मृत्युके पश्चात् दीक्षा धारण कर ली।

मारुती धारणा—दे० वायु।

मार्ग—ध. १३/५,५,५०/२८७/६ मृग्यतेऽनेनेति मार्ग पन्था। स पञ्चविध —नरगतिमार्ग, तिर्यग्गतिमार्ग मनुष्यगतिमार्ग, देवगतिमार्ग, मोक्षगतिमार्गश्चेति। तत्र एकैको मार्गोऽनेकविधः कृमिकीटादिभेदभिन्नत्वात्। =जिसके द्वारा मार्गण किया जाता है वह मार्ग अर्थात् पथ कहलाता है। वह पाँच प्रकारका है—नरकगतिमार्ग, तिर्यंचगतिमार्ग, मनुष्यगतिमार्ग, देवगतिमार्ग और मोक्षगतिमार्ग। उनमेंसे एक एक मार्ग कृमि व कीट आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है।

*** उत्सर्ग व अपवाद मार्ग**—दे० अपवाद।

*** मोक्षमार्ग**—दे० मोक्षमार्ग।

मार्गणा—

दे. ऊहा—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमासा ये एकार्थवाचक नाम है।

प, स/प्रा/१/५६ जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा। ताओ चोद्दस जाणे सुदणाणेण मग्गणाओ त्ति। =जिन-प्रवचनदृष्ट जीव जिन भावोके द्वारा अथवा जिन पर्यायोंमें अनुमार्गण किये जाते है अर्थात् खोजे जाते है, उन्हें मार्गणा कहते है। जीवोंका अन्वेषण करनेवाली ऐसी मार्गणाएँ श्रुतज्ञानमें १४ कही गयी है। (ध. १/१,१, ४/गा ८३/१३२), (गो जी./मू./१४१/३५४)।

ध १/१,१,२/१३१/३ चतुर्दशाना जीवस्थानाना चतुर्दशगुणस्थानामित्यर्थ'। तेषा मार्गणा गवेषणमन्वेषणमित्यर्थ। · चतुर्दश जीवसमासा सदादिविशिष्टा मार्ग्यन्तेऽस्मिन्ननेन वेति मार्गणा। =चौदह जीवसमासोंसे यहाँ पर चौदह गुणस्थान विवक्षित है। मार्गणा गवेषणा और अन्वेषण ये तीनो शब्द एकार्थवाची है। सत संख्या आदि अनुयोगद्वारोंसे युक्त चौदह जीवसमास जिसमें या जिसके द्वारा खोजे जाते है, उसे मार्गणा कहते है। (ध ७/२,१,३/७/८)।

८. २० प्ररूपणाओंका १४ मार्गणाओंमें अन्तर्भाव

(ध. २/१,१/४१४/२)।

सं०	अन्तर्मान्य प्ररूपणा	मार्गणा	हेतु
१ २	पर्याप्ति जीवसमास	काय व इन्द्रिय	एकेन्द्रिय आदि सूक्ष्म बादर तथा उनके पर्याप्त अपर्याप्त भेदोका कथन दोनोंमें समान है।
३	प्राण—		
	उच्छ्वास वचनबल मनोबल	काय व इन्द्रिय	तीनो प्राण पर्याप्तियोके कार्य है।
	कायबल	योग	'योग' मन वचन कायके बलरूप हैं।
४	आयु	गति	दोनो अविनाभावी है
	इन्द्रिय	ज्ञान	इन्द्रिय ज्ञानावरणके क्षयोपशमरूप है।
५	संज्ञा—	कषायमें	संज्ञामें राग या द्वेष रूप है।
	आहार	माया व लोभ	आहार संज्ञा रागरूप है।
	भय	क्रोध व मान	भय संज्ञा द्वेषरूप है।
	मैथुन	वेद मार्गण	संज्ञा स्त्री आदि वेदके तीव्रोदय रूप है।
	परिग्रह	लोभ	परिग्रह लोभका कार्य है।
	उपयोग—		
	साकार	ज्ञान	साकारोपयोग ज्ञानरूप है।
	अनाकार	दर्शन	अनाकारोपयोग दर्शनरूप है।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. मार्गणाएँ विशेष। —दे० वह वह नाम।
२. २० प्ररूपणा निर्देश। —दे० प्ररूपणा।
३. १४ मार्गणाओंमें २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्।
४. १४ मार्गणाओंमें सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव अल्पबहुत्व ये ८ प्ररूपणाएँ। —दे० वह वह नाम।
५ मार्गणाओंमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व। —दे० वह वह नाम।

मार्गप्रभावना—दे० प्रभावना।

मार्गवाद—ध. १३/५,५,५०/२८७/११ एते मार्गा एतेषामाभासाश्च अनेन कथ्यन्त इति मार्गवाद. सिद्धान्त। =ये पाँच प्रकारके मार्ग (दे० मार्ग) और मार्गाभास जिसके द्वारा कहे जाते है वह सिद्धान्त मार्गवाद कहलाता है।

मार्ग सम्यक्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/I/१।

मार्गोपसंयत—दे० समाचार।

मार्दव—

बा अ. ७२ कुलरूवजादिबुद्धिसु तवसुदसीलेसु गारवं किंचि। जो णवि कुव्वदि समणो मद्दवधम्मं हवे तस्स।७२। =जो मनस्वी पुरुष कुल, रूप, जाति, बुद्धि तप, शास्त्र और शीलादिके विषयमें थोडा सा भी घमण्ड नही करता है, उसके मार्दव धर्म होता है। (स. सि ९/६/४१२/५), (रा. वा /९/६/३/५९५/२४), (भ. आ /वि./४६/१५४/१३); (त. सा./६/१५), (चा. सा /६१/४)।

स. सि /६/१८/३३४/१२ मृदोर्भावो मार्दवम्। =मृदुका भाव मार्दव है। (रा. वा. ६/१८/१/५२६/२३)।

का अ/मू /३९५ उत्तमणाणपहाणो उत्तमतवयरणकरणसीलो वि। अप्पाणं जो हीलदि मद्दवरयण भवे तस्स।३९५। =उत्कृष्ट ज्ञानी और उत्कृष्ट तपस्वी होते हुए भी जो मद नहीं करता वह मार्दव रूपी रत्नका धारी है।

२. मार्दव धर्म लोक लाज आदिसे निरपेक्ष है

भ आ/वि./४६/१५४/१३ जात्याद्यभिमानाभावो मानदोषानपेक्षश्च दृष्टकार्यानिपाश्रयो मार्दवम्। =जाति आदिके अभिमानका अभाव मार्दव है। लोकभयसे अथवा अपने ऐहिक कार्योंमें बाधा होनेके भयसे मान न करना सच्चा मार्दव नहीं है।

३. मार्दवधर्म पालनार्थ कुछ भावनाएँ

भ. आ./मू /१४२७-१४३० को एत्थ मज्झ माणो बहुसो णीचत्तण पि पत्तस्स। उच्चत्ते य अणिच्चे उवट्ठिदे चावि णीचत्ते। १४२७। अधिगेसु बहुसु संतेसु ममादो एत्थको मह माणो। को विंभओ वि बहुसो पत्ते पुव्वम्मि उच्चत्ते।१४२८। जो अवमाणणकारण दोसं परिहरइ णिच्चमाउत्तो। सो णाम होदि माणी ण गुणचत्तेण माणेण। ।१४२९। इह य परत्तय लोए दोसे बहुगे य आवहदि माणो। इदि अप्पणो गणित्ता माणस्य विणिग्गहं कुज्जा।१४३०। =मै इस ससारमें अनन्तवार नीच अवस्थामे उत्पन्न हुआ हूँ। उच्चत्व व नीचत्व दोनो अनित्य है, अत' उच्चता प्राप्त होकर पुन. नष्ट हो जाती है और नीचता प्राप्त हो जाती है।१४२७। मुझसे अधिक कुल आदि विशिष्ट लोग जगत्में भरे पडे है। अत' मेरा अभिमान करना व्यर्थ है। दूसरे ये कुल आदि तो पूर्व कालमें अनेक बार प्राप्त हो चुके हैं, फिर इनमें आश्चर्य युक्त होना क्या योग्य है?।१४२८। जो पुरुष अपमानके कारणभूत दोषोंका त्याग करके निर्दोष प्रवृत्ति करता है वही सच्चा मानी है, परन्तु गुण रहित होकर भी मान करनेसे कोई मानी नही कहा जा सकता।१४२९। इस जन्ममें और पर जन्ममें यह मानकषाय बहुत दोषोको उत्पन्न करता है, ऐसा जानकर सत्पुरुष मानका निग्रह करते है।१४३०।

प. वि./१/८७-८८ तद्धार्यते किमुत बोधदृशा समस्तम्। स्वप्नेन्द्रजालसदृशं जगदीक्षमाणै'।८७। कास्था सद्मनि सुन्दरेऽपि परितो दन्दह्यमानाग्निभि, कायादौ तु जरादिभि प्रतिदिनं गच्छत्यवस्थान्तरम्। इत्यालोचयतो हृदि प्रशमिन शश्वद्विवेकोज्ज्वले, गर्वस्यावसर' कुतोऽत्र घटते भावेषु सर्वेष्वपि। =ज्ञानमय चक्षुसे समस्त जगत्को स्वप्न अथवा इन्द्रजालके समान देखनेवाले साधुजन क्या उस मार्दव धर्मको नही धारण करते है।८७। सब ओरसे अतिशय जलनेवाली अग्नियोसे खण्डहररूप अवस्थाको प्राप्त होनेवाले सुन्दर गृहके समान प्रतिदिन वृद्धत्व आदिके द्वारा दूसरी अवस्थाको प्राप्त होनेवाले शरीरादि बाह्य पदार्थोंमें नित्यताका विश्वास कैसे किया जा सकता है। इस प्रकार सदा विचार करनेवाले साधुके निर्मल विवेकयुक्त हृदयमें जाति, कुल एवं ज्ञान आदि सभी पदार्थोंके विषयमें अभिमान करनेका अवसर कहाँसे हो सकता है?।८८।

अन ध/६/९-११/५७२ हस्तिन्धुविधिशिल्पिकल्पितकुलाद्युत्कर्षहर्षोर्मिभि, किर्मीर' क्रियता चिराय सुकृतां म्लानिस्तु पुमानिनाम्। मानस्यात्मभुवापि कुत्रचिदपि स्वोत्कर्षसंभावनं, तद्वद्येऽपि विधेश्वरेयमिति धिग्मान पुमुत्प्लाविनम्।९। गर्वप्रत्यग्नगक्वलिते विश्वदीपे विवेकत्वष्टर्युच्चै, स्फुरितदुरित दोषमन्देहवृन्दै। सत्रोद्वृत्ते तमसि हतदृग् जन्तुराप्तेषु भूयो, भूयोऽभ्याजत्वपि सजति ही स्वैरमुन्मार्ग एव।१०। जगद्वैचित्र्येऽस्मिन्विलसति विधौ काममनिश, स्वतन्त्रो न क्वास्मीत्यभिनिविशतेऽहकृतितम'। कुधीर्येनादत्ते किमपि तदध

मिथ्या ज्ञान—दे० ज्ञान/III।

मिथ्यात्व – दे० मिथ्यादर्शन।

मिथ्यात्व कर्म—दे० मोहनीय।

मिथ्यात्वक्रिया—दे० क्रिया/३।

मिथ्यादर्शन—स्वात्म तत्त्वसे अपरिचित लौकिक जन शरीर, धन, पुत्र, स्त्री आदिमें ही स्व व मेरापना तथा इष्टानिष्टपना मानता है, और तदनुसार ही प्रवृत्ति करता है। इसीलिए उसके अभिप्राय या रुचिको मिथ्यादर्शन कहते हैं। गृहीत, अगृहीत, एकान्त, संशय, अज्ञान आदिके भेदसे वह अनेक प्रकारका है। इनमें साम्प्रदायिकता गृहीत मिथ्यात्व है और पक्षपात एकान्त मिथ्यात्व। सब भेदोंमें ये दोनों ही अत्यन्त घातक व प्रबल हैं।

१. मिथ्या दर्शन सामान्यका लक्षण

१. तत्त्व विषयक विपरीत अभिनिवेश

भ. आ /मू /५६/१८० तं मिच्छत्तं जमसद्दहणं तच्चाण होइ अत्थाणं। =जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है। (पं. सं /-प्रा /१/७); (ध १/१,१,१०/गा १०७/१६३)।

स सि /२/६/१५६/७ मिथ्यादर्शनकर्मण उदयात्तत्त्वार्थाश्रद्धानपरिणामो मिथ्यादर्शनम्। =मिथ्यात्वकर्मके उदयसे जो तत्त्वोंका अश्रद्धान रूप परिणाम होता है वह मिथ्यादर्शन है। (रा वा/२/६/४/१०६/५), (गो. जी./मू./१५/३६), (और भी दे० मिथ्यादृष्टि/१)।

स. सि /मूलवृत्ति/४/११/२७०/११ जीवादितत्त्वार्थाश्रद्धानं मिथ्यादर्शनम्। जीवे तावन्नास्तिक्यम् अन्यत्र जीवाभिमानश्च, मिथ्यादृष्टे द्वैविध्यानतिक्रमात् विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिर्वेति। =जीवादि तत्त्वोंमें अश्रद्धान होना मिथ्यादर्शन है। वह दो प्रकारका है—जीवके नास्तिक्य भावरूप और अन्य पदार्थमें जीवके अभिमान रूप। क्योंकि, मिथ्यादृष्टि दो प्रकारकी ही हो सकती है। या तो विपरीत ज्ञानरूप होगी और या अज्ञान रूप होगी।

न. च. वृ /३०३-३०५ मिच्छत्तं पुण दुविहं मूढत्तं तह सहावणिरवेक्खं। तस्सोदयेण जीवो विवरीदं गेह्णए तच्चं ।३०३। अत्थित्तं णो मण्णदि णत्थिसहावस्स जो हु सावेक्खं। णत्थी विय तह दव्वे मूढो मूढो दु सव्वत्थ ।३०४। मूढो विय सुददेदं सहावणिरवेक्खरूवदो होदि। अलहंतो खवणादी मिच्छापयडी खलु उदये ।३०५। =मिथ्यात्व दो प्रकारका है—मूढत्व और स्वभाव निरपेक्ष। उसके उदयसे जीव तत्त्वोंको विपरीत रूपसे ग्रहण करता है।३०३। जो नास्तित्वसे सापेक्ष अस्तित्वको अथवा अस्तित्वसे सापेक्ष नास्तित्वको नहीं मानता है वह द्रव्य मूढ होनेके कारण सर्वत्र मूढ है।३०४। तथा श्रुतके हेतुसे होनेवाला मिथ्यात्व स्वभाव निरपेक्ष होता है। मिथ्या प्रकृतियोंके उदयके कारण वह क्षपण आदि भावोंको प्राप्त नहीं होता है।३०५।

नि. सा./ता वृ./९१ भगवदर्हत्परमेश्वरमार्गप्रतिकूलमार्गाभासमार्गश्रद्धानं मिथ्यादर्शनं। =भगवान् अर्हन्त परमेश्वरके मार्गसे प्रतिकूल मार्गाभासमें मार्गका श्रद्धान मिथ्यादर्शन है।

स्या मं./३२/३४१/२३ पर उद्धृत हेमचन्द्रकृत योगशास्त्रका श्लोक नं २—"अदेवे देवबुद्धिर्या गुरुधीरगुरौ च या। अधर्मे धर्मबुद्धिश्च मिथ्यात्वं तद्विपर्ययात्। =अदेवको देव, अगुरुको गुरु और अधर्मको धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि वह विपरीत रूप है। (प ध /उ /१०५१)।

स. सा./ता. वृ /८८/१४४/१० विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति। =विपरीत अभिनिवेशके उपयोग विकाररूप जो शुद्ध जीवादि पदार्थोंके विषयमें विपरीत श्रद्धान होता है उसे मिथ्यात्व कहते हैं। (द्र. स./टी./४८/२०५/६)।

२. शुद्धात्म विमुखता

नि. सा./ता. वृ./९१ स्वात्मश्रद्धान विमुखत्वमेव मिथ्यादर्शन· ·। =निज आत्माके श्रद्धानरूपसे विमुखता मिथ्यादर्शन है।

द्र स/टी /३०/८८/१ अभ्यन्तरे वीतरागनिजात्मतत्त्वानुभूतिरुचिविषये विपरीताभिनिवेशजनकं, बहिर्विषये तु परकीयशुद्धात्मतत्त्वप्रभृतिसमस्तद्रव्येषु विपरीताभिनिवेशोत्पादकं च मिथ्यात्वं भण्यते। =अन्तरंगमें वीतराग निजात्मतत्त्वके अनुभवरूप रुचिमें विपरीत अभिप्राय उत्पन्न करानेवाला तथा बाहरी विषयमें अन्यके शुद्ध आत्म तत्त्व आदि समस्त द्रव्योंमें जो विपरीत अभिप्रायका उत्पन्न करानेवाला है उसे मिथ्यात्व कहते हैं।

द्र स./टी./४२/१८३/१० निरञ्जननिर्दोषपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूपसम्यक्त्वाद्विलक्षणं मिथ्याशल्यं भण्यते। =अपना निरंजन व निर्दोष परमात्मतत्त्व ही उपादेय है, इस प्रकारकी रुचिरूप सम्यक्त्वसे विपरीतको मिथ्या शल्य कहते हैं।

२. मिथ्यादर्शनके भेद

भ. आ /मू /५६/१८० संसइयमभिग्गहियं अणभिग्गहियं च तं तिविहं। =वह मिथ्यात्व संशय, अभिगृहीत और अनभिगृहीतके भेदसे तीन प्रकारका है। (ध १/१,१,६/गा. १०७/१६३)।

बा.अ./४८ एयंतविणयविवरियसंसयमण्णाणमिदि हवे पंच। =मिथ्यात्व पाँच प्रकारका है—एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान। (स. सि /८/१/३७५/३), (रा वा /८/१/२८/५६४/१७), (ध. ८/३, ६/२), (गो. जी./मू./१५/३६), (त. सा./५/३), (द. सा /५), (द्र. स /टी /३०/८६/१ पर उद्धृत गा)।

स. सि./८/१/३७५/१ मिथ्यादर्शनं द्विविधम्, नैसर्गिकं परोपदेशपूर्वकं च। परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम्, क्रियाक्रियावाद्यज्ञानिकवैनयिकविकल्पात्। =मिथ्यादर्शन दो प्रकारका है—नैसर्गिक और परोपदेशपूर्वक। परोपदेश-निमित्तक मिथ्यादर्शन चार प्रकारका है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानी व वैनयिक। (रा वा /८/१/६, ८/५६१/२७)।

रा वा /८/१/१२/५६२/१२ त एते मिथ्योपदेशभेदा त्रीणि शतानि त्रिषष्ट्युत्तराणि।

रा. वा/८/१/२७/५६४/१४ एवं परोपदेशनिमित्तमिथ्यादर्शनविकल्पा अन्ये च संख्येया योज्या' ऊह्या, परिणामविकल्पात् असंख्येयाश्च भवन्ति, अनन्ताश्च अनुभागभेदात्। यन्नैसर्गिकं मिथ्यादर्शनं तदप्येकद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिपञ्चेन्द्रियतिर्यङ्म्लेच्छशबरपुलिन्दादिपरिग्रहादनेकविधम्। =इस तरह कुल ३६३ मिथ्यामतवाद हैं। (दे० एकान्त/५)। इस प्रकार परोपदेशनिमित्तक मिथ्यादर्शनके अन्य भी संख्यात विकल्प होते हैं। इसके परिणामोंकी दृष्टिसे असंख्यात और अनुभागकी दृष्टिसे अनन्त भी भेद होते हैं। नैसर्गिक मिथ्यादर्शन भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय, संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यंच, म्लेच्छ, शबर, पुलिन्द आदि स्वामियोंके भेदसे अनेक प्रकारका है।

ध. १/१,१,६/गा १०५ व टीका/१६२/५ जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा। जावदिया णयवादा तावदिया चेव परसमया ।१०५। इति वचनान्न मिथ्यात्वपञ्चकनियमोऽस्ति किन्तूपलक्षणमात्रमेतदभिहितं पञ्चविधं मिथ्यात्वमिति। ='जितने भी वचनमार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय होते हैं। (और भी दे० नय/I/५/५)', इस वचनके अनुसार मिथ्यात्वके पाँच ही भेद हैं यह कोई नियम नहीं समझना चाहिए,

किन्तु मिथ्यात्व पाँच प्रकारका है यह कहना उपलक्षण मात्र समझना चाहिए।

न. च. वृ./३०३ मिच्छत्तं पुण दुविहं मूढत्तं तह सहावणिरवेक्खं। मिथ्यात्व दो प्रकारका है।—मूढ व स्वभाव निरपेक्ष।

३. गृहीत व अगृहीत मिथ्यात्वके लक्षण

स. सि./८/१/३७५/१ तत्रोपदेशमन्तरेण मिथ्यात्वकर्मोदयवशाद् यदाविर्भवति तत्त्वार्थाश्रद्धानलक्षणं तन्नैसर्गिकम्। परोपदेशनिमित्तं चतुर्विधम्।=जो परोपदेशके बिना मिथ्यादर्शन कर्मके उदयसे जीवादि पदार्थोंका अश्रद्धानरूप भाव होता है, वह नैसर्गिक मिथ्यादर्शन है। परोपदेश निमित्तक मिथ्यादर्शन चार प्रकारका है। (रा वा/८/१/७-८/५६१/२६)।

भ आ/वि/५६/१८०/२२ यद्देशाभिमुख्येन गृहीतं स्वीकृतम् अश्रद्धानं अभिगृहीतमुच्यते यदा परस्य वचनं श्रुत्वा जीवादीनां सत्वे अनेकान्तात्मकत्वे चोपजातम् अश्रद्धानं अरुचिर्मिथ्यात्वमिति। परोपदेशं विनापि मिथ्यात्वोदयादुपजायते यदश्रद्धानं तदनभिगृहीतं मिथ्यात्वम्।=(जीवादितत्त्व नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इत्यादि रूप) दूसरोंका उपदेश सुनकर जीवादिकोंके अस्तित्वमें अथवा उनके धर्मोंमें अश्रद्धा होती है, यह अभिगृहीत मिथ्यात्व है और दूसरेके उपदेशके बिना ही जो अश्रद्धान मिथ्यात्व कर्मके उदयसे हो जाता है वह अनभिगृहीत मिथ्यात्व है। (पं. ध./उ/१०४९-१०५०)।

४. मिथ्यात्वकी सिद्धिमें हेतु

पं. ध/उ/१०३३ १०३४ ततो न्यायगतो जन्तोर्मिथ्याभावो निसर्गतः। दृङ्मोहस्योदयादेव वर्त्तते वा प्रवाहवत्।१०३३। कार्यं तदुदयस्योच्चैः प्रत्यक्षात्सिद्धमेव यत्। स्वरूपानुपलब्धिः स्यादन्यथा कथमात्मनः।१०३४।=इसलिए न्यायानुसार यह बात सिद्ध होती है कि जीवोंके मिथ्यात्व स्वभावसे ही दर्शनमोहके उदयसे प्रवाहके समान सदा पाया जाता है।१०३३। और मिथ्यात्वके उदयका कार्य भी भली भाँति स्वसंवेदन द्वारा प्रत्यक्ष सिद्ध है, क्योंकि अन्यथा आत्मस्वरूपकी उपलब्धि जीवोंको क्यों न होती।१०३४।

५. मिथ्यात्व सबसे बड़ा पाप है

र. क. श्रा./३४ अश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्।=शरीरधारी जीवोंको मिथ्यात्वके समान अन्य कुछ अकल्याणकारी नहीं है।

गो. जी./मू/६२३ मिच्छाइट्ठी पावा णंताणता य सासणगुणा वि। =मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि ये दोनों पाप अर्थात् पाप जीव हैं।

स सा/२००/क १३७ आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा। आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः।=भले ही महाव्रतादिका आलम्बन करें या समितियोंकी उत्कृष्टताका आश्रय करें तथापि वे पापी ही है, क्योंकि वे आत्मा और अनात्माके ज्ञानसे रहित होनेसे सम्यक्त्वसे रहित है।

स सा/आ/२००/क. १३७। पं. जयचन्द=प्रश्न—व्रत समिति शुभ कार्य हैं, तब फिर उनका पालन करते हुए भी उस जीवको पापी क्यों कहा गया? उत्तर—सिद्धान्तमें मिथ्यात्वको ही पाप कहा गया है; जबतक मिथ्यात्व रहता है तबतक शुभाशुभ सर्व क्रियाओंको अध्यात्ममें परमार्थतः पाप ही कहा जाता है, और व्यवहारनयकी प्रधानतामें व्यवहारी जीवोंको अशुभसे छुड़ाकर शुभमें लगानेकी शुभ क्रियाको कथंचित् पुण्य भी कहा जाता है ऐसा कहनेसे स्याद्वादमतमें कोई विरोध नहीं है।

मो. पा./पं. जयचन्द/६०/१५२/७ गृहस्थके महापाप मिथ्यात्वका सेवना अन्याय...आदि ये महापाप हैं।

मो. मा. प्र./८/३६३/३ मिथ्यात्व समान अन्य पाप नाहीं है।

अन्य सम्बन्धित विषय

१. मिथ्यादर्शनमें 'दर्शन' शब्दका महत्त्व—दे० सम्यग्दर्शन/I/३।
२. एकान्तादि पाँचों मिथ्यात्व —दे० वह वह नाम।
३. मिथ्यादर्शन औदयिक भाव है तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान —दे० उदय/६।
४. पुरुषार्थसे मिथ्यात्वका भी क्षणभरमें नाश सम्भव है। —दे० पुरुषार्थ/२।

मिथ्यादर्शन क्रिया—दे० क्रिया/३।

मिथ्यादर्शन वचन—दे० वचन।

मिथ्यादर्शन शल्य—दे० शल्य।

मिथ्यादृष्टि—आत्म भानसे शून्य बाह्य जगत्में ही अपना समस्त पुरुषार्थ उँडेलकर जीवन विनष्ट करनेवाले सर्व लौकिक जन मिथ्यादृष्टि, बहिरात्मदृष्टि या पर समय कहलाते हैं। अभिप्रायकी विपरीतताके कारण उनका समस्त धर्म कर्म व वैराग्यादि अकिंचित्कर व संसारवर्धक है। सम्यग्दृष्टिकी क्रियाएँ बाहरमें उनके समान होते हुए भी अन्तरंगकी विचित्रताके कारण कुछ अन्य ही रूप होती है।

१	**भेद व लक्षण**
१	मिथ्यादृष्टि सामान्यका लक्षण १. विपरीत श्रद्धान। २. पर द्रव्य रत।
*	परद्रव्यको अपना कहनेसे अज्ञानी कैसे हो जाता है? —दे० नय/V/८/३।
*	कुदेव कुगुरु कुधर्मकी विनयादि सम्बन्धी —दे० विनय/४।
२	मिथ्यादृष्टिके भेद।
३	सातिशय व घातायुष्क मिथ्यादृष्टि।
*	मिथ्यादृष्टि साधु। —दे० साधु/४.५।
*	अधिककाल मिथ्यात्वयुक्त रहनेपर सादि भी मिथ्यादृष्टि अनादिवत् हो जाता है —दे० सम्यग्दर्शन/IV/२/५
२	**मिथ्यादृष्टि निर्देश**
*	मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें जीवसमास, मार्गणा स्थान आदिके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ —दे० सत्।
*	मिथ्यादृष्टियोंकी सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर
*	भाव अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणाएँ—दे० वह वह नाम।
*	मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें कर्मोंकी बन्ध उदय सत्त्व सम्बन्धी प्ररूपणाएं —दे० वह वह नाम।

१. भेद व लक्षण

१. मिथ्यादृष्टि सामान्यका लक्षण

१. विपरीत श्रद्धालु

पं. सं प्रा./१/८ मिच्छादिट्ठी उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि। सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठ अणुवइट्ठं च।८। =(मोहके उदयसे-भ.आ.) मिथ्यादृष्टि जीव जिनउपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान नहीं करता। प्रत्युत अन्यसे उपदिष्ट या अनुपदिष्ट पदार्थोंके अयथार्थ स्वरूपका श्रद्धान करता है। (भ. आ/मू./४०/१३८); (पं. सं. प्रा./१/१७०); (ध ६/१,९-८/६/गा. १५/२४२), (ल. सा/मू/१०९/१४७); (गो. जी./मू/१८/४२,६५६/११०३)।

रा. वा/६/१/१२/५८८/१५ मिथ्यादर्शनकर्मोदयेन वशीकृतो जीवो मिथ्यादृष्टिरित्यभिधीयते। यत्कृतं तत्त्वार्थानामश्रद्धानं। =मिथ्यादर्शन कर्मके उदयके वशीकृत जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इसके कारण उसे तत्त्वार्थोंका श्रद्धान नहीं होता है। (और भी दे० मिथ्यादर्शन/१)।

ध. १/१,१,९/१६२/२ मिथ्या वितथा व्यलीका असत्या दृष्टिर्दर्शनं विपरीतैकान्तविनयसंशयाज्ञानरूपमिथ्यात्वकर्मोदयजनिता येषा ते मिथ्यादृष्टय। अथवा मिथ्या वितथ, तत्र दृष्टि' रुचि' श्रद्धा प्रत्ययो येषा ते मिथ्यादृष्टय। =मिथ्या, वितथ, व्यलीक और असत्य ये एकार्थवाची नाम हैं। दृष्टि शब्दका अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। इससे यह तात्पर्य हुआ कि जिन जीवोंके विपरीत, एकान्त, विनय, संशय और अज्ञानरूप मिथ्यात्वकर्मके उदयसे उत्पन्न हुई मिथ्यारूप दृष्टि होती है, उन्हें मिथ्यादृष्टि जीव कहते हैं।

द्र. स./टी./१३/३२/१० निजपरमात्मप्रभृति षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थेषु मूढत्रयादि पञ्चविंशतिमलरहित वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनयविभागेन यस्य श्रद्धानं नास्ति स मिथ्यादृष्टिर्भवति। =निजात्मा आदि षट्द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, और नवपदार्थोंमें तीन मूढता आदि पच्चीस दोषरहित, वीतराग सर्वज्ञद्वारा कहे हुए नयविभागसे जिस जीवके श्रद्धान नहीं है, वह जीव मिथ्यादृष्टि होता है।

२. परद्रव्य रत

मो.पा./मू./१५ जो पुण परदव्वरओ मिच्छादिट्ठि हवेइ सो साहू। मिच्छत्तपरिणदो उण बज्झदि दुट्ठट्ठकम्मेहिं।१५। =परद्रव्यरत साधु मिथ्यादृष्टि है और मिथ्यात्वरूप परिणमता हुआ दुष्ट अष्टकर्मोंका बन्ध करता है। (और भी दे० 'समय' में परसमयका लक्षण।)

प.प्र/मू./१/७७ पज्जयरत्तउ जीवडउ मिच्छादिट्ठि हवेइ। बंधइ बहुविधकर्माणि येन संसारं भ्रमति।७७। =शरीर आदि पर्यायोंमें रत जीव मिथ्यादृष्टि होता है। वह अनेक प्रकारके कर्मोंको बाँधता हुआ संसारमें भ्रमण करता रहता है।

ध. १/१,१,१/८२/७ परसमयो मिच्छत्तं। =परसमय मिथ्यात्वको कहते हैं।

प्र सा/ता वृ./९४/१२२/१६ कर्मोदयजनितपर्यायनिरतत्वात्परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते। =कर्मोदयजनित मनुष्यादिरूप पर्यायोंमें निरत रहनेके कारण परसमय जीव मिथ्यादृष्टि होते हैं।

दे० समय/पर समय—(पर द्रव्योंमें रत रहनेवाला पर समय कहलाता है)। (और भी दे० मिथ्यादृष्टि/२/५)।

प ध/उ./६६० तथा दर्शनमोहस्य कर्मणस्तूदयादिह। अपि यावदनात्मीयमात्मीयं मनुते कुदृक्।६६०। =तथा इस जगत्में उस दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे मिथ्यादृष्टि सम्पूर्ण परपदार्थोंको भी निज मानता है।

२. मिथ्यादृष्टिके भेद

रा. वा /६/१/१२/५८८/१८ ते सर्वे समासेन द्विधा व्यवतिष्ठन्ते—हिताहितपरीक्षाविरहिता' परीक्षकाश्चेति । तत्रैकेन्द्रियादयः सर्वे संज्ञिपर्याप्तकवर्जिता. हिताहितपरीक्षाविरहिताः । =सामान्यतया मिथ्यादृष्टि हिताहितकी परीक्षासे रहित और परीक्षक इन दो श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते है। तहाँ संज्ञिपर्याप्तकको छोडकर सभी एकेन्द्रिय आदि हिताहित परीक्षासे रहित है। सज्ञी पर्याप्तक हिताहित परीक्षासे रहित और परीक्षक दोनों प्रकारके होते हे।

३. सातिशय व घातायुष्क मिथ्यादृष्टि

ल. सा /जी.प्र'/२२०/२७३/६ प्रथमोपशमसम्यक्त्वाभिमुखसातिशयमिथ्यादृष्टेर्भणितानि। =प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अभिमुख जीव सातिशय मिथ्यादृष्टि कहलाते है।

ध ४/१,५,६६/३८५ विशेषार्थ—किसी मनुष्यने अपनी संयम अवस्थामें देवायुका बन्ध किया। पीछे उसने संक्लेश परिणामोके निमित्तसे संयमकी विराधना कर दी ओर इसीलिए अपवर्तनाघातके द्वारा आयुका घात भी कर दिया।·· यदि वही पुरुष सयमकी विराधनाके साथ ही सम्यक्त्वकी भी विराधना कर मिथ्यादृष्टि हो जाता है—ऐसे जीवको घातायुष्क मिथ्यादृष्टि कहते है।

२ मिथ्यादृष्टि निर्देश

१. मिथ्यादृष्टिमें कदाचित् अनन्तानुबन्धीके उदयका अभाव भी सम्भव है

पं. स /प्रा./१/१०३ आवलियमेत्तकाल अणं बधीण होइ णो उदओ।

गो. क./मू /४७८/६३२ अणसंजोजिदसम्मे मिच्छं पत्ते ण आवलित्ति अणं। =अनन्तानुबन्धीका विसयोजक मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वको छोडकर मिथ्यात्वगुणस्थानको प्राप्त होता है, उसको एक आवली मात्र काल तक अनन्तानुबन्धी कषायोंका उदय नहीं होता है।

२. मिथ्यादृष्टिको सर्व व्यवहार धर्म व वैराग्य आदि होने सम्भव हैं

प्र सा./मू./८५ अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिदियमणुएसु। विसएसु च पसगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि।८५। =पदार्थका अयथाग्रहण और तिर्यंच मनुष्योके प्रति करुणाभाव तथा विषयोंकी संगति, ये सब मोहके चिह्न है।

दे० सम्यग्दर्शन/III/ (नवग्रैवेयकवासी देवोंको सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमें जिनमहिमा दर्शन निमित्त नहीं होता, क्योंकि, वीतरागी होनेके कारण उनको उसके देखनेसे आश्चर्य नहीं होता।)

प. का./त प्र./१७२ ये तु केवलव्यवहारावलम्बिनस्ते खलु भिन्नसाध्यसाधनभावावलोकनेनानवरत नितरां खिद्यमाना मुहुर्मुहुर्धर्मादिश्रद्धानरूपाध्यवसायानुस्यूतचेतस प्रभूतश्रुतसंस्काराधिरोपितविचित्रविकल्पजालकल्माषितचैतन्यवृत्तय', समस्तयतिवृत्तसमुदायरूपतप -प्रवृत्तिरूपकर्मकाण्डोड्डमराचलिता., कदाचित्किंचिद्रोचमाना, कदाचित् किंचिद्विकल्पयन्तः, कदाचित्किंचिदाचरन्त, दर्शनाचरणाय कदाचित्प्रशाम्यन्त, कदाचित्सविजयमाना, कदाचिदनुकम्पमाना., कदाचिदास्तिक्यमुद्वहन्त', शकाकाङ्क्षाविचिकित्सामूढदृष्टितानां व्युत्थापननिरोधाय नित्यबद्धपरिकरा, उपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनां भावयमाना वारम्बारमभिवर्धितोत्साहा, ज्ञानाचरणाय स्वाध्यायकालमवलोकयन्तो, बहुधा विनयं प्रपञ्चयन्त, प्रविहितदुर्धरोपधाना, सुष्ठु बहुमानमातन्वन्तो निह्नवापत्ति नितरां निवारयन्तोऽर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धौ नितान्तसावधाना', चारित्राचरणाय हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहसमस्तविरतिरूपेषु पञ्चमहाव्रतेषु तन्निष्ठवृत्तय, सम्यग्योगनिग्रहलक्षणासु गुप्तिषु नितान्त गृहीतोद्योगा, ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गरूपासु समितिष्वत्यन्तनिवेशितप्रयत्ना', तपश्चरणायानशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशेष्वभीक्ष्णमुत्साहमानाः, प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यव्युत्सर्गस्वाध्यायध्यानपरिकराङ्कुशितस्वान्ता, वीर्याचरणाय कर्मकाण्डे सर्वशक्त्या व्याप्रियमाणा., कर्मचेतनाप्रधानत्वाद्दूरनिवारिताशुभकर्मप्रवृत्तयोऽपि समुपात्तशुभकर्मप्रवृत्तय', सकलक्रियाकाण्डाडम्बरोत्तीर्णदर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपां ज्ञानचेतनां मनागप्यसंभावयन्त, प्रभूतपुण्यभारमन्थरितचित्तवृत्तय', सुरलोकादिक्लेशप्राप्तिपरम्परया सुचिरं संसारसागरे भ्रमन्तीति। =जो केवल व्यवहारावलम्बी हैं वे वास्तवमें भिन्न साध्यसाधन भावके अवलोकन द्वारा निरन्तर अत्यन्त खेद पाते हुए, पुन पुन' धर्मादिके श्रद्धानमें चित्त लगाते हैं, श्रुतके संस्कारोंके कारण विचित्र विकल्प जालोंमें फँसे रहते हैं और यत्याचार व तपमें सदा प्रवृत्ति करते रहते हैं। कभी किसी विषयकी रुचि व विकल्प करते हैं और कभी कुछ आचरण करते हैं। —(१) दर्शनाचरणके लिए प्रशम सवेग अनुकम्पा व आस्तिक्यको धारण करते हैं, शंका कांक्षा आदि आठों अंगोंका पालन करनेमें उत्साहचित्त रहते हैं। (२) ज्ञानाचरणके लिए काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन व तदुभय इन आठों अंगोंकी शुद्धिमें सदा सावधान रहते हैं। (३) चारित्राचरणके लिए पंचमहाव्रतोंमें, तीनों गुप्तियोंमें तथा पाँचों समितियोंमें अत्यन्त प्रयत्नयुक्त रहते हैं। (४) तपाचरणके लिए १२ तपोंके द्वारा निज अन्त करणको सदा अंकुशित रखते हैं। (५) वीर्याचरणके लिए कर्मकाण्डमें सर्व शक्ति द्वारा व्यापृत रहते हैं। इस प्रकार सांगोपाग पचाचारका पालन करते हुए भी कर्मचेतनाप्रधानपनेके कारण यद्यपि अशुभकर्मप्रवृत्तिका उन्होंने अत्यन्त निवारण किया है तथापि शुभकर्मप्रवृत्तिको जिन्होंने बराबर ग्रहण किया है ऐसे, वे सकल क्रियाकाण्डके आडम्बरसे पार उतरी हुई दर्शनज्ञानचारित्रकी ऐक्यपरिणतिरूप ज्ञानचेतनाको किंचित् भी न उत्पन्न करते हुए, बहुत पुण्यके भारसे मथर हुई चित्तवृत्तिवाले वर्तते हुए, देवलोकादिके क्लेशकी प्राप्तिकी परम्परा द्वारा अत्यन्त दीर्घकाल तक ससारसागरमें भ्रमण करते हैं।

२. इतना होनेपर भी वह मिथ्यादृष्टि व असंयत है

स. सा.'मू./३१४ जा एस पयडीअट्ठं चेया णेव विमुचए। अयाणओ भवे ताव मिच्छाइट्ठी असजओ।३१४। =जबतक यह आत्मा प्रकृतिके निमित्तसे उपजना विनशना नहीं छोडता है, तब तक वह अज्ञायक है, मिथ्यादृष्टि है, असंयत है।

दे० चारित्र/३ (सम्यक्त्व शून्य होनेके कारण व्रत समिति आदि पालता हुआ भी वह सयत नहीं मिथ्यादृष्टि ही है।)

४. उन्हें परसमय व मिथ्यादृष्टि कहनेका कारण

दे० मिथ्यादृष्टि/१/१(परद्रव्यरत रहनेके कारण जीव परसमय व मिथ्यादृष्टि होता है।)

प्र. सा./त प्र /६४ ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगतायथोदितात्मस्वभावसभावनक्लीबास्तस्मिन्नेवाशक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवैतन्मनुष्यशरीरमित्यहंकारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहाराव प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च

परद्रव्येण कर्मणा सङ्गतत्वात्परसमया जायन्ते। =जो व्यक्ति जीव-पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्यपर्यायका, जो कि सकल अविद्याओंकी एक जड है, उसका आश्रय करते हुए यथोक्त आत्मस्वभावकी संभावना करनेमे नपुसक होनेसे उसीमें बल धारण करते है, वे जिनकी निरर्गल एकान्त दृष्टि उछलती है, ऐसे 'यह मैं मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है' इस प्रकार अहंकार ममकारसे ठगाये जाते हुए अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्मव्यवहारसे च्युत होकर, जिसमें समस्त क्रियाकलापको छातीसे लगाया जाता है ऐसे मनुष्यव्यवहारका आश्रय करके, रागी द्वेषी होते हुए परद्रव्यरूप कर्मके साथ संगतताके कारण वास्तवमें परसमय होते है अर्थात् परसमयरूप परिणमित होते है।

५. मिथ्यादृष्टिकी बाह्य पहचान

र सा./१०६ देहादिसु अणुरत्ता विसयासत्ता कसायसजुत्ता। अप्पसहावे सुत्ता ते साहू सम्मपरिचत्ता।१०६। =जो मुनि देहादिमें अनुरक्त है, विषय कषायसे सयुक्त है, आत्म स्वभावमें सुप्त है, वह सम्यक्त्वरहित मिथ्यादृष्टि है।

दे.राग./४ (जिसको परमाणुमात्र भी राग है वह मिथ्यादृष्टि है) (विशेष दे. मिथ्यादृष्टि/४)।

दे.श्रद्धान/३ (अपने पक्षकी हठ पकडकर सच्ची बातको स्वीकार न करने वाला मिथ्यादृष्टि है)।

प सं./प्रा /१/६ मिच्छत्तं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होइ। ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं पि रसं जहा जरिदो।६। =मिथ्यात्वकर्मको अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानी होता है। उसे धर्म नहीं रुचता है, जैसे कि ज्वरयुक्त मनुष्यको मधुर रस भी नहीं रुचता है। (ध.१/१.१.६/१०६/१६२), (ल सा /मू /१०८/१४३); (गो जी./मू./१७/४१)।

का अ./मू./३१८ दोससहियं पि देवं जीवहिंसाइ संजुदं धम्मं। गथासत्त च गुरुं जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी।=जो दोषसहित देवको, जीवहिंसा आदिसे युक्त धर्मको और परिग्रहमें फँसे हुए गुरुको मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है।

दे नियति/१/२ ('जो जिस समय जैसे होना होता है वह उसी समय वैसे ही होता है, ऐसा जो नही मानता वह मिथ्यादृष्टि है)।

६. मिथ्यादृष्टिमें औदयिकभावकी सिद्धि

ध.५/१,७,२/१९४/७ णणु मिच्छादिट्ठिस्स अण्णे वि भावा अत्थि, णाण-दसण-गदि-लिंग-कसाय-भव्वाभव्वादि-भावाभावे जीवस्स ससारिणो अभावप्पसगा। तदो मिच्छा दिट्ठिस्स ओदइओ चेव भावो अत्थि, अण्णे भावा णत्थि त्ति णेद घडदे। ण एस दोसो, मिच्छादिट्ठिस्स अण्णे भावा णत्थि त्ति सुत्ते पडिसेहाभावा। किंतु मिच्छत्तं मोत्तूण जे अण्णे गदि लिंगादओ साधारणभावा ते मिच्छादिट्ठित्तस्स कारण ण होंति। मिच्छत्तोदओ एक्को चेव मिच्छत्तस्स कारण, तेण मिच्छादिट्ठि त्ति भावो ओदइओ त्ति परूविदो। =प्रश्न—मिथ्यादृष्टिके अन्य भी भाव होते है। ज्ञान, दर्शन, (दो क्षायोपशमिक भाव), गति लिंग कषाय (तीन औदयिक भाव), भव्यत्व, अभव्यत्व (दो पारिणामिक भाव) आदि भावोके अभाव मानने पर ससारी जीवके अभावका प्रसंग प्राप्त होता है। (विशेष दे भाव/२)। इसलिए मिथ्यादृष्टि जीवके केवल एक औदयिक भाव ही होता है, और अन्य भाव नहीं होते है, यह कथन घटित नहीं होता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, मिथ्यादृष्टिके औदयिक भावके अतिरिक्त अन्य भाव नही होते है,' इस प्रकारका सूत्रमें प्रतिषेध नही किया गया है। किन्तु मिथ्यात्वको छोडकर जो अन्य गति लिंग आदिक साधारण (सभी गुणस्थानोके लिए सामान्य) भाव है, वे मिथ्यादृष्टिके कारण नहीं होते है। एक मिथ्यात्वका उदय ही मिथ्यादृष्टित्वका कारण है। इसलिए 'मिथ्यादृष्टि' यह भाव औदयिक कहा गया है।

ध ५/१,७,१०/२०६/८ सम्मामिच्छत्तसव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव सतोवसमेण सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा मिच्छत्तसव्वघादिफद्दयाणमुदएण मिच्छाइट्ठी उप्पज्जदि त्ति खओवसमिओ सो किण्ण होदि। उच्चदे- ण ताव सम्मत्तसम्मामिच्छत्तदेसघादिफद्दयाणमुदयक्खओ सतोवसमो अणुदओवसमो वा मिच्छादिट्ठीए कारणं, सव्वहिचारित्तादो। ज जदो णियमेण उप्पज्जदि त तस्स कारणं, अण्णहा अणवत्थापसंगादो। जदि मिच्छत्तुप्पज्जणकाले विज्जमाणा तक्कारणत्तं पडिवज्जंति तो णाण-दंसण-असजमादओ वि तक्कारण होंति। ण चेवं, तहाविहववहाराभावा। मिच्छादिट्ठीए पुण मिच्छत्तुदओ कारण, तेण विणा तदणुप्पत्तीए। =प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्वप्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयक्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे, तथा सम्यक्त्वप्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोके उदयक्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे और मिथ्यात्वप्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे मिथ्यादृष्टिभाव उत्पन्न होता है, इसलिए उसे क्षयोपशम क्यों न माना जाये। उत्तर—न तो सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व, इन दोनों प्रकृतियोंके देशघाती स्पर्धकोका उदय, क्षय, अथवा सदवस्थारूप उपशम, अथवा अनुदयरूप उपशम मिथ्यादृष्टि भावका कारण है, क्योंकि, उस में व्यभिचार दोष आता है। जो जिससे नियमत उत्पन्न होता है, वह उसका कारण होता है। यदि ऐसा न माना जावे, तो अनवस्था दोषका प्रसग आता है। यदि यह कहा जाये कि मिथ्यात्वकी उत्पत्तिके कालमें जो भाव विद्यमान है, वे उसके कारणपनेको प्राप्त होते है। तो फिर ज्ञान, दर्शन, असयम आदि भी मिथ्यात्वके कारण हो जावेंगे। किन्तु ऐसा है नही, क्योंकि, इस प्रकारका व्यवहार नही पाया जाता है। इसलिए यही सिद्ध होता है कि मिथ्यादृष्टिका कारण मिथ्यात्वका उदय ही है, क्योकि, उसके विना मिथ्यात्वकी उत्पत्ति नहीं होती है।

३. मिथ्यादृष्टिके भावोंकी विशेषता

१. मिथ्यादृष्टिके सर्वभाव अज्ञानमय हैं

स.सा./मू /१२९ अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो। जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स। =अज्ञानमय भावमेंसे अज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होता है, इसलिए अज्ञानियोके भाव अज्ञानमय ही होते है।

स.सा./आ./१२९/क ६७ ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि। सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते। =ज्ञानीके सर्वभाव ज्ञानसे रचित होते हैं और अज्ञानीके समस्त भाव अज्ञानसे रचित होते है।

दे.मिथ्यादर्शन/७ (व्रतादि पालता हुआ भी वह पापी है)।

दे.मिथ्यादृष्टि/२/३ (व्रतादि पालता हुआ भी वह अज्ञानी है)।

२. अज्ञानीके सर्वभाव बन्धके कारण हैं

स सा /मू./२१९ अण्णाणी पुणरत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो। लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं।२१९। =अज्ञानी जो कि सर्व द्रव्योंके प्रति रागी है, वह कर्मोंके मध्य रहा हुआ कर्म रजसे लिप्त होता है, जैसे लोहा कीचडके बीच रहा हुआ जगसे लिप्त हो जाता है।

दे.मिथ्यादृष्टि/१/१/२ (मिथ्यादृष्टि जीव सदा परद्रव्योंमें रत रहनेके कारण कर्मोंको बाँधता हुआ ससारमें भटकता रहता है)।

दे मिथ्यादृष्टि/२/ (सागोपाग धर्म व चारित्रका पालन करता हुआ भी वह ससारमें भटकता है)।

स.सा./आ./१९४ न तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टे रणादिभावानां सद्भावेन बन्धनिमित्त भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यजीर्णः सन् बन्ध एव स्यात्। =जब उस सुख या दुःखरूप भावका वेदन होता है तब मिथ्यादृष्टिको रागादिभावोके सद्भावसे बन्धका निमित्त होकर वह भाव निर्जराको प्राप्त होता हुआ भी (वास्तवमें) निर्जरित न होकर बन्ध ही होता है।

दे सम्यग्दृष्टि (ज्ञानीके जो भाव मोक्षके कारण है वही भाव अज्ञानीको बन्धके कारण है)।

३. मिथ्यादृष्टिका तत्त्वविचार नय प्रमाण आदि सब मिथ्या है

न.च वृ./४१५ लवण व इणं भणिय णयचक्कं सयलसत्थसुद्धियरं। सम्माविय सुय मिच्छा जीवाण सुणयमग्गरहियाण। =सकल शास्त्रोकी शुद्धिको करनेवाला यह नयचक्र अति संक्षेपमें कहा गया है। क्योकि सम्यक् भी श्रुत या शास्त्र, सुनयरहित जीवोके लिए मिथ्या होता है।

पं का /ता.वृ / प्रक्षेपक ४३-६/८७/२८ मिथ्यात्वात् यथैवाज्ञानमविरतिभावश्च भवति तथा सुनयो दुर्नयो भवति प्रमाण दुःप्रमाणं च भवति। कदा भवति। तत्त्वविचारकाले। कि कृत्वा। प्रतीत्याश्रित्य। किमाश्रित्य। ज्ञेयभूतं जीवादिवस्त्विति। =मिथ्यात्वसे जिस प्रकार अज्ञान और अविरति भाव होते हैं, उसी प्रकार ज्ञेयभूत वस्तुकी प्रतीतिका आश्रय करके जिस समय तत्त्वविचार करता है, तब उस समय उसके लिए सुनय भी दुर्नय हो जाते है और प्रमाण भी दुःप्रमाण हो जाता है। (विशेष दे.ज्ञान/III/२/८,९,चारित्र/३/१०; धर्म/२,नय/II/६,प्रमाण/२/२,४/२;भक्ति/१।

४. मिथ्यादृष्टि व सम्यग्दृष्टिमे अन्तर

१. दोनोंके श्रद्धान व अनुभव आदिमें अन्तर

स. सा /मू /२७५ सद्दहदि य पत्तेदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि। धम्म भोगणिमित्त ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं। =वह (अभव्य जीव) भोगके निमित्तरूप धर्मकी ही श्रद्धा करता है, उसीकी प्रतीति करता है, उसीकी रुचि करता है और उसीका स्पर्श करता है, किन्तु कर्मक्षयके निमित्तरूप धर्मकी श्रद्धा आदि नही करता।

र सा /५७ सम्माइट्ठी कालं बोलइ वेरग्गणाणभावेण। मिच्छाइट्ठी वाछा दुब्भावालस्सकलहेहिं।५७। =सम्यग्दृष्टि पुरुष समयको वैराग्य और ज्ञानसे व्यतीत करते है। किन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष दुर्भाव, आलस्य और कलहसे अपना समय व्यतीत करते है।

प्र. सा./ता वृ /प्रक्षेपक ६८-१/३६०/१७ इमा चानुकम्पा ज्ञानी स्वस्थभावनामविनाशयन् सक्लेशपरिहारेण करोति। अज्ञानी पुनः सक्लेशेनापि करोतीत्यर्थः। =इस अनुकम्पाको ज्ञानी तो स्वस्थ भावका नाश न करते हुए सक्लेशके परिहार द्वारा करता है, परन्तु अज्ञानी उसे सक्लेशसे भी करता है।

स. श /मू /५४ शरीरे वाचि चात्मान सधत्ते वाक्शरीरयोः। भ्रान्तोऽभ्रान्त पुनस्तत्त्व पृथगेष निबुध्यते।५४। =वचन और शरीरमे ही जिसकी भ्रान्ति हो रही है, जो उनके वास्तविक स्वरूपको नही समझता ऐसा बहिरात्मा वचन और शरीरमें ही आत्माका आरोपण करता है। परन्तु ज्ञानी पुरुष इन शरीर और वचनके स्वरूपको आत्मासे भिन्न जानता है। (विशेष दे० मिथ्यादृष्टि/१/१/२)।

स.श /मू व टी./४७ त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित्।नान्तर्बहिरुपादान, न त्यागो निष्ठितात्मन'।४७। मूढात्मा बहिरात्मा त्यागोपादाने करोति क्व। बहिर्बाह्ये हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलाषाभावान्मूढात्मा त्याग करोति। रागोदयात्तत्राभिलाषोत्पत्तेरुपादानमिति। आत्मवित् अन्तरात्मा पुनरध्यात्मनि स्वात्मरूप एव त्यागोपादाने करोति। तत्र हि त्यागो रागद्वेषादेरन्तर्जल्पविकल्पादेर्वा। स्वीकारश्चिदानन्दादेः। यस्तु निष्ठितात्मा कृतकृत्यात्मा तस्य अन्तर्बहिर्वा नोपादान तथा न त्यागोऽन्तर्बहिर्वा। =बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि द्वेषके उदयवश अभिलाषाका अभाव हो जानेके कारण बाह्य वस्तुओका त्याग करता है और रागके उदयवश अभिलाषा उत्पन्न हो जानेके कारण बाह्य वस्तुओंका ही ग्रहण करता है। परन्तु आत्मवित् अन्तरात्मा आत्मस्वरूपमें ही त्याग या ग्रहण करता है। वह त्याग तो रागद्वेषादिका अथवा अन्तर्जल्परूप वचन विलास व विकल्पादिका करता है और ग्रहण चिदानन्द आदिका करता है। और जो आत्मनिष्ट व कृतकृत्य है ऐसे महायोगीको ता अन्तरग व बाह्य दोनो ही का न कुछ त्याग है और न कुछ ग्रहण। (विशेष दे० मिथ्यादृष्टि/२/२)।

दे. मिथ्यादृष्टि/२/५ (मिथ्यादृष्टिको यथार्थ धर्म नही रुचता)।

दे. श्रद्धान/३ (मिथ्यादृष्टि एकान्तग्राही होनेके कारण अपने पक्षकी हठ करता है, पर सम्यग्दृष्टि अनेकान्तग्राही होनेके कारण अपने पक्षकी हठ नहीं करता)।

स. सा./ता. वृ./१९४/२६६/९ सुखं दुःखं वा समुदीर्ण सद् सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्धया वेदयति। न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति।... मिथ्यादृष्टेः पुनः उपादेयबुद्धया, सुख्यहं दुःख्यहमिति प्रत्ययेन। =कर्मके उदयवश प्राप्त सुखदुःखको सम्यग्दृष्टि जीव तो राग-द्वेष नहीं करते हुए हेयबुद्धिसे भोगता है। 'मै सुखी-मै दुःखी' इत्यादि प्रत्ययके द्वारा तन्मय होकर नही भोगता। परन्तु मिथ्यादृष्टि उसी सुख-दुःखको उपादेय बुद्धिसे 'मै सुखी, मै दुःखी' इत्यादि प्रत्ययके द्वारा तन्मय होकर भोगता है। (और इसीलिए सम्यग्दृष्टि तो विषयोका सेवन करते हुए भी उनका असेवक है और मिथ्यादृष्टि उनका सेवन न करते हुए भी सेवक है) दे० राग/६।

पं. का/ता. वृ./१२५/१८८/२० अज्ञानिना हितं स्रग्वनिताचन्दनादि तत्कारणं दानपूजादि, अहितमहिविषकण्टकादि। सज्ञानिना पुनरक्षयानन्तसुख तत्कारणभूतं निश्चयरत्नत्रयपरिणतं परमात्मद्रव्यं च हितमहितं पुनराकुलत्वोत्पादकं दुःख तत्कारणभूतं मिथ्यात्वरागादिपरिणतमात्मद्रव्यं च। =अज्ञानियोंको हित तो माला, स्त्री, चन्दन आदि पदार्थ तथा इनके कारणभूत दान, पूजादि व्यवहारधर्म है और अहित—विष कण्टक आदि बाह्य पदार्थ है। परन्तु ज्ञानीको हित तो अक्षयानन्त सुख व उसका कारणभूत निश्चयरत्नत्रयपरिणत परमात्मदव्य है और अहित आकुलताको उत्पन्न करनेवाला दुःख तथा उनका कारणभूत मिथ्यात्व व रागादिसे परिणत आत्मद्रव्य है। (विशेष दे० पुण्य/३/४-८)।

मो. मा. प्र./८/३६७/२० (सम्यग्दृष्टि) अपने योग्य धर्म कौ साधै है। तहाँ जेता अंश वीतरागता हो है ताकौं कार्यकारी जानै है, जेता अंश राग रहै है, ताकौ हेय जानैं है। सम्पूर्ण वीतराग ताकौं परमधर्म मानै है। (और भी दे० 'मिश्र')।

२. दोनोंके तत्त्व कर्तृत्वमें अन्तर

न. च. वृ /१६३-१६४ अज्जीवपुण्णपावे असुद्धजीवे तहासवे बंधे सामी मिच्छाइट्ठी समाइट्ठी हवदि सेसे।१६३। सामी सम्मादिट्ठी जिय सवरणिज्जरा मोक्खो। सुद्धो चेयणरूवो तह जाण सुणाणपच्चक्खं। ।१६४। =अजीव, पुण्य, पाप, अशुद्ध जीव, आस्रव और बन्ध इन छह पदार्थोंके स्वामी मिथ्यादृष्टि है, और शुद्ध चेतनारूप जीव तत्त्व, सवर, निर्जरा व मोक्ष इन शेष चार पदार्थोंका स्वामी सम्यग्दृष्टि है।

द्र सं, टी./ अधिकार २/चूलिक/८३/२ इदानीं कस्य पदार्थस्य क कर्त्तेति कथ्यते—बहिरात्मा भण्यते। स चास्रवबन्धपापपदार्थत्रयस्य कर्त्ता भवति। क्वापि काले पुनर्मन्दमिथ्यात्वमन्दकषायोदये सति भोगाकाक्षादिनिदानबन्धेन भाविकाले पापानुबन्धिपुण्यपदार्थस्यापि

कर्ता भवति। यस्तु सम्यग्दृष्टि स संवरनिर्जरामोक्षपदार्थत्रयस्य कर्ता भवति। रागादिविभावरहितपरमसामायिके यदा स्थातु समर्थो न भवति तदा विषयकषायोत्पन्नदुर्ध्यानवञ्चनार्थं संसारस्थितिच्छेदं कुर्वन् पुण्यानुबन्धितीर्थंकरनामप्रकृत्यादिविशिष्टपुण्यपदार्थस्य कर्ता भवति। =अब किस पदार्थका कर्ता कौन है, इस बातका कथन करते हैं। वह बहिरात्मा (प्रधानत) आस्रव, बन्ध और पाप इन तीन पदार्थोंका कर्ता है। किसी समय जब मिथ्यात्व व कषायका मन्द उदय होता है तब आगामी भोगोंकी इच्छा आदि रूप निदान बन्धसे पापानुबन्धी पुण्य पदार्थका भी कर्ता होता है। (परन्तु इनको संवर नहीं होता—दे० अगला सन्दर्भ)। जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह (प्रधानत) संवर, निर्जरा और मोक्ष इन तीन पदार्थोंका कर्ता होता है। और किसी समय जब रागादि विभावोंसे रहित परम सामायिकमें स्थित रहनेमें समर्थ नहीं होता उस समय विषयकषायोंमें उत्पन्न दुर्ध्यानको रोकनेके लिए, संसारकी स्थितिका नाश करता हुआ पुण्यानुबन्धी तीर्थंकर प्रकृति आदि विशिष्ट पुण्य पदार्थका कर्ता होता है। (पं. का/ता. वृ/१२८-१३०/१९३/१४), (स. सा./ता. वृ/१२५/१८०/२१)।

द्र. सं./टी/३४/९९/१० मिथ्यादृष्टिगुणस्थाने संवरो नास्ति, सासादनगुणस्थानेषु⋯ क्रमेणोपर्युपरि प्रकर्षेण संवरो ज्ञातव्य इति। =मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें तो संवर है ही नहीं और सासादन आदि गुणस्थानोंमें (प्रकृतिबन्ध व्युच्छित्तिक्रमके अनुसार—दे० प्रकृतिबन्ध) ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोंमें अधिकतासे संवर जानना चाहिए।

दे० उपयोग II/४/५ (१-३ गुणस्थान तक अशुभोपयोग प्रधान है और ४-७ गुणस्थान तक शुद्धोपयोग साधक शुभोपयोग प्रधान है। इससे भी ऊपर शुद्धोपयोग प्रधान है।)

३. दोनोंके पुण्यमें अन्तर

स सा/ता वृ./२२४-२२७/३०५/१७ कोऽपि जीवोऽभिनवपुण्यकर्मनिमित्तं भोगाकाङ्क्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठान करोति पापानुबन्धि पुण्यराजा कालान्तरे भोगान् ददाति। तेऽपि निदानबन्धेन प्राप्ता भोगा रावणादिवन्नारकादिदु खपरम्परां प्रापयन्तीति भावार्थ.।⋯ कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषायवञ्चनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं करोति तथापि भोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धेन तत्पुण्यकर्मानुष्ठानं न सेवते। तदपि पुण्यानुबन्धिकर्म भवान्तरे · अभ्युदयरूपेणोदयागतमपि पूर्वभवभावितभेदविज्ञानवासनाबलेन भोगाकाङ्क्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान्न ददाति भरतेश्वरादीनामिव। =कोई एक (मिथ्यादृष्टि) जीव नवीन पुण्य कर्मके निमित्तभूत शुभकर्मानुष्ठानको भोगाकांक्षाके निदान रूपसे करता है। तब वह पापानुबन्धी पुण्यरूप राजा कालान्तरमें उसको विषय भोगप्रदान करता है। वे निदानबन्धपूर्वक प्राप्त भोग भी रावण आदि की भाँति उसको अगले भवमें नरक आदि दु खोंकी परम्परा प्राप्त कराते हैं (अर्थात् निदानबन्ध पूर्वक किये गये पुण्यरूप शुभानुष्ठान तीसरे भव नरकादि गतियोंके कारण होनेसे पापानुबन्धीपुण्य कहलाते हैं)। कोई एक सम्यग्दृष्टि जीव निर्विकल्प समाधिका अभाव होनेके कारण अशक्यानुष्ठान रूप विषयकषाय वञ्चनार्थ यद्यपि व्रत, शील, दान, पूजादि शुभ कर्मानुष्ठान करता है परन्तु (मिथ्यादृष्टिकी भाँति) भोगाकांक्षारूप निदानबन्धमें उसका सेवन नहीं करता है। उसका वह कर्म पुण्यानुबन्धी है, भवान्तरमें जिसके अभ्युदयरूपसे उदयमें आनेपर भी वह सम्यग्दृष्टि पूर्वभवमें भावित भेदविज्ञानकी वासनाके बलसे भोगोंकी आकांक्षारूप निदान या रागादि परिणाम नहीं करता है, जैसे कि भरतेश्वर आदि। अर्थात् निदान बन्धरहित बाँधा गया पुण्य सदा पुण्यरूपसे ही फलता है। पापका कारण कदाचित् भी नहीं होता। इसलिए पुण्यानुबन्धी कहलाता है। और भी दे० मिथ्यादृष्टि/४/२)।

स सा /ता. वृ./३२४-३२७/४१४/१६ कोऽपि जीव' पूर्वं मनुष्यभवे जिनरूप गृहीत्वा भोगाकाङ्क्षानिदानबन्धेन पापानुबन्धि पुण्य कृत्वा⋯ अर्धचक्रवर्ती भवति तस्य विष्णुसंज्ञा न चापर.। =कोई जीव पहले मनुष्य भवमें जिनरूपको ग्रहण करके भोगोंकी आकांक्षारूप निदानबन्ध से पापानुबन्धी पुण्य को करके स्वर्ग प्राप्त कर अगले मनुष्य भवमें अर्धचक्रवर्ती हुआ, उसीकी विष्णु संज्ञा है। उससे अतिरिक्त अन्य कोई विष्णु नहीं है। (इसी प्रकार महेश्वरकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भी कहा है।)

दे० पुण्य/५/१,२ (सम्यग्दृष्टिका पुण्य निदान रहित होनेसे निर्जरा व मोक्षका कारण है और मिथ्यादृष्टिका पुण्य निदान सहित होनेसे साक्षात् रूपसे स्वर्गका और परम्परा रूपसे कुगतिका कारण है।)

दे० पूजा/२/४ सम्यग्दृष्टिकी पूजा भक्ति आदि निर्जराके कारण है।

४. दोनोंके धर्मसेवनके अभिप्रायमें अन्तर

पं.का /त. प्र /१३६ अयं हि स्थूललक्ष्यतया केवलभक्तिप्रधानस्याज्ञानिनो भवति। उपरितनभूमिकायामलब्धास्पदस्या स्थानरागनिषेधार्थं तीव्ररागज्वरविनोदार्थं वा कदाचिज्ज्ञानिनोऽपि भवतीति। =यह (प्रशस्त राग) वास्तवमें जो स्थूल लक्षवाला होनेसे मात्र भक्तिप्रधान है ऐसे अज्ञानीको होता है। उच्च भूमिकामें स्थिति प्राप्त न की हो तब आस्थान अर्थात् विषयोंकी ओरका राग रोकनेके हेतु अथवा तीव्र रागज्वर मिटानेके हेतु, कदाचित् ज्ञानीको भी होता है।

द्र. स./टी./५५/२२३/१२ प्राथमिकापेक्षया सविकल्पावस्थायां विषयकषायवञ्चनार्थं चित्तस्थिरीकरणार्थं पञ्चपरमेष्ठ्यादि परद्रव्यमपि ध्येयं भवति। =ध्यान आरम्भ करनेकी अपेक्षासे जो सविकल्प अवस्था है उसमें विषय और कषायोंको दूर करनेके लिए तथा चित्तको स्थिर करनेके लिए पंच परमेष्ठी आदि परद्रव्य भी ध्येय होते हैं। (पं. का./ता. वृ./१५२/२२०/६), (स सा./ता. वृ./९६/१५४/१०), (प. प्र /टी./२/३१/१५१/३)।

दे० धर्म/६/८ (मिथ्यादृष्टि व्यवहार धर्मको ही मोक्षका कारण जानकर करता है, पर सम्यग्दृष्टि निश्चय मार्गमें स्थित होनेमें समर्थ न होनेके कारण करता है।)

दे० मिथ्यादृष्टि/४/२ व ३ (मिथ्यादृष्टि तो आगामी भोगोंकी इच्छासे शुभानुष्ठान करता है और सम्यग्दृष्टि शुद्ध भावमें स्थित होनेमें समर्थ न होनेके कारण तथा कषायोत्पन्न दुर्ध्यानके वंचनार्थ करता है।)

दे० पुण्य/३/४-८ (मिथ्यादृष्टि पुण्यको उपादेय समझकर करता है और सम्यग्दृष्टि उसे हेय जानता हुआ करता है।)

द्र. स./टी./३८/१५९/७ सम्यग्दृष्टिर्जीवस्य पुण्यपापद्वयमपि हेयम्। कथं पुण्यं करोतीति। तत्र युक्तिमाह। यथा कोऽपि देशान्तरस्थमनोहरस्त्रीसमीपादागतपुरुषाणां तदर्थे दानसन्मानादिकं करोति तथा सम्यग्दृष्टिरप्युपादेयरूपेण स्वशुद्धात्मानमेव भावयति चारित्रमोहोदयात्तत्रासमर्थ सन् निर्दोषपरमात्मस्वरूपाणामर्हत्सिद्धानां तदाराधकाचार्योपाध्यायसाधूनां च परमात्मपदप्राप्त्यर्थं विषयकषायवञ्चनार्थं च दानपूजादिना गुणस्तवनादिना वा परमभक्तिं करोति। =प्रश्न—सम्यग्दृष्टि जीवके तो पुण्य और पाप दोनों हेय हैं, फिर वह पुण्य कैसे करता है? उत्तर—जैसे कोई मनुष्य अन्य देशमें विद्यमान किसी मनोहर स्त्रीके पाससे आये हुए मनुष्योंका उस स्त्रीकी प्राप्तिके लिए दान-सम्मान आदि करता है, ऐसे ही सम्यग्दृष्टि जीव भी वास्तवमें तो निज शुद्धात्माको ही भाता है। परन्तु जब चारित्रमोहके उदयसे उस निजशुद्धात्म भावनामें असमर्थ होता

है, तब दोष रहित ऐसे परमात्मस्वरूप अर्हन्त सिद्धोंकी तथा उनके आराधक आचार्य उपाध्याय और साधुकी, परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए, (मुक्तिश्रीको वश करनेके लिए—पं. का), और विषय-कषायोंको दूर करनेके लिए, पूजा, दान आदिसे अथवा गुणोंकी स्तुति आदिसे परमभक्ति करता है। (पं.का./ता वृ./१७०/२४३/११), (प.प्र./टी./२/६१/१८३/२)।

५. दोनोंकी कर्मक्षपणामें अन्तर

भ. आ./मू./१०८/२५५ ज अण्णाणी कम्म खवेदि भवसयसहस्स-कोडीहि। तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि अंतोमुहुत्तेण ।१०८। =जो कर्म अज्ञानी लक्षकोटि भवोंमें खपाता है, वह ज्ञानी त्रिगुप्तिके द्वारा अन्तर्मुहूर्तमात्रमें खपा देता है। (भ. आ /मू./२३४/४५४); (प्र. सा /मू./२३८), (मो. प्रा./मू./५३); (ध १३/५,५,५०/गा.२३/२८१); (पं वि /१/३०)।

भ. आ./मू /७१७/८९१ ज बद्धमसंखेज्जाहि रय भवसदसहस्सकोडीहि। सम्मत्तुप्पत्तीए खवेइ त एयसमएण ।७१७। =करोडों भवोंके संचित कर्मोंको, सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हो जानेपर, साधुजन एक समयमें निर्जीर्ण कर देते है।

६. मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्दृष्टिके आशयको नहीं समझ सकता

स. सा./आ./२२७/क. १५३ ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति क. ।१५३। =ज्ञानी कर्म करता है या नहीं यह कोन जानता है। (ज्ञानीकी बात ज्ञानी ही जानता है। ज्ञानीके परिणामोंको जाननेकी सामर्थ्य अज्ञानीमें नहीं है—प जयचन्द)।

मिथ्या नय—दे० नय/II।

मिथ्या शल्य—दे० मिथ्यादर्शन।

मिनट—कालका एक प्रमाण—दे० गणित/I/१।

मिश्र—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४। २ वसतिका-का एक दोष—दे० वसतिका। ३ एक ही उपयोगमें शुद्ध व अशुद्ध दो अंश—दे० उपयोग/II/३। ४. मिश्र चारित्र अर्थात् एक ही चारित्रमें दो अंश—दे० चारित्र/७/७। ५. व्रत, समिति, गुप्ति आदिमें युगपत् दो अंश—प्रवृत्ति व निवृत्ति —दे० संवर/४। ६ संयम व असंयमकका मिश्रपना —दे० संयतासंयत/२। ७ एक ही संयममें दो अंश—प्रमत्तता व संयम —दे० संयत/३। ८. एक ही श्रद्धान व ज्ञानमें दो अंश—सम्यक् व मिथ्या —दे० आगे 'मिश्र' गुणस्थान। ९. मिश्र प्रकृति—दे० मोहनीय।

मिश्र (गुणस्थान)—दही व गुडके मिश्रित स्वादवत् सम्यक् व मिथ्यारूप मिश्रित श्रद्धान व ज्ञानको धारण करनेकी अवस्था विशेष सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्रगुणस्थान कहलाता है। सम्यक्त्वसे गिरते समय अथवा मिथ्यात्वसे चढते समय क्षणभरके लिए इस अवस्थाका वेदन होना सम्भव है।

१. मिश्रगुणस्थान निर्देश

१. सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानका लक्षण

पं. सं /१/१०,१६९ दहिगुडमिव वामिस्सं पिहुभावं णेव कारिदुं सक्कं। एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ।१०। सद्दहणासद्दहणं जस्स य जीवेसु होइ तच्चेसु। विरयाविरएण समो सम्मामिच्छो त्ति णायव्वो ।१६९। =१ जिस प्रकार अच्छी तरह मिला हुआ दही और गुड पृथक् पृथक् नहीं किया जा सकता इसी प्रकार सम्यक्त्व व मिथ्यात्वसे मिश्रित भावको सम्यग्मिथ्यात्व जानना चाहिए ।१०। (ध. १/१,१२/गा.१०६/१७०), (गो. जी./मू./२२/४७)। २. जिसके उदयसे जीवोंके तत्त्वोंमें श्रद्धान और अश्रद्धान युगपत् प्रगट होते हैं, उसे विरताविरतके समान सम्यग्मिथ्यात्व जानना चाहिए ।१६९। (गो. जी /मू./६५५/११०२)।

रा वा./९/१/१४/५८९/२३ सम्यङ्मिथ्यात्वसंज्ञिकायाः प्रकृतेरुदयात् आत्मा क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रवोपयोगापादितेषत्कलुषपरिणामवत् तत्त्वार्थश्रद्धानाश्रद्धानरूपः सम्यग्मिथ्यादृष्टिरित्युच्यते =क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंके उपभोगसे जैसे कुछ मिला हुआ मदपरिणाम होता है, उसी तरह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे तत्त्वार्थका श्रद्धान व अश्रद्धानरूप मिला हुआ परिणाम होता है। यही तीसरा सम्यङ्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान है।

ध. १/१,१,११/१६६/७ दृष्टिः श्रद्धा रुचि प्रत्यय इति यावत्। समीचीना च मिथ्या च दृष्टिर्यस्यासौ सम्यग्मिथ्यादृष्टिः। =दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची नाम हैं। जिस जीवके समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकारकी दृष्टि होती है उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहते है।

गो. जी /मू./२१/४६ सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण। णय सम्म मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ।२१। =जात्यन्तर-रूप सर्वघाती सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे केवल सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है, उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं।

ल. सा./मू./१०७/१४५ मिस्सुदये सम्मिस्सं दहिगुडमिस्सं व तच्चमियरेण सद्दहदि एक्कसमये···।१०७। =सम्यग्मिथ्यात्व नामा मिश्र प्रकृतिके उदयसे यह जीव मिश्र गुणस्थानवर्ती होता है। दही और गुडके मिले हुए स्वादकी तरह यह जीव एक ही समयमें तत्त्व व अतत्त्व दोनोंकी मिश्ररूप श्रद्धा करता है। (द्र. सं./टी./१३/३३/२)।

२. प्रथम या चतुर्थ दो ही गुणस्थानोंमें जा सकता है

ध. ४/१,५,९/३४३/८ तस्स मिच्छत्तसम्मत्तसहिदासंजदगुणे मोत्तूण गुणतरगमणाभावा। =सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवका मिथ्यात्वसहित मिथ्यादृष्टि गुणस्थानको अथवा सम्यक्त्वसहित असंयत गुणस्थानको छोडकर अन्य गुणस्थानोंमें गमनका अभाव है।

३. संयम धारनेकी योग्यता नहीं है

ध. ४/१,५,१७/गा. ३३/३४९ ण य मरइ णेव संजममुवेइ तह देससंजमं वावि। सम्मामिच्छादिट्ठी ।३३। =सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव न संयमको प्राप्त होता है और न देश संयमको। (गो. जी./मू./२३/४८)।

* मिश्र गुणस्थानमें मृत्यु सम्भव नहीं—दे० मरण/३।

४. मिश्र गुणस्थानका स्वामित्व

ध. ५/१,८,१२/२५०/७ सम्मामिच्छत्तगुणं पुण वेदगुवसमसम्मादिट्ठिणो अट्ठावीससंतकम्मियमिच्छादिट्ठिणो य पडिवज्जंति। =सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको वेदकसम्यग्दृष्टि, उपशमसम्यग्दृष्टि और मोहकर्मकी २८ प्रकृतियोंकी सत्तावाले मिथ्यादृष्टि जीव भी प्राप्त होते हैं। (अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि या जिन्होंने सम्यक्त्व व सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतियोंकी उद्वेलना कर दी है ऐसे मिथ्यादृष्टि 'सम्यग्मिथ्यादृष्टि' गुणस्थानको प्राप्त नहीं होते)।

ध १५/११८/८ एइंदिएसु उव्वेल्लिदसम्मामिच्छत्तट्ठिदिसंतकम्मस्सेव पलिदोवमस्स असंखेज्जदिभागेण ऊणसागरोवममेत्तट्ठिदिसंतकम्मे सेसे सम्मामिच्छत्तग्गहणपाओग्गस्सुवलंभादो। जो पुण तसेसु एइंदियट्ठिदिसंतसमं सम्मामिच्छत्तं कुणइ सो पुव्वमेव सागरोवम-

पुधत्ते सेसे चेव तदपाओग्गा होदि । =जिसने एकेन्द्रियोंमें सम्यग्मिथ्यात्वके स्थितिसत्त्वकी उद्वेलना की है उसके ही पल्योपमके असंख्यातवें भागसे हीन एक सागरोपम मात्र स्थिति सत्त्वके रहनेपर सम्यग्मिथ्यात्वके ग्रहणकी योग्यता पायी जाती है। परन्तु जो त्रस जीवोंमें एकेन्द्रियके स्थितिसत्त्वके बराबर सम्यग्मिथ्यात्वके स्थितिसत्त्वको करता है, वह पहले ही सागरोपमपृथक्त्वप्रमाण स्थितिके शेष रहनेपर ही उसके ग्रहणके अयोग्य हो जाता है।

दे. सत्–(इस गुणस्थानमें एक सञ्ज्ञी पर्याप्तक ही जीव समास सम्भव है, एकेन्द्रियादि असञ्ज्ञी पर्यंतके जीव तथा सर्व ही प्रकारके अपर्याप्तक जीव इसको प्राप्त नहीं कर सकते)।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. जीव समास, मार्गणास्थान आदिके स्वामित्व सम्बन्धी २० प्ररूपणाएँ —दे० सत्।
२. सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व प्ररूपणाएँ —दे० वह-वह नाम।
३. इस गुणस्थानमें आय व व्ययका सन्तुलन —दे० मार्गणा
४. इसमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व —दे० वह-वह नाम
५ राग व विरागताका मिश्रित भाव —दे० उपयोग/३।
६ इस गुणस्थानमें क्षायोपशमिक भाव होता है —दे० भाव/२।

५. ज्ञान भी सम्यक् व मिथ्या उभयरूप होता है।

रा वा./६/१/१४/५८६/२५ अत एवास्य त्रीणि ज्ञानानि अज्ञानमिश्राणि इत्युच्यन्ते। =इसके तीनों ज्ञान अज्ञानसे मिश्रित होते हैं (गो.जी./मू /३०२/६५३) (दे० सत्)।

२. मिश्र गुणस्थान सम्बन्धी शंका समाधान

१. ज्ञान व अज्ञानका मिश्रण कैसे सम्भव है

ध. १/१.१.११६/३६३/१० यथार्थश्रद्धानुविद्धावगमो ज्ञानम्, अयथार्थश्रद्धानुविद्धावगमोऽज्ञानम्। एवं च सति ज्ञानाज्ञानयोर्भिन्नजीवाधिकरणयोर्न मिश्रणं घटत इति चेत्सत्यमेतदिष्टत्वात्। किन्त्वत्र सम्यग्मिथ्यादृष्टावेव सा ग्रही' यत सम्यग्मिथ्यात्वं नाम कर्म न तन्मिथ्यात्वं तस्मादनन्तगुणहीनशक्तेस्तस्य विपरीताभिनिवेशोत्पादसामर्थ्याभावात्। नापि सम्यक्त्वं तस्मादनन्तगुणशक्तेस्तस्य यथार्थश्रद्धया साहचर्याविरोधात्। ततो जात्यन्तरत्वात् सम्यग्मिथ्यात्वं जात्यन्तरीभूतपरिणामस्योत्पादकम्। ततस्तदुदयजनितपरिणामसमवेतबोधो न ज्ञानं यथार्थश्रद्धयानुविद्धत्वात्। नाप्यज्ञानमयथार्थश्रद्धयासंगतत्वात्। ततस्तज्ज्ञानं सम्यग्मिथ्यात्वपरिणामवज्जात्यन्तरापन्नमित्येकमपि मिश्रमित्युच्यते। =प्रश्न—यथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको ज्ञान कहते हैं और अयथार्थ श्रद्धासे अनुविद्ध अवगमको अज्ञान कहते हैं। ऐसी हालतमें भिन्न-भिन्न जीवोंके आधारसे रहनेवाले ज्ञान और अज्ञानका मिश्रण नहीं बन सकता है। उत्तर—यह कहना सत्य है, क्योंकि, हमें यही इष्ट है। किन्तु यहाँ सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें यह अर्थ ग्रहण नहीं करना चाहिए, क्योंकि, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व तो हो नहीं सकता, क्योंकि, उसमे अनन्तगुणी हीन शक्तिवाले सम्यग्मिथ्यात्वमें विपरीताभिनिवेशको उत्पन्न करनेकी सामर्थ्य नहीं पायी जाती है। और न वह सम्यक्प्रकृतिरूप ही है, क्योंकि, उससे अनन्तगुणी अधिक शक्तिवाले सम्यग्मिथ्यात्वका यथार्थ श्रद्धानके साथ साहचर्य सम्बन्धका विरोध है। इसलिए जात्यन्तर होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व (कर्म) जात्यन्तररूप परिणामोंका ही उत्पादक है। अत उसके उदयसे उत्पन्न हुए परिणामोंसे युक्त ज्ञान 'ज्ञान' इस सञ्ज्ञाको प्राप्त हो नहीं सकता है, क्योंकि, उस ज्ञानमें यथार्थ श्रद्धाका अन्वय नहीं पाया जाता है। और उसे अज्ञान भी नहीं कह सकते है, क्योंकि, वह अयथार्थ श्रद्धाके साथ सम्पर्क नहीं रखता है। इसलिए वह ज्ञान सम्यग्मिथ्यात्व परिणामकी तरह जात्यन्तर रूप अवस्थाको प्राप्त है। अत एक होते हुए भी मिश्र कहा जाता है।

२. जात्यन्तर ज्ञानका तात्पर्य

ध १/१.१.११६/३६४/५ यथार्थ प्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमो ज्ञानम्। यथायथमप्रतिभासितार्थप्रत्ययानुविद्धावगमोऽज्ञानम्। जात्यन्तरीभूतप्रत्ययानुविद्धावगमो जात्यन्तर ज्ञानम्, तदेव मिश्रज्ञानमिति राद्धान्तविदो व्याचक्षते। =यथावस्थित प्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको ज्ञान कहते हैं। न्यूनता आदि दोषोंसे युक्त यथावस्थित अप्रतिभासित हुए पदार्थके निमित्तसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी बोधको अज्ञान कहते हैं। और जात्यन्तररूप कारणसे उत्पन्न हुए तत्सम्बन्धी ज्ञानको जात्यन्तर ज्ञान कहते है। इसीका नाम मिश्रगुणस्थान है, ऐसा सिद्धान्तको जाननेवाले विद्वान् पुरुष व्याख्यान करते है।

३. मिश्रगुणस्थानमें अज्ञान क्यों नहीं कहते

ध. ५/१ ७,४५/२२४/७ तिसु अण्णाणेसु णिरुद्धेसु सम्मामिच्छादिट्ठिभावो किण्ण परूविदो। ण, तस्स सद्दहणासद्दहणेहि दोहिं मि अक्कमेण अणुविद्धस्स संजदासंजदो व्व पत्तजच्चंतरस्स णाणेसु अण्णाणेसु वा अत्थित्तविरोहा। =प्रश्न– तीनों अज्ञानोंको निरुद्ध अर्थात् आश्रय करके उनकी भाव प्ररूपणा करते हुए सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानका भाव क्यों नहीं बतलाया। उत्तर—नहीं, क्योंकि, श्रद्धान और अश्रद्धान, इन दोनोसे एक साथ अनुविद्ध होनेके कारण संयतासंयतके समान भिन्न जातीयताको प्राप्त सम्यग्मिथ्यात्वका पाँचों ज्ञानोंमें, अथवा तीनो अज्ञानोंमें अस्तित्व होनेका विरोध है।

*** युगपत् दो रुचि कैसे सम्भव है—दे० अनेकान्त/५/१.२**

४. संशय व विनय मिथ्यात्व तथा सम्यग्मिथ्यात्वमें क्या अन्तर है

द्र स./टी /१३/३३/४ अथ मत—येन केनाप्येकेन मम देवेन प्रयोजनं तथा सर्वे देवा वन्दनीया न च निन्दनीया इत्यादि वैनयिकमिथ्यादृष्टि संशयमिथ्यादृष्टिर्वा तथा मन्यते, तेन सह सम्यग्मिथ्यादृष्टे को विशेष इति, अत्र परिहार —स सर्वदेवेषु सर्वसमयेषु च भक्तिपरिणामेन येन केनाप्येकेन मम पुण्यं भविष्यतीति मत्वा संशयरूपेण भक्तिं कुरुते निश्चयो नास्ति। मिश्रस्य पुनरुभयत्र निश्चयोऽस्तीति विशेष'। =प्रश्न—चाहे जिससे हो, मुझे तो एक देवसे मतलब है, अथवा सभी देव वन्दनीय है, निन्दा किसी भी देवकी नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार वैनयिक और संशय मिथ्यादृष्टि मानता है। तब उसमें तथा मिश्र गुणस्थानवर्ती सम्यग्मिथ्यादृष्टिमें क्या अन्तर है? उत्तर—वैनयिक तथा संशय मिथ्यादृष्टि तो सभी देवोंमें तथा सब शास्त्रोंमें से किसी एकसे भी भक्तिके परिणाममे मुझे पुण्य होगा, ऐसा मानकर संशयरूपसे भक्ति करता है, उसको किसी एक देवमें निश्चय नहीं है। और मिश्रगुणस्थानवर्ती जीवके दोनोमें निश्चय है। बस यही अन्तर है।

५. पर्याप्तक ही होनेका नियम क्यों

ध १/१.१.९५/३३५/३ कथं। तेन गुणेन सह तेषां मरणाभावात्। अपर्याप्तकालेऽपि सम्यग्मिथ्यात्वगुणस्योत्पत्तेरभावाच्च। नियमेऽभ्यु-

पगम्यमाने एकान्तवाद' प्रसजतीति चेन्न, अनेकान्तगर्भैकान्तस्य सत्त्वाविरोधात् ।=प्रश्न—यह कैसे (अर्थात् सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें देव पर्याप्त ही होते है, सो कैसे) ? उत्तर—क्योंकि, तीसरे गुणस्थानके साथ मरण नही होता है (दे.मरण/३), तथा अपर्याप्तकालमें भी सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति नही होती। प्रश्न—'तृतीय गुणस्थानमे पर्याप्त ही होते हैं' इस प्रकार नियमके स्वीकार कर लेने पर तो एकान्तवाद प्राप्त होता है । उत्तर—नही, क्योंकि अनेकान्त गर्भित एकान्तवादके माननेमें कोई विरोध नहीं आता।

६. इस गुणस्थानमें क्षायोपशमिकपना कैसे है

ध. १/१,१,११/१६८/१ कथं मिथ्यादृष्टेः सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपद्यमानस्य तावदुच्यते। तद्यथा, मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकानामुदयक्षयात्तस्यैव सत उदयाभावलक्षणोपशमात्सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयाच्चोत्पद्यत इति सम्यग्मिथ्यात्वगुणः क्षायोपशमिकः।

ध १/१,१,११/१६९/२ अथवा, सम्यक्त्वकर्मणो देशघातिस्पर्धकानामुदयक्षयेण तेषामेव सतामुदयाभावलक्षणोपशमेन च सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणः सर्वघातिस्पर्धकोदयेन च सम्यग्मिथ्यात्वगुण उत्पद्यत इति क्षायोपशमिकः। सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमेवमुच्यते बालजनव्युत्पादनार्थम् । वस्तुतस्तु सम्यग्मिथ्यात्वकर्मणो निरन्वयेनाप्तागमपदार्थविषयरुचिहनन प्रत्यसमर्थस्योदयात्सदसद्विषयश्रद्धोत्पद्यत इति क्षायोपशमिक सम्यग्मिथ्यात्वगुणः। अन्यथोपशमसम्यग्दृष्टौ सम्यग्मिथ्यात्वगुणं प्रतिपन्ने सति सम्यग्मिथ्यात्वस्य क्षायोपशमिकत्वमनुपपन्नं तत्र सम्यक्त्व-मिथ्यात्वानन्तानुबन्धिनामुदयक्षयाभावात् । =प्रश्न—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेवाले जीवके क्षायोपशमिक भाव कैसे सम्भव है। उत्तर—१. वह इस प्रकार है, कि वर्तमान समयमें मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंका उदयाभावीक्षय होनेसे, सत्तामें रहनेवाले उसी मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान पैदा होता है, इसलिए वह क्षायोपशमिक है। २. अथवा सम्यक्त्वप्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंका उदयक्षय होनेसे, सत्तामें स्थित उन्हीं देशघाती स्पर्धकोका उदयाभाव लक्षण उपशम होनेसे और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोके उदय होनेसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान उत्पन्न होता है इसलिए वह क्षायोपशमिक है। ३ यहाँ इस तरह जो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको क्षायोपशमिक कहा है वह केवल सिद्धान्तके पाठका प्रारम्भ करनेवालोंके परिज्ञान करानेके लिए ही कहा गया है। (परन्तु ऐसा कहना घटित नही होता, दे. आगे/शीर्षक नं.७) वास्तव में तो सम्यग्मिथ्यात्व कर्म निरन्वयरूपसे आप्त आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धाके नाश करनेके प्रति असमर्थ है, किन्तु उसके उदयसे समीचीन और असमीचीन पदार्थको युगपत् विषय करनेवाली श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान क्षायोपशमिक कहा जाता है। अन्यथा उपशमसम्यग्दृष्टिके सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होनेपर उसमें क्षयोपशमपना नही बन सकता है, क्योकि उस जीवके ऐसी अवस्थामें सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी इन तीनोका ही उदयाभावी क्षय नही पाया जाता।

ध १४/५,६,१९/२१/८ सम्मामिच्छत्तदेसघादिफद्दयाणमुदएण तस्सेव सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावेण उवसमक्खणिदेण सम्मामिच्छत्तमुप्पज्जदि त्ति तदुभयपच्चइयत्त ।=४. [सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति सर्वघाती नहीं है अन्यथा उसके उदय होनेपर सम्यक्त्वके अशकी भी उत्पत्ति नहीं बन सकती—दे अनुभाग/६/इसलिए] सम्यग्मिथ्यात्वके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे और उसीके सर्वघाती स्पर्धकोंके उपशम सज्ञावाले उदयाभावसे सम्यग्मिथ्यात्वकी उत्पत्ति होती है, इसलिए वह तदुभयप्रत्ययिक अर्थात् उदयोपशमिक कहा जा सकता है, पर क्षायोपशमिक नहीं।

७. मिश्रगुणस्थानकी क्षायोपशमिकतामें उपरोक्त लक्षण घटित नहीं होते

ध. ५/१,७,४,/१९९/४ मिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतामुवसमेण•• त्ति सम्मामिच्छत्तस्स खओवसमियत्तं केई परूवयंति, तण्ण घडदे, मिच्छत्तभावस्स वि खओवसमियत्तप्पसंगा। कुदो। सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण सम्मत्तदेसघादिफद्दयाणमुदयक्खएण तेसिं चेव संतोवसमेण अणुदओवसमेण वा मिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदएण मिच्छत्तभावुप्पत्तीए उवलंभा।=कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि मिथ्यात्व या सम्यक्प्रकृतिके उदयाभावी क्षय व सदवस्थारूप उपशम तथा सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है—(दे. मिश्र/६/१,२), किन्तु उनका यह कहना घटित नहीं होता है, क्योंकि, ऐसा माननेपर तो मिथ्यात्व भावके भी क्षायोपशमिकताका प्रसंग प्राप्त होगा, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयक्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे और सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघाती स्पर्धकोंके उदय क्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे अथवा अनुदयरूप उपशममे तथा मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे मिथ्यात्वभावकी उत्पत्ति पायी जाती है। [अत पूर्वोक्त शीर्षक नं. ६ मे कहा गया लक्षण नं.३ ही युक्त है] (ध. १/१,१,११/१७०/१); (और भी दे. शीर्षक न. ११)

८. सर्वघाती प्रकृतिके उदयसे होनेके कारण इसे क्षायोपशमिक कैसे कह सकते हो

ध. ७/२,१,७९/११०/७ सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदएण सम्मामिच्छादिट्ठी जदो होदि तेण तस्स खओवसमिओ त्ति ण जुज्जदे।••ण सम्मामिच्छत्तफद्दयाणं सव्वघादित्तमत्थि,••ण च एत्थ सम्मत्तस्स णिम्मूलविणासं पेच्छामो सब्भूदासब्भूदत्थेसु तुल्लसद्दहणदंसणादो। तदो जुज्जदे सम्मामिच्छत्तस्स खओवसमिओ भावो।=प्रश्न—चूँकि सम्यग्मिथ्यात्व नामक दर्शनमोहनीय प्रकृतिके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयसे सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है (दे मिश्र २/६/१), इसलिए उसके क्षायोपशमिकभाव उपयुक्त नहीं है? उत्तर—सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके स्पर्धकोंमें सर्वघातीपना नहीं होता, क्योकि इस गुणस्थानकी उत्पत्तिमें हम सम्यक्त्वका निर्मूल विनाश नहीं देखते, क्योकि, यहाँ सद्भूत और असद्भूत पदार्थोंमें समान श्रद्धान होना देखा जाता है (और भी दे. अनुभाग/६)। इसलिए सम्यग्मिथ्यात्वकी क्षायोपशमिक भाव मानना उपयुक्त है।

ध. ५/१,७,४/१९८/२ पडिबंधिकम्मोदए संते वि जो उवलब्भइ जीवगुणावयवो सो खओवसमिओ उच्चइ। कुदो। सव्वघादणसत्तीए अभावो खओ उच्चदि। खओ चेव उवसमो खओवसमो, तम्हि जादो भावो खओवसमिओ। ण च सम्मामिच्छत्तुदए संते सम्मत्तस्स कणिया वि उव्वरदि, सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघादित्तणहाणुववत्तीदो। तदो सम्मामिच्छत्तं खओवसमियमिदि ण घडदे। एत्थ परिहारो उच्चदे—सम्मामिच्छत्तुदए सते सद्दहणासद्दहणप्पओ करंचिओ जीवपरिणामो उप्पज्जइ। तत्थ जो सद्दहणंसो सो सम्मत्तावयवो। त सम्मामिच्छत्तुदओ ण विणासेदि त्ति सम्मामिच्छत्तं खओवसमियं। असद्दहणभागेण विणा सद्दहणभागस्सेव सम्मामिच्छत्तववएसो ण त्थित्ति ण सम्मामिच्छत्तं खओवसमियमिदि चे एवंविहविवक्खाए सम्मामिच्छत्तं खओवसमियं मा होदु, किंतु अवयव्यव-

यवनिराकरणानिराकरणं पडुच्च खओवसमियं सम्मामिच्छत्तदव्व-कम्म पि सव्वघादी चेव होदु, जच्चंतरस्स सम्मामिच्छत्तस्स सम्मत्ताभावादो। किंतु सद्दहणभागो असद्दहणभागो ण होदि, सद्दहणा-सद्दहणाणमेयत्तविरोहादो। ण च सद्दहणभागो कम्मोदयजणिओ, तत्थ विवरीयत्ताभावा। ण य तत्थ सम्मामिच्छत्तववएसाभावो, समुदाएसु पयट्टाणं तदेगदेसे वि पउत्तिदंसणादो। तदो सिद्ध सम्मामिच्छत्त खओवसमियमिदि। =प्रश्न--प्रतिबन्धी कर्मका उदय होनेपर जो जीवके गुणका अवयव पाया जाता है, वह गुणाश क्षायोपशमिक कहलाता है, क्योंकि, गुणोके सम्पूर्णरूपसे घातनेकी शक्तिका अभाव क्षय कहलाता है। क्षयरूप ही जो उपशम होता है, वह क्षयोपशम कहलाता है (दे० क्षयोपशम/१)। उस क्षयोप-शममें उत्पन्न होनेवाला भाव क्षायोपशमिक कहलाता है। किन्तु सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके उदय रहते हुए सम्यक्त्वकी कणिका भी अवशिष्ट नही रहती है, अन्यथा, सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके सर्वघाती-पना बन नहीं सकता है। इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक है, यह कहना घटित नही होता। उत्तर—सम्यग्मिथ्यात्वकर्मके उदय होनेपर श्रद्धानाश्रद्धानात्मक कथंचित अर्थात् शबलित या मिश्रित जीव परिणाम उत्पन्न होता है। उसमें जो श्रद्धानाश है, वह सम्यक्त्वका अवयव है। उसे सम्यग्मिथ्यात्व कर्मका उदय नहीं नष्ट कर सकता है, इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायोपशमिक है। प्रश्न—अश्रद्धान भागके बिना केवल श्रद्धान भागके ही 'सम्य-ग्मिथ्यात्व' यह सज्ञा नही है, इसलिए सम्यग्मिथ्यात्व भाव क्षायो-पशमिक नही है। उत्तर—उक्त प्रकारकी विवक्षा होनेपर सम्य-ग्मिथ्यात्वभाव क्षायोपशमिक भले ही न होवे, किन्तु अवयवीके निराकरण और अवयवके निराकरणकी अपेक्षा वह क्षायोपशमिक है। अर्थात् सम्यग्मिथ्यात्वके उदय रहते हुए अवयवीरूप सम्यक्त्व गुणका तो निराकरण रहता है और सम्यक्त्वका अवयवरूप अश प्रगट रहता है। इस प्रकार क्षायोपशमिक भी वह सम्यग्मिथ्यात्व द्रव्यकर्म सर्वघाती ही होवे (और भी दे० अनुभाग/६), क्योकि, जात्यन्तरभूत सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके सम्यक्त्वका अभाव है। किन्तु श्रद्धानभाग अश्रद्धानभाग नहीं हो जाता है, क्योंकि श्रद्धान और अश्रद्धानके एकताका विरोध है। और अश्रद्धान भाग कर्मोदय-जनित भी नही है, क्योंकि, इसमें विपरीतताका अभाव है। और न उनमें सम्यग्मिथ्यात्व सज्ञाका ही अभाव है, क्योकि, समुदायों-में प्रवृत्त हुए शब्दोंकी उनके एकदेशमें भी प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सम्यग्मिथ्यात्व क्षायोपशमिक भाव है।

९. सम्यग्मिथ्यात्वमें सम्यक्त्वका अंश कैसे सम्भव है

ध. ५/१,७,१२/२०८/२ सम्मामिच्छत्तभावे पत्तजच्चतरे असांसीभावो णत्थि त्ति ण तत्थ सम्मद्दसणस्स एगदेस इदि चे, होदु णाम अभेद-विवक्खाए जच्चतरत्तं। भेदे पुण विवक्खिदे सम्मद्दसणभागो अत्थि चेव, अण्णहा जच्चतरत्तविरोहा। ण च सम्मामिच्छत्तस्स सव्वघाइत्तमेवं सते निरुज्झइ, पत्तजच्चंतरे सम्मद्दंसणंसाभावादो तस्स सव्वघाइत्ताविरोहा। =प्रश्न—जात्यन्तर भावको प्राप्त सम्य-ग्मिथ्यात्व भावमें अशांशी भाव नही है, इसलिए उसमे सम्यग्-दर्शनका एकदेश नहीं है। उत्तर—अभेदकी विवक्षामें सम्यग्-मिथ्यात्वके भिन्नजातीयता भले ही रही आवे, किन्तु भेदकी विवक्षा करनेपर उसमें सम्यग्दर्शनका अश है ही। यदि ऐसा न माना जाये तो, उसके जात्यन्तरत्वके माननेमें विरोध आता है। और ऐसा माननेपर सम्यग्मिथ्यात्वके सर्वघातीपना भी विरोधको प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि उसके भिन्नजातीयता प्राप्त होनेपर सम्य-ग्दर्शनके एकदेशका अभाव है, इसलिए उसके सर्वघातीपना माननेमें कोई विरोध नहीं आता है।

१०. मिश्रप्रकृतिके उदयसे होनेके कारण इसे औदयिक क्यों नहीं कहते

ध. १/१,१,११/१६८/३ सतामपि सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन औदयिक इति किमिति न व्यपदिश्यत इति चेन्न, मिथ्यात्वोदयादिवात' सम्य-क्त्वस्य निरन्वयविनाशानुपलम्भात्। =प्रश्न—तीसरे गुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय होनेसे वहाँ औदयिक भाव क्यो नहीं कहा है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे जिसप्रकार सम्यक्त्वका निरन्वय नाश होता है उसप्रकार सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति-के उदयसे सम्यक्त्वका निरन्वय नाश नहीं पाया जाता है, इसलिए तीसरे गुणस्थानमें औदयिकभाव न कहकर क्षायोपशमिक भाव कहा है।

११. मिथ्यात्वादि प्रकृतियोंके क्षय व उपशमसे इसकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं

ध. १/१,१,११/१६८/७ मिथ्यात्वक्षयोपशमादिवानन्तानुबन्धिनामपि सर्वघातिस्पर्धकक्षयोपशमाज्जातमिति सम्यग्मिथ्यात्वं किमिति नोच्यत इति चेन्न, तस्य चारित्रप्रतिबन्धकत्वात्। ये त्वनन्तानु-बन्धिक्षयोपशमादुत्पत्ति प्रतिजानते तेषा सासादनगुण औदयिक' स्यात्, न चैवमनभ्युपगमात्। =प्रश्न—जिस तरह मिथ्यात्वके क्षयोपशमसे सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानकी उत्पत्ति बतलायी है, उसी प्रकार वह अनन्तानुबन्धी कर्मके सर्वघाती स्पर्धकोके क्षयोपशमसे होता है, ऐसा क्यों नहीं कहा। उत्तर—नही, क्योंकि, अनन्तानु-बन्धी कपाय चारित्रका प्रतिबन्ध करती है (और इस गुणस्थानमें श्रद्धानकी प्रधानता है) जो आचार्य अनन्तानुबन्धीकर्मके क्षयोप-शमसे तीसरे गुणस्थानकी उत्पत्ति मानते है, उनके मतसे सासादन गुणस्थानको औदयिक मानना पडेगा। पर ऐसा नही है, क्योंकि, दूसरे गुणस्थानको औदयिक नहीं माना गया है।

दे० क्षयोपशम/२/४ [मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी और सम्यक्त्वप्रकृति इन तीनोका उदयाभावरूप उपशम होते हुए भी मिश्रगुणस्थानको औपशमिक नही कह सकते।]

* १४ मार्गणाओंमें सम्भव मिश्र गुणस्थान विषयक शंका समाधान—दे० वह वह नाम।

मिश्रकेशा—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी। —दे० लोक/७।

मिश्र प्रकृति—दे० मोहनीय।

मिश्रमत—दे० मीमासा दर्शन।

मिश्रानुकंपा—दे० अनुकपा।

मिश्रोपयोग—दे० उपयोग/II/३।

मिष्ट संभाषण—दे० सत्य।

मिहिरकुल—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह हूणवश-का अन्तिम राजा था। तोरमाणका पुत्र था। इसने ई० ५०७ में राजा भानुगुप्तको परास्त करके गुप्तवशको नष्टप्राय कर दिया था। यह बहुत अत्याचारी था, जिसके कारण 'कल्की' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके अत्याचारोसे तंग आकर गुप्त वंशकी बिखरी हुई शक्ति एक बार पुन सगठित हो गयी और राजा विष्णु यशोधर्मकी अध्य-क्षतामें ई. ५३३ में (किन्हीं के मतानुसार ई० ५२८ में) उसने मिहिर-कुलको परास्त करके भगा दिया। उसने भागकर कश्मीरमें शरण ली और ई० ५४० में वहाँ ही उसकी मृत्यु हो गयी। समय—वी. नि. १०३३-१०५६ (ई० ५०७-५३३)—(विशेष दे० इतिहास/३/१)।

मीमांसा—दे० ऊहा—ईहा, ऊहा, अपोहा, मार्गणा, गवेषणा और मीमांसा ये ईहाके पर्यायनाम हैं। (और भी—दे० विचय)

ध. १३/५,५,३८/११ मीमांस्यते विचार्यते अवगृहीतोऽर्थो विशेषरूपेण अनया इति मीमांसा। =अवग्रहके द्वारा ग्रहण किया अर्थ विशेषरूपसे जिसके द्वारा मीमांसित किया जाता है अर्थात् विचारा जाता है वह मीमांसा है।

मीमांसा दर्शन—* वैदिक दर्शनोंका विकास क्रम व समन्वय—दे० दर्शन।

१. मीमांसा दर्शनका सामान्य परिचय

(षड्दर्शन समुच्चय/६८/६६): (स्या. म./परि० च/४३८) मीमांसा-दर्शनके दो भेद हैं—१. पूर्वमीमांसा व उत्तरमीमांसा। यद्यपि दोनों मौलिक रूपसे भिन्न हैं, परन्तु 'बौधायन'ने इन दोनों दर्शनोंको 'संहित' कहकर उल्लेख किया है तथा 'उपवर्ष' ने दोनों दर्शनोंपर टीकाएँ लिखी हैं, इसीसे विद्वानोंका मत है कि किसी समय ये दोनों एक ही समझे जाते थे। २. इनमेंसे उत्तरमीमांसाको ब्रह्ममीमांसा या वेदान्त भी कहते हैं, इसके लिए—दे० वेदान्त)। ३. पूर्वमीमांसाके तीन सम्प्रदाय हैं—कुमारिलभट्टका 'भाट्टमत', प्रभाकर मिश्रका 'प्राभाकरमत' या 'गुरुमत'; तथा मंडन या मुरारीमिश्रका 'मिश्रमत'। इनका विशेष परिचय निम्न प्रकार है।

२ प्रवर्तक, साहित्य व समय—(स. म./परि० ङ/४३६) पूर्वमीमांसा दर्शनके मूल प्रवर्तक वेदव्यासके शिष्य जैमिनिऋषि थे, जिन्होंने ई. पू. २०० में 'जैमिनीसूत्र' की रचना की। ई. श. ४ में शबरस्वामी ने इसपर 'शबरभाष्य' लिखा, जो पीछे आनेवाले विचारकों व लेखकोंका मूल आधार बना। इसपर प्रभाकर मिश्रने ई० ६५० में और कुमारिलभट्ट ने ई० ७०० में स्वतन्त्र टीकाएँ लिखीं। प्रभाकरकी टीकाका नाम 'बृहती' है। कुमारिलकी टीका तीन भागोंमें विभक्त है—'श्लोकवार्तिक', 'तन्त्रवार्तिक' और 'टुपटीका'। तत्पश्चात् मंडन या मुरारीमिश्र हुए, जिन्होंने 'विधिविवेक', 'मीमांसानुक्रमणी' और कुमारिलके तन्त्रवार्तिकपर टीका लिखी। पार्थसारथिमिश्र ने कुमारिलके श्लोकवार्तिकपर 'न्याय रत्नाकर,' 'शास्त्रदीपिका', 'तन्त्ररत्न' और 'न्यायरत्नमाला' लिखी। सुचरित्र मिश्रने 'श्लोकवार्तिक'की टीका और काशिका व सोमेश्वर भट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक टीका' और 'न्यायसुधा' नामक ग्रन्थ लिखे। इनके अतिरिक्त भी श्रीमाधवका 'न्यायमालाविस्तर,' 'मीमांसा न्यायप्रकाश', लौगाक्षि भास्करका 'अर्थ संग्रह' और खण्डदेवकी 'भाट्टदीपिका' आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

३. तत्त्व विचार

१. प्रभाकरमिश्र या गुरुमतकी अपेक्षा—१. पदार्थ आठ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, संख्या, शक्ति व सादृश्य। लक्षणोंके लिए—दे० वैशेषिक दर्शन। २ द्रव्य नौ हैं—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, काल, आत्मा, मन व दिक्। आत्मा ज्ञानाश्रय है। मन प्रत्यक्षका विषय नहीं। तम नामका कोई पृथक् द्रव्य नहीं। ३ गुण २१ हैं—वैशेषिकमान्य २४ गुणोंमें-से संख्या, विभाग, पृथक्त्व व द्वेष ये चार कम करके एक 'वेग' मिलानेसे २१ होते हैं। सबके लक्षण वैशेषिक दर्शनके समान हैं। ४. कर्म प्रत्यक्ष गोचर नहीं है। संयोग व वियोग प्रत्यक्ष है, उनपरसे इसका अनुमान होता है। ५. सामान्यका लक्षण वैशेषिक दर्शनवत् है। ६. दो अयुतसिद्धोंमें समवाय सम्बन्ध है जो नित्य पदार्थोंमें नित्य और अनित्य पदार्थोंमें अनित्य होता है। ७. संख्याका लक्षण वैशेषिकदर्शनवत् है। ८. सभी द्रव्योंमें अपनी-अपनी शक्ति है, जो द्रव्यसे भिन्न है। ६. जातिका नाम सादृश्य है जो द्रव्यसे भिन्न है। (भारतीय दर्शन।)

२. कुमारिल भट्ट या 'भाट्टमत'की अपेक्षा—

१. पदार्थ दो हैं—भाव व अभाव। २. भाव चार हैं—द्रव्य, गुण, कर्म व सामान्य। ३. अभाव चार हैं—प्राक्, प्रध्वंस, अन्योन्य व अत्यन्त। ४. द्रव्य ११ हैं—प्रभाकर मान्य ६ में तम व शब्द और मिलानेसे ११ होते हैं। 'शब्द' नित्य व सर्वगत है। 'तम' व 'आकाश' चक्षु इन्द्रियके विषय हैं। 'आत्मा' व 'मन' विभु हैं। ५. 'गुण' द्रव्यसे भिन्न व अभिन्न है। वे १३ हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, तथा स्नेह। ६. कर्म प्रत्यक्षका विषय है। यह भी द्रव्यसे भिन्न तथा अभिन्न है। ७. सामान्य नामा जाति भी द्रव्यसे भिन्न व अभिन्न है। (भारतीय दर्शन)।

३. मुरारि मिश्र या 'मिश्रमत'की अपेक्षा

१. परमार्थतः ब्रह्म ही एक पदार्थ है। व्यवहारसे पदार्थ चार हैं—धर्मी, धर्म, आधार व प्रदेश विशेष। २. आत्मा धर्मी है। ३. सुख उसका धर्म विशेष है। उसकी पराकाष्ठा स्वर्गका प्रदेश है। (भारतीय दर्शन)।

४. शरीर व इन्द्रिय विचार

१. प्रभाकर मिश्र या 'गुरुमत'की अपेक्षा

१ इन्द्रियोंका अधिकर शरीर है, जो केवल पार्थिव है, पंचभौतिक नहीं। यह तीन प्रकारका है—जरायुज, अण्डज व स्वेदज। वनस्पतिका पृथक्से कोई उद्भिज्ज शरीर नहीं है। २ प्रत्येक शरीरमें मन व त्वक् ये दो इन्द्रियाँ अवश्य रहती हैं। मन अणुरूप है, तथा ज्ञानका कारण है।

२. कुमारिल भट्ट या 'भाट्टमत' की अपेक्षा

मन, इन्द्रियाँ व शरीर तीनों पाचभौतिक हैं। इनमेंसे मन व इन्द्रियाँ ज्ञानके करण हैं। बाह्य वस्तुओंका ज्ञान इन्द्रियों द्वारा मन व आत्माके संयोगसे होता है।

५. ईश्वर व जीवात्मा विचार

१. 'गुरु' व 'भट्ट' दोनों मतोंकी अपेक्षा

(स. म./परि० ङ/४३०-४३२,४३३); (भारतीय दर्शन)

१ प्रत्यक्ष गोचर न होनेसे सर्वज्ञका अस्तित्व किसी प्रमाणसे भी सिद्ध नहीं है। आगम प्रमाण विवादका विषय होनेसे स्वीकारणीय नहीं है। (षट् दर्शन समुच्चय/६८/६७-६६)। २. न तो सृष्टि और प्रलय ही होती है और न उनके कर्तारूप किसी ईश्वरको मानना आवश्यक है। फिर भी व्यवहार चलानेके लिए परमात्माको स्वीकार किया जा सकता है। ३ आत्मा अनेक है। अहं प्रत्यय द्वारा प्रत्येक व्यक्तिमें पृथक्-पृथक् जाना जाता है व शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, विभु व भोक्ता है। शरीर इसका भोगायतन है। यही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें तथा मोक्षमें जाता है। यहाँ इतना विशेष है कि प्रभाकर आत्माको स्वसंवेदनगम्य मानता है. परन्तु कुमारिल ज्ञाता व ज्ञेयको सर्वथा भिन्न माननेके कारण उसे स्वसंवेदनगम्य नहीं मानता। (विशेष—दे० आगे प्रामाण्य विचार) (भारतीय दर्शन)।

६. मुक्ति विचार

१. प्रभाकर मिश्र या 'गुरुमत'की अपेक्षा

१. वेदाध्ययनसे धर्मकी प्राप्ति होती है। धर्म तर्कका विषय नहीं। वेद विहित यज्ञादि कार्य मोक्षके कारण हैं (षड् दर्शनसमुच्चय/६६-

७०/६९-७०)। २. धर्म व अधर्मका विशेष प्रकारसे नाश हो जानेपर देहकी आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाना मोक्ष है। सासारिक दु:खोसे उद्विग्नता, लौकिक सुखोसे पराङ्मुखता, सांसारिक कर्मोका त्याग, वेद विहित शम, दम आदिका पालन मोक्षका उपाय है। तत्र अदृष्टके सर्व फलका भोग हो जानेपर समस्त सस्कारोका नाश स्वत: हो जाता है। (स्या. म./परि० ड./४३३), (भारतीय दर्शन)।

२. कुमारिल भट्ट या 'भट्टमत' की अपेक्षा

१. वेदाध्ययनसे धर्मकी प्राप्ति होती है। धर्म तर्कका विषय नहीं। वेद विहित यज्ञादि कार्य मोक्षके कारण हे—षड् दर्शन समुच्चय/६९-७०/६९-७०) २ सुख दु:खके कारण भूत शरीर, इन्द्रिय व विषय इन तीन प्रपचो की आत्यन्तिक निवृत्ति, तथा ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म व सस्कार इन सबसे शून्य; स्वरूपमें स्थित आत्मा मुक्त है वहाँ शक्तिमात्रसे ज्ञान रहता है। आत्मज्ञान भी नहीं होता। ३ लौकिक कर्मोका त्याग और वेद विहित कर्मोंका ग्रहण ही मोक्षमार्ग है ज्ञान नही। वह तो मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिमें कारणमात्र है।
(सा प /परि० उ./४३३); (भारतीय दर्शन)

७. प्रमाण विचार

१. वेदप्रमाण सामान्य

दोनो मत वेदको प्रमाण मानते है। वह नित्य व अपौरुषेय होनेके कारण तर्कका विषय नही है। अनुमान आदि अन्य प्रमाण उसकी अपेक्षा निम्नकोटिके है। (षड्दर्शन समुच्चय/६९-७०/६९-७०), (स्या म./परि-ड./४२८-४२९)। (२) वह पाँच प्रकारका है—मन्त्र वेदविधि, ब्राह्मण वेदविधि, मन्त्र नामधेय, निषेध और अर्थ-वाद। 'विधि' धर्म सम्बन्धी नियमोंको बताती है। 'मन्त्र' से याज्ञिक देवी, देवताओंका ज्ञान होता है। निन्दा, प्रशसा, परकृति ओर पुराकल्पके भेदसे 'अर्थवाद' चार प्रकारका है। (स्या म./परि. ड /४२९-४३०)।

२. प्रभाकर मिश्र या 'गुरुमत'की अपेक्षा

(षड्दर्शन समुच्चय/७१-७५/७१-७२), (स्या म /परि-ट./४३२); (भारतीय दर्शन)। (१) स्वप्न व संशयसे भिन्न अनुभूति प्रमाण है। वह पाँच प्रकारका है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द व अर्थापत्ति। (२) प्रत्यक्षमें चार प्रकारका सन्निकर्ष होता है—आत्मासे मनका, मनसे इन्द्रियका, इन्द्रियसे द्रव्यका, तथा इन्द्रिय-से उस द्रव्यके गुणका। ये द्रव्य व गुणका प्रत्यक्ष पृथक्-पृथक् मानते हैं। वह प्रत्यक्ष दो प्रकारका है—सविकल्प और निर्विकल्प। सविकल्प प्रत्यक्ष निर्विकल्प पूर्वक होता है। योगज व प्रातिभ प्रत्यक्ष इन्ही दोनोमें गर्भित होजाते है। (३) अनुमान व उपमान नैयायिक दर्शनवत है। (४) केवल विध्यर्थक वेदवाक्य शब्द-प्रमाण है, जिनके सन्निकर्षसे परोक्षभूत विषयोका ज्ञान होता है। (५) 'दिनमे नही खाकर भी देवदत्त मोटा है तो पता चलता है कि यह अवश्य रातको खाता होगा' यह अर्थापत्तिका उदाहरण है।

३ कुमारिल भट्ट या 'भाट्टमत' की अपेक्षा

(षड्दर्शन समुच्चय/७१-७६/७१-७३); (स्या. मं./परि-ड /४३२); (भारतीय दर्शन)। (१) प्रमाके करणको प्रमाण कहते है, वह छह प्रकार है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति व अनुप-लब्धि। (२) प्रत्यक्ष ज्ञानमें केवल दो प्रकारका सन्निकर्ष होता है—संयोग व सयुक्ततादात्म्य। समवाय नामका कोई तीसरा सम्बन्ध नही है। अन्य सब कथन गुरुमतवत् है। (३) अनुमान-में तीन अवयव है—प्रतिज्ञा, हेतु व उदाहरण, अथवा उदाहरण, उपनय व निगमन। (४) ज्ञात शब्दमें पदार्थका स्मरणात्मक ज्ञान होनेपर जो वाक्यार्थका ज्ञान होता है, वह शब्द प्रमाण है। वह दो प्रकारका है—पौरुषेय व अपौरुषेय। प्रत्यक्ष-द्रष्टा ऋषियोंके वाक्य पौरुषेय तथा वेदवाक्य अपौरुषेय है। वेदवाक्य दो प्रकारके हैं—सिद्धार्थक व विधायक। स्वरूपप्रतिपादक वाक्य सिद्धार्थक हैं। आदेशात्मक व प्रेरणात्मक वाक्य विधायक हैं। विधायक भी दो प्रकार है—उपदेश व आदेश या अतिदेश। (५) अर्थापत्तिका लक्षण प्रभाकर भट्टवत् है, पर यहाँ उसके दो भेद हे—दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति। दृष्टार्थापत्तिका उदाहरण पहले दिया जा चुका है। श्रुतार्थापत्तिका उदाहरण ऐसा है कि 'देवदत्त घर पर नहीं है' ऐसा उत्तर पानेपर स्वत. यह ज्ञान हो जाता है कि 'वह बाहर अवश्य है'। (६) 'प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जो सिद्ध न हो वह पदार्थ है ही नहीं' ऐसा निश्चय होना अनुपलब्धि है।

८. प्रामाण्य विचार

(स्या मं./परि-ड,/४३२), (भारतीय दर्शन)।

१. प्रभाकर मिश्र या गुरुमतकी अपेक्षा

ज्ञान कभी मिथ्या व भ्रान्ति रूप नहीं होता। यदि उसमे सशय न हो तो अन्तरग ज्ञेयकी अपेक्षा वह सम्यक् ही है। सीपीमें रजतका ज्ञान भी ज्ञानाकारकी अपेक्षा सम्यक् ही है। इसे अख्याति कहते हैं। स्वप्रकाशक होनेके कारण वह ज्ञान स्वय प्रमाण है। इस प्रकार यह स्वत प्रामाण्यवादी है।

२. कुमारिलभट्ट या 'भाट्टमत' की अपेक्षा

मिथ्याज्ञान अन्यथाख्याति है। रज्जूमें सर्पका ज्ञान भी सम्यक् है, क्योकि, भय आदिकी अन्यथा उत्पत्ति सम्भव नहीं है। पीछे दूसरेके बतलानेसे उसका मिथ्यापना जाना जाये यह दूसरी बात है। इतना मानते हुए भी यह ज्ञानको स्वप्रकाशक नहीं मानता। पहले 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है, पीछे 'मै ने घट जाना है' ऐसा ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है। इस ज्ञाततासे ही अर्था-पत्ति द्वारा ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध होता है। इसलिए यह परत प्रामाण्यवादी है।

३. मण्डन—मुरारी या 'मिश्रमत'की अपेक्षा

पहले 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है, फिर 'मै घटको जानने-वाला हूँ' ऐसा ग्रहण होता है। अत यह भी ज्ञानको स्वप्रकाशक न माननेके कारण परत: प्रामाण्यवादी है।

९. जैन व मीमांसा दर्शनकी तुलना

(स्या. मं /परि-ड./पृ. ४३४)। (१) मीमांसक लोग वेदको अपौ-रुषेय व स्वत: प्रमाण वेदविहित हिंसा यज्ञादिकको धर्म, जन्मसे ही वर्णव्यवस्था तथा ब्राह्मणको सर्वपूज्य मानते है। जैन लोग उपरोक्त सर्व बातोका कडा विरोध करते है। उनकी दृष्टिमें प्रथमानुयोग आदि चार अनुयोग ही चार वेद है, अहिंसात्मक हवन व अग्नि-होत्रादिरूप पूजा विधान ही सच्चे यज्ञ हे, वर्ण व्यवस्था जन्मसे नहीं गुण व कर्मसे होती है, उत्तम श्रावक ही यथार्थ ब्राह्मण है। इस प्रकार दोनोमें भेद है। (२) कुमारिलभट्ट पदार्थोंको उत्पाद-व्ययध्रौव्यात्मक, अवयव अवयवीमें भेदाभेद, वस्तुको स्वकी अपेक्षा सत् और परकी अपेक्षा असत् तथा सामान्य विशेषको सापेक्ष मानता है। अत किसी अंशमें वह अनेकान्तवादी है। इसकी अपेक्षा जैन व मीमांसक तुल्य है। (३) [तत्त्वोकी अपेक्षा जैन व मीमासकोकी तुलना वैशेषिकदर्शनवत ही है।] (दे० वैशेषिक दर्शन)। अन्य विषयोंमे भी दोनोंमें भेद व तुल्यता है। जैसे—दोनों ही जरायुज, अण्डज व स्वेदज (सम्मूर्च्छन) शरीरोको पाँच-

भौतिक स्वीकार करते हे। दोनों ही इन्द्रिय विषयोंके त्याग आदि-को मोक्षका साधन मानते है। दोनों ही शरीरादिकी आत्यन्तिक निवृत्तिको मोक्ष मानते हैं। इस प्रकार दोनोंमें तुल्यता है। परन्तु जैनोंकी भाँति मीमांसक सर्वज्ञत्वका अस्तित्व नहीं मानते, आत्मा-को स्वसंवेदनगम्य नहीं मानते। इस प्रकार दोनोंमें भेद है।

मीमांसा परीक्षा—(दे० अतिचार/१)।

मुंज—मालवा (मगध) देशकी उज्जयिनी नगरीके राजा 'सिंहल' को कोई सन्तान न थी। वनविहार करते समय उनको मुञ्जकी झाडीके नीचे पडा हुआ एक बालक मिला। इसको ही उन्होंने अपनी सन्तान रूपसे ग्रहण कर लिया और मुंजकी झाडीके नीचे-से मिलनेके कारण इसका नाम 'मुज' रख दिया। पीछे राजा सिंहल-को अपने भी दो पुत्र उत्पन्न हो गये—शुभचन्द्र व भर्तृहरि। परन्तु तब मुजको राज्य दिया जा चुका था। शुभचन्द्र व भर्तृहरिको अत्यन्त पराक्रमी जान मुञ्जने षड्यन्त्र द्वारा उन्हें घरसे भाग जानेको बाध्य कर दिया और वे दोनो वनमें जाकर संन्यासी हो गये। राजा मुञ्जका राज्य मालवा देशमें था। उज्जैनी इनकी राजधानी थी। इनकी मृत्यु ई. १०२१ में तैलिपदेवके हाथसे हुई थी। भोजवंशके अनुसार इनका समय वि. १०३६–१०७८ (ई. ९७९–१०२१) आता है। (दे० इतिहास/३/१); (सि वि./प्र. ८३/प. महेन्द्र), (यो. सा./अ./प्र./पं. गजाधरलाल)।

मुंड= १. मू आ./१२१ पचवि इंदियमुडा वचमुंडा हत्थपायमण-मुडा। तणुमुडेण य सहिया दस मुडा वण्णिदा समए।१२१। =पाँचो इन्द्रियोंका मुडन अर्थात् उनके विषयोंका त्याग, वचन मुडन अर्थात् बिना प्रयोजनके कुछ न बोलना, हस्त मुडन अर्थात् हाथसे कुचेष्टा न करना, पादमुंडन अर्थात् अविवेक पूर्वक सुकोडने व फैलाने आदि व्यापारका त्याग, मन मुंडन अर्थात् कुचिन्तवनका त्याग और शरीरमुडन अर्थात् शरीरको कुचेष्टाका त्याग इस प्रकार दस मुड जिनागममें कहे गये हैं। २. एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

मुकुट सप्तमी व्रत—सात वर्ष तक प्रति वर्ष श्रावण शु. ७ को उप-वास करे। 'ओं ह्रीं तीर्थंकरेभ्यो नम' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह/पृ ९१)।

मुक्त—दे० मोक्ष।

मुक्तावली व्रत—यह तीन प्रकारका है—वृहद्, मध्यम व लघु। १. मध्यम विधि—१,२,३,४,५,४,३,२,१ इस क्रमसे २५ उपवास करे। बीचके ८ स्थानोंमें व अन्तमें पारण करे। नमस्कार-मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु /३४/६९-७०), (व्रत विधान संग्रह/पृ. ७५)। २ वृहद् विधि—उपरोक्त प्रकार ही १,२,३,४,५,६,७,६,५,४,३,२,१ इस क्रमसे ४९ उपवास व १३ पारणा करे। नमस्कारमन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह। पृ. ७५)। ३. लघु विधि—९ वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. ७; आश्विन कृ. ६, १३ तथा शु. ११; कार्तिक कृ. १२ तथा शु ३, ११, मगशिर कृ. ११ तथा शु. ३—इस प्रकार ९ उपवास करे, अर्थात् कुल ८१ उपवास करे। 'ओं ह्रीं वृषभजिनाय नम' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान संग्रह/पृ. ७५)।

o
o o
o o o
o o o o
o o o o o
o o o o
o o o
o o
o

मुक्ताशुक्ति—दे० मुद्रा।

मुक्ताहर—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मुक्ति—दे० मोक्ष।

मुख—१ ध. १३/५.५.१२२/गा. ३७/३८३—मुखमर्द्धं शरीरस्य सर्वं वा मुखमुच्यते।=शरीरके आधे भागको मुख कहते है अथवा पूरा शरीर ही मुख कहलाता है।

ध. १३/५,५,११६/३७१/१३ किं मुहं णाम। जीवपदेसाणं विसिट्ठ-सठाणं।=जीव प्रदेशोंके विशिष्ट सस्थानको मुख कहते है।

ध. १३/५,५,१२२/३८३/८ मुहं सरीरं, तस्स आगारो संठाण त्ति घेत्तव्व।=मुखका अर्थ शरीर है। उसका आकार अर्थात् संस्थान ऐसा ग्रहण करना चाहिए। २ आदि अर्थात् First Term या Head of a quadrant or first digit in numerical Series (ज. प./प्र. १०८); (विशेष दे. गणित/II/५)।

मुखपट विधान—दे० प्रतिष्ठा विधान।

मुख्य—मुख्यका लक्षण व मुख्य गौण व्यवस्था—दे० स्याद्वाद/३।

मुख्य मंगल—दे० मंगल।

मुग्धबोध व्याकरण—दे० व्याकरण।

मुद्रा—

अन. ध/मू. व उद्धृत श्लोक/८/८५-८६/८१३ मुद्राश्चतस्रो व्युत्सर्ग-स्थितिर्जैनीह यौगिकी। न्यस्त पद्मासनाद्यङ्के पाण्योरुत्तानयोर्द्व-यम् ।८५। जिनमुद्रान्तर कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम्। ऊर्ध्वजानोरव-स्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम् ।१। जिना पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवे-शनम्। उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रा बभाषिरे ।२। स्थितस्याध्युदरं न्यस्य कूर्परौ मुकुलीकृतौ। करौ स्याद्वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिर्युताङ्गुली ।८६। मुकुलीकृतमाधाय जठरोपरि कूर्परम्। स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्वं निवेदिता ।३। मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरि कूर्परम्। ऊर्ध्वजानो' करद्वन्द्व सलग्नाङ्गुलि सूरिभि' ।४।=१. (देव वन्दना या ध्यान सामायिक आदि करते समय मुख व शरीरकी जो निश्चल आकृति की जाती है, उसे मुद्रा कहते है। वह चार प्रकारकी है—जिनमुद्रा, योगमुद्रा, वन्दनामुद्रा, और मुक्ताशुक्ति मुद्रा)। २. दोनों भुजाओंको लटकाकर और दोनो पैरोंमें चार अगुलका अन्तर रखकर कायोत्सर्गके द्वारा शरीरको छोड़कर खडे रहनेका नाम जिनमुद्रा है। (और भी दे. व्युत्सर्ग / १ में कायोत्सर्गका लक्षण)। ३. पर्य्यंकासन, पर्यंकासन और वीरासन इन तीनोंमेंसे कोईसे भी आसनको माँडकर, नाभिके नीचे, ऊपरकी तरफ हथेली करके, दोनो हाथोंको ऊपर नीचे रखनेसे योगमुद्रा होती है। ४. खड़े होकर दोनों कुहनियोंको पेटके ऊपर रखने और दोनों हाथोंको मुकुलित कमलके आकारमें बनानेपर वन्दनामुद्रा होती है। ५. वन्दनामुद्रावत् ही खडे होकर, दोनों कुहनियोंको पेटके ऊपर रखकर, दोनों हाथोंकी अगुलियोंको आकार विशेषके द्वारा आपसमें सलग्न करके मुकुलित बनानेसे मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है।

★ **मुद्राओंकी प्रयोगविधि**—दे० कृतिकर्म

मुनि—

दे. साधु/१—(श्रमण, संयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त, यति ये एकार्थवाची हैं)।

म. सा./आ/१५१ मननमात्रभावतया मुनि.।=मननमात्र भावस्वरूप होनेसे मुनि है।

चा. सा/४६/५ मुनयोऽवधिमन'पर्ययकेवलज्ञानिनश्च कथ्यन्ते। =अवधिज्ञानी, मन पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियोंको मुनि कहते हैं।

★ **मुनिके भेद व विषय**—दे० साधु।

मुनिप्रायश्चित्त—आचार्य इन्द्रनन्दि (ई श १०-११) की एक रचना, जिसमें साधुओंके दोषों व शक्तिके अनुसार प्रायश्चित्त देनेकी विधिका कथन है।

मुनिभद्र—इनका उल्लेख ई. १३८८ के एक शिलालेखमें आता है। इनके एक शिष्यने जिनका कि नाम ज्ञात नहीं है 'परमात्मप्रकाश' ग्रन्थपर एक कन्नड टीका लिखी है। समय (ई. १३५०-१३६०). (प. प्र./प्र १२४/ प. कैलाशचन्द्र शास्त्री)।

मुनिसुव्रत नाथ—१. म. पु/६७/श्लोक न. पूर्वभव नं. २ में चम्पापुर नगरके राजा हरिवर्मा थे।२। पूर्वभवमें प्राणतेन्द्र थे।१५। (युगपत् सर्वभवके लिए दे. श्लोक ६०)—वर्तमान भवमें २०वें तीर्थंकर हुए (विशेष दे, तीर्थंकर/५)। २. भविष्यत् कालीन ११वें तीर्थंकर। अपर नाम सुमत या जयकीर्ति—दे. तीर्थंकर/५)।

मुनिसुव्रत पुराण—ब्र. कृष्णदास (ई १६१७) द्वारा रचित सस्कृत श्लोकबद्ध ग्रन्थ।

मुन्नालाल—आप जयपुर निवासी थे। पं, जयचन्द्र छाबडाके शिष्य तथा प सदासुखदासजीके गुरु थे। तीनों पण्डित समकालीन हैं। समय—वि १८३०-१८८०।

मुमुक्षु—स्व. स्तो./टी./३/७ मोक्तुमिच्छुर्मुमुक्षु'।=मोक्षकी इच्छा करनेवाला मुमुक्षु है।

अन. ध /१/११/३४ स्वार्थैकमतयो भान्तु मा भान्तु घटदीपवत्। परार्थे स्वार्थमतयो ब्रह्मवद्भान्त्वहर्दिवम्।११।=मुमुक्षु तीन प्रकारके होते हैं—एक तो परोपकारको प्रधान रखकर स्वोपकार करनेवाले, दूसरे स्वोपकारको प्रधान रखकर स्वोपकार करनेवाले और तीसरे केवल स्वोपकार करनेवाले—विशेष दे० उपकार/१/१०,६,७।

मुरजमध्यव्रत—इस व्रतकी दो प्रकार विधि है—बृहत् व लघु। १. बृहत विधि—यन्त्रमें दिखाये अनुसार क्रमश' ५,४,३,२,२,३,४,५ इस प्रकार २८ उपवास करे। बीचके सर्व खाली स्थानोंमें एक एक करके ८ पारणाएँ करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु./३४/६६)। २. लघुविधि यन्त्रमें दिखाये अनुसार क्रमश २,३,४,५,५,४,३ इस प्रकार २६ उपवास करे। बीचके सर्व खाली स्थानोंमें एक एक करके ७ पारणा करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान सग्रह/ पृ० ८०)।

```
o o o o o
 o o o o
  o o o
   o o
   o o
  o o o
 o o o o
o o o o o

   o o
  o o o
 o o o o
o o o o o
o o o o o
 o o o o
  o o o
```

मरुड वंश—मरुदय वशका ही प्रसिद्ध नाम मौर्यवंश है, क्योकि मालवा देशके राजवशके अनुसार दिगम्बर आम्नायने जहाँ मरुड वशका नाम दिया है वहाँ श्वेताम्बर आम्नायने मौर्यवंशका नाम दिया। इसी वंशका दूसरा नाम परुढनश भी है।—दे० इतिहास/ ३/१।

मुष्टि विधान व्रत—प्रतिवर्ष भादों, माघ व चैत्र मासमें अर्थात तीनो दशलक्षण पर्वोंमें कृ, १ से शु, १५ तक पूरे-पूरे महीने प्रतिदिन १ मुष्टि प्रमाण शुभ द्रव्य भगवान्‌के चरणोमें चढाकर अभि-षेक व चतुर्विंशति जिन पूजन करे। ओ ह्रीं वृषभादिवीरान्तेभ्यो नम' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करें।

मुहांवापुर—वर्तमान बम्बई (म, पु /प्र ४९/पं. पन्नालाल)।

मुररा—भरत आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

मुहम्मद तुगलक—तुगलकवशके प्रथम बादशाह गाजी तुग़लकका पुत्र था। इसका असली नाम फखरुद्दीन ज़ोना सुलतान था। यह नासिरुद्दीन मुहम्मदशाहके नामसे दिल्लीके राज्यपर बैठा था। इसीका नाम मुहम्मद तुगलक भी था। समय—वी. नि. १४०७ (ई. ८८१)।

मुहूर्त—

ध. ४/१ ५.१/गा १०-११/३१८ उच्छ्वासाना सहस्राणि त्रीणि सप्तशतानि च। त्रिसप्ततिः पुनस्तेषा मुहूर्तो ह्येक इष्यते।१०। निमेषाणां सहस्राणि पञ्चभूय' शतं तथा। दश चैव निमेषा स्युर्मुहूर्ते गणिता' बुधैः।११। =१. ३७७३ उच्छ्वासोका एक मुहूर्त कहा जाता है।११। (ध. ३/ १,२,६/गा ३६/६६)। २. अथवा ५११० निमेषका एक मुहूर्त कहा जाता है।

२. मुहूर्तके प्रमाण सम्बन्धी दृष्टिभेद

ध.३/१,२,६/७ का भापार्थ—कितने ही आचार्य ७२० प्राणोका मुहूर्त होता है, ऐसा कहते है; परन्तु स्वस्थ मनुष्यके उच्छ्वासोंको देखते हुए उनका इस प्रकार कथन घटित नही होता है…क्योंकि ७२० प्राणोको ४ से गुणा करके जो गुणनफल आवे उसमें ८६३ और मिलाने [अर्थात् (७२०×४)+८६३=२८८०+८६३=३७७३ उच्छ्वास] सूत्रमें कहे गये मुहूर्तके उच्छ्वासोका प्रमाण होता है।· ·यदि ७२० प्राणोंका एक मूहूर्त होता है, इस कथनको मान लिया जाये तो केवल २१६०० प्राणोके द्वारा ही ज्योतिषियोंके द्वारा माने गये अहोरात्रका प्रमाण होता है। किन्तु यहाँ आगमानुकूल कथनके अनुसार तो ११३१९० उच्छ्वासोंके द्वारा एक अहोरात्र होता है।

३. अन्तर्मुहूर्त—एक मुहूर्तसे कम और एक आवलीसे अधिक काल प्रमाण—(दे.अन्तर्मुहूर्त)।

४. भिन्नमुहूर्त—मुहूर्तसे एक समय कम काल प्रमाण—दे, भिन्न-मुहूर्त।

मूक—कायोत्सर्गका एक अतिचार—(दे, व्युत्सर्ग/१)।

मूकसंज्ञा—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे. व्युत्सर्ग/१।

मूड़बिद्री—दक्षिणके कर्नाटक देशमें स्थित एक नगर है। होयसल नरेश बल्लाल देवके समय (ई. ११००) में यहाँ जैनधर्मका प्रभाव खूब बढा चढा था। ई.श. १३ में यहाँ तुलुवके आलूप नरेशोका तथा ई॰ श १५ में विजयनगरके हिन्दू नरेशोका राज्य रहा। यहाँ १८ मन्दिर प्रसिद्ध है। जिनमें 'गुरु बसदि' नामका मन्दिर सिद्धान्त अर्थात् शास्त्रो की रक्षाके कारण सिद्धान्त मन्दिर भी कहलाता है। 'बिदिर' का अर्थ कनाडी भाषामें बाँस है। बाँसोंके समूहको छेदकर यहाँके सिद्धान्तमन्दिरका पता लगाया गया था, जिससे इस ग्रामका नाम 'बिदुरे' प्रसिद्ध हुआ। कनाडीमें 'मूडका' अर्थ पूर्व दिशा है और पश्चिम दिशाका वाचक शब्द 'पुडु' है। यहाँ मूल्की नामक प्राचीन ग्राम 'पुडुबिदुरे' कहलाता है। इसके पूर्वमें होनेके कारण यह ग्राम 'मूड बिदुरे' या 'मूडबिदिरे' कहलाया। 'वंश' और 'वेणु' शब्द बाँसके पर्यायवाची है। इसीसे इसका अपर नाम 'वेणुपुर' या 'वंशपुर' भी है। और अनेक साधुओंका निवास होनेके कारण 'व्रत-पुर' भी कहलाता है। (ध./३/प्र.४/H. L. Jain)।

मूढ—

प प्र /मू /१/१३. देहु जि अप्पा जो मुणइ सो जणु मूढ हवेइ।=जो देह-को ही आत्मा मानता है वह प्राणी मूढ अर्थात् बहिरात्मा है (और भी दे. बहिरात्मा)।

दे 'मोह' का लक्षण—(द्रव्य गुण पर्यायोमें तत्त्वकी अप्रतिपत्ति होना मूढ भावका लक्षण है। उसीके कारण ही जीव परद्रव्यों व पर्यायोंमें आत्मबुद्धि करता है।)

मूढता—

मू.आ./२५६ णच्चा दंसणघादी ण य कायव्वं ससत्तीए।—देवमूढता आदिको दर्शनघाती जानकर अपनी शक्तिके अनुसार नहीं करना चाहिए।

दे. मिथ्यादर्शन/१/१ में न.च.वृ./३०४ (नास्तित्व सापेक्ष अस्तित्वको और अस्तित्व सापेक्ष नास्तित्वको नहीं माननेवाला वस्तुस्वभावमें मूढ होता है। यही उसका मूढता नामका मिथ्यात्व है)।

२. मूढताके भेद

मू.आ./२५६ लोइयवेदियसामाइएसु तह अण्णदेवमूढत्तं।—मूढता चार प्रकारकी है—लौकिक मूढता, वैदिक मूढता, सामायिक मूढता, और अन्यदेवमूढता।

द्र.सं./टी./४१/१६६/१० देवतामूढलोकमूढसमयमूढभेदेन मूढत्रयं भवति।—देवतामूढता, लोकमूढता, और समयमूढताके भेदसे मूढता तीन प्रकारकी है।

३. लोकमूढताका स्वरूप

मू. आ./२५७ कोडिल्लमासुरक्खा भारहरामायणादि जे धम्मा। होज्जु वि तेसु विसोती लोइयमूढो हवदि एसो।२५७।—कुटिलता प्रयोजनवाले चार्वाक व चाणक्यनीति आदिके उपदेश, हिंसक यज्ञादिके प्ररूपक वैदिक धर्मके शास्त्र, और महान् पुरुषोंको दोष लगानेवाले महाभारत रामायण आदि शास्त्र, इनमें धर्म समझना लौकिक मूढता है।

र.क.श्रा./२२ आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम्। गिरिपाताऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते।२२।—धर्म समझकर गंगा जमुना आदि नदियोंमें अथवा सागरमें स्नान करना, बालू और पत्थरों आदिका ढेर करना, पर्वतसे गिरकर मर जाना, और अग्निमें जल जाना लोकमूढता कही जाती है।

द्र. सं./टी/४१/१६७/८ गंगादिनदीतीर्थस्नानसमुद्रस्नानप्रातःस्नानजलप्रवेशमरणाग्निप्रवेशमरणगोग्रहणादिमरणभूम्यग्निवटवृक्षपूजादीनि पुण्यकारणानि भवन्तीति यद्वदन्ति तल्लोकमूढत्वं विज्ञेयम्।—गंगादि जो नदीरूप तीर्थ है, इनमें स्नान करना, समुद्रमें स्नान करना, प्रातःकालमें स्नान करना, जलमें प्रवेश करके मर जाना, अग्निमें जल मरना, गायकी पूंछ आदिको ग्रहण करके मरना, पृथिवी, अग्नि और वटवृक्ष आदिकी पूजा करना, ये सब पुण्यके कारण है, इस प्रकार जो कहते हे, उसको लोकमूढता जानना चाहिए।

पं.ध/उ./५९६-५९७ कुदेवाराधनं कुर्यादैहिकश्रेयसे कुधीः। मृषालोकोपचारत्वादश्रेया लोकमूढता।५९६। अस्ति श्रद्धानमेकेषां लोकमूढवशादिह। धनधान्यप्रदा नूनं सम्यगाराधिताऽम्बिका।५९७।—इस लोक सम्बन्धी कल्याणके लिए जो मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यादेवोकी आराधनाको करता है वह केवल मिथ्यालोकोपचारवश की जानेके कारण अकल्याणकारी लोकमूढता है।५९६। इस लोकमें उक्त लोकमूढताके कारण किन्हीका ऐसा श्रद्धान है, कि अच्छी तरहसे आराधित की गयी अम्बिका देवी निश्चयसे धनधान्य आदिको देनेवाली है। (इसको नीचे देवमूढता कहा है)।

४. देवमूढताका स्वरूप

मू. आ./२६० ईसरबंभाविण्हूअज्जाखंदादिया य जे देवा। ते देवभावहीणा देवत्तणभावेण मूढो।२६०।—ईश्वर (महादेव), ब्रह्मा, विष्णु, पार्वती, स्कन्द (कार्तिकेय) इत्यादिक देव देवपनेसे रहित है। इनमें देवपनेकी भावना करना देवमूढता है।

र.क श्रा./२३ वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः। देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते।२३।—आशावान् होता हुआ वरकी इच्छा करके राग-द्वेषरूपी मैलसे मलिन देवताओंकी जो उपासना की जाती है, सो देवमूढता कही जाती है।

द्र. सं/टी./४१/१६७/१ वीतरागसर्वज्ञदेवतास्वरूपमजानन् ख्यातिपूजालाभरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रराज्यादिविभूतिनिमित्तं रागद्वेषोपहतार्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवानां यदाराधनं करोति जीवस्तद्देवतामूढत्वं भण्यते। न च ते देवाः किमपि फलं प्रयच्छन्ति। किमिति चेत्।...कंसेनाऽपि विद्याः समाराधितास्ताभिः। कृतं न किमपि रामस्वामिपाण्डवनारायणानाम्। तैस्तु यद्यपि मिथ्यादेवता नानुकूलितास्तथापि निर्मलसम्यक्त्वोपार्जितेन पूर्वकृतपुण्येन सर्वं निर्विघ्नं जातमिति।—वीतराग सर्वज्ञदेवके स्वरूपको न जानता हुआ, जो व्यक्ति ख्याति, सम्मान, लाभ, रूप, लावण्य, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री, राज्य आदि सम्पदा प्राप्त होनेके लिए राग-द्वेष युक्त, आर्त-रौद्र ध्यानरूप परिणामों वाले क्षेत्रपाल, चण्डिका [पद्मावती देवी—(पं. सदासुखदास)] आदि मिथ्यादृष्टि देवोंका आराधन करता है, उसको देवमूढता कहते हैं। ये देव कुछ भी फल नहीं देते हैं। (र.क. श्रा./पं. सदासुखदास/२३)। प्रश्न—फल कैसे नहीं देते। उत्तर—(रावण, कौरवों तथा कंसने रामचन्द्र, लक्ष्मण, पाण्डव व कृष्णको मारनेके लिए) बहुत-सी विद्याओंकी आराधना की थी, परन्तु उन विद्याओंने रामचन्द्र आदिका कुछ भी अनिष्ट न किया। और रामचन्द्र आदिने मिथ्यादृष्टि देवोंको प्रसन्न नहीं किया तो भी सम्यग्दर्शनसे उपार्जित पूर्वभवके पुण्यके द्वारा उनके सब विघ्न दूर हो गये।

पं.ध./उ./५९५ अदेवे देवबुद्धिः स्यादधर्मे धर्मधीरिह। अगुरौ गुरुबुद्धिर्या ख्याता देवादिमूढता।५९५।—इस लोकमें जो कुदेवमें देव बुद्धि, अधर्ममें धर्मबुद्धि और कुगुरुमें गुरुबुद्धि होती है, वह देवमूढता, धर्ममूढता व गुरुमूढता कही जाती है।

५. समय या गुरुमूढताका स्वरूप

मू. आ./२५९ रत्तवडचरगतावसपरिहत्तादीय अण्णपासंडा। संसारतारगत्तिय जदि गेण्हदि समयमूढो सो।२५९।—बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, जटाधारी, सांख्य, आदिशब्दसे शैव, पाशुपत, कापालिक आदि अन्यलिंगी हैं वे संसारसे तारनेवाले हैं—इनका आचरण अच्छा है, ऐसा ग्रहण करना सामयिक मूढता है।

र.क श्रा./२४ सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम्। पाखण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाखण्डिमोहनम्।२४।—परिग्रह, आरम्भ और हिंसा सहित, संसार चक्रमें भ्रमण करनेवाले पाखण्डी साधु तपस्वियोंका आदर, सत्कार, भक्ति-पूजादि करना सब पाखंडी या गुरुमूढता है।

द्र. सं./टी./४१/१६७/१० अज्ञानिजनचित्तचमत्कारोत्पादकं ज्योतिष्कमन्त्रवादादिकं दृष्ट्वा वीतरागसर्वज्ञप्रणीतसमयं विहाय कुदेवागमलिङ्गिनां भयाशास्नेहलोभैर्धर्मार्थं प्रणामविनयपूजापुरस्कारादिकरणं समयमूढत्वमिति।—अज्ञानी लोगोंके चित्तमें चमत्कार अर्थात् आश्चर्य उत्पन्न करनेवाले ज्योतिष, मन्त्रवाद आदिको देखकर, वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहा हुआ जो धर्म है उसको छोडकर मिथ्यादृष्टिदेव, मिथ्या आगम और खोटा तप करनेवाले कुलिंगीका भयसे, वाञ्छासे स्नेहसे और लोभसे जो धर्मके लिए प्रणाम, विनय, पूजा, सत्कार आदि करना सो समयमूढता है।

दे० मूढता/४। प. ध. (अगुरुमें गुरुबुद्धि गुरुमूढता है)।

६. वैदिकमूढताका स्वरूप

मू. आ./२५८ ऋग्वेदसामवेदा वागणुवादादिवेदसत्थाइ। तुच्छाणित्ति ण गेण्हइ वेदियमूढो हवदि एसो।२५८।—ऋग्वेद, सामवेद, प्रायश्चित्तादि वाक् मनुस्मृति आदि अनुवाक् आदि शब्दसे यजुर्वेद, अथर्ववेद—ये

सब हिंसाके उपदेशक है। इसलिए धर्म रहित निरर्थक है। ऐसा न समझकर जो ग्रहण करता है सो वैदिकमूढ है।

मूत्र— १. औदारिक शरीरमें मूत्रका प्रमाण—दे० औदयिक/१।
२. मूत्र क्षेपण विधि—दे० समिति।१। प्रतिष्ठापन समिति।

मूर्च्छा —

स. सि /७/१७/१० मूर्च्छेत्युच्यते। का मूर्च्छा। बाह्यानां गोमहिषमणिमुक्ताफलादीनां चेतनाचेतनानामाभ्यन्तराणां च रागादीनामुपधीनां संरक्षणार्जनसंस्कारादिलक्षणाव्यावृत्तिर्मूर्च्छा। ननु च लोके वातादिप्रकोपविशेषस्य मूर्च्छेति प्रसिद्धिरस्ति तद्ग्रहणं कस्मान्न भवति। सत्यमेवमेतत्। मूर्छिरयं मोहसामान्ये वर्तते। 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्वतिष्ठन्ते' इत्युक्ते विशेषे व्यवस्थितः परिगृह्यते, परिग्रहप्रकरणात्। =प्रश्न—मूर्च्छाका स्वरूप क्या है। उत्तर—गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन-अचेतन, बाह्य उपधिका तथा रागादिरूप आभ्यन्तर उपधिका सरक्षण अर्जन और संस्कार आदि रूप ही व्यापार मूर्च्छा है। प्रश्न—लोकमें वातादि प्रकोप विशेषका नाम मूर्च्छा है, ऐसी प्रसिद्धि है, इसलिए यहाँ इस मूर्च्छाका ग्रहण क्यों नहीं किया जाता। उत्तर—यह कहना सत्य है, तथापि 'मूर्च्छ' धातुका सामान्य अर्थ मोह है और सामान्य शब्द तद्गत विशेषोंमें ही रहते हैं, ऐसा मान लेनेपर यहाँ मूर्च्छाका विशेष अर्थ ही लिया गया है, क्योंकि यहाँ परिग्रहका प्रकरण है। (रा. वा /७/१७/१-२/५४४/३४), (चा.सा./८६/५)।

मूर्त— केवल आकारवान्‌को नहीं बल्कि इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थको मूर्त या रूपी कहते हैं। सो छहों द्रव्योंमें पुद्गल ही मूर्त है। यद्यपि सूक्ष्म होनेके कारण परमाणु व सूक्ष्म स्कन्धरूप वर्गणाएँ इन्द्रिय ग्राह्य नहीं है, परन्तु उनका कार्य जो स्थूल स्कन्ध, वह इन्द्रिय ग्राह्य है। इस कारण उनका भी मूर्तीकपना सिद्ध होता है। और इसी प्रकार उनका कार्य होनेसे ससारी जीवोंके रागादि भाव व प्रदेश भी कथंचित् मूर्तीक है।

१. मूर्त व अमूर्तका लक्षण

प. का./मू./९९ जे खलु इंदियगेज्झा विसया जीवेहिं होंति ते मुत्ता। सेसं हवदि अमुत्तं ·।९९। =जो पदार्थ जीवोंके इन्द्रियग्राह्य विषय हैं वे मूर्त हैं और शेष पदार्थसमूह अमूर्त है। (प्र सा /त प्र /१३१), (पं. ध /उ /७), (और भी दे० नीचे रूपीमें लक्षण न० १०३)।

न. च वृ./६४ रूवाइपिंडो मुत्तं विवरीये ताण विवरीयं।६२। =रूप आदि गुणोंका पिण्ड मूर्त है और उससे विपरीत अमूर्त। (द्र सं /मू /१५), (नि. सा./ता वृ /९)।

आ प./६ मूर्तस्य भावो मूर्तत्वं रूपादिमत्त्वम्। अमूर्तस्य भावोऽमूर्तत्वं रूपादिरहितत्वम् इति गुणानां व्युत्पत्तिः। =मूर्त द्रव्यका भाव मूर्तत्व है अर्थात् रूपादिमान् होना ही मूर्तत्व है। इसी प्रकार अमूर्त द्रव्योंका भाव अमूर्तत्व है अर्थात् रूपादि रहित होना ही अमूर्तत्व है।

दे० नीचे रूपीका लक्षण नं० २ (गोल आदि आकारवान् मूर्त हैं)।

प का /ता वृ./२७/५६/१८ स्पर्शरसगन्धवर्णवती मूर्तिरुच्यते तत्सद्भावात्, मूर्त पुद्गल। =स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण सहित मूर्ति होती है, उसके सद्भावके कारण पुद्गल द्रव्य मूर्त है। (प ध /उ./९)।

२. रूपी व अरूपीके लक्षण

स सि /५/४/२७१/२ न विद्यते रूपमेषामित्यरूपाणि, रूपप्रतिषेधे तत्सहचारिणां रसादीनामपि प्रतिषेधः। तेन अरूपाण्यमूर्तानीत्यर्थः।

स. सि./५/५/२७१/७ रूपं मूर्तिरित्यर्थः। का मूर्तिः। रूपादिसंस्थानपरिणामो मूर्तिः। रूपमेषामस्तीति रूपिणः। मूर्तिमन्त इत्यर्थः। अथवा रूपमिति गुणविशेषवचनशब्दः। तदेषामस्तीति रूपिणः। रसाद्यग्रहणमिति चेन्न; तदविनाभावात्तदन्तर्भावः। =१. इन धर्मादि द्रव्योंमें रूप नहीं पाया जाता, इसलिए अरूपी है। यहाँ केवल रूपका निषेध किया है, किन्तु रसादिक उसके सहचारी हैं अतः उनका भी निषेध हो जाता है। इससे अरूपीका अर्थ अमूर्त है। (रा. वा./५/४/८/४४२/१)। २ मूर्ति किसे कहते हैं। रूपादिकके आकारसे परिणमन होनेको मूर्ति कहते हैं। जिनके रूप अर्थात् आकार पाया जाता है वे रूपी कहलाते हैं। इसका अर्थ मूर्तिमान् है। (रूप, रस, गन्ध व स्पर्शके द्वारा तथा गोल, तिकोन, चौकोर आदि संस्थानोंके द्वारा होनेवाला परिणाम मूर्ति कहलाता है—रा वा), (रा. वा /५/५/२/४४८/२१)। ३. अथवा रूप यह गुण विशेषका वाची शब्द है। वह जिनके पाया जाता है वे रूपी हैं। रूपके साथ अविनाभावी होनेके कारण यहाँ रसादिका भी उसीमें अन्तर्भाव हो जाता है। (रा. वा /५/५/३-४/४४४/२४); (रा. वा./१/२७/१,३/८८/४,१३)।

गो. जी./मू /६१३-६१४/१०६६ णिद्धिदरोलीमज्झे विसरिसजादिस्स समगुण एक्क। रूवित्ति होदि सण्णा सेसाणं ता अरूवित्ति।६१३। दो गुणणिद्धाणुस्स य दोगुणलुक्खाणुगं हवे रूवी। इगितिगुणादि अरूवी रुक्खस्स वि तव इदि जाणे।६१४। =४ स्निग्ध और रूक्षकी श्रेणीमें जो विसदृश जातिका एक समगुण है, उसकी रूपी सज्ञा है और समगुणको छोडकर अवशिष्ट सबकी अरूपी सज्ञा है।६१३। ५. स्निग्धके दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा रूक्षका दो गुणयुक्त परमाणु रूपी है। शेष एक तीन चार आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी हैं।६१४।

३. आत्माकी अमूर्तत्व शक्तिका लक्षण

स सा /आ /परि /शक्ति न० २० कर्मबन्धव्यपगमव्यञ्जितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः। =कर्मबन्धके अभावसे व्यक्त किये गये, सहज स्पर्शादिशून्य ऐसे आत्मप्रदेशस्वरूप अमूर्तत्व शक्ति है।

४. सूक्ष्म व स्थूल सभी पुद्गलोंमें मूर्तत्व

प का./मू./७८ आदेसमेत्तमुत्तो धादुचउक्कस्स कारणं जो दु। सो णेओ परमाणू परिणामगुणो सयमसद्दो।७८। =जो नय विशेषकी अपेक्षा कथंचित् मूर्त व कथंचित् अमूर्त है, चार धातुरूप स्कन्धका कारण है, और परिणमनस्वभावी है, उसे परमाणु जानना चाहिए। वह स्वयं अशब्द होता है।७८। (ति प./१/१०१), (दे० परमाणु/२/१में न च. वृ /१०१)।

स. सि /१/२७/१३४/६ 'रूपिषु' इत्येन पुद्गलाः परिगृह्यन्ते। ='रूपिषु' इस पदके द्वारा पुद्गलोंका ग्रहण होता है। (रा वा /१/२७/४/८८/१८); (गो जी /जी प्र./५९४/१०३३/८ पर उद्धृत श्लोक)।

प. का /त. प्र /९९ ते कदाचित्स्थूलस्कन्धत्वमापन्ना कदाचित्सूक्ष्मत्वमापन्ना 'कदाचित्परमाणुत्वमापन्ना' इन्द्रियग्रहणयोग्यतासद्भावात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणा वा मूर्ता इत्युच्यन्ते। =वे पदार्थ कदाचित् स्थूलस्कन्धपनेको प्राप्त होते हुए, कदाचित सूक्ष्म स्कन्धपनेको प्राप्त होते हुए, और कदाचित् परमाणुपनेको प्राप्त होते हुए, इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होते हों या न होते हों, परन्तु मूर्त हैं, क्योंकि, उन सभीमें इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होनेकी योग्यताका सद्भाव है। (विशेष दे० वर्गणा)।

प. ध /उ /१० नासंभवं भवेदेतत् प्रत्यक्षानुभवाद्यथा। सन्निकर्षोऽस्ति वर्णाद्यै रिन्द्रियाणां न चेतरैः।१०। =साक्षात् अनुभव होनेके कारण स्पर्श, रस, गन्ध व वर्णको मूर्तीक कहना असम्भव नहीं है, क्योंकि जैसे इन्द्रियोंका उनके साथ सन्निकर्ष होता है वैसे उनका किन्हीं अन्य गुणोंके साथ नहीं होता।

५. कर्ममें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

पं. का./मू./१३३ जम्हा कम्मस्स फलं विसयं फासेहिं भुंजदे णियदं। जीवेण सुहं दुक्खं तम्हा कम्माणि मुत्ताणि। —क्योंकि कर्मका फल जो (मूर्त) विषय वे नियमसे (मूर्त ऐसी) स्पर्शनादि इन्द्रियों द्वारा जीवसे सुख-दु:ख रूपमें भोगे जाते हैं, इसलिए कर्म मूर्त हैं।

स. सा./मू./४५ अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति। —आठों प्रकारका कर्म पुद्गलमय है, ऐसा जिनदेव कहते हैं। (आप्त./प./११५/२४६/८)।

स. सि./५/१९/२८५/११ एतेषां कारणभूतानि कर्माण्यपि शरीरग्रहणेन गृह्यन्ते। एतानि पौद्गलिकानि··। स्यान्मतं कार्मणमपौद्गलिकम्; अनाकारत्वात्। आकारवतां हि औदारिकादीनां पौद्गलिकत्वं युक्तमिति। तन्न; तदपि पौद्गलिकमेव; तद्विपाकस्य मूर्तिमत्सम्बन्धनिमित्तत्वात्। दृश्यते हि व्रीह्यादीनामुदकादिद्रव्यसंबन्धप्रापितपरिपाकानां पौद्गलिकत्वम्। तथा कार्मणमपि गुडकण्टकादिमूर्तिमद्द्रव्योपनिपाते सति विपच्यमानत्वात्पौद्गलिकमित्यवसेयम्। —इन औदारिकादि पाँचों शरीरोंके कारणभूत जो कर्म हैं उनका भी शरीर पदके ग्रहण करनेसे ग्रहण हो जाता है, अर्थात् वे भी कार्मण नामका शरीर कहे जाते हैं (दे० कार्मण/२/२)। ये सब शरीर पौद्गलिक हैं। प्रश्न—आकारवान् होनेके कारण औदारिकादि शरीरोंको तो पौद्गलिक मानना युक्त है, परन्तु कार्मण शरीरको पौद्गलिक मानना युक्त नहीं है, क्योंकि वह आकाशवत् निराकार है। उत्तर—नहीं, कार्मण शरीर भी पौद्गलिक ही है, क्योंकि, उसका फल मूर्तिमान् पदार्थोंके सम्बन्धसे होता है। यह तो स्पष्ट दिखाई देता है कि जलादिकके सम्बन्धसे पकनेवाले धान आदि पौद्गलिक हैं। उसी प्रकार कार्मण शरीर भी गुड़ और काँटे आदि इष्टानिष्ट मूर्तिमान् पदार्थोंके मिलनेपर फल देते हैं, इससे ज्ञात होता है, कि कार्मण शरीर भी पौद्गलिक है। (रा. वा/५/१९/१९/१४७/१०)।

क. पा./१/१,१/§३६/५७/४ तं पि मुत्तं चेव। तं कथं णव्वदे। मुत्तोसहसंबंधेण परिणामंतरगमणण्णहाणुववत्तीदो। ण च परिणामंतरगमणमसिद्धं, तस्स तेण जर-कुट्ठ-क्खयादीणं विणासाणुववत्तीए परिणामंतरगमणसिद्धीदो। —कृत्रिम होते हुए भी कर्म मूर्त ही है। प्रश्न—यह कैसे जाना जाता है कि कर्म मूर्त है। उत्तर—क्योंकि, मूर्त औषधिके सम्बन्धसे, अन्यथा परिणामान्तरकी उत्पत्ति सम्भव नही है, अर्थात् रुग्णावस्थाकी उपशान्ति हो नहीं सकती। और यह परिणामान्तरकी प्राप्ति असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि, उसके बिना ज्वर, कुष्ठ और क्षय आदि रोगोंका विनाश बन नहीं सकता है।

दे० ईर्यापथ/३ (द्रव्यकर्मोंमें, स्निग्धता, रूक्षता व खट्टा-मीठा रस आदि भी पाये जाते हैं।) (और भी दे० वर्गणा/२/१/ व वर्ण/४)।

६. द्रव्य व भाव वचनमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

स. सि./५/१९/२८६/७ वाग् द्विविधा द्रव्यवाग् भाववागिति। तत्र भाववाक् तावद्वीर्यान्तरायमतिश्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमाङ्गोपाङ्गनामलाभनिमित्तत्वात् पौद्गलिकी। तदभावे तद्वृत्त्यभावात्। तत्सामर्थ्योपेतेन क्रियावतात्मना प्रेर्यमाणाः पुद्गला वाक्त्वेन विपरिणमन्त इति द्रव्यवागपि पौद्गलिकी; श्रोत्रेन्द्रियविषयत्वात्।···अमूर्ता वागिति चेन्न, मूर्तिमद्ग्रहणावरोधव्याघाताभिभवादिदर्शनान्मूर्तिमत्त्वसिद्धेः। —वचन दो प्रकारका है—द्रव्यवचन और भाववचन। इनमेंसे भाववचन वीर्यान्तराय और मतिज्ञानावरण तथा श्रुतज्ञानावरण कर्मोंके क्षयोपशम और अंगोपांग नामकर्मके निमित्तसे होता है, इसलिए वह पौद्गलिक है; क्योंकि, पुद्गलोंके अभावमें भाववचनका सद्भाव नहीं पाया जाता। चूँकि इस प्रकारकी सामर्थ्यसे युक्त क्रियावान् आत्माके द्वारा प्रेरित होकर पुद्गल वचनरूपसे परिणमन करते हैं, इसलिए द्रव्यवचन भी पौद्गलिक है। दूसरे द्रव्यवचन श्रोत्रेन्द्रियके विषय हैं, इससे भी पता चलता है कि वे पौद्गलिक हैं। प्रश्न—वचन अमूर्त है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वचनोंका मूर्त इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण होता है, वे मूर्त भीत आदिके द्वारा रुक जाते हैं, प्रतिकूल वायु आदिके द्वारा उनका व्याघात देखा जाता है, तथा अन्य कारणोंसे उनका अभिभव आदि देखा जाता है। (गो. जी./जी. प्र./६०५/१०६०/२), (रा. वा ५/१९/१५/४६९/३१;१८/४७०/६); (पं. का./८८/१)।

रा. वा./५/१९/१८/४७०/१४ नैते हेतवः। यस्मादुच्यते—इन्द्रियप्रामाण्यादिति; श्रोत्रमाकाशमयममूर्तत्वं ग्राह्यमिति को विरोधः। यच्चोच्यते—प्रेरणादिति, नासौ देयेन मूर्तस्य गमनाभावात्। देशान्तरस्थेन कथं गृह्यते इति चेत्। वेगवद्द्रव्याभिघातात् तत्सारम्भोऽनुमानं न प्रेरणमिति। योऽप्युच्यते—अवरोधादिति, स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव दिगन्तरे शब्दान्तरानारम्भात्, एकदिगारम्भे सति अवरोध इव लक्ष्यते न तु मुख्योऽस्तीति। अत्रोच्यते—नैते दोषाः। श्रोत्रं 'आकाशमयम्' इति नोपपद्यते; आकाशस्यामूर्तस्य कार्यान्तरारम्भशक्तिविरहात्। अदृष्टवशादिति चेत्; विकल्पोऽत्र—किमदृष्टम् आकाशं संस्करोति, उतात्मानम्, आहोस्वित् शरीरैकदेशमिति। न तावदाकाशं संस्कर्तुं युज्यते, अमूर्तित्वात् अन्यगुणत्वादसंबन्धात्। आत्मन्यपि शरीरादर्थान्तरभूतत्वेन कल्पिते निरंशे नित्यत्वे संस्काराधानं न युज्यते, तद्गुणत्वेन फलादानासंभवात्। नापि शरीरैकदेशे युज्यते, अन्यगुणत्वात् अनभिसंबन्धाच्च। किंच, मूर्तिमत्सम्बन्धजनितविकारोपलम्भनात् श्रोत्रं मूर्तमेवावसेयम्। यदप्युच्यते—स्पर्शवद् द्रव्याभिघातात् शब्दान्तरानारम्भ इति, तदापतितो नो रत्नवृष्टिः, स्पर्शवद्द्रव्याभिघातादेव मूर्तत्वमस्य सिद्धम्। न हि अमूर्तं कश्चित् मूर्तिमता विहन्यते। अत एव च मुख्यावरोधसिद्धिः स्पर्शवदभिघाताभ्युपगमात्। —प्रश्न—उपरोक्त सर्व ही हेतु ठीक नहीं हैं, क्योंकि, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशमय होनेके कारण स्वयं अमूर्त है, और इसलिए अमूर्त शब्दको भी ग्रहण कर सकता है। वायुके द्वारा प्रेरित होना भी नहीं बनता, क्योंकि, शब्द गुण है और गुणमें क्रिया नहीं होती। संयोग, विभाग व शब्द इन तीनोंसे शब्दान्तर उत्पन्न हो जानेसे नये शब्द सुनाई देते हैं। वास्तवमें प्रेरित शब्द सुनाई नहीं देता। जहाँ वेगवान् द्रव्यका अभिघात होता है वहाँ नये शब्दों की उत्पत्ति नहीं होती। जो शब्दका अवरोध जैसा मालूम देता है, वस्तुतः वह अवरोध नहीं है किन्तु, अन्य स्पर्शवान् द्रव्यका अभिघात होनेसे एक ही दिशामें शब्द उत्पन्न हो जाता है। वह अवरोध जैसा लगता है। अतः शब्द अमूर्त है? उत्तर—ये कोई दोष नहीं हैं, क्योंकि—श्रोत्रको आकाशमय कहना उचित नहीं है, क्योंकि, अमूर्त आकाश कार्यान्तरको उत्पन्न करनेकी शक्तिसे रहित है। अदृष्टकी सहायतासे भी आकाशमें या आत्मामें या शरीरके एकदेशमें संस्कार उत्पन्न करनेकी बात ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य द्रव्यका गुण होनेके कारण आकाश व शरीरसे उस अदृष्टका कोई सम्बन्ध नहीं है। और आत्मा आपके ही स्वयं निरंश व नित्य होनेके कारण उसके फलसे रहित है। दूसरे यह बात भी है कि मूर्तिमान् तेल आदि द्रव्योंसे श्रोत्रमें अतिशय देखा जाता है तथा मूर्तिमान् कील आदिसे उसका विनाश देखा जाता है, अतः श्रोत्र को मूर्त मानना ही समुचित है। आपका यह कहना कि स्पर्शवान् द्रव्यके अभिघातसे शब्दान्तर उत्पन्न हो जाता है, स्वयं इस बातकी सिद्धि करता है कि शब्द मूर्त है, क्योंकि कोई भी अमूर्त पदार्थ मूर्तके द्वारा अभिघातको प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिए मुख्यरूपसे शब्दके अभिघात वाला हेतु भी खण्डित नहीं होता।

रा वा./५/१९/१९/४७०/२८ यथा नारकादयो भास्करप्रभाभिवान्मूर्तिमन्त', तथा सिंहगजभेर्यादिशब्दैर्बृहद्भि' शकुनिरुतादयोऽभिभूयन्ते। तथा कसादिषु पतिता ध्वन्यन्तरारम्भे हेतवो भवन्ति। गिरिगह्वरादिषु च प्रतिहता' प्रतिश्रुद्भावमास्कन्दन्ति । अत्राह— अमूर्तैरप्यभिभवा दृश्यन्ते—यथा विज्ञानस्य सुरादिभि. मूर्तिमद्भिस्ततो नाय निश्चयहेतुरिति उच्यते—नाय व्यभिचार, विज्ञानस्य क्षायोपशमिकस्य पौद्गलिकत्वाभ्युपगमात् । =जिस प्रकार सूर्यके प्रकाशसे अभिभूत होनेवाले तारा आदि मूर्तिक है, उसी तरह सिहकी दहाड, हाथीकी चिंघाड और भेरी आदिके घोपसे पक्षी आदिके मन्द शब्दोंका भी अभिभव होनेसे वे मूर्त हैं। कांसेके बर्तन आदिमें पडे हुए शब्द शब्दान्तरको उत्पन्न करते है। पर्वतोकी गुफाओं आदिमे टकराकर प्रतिध्वनि होती है। प्रश्न—मूर्तिमान्से अभिभव होनेका हेतु ठीक नहीं है, क्योंकि, मूर्तिमान् सुरा आदिसे अमूर्त विज्ञानका अभिभव देखा जाता है। उत्तर—यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योकि, ससारी जीवोंका क्षायोपशमिक ज्ञानको कथचित् मूर्तिक स्वीकार किया गया है। (दे० आगे शीर्षक न ५), (स सि /५/१९/२८८/५) ।

७. द्रव्य व भावमनमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

स. सि./५/३/२६९/२ मनोऽपि द्विविध द्रव्यमनो भावमनश्चेति। ...द्रव्यमनश्चरूपादियोगात्पुद्गलद्रव्यविकार । रूपादिवन्मन' । ज्ञानोपयोगकरणत्वाच्चक्षुरिन्द्रियवत्। ननु अमूर्तेऽपि शब्दे ज्ञानोपयोगकरणत्वदर्शनाद्व्यभिचारी हेतुरिति चेत । न, तस्य पौद्गलिकत्वान्मूर्तिमत्त्वोपपत्ते । ननु यथा परमाणूना रूपादिमत्कार्यदर्शनाद्रूपादिमत्त्व न तथा वायुमनसो रूपादिमत्कार्यं दृश्यते इति तेपामपि तदुपपत्ते । सर्वेपा परमाणूना सर्वरूपादिमत्कार्यत्वप्राप्तियोग्याभ्युपगमात् ।=मन भी दो प्रकारका है—द्रव्यमन व भावमन। उनमेंसे द्रव्यमनमें रूपादिक पाये जाते है अत. वह पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है। दूसरे मन रूपादिवाला है ज्ञानोपयोगका करण होनेसे, चक्षुरिन्द्रियवत्।=प्रश्न—यह हेतु व्यभिचारी है, क्योंकि, अमूर्त होते हुए भी शब्दमें ज्ञानोपयोगकी करणता देखी जाती है? उत्तर— नहीं, क्योंकि. शब्दको पौद्गलिक स्वीकार किया गया है। (दे० पिछला शीर्षक) अत' वह मूर्त है। प्रश्न—जिस प्रकार परमाणुओंके रूपादि गुणवाले कार्य देखे जाते है, अत वे रूपादिवाले सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार वायु और मनके रूपादि गुणवाले कार्य नहीं देखे जाते ? उत्तर—नहीं क्योंकि, वायु और मनके भी रूपादि गुणवाले कार्योंके होनेकी योग्यता मानी गयी है। [परमाणुओंमें जाति भेद न होनेसे वायु व मनके कोई स्वतन्त्र परमाणु नहीं है, जिनका कि पृथक्से कोई स्वतन्त्र कार्य देखा जा सके—दे० परमाणु/२/२] (रा. वा /५/३/३/४४२/६) ।

स सि /५/१९/२८७/१ भावमनस्तावत् पुद्गलावलम्बनत्वात् पौद्गलिकम्। द्रव्यमनश्च गुणदोपविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहका पुद्गला मनस्त्वेन परिणता इति पौद्गलिकम्। =भावमन पुद्गलोंके अवलम्बनसे होता है, इसलिए पौद्गलिक है। —तथा जो पुद्गल गुण दोप विचार और स्मरणादि उपयोगके सन्मुख हुए आत्माके उपकारक है वे ही मनरूपमे परिणत होते है, अत द्रव्यमन पौद्गलिक है। [अणु प्रमाण कोई पृथक् मन नामक पदार्थ नहीं है—दे० मन/१२] (रा. वा /५/१९/२०/४७१/२), (चा सा./८८/३); (गो. जी./जी. प्र /६०६/१०६२/६) ।

दे. मन पर्यय/१/४ (ससारी जीव और उसका क्षायोपशमिक ज्ञान क्योंकि कथंचित मूर्त है (दे० अगला शीर्षक), अत उससे अपृथक्भूत मति, स्मृति, चिन्ता आदिरूप भावमन भी मूर्त है]।

८. जीवके क्षायोपशमिकादि भावोंमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

रा वा /१/२०/७/८०/२४ भावत स्वविपयपुद्गलस्कन्धाना रूपादिविकल्पेषु जीवपरिणामेषु चौदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेषु वर्तते। कुत' । पौद्गलिकत्वादेषाम् ।

रा. वा./१/२७/४/८८/१९ जीवपर्यायेषु औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकेष्वुत्पद्यतेऽवधिज्ञानम् रूपिद्रव्यसंबन्धात, न क्षायिकपारिणामिकेषु तत्सम्बन्धाभावात् । =रूपी पदार्थ विषयक अवधिज्ञान भावकी अपेक्षा स्वविपयभूत पुद्गलस्कन्धोंके रूपादि विकल्पोंमें तथा जीवके औदयिक, औपशमिक व क्षायोपशमिक भावोंमें वर्तता है, क्योंकि, रूपीद्रव्यका (कर्मोंका) सम्बन्ध होनेके कारण ये भाव पौद्गलिक है। परन्तु क्षायिक व पारिणामिक भावोंमें नहीं वर्तता है, क्योंकि, उन दोनोंमें उस रूपीद्रव्यके सम्बन्धका अभाव है।

९. जीवके रागादिक भावोंमें पौद्गलिकत्व व मूर्तत्व

स सा./मू /४६,५१,५५ ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं। जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ।४६। जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो। ।५१। जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ।५५। ='ये सब अध्यवसानादि भाव जीव है' इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने जो उपदेश दिया है सो व्यवहारनय दर्शाया है ।४६। निश्चयसे तो जीवके न राग है, न द्वेप और न मोह ।५१। क्योंकि ये सब पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं ।५५। (स सा./मू /-४४,५६,६८) ।

स. सि./७/१७/३५५/१० रागादय पुन कर्मोदयतन्त्रा इति नात्मस्वभावत्वाद्धेया ।=रागादिक कर्मोंके उदयसे होते है, अत वे आत्माके स्वभाव न होनेसे हेय हैं। (रा वा /७/१७/५/५४५/१८) ।

स.सा./आ /गा. न. अनाकुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दु खं, तदन्त पातिन एव किलाकुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावा । ततो न ते चिदन्वयविभ्रमेऽप्यात्मस्वभावा किंतु पुद्गलस्वभावा' ।४५। य प्रीतिरूपो राग अप्रतिरूपो द्वेप अप्रतिपत्तिरूपो मोह स सर्वोऽपि पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ।५१। =अनाकुलता लक्षण सुख नामक आत्म स्वभाव है। उससे विलक्षण दु ख है। उस दु खमें ही आकुलता लक्षणवाले अध्यवसान आदि भाव समाविष्ट हो जाते है, इसलिए, यद्यपि वे चैतन्यके साथ सम्बन्ध होनेका भ्रम उत्पन्न करते हैं, तथापि वे आत्मस्वभाव नहीं है, किन्तु पुद्गल स्वभाव हैं ।४५। जो यह प्रीतिरूप राग है, या अप्रीतिरूप द्वेप है या यथार्थ तत्त्वकी अप्रतिपत्तिरूप मोह है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि, वह पुद्गलद्रव्यके परिणाममय होनेसे अपनी अनुभूतिसे भिन्न है ।५१। (स. सा /आ /७४,७५,१०२, ११५,१३८) ।

द्र सं./टी /१६/५३/३ अशुद्धनिश्चयेन योऽसौ रागादिरूपो भावबन्ध' कथ्यते सोऽपि शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलबन्ध एव । =अशुद्ध निश्चयनयसे जो वह रागादिरूप भाव बन्ध (जीवका) कहा जाता है, यह भी शुद्ध निश्चयनयसे पुद्गलका ही है।

प. का/ता वृ./१३४/१९७/१८ एवं नैयायिकमताश्रितशिष्यसबोधनार्थं नयविभागेन पुण्यपापद्वयस्य मूर्तत्वसमर्थनरूपेणैकसूत्रेण तृतीयस्थल गतं । =इस प्रकार नैयायिक मताश्रित शिष्यके सम्बोधनार्थ नयविभागसे पुण्य व पाप इन दोनोंके मूर्तपनेका समर्थन करने रूप सूत्र कहा गया।

१०. संसारी जीव में मूर्तत्व

स सि /१/२७/१३४/६ 'रूपिषु' इत्यनेन पुद्गला' पुद्गलद्रव्यसम्बन्धाश्च जीवा' परिगृह्यन्ते।—सूत्र में कहे गये 'रूपिषु' इस पदसे पुद्गलोंका और पुद्गलोंसे बद्ध जीवोंका ग्रहण होता है।

गो. जी/जी.प्र/५६४/१०३३/८ पर उद्धृत—संसारिणोऽपि पुद्गला'।—संसारी जीवमें 'पुद्गल' शब्द प्रवर्तता है।

दे. बंध/२/५/१ (संसारी जीव कथंचित् मूर्त है इसी कारण मूर्त कर्मोंसे बँधता है)।

११. अन्य सम्बन्धित विषय

१. द्रव्योंमें मूर्त अमूर्तका विभाग। —दे० द्रव्य/३।
२. मूर्त द्रव्यके गुण मूर्त और अमूर्त द्रव्यके गुण अमूर्त होते हैं। —दे० गुण/३/१२।
३. मूर्त द्रव्यके साथ अमूर्त द्रव्योंका स्पर्श कैसे।—दे० स्पर्श/२।
४. परमाणुओंमें रूपी व अरूपी विभाग। —दे० मूर्त/२,४,५।
५. अमूर्त जीवके साथ मूर्त कर्म कैसे बँधे। —दे० बन्ध/२।
६. भाव कर्मोंके पौद्गलिकत्वका समन्वय। —दे० विभाव/५।
७. जीवका अमूर्तत्व। —दे० द्रव्य/३।

मूर्ति—१. भगवान्की मूर्ति—दे० प्रतिमा। २. मूर्तिपूजा—दे० पूजा/३। ३. रूपीके अर्थमें मूर्ति—दे० मूर्त/१।

मूर्तिक—दे० मूर्त।

मूल—१. एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र। २. Root (ज. प./प्र. १०८)। ३. वर्गमूल व घनमूल—दे० गणित/II/१/७,८। ४ कन्दमूल—दे० वनस्पति/१।

मूलक—भरत क्षेत्र दक्षिण आर्यखण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४।

मूलकर्म—१. आहारका एक दोष—दे० आहार/II/४। २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

मूलक्रिया—Fundamental Operation. (ध ५/प्र २८).

मूलगुण—१. ध. आ /वि./११६-२७७/३—उत्तरगुणानां कारणत्वान्मूलगुणव्यपदेशो व्रतेषु वर्तते।—अनशनादि तप उत्तर गुण हैं (दे० उत्तर गुण)। उनके कारण होनेसे व्रतोंमें मूलगुणका व्यपदेश होता है। २. श्रावकके अष्ट मूलगुण—दे० श्रावक ४)। ३. साधुके २८ मूल गुण—दे० साधु/२।

मूलप्रायश्चित्त—दे० प्रायश्चित्त/१।

मूलराज—अणहिलपुरके राजा। समय -वि. ९९८-१०५३ (ई० ९४१-९९६)। (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास/२८। कामता प्रसाद)

मूलराशि—गणितकी संकलन व व्यकलन व प्रक्रियामें जिस राशिमें अन्यराशिको जोडा जाय या जिस राशिमेंसे अन्य राशिको घटाया जाय उसे मूलराशि कहते है।

मूलसंघ—दिगम्बर साधुओंका एक सघ।—दे० इतिहास/५/२,३।

मूलस्थान—१ भ. आ /मू./२८८/५०३ पिंड उवहिं सेज्ज [अविसोहिय जो हु भुंजमाणो हु। मूलट्ठाणं पत्तो मूलोत्ति य समणपेल्लो सो।२८८। = आहार, पिछी, कमडलु और वसतिका आदिको शोधन किये बिना ही जो साधु उनका प्रयोग करता है, वह मूलस्थान नामक दोषको प्राप्त होता है। २. पजाबका प्रसिद्ध वर्तमानका मुलतान नगर (म. पु./प्र. ४९/पं. पन्नालाल)।

मूला—भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

मूलाचार—यत्याचार विषयक प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। दो मूलाचार उपलब्ध हैं—एक वट्टकेर आचार्य कृत और दूसरा कुन्दकुन्द आचार्यकृत। ऐसे पहिले बताया जा चुका है (दे० कुन्दकुन्द), वट्टकेर व कुन्दकुन्द वास्तवमें एक ही व्यक्ति थे। अतः दोनों मूलाचार वास्तवमें एक कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) की रचनाएँ हैं, तथा दोनों ही प्राकृत गाथाबद्ध है। अधिकारों व गाथाओंका प्रमाण भी दोनोंमें बराबर है, परन्तु कहीं-कहीं कुछ गाथाओंमें भेद है। इसमें १२ अधिकार और कुल १२५० गाथाएँ हैं। इसपर निम्न वृत्तियाँ लिखी गयीं—१. आ वसुनन्दि (ई. १०४३-१०५३) कृत वृत्ति, २. आ. सकलकीर्ति (ई. १४३३-१४४२) कृत मूलाचार प्रदीप नामक टीका।

मूलाराधना—भगवती आराधना ग्रन्थ का ही अपरनाम मूलाराधना है।

मूलाराधना दर्पण—भगवती आराधनापर पं. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) कृत संस्कृत टीका।

मूसल—क्षेत्रका एक प्रमाण। अपरनाम दण्ड, धनुष, नाली, युग। —दे० गणित/I/१।

मृग—ध. १३/५,५,१४०/३९१/११ रोमन्थवर्जिततिर्यंचो मृगा नाम। —जो तिर्यंच रोंथते नहीं हैं वे मृग कहलाते हैं।

मृगचारित—स्वच्छन्दचारी साधु—दे० स्वच्छन्द।

मृगशीर्षा—एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

मृगांक—रावणका मन्त्री—(प. पु./६६/१-२)।

मृतसंजीवनी—एक मन्त्रविद्या—दे० विद्या।

मृत्तिकानयन यंत्र—दे० यंत्र।

मृत्यु—दे० मरण।

मृत्युंजय यंत्र—दे० यंत्र।

मृदंगमध्य व्रत—

इस व्रतकी विधि दो प्रकार है—बृहत् व लघु। १ बृहत् विधि—यंत्रमें दिखाये अनुसार एक वृद्धि क्रम से १ से ९ पर्यंत और तत्पश्चात् एक हानि क्रमसे ९ से १ पर्यंत, इस प्रकार कुल ८१ उपवास करे। मध्यके स्थानोंमें एक-एक पारणा करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान सग्रह/पृ० ८०)।

२. लघु विधि—यन्त्रमें दिखाये अनुसार एक वृद्धि क्रमसे २ से ५ पर्यंत और तत्पश्चात् एक हानि क्रमसे ५ से २ पर्यंत, इस प्रकार कुल २३ उपवास करे। मध्यके स्थानोंमें एक-एक पारणा करे। (ह पु/३४/६४-६५)।

मृदंगाकार—Conical (ज प./प्र. १०८)।

मृषानंदी रौद्रध्यान—(दे० रौद्र ध्यान)।

मृषामन—दे० मन।

मृषावचन—दे० वचन।
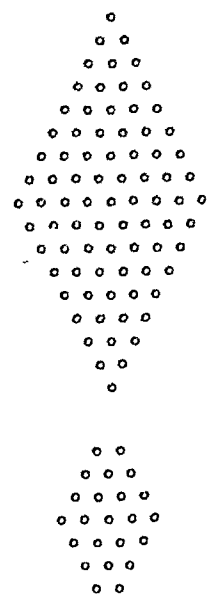
मेखलापुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मेघंकरी—नन्दनवनके नन्दनकूटकी स्वामिनी एक दिक्कुमारी देवी।—दे० लोक/७।

मेघ—सौधर्म स्वर्गका २०वाँ पटल—दे० स्वर्ग/५।

मेघकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

मेघचंद्र—१. नन्दिसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप माणिक्य-नन्दिके शिष्य तथा शान्तिकीर्तिके गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ६०१-६२७ (ई. ६७९-७०५)।—दे० इतिहास/५/१३। २ आप नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्तीके गुरुभ्राता वीरनन्दिके गुरु थे। और अभयनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तीके सहधर्मा थे। इन्द्रनन्दि सिद्धान्त-चक्रवर्ती पहले आपके शिष्यत्वमें थे। पीछे विशेष ज्ञानकी प्राप्तिके अर्थ अभयनन्दिकी शरणमें चले गये थे। वीरनन्दिने अपने आचार-सार नामक ग्रन्थमें इनकी बहुत प्रशंसा की है। समय—अभय-नन्दिके अनुसार आपका समय (ई. श. १०-११) अनुमान किया जा सकता है।

मेघचारण—दे० ऋद्धि।

मेघनाद—म पु /६३/श्लोक नं०—भरतक्षेत्र विजयार्ध पर्वतकी उत्तर-श्रेणीमें गगनवल्लभ नगरके राजा मेघवाहनका पुत्र था। दोनो श्रेणियोका राजा था। (२८-३०)। किसी समय प्रज्ञप्ति विद्या सिद्ध करता था। तब पूर्व जन्मके भाई अपराजित बलभद्रके जीवके समझाने पर दीक्षा ले ली। (३१-३२)। असुरकृत उपसर्गमें निश्चल रहे। (३३-३५)। सन्यासमरणकर अच्युतेन्द्र हुए। (३६)। यह शान्तिनाथ भगवान्के प्रथम गणधर चक्रायुधके पूर्वका छठाँ भव है।—दे० चक्रायुध।

मेघमाल—१ विजयार्धकी उत्तरश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। २ अपरविदेहस्थ एक वक्षार। अपरनाम 'देवमाल'।—दे० लोक/७।

मेघमाला व्रत—५ वर्ष तक प्रतिवर्ष भाद्रपद कृ. १,८,१४, शु. १, ८,१४ तथा आसौज कृ १ इन सात तिथियोंमें सात-सात करके कुल ३५ उपवास करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह/पृ. ८४)।

मेघमालिनी—नन्दनवनके हिमकूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी।—दे० लोक/७।

मेघरथ—म पु /६३/श्लोक न.—पुष्कलावती देशमें पुण्डरीकिणी नगरीके राजा घनरथका पुत्र था। (१४२-१४३)। इनके पुण्यके प्रतापसे एक विद्याधरका विमान इनके ऊपर आकर अटक गया। क्रुद्ध होकर विद्याधरने शिला सहित इन दोनों पिता-पुत्रको उठाना चाहा तो उन्होने पाँवके अँगूठेसे शिलाको दबा दिया। विद्याधरने क्षमा माँगी और चला गया। (२३६-२३९,२४८)। इन्द्र सभामें इनके सम्यक्त्वकी प्रशंसा सुनकर दो देवियाँ परीक्षाके लिए आयीं, परन्तु ये विचलित न हुए। (२८४-२८७)। पिताने घनरथ तीर्थंकरका उपदेश सुन दीक्षा ले ली। और तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। (३०५-३११,३३२)। अन्तमें सन्यासमरण कर अहमिन्द्र पद प्राप्त किया। (३३६-३३७)। यह शान्तिनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है।—दे० शान्तिनाथ।

मेघवती—नन्दनवनके मन्दिर कूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी देवी।—दे० लोक/७।

मेघवाहन—१. प. पु./५/श्लोक न.—"सगर चक्रवर्तीके ससुर सुलोचनके प्रतिद्वन्दी पूर्णघनका पुत्र था। (८७)। सुलोचनके पुत्र द्वारा परास्त होकर भगवान् अजितनाथके समवशरणमें गया। (८७-८८)। वहाँ राक्षसोके इन्द्र भीम व सुभीमने प्रसन्न होकर उसको लंका व पाताललंकाका राज्य तथा राक्षसी विद्या प्रदान की। (१६१-१६७)। अन्तमें अजितनाथ भगवान्से दीक्षा ले ली। (२३९-२४०)। २. प पु./सर्ग/श्लोक—"रावणका पुत्र था (८/१५८)। लक्ष्मण द्वारा रावणके मारे जानेपर विरक्त हो दीक्षा धारण कर ली। (७८/-८१-८२)।"

मेचक—[आत्मा कथंचित् मेचक है अर्थात् अनेक अवस्था रूप है। (दे० स सा /आ./१६/क १६)]।

मेद—औदारिक शरीरकी एक धातु विशेष।—दे० औदारिक/२।

मेधा—ध. १३/५,५,३७/२४२/५ मेध्यति परिच्छिनत्ति अर्थमनया इति मेधा। =जिसके द्वारा पदार्थ 'मेध्यति' अर्थात् जाना जाता है उस अवग्रहका नाम मेधा है।

मेय—ध १२/४,२,८,१०/२८५/१० मेयो यव-गो-धूमादि'। =मापनेके योग्य जौ गेहूँ आदि मेय कहे जाते हैं।

मेरक—अपर नाम मधु—दे० मधु।

मेरु—१. सुमेरु पर्वत—दे० सुमेरु। २. वर्तमान भूगोलकी अपेक्षा मेरु—दे० सुमेरु। ३. म पु /५९/श्लोक न.—"पूर्व भव नं. ९ में कोशल देशमें वृद्धग्राम निवासी मृगायण ब्राह्मणकी स्त्री मथुरा थी।२०७। पूर्व भव न. ८ में पोदन नगरके राजा पूर्णचन्द्रकी पुत्री रामदत्ता हुई। (२१०)। पूर्व भव न. ७ में महाशुक्र स्वर्गमें भास्कर देव हुआ। (२२६)। पूर्व भव न ६ में धरणीतिलक नगरके राजा अतिवेगकी पुत्री श्रीधरा हुई। (२२८)। पूर्व भव न. ५ में कापिष्ठ-स्वर्गके रुचक विमानमें देव हुआ। (२३८)। पूर्व भव न ४ में धरणीतिलक नगरके राजा अतिवेगकी पुत्री रत्नमाला हुई। (२४१-२४२)। पूर्व भव न. ३ में स्वर्गमें देव हुआ और पूर्व भव न. २ में पूर्व धातकीखण्डके गन्धिल देशके अयोध्या नगरके राजा अर्हद्दासका पुत्र 'वीतभय' नामक बलभद्र हुआ। (२७६-२७९)। पूर्वभवमें लान्तव स्वर्गमें आदित्यप्रभ नामक देव हुआ। (२८०)। वर्तमान भवमें उत्तर मथुरा नगरीके राजा अनन्तवीर्यका पुत्र हुआ। (३०२)। पूर्व भवके सम्बन्ध सुनकर भगवान् विमलवाहन (विमलनाथ) के गणधर हो गये। (३०४)। सप्त ऋद्धि युक्त हो उसी भवसे मोक्ष गये। (३०९)।" —[युगपत् सर्व भवके लिए।—दे० म. पु /५९/३०८-३०९]।

मेरुकीर्ति—नन्दिसंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप शान्तिकीर्तिके शिष्य थे। समय—विक्रम शक स ६४२-६८० (ई. ७२०-७५८)।—दे० इतिहास/५/१३।

मेरुपंक्ति व्रत—अढाई द्वीपमें सुदर्शन आदि पाँच मेरु है (दे० सुमेरु)। प्रत्येक मेरुके चार-चार वन है। प्रत्येक वनमें चार-चार चैत्यालय हैं। प्रत्येक वनके चार चैत्यालयोंके चार उपवास व चार पारणा, तत्पश्चात् एक बेला एक पारणा करे। इस प्रकार कुल ८० उपवास, २० बेले और १०० पारणा करे। 'ओं ह्रीं पंचमेरु-सम्बन्धी अस्सीजिनालयेभ्यो नम' अथवा "ओं ह्रीं (उस-उस मेरुका नाम) सम्बन्धी षोडशजिनालयेभ्यो नम" इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान संग्रह)।

मैगस्थिनीज—यूनानी राजदूत था। सैल्युकसने चन्द्रगुप्त मौर्यकी राजसभामें भेजा था। भारतमें आकर पाटलिपुत्रमें रहा था। समय ई. पू. ३०२-२९८। (वर्तमान भारत इतिहास)।

मैत्री—भ. आ./मू. व वि./१६९६/१५१६/१२ जीवेसु मित्तचिंता मेत्ती'—जीवेसु मित्तचिता अनंतकालं चतसृषु गतिषु परिभ्रमतो घटीयन्त्रवत्सर्वे प्राणभृतोऽपि बहुश कृतमहोपकारा इति तेषु मित्रता-चिता मैत्री। =अनन्तकालसे मेरा आत्मा घटीयत्रके समान इस चतुर्गतिमय ससारमे भ्रमण कर रहा है। इस संसारमें सम्पूर्ण प्राणियोंने मेरे ऊपर अनेकबार महान् उपकार किये है' ऐसा मनमें जो विचार करना, वह मैत्री भावना है।

स. सि /७/११/३४९/७ परेषां दु खानुत्पत्त्यभिलाषा मैत्री। =दूसरोको दु ख न हो ऐसी अभिलाषा रखना मैत्री है। (रा. वा /७/११/१/५३८/१४)।

ज्ञा./२७/५-७ क्षुद्रेतरविकल्पेषु चरस्थिरशरीरिषु। सुखदु खाद्यवस्थासु ससृतेषु यथायथम् ।५। नानायोनिगतेष्वेषु समत्वेनाविराधिका। साध्वी महत्त्वमापन्ना मतिर्मैत्रीति पठ्यते ।६। जीवन्तु जन्तव सर्वे क्लेशव्यसनवर्जिता। प्राप्नुवन्ति सुख त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम् ।७। =सूक्ष्म और बादर भेदरूप त्रस स्थावर प्राणी सुख-दु खादि अवस्थाओंमें जैसे-तैसे तिष्ठे हो—तथा नाना भेदरूप योनियोमे प्राप्त होनेवाले जीवोमें समानतासे विराधनेवाली न हो ऐसी महत्ता-को प्राप्त हुई समीचीन बुद्धि मैत्री भावना कही जाती है।५-६। इसमें ऐसी भावना रहती है कि—ये सब जीव कष्ट व आपदाओंसे वर्जित हो जाओ, तथा वैर, पाप, अपमानको छोडकर सुखको प्राप्त होओ ।७।

मैथुन—१. स. सि /७/१६/३५३/१० स्त्रीपसयोश्चारित्रमोहोदये सति रागपरिणामाविष्टयो परस्परस्पर्शनं प्रति इच्छा मिथुनम्। मिथुनस्य भाव मैथुनमित्युच्यते। =चारित्रमोहका उदय होनेपर राग परिणामसे युक्त स्त्री और पुरुषके जो एक दूसरेको स्पर्श करनेकी इच्छा होती है वह मैथुन कहलाता है। (रा वा./७/१६/५४३/२६) (विशेष दे० ब्रह्मचर्य/४/१)।

ध १२/४,२,८,५/२८२/१ त्थी-पुरिसविसयवावारो मणवयण-कायसरूवो मेहुण। एत्थवि अतरगमेहुणस्सेव बहिरगमेहुणस्स आसवभावो वत्तव्वो। =स्त्री और पुरुषके मन, वचन व कायस्वरूप विषय-व्यापारको मैथुन कहा जाता है। यहाँपर अन्तरग मैथुनके समान बहिरग मैथुनको भी (कर्मनन्धरा) कारण बतलाना चाहिए।

*** मैथुन व अब्रह्म सम्बन्धी शकाएँ** —दे० ब्रह्मचर्य/४।

*** वेद व मैथुनमें अन्तर—** —दे० संज्ञा।

मैथुन संज्ञा—दे० सज्ञा।

मैनासुन्दरी—मालवदेशमें उज्जैनी नगरीके राजा पहुपालकी पुत्री थी। पिताके सन्मुख कर्मकी बलवत्ताका बखान करनेके कारण क्रोध-वश पिताने कुष्टीके साथ विवाह दी। पतिकी खूब सेवा की, तथा मुनियोके कहनेपर सिद्धचक्र विधान करके उसके गन्धोदक द्वारा उसका कुष्ट दूर किया। अन्तमें दीक्षा धारण करके स्त्रीलिंगका छेद-कर सोलहवे स्वर्गमें देव हुआ। (श्रीपालचरित्र)।

मोक—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश।—मनुष्य/४।

मोक्ष—शुद्ध रत्नत्रयकी साधनासे अष्ट कर्मोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति द्रव्यमोक्ष है और रागादि भावोकी निवृत्ति भावमोक्ष है। मनुष्य-गतिमे ही जीवको मोक्ष होना सम्भव है। आयुके अन्तमे उसका शरीर काफूरवत उड जाता है और वह स्वाभाविक ऊर्ध्व गतिके कारण लोकशिखरपर जा विराजते है, जहाँ वह अनन्तकाल तक अनन्त अतीन्द्रिय सुखका उपभोग करते हुए अपने चरम शरीरके आकार रूपमे स्थित रहते है और पुन शरीर धारण करके जन्म-मरणके चक्करमें कभी नहीं पडते। ज्ञान ही उनका शरीर होता है। जैन दर्शनकार उसके प्रदेशोकी सर्व व्यापकता स्वीकार नहीं करते है, न हो उसे निर्गुण व शून्य मानते है। उसके स्वभावभूत अनन्त ज्ञान आदि आठ प्रसिद्ध गुण है। जितने जीव मुक्त होते है उतने ही निगोद राशिसे निकलकर व्यवहारराशिमें आ जाते है, इससे लोक जीवोसे रिक्त नही होता।

१. भेद व लक्षण

१. मोक्ष सामान्यका लक्षण

त. सू./१०/२ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।२। =बन्ध हेतुओं (मिथ्यात्व व कषाय आदि) के अभाव और निर्जरासे सब कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है। (स. सि./१/१/७/५; १/४/१४/५), (रा वा./१/४/२०/२७/११), (स म./२७/३०२/२८)।

स. सि./१/१ की उत्थानिका/१/८ निरवशेषनिराकृतकर्ममलकलङ्कस्याशरीरस्यात्मनोऽचिन्त्यस्वाभाविकज्ञानादिगुणमव्याबाधसुखमात्यन्तिकमवस्थान्तर मोक्ष इति। =जब आत्मा कर्ममल (अष्टकर्म), कलंक (राग, द्वेष, मोह) और शरीरको अपनेसे सर्वथा जुदा कर देता है तब उसके जो अचिन्त्य स्वाभाविक ज्ञानादि गुणरूप और अव्याबाध सुखरूप सर्वथा विलक्षण अवस्था उत्पन्न होती है उसे मोक्ष कहते हैं। (प प्र./मू./२/१०); (ज्ञा./३/६-१०), (नि सा./ता वृ/४); (द्र. स./टी./३७/१५४/५), (स्या म/८/८६/३ पर उद्धृत श्लोक)।

रा वा/१/१/३७/१०/१५ 'मोक्ष असने' इत्येतस्य घञ्भावसाधनो मोक्षणं मोक्ष असन क्षेपणमित्यर्थ., स आत्यन्तिक सर्वकर्मनिक्षेपो मोक्ष इत्युच्यते।

रा वा/१/४/१३/२६/६ मोक्ष्यते अस्यते येन असनमात्रं वा मोक्षः।

रा वा./१/४/२७/१२ मोक्ष इव मोक्ष। क उपमार्थ। यथा निगडादिद्रव्यमोक्षात् सति स्वातन्त्र्ये अभिप्रेतप्रदेशगमनादे पुमान् सुखी भवति, तथा कृत्स्नकर्मवियोगे सति स्वाधीनात्यन्तिकज्ञानदर्शनानुपमसुख आत्मा भवति। =समस्त कर्मोंके आत्यन्तिक उच्छेदको मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द 'मोक्षणं मोक्ष' इस प्रकार क्रियाप्रधान भावसाधन है, 'मोक्ष असने' धातुसे बना है। अथवा जिनसे कर्मोंका समूल उच्छेद हो वह और कर्मोंका पूर्ण रूपसे छूटना मोक्ष है। अथवा मोक्षकी भाँति है। अर्थात् जिस प्रकार बन्धनयुक्त प्राणी बेडी आदिके छूट जानेपर स्वतन्त्र होकर यथेच्छ गमन करता हुआ सुखी होता है, उसी प्रकार कर्म बन्धनका वियोग हो जानेपर आत्मा स्वाधीन होकर आत्यन्तिक ज्ञान दर्शनरूप अनुपम सुखका अनुभव करता है। (भ आ/वि./वि/३८/१३४/१८), (ध १३/५,५,८२/३४८/६)।

न. च. वृ./१५६ ज अप्पसहावादो मूलोत्तरपयडिसंचिय मुच्चइ। त मुक्ख अविरुद्धं।१५६। =आत्म स्वभावसे मूल व उत्तर कर्मप्रकृतियोंके सचयका छूट जाना मोक्ष है। और यह अविरुद्ध है।

स. सा/आ/२८८ आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्ष। =आत्मा और बन्धको अलग-अलग कर देना मोक्ष है।

२. मोक्षके भेद

रा. वा/१/७/१४/४०/२४ सामान्यादेको मोक्ष, द्रव्यभावभोक्तव्यभेदादनेकोऽपि। =सामान्यकी अपेक्षा मोक्ष एक ही प्रकारका है। द्रव्य भाव और भोक्तव्यकी दृष्टिसे अनेक प्रकारका है।

ध १३/५,५,८२/३४८/१ सो मोक्खो तिविहो—जीवमोक्खो पोग्गलमोक्खो जीवपोग्गलमोक्खो चेदि। =वह मोक्ष तीन प्रकारका है—जीव मोक्ष, पुद्गल मोक्ष और जीव पुद्गल मोक्ष।

न. च वृ./१५६ त मुक्ख अविरुद्धं दुविह खलु दव्वभावगदं। =द्रव्य व भावके भेदसे वह मोक्ष दो प्रकारका है। (द्र स./टी/३७/१५४/७)।

३. द्रव्य व भाव मोक्षके लक्षण

भ आ./३८/१३४/१८ निरवशेषाणि कर्माणि येन परिणामेन क्षायिकज्ञानदर्शनयथाख्यातचारित्रसंज्ञितेन अस्यन्ते स मोक्ष। विश्लेषो वा

समस्तानां कर्मणा। =क्षायिक ज्ञान, दर्शन व यथाख्यात चारित्र नामवाले (शुद्धरत्नत्रयात्मक) जिन परिणामोंसे निरवशेष कर्म आत्मासे दूर किये जाते हैं उन परिणामोंको मोक्ष अर्थात् भावमोक्ष कहते हैं और सम्पूर्ण कर्मोंका आत्मामें अलग हो जाना मोक्ष अर्थात् द्रव्यमोक्ष है। (और भी दे० पीछे मोक्ष सामान्यका लक्षण नं. ३) (द्र. सं./मू./३७/१५४)।

पं. का./ता. वृ./१०८/१७३/१० कर्मनिर्मूलनसमर्थः शुद्धात्मोपलब्धिरूपजीवपरिणामो भावमोक्षः, भावमोक्षनिमित्तेन जीवकर्मप्रदेशानां निरवशेषः पृथग्भावो द्रव्यमोक्ष इति। =कर्मोंके निर्मूल करनेमें समर्थ ऐसा शुद्धात्माकी उपलब्धि रूप (निश्चयरत्नत्रयात्मक) जीव परिणाम भावमोक्ष है और उस भावमोक्षके निमित्तसे जीव व कर्मोंके प्रदेशोंका निरवशेषरूपसे पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है। (प्र. सा./ता. वृ./८४/१०६/१५) (द्र. सं./टी./२८/८५/१४)।

दे० आगे शीर्षक नं. ५ (भावमोक्ष व जीवन्मुक्ति एकार्थवाचक है।

स्या. म./८/८६/१ स्वरूपावस्थानं हि मोक्षः। =स्वरूपमें अवस्थान करना ही मोक्ष है।

४. मुक्त जीवका लक्षण

पं. का./मू./२८ कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता। सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं।२८। =कर्ममलसे मुक्त आत्मा ऊर्ध्वलोकके अन्तको प्राप्त करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी अनन्त अनिन्द्रिय सुखका अनुभव करता है।

स. सि./२/१०/१६६/७ उक्तात्पञ्चविधात्संसारान्निवृत्ता ये ते मुक्ताः। =जो उक्त पाँच प्रकारके संसारसे निवृत्त हैं वे मुक्त हैं।

रा. वा./२/१०/२/१२४/२३ निरस्तद्रव्यभावबन्धा मुक्ताः। =जिनके द्रव्य व भाव दोनों कर्म नष्ट हो गये हैं वे मुक्त हैं।

न. च. वृ./१०७ णट्ठट्ठकम्ममुद्धा असरीराणंतसोक्खणाणट्ठा। परमपहुत्तं पत्ता जे ते सिद्धा हु खलु मुक्का।१०७। =जिनके अष्ट कर्म नष्ट हो गये हैं, शरीर रहित हैं, अनन्तसुख व अनन्तज्ञानमें आसीन हैं, और परम प्रभुत्वको प्राप्त हैं ऐसे सिद्ध भगवान् मुक्त हैं। (विशेष देखो आगे सिद्धका लक्षण)।

पं. का./ता. वृ./१०९/१७४/१३ शुद्धचेतनात्मका मुक्ताः केवलज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणा मुक्ताः। =शुद्धचेतनात्म या केवलज्ञान व केवलदर्शनोपयोग लक्षणवाला जीव मुक्त है।

५. जीवन्मुक्तका लक्षण

पं. का./ता. वृ./१५०/२१६/१८ भावमोक्षः केवलज्ञानोत्पत्तिः जीवन्मुक्तोऽर्हत्पदमित्येकार्थः। =भावमोक्ष, केवलज्ञानकी उत्पत्ति, जीवन्मुक्त, अर्हन्तपद ये सब एकार्थवाचक हैं।

६. सिद्ध जीव व सिद्धगतिका लक्षण

नि. सा./मू./७२ णट्ठट्ठकम्मबंधा अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा। लोयग्गठिदा णिच्चा सिद्धा ते एरिसा होंति।७२। =आठ कर्मोंके बन्धनको जिन्होंने नष्ट किया है ऐसे, आठ महागुणों सहित, परम, लोकाग्रमें स्थित और नित्य, ऐसे वे सिद्ध होते हैं। (और भी दे० पीछे मुक्तका लक्षण) (क्रि. क./3/1/2/142)।

पं. सं./प्रा./१/गाथा नं.—अट्ठविहकम्मवियडा सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा। अट्ठगुणा कयकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा।३१। जाइजरामरणभया संजोयविजोयदुक्खसण्णाओ। रोगादिया य जिस्से ण होंति सा होइ सिद्धिगई।६४। ण य इंदियकरणजुआ अवग्गहाईहि गाहया अत्थे। णेव य इंदियसुक्खा अणिंदियाणंतणाणसुहा।७४। =१ जो अष्टविध कर्मोंसे रहित हैं, अत्यन्त शान्तिमय हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणोंसे युक्त हैं, कृतकृत्य हैं, लोकके अग्रभागपर निवास करते हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं। (ध. १/१,१,२३/गा. १२९/२००), (गो. जी./मू./६८/१७७)। २. जहाँपर जन्म, जरा, मरण, भय, संयोग, वियोग, दुःख, संज्ञा और रोगादि नहीं होते हैं वह सिद्धगति कहलाती है।६४। (ध. १/१,१,२४/गा. १३२/२०४), (गो. जी./मू./१५२/३७५)। ३. जो इन्द्रियोंके व्यापारसे युक्त नहीं हैं, अवग्रह आदिके द्वारा भी पदार्थके ग्राहक नहीं हैं, और जिनके इन्द्रिय सुख भी नहीं हैं, ऐसे अतीन्द्रिय अनन्तज्ञान और सुखवाले जीवोंको इन्द्रियातीत सिद्ध जानना चाहिए।७४।—[उपरोक्त तीनों गाथाओंका भाव—(पं. सं./सं./१/१६–२६); (चा. सा./३३-३४)]

ध. १/१,१,१/गा. २६–२८/४८ णिहयविविहट्ठकम्मा तिहुवणसिरसेहरा विहुवदुक्खा। सुहसायरमज्झगया णिरंजणा णिच्च अट्ठगुणा।२६। अणवज्जा कयकज्जा सव्वावयवेहि दिट्ठसव्वट्ठा। वज्जसिलत्थब्भग्गय पडिमं वाभेज्ज संठाणा।२७। माणुससंठाणा वि हु सव्वावयवेहि णो गुणेहि समा। सव्विंदियाण विसयं जमेगदेसे विजाणंति।२८। =जिन्होंने नानाभेदरूप आठ कर्मोंका नाश कर दिया है, जो तीन लोकके मस्तकके शेखरस्वरूप हैं, दुःखोंसे रहित हैं, सुखरूपी सागरमें निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुणोंसे युक्त हैं।२६। अनवद्य अर्थात् निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, जिन्होंने सर्वांगसे अथवा समस्तपर्यायों सहित सम्पूर्ण पदार्थोंको जान लिया है, जो वज्रशिला निर्मित अभग्न प्रतिमाके समान अभेद्य आकारसे युक्त हैं।२७। जो सब अवयवोंसे पुरुषाकार होनेपर भी गुणोंसे पुरुषके समान नहीं हैं, क्योंकि पुरुष सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयोंको भिन्न देशमें जानता है, परन्तु जो प्रति प्रदेशमें सब विषयोंको जानते हैं, वे सिद्ध हैं।२८।

और भी दे० लगभग उपरोक्त भावोंको लेकर ही निम्नस्थलोंपर भी सिद्धोंका स्वरूप बताया गया है। (म. पु./२१/११४-११८); (द्र. सं./मू./१४/४१), (त. अनु./१२०-१२२)।

प्र. सा./ता. वृ./१०/१२/६ शुद्धात्मोपलम्भलक्षणः सिद्धपर्यायः =शुद्धात्मोपलब्धि ही सिद्ध पर्यायका (निश्चय) लक्षण है।

७. सिद्धलोकका स्वरूप

भ. आ./मू./२१३३ ईसिप्पब्भाराए उवरिं अत्थदि सो जोयणम्मि सदिए। धुवमचलमजरठाणं लोगसिहरमस्सिदो सिद्धो। =सिद्धभूमि 'ईषत्प्राग्भार' पृथिवीके ऊपर स्थित है। एक योजनमें कुछ कम है। ऐसे निष्कम्प व स्थिर स्थानमें सिद्ध प्राप्त होकर तिष्ठते हैं।

ति. प./८/६५२-६५८ सव्वट्ठसिद्धिइंदयकेदणदंडादु उवरि गंतुण। बारसजोयणमेत्तं अट्ठमिया चेट्ठदे पुढवी।६५२। पुव्वावरेण तीए उवरिमहेट्ठिमतलेसु पत्तेक्कं। वासो हवेदि एक्का रज्जू रूवेण परिहीणा।६५३। उत्तरदक्खिणभाए दीहा किंचूणसत्तरज्जूओ। वेत्तासणसंठाणा सा पुढवी अट्ठजोयणबहला।६५४। जुत्ता घणोवहिघणाणितणुवादेहि तिहि समीरेहिं। जोयण वीससहस्सं पमाणं बहलेहिं पत्तेक्कं।६५५। एदाए बहुमज्झे खेत्तं णामेण ईसिपब्भारं। अज्जुणसुवण्णसरिसं णाणारयणेहिं परिपुण्णं।६५६। उत्ताणधवलछत्तोवमाणसंठाणसुंदरं एदं। पंचत्तालं जोयणयाउ लं पि यतम्मि। अट्ठमभूमज्झगदो तप्परिही मणुवखेत्तपरिहिसमो।६५८। =सर्वार्थसिद्धि इन्द्रकके ध्वजदण्डसे १२ योजनमात्र ऊपर जाकर आठवीं पृथिवी स्थित है।६५२। उसके उपरिम और अधस्तन तलमेंसे प्रत्येक तलका विस्तार पूर्वपश्चिममें रूपसे रहित (अर्थात् वातवलयोंकी मोटाईसे रहित) एक राजू प्रमाण है।६५३। वेत्रासनके सदृश वह पृथिवी उत्तरदक्षिण भागमें कुछ कम (वातवलयोंकी मोटाईसे रहित) सात राजू लम्बी है। इसकी मोटाई आठ योजन है।६५४। यह पृथिवी घनोदधिवात, घनवात, और तनुवात इन तीन वायुओंसे युक्त है। इनमेंसे प्रत्येक वायुका बाहल्य २०,००० योजन प्रमाण है।६५५। उसके बहुमध्य भागमें चाँदी एवं सुवर्णके सदृश और नाना रत्नोंसे परिपूर्ण

ईषत्प्राग्भार नामक क्षेत्र है ।६५६। यह क्षेत्र उत्तान धवल छत्रके सदृश (या ऊँधे कटोरेके सदृश—त्रि. सा./५५८) आकारसे सुन्दर और ४५००,००० योजन (मनुष्य क्षेत्र) प्रमाण विस्तारसे सयुक्त है ।६५७। उसका मध्य बाहल्य (मोटाई) आठ योजन है और उसके आगे घटते-घटते अन्तमें एक अंगुलमात्र । अष्टम भूमिमें स्थित सिद्धक्षेत्रकी परिधि मनुष्य क्षेत्रकी परिधिके समान है ।६५८। (ह. पु./६/१२६-१३२); (ज प./११/३५९-३६१) (त्रि. सा /५५६-५५८); (क्ष. सा / मू /६४९/७६६) ।

ति प /९/३-४ अट्ठमखिदीए उवरिं पण्णसब्भहियसत्तयसहस्सा । दडाणि गतूणं सिद्धाण होदि आवासो ।३। पणदोछप्पणइगिअडणहचउसग-चउखचदुरअडकमसो । अट्ठहिदा जोयणया सिद्धाण णिवास खिदि-याण ।४। =उस (उपरोक्त) आठवीं पृथिवीके ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धोंका आवास है ।३। उस सिद्धोके आवास क्षेत्रका प्रमाण (क्षेत्रफल) $\frac{८४०४७४०८१५६२५}{८}$ योजन है ।

२. मोक्ष व मुक्तजीव निर्देश

१. अर्हन्त व सिद्धमें कथंचित् भेदाभेद

ध १/१,१,१/४६/२ सिद्धानामर्हतां च को भेद इति चेन्न, नष्टाष्टकर्माण' सिद्धा' नष्टघातिकर्माणोऽर्हन्त इति तयोर्भेद.। नष्टेषु घातिकर्म-स्वाविर्भूताशेषात्मगुणत्वान्न गुणकृतस्तयोर्भेद इति चेन्न, अघाति-कर्मोदयसत्त्वोपलम्भात । तानि शुक्लध्यानाग्निनार्धदग्धत्वात्सन्त्य-पि न स्वकार्यकर्तृणीति चेन्न, पिण्डनिपाताभावान्यथानुपपत्तित· आयुष्यादिशेषकर्मोदयास्तित्वसिद्धे· । तत्कार्यस्य चतुरशीतिलक्षयो-न्यात्मकस्य जातिजरामरणोपलक्षितस्य ससारस्यासत्त्वात्तेषामात्म-गुणघातनसामर्थ्याभावाच्च न तयोर्गुणकृतो भेद इति चेन्न, आयुष्य-वेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयो सत्त्वात । नोर्ध्व-गमनमात्मगुणस्तदभावे चात्मनो विनाशप्रसगात् । सुखमपि न गुण-स्तत एव । न वेदनीयोदयो दु खजनक केवलिनि केवलित्वान्यथा-नुपपत्तेरिति चेदस्त्वेवमेव न्यायप्राप्तत्वात । किंतु सलेपनिर्लेपत्वाभ्या देशभेदाच्च तयोर्भेद इति सिद्धम् । =प्रश्न—सिद्ध और अर्हन्तोंमें क्या भेद है ? उत्तर—आठ कर्मोंको नष्ट करनेवाले सिद्ध होते है, और चार घातिया कर्मोंको नष्ट करनेवाले अरिहन्त होते है । यही दोनोंमें भेद है । प्रश्न—चार घातिया कर्मोके नष्ट हो जानेपर अरिहन्तोंकी आत्माके समस्त गुण प्रगट हो जाते है, इसलिए सिद्ध और अरिहन्त परमेष्ठीमे गुणकृत भेद नहीं हो सकता है ? उत्तर—ऐसा नही है, क्योकि, अरिहन्तोके अघातिया कर्मोंका उदय और सत्त्व दोनो पाये जाते है, अतएव इन दोनो परमेष्ठियोंमें गुणकृत भेद भी है । प्रश्न—वे अघातिया कर्म शुक्लध्यानरूप अग्निके द्वारा अधजलेसे हो जानेके कारण उदय और सत्त्वरूपसे विद्यमान रहते हुए भी अपना कार्य करनेमें समर्थ नही है ? उत्तर—ऐसा भी नही है, क्योकि, शरीरके पतनका अभाव अन्यथा सिद्ध नही होता है, इसलिए अरिहन्तोंके आयु आदि शेष कर्मोके उदय और सत्त्वकी (अर्थात उनके कार्यकी) सिद्धि हो जाती है । प्रश्न—कर्मोंका कार्य तो चौरासी लाख योनि-रूप जन्म, जरा और मरणसे युक्त ससार है । वह, अघातिया कर्मोके रहनेपर अरिहन्त परमेष्ठीके नहीं पाया जाता है । तथा अघातिया कर्म, आत्माके अनुजीवी गुणोके घात करनेमें समर्थ भी नहीं है । इसलिए अरिहन्त और सिद्ध परमेष्ठीमे गुणकृत भेद मानना ठीक नहीं है ? उत्तर—ऐसा नही है, क्योंकि जीवके ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयुकर्मका उदय और सुखगुणका प्रतिबन्धक वेदनीय-कर्मका उदय अरिहन्तोके पाया जाता है, इसलिए अरिहन्त और सिद्धोंमें गुणकृत भेद मानना ही चाहिए । प्रश्न—ऊर्ध्वगमन आत्मा-का गुण नही है, क्योकि, ऐसा माननेपर उसके अभावमें आत्माका भी अभाव मानना पडेगा । इसी कारणसे सुख भी आत्माका गुण नही है । दूसरे वेदनीय कर्मका उदय दु खको भी उत्पन्न नहीं करता है, अन्यथा केवली भगवान्के केवलीपना बन नही सकता ? उत्तर—यदि ऐसा है तो रहो, अर्थात् यदि उन दोनोमें गुणकृत भेद सिद्ध नही होता है तो मत होओ, क्योकि वह न्यायसंगत है । फिर भी सले-पत्व और निर्लेपत्वकी अपेक्षा और देश भेदकी अपेक्षा उन दोनों परमेष्ठियोमे भेद सिद्ध है ।

२. वास्तवमें भावमोक्ष ही मोक्ष है

प प्र /टी /२/४/११७/१३ जिना कर्तार व्रजन्ति गच्छन्ति । कुत्र गच्छन्ति । परलोकशब्दवाच्ये परमात्मध्याने न तु कायमोक्षे चेति । =जिनेन्द्र भगवान् परलोकमें जाते है अर्थात 'परलोक' इस शब्दके वाच्यभूत परमात्मध्यानमें जाते है, कायके मोक्षरूप परलोकमें नहीं ।

३. मुक्त जीव निश्चयसे स्वमें ही रहते हैं; सिद्धालयमें रहना व्यवहारसे है

नि. सा /ता वृ./१७६/क २९४ लोकस्याग्रे व्यवहरणत' सस्थितो देव-देव , स्वात्मन्युच्चैरविचलतया निश्चयेनैवमारते ।२९४। =देवाधि-देव व्यवहारसे लोकके अग्रमें सुस्थित है, और निश्चयसे निज आत्मामें ज्योके त्यो अत्यन्त अविचल रूपसे रहते हैं।

४. अपुनरागमन सम्बन्धी शंका-समाधान

प्र. सा./मू /१७ भगविहीणो य भवो सभवपरिवज्जिदो विणासो हि । ।१७। =उस सिद्ध भगवान्के विनाश रहित तो उत्पाद है और उत्पाद रहित विनाश है । (विशेष दे /उत्पाद/२) ।

रा. वा /१०/४/४-८/६४२-२७ बन्धस्याव्यवस्था अश्वादिवदिति चेत; न, मिथ्यादर्शनाद्युच्छेदे कार्यकारणनिवृत्ते ।४। पुनर्बन्धप्रसगो जानत पश्यतश्च कारुण्यादिति चेत्, न, सर्वास्रवपरिक्षयात ।५। भक्तिस्नेहकृपास्पृहादीना रागविकल्पत्वाद्वीतरागे न ते सन्तीति । अकस्मादिति चेत्, अनिर्मोक्षप्रसग ।६। मुक्तिप्राप्त्यनन्तरमेव बन्धोपपत्ते । स्थानवत्त्वात्पात इति चेत्, न, अनास्रवत्वात ।७। आस्रवतो हि पानपात्रस्याध पतन दृश्यते, न चास्रवो मुक्त-स्यास्ति । गौरवाभावाच्च ।८। यस्य हि स्थानवत्त्व पातकारणं तस्य सर्वेषां पदार्थाना पात' स्यात स्थानवत्त्वाविशेषात ।

रा वा/१०/२/३/६४१/६ पर उद्धृत—'दग्धे बीजे यथाऽत्यन्त प्रादुर्भवति नाङ्कुर'। कर्मबीजे तथा दग्धे न रोहति भवाङ्कुर' । =प्रश्न—१ जैसे घोडा एक बन्धनसे छूटकर भी फिर दूसरे बन्धनसे बँध जाता है, उस तरह जीव भी एक बार मुक्त होनेके पश्चात् पुन' बँध जायेगा? उत्तर—नही, क्योकि, उसके मिथ्यादर्शनादि कारणोका उच्छेद होनेसे बन्धनरूप कार्यका सर्वथा अभाव हो जाता है ।४। प्रश्न—समस्त जगत्को जानते व देखते रहनेसे उनको करुणा भक्ति आदि उत्पन्न हो जायेगे, जिसके कारण उनको बन्धका प्रसंग प्राप्त होता है ? उत्तर—नही, क्योकि, समस्त आस्रवोका परिक्षय हो जानेसे उनको भक्ति स्नेह कृपा और स्पृहा आदि जागृत नही होते है । वे वीतराग है, इसलिए जगतके सम्पूर्ण प्राणियोको देखते हुए भी उनको करुणा आदि नहीं होती है ।५। प्रश्न—अकस्मात ही यदि बन्ध हो जाये तो ? उत्तर—तब तो किसी जीवको कभी मोक्ष ही नही हो सकती, क्योकि, तब तो मुक्ति हो जानेके पश्चात् भी उसे निष्कारण ही बन्ध हो जायेगा ।६। प्रश्न—स्थानवाले होनेसे उनका पतन हो जायेगा ? उत्तर—नहीं, क्योकि, उनके आस्रवोका अभाव है । आस्रववाले ही पानपात्रका अथवा गुरुत्व (भार) युक्त ही ताड

फल आदिका पतन देखा जाता है। परन्तु मुक्त जीवके न तो आसव है और न ही गुरुत्व है।८। यदि मात्र स्थानवाले होनेसे पतन होवे तो आकाश आदि सभी पदार्थोंका पतन हो जाना चाहिए, क्योंकि, स्थानवत्ताकी अपेक्षा सब समान है। २. दूसरी बात यह भी है, कि जैसे बीजके पूर्णतया जल जानेपर उसमें अकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार कर्मबीजके दग्ध हो जानेपर ससाररूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होता है। (त सा./८/७); (स्या म /२१/३२८/२८ पर उद्धृत)।

ध. ४/१,५,३१०/४७७/१ ण च ते ससारे णिवदंति णट्ठासवत्तादो। =३. कर्मास्रवोंके नष्ट हो जानेसे वे ससारमे पुन लौटकर नहीं आते।

यो. सा /अधिकार/श्लोक—न निर्वृत. सुखीभवत' पुनरायाति ससृति। सुखद हि पद हित्वा दु खद क. प्रपद्यते। (७/१८)। युज्यते रजसा नात्मा भूयोऽपि विरजीकृत। पृथक्कृत कुत स्वर्ण पुन' कीटेन युज्यते। (६-५३)। =४. जो आत्मा मोक्ष अवस्थाको प्राप्त होकर निराकुलतामय सुखका अनुभव कर चुका वह पुन' ससारमें लौटकर नहीं आता, क्योकि, ऐसा कौन बुद्धिमान् पुरुष होगा जो सुखदायी स्थानको छोडकर दु.खदायी स्थानमें आकर रहेगा। (१८) ५ जिस प्रकार एक बार कीटसे नियुक्त किया गया स्वर्ण पुनः कीट युक्त नहीं होता है उसी प्रकार जो आत्मा एक बार कर्मोंसे रहित हो चुका है. वह पुन कर्मोंसे सयुक्त नही होता।५३।

दे० मोक्ष/६/५.६ ६ पुनरागमनका अभाव माननेसे मोक्षस्थानमें जीवोंकी भीड हो जावेगी अथवा यह ससार जीवोंसे रिक्त हो जायेगा ऐसी आशकाओंको भी यहाँ स्थान नही है।

५. जितने जीव मोक्ष जाते हैं उतने ही निगोदसे निकलते हैं

गो जी./जी.'प्र /१९७/४४१/१५ कदाचिदष्टसमयाधिकषण्मासाभ्यन्तरे चतुर्गतिजीवराशितो निर्गतेपु अष्टोत्तरषट्शतजीवेषु मुक्तिगतेपु तावन्तो जीवा नित्यनिगोदभव त्यक्त्वा चतुर्गतिभव प्राप्नुवन्तीत्ययमर्थ। =कदाचित आठ समय अधिक छह मासमें चतुर्गति जीवराशिमें-से निकलकर १०८ जीव मोक्ष जाते है ;और उतने ही जीव (उतने ही समयमें) नित्य निगोद भवको छोडकर चतुर्गतिरूप भवको प्राप्त होते है। (और भी दे० मोक्ष/४/१०,११)।

दे० मार्गणा—(सब मार्गणा व गुणस्थानोमें आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम है)।

स्या. म./२९/३३१/१३ पर उद्धृत—सिज्झन्ति जत्तिया खलु इह सववहारजीवरासीओ। एति अणाइवस्सइ रासीओ तत्तिआ तम्मि।२। इति वचनाद्। यावन्तश्च यतो मुक्ति गच्छन्ति जीवास्तावन्तोऽनादि निगोदवनस्पतिराशेस्तत्रागच्छन्ति। =जितने जीव व्यवहार राशिसे निकलकर मोक्ष जाते हैं, उतने ही अनादि वनस्पतिराशिसे निकलकर व्यवहार राशिमें आ जाते है।

६. जीव मुक्त हो गया है इसके चिह्न

दे० सल्लेखना/६/२/४ (क्षपकके मृत शरीरका मस्तक व दन्तपंक्ति यदि पक्षिगण ले जाकर पर्वतके शिखरपर डाल दें तो इस परसे यह बात जानी जाती है कि वह जीव मुक्त हो गया है।)

७. सिद्धोंको जाननेका प्रयोजन

प. प्र /मू./१/२६ जेहउ णिम्मलु णाणमउ सिद्धिहिं णिवसइ देउ। तेहउ णिवसइ बंभु परु देहहं म करि भेउ।२६। =जैसा कार्यसमयसार स्वरूप निर्मल ज्ञानमयी देव सिद्धलोकमें रहते हैं, वैसा ही कारणसमयसार स्वरूप परब्रह्म शरीरमें निवास करता है। अत हे प्रभाकर भट्ट! तू सिद्ध भगवान् और अपनेमें भेद मत कर।

प. प्र /टी /१/२५/३०/१ तदेव मुक्तजीवसदृशं स्वशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयमिति भावार्थ'। =वह मुक्त जीव सदृश स्वशुद्धात्मस्वरूप कारणसमयसार ही उपादेय है, ऐसा भावार्थ है।

३. सिद्धोंके गुण व भाव आदि

१. सिद्धोंके आठ प्रसिद्ध गुणोंका नाम निर्देश

लघु सिद्धभक्ति/८ सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरिय-सुहुमं तहेव अवगहण। अगुरुलघुमव्वावाहं अट्ठगुणा होंति सिद्धाणं। =क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाधत्व, ये सिद्धोके आठ गुण वर्णन किये गये है। (वसु. श्रा./५३७); (द्र. स./टी /१४/४२/२ पर उद्धृत); (प. प्र /टी /१/६१/६१/८ पर उद्धृत); (प. ध./उ /६१७-६१८); (विशेष देखो आगे शीर्षक नं. ३-५)।

२. सिद्धोंमें अन्य गुणोंका निर्देश

भ आ./मू./२१५७/१८४७ अकसायमवेदत्तमकारकदाविदेहदा चेव। अचलत्तमलेपत्तं च हुंति अच्चतियाइं से।२१५७। =अकषायत्व, अवेदत्व, अकारकत्व, देहराहित्य, अचलत्व, अलेपत्व. ये सिद्धोके आत्यंतिक गुण होते है। (ध. १३/५,४,२६/गा ३१/७०)।

ध. ७/२,१,७/गा. ४-११/१४-१५ का भावार्थ--(अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख, क्षायिक सम्यक्त्व, अकषायत्व रूप चारित्र, जन्म-मरण रहितता (अवगाहनत्व), अशरीरत्व (सूक्ष्मत्व), नीच-ऊँच रहितता (अगुरुलघुत्व), पंचक्षायिक लब्धि (अर्थात्—क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग क्षायिकउपभोग और क्षायिकवीर्य) ये गुण सिद्धोंमें आठ कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हो जाते है।४-११। (विशेष दे० आगे शीर्षक नं ४)।

ध १३/५,४,२६/श्लो ३०/६९ द्रव्यत' क्षेत्रतश्चैव कालतो भावतस्तथा। सिद्धाप्तगुणसयुक्ता गुणा. द्वादशधा स्मृता'।३०। =सिद्धोंके उपरोक्त गुणोंमें (दे० शीर्षक नं. १)। द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भावकी अपेक्षा चार गुण मिलानेपर बारह गुण माने गये है।

द्र स /टी /१४/४३/६ इति मध्यमरुचिशिष्यापेक्षया सम्यक्त्वादिगुणाष्टकं भणितम्। मध्यमरुचिशिष्य प्रति पुनर्विशेषभेदनयेन निर्गतित्वं निरिन्द्रियत्वं, निष्कायत्व, निर्योगत्व, निर्वेदत्वं, निष्कषायत्व, निर्नामत्वं निर्गोत्रत्वं, निरायुष्त्वमित्यादिविशेषगुणास्तथैवास्तित्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादिसामान्यगुणा स्वागमाविरोधेनानन्ता ज्ञातव्या.। =इस प्रकार सम्यक्त्वादि आठ गुण मध्यम रुचिवाले शिष्योंके लिए है। मध्यम रुचिवाले शिष्यके प्रति विशेष भेदनयके अवलम्बनसे गतिरहितता, इन्द्रियरहितता, शरीररहितता, योगरहितता, वेदरहितता, कषायरहिता, नामरहितता, गोत्ररहितता तथा आयुरहितता, आदि विशेष गुण और इसी प्रकार अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादि सामान्यगुण, इस तरह जैनागमके अनुसार अनन्त गुण जानने चाहिए।

३. उपरोक्त गुणोंके अवरोधक कर्मोका निर्देश

प्रमाण—१. (प्र. सा /मू /६०*)। २ (ध. ७/२,१,७/गा ४-११/१४)। ३. (गो. जी /जी. प्र /६८/१७८ पर उद्धृत दो गाथाएँ)। ४. (त. सा /८/३७-४०); (क्ष सा /मू /६१२-६१३) (प. प्र./टी./१/६१/६१/१६)। ५ (प्र सा./त. प्र /६१*)। ६. (पं. विं /८/६), ७. (पं. ध./उ./१११४*)। सकेत—*=विशेष देखो नीचे इन संदर्भोंकी व्याख्या।

नं०	कर्मका नाम	सन्दर्भ नं०	गुणका नाम
१	दर्शनावरणीय	२,३,४,६	केवलदर्शन
२	ज्ञानावरणीय	२,३,४,६	केवलज्ञान
३	वेदनीय	२,३,४	अनन्तसुख या अव्याबाधत्व
	स्वभावघाती	५	
४	चारों घातियाकर्म	१	,,
५	समुदितरूपसे आठो कर्म	७	,,
६	मोहनीय	६	,,
७	आयु	५	सूक्ष्मत्व या अशरीरता
		२,३,६	अवगाहनत्व या जन्म-मरणरहितता
८	नाम	४	,,
	,,	२,३,६	सूक्ष्मत्व या अशरीरता
९	,,	शीर्षक नं.४	अगुरुलघुत्व या ऊँच-नीचरहितता
१०	गोत्रकर्म	२,३,४,६	
११	अन्तराय	२,३,४,६	अनन्तवीर्य
	,,	२	५ क्षायिकलब्धि

प्र. सा /मू /६० जं केवलं ति णाणं तं सोक्खं परिणाम च सो चेव। खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा। =जो केवलज्ञान है, वह ही सुख है और परिणाम भी वही है। उसे खेद नहीं है, क्योंकि घातीकर्म क्षयको प्राप्त हुए है।

प्र सा /त प्र./६१ स्वभावप्रतिघाताभावहेतुक ही सौख्यं। =सुखका हेतु स्वभाव-प्रतिघातका अभाव है।

पं. ध /उ /१११४ कर्माष्टकं विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च। अस्ति किंचिन्न कर्मैक तद्विपक्षं तत पृथक् ।१११४। =आठो ही कर्म समुदायरूपसे एक सुख गुणके विपक्षी है। कोई एक पृथक् कर्म उसका विपक्षी नहीं है।

४. सूक्ष्मत्व व अगुरुलघुत्व गुणोंके अवरोधक कर्मोंकी स्वीकृतिमें हेतु

प. प्र /टी /१/६१/६२/१ सूक्ष्मत्वायुष्ककर्मणा प्रच्छादितम्। कस्मादिति चेत्। विवक्षितायु' कर्मोदयेन भवान्तरे प्राप्ते सत्यतीन्द्रियज्ञानविषय सूक्ष्मत्वं त्यक्त्वा पश्चादिन्द्रियज्ञानविषयो भवतीत्यर्थ। सिद्धावस्थायोग्य विशिष्टागुरुलघुत्व नामकर्मोदयेन प्रच्छादितम्। गुरुत्वशब्देनोच्चगोत्रजनितं महत्त्व भण्यते लघुत्वशब्देन नीचगोत्रजनितं तुच्छत्वमिति, तदुभयकारणभूतेन गोत्रकर्मोदयेन विशिष्टागुरुलघुत्व प्रच्छाद्यत इति। =आयुकर्मके द्वारा सूक्ष्मत्वगुण ढका गया क्योकि विवक्षित आयुकर्मके उदयसे भवान्तरको प्राप्त होनेपर अतीन्द्रिय ज्ञानके विषयरूप सूक्ष्मत्वको छोडकर इन्द्रियज्ञानका विषय हो जाता है। सिद्ध अवस्थाके योग्य विशिष्ट अगुरुलघुत्व गुण (अगुरुलघु सञ्ज्ञक) नामकर्मके उदयसे ढका गया। अथवा गुरुत्व शब्दसे उच्चगोत्रजनित बडप्पन और लघुत्व शब्दसे नीचगोत्रजनित छोटापन कहा जाता है। इसलिए उन दोनोंके कारणभूत गोत्रकर्मके उदयसे विशिष्ट अगुरुलघुत्वका प्रच्छादन होता है।

५. सिद्धोंमें कुछ गुणो व भावोंका अभाव

त. सू./१०/३-४ औपशमिकादिभव्यत्वाना च ।३। अन्यत्र केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य' ।४। =औपशमिक, क्षायोपशमिक व औदयिक ये तीन भाव तथा पारिणामिक भावोंमें भव्यत्व भावके अभाव होनेसे मोक्ष होता है।३। क्षायिक भावोमें केवल सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, और सिद्धत्वभावका अभाव नहीं होता है। (त सा /८/५)।

दे 'सत्' की ओघप्ररूपणा—(न वे सयत है, न असयत और न सयतासंयत। न वे भव्य है और न अभव्य। न वे सञ्ज्ञी हैं और न असञ्ज्ञी।)

दे जीव/२/२/ (दश प्राणोंका अभाव होनेके कारण वे जीव ही नहीं है। अधिकसे अधिक उनको जीवितपूर्व कह सकते है।)

स. सि./१०/४/४६८/११ यदि चत्वार एवावशिष्यन्ते, अनन्तवीर्यादीना निवृत्ति. प्राप्नोति। नैष दोष', ज्ञानदर्शनाविनाभावित्वादनन्तवीर्यादीनामविशेष, अनन्तसामर्थ्यहीनस्यानन्तावबोधवृत्त्यभावाज्ज्ञानमयत्वाच्च सुखस्येति। =प्रश्न—सिद्धोके यदि चार ही भाव शेष रहते है, तो अनन्तवीर्य आदिकी निवृत्ति प्राप्त होती है? उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योकि, ज्ञानदर्शनके अविनाभावी अनन्तवीर्य आदिक भी सिद्धोंमें अवशिष्ट रहते हैं। क्योकि, अनन्त सामर्थ्यसे हीन व्यक्तिके अनन्तज्ञानकी वृत्ति नही हो सकती और सुख ज्ञानमय होता है। रा वा./१०/४/३/६४२/२३।

ध. १/ १,१,३३/गा. १४०/२४८ ण वि इदियकरणजुदा अवग्गहादीहिगाहिया अत्थे। णेव य इदियसोक्खा अणिंदियाणतणाणसुहा ।१४०। =वे सिद्ध जीव इन्द्रियोके व्यापारसे युक्त नहीं हैं, और अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थोंको ग्रहण नही करते है उनके इन्द्रिय सुख भी नहीं है, क्योकि, उनका अनन्तज्ञान और अनन्तसुख अतीन्द्रिय है। (गो. जी /मू./१७४/४०४)।

६. इन्द्रिय व संयमके अभाव सम्बन्धी शंका

ध. १/१,१,३३/२४८/११ तेषु सिद्धेषु भावेन्द्रियोपयोगस्य सत्त्वात्सेन्द्रियास्त इति चेन्न, क्षयोपशमजनितस्योपयोगस्येन्द्रियत्वात्। न च क्षीणाशेषकर्मसु सिद्धेषु क्षयोपशमोऽस्ति तस्य क्षायिकभावेनापसारितत्वात्।

ध /१/१,१,१३०/३७८/८ सिद्धाना क संयमो भवतीति चेन्नैकोऽपि। यथाबुद्धिपूर्वकनिवृत्तेरभावान्न संयतास्तत एव न सयतासयता नाप्यसयता प्रणष्टाशेषपापक्रियत्वात्। =प्रश्न—उन सिद्धोंमें भावेन्द्रिय और तज्जन्य उपयोग पाया जाता है, इसलिए वे इन्द्रिय सहित है? उत्तर—नहीं, क्योकि, क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए उपयोगको इन्द्रिय कहते है। परन्तु जिनके सम्पूर्ण कर्म क्षीण हो गये है, ऐसे सिद्धोमें क्षयोपशम नहीं पाया जाता है, क्योकि, वे क्षायिक भावके द्वारा दूर कर दिया जाता है। (और भी दे० केवली/५)। प्रश्न—सिद्ध जीवोके कौन-सा संयम होता है? उत्तर—एक भी सयम नही होता है; क्योंकि, उनके बुद्धिपूर्वक निवृत्तिका अभाव है। इसी प्रकार वे संयतासंयत भी नही है और असंयत भी नही है, क्योकि, उनके सम्पूर्ण पापरूप क्रियाएँ नष्ट हो चुकी है।

४. मोक्षप्राप्ति योग्य द्रव्य क्षेत्र काल आदि

१. सिद्धोंमें अपेक्षाकृत कथंचित् भेद

त सू /१०/९ क्षेत्रकालगतिलिङ्गतीर्थचारित्रप्रत्येकबोधितज्ञानावगाहनान्तरसंख्याल्पबहुत्वत' साध्या ।९। =क्षेत्र, काल, गति, लिंग, तीर्थ, चारित्र, प्रत्येकबोधित, बुद्धबोधित, ज्ञान, अवगाहन, अन्तर, संख्या, और अल्पबहुत्व इन द्वारा सिद्ध जीव विभाग करने योग्य है।

२. मुक्तियोग्य क्षेत्र निर्देश

स सि./१०/९/४७१/११ क्षेत्रेण तावत्कस्मिन् क्षेत्रे सिध्यन्ति। प्रत्युत्पन्नग्राहिनयापेक्षया सिद्धिक्षेत्रे स्वप्रदेशे आकाशप्रदेशे वा सिद्धिर्भवति।

नही, क्योंकि, संसारावस्थामे जो उसकी घटोपक्रम गति देखी जाती है, वह कर्म निमित्तक होनेसे विभाव है स्वभाव नहीं। परन्तु यह स्वभाव ज्ञानस्वभावकी भाँति कोई त्रिकाली स्वभाव नही है, जो कि सिद्धशिलासे आगे उसका गमन रुक जानेपर जीवके अभाव की आशका की जाये।

त.सू./१०/६-७ पूर्वप्रयोगादसङ्गत्वाद् बन्धच्छेदात्तथागतिपरिणामाच्च ।६। आविद्धकुलालचक्रवद्व्यपगतलेपालाबुवदेरण्डबीजवदग्निशिखावच्च।७। =पूर्वप्रयोगसे, सगका अभाव होनेसे बन्धनके टूटनेसे और वैसा गमन करना स्वभाव होनेसे मुक्तजीव ऊर्ध्व गमन करता है।६। जैसे कि घुमाया हुआ कुम्हारका चक्र, लेपसे मुक्त हुई तूमडी, एरण्डका बीज और अग्निकी शिखा ।७।

ध. १/१,१,१/४७/२ आयुष्यवेदनीयोदययोर्जीवोर्ध्वगमनसुखप्रतिबन्धकयो: सत्त्वात्। =ऊर्ध्वगमन स्वभावका प्रतिबन्धक आयुकर्मका उदय अरिहन्तोके पाया जाता है।

४. मुक्तजीव सर्वलोकमें नहीं व्याप जाता

स. सि /१०/४/४६६/२ स्यान्मतं, यदि शरीरानुविधायी जीव: तदभावात्स्वाभाविकलोकाकाशप्रदेशपरिमाणत्वात्तावद्विसर्पणं प्राप्नोतीति। नैष दोष। कुत:। कारणाभावात्। नामकर्मसंबन्धो हि सहरणविसर्पणकारणम्। तदभावात्पुन: सहरणविसर्पणाभाव। =प्रश्न—यह जीव शरीरके आकारका अनुकरण करता है (दे० जीव/३/६) तो शरीरका अभाव होनेसे उसके स्वाभाविक लोकाकाशक प्रदेशोके बराबर होनेके कारण जीव तत्प्रमाण प्राप्त होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योकि, जीवके तत्प्रमाण होनेका कोई प्रमाण नहीं उपलब्ध होता। नामकर्मका सम्बन्ध जीवके सकोच और विस्तारका कारण हे, किन्तु उसका अभाव हो जानेसे जीवके प्रदेशोका सकोच और विस्तार नहीं होता। (रा वा./१०/४/१२-१३/६४३/२७)।

द्र. स./टी /१४/१४४/४ कश्चिदाह—यथा प्रदीपस्य भाजनाद्यावरणे गते प्रकाशस्य विस्तारो भवति तथा देहाभावे लोकप्रमाणेन भाव्यमिति। तत्र परिहारमाह—प्रदीपसबन्धी योऽसौ प्रकाशविस्तार: पूर्वं स्वभावेनैव तिष्ठति पश्चादावरण जात:। जीवस्य तु लोकमात्रासंख्येयप्रदेशत्व स्वभावो भवति, यस्तु प्रदेशानां सबन्धी विस्तार: स स्वभावो न भवति। कस्मादिति चेद्, पूर्वलोकमात्रप्रदेशा विस्तीर्णा निरावरणास्तिष्ठन्ति पश्चात् प्रदीपवदावरण जातमेव। तन्न, किन्तु पूर्वमेवानादिसतानरूपेण शरीरेणावृत्तास्तिष्ठन्ति तत: कारणात्प्रदेशाना सहारो न भवति, विस्तारश्च शरीरनामकर्माधीन एव न च स्वभावस्तेन कारणेन शरीराभावे विस्तारो न भवति। अपरमप्युदाहरण दीयते—यथा हस्तचतुष्टयप्रमाणवस्त्र पुरुषेण मुष्टौ बद्ध तिष्ठति, पुरुषाभावे सकोचविस्तारौ वा न करोति, निष्पत्तिकाले सार्द्रं मृन्मयभाजन वा शुष्क सज्जलाभावे सति; तथा जीवोऽपि पुरुषस्थानीयजलस्थानीयशरीराभावे विस्तारसकोचौ न करोति। =प्रश्न—जैसे दीपकको ढँकनेवाले पात्र आदिके हटा लेनेपर उस दीपकके प्रकाशका विस्तार हो जाता है, उसी प्रकार देहका अभाव हो जानेपर सिद्धोका आत्मा भी फेलकर लोक प्रमाण होना चाहिए? उत्तर—दीपकके प्रकाशका विस्तार तो पहले ही स्वभावसे दीपकमे रहता है, पीछे उस दीपकके आवरणसे सकुचित होता है। किन्तु जीवका लोकप्रमाण असख्यात प्रदेशत्व स्वभाव है, प्रदेशोंका लोकप्रमाण विस्तार स्वभाव नही है। प्रश्न—जीवके प्रदेश पहले लोकके बराबर फैले हुए, आवरण रहित रहते है, फिर जैसे प्रदीपके आवरण होता है उसी तरह जीवप्रदेशोके भी आवरण हुआ है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योकि, जीवके प्रदेश तो पहले अनादिकालसे सन्तानरूप चले आये हुए शरीरके आवरणसहित ही रहते हे। इस कारण जीवके प्रदेशोका सहार तथा विस्तार शरीर नामक नामकर्मके अधीन है, जीवका स्वभाव नहीं है। इस कारण जीवके शरीरका अभाव होनेपर प्रदेशोका विस्तार नहीं होता।—इस विषयमें और भी उदाहरण देते है कि, जैसे कि मनुष्यकी मुट्ठीके भीतर चार हाथ लम्बा वस्त्र भिचा हुआ है। अब वह वस्त्र मुट्ठी खोल देनेपर पुरुषके अभावमें सकोच तथा विस्तार नहीं करता। जैसा उस पुरुषने छोडा वैसा ही रहता है। अथवा गीली मिट्टीका बर्तन बनते समय तो संकोच तथा विस्तारको प्राप्त होता जाता है, किन्तु जब वह सूख जाता है, तब जलका अभाव होनेसे संकोच व विस्तारको प्राप्त नहीं होता। इसी तरह मुक्त जीव भी पुरुषके स्थानभूत अथवा जलके स्थानभूत शरीरके अभावमें संकोच विस्तार नहीं करता। (प. प्र./टी./५४/५२/६)।

५. मुक्तजीव पुरुषाकार छायावत् होते हैं

ति. प./६/१६ जावद्धम्मं दव्वं ताव गतूण लोयसिहरम्मि। चेट्ठंति सव्वसिद्धा पुह पुह गयसित्थमूसगब्भणिहा।=जहाँतक धर्मद्रव्य है वहाँतक जाकर लोकशिखरपर सब सिद्ध पृथक्-पृथक् मोमसे रहित मूषकके अभ्यन्तर आकाशके सदृश स्थित हो जाते है।१६। (ज्ञा./४०/२५)।

द्र. स /मू /टी /५१/२१७/२ पुरिसायारो अप्पा सिद्धोभाएह लोयसिहरत्थो।५१। ··गतसिक्थमूषागर्भाकारवच्छायाप्रतिमावद्वा पुरुषाकार =पुरुषके आकारवाले और लोक शिखरपर स्थित, ऐसा आत्मा सिद्ध परमेष्ठी है। अर्थात् मोम रहित मूसके आकारकी तरह अथवा छायाके प्रतिबिम्बके समान पुरुषके आकारको धारण करनेवाला है।

६. मुक्तजीवोंका आकार चरमदेहसे किंचिदून है

स. सि./१०/४/४६८/१३ अनाकारत्वान्मुक्तानामभाव इति चेन्न, अतीतानन्तरशरीराकारत्वात्। =प्रश्न—अनाकार होनेसे मुक्त जीवोका अभाव प्राप्त होता है? उत्तर- नहीं। क्योकि उनके अतीत अनन्तर शरीरका आकार उपलब्ध होता है। (रा.वा./१०/४/१२/६४३/२४), (प.प्र./मू./१/५४)

ति. प /६/१० दीहत्त बाहल्लं चरिमभवे जस्स जारिसं ठाण। तत्तो तिभागहीणं ओगाहण सव्वसिद्धाण। =अन्तिम भवमें जिसका जैसा आकार, दीर्घता और बाहल्य हो उससे तृतीय भागसे कम सब सिद्धोकी अवगाहना होती है।

द्र. स मू व. टी./१४/४४/२ किंचूणा चरम देहदो सिद्धा। ।१४। तत् किञ्चिदूनत्वं शरीराङ्गोपाङ्गजनितनासिकादिच्छिद्राणामपूर्णत्वे सति। =वे सिद्ध चरम शरीरसे किंचिदून होते है, और वह किंचित् ऊनता शरीर व अगोपाग नामकर्मसे उत्पन्न नासिका आदि छिद्रोकी पोलाहटके कारणसे हे।

७. सिद्धलोकमें मुक्तात्माओंका अवस्थान

ति प./६/१५ माणुसलोयपमाणे संठिय तणुवादउवरिमे भागे। सरिसा सिरा सव्वाण हेट्ठिमभागम्मि विसरिसा केई।=मनुष्यलोक प्रमाण स्थित तनुवातके उपरिम भागमें सब सिद्धोके सिर सदृश होते है। अधस्तन भागमें कोई विसदृश होते है।

६. मोक्षके अस्तित्व सम्बन्धी शंकाएँ

१. मोक्षाभावके निराकरणमें हेतु

सिद्धि भक्ति/२ नाभाव सिद्धिरिष्टा न निजगुणहतिस्तत्तपोभिर्न युक्तेरस्त्यात्मानादिबन्ध स्वकृतजफलभुक् तत्क्षयान्मोक्षभागी। ज्ञाता द्रष्टा स्वदेहप्रमितिरुपसमाहारविस्तारधर्मा, ध्रौव्योत्पत्तिव्ययात्मा स्वगुणयुत इतो नान्यथा साध्यसिद्धि ।२। =प्रश्न—१ मोक्षका अभाव है, क्योकि कर्मोंके क्षयसे आत्माका दीपकवत् नाश हो जाता

है (बौद्ध) अथवा सुख दु:ख इच्छा प्रयत्न आदि आत्माके गुणोंका अभाव ही मोक्ष है (वैशेषिक)? उत्तर—नहीं, क्योंकि, कौन बुद्धिमान् ऐसा होगा जो कि स्वयं अपने नाशके लिए तप आदि कठिन अनुष्ठान करेगा। प्रश्न—२. आत्मा नामकी कोई वस्तु ही नहीं है (चार्वाक)? उत्तर—नहीं, आत्माका अस्तित्व अवश्य है। (विशेष दे० जीव/२/४)। प्रश्न—३ आत्मा या पुरुष सदा शुद्ध है। वह न कुछ करता है न भोगता है। (सांख्य)? उत्तर- नहीं, वह स्वयं कर्म करता है और उसके फलोंको भी भोगता है। उन कर्मोंके क्षयसे ही वह मोक्षका भागी होता है। वह स्वयं ज्ञाता द्रष्टा है, सकोच विस्तार शक्तिके कारण संसारावस्था में स्वदेह प्रमाण रहता है (दे०-जीव/३/७) वह कूटस्थ नहीं है, बल्कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है (दे० उत्पाद/३)। वह निर्गुण नहीं है बल्कि अपने गुणोंसे युक्त है। क्योंकि, अन्यथा साध्यकी सिद्धि ही नहीं हो सकती। (स सि./१/-१ की उत्थानिका प/२/२; (रा वा/१/१ की उत्थानिका/८/२/३ स्व. स्तो./टी /५/१३)

रा वा /१०/४/१७/६४४/१३ सर्वथाभावो मोक्ष प्रदीपवदिति चेत्, न, साध्यत्वात् ।१७। 'साध्यमेतत्-प्रदीपो निरन्वयनाशमुपयातीति। प्रदीपा एव हि पुद्गला', पुद्गलजातिमजहत परिणामवशान्मषीभावमापन्ना इति नात्यन्तविनाश ।—दृष्टत्वाच्च निगलादिवियोगे देवदत्ताद्यवस्थानवत् ।१८। यत्रैव कर्मविप्रमोक्षस्तत्रैवावस्थानमिति चेत्, न, साध्यत्वात् ।१९। 'साध्यमेतत्तत्रैवावस्थातव्यमिति, बन्धनाभावादनाश्रितत्वाच्च स्यादगमनमिति=प्रश्न—जिस प्रकार बुझ जानेपर दीपक अत्यन्त विनाशको प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार केशोंके क्षय हो जानेपर जीवका भी नाश हो जाता है, अत मोक्षका अभाव है? उत्तर—४. नहीं, क्योंकि, 'प्रदीपका नाश हो जाता है' यह बात ही असिद्ध है। दीपकरूपसे परिणत पुद्गलद्रव्यका विनाश नहीं होता है। उनकी पुद्गल जाति बनी रहती है। इसी प्रकार कर्मोंके विनाशसे जीवका नाश नहीं होता। उसकी जाति अर्थात् चैतन्य स्वभाव बना रहता है। (ध ६/१,९-१/२३३/गा.२-३/४९७), ५. दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार बेडियोंसे मुक्त होनेपर भी देवदत्तका अवस्थान देखा जाता है, उसी प्रकार कर्मोंसे मुक्त होनेपर भी आत्माका स्वरूपावस्थान होता है। प्रश्न—६, जहाँ कर्म बन्धनका अभाव हुआ है वहीं ही मुक्त जीवको ठहर जाना चाहिए? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यह बात भी अभी विचारणीय है कि उसे वहीं ठहर जाना चाहिए या बन्धाभाव और अनाश्रित होनेसे उसे गमन करना चाहिए।

दे. गति/१/४ प्रश्न—७ उष्णताके अभावसे अग्निके अभावकी भाँति, सिद्धलोकमें जानेके मुक्तजीवोंके ऊर्ध्वगमनका अभाव हो जानेसे वहाँ उस जीवका भी अभाव हो जाना चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि ऊर्ध्व ही गमन करना उसका स्वभाव माना गया है, न कि ऊर्ध्व गमन करते ही रहना।)

दे. मोक्ष/५/६ ८ मोक्षके अभावमें अनाकारताका हेतु भी युक्त नहीं है, क्योंकि, हम उसको पुरुषाकार रूप मानते हैं।)

२. मोक्ष अभावात्मक नहीं है बल्कि आत्मलाभरूप है

पं. का /मू /३५ जेसिं जीवसहावो णत्थि अभावो य सव्वहा तस्स। ते होंति भिण्णदेहा सिद्धा वचिगोयरमदीदा ।३५।=जिनके जीव स्वभाव नहीं है (दे० मोक्ष/३/५) और सर्वथा उसका अभाव भी नहीं है। वे देहरहित व वचनगोचरातीत सिद्ध हैं।

सि वि /मू /७/१९/४८५ आत्मलाभ विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात्। नाभाव नाप्यचैतन्य न चैतन्यमनर्थकम् ।१९।=आत्मस्वरूपके लाभका नाम मोक्ष है जो कि जीवको अन्तर्मलका क्षय हो जानेपर प्राप्त होता है। मोक्षमें न तो बौद्धोंकी भाँति आत्माका अभाव होता है और न ही वह ज्ञानशून्य अचेतन हो जाता है। मोक्षमें भी उसका चैतन्य अर्थात् ज्ञान दर्शन निरर्थक नहीं होता है, क्योंकि वहाँ भी वह त्रिजगत्को साक्षीभावसे जानता तथा देखता रहता है। [जैसे बादलोंके हट जानेपर सूर्य अपने स्वपरप्रकाशकपनेको नहीं छोड देता, उसी प्रकार कर्ममलका क्षय हो जानेपर आत्मा अपने स्वपर प्रकाशकपनेका नहीं छोड देता—दे० (इस श्लोककी वृत्ति)।

ध ६/१,९-९,२१६/४९०/४ केवलज्ञाने समुत्पन्नेऽपि सर्वं न जानातीति कपिलो ब्रूते। तन्न, तन्निराकरणार्थं बुद्ध्यन्त इत्युच्यते। मोक्षो हि नाम बन्धपूर्वक', बन्धश्च न जीवस्यास्ति, अमूर्तत्वान्नित्यत्वाच्चेति। तस्माज्जीवस्य न मोक्ष इति नैयायिक-वैशेषिक-सांख्य-मीमांसकमतम्। एतन्निराकरणार्थमुच्चन्तीति प्रतिपादितम्। परिनिर्वाणयन्ति—अशेषबन्धमोक्षे सत्यपि न परिनिर्वान्ति, सुखदु खहेतुशुभाशुभकर्मणां तत्रासत्त्वादिति तार्किकयोर्मतं। तन्निराकरणार्थं परिनिर्वान्ति अनन्तसुखा भवन्तीत्युच्यते। यत्र सुखं तत्र निश्चयेन दु खमप्यस्ति दु खाविनाभावित्वात्सुखस्येति तार्किकयोरेवं मत, तन्निराकरणार्थं सर्वदु'खानमन्त परिविजाणन्तीति उच्यते। सर्वदु.खानमन्त पर्यवसान परिविजानन्ति गच्छन्तीत्यर्थ। कुत? दु खहेतुकर्मणां विनष्टत्वात् स्वास्थ्यलक्षणस्य सुखस्य जीवस्य स्वाभाविकत्वादिति।=प्रश्न—केवलज्ञान उत्पन्न होनेपर भी सबको नहीं जानते हैं (कपिल या सांख्य)? उत्तर—नहीं, वे सबको जानते हैं। प्रश्न=अमूर्त व नित्य होनेसे जीवको न बन्ध सम्भव है, और न बन्धपूर्वक मोक्ष (नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य व मीमांसक)? उत्तर—नहीं, वे मुक्त होते हैं। प्रश्न—अशेष बन्धका मोक्ष हो जानेपर भी जीव परिनिर्वाण अर्थात् अनन्त सुख नहीं प्राप्त करता है, क्योंकि, वहाँ सुख-दु.खके हेतुभूत शुभाशुभ कर्मोंका अस्तित्व नहीं है। (तार्किक मत)? उत्तर—नहीं, वे अनन्तसुख भोगी होते हैं। प्रश्न—जहाँ सुख है वहाँ निश्चयसे दु ख भी है, क्योंकि सुख दु'खका अविनाभावी है (तार्किक)? उत्तर—नहीं, वे सर्व दु खोंके अन्तका अनुभव करते हैं। इसका अर्थ यह है कि वे जीव समस्त दु खोंके अन्त अर्थात् अवसानको पहुँच जाते हैं, क्योंकि, उनके दु खके हेतुभूत कर्मोंका विनाश हो जाता है और स्वास्थ्य लक्षण सुख जो कि जीवका स्वाभाविक गुण है, वह प्रगट हो जाता है।

३ बन्ध व उदयकी अटूट शृंखलाका भंग कैसे सम्भव है

द्र स /टी ३७/१५५/१० अत्राह शिष्य —ससारिणां निरन्तर कर्मबन्धोऽस्ति, तथैवोदयोऽप्यस्ति, शुद्धात्मभावनाप्रस्तावो नास्ति, कथ मोक्षो भवतीति। तत्र प्रत्युत्तरं। यथा शत्रो. क्षीणावस्था दृष्ट्वा कोऽपि धीमान् पर्यालोचयत्ययं मम हनने प्रस्तावस्तत पौरुष कृत्वा शत्रु हन्ति तथा कर्मणामप्येकरूपावस्था नास्ति हीयमानस्थित्यनुभागत्वेन कृत्वा यदा लघुत्वं क्षीणत्वं भवति तदा धीमान् भव्य आगमभाषया लब्धिपञ्चकसज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुष कृत्वा कर्मशत्रु हन्तीति। यत्पुनरन्त'कोटाकोटीप्रमितकर्मस्थितिरूपेण तथैव लतादारुस्थानीयानुभागरूपेण च कर्मलघुत्वे जातेऽपि सत्ययं जीव· कर्महननबुद्धिं क्वापि काले न करिष्यतीति तदभव्यत्वगुणस्यैव लक्षणं ज्ञातव्यमिति। =प्रश्न—ससारी जीवोंके निरन्तर कर्मोंका बन्ध होता है और इसी प्रकार कर्मोंका उदय भी सदा होता रहता है, इस कारण उनके शुद्धात्माके ध्यानका प्रसंग ही नहीं है, तब मोक्ष कैसे होती है? उत्तर—जैसे कोई बुद्धिमान् अपने शत्रुकी निर्बल अवस्था देखकर, अपने मनमें विचार करता है, 'कि यह मेरे मारनेका अवसर है' ऐसा विचारकर उद्यम करके, वह बुद्धिमान् अपने शत्रुको मारता है। इसी प्रकार कर्मोंकी भी सदा एकरूप अवस्था नहीं रहती, इस कारण स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्धकी न्यूनता होनेपर जब कर्म हलके होते हैं तब बुद्धिमान् भव्य जीव आगमभाषामें पाँच लब्धियोंसे और अध्यात्मभाषामें निज शुद्ध आत्माके सम्मुख

परिणाम नामक निर्मलभावना-विशेषरूप खड्गसे पौरुष करके कर्म शत्रुको नष्ट करता है। और जो अन्त कोटाकोटिप्रमाण कर्मस्थिति-रूप तथा लता काष्ठके स्थानापन्न अनुभागरूपसे कर्मभार हलका हो जानेपर भी कर्मोंको नष्ट करनेकी बुद्धि किसी भी समयमें नहीं करेगा तो यह अभव्यत्व गुणका लक्षण समझना चाहिए। (मो. मा. प्र /-३४५६/२)।

४. अनादि कर्मोका नाश कैसे सम्भव है

रा. वा./१०/२/३/६४१/१ स्यान्मतम्—कर्मबन्धसतानस्याद्यभावादन्ते-नाप्यस्य न भवितव्यम्, दृष्टिविपरीतकल्पनायां प्रमाणाभावादिति, तन्न, किं कारणम्। दृष्टत्वादन्त्यबीजवत्। यथा बीजाङ्कुरसता-नेऽनादौ प्रवर्त्तमाने अन्त्यबीजमग्निनापहताङ्कुरशक्तिरित्यन्तो-ऽस्य दृष्टस्तथा मिथ्यादर्शनादिप्रत्ययसापरायिकसततावनादौ ध्यानानलनिर्दग्धकर्मबीजे भवाङ्कुरोत्पादाभावान्मोक्ष इति दृष्टम-दमपह्नोतुमशक्यम्। =प्रश्न—कर्म बन्धकी सन्तान जब अनादि है तो उसका अन्त नहीं होना चाहिए? उत्तर—जैसे बीज और अंकुर-की सन्तान अनादि होनेपर भी अग्निसे अन्तिम बीजको जला देने-पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता, उसी तरह मिथ्यादर्शनादि प्रत्यय तथा कर्मबन्ध सन्ततिके अनादि होनेपर भी ध्यानाग्निसे कर्म-बीजोंको जला देनेपर भवांकुरका उत्पाद नहीं होता, यही मोक्ष है।

क. पा. १/१-१/§३८/५६/६ कम्मं पि सहेउअं तव्विणासण्णहाणुववत्तीदो णव्वदे। ण च कम्मविणासो असिद्धो, बाल-जोव्वण-रायादिपज्जा-याणं विणासण्णहाणुववत्तीए तव्विणाससिद्धीदो। कम्ममकट्टिमं किण्ण जायदे। ण, अकट्टिमस्स विणासाणुववत्तीदो। तम्हा कम्मेण कट्टिमेण चेव होदव्वं। =कर्म भी सहेतुक है, अन्यथा उनका विनाश बन नहीं सकता। और कर्मोंका विनाश असिद्ध भी नहीं हैं, क्योंकि, कर्मोंके कार्यभूत बाल, यौवन, और राजा आदि पर्यायोंका विनाश कर्मोंका विनाश हुए बिना नहीं हो सकता है। प्रश्न—कर्म अकृत्रिम क्यों नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अकृत्रिम पदार्थका विनाश नहीं बन सकता है, इसलिए कर्मको कृत्रिम ही होना चाहिए।

क. पा. १/१-१/§४२/६०/१ तं च कम्मं सहेउअं, अण्णहा णिव्वावाराण पि बंधप्पसंगादो। =कर्मोको सहेतुक ही मानना चाहिए, अन्यथा अयोगियोंमें कर्मबन्धका प्रसंग प्राप्त होता है। (आप्त. प./टी./१११/§२६१/३४३/१०)।

क. पा. १/१-१/§४४/६१६ अकट्टिमत्तादो कम्मसंताणे ण वोच्छिज्जदि त्ति ण वोत्तुं जुत्तं, अकट्टिमस्स वि बीजंकुरसंताणस्स वोच्छेदुवल-भादो। ण च कट्टिमसंताणविवदिरित्तो संताणो णाम अत्थि जस्स अकट्टिमत्तं वुच्चेज्ज। ण चासेसासवपडिवक्खे सयलसंवरे समुप्पण्णे वि कम्मागमसंताणे ण तुट्टदि त्ति वोत्तुं जुत्तं, जुत्तिबाहियत्तादो। सम्मत्तसंजमविरायजोगणिरोहाणमक्कमेण पउत्ति दंसणादो च। ण च दिट्ठे अणुववण्णदा णाम। असंपुण्णाणमक्कमवुत्ती दीसइ ण संपुण्णाण चे, ण; अक्कमेण वट्टमाणाण सयलत्तकारणम्मि णिज्झे सते तदविरो-हादो। संवरो सव्वकालं संपुण्णो ण होदि चेवेत्ति ण वोत्तुं जुत्तं, वड्ढमाणेसु कस्से वि कत्थ वि णियमेण सगसगुक्कस्सावत्थावत्ति-दंसणादो। संवरो वि वड्ढमाणो उवलब्भए तदो कत्थ वि संपुण्णेण होदव्वं बाहुल्लियतालरुक्खेणेव। आसवो वि कहिं पि णिम्मूलदो विणस्सेज्ज, हाणी तरतमभावण्णहाणुववत्तीदो आयरकण-योवलानलीणमलक्कलंको व्व। = प्रश्न—अकृत्रिम होनेसे कर्मकी सन्तान व्युच्छिन्न नहीं होती है। उत्तर—१. नहीं, क्योंकि अकृत्रिम होते हुए भी बीज व अंकुरकी सन्तानका विनाश पाया जाता है। २. कृत्रिम सततीसे भिन्न, अकृत्रिम सन्तान नामकी कोई चीज नहीं है। प्रश्न—३ आस्रवविरोधी सकलसंवरके उत्पन्न हो जानेपर भी कर्मोंकी आस्रवपरंपरा विच्छिन्न नहीं होती? उत्तर—ऐसा कहना युक्ति बाधित है, अर्थात् सकल प्रतिपक्षी कारणके होनेपर कर्मका विनाश अवश्य होता है। (ध. ६/४,१/४४/११७/६)। प्रश्न—४. सकल संवररूप सम्यक्त्व, संयम, वैराग्य और योगनिरोध इनका एक साथ स्वरूपलाभ नहीं होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, इन सबकी एक साथ अविरुद्धवृत्ति देखी जाती है। प्रश्न—५. असम्पूर्ण कारणोंकी वृत्ति भले एक साथ देखी जाये, पर सम्पूर्णकी सम्यक्त्वादिकी नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जो वर्द्धमान है ऐसे उन सम्यक्त्वादिमेंसे कोई भी कहीं भी नियमसे अपनी-अपनी उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होता हुआ देखा जाता है। यतः संवर भी एक हाथ प्रमाण तालवृक्षके समान वृद्धिको प्राप्त होता हुआ पाया जाता है, इसलिए किसी भी आत्मामें उसे परिपूर्ण होना ही चाहिए। (ध ६/४,१,४४/११८/१) और भी दे. अगला सन्दर्भ)। ६. तथा जिस प्रकार खानसे निकले हुए स्वर्णपाषाणका अन्तरग और बहिरंग मल निर्मूल नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार आस्रव भी कहींपर निर्मूल विनाशको प्राप्त होता है, अन्यथा आस्रवकी हानिमें तर-तम-भाव नहीं बन सकता है। (ध. ६/४,१,४४/११८/२); (स्या. म./१७/२३६/२६)। ७ [दूसरी बात यह भी है कि कर्म अकृत्रिम है ही नहीं (दे० विभाव/३)]।

स्या म./१७/२३६/६ पर उद्धृत—देशतो नाशिनो भावा दृष्टा निखिल-नश्वरा। मेघपङ्क्त्यादयो यद्वत् एव रागादयो मता'। =जो पदार्थ एक देशसे नाश होते हैं, उनका सर्वथा नाश भी होता है। जिस प्रकार मेघोंके पटलोंका आंशिक नाश होनेसे उनका सर्वथा नाश भी होता है।

५. मुक्त जीवोंका परस्परमें उपरोध नहीं

रा. वा./१०/४/६/६४३/१३ स्यान्मतम्—अल्प' सिद्धावगाह्य आकाश-प्रदेश आधार, आधेया सिद्धा अनन्ता, ततः परस्परोपरोध इति, तन्न' किं कारणम्। अवगाहनशक्तियोगात्। मूर्तिमत्स्वपि नाना-नेकमणिप्रदीपप्रकाशेषु अल्पेऽप्यवकाशे न विरोधः किमङ्गपुनरमूर्तिषु अवगाहनशक्तियुक्तेषु मुक्तेषु। =प्रश्न—सिद्धोंका अवगाह्य आकाश-प्रदेश रूप आधार तो अल्प है और आधेयभूत सिद्ध अनन्त है, अतः उनका परस्परमें उपरोध होता होगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, आकाशमें अवगाहन शक्ति है। मूर्तिमान् भी अनेक प्रदीप प्रकाशोंका अल्प आकाशमें अविरोधी अवगाह देखा गया है, तब अमूर्त सिद्धों-की तो बात ही क्या है?

६. मोक्ष जाते-जाते जीवराशिका अन्त हो जायेगा?

ध. १४/५,६,१२६/२३३/७ जीवरासी आयवज्जिदो सव्वओ, तत्तो णिव्वुइमुवगच्छंतजीवाणमुवलंभादो। तदो संसारिजीवाणमभावो होदि त्ति भणिदे ण होदि। अलद्धतसभावणिगोदजीवाणमणंताण संभवा होदि त्ति।

ध. १४/५,६,१२८/२३५/५ जासिं भव्वाणं आयविरहियाणं वये संते वोच्छेदो होदि ताओ रासीओ संखेज्जासंखेज्जसण्णिदाओ। जासिं रासीणं आयविरहियाणं संखेज्जासंखेज्जेहि वड्ढिज्जमाणाणं पि वोच्छेदो ण होदि तासिमणंतमिदि सण्णा। सव्वजीवरासी वाणंतो तेण सो ण वोच्छिज्जदि, अण्णहा आणंतियविरोहादो। सव्वे अदीदकालेण जे सिद्धा तेहिंतो एगणिगोदसरीरजीवाणमणंत-गुणत्तं। सिद्धा पुण अदीदकाले समयं पडि जदि वि असंखेज्ज-लोगमेत्ता सिज्झंति तो वि अदीदकालादो असंखेज्जगुणा चेव। ण च एवं, अदीदकालादो सिद्धाणमसंखेज्जभागत्तुवलंभादो। अदीदकाले तसत्तं पत्तजीवा सुट्ठु जदि बहुआ होंति तो अदीद-कालादो असंखेज्जगुणा चेव। =प्रश्न—जीव राशि आयसे रहित और व्यय सहित है, क्योंकि उसमेंसे मोक्षको जानेवाले जीव उप-लब्ध होते है। इसलिए ससारी जीवोंका अभाव प्राप्त होता है?

उत्तर—नहीं होता है; क्योंकि, १. त्रस भावको नही प्राप्त हुए अनन्त निगोद जीव सम्भव हे। (और भी दे० वनस्पति/२/३)। २. आय-रहित जिन सख्याओंका व्यय होनेपर सत्त्वका विच्छेद होता है वे संख्याएँ सख्यात और असख्यात सज्ञावाली होती है। आयसे रहित जिन सख्याओका सख्यात और असख्यात रूपसे व्यय होनेपर भी विच्छेद नही होता है, उनकी अनन्त सज्ञा है (और भी दे० अनन्त/१/१)। और सब जीव राशि अनन्त है, इसलिए वह विच्छेदको प्राप्त नही होती। अन्यथा उसके अनन्त होनेमें विरोध आता है। (दे० अनन्त/२/१-३)। ३. सब अतीतकालके द्वारा जो सिद्ध हुए है उनसे एक निगोदशरीरके जीव अनन्तगुणे है। (दे० वनस्पति/५/६)। ४. सिद्ध जीव अतीतकालके प्रत्येक समयमे यदि असख्यात लोक प्रमाण सिद्ध होवें तो भी अतीत कालसे असंख्यातगुणे ही होंगे। परन्तु ऐसा है नहीं क्योंकि, सिद्ध जीव अतीतकालके असंख्यातवे भाग प्रमाण ही उपलब्ध होते है। ५. अतीत कालमें त्रसपनेको प्राप्त हुए जीव यदि बहुत अधिक होते है तो अतीतकालसे असख्यात गुणे ही होते है।

स्या म/२९/३३१/१६ न च तावता तस्य काचित परिहाणिर्निगोद-जीवानन्त्यस्याक्षयत्वात्। 'अनाद्यनन्तेऽपि काले ये केचिन्निर्वृ ता' निर्वान्ति निर्वास्यन्ति च ते निगोदानामनन्तभागेऽपि न वर्त्तन्ते नावर्तिषत न वर्त्स्यन्ति। ततश्च कथं मुक्तानां भवागमनप्रसङ्गः', कथ च संसारस्य रिक्तताप्रसक्तिरिति। अभिप्रेतं चैतद्व अन्ययूथ्यानामपि। यथा चोक्त वार्तिककारेण—अतएव च विद्वत्सु मुच्यमानेषु संततम्। ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वादशून्यता ।१। अत्यन्यूनातिरिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत्। वस्तुन्यपरिमेये तु नून तेषामसभव ।।२। =६. [जितने जीव मोक्ष जाते है उतने ही निगोद राशिसे निकलकर व्यवहारराशिमें आ जाते है (दे० मोक्ष/२/५)] अतएव निगोदराशिमें-से जीवोके निकलते रहनेके कारण ससारी जीवोका कभी क्षय नही हो सकता। जितने जीव अबतक मोक्ष गये है और आगे जानेवाले है वे निगोद जीवोके अनन्तवे भाग भी नहीं है, न हुए है और न होंगे। अतएव हमारे मतमें न तो मुक्त जीव संसारमें लौटकर आते है और न यह ससार जीवोसे शून्य होता है। इसको दूसरे वादियोने भी माना है। वार्तिककारने भी कहा है, 'इस ब्रह्माण्डमें अनन्त संसारी जीव है, इस ससारसे ज्ञानी जीवोंकी मुक्ति होते हुए यह ससार जीवोसे खाली नही होता। जिस वस्तुका परिमाण होता है, उसीका अन्त होता है, वही घटती और समाप्त होती है। अपरिमित वस्तुका न कभी अन्त होता है, न वह घटती है, और न समाप्त होती है।

गो. जी/जी. प्र./१९६/४३७/१८ सर्वो भव्यससारिराशिरनन्तेनापि कालेन न क्षीयते अक्षयानन्तत्वात्। यो योऽक्षयानन्त' सो सोऽनन्तेनापि कालेन न क्षीयते यथा इयत्तया परिच्छिन्न कालसमयोघ', सर्वद्रव्याणा पर्यायोऽविभागप्रतिच्छेदसमूहो वा इत्यनुमानाङ्गस्य तर्कस्य प्रामाण्यसुनिश्चयात्। =६. सर्व भव्य ससारी राशि अनन्त कालके द्वारा भी क्षयको प्राप्त नहीं होती है, क्योंकि यह राशि अक्षयानन्त है। जो जो अक्षयानन्त होता है, वह-वह अनन्तकालके द्वारा भी क्षयको प्राप्त नही होता है, जैसे कि तीनों कालोके समयोका परिमाण या अविभाग प्रतिच्छेदोका समूह। इस प्रकारके अनुमानसे प्राप्त तर्क प्रमाण है।

मोक्ष पाहुड—आ० कुन्दकुन्द (ई० १२७-१७९) कृत मोक्ष प्राप्तिके क्रमका प्ररूपक, १०६ गाथा बद्ध एक ग्रन्थ। इसपर आ० श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत सस्कृत टीका और प. जयचन्द छाबडा (ई० १८६७) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है।

मोक्षमार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र, इन तीनोको रत्नत्रय कहते है। यह ही मोक्षमार्ग है। परन्तु इन तीनोमें-से कोई एक या दो आदि पृथक्-पृथक् रहकर मोक्षके कारण नही है, बल्कि समुदित रूपसे एकरस होकर ही ये तीनो युगपत मोक्षमार्ग है। क्योंकि, किसी वस्तुको जानकर उसकी श्रद्धा या रुचि हो जानेपर उसे प्राप्त करनेके प्रति आचरण होना भी स्वाभाविक है। आचरणके बिना व ज्ञान, रुचि व श्रद्धा यथार्थ नहीं कहे जा सकते। भले ही व्यवहारसे इन्हे तीन कह लो पर वास्तवमें यह एक अखण्ड चेतनके ही सामान्य व विशेष अंश है। यहाँ भेद रत्नत्रयरूप व्यवहार मार्गको अभेद रत्नत्रयरूप निश्चयमार्गका साधन कहना भी ठीक ही है, क्योंकि, कोई भी साधक अभ्यास दशामें पहले सविकल्प रहकर ही आगे जाकर निर्विकल्पताको प्राप्त करता है।

१. मोक्षमार्ग सामान्य निर्देश

१. मोक्षमार्गका लक्षण

त. सू./१/१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ॥१॥ =सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र इन तीनोंकी एकता मोक्षमार्ग है।

२. तीनोंकी युगपतता ही मोक्षमार्ग है

प्र सा./मू./२३७ ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि णत्थि अत्थेसु। सद्दहमाणो अत्थे असजदो वा ण णिव्वादि ॥२३७॥ =आगमसे यदि पदार्थोंका श्रद्धान न हो तो सिद्धि नहीं होती। पदार्थोंका श्रद्धान करनेवाला भी यदि असंयत हो तो निर्वाणको प्राप्त नहीं होता।

मो. पा./मू./५९ तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो। तम्हा णाणतवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं। =जो ज्ञान तप रहित है और जो तप ज्ञान रहित है, वे दोनों ही अकार्यकारी हैं। अतः ज्ञान व तप दोनों संयुक्त होनेसे ही निर्वाण प्राप्त होता है।

द. पा./मू./३० णाणेण दंसणेण य तवेण चरिएण संजमगुणेण। चउहिं पि समाजोगे मोक्खो जिणसासणे दिट्ठो ॥३०॥ =ज्ञान, दर्शन, तप, चारित्र व संयम इन चारोंके मिलनेसे ही संयम होता है। उससे जीव मोक्ष प्राप्त करता है। (द. पा./मू./३२)

मू. आ./८९८-८९९ णिज्जावगो य णाणं वादो झाणं चरित्त णावा हि। भवसागरं तु भविया तरंति तिहिसण्णिपायेण ॥८९८॥ णाणं पयासओ तओ सोधओ संजमो य गुत्तियरो। तिण्हं पि य संजोगे होदि हु जिणसासणे मोक्खो ॥८९९॥ =निर्यापक तो ज्ञान है, पवनकी जगह ध्यान है और चारित्र नाव है। इन ज्ञान ध्यान चारित्र तीनोंके मेलसे भव्य जीव संसारसमुद्रसे पार हो जाते हैं ॥८९८॥ ज्ञान तो प्रकाशक है, तप विशोधक है और संयम रक्षक है। इन तीनोंके संयोगसे मोक्ष होता है ॥८९९॥

स. सि./१/१/५/५ मार्ग इति चैकवचननिर्देशः समस्तमार्गभावज्ञापनार्थः। तेन व्यस्तस्य मार्गत्वनिवृत्तिः कृता भवति। अतः सम्यग्दर्शनं सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रमित्येतत् त्रितयं समुदितं मोक्षस्य साक्षान्मार्गो वेदितव्यः। =सूत्रमें 'मार्ग' ऐसा जो एकवचन निर्देश किया है, वह तीनों मिलकर मोक्षमार्ग है, यह बतानेके लिए किया है। इससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पृथक्-पृथक् रहते हुए मार्गपनेका निषेध हो जाता है। अतः सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर मोक्षका साक्षात् मार्ग है, ऐसा जानना चाहिए। (न. च./३२०-३२२), (प. प्र./मू./२/३१-३३); (पं. ध./उ./७७०)।

रा. वा./१/१/४९/१४/१ यतो रसायनज्ञानश्रद्धानक्रियासेवनोपेतस्य रसायनफलेनाभिसंबन्धः इति निःप्रतिद्वन्द्वमेतत्। तथा न मोक्षमार्गज्ञानादेव मोक्षेणाभिसंबन्धः दर्शनचारित्राभावात्। न च श्रद्धानादेव, मोक्षमार्गज्ञानपूर्वक्रियानुष्ठानाभावात्। न च क्रियामात्रादेव, ज्ञानश्रद्धानाभावात्। यतः क्रियाज्ञानश्रद्धानरहिता निःफलेति। ...यतः मोक्षमार्गत्रितयकल्पना ज्यायसी। उक्तं च—हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनां क्रिया। धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पङ्गुलः ॥१॥ संयोगमेवेह वदन्ति तज्ज्ञा न ह्येकचक्रेण रथः प्रयाति। अन्धश्च पङ्गुश्च वने प्रविष्टौ तौ संप्रयुक्तौ नगरं प्रविष्टौ ॥२॥ =जैसे औषधिके पूर्णफलकी प्राप्तिके लिए उसका श्रद्धान ज्ञान व सेवनरूप क्रिया आवश्यक है, इसी प्रकार सम्यग्दर्शनादि तीनोंके मेलसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। दर्शन और चारित्रका अभाव होनेके कारण ज्ञानमात्रसे, ज्ञानपूर्वक क्रियारूप अनुष्ठानके अभावके कारण श्रद्धानमात्रसे और ज्ञान तथा श्रद्धानके अभावके कारण क्रियामात्रसे मोक्ष नहीं होती, क्योंकि ज्ञान व श्रद्धान रहित क्रिया निष्फल है। इसलिए मोक्षमार्गके तीनपनेकी कल्पना सार्थक होती है। कहा भी है—क्रियाहीन ज्ञान नष्ट है और अज्ञानियोंकी क्रिया निष्फल है। एक चक्रसे रथ नहीं चलता, अतः ज्ञानक्रियाका संयोग ही कार्यकारी है। जैसे कि दावानलसे व्याप्त वनमें अन्धा दौड़ते तो भागता-भागता जल जाता है और लंगड़ा देखता-देखता जल जाता है। यदि अन्धा और लंगड़ा दोनों मिल जायें और अन्धेके कन्धेपर लँगड़ा बैठ जाये तो दोनोंका उद्धार हो जायेगा तब लंगड़ा तो रास्ता बताता हुआ ज्ञानका कार्य करेगा तथा अन्धा चलता हुआ चारित्रका कार्य करेगा। इस प्रकार दोनों ही वनसे बचकर नगरमें आ सकते हैं। (प. वि./१/७५), (विज्ञानवाद/२)।

३. सामायिक संयम या ज्ञानमात्र कहनेसे भी तीनोंका ग्रहण हो जाता है

रा. वा./१/१/४९/१४/१४ 'अनन्ता सामायिकसिद्धा' इत्येतदपि त्रितयमेव साधयति। कथम्। ज्ञस्वभावस्यात्मनस्तत्त्व श्रद्धानस्य

सामायिकचारित्रोपपत्ते'। समय एकत्वमभेद इत्यनर्थान्तरम्, समय एव सामायिकं चारित्र सर्वसावद्यनिवृत्तिरिति अभेदेन सग्रहादिति। ='अनन्त जीव सामायिक चारित्रसे सिद्ध हो गये' यह वचन भी तीनोंके मोक्षमार्गका समर्थन करता है। ज्ञानरूप आत्माके तत्त्वश्रद्धानपूर्वक ही समताभावरूप चारित्र हो सकता है। समय, एकत्व और अभेद ये एकार्थवाची शब्द हैं। समय ही सामायिक चारित्र है। अर्थात् समस्त पापयोगोसे निवृत्त होकर अभेद समता और वीतरागमे प्रतिष्ठित होना सामायिक चारित्र है।

प.प्र /टी.२/७२/१६४/१० अत्राह प्रभाकरभट्ट । हे भगवन्, यदि विज्ञानमात्रेण मोक्षो भवति तर्हि सांख्यादयो वदन्ति ज्ञानमात्रादेव मोक्ष' तेषा किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति। भगवानाह। अत्र वीतरागनिर्विकल्पस्वसवेदनसम्यग्ज्ञानमिति भणितं तिष्ठति तेन वीतरागविशेषणेन चारित्रं लभ्यते सम्यग्विशेषणेन सम्यक्त्वमपि लभ्यते, पानकवदेकस्यापि मध्ये त्रयमस्ति। तेषा मते तु वीतरागविशेषण नास्ति सम्यग्विशेषणं च नास्ति ज्ञानमात्रमेव। तेन दूषण भवतीति भावार्थ ।=प्रश्न—हे भगवन् ' यदि विज्ञानमात्रमें ही मोक्ष होता है (दे० आगे मोक्षमार्ग/३) तो सांख्य, बौद्ध आदि लोग ज्ञानमात्रसे ही मोक्ष कहते है, उन्हें दूषण क्यो देते हो। उत्तर—हमारे हाँ 'वीतराग निर्विकल्प स्वसंवेदन सम्यग्ज्ञान' ऐसा कहा गया है। तहाँ 'वीतराग' विशेषणसे तो चारित्रका ग्रहण हो जाता है और 'सम्यक्' विशेषणसे सम्यग्दर्शनका ग्रहण हो जाता है। पानकवत एकको ही यहाँ तीनपना प्राप्त है। परन्तु उनके मतमें न वीतराग विशेषण है और न सम्यक् विशेषण। ज्ञानमात्र कहते हैं। इसलिए उनको दूषण दिया जाता है, ऐसा भावार्थ है।

द्र. स./टी/३६/१५२/८ (क्रमश:) कश्चिदाह-सद्दृष्टीना वीतरागविशेषण किमर्थं। रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेदविज्ञाने जाते सति रागानुभवेऽपि ज्ञानमात्रेण मोक्षो भवतीति। तत्र परिहार'। अन्धकारे पुरुषद्वयम् एक प्रदीपहस्तस्तिष्ठति, अन्यः पुनरेक' प्रदीपरहितस्तिष्ठति। स च कूपे पतनं सर्पादिक वा न जानाति तस्य विनाशे दोषो नास्ति। यस्तु प्रदीपहस्तस्तस्य कूपपतनादिविनाशे प्रदीपफल नास्ति। यस्तु कूपपतनादिक त्यजति तस्य प्रदीपफलमस्ति। तथा कोऽपि रागादयो हेया मदीया न भवन्तीति भेदविज्ञान न जानाति स कर्मणा बध्यते तावत्। अन्य' कोऽपि रागादिभेदविज्ञाने जातेऽपि यावदशेन रागादिकमनुभवति तावदंशेन सोऽपि बध्यत एव, तस्यापि रागादिभेदविज्ञानफल नास्ति। यस्तु रागादिभेदविज्ञाने जाते सति रागादिक त्यजति तस्य भेदविज्ञानफलमस्तीति ज्ञातव्यम्।=प्रश्न—सम्यग्दृष्टियोको वीतराग विशेषण किस लिए दिया जाता है। 'रागादिक हेय है, ये मेरे नहीं है' इतना मात्र भेद विज्ञान हो जानेपर रागका अनुभव होते हुए भी ज्ञान मात्रसे ही मोक्ष हो जाता है। उत्तर—अन्धकारमें दीपक रहित कोई पुरुष कुएँमें गिरता है तो कोई दोष नहीं, परन्तु दीपक हाथमें लेकर भी यदि कोई कुएँमें गिरे तो उसे दीपकका कोई फल नहीं है, कुएँमें गिरने आदिका त्याग करना ही दीपकका फल है। इसी प्रकार भेदविज्ञान रहित व्यक्तिको तो कर्म बधते ही है, परन्तु भेदविज्ञान हो जानेपर भी जितने अशमें रागादिका अनुभव होता है, उतने अशमें बधता ही है और उसको भी उतने अशमें भेदविज्ञानका फल नहीं है। जो भेदविज्ञान हो जानेपर रागादिकका त्याग करता है उसको ही भेद विज्ञानका फल हुआ जानना चाहिए।

४. वास्तवमें मार्ग तीन नहीं एक है

न्या. दी./३/§७३/११३ सम्यग्दर्शनादीनि मोक्षस्य सकलकर्मक्षयस्य मार्ग उपाय न तु मार्गा। - इत्येकवचनप्रयोगतात्पर्यसिद्ध'। =सम्यग्दर्शनादि मोक्षका अर्थात् सकलकर्मके क्षयका एक मार्ग है, अनेक मार्ग नहीं है। सूत्रमें एकवचनके प्रयोगसे यह बात सिद्ध होती है।

५. युगपत् होते हुए भी तीनोंका स्वरूप भिन्न हैं

रा. वा /१/१/ वार्तिक/पृष्ठ/ पंक्ति ज्ञानदर्शनयोर्युगपत्प्रवृत्तेरेकत्वमिति चेत्; न, तत्त्वावायश्रद्धानभेदात् तापप्रकाशवत्। (६०/१६/३)। ज्ञानचारित्रयोरेकभेदादेकत्वम् अगम्यादवबोधवदिति चेत्, न, आशूत्पत्तौ सूक्ष्मकालाप्रतिपत्ते' उत्पलपत्रशतव्यधनवत्/(६३/१६/२३)। अर्थभेदाच्च। (६४/१७/१)। कालभेदाभावो नार्थभेदहेतु' गतिजात्यादिवत्। (६५/१७/३)। =यद्यपि अग्निके ताप व प्रकाशवत् सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान युगपत् उत्पन्न होते है परन्तु तत्त्वोका ज्ञान व उनका श्रद्धान रूपमे इनके स्वरूपमें भेद है। जैसे अन्धकारमें ग्रहण की गयी माताको बिजलीकी चमकका प्रकाश होनेपर अगम्य जानकर छोड देता है, उसी प्रकार ज्ञान व चारित्र यद्यपि युगपत् होते प्रतीत होते है परन्तु वास्तवमें उनमें कालभेद है, जो कि अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण जाननेमें नही आता जैसे कि सौ कमलपत्रोको एक सुई से बीन्धने पर प्रत्येक पत्रके बिन्धनेका काल पृथक्-पृथक् प्रतीतिमें नही आता है। अत' काल की एकताका हेतु देकर ज्ञान व चारित्रमें एकता नहीं की जा सकती। दूसरे कालका अभेद हो जानेसे अर्थका भी अभेद हो जाता हो ऐसा कोई नियम नहीं है, जैसे कि मनुष्य गति और उसकी पचेन्द्रिय जातिका काल अभिन्न होने पर भी वे दोनों भिन्न है।

६. तीनों की पूर्णता युगपत् नहीं होती

रा.वा./१/१ वार्तिक/पृष्ठ/ पंक्ति-एषा पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्। (६६/१७/२४)। उत्तरलाभे तु नियत पूर्वलाभ (७०/१७/२६)। तदनुपपत्ति', अज्ञानपूर्वकश्रद्धानप्रसगात्। (७१/१७/२०)। न वा, यावति ज्ञानमित्येतत् परिसमाप्यते तावतोऽसभवात्तयापेक्षं वचनम्। तदपेक्ष्य सपूर्णद्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वलक्षण श्रुत केवलं च भजनीयमुक्तम्। तथा पूर्वं सम्यग्दर्शनलाभे देशचारित्र सयतासयतस्य सर्वचारित्रं च प्रमत्तादारभ्य सूक्ष्मसाम्परायान्ताना यच्च यावच्च नियमादस्ति, सपूर्णं यथाख्यातचारित्र तु भजनीयम्। (७४/१८/७)। अथवा क्षायिकसम्यग्दर्शनस्य लाभे क्षायिकं सम्यग्ज्ञान भजनीयम्। - सम्यग्दर्शनस्य सम्यग्ज्ञानस्य वा अन्यतरस्यात्मलाभे चारित्रमुत्तर भजनीयम्। (७५/१८/२०)=सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रमें पूर्व पूर्वकी प्राप्ति होनेपर उत्तर उत्तरकी प्राप्ति भजनीय है, अर्थात् हो भी और न भी हो। परन्तु उत्तरकी प्राप्तिमें पूर्वका लाभ निश्चित है। जैसे जिसे सम्यकचारित्र होगा उसे सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान होंगे ही, पर जिसे सम्यग्दर्शन है उसे पूर्ण सम्यग्ज्ञान और चारित्र हो भी और न भी हो। प्रश्न—ऐसा मानने से अज्ञानपूर्वक श्रद्धानका प्रसग आता है। उत्तर—पूर्ण ज्ञानको भजनीय कहा है न कि ज्ञानसामान्यको। ज्ञानकी पूर्णता श्रुतकेवली और केवलीके होती है। सम्यग्दर्शनके होनेपर पूर्ण द्वादशाग और चतुर्दशपूर्वरूप श्रुतज्ञान और केवलज्ञान हो ही जायेगा यह नियम नहीं है। इसी तरह चारित्र भी समझ लेना चाहिए। सम्यग्दर्शनके होनेपर देश सकल या यथाख्यात चारित्र, सयतासयतको सकल व यथाख्यात चारित्र, ६-१० गुणस्थानवर्ती साधुको यथाख्यात चारित्र भजनीय है। अथवा क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जानेपर क्षायिक सम्यग्ज्ञान भजनीय है। अथवा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानमें से किसी एक या दोनोंके प्राप्त हो जानेपर पूर्ण चारित्र (अयोगी गुणस्थानका यथाख्यात चारित्र) भजनीय है।

७. मोक्षके अन्य कारणोका निर्देश

स. सि/१/४/१५/६ मोक्षस्य प्रधानहेतु' सवरो निर्जरा च।=मोक्षके प्रधान हेतु संवर निर्जरा है। (रा. वा /१/४/३/२५/६)।

ध.७/२,१,७/गा. ३/६ ओदइया बंधयरा उवसमखयमिस्सया य मोक्खयरा। भावो दु पारिणामिओ...।३। =औदयिक भाव बन्ध करनेवाले हैं तथा औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक भाव मोक्षके कारण हैं।

ध ७/२,१,७/पृष्ठ/पंक्ति सम्मद्दंसण-संजमाकसायाजोगा मोक्खकरणाणि (६/६)। एदेसिं पडिवक्खा सम्मत्तुप्पत्ती देससंजम-संजम-अणंताणुबंधिविसंयोजण-दंसणमोहक्खवणचरित्तमोहुवसामणुवसंत - कसाय - चरित्तमोहक्खवण - खीणकसाय - सजोगिकेवलीपरिणामा मोक्खपच्चया, एदेहिंतो समयं पडि असंखेज्जगुणसेडीए कम्मणिज्जरुवलंभादो। (१३/१०)। =बन्धके मिथ्यात्वादि प्रत्ययोंसे विपरीत सम्यग्दर्शन, संयम, अकषाय, अयोग—अथवा (गुणस्थानक्रमसे) सम्यक्त्वोत्पत्ति, देशसंयम, संयम, अनन्तानुबन्धीविसंयोजन, दर्शनमोहक्षपण, चारित्रमोहोपशमन, उपशान्तकषाय, चारित्रमोह क्षपण, क्षीणकषाय व सयोगकेवलीके परिणाम भी मोक्षके प्रत्यय हैं, क्योंकि इनके द्वारा प्रति समय असंख्यात गुणी कर्मोंकी निर्जरा पायी जाती है।

२. निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग निर्देश

१. मोक्षमार्गके दो भेद—निश्चय व व्यवहार

त. सा./६/२ निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः। =निश्चय और व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकारका है। (न च. वृ /२८४); (त अनु./२८)।

२. व्यवहार मोक्षमार्गका लक्षण भेदरत्नत्रय

प. का./मू./१६० धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं। चेट्ठा तवं हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति।१६०। =धर्मास्तिकाय आदिका अर्थात् षट्द्रव्य, पंचास्तिकाय, सप्त तत्त्व व नव पदार्थों-का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, अंगपूर्व सम्बन्धी आगम ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तपमें चेष्टा करना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार व्यवहार मोक्षमार्ग है। (म. सा./मू /२७६); (त. अनु./३०)।

स. सा /मू /१५५ जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं। रायादी-परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो।१५५। जीवादि=(नव पदार्थोंका) श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उन ही पदार्थोंका अधिगम सम्यग्ज्ञान है और रागादिका परिहार सम्यक्चारित्र है। यही मोक्षका मार्ग है। (न च. वृ /३२१), (द्र सं./टी./३९/१६२/८), (प प्र /टी. /२/१४/१२८/१२)।

त. सा./६/४ श्रद्धानाधिगमोपेक्षा या पुनः स्युः परात्मना। सम्यक्त्व-ज्ञानवृत्तात्मा स मार्गो व्यवहारतः। =(निश्चयमोक्षमार्ग रूपसे कथित अभेद) आत्मामें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र यदि भेद अर्थात् विकल्पकी मुख्यतासे प्रगट हो रहा हो तो सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र रूप रत्नत्रयको व्यवहार मोक्षमार्ग सम-झना चाहिए।

प. प्र./२/३१/१५०/१४ व्यवहारेण वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशुद्धात्मतत्त्व-प्रभृतिषट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थविषये सम्यक् श्रद्धान-ज्ञानाहिंसादिव्रतशीलपरिपालनरूपस्य भेदरत्नत्रयस्य। =व्यवहारसे सर्वज्ञप्रणीत शुद्धात्मतत्त्वको आदि देकर जो षट्द्रव्य, पंचास्ति-काय, सप्ततत्त्व, नवपदार्थ इनके विषयमें सम्यक् श्रद्धान व ज्ञान करना तथा अहिंसादि व्रत शील आदिका पालन करना (चारित्र) ऐसा भेदरत्नत्रयका स्वरूप है।

३. निश्चयमोक्षमार्गका लक्षण अभेद रत्नत्रय

पं. का /मू./१६१ णिच्छयणयेण भणिदो तिहि समाहिदो हु जो अप्पा। ण कुणदि किं चि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति।१६१। =जो आत्मा इन तीनों (सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र) द्वारा समाहित होता हुआ (अर्थात् निजात्मामें एकाग्र होता हुआ) अन्य कुछ भी न करता है और न छोड़ता है (अर्थात् करने व छोड़नेके विकल्पोंसे अतीत हो जाता है), वह आत्मा ही निश्चय नयसे मोक्षमार्ग कहा गया है। (त. सा./६/३); (त. अनु./३१)।

प. प्र./मू /२/१३ पेच्छइ जाणइ अणुचरइ अप्पिं अप्पउ जो जि। दंसणु णाणु चरित्तु जिउ मोक्खहँ कारणु सो जि। =जो आत्मा अपनेसे आपको देखता है, जानता है, व आचरण करता है वही विवेकी दर्शन, ज्ञान चारित्ररूप परिणत जीव मोक्षका कारण है। (न. च. वृ /३२३), (नि सा /ता. वृ./२); (प. प्र./टी./२/१४/१२८/१३), (पं. का./ता. वृ./१६१/२३३/८); (द्र. सं./टी./३९/१६२/१०)।

प. प्र /टी./२/३१/१५१/१ निश्चयेन वीतरागसदानन्दैकरूपसुखसुधा-रसास्वादपरिणतनिजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपस्याभेद-रत्नत्रयस्य...। =निश्चयसे वीतराग सुखरूप परिणत जो निज शुद्धात्मतत्त्व उसीके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान व अनुचरण रूप अभेदरत्न-त्रयका स्वरूप है। (नि. सा./ता. वृ./२); (स सा./ता वृ /२/८-१०); (प. प्र./टी./८७/२०६/१५); (द्र. सं /टी./अधि २ की चूलिका/ ८२/७)।

४. निश्चय मोक्षमार्गका लक्षण शुद्धात्मानुभूति

यो. सा /यो./१६ अप्पादंसणु एक्कु परु अण्णु ण किं पि वियाणि। मोक्खहँ कारण जोइया णिच्छइँ एहउ जाणि।१६। =हे योगिन्! एक परम आत्मदर्शन ही मोक्षका कारण है, अन्य कुछ भी मोक्षका कारण नहीं। यह तू निश्चय समझ।

न. च. वृ /३४२ की उत्थानिकामें उद्धृत—णिच्छयदो खलु मोक्खो तस्स य हेऊ हवेइ सब्भावो।" (सब्भावणयचक्क/३७६)। निश्चयसे मोक्षका हेतु स्वभाव है।

प्र. सा /त. प्र /२४२ एकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवाव-गन्तव्य.। =एकाग्रता लक्षण श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है, ऐसा मोक्षमार्ग ही है, ऐसा समझना चाहिए।

ज्ञा./१८/३२ अपास्य कल्पनाजालं चिदानन्दमये स्वयम्। यः स्वरूपे लयं प्राप्तः स स्याद्रत्नत्रयास्पदम्।३२। =जो मुनि कल्पनाके जाल-को दूर करके अपने चैतन्य और आनन्दमय स्वरूपमें लयको प्राप्त होता है, वही निश्चयरत्नत्रयका स्थान होता है।

प. का /ता. वृ /१५८/२२९/१२ ततः स्थितं विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे जीवस्वभावे निश्चलावस्थानं मोक्षमार्ग इति। =अतः यह बात सिद्ध होती है कि विशुद्ध ज्ञान दर्शन लक्षणवाले जीवस्वभावमें निश्चल अवस्थान करना ही मोक्षमार्ग है।

५. निश्चयमोक्षमार्गके अपरनाम

द्र. सं /टी /५६/२२५/१३ तदेव निश्चयमोक्षमार्गस्वरूपम्। तच्च पर्याय-नामान्तरेण किं किं भण्यते तदभिधीयते। (इन नामोंका केवल भाषानुवाद ही लिख दिया है संस्कृत नहीं) · इत्यादि समस्तरागादि-विकल्पोपाधिरहितपरमाह्लादैकसुखलक्षणध्यानरूपस्य निश्चयमोक्ष-मार्गस्य वाचकान्यन्यान्यपि पर्यायनामानि विज्ञेयानि भवन्ति परमात्मतत्त्वविद्भिरिति। =वह (वीतराग परमानन्द सुखका प्रतिभास) ही निश्चय मोक्षमार्गका स्वरूप है। उसको पर्याया-न्तर शब्दो द्वारा क्या-क्या कहते है, सो बताते है।—१. शुद्धात्म-स्वरूप, २ परमात्मस्वरूप, ३. परमहंसस्वरूप, ४ परमब्रह्मस्वरूप, ५ परमविष्णुस्वरूप, ६. परमनिजस्वरूप, ७. सिद्ध, ८. निरंजन-रूप, ९ निर्मलस्वरूप, १०. स्वसंवेदनज्ञान; ११. परमतत्त्वज्ञान, १२ शुद्धात्मदर्शन, १३. परमावस्थास्वरूप, १४. परमात्मदर्शन, १५. परम तत्त्वज्ञान, १६. शुद्धात्मज्ञान, १७. ध्येय स्वरूप शुद्ध-पारिणामिक भाव, १८. ध्यानभावनारूप, १९. शुद्धचारित्र, २०.

अतरंग तत्त्व, २१. परमतत्त्व, २२. शुद्धात्मद्रव्य, २३. परमज्योति, २४. शुद्धात्मानुभूति, २५. आत्मद्रव्य, २६. आत्मप्रतीति, २७. आत्मसंवित्ति, २८ आत्मस्वरूपकी प्राप्ति, २६. नित्यपदार्थकी प्राप्ति, ३०. परमसमाधि, ३१. परमानन्द, ३२. नित्यानन्द, ३३. स्वाभाविक आनन्द, ३४ सदानन्द, ३५. शुद्धात्मपठन, ३६. परमस्वाध्याय, ३७. निश्चय मोक्षका उपाय, ३८. एकाग्रचिन्ता निरोध, ३६ परमज्ञान, ४० शुद्धोपयोग, ४१. भूतार्थ, ४२. परमार्थ, ४३ पचाचारस्वरूप, ४४. समयसार, ४५. निश्चय षडावश्यक स्वरूप, ४६. केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण, ४७. समस्त कर्मोंके क्षयका कारण, ४८. निश्चय चार आराधना स्वरूप, ४६. परमात्मभावना रूप, ५० सुखानुभूतिरूप परमकला, ५१ दिव्यकला, ५२ परम अद्वैत, ५३. परमधर्मध्यान, ५४. शुक्लध्यान, ५५. निर्विकल्पध्यान, ५६. निष्कलध्यान, ५७ परमस्वास्थ्य, ५८. परमवीतरागता, ५६. परम समता, ६० परम एकत्व, ६१. परम भेदज्ञान, ६२. परम समरसी भाव—इत्यादि समस्त रागादि विकल्पोपाधि रहित परमाह्लादक सुखलक्षणवाले ध्यानस्वरूप ऐसे निश्चय मोक्षमार्गको कहनेवाले अन्य भी बहुतसे पर्यायनाम जान लेने चाहिए।

६. निश्चय व व्यवहार मोक्षमार्गके लक्षणोंका समन्वय

प. प्र./मू /२/४० दसणु णाणु चरित्तु तसु जो सपभाउ करेइ। एयरहँ एक्कु वि अत्थि णवि जिणवरु एउ भणेइ।४०। =दर्शन ज्ञान चारित्र वास्तवमें उसीके होते है, जो समभाव करता है। अन्य किसीके इन तीनोमें-से एक भी नही होता, इस प्रकार जिनेन्द्र देव कहते है।

प्र. सा./त. प्र /२४० य खलु सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्धानोऽनुभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चला वृत्तिमिच्छन् • 'यमसाधनीकृतशरीरपात्र •• समुपरतकायवाङ्मनोव्यापारो भूत्वा चित्तवृत्ते' निष्पीड्य निष्पीड्य कषायचक्रमक्रमेण जीवं त्याजयति खलु सकलपरद्रव्यशून्योऽपि विशुद्धदृशिज्ञप्तिमात्रस्वभावभूतावस्थापितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात् सयत एव स्यात्। तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं सिद्ध्यति। =जो पुरुष सकल ज्ञेयाकारोंसे प्रतिबिम्बित विशद एक ज्ञानाकार रूप आत्माका श्रद्धान और अनुभव (ज्ञान) करता हुआ, आत्मामें ही नित्य निश्चल वृत्तिको (निश्चय चारित्रको) इच्छता हुआ, सयमके साधनीभूत शरीरमात्रको पंच समिति आदि (व्यवहार चारित्र) के द्वारा तथा पंचेन्द्रियोके निरोध द्वारा मनवचनकायके व्यापारको रोकता है। तथा ऐसा होकर चित्तवृत्तिमें-से कषायसमूहको अत्यन्त मर्दन कर-करके अक्रमसे मार डालता है, वह व्यक्ति वास्तवमें सकल परद्रव्यसे शून्य होनेपर भी विशुद्ध दर्शनज्ञानमात्र स्वभावरूपसे रहनेवाले आत्म तत्त्वमें नित्य निश्चय परिणति (अभेद रत्नत्रय) उत्पन्न होनेसे साक्षात् सयत ही है। और उसे ही आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, सयतत्व (भेदरत्नत्रय) की युगपतताके साथ आत्मज्ञान (निश्चय मोक्षमार्ग) की युगपतता सिद्ध होती है।

प्र सा /त प्र /२४२ ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण च त्रिभिरपि यौगपद्येन• परिणतस्यात्मनो यदात्मनिष्ठत्वे सति सयतत्वं तत्पानकवदनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्तपरद्रव्यपरावृत्तत्वादभिव्यक्तैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्य'। तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेनैकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वाद्द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तदुभयमिति प्रमाणेन प्रज्ञप्ति'। = ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्वकी (अर्थात् स्व व परकी) यथावस्थित प्रतीतिरूप तो सम्यग्दर्शन पर्याय, तथा उसी स्वपर तत्त्वकी यथावस्थित अनुभूति रूप ज्ञानपर्याय, तथा उसीकी क्रियान्तरसे निवृत्तिके द्वारा (अर्थात् ज्ञेयोका आश्रय लेकर क्रमपूर्वक जाननेकी निवृत्ति करके) एक दृष्टिज्ञातृतत्त्व (निजात्मा) में परिणति रूप चारित्र पर्याय है। इन तीनों पर्यायोंरूप युगपत परिणत आत्माके आत्मनिष्ठता होनेपर सयतत्व होता है। वह सयतत्व ही एकाग्र्यलक्षणवाला श्रामण्य या मोक्षमार्ग है। क्योंकि वहाँ पानकवत् अनेकात्मक एक (विशद ज्ञानाकार) का अनुभव होनेपर भी समस्त परद्रव्योसे निवृत्ति होनेके कारण एकाग्र्यता अभिव्यक्त है। वह सयतत्व भेदात्मक है, इसलिए उसे ही पर्यायप्रधान व्यवहारनयसे 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मोक्षमार्ग है' ऐसा कहते है। वह अभेदात्मक भी है, इसलिए द्रव्यप्रधान निश्चयनयसे 'एकाग्रता मोक्षमार्ग है' ऐसा कहते है। समस्त ही पदार्थ भेदाभेदात्मक हैं, इसलिए उभयग्राही प्रमाणसे 'वे दोनों अर्थात् रत्नत्रय व एकाग्रता) मोक्षमार्ग है, ऐसा कहते है। (त. सा /६/२१)

प. प्रा./टी./६६/६१/४ यथा द्राक्षाकर्पूरश्रीखण्डादिबहुद्रव्यैर्निष्पन्नमपि पानकमभेदविवक्षया कृत्वैकं भण्यते, तथा शुद्धात्मानुभूतिलक्षणैकनिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैर्बहुभि' परिणतो अनेकोऽप्यात्मा त्वभेदविवक्षया एकोऽपि भण्यत इति भावार्थ.। = जिस प्रकार द्राक्षा कपूर व खाण्ड आदि बहुतसे द्रव्योंसे बना हुआ भी पानक अभेद विवक्षासे एक कहा जाता है, उसी प्रकार शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाले निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र इन तीनोके द्वारा परिणत अनेकरूप वाला भी आत्मा अभेद विवक्षासे एक भी कहा जाता है, ऐसा भावार्थ है।

प. ध /उ./७६६ सत्य सद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रान्तर्गत मिथ। त्रयाणामविनाभावादिद त्रयमखण्डितं।७६६। =सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चारित्रमें अन्तर्भूत हो जाते है क्योकि तीनो अविनाभावी है। इसलिए ये तीनो अखण्डित रूपसे एक ही है।

७. अभेद मार्गमें भेद करनेका कारण

स. सा./मू./१७-१८ जह णामको वि पुरिसो रायाण जाणिऊण सद्दहदि। तोत अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण।१७। एव हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो। अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण।१८। =जैसे कोई धनका अर्थी पुरुष राजाको जानकर श्रद्धा करता है, और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है, इसी प्रकार मोक्षके इच्छुक पुरुषको जीवरूपी राजाको जानना चाहिए, और फिर इसी प्रकार उसका श्रद्धान करना चाहिए, और तत्पश्चात उसीका अनुचरण करना चाहिए और अनुभव द्वारा उसमें लय हो जाना चाहिए।

३. दर्शन ज्ञान चारित्रमे कथंचित् एकत्व

१. तीनों वास्तवमें एक आत्मा ही है

स सा./मू./७,१६,२७७ ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं। णवि णाणं ण चरित्त ण दसण जाणगो सुद्धा।७। दसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्च। ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।१६। आदा खु मज्झ णाण आदा मे दंसण चरित्तं च। आदा पच्चक्खाण आदा मे संवरो जोगो।२७७। = ज्ञानीके चारित्र, दर्शन, व ज्ञान ये तीन भाव व्यवहारसे कहे जाते हैं, निश्चयसे ज्ञान भी नही है, चारित्र भी नहीं है और दर्शन भी नहीं

है, अर्थात् ये कोई तीन पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है।७। (न. च. वृ. /२६३)। साधु पुरुषको दर्शन ज्ञान और चारित्र सदा सेवन करने योग्य है और उन तीनोंको निश्चय नयसे एक आत्मा ही जानो।१६। (मो पा./१०५), (ति. प /६/२३); (द्र. स./मू /३६)। निश्चयसे मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन है, और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान है, मेरा आत्मा ही सवर और योग है।२७७।

प. का./मू /१६२ जो चरदि णादि पेच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं। सो चारित्त णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि। = जो आत्मा अनन्यमय आत्माको आत्मासे आचरता है, जानता है, देखता है, वह (आत्मा ही) चारित्र है, ज्ञान है, और दर्शन है, ऐसा निश्चित है। (त अनु./३२)।

द पा/मू /२० जीवादी सद्दहण सम्मत्तं जिणवरेहि। पण्णत्तं ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्त।२०। = जीव आदि पदार्थोंका श्रद्धान करना जिनेन्द्र भगवान्ने व्यवहारसे सम्यक्त्व कहा है, निश्चयसे आत्मा ही सम्यग्दर्शन है। (प. प्र./मू./१/६६)।

यो. सा /अ /१/४१-४२ आचारवेदन ज्ञानं सम्यक्त्वं तत्त्वरोचनं। चारित्रं च तपश्चर्या व्यवहारेण गद्यते।४१। सम्यक्त्वज्ञानचारित्रस्वभाव परमार्थत'। आत्मा रागविनिर्मुक्ता मुक्तिमार्गो विनिर्मल'। ।४२। = व्यवहारनयसे आचारोंका जानना ज्ञान, तत्त्वोंमें रुचि रखना सम्यक्त्व और तपोंका आचरण करना सम्यक्चारित्र है।४१। परन्तु निश्चयसे तो, जो आत्मा रागद्वेष रहित होनेके कारण स्वय सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र स्वभावस्वरूप है वही निर्दोष मोक्षमार्ग है।४२।

२. तीनोंको एक आत्मा कहनेका कारण

स. सा /आ /१२/क ६ एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मन', पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्य' पृथक्। सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु न।६। =इस आत्माका अन्य द्रव्योंसे पृथक् देखना ही नियमसे सम्यग्दर्शन है, यह आत्मा अपने गुण पर्यायोंमें व्याप्त रहनेवाला है और शुद्धनयसे एकत्वमें निश्चित किया गया है तथा पूर्ण ज्ञानघन है। एवं जितना सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है, इसलिए आचार्य प्रार्थना करते है, कि इस नव तत्त्वकी परिपाटीको छोडकर, यह आत्मा ही हमें प्राप्त हो।

स./मू /४० रयणत्तय ण वट्टइ अप्पाण मइत्तु अण्णदवियम्हि। तम्हा तत्तियमइउ होदि हु मुक्खस्स कारण आदा। =आत्माको छोडकर अन्य द्रव्योंमें रत्नत्रय नही रहता, इस कारण उस रत्नत्रयमय आत्मा ही निश्चयसे मोक्षका कारण है।

पं. वि./४/१४,१५ दर्शन निश्चय' पुसि बोधस्तद्बोध इष्यते। स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योग शिवाश्रय।१४। एकमेव हि चैतन्य शुद्धनिश्चयतोऽथवा। कोऽवकाशो विकल्पाना तत्राखण्डैकवस्तुनि।१५। =आत्मस्वरूपके निश्चयको सम्यग्दर्शन, उसके ज्ञानको सम्यग्ज्ञान, तथा उसी आत्मामें स्थिर होनेको सम्यक्चारित्र कहा जाता है। इन तीनोंका सयोग मोक्षका कारण होता है।१४। परन्तु शुद्ध निश्चयकी अपेक्षासे ये तीनो एक चैतन्य स्वरूप ही है, कारण उस एक अखण्ड वस्तुमें भेदोंके लिए स्थान ही कहाँ है।१५।

३. ज्ञानमात्र ही मोक्षमार्ग है

बो. पा /मू /२० सजम संजुत्तस्स य सुज्झाण जोयस्स मोक्खमग्गस्स। णाणेण लहदि लक्ख तम्हा णाण च णायव्व। =सयमसे सयुक्त तथा ध्यानके योग्य मोक्षमार्गका लक्ष्य क्योंकि ज्ञानसे प्राप्त होता है, इसलिए इसको जानना चाहिए है।

स. सा./आ./१५५ मोक्षहेतु' किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम् चारित्रम्। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतु'। =मोक्षका कारण वास्तवमें सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्र है, उसमें जीवादि-पदार्थोंके श्रद्धान स्वभावस्वरूप ज्ञानका परिणमन करना सम्यग्दर्शन है, उन पदार्थोंके ज्ञानस्वभावस्वरूप ज्ञानका परिणमन करना सम्यग्ज्ञान है, और उस ज्ञानका ही रागादिके परिहारस्वभावस्वरूप परिणमन करना सम्यक्चारित्र है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान व चारित्र ये तीनो एक ज्ञानका ही परिणमन है। इसलिए ज्ञान ही परमार्थ मोक्षका कारण कारण है।

स. सा./आ./परि/क २६५ के पश्चात्—आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यते एव; तस्यैकस्यापि स्वय साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात्। तत्र यत्साधक रूपं स उपायः, यत्सिद्धं रूपं स उपेय'। अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात्संसरत' . सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपाकप्रकर्षपरपरया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यान्तर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा रत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति। =आत्मवस्तुको ज्ञानमात्र होनेपर भी उसे उपाय-उपेयभाव है ही। क्योंकि वह एक होनेपर भी स्वय साधक रूपसे और सिद्धरूपसे दोनों प्रकारसे परिणमित होता है। (आत्मा परिणामी है और साधकत्व व सिद्धत्व उसके परिणाम हैं। तहाँ भी पूर्व पर्याययुक्त आत्मा साधक और उत्तरपर्याययुक्त आत्मा साध्य है।) उसमें जो साधकरूप है वह उपाय है और जो सिद्धरूप है वह उपेय है। इसलिए अनादिकालसे मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र द्वारा स्वरूपसे च्युत होनेके कारण ससारमें भ्रमण करते हुए, व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रके पाकके प्रकर्षकी परम्परासे क्रमश स्वरूपमें आरोहण करता है। तदनन्तर अन्तर्मग्न जो निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र उनकी तद्रूपताके द्वारा स्वयं साधक रूपसे परिणमित होता है। और अन्तमें रत्नत्रयकी अतिशयतासे प्रवर्तित जो सकल कर्मके क्षयसे प्रज्वलित अस्खलित विमल स्वभाव, उस भावके द्वारा स्वय सिद्ध रूपसे परिणमित होता है। ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय-उपेयभावको सिद्ध करता है।

४. तीनोंके भेद व अभेदका समन्वय

त. सा /६/२१ स्याद् सम्यक्त्वज्ञानचारित्ररूप', पर्यायार्थादेशतो मुक्तिमार्ग। एको ज्ञाता सर्वदैवाद्वितीय', स्याद् द्रव्यार्थादेशतो मुक्तिमार्ग।२१। =सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र इन तीनोंमें भेद करना सो पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है। इन सर्व पर्यायोंमें ज्ञाता जीव एक ही रहता है। पर्याय तथा जीवमें कोई भेद न देखते हुए रत्नत्रयसे आत्माको अभिन्न देखना, सो द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षासे मोक्षमार्ग है।

५. ज्ञान कहनेसे यहाँ पारिणामिक भाव इष्ट है

न च. वृ /३७३ सद्धाणणाणचरणं जाव ण जीवस्स परमसब्भावो। ता अण्णाणी मूढो ससारमहोवहि भमइ। =जबतक जीवको निज परम स्वभाव (पारिणामिकभाव) में श्रद्धान ज्ञान व आचरण नही होता तबतक वह अज्ञानी व मूढ रहता हुआ संसार महासागरमें भ्रमण करता है।

स. सा /आ २०४ यदेतत्तु ज्ञान नामैक पदं स एष परमार्थ साक्षान्मोक्षोपायः। न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेक पदमिह भिन्दन्ति,

किंतु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनन्दन्ति।=यह ज्ञान नामका एक पद परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्षका उपाय है। यहाँ मतिज्ञानादि (ज्ञानके) भेद इस एक पदको नहीं भेदते, किन्तु वे भी इस एक पदका अभिनन्दन करते हैं।

नि. सा./ता.वृ./४१ पञ्चानां भावाना मध्ये क्षायिकभाव· · सिद्धस्य भवति। औदयिकौपशमिकक्षायोपशमिकभावा· संसारिणामेव भवन्ति न मुक्तानाम्। पूर्वोक्तभावचतुष्टय सावरणसयुक्तत्वात् न मुक्तिकारणम्। त्रिकालनिरुपाधिस्वरूप पञ्चमभावभावनया पञ्चमगतिं मुमुक्षवो यान्ति यास्यन्ति गताश्चेति।=पाँच भावोंमेंसे क्षायिक भाव सिद्धोंको होता है और औदयिक औपशमिक व क्षायोपशमिक भाव ससारियोंको होते हैं, मुक्तोंको नहीं। ये पूर्वोक्त चार भाव आवरण सहित होनेसे मुक्तिके कारण नहीं हैं। त्रिकाल-निरूपाधि-स्वरूप पचमभाव (पारिणामिकभाव) की भावनासे ही मुमुक्षु जन पंचम गतिको प्राप्त करते हैं, करेंगे, और किया है।

६. दर्शनादि तीनों-चैतन्यकी ही दर्शन ज्ञानरूप सामान्य विशेष परिणति है

प का./मू./१५४,१५६ जीवसहावं णाणं अप्पडिहददंसणं अण्णाणमय। चरियं च तेसु णियदं अत्थित्तमणिंदियं भणियं।१५४। चरियं चरदि सग सो जो परदव्वप्पभावरहिदप्पा। दसणणाणवियप्प अवियप्प चरदि अप्पादो।१५६।=जीवका स्वभाव ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन है, जो कि अनन्यमय है। उन ज्ञान व दर्शनमें नियत अस्तित्व जो कि अनिन्दित है, उसे चारित्र कहा है।१५४। जो परद्रव्यात्मक भावोंसे रहित स्वरूपवाला बर्तता हुआ दर्शन ज्ञानरूप भेदको आत्मासे अभेदरूप आचरता है वह स्वचारित्रको आचरता है।१५६।

रा वा./१/१/६२/१६/१६ ज्ञानदर्शनयोरनेन विधिना अनादिपारिणामिकचैतन्यजीवद्रव्यार्थादेशात् स्यादेकत्वम्, यतो द्रव्यार्थादेशाद् यथा ज्ञानपर्याय आत्मद्रव्यं तथा दर्शनमपि। तयोरेव प्रतिनियतज्ञानदर्शनपर्यायार्थार्पणात् स्यादन्यत्वम्, यस्मादन्यो ज्ञानपर्यायोऽन्यश्च दर्शनपर्याय।=(ज्ञान, दर्शन चारित्रके प्रकरणमें) ज्ञान और दर्शनमें, अनादि पारिणामिक चैतन्यमय जीवद्रव्यकी विवक्षा होनेपर अभेद है, क्योंकि वही आत्मद्रव्य ज्ञानरूप होता है और वही दर्शनरूप। जब हम उन उन पर्यायोंकी विवक्षा करते हैं तब ज्ञान-पर्याय भिन्न है और दर्शन पर्याय भिन्न है।

.का./त प्र./१५४ जीवस्वभावनियत चरित मोक्षमार्ग·। जीवस्वभावो हि ज्ञानदर्शने अनन्यमयत्वात्। अनन्यमयत्व च तयोर्विशेषसामान्यचैतन्यस्वभावजीवनिर्वृत्तत्वात्। अथ तज्जीवस्वरूपभूतयोर्ज्ञानदर्शनयोर्यन्नियतमवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपवृत्तिमयमस्तित्वं रागादिपरिणत्यभावादनिन्दितं तच्चरितं। तदेव मोक्षमार्ग इति।=जीव-स्वभाव नियत चारित्र मोक्षमार्ग है, जीवस्वभाव वास्तवमें ज्ञान दर्शन है, क्योंकि वे अनन्यमय हैं। और उसका भी कारण यह है कि विशेष चैतन्य (ज्ञान) और सामान्य चैतन्य (दर्शन) जिसका स्वभाव है ऐसे जीवमें वे निष्पन्न हैं। अब जीवके स्वरूपभूत ऐसे उन ज्ञान दर्शनमें नियत अर्थात् अवस्थित ऐसा जो उत्पादव्ययध्रौव्यरूप वृत्तिमय अस्तित्व, जो कि रागादि परिणामके अभावके कारण अनिन्दित है, वह चारित्र है। वही मोक्षमार्ग है।

(दे सम्यग्दर्शन/I/१), (सम्यग्दर्शनमें दर्शन शब्दका अर्थ कथंचित् सत्तावलोकन रूप दर्शन भी ग्रहण किया गया है, जो कि चैतन्यकी सामान्य शक्ति है)।

४. निश्चय व व्यवहारका कथंचित् मुख्यता गौणता तथा समन्वय

१. निश्चयमार्गकी कथंचित् प्रधानता

स. सा./आ./१५३ ज्ञानमेव मोक्षहेतु·, तदभाव· स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिना· शुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव बन्धहेतु·, तदभाव स्वय ज्ञानभूताना ज्ञानिना· शुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात्।=ज्ञान ही मोक्षका हेतु है, क्योंकि, ज्ञानके अभावमें स्वयं ही अज्ञानरूप होनेवाले अज्ञानियोंके अन्तरंगमें व्रत नियम आदि शुभ कर्मोंका सद्भाव होनेपर भी मोक्षका अभाव है। अज्ञान ही बन्धका कारण है, क्योंकि, उसके अभावमें स्वयं ही ज्ञानरूप होनेवाले ज्ञानियोंके बाह्य व्रतादि शुभकर्मोंका असद्भाव होनेपर भी मोक्षका सद्भाव है। (स. सा./आ./१५१,१५२)।

प्र.सा./त प्र/२३८ आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम्।=आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्वकी युगपतता होनेपर भी आत्मज्ञानको ही मोक्षमार्गका साधकतम सम्मत करना।

नि. सा./ता. वृ./२ 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग·' इति वचनात्, मार्गस्तावच्छुद्धरत्नत्रय·।='सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र मोक्षमार्ग है' ऐसा वचन होनेसे मार्ग तो शुद्ध रत्नत्रय है।

२. निश्चय ही एक मार्ग है अन्य नहीं

प्र. सा/मू व त.प्र/१९९ एव जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं स मुट्ठि समणा। जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स।१९९। यत सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थंकरा अचरमशरीरमुमुक्षुश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवु· न पुनरन्यथा। ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति।=जिनेन्द्र और श्रमण अर्थात् तीर्थंकर और अन्य सामान्य मुनि इस पूर्वोक्त प्रकारसे मार्गमें आरूढ होते हुए सिद्ध हुए है। नमस्कार हो उन्हें और उस निर्वाण मार्गको। सभी सामान्य चरमशरीर, तीर्थंकर, और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्म तत्त्ववृत्तिलक्षण विधिसे प्रवर्तमान मोक्षमार्गको प्राप्त करके सिद्ध हुए है, किन्तु ऐसा नहीं है कि किसी दूसरी विधिसे भी सिद्ध हुए हों। इससे निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्षका मार्ग है, दूसरा नहीं। (प्र. सा./मू. व त प्र/८२)।

स. सा/आ./४१२/क. २४० एको मोक्षपन्थो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकस्तत्रैव स्थितिमेति अन्तमनिशं ध्यायेच्च त चेतति। तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्, सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदय विन्दति।२४०।=दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप जो यह एक नियत मोक्षमार्ग है, उसीमें जो पुरुष स्थिति प्राप्त करता है, उसीका निरन्तर ध्यान करता है, उसीका अनुभव करता है, और अन्य द्रव्योंको स्पर्श न करता हुआ उसीमें निरन्तर विहार करता है, वह पुरुष नित्य-उदित-समयसारको अल्पकाल में ही अवश्य प्राप्त करता है, अर्थात् उसका अनुभव करता है।

यो सा./अ./८/८८ एक एव सदा तेषा पन्था: सम्यक्त्वपरायिणाम्। व्यक्तीनामिव सामान्य दशाभेदोऽपि जायते।८८। =जिस प्रकार व्यक्ति सामान्य रूपसे एक होता हुआ भी अवस्था भेदसे ब्राह्मण क्षत्रिय आदि कहलाता है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग एक होते हुए भी अवस्थाभेदसे औपशमिक क्षायिक आदि कहलाता है।

नि सा./ता. वृ./१८/क ३४ असति सति विभावे तस्य चिन्तास्ति नो न·, सततमनुभवाम शुद्धमात्मानमेकम्। हृदयकमलसस्थं सर्वकर्मप्रमुक्त, न खलु न खलु मुक्तिर्नान्यथास्त्यस्ति तस्मात्।३४। =विभाव

हो अथवा न हो उसकी हमे चिन्ता नही है। हम तो हृदयकमलमें स्थित सर्व कर्मोसे विमुक्त, एक शुद्धात्माका ही अनुभवन करते हैं। क्योंकि अन्य किसी प्रकारसे मुक्ति नहीं है, नही हे।

३. केवल उसका प्ररूपण ही अनेक प्रकारसे किया जाता है

प्र. सा./त. प्र./२४२/क १६ इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकी-भवस्त्रैलक्ष्ण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य य। दृष्टृज्ञातृनिबद्ध-वृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दतामास्कन्दत्वचिराद्विकाशमतुलं येनो-ल्लसन्त्याश्चिते ।१६। =इस प्रकार प्रतिपादकके वश, एक होनेपर भी अनेक होता हुआ, एकलक्षणताको तथा त्रिलक्षणताको प्राप्त जो मोक्षका मार्ग है, उसे लोक द्रष्टा ज्ञातामें परिणति बाँधकर, अचल-रूपसे अवलम्बन करे, जिससे कि वह उल्लसित चेतनाके अतुल विकासको अल्पकालमें प्राप्त हो।

मो. मा. प्र./१७/३६५/२० सो मोक्षमार्ग दोय नाही। मोक्षमार्गका निरूपण दोय प्रकारका है। ...एक निश्चय मोक्षमार्ग और एक व्यवहार मोक्षमार्ग है, ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। (द. पा./प. जयचन्द/२)।

४. व्यवहारमार्गकी कथंचित् गौणता

न. च. वृ./३७६ भेदुवयारे जइया वट्टदि सो वि य सुहासुहाधीणो। तइया कत्ता भणिदो संसारी तेण सो आदा।३७६। =अभेद रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके भेद व उपचारमें जीव जब तक वर्तता है तब तक वह शुभ व अशुभके आधीन रहता हुआ 'कर्ता' कहलाता है। इसलिए वह आत्मा संसारी है।

स. सा./आ./२७६-२७७ आचारादि शब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वाज्ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्रयत्वाद्दर्शनं, षड्जीवनिकायश्चा-रित्रस्याश्रयत्वाच्चारित्रमिति व्यवहारः। शुद्धात्मा ज्ञानाश्रयत्वा-ज्ज्ञानं, शुद्धात्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्धात्मा चारित्राश्रयत्वा-च्चारित्रमिति निश्चयः। तत्राचारादीनां ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यानै-कान्तिकत्वाद्व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्या-त्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकान्तिकत्वात्तत्प्रतिषेधकः। तथा हि नाचा-रादिशब्दश्रुतमेकान्तेन ज्ञानस्याश्रयः शुद्धात्मैव ज्ञानस्याश्रयः। =आचारांगादि शब्द श्रुतज्ञानका आश्रय होनेसे ज्ञान है, जीवादि नवपदार्थ दर्शनका आश्रय होनेसे दर्शन है, और छह जीवनिकाय चारित्रका आश्रय होनेसे चारित्र है, इस प्रकार तो व्यवहार मार्ग है। शुद्धात्मा ही ज्ञानका, दर्शनका व चारित्रका आश्रय होनेसे ज्ञान दर्शन व चारित्र है, इस प्रकार निश्चयमार्ग है। तहाँ आचारांगादिको ज्ञानादिका आश्रयपना व्यभिचारी होनेसे व्यवहारमार्ग निषेध्य है, और शुद्धात्माको ज्ञानादिका आश्रयपना निश्चित होनेसे निश्चयमार्ग उसका निषेधक है। वह इस प्रकार कि आचारांगादि एकान्तसे ज्ञानादिके आश्रय नहीं है और शुद्धात्मा एकांतसे ज्ञानका आश्रय है। (क्योंकि आचा-रांगादिके सद्भावमें भी अभव्यको ज्ञानादिका अभाव है और उनके सद्भाव अथवा असद्भावमें भी सम्यग्दृष्टिको ज्ञानादिका सद्भाव हे)।

नि. सा./ता. वृ./६१/क १२२ त्यक्त्वा विभावमखिलं व्यवहारमार्ग-रत्नत्रयं च मतिमान्निजतत्त्ववेदी। शुद्धात्मतत्त्वनियतं निजबोध-मेकं, श्रद्धानमन्यदपरं चरणं प्रपेदे ।१२२। =समस्त विभावको तथा व्यवहारमार्गके रत्नत्रयको छोडकर निजतत्त्ववेदी मतिमान पुरुष शुद्धात्मतत्त्वमें नियत, ऐसा जो एक निजज्ञान श्रद्धान व चारित्र, उसका आश्रय करता है।

५. व्यवहारमार्ग निश्चयका साधन है

प. प्र./मू./२/१४ जं बोल्लइ ववहारु-णउ दंसणु णाणु चरित्तु। तं परि-याणहि जीव तुहुँ जें परु होइ पवित्तु।१४। =हे जीव! व्यवहार-नय जो दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन रूप रत्नत्रयको कहता है, उसको तू जान। जिसमे कि तू पवित्र हो जावे।

आराधना सार/७/३० जीवोऽप्रविश्य व्यवहारमार्गं न निश्चयं ज्ञातुमपै-ति शक्तिम्। प्रभाविकाशं क्षणमन्तरेण भानूदयं को वदते विवेकी।= व्यवहारमार्गमें प्रवेश किये बिना जीव निश्चयमार्गको जाननेमें समर्थ नही हो सकता। जैसे कि प्रभात हुए बिना सूर्यका उदय नहीं हो सकता।

त. सा./६/२ निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः। तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्। =निश्चय व्यवहारके भेदसे मोक्षमार्ग दो प्रकार है। तहाँ निश्चयमार्ग तो साध्यरूप है और व्यवहारमार्ग उसका साधन है। (न. च. वृ./३४१ में उद्धृत गाथा नं. २), (त. अनु/२८), (प. प्र./टी./२/१२/१२६/५:२/ १४/१२६/१)।

पं. का./त. प्र./१५६ न चैतद्विप्रतिषिद्धं निश्चयव्यवहारयोः साध्य-साधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्। =(निश्चय द्वारा अभिन्न साध्यसाधनभावसे तथा व्यवहार द्वारा भिन्न साध्यसाधन भावसे जो मोक्षमार्गका दो प्रकार प्ररूपण किया गया है) इनमें परस्पर विरोध आता हो ऐसा नहीं है, क्योंकि सुवर्ण और सुवर्णपाषाणवत् निश्चय व व्यवहारको साध्यसाधनपना है (अर्थात् जैसे सुवर्णपाषाण अग्निके संयोगसे शुद्ध सुवर्ण बन जाता है, वैसे ही जीव व्यवहारमार्गके संयोगसे निश्चयमार्गको प्राप्त हो जाता है। (दे० पं. का./ता. वृ./ १६०/२३२/१४); (द्र. स./टी./३६/१६२/११))।

अन. ध./१/६२/१०१ उद्योतोद्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणैर्भजनम्। भव्यो मुक्तिपथं भाक्तं साधयत्येव वास्तवम्।६२। उद्योत, उद्यव, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरण इन उपायोंके द्वारा भेदरत्नत्रयरूप व्यवहार मोक्षमार्गका आराधक भव्य पुरुष वास्तविक मोक्षमार्गका नियमसे प्राप्त करता है।

पं. का./ता. वृ./१०५/१६७ निश्चयमोक्षमार्गस्य परंपरया कारणभूत-व्यवहारमोक्षमार्गम्।=व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चयमोक्षमार्गका पर-म्परा कारण है।

प. प्र./टी./२/१४/१२८/१० हे जीव! ...निश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यव-हारमोक्षमार्गं जानीहि। त्वं येन ज्ञातेन कथंभूतो भविष्यसि। परम्परया पवित्रः परमात्मा भविष्यसि।=हे जीव! तू निश्चय मोक्ष-मार्ग साधक व्यवहार मोक्षमार्गको जान। उसको जाननेसे तू पर-म्परासे जाकर परमात्मा हो जायेगा।

६. दोनोंके साध्य-साधन भावकी सिद्धि

न. च./श्रुत/पृ ५५ व्यवहारप्रसिद्धयैव निश्चयप्रसिद्धिर्नान्यथेति। सम्यग्द्रव्यागमप्रसाधिततत्त्वसेवया व्यवहाररत्नत्रयस्य सम्यग्रूपेण सिद्धत्वात्। =व्यवहारकी प्रसिद्धिके साथ निश्चयकी सिद्धि बत-लायी गयी है, अन्य प्रकारसे नहीं, क्योंकि समीचीन द्रव्यागमके द्वारा समीचीन प्रकारसे सिद्ध कर लिये गये तत्त्वके सेवनसे व्यवहार-रत्नत्रयकी समीचीन सिद्धि होती है।

प. प्र./टी./२/१४/१२६/१ अत्राह शिष्यः। निश्चयमोक्षमार्गो निर्वि-कल्पः तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भविष्यतीति। अत्र परिहारमाह। भूतनैगमनयेन परम्परया भवतीति। अथवा सविकल्पनिर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा, तत्रानन्तज्ञान-रूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः। सविकल्पनिर्विकल्पनिश्चयमोक्षमार्ग-

विषये संवादगाथामाह—जं पुण सगयं तच्चं सवियप्पं होइ तह य अवियप्पं। सवियप्प सासवय निरासवं विगयसंकप्पं। =प्रश्न—निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है, उसके होते हुए सविकल्प (व्यवहार) मोक्षमार्ग नहीं होता। तब वह निश्चयका साधक कैसे हो सकता है। उत्तर—भूतनैगमनयकी अपेक्षा परम्परासे वह साधक हो जाता है। अथवा दूसरे प्रकारसे यों समझ लीजिए कि सविकल्प व निर्विकल्पके भेदसे दो प्रकारका मोक्षमार्ग है। तहाँ 'मैं अनन्त ज्ञानस्वरूप हूँ' इत्यादि रूप सविकल्प मार्ग तो साधक होता है और निर्विकल्प समाधिरूप साध्य होता है, ऐसा भावार्थ है। (पं का/ता. वृ/१५६/२३०/१०)।

का/पं हेमराज/१६१/२३३/१७=प्रश्न—जो आप हीसे निश्चय मोक्षमार्ग होय तो व्यवहार साधन किस लिये कहाँ? उत्तर—यह आत्मा अनादि अविद्यासे युक्त है, जब काललब्धि पानेसे उसका नाश होय, उस समय व्यवहार मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति नहीं है।...(तव) अज्ञान रत्नत्रय (मिथ्यादर्शनादि) के नाशका उपाय· सम्यक् रत्नत्रयके ग्रहण करनेका विचार होता है। इस विचारके होनेपर जो (अविद्या) अनादिका ग्रहण था, उसका तो त्याग होता है और जिस (सम्यग्दर्शन) का त्याग था, उसका ग्रहण होता है। तत्पश्चात कभी आचरणमें दोप होय तो दंडशोधनादिक करि उसे दूर करते है, और जिस कालमें शुद्धात्म-तत्त्वका उदय होता है, तब 'ग्रहण त्यजनकी बुद्धि मिट जाती है स्वरूप गुप्त होता है। '' तब यह जीव निश्चय मोक्षमार्गी कहाता है। इस कारण ही निश्चय व्यवहार मोक्षमार्गको साध्य-साधन भावकी सिद्धि होती है।

मोक्षमार्ग प्रकाशक—पं० टोडरमल (ई० १७३६) द्वारा रचित हिन्दी भाषाका अनुपम आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया, क्योंकि, विद्वेपियोकी चुगलीके कारण पंडितजीको असमयमें ही अपना शरीर छोडना पड़ा।

मोक्षशास्त्र—दे० तत्त्वार्थसूत्र।

मोक्ष सप्तमीव्रत—७ वर्ष पर्यन्त प्रतिवर्ष श्रावण शु ७ को उपवास करे। 'ओं ह्रीं श्रीपार्श्वनाथाय नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान संग्रह)।

मोद क्रिया – दे० संस्कार/२।

मोष मन—दे० मनोयोग।

मोष वचन—दे० वचन /१,२। (असत्य)।

मोह—

प्र. सा./मू/८५ अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु। विसएसु च पसगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि। =पदार्थका अयथा ग्रहण (दर्शनमोह), और तिर्यंच मनुष्योंके प्रति करुणाभाव तथा विषयोकी संगति (शुभ व अशुभ प्रवृत्तिरूप चारित्र मोह) ये सब मोहके चिह्न है।

प्र. सा./मू. व. त. प्र/८३ दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहोत्ति।—द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढोभाव· स खलु मोह। = जीवके द्रव्यादि सम्बन्धी मूढभाव मोह है, अर्थात धतूरा खाये हुए मनुष्यकी भाँति जीवके जो पूर्व वर्णित द्रव्य, गुण, पर्याय हैं, उनमें होनेवाला तत्त्व-अप्रतिपत्तिलक्षण वाला मूढभाव वास्तवमें मोह है। (स. सा/आ./५१); (द्र स./टी./४८/२०५/६)।

ध. १२/४,२,८,८/२८३/६ क्रोध-मान-माया-लोभ-हास्य-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-स्त्रीपुनपुंसकवेद-मिथ्यात्वाना समूहो मोहः =क्रोध, मान, माया, लोभ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसक-वेद और मिथ्यात्व इनके समूहका नाम मोह है।

ध. १४/५,६ १५/११/१० पंचविहमिच्छत्त सम्मामिच्छत्तं सासणसम्मत्तं च मोहो। =पंच प्रकारका मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, और सासादनसम्यक्त्व मोह कहलाता है।

पं. का/त प्र./१३१ दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामता मोह.। = दर्शनमोहनीयके विपाकसे जो कलुषित परिणाम होता है, वह मोह है।

चा. सा/६६/७ मोहो मिथ्यात्वत्रिवेदसहिता·प्रेमहास्यादय·। = मिथ्यात्व, त्रिवेद, प्रेम, हास्य आदि मोह है।

प्र. सा./ता. वृ/७/९/१२ शुद्धात्मश्रद्धानरूपसम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिधानो मोह इत्युच्यते। = शुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यक्त्वके विनाशक दर्शनमोहको मोह कहते है।

दे. व्यामोह—(पुत्र कलत्रादिके स्नेहको व्यामोह कहते हैं)।

२. मोहके भेद

न. च वृ/२९९,३१० असुह सुह चिय कम्मं दुविहं तं दव्वभावभेयगयं। तं पिय पडुच्च मोह ससारो तेण जीवस्स।२९९। कज्ज पडि जह पुरिसो इक्को वि अणेककरूवमापण्णो। तह मोहो बहुभेओ णिद्दिट्ठो पच्चयादीहिं।३१०। =शुभ व अशुभके भेदसे अथवा द्रव्य व भावके भेदसे कर्म दो प्रकारका है। उसकी प्रतीतिसे मोह और मोहसे संसार होता है।२९९। जिस प्रकार एक ही पुरुष कार्यके प्रति अनेक रूपको धारण कर लेता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व अविरति कषाय आदिरूप प्रत्ययोके भेदसे मोह भी अनेक भेदरूप है।३१०।

प्र सा./त प्र/८३ मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोह ।=मोह, राग व द्वेष, इन भेदोके कारण मोह तीन प्रकारका है।

३. प्रशस्त व अप्रशस्त मोह निर्देश

नि सा/ता वृ/६ चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघवात्सल्यगतो मोहः प्रशस्त इतरोऽप्रशस्त इति। =चार प्रकारके श्रमण संघके प्रति वात्सल्य सम्बन्धी मोह प्रशस्त है और उससे अतिरिक्त मोह अप्रशस्त है। (विशेष दे० उपयोग/II/४, योग/१)।

दे, राग./२ (मोह भाव (दर्शनमोह) अशुभ ही होता है।)

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. मोह व विषय कषायादिमें अन्तर। —दे० प्रत्यय/१।
२. कषायों आदिका राग व द्वेषमें अन्तर्भाव। —दे० कषाय/४।
३. मोह व रागादि टालनेका उपाय। —दे० राग/५।

मोहनीय—आठों कर्मोमें मोहनीय ही सर्व प्रधान है, क्योंकि, जीवके संसारका यही मूलकारण है। यह दो प्रकारका है—दर्शन मोह व चारित्र मोह। दर्शनमोह सम्यक्त्वको और चारित्रमोह साम्यता रूप स्वाभाविक चारित्रको घातता है। इन दोनोंके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि व रागी द्वेषी हो जाता है। दर्शनमोहके ३ भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्वप्रकृति। चारित्रमोहके दो भेद हैं—कषायवेदनीय और अकषाय वेदनीय। क्रोधादि चार कषाय है और हास्यादि ९ अकषाय हैं।

१. मोहनीय सामान्य निर्देश

१. मोहनीय कर्म सामान्यका लक्षण

स सि/८/४/३८०/५ मोहयति मोह्यतेऽनेति वा मोहनीयम्। =जो मोहित करता है या जिसके द्वारा मोहा जाता है वह मोहनीय कर्म है। (रा. वा/८/४/२/५६८/१), (ध. ६/१,९-१,८/११/५,७), (ध १३/५ ५,१६/२०८/१०), (गो. क/जी. प्र./२०/१३/१५)।

द्र. सं./टी./३३/९२/११ मोहनीयस्य का प्रकृति.। मद्यपानवद्धेयोपादेयविचारविकलता। =मद्यपानके समान हेय-उपादेय ज्ञानकी रहितता, यह मोहनीयकर्मकी प्रकृति है। (और भी—दे० प्रकृति-बन्ध/३/१)।

२. मोहनीयकर्मके भेद—१. दो या २८ भेद :

प ख. ६/१,९-१/सू. १९-२०/३७ मोहणीयस्स कम्मस्स अट्ठावीस पयडीओ।१९। जं तं मोहणीयं कम्मं तं दुविहं, दंसणमोहणीयं चारित्तमोहणीयं चेव।२०। =१. मोहनीय कर्मकी २८ प्रकृतियाँ है।१९। (प. ख. १२/४.२,१५/सूत्र १०/४८२); (प. ख. १३/५.५/सूत्र ९०/३५७), (म. ब १/§ ५/२८/२); (विशेष दे० आगे दर्शन व चारित्रमोहकी उत्तर प्रकृतियाँ)। २ मोहनीयकर्म दो प्रकारका है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। (प. ख. १३/५.५/सूत्र ९१/३५७); (मू. आ/१२२६); (त. सू/८/९), (पं. सं/प्रा/२/४ व उसकी मूल व्याख्या), (गो क/जो/प्र/२५/१७/६); (पं. ध/उ./९८५)।

गो. क/जी. प्र/३३/२७/१८ दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं कषायवेदनीयं नोकषायवेदनीयं इति मोहनीयं चतुर्विधम्।=दर्शनमोहनीय, चारित्रमोहनीय, कषायवेदनीय और अकषाय वेदनीय, इस प्रकार मोहनीय कर्म चार प्रकारका है।

२. असंख्यात भेद

ध. १२/४,२,१४,१०/४८२/६ पज्जवट्ठियणए पुण अवलंबिज्जमाणे मोहणीयस्स असंखेज्जलोगमेत्तीयो होंति, असंखेज्जलोगमेत्तउदयट्ठाणण्णहाणुववत्तीदो। =पर्यायार्थिक नयका अवलम्बन करनेपर तो मोहनीय कर्मकी असंख्यात लोकमात्र शक्तियाँ हैं, क्योंकि, अन्यथा उसके असंख्यातलोक मात्र उदयस्थान बन नहीं सकते।

३. मोहनीयके लक्षण सम्बन्धी शंका

ध. ६/१,९-१,८/११/५ मुह्यत इति मोहनीयम्। एवं सते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं, जीवादो अभिणम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तधा-उत्तीदो। अथवा मोहयतीति मोहनीयम्। एवं संते धत्तूर-सुरा-कलत्तादीणं पि मोहणीयत्त पसज्जदीदि चे ण, कम्मदव्वमोहणीये एत्थ अहियारादो। ण कम्माहियारे धत्तूर-सुरा-कलत्तादीण सभवो अत्थि। =प्रश्न—'जिसके द्वारा मोहित होता है, वह मोहनीय कर्म है' इस प्रकारकी व्युत्पत्ति करने पर जीवके मोहनीयत्व प्राप्त होता है? उत्तर—ऐसी आशका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, जीवसे अभिन्न और 'कर्म' ऐसी सज्ञावाले पुद्गल द्रव्यमें उपचारसे कर्तृत्वका आरोपण करके उस प्रकारकी व्युत्पत्ति की गयी है। प्रश्न—अथवा 'जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है', ऐसी व्युत्पत्ति करने पर धतूरा, मदिरा और भार्या आदिके भी मोहनीयता प्रसक्त होती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, यहाँ पर मोहनीय नामक द्रव्यकर्मका अधिकार है। अतएव कर्मके अधिकारमें धतूरा, मदिरा और स्त्री आदिकी सम्भावना नहीं है।

४. मोहनीय व ज्ञानावरणी कर्मोंमें अन्तर

रा. वा./८/४-५/५६८/१३ स्यादेतत्—सति मोहे हिताहितपरीक्षणाभावात् ज्ञानावरणादविशेषो मोहस्येति; तन्न; किं कारणम्। अर्थान्तरभावात्। याथात्म्यमर्थस्यावगम्यापि इदमेवेति सद्भूतार्था-श्रद्धानं यत स मोह.। ज्ञानावरणेन ज्ञानं तथान्यथा वा न गृह्णाति।४। यथा भिन्नलक्षणाङ्कुरदर्शनात् बीजकारणान्यत्वं तथैवाज्ञानचारित्रमोहकार्यान्तिरदर्शनात् ज्ञानावरणमोहनीयकारणभेदोऽवसीयते। =प्रश्न—मोहके होनेपर भी हिताहितका विवेक नहीं होता, अत' मोहको ज्ञानावरणसे भिन्न नही कहना चाहिए? उत्तर—पदार्थका यथार्थ बोध करके भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार सद्भूत अर्थका अश्रद्धान (दर्शन) मोह है, पर ज्ञानावरणसे ज्ञान तथा या अन्यथा ग्रहण ही नहीं करता, अत. दोनोमें अन्तर है।४। (प. ध/उ/९८९-९९०) जैसे अकुररूप कार्यके भेदसे कारणभूत बीजोंमें भिन्नता है उसी तरह अज्ञान और चरित्रभूत इन दोनोमें भिन्नता होनी ही चाहिए।५।

५. सर्व कर्मोंमें मोहनीयकी प्रधानता

ध. १/१,१,१/४३/१ अशेषदु.खप्राप्तिनिमित्तत्वादरिर्मोह। तथा च शेषकर्मव्यापारो वैफल्यमुपादेयादिति चेन्न, शेषकर्मणा मोहतन्त्रत्वात्। न हि मोहमन्तरेण शेषकर्माणि स्वकार्यनिष्पत्तौ व्यापृतान्युपलभ्यन्ते येन तेषां स्वातन्त्र्यं जायेत। मोहे विनष्टेऽपि कियन्तमपि काल शेषकर्मणा सत्त्वोपलम्भान्न तेषा तत्तन्त्रत्वमिति चेन्न, विनष्टेऽरौ जन्ममरणप्रबन्धलक्षणससारोत्पादसामर्थ्यमन्तरेण तत्सत्त्वस्यासत्त्वसमानत्वात् केवलज्ञानाद्यशेषात्मगुणाविर्भावप्रतिबन्धनप्रत्ययासमर्थत्वाच्च। =समस्त दु खोकी प्राप्तिका निमित्तकारण होनेसे मोहको 'अरि' अर्थात् शत्रु कहा है। प्रश्न—केवल मोहको ही अरि मान लेनेपर शेष कर्मोंका व्यापार निष्फल हो जाता है। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि बाकीके समस्त कर्म मोहके ही अधीन है। मोह-बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्यकी उत्पत्तिमे व्यापार करते हुए नहीं पाये जाते है, जिससे कि वे स्वतन्त्र समझे जायें। इसलिए सच्चा अरि मोह ही है और शेष कर्म उसके अधीन है। प्रश्न—मोहके नष्ट हो जानेपर भी कितने ही काल तक शेष कर्मोंकी सत्ता रहती है, इसलिए उनको मोहके अधीन मानना उचित नही है। उत्तर—ऐसा नही समझना चाहिए, क्योंकि, मोहरूप अरिके नष्ट हो जानेपर, जन्म मरणकी परम्परा रूप ससारके उत्पादनकी सामर्थ्य शेष कर्मोंमें नहीं रहनेसे उन कर्मोंका सत्त्व-असत्त्वके समान हो जाता है। (पं. ध/उ./१०६४-१०७०)।

२. दर्शनमोहनीय निर्देश

१. दर्शनमोह सामान्यका लक्षण

स सि/८/३/३७९/१ दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम्।·· ··तदेव लक्षणं कार्यं—'प्रक्रियते प्रभवत्यस्या इति प्रकृति'। =तत्त्वार्थ श्रद्धान न होने देना दर्शनमोहकी प्रकृति है। इस प्रकारका कार्य किया जाता है अर्थात् जिससे होता है वह प्रकृति है। (रा वा./८/३/४/५६७/४); (और भी दे० मोह/१)।

ध. ६/१,९-१,२१/३८/३ दंसणं अत्तागम-पत्थेसु रुई पच्चओ सद्धा फोसणमिदि एयट्ठो त मोहेदि विवरीय कुणदि त्ति दसण-मोहणीयं। जस्स कम्मस्स उदएण अणत्ते अत्तबुद्धी, अणागमे आगमबुद्धी, अपयत्थे पयत्थबुद्धी, अत्तागमपयत्थेसु सद्धाए अथिरत्तं, दोसु वि सद्धा वा होदि तं दसणमोहणीयमिदि उत्तं होदि। =१ दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और स्पर्शन, ये सब एकार्थवाचक नाम है। आप्त या आत्मामें, आगम और पदार्थोंमें रुचि या श्रद्धाको दर्शन कहते है। उस दर्शनको जो मोहित करता है, अर्थात् विपरीत कर देता है, उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते है। (ध १३/५, ५,९१/३५७/१३)। २. जिस कर्मके उदयसे अनाप्तमें आप्तबुद्धि, और अपदार्थमें पदार्थ बुद्धि होती है, अथवा आप्त आगम और पदार्थोंमें श्रद्धानकी अस्थिरता होती है, अथवा दोनोमें भी अर्थात् आप्त-अनाप्तमें, आगम-अनागममें और पदार्थ-अपदार्थमें श्रद्धा होती है, वह दर्शनमोहनीयकर्म है, यह अर्थ कहा गया है।

प ध/उ/१००५ एव च सति सम्यक्त्वे गुणे जीवस्य सर्वतः। त मोहयति यत्कर्म दृङ्मोहाख्य तदुच्यते।१००५। =इसी तरह जीवके सम्यत्व नामक गुणके होते हुए जो कर्म उस सम्यक्त्व गुणको सर्वत. मूर्च्छित कर देता है, उसे दर्शनमोहनीय कर्म कहते है।

२. दर्शन मोहनीयके भेद

ष. ख. ६/१,९-१/सूत्र २१/३८ ज त दंसणमोहणीय कम्म तं बधादो एयविह, तस्स सतम्म पुण तिविह सम्मत्त मिच्छत्त सम्मामिच्छत्त चेदि।२१। =जो दर्शनमोहनीय कर्म है, वह बन्धकी अपेक्षा एक प्रकारका है, किन्तु उसका सत्कर्म तीन प्रकारका है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व।२१। (ष ख. १३/५,५/सूत्र ९२-९३/ ३५८), (मू. आ./१२२७); (त सू./८/९), (प स/प्रा/२/४ गाथा व उसकी मूल व्याख्या), (स सि/२/३/१५२/८); (रा वा/२/३/ १/१०४/१६), (गो. क/जी. प्र./२५/१७/६, ३३/२७/१८); (पं. ध./ उ./९८९)।

३. दर्शनमोहकी तीनों प्रकृतियोंके लक्षण

स सि./८/९/३८५/५ यस्योदयात्सर्वज्ञप्रणीतमार्गपराङ्मुखस्तत्त्वार्थश्रद्धाननिरुत्सुको हिताहितविचारासमर्थो मिथ्यादृष्टिर्भवति तन्मिथ्यात्वम्। तदेव सम्यक्त्व शुभपरिणामनिरुद्धस्वरस यदौदासीन्येनावस्थितमात्मन' श्रद्धानं न निरुणद्धि, तद्वेद्यमान पुरुष सम्यग्दृष्टिरित्यभिधीयते। तदेव मिथ्यात्वं प्रक्षालनविशेषात्क्षीणाक्षीणमदशक्तिकोद्रववत्सामिशुद्धस्वरम तदुभयमिथ्याख्यायते सम्यङ्मिथ्यात्वमिति यावत्। यस्योदयादात्मनोऽर्धशुद्धमदकोद्रवौदनोपयोगापादितमिश्रपरिणामवदुभयात्मको भवति परिणाम'। =१ जिसके उदयसे जीव सर्वज्ञप्रणीत मार्गसे विमुख, तत्त्वार्थोंके श्रद्धान करनेमें निरुत्सुक, हिताहितका विचार करनेमें असमर्थ ऐसा मिथ्यादृष्टि होता है वह मिथ्यात्व दर्शनमोहनीय है। २ वही मिथ्यात्व जब शुभ परिणामोके कारण अपने स्वरस (विपाक) को रोक देता

है, और उदासीन रूपसे अवस्थित रहकर आत्माके श्रद्धानको नहीं रोकता है तब सम्यक्त्व (सम्यक्प्रकृति) है। इसका वेदन करनेवाला पुरुष सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। ३. वही मिथ्यात्व प्रक्षालन विशेषके कारण क्षीणाक्षीण मदशक्तिवाले कोदोंके समान अर्धशुद्ध स्वरसवाला होनेपर तदुभय या सम्यग्मिथ्यात्व कहा जाता है। इसके उदयसे अर्धशुद्ध मदशक्तिवाले कोदों और ओदनके उपयोगसे प्राप्त हुए मिश्रपरिणामके समान उभयात्मक परिणाम होता है। (रा वा./८/६/२/५७४/३), (गो. क./जी. प्र./३३/२७/१६); (और भी दे० आगे शीर्षक नं. ४)।

४. तीनों प्रकृतियोंमें अन्तर

ध ६/१,९-१,२१/३८/१ अत्तागम-पदत्थसद्दहाए जस्सोदएण सिथिलत्तं होदि, तं सम्मत्तं।·· जस्सोदएण अत्तागम-पयत्थेसु असद्दहा होदि, तं मिच्छत्तं। जस्सोदएण अत्तागमपयत्थेसु तप्पडिवक्खेसु य अक्कमेण सद्दहा उप्पज्जदि त सम्मामिच्छत्त।

ध. ६/१,९-८,७/२३५/१ मिच्छत्ताणुभागादो सम्मामिच्छत्ताणुभागो अणतगुणहीणो, तत्तो सम्मत्ताणुभागो अणतगुणहीणो त्ति पाहुडसुत्ते णिद्दिट्ठादो। =१. जिस कर्मके उदयसे आप्त, आगम व पदार्थोंकी श्रद्धामें शिथिलता (व अस्थिरता) होती है वह सम्यक्त्व प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे आप्त, आगम और पदार्थोंमें अश्रद्धा होती है, वह मिथ्यात्व प्रकृति है। जिस कर्मके उदयसे आप्त, आगम और पदार्थोंमें, तथा उनके प्रतिपक्षियोंमें अर्थात् कुदेव, कुशास्त्र और कुतत्त्वोंमें, युगपत् श्रद्धा उत्पन्न होती है वह सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति है। (ध १३/५,५,९३/३५८/१०,३५९/३)। २. 'मिथ्यात्व कर्मके अनुभागसे सम्यग्मिथ्यात्व कर्मका अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है, और सम्यग्मिथ्यात्व कर्मके अनुभागसे सम्यक्त्व प्रकृतिका अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता है'. ऐसा प्राभृतसूत्र अर्थात् कषायप्राभृतके चूर्णिसूत्रोंमें निर्देश किया गया है (दे० अनुभाग/४/५)। (और भी दे० अल्पबहुत्व/६)।

५. एक दर्शनमोहका तीन प्रकार निर्देश क्यों

ध. १३/५,५,९३/३५८/७ कध बंधकाले एगविहं मोहणीय संतावत्थाए तिविह पडिवज्जदे। ण एस दोसो, एक्कस्सेव कोद्दवस्स दलिज्जमाणस्स एगकाले एगक्रियाविसेसेण तदुलद्धतदुल-कोद्दवभावुवलंभादो। होदु तत्थ तधाभावो सकिरियजंतसबधेण। ण एत्थ वि अणियट्टिकरणसहिजीवसबधेण एगविहस्स मोहणीयस्स तधाविहभावविरोधादो। =प्रश्न—१ जो मोहनीयकर्म बन्धकालमें एक प्रकारका है, वह सत्त्वावस्थामें तीन प्रकारका कैसे हो जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, दला जानेवाला एक ही प्रकारका कोदों द्रव्य एक कालमें एक क्रियाविशेषके द्वारा चावल, आधे चावल और कोदों, इन तीन अवस्थाओंको प्राप्त होता है। उसी प्रकार प्रकृतमें भी जानना चाहिए। (ध. ६/१,९-१,२१/३८/७)। प्रश्न—वहाँ तो क्रिया युक्त जाँते [(चक्की) के सम्बन्धसे उस प्रकारका परिणमन भले ही हो जाओ, किन्तु यहाँ वैसा नहीं हो सकता। उत्तर—नहीं, क्योंकि यहाँपर भी अनिवृत्तिकरण सहित जीवके सम्बन्धसे एक प्रकारके मोहनीयका तीन प्रकार परिणमन होनेमें कोई विरोध नहीं है।

६. मिथ्यात्व प्रकृतिमेंसे भी मिथ्यात्वकरण कैसा ?

गो. क /जी. प्र /२६/१९/१ मिथ्यात्वस्य मिथ्यात्वकरणं तु अतिस्थापनावलिमात्र पूर्वस्थितावूनितमित्यर्थः। =प्रश्न—मिथ्यात्व तो था ही, उसको मिथ्यात्वरूप क्या किया ? उत्तर—पहले जो स्थिति थी उसमेंसे अतिस्थापनावली प्रमाण घटा दिया। अर्थात् असख्यातगुणा हीन अनुक्रमसे सर्व द्रव्यके तीन खण्ड कर दिये। उनमेंसे जो पहले सबसे अधिक द्रव्यखण्ड है वह 'मिथ्यात्व' है ऐसा अभिप्राय है। (गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/१३)।

७. सम्यक्प्रकृति को 'सम्यक्' व्यपदेश क्यों

ध. ६/१, ९-१,२१/३९/२ कधं तस्स सम्मत्तववएसो। सम्मत्तसहचरिदोदयत्तादो उवयारेण सम्मत्तमिदि उच्चदे। =प्रश्न—इस प्रकृतिका 'सम्यक्त्व' ऐसा नाम कैसे हुआ। उत्तर—सम्यग्दर्शनके सहचरित उदय होनेके कारण उपचारसे 'सम्यक्त्व' ऐसा नाम कहा जाता है। (ध. १/१,१,१४६/३९८/२); (ध. १३/५,५,९३/३५८/११)।

८. सम्यक्त्व व मिथ्यात्व दोनोंकी युगपत् वृत्ति कैसे :

ध. १३/५,५,९३/३५९/२ कधं दोण्णं विरुद्धाणं भावाणमक्कमेण एयजीवदव्वम्हि वुत्ती। ण, दोण्णं सजोगस्स कधचि जच्चतरस्स कम्मट्ठवणस्सेव (?) वुत्तिविरोहाभावादो। =प्रश्न—सम्यक्त्व और मिथ्यात्व रूप इन दो विरुद्ध भावोंकी एक जीव द्रव्यमें एक साथ वृत्ति कैसे हो सकती है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, ·· (?) क्षीणाक्षीण मदशक्ति युक्त कोदों, के समान उक्त दोनों भावोंके कथंचित जात्यन्तरभूत सयोगके होनेमें कोई विरोध नहीं है। (विशेष दे० मिश्र/२/९)।

९. दर्शनमोहनीयके बन्ध योग्य परिणाम

त सू /६/१३ केवलिश्रुतसघधर्मदेवावर्णवादो दर्शनमोहस्य। =केवली, श्रुत, सघ, धर्म और देव इनका अवर्णवाद दर्शनमोहनीय कर्मका आस्रव है। (त. सा./४/२७)।

त सा./४/२८ मार्गसदूषणं चैव तथैवोन्मार्गदेशनम्। =उपरोक्तके अतिरिक्त सत्य मोक्षमार्गको दूषित ठहराना और असत्य मोक्षमार्गको सच्चा बताना ये भी दर्शनमोहके कारण हैं।

३. चारित्रमोहनीय निर्देश

१. चारित्र मोहनीय सामान्यका लक्षण

स. सि./८/३/३७९/२ चारित्रमोहस्यासंयम। =असंयमभाव चारित्रमोहकी प्रकृति है। (रा. वा./८/३/४/५६७/४)।

ध. ६/१,९-१,२२/२२/४०/५ पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रम्। घादिकम्माणि पाव। तेसिं किरिया मिच्छत्तासजमकसाया। तेसिमभावो चारित्तं। त मोहेइ आवारेदि त्ति चारित्तमोहणीय। =पापरूप क्रियाओंकी निवृत्तिको चारित्र कहते हैं। घातिया कर्मोंको पाप कहते है। मिथ्यात्व असंयम और कषाय, ये पापकी क्रियाएँ हैं। इन पापक्रियाओंके अभावको चारित्र कहते है। उस चारित्रको जो मोहित करता है, अर्थात् आच्छादित करता है, उसे चारित्रमोहनीय कहते हैं। (प ध /उ./१००९)।

ध. १३/५,५ ९३/३५८/१ रागभावो चरित्तं, तस्स मोहय तप्पडिवक्खभावुप्पायय चारित्तमोहणीयं। =रागका न होना चारित्र है। उसे मोहित करनेवाला अर्थात् उससे विपरीत भावको उत्पन्न करनेवाला कर्म चारित्रमोहनीय कहलाता है।

गो. क /जी. प्र /३३/२७/२३ चरति चर्यतेऽनेनेति चरणमात्र वा चारित्रं, तन्मोहयति मुह्यतेऽनेनेति चारित्रमोहनीय। =जो आचरण करता अथवा जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरणमात्र चारित्र है। उसको जो मोहित करता है अथवा जिसके द्वारा मोहित किया जाता है सो चारित्रमोहनीय है।

२. चारित्रमोहनीयके भेद-प्रभेद

प. ख ६/१,९-१/सूत्र २२-२४/४०-४५ ज तं चारित्तमोहणीय कम्मं तं दुविह,कसायवेदणीयं चेव णोकसायवेदणीय चेव।२२। जं तं

कसायवेदणीयं कम्मं तं सोलसविहं, अणंताणुबंधिकोहमाणमाया-लोह, अपच्चक्खाणावरणीयकोह-माण-माया-लोहं, पच्चक्खाणावर-णीयकोह-माण-माया-लोहं, कोहसंजलणं, माणसंजलणं, मायासंजलण, लोहसंजलणं चेदि ।२३। जं तं णोकसायवेदणीयं कम्मं तं णवविहं, इत्थिवेद, पुरिसवेदं, णवुंसयवेद, हस्स-रदि-अरदि-सोग-भय-दुगुंछा चेदि ।२४। =जो चारित्रमोहनीय कर्म है वह दो प्रकारका है—कषायवेदनीय और नोकषायवेदनीय ।२२। =जो कषायवेदनीय कर्म है वह १६ प्रकारका है—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्याना-वरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ, क्रोधसंज्वलन, मानसंज्वलन, मायासंज्वलन, और लोभसंज्वलन ।२३। =जो नोकषायवेदनीय कर्म है वह नौ प्रकारका है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा ।२४। (प. खं. १३/५,५/सूत्र ९४-९६/३५९-३६१); (मू. आ./१२२६-१२२८), (त. सू./८/९); (पं. सं./प्रा./२/४ व उसकी व्याख्या), (गो. क./जी. प्र./२६/१९/३, ३३/२७/२३); (पं. ध./उ./१०७६-१०७७)।

३. कषाय व अकषायवेदनीयके लक्षण

ध. १३/५,५,९४/३५९/७ जस्स कम्मस्स उदएण जीवो कसायं वेदयदि तं कम्मं कसायवेदणीयं णाम । जस्स कम्मस्स उदएण जीवो णोकसाय वेदयदि तं णोकसायवेदणीय णाम । =जिस कर्मके उदयसे जीव कषायका वेदन करता है वह कषायवेदनीय कर्म है। जिस कर्म-के उदयसे जीव नोकषायका वेदन करता है, वह नोकषाय-वेदनीय कर्म है।

४. चारित्रमोहकी सामर्थ्य कषायोत्पादनमें है स्वरूपा-चरणके विच्छेदमें नहीं

पं. ध./उ./श्लोक नं. कार्यं चारित्रमोहस्य चारित्राच्च्युतिरात्मनः । नात्मदृष्टेस्तु दृष्टित्वान्न्यायादितरदृष्टिवत् ।६९०। कषायाणामनुद्रेक-श्चारित्रं तावदेव हि । नानुद्रेकः कषायाणां चारित्राच्च्युतिरात्मनः ।६९२। अस्ति चारित्रमोहेऽपि शक्तिद्वैतं निसर्गतः । एकं चासंयतत्वं स्यात् कषायत्वमथापरम् ।११३१। यौगपद्यं द्वयोरेव कषायासंयत-त्वयो । समं शक्तिद्वयस्योच्चैः कर्मणोऽस्य तथोदयात् ।११३७। = न्यायानुसार आत्माको चारित्रसे च्युत करना ही चारित्रमोहका कार्य है, किन्तु इतरकी दृष्टिके समान दृष्टि होनेसे शुद्धात्मानुभवसे च्युत करना चारित्रमोहका कार्य नहीं है ।६९०। निश्चयसे जितना कषायों-का अभाव है, उतना ही चारित्र है और जो कषायोंका उदय है वही आत्माका चारित्रसे च्युत होना है ।६९२। चारित्र मोहमें स्वभावसे दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं—एक असंयतत्वरूप और दूसरी कषायत्व-रूप ।११३१। इन दोनों कषाय व असंयतपनेमें युगपतता है, क्योंकि, वास्तवमें युगपत् उक्त दोनों ही शक्तिवाले इस कर्मका ही उस रूपसे उदय होता है ।११३७।

५. कषायवेदनीयके बन्धयोग्य परिणाम

स. सि./६/१४/३३२/८ स्वपरकषायोत्पादनं तपस्विजनवृत्तदूषणं संक्लिष्ट-लिङ्गव्रतधारणादि कषायवेदनीयस्यास्रवः । =स्वयं कषाय करना, दूसरोंमें कषाय उत्पन्न करना, तपस्वीजनोंके चारित्रमें दूषण लगाना, संक्लेशको पैदा करनेवाले लिंग (वेष) और व्रतको धारण करना आदि कषायवेदनीयके आस्रव हैं।

रा. वा./६/१४/३/५२५/१ जगदनुग्रहतन्त्रशीलव्रतभावितात्मतपस्विजन-गर्हण-धर्मविध्वंसन-तदन्तरायकरणशीलगुणदेशसंयतविरतिप्रच्यावन-मधुमद्यमांसविरतचित्तविभ्रमापादन — वृत्तसंदूषण-संक्लिष्टलिंगव्रत-धारणस्वपरकषायोत्पादनादिलक्षणः कषायवेदनीयस्यास्रवः । =जग-दुपकारी शीलव्रती तपस्वियोंकी निन्दा, धर्मध्वंस, धर्ममें अन्तराय करना, किसीको शीलगुण देशसंयम और सकलसंयमसे च्युत करना, मद्य मांस आदिसे विरक्त जीवोंको उससे बिचकाना, चरित्रदूषण, संक्लेशोत्पादक व्रत और वेषोंका धारण, स्व और परमें कषायोंका उत्पादन आदि कषायवेदनीयके आस्रवके कारण हैं।

६. अकषायवेदनीयके बन्धयोग्य परिणाम

रा. वा./६/१४/३/५२५/८ उत्प्रहासादीनाभिहासित्व-कन्दर्पोपहसन-बहुप्रलापोपहासशीलता हास्यवेदनीयस्य । विचित्रपरक्रीडन-परसौ-चित्यावर्जन-बहुविधपीडाभाव-देशाद्यनौत्सुक्यप्रीतिसंजननादि रति-वेदनीयस्य । परारतिप्रादुर्भावनरतिविनाशन-पापशीलसंसर्गता-कुशलक्रियाप्रोत्साहनादिः अरतिवेदनीयस्य । स्वशोकामोदशोचन-परदुःखाविष्करण-शोकप्लुताभिनन्दनादिः शोकवेदनीयस्य । स्वयं भयपरिणामपरभयोत्पादन – निर्दयत्व – त्रासनादिर्भयवेदनीयस्य । सद्धर्मापन्नचतुर्वर्णविशिष्टवर्गकुलक्रियाचारप्रवणजुगुप्सा – परिवाद-शीलत्वादिर्जुगुप्सावेदनीयस्य । प्रकृष्टक्रोधपरिणामातिमानितेर्ष्या-व्यापारालीकाभिधायिता-तिसन्धानपरत्व - प्रवृद्धराग - पराङ्गनागम-नादर-वामलोचनाभावाभिष्वङ्गतादिः स्त्रीवेदस्य । स्तोकक्रोध-जैह्म-निवृत्त्यनुत्सिक्तत्वा - लोभभावा - ङ्गनासमवायाल्परागत्व - स्वदार-सन्तोषेर्ष्याविशेषोपरमस्नानगन्धमाल्याभरणानादरादिः पुंवेदनी-यस्य । प्रचुरक्रोधमानमायालोभपरिणाम-गुह्येन्द्रियव्यपरोपणस्त्री-पुंसानङ्गव्यसनित्व - शीलव्रतगुणधारिप्रव्रज्याश्रितप्रम(मै)थुन - पराङ्ग-नावस्कन्दनरागतीव्रानाचारादिर्नपुंसकवेदनीयस्य । =उत्प्रहास, दीनतापूर्वक हँसी, कामविकार पूर्वक हँसी, बहुप्रलाप तथा हरएक-की हँसी मजाक करना हास्यवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। विचित्र क्रीडा, दूसरेके चित्तको आकर्षण करना, बहुपीडा, देशादिके प्रति अनुत्सुकता, प्रीति उत्पन्न करना रतिवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। रतिविनाश, पापशील व्यक्तियोंकी संगति, अकुशल क्रियाका प्रोत्साहन देना आदि अरतिवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। स्व-शोक, प्रीतिके लिए परका शोक करना, दूसरोंको दुःख उत्पन्न करना, शोकमें व्याप्तका अभिनन्दन आदि शोकवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। स्वयं भयभीत रहना, दूसरोंको भय उत्पन्न करना, निर्दयता, त्रास आदि भयवेदनीयके आस्रवके कारण हैं। धर्मात्मा चतुर्वर्ण विशिष्ट वर्ग कुल आदिकी क्रिया और आचारमें तत्पर पुरुषोंसे ग्लानि करना, दूसरेकी बदनामी करनेका स्वभाव आदि जुगुप्सावेदनीयके आस्रवके कारण हैं। अत्यन्त क्रोधके परिणाम, अतिमान, अत्यन्त ईर्ष्या, मिथ्याभाषण, छल कपट, तीव्रराग, परांगनागमन, स्त्रीभावोंमें रुचि आदि स्त्रीवेदके आस्रवके कारण हैं। मन्दक्रोध, कुटिलता न होना, अभिमान न होना, निर्लोभ भाव, अल्पराग, स्वदारसन्तोष, ईर्ष्या रहित भाव, स्नान, गन्ध, माला, आभरण आदिके प्रति आदर न होना आदि पुवेदके आस्रवके कारण हैं। प्रचुर क्रोध मान माया लोभ, गुप्त इन्द्रियोंका विनाश, स्त्री पुरुषोंमें अनंगक्रीडाका व्यसन, शीलव्रत गुणधारी और दीक्षाधारी पुरुषोंको बिचकाना, परस्त्रीपर आक्रमण, तीव्र राग, अनाचार आदि नपुंसकवेदके आस्रवके कारण है। (स. सि./६/१४/३३२/९)।

मौखर्य—स. सि./७/३२/३७०/१ धाष्टर्यप्रायं यत्किंचनानर्थकं बहु-प्रलापित्वं मौखर्यम् । = धीठताको लिये हुए निःसार कुछ भी बहुत बकवास करना मौखर्य है। (रा. वा./७/३२/३/५५६/२०)।

मौद्गलायन—१ भगवान् पार्श्वनाथकी शिष्य परम्परामें एक बड़े जैन आचार्य थे। पीछे महात्मा बुद्धके शिष्य हो गये और बौद्ध-मतका प्रवर्तन किया। 'महावग्ग' नामक बौद्ध ग्रन्थके अनुसार आप बुद्धदेवके प्रधान शिष्य थे। इन्हें संजय नामके परिव्राजकने महात्मा-

बुद्धका शिष्य होनेसे रोका था। (द सा /पृ. २६/प्रेमी जी), (धर्म परीक्षा/६)। २ एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

मौन—

स श /१७ एव त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषत । एष योग समासेन प्रदीप परमात्मन ।१७। =इस प्रकार (दे० अगला शीर्षक) बाह्यकी वचन प्रवृत्तिको छोडकर, अन्तरग वचन प्रवृत्तिको भी पूर्णतया छोड देना चाहिए। इस प्रकारका योग ही सक्षेपमे परमात्माका प्रकाशक है।

नि. सा./ता वृ /१५५ प्रशस्ताप्रशस्तसमस्तवचनरचना परित्यज्य··· मौनव्रतेन सार्धं··। =प्रशस्त व अप्रशस्त समस्त वचन रचनाको छोडकर मौनव्रत सहित (निजकार्यको साधना चाहिए।)

२. मौन व्रतका कारण व प्रयोजन

मो. पा /मू./२६ ज मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा। जाणगं दिस्सदे णत तम्हा जपेमि केण हे ।२६। =जो कुछ मेरे द्वारा यह बाह्य जगत्मे देखा जा रहा है, वह तो जड है, कुछ जानता नहीं। और मैं यह ज्ञायक हूँ वह किसीके भी द्वारा देखा नही जाता। तब मैं किसके साथ बोलूँ। (स. श /१८)।

सा ध./४/३४-३६ गृद्ध्यै हुकारादिसङ्ज्ञा संक्लेश च पुरोनुगं। मुञ्चन्मौनमदन् कुर्यात्तप सयमवृंहणम् ।३४। अभिमानागृद्धिरोधाद्वर्धयते तप । मौन तनोति श्रेयश्च श्रुतप्रश्रयतायनात ।३५। शुद्धमौनान्मनः सिद्ध्या शुक्लध्यानाय कल्पते। वाक्सिद्ध्या युगपत्साधुस्त्रैलोक्यानुग्रहाय च ।३६। =श्रावकको भोजनमें गृद्धधिके कारण हुकार करना, खकारना, इशारे करना, तथा भोजनके पहले व पीछे क्रोध आदि सक्लेशरूप परिणाम करना, इन सब बातोंको छोडकर तप व सयमको बढानेवाला मौनव्रत धारण करना चाहिए ।३४। मौन धारण करना भोजनकी गृद्धि तथा याचनावृत्तिको रोकनेवाला है तथा तप व पुण्यको बढानेवाला है ।३५। इससे मन वश होता है, जिससे शुक्लध्यान व वचनकी सिद्धि होती है, और उसमे वह श्रावक या साधु त्रिलोकका अनुग्रह करने योग्य हो जाता है ।३६।

३. मौनव्रतके उद्यापनका निर्देश

सा ध./४/३७ उद्योतनमहेनैकघण्टादानं जिनालये । असर्वकालिके मौने निर्वाह' सार्वकालिके ।३७। =सीमित समयके लिए धारण किये गये मौनव्रतका उद्यापन करनेके लिए उसका माहात्म्य प्रगट करना व जिन मन्दिरमें एक घटा समर्पण करना चाहिए। जन्मपर्यन्त धारण किये गये मौनव्रतका उद्यापना उसका निराकुल रीतिसे निर्वाह करना ही है ।३७। (टीकामें उद्धृत २ श्लोक)।

४. मौन धारणे योग्य अवसर

भ. आ./वि /१६/६२/६ भाषासमितिक्रमानभिज्ञो मौन गृह्णीयात इत्यर्थ.। =भाषा समितिका क्रम जो नही जानता वह मौन धारण करे, ऐसा अभिप्राय है।

सा ध /४/३८ आवश्यके मलक्षेपे पापकार्ये च वान्तिवत्। मौन कुर्वीत शश्वद्वा भूयोवाग्दोषविच्छिदे ।३८। =वातिमें कुरला करनेवत, सामायिक आदि छह कर्मोंमें, मल-मूत्र निक्षेपण करनेमें, दूसरेके द्वारा पापकार्यकी सभावना हानेमें, स्नान. मैथुन, आचमन आदि करनेमें श्रावकको मौन धारण करना चाहिए और साधुको कृतिकर्म करते अथवा भोजनचर्या करते समय मौन धारण करना चाहिए। अथवा भाषाके दोषोंका विच्छेद करनेके लिए सदा मौनसे रहना चाहिए ।३८।

सा. ध /टीका/४/३५ में उद्धृत—सर्वदा शस्त जोष भोजने तु विशेषत । रसायन सदा श्रेष्ठ सरोगत्वे पुनर्न किं। =मौन व्रत सदा प्रशसा करने योग्य है और फिर भोजन करनेके समय तो और भी अधिक प्रशंसनीय है। रसायन (औषध) सदा हित करनेवाला होता है और फिर रोग होनेपर तो पूछना ही क्या है।

व्रतविधान सग्रह/पृ. ११२। मौनव्रतकथासे उद्धृत—यहाँ मौनव्रतका कथन है। भोजन, वमन, स्नान, मैथुन, मलक्षेपण और जिन पूजन इन सात कर्मोंमे जीवन पर्यन्त मौन रखना नित्य मौनव्रत कहलाता है।

५. मौनावलम्बी साधुके बोलने योग्य विशेष अवसर

दे. अपवाद/३ (दूसरेके हितार्थ साधुजन कदाचित् रात्रिको भी बोल लेते है।)

दे वाद—(धर्मकी क्षति होती देखे तो बिना बुलाये भी बोले।)

दे. अथालद—(मौनका नियम होते हुए भी अथालद चारित्रधारी साधु रास्ता पूछना, शंकाके निराकरणार्थ प्रश्न करना तथा वसतिकाके स्वामीसे घरका पता पूछना—इन तीन विषयोंमें बोलते है।)

दे. परिहार विशुद्धि—(धर्मकार्यमें आचार्यसे अनुज्ञा लेना, योग्य व अयोग्य उपकरणोंके लिए निर्णय करना, तथा किसीका सन्देह दूर करनेके लिए उत्तर देना इन तीन कार्योंके अतिरिक्त वे मौनसे रहते है।)

* **मौनव्रतके अतिचार**—दे० गुप्ति/२/१।

मौनव्रत—एक वर्ष तक पौष शु. ११ से प्रारम्भ करके प्रत्येक मासके प्रत्येक ११ वें दिन १६ पहरका उपवास करे। इस प्रकार कुल २४ उपवास करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत विधान सग्रह/पृ ११२)।

मौनाध्ययनवृत्ति क्रिया—दे० संस्कार/२।

मौर्य वंश—दे० इतिहास/३/१।

मौलिक प्रक्रिया—Fundamental Operation (ध. ५/प्र.२८)

म्रक्षित—वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका

म्लेच्छ—१. म्लेच्छखण्ड निर्देश

ति. प./४/गाथा नं. सेसा विपंचखंडा णामेणं होति मेच्छखड त्ति। उत्तरतियखडेसु मज्झिमखंडस्स बहुमज्झे ।२६८। गंगामहाणदीए अड्ढाइज्जेसु। कुंडजसरिपरिवारा हुवंति ण हु अज्जखडम्मि ।२४५। =[विजयार्ध पर्वत व गगा सिन्धु, नदियोंके कारण भरतक्षेत्रके छह खण्ड हो गये है। इनमेंसे दक्षिणवाला मध्यखण्ड आर्यखण्ड है (दे० आर्यखण्ड)] शेष पाँचों ही खण्ड म्लेच्छखण्ड नामसे प्रसिद्ध है ।२६८। गगा महानदीकी ये कुण्डोसे उत्पन्न हुई (१४०००) परिवार नदियाँ म्लेच्छखण्डोमें ही है, आर्यखण्डमें नहीं है ।२४५। (विशेष दे० लोक/७)।

२. म्लेच्छमनुष्योंके भेद व स्वरूप

स. सि /३/३६/पृ /पक्ति म्लेच्छा द्विविधा—अन्तर्द्वीपजा कर्मभूमिजाश्चेति। (२३०/३) ते एतेऽन्तर्द्वीपजा म्लेच्छा। कर्मभूमिजाश्च शकयवनशबरपुलिन्दादय'। —(२३१/६)। =म्लेच्छ दो प्रकारके है—अन्तर्द्वीपज और कर्मभूमिज। अन्तर्द्वीपोंमें उत्पन्न हुए अन्तर्द्वीपजम्लेक्ष है। और शक, यवन, शबर व पुलिन्दादिक कर्मभूमिजम्लेच्छ हैं। (रा वा./३/३६/४/२०४/१४,२६)।

भ आ /वि /७८१/९३६/२६ इत्येवमादयो ज्ञेया अन्तर्द्वीपजा नरा'। समुद्रद्वीपमध्यस्था. कन्दमूलफलाशिन'। वेदयन्ते मनुष्यायुस्ते मृगोपमचेष्टिता ॥=समुद्रोमें (लवणोद व कालोदमें) स्थित अन्तर्द्वीपोंमें रहनेवाले तथा कन्द-मूल फल खानेवाले ये लम्बकर्ण आदि (दे० आगे शीर्षक न. ३) अन्तर्द्वीपज मनुष्य है। जो मनुष्यायुका अनुभव करते हुए भी पशुओंकी भाँति आचरण करते है।

म. पु /३१/१४१-१४२ इत्युपायैरुपायज्ञ साधयन्म्लेच्छभूभुजः। तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत् ।१४१। धर्मकर्मबहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मता । अन्यथाऽन्यैः समाचारैः आर्यावर्तेन ते समा ।१४२। =इस प्रकार अनेक उपायोंको जाननेवाले सेनापतिने अनेक उपायोके द्वारा म्लेच्छ राजाओंको वश किया, और उनसे चक्रवर्तीके उपभोगके योग्य कन्या आदि अनेक रत्न भेंटमें लिये। ।१४१। ये लोग धर्म क्रियाओंसे रहित है, इसलिए म्लेच्छ माने गये हैं। धर्म क्रियाओंके सिवाय अन्य आचरणोंसे आर्यखण्डमें उत्पन्न होनेवाले मनुष्योंके समान हैं ।१४२। [यद्यपि ये सभी लोग मिथ्यादृष्टि होते हैं परन्तु किसी भी कारणसे आर्यखण्डमें आ जानेपर दीक्षा आदिको प्राप्त हो सकते हैं।—दे० प्रव्रज्या ।१/३]

त्रि. सा./९२१ दीवा तावदियतरवासा कुणरा वि सण्णामा। =तीन अन्तर्द्वीपोंमें बसनेवाले कुमानुष तिस तिस द्वीपके नामके समान होते है।

३. अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंका आकार

१ लवणोद स्थित अन्तर्द्वीपोंमें (दृष्टि नं० १)

ति. प./४/२४८४-२४८८ एक्कोरुकलगुलिका वेसणकाभासका य णामेहिं। पुव्वादिसु दिसासुं चउदीवाण कुमाणुसा होंति ।२४८४। सुक्कलिकण्णा कण्णप्पावरणा लंबकण्णससकण्णा। अग्गिदिसादिसु कमसो चउद्दीवकुमाणुसा एदे ।२४८५। सिंहस्ससाणमहिसव्वराहसद्दूलघूककपिवदणा। सक्कुलिकण्णे कोरुगपहुदीणे अंतरेसु ते कमसो ।२४८६। मच्छमुहा कालमुहा हिमगिरिपणिधीए पुव्वपच्छिमदो। मेसमुहगोमुहक्खा दक्खिणवेयड्ढपणिधीए ।२४८७। पुव्वावरेण सिहरिप्पणिधीए मेघविज्जुमुहणामा। आदंसणहत्थिमुहा उत्तरवेयड्ढपणिधीए ।२४८८। =पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित चार द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे एक जाँघवाले, पूँछवाले, सींगवाले, और गूँगे होते हुए इन्हीं नामोंसे युक्त है ।२४८४। अग्नि आदिक विदिशाओंमें स्थित ये चार द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे शष्कुलीकर्ण, कर्ण प्रावरण, लंबकर्ण और शशकर्ण होते हैं ।२४८५। शष्कुलीकर्ण और एकोरुक आदिकोंके बीचमें अर्थात् अन्तरदिशाओंमें स्थित आठ द्वीपोंके कुमानुष क्रमसे सिंह, अश्व, स्वान, महिष, वराह, शार्दूल, घूक और बन्दरके समान मुखवाले होते है ।२४८६। हिमवान् पर्वतके प्रणिधि भागमें पूर्वपश्चिम-दिशाओंमें क्रमसे मत्स्यमुख व कालमुख तथा दक्षिणविजयार्धके प्रणिधि भागमें मेषमुख व गोमुख कुमानुष होते है ।२४८७। शिखरी पर्वतके पूर्व पश्चिम प्रणिधि भागमें क्रमसे मेघमुख व विद्युन्मुख तथा उत्तर विजयार्धके प्रणिधि भागमें आदर्शमुख व हस्तिमुख कुमानुष होते हैं ।२४८८। (भ आ/वि/७८१/९३६/२३ पर उद्धृत श्लो. नं. ६-१०), (त्रि सा./९१६-९१९), (ज. प./५३-५७)।

२. लवणोद स्थित अन्तर्द्वीपोंमें (दृष्टि नं० २)

ति. प./४/२४६४-२४६६ एक्कोरुकवेसणिका लंगुलिका तह य भासगा तुरिमा। पुव्वादिसु वि दिससुं चउदीवाण कुमाणुसा कमसो ।२४६४। अणलादिसु विदिसासुं ससकण्णाताण उभयपासेसु। अट्ठतरा य दीवा पुव्वग्गिदिसादिगणणिज्जा ।२४६५। पुव्वदिसट्ठिएक्कोरुकाण अग्गिदिसट्ठियससकण्णाण विच्चालादिसु कमेण अट्ठतरदीवट्ठिदकुमाणुसणामाणि गणिदव्वाकेसरिमुहा मणुस्सा चक्कुलिकण्णा अचक्कुलिकण्णा। साणमुहा कपिवदणा चक्कुलिकण्णा अ चक्कुलीकण्णा ।२४६६। हयकण्णाइ कमसो कुमाणुसा तेसु होंति दीवेसु। घूकमुहा कालमुहा हिमवंतगिरिस्स पुव्वपच्छिमदो ।२४६७। गोमुहमेसमुहक्खा दक्खिणवेयड्ढपणिधिदीवेसु। मेघमुहा विज्जुमुहा सिहरिगिरिंदस्स पुच्छिमदो ।२४६८। दप्पणगयसरिसमुहा उत्तरवेयड्ढपणिधि भागगदा। अब्भंतरम्मि भागे बाहिरए होंति तम्मेत्ता ।२४६९। =पूर्वादिक दिशाओंमें स्थिर चार द्वीपोके कुमानुष क्रमसे एक जाँघवाले, सींगवाले, पूँछवाले और गूँगे होते हैं ।२४६४। आग्नेय आदिक दिशाओंके चार द्वीपोंमें शशकर्ण कुमानुष होते है। उनके दोनों पार्श्वभागोंमें आठ अन्तरद्वीप हैं जो पूर्व आग्नेय दिशादि क्रमसे जानना चाहिए। ।२४६५। पूर्वदिशामें स्थित एकोरुक और अग्निदिशामें स्थित शशकर्ण कुमानुषोंके अन्तराल आदिक अन्तरालोंमें क्रमसे आठ अन्तरद्वीपोंमें स्थित कुमानुषोंके नामोंको गिनना चाहिए। इन अन्तरद्वीपोमें क्रमसे केशरीमुख, शष्कुलिकर्ण, अशष्कुलिकर्ण, श्वानमुख, वानरमुख, शष्कुलिकर्ण, शष्कुलिकर्ण, और हयकर्ण, कुमानुष होते हैं। हिमवान् पर्वतके पूर्व-पश्चिमभागोंमें क्रमसे वे कुमानुष घूकमुख और कालमुख होते हैं ।२४६६-२४६७। दक्षिण विजयार्धके प्रणिधिभागस्थ द्वीपोंमें रहनेवाले कुमानुष गोमुख और मेषमुख, तथा शिखरी पर्वतके पूर्व-पश्चिम द्वीपोंमें रहनेवाले वे कुमानुष मेघमुख और विद्युन्मुख होते हैं ।२४६८। उत्तरविजयार्धके प्रणिधिभागोंमें स्थित वे कुमानुष क्रमसे दर्पण और हाथीके सदृश मुखवाले होते है। जितने द्वीप व उनमें रहनेवाले कुमानुष अभ्यन्तर भागमें है, उतने ही वे बाह्य भागमें भी विद्यमान हैं ।२४६९। (स. सि /३/३६/२३०/६), (रा. वा /३/३६/४/२०४/२०); (ह. पु /५/४७१-४७६)।

३. कालोदस्थित अन्तरद्वीपोंमें

ति. प /४/२७२७-२७३४ मुच्छमुहा अभिकण्णा पक्खिमुहा तेसु हत्थिकण्णा य। पुव्वादिसु दीवेसु चिट्ठंति कुमाणुसा कमसो ।२७२७। अणिलादियासु सूवरकण्णा दीवेसु ताण विदिसासु। अट्ठतरदीवेसुं पुव्वग्गिदिसादि गणणिज्जा ।२७२८। चेट्ठंति अट्ठकण्णा मज्जारमुहा पुणो वि तच्चेय। कण्णप्पावरणा गजवण्णा य मज्जारवयणा य। ।२७२९। मज्जारमुहा य तहा गोकण्णा एवमट्ठ पत्तेक्कं। पुव्वपवण्णिदबहुविहपावफलेहिं कुमणसाणि जायंति ।२७३०। पुव्वावरपणिधीए सिसुमारमुहा तह य मयरमुहा। चेट्ठंति रुप्पगिरिणो कुमाणुसा कालजलहिम्मि ।२७३१। वयमुहवग्घमुहक्खा हिमवंतणगस्स पुव्वपच्छिमदो। पणिधीए चेट्ठंते कुमाणुसा पावपाकेहिं ।२७३२। सिहरिस्स तरच्छमुहा सिगालवयणा कुमाणसा होंति। पुव्वावरपणिधीए जम्मंतरदरियकम्मेहिं ।२७३३। दीपिकमिजारमुहा कुमाणुसा होंति रुप्पसेलस्स। पुव्वावरपणिधीए कालोदयजलहिदीवम्मि ।२७३४। =उनमेंसे पूर्वादिक दिशाओंमें स्थित द्वीपोमें क्रमसे मत्स्यमुख, अभिकर्ण (अश्वकर्ण), पक्षिमुख और हस्तिकर्ण कुमानुष होते हैं। ।२७२७। उनकी वायव्यप्रभृति विदिशाओंमें स्थित द्वीपोंमें रहनेवाले कुमानुष शूकरकर्ण होते है। इसके अतिरिक्त पूर्वाग्निदिशादिक क्रमसे गणनीय आठ अन्तरद्वीपोंमें कुमानुष निम्न प्रकार स्थित हैं। ।२७२८। उष्ट्रकर्ण, मार्जारमुख, पुनः मार्जारमुख, कर्णप्रावरण, गजमुख, मार्जारमुख, पुनः मार्जारमुख, और गोकर्ण, इन आठमेंसे प्रत्येक पूर्वमें बतलाये हुए बहुत प्रकारके पापोंके फलसे कुमानुष जीव उत्पन्न होते है ।२७२९-२७३०। कालसमुद्रके भीतर विजयार्धके पूर्वापर पार्श्वभागोमें जो कुमानुष रहते हैं, वे क्रमसे शिशुमारमुख और मकरमुख होते है ।२७३१। हिमवान् पर्वतके पूर्व-पश्चिम पार्श्वभागोंमें रहनेवाले कुमानुष क्रमसे पापकर्मोके उदयसे वृकमुख और व्याघ्रमुख होते है ।२७३२। शिखरी पर्वतके पूर्व-पश्चिम पार्श्वभागोंमें रहनेवाले कुमानुष पूर्व जन्ममें किये हुए पापकर्मोंसे तरक्षमुख (ऋक्षमुख) और शृगालमुख होते है ।२७३३। विजयार्ध पर्वतके पूर्वापर प्रणिधिभागमें कालोदक-समुद्रस्थ द्वीपोंमें क्रमसे द्वीपिकमुख और भृंगारमुख कुमानुष होते है ।२७३४। (ह. पु./५/५६७-५७२)।

४. म्लेच्छ मनुष्योंका जन्म, आहार गुणस्थान आदि

ति. प /४/गाथा न. एक्कोरुगा गुहासुं वसंति भुंजति मट्टियं मिट्ठं। सेसा तरुतलवासा पुप्फेहिं फलेहिं जीवंति ।२४८९। गब्भादो ते मणुवा जुगलजुगला सुहेण णिस्सरिया। तिरिया समुच्चिदेहिं दिणेहि

धारंति तारूग्गं ।२५१२। वेधणुसहस्सतुगा मदकसाया पियगुसामनया। सव्वे ते पल्लाऊ कुभोगभूमीए चेट्ठंति ।२५१३। तब्भूमिजोग्गभोगं भोत्तूणं आउसरस अवसाणे। कालवसं संपत्ता जायते भवणतिदयम्मि ।२५१४। सम्मद्दसणरयण गहिय जेहिं णरेहिं तिरिएहि। दीवेसु चउविहेसु मोहम्मदुगम्मि जायते ।२५१५। सव्वेसिं भोगभुवे दो गुणठाणाणि सव्वकालम्मि। दीसति चउवियप्पं सव्वमिलिच्छम्मि मिच्छत्त।२६३७। =१. इन उपरोक्त सब अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंमेंसे, एकोरुक (एक टाँगवाले) कुमानुष गुफाओंमें रहते हैं और मीठी मिट्टीको खाते हैं। शेष सब वृक्षोंके नीचे रहते हैं और (कल्पवृक्षोंके) फलफूलोंसे जीवन व्यतीत करते हैं।२४८६। (स. सि./३/३६/२३१/३); (रा. वा/३/३६/४/२०४/२४), (ज. प/१०/५८,८२), (त्रि. सा/-९२०)। २. वे मनुष्य व तिर्यंच युगल-युगलरूपमें गर्भसे सुखपूर्वक जन्म लेकर समुचित (उनचास) दिनोंमें यौवन अवस्थाको धारण करते हैं।२५१२। (ज. प/१०/८०)। ३. वे सब कुमानुष २००० धनुष ऊँचे, मन्दकषायी, प्रियगुके समान श्यामल और एक पल्य-प्रमाण आयुसे युक्त होकर कुभोगभूमिमें स्थित रहते हैं।२५१३। (ज. प./१०/१०/८१-८२)। ४. पश्चात् वे उस भूमिके योग्य भोगोको भोगकर आयुके अन्तमें मरणको प्राप्त हो भवनत्रिक देवोंमें उत्पन्न होते हैं।२५१४। जिन मनुष्यों व तिर्यंचोंने इन चार प्रकारके द्वीपोमें (दिशा, विदिशा, अन्तर्दिशा तथा पर्वतोके पार्श्व भागोमें स्थित, इन चार प्रकारके अन्तर्द्वीपोंमें) सम्यग्दर्शनरूप रत्नको ग्रहण कर लिया है, वे सौधर्मयुगलमें उत्पन्न होते हैं।२५१५। (ज. प./१०/८३-८६)। ५ सब भोगभूमिजोंमें (भोग व कुभोगभूमिजोंमें) दो गुणस्थान (प्र व चतु) और उत्कृष्टरूपमे चार (१-४) गुणस्थान रहते हैं। सब म्लेच्छखण्डोंमें एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही रहता है।।२६३७। ६ म्लेच्छ खण्डमे आर्यखण्डमें आये हुए कर्मभूमिज म्लेच्छ तथा उनको कन्याओसे उत्पन्न हुई चक्रवर्तीकी सन्तान कदाचित् प्रव्रज्याके योग्य भी होते हैं। (दे प्रव्रज्या/१/३)।

दे, काल/४—(कुमानुषो या अन्तर्द्वीपोंमें सर्वदा जघन्य भोगभूमिकी व्यवस्था रहती है। (त्रि, सा/भाषा/९२०)।

५. कुमानुष म्लेच्छोंमें उत्पन्न होने योग्य परिणाम

दे. आयु/३/१० (मिथ्यात्वरत, व्रतियोंकी निन्दा करनेवाले तथा भ्रष्टाचारी आदि मरकर कुमानुष होते हैं)।

दे, पाप/४ (पापके फलसे कुमानुषोंमें उत्पन्न होते हैं।)।

[य]

यंत्र—ध १३/५,३,२६/३४/४ सीहवग्घधरणट्ठमोद्दिदमब्भंतरकयच्छालियं जतं णाम।—जो सिंह और व्याघ्र आदिके धरनेके लिए बनाया जाता है और जिसके भीतर बकरा रखा जाता है, उसे यत्र कहते हैं।

यंत्र—कुछ विशिष्ट प्रकारके अक्षर, शब्द व मन्त्र रचना जो कोष्ठक आदि बनाकर उनमें चित्रित किये जाते हैं, यन्त्र कहलाते हैं। मन्त्र शास्त्रके अनुसार इसमें कुछ अलौकिक शक्ति मानी गयी है, और इसीलिए जैन सम्प्रदायमें इसे पूजा व विनयका विशेष स्थान प्राप्त है। मन्त्र सिद्धि, पूजा, प्रतिष्ठा व यज्ञ विधान आदिकोंमें इनका बहुलतासे प्रयोग किया जाता है। प्रयोजनके अनुसार अनेक यन्त्र बन हैं और बनाये जा सकते हैं, जिनमेंसे प्राय प्रयोगमें आनेवाले कुछ प्रसिद्ध यन्त्र यहाँ दिये जाते हैं।

१. अंकुरार्पण यन्त्र
२. अग्नि मण्डल यन्त्र
३. अग्नि मण्डल यन्त्र
४. ऋषि मण्डल यन्त्र
५. कर्म दहन यन्त्र
६. कलिकुण्ड दण्ड यन्त्र
७. कल्याण त्रैलोक्यसार यन्त्र
८. कुल यन्त्र
९. कूर्म चक्र यन्त्र
१०. गन्ध यन्त्र
११. गणधरवलय यन्त्र
१२. घटस्थानोपयोगी यन्त्र
१३. चिन्तामणि यन्त्र
१४. चौवीसी मण्डल यन्त्र
१५. जल मण्टल यन्त्र
१६. जलाधिवासन यन्त्र
१७. णमोकार यन्त्र
१८. दशलाक्षणिक धर्मचक्रोद्धार यन्त्र
१९. नयनोन्मीलन यन्त्र
२०. निर्वाण सम्पत्ति यन्त्र
२१. पीठ यन्त्र
२२. पूजा यन्त्र
२३. बोधिसमाधि यन्त्र
२४. मातृका यन्त्र (क) व (ख)
२५ मृत्तिकानयन यन्त्र
२६ मृत्युञ्जय मन्त्र
२७. मोक्षमार्ग यन्त्र
२८ यन्त्रेश यन्त्र
२९, रत्नत्रय चक्र यन्त्र
३०. रत्नत्रय विधान यन्त्र
३१. रुक्मपात्राङ्कित तीर्थमण्टल यन्त्र
३२. रुक्मपात्राङ्कित वरुणमण्टल यन्त्र
३३. रुक्मपात्राङ्कित व्रजमण्डल यन्त्र
३४. वर्द्धमान यन्त्र
३५ वश्य यन्त्र
३६ विनायक यन्त्र
३७. शान्ति यन्त्र
३८. शान्ति चक्र यन्त्रोद्धार
३९ शान्ति विधान यन्त्र
४०. षोडशकारण धर्मचक्रोद्धार यन्त्र
४१. सरस्वती यन्त्र
४२. सर्वतोभद्र यन्त्र (लघु)
४३. सर्वतोभद्र यन्त्र (वृहत्)
४४. सारस्वत यन्त्र
४५. सिद्धचक्र यन्त्र (लघु)
४६. सिद्धचक्र यन्त्र (वृहत्)
४७. सुरेन्द्रचक्र यन्त्र
४८. स्तम्भन यन्त्र

१- अंकुरार्पण यंत्र

ॐ चक्रश्रियै स्वाहा
ओ कुवेराय स्वाहा
ओ ईशानाय स्वाहा
ओ इन्द्राय स्वाहा
ओ वरुणाय स्वाहा
ओ वायवाय स्वाहा
ॐ चक्रश्रियै स्वाहा
ॐ बुद्धिदेव्यै स्वाहा
ॐ लक्ष्मीदेव्यै स्वाहा
ॐ शान्तिदेव्यै स्वाहा
ॐ कीर्तिदेव्यै स्वाहा
ॐ धृतिदेव्यै स्वाहा
ह्रीं
घटी
शराव

नोट- ऊपरसे चतुर्थ कोष्ठकमें दिये गए चक्रश्रियै आदि नाम संशित है।

२-अग्नि मण्डल यंत्र

३- अर्हन्-मण्डल यंत्र

६- कलिकुण्डदण्ड यंत्र

७- कल्याण त्रैलोक्यसार यंत्र -(दे० अगला पृष्ठ)

८- कुल यंत्र

७-कल्याण त्रैलोक्यसार यंत्र

९-कूर्म चक्र यंत्र

लक्ष	क ख ग घ ङ			चछजझञ
श ष स ह	अ आ	अ आ	इ ई	ट ठ ड ढ ण
	ओ औ	जपस्थानं	उ ऊ	
	ए ऐ	ऌ ॡ	ऋ ॠ	
य र ल व	प फ ब भ म			तथदधन

१०-गंध यंत्र

११-गणधर वलय यंत्र

१२-घटस्थानोपयोगी यंत्र
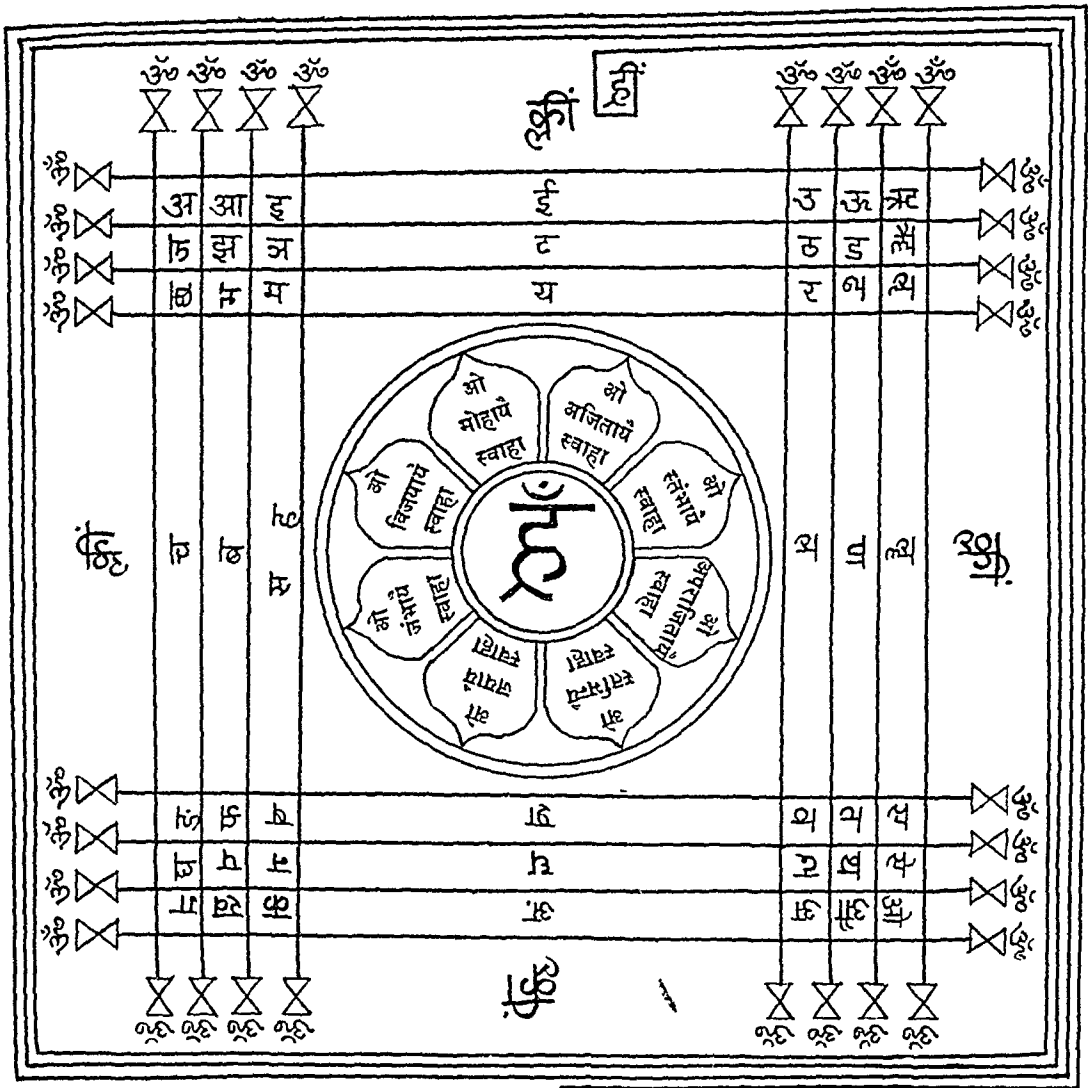
१४-चौबीसी मण्डल यंत्र

१३-चिन्तामणि यंत्र

(मूल मंत्र- ॐ नमोऽर्हं ए श्री ह्रीं क्लीं स्वाहा ॥)
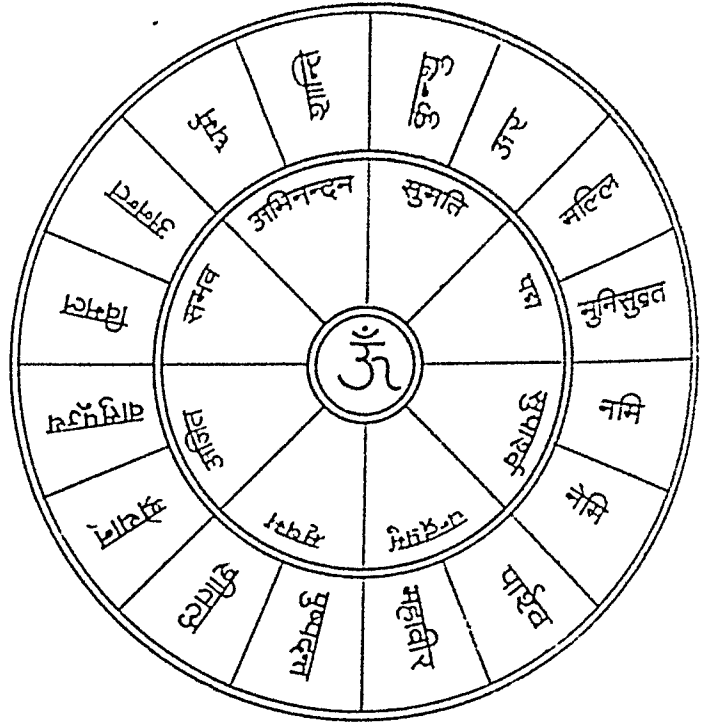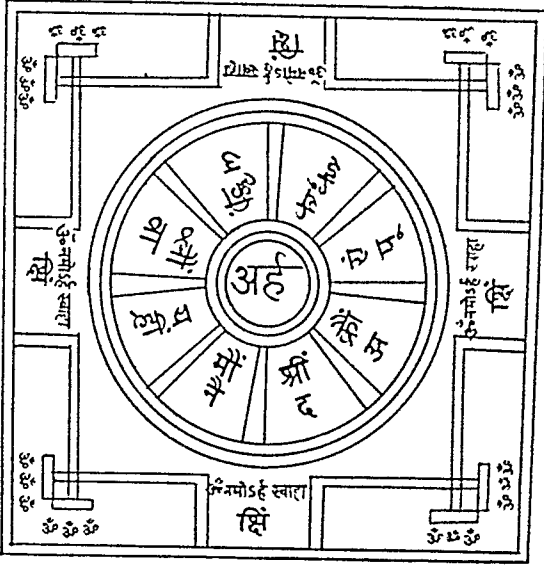
१६-जलादिवासन यंत्र

पपंपप (१५-जल मण्डल यंत्र) पं
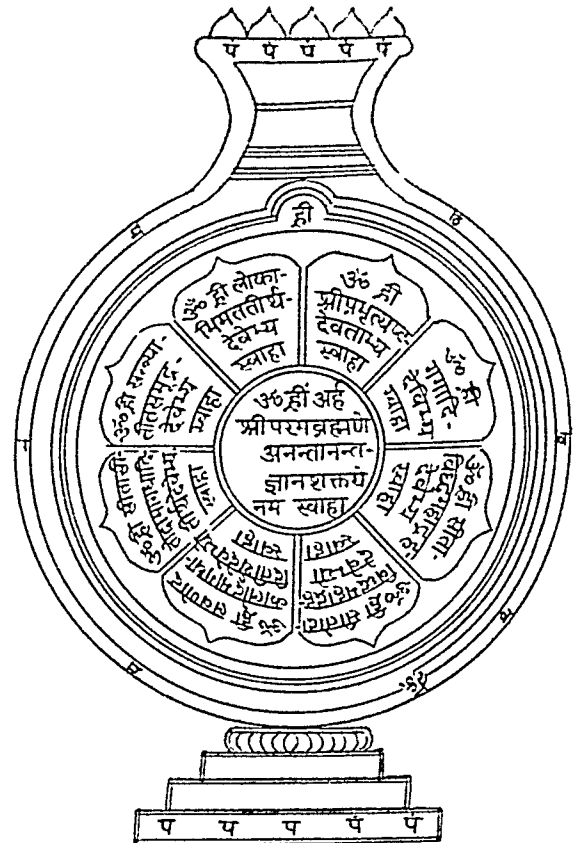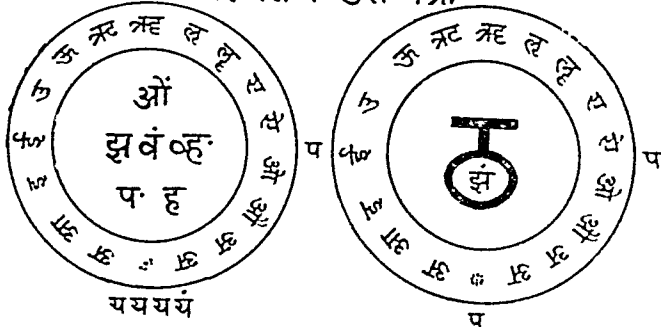
१९-नयनोन्मीलन यंत्र
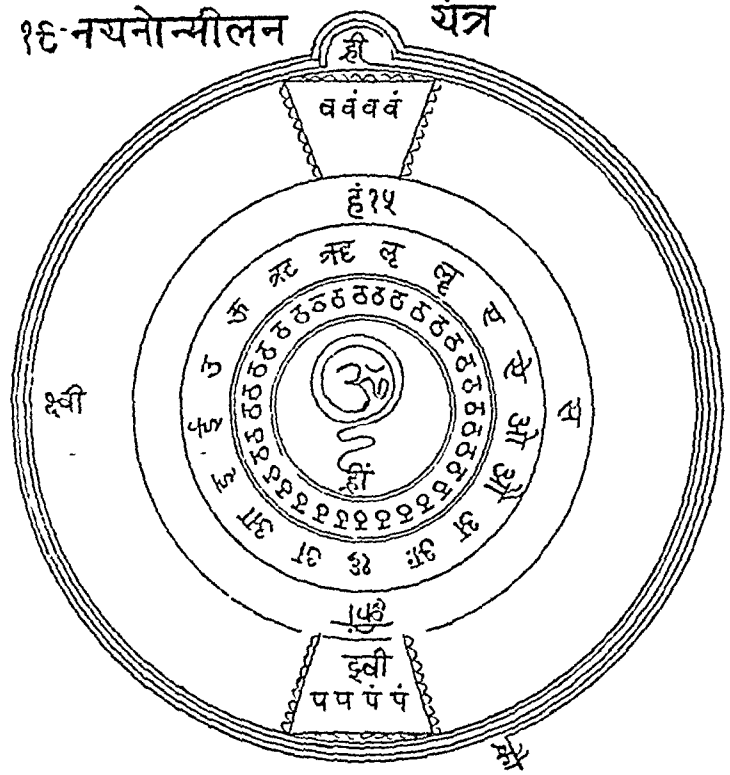
१७-णमोकार यंत्र

१	२	३	४	५
२	३	४	५	१
३	४	५	१	२
४	५	१	२	३
५	१	२	३	४

१८-दशलाक्षणिक धर्म चक्रोद्धार यंत्र
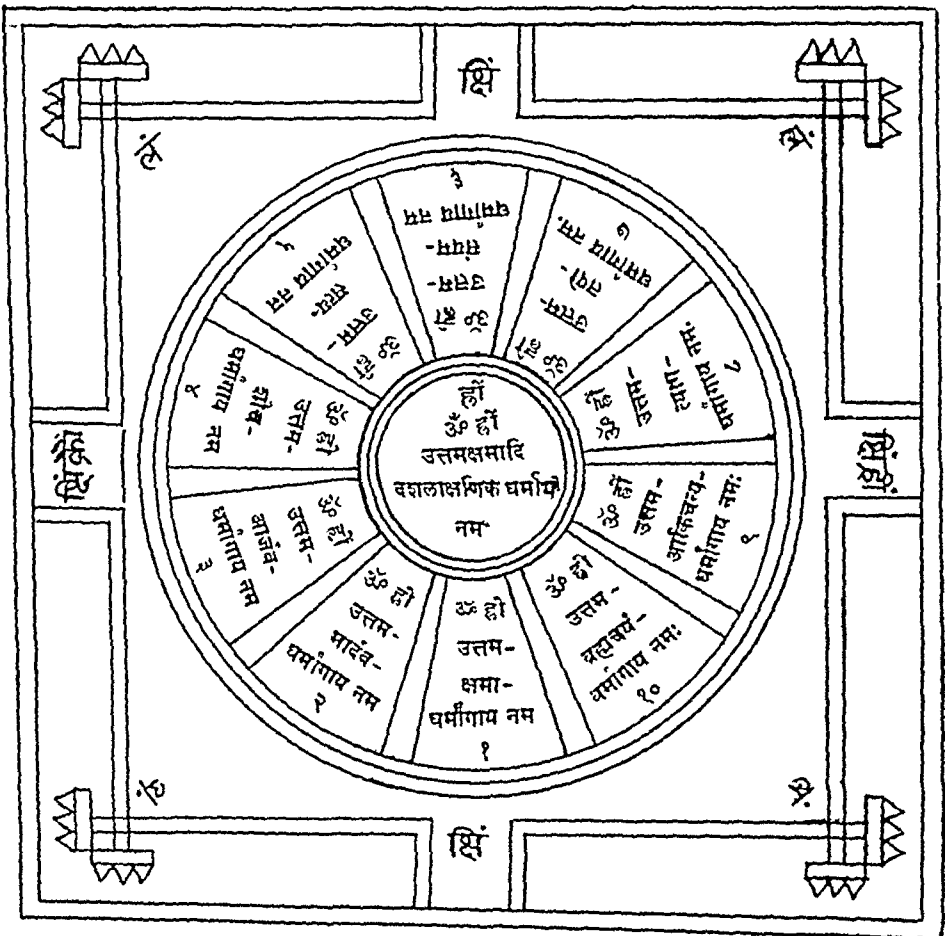
२०-निर्वाण सम्पत्ति यंत्र - (दे० अगला पृष्ठ)

२१- पीठ यंत्र
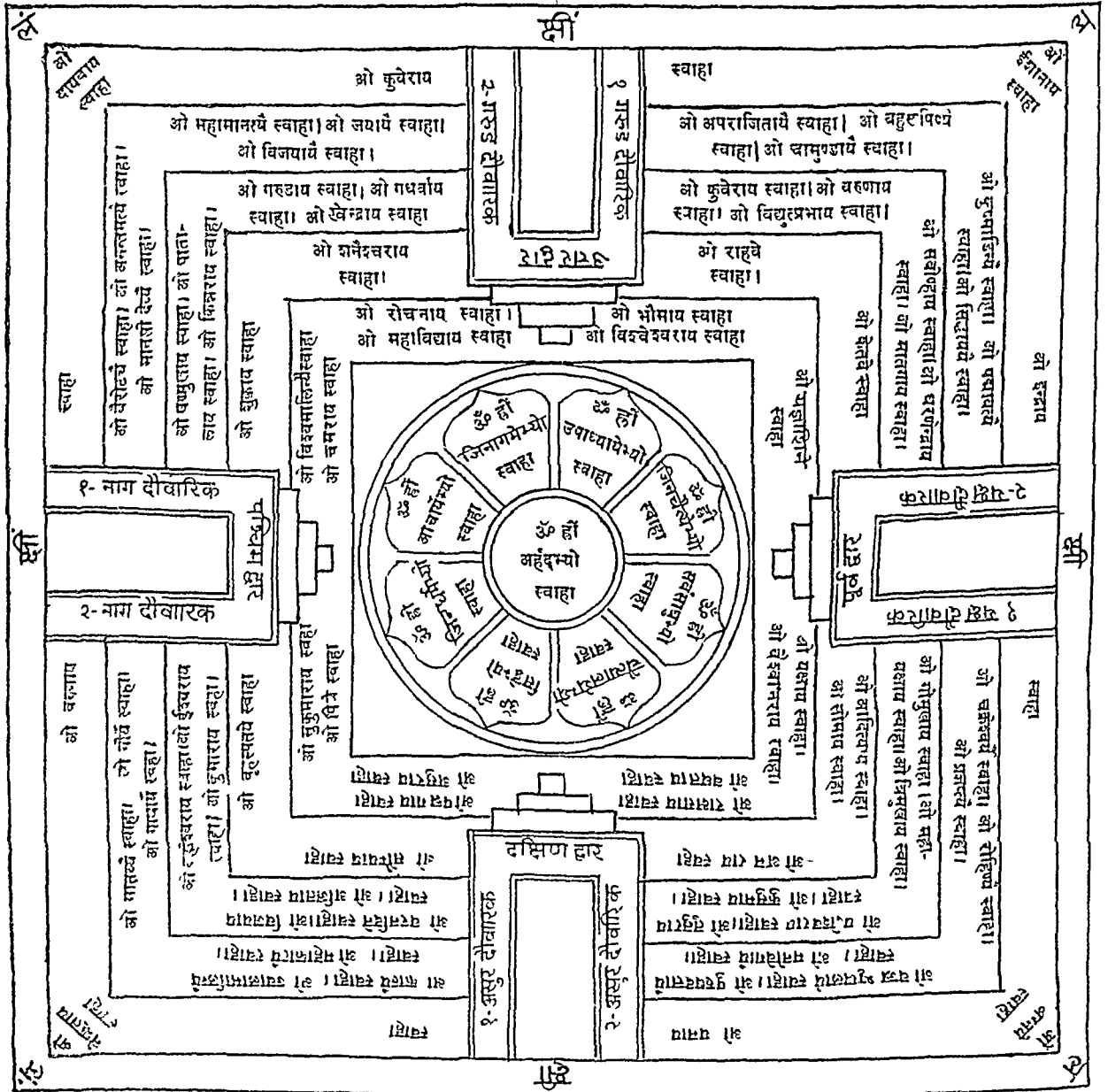
२०-निर्वाण सम्पत्ति यंत्र
२३-बोधि समाधि यंत्र
ॐ ह्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौं ह्रः
अ सि आ उ सा
श्री ह्रीं मम इष्ट शुभ
कुरु कुरु स्वाहा
२२-पूजा यंत्र
अर्हद्भ्यो नमः
ॐ उपाध्याय नम
ॐ सर्वसाधवे नम
ॐ आचार्याय नम

२४-मातृका यंत्र
(क)
२४ (ग)
२५-मृत्तिकानयन यंत्र
२६- मृत्युंजय यंत्र

२७-मोक्षमार्ग यंत्र

२८ यंत्रेश यंत्र
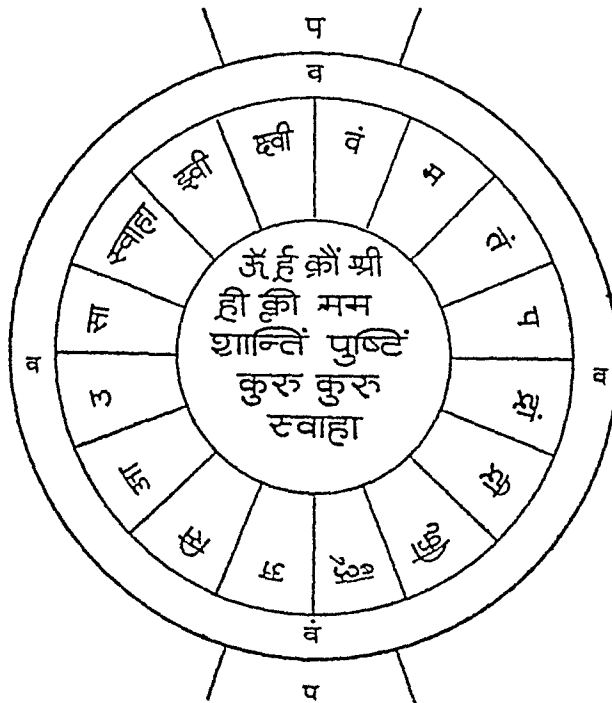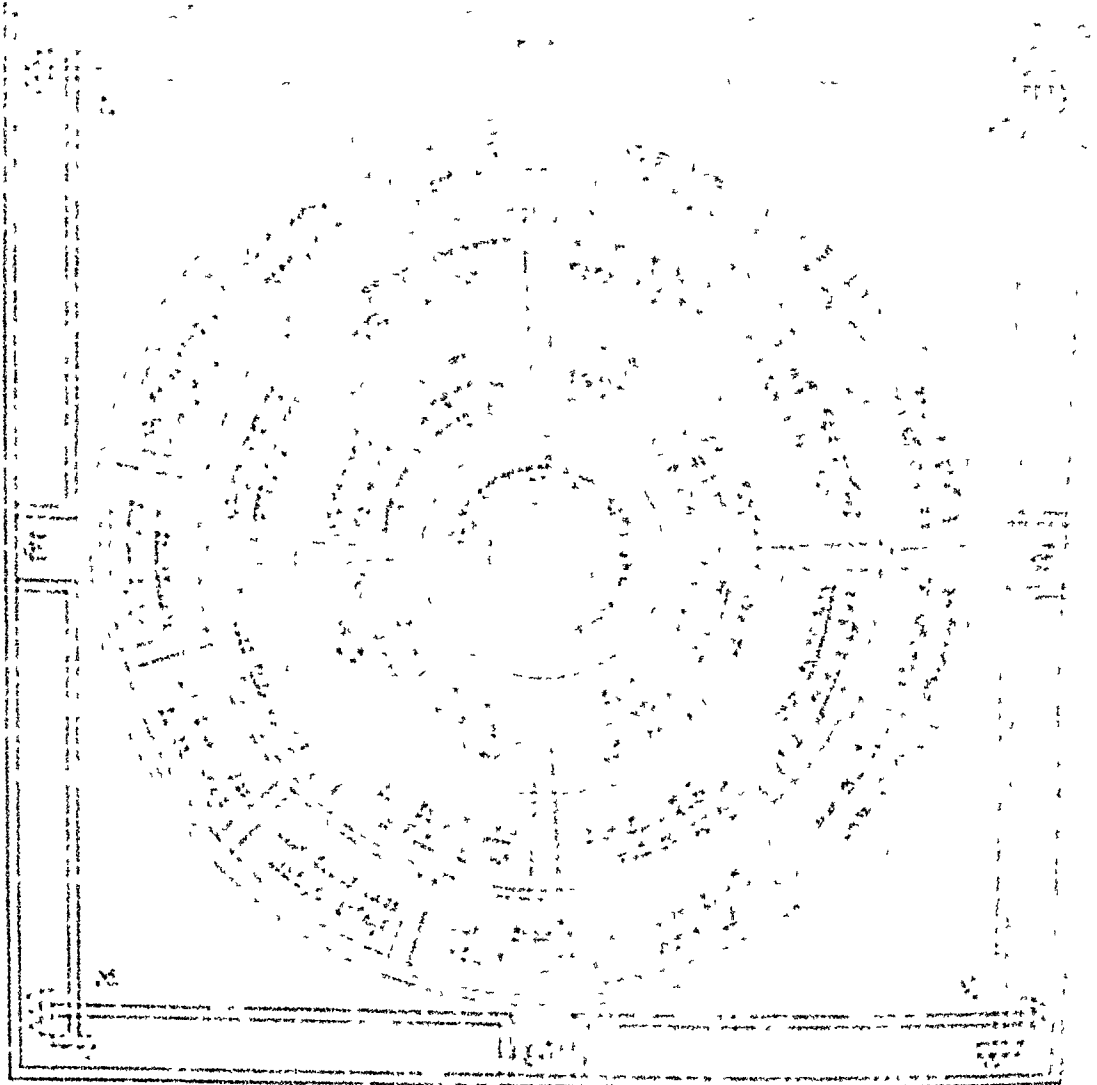
३०-रत्नत्रय-विधान यंत्र
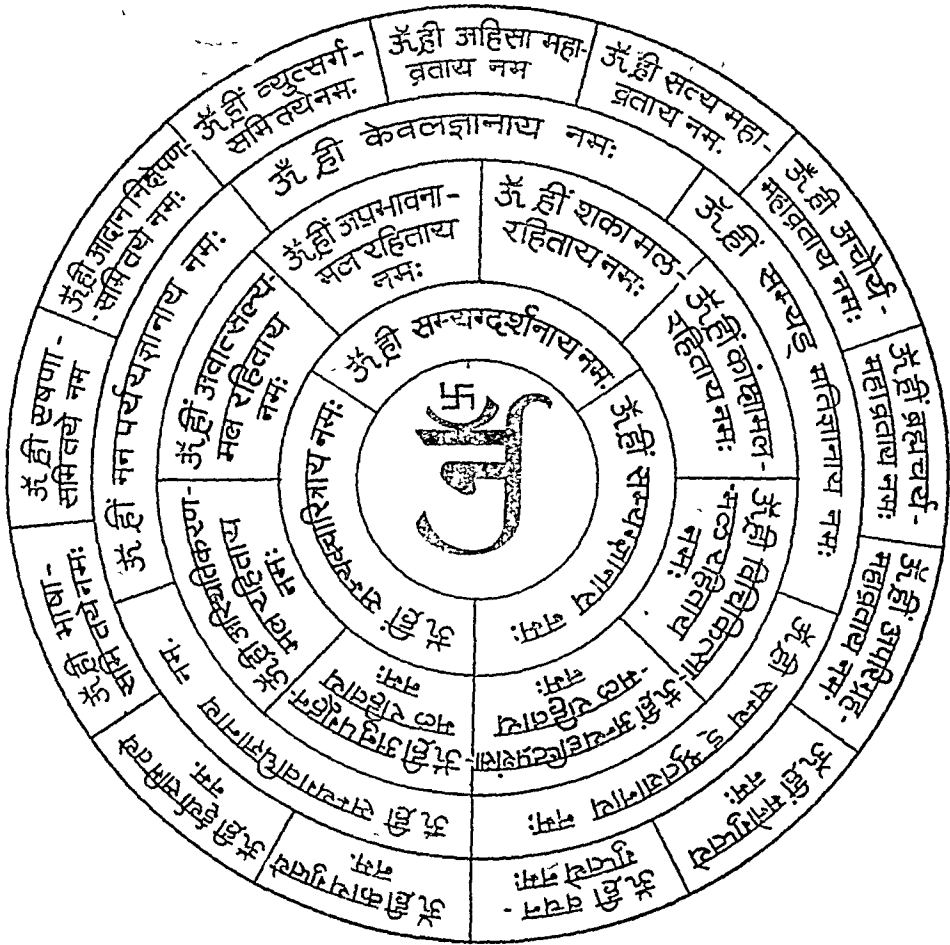
३१ - रुक्मपात्रांकित-तीर्थ-मण्डल यंत्र
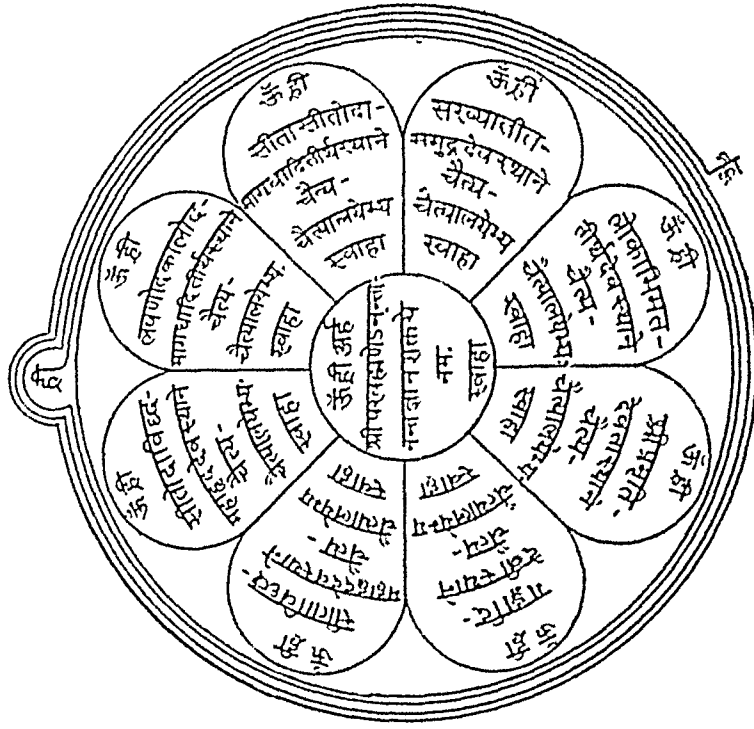
३२ - रुक्मपात्रांकित-वरुण-मंडल यंत्र
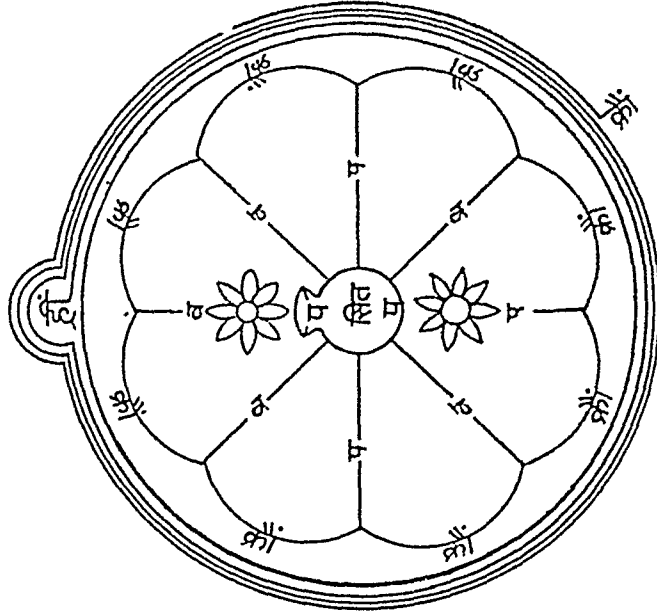
३३ - रुक्मपात्रांकित वज्रमंडल यंत्र
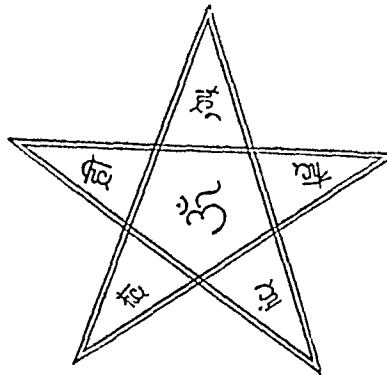
३४- वर्द्धमान यंत्र
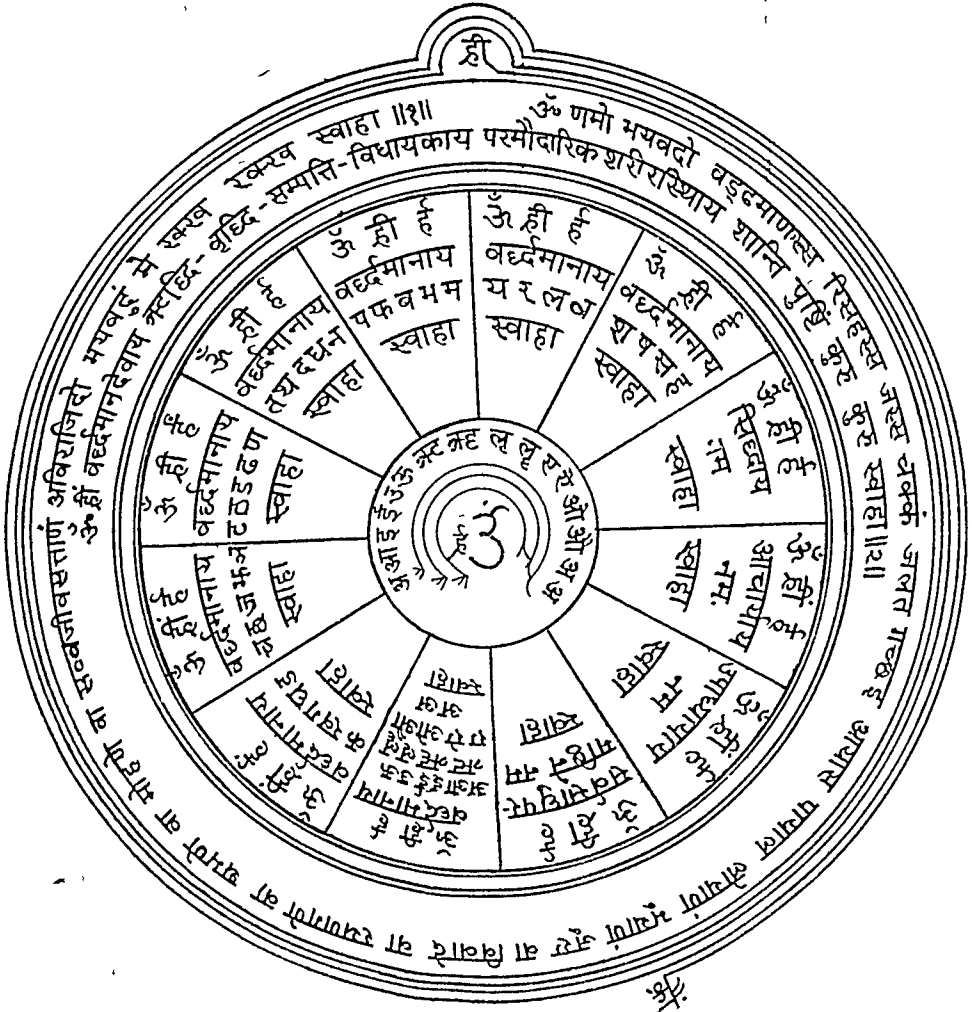
३५-वश्य यंत्र
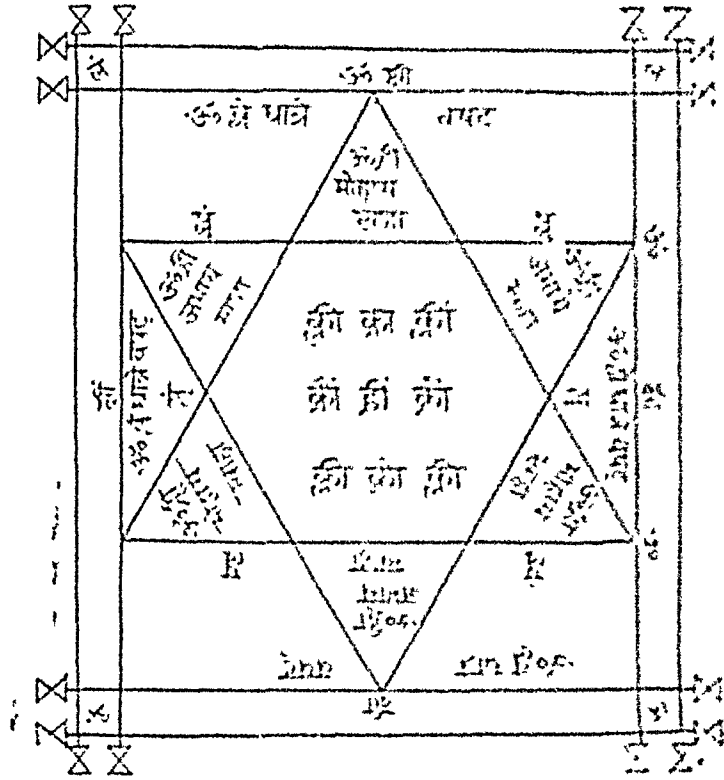
३६-विनायक यंत्र
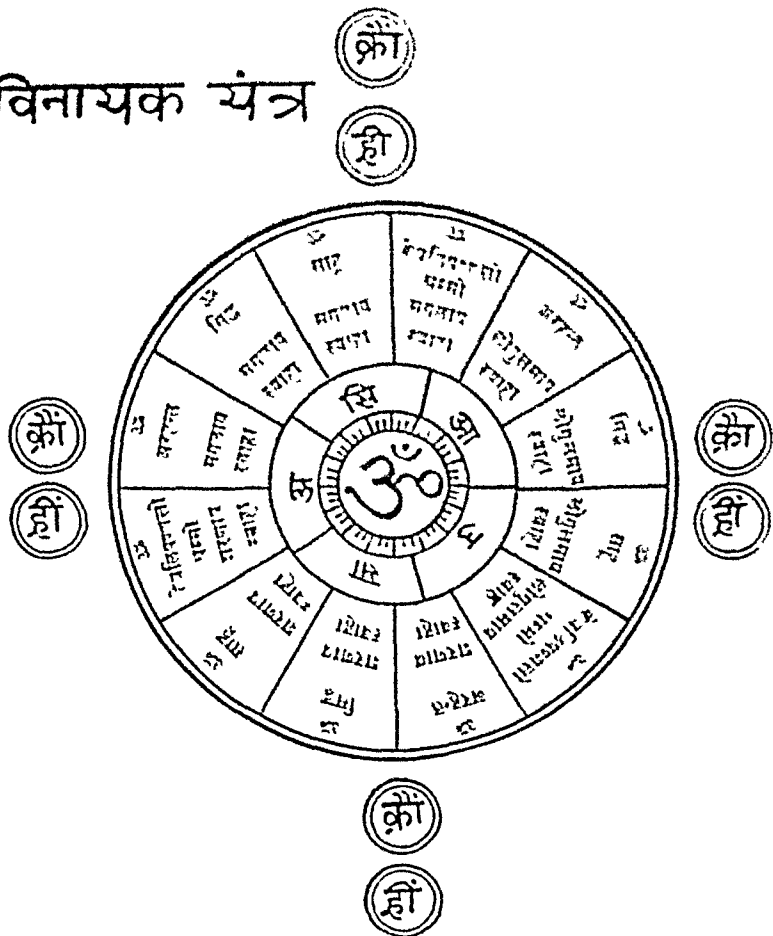
३९- शान्ति विधान यंत्र

४०-षोडशकारण धर्म चक्रोद्धार यंत्र

क्षिं

ॐ ह्रीं
दर्शनविशुद्धयादि
षोडशकारणेभ्यो
नम.

ॐ ह्रीं दर्शन-विशुद्धये नम १

ॐ ह्रीं विनय-सम्पन्नतायै नम २

ॐ ह्रीं प्रवचन-वत्सलत्वाय नम. १६

ॐ ह्रीं मार्ग-प्रभावनायै नम १५

४१-सरस्वती यंत्र

ह्रीं
ॐ श्री जिनवाणिभ्यो नमः
ह्रीं
ॐ श्री अर्धमागधिभ्यो नमः
ॐ अंतकृद्दशांगेभ्यो नमः
ॐ अनुत्तरोत्पादकदशांगेभ्यो नमः
ॐ उपासकाध्ययनांगेभ्यो नमः
ॐ प्रश्नव्याकरणांगेभ्यो नमः
ॐ विपाकसूत्रांगेभ्यो नमः
ॐ ज्ञातृकथांगेभ्यो नमः
ॐ व्याख्याप्रज्ञप्त्यंगेभ्यो नमः
ॐ समवायांगेभ्यो नमः
ॐ दृष्टिवादांगेभ्यो नमः
ह्रीं
ॐ श्री नवकेवललब्धिभ्यो नमः
ॐ चतुर्दशपूर्वेभ्यो
ॐ प्रथमानुयोगेभ्यो
ॐ करणानुयोगेभ्यो
ॐ एकादशांगेभ्यो
ॐ द्वादशांगेभ्यो नमः
ॐ चतुर्दशपूर्वेभ्यो नमः
ॐ ह्रीं श्रीं वद वद वाग्वादिनि भगवति सरस्वति ह्रीं नमः
ह्रीं

४४-सारस्वत यंत्र

४२-सर्वतोभद्र यंत्र (लघु)
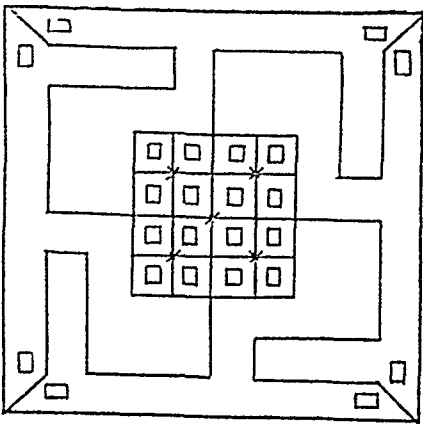
४३-सर्वतोभद्र यंत्र (वृहत्)
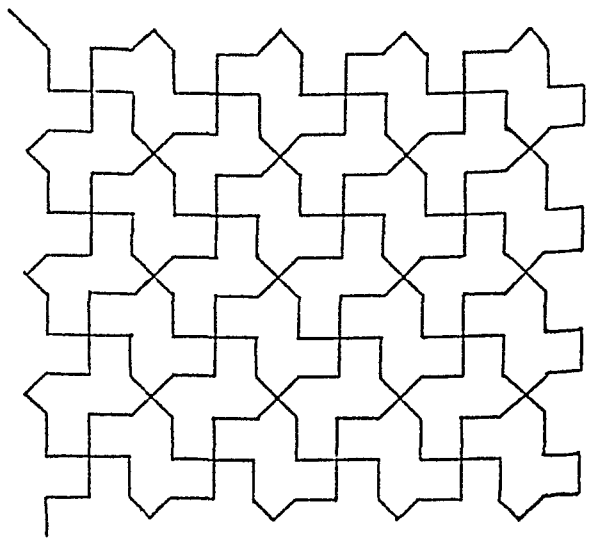
४५-सिद्ध चक्र यंत्र (लघु)

४६-सिद्ध चक्र यंत्र (वृहत्)

४८-स्तम्भन यंत्र

४७-सुदर्शन चक्र यंत्र
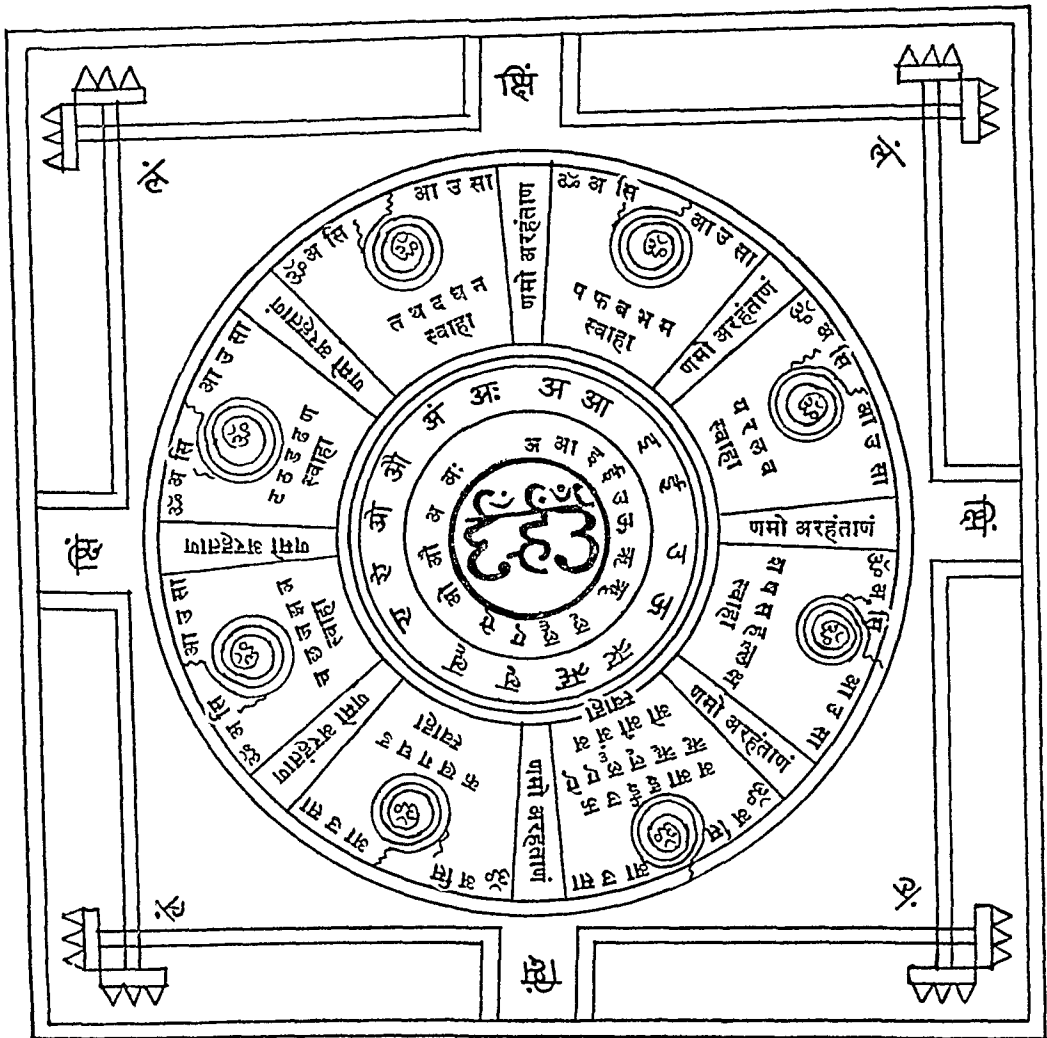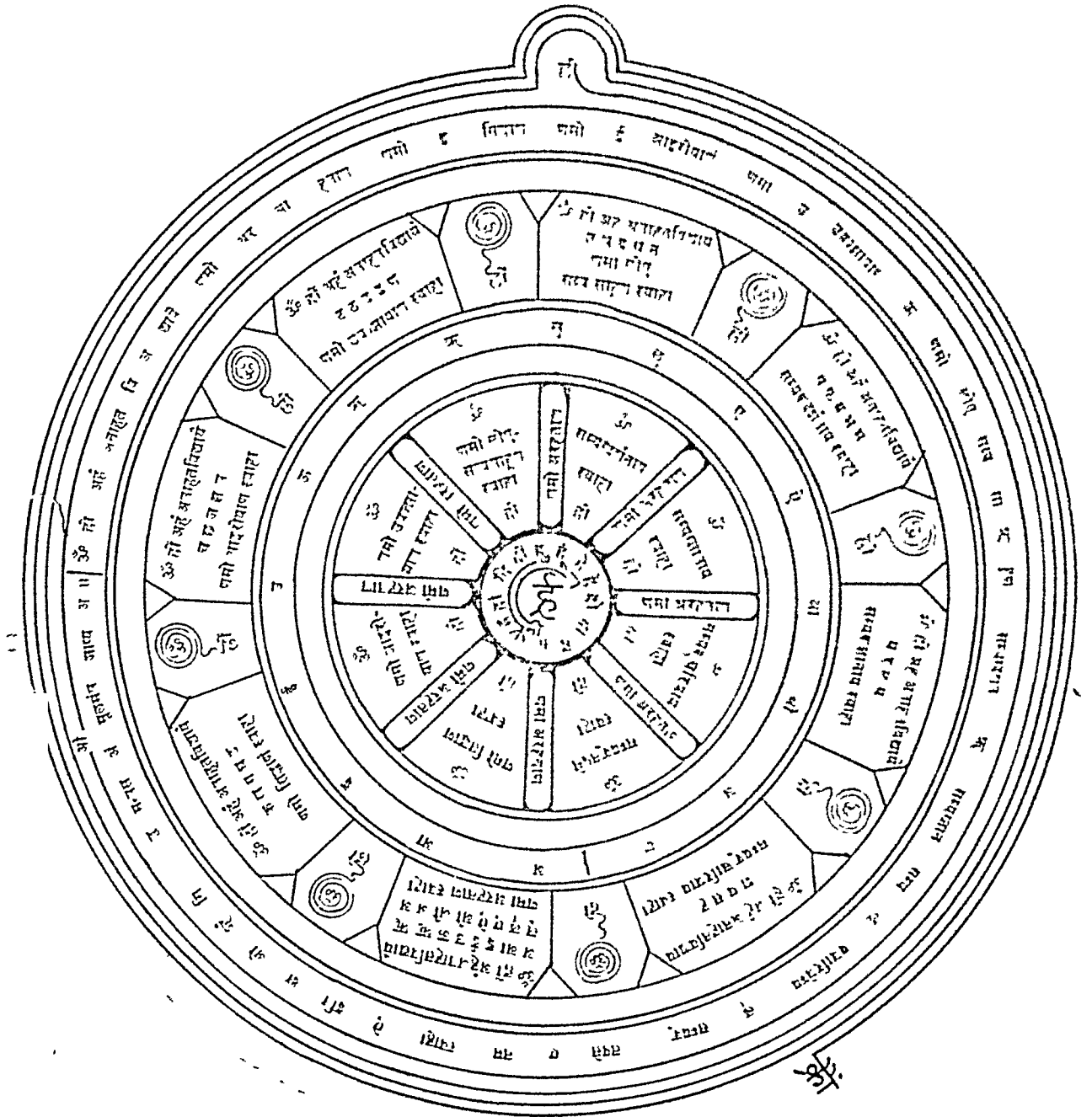
यंत्रपीड़न कर्म—दे० सावद्य/२।

यंत्रेशयंत्र—दे० यंत्र।

यक्ष—

ध. १३/५,५,१४०/३९१/६ लोभभूयिष्ठाः भाण्डागारे नियुक्ताः यक्षा' नाम। =जिनके लोभकी मात्रा अधिक होती है और जो भाण्डागार-में नियुक्त किये जाते है, वे यक्ष कहलाते है।

२. यक्षनामा व्यन्तर देवके भेद

ति प./६/४२ अहमणिपुण्ण सेलमणो भद्दा भद्दका सुभद्दा य। तह मव्व-भद्दमाणुसधणपालसरूवजक्खक्खा।४२। जक्खुत्तममणहरणा ताणं ये माणिपुण्णभद्दिंदा ।४३। =माणिभद्र, पूर्णभद्र, शैलभद्र, मनोभद्र, भद्रक, सुभद्र, सर्वभद्र, मानुष, धनपाल, स्वरूपयक्ष, यक्षोत्तम और मनोहरण ये बारह यक्षोंके भेद है।४२। इनके माणिभद्र और पूर्णभद्र ये दो इन्द्र है (त्रि सा./२६७-२६६)।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. व्यन्तर देवोंका एक भेद है। —दे० व्यन्तर/१।
२. पिशाच जातिके देवोंका एक भेद है। —दे० पिशाच।
३. छह दिशाओंके ६ रक्षक देव—विजय, वैजयन्त, जयन्त अपराजित, अनावर्त, आवर्त। (प्रतिष्ठा सारोद्धार/३/१९६-२०१)।
४. यक्षोंका वर्ण, परिवार व अवस्थान आदि। —दे० व्यन्तर।
५. तीर्थंकरोंके २४ यक्षोंके नाम। —दे० तीर्थंकर/५।
६. तीर्थंकरोंकी २४ यक्षिणियोंके नाम। —दे० तीर्थंकर/५।
७. तीर्थंकरोंके २४ शासक देवता। —दे० तीर्थंकर/५।

यक्षलिक—ह. पु./३३/श्लोक मलयदेशमें यक्षदत्तका पुत्र था। एक बार एक सर्पिणीको गाड़ीके पहियेके नीचे दबाकर मार दिया।(१५९-१६०) यह श्रीकृष्णका पूर्वका तीसरा भव है—दे० कृष्ण।

यक्षवर—चतुर्थ सागर व द्वीप—दे० लोक/३।

यक्षेश्वर—अभिनन्दन भगवान्का शासक देवता।

यक्षोत्तम—यक्ष जातिके व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० यक्ष।

यज्ञ—

दे० पूजा/१/१ (याग, यज्ञ, क्रतु, पूजा, सपर्या, इज्या, अध्वर, मख और मह ये सब पूजाविधिके पर्यायवाचक शब्द है।)

म. पु./६७/१९४ यज्ञशब्दाभिधेयोरुदानपूजास्वरूपकात्। धर्मात्पुण्यं समावर्ज्य तत्पाकाद्दिविजेश्वरा ।१९४। =यज्ञ शब्दका वाच्यार्थ जो बहुत भारी दान देना और पूजा करना है, तत्स्वरूप धर्मसे ही लोग पुण्य सचयके फलसे देवेन्द्रादि होते हैं।१९४।

२. यज्ञके भेद व भेदोंके लक्षण

म. पु/६७/२००-२१२/२१८ आर्षानार्षविकल्पेन यागो द्विविध इष्यते ।२००। त्रयोऽनय' समुद्दिष्टा'''। तेषु क्षमाविरागत्वानशनाहुतिभिर्वने ।२०२। स्थित्वर्षियति मुन्यस्तशरणा. परमद्विजा'। इत्यात्मयज्ञ-मिष्टार्थमष्टमीमवनीं ययु ।२०३। तथा तीर्थगणाधीशशेषकेवलि-सद्वपु। संस्कारमहिताग्नीन्द्रमुकुटोत्थाग्निषु त्रिषु।२०४। परमात्मपद प्राप्तान्निजान् पितृपितामहान्। उद्दिश्य भाक्तिका. पुष्पगन्धाक्षत-फलादिभि ।२०५। आर्षोपासकवेदोक्तमन्त्रोच्चारणपूर्वकम्। दानादि-सत्क्रियोपेता गेहाश्रमतपस्विन ।२०६। यागोऽयमृषिभि. प्रोक्तो यत्य-गारिद्वयाश्रय। आद्यो मोक्षाय साक्षात्स्यात्परम्परया पर ।२१०। एवं परम्परामतदेव यज्ञविधिस्त्विह।'।२११। मुनिसुव्रततीर्थे शसताने सगरद्विष.। महाकालासुरो हिंसायज्ञमज्ञोऽन्वशात्सुम् ।२१२। =आर्ष और अनार्षके भेदसे यज्ञ दो प्रकारका माना जाता है।२००। क्रोधाग्नि, कामाग्नि और उदराग्नि, (दे० अग्नि/१) इन तीन अग्नियोंमें क्षमा, वैराग्य और अनशनकी आहुतियाँ देनेवाले जो ऋषि, यति, मुनि, और अनगार रूपी श्रेष्ठ द्विज वनमें निवास करते हैं, वे आत्म-यज्ञ-कर इष्ट अर्थको देनेवाली अष्टम पृथिवी मोक्षस्थानको प्राप्त होते हैं। (२०२+२०३)। इसके सिवाय तीर्थंकर, गणधर तथा अन्य केवलियों-के उत्तम शरीरके संस्कारसे उत्पन्न हुई तीन अग्नियोंमें (दे० मोक्ष/५/१) अत्यन्त भक्त उत्तम क्रियाओंको करनेवाले तपस्वी गृहस्थ परमात्मपदको प्राप्त हुए अपने पिता तथा प्रपितामहको उद्देशकर वेदमन्त्रके उच्चारण पूर्वक अष्ट द्रव्यकी आहुति देना आर्ष यज्ञ है ।२०४-२०७। यह यज्ञ मुनि और गृहस्थके आश्रयके भेदसे दो प्रकारका निरूपण किया गया, इनमेंसे पहला मोक्षका कारण और दूसरा परम्परा मोक्षका कारण है।२१०। इस प्रकार यह देवयज्ञकी विधि परम्परासे चली आयी है।२११। किन्तु श्री मुनिसुव्रत नाथ तीर्थंकरके तीर्थमें सगर राजासे द्वेष रखनेवाला एक महाकाल नामका असुर हुआ था उसी अज्ञानीने इस हिंसायज्ञका उपदेश दिया है।२१२।

यज्ञोपवीत—१. यज्ञोपवीतका स्वरूप व महत्त्व

म पु/३८/११२ उरोलिङ्गमथास्य स्याद् ग्रथितं सप्तभिर्गुणैः। यज्ञोपवी-तकं सप्तपरमस्थानसूचकम्।११२। =उस (आठवें वर्ष ब्रह्मचर्याश्रममें अध्ययनार्थ प्रवेश करनेवाले उस बालक) के वक्षस्थलका चिह्न सात तारका गूँथा हुआ यज्ञोपवीत है। यह यज्ञोपवीत सात परम स्थानों-का सूचक है।

म पु/३९/९५ यज्ञोपवीतमस्य स्याद् द्रव्यस्त्रिगुणात्मकम्। सूत्रमौपा-सिक तु स्याद् भावारूढैस्त्रिभिर्गुणै.।९५।

म. पु./४१/३१ एकाद्येकादशान्तानि दत्तान्येभ्यो मया विभो। व्रत-चिह्नानि सूत्राणि गुणभूमिविभागत ।३१। =तीन तारका जो यज्ञोपवीत है वह उसका (जैन श्रावकका) द्रव्य सूत्र है, और हृदयमें उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और चारित्र रूपी गुणोंसे बना हुआ श्रावकका सूत्र उसका भाव सूत्र है।९५। (भरत महाराज ऋषभ-देवसे कह रहे हे कि) हे विभो ! मैंने (श्रावकोंको) ग्यारह प्रतिमाओंके विभागसे व्रतोंके चिह्न स्वरूप एकसे लेकर ग्यारह तक सूत्र (ग्यारह लडा यज्ञोपवीत तक) दिये है। ३१) (म पु/३८/२१-२२)।

२. यज्ञोपवीत कौन धारण कर सकता है

म. पु./४०/१६७-१७२ तत्तु स्यादसिवृत्त्या वा मष्या कृष्या वणिज्यया। यथास्वं वर्तमानाना सद्दृष्टीना द्विजन्मनाम् ।१६७। कुतश्चिद् कारणाद् यस्य (कुल सम्प्राप्तदूषणम्। सोऽपि राजादिसंमत्या शोधयेत् स्व सदा कुलम् ।१६८। तदास्योपनयार्हत्व पुत्रपौत्रादिसंततौ। न निषिद्धं हि दीक्षार्हे कुले चेदस्य पूर्वजा. ।१६९। अदीक्षार्हे कुले जाता विद्याशिल्पोपजीविन.। एतेषामुपनीत्यादिसंस्कारो नाभि-संमत ।१७०। तेषा स्यादुचित लिङ्गं स्वयोग्यव्रतधारिणाम्। एक-शाटकधारित्वं सन्यासमरणावधि ।१७१। स्यान्निरामिषभोजित्वं कुलस्त्रीसेवनव्रतम्। अनारम्भवधोत्सर्गो ह्यभक्ष्यापेयवर्जनम्।१७२। =१ जो अपनी योग्यतानुसार असि, मषि, कृषि व वाणिज्यके द्वारा अपनी आजीविका करते हैं, ऐसे सद्दृष्टि द्विजोको वह यज्ञो-पवीत धारण करना चाहिए। २. जिस कुलमें दोष लग गया हो ऐसा पुरुष भी जब राजा आदि (समाज) की सम्मतिसे अपने कुलको शुद्ध कर लेता है, तब यदि उसके पूर्वज दीक्षा धारण करनेके योग्य कुलमें उत्पन्न हुए हों तो उसके पुत्र-पौत्रादि सन्ततिके लिए यज्ञोपवीत धारण करनेकी योग्यताका कहीं निषेध नहीं है।१६८-१६९। ३. जो दीक्षाके अयोग्य कुलमें उत्पन्न हुए है, तथा नाचना, गाना आदि विद्या और शिल्पसे अपनी आजीविका पालते हैं ऐसे पुरुषको यज्ञोपवीतादि संस्कारकी आज्ञा नहीं है।१७०। किन्तु ऐसे लोग यदि अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण करें तो उनके योग्य यह चिह्न हो

सकता है कि वे मन्यासमरण पर्यन्त एक धोती पहनें ।१७१। ४. यज्ञोपवीत धारण करनेवाले पुरुषोंको मांस रहित भोजन करना चाहिए, अपनी विवाहिता कुल-स्त्रीका सेवन करना चाहिए, अनारम्भी हिंसाका त्याग करना चाहिए और अभक्ष्य तथा अपेय पदार्थका परित्याग करना चाहिए ।

म. पु /३८/२२ गुणभूमिकृताद्द भेदात् क्लृप्तयज्ञोपवीतिनाम् । सत्कार' क्रियते स्मैषां अव्रताश्च बहि कृताः ।२२। =प्रतिमाओंके द्वारा किये हुए भेदके अनुसार जिन्होंने यज्ञोपवीत धारण किये हैं, ऐसे इन सबका भरतने सत्कार किया । शेष अव्रतियोंको वैसे ही जाने दिया ।२२। (म पु./४१/३४) ।

दे० संस्कार/२/२ में उपनीति क्रिया (गर्भसे आठवें वर्षमें बालककी उपनीति (यज्ञोपवीत धारण) क्रिया होती है ।)

३. चारित्र भ्रष्ट ब्राह्मणोंका यज्ञोपवीत पाप सूत्र कहा है

म.पु /३९/११८ पापसूत्रानुगा यूयं न द्विजा सूत्रकण्ठका. । सन्मार्गकण्टकास्तीक्ष्णाः केवल मलदूषिता ।११८। =आप लोग तो गलेमें सूत्र धारणकर समीचीन मार्गमें तीक्ष्ण कण्टक बनते हुए, पाप रूप सूत्रके अनुसार चलनेवाले, केवल मलसे दूषित है, द्विज नही हैं ।११८।

म. पु /४१/५३ पापसूत्रधरा धूर्ता प्राणिमारणतत्परा । वर्त्स्यद्युगे प्रवर्त्स्यन्ति सन्मार्गपरिपन्थिन ।५३। =(भरत महाराजके स्वप्नका फल बताते हुए भगवान्‌की भविष्य वाणी) पापका समर्थन करनेवाले अथवा पापके चिह्न स्वरूप यज्ञोपवीतको धारण करनेवाले, प्राणियोंको मारनेमें सदा तत्पर रहनेवाले ये धूर्त ब्राह्मण आगामी युगमें समीचीन मार्गके विरोधी हो जायेंगे ।५३।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१ उत्तम कुलीन गृहस्थोंको यज्ञोपवीत अवश्य धारण करना चाहिए । —दे० संस्कार/२ ।

२ द्विजों या सद्ब्राह्मणोंकी उत्पत्तिका इतिहास —दे० वर्णव्यवस्था ।

यति—चा. सा /४६/४ यतय' उपशमक्षपकश्रेण्यारूढा भण्यन्ते । =जो उपशम श्रेणी वा क्षपक श्रेणीमें विराजमान है उन्हे यति कहते है । (प्र. सा /ता वृ /२४९/३४३/१६); (का. अ /प. जयचन्द/४८६) ।

प्र. सा./ता वृ./६६/६०/१४ इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यति' । =जो इन्द्रिय जयके द्वारा अपने शुद्धात्म स्वरूपमें प्रयत्नशील होता है उसको यति कहते है ।

दे० साधु/१ (श्रमण, सयत, ऋषि, मुनि, साधु, वीतराग, अनगार, भदत, दान्त, यति ये एकार्थवाची है ।)

मू. आ /भाषा/८८६ चारित्रमें जो यत्न करे वह यति कहा जाता है ।

यतिवरवृषभ—प्र. सा /ता वृ./७९/१००/१५ निजशुद्धात्मनि यत्नपरास्ते यतयस्तेषा वरा गणधरदेवादयस्तेभ्योऽपि वृषभ प्रधानो यतिवरवृषभस्त यतिवरवृषभं । =निज शुद्धात्ममें जो यत्नशील हैं वे यति हैं । उनमें जो वर-श्रेष्ठ हैं वे गणधर देव आदि है, उनमें भी जो प्रधान हैं यतिवरवृषभ कहलाते हैं ।

यतिवृषभ—दिगम्बर आचार्योंमें इनका स्थान ऊँचा है क्योकि इनके ज्ञान व रचनाओंका सम्बन्ध भगवान् वीरकी मूल परम्परासे आगत सूत्रोंके साथ माना जाता है । आर्य मंक्षु व नागहस्तिके शिष्य थे । कृति—कषाय प्राभृतके चूर्णसूत्र, तिल्लोय पण्णत्ति । समय—ई० ५४०-६०९ वि. ५९७-६६६—दे० इतिहास/४/४/१ ;५/३) ।

यत्याचार—१ आ. पद्मनन्दि ८ (ई० १२००-१३३०) की एक रचना । २. यतियों अर्थात् साधुओंके आचार-विचारको यत्याचार कहा जाता है, वा जिसमें यतियोंके आचारादिका वर्णन किया गया है, ऐसे मूलाचार, भगवती आराधना, व अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थोंको भी यत्याचार कहा जाता है ।

यथाख्यात चारित्र—

स. सि./९/१८/४३६/९ मोहनीयस्य निरवशेषस्योपशमात्क्षयाच्च आत्मस्वभावावस्थापेक्षालक्षणं अथाख्यातचारित्रमित्याख्यायते । · यथात्मस्वभावोऽवस्थितस्तथैवाख्यातत्वात् । =समस्त मोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे जैसा आत्माका स्वभाव है उस अवस्था रूप जो चारित्र होता है वह अथाख्यातचारित्र कहा जाता है । ··जिस प्रकार आत्माका स्वभाव अवस्थित है उसी प्रकार यह कहा गया है, इसलिए इसे यथाख्यात कहते है । (रा वा /९/१८/११/६१७/२९); (त. सा /६/४९), (चा सा /८४/४), (गो क /जी प्र /५४७/७१४/८) ।

पं. स./प्रा /१/१३३ उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्हि मोहणीयम्हि । छदुमत्थो व जिणो वा जहखाओ सजओ साहू ।१३३। =अशुभ रूप मोहनीय कर्मके उपशान्त अथवा क्षीण हो जानेपर जो वीतराग सयम होता है, उसे यथाख्यातसंयम कहते हैं । ।१३३। (ध. १/१,१, १२३/गा. १९१/१२३), (गो जी./मू /४७५/८८२), (प स./प्रा /१/२४३) ।

ध १/१,१,१२३/३७१/७ यथाख्यातो यथाप्रतिपादित विहार' कषायाभावरूपमनुष्ठानम् । यथाख्यातो विहारो येषा ते यथाख्यातविहारा' । यथाख्यातविहाराश्च ते शुद्धिसंयताश्च यथाख्यातविहारशुद्धिसंयता' । =परमागममें विहार अर्थात् कषायोंके अभाव रूप अनुष्ठानका जैसा प्रतिपादन किया गया है तदनुकूल विहार जिनके पाया जाता है, उन्हें यथाख्यात विहार कहते है । जो यथाख्यातविहारवाले होते हुए शुद्धि प्राप्त सयत है, वे यथाख्यातविहार शुद्धि-सयत कहलाते हैं ।

द्र. स /टी./३५/१४८/७ यथा सहजशुद्धस्वभावत्वेन निष्कम्पत्वेन निष्कषायमात्मस्वरूपं तथैवाख्यातं कथितं यथाख्यातचारित्रमिति । =जैसा निष्कम्प सहज शुद्ध स्वभावसे कषाय रहित आत्माका स्वरूप है, वैसा ही आख्यात अर्थात् कहा गया है, सो यथाख्यातचारित्र है ।

जैन सिद्धान्त प्र /२२६ कषायोंके सर्वथा अभावसे प्रादुर्भूत आत्माकी शुद्धि विशेषको यथाख्यात चारित्र कहते है ।

२. यथाख्यात चारित्रका गुणस्थानोंकी अपेक्षा स्वामित्व

ष. ख १/१, १/सू. १२८/३७७ जहाक्खाद-विहार-सुद्धि-संजदा चदुसु-ट्ठाणेसु उवसंत-कसाय-वीयराय-छदुमत्था खीण-कसाय-वीयरायछदुमत्था सजोगिकेवली अजोगिकेवलि त्ति ।१२८। =यथा-ख्यात-विहार-शुद्धि-सयत जीव उपशान्त कषाय, वीतराग, छद्मस्थ, क्षीणकषाय, वीतरागछद्मस्थ, सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन चार गुणस्थानोंमें होते हैं ।१२८। (प. स /प्रा /१/१३३), (ध. १/१,१,१२३/गा. १९१/१२३) (गो. जी /मू /४७५/८८३), (प. स /स./१/२४३); (द्र. सं /टी./३५/१४९/१) ।

३. उसमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं होता

ष. ख. ७/२,११/सू १७४/५६७ जहाक्खादविहारसुद्धिसंजदस्स अजहण्ण-अणुक्कस्सिया चरित्त लद्धी अणंतगुणा ।१७४। कसायाभावेण वड्ढि-हाणिकारणभावादो । तेणेव कारणेण अजहण्णा अणुक्कस्सा च । =यथाख्यात विहार शुद्धि संयतकी अजघन्यानुत्कृष्ट चारित्र लब्धि अनन्तगुणी है ।१७४। कषायका अभाव हो जानेसे उसकी वृद्धि हानिके कारणका अभाव हो गया है इसी कारण वह अजघन्यानुत्कृष्ट भी है ।

यथाजात—प्र सा /ता. वृ /२०४/२७८/१५ व्यवहारेण नग्नत्व यथाजातरूप निश्चयेन तु स्वात्मरूपं तदित्थभूतं यथाजातरूपं धरतीति यथाजातरूपधर. निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थ । =व्यवहारसे नग्नपनेको यथाजातरूपधर कहते है, निश्चयसे तो जो आत्माका स्वरूप है

उसी प्रकारके यथाजात रूपको जो धरता है, वही यथाजातरूपधर अर्थात् समस्त परिग्रहोसे रहित हुआ कहा जाता है।

यथातथानुपूर्वी—दे० आनुपूर्वी।

यथार्थ—न्या. वि /वृ /१/३८/२८२/११ यो येन स्वभावेन स्थितोऽर्थः स यथार्थस्तमिति। =जो पदार्थ जिस स्वभावसे स्थित है, उसको यथार्थ कहते है।

यदु—हरिवंशका एक राजा था, जिस. यादव वंशकी उत्पत्ति हुई थी। (ह. पु./१८/५-६)।

यदृष्ट—आलोचनाका एक दोष—दे० आलोचना/२।

यम—१ दे० लोकपाल/१। २. भोग व उपभोग्य वस्तुओका जो जीवन पर्यन्तके लिए त्याग किया जाता है उसको यम कहते है। (दे० भोगोपभोग परिमाणव्रत, ३ कालाग्नि विद्याधरका पुत्र था। (प. पु./८/११४) इन्द्र द्वारा इसको किष्कुपुरका लोकपाल बनाया है। ((प पु./८/११५) फिर अन्तमे रावण द्वारा हराया गया था। (प. पु./८/४८१-४८५)। ४ दे० वैवस्वत यम।

यमक—विदेह क्षेत्रके उत्तरकुरु व देवकुरुमें सीता व सीतोदा नदीके दोनो तटोपर स्थित चित्रकूट, विचित्रकूट, यमकूट व मेघकूट नामवाले चार कूटाकार पर्वत।—दे० लोक/३/७।

यमदंड—रावणका मन्त्री था (प. पु /६६/११)।

यमदग्नि—एक बाल ब्रह्मचारी तापसी था। पक्षी वेशधारी दो देवोके कहनेसे एक छोटीसी लडकीको पालकर पीछे उससे विवाह किया, जिससे परशुरामकी उत्पत्ति हुई। (बृ क को./कथा/५६/पृ. ६६-१०३)।

यमदेव—भद्रशाल वनस्थ नील दिग्गजेन्द्र, स्वस्तिक व अजन शैलोका रक्षक देव—दे० लोक/७।

यमलीक—भगवान् वीरके तीर्थमे अन्तकृत केवली हुए है—दे० अन्तकृत्।

यव—क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

यवमध्य—दे० योग/५।

यवमध्य क्षेत्र—(ज प /प्र. ३१-३२) यह आकृति, क्षेत्रके उदग्र समतल द्वारा प्राप्तछेद (Vertical-section) है। इसका आगे पीछे (उत्तर-दक्षिण) विस्तार ७ राजु यहाँ चित्रित नही है। यहाँ यवमध्यका क्षेत्रफल = $(१\div२)\times\frac{१४}{५}=\frac{७}{५}$ वर्ग राजु, इसलिए ३५ यवमध्यका क्षेत्रफल = $\frac{७}{५}\times\frac{३५}{१}$ =४६ वर्ग राजु; इस प्रकार ३५ यवमध्यका घनफल=४६×७ घनराजु=३४३ घनराजु और एक यवमध्यका घनफल=$\frac{३४३}{३५}=९\frac{४}{५}$ घनराजु।
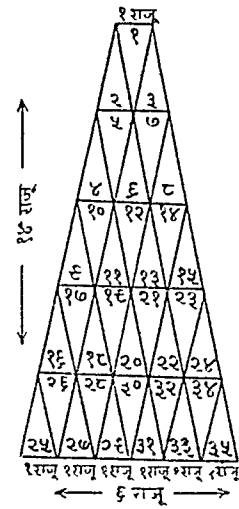
यवन—१. भरतक्षेत्र उत्तर आर्य खण्डका एक देश—दे० मनुष्य/४, २. यूनानका पुराना नाम है। (म. पु /प्र ५०/पन्नालाल)।

यवमुरजक्षेत्र—(ज. प./प्र ३१ यह आकृति क्षेत्रके उदग्र समतल द्वारा प्राप्त छेद (Verticalsection) है। इसका विस्तार ७ राजु यहाँ चित्रित नही है। यहाँ मुरजका क्षेत्रफल $\{(\frac{१}{२}$ रा. + १रा) $\div२\}\times१४$ रा. = $\{\frac{३}{२}\times\frac{१}{२}\}\times१४=\frac{३}{४}\times\frac{१४}{१}=\frac{६३}{५}$ वर्गराजु इसलिए, मुरजका घनफल $=\frac{६३}{५}\times७=\frac{४४१}{२}$ घनराजु= २२०$\frac{१}{२}$ घनराजु। एक यवका क्षेत्रफल=$(\frac{१}{२}$रा $\div२)\times\frac{१४}{५}$ राजु=$\frac{१}{४}\times\frac{७}{५}=\frac{७}{२०}$ वर्गराजु, इसलिए, २८ यवका क्षेत्रफल= $\frac{७}{२}\times\frac{५}{१}=\frac{३५}{२}$ घनराजु=१२२$\frac{१}{२}$ घनराजु।
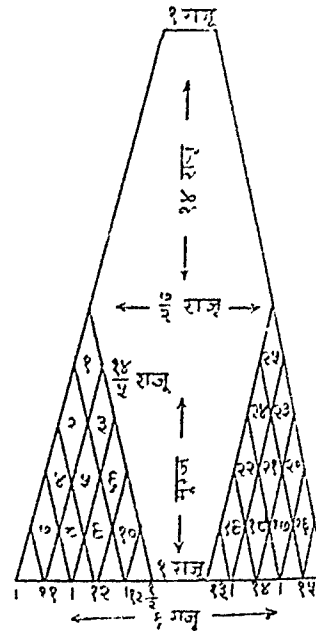
यशःकीर्ति—१. नन्दीसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप लोहाचार्य तृतीयके शिष्य तथा यशोनन्दिके गुरु थे। समय—वि श. १५३-२११।—दे० इतिहास/५/१३। २. काष्ठासंघकी गुर्वावलीके अनुसार आप क्षेमकीर्तिके गुरु थे। समय—वि. १०३० ई० ९७३ (प्रद्युम्नचरित्र/प्र प्रेमी), (ला स / १/६४-७०)—दे० इतिहास/५/६। ३. आप ललितकीर्तिके शिष्य तथा भद्रबाहुचरितके कर्ता रत्ननन्दि न० २ के सहचर थे। आपने धर्मशर्माभ्युदयकी रचना की थी। समय—वि०१२९६ ई० १२३९। (भद्रबाहु चरित/प्र/७/कामता) धर्मशर्माभ्युदय/प्र। प. पन्नालाल। ४. ई. श. १३ में जगत्सुन्दरीप्रयोगमालाके कर्ता हुए थे। (हि जै सा. इ./३०/कामताप्रसाद)। ५ आपने पाण्डवपुराण (अपभ्रंश) तथा हरिवंश पुराण (अपभ्रंश) की रचना की थी। समय—वि. १४९७-१५०७ (ई० १४४०-१४५०), (म. पु /प्र २०/ पं० पन्नालाल) ६. छठे यश कीर्ति एक भट्टारकके गुरु थे। जो पद्मनन्दि भट्टारकके शिष्य तथा क्षेमकीर्ति भट्टारकके गुरु थे। इनके गुरु क्षेमकीर्तिके समयमें ही प० राजमल्लजीने अपनी लाटीसंहिताकी रचना की थी। क्षेमकीर्तिके अनुसार इनका समय—वि १६१६ ई १५५९ आता है।

यशःकीर्ति—

स. सि./८/११/३९२/६ पुण्यगुणख्यापनकारणं यशःकीर्तिनाम। तत्प्रत्यनीकफलमयश कीर्तिनाम। =पुण्य गुणोकी प्रसिद्धिका कारण यश कीर्ति नामकर्म है। इससे विपरीत फलवाला अयश कीर्ति नामकर्म है (रा वा /८/११-१२/५७९/३२), (गो. क /जी प्र./३३/३०/१६)।

ध ६/१.९-१.२८/६६/१ जस्स कम्मस्स उदएण सताणमसताणं वा गुणाणमुब्भावण लोगेहि कीरदि, तस्स कम्मस्स जसकित्तिसण्णा। जस्स कम्मस्सोदएण सताणमसताणं वा अवगुणाणं उब्भावण जणेण कीरदे, तस्स कम्मस्स अजसकित्तिसण्णा। =जिस कर्मके उदयसे विद्यमान या अविद्यमान गुणोका उद्भावन लोगोके द्वारा किया जाता है, उस कर्मकी 'यश कीर्ति' यह सज्ञा है। जिस कर्मके उदयसे विद्यमान अवगुणोका उद्भावन लोक द्वारा किया जाता है, उस कर्मकी 'अयशःकीर्ति' यह सज्ञा है। (ध १३/५,५,१०१/३६६/५)।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. यशःकीर्तिकी बन्ध उदय व सत्त्व प्ररूपणाएँ व तत्सम्बन्धी शंका-समाधानादि। —दे० वह वह नाम।

२. अयशःकीर्तिका तीर्थंकर प्रकृतिके साथ बन्ध व तत्सम्बन्धी शंका। —दे० प्रकृतिबन्ध/६।

यश—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

यशपाल—अपरनाम जयपाल था। अतः—दे० जयपाल।

यशस्तिलकचम्पू—आ० सोमदेव (ई० ६४३-६६८) द्वारा रचित यह संस्कृत भाषाका चम्पू ग्रन्थ यशोधरचरित्रका वर्णन करता है। काव्य, अलंकार आदि अनेकों कलाओंसे पूर्ण है। परन्तु इस ग्रन्थमें कई स्थलोंपर शिथिलाचार पोषक बातें लिखी होनेके कारण आ. सोमदेवको प्रमाण नहीं माना जाता।

यशस्वान्—१. वर्तमान कालीन नवमें कुलकर हुए है। (विशेष दे० शलाका पुरुष/६), २ किंपुरुष नामा जाति व्यन्तर देवका एक भेद—दे० किंपुरुष।

यशस्वान् देव—मानुषोत्तर पर्वतस्थ वैडूर्यकूटका भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे० लोक/७।

यशस्विनी—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे०लोक/७।

यशस्वी—वर्तमानकालीन ६वें कुलकरका अपरनाम है—दे० यशस्वान्।

यशोदेव—यशस्तिलकचम्पूके कर्ता सोमदेवके दादा गुरु और नेमिदेवके गुरु थे। सोमदेवके अनुसार इनका समय—ई. श. १० (ई० ६१८-६४३) (यो सा./प्र./श्रीलाल)।

यशोधर—१. भूतकालीन उन्नीसवें तीर्थंकर—दे० तीर्थंकर/५। २. नव ग्रैवेयकका चतुर्थ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/२। ३ मानुषोत्तर पर्वतस्थ सौगन्धिक कूटका स्वामी भवनवासी सुपर्णकुमार देव। —दे० लोक/७।

यशोधरचरित्र—इस विषयके कई ग्रन्थ है—१. आ० सोमदेव (ई० ६४३-६६८) द्वारा रचित यशस्तिलकचम्पू। २. आ० वादिराज (ई १०००-१०४०) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध यशोधरचरित्र। ३. आ० वादीभसिंह (ई० १०१५-११५०) द्वारा रचित गद्यचिन्तामणि। ४. आ० वादीभसिंह (ई. १०१५-११५०) द्वारा रचित क्षत्रचूडामणि। ५. आ० सकलकीर्ति (ई १४३३-१४७३) द्वारा रचित यशोधरचरित्र। ६ आ० श्रुतसागर (ई १४७३-१५३३) कृत यशोधरचरित्र।

यशोधरा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

यशोधर्म—दे० विष्णु यशोधर्म।

यशोनंदि—नन्दिसंघबलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप यश कीर्तिके शिष्य तथा देवनन्दिके गुरु थे। समय—वि. स. २११-२५८ (ई० २६६-३३६)—दे० इतिहास/५/१३।

यशोबाहु—दे० भद्रबाहु।

यशोभद्र—१. श्रुतावतारकी पट्टावलीके अनुसार आप भगवान् वीरके पश्चात् मूल गुरु परम्परामें केवल १ अंगधारी अथवा दूसरी मान्यतानुसार केवल आचारांगधारी थे। आपके अपरनाम अभय व भद्र थे। समय—वी. नि ४७४-४९२ ई पू ५३-३५—दे० इतिहास/४/१। २ आप बड़े तार्किक व वादि विजेता थे। समय—पूज्यपादके पूर्ववर्ती थे। (म पु/प्र ४५/पन्नालाल)।

यशोभद्रा—नन्दीश्वरद्वीपकी उत्तर दिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

यशोरथ—उज्जयिनी नगरीका राजा था। पुत्रकी मृत्युपर विरक्त हो दीक्षा धारण की। (बृ क. को./कथा ५/पृ. १५-१६)।

यशोवर्मा—भोजवंश (दे० इतिहास) में यह नरवर्माके पुत्र और अजयवर्माके पिता थे। मालवा (मगध) देशके राजा थे। समय—ई० ११४३-११५३—दे० इतिहास/३/४।

यशोविजय—आप श्वेताम्बर सम्प्रदायके सुप्रसिद्ध आचार्य हुए हे। आपका जन्म वि. १६८० में और स्वर्गवास वि. १७४५ में हुआ था। आप नयविजयके शिष्य थे। आपने संस्कृत भाषामें लगभग ५०० ग्रन्थ रचे हैं। एक 'जसविलास' नामका हिन्दी पदसंग्रह भी इनकी कृति है। इनसे पहले प हेमचन्दजीने श्वेताम्बरियोंके प्रति 'सितपट चोरासी बोल' नामकी एक पुस्तक लिखी थी। उसके उत्तरमें आपने 'दिग्पट चौरासी बोल' नामकी पुस्तक लिखी। आपकी कृतियाँ—जैनतर्क (भाषा), शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका, गुरुतत्त्वविनिश्चय, अष्टसहस्रीविवरण, स्याद्वादमंजरी पर स्याद्वादमंजूषा नामकी वृत्ति, जयविलास (भाषा पद-संग्रह), दिग्पट चोरासी बोल इत्यादि ५०० ग्रन्थ। समय—वि. १६९५-१७४५ (ई. १६३८-१६८८)। (सि. वि /प्र. ४३/महेन्द्र), (हिं. जै. सा. इ /१५२ कामता प्रसाद)।

याग—दे० यज्ञ।

याज्ञिकमत—गो जी./जी. प्र /६८/१७८/६ संसारिजीवस्य मुक्तिर्नास्ति। =संसारी जीवकी कभी मुक्ति नहीं होती है, ऐसा याज्ञिकमतवाले मानते है।

याचना—याचनाका कथंचित् विधिनिषेध—दे० भिक्षा/१।

याचना परिषह—स. सि /९/९/४२५/१ बाह्याभ्यन्तरतपोऽनुष्ठानपरस्य तद्भावनावशेन निस्तारीकृतमूर्तेः पटुतपनतापनिष्पीतसारतरोरिव विरहितच्छायस्य त्वगस्थिशिराजालमात्रतनुयन्त्रस्य प्राणात्यये सत्यप्याहारवसतिभेषजादीनि दीनाभिधानमुखवैवर्ण्याङ्गसंज्ञादिभिरयाचमानस्य भिक्षाकालेऽपि विद्युदुद्योतवत् दुरुपलक्ष्यमूर्तेर्याचनापरिषहसहनमवसीयते। =जो बाह्य और आभ्यन्तर तपके अनुष्ठान करनेमें तत्पर है, जिसने तपकी भावनाके कारण अपने शरीरको सुखा डाला हे, जिसका तीक्ष्ण सूर्यके तापके कारण सार व छाया रहित वृक्षके समान त्वचा, अस्थि और शिराजाल मात्रसे युक्त शरीरयन्त्र रह गया है, जो प्राणो का वियोग होनेपर भी आहार, वसति और दवाई आदिको दीन शब्द कहकर, मुखकी विवर्णता दिखाकर व संज्ञा आदिके द्वारा याचना नहीं करता, तथा भिक्षाके समय भी जिसकी मूर्ति बिजलीकी चमकके समान दुरुपलक्ष्य रहती है, ऐसे साधुके याचना परिषहजय जानना चाहिए। (रा. वा /९/९/१६/६११/१०), (चा. सा./१२२/२)।

याचनीभाषा—दे० भाषा।

यादव वंश—दे० इतिहास/७/१०।

यान—ध. १४/५.६.४१/३८/८ समुद्दमज्झे विविहभंडेहि आवूरिदा संता जे गमणक्खमा वोहित्ता ते जाणा णाम। =नाना प्रकारके भाण्डोसे आपूरित होकर भी समुद्रमें गमन करनेमें समर्थ जो जहाज होते है वे यान कहलाते है।

यापनीय संघ—दे० इतिहास/५/२४।

याम—Coordinates (ज. प /प्र /१०८)।

यावानुद्देश—उद्दिष्ट आहारका एक दोष। —दे० उद्दिष्ट।

युक्त—स सि./५/२०/३०१/१ समाधिवचनो वा युक्तशब्दः। युक्त' समाहितस्तदात्मक इत्यर्थ'। =यह युक्त शब्द समाधिवाची है। भाव यह है कि युक्त, समाहित और तदात्मक ये तीनो एकार्थवाची शब्द है।

युक्तानन्त—दे० अनन्त।

युक्तासंख्यात—दे० असंख्यात।

युक्ति—दे० तर्क।

युक्ति चिंतामणि सत्त्व—आ. सोमदेव (ई ९४३-९६८) कृत न्याय विषयक ग्रन्थ।

युक्त्यनुशासन—आ समन्तभद्र (ई. श २) कृत सस्कृत छन्दोमें रचा गया ग्रन्थ है। इसमें न्याय व युक्तिपूर्वक जिनशासनकी स्थापना की है। इसमे ६४ श्लोक है। इसपर पीछे आ. विद्यानन्दि (ई ७७५-८४०) द्वारा युक्त्यनुशासनालंकार नामकी वृत्ति लिखी गयी है।

युग—१. दो कल्पोका एक युग होता है। २ युगका प्रारम्भ—दे० काल/४। ३ कृतयुग या कर्मभूमिका प्रारम्भ—दे० काल/४। ४. क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपरनाम दण्ड, मुसल, नाली—दे० गणित/-I/१। ५ कालका प्रमाण विशेष। ६ दे० गणित/I/१।

युग—ध. १४/५,६,४१/३८/६ गरुवत्तणेण महल्लत्तणेण य जं तुरय-वेसरादीहि वुब्भदि त जुग णाम। =जो बहुत भारी होनेसे और बहुत बडे होनेसे घोडा और खच्चर आदिके द्वारा ढोया जाता है, वह युग कहलाता है।

युगकंधर—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

युगपत्—स्या म./२३/२८४/८ यदा तु तेषामेव धर्माणा कालादिभिर-भेदेन वृत्तमात्मरूपमुच्यते तदैकेनापि शब्देनैकधर्मप्रत्यायनमुखेन तदात्मकतामापन्नस्यानेकाशेषधर्मरूपस्य वस्तुन· प्रतिपादनसम्भवाद् यौगपद्यम्। =जिस समय वस्तुके अनेक धर्मोंका काल आदिसे अभेद सिद्ध करना होता है, उस समय एक शब्दसे यद्यपि वस्तुके एक धर्मका ज्ञान होता है, परन्तु एक शब्दसे ज्ञात इस एक धर्मके द्वारा ही पदार्थोंके अनेक धर्मोका ज्ञान होता है। इसे वस्तुओका एक साथ (युगपत) ज्ञान होना कहते है। (स. भ. त./३३/३)।

युगादिपुरुष—युगके आदिमें होनेसे कुलकरोको ही युगादिपुरुष कहते है। ये मुख्यत १४ होते है। इन १४ कुलकरोका परिचय —दे० शलाकापुरुष/६।

युग्म—ध १०/४,२,४,३/२२/६ जुम्म सममिदि एयट्ठो। त दुविहं कद-बादरजुम्मभेएण। तत्थ जो रासी चदुहि अवहिरिज्जदि सो कद-जुम्मो। जो रासी चदुहि अवहिरिज्जमाणो दोरूवग्गो होदि सो बादरजुम्म। =युग्म और सम ये एकार्थवाचक शब्द है। वह कृत-युग्म और बादरयुग्मके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे जो राशि चारसे अवहृत होती है वह कृतयुग्म कहलाती है। जिस राशिको चारमे अवहृत करने पर दो रूप (२) शेष रहते है वह बादरयुग्म कहलाती है।

युग्मचतुष्ट्य—दे० अनेकान्त/४।

युत सिद्ध—

' क्रा /ता वृ /५०/९९/८ दण्डदण्डिवद्भिन्नप्रदेशलक्षणयुतसिद्धत्व। =दण्ड और दण्डीकी भाँति प्रदेश भिन्न है लक्षण जिसका वह युतसिद्ध कहलाता है।

★ **द्रव्य गुण व पर्याय अयुत सिद्ध है**—दे० द्रव्य/४।

युति—

ध. १३/५,५,८२/३४८/६ सामीप्य संयोगो वा युति'। =समीपता या संयोगका नाम युति है।

२. युतिके भेद

ध. १३/५,५,८२/३४८/६ तत्थ दव्वजुडी तिविहा-जीवजुडी पोग्गलजुडी जीव-पोग्गलजुडी चेदि। तत्थ एक्कम्हि कुले गामणयरे बिले गुहाए अडईए जीवाणं मेलणं जीवजुडी णाम। वाएण हिंडिज्जमाणपण्णाणं व एक्कम्हि देसे पोग्गलाण मेलणं पोग्गलजुडी णाम। जीवाण पोग्ग-लाणं च मेलणं जीवपोग्गलजुडी णाम। अथवा दव्वजुडी जीव-पोग्गल-धम्माधम्मकाल-आगासाणमेगादिसंजोगेण उप्पादेदव्वा। जीवादि दव्वाणं णिरयादिखेत्तेहि सह मेलणं खेत्तजुडी णाम। तेसिं चेव दव्वाणं दिवस-माससंवच्छरादिकालेहिं सह मेलणं कालजुडी णाम। कोह-माण-माया-लोहादीहि सह मेलण भाव-जुडी णाम। =१. यहाँ द्रव्य युति तीन प्रकार की है—जीवयुति, पुद्गलयुति और जीव-पुद्गलयुति। इनमेंसे एक कुल, ग्राम, नगर, बिल, गुफा या अटवीमें जीवोंका मिलना जीवयुति है। वायुके कारण हिलनेवाले पत्तोंके समान एक स्थानपर पुद्गलोका मिलना पुद्गलयुति है। जीव और पुद्गलोंका मिलना जीव-पुद्गल युति है। अथवा जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश इनके एक आदि सयोगके द्वारा द्रव्य-युति उत्पन्न करानी चाहिए। २ जीवादि द्रव्योका नारकादि क्षेत्रोंके साथ मिलना क्षेत्र-युति है। ३ उन्ही द्रव्योंका दिन, महीना और वर्ष आदि कालोंके साथ मिलाप होना कालयुति है। ४. क्रोध, मान, माया और लोभादिकके साथ उनका मिलाप होना भावयुति है।

३. युति व बन्धमें अन्तर

ध. १३/५,५,८२/३४८/६ युति-बन्धयो. को विशेष;। एकीभावो बन्ध, सामीप्यं सयोगो वा युति। =प्रश्न—युति और बन्धमें क्या भेद है? उत्तर—एकीभावका नाम बन्ध है और समीपता या संयोगका नाम युति है।

युधिष्ठिर—पा. पु./सर्ग न./श्लोक नं. पूर्वके दूसरे भवमे सोमदत्त नामका ब्राह्मण पुत्र था (२१/८१) पूर्व भवमें आरण स्वर्गमें देव था (२३/११२)। वर्तमान भवमें पाण्डु राजाका कुन्ती रानीसे पुत्र था (८/१४३,२४/७४) अपने ताऊ भीष्म व गुरु द्रोणाचार्यसे क्रमसे शिक्षा व धनुर्विद्या प्राप्त की (८/२०८-२१४)। प्रवास कालमें अनेकों कन्याओसे विवाह किया (१२/३३,१३/१६०)। दुर्योधनके साथ जुएमें हारने पर १२ वर्षका वनवास मिला (१६/१०४-१२५)। वनमें मुनियोके दर्शन होने पर स्व निन्दा की (१७/४)। अन्तमें अपने पूर्व भव सुनकर दीक्षा ग्रहण की (२५/१२)। तथा घोर तप किया (२५/१७-५१)। दुर्योधनके भानजे कुर्यधर कृत उपसर्गको जीत मोक्ष प्राप्त किया (२५/५२-१३३) (विशेष दे० पाण्डव)।

युवती—चक्रवर्तीके १४ रत्नोमेंसे एक—दे० शलाका पुरुष/२।

युवेनच्वांग—एक चीनी यात्री था। ई. ६२९-६४५ मे भारतकी यात्रा की। (सि वि./२५/पं. महेन्द्र)।

यूक—अपरनाम जूँ। क्षेत्रका प्रमाण—दे० गणित/I/१।

यूनान—वर्तमान ग्रीक (ग्रीस), (म. पु /प्र ५०/प पन्नालाल)।

योग—कर्मोंके संयोगके कारण भूत जीवके प्रदेशोका परिस्पन्दन योग कहलाता है अथवा मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिके प्रति जीवका उपयोग या प्रयत्न विशेष योग कहलाता है, जो एक होता हुआ भी मन, वचन आदिके निमित्तकी अपेक्षा तीन या पन्द्रह प्रकार का है।

ये सभी योग नियमसे क्रम-पूर्वक ही प्रवृत्त हो सकते है, युगपत् नहीं। जीव भावकी अपेक्षा पारिणामिक है और शरीरकी अपेक्षा क्षायोपशमिक या औदयिक है।

१. योगके भेद व लक्ष

१. योग सामान्यका लक्षण

१. निरुक्ति अर्थ

रा. वा./७/१३/४/५४०/३ योजन योग' संबन्ध इति यावत ।= सम्बन्ध करनेका नाम योग है।

ध. १/१,१,४/१३६/६ युज्यत इति योग ।=जो सम्बन्ध अर्थात् संयोग-को प्राप्त हो उसको योग कहते है।

२. जीवका वीर्य या शक्ति विशेष

पं स /प्रा./१/८८ मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरियपरिणामो। जीवस्स (जिह) प्पणिजोगो जोगो त्ति जिणेहि णिदिट्ठो। =मन, वचन और कायसे युक्त जीवका जो वीर्य-परिणाम अथवा प्रदेश परि-स्पन्द रूप प्रणियोग होता है, उसे योग कहते है।८८। (ध. १/१,१,४/ गा ८८/१४०), गो. जी./मू /२१६/४७२)।

रा वा/६/७/११/६०३/३३ वीर्यान्तरायक्षयोपशमलब्धवृत्तिवीर्यलब्धि-र्योग तद्वत आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बन प्रदेशपरिस्पन्द उपयोगो योग ।=वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे प्राप्त वीर्यलब्धि योग-का प्रयोजक होती है। उस सामर्थ्यवाले आत्माका मन, वचन और काय वर्गणा निमित्तिक आत्म प्रदेशका परिस्पन्द योग है।

दे० योग/२/६ (क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवका उपयोग होता है वह योग है।)

३. आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द या संकोच विस्तार

स. सि /२/२६/१८३/१ योगो वाङ्मनसकायवर्गणानिमित्त आत्म-प्रदेशपरिस्पन्द । =वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्म प्रदेशोके हलन-चलनको योग कहते है। (स. सि /६/१/३१८/५); (रा वा /२/२६/४/१३७/८), (रा वा /६/ १/१०/५०५/१५), (ध /१/१,१,६०/२६६/७), (ध ७/२,१,२/६/६), (ध. ७/२,१,१५/१७/१०), (प. का./त प्र /१४८); (द्र स. टी / ३०/८८/६), (गो जी /जी प्र /२१६/४७३/१८)।

रा. वा./६/७/११/६०३/३४ आत्मनो मनोवाक्कायवर्गणालम्बन प्रदेश-परिस्पन्द उपयोगो योग । =मन, वचन और काय वर्गणा निमि-त्तक आत्मप्रदेशका परिस्पन्द योग है। (गो. जी /म. प्र./२१६/ ४७४/१)।

ध. १/१,१,४/१४०/२ आत्मप्रदेशानां संकोचविकोचो योग'।= आत्मप्रदेशोके सकोच और विस्तार रूप होनेको योग कहते है। (ध ७/२,१,२/६/१०)।

ध. १०/४,२,४,१७५/४३७/७ जीव पदेसाणं परिप्फदो सकोचविकोच-ब्भमणसरूवओ। =जीव प्रदेशोका जो संकोच-विकोच व परिभ्रमण रूप परिस्पन्दन होता है वह योग कहलाता है।

४ समाधिके अर्थमें

नि. सा./मू १३९ विवरीयाभिणिवेसं परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु। जो जुजदि अप्पाणं णियभावो सोहवे जोगो।१३९। =विपरीत अभिनिवेशका परित्याग करके जो जैन कथित तत्त्वोमें आत्माको लगाता है, उसका निजभाव वह योग है।

स. सि /६/१२/३३१/३ योग समाधि सम्यक्प्रणिधानमित्यर्थ ।=योग, समाधि और सम्यक् प्रणिधान ये एकार्थवाची नाम हैं। (गो. क / जी. प्र./८०१/९८०/१३); (व यो दे /६/२/१६/६७२)।

रा. वा./६/१/१२/५०५/२७ युजे समाधिवचनस्य योग समाधि ध्यान-मित्यनर्थान्तरम्। =योगका अर्थ समाधि और ध्यान भी होता है।

रा वा /६/१२/८/५२२/३१ निरवद्यस्य क्रियाविशेषस्यानुष्ठान योग समाधि, सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थ ।=निरवद्य क्रियाके अनुष्ठानको योग कहते है। योग, समाधि और सम्यक्प्रणिधान ये एकार्थवाची है। (द. पा./टी /६/८/१४)।

दे० सामायिक/१ साम्यका लक्षण (साम्य, समाधि, चित्तनिरोध व योग एकार्थवाची है।)

दे० मौन/१ (बहिरन्तर जल्पको रोककर चित्त निरोध करना योग है।)

५ वर्षादि काल स्थिति

द. पा./टी./६/८/१४ योगश्च वर्षादिकालस्थितिः। =वर्षादि ऋतुओकी काल स्थितिको योग कहते है।

२. योगके भेद

१. मन वचन कायकी अपेक्षा

ष ख. १/१,१/सू. ४७,४८/२७८,२८० जोगाणुवादेण अत्थि मणजोगी वचजोगी कायजोगी चेदि।४७। अजोगि चेदि।४८।=योग मार्गणाके अनुवादकी अपेक्षा मनोयोगी वचन योगी और काययोगी जीव होते है।४८। (बा. अ /४९), (त. सू./६/१) (ध. ८/३,६/२१५); (ध. १०/४,२,४,१७५/४३७/६), (द्र. स./टी./१३/३७/७), (द्र. सं / टी /३०/८९/६)।

स. सि /८/१/३७६/१ चत्वारो मनोयोगाश्चत्वारो वाग्योगा पञ्च काय-योगा इति त्रयोदशविकल्पो योग'। =चार मन योग, चार वचन योग और पाँच काय योग ये योगके तेरह भेद है। (रा. वा /८/१/ २९/५६४/२६), (रा. वा./६/७/११/६०३/३४), (द्र. स /टी./३०/८९/ ७-१३/३७/७), (गो. जी./मू./२१७/४७५), (विशेष दे. मन, वचन, काय)।

२ शुभ व अशुभ योगकी अपेक्षा

ब. आ /४९-५०... मणवचिकायेण पुणो जोगो..।४९। असुहेदरभेदेण दु एक्केक्कं वण्णिदं हवे दुविह /. ।५०। =मन, वचन, और काय ये तीनो योग शुभ और अशुभ के भेदसे दो-दो प्रकारके होते है। (न. च. वृ /३०८)।

रा. वा./६/३/२/५०७/१ तस्मादनन्तविकल्पादशुभयोगादन्य शुभयोग इत्युच्यते। =अशुभ योगके अनन्त विकल्प है, उससे विपरीत शुभ योग होता है।

३. त्रिदण्डके भेद-प्रभेद

चा. सा./९९/६ दण्डस्त्रिविध', मनोवाक्कायभेदेन। तत्र रागद्वेषमोह-विकल्पात्मा मानसो दण्डस्त्रिविध'। =मन, वचन, कायके भेदसे दण्ड तीन प्रकार का है, और उसमें भी राग द्वेष, मोहके भेदसे मानसिक दण्ड भी तीन प्रकार है।

४. द्रव्य भाव आदि योगोंके लक्षण

गो. जी./जी प्र./२१६/४७३/१५ कायवाङ्मनोवर्गणावलम्बिन. ससा-रिजीवस्य लोकमात्रप्रदेशगता कर्मादानकारणं या शक्ति सा भाव-योग । तद्विशिष्टात्मप्रदेशेषु य' किंचिच्चलनरूपपरिस्पन्द' स द्रव्य-योग । =जो मनोवाक्कायवर्गणाका अवलम्बन रखता है ऐसे ससारी जीवकी जो समस्त प्रदेशोमें रहनेवाली कर्मोके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्ति है उसको भावयोग कहते हैं। और इसी प्रकारके जीवके प्रदेशोका जो परिस्पन्द है उसको द्रव्ययोग कहते है।

५. निक्षेप रूप भेदोंके लक्षण

नोट—नाम स्थापनादि योगोंके लक्षण – दे० निक्षेप।

ध. १०/४,२,४,१७५/४३३-४३४/४ तव्वदिरित्तदव्वजोगो अणेयविहो। तं जहा सूर-णक्खत्तजोगो चद-णक्खत्तजोगोगह णक्खत्तजोगो कोणं-

गारजोगो चुण्णजोगो मंतजोगो इच्चेवमादओ। णोआगमभावजोगो तिविहो गुणजोगो सभवजोगो जुंजणजोगो चेदि। तत्थ गुणजोगो दुविहो सच्चित्तगुणजोगो अच्चित्तगुणजोगो चेदि। तत्थ अच्चित्त-गुणजोगो जहा रूव-रस-गध-फासादीहि पोग्गलदव्वजोगो, आगासादीणमप्पप्पणो गुणेहि सह जोगो वा। तत्थ सच्चित्तगुणजोगो पंचविहो—ओदइओ ओवसमिओ खइओ खओवसमिओ पारिणामिओ चेदि।.. इंदो मेरुं चालइदुं समत्थो त्ति एसो सभवजोगो णाम। जोसो जुंजणजोगो सो तिविहो उववादजोगो एगताणुवड्ढिजोगो परिणामजोगो चेदि। =तद्व्यतिरिक्त **नोआगम द्रव्य** योग अनेक प्रकारका है यथा —सूर्य-नक्षत्रयोग, चन्द्र-नक्षत्रयोग, कोण अंगारयोग, चूर्णयोग व मन्त्रयोग इत्यादि। **नोआगम भावयोग** तीन प्रकारका है। गुणयोग, सम्भवयोग, और योजनायोग। उनमेंसे **गुणयोग** दो प्रकारका है—सचित्तगुणयोग और अचित्तगुणयोग। उनमेंसे **अचित्तगुणयोग**—जैसे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणोसे पुद्गल द्रव्यका योग, अथवा आकाशादि द्रव्योंका अपने-अपने गुणोके साथ योग। उनमेंसे **सचित्तगुण योग** पॉच प्रकारका है—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक (इनके लक्षण दे० वह वह नाम) इन्द्र मेरु पर्वतको चलानेके लिए समर्थ है, इस प्रकारका जो शक्तिका योग है वह **सम्भवयोग** कहा जाता है। जो **योजना**—(मन, वचन-कायका व्यापार) योग है वह तीन प्रकारका है—उपपादयोग, एकान्तानुवृद्धियोग, और परिणामयोग—दे० योग/५।

२. योगके भेद व लक्षण सम्बन्धी तर्क-वितर्क

१. वस्त्रादिके संयोगसे व्यभिचार निवृत्ति

ध १/१,१,४/१३६/८ युज्यत इति योग'। न युज्यमानपटादिना व्यभिचारस्तस्यानात्मधर्मत्वात्। न कषायेण व्यभिचारस्तस्य कर्मादानहेतुत्वाभावात्। =प्रश्न—यहाँपर जो संयोगको प्राप्त हो उसे योग कहते है, ऐसी व्याप्ति करनेपर सयोगको प्राप्त होनेवाले वस्त्रादिकसे व्यभिचार हो जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योकि सयोगको प्राप्त होने वाले वस्त्रादिक आत्माके धर्म नहीं है। प्रश्न—कषायके साथ व्यभिचार दोष आ जाता है। (क्योंकि कषाय तो आत्माका धर्म है, और सयोगको भी प्राप्त होता है।) उत्तर—इस तरह कषायके साथ भी व्यभिचार दोष नही आता, क्योंकि कषाय कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण नहीं पडती है।

२. मेघादिके परिस्पन्दमें व्यभिचार निवृत्ति

ध. १/१,१,७६/३१६/७ अथ स्यात्परिस्पन्दस्य बन्धहेतुत्वे संचरदभ्राणामपि कर्मबन्ध प्रसजतीति न, कर्मजनितस्य चैतन्यपरिस्पन्दस्यास्रवहेतुत्वेन विवक्षितत्वात्। न चाभ्रपरिस्पन्द कर्मजनितो येन तद्धेतुतामास्कन्देत्। =प्रश्न—परिस्पन्दको बन्धका कारण माननेपर सचार करते हुए मेघोके भी कर्मबन्ध प्राप्त हो जायेगा, क्योंकि, उनमे भी परिस्पन्द पाया जाता है। उत्तर—नहीं, क्योकि कर्मजनित चेतन्य परिस्पन्द ही आस्रवका कारण है, यह अर्थ यहाँ विवक्षित है। मेघोंका परिस्पन्द कर्मजनित तो है नही, जिससे वह कर्म बन्धके आस्रवका हेतु हो सके, अर्थात् नही हो सकता।

३. पस्परिन्द व गतिमें अन्तर

ध ७/२,१,३३/७७/२ इंदियविसयमइक्कतजीवपदेसपरिप्फदस्स इंदिएहि उवलंभविरोहादो। ण जीवे चलते जीवपदेसाणं सकोच-विकोचणियमो. सिज्झतपढमसमए एत्तो लोअग्गं गच्छंतम्मि जीवपदेसाण सकोचविकोचाणुवलभा। =इन्द्रियोके विषयसे परे जो जीव प्रदेशोका परिस्पन्द होता है, उसका इन्द्रियों द्वारा ज्ञान मान लेनेमें विरोध आता है। जीवोके चलते समय जीवप्रदेशोंके सकोच-विकोचका नियम नही है, क्योकि, सिद्ध होनेके प्रथम समयमें जब यह जीव यहाँसे अर्थात् मध्यलोकसे, लोकके अग्रभागको जाता है तब इसके जीव प्रदेशोंमें सकोच-विकोच नहीं पाया जाता। (और भी दे० जीव/४/६)।

दे० जीव/२/६ (क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवका उपयोग होता है, वही वास्तवमें योग है।)

ध. ७/२,१,१५/१७/१० मण-वयण-कायपोग्गलालंबणेण जीवपदेसाणं परिप्फदो। जदि एव तो णत्थि अजोगिणो सरीरियस्स जीवदव्वस्स अकिरियत्तविरोहादो। ण एस दोसो, अट्ठकम्मेसु खीणेसु जा उड्ढगमणुवलबिया किरिया सा जीवस्स साहाविया, कम्मोदएण विणा पउत्तत्तादो। सट्ठिददेसमछंडिय छड्डित्ता वा जीवदव्वस्स सावयवेहि परिप्फदो अजोगो णाम, तस्स कम्मक्खयत्तादो। तेण सक्किरिया विसिद्धा अजोगिणो, जीवपदेसाणमद्दहिदजलपदेसाणं व उव्वत्तण-परियत्तणकिरिया भावादो। तदो ते अबधा त्ति भणिदा। =मन, वचन और काय सम्बन्धी पुद्गलोंके आलम्बनसे जो जीवप्रदेशोका परिस्पन्दन होता है वही योग है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो शरीरी जीव अयोगी हो ही नहीं सकते, क्योकि शरीरगत जीवद्रव्यको अक्रिय माननेमें विरोध आता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योकि आठो कर्मोंके क्षीण हो जानेपर जो ऊर्ध्वगमनोपलम्भी क्रिया होती है वह जीवका स्वाभाविक गुण है, क्योकि वह कर्मोदयके विना प्रवृत्त होती है। स्वस्थित प्रदेशको न छोडते हुए अथवा छोडकर जो जीवद्रव्यका अपने अवयवो द्वारा परिस्पन्द होता है वह अयोग है, क्योकि वह कर्मक्षयसे उत्पन्न होता है। अत सक्रिय होते हुए भी शरीरी जीव अयोगी सिद्ध होते है। क्योकि उनके जीवप्रदेशोके तप्तायमान जल प्रदेशोके सदृश उद्वर्तन और परिवर्तन रूप क्रियाका अभाव है।

४. परिस्पन्द लक्षण करनेसे योगोंके तीन भेद नहीं हो सकेंगे

ध. १०/४,२,४,१७५/४३८/१ जदि एवं तो तिण्ण पि जोगाण-मक्कमेण वुत्ती पावदित्ति भणिदे—ण एस दोसो, जदट्ठ जीवपदेसाणं पढम परिप्फंदो जादो अण्णम्मि जीवपदेसपरिप्फदमहकारिकारणे जादे वि तस्सेव पहाणत्तदसणेण तस्स तव्ववएसविराहाभावादो। =प्रश्न—यदि ऐसा है (तीनो योगोका ही लक्षण आत्म-प्रदेश परिस्पन्द है) तो तीनो ही योगोका एक साथ अस्तित्व प्राप्त होता है। उत्तर—नही, यह कोई दोष नही है। (सामान्यत तो योग एक ही प्रकारका है) परन्तु जीव-प्रदेश परिस्पन्दके अन्य सहकारी कारणके होते हुए भी जिस (मन, वचन व काय) के लिए जीव-प्रदेशोका प्रथम परिस्पन्द हुआ है उसकी हो प्रधानता देखी जानेसे उसकी उक्त (मन, वचन वा काययोग) सज्ञा होनेमें कोई विरोध नही है।

५. परिस्पन्द रहित होनेसे आठ मध्यप्रदेशोंमें बन्ध न हो सकेगा

ध १२/४,२,११,३/३६६/१० जीवपदेसाण परिप्फदाभावादो। ण च परिप्फदविरहियजीवपदेसेसु जोगो अत्थि, सिद्धाण पि सजोगत्तावत्तीदो त्ति। एत्थ परिहारो वुच्चदे—मण-वयण-कायकिरियासमुप्पत्तीए जीवस्स उवजोगो जोगो णाम। सो च कम्मबधस्स कारण। ण च सो थोवेसु जीवपदेसेसु होदि, एगजीवपयत्तस्स थोवावयवेसु चेव वुत्तिविरोहादो एक्कम्हि जीवे खडखंडेणपयत्तविरोहादो वा। तम्हा ट्ठिदेसु जीवपदेसेसु कम्मबधो अत्थि त्ति णव्वदे। ण जोगादो णियमेण जीवपदेसपरिप्फदो होदि तस्स तत्तो अणियमेण समुप्पत्तीदो। ण च एक्कातेण णियमो णत्थि चेव, जदि उप्पज्जदि तो तत्तो चेव उप्पज्जदि त्ति णियमुवलभादो। तदो ट्ठिदाण पि जोगो

अत्थि त्ति कम्मबंधभूयमिच्छियव्वं । =प्रश्न—जीव-प्रदेशोंका परिस्पन्द न होनेसे ही जाना जाता है कि वे योगसे रहित है। और परिस्पन्दसे रहित जीवप्रदेशोमें योगकी सम्भावना नही है, क्योकि वैसा होनेपर सिद्ध जीवोके भी सयोग होनेकी आपत्ति आती है? उत्तर—उपर्युक्त शकाका परिहार करते हैं—१. मन, वचन एवं काय सम्बन्धी क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवका उपयोग होता है, वह योग है, और वह कर्मबन्धका कारण है। परन्तु वह थोडेसे जीवप्रदेशोमें नही हो सकता, क्योकि एक जीवमें प्रवृत्त हुए उक्त योगकी थोडेमे ही अवयवोमें प्रवृत्ति माननेमें विरोध आता है। अथवा एक जीवमें उसके खण्ड-खण्ड रूपसे प्रवृत्त होनेमें विरोध आता है। इसलिए स्थित जीवप्रदेशोमे कर्मबन्ध होता है, यह जाना जाता है। २ दूसरे योगसे जीवप्रदेशोमें नियमसे परिस्पन्द होता है, ऐसा नही है; क्योकि योगसे अनियमसे उसकी उत्पत्ति होती है। तथा एकान्ततः नियम नही है, ऐसी बात भी नही है, क्योंकि यदि जीवप्रदेशोमें परिस्पन्द उत्पन्न होता है, तो योगसे ही उत्पन्न होता है, ऐसा नियम पाया जाता है। इस कारण स्थित जीवप्रदेशोंमे भी योगके होनेसे कर्मबन्धको स्वीकार करना चाहिए।

६. योगमें शुभ-अशुभपना क्या

रा वा /६/३/२-३/५०७/६ कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् । …शुभपरिणामनिर्वृत्तो योग शुभः, अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभ इति कथ्यते, न शुभाशुभकर्मकारणत्वेन । यद्येवमुच्येत, शुभयोग एव न स्यात्, शुभयोगस्यापि ज्ञानावरणादिबन्धहेतुत्वाभ्युपगमात् । =प्रश्न—योगमें शुभ व अशुभपना क्या? उत्तर—शुभ परिणामपूर्वक होनेवाला योग शुभयोग है, तथा अशुभ परिणामसे होनेवाला अशुभयोग है। शुभ-अशुभ कर्मका कारण होनेसे योगमें शुभत्व या अशुभत्व नही है क्योकि शुभयोग भी ज्ञानावरण आदि अशुभ कर्मोंके बन्धमें भी कारण होता है।

७. शुभ-अशुभ योगको अनन्तपना कैसे है

रा वा /६/३/२/५०७/४ असख्येयलोकत्वादध्यवसायावस्थानाना कथमनन्तविकल्पत्वमिति । उच्यते—अनन्तानन्तपुद्गलप्रदेशप्रचितज्ञानावरणवीर्यान्तरायदेशसर्वघातिद्विविधस्पर्धकक्षयोपशमादेशात् योगत्रयस्यानन्त्यम् । अनन्तानन्तप्रदेशकर्मादानकारणत्वाद्वा अनन्त', अनन्तानन्तनानाजीवविषयभेदाद्वानन्तः । =प्रश्न –अध्यवसाय स्थान असख्यात-लोक-प्रमाण है फिर योग अनन्त प्रकारके कैसे हो सकते है? उत्तर—अनन्तानन्त पुद्गल प्रदेश रूपसे बँधे हुए ज्ञानावरण वीर्यान्तरायके देशघाती और सर्वघाती स्पर्धकोंके क्षयोपशम भेदसे, अनन्तानन्त प्रदेशवाले कर्मोके ग्रहणका कारण होनेसे तथा अनन्तानन्त नाना जीवोकी दृष्टिसे तीनो योग अनन्त प्रकारके हो जाते है।

३. योग सामान्य निर्देश

१. योगमार्गणामें भावयोग इष्ट है

दे० योग/२/६ (क्रियाकी उत्पत्तिमें जो जीवको उपयोग होता है वास्तवमें वही योग है।)

दे योग/२/१ आत्माके धर्म न होनेसे अन्य पदार्थोंका संयोग नही कहला सकता।)

दे मार्गणा (सभी मार्गणास्थानोमे भावमार्गणा इष्ट है।)

२. योग वीर्य गुणकी पर्याय है

भ. आ /वि./११८७/११७८/४ योगस्य वीर्यपरिणामस्य …=वीर्यपरिणामरूप जो योग (और भी दे० अगला शीर्षक)।

३. योग कथंचित् पारिणामिक भाव है

ध. ५/१,७,४८/२२५/१० सजोगो त्ति को भावो। अणादिपारिणामिओ भावो। णोवसमिओ, मोहणीए अणुवसंते वि जोगुवलभा। ण खइओ, अणप्पसरूवस्स कम्माणं खएणुप्पत्तिविरोहा। ण घादिकम्मोदयजणिओ, णट्ठे वि घादिकम्मोदए केवलिम्हि जोगुवलंभा। णो अघादिकम्मोदयजणिदो वि सते वि अघादिकम्मोदए अजोगिम्हि जोगाणुवलभा। ण सरीरणामकम्मोदयजणिदो वि, पोग्गलविवाइयाणं जीवपरिफद्दणहेउत्तविरोहा। कम्मइयसरीर ण पोग्गलविवाई, तदो पोग्गलाणं वण्ण-रस-गंध-फास-संठाणागमणादीणमणुवलंभा। तदुप्पाइदो जोगो होदु चे ण, कम्मइयसरीरं पि पोग्गलविवाई चेव, सव्वकम्माणमासयत्तादो। कम्मइओदयविणट्ठसमए चेव जोगविणासदंसणादो कम्मइयसरीरजणिदो जोगो चे ण, अघाइकम्मोदयविणासाणंतर विणस्संत भवियत्तस्स पारिणामियस्स ओदइयत्तप्पसंगा। तदो सिद्धं जोगस्स पारिणामियत्तं । =प्रश्न—'सयोग' यह कौनसा भाव है? उत्तर—'सयोग' यह अनादि पारिणामिक भाव है। इसका कारण यह है, कि योग न तो औपशमिक भाव है, क्योंकि मोहनीयकर्मके उपशम नहीं होनेपर भी योग पाया जाता है। न वह क्षायिक भाव है, क्योकि, आत्मस्वरूपसे रहित योगकी कर्मोंके क्षयसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है। योग घातिकर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि, घातिकर्मोदयके नष्ट होनेपर भी सयोगिकेवलीमें योगका सद्भाव पाया जाता हे। न योग अघातिकर्मोदय जनित भी है, क्योंकि, अघातिकर्मोदयके रहनेपर भी अयोगकेवलीमें योग नहीं पाया जाता। योग शरीरनामकर्मोदयजनित भी नहीं है, क्योंकि पुद्गलविपाकी प्रकृतियोंके जीव-परिस्पन्दनका कारण होनेमें विरोध है। प्रश्न—कार्मण शरीर पुद्गल विपाकी नहीं है, क्योंकि उससे पुद्गलोंके वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श और संस्थान आदिका आगमन आदि नहीं पाया जाता है। इसलिए योगको कार्मण शरीरसे (औदयिक) उत्पन्न होनेवाला मान लेना चाहिए? उत्तर—नही, क्योंकि, सर्व कर्मोंका आश्रय होनेसे कार्मण शरीर भी पुद्गल विपाकी ही है। इसका कारण यह है कि वह सर्व कर्मोंका आश्रय या आधार है। प्रश्न—कार्मण शरीरके उदय विनष्ट होनेके समयमें ही योगका विनाश देखा जाता है। इसलिए योग कार्मण शरीर जनित है, ऐसा मानना चाहिए? उत्तर—नही, क्योकि, यदि ऐसा माना जाय तो अघातिकर्मोदयके विनाश होनेके अनन्तर ही विनष्ट होनेवाले पारिणामिक भव्यत्व भावके भी औदयिकपनेका प्रसंग प्राप्त होगा। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनसे योगके पारिणामिकपना सिद्ध हुआ।

४. योग कथंचित् क्षायोपशमिक भाव है

ध. ७/२,१,३३/७५/३ जोगो णाम जीवपदेसाणं परिप्फंदो संकोचविकोचलक्खणो। सो च कम्माणं उदयजणिदो, कम्मोदयविरहिदसिद्धेसु तदणुवलंभा। अजोगिकेवलिम्हि जोगाभावादो जोगो ओदइयो ण होदि त्ति वोत्तु ण जुत्तु, तत्थ सरीरणामकम्मोदया भावा। ण च सरीरणामकम्मोदएण जायमाणो जोगो तेण विणा होदि, अइप्पसंगादो। एवमोदइयस्स जोगस्स कधं खओवसमियत्त उच्चदे। ण सरीरणामकम्मोदएण सरीरपाओग्गपोग्गलेसु बहुसु संचयं गच्छमाणेसु विरियंतराइयस्स सव्वघादिफद्दयाणमुदयाभावेण तेसि सतोवसमेण देसघादिफद्दयाणमुदएण समुब्भवादो लद्धखओवसमववएसं विरियं वड्ढदि, त विरिय पप्प जेण जीवपदेसाण सकोच विकोच वड्ढदि तेण जोगो खओवसमिओ त्ति वुत्तो। विरियंतराइयखओवसमजणिदबलवड्ढि-हाणीहिंतो जदि-जीवपदेसपरिप्फदस्स वड्ढिहाणीओ होंति तो खीणतराइयम्मि सिद्धे जोगबहुत्त पसज्जदे। ण, खओवसमियबलादो खइयस्स बलस्स पुधत्तदसणादो। ण च खओवसमियबलवड्ढि-हाणीहिंतो वड्ढि-हाणीण गच्छमाणो जीव-

पदेसपरिप्फंदो खइयबलादो वड्ढिहाणीणं गच्छदि, अइप्पसंगादो। =प्रश्न—जीव प्रदेशोंके सकोच और विकोच रूप परिस्पदको योग कहते है। यह परिस्पन्द कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होता है, क्योंकि कर्मोदयसे रहित सिद्धोके वह नही पाया जाता। अयोगिकेवलीमें योगके अभावसे यह कहना उचित नहीं है कि योग औदयिक नहीं होता है, क्योंकि अयोगि केवलीके यदि योग नही होता तो शरीर-नामकर्मका उदय भी तो नही होता। शरीरनामकर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाला योग उस कर्मोदयके विना नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा माननेसे अतिप्रसग दोप उत्पन्न होगा। इस प्रकार जब योग औदयिक होता है, तो उसे क्षायोपशमिक क्यो कहते है। उत्तर—ऐसा नहीं, क्योंकि जब शरीर नामकर्मके उदयसे शरीर बननेके योग्य बहुतसे पुद्गलोका सचय होता हे और वीर्यान्तरायकर्मके सर्वघाती स्पर्धकोंके उदयाभावमे व उन्हीं स्पर्धकोंके सत्त्वोपशमसे तथा देश-घाती स्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण क्षायोपशमिक कहलाने वाला वीर्य (बल) बढता है, तब उस वीर्यको पाकर चूँकि जीव-प्रदेशोंका सकोच-विकोच बढता है, इसलिए योग क्षायोपशमिक कहा गया है। प्रश्न—यदि वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुए बलकी वृद्धि और हानिसे जीव प्रदेशोंके परिस्पन्दकी वृद्धि और हानि होती हे, तब तो जिसके अन्तरायकर्म क्षीण हो गया है ऐसे सिद्ध जीवोंमें योगकी बहुलताका प्रसग आता है। उत्तर—नहीं आता, क्योंकि क्षायोपशमिक बलसे क्षायिक बल भिन्न देखा जाता है। क्षायो-पशमिक बलको वृद्धि-हानिमे वृद्धि-हानिको प्राप्त होनेवाला जीव प्रदेशोंका परिस्पन्द क्षायिक बलमे वृद्धिहानिको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेमे तो अतिप्रसग दोप आता है।

५. योग कथंचित् औदयिक भाव है

ध ५/१,७,४८/२२६/७ ओदइओ जोगो, सरीरणामकम्मोदयविणासाणतर जोगविणासुवलभा। ण च भवियत्तेण विउवचारो, कम्मसबधविरो-हिणो तस्स कम्मजणिदत्तविरोहा। ='योग' यह औदयिक भाव है, क्योंकि शरीर नामकर्मके उदयका विनाश होनेके पश्चात् ही योग-का विनाश पाया जाता है। और ऐसा मानकर भव्यत्व भावके साथ व्यभिचार भी नहीं आता है, क्योंकि कर्म सम्बन्धके विरोधी भव्यत्व भावकी कर्मसे उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है।

ध ७/२,१,१३/७६/३ जदि जोगो वीरियंतराइयखओवसमजणिदो तो सजोगिम्हि जोगाभावो पसज्जदे। ण उवयारेण खओवसमिय भावं पत्तस्स ओदइयस्स जोगस्स तत्था भावविरोहादो। =प्रश्न—यदि योग वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होता है, तो सयोगि केवलिमें योगके अभावका प्रसग आता है। उत्तर—नहीं आता, योग-में क्षायोपशमिक भाव तो उपचारमे है। असलमें तो योग औदयिक भाव ही है और औदयिक योगका सयोगि केवलिमे अभाव माननेमें विरोध आता है।

ध ७/२,१,६१/१०५/२ किंतु सरीरणामकम्मोदयजणिदजोगो वि लेस्सा त्ति इच्छिज्जदि, कम्मबधणिमित्तत्तादो। तेण कसाए फिट्टे वि जोगो अत्थि। =शरीर नामकर्मोदयके उदयसे उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया है, क्योंकि वह भी कर्मबन्धमें निमित्त होता है। इस कारण कषायके नष्ट हो जानेपर भी योग रहता है।

ध. ६/४,१,६६/३१६/२ जोगमग्गणा वि ओदइया, णामकम्मस्स उदीरणो-दयजणिदत्तादो। =योग मार्गणा भी औदयिक है, क्योंकि वह नामकर्मकी उदीरणा व उदयसे उत्पन्न होती है।

६. उत्कृष्ट योग दो समयसे अधिक नहीं रहता

ध. १०/४,२,४,३१/१०८/४ जदि एवं तो दोहि समएहि विणा उक्कस्स-जोगेण णिरंतर बहुकाल किण्ण परिणमाविदो। ण एस दोसो, णिरं-तर तत्थ तिसादिसमयपरिणामाभावादो। =प्रश्न—दो समयोके सिवा निरन्तर बहुतकाल तक उत्कृष्ट योगमे क्यों नही परिणमाया। उत्तर—यह कोई दोष नही है, क्योंकि निरन्तर उत्कृष्ट योगमें तीन आदि समय तक परिणमन करते रहना सम्भव नहीं है।

७. तीनों योगोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है युगपत् नहीं

ध १/१,१,४९/७६/३ त्रयाणा योगानां प्रवृत्तिरक्रमेण उत नेति। नाक्र-मेण, त्रिष्वक्रमेणैकस्यात्मनो योगनिरोधात्। मनोवाक्कायप्रवृत्तयोऽ-क्रमेण क्वचिद् दृश्यन्त इति चेद्भवतु तासां तथा प्रवृत्तिर्दृष्टत्वात्, न तत्प्रयत्नानामक्रमेण वृत्तिस्तथोपदेशाभावादिति। अथ स्यात् प्रयत्नो हि नाम बुद्धिपूर्वक, बुद्धिश्च मनोयोगपूर्विका तथा च सिद्धो मनोयोग शेषयोगाविनाभावीति न, कार्यकारणयोरेककाले समुत्पत्ति-विरोधात्। =प्रश्न—तीनो योगोकी प्रवृत्ति युगपत् होती है या नही। उत्तर—युगपत् नहीं होती है, क्योंकि, एक आत्माके तीनो योगोंकी प्रवृत्ति युगपत् माननेपर योग निरोधका प्रसग आ जायेगा। अर्थात् किसी भी आत्मामें योग नहीं बन सकेगा। प्रश्न—कहीं पर मन, वचन और कायकी प्रवृत्तियाँ युगपत् देखी जाती हैं। उत्तर—यदि देखी जाती हैं, तो उनकी युगपत् वृत्ति होओ। परन्तु इससे, मन वचन और कायकी प्रवृत्तिके लिए जो प्रयत्न होते है, उनकी युगपत् वृत्ति सिद्ध नही हो सकती है, क्योंकि, आगममे इस प्रकार उपदेश नही मिलता है। (तीनो योगोकी प्रवृत्ति एक साथ हो सकती है, प्रयत्न नही।) प्रश्न—प्रयत्न बुद्धि पूर्वक होता है, और बुद्धि मनो-योग पूर्वक होती है। ऐसी परिस्थितिमें मनोयोग शेष योगोंका अविनाभावी है यह बात सिद्ध हो जानी चाहिए। उत्तर—नहीं, क्योंकि, कार्य और कारण इन दोनोंकी एक कालमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

ध ७/२,१,३३/७७/१ दो वा तिण्णि वा जोगा जुगव किण्ण होंति। ण, तेसिं णिसिद्धाक्कमवुत्तीदो। तेसिमक्कमेण वुत्ती वुवलंभदे चे। ण, ।=प्रश्न—दो या तीन योग एक साथ क्यो नहीं होते। उत्तर—नहीं होते, क्योंकि, उनकी एक साथ वृत्तिका निषेध किया गया है। प्रश्न—अनेक योगोकी एक साथ वृत्ति पायी तो जाती है। उत्तर—नहीं पायी जाती, (क्योंकि इन्द्रियातीत जीव प्रदेशोंका परिस्पन्द प्रत्यक्ष नहीं है। —दे० योग/२/३)।

गो जी./मू /२४२/५०५ जोगोवि एक्ककाले एक्केव य होदि णियमेण। =एक कालमें एक जीवके युगपत् एक ही योग होता है, दो वा तीन नही हो सकते, ऐसा नियम है।

८ तीनों योगोंके निरोधका क्रम

भ. आ /मू /२११७-२१२०/१८२४ बादरवचिजोग बादरेण कायेण बादर-मण च। बादरकायंपि तधा रुभदि सुहुमेण काएण।२११७। तध चेव सुहुममणवचिजोग सुहमेण कायजोगेण। रुभित्तु जिणो चिट्ठदि सो सुहुमे काइए जोगे।२११८। सुहुमाए लेस्साए सुहुमकिरियबधगो तगो ताधे। काइयजोगे सुहुमम्मि सुहुमकिरिय जिणो झादि।२११९। सुहु-मकिरिएण झाणेण णिरुद्धे सुहुमकाययोगे वि। सेलेसी होदि तदो अबंधगो णिच्चलपदेसो।२१२०। =बादर वचनयोग और बादर मनो-योगको बादर काययोगमे स्थिर होकर निरोध करते हैं, तथा बादर काययोगसे रोकते हे।२११७। उसही प्रकारसे सूक्ष्म वचनयोग और सूक्ष्म मनोयोगको सूक्ष्म काययोगमें स्थिर होकर निरोध करते हैं और उसी काययोगसे वे जिन भगवान् स्थिर रहते हे।२११८। उत्कृष्ट शुक्ललेश्याके द्वारा सूक्ष्म काययोगसे साता वेदनीय कर्मका बध करने-वाले वे भगवान् सूक्ष्मक्रिय नामक तीसरे शुक्लध्यानका आश्रय करते है। सूक्ष्मकाययोग होनेसे उनको सूक्ष्मक्रिय शुक्लध्यानकी प्राप्ति होती है।२११९। सूक्ष्मक्रिय ध्यानसे सूक्ष्मकाय योगका निरोध करते है। तब आत्माके प्रदेश निश्चल होते है, और अब उनको कर्मका बन्ध नहीं होता। (ज्ञा /४२/४८-५१), (वसु. श्रा./५३३-५३६)।

ध. ६/१.६-८.१६ एतो अंतोमुहुत्तं गंतूण बादरकायजोगेण बादरमणजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण बादरवचिजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण बादरउस्सासणिस्सासं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तेण बादरकायजोगेण तमेव बादरकायजोग णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमकायजोगेण सुहुममणजोगं णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तं गंतूण सुहुमवचिजोग णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तं गतूण सुहुमकायजोगेण सुहुमउस्सास णिरुंभदि। तदो अंतोमुहुत्तं गतूण सुहुमकायजोगेण सुहुमकायजोग णिरुंभमाणो (४१४/५)। इमाणि करणाणि करेदि पढमसमए अपुव्वफद्दयाणि करेदि पुव्वफद्दयाणहेट्ठादो (४१५/२)। एत्तो अंतोमुहुत्त किट्टीओ करेदि।' 'किट्टीकरणे णिट्ठिदे तदो से काले पुव्वफद्दयाणि अपुव्वफद्दयाणि च णासेदि। अंतोमुहुत्तं किट्टीगदजोगो होदि (४१६/१)। तदो अंतोमुहुत्त जोगाभावेण णिरुद्धासवत्तो... सव्वकम्मविप्पमुक्को एगसमएण सिद्धिं गच्छदि (४१९/१)।'=१. यहाँसे अन्तर्मुहूर्त जाकर बादरकाय योगसे बादरमनोयोगका निरोध करता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्तसे बादर वचनयोगका निरोध करता है। पुन: अन्तर्मुहूर्तसे बादर काययोगसे बादर उच्छ्वास-निश्वासका निरोध करता है। पुन अन्तर्मुहूर्तसे बादर काययोगसे उसी बादर काययोगका निरोध करता है। तत्पश्चात अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्मकाययोगसे सूक्ष्म मनोयोगका निरोध करता है। पुन. अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म वचनयोगका निरोध करता है। पुन अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्मकाय योगसे उच्छ्वास-निश्वासका निरोध करता है। पुन' अन्तर्मुहूर्त जाकर सूक्ष्म काययोगसे सूक्ष्म काययोगका निरोध करता हुआ। २. इन करणोको करता है—प्रथम समयमें पूर्वस्पर्धकों के नीचे अपूर्व स्पर्धकोको करता है। फिर अन्तर्मुहूर्तकाल पर्यन्त कृष्टियोको करता है...उसके अनन्तर समयमें पूर्व स्पर्द्धकोको और अपूर्वस्पर्द्धकोंको नष्ट करता है। अन्तर्मुहूर्तकाल तक कृष्टिगत योग वाला होता है। तत्पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल तक अयोगि केवली-के योगका अभाव हो जानेसे आस्रवका निरोध हो जाता है। तब सर्व कर्मोसे वियुक्त होकर आत्मा एक समयमें सिद्धिको प्राप्त करता है (ध १३/५.४.२६/८४/१२); (ध १०/४.२.४ १०७/३२१/८); (क्ष सा /मू /६२७-६५५/७३६-७५८)।

४ योगका स्वामित्व व तत्सम्बन्धी शंकाएँ

१. योगोंमें सम्भव गुणस्थान निर्देश

ष. ख. १/१.१/सू. ५०-६५/२८२-३०८ मणजोगो सच्चमणजोगो असच्चमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।५०। मोसमणजोगो सच्चमोसमणजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीण-कसायवीयराय-छदुमत्था त्ति।५१। वचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।५३। सच्चवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।५४। मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव खीणकसाय-वीयराय-छदुमत्था त्ति।५५। कायजोगो ओरालियकायजोगो ओरालियमिस्सकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।६१। वेउव्वियकायजोगो वेउव्वियमिस्सकायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि प्पहुडि जाव असजदसम्माइट्ठि त्ति।६२। आहारकायजोगो आहारमिस्सकायजोगो एक्कम्हि चेव पमत्त-सजदट्ठाणे।६३। कम्मइयकायजोगो एइंदिय-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।६४। मणजोगो वचिजोगो कायजोगो सण्णिमिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।६५। =१ सामान्यसे मनोयोग और विशेष रूपसे सत्य मनोयोग तथा असत्यमृषा मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त होते है।५०। असत्य मनोयोग और उभय मनोयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान तक पाये जाते हैं।५१। २. सामान्यसे वचनयोग और विशेषरूपसे अनुभय वचनयोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है।५३। सत्य वचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होता है।५४। मृषावचनयोग और सत्यमृषावचनयोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकषाय-वीतराग-छद्मस्थ-गुणस्थान तक पाये जाते हैं।५५। ३. सामान्यसे काययोग और विशेषकी अपेक्षा औदारिक काययोग और औदारिक मिश्र काययोग एकेन्द्रियसे लेकर सयोगिकेवली गुणस्थान तक होते हैं।६१। वैक्रियक काययोग और वैक्रियक मिश्र काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक होते हैं।६२। आहारककाययोग और आहारकमिश्र काययोग एक प्रमत्त गुणस्थानमें ही होते हैं।६३। कार्मणकाययोग एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर सयोगिकेवली तक होता है।६४। ४. तीनो योग—मनोयोग, वचनयोग और काययोग संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगिकेवली तक होते हैं।६५।

२. गुणस्थानोंमें सम्भव योग

(पं. सं /प्रा /४/३२८), (गो. जी /मू /७०४/११४०), (प. सं./-स./४/३५८)।

गुणस्थान	सम्भव योग	असम्भव योगके नाम
मिथ्यादृष्टि	१३	आहारक आहारक मिश्र=२
सासादन	,	"
मिश्र	१०	आहारक, आहारक मिश्र, औदारिक, वैक्रियक, कार्मण=५
असयत	१२	आहारक व आहारक मिश्र=२
देशविरत	९	औदारिक, वैक्रियक व वैक्रियक मिश्र, आहारक व आहारक मिश्र, कार्मण=६
प्रमत्त	११	औदारिक मिश्र, वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, कार्मण=४
अप्रमत्त	९	देशविरतवत
अपूर्वकरण	"	"
अनिवृत्ति	,	"
सूक्ष्म सा.	"	"
उपशान्त	"	"
क्षीणकषाय	"	"
सयोगि	७	वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, असत्य व उभय मनो-वचनयोग=६

३. योगोंमें सम्भव जीवसमास

ष. खं १/१.१/सू ६६-७८/३०९-३१७ वचिजोगो कायजोगो बीइंदिय-प्पहुडि जाव असण्णिपंचिंदिया त्ति।६६। कायजोगो एइंदियाणं।६७। मणजोगो वचिजोगो पज्जत्ताण अत्थि, अपज्जत्ताण णत्थि।६८। कायजोगो पज्जत्ताण वि अत्थि, अपज्जत्ताणं वि अत्थि।६९। ओरालियकायजोगो पज्जत्ताण ओरालियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताण।७६। वेउव्वियकायजोगो पज्जत्ताण वेउव्वियमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।७७। आहारकायजोगो पज्जत्ताण आहारमिस्सकायजोगो अपज्जत्ताणं।७८। =वचनयोग और काययोग द्वीन्द्रिय जीवोंसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवो तक होते है।६६। काययोग

एकेन्द्रिय जीवोंके होता है ।६७। मनोयोग और वचनयोग पर्याप्तकोंके ही होते है, अपर्याप्तकोंके नहीं होते ।६८। काययोग पर्याप्तकोंके भी होता है ।६९। अपर्याप्तकोंके भी होता है, औदारिक काययोग पर्याप्तकोंके और औदारिक मिश्र काययोग अपर्याप्तकोंके होता है ।७६। वैक्रियक काययोग पर्याप्तकोंके और वैक्रियकमिश्र काययोग अपर्याप्तकोंके होता है ।७७। आहारक काययोग पर्याप्तकोंके और आहारकमिश्र काययोग अपर्याप्तकोंके होता है ।७८। (मू आ/११२७); (पं सं /प्रा /४/११-१५), (गो.जी /मू./६७६-६८४/११२२-११२५)।

४. पर्याप्त व अपर्याप्तमें मन, वचनयोग सम्बन्धी शंका

ध. १/१,१,६८/३१०/४ क्षयोपशमापेक्षया अपर्याप्तकालेऽपि तयो सत्त्वं न विरोधमास्कन्देदिति चेन्न. वाङ्मनसाभ्यामनिष्पन्नस्य तद्योगानुपपत्ते । पर्याप्तानामपि विरुद्धयोगमध्यासितावस्थायां नास्त्येवेति चेन्न, सम्भवापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात्, तच्छक्तिसत्त्वापेक्षया वा । =प्रश्न—क्षयोपशमकी अपेक्षा अपर्याप्त कालमें भी वचनयोग और मनोयोगका पाया जाना विरोधको प्राप्त नहीं होता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि जो क्षयोपशम वचनयोग और मनोयोग रूपसे उत्पन्न नहीं हुआ है, उसे योग संज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती है। प्रश्न—पर्याप्तक जीवोंके भी विरुद्ध योगको प्राप्त होने रूप अवस्थाके होने पर विवक्षित योग नहीं पाया जाता है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, पर्याप्त अवस्थामें किसी एक योगके रहनेपर शेष योग सम्भव है, इसलिए इस अपेक्षासे वहाँ पर उनके अस्तित्वका कथन किया जाता है। अथवा, उस समय वे योग शक्तिरूपसे विद्यमान रहते है, इसलिए इस अपेक्षासे उनका अस्तित्व कहा जाता है।

५. मनोयोगीमें भाषा व शरीर पर्याप्तिकी सिद्धि

ध २/१,१/६२८/६ केई वचिकायपाणे अवणेति, तण्ण घडदे, तेसिं सत्ति-संभवादो । वचि-कायबलणिमित्त-पुग्गल-खंधस्स अत्थित्तं पेक्खिअ पज्जत्तीओ होंति त्ति सरीर-वचि पज्जत्तीओ अत्थि। =कितने ही आचार्य मनोयोगियोंके दश प्राणोमेंसे वचन और काय प्राण कम करते है, किन्तु उनका वैसा करना घटित नहीं होता है, क्योंकि, मनोयोगी जीवोंके वचनबल और कायबल इन दो प्राणोकी शक्ति पायी जाती है, इसलिए ये दो प्राण उनके बन जाते है। उसी प्रकार वचनबल और कायबल प्राणके निमित्तभूत पुद्गलस्कन्धका अस्तित्व देखा जानेसे उनके उक्त दोनो पर्याप्तियाँ भी पायी जाती है इसलिए उक्त दोनो पर्याप्तियाँ भी उनके बन जाती है।

६. अप्रमत्त व ध्यानस्थ जीवोंमें असत्य मनोयोग कैसे

ध १/१.१.५१/२८५/७ भवतु नाम क्षपकोपशमकाना सत्यस्यासत्यमोषस्य च सत्त्व नेतरयोरप्रमादस्य प्रमादविरोधित्वादिति न, रजोजुपा विपर्ययानध्यवसायाज्ञानकारणमनस सत्त्वाविरोधात् । न च तद्योगात्प्रमादिनस्ते प्रमादस्य मोहपर्यायत्वात् । =प्रश्न—क्षपक और उपशमक जीवोंके सत्यमनोयोग और अनुभय मनोयोगका सद्भाव रहा आवे, परन्तु बाकीके दो अर्थात् असत्य मनोयोग और उभयमनोयोगका सद्भाव नहीं हो सकता है, क्योंकि, इन दोनोमें रहने वाला अप्रमाद असत्य और उभय मनके कारणभूत प्रमादका विरोधी है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि आवरण कर्मसे युक्त जीवोंके विपर्यय और अनध्यवसायरूप अज्ञानके कारणभूत मनके सद्भाव मान लेनेमें कोई विरोध नहीं आता है। परन्तु इसके सम्बन्धसे क्षपक या उपशम जीव प्रमत्त नहीं माने जा सकते है, क्योंकि, प्रमाद मोहकी पर्याय है।

ध. १/१,१,५५/२८६/५ क्षीणकषायस्य वचनं कथमसत्यमिति चेन्न, असत्यनिबन्धनाज्ञानसत्त्वापेक्षया तत्र तत्सत्त्वप्रतिपादनात् । तत एव नोभयसंयोगोऽपि विरुद्ध इति। वाचयमस्य क्षीणकषायस्य कथं वाग्योगश्चेन्न, तत्रान्तर्जल्पस्य सत्त्वाविरोधात् । =प्रश्न—जिसकी कषाय क्षीण हो गयी है उसके वचन असत्य कैसे हो सकते है ? उत्तर—ऐसी शका व्यर्थ है, क्योंकि असत्य वचनका कारण अज्ञान बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है, इस अपेक्षासे वहाँ पर असत्य वचनके सद्भावका प्रतिपादन किया है। और इसीलिए उभय संयोगज सत्यमृषा वचन भी बारहवें गुणस्थान तक होता है, इस कथनमें कोई विरोध नहीं आता है। प्रश्न—वचन गुप्तिका पूरी तरहसे पालन करने वाले कषायरहित जीवोंके वचनयोग कैसे सम्भव है ? उत्तर=नहीं, क्योंकि कषायरहित जीवोंमें अन्तर्जल्पके पाये जानेमें कोई विरोध नहीं आता है।

ध. २/१,१/४३४/६ ज्झाणीणमपुव्वकरणाण भवदु णाम वचिबलस्स अत्थित्तं भासापज्जत्ति-सण्णिद-पोग्गल-खंज-जणिद-सत्ति-सब्भावादो। ण पुण वचिजोगो कायजोगो वा इदि । न, अन्तर्जल्पप्रयत्नस्य कायगतसूक्ष्मप्रयत्नस्य च तत्र सत्त्वात् । =प्रश्न—ध्यानमे लीन अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीवोंके वचनबलका सद्भाव भले ही रहा आवे, क्योंकि भाषा पर्याप्ति नामक पौद्गलिक स्कन्धोंसे उत्पन्न हुई शक्तिका उनके सद्भाव पाया जाता है किन्तु उनके वचनयोग या काययोगका सद्भाव नहीं मानना चाहिए ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ध्यान अवस्थामें भी अन्तर्जल्पके लिए प्रयत्न रूप वचनयोग और कायगत-सूक्ष्म प्रयत्नरूप काययोगका सत्त्व अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीवोंके पाया ही जाता है इसलिए वहाँ वचन योग और काययोग भी सम्भव है।

८. समुद्घातगत जीवोंमें वचनयोग कैसे

ध. ४/१,३,२६/१०२/७,१० वेउव्वियसमुग्घादगदाण कध मणजोग-वचिजोगाण सभवो। ण, तेसिं पि णिप्पण्णुत्तरसरीराण मणजोगवचिजोगाण परावत्तिसंभवादो ।७। मारणंतियसमुग्घादगदाण असंखेज्जजोयणायामेण ठिदाणं मुच्छिदाण कध मण-वचिजोगसभवो। ण, वारणाभावादो अवत्ताण णिब्भरसुत्तजीवाणं व तेसि तत्थ सभव पडिविरोहाभावादो ।१०। =प्रश्न—वैक्रियिक समुद्घातको प्राप्त जीवोंके मनोयोग और वचनयोग कैसे सभव है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, निष्पन्न हुआ है विक्रियात्मक उत्तर शरीर जिनके ऐसे जीवोंके मनोयोग और वचनयोगोका परिवर्तन सम्भव है। प्रश्न—मारणान्तिक समुद्घातको प्राप्त, असख्यात योजन आयामसे स्थित और मूर्च्छित हुए सज्ञी जीवोंके मनोयोग और वचनयोग कैसे सम्भव है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बाधक कारणके अभाव होनेसे निर्भर (भरपूर) सोते हुए जीवोंके समान अव्यक्त मनोयोग और वचनयोग मारणान्तिक समुद्घातगत मूर्च्छित अवस्थामें भी सम्भव है, इसमें कोई विरोध नहीं है।

९. असंज्ञी जीवोंमें असत्य व अनुभय वचनयोग कैसे

ध १/१,१,५३/२८७/४ असत्यमोषमनोनिबन्धनवचनमसत्यमोषवचनमिति प्रागुक्तम्, तद् द्वीन्द्रियादीना मनोरहिताना कथ भवेदिति नायमेकान्तोऽस्ति सकलवचनानि मनस एव समुत्पद्यन्त इति मनोरहितकेवलिना वचनाभावसजननात् । विकलेन्द्रियाणां मनसा विना न ज्ञानसमुत्पत्ति'। ज्ञानेन विना न वचनप्रवृत्तिरिति चेन्न, मनस एव ज्ञानमुत्पद्यत इत्येकान्ताभावात् । भावे वा नाशेषेन्द्रियेभ्यो ज्ञानसमुत्पत्ति' मनस समुत्पन्नत्वात् । नैतदपि दृष्टश्रुतानुभूतविषयस्य मानसप्रत्ययस्यान्यत्र वृत्तिविरोधात् । न चक्षुरादीनां सहकार्यपि

५. परिणाम या घोटमान योगस्थानका लक्षण

ध. १०/४,२,४,१७३/४२१/२ पज्जत्तपढमसमयप्पहुडि उवरि सव्वत्थ परिणामजोगो चेव। णिव्वत्ति अपज्जत्ताण णत्थि परिणामजोगो। =पर्याप्त होनेके प्रथम समयसे लेकर आगे सब जगह परिणाम योग ही होता है निर्वृत्यपर्याप्तकोंके परिणाम योग नहीं होता। (लब्ध्यपर्याप्तकोंके पूर्वावस्थामें होता है- दे० ऊपरवाला शीर्षक)।

गो. क/मू/२२०-२२१/२६८ परिणामजोगठाणा सरीरपज्जत्तगादु चरिमोत्ति। लद्धि अपज्जत्ताण चरिमतिभागम्हि बोधव्वा।२२०। सगपज्जत्तीपुण्णे उवरिं सव्वत्थं जोगमुक्कस्स। सव्वत्थ होदि अवर लद्धि अपुण्णस्स जेट्ठंपि।२२१। =शरीर पर्याप्ति पूर्ण होनेके प्रथम समयसे लेकर आयुके अन्ततक परिणाम योगस्थान कहे जाते है। लब्ध्यपर्याप्त जीवके अपनी आयुके अन्तके त्रिभागके प्रथम समयसे लेकर अन्त समय तक स्थितिके सब भेदोंमें उत्कृष्ट व जघन्य दोनो प्रकारके योगस्थान जानना।२१०। शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होनेके समयसे लेकर अपनी-अपनी आयुके अन्त समय तक सम्पूर्ण समयोमे परिणाम योगस्थान उत्कृष्ट भी होते है, जघन्य भी सभवते है।२२१।

गो. क./जी प्र./२१६/२६०/१ येषा योगस्थानाना वृद्धि. हानि: अवस्थानं च सभवति तानि घोटमानयोगस्थानानि परिणामयोगस्थानानीति भणितं भवति। =जिन योगस्थानोंमें वृद्धि, हानि, तथा अवस्थान (जैसेके तैसे बने रहना) होता है, उनको घोटमान योगस्थान-परिणाम योगस्थान कहा गया है।

६. परिणाम योगस्थानोंकी यवमध्य रचना

ध. १०/४,२,४,२८/६०/६ का विशेपार्थ—ये परिणामयोगस्थानद्वीन्द्रिय पर्याप्तके जघन्य योगस्थानोसे लेकर सज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोके उत्कृष्ट योगस्थानो तक क्रमसे वृद्धिको लिये हुए है। इनमें आठ समय वाले योगस्थान सबसे थोडे होते है। इनसे दोनो पार्श्वभागोमे स्थित सात समयवाले योगस्थान असख्यातगुणे होते हैं। इनसे दोनो पार्श्व भागोमें स्थित छह समयवाले योगस्थान असख्यातगुणे होते है। इनसे दोनो पार्श्व भागोमें स्थित पाँच समयवाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते है। इनसे दोनो पार्श्व भागोमें स्थित चार समयवाले योगस्थान असख्यात गुणे होते है। इनसे तीन समयवाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं और इनसे दो समयवाले योगस्थान असंख्यातगुणे होते हैं। ये सब योगस्थान—
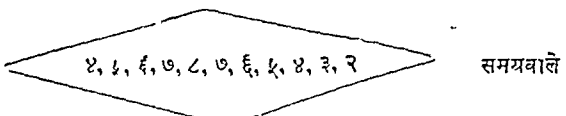
होनेसे ग्यारह भागोमें विभक्त हैं, अत' समयकी दृष्टिसे इनकी यवाकार रचना हो जाती है। आठ समयवाले योगस्थान मध्यमें रहते है। फिर दोनो पार्श्व भागोमें सात (आदि) योगस्थान प्राप्त होते है। इनमेंसे आठ समयवाले योगस्थानोंकी यवमध्य संज्ञा है। यवमध्यसे पहलेके योगस्थान थोडे होते है और आगेके योगस्थान असख्यातगुणे होते है। इन आगेके योगस्थानोंमें संख्यातभाग आदि चार हानियाँ व वृद्धियाँ सम्भव है इसीसे योगस्थानोमे उक्त जीवको अन्तर्मुहूर्त काल तक स्थित कराया है, क्योंकि योगस्थानोका अन्तर्मुहूर्त काल यही सम्भव है।

७. योगस्थानोंका स्वामित्व सभी जीव समासोंमें सम्भव है

गो क./जी प्र/२२२/२७०/१० एवमुक्तयोगविशेपा' सर्वेऽपि पूर्वस्थापितचतुर्दशजीवसमासरचनाविशेषेऽतिव्यक्तं सभवतीति संभावयितव्या'। =ऐसे कहे गये जो ये योगविशेष ये सर्व चौदह जीवसमासोमें जानने चाहिए।

८. योगस्थानोंके स्वामित्वककी सारणी

संकेत—उ०=उत्कृष्ट; एक=एकेन्द्रिय; चतु०=चतुरिन्द्रिय, ज०=जघन्य; त्रि०=त्रिइन्द्रिय; द्वि०=द्वीन्द्रिय; नि० अप०=निर्वृत्यपर्याप्त, पंचे.=पंचेन्द्रिय, वा०=बादर, ल०अप०=लब्ध्पर्याप्त, स०=समय, सू०=सूक्ष्म ध. १०/४,२,४,१७३/४२१-४३० (गो.क/मू/२३३-२५६)।

प्रमाण पृ न	योग स्थान	[illegible]	काल ज	काल उ.	सम्भव जीव समास	उस पर्यायका विशेष समय
{४२१ ४२४	उपपाद	ज.	१स.	१स.	सू.वा. एक द्वि. त्रि चतु	विग्रहगतिमें वर्तमान व तद्भवस्थ होनेके प्रथम समय
४२८	"	उ	"	"	पचे. असज्ञी, सज्ञी, ल अप.व नि. अप.	तद्भवस्थ होनेके प्रथम समयमें
{४२१ ४२५	एकांतानुवृद्धि	ज.	"	"	उपरोक्त सर्व जी. व. ल अप व नि अप.	तद्भवस्थका द्वितीय सयय
४२८		उ.	"	"	"	एकान्ता० योगकालका अन्तिम समय
४२६		"	"	"		उत्पन्न होनेके अन्तर्मुहूर्त पश्चात् अनन्तर-समय।
४२३		ज.	"	४	द्वि-सज्ञी नि अप	पर्याप्तिका प्रथम समय
		उ	"	"		पर्याप्तिके निकट
{४३१ ४२२ ४२७	परिणाम	ज.	"	४	सू. वा. एक-सज्ञी नि पर्याप्त	छठी पर्याप्तिके प्रथमसमयसे आगे
४२६		ज	"	"	सू वा एक ल. अप.	परभविक आयु बन्ध योग्य कालसे उपरिम भवस्थिति
४२७ ४३०		ज	"	"	"	आयु बन्धयोग्य कालके प्रथम समयसे तृतीय भाग तकमें वर्तमान जीव
४२२ ४२३		उ.	१	२	सू, वा एक-नि, प.	परम्परा शेप पाँच पर्याप्तियोंसे पर्याप्त हो चुकनेपर
४२६ ४३०		"	"	"	द्वि संज्ञी ल.अप	स्व स्व भवस्थितिके तृतीय भागमें वर्तमान
४२२		"	"	"	सू वा. एक-सज्ञी ल अप.	आयुबन्ध योग्य प्रथम समयसे भवके अन्त तक अर्थात् जीवनके
४३०		"	"	"	द्वी.-सज्ञी ल अप	अन्तिम तृतीय भागके प्रथम समयसे विश्रमण कालके अनन्तर अधस्तन समयतक
४३१ ५५		उ.	"	"	द्वी -सज्ञी नि अप पर्याप्तक	परम्परा पाँचो पर्याप्तियोमे पर्याप्त छह में से एक भी पर्याप्तिके अपूर्ण रहने तक भी नही होता।

९. लब्ध्यपर्याप्तकके परिणामयोग होने सम्बन्धी दो मत

ध. १०/४,२,४, १७३/४२०/६ लद्धि-अपज्जत्ताणमाउअबंधकाले चेव परिणामजोगो होदि त्ति के वि भणंति। तण्ण घडदे, परिणामजोगे ट्ठिदस्स अपज्जत्तुववादजोगस्स एयंताणुवड्ढिजोगेण परिणामविरोहादो। =लब्ध्यपर्याप्तकोंके आयुबन्ध कालमें ही परिणाम योग होता है, ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं। (दे० योग/५/५) किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योंकि इस प्रकारसे जो जीव परिणाम योगमें स्थित है वह उपपाद योगको नहीं प्राप्त हुआ है, उसके एकान्तानुवृद्धियोगके साथ परिणामके होनेमें विरोध आता है।

१०. योग स्थानोंकी क्रमिक वृद्धिका प्रदेशबन्धके साथ सम्बन्ध

ध. ६/१,९-७,४३/२०१/२ पदेसबंधादो जोगट्ठाणाणि सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्ताणि जहण्णट्ठाणादो अवट्ठिदपक्खेवेण सेडीए असंखेज्जदिभागपडिभागिएण विसेसाहियाणि जाउक्कस्सजोगट्ठाणेत्ति दुगुण-दुगुणगुणहाणिअद्धाणेहि सहियाणि सिद्धाणि हवंति। कुदो जोगेण विणा पदेसबंधाणुववत्तीदो। अथवा अणुभागबंधादो पदेसबंधो तक्कारणजोगट्ठाणाणि च सिद्धाणि हवंति। कुदो। पदेसेहि विणा अणुभागाणुववत्तीदो। =प्रदेशबन्धसे योगस्थान सिद्ध होते हैं। वे योगस्थान जगश्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र हैं, और जघन्य योगस्थानसे लेकर जगश्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रतिभागरूप अवस्थित प्रक्षेपके द्वारा विशेष अधिक होते हुए उत्कृष्ट योगस्थान तक दुगुने-दुगुने गुणहानि आयामसे सहित सिद्ध होते हैं, क्योंकि योगके बिना प्रदेशबन्ध नहीं हो सकता है। अथवा, अनुभागबन्धसे प्रदेशबन्ध और उसके कारणभूत योगस्थान सिद्ध होते हैं, क्योंकि, प्रदेशोंके बिना अनुभागबन्ध नहीं हो सकता।

६. योगवर्गणा निर्देश

१. योगवर्गणाका लक्षण

ध. १०/४,२,४,१८१/४४२-४४३/८ असंखेज्जलोगमेत्तजोगाविभागपडिच्छेदाणमेया वग्गणा होदि त्ति भणिदे जोगाविभागपडिच्छेदेहि सरिसधणियसव्वजीवपदेसाणं जोगाविभागपडिच्छेदासंभवादो असंखेज्जलोगमेत्ताविभागपडिच्छेदपमाणा एया वग्गणा होदि त्ति घेत्तव्वं। ··जोगाविभागपडिच्छेदेहि सरिसधणसव्वजीवपदेसे सव्वे घेत्तूण एगा वग्गणा होदि। =असंख्यात लोकमात्र योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी एक वर्गणा होती है, ऐसा कहने पर योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा समान धनवाले सब जीव प्रदेशोंके योगाविभाग प्रतिच्छेद असंभव होनेसे असंख्यात लोकमात्र अविभाग प्रतिच्छेदोंके बराबर एक वर्गणा होती है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। ··योगाविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा समान सब जीव प्रदेशोंको ग्रहणकर एक वर्गणा होती है।

२. योगवर्गणाके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी रचना

ष. खं. १०/४,२,४/सू. १७८-१८१/४४० असंखेज्जा लोगा जोगाविभागपडिच्छेदा।१७८। एवदिया जोगाविभागपडिच्छेदा।१७९। वग्गणपरूवणदाए असंखेज्जलोगजोगाविभागपडिच्छेदाणमेया वग्गणा होदि। एवमसंखेज्जाओ वग्गणाओ सेढीए असंखेज्जदिभागमेत्ताओ।१८१।

ध. १०/४,२,४,१८१/४४३-४४४/३ जोगाविभागपडिच्छेदेहि सरिससव्वजीवपदेसे सव्वे घेत्तूण एगा वग्गणा होदि। पुणो अण्णे वि जीवपदेसे जोगाविभागपडिच्छेदेहि अण्णोण्ण समाणे पुव्विल्लवग्गणाजीवपदेसजोगाविभागपडिच्छेदेहिंतो अहिए उवरि वुच्चमाणाणमेगजीवपदेसजोगाविभागपडिच्छेदेहिंतो ऊणे घेत्तूण विदिया वग्गणा होदि।···असंखेज्जपदरमेत्ता जीवपदेसा एक्केक्किस्से वग्गणाए होंति। ण च सव्ववग्गणाणं दीहत्तं समाणं, आदिवग्गणप्पहुडि विसेसहीणसरूवेण अवट्ठाणादो।

ध./१०/४,२,४,१८१/४४६/६ पढमवग्गणाए अविभागपडिच्छेदेहिंतो विदियवग्गणाए अविभागपडिच्छेदा विसेसहीणा।···पढमवग्गणाएणगजीवपदेसाविभागपडिच्छेदे णिसेगविसेसेण गुणिय पुणो तत्थ विदियगोवुच्छाए अवणिदाए ज सेसं तेत्तियमेत्तेण।·· एवं जाणिदूण णेदव्वं जाव पढमफद्दयचरिमवग्गणेत्ति। पुणो पढमफद्दयचरिमवग्गणविभागपडिच्छेदेहिंतो विदियफद्दयआदिवग्गणाए जोगाविभागपडिच्छेदा किंचूणदुगुणमेत्ता। =एक एक जीव प्रदेशमें असंख्यात लोकप्रमाण योगाविभाग प्रतिच्छेद होते हैं।१७८। एक योगस्थानमें इतने मात्र योगाविभाग प्रतिच्छेद होते हैं।१७९। वर्गणा प्ररूपणाके अनुसार असंख्यात लोकमात्र योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी एक वर्गणा होती है।१८०। इस प्रकार श्रेणीके असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात वर्गणाएँ होती हैं।१८१। योगाविभाग प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा समान सब जीव प्रदेशोंको ग्रहण कर एक वर्गणा होती है। पुनः योगाविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा परस्पर समान पूर्व वर्गणासम्बन्धी जीवप्रदेशोंके योगाविभाग प्रतिच्छेदोंसे अधिक, परन्तु आगे कही जानेवाली वर्गणाओंके एक जीवप्रदेश सम्बन्धी योगाविभागप्रतिच्छेदोंसे हीन, ऐसे दूसरे भी जीव प्रदेशोंको ग्रहण करके दूसरी वर्गणा होती है (इसी प्रकार सब वर्गणाएँ श्रेणिके असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं) ·असंख्यात प्रतर प्रमाण जीव प्रदेश एक वर्गणामें होते हैं। सब वर्गणाओंकी दीर्घता समान नहीं है, क्योंकि, प्रथम वर्गणाको आदि लेकर आगेकी वर्गणाएँ विशेष हीन रूपसे अवस्थित हैं।४४३-४४४। प्रथम वर्गणाके अविभाग प्रतिच्छेदोंसे द्वितीय वर्गणाके अविभाग प्रतिच्छेद विशेष हीन हैं।··· प्रथम वर्गणा सम्बन्धी एक जीवप्रदेशके अविभाग प्रतिच्छेदोंको निषेकविशेषसे गुणितकर फिर उसमेंसे द्वितीय गोपुच्छको कम करनेपर जो शेष रहे उतने मात्रसे वे विशेष अधिक हैं।··इस प्रकार जानकर प्रथम स्पर्धककी चरम वर्गणा सम्बन्धी अविभागप्रतिच्छेदोंसे द्वितीय स्पर्धककी प्रथम वर्गणाके योगाविभागप्रतिच्छेद कुछ कम दुगुने मात्र हैं। (इसी प्रकार आगे भी प्रत्येक स्पर्धकमें वर्गणाओंके अविभाग प्रतिच्छेद क्रमशः हीन-हीन और उत्तरोत्तर स्पर्धकोंसे अधिक अधिक हैं)।

३. योग स्पर्धकका लक्षण

ष. खं. १० / ४,२,४ / सूत्र १८२/४५२ फद्दयपरूवणाए असंखेज्जाओ वग्गणाओ सेडीए असंखेज्जदिभागमेत्तीयो तमेगं फद्दयं होदि।१८२।

ध. १०/४,४,२,१८२/४५२/५ फद्दयमिदि किं वुत्तं होदि। क्रमवृद्धिः क्रमहानिश्च यत्र विद्यते तत्स्पर्धकम्। को एत्थ कमो णाम। सगसगजहण्णवग्गाविभागपडिच्छेदेहिंतो एगेगाविभागपडिच्छेदवुड्ढी, उक्कस्सवग्गाविभागपडिच्छेदेहिंतो एगेगाविभागपडिच्छेदहाणी च कमो णाम। दुप्पहुडीण वड्ढी हाणी च अक्कमो। =(योगस्थानके प्रकरणमें) स्पर्धकप्ररूपणाके अनुसार श्रेणीके असंख्यातवें भागमात्र जो असंख्यात वर्गणाएँ हैं, उनका एक स्पर्धक होता है।।१८२। प्रश्न—स्पर्धकसे क्या अभिप्राय है? उत्तर—जिसमें क्रमवृद्धि और क्रमहानि होती है वह स्पर्धक कहलाता है। प्रश्न—यहाँ 'क्रम' का अर्थ क्या है? उत्तर—अपने-अपने जघन्य वर्गके अविभागप्रतिच्छेदकी वृद्धि और उत्कृष्ट वर्गके अविभागप्रतिच्छेदोंसे एक एक अविभाग प्रतिच्छेदकी जो हानि होती है उसे क्रम कहते हैं। दो व तीन आदि अविभागप्रतिच्छेदोंकी हानि व वृद्धिका नाम अक्रम है। (विशेष दे० स्पर्धक)।

योगचंद्र— ई. श. १२ में योगसार (दोहासार) के कर्ता दिगम्बर आचार्य हुए हैं। (हिं जै सा इ./२६ कामता)।

योग त्याग क्रिया—दे० संस्कार/२।

योग दर्शन—

१. सामान्य परिचय

मन व इन्द्रिय निग्रह ही इसका मुख्य प्रयोजन है। योगका अर्थ समाधि है। योगके अनेकों भेद हैं। राजयोग व हठयोगके भेदसे यह दो प्रकारका है। पातंजलियोग राजयोग है और प्राणायाम आदिसे परमात्माका साक्षात्कार करना हठयोग है। ज्ञानयोग कर्मयोग व भक्तियोगके भेदसे तीन प्रकार तथा मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग व राजयोगके भेदसे चार प्रकार है। (स्या. म./परि-घ/पृ.४२६)।

२. प्रवर्तक साहित्य व समय

१. श्वेताश्वतर तैत्तिरीय आदि प्राचीन उपनिषदोंमें योग समाधिके अर्थमें पाया जाता है और शाण्डिल्य आदि उपनिषदोंमें उसकी प्रक्रियाओंका सांगोपांग वर्णन है। २ योगदर्शनके आद्यप्रवर्तक हिरण्यगर्भ हैं, इनका अपरनाम स्वयंभू है। इनका कथन महाभारत जैसे प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। प्रसिद्ध व्याकरणकार पतंजलि आधुनिक योग-सूत्रोंके व्यवस्थापक हैं। इनका समय ई. पू. शताब्दी २ है। पतंजलिके योगसूत्रोंपर व्यासने भाष्य लिखा है। यह महाभारतके रचयिता व्याससे भिन्न हैं। इनका समय ई. श. ४ है। व्यास भाष्य-पर वाचस्पति-मिश्र (ई ८४०) व तत्त्ववैशारदी भोज (ई.श. १०) ने भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षुने योगवार्तिक, और नागोजी भट्ट (ई श १७) ने छाया व्याख्या नामक टीकाएँ लिखीं। (स्या. म/परि० घ/पृ. ४२६)।

३. तत्त्व विचार

१ चित्त ही एक तत्त्व है। इसकी पाँच अवस्थाएँ हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। २ चित्तका संसारी विषयोंमें भटकना क्षिप्त है, निद्रा आदिमें रत रहना मूढ है, सफलता असफलताके झूलेमें झूलते रहना विक्षिप्त है, एक ही विषयमें लगना एकाग्र है, तथा सभी वृत्तियों के रुक जानेपर वह निरुद्ध है। अन्तिम दो अवस्थाएँ योगके लिए उपयोगी हैं। ३. सत्त्वादि तीन गुणोंके उद्रेकसे उस चित्तके तीन रूप हो जाते हैं—प्रख्या, प्रवृत्ति व स्थिति। अणिमा आदि ऋद्धियोंका प्रेमी प्रख्या है। 'अन्यथाख्याति' या विवेक बुद्धि जागृत होनेपर चित्त 'धर्म मेघ समाधि' में स्थित हो जाता है। तब पुरुषका प्रतिबिम्ब चित्तपर पड़ता है, और वह चेतनवत् कार्य करने लगता है। यही चित्तकी वृत्ति है। वृत्ति व संस्कारके झूलेमें झूलते-झूलते अन्तमें कैवल्यदशाकी प्राप्ति होना स्थिति है। (योगदर्शनसूत्र)।

४. ज्ञान व प्रमाण विचार

१. चित्तकी उपरोक्त वृत्तियाँ पाँच प्रकार है—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। २ प्रत्यक्ष, अनुमान व आगम तीन प्रमाण हैं। ३. संशय व विपरीत ज्ञान विपर्यय है। ४ असत् वस्तुका संकल्प विकल्प है। ५. 'आज मैं खूब सोया' ऐसा निद्रा आदि तमस् प्रधान वृत्तिका ज्ञान निद्रा है। ६. अनुभूत विषयका स्मरण स्मृति है (योगदर्शनसूत्र)।

५. योगके आठ अंगोंका विचार

१ योगके आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। २. अहिंसादि, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूप मन वचन कायका संयम यम है। ३ शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय, व ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं। ४. पद्मासन, वीरासन आदि आसन हैं। ५. श्वासोच्छ्वासका गति निरोध प्राणायाम है। ६. इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी करना प्रत्याहार है। ७. विकल्प पूर्वक किसी एक काल्पनिक ध्येयमें चित्तको निष्ठ करना धारणा है। ८ ध्यान, ध्याता व ध्येय सहित चित्तका एकाग्र प्रवाह ध्यान है। ९ ध्यान, ध्याता व ध्येय रहित निष्ठ चित्तसमाधि है। (योगदर्शनसूत्र)।

६. समाधि विचार

१ समाधि दो प्रकारकी है—संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात। २ संप्रज्ञातको बीज समाधि भी कहते हैं, क्योंकि यह किसी ध्येयको आश्रय बनाकर की जाती है। उत्तरोत्तर सब सूक्ष्म रूपमें यह चार प्रकारकी है—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ३. स्थूल विषयसे सम्बद्ध चित्तवृत्ति वितर्क है। वितर्कानुगत दो प्रकारकी है—सवितर्क और निर्वितर्क। शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनोंकी एकतारूप भावना सवितर्क है, और केवल अर्थकी भावना निर्वितर्क है। ४. बाह्य सूक्ष्म वस्तुसे सम्बद्ध सूक्ष्माकार चित्त वृत्ति विचारानुगत है। ५ इन्द्रिय आदि सात्त्विक सूक्ष्म वस्तुसे सम्बद्ध चित्तवृत्ति आनन्दानुगत है। ६. चित्त प्रतिबिम्बित बुद्धि ही अस्मिता है, यह अत्यन्त सूक्ष्म है। इससे सम्बद्ध चित्तवृत्ति अस्मितानुगत है। (योगदर्शन सूत्र)। ७. ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय के विकल्पसे शून्य, निरालम्ब, संस्कार मात्र रूप, वैराग्य निबद्ध चित्तवृत्ति असंप्रज्ञात है। इसे निर्बीज समाधि भी कहते हैं। यह दो प्रकार है—भवप्रत्यय व उपायप्रत्यय। तहाँ अविद्या युक्त भव प्रत्यय है जो दो प्रकार है—विदेह और प्रकृति लय। इन्द्रियों व भूतोंकी वासनाके संस्कारसे युक्त, विवेक ख्याति शून्य अवस्था विदेह है। 'हमें कैवल्य प्राप्त हो गया है', ऐसी भावना वाला व्यक्ति पुनः संसारमें आता है, अतः भवप्रत्यय कहलाता है। अव्यक्त महत् आदिकी वासनाके संस्कारसे युक्त प्रकृतिलय है। यह भी संसारमें लौट आता है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, संप्रज्ञात, प्रज्ञा व असंप्रज्ञातके क्रमसे योगियोंको अविक्षिप्त शान्तचित्तता प्रगट हो जाती है। यही उपायप्रत्यय असंप्रज्ञात है। इससे अविद्याका नाश हो जाता है। और वह पुनः संसारमें नहीं आता है। (योगदर्शन सूत्र)।

७. विघ्न व क्लेश विचार

१ चित्त विक्षेपका नाम विघ्न है। वह नौ प्रकार है—रोग, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद (समाधिके प्रति निरुत्साह), आलस्य (शरीर व मनका भारीपना), विषयासक्ति, भ्रान्तिदर्शन (विपर्ययज्ञान), समाधिभूमिका अपाय, भूमिको पाकर भी चित्तका स्थिर न होना। ऐसे विक्षिप्त चित्त वालेको दुःख, दौर्मनस्य (इच्छाकी अपूर्ति) होनेसे चित्तमें क्षोभ, शरीरमें कम्पन तथा श्वास-प्रश्वास होने लगता है। २ इन विघ्नोंको रोकनेके लिए—तत्त्वावलम्बनका अभ्यास, सर्व सत्त्व मैत्री, प्रमोद, कारुण्य तथा माध्यस्थता करनी योग्य है। असमाहित चित्त व्यक्ति निष्काम कर्म व फल समर्पण बुद्धि द्वारा विघ्नोंका नाश कर सकता है। पीछे प्रज्ञाका उदय होने पर समाधि धारण करता है। ३ क्लेश पाँच प्रकारका है—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष व अभिनिवेश। ४. अनित्य, अशुचि व अनात्मभूत पदार्थोंमें नित्य, शुचि व आत्मभूतपनेकी प्रतीति अविद्या है। ५ पुरुष और बुद्धिको एक मानना अस्मिता है। ६ सुखके प्रति रति राग है। ७ दुःखके प्रति अरति द्वेष है। ८ मृत्युका भय अभिनिवेश है। (योगदर्शन सूत्र)।

८. भूमि व प्रज्ञा विचार

१. योगीकी साधनाके मार्गमें क्रमशः चार भूमियाँ प्रगट होती है—प्रथमकल्पिक, मधुभूमिक, प्रज्ञाज्योति तथा अतिक्रान्त भावनीय। २. समाधिके प्रति प्रवृत्तिमात्र चित्त प्रथमकल्पिक है। ३. इन्द्रियो व भूतोंको अपने वशमें करनेकी इच्छा वाली ऐसी ऋतम्भरा प्रज्ञा मधुभूमि है। यह देवगतिके सुखोंका कारण होनेसे अनिष्ट है। ४ इन्द्रियवशी तथा असम्प्रज्ञात समाधिके प्रति उद्यमशील प्रज्ञाज्योति है। ५. असम्प्रज्ञात समाधिमें पहुँचकर केवल एकमात्र चित्तको लय करना शेष रह जाता है। तब अतिक्रान्तभावनीय भूमि होती है। ६ अनात्मा व आत्माके विवेकको विवेकख्याति कहते है। वह जागृत होनेपर योगीको प्रान्तभूमि प्रज्ञा प्राप्त होती है। वह छह प्रकारकी है—हेम, क्षेतव्य, हान, अन्य कुछ नही चाहिए, भोग सम्पादन रूप मुक्ति, लय और जीवनमुक्ति। ७. हेम तत्त्वोंका ज्ञान हेम है। ८. इस ज्ञानके हो जानेपर अन्य कुछ क्षीण करने योग्य नही यह क्षेतव्य है। ९ अन्य कुछ निश्चय करना शेष नहीं यह हान है। १० हानके उपायोकी प्राप्ति हो जाने पर अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं। ११. मुक्ति तीन प्रकार है—बुद्धि भोगका सम्पादन कर चुकी और विवेक ज्योति प्रगट हो गयी, सत्त्व आदि त्रिगुण अपने-अपने कारणोंमे लय होनेके अभिमुख हुए अब इनकी कभी अभिव्यक्ति न होगी, तथा ज्योति स्वरूप केवली पुरुष जीवित भी मुक्त है। १२. इन सात भूमियोका अनुभव करनेवाला पुरुष कुशल कहलाता है। (योगदर्शन सूत्र)।

९. परिणाम विचार

१. सांख्यवत् यह भी परिणामवादी है। भूतोमें सांख्यो वत् धर्म, लक्षण व अवस्था परिणाम होते है और चित्तमें निरोध, समाधि व एकाग्रता। चित्तकी संसारावस्था व्युत्थान और समाधिस्थ अवस्था निरोध है। दो अवस्थाओंमें परिणाम अवश्य होता है। धर्म आदि तीनो परिणाम चित्तमें भी लागू होते हैं। व्युत्थान धर्मका तिरोभाव होकर निरोधका प्रादुर्भाव होना धर्म परिणाम है। दोनो धर्मोकी अतीत, वर्तमान व अनागत कालमें अवस्थान लक्षण परिणाम है। और दोनो परिणामोका दुर्बल या बलवान् होना अवस्थापरिणाम है। (योग दर्शन सूत्र)

१०. कर्म विचार

१ रजोगुणके कारण क्रियाशील चित्तमें कर्म होता है, उससे संस्कार या कर्माशय, उससे वासना और वासनासे पुनः कर्म, यह चक्र बराबर चलता रहता है। कर्म चार प्रकारके होते हैं—कृष्ण, शुक्ल कृष्ण, शुक्ल, अशुक्ल अकृष्ण। पापकर्म कृष्ण, पुण्यकर्म शुक्ल, दोनोसे मिश्रित कृष्ण शुक्ल और निष्काम कर्म अशुक्ल-अकृष्ण है। प्रथम तीन बन्धके कारण है। और चौथा न बन्धका कारण है और न मुक्ति का। २. कर्म वासनाके आधीन है। अनेक जन्म पहलेकी वासनाएँ अनेक जन्म पश्चात् उद्बुद्ध होती है। अविद्या ही वासना का मूल हेतु है। धर्म, अधर्म आदि कार्य है और वासना उनका कारण। मन वासनाका आश्रय है, निमित्तभूत वस्तु आलम्बन है, पुण्य-पाप उसके फल हैं। (योगदर्शन सूत्र)

११. मुक्तात्मा व ईश्वर विचार

१ यम नियमके द्वारा पाँच प्रकार क्लेशोंका नाश होकर वैराग्य प्रगट होता है, और उसमे आठ अगोंके क्रम पूर्वक असप्रज्ञात समाधि हो जाती है। मार्गमें आने वाली अनेक ऋद्धियो व सिद्धियों रूप विघ्नोंका दूससे ही त्याग करता हुआ चित्त स्थिर होता है, जिससे समस्त कर्म निर्दग्ध बीजवत् नष्ट हो जाते है। त्रिगुण साम्यावस्थाको प्राप्त होते है। चैतन्य मात्र ज्योतिर्मय रह जाता है। यही कैवल्य या मुक्ति है। २ चित्तको आत्मा समझने वाला योगी शरीर छूटने पर प्रकृतिमे लीन हो जाता है। वह पुनः संसारमें आ सकता है। अतः मुक्त पुरुषसे वह भिन्न है। ३ त्रिकाल शुद्ध चैतन्यपुरुष है। सादि-शुद्ध व अनादि शुद्धकी अपेक्षा मुक्तात्मा पुरुषमें भेद है। ४. उपरोक्त तीनोंसे भिन्न ही ईश्वर है। वह ज्ञान इच्छा, व क्रिया-शक्तिसे युक्त होता हुआ सदा जगतके जीवों पर उपदेशादि द्वारा तथा सृष्टि, प्रलय व महाप्रलय आदि द्वारा अनुग्रह करता है। ५. प्रणव ईश्वरका वाचक नाम है। इसके ध्यानसे बुद्धि सात्त्विक होती है, अत. मोक्षमार्गमें ईश्वरकी स्वीकृति परमावश्यक है। (योगदर्शन सूत्र)

१२. योग व सांख्य दर्शनकी तुलना

क्योकि पतंजलिने सांख्यतत्त्वके ऊपर ही योगके सिद्धान्तोंका निर्माण किया है, इसलिए दोनोंमे विशेष अन्तर नही है। फिर मोक्ष-प्राप्तिके लिए सांख्यदर्शन केवल तत्त्वज्ञान पर जोर देता है जब कि योगदर्शन यम, नियम, ध्यान, समाधि आदि सक्रियात्मक प्रक्रियाओ पर जोर देता है। इसलिए दोनोंमें भेद है। (स्या. मं/परि०-घ/पृ. ४२१)।

१३. जैन दर्शनमें योगका स्थान

जैन आम्नायमें भी दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनो ही आचार्योंने विभिन्न शब्दो द्वारा ध्यान, समाधि आदिका विशद वर्णन किया है, और इसे मोक्षमार्गका सर्वप्रधान अग माना है। जैसे—दिगम्बर आम्नायमें—तत्त्वार्थसूत्र अध्याय ९ व इसकी टीकाएँ सर्वार्थसिद्धि व राजवार्तिक आदि। ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन, नामक ग्रन्थ। और श्वेताम्बर आम्नायमें—हरिभद्रसूरिकृत योगबिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगविंशिका, षोडशक आदि तथा यशोविजय कृत अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद्, योगलक्षण, पातजलियोगलक्षणविचार, योगभेद, योगविवेक, योगावतार, मित्रा, तारादित्रय, योग माहात्म्य, आदि अनेक ग्रन्थ। (योगदर्शन सूत्र)

योग निरोध—ध. १३/५,४,२६/८४/१२ को जोगणिरोहो। जोगविणासो। =योगोंके विनाशको योगनिरोध सज्ञा है।

योग निर्वाण क्रिया—दे० क्रिया/३।

योगमार्ग—आचार्य सोमदेव (ई. ९४३-९६८) द्वारा विरचित ध्यान विषयक संस्कृत छन्द-बद्ध ग्रन्थ हैं। इसमें ४० श्लोक है।

योगमुद्रा—दे० मुद्रा।

योगवक्रता—

स सि./६/२२/३३७/१ योगस्त्रिप्रकारो व्याख्यातः। तस्य वक्रता कौटिल्यम्। =तीनो योगोका व्याख्यान कर आये है। इसकी कुटिलता योगवक्रता है। (रा. वा./६/२२/१/५२८/९)।

२. योगवक्रता व विसंवादमें अन्तर

स. सि /६/२२/३३७/२ ननु च नार्थभेद। योगवक्रतैवान्यथाप्रवर्तनम्। सत्यमेवमेतत्—स्वगता योगवक्रतेत्युच्यते। परगतं विसवादनम्। सम्यगभ्युदयनिःश्रेयसार्थासु क्रियासु प्रवर्तमानमन्यं तद्विपरीतकायवाङ्मनोभिर्विसवादयति मैवं कार्षीरेवं कुर्विति। =प्रश्न—इस तरह इनमें अर्थभेद नहीं प्राप्त होता, क्योकि योगवक्रता और अन्यथा प्रवृत्ति करना एक ही बात है? उत्तर—यह कहना सही है तब भी योग वक्रता स्वगत है और विसवादन परगत। जो स्वर्ग और मोक्षके योग्य समीचीन क्रियाओंका आचरण कर रहा है उसे उसके विपरीत

मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति द्वारा रोकना कि ऐसा मत करो विसंवादन है। इस प्रकार ये दोनों एक नहीं है किन्तु अलग-अलग है।

योगवर्गणा—दे० योग/६।

योगशास्त्र—श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई १०८८-११७३) कृत आध्यात्मिक ग्रन्थ।

योगसंक्रांति—दे० शुक्लध्यान/१।

योग संग्रह क्रिया—दे० संस्कार/२।

योगसार—१. आ योगेन्दुदेव (ई. श. ६) द्वारा रचित प्राकृत दोहा बद्ध आध्यात्मिक ग्रन्थ है। इसमें कुल १०८ दोहे है। २ आचार्य *अमितगति* (ई. ६१८-६६८) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध अध्यात्म-विषयक ग्रन्थ है। इसमे ६ अधिकार है। कुल ५४० श्लोक प्रमाण है। ३. आ. योगचन्द्र (ई श. १२) द्वारा रचित अध्यात्मशास्त्र है। इसे दोहासार भी कहते है।

योगस्पर्धक—दे० स्पर्धक।

योगाचार मत—दे० बौद्धदर्शन।

योगी—

न च. वृ /३८८ णिज्जियसासो णिप्फंदलोयणो मुक्कसयलवावारो। जो एहावत्थगओ सो जोई णत्थि संदेहो।३८८। =जिसने श्वासको जीत लिया है, जिसके नेत्र टिमकार रहित है, जो कायके समस्त व्यापारमे रहित है, ऐसी अवस्थाको जो प्राप्त हो गया है, वह निस्सदेह योगी है।

ज्ञा. सा /४ कदर्पदर्पदलनो दम्भविहीनो विमुक्तव्यापार'। उग्रतपो दीप्तगात्र' योगी विज्ञेय' परमार्थ ।४। =कन्दर्प और दर्पका जिसने दलन किया है, दम्भसे जो रहित है, जो कायके व्यापारसे रहित है, जिसका शरीर उग्रतपसे दीप्त हो रहा है, उसीको परमार्थसे योगी जानना चाहिए/४।

२. योगीके भेद व उनके लक्षण

पं. का./ता वृ/१७३/२५४/३ द्विधा ध्यातारो भवन्ति शुद्धात्मभावना-प्रारम्भका. पुरुषा सूक्ष्मसविकल्पावस्थायां प्रारब्धयोगिनो भण्यन्ते निर्विकल्पशुद्धात्मावस्थाया पुनर्निष्पन्नयोगिन इति। =दो प्रकारके ध्याता होते है। शुद्धात्म भावनाके प्रारम्भक और सूक्ष्म सविकल्प अवस्थामें जो स्थित है, ऐसे पुरुषोंको **प्रारब्धयोगी** कहते है। और निर्विकल्प अवस्थामें स्थित पुरुषको **निष्पन्नयोगी** कहते है।

★ जीवको योगी कहने की विवक्षा—दे० जीव/१/३।

योगेंदुदेव—आप अत्यन्त विरक्त चित्त दिगम्बराचार्य थे। आप अवश्य ही पहले वैदिक मतानुसारी रहे होगे क्योंकि आपकी कथनशैलीमें वैदिक मान्यताके शब्द बहुलतासे पाये जाते है। आपका शिष्य प्रभाकर भट्ट था। इनके सम्बोधनार्थ ही आपने परमात्मप्रकाश नामका ग्रन्थ रचा था। आपको जोइन्दु, योगीन्दु, योगेन्दु, जोगिचन्द इन नामोसे भी पुकारा जाता था। आपने अपभ्रंश व संस्कृतमें अनेको ग्रन्थ लिखे है। कृति—१ स्वानुभवदर्पण; २ परमात्मप्रकाश, ३, योगसार (अप०), ४ दोहा पाहुड; ५. सुभाषित-रत्नसदोह, ६ तत्त्वार्थ टीका (अप०), ७ अमृताशीति (अप०), ८, निजात्माष्टक (प्रा०), ६. नौकार श्रावकाचार (अप०)। नोट—(प्रथम दोके अतिरिक्त अन्यके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि इन्ही योगेन्दुदेवकी थी या अन्य किन्हीं योगेन्द्र की। समय—ई. श. ६. (का अ./प्र. ६८/A. N. Up.), (प. प्र/प्र. १००, ११२/A N. Up)।

योग्यता

१. पर्यायोंको प्राप्त करनेकी शक्ति—दे० निक्षेप/५/१।

२. क्षयोपशमसे प्रगटी शक्ति

प्रमाण परीक्षा/पृ. ६७ योग्यताविशेष' पुन' प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेष एव। =योग्यतारूप जो विशेष वह प्रत्यक्षकी भाँति अपने अपने विषयभूत ज्ञानावरणीय तथा वीर्यान्तरायका क्षयोपशम विशेष ही है।

श्लो. वा. ३/१/१३/१०६/२६३ क्षयोपशमसञ्ज्ञेयं योग्यतात्र समानता। =क्षयोपशम नाम यह योग्यता यहाँ •।

प मु /२/१० स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति। =जानने रूप अपनी शक्तिको ढँकनेवाले कर्मकी क्षयोपशमरूप अपनी योग्यतासे ही ज्ञान-घट-पटादि पदार्थोंकी जुदी-जुदी रीतिसे व्यवस्था कर देता है। (स्या म./१६/२०१/१०)।

प्रमेयकमलमार्तण्ड/२-१०प्रतिनियतार्थव्यवस्थापको हि तत्तदावरणक्षयोपशमोऽर्थग्रहणशक्तिरूप'। तदुक्तम्-तल्लक्षणयोग्यता च शक्तिरेव। सैव ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थव्यवस्थायामङ्ग' नार्थोत्पत्त्यादि। =प्रतिनियत अर्थकी व्यवस्था करनेवाली उस-उस आवरणकर्मके क्षयोपशम रूप अर्थ ग्रहणकी शक्ति योग्यता कहलाती है। कहा भी है कि—क्षयोपशम लक्षणवाली योग्यता ही वह शक्ति है जो कि ज्ञानके प्रतिनियत अर्थकी व्यवस्था करनेमें प्रधान कारण है।

न्या दी./२/५/२७/६ का नाम योग्यता। उच्यते, स्वावरणक्षयोपशम'। प्रश्न—योग्यता किसे कहते है। उत्तर—अपने आवरण (ज्ञानको ढँकनेवाले कर्म) के क्षयोपशमको योग्यता कहते है।

३. स्वाभाविक शक्ति

श्लो वा./१/१/१/१२६/५६०-५६१/२३ योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्ति, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिस्तस्या प्रतिनियम., शालिबीजाङ्कुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्यैव शाल्यङ्कुरजनने शक्तिर्न यवबीजस्य, तस्य यवाङ्कुरजनने न शालिबीजस्येति कथ्यते। तत्र कुतस्तच्छक्तेस्तादृश' प्रतिनियम'। स्वभावत इति चेन्न, अप्रत्यक्षत्वात्। =कार्यकारण भावके प्रकरणमें योग्यताका अर्थ कारणकी कार्यको पैदा करनेकी शक्ति और कार्यकी कारणसे जन्यपनेकी शक्ति ही है। उस योग्यताका प्रत्येक विवक्षित कार्य कारणोंमें नियम करना यही कहा जाता है कि धानके बीज और धानके अकुरोंमें भिन्न-भिन्न समय वृत्तिपनेकी समानताके होनेपर भी साठी चावलके बीजकी ही धानके अकुरोंको पैदा करनेमे शक्ति है। किन्तु जौके बीजकी धानके अकुर पैदा करनेमें शक्ति नहीं है। तथा उस जौके बीजकी जौके अकुर पैदा करनेमे शक्ति है। हाँ, धानका बीज जौका अकुर नही उत्पन्न कर सकता है। यही योग्यता कही जाती है। प्रश्न—ऊपरके प्रकरणमे कही गयी उस योग्यता रूप शक्तिका वैसा प्रत्येकमें नियम आप कैसे कर सकेंगे ? उत्तर—यह शक्तियोंका प्रतिनियम उन-उन पदार्थोंके स्वभावसे हो जाता है। क्योंकि असर्वज्ञोंको शक्तियोका प्रत्यक्ष नही होता है।

★ द्रव्यके परिणमनमें उसकी योग्यता ही कारण है
—दे० कारण/II/१

योजन—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

योजना योग—दे० योग।

योनि—जीवोंके उत्पन्न होनेके स्थानको योनि कहते है। उसको दो प्रकारसे विचार किया जाता है—शीत, उष्ण, संवृत, विवृत आदिकी अपेक्षा और माताकी योनिके आकारकी अपेक्षा।

१. योनि सामान्यका लक्षण

स सि./२/३२/१८८/१० योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचयः। =उपपाद देशके पुद्गल प्रचय रूप योनि है।

रा. वा /२/३२/१०/१४२/१३ यूयत इति योनिः। =जिसमें जीव जाकर उत्पन्न हो उसका नाम योनि है।

गो जी./जी. प्र /८१/२०२/६ यौति मिश्रीभवति औदारिकादिनोकर्मवर्गणापुद्गलैः सह संबध्यते जीवो यस्या सा योनि —जीवोत्पत्तिस्थानम्। =योनि अर्थात् मिश्ररूप होता है। जिसमें जीव औदारिकादि नोकर्म वर्गणारूप पुद्गलोंके साथ सम्बन्धको प्राप्त होता है ऐसे जीवके उपजनेके स्थानका नाम योनि है।

२. योनिके भेद

१. आकारोंकी अपेक्षा

मू. आ./११०२ संखावत्तयजोणी कुम्मुण्णद वंसपत्तजोणी य। =शंखावर्त योनि, कूर्मोन्नतयोनि, वंशपत्रयोनि—इस तरह तीन प्रकारकी आकार योनि होती है। (गो जी./मू./८१/२०३)।

२. शीतोष्णादिकी अपेक्षा

त. सू /२/३२ सचित्तशीतसंवृता सेतरा मिश्राश्चैकशस्तद्योनयः। =सचित, शीत और संवृत तथा इनकी प्रतिपक्षभूत अचित, उष्ण और विवृत तथा मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त, शीतोष्ण और संवृत-विवृत ये उसकी अर्थात् जन्मकी योनियाँ है।३२।

३. चौरासी लाख योनियोंकी अपेक्षा

मू. आ /२२६ णिच्चिदरधादु सत्त य तरु दस विगलिंदिएसु छच्चेव। सुरणरयतिरिय चउरो चउदस मणुए सदसहस्सा।२२६। =नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथिवीकायसे लेकर वायुकाय तक—इनके सात सात लाख योनि है। प्रत्येक वनस्पतिके दश योनि है, दो इन्द्रियसे चौइन्द्री तक सब छह लाख ही है, देव व नारकी और पंचेन्द्री तिर्यंचोके चार-चार लाख योनि है, तथा मनुष्योंके चौदह लाख योनि है। सब मिलकर चौरासीलाख योनि है।२२६। (मू आ/११०४), (बा. अ/३५); (ति. प /५/२९७); (ति. प /८/७०१); (त. सा /२/११०-१११), (गो. जी /मू /८६/२११), (नि. सा /ता वृ./४२)।

३. सचित्ताचित्त योनिके लक्षण

स सि./२/३२/१८७-१८८/१० आत्मनश्चैतन्यविशेषपरिणामश्चित्तम्। सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः। शीत इति स्पर्शविशेषः, सम्यग्वृत संवृत। संवृत इति दुरुपलक्ष्यप्रदेश उच्यते। योनिरुपपाददेशपुद्गलप्रचयोऽचित्तः। मातुरुदरे शुक्रशोणितमचित्तम्, तदात्मना चित्तवता मिश्रणान्मिश्रयोनिः। =आत्माके चैतन्य विशेष रूप परिणामको चित्त कहते है। जो उसके साथ रहता है वह सचित्त कहलाता है। शीत यह स्पर्शका एक भेद है। जो भले प्रकार ढका हो वह संवृत कहलाता है, यहाँ संवृत ऐसे स्थानको कहते है जो देखनेमें न आवे। उपपाद देशके पुद्गलप्रचयरूप योनि अचित्त है।·· माताके उदरमें शुक्र और शोणित अचित्त होते है जिनका सचित्त माता की आत्माके साथ मिश्रण है इसलिए वह मिश्रयोनि है। (रा. वा./२/३२/१-५/१४१/२२)।

४. सचित्त-अचित्तादि योनियोंका स्वामित्व

मू. आ /१०९९-११०१ एइंदिय णेरइया संवुडजोणी हवंति देवा य। वियलिंदिया य वियडा संवुडवियडा य गब्भेसु।१०९९। अचित्ता खलु जोणी णेरइयाणं च होइ देवाणं। मिस्सा य गब्भजम्मा तिविही जोणी दु सेसाणं।११००। सीदुण्हा खलु जोणी णेरइयाणं तहेव देवाणं। तेऊण उसिणजोणी तिविहा जोणी दु सेसाणं।११०१। =एकेन्द्रिय, नारकी, देव इनके संवृत (दुरुपलक्ष) योनि है, दोइन्द्रियसे चौइन्द्रीतक विवृत योनि है। और गर्भजोंके संवृतविवृत योनि है।१०९९। अचित्त योनि देव और नारकियोंके होती है, गर्भजोके मिश्र अर्थात् सचित्ताचित्त योनि होती है। और शेष सम्मूर्च्छनोंके तीनों ही योनि होती है।११००। (दे० आगे स. सि.)। नारकी और देवोके शीत, उष्ण योनि है, तेजस्कायिक जीवोके उष्ण योनि है। और शेष एकेन्द्रियादिके तीनो प्रकारकी योनि है।।११०१। (स सि /२/३२/१८८/१०); (रा वा /२/३२/१८-२६/१४३/१) (गो. जी /मू./८५-८७/२०८)।

ति प /४/२९४८-२९५०·· गब्भुब्भवजीवाणं मिस्सं सच्चित्तजोणीए। ।२९४८। सीदं उण्हं मिस्सं जीवेसु होंति गब्भपभवेसुं। ताणं भवंति संवदजोणीए मिस्सजोणी य।२९४९। सीदुण्हमिस्सजोणी सच्चित्ताचित्तमिस्सवियडा य। सम्मुच्छिममणुवाणं सच्चित्तए होंति जोणीओ।२९५०।=१ मनुष्य गर्भज—गर्भ जन्मसे उत्पन्न जीवोंके सचित्तादि तीन योनियोंमेंसे मिश्र (सचित्तासचित्त) योनि होती है।२९४८। गर्भसे उत्पन्न जीवोंके शीत, उष्ण और मिश्र योनि होती है। तथा इन्हीं गर्भज जीवोंके संवृतादिक तीन योनियोंमेंसे मिश्र योनि होती है।२९४९। २ सम्मूर्च्छन मनुष्य—सम्मूर्छन मनुष्योंके उपर्युक्त सचित्तादिक नौ गुणयोनियोंमेंसे शीत, उष्ण, मिश्र (शीतोष्ण), सचित्त, अचित्त, मिश्र (सचित्ताचित्त) और विवृत ये योनियाँ होती है।२९५०।

ति प /५/२९३-२९५ उप्पत्ती तिरियाणं गब्भजसमुच्छिमो त्ति पत्तेक्कं। सच्चित्तसीदसंवदसेदरमिस्सा य जहजोग्गं।२९३। गब्भुब्भवजीवाणं मिस्सं सच्चित्तणामधेयस्स। सीदं उण्हं मिस्सं संवदजोणिम्मि मिस्सा य।२९४। संमुच्छिमजीवाणं सचित्ताचित्तमिस्ससीदुसिणा। मिस्सं संवदवियुदं णवजोणीओ हु सामण्णा।२९५।

ति प /८/७००-७०१ भावणवेंतरजोइसियकप्पवासीणमुववादे। सीदुण्ह अच्चित्तं संउदया होंति सामण्णे।७००। एदाणं चउविहाणं सुराण सव्वाण होंति जोणीओ। चउलक्खा हु विसेसे इंदियकल्लादरूवाओ।७०१।=३ गर्भज तिर्यंच—तिर्यंचोंकी उत्पत्ति गर्भ और सम्मूर्छन जन्मसे होती है। इनमेंसे प्रत्येक जन्मकी सचित्त, शीत, संवृत तथा इनसे विपरीत अचित्त, उष्ण, विवृत और मिश्र (सचित्ताचित्त, शीतोष्ण, संवृतविवृत), ये यथायोग्य योनियाँ होती है।२९३। =गर्भसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंमें सचित्त नामक योनिमेंसे मिश्र (सचित्ताचित्त), शीत, उष्ण, मिश्र (शीतोष्ण) और संवृत योनिमें मिश्र (संवृत-विवृत) योनि होती है।२९४। ४ सम्मूर्च्छन तिर्यंच—सम्मूर्च्छन जीवोके सचित, अचित्त मिश्र (सचित्ताचित्त) शीत उष्ण, मिश्र, (शीतोष्ण) और संवृत योनिमेंसे मिश्र (संवृत-विवृत) योनि होती है।२९५। ५ उपपादजदेव—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासियोंके उपपाद जन्ममें शीतोष्ण, अचित्त और संवृत योनि होती है। इन चारों प्रकारके सब देवोंके सामान्य रूपसे सब योनियाँ होती है। विशेषरूपसे चार लाख योनियाँ होती है।७००-७०१।

स सि /२/३२/१८९/१ सचित्तयोनयः साधारणशरीराः। कुतः। परस्पराश्रयत्वात्। इतरे अचित्तयोनयो मिश्रयोनयश्च। =साधारण शरीरवालोंकी सचित्त योनि होती है, क्योंकि ये एक दूसरेके आश्रयसे रहते है। इनसे अतिरिक्त शेष सम्मूर्च्छन जीवोंके अचित्त और मिश्र दोनो प्रकारकी योनियाँ होती है। (रा. वा /२/३२/२०/१४३/६)।

५. शंखावर्त आदि योनियोंका स्वामित्व

मू आ /११०२-११०३ तत्थ य संखावत्ते णियमादु विवज्जए गब्भो। ।११०२। कुम्मुण्णद जोणीए तित्थयरा दुविहचक्कवट्टीय। रामावि य

जायते सेसा सेसेसु जोणीसु ।११०३। =शंखावर्त योनिमें नियमसे गर्भ नष्ट हो जाता है।११०२। कूर्मोन्नत योनिमें तीर्थंकर, चक्री, अर्धचक्री, दोनों बलदेव ये उत्पन्न होते हैं और बाकी की योनियोंमें शेष मनुष्यादि पैदा होते हैं।११०३। (ति. प./४/२९५२), (गो. जी /मू /८१-८२/२०३-२०४)।

६. जन्म व योनिमें अन्तर

स. सि./२/३२/१८८/७ योनिजन्मनोरविशेष इति चेत्। न, आधाराधेयभेदात्तद्भेदः। त एते सचित्तादयो योनय आधाराः। आधेया जन्मप्रकाराः। यत सचित्तादियोन्यधिष्ठाने आत्मा सम्मूर्च्छनादिना जन्मना शरीराहारेन्द्रियादियोग्यान्पुद्गलानुपादत्ते। =प्रश्न—योनि और जन्ममें कोई भेद नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि आधार और आधेयके भेदसे उनमें भेद है। ये सचित्त आदिक योनियाँ आधार हैं, और जन्मके भेद आधेय हैं, क्योंकि सचित्त आदि योनि रूप आधारमें सम्मूर्च्छन आदि जन्मके द्वारा आत्मा, शरीर, आहार और इन्द्रियोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है। (रा. वा /२/३२/१३/१४२/१६)।

योनिमति—योनिमति मनुष्य व तिर्यंच निर्देश—दे० वेद/३।

यौग—नैयायिक दर्शनका अपर नाम—दे० न्याय/१/७।

[र]

रइधू—अपभ्रंश जैन कवि थे। अपरनाम रायधू था। कृति—जीवन्धरचरित्र (अप०), पद्मपुराण (अप०), पार्श्वपुराण (अप०), हरिवंश पुराण (अप०)। समय—वि श १५-१६ (ई १४३६) म. पु /प्र /२०/पन्नालाल), (जीवन्धरचम्पू/प्र./A. N. Up)।

रक्कस—वेङ्गोरेगरेके राजा थे। समय-ई० ६७७ (सि. वि /म /७५/पं. महेन्द्र)।

रक्तकंबला—सुमेरु पर्वतस्थ एक शिला है। इस पर ऐरावत क्षेत्रके तीर्थंकरोंका जन्म कल्याणकके सम्बन्धी अभिषेक किया जाता है। —दे० लोक/३/१४।

रक्तशिला—सुमेरु पर्वतस्थ एक शिला है। जिस पर पूर्व विदेहके तीर्थंकरोंका जन्म कल्याणके अवसर पर अभिषेक किया जाता है। —दे० लोक/३/१४।

रक्ताकुंड— ऐरावत क्षेत्रस्थ एक कुण्ड, जिसमेंसे रक्ता नदी निकलती है। —दे० लोक/७।

रक्ताकूट—शिखरी पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

रक्तादेवी—रक्ताकुण्ड व रक्ताकूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

रक्तानदी—ऐरावत क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे० लोक/३/१०।

रक्तोदाकुण्ड—ऐरावत क्षेत्रस्थ एक कुण्ड—दे० लोक/३/६।

रक्तोदादेवी—रक्तोदाकुण्डकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

रक्तोदानदी—ऐरावत क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे० लोक/७।

रक्षा बन्धन व्रत—श्रावण शु. १५ के दिन विष्णुकुमार मुनिने अकम्पनादि ७०० मुनियों पर राजा बलि द्वारा किया गया उपसर्ग दूर किया था। इस दिनको रक्षाबन्धन कहते है। इस दिन उपवास करे और पीला सूत हाथमें बाँधे। और 'ॐ ह्रीं विष्णुकुमारमुनये नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान स /पृ.१०८)।

रघु—इक्ष्वाकु वंशमें अयोध्या नगरीका राजा था। (प पु /२२/१६०)। अनुमानतः इसीसे रघुवंशकी उत्पत्ति हुई हो।

रघुनाथ—नव्यन्यायका प्रसिद्ध प्रणेता। समय—ई० १५३०। —दे० न्याय/१/७।

रघुवंश—दे० इतिहास/७/११।

रज—ध १/१,१,१/४३/७ ज्ञानदृगावरणानि रजांसीव बहिरङ्गान्तरङ्गाशेषत्रिकालगोचरानन्तार्थव्यञ्जनपरिणामात्मकवस्तुविषयबोधानुभवप्रतिबन्धकत्वाद्रजांसि। मोहोऽपि रज भस्मरजसा पूरितानानामिव भूयो मोहावरुद्धात्मना जिह्मभावोपलम्भात्। =ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्म धूलिकी तरह बाह्य और अन्तरंग समस्त त्रिकालके विषयभूत अनन्त अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय स्वरूप वस्तुओंको विषय करने वाले बोध और अनुभवके प्रतिबन्धक होनेसे रज कहलाते हैं। मोहको भी रज कहते हैं, क्योंकि, जिस प्रकार जिनका मुख भस्मसे व्याप्त होता है उनमें जिह्म भाव अर्थात् कार्यकी मन्दता देखी जाती है, उसी प्रकार मोहसे जिनका आत्मा व्याप्त हो रहा है उनके भी जिह्मभाव देखा जाता है।

रजत—१. माल्यवान पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७। २. मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७, ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट —दे० लोक/७।

रजस्वला—दे० सूतक।

रज्जू—१ औदारिक शरीरमें मास रज्जुओंका प्रमाण—दे० औदारिक/२, २. क्षेत्रका एक प्रमाण विशेष—दे० राजू।

रति—

स. सि /८/९/३८५/१३ यदुदयाद्देशादिष्वौत्सुक्यं सा रतिः। अरतिस्तद्विपरीता। =जिसके उदयसे देशादिमें उत्सुकता होती है वह रति है। अरति इससे विपरीत है। (रा. वा /८/९/४/५७४/१७); (गो क /जी. प्र /३३/२८/७)।

ध. ६/१,९-१,२४/४७/१ रमणं रतिः, रम्यते अनया इति वा रतिः। जेसिं कम्मक्खंधाणमुदएण दव्व-खेत्त-काल-भावेसु रदी समुप्पज्जइ, तेसिं रदि त्ति सण्णा। दव्व-खेत्त-काल-भावेसु जेसिमुदएण जीवस्स अरई समुप्पज्जइ तेसिमरदि त्ति सण्णा। =रमनेको रति कहते हैं अथवा जिसके द्वारा जीव विषयोंमें आसक्त होकर रमता है उसे रति कहते हैं। जिन कर्म स्कन्धोंके उदयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंमें राग उत्पन्न होता है, उनकी 'रति' यह संज्ञा है। जिन कर्म स्कन्धोंके उदयसे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावोंमें जीवके अरुचि उत्पन्न होती है, उनकी अरति संज्ञा है। (ध १३/५,५,९६/३६१/९)।

ध. १२/४,२,८,१०/२८५/६ नप्तृ-पुत्र-कलत्रादिषु रमणं रतिः। तत्प्रतिपक्षा अरतिः। =नाती, पुत्र एवं स्त्री आदिकोंमें रमण करनेका नाम रति है। इसकी प्रतिपक्षभूत अरति कही जाती है।

नि. सा./ता वृ /६ मनोज्ञेषु वस्तुषु परमा प्रीतिरेव रतिः। =मनोहर वस्तुओंमें परम प्रीति सो रति है।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. रति राग है। —दे० कषाय/४।
२. रति प्रकृतिका बन्ध उदय व सत्त्व। —दे० वह वह नाम।
३. रति प्रकृतिके बन्ध योग्य परिणाम। —दे० मोहनीय/३/६।

रति उत्पादक वचन—दे० वचन।

रतिकार—नन्दीश्वर द्वीपकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें चार-चार बावडियाँ है। प्रत्येक बावडीके दोनों बाहर वाले कोनों पर एक-एक ढोलाकार (Cylindrical) पर्वत है। लाल वर्णका होनेके कारण इनका नाम रतिकर है। इस प्रकार कुल ३२ रतिकर हैं। प्रत्येकके शीशपर एक एक जिनमन्दिर है—विशेष दे० लोक/४/५।

रतिकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

रतिप्रिय—किंनरनामा व्यन्तर जातिका एक भेद। —दे० किन्नर।

रतिषेण—म पु./५१/श्लोक न. "पुष्कलावती देशकी पुण्डरीकिणी नगरीका राजा था (२-३)। पुत्रको राज्य देकर जिनदीक्षा ग्रहण की (१२-१३)। सोलहकारण भावनाओंका चिन्तवन कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। अन्तमें सन्यास मरण कर वैजयन्त विमानमें अहमिन्द्र हुआ (१३-१५)।

रत्न—१. चक्रवर्ती, बलदेव व नारायणके वैभव—दे० शलाकापुरुष/२,३,४, २ चक्रवर्तीकी नवनिधियोंमेंसे एक निधि—दे० शलाका-पुरुष/२,३,४ ३. रुचक पर्वतस्थ एक कूट —दे० लोक/७।

रत्नकीर्ति—१. यह क्षेमकीर्तिके शिष्य थे। इन्होंने 'आराधनासार' ग्रन्थ पर संस्कृत टीका लिखी है। (आ.सा /प्र/२/प. गजाधरलाल) ये धर्मचन्द्रके शिष्य थे। ललितकीर्ति इनके शिक्षा गुरु थे। कृति-भद्रबाहु चरित्र। समय—वि.१२९६। ई. १२३९ (भद्रबाहु चरित प्र/७/कामता) काष्ठासंघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे इतिहास) यह रामसेनके शिष्य तथा लक्ष्मणसेनके गुरु थे। समय—वि. १४५६ ई १३९९ (प्रद्युम्न चरित्रको अन्तिम प्रशस्ति) (प्रद्युम्नचरित/प्र./प्रेमीजी)। अनन्तकीर्ति भट्टारकके शिष्य तथा ललितकीर्तिके गुरु थे। भद्र-बाहुचरित्रकी आपने रचना की थी। समय—वि. १६२५ के लगभग। निश्चित रूपसे ही आप वि. १५२७ (ई. १४७०) के पश्चात् हुए है, क्योंकि स्वयं इस संवत्में ढूँढियामतका प्रादुर्भाव होना बताते हे। (भद्रबाहुचरित/श्लोक १५७-१५९)। (द. सा./प्र./२९/प्रेमीजी) (भद्रबाहु चरितकी/प्र /कामता, व उदय लाल)।

रत्नकूट—मानुषोत्तर पर्वतस्थ कूट—दे० लोक/७।

रत्नकरंड श्रावकाचार—आ. समन्तभद्र (ई.श. २) द्वारा रचित संस्कृत छन्दबद्ध इस ग्रन्थमें ७ परिच्छेद तथा १५० श्लोक है। श्रावकाचार विषयक यह प्रथम ग्रन्थ है। इस पर निम्न टीकाएँ उपलब्ध है—१. आ प्रभाचन्द्र (ई ११८५-१२४३) कृत सस्कृत टीका, २ पं. सदासुख (ई १७९३-१८६३) कृत भाषा टीका, जो अत्यन्त विस्तृत व प्रामाणिक है।

रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यग्चारित्र इन तीन गुणो-को रत्नत्रय कहते है। इनके विकल्परूपसे धारण करना भेद रत्नत्रय है, और निर्विकल्प रूपसे धारण करना अभेद रत्नत्रय हे। अर्थात् सात तत्त्वो व देव, शास्त्र व गुरु आदिकी श्रद्धा, आगमका ज्ञान, व व्रतादि चारित्र तो भेद रत्नत्रय है, और आत्म-स्वरूपकी श्रद्धा, इसीका स्वसंवेदन ज्ञान और इसीमें निश्चल स्थिति या निर्विकल्प समाधि अभेद रत्नत्रय है। रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। भेद रत्नत्रय व्यवहार मोक्षमार्ग और अभेद रत्नत्रय निश्चय मोक्षमार्ग है। —दे० मोक्षमार्ग।

रत्नत्रय कथा—आ पद्मनन्दि (ई १२८०-१३३०) कृत सस्कृत ग्रन्थ।

रत्नत्रयचक्र यंत्र—दे० यत्र।

रत्नत्रय यंत्र—दे० यत्र।

रत्नत्रय विधान—इस ग्रन्थ पर प. आशाधर (ई. ११७३-१२४३) ने सस्कृत भाषामें टीका लिखी है।

रत्नत्रय विधान यंत्र—दे० यत्र।

रत्नत्रय व्रत—प्रत्येक वर्ष तीन बार—भादों माघ व चैत मासमें आता है। शुक्ल द्वादशीका दोपहरके भोजनके पश्चात् धारणा। १३, १४ व १५ को उपवास करे। कृष्ण १ को दोपहरको पारणा करे। इन दिनोंमें पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहे। 'ओं ह्रीं सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रेभ्यो नमः' इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रत-विधान स./पृ. ४०)।

रत्ननंदि—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावली (दे० इतिहास) के अनुसार आप वीरनन्दि न. १ के शिष्य तथा माणिक्य न. १ के गुरु थे। समय—वि. श. ५६१-५८५ (ई. ५३९-५६३) —दे० इतिहास/५/१३।

रत्नपुरी—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर —दे० विद्याधर।

रत्नप्रभ—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

रत्नप्रभा—

१. रत्नप्रभा नामकी सार्थकता

स. सि/३/१/२०३/७ चित्रादिरत्नप्रभासहचरिता भूमिः रत्नप्रभा। =जिसकी प्रभा चित्र आदि रत्नोंकी प्रभाके समान है वह रत्नप्रभा भूमि है। (रा वा./३/१/३/१५९/१७), (ति. प /२/२०); (ज. प./११/१२०)।

२. रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग तथा उनका स्वरूप विस्तार आदि

ति. प./२/९-१८ खरपंकप्पब्बहुला भागा रयणप्पहाए पुढवीए। बहलत्तणं सहस्सा सोलस चउसीदि सीदिय ।९। खरभागो णादव्वो सोलस भेदेहिं संजुदो णियमा। चित्तादीओ खिदिओ तेसिं चित्ता बहुवियप्पा।१०। णाणाविहवण्णाओ महिओ तह सिलातला उववादा। बालुवसक्करसीसयरुप्पसुवण्णाण वइरं च।११। अयतंबतउयसस्सयसिलाहिंगुलाणि हरिदाल। अंजणपवालगोमज्जगाणि रुजगकअब्भपडलाणि।१२। तह अब्भबालुकाओ फलिह जलकतसूरकंताणि। चंदप्पहवेरुलिय गेरुवचंदण लोहिदंकाणि।१३। वव्वयवगमोअमसारगल्लपहुदीणि विविहवण्णाणि। जा होंति त्ति एदेण चित्तेत्ति य वण्णिदा एसा।१४। एदाए बहलत्तं एक्कसहस्स हवंति जोयणया। तीएहेट्ठा कमसो चोद्दस अण्णा य ट्ठिदमही।१५। तण्णामा वेरुलियं लोहिययक मसारगल्लं च। गोमज्जयं पवालं जोदिरसं अंजणं णाम।१६। अंजणमूल अक फलिहचंदणं च वच्चगयं। बहुला सेला एदा पत्तेक्कं इगिसहस्सबहलाइ।१७। ताण खिदीण हेट्ठापासाण णाम रयणसेलसमा। जोयणसहस्सबहलं वेत्तासणसण्णिहाउ संठाओ।१८। =१. अधोलोकमे सबसे पहली रत्नप्रभा पृथिवी है उसके तीन भाग हैं—खर भाग, पक भाग और अब्बहुल भाग। इन तीनो भागोका बाहल्य क्रमशः सोलह हजार, चौरासी हजार और अस्सी हजार योजन प्रमाण है।९। २. इनमेंसे खर भाग नियमसे सोलह भेदोसे सहित है। ये सोलह भेद चित्रादिक सोलह पृथिवी रूप हे। इनमेंसे चित्रा पृथिवी अनेक प्रकारकी है।१०। यहाँ पर अनेक प्रकारके वर्णोंसे युक्त महीतल, शिलातल, उपपाद, बालु, शक्कर, शीशा, चाँदी, सुवर्ण इनके उत्पत्तिस्थान, वज्र तथा अयस् (लोहा) ताँबा, त्रपु (रांगा), सस्यक (मणि विशेष), मन शिला, हिंगुल (सिंगरफ), हरिताल, अंजन, प्रवाल (मूँगा) गोमध्यक (मणिविशेष) रुचक अक (धातु विशेष), अभ्रपटल (धातुविशेष), अभ्रबालुका (लालरेत), स्फटिक मणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, चन्द्रप्रभमणि (चन्द्रकान्तमणि), वैडूर्यमणि, गेरु, चन्दन, लोहिताक (लोहिताक्ष), वप्रक (मरकत) बकमणि (पुष्परोडा), मोचमणि (कदली वर्णाकार नीलमणि) और मसारगल्ल (मसृणपाषाणमणि विद्रुमवर्ण) इत्यादिक विविध वर्णवाली धातुएँ हैं। इसलिए इस पृथिवीका चित्रा इस नामसे वर्णन किया गया है।११-१४। इस चित्रा पृथिवीकी मोटाई १ हजार योजन है। ३. इसके नीचे क्रमसे चौदह अन्य पृथिवियाँ स्थित है।१५। वैडूर्य, लोहितांक

अब्बहुल भाग में नरकों के पटल
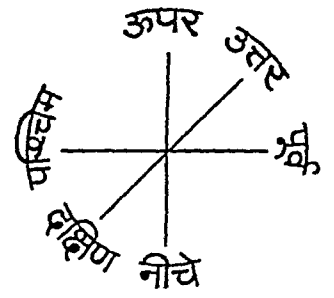
नोट - इन्द्रक व श्रेणीबद्ध - दे० लोक/२ में चित्र सं० ११

२ - प्रत्येक पटल के मध्य मे इन्द्रक बिल है। उनकी चारो दिशाओ व चारो विदिशाओं मे श्रेणीबद्ध बिल है। आठो अन्तर दिशाओ मे प्रकीर्णक बिल है। सीमान्तक नामक प्रथम पटल के प्रत्येक पटल की प्रत्येक दिशा मे ४९ और प्रत्येक विदिशा में ४८ है। आगे के पटलो मे उत्तरोतर एक एक हीन है

खर पंक भाग

खर भाग — चित्रा पृ० नामक प्रथम पटल — १००० यो०

शेष १५ पटल — १५००० यो० — १६००० यो०

पंक भाग → विशेष दे० भवन/४ — ८४००० यो०

अब्बहुल भाग — ८०००० यो०

१ सीमान्तक
श्रेणी बद्ध -(४×४९)+(४×४८)=३८८

१००० यो० अन्तराल

२ निरय
श्रेणी बद्ध (४×४८)+(४×४७)=३८०

१००० यो० अन्तराल

३ रौरुक -
श्रेणी बद्ध (४×४७)+(४×४६)=३७२

१००० यो० अन्तराल

४ भ्रान्त -
श्रेणी बद्ध =(४×४६)+(४×४५)=३६४

१००० यो० अन्तराल

५ उद्भ्रान्त -
श्रेणी बद्ध =(४×४५)+(४×४४)=३५६

१००० यो० अन्तराल

६ सम्भ्रान्त -
श्रेणी बद्ध =(४×४४)+(४×४३)=३४८

१००० यो० अन्तराल

७ असम्भ्रान्त -
श्रेणी बद्ध = (४×४३)+(४×४२)=३४०

१००० यो० अन्तराल

८. विभ्रान्त -
श्रेणी बद्ध =(४×४२)+(४×४१)=३३२

१००० यो० अन्तराल

९ तप्त -
श्रेणी बद्ध =(४×४१)+(४×४०)=३२४

१००० अन्तराल

१० त्रसित -
श्रेणी बद्ध =(४×४०)+(४×३९)=३१६

१००० यो० अन्तराल

११. वक्रान्त
श्रेणी बद्ध =(४×३९)+(४×३८)=३०८

१००० यो० अन्तराल

१२ अवक्रान्त
श्रेणी बद्ध =(४×३८)+(४×३७)=३००

१००० यो० अन्तराल

१३ विक्रान्त
श्रेणी बद्ध = २९२

कुछ कम १ राजू का अन्तराल

(लोहिताक्ष), असारगल्ल (मसारकल्पा), गोमेदक, प्रवाल, ज्योतिरस, अजन, अंजनमूल, अक, स्फटिक, चन्दन, वर्चगत (सर्वार्थका), वहुल (बकुल) और शेल, ये उन उपर्युक्त चौदह पृथिवियोंके नाम हैं। इनमेंसे प्रत्येककी मोटाई एक हजार योजन है।१६-१७। इन पृथिवियोंके नीचे एक पाषाण नामकी (सोलहवीं) पृथिवी है। जो रत्नशैलके समान है। इसकी मुटाई भी एक हजार-योजन प्रमाण है। ये सब पृथिवियाँ वेत्रासनके सदृश स्थित हैं।१८। (रा. वा./३/१/८/१६०/१६), (त्रि. सा./१४६-१४८); (ज. पं/११/११४-१२०)।

* खर पंक भागमें भवनवासियोंके निवास—दे० भवन/४।

रत्नमाला—१. धरणीतिलक नगरके राजा अतिवेगकी पुत्री थी। वज्रायुधसे विवाही गयी। (म पु./५६/२४१-२४२) यह मेरु गणधर-का पूर्वका चौथा भव है—दे० मेरु। २. आ. शिवकोटि (ई. श. ११) द्वारा तत्त्वार्थसूत्रपर रची गयी टीका।

रत्नमुक्तावली व्रत—ह पु/३४/७२-७३ एक उपवास, एक पारणा, दो उपवास, एक पारणा, एक उपवास, एक पारणा इत्यादि नीचे लिखी संख्याके अनुसार २८४ उपवास करें, और बीचके (,) वाले स्थानोंमें एक एक पारणा करे। यन्त्र—१,२,१,३,१,४,१,५,१,६,१,७,१, ८,१,६,१,१०,१,११,१,१२,१,१३,१,१४,१,१५,१,१६,१,१५,१,१४,१,१३,१, १२,१,११,१,१०,१,६,१,८,१,७,१,६,१,५,१,४,१,३,१,२,१,।

रत्नश्रवा—सुमालीका पुत्र तथा रावणका पिता था। (प. पु./७/१३३,२०६)।

रत्नसंचय—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रत्नाकर—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर। २. काश्मीर नरेश अवन्तिवर्माके कालमें एक कवि थे। समय—ई. ८८४ (ज्ञा/प्र./६/प. पन्नालाल)।

रत्नावली व्रत—इस व्रतकी विधि तीन प्रकारसे वर्णन की गयी है—उत्तम, मध्यम, व जघन्य।

१ बृहद् विधि—(ह. पु./३४/७६)। प्रथम १० बेला, १,२,३,४,५,६, ७,८,६,१०,११,१२,१३,१४,१५,१६, इस प्रकार एक एक वृद्धि क्रमसे १३६ उपवास करे। फिर ३४ बेला, १६,१५,१४,१३,१२,११,१०,६,८,७, ६,५,४,३,२,१, इस प्रकार एक एक हानि क्रमसे १३६ उपवास करे, १२ बेला। विधि—उपरोक्त रचनावत् पहले एक बेला व १ पारणा क्रमसे १२ बेला करे, फिर एक उपवास १ पारणा, २ उपवास १ पारणा क्रमसे १ वृद्धि क्रमसे १६ उपवास तक करे, पीछे ३४ बेला, फिर १६ से लेकर एक हानि क्रमसे १ उपवास तक करे, पीछे १२ बेला करे। बीचमें सर्वत्र एक एक पारणा करे। जाप्य—नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे।

२. मध्यम विधि—एक वर्ष पर्यन्त प्रतिमासकी शु. ३,५,८ तथा कृ. २, ५,८, इन छह तिथियोंमें उपवास करे, तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान स./पृ. ७३)।

जघन्य विधि—यन्त्र १,२,३,४,५,५,४,३,२, १ विधि—वृद्धि-हानि क्रमसे उपरोक्त प्रकार ३० उपवास करे, बीचके ६ स्थान तथा अन्तमें १ इस प्रकार १० पारणा करे। (ह पु/३४/७२-७३)।

रत्नि—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

रत्नोच्चय—सुमेरु पर्वतका अपरनाम—दे० सुमेरु।

रत्नोपचय—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

रथ—ध १४/५,६,४१/३८/१२ जुइये अहिरह—महारहाण चडण-जोग्गा रहा णाम।=जो युद्धमें अतिरथी और महारथियोंके चढने योग्य होते हैं, वे रथ कहलाते हैं।

रथनूपुर—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रथपुर—विजयार्धकी दक्षिणश्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रथरेणु—क्षेत्रका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

रमणीया—१ पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७, २. पूर्व विदेहस्थ आत्मांजन वक्षारका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७; ३. नन्दीश्वर द्वीपकी उत्तर दिशामें स्थित एक वापी—दे० लोक/७।

रम्यककूट—नील व रुक्मि पर्वतस्थ एक-एक कूट।—दे० लोक/७।

रम्यकक्षेत्र—

रा. वा/३/१०/१४/१८१/११ यस्माद्रमणीयैर्देशैः सरित्पर्वतकाननादि-भिर्युक्तः, तस्मादसौ रम्यक इत्यभिधीयते। अन्यत्रापि रम्यकदेश-योग' समान इति चेत्, न, रूढिविशेषबललाभात्।=रमणीय देश नदी-पर्वतादिसे युक्त होनेके कारण इसे रम्य कहते हैं। यद्यपि अन्यत्र भी रमणीक क्षेत्र आदि हैं, परन्तु 'रम्यक' नाम इसमें रूढ ही है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. रम्यक क्षेत्रका अवस्थान व विस्तार आदि—दे० लोक/३-६।
२. इस क्षेत्रमें काल वर्तन आदि सम्बन्धी विशेषता—दे० काल/४।

रम्यकदेव—नील व रुक्मि पर्वतस्थ रम्यक कूटके स्वामी—दे० लोक/७।

रम्यका—१. पूर्व विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २. पूर्व विदेहस्थ अंजन वक्षारका एक कूट तथा उसका स्वामी रक्षक देव—दे० लोक/७।

रम्यपुर—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रम्या—१ भरत आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४। २ पूर्व विदेहस्थ एक क्षेत्र—दे० लोक/७, ३, पूर्व विदेहस्थ अंजन वक्षारका एक कूट—दे० लोक/७, ४ पूर्वविदेहमें अंजन वक्षारपर स्थित रम्याकूटका रक्षक देव—दे० लोक/७; ५ नन्दीश्वर द्वीपकी उत्तर दिशामें स्थित वापी —दे० लोक/७।

रयणसार—आचार्य कुन्दकुन्द (ई १२७-१७६) कृत आचरण-विषयक १६७ प्राकृत गाथाओमे निबद्ध ग्रन्थ है। इसपर कोई टीका उपलब्ध नही है।

रयसकांत देव—मानुषोत्तर पर्वतस्थ ऊष्मगर्भकूटका भवनवासी सुपर्णकुमार देव—दे० लोक/७।

रविनंदि—आप षट्खण्डके ज्ञाता, शुभनन्दिके सहचर, तथा बापदेव (ई. श ६) के शिक्षा गुरु थे। बापदेवके अनुसार आपका समय ई. ७४२-७७३ आता है। (ष ख १/प्र. ५१/H L Jain)।

रविभद्र—आप सिद्धिविनिश्चयके टीकाकार अनन्तवीर्यके शिक्षा-गुरु थे। कृति-आराधनासार। समय—ई. ६७०-६९० (का. अ /प्र ८२/ A N. Up.), (सि. वि /प्र.७८/प महेन्द्र)।

रविवार व्रत—आषाढ शुक्लपक्षके अन्तिम रविवारसे प्रारम्भ होता है। आगे श्रावण व भाद्रपदके आठ रविवार। इस प्रकार ९ वर्ष तक प्रतिवर्ष इन ९ रविवारोंका उपवास करे। यदि थोडे समयमे करना है तो आषाढके अन्तिम रविवारसे लेकर अगले आषाढके अन्तिम रविवार तक एक वर्ष के ४८ रविवारोंके उपवास करे। नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप करे। (व्रत-विधान स /४४)।

रविषेण—हान संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप लक्ष्मणसेनके शिष्य थे। वि ७०५ में आपने पद्मपुराणकी रचना की थी। तदनुसार आपका समय—वि ७००-७४० ई. ६४३-६८३ (ह पु /प्र.८/प. पन्नालाल), (म पु /प्र. २०/प पन्नालाल), (पउम चरित्त/प्र /प. देवेन्द्र) —दे० इतिहास/५/२८।

रश्मिदेव—म पु /५६/श्लोक "पुष्करपुर नगरका राजा सूर्यावर्तका पुत्र था (२३०-२३१) किसी समय सिद्धकूटपर दीक्षा ग्रहण कर आकाशचारण ऋद्धि प्राप्त की। (२३३-२३४)। एक समय पूर्व वैरी अजगरके खानेसे शरीर त्यागकर स्वर्गमे देव हुआ (२३७-२३८) यह संजयन्त मुनिका पूर्वका चौथा भव है। —दे० सजयन्त।

रश्मिवेग—म पु /७३/श्लोक पुष्कलावती देशके विजयार्ध पर त्रिलोकोत्तम नगरके राजा विद्युद्गतिका पुत्र था। दीक्षा ग्रहण कर सर्वतोभद्रके उपवास ग्रहण किये। एक समय समाधियोगमे बैठे हुए इनको पूर्व भवके भाई कमठके जीवने अजगर बनकर निगल लिया। (३१-२५)। यह पार्श्वनाथ भगवान्का पूर्वका छठा भव है। दे०—पार्श्वनाथ।

रस—१. रस सामान्यका लक्षण

स. सि /२/२०/१७८-१७९/६ रस्यत इति रस । • रसन रस । =जो स्वादको प्राप्त होता है वह रस है। अथवा रसन अर्थात् स्वादमात्र रस है। (स. सि /५/२३/२६३/१२), (रा वा /२/२०/-१३२/३१)।

ध. १/१,१,३३/२४२/१ यदा वस्तु प्राधान्येन विवक्षितं तदा वस्तु व्यतिरिक्तपर्यायाभावाद्वस्त्वेव रस । एतस्या विवक्षाया कर्मसाधनत्व रसस्य, यथा रस्यत इति रस । यदा तु पर्याय प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्ते औदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्व रसस्य, रसनं रस इति । =जिस समय प्रधान रूपसे वस्तु विवक्षित होती है, उस समय वस्तुको छोड़कर पर्याय नही पायी जाती है, इसलिए वस्तु ही रस है। इस विवक्षामे रसके कर्म साधनपना है। जैसे जो चखा जाये वह रस है। तथा जिस समय प्रधानरूपसे पर्याय विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यमे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिए जो उदासीन रूपसे भाव अवस्थित है उसका कथन किया जाता है। इस प्रकार रसके भाव-साधन भी बन जाता है जैसे —आस्वादन रूप क्रियाधर्मको रस कहते है।

२. रस नामकर्मका लक्षण

स. सि./८/११/३९०/६ यन्निमित्तो रसविकल्पस्तद्रस नाम । =जिसके उदयसे रसमें भेद होता है वह रस नामकर्म है। (रा. वा./८/११/१०/५७७/१७), (गो. क /जी. प्र./३३/२९/१४)।

ध ६/१,९-१,२८/५५/७ जस्स कम्मक्खंधस्स उदएण जीवसरीरे जादि पडिणियदो तित्तादिरसो होज्ज तस्स कम्मक्खंधस्स रसमण्णा। एदस्स कम्मस्साभावे जीवसरीरे जाइपडिणियदरसो ण होज्ज। ण च एवं णिबंबजंबीरादिसु णियदरसस्सुवलंभादो।= जिस कर्मके उदयसे जीवके शरीरमें जाति प्रतिनियत तिक्त आदि रस उत्पन्न हो, उस कर्म स्कन्धकी 'रस' यह सज्ञा है। (ध. १३/५.५,१०१/३६४/८) इस कर्मके अभावमे जीवके शरीरमें जाति प्रतिनियत रस नहीं होगा। किन्तु ऐसा है नही, क्योंकि नीम, आम और नींबू आदिमें प्रतिनियत रस पाया जाता है।

३. रसके भेद

ष खं /६/१,९-१/सू. ३६/७५ जं तं रसणामकम्मं तं पचविह, तित्तणाम कडुवणाम कसायणाम अंबणाम महुणाम चेदि।७५। =जो रस नामकर्म है वह पाँच प्रकारका है—तिक्त नामकर्म, कटुकनामकर्म, कषायनामकर्म, आम्ननामकर्म और मधुर नामकर्म। (ष ख./१३/५,५/ सू. ११२/३७०), (स सि /८/११/३९०/१०); (स. सि./५/२३/-२९३/१२); (प स /प्रा./२/४/४८/१),(रा वा /८/११/१०/५७७/-१५); (प प्र /टी /१/११/२६/२); (द्र स./टी /७/१९/१२); (गो. जी /जी. प्र /४७९/८८५/१)।

स सि /५/२३/२९४/२ त एते मूलभेदा प्रत्येक सख्येयासख्येयानन्तभेदाश्च भवन्ति। =ये रसके मूल भेद है, वैसे प्रत्येक (रसादिके) के संख्यात असख्यात और अनन्त भेद होते है।

३. गोरस आदिके लक्षण

सा. ध /५/३५ पर उद्धृत—गोरस क्षीरघृतादि, इक्षुरस खण्डगुड आदि, फलरसो द्राक्षाम्रादिनिष्यन्द', धान्यरसस्तैलमण्डादि। =घी, दूध आदि गोरस है। शक्कर, गुड आदि इक्षुरस है। द्राक्षा आम आदिके रसको फलरस कहते है और तेल, मॉड आदिको धान्यरस कहते है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१ रस परित्यागकी अपेक्षा रसके भेद। —दे० रस परित्याग।
२. रस नामकर्ममें रस सकारण है या निष्कारण। —दे० वर्ण/४।
३. गोरस शुद्धि। —दे० भक्ष्याभक्ष्य/३।
४ रस नाम प्रकृतिकी बन्ध उदय सत्त्व प्ररूपणा। —दे० वह वह नाम।
५. अग्नि आदिमें भी रसकी सिद्धि। —दे० पुद्गल/२।

रस ऋद्धि—दे० ऋद्धि/१।

रसकूट—शिखरी पर्वतस्थ एक कूट। —दे० लोक/७।

रस देवी—शिखरी पर्वतस्थ रसकूटकी स्वामिनी देवी। —दे० लोक/७।

रसना—१. रसना इन्द्रियका लक्षण। —दे० इन्द्रिय/१। २ रसना इन्द्रियकी प्रधानता। —दे० सयम/२।

रसपरित्याग—

भ, आ /मू /२१५/४३१ खीरदधिसप्पितेल्लगुडाण पत्तेगदो व सव्वेसिं। णिज्जूहणमोगाहिमपणकुसणलोणमादीण ।२१५। =दूध, दही, घी, तेल, गुड न सब रसोंका त्याग करना अथवा एक-एक रसका त्याग करना, यह रस-परित्याग नामका तप है। अथवा पूप, पत्रशाक, दाल, नमक, वगैरह पदार्थोंका त्याग करना यह भी रस परित्याग नामका तप है।२१५।

मू. आ./३५२ खीरदहिसप्पितेलगुडलवणाणं च ज परिच्चयण। तित्त-कडुकसायबिलमधुररसाणं च ज चयण ।३५२। =दूध, दही, घी, तेल, गुड, लवण इन छह रसोका त्याग रसपरित्याग तप है। (अन. ध./७/२७) अथवा कडुआ, कसैला, खट्टा, मीठा इनमेंसे किसीका त्याग वह रसपरित्याग तप है।३५२। (का अ./टी /४४६)।

स सि /९/१९/४३८/६ घृतादिवृष्यरसपरित्यागश्चतुर्थं तप। =घृतादि-गरिष्ठ रसका त्याग करना चौथा तप है। (रा वा/९/१९/५/६१८/२६), (चा. सा /१३५/३)।

भ आ /वि /६/३२/१८ रसगोचरगार्द्धयत्यजन त्रिधा रसपरित्याग। =रस विषयकी लम्पटताको मन, वचन, शरीरके सकल्पसे त्यागना रसपरित्याग नामका तप है।

त सा /६/११ रसत्यागो भवेत्तैलक्षीरेक्षुदधिसर्पिणाम्। एकद्वित्रीणि चत्वारि त्यजतस्तानि पञ्चधा ।११। =तेल, दूध, खाँड, दही, घी—इनका यथासाध्य त्याग करना रसत्याग तप है। एक, दो, तीन, चार अथवा पाँचों रसोका त्याग करनेसे यह व्रत पाँच प्रकारका हो जाता है।

का अ/मू./४४६ ससार-दुक्ख-तट्ठो विस-सम-विसय विचितमाणो जो। णीरस-भोज्ज भुजइ रस-चाओ तस्स सुविसुद्धो। =ससारके दु खोसे सतप्त जो मुनि इन्द्रियोके विषयोको विषके समान मानकर नीरस भोजन करता है उसके निर्मल रस परित्याग तप होता है।

२. रस परित्याग तपका प्रयोजन

स सि /९/१९/४३८/६ इन्द्रियदर्पनिग्रहनिद्राविजयस्वाध्यायसुख-सिद्ध्याद्यर्थो. रसपरित्यागश्चतुर्थं तप। =इन्द्रियोके दर्पका निग्रह करनेके लिए, निद्रापर विजय पानेके लिए और सुखपूर्वक स्वाध्यायकी सिद्धिके लिए रसपरित्याग नामका चौथा तप है।

रा. वा/९/१९/५/६१८/२६ दान्तेन्द्रियत्वतेजोऽहानिसंयमोपरोधव्या-वृत्त्याद्यर्थं रसपरित्याग ।५। =जितेन्द्रियत्व, तेजोवृद्धि और सयमबाधानिवृत्ति आदिके लिए रसपरित्याग है। (चा सा /-१३५/३)।

ध १३/५,४,२६/५७/१० किमट्ठमेसो करिदे। पाणिदिय संजमट्ठं। कुदो। जिब्भिदिए णिरुद्धे सयलिंदियाण णिरोहुवलभादो। सयलिदिएसु णिरुद्धेसु चत्तपरिग्गहस्स णिरुद्धराग-दोसस्स· पाणा-सजमणिरोहुवलभादो। =प्रश्न—यह किस लिए किया जाता है। उत्तर—प्राणिसयम और इन्द्रियसयमकी प्राप्तिके लिए किया जाता है, क्योकि, जिह्वा इन्द्रियका निरोध हो जानेपर सब इन्द्रियोंका निरोध देखा जाता है, और सब इन्द्रियोका निरोध हो जानेपर जो परिग्रहका त्याग कर रागद्वेषका निरोध कर चुके है, उनको प्राणोंके असयमका निरोध देखा जाता है।

३. रस परित्याग तपके अतिचार

भ आ./वि./४८७/७०७/१० कृतरसपरित्यागस्य रसासक्ति, परस्य वा रसवदाहारभोजन, रसवदाहारभोजनानुमननं, वातिचार। =रस-का त्याग करके भी रसमें अत्यासक्ति उत्पन्न होना, दूसरोको रस-युक्त आहारका भोजन कराना और रसयुक्त भोजन करनेकी सम्मति देना, ये सब रसपरित्याग तपके अतिचार है।

रसमान प्रमाण—दे० प्रमाण/५।

रहस्य—ध १/१,१,१/४४/४ रहस्यमन्तराय, तस्य शेषघातित्रितय-विनाशाविनाभाविनो भ्रष्टबीजवन्नि शक्तीकृता घातिकर्मणो..। =रहस्य अन्तराय कर्मको कहते हैं। अन्तरायकर्मका शेष नाश तीन घातियाकर्मोंके नाशका अविनाभावी है। और अन्तरायकर्मके नाश होनेपर अघातिया कर्म भ्रष्ट बीजके समान नि शक्त हो जाते हे।

रहस्यपूर्ण चिट्ठी—प. टोडर मल्ल (ई १७३६) द्वारा अपने किन्ही मित्रोको लिखी हुई आध्यात्मिक रहस्यपूर्ण चिट्ठी है।

रहोभ्याख्यान—स. सि /७/२६/३६६/८ यत्स्त्रीपुंसाभ्यामेकान्तेऽ-नुष्ठितस्य क्रियाविशेषस्य प्रकाशन तद्रहोभ्याख्यानं वेदितव्यम्। =स्त्री और पुरुष द्वारा एकान्तमें किये गये आचरण विशेषका प्रगट कर देना रहोभ्ययाख्यान है। (रा. वा /७/२६/२/५५३/२९)।

राक्षस—१ व्यन्तर देवोका एक भेद—दे० व्यन्तर। २. पिशाच जातीय व्यन्तर देवोंका एक भेद—दे० पिशाच। ३ मनोवेग विद्या-धरका पुत्र था (प पु /५/३०८) इसीके नामपर राक्षस द्वीपमें रहनेवाले विद्याधरोका वंश राक्षस वश कहलाने लगा। दे०—इतिहास/७/१२।

१ राक्षसका लक्षण

ध. १३/५,५ १४०/३९१/१० भीषणरूपविकरणप्रिया राक्षसा नाम। =जिन्हे भीषण रूपकी विक्रिया करना प्रिय है, वे राक्षस कहलाते हैं।

२. राक्षस देवके भेद

ति. प /६/४४ भीममहभीमविग्घविणायका उदकरक्खसा तह य। रक्खसरक्खसणामा सत्तमया बम्हरक्खसया ।४४। =भीम, महाभीम, विनायक, उदक, राक्षस, राक्षसराक्षस और सातवाँ ब्रह्मराक्षस इस प्रकार ये सात भेद राक्षस देवोंके है।४४। (त्रि सा./२६७)।

★ **राक्षस देवोंके वर्ण वैभव अवस्थान आदि**—दे० व्यतर।

राक्षसराक्षस—राक्षस जातीय व्यन्तर देवोका भेद —दे० राक्षस।

राक्षस वंश—दे० इतिहास/७/१२।

राग—इष्ट पदार्थोके प्रति रति भावको राग कहते है, अत यह द्वेषका अविनाभावी है। शुभ व अशुभके भेदसे राग दो प्रकारका है, परद्वेष अशुभ ही होता है। यह राग ही पदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धिका कारण होनेसे अत्यन्त हेय है। सम्यग्दृष्टिकी निचली भूमिकाओंमें यह व्यक्त होता है और ऊपरकी भूमिकाओंमें अव्यक्त। इतनी विशेषता है कि व्यक्त रागमें भी रागके रागका अभाव होनेके कारण सम्यग्दृष्टि वास्तवमें वैरागी रहता है।

१. भेद व लक्षण

१. राग सामान्यका लक्षण

ध. १२/४,२,८,८/२८३/८ माया-लोभ-वेदत्रय-हास्यरतयो राग ।=माया, लोभ, तीन वेद, हास्य और रति इनका नाम राग है।

स सा /आ. ५१ य प्रतिरूपो राग स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य...।= यह प्रीति रूप राग भी जीवका नही है।

प्र. सा /त प्र /८५ अभीष्टविषयप्रसङ्गेन रागम्। =इष्ट विषयोंकी आसक्तिसे रागको।

प का /त प्र /१३१ विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्यप्रीती रागद्वेषौ। =चारित्र मोहनीय कर्मके उदयसे जो इसके रस विपाकका कारण पाय इष्ट-अनिष्ट पदार्थोंमें जो प्रीति-अप्रीति रूप परिणाम होय उसका नाम राग द्वेष है।

स सा /ता वृ /२८१/३६१/१६ रागद्वेषशब्देन तु क्रोधादिकषायोत्पादकश्चारित्रमोहो ज्ञातव्य'। =राग द्वेष शब्दसे क्रोधादि कषायके उत्पादक चारित्र मोहको जानना चाहिए। (प. का./ता. वृ /३३/-७२/८)।

प्र. सा./ता. वृ./८३/१०६/१० निर्विकार शुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूप चारित्रमोहसंज्ञं रागद्वेषं। =निर्विकार शुद्धात्मासे विपरीत इष्ट-अनिष्ट विषयोंमें हर्ष-विषाद रूप चारित्रमोह नामका रागद्वेष ।

२. रागके भेद

नि. सा /ता. वृ /६६ राग प्रशस्ताप्रशस्तभेदेन द्विविध । =प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग ऐसे दो भेदोके कारण राग दो प्रकारका है।

३. अनुरागका लक्षण

पं. ध /उ /४३५ अथानुरागशब्दस्य विधिर्वाच्यो यदार्थत । प्राप्ति स्यादुपलब्धिर्वा शब्दाश्चैकार्थवाचका ।४३५। =जिस समय अनुराग शब्दका अर्थको अपेक्षासे विधि रूप अर्थ वक्तव्य होता है उस समय अनुराग शब्दका अर्थ प्राप्ति व उपलब्धि होता है क्योकि अनुराग, प्राप्ति और उपलब्धि ये तीनो शब्द एकार्थवाचक हे ।४३५।

४. अनुरागके भेद व उनके लक्षण

भ आ /मू /७३७/६०८ भावाणुरागपेमाणुरागमज्जाणुरागरत्तो वा। धम्माणुरागरत्तो य होहि जिणसासणे णिच्च। =भावानुराग, प्रेमानुराग, मज्जानुराग, वा धर्मानुराग, इस प्रकार चार प्रकारसे जिनशासनमे जो अनुरक्त है।

भ आ /भाषा /७३७/६०८ तत्त्वका स्वरूप मालूम नही भी हो तो भी जिनेश्वरका कहा हुआ तत्त्व स्वरूप कभी झूठा होता ही नही ऐसी श्रद्धा करता है उसको भावानुराग कहते है। जिसके ऊपर प्रेम है उसको बारम्बार समझाकर सन्मार्गपर लगाना यह प्रेमानुराग कहलाता है। मज्जानुराग पाण्डवोमें था अर्थात् वे जन्मसे लेकर आपसमें अतिशय स्नेहयुक्त थे। वैसे धर्मानुरागसे जैनधर्ममें स्थिर रहकर उसको कदापि मत छोड।

५. तृष्णाका लक्षण

न्या द./टी /४/१/३/२३०/१३ पुनर्भवप्रतिसधानहेतुभूता तृष्णा। ='यह पदार्थ मुझको पुन. प्राप्त हो' ऐसी भावनाएँ किया गया जो प्रतिसन्धान या इलाज अथवा प्रयत्न विशेष, उसकी हेतुभूत तृष्णा होती है।

२. राग-द्वेष सामान्य निर्देश

१. अर्थ प्रति परिणमन ज्ञानका नहीं रागका कार्य है

प. ध /पु /६०६ क्षायोपशमिक ज्ञान प्रत्यर्थं परिणामि यत्। तत्स्वरूपं न ज्ञानस्य किन्तु रागक्रियास्ति वै ।६०६। =जो क्षायोपशमिक ज्ञान प्रति समय-अर्थसे अर्थान्तरको विषय करनेके कारण सविकल्प माना जाता है, वह वास्तवमें ज्ञानका स्वरूप नही है किन्तु निश्चय करके उस ज्ञानके साथमे रहनेवाली रागकी क्रिया है। (और भी दे० विकल्प/१)।

२ राग द्वेष दोनों परस्पर सापेक्ष है

ज्ञा /२३/२५ यत्र राग पद धत्ते द्वेषस्तत्रैति निश्चय.। उभावेतौ समालम्ब्य विक्राम्यत्यधिक मन॰ ।२५। =जहाँपर राग पद धारै तहाँ द्वेष भी प्रवर्तता है, यह निश्चय है। और इन दोनोको अवलम्बन करके मन भी अधिकतर विकार रूप होता है ।२५।

प. ध./उ /५४६ तद्यथा न रति पक्षे विपक्षेऽप्यरतिं विना। नारतिर्वा स्वपक्षेऽपि तद्विपक्षे रतिं विना ।५४६। =स्व पक्षमें अनुराग भी विपक्षमें अरतिके बिना नहीं होता हे वैसे ही स्वपक्षमे अरति भी उसके विपक्षमें रतिके बिना नहीं होती है ।५४६।

३. मोह, राग व द्वेषमे शुभाशुभ विभाग

प्र. सा./मू /१८० परिणामादो बधो परिणामो रागदोसमोहजुदो। असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ।१८०। =परिणामसे बध है, परिणाम राग, द्वेष, मोह युक्त है। उनमेंसे मोह और द्वेष अशुभ हैं, राग शुभ अथवा अशुभ होता है ।१८०।

४. पदार्थमें अच्छा बुरापना व्यक्तिके रागके कारण होता है

ध. ६ /१,६-२,६८/१०६/४ भिण्णरुचीदो केसिं पि जीवाणममहुरो वि सरो महुरोव्वरुच्चइ त्ति तस्स सरस्स महुरत्त किण्ण इच्छिज्जदि। ण एस दोसो, पुरिसिच्छादो वत्थुपरिणामाणुवलभा। ण च णिंबो केसिं पि रुच्चदि त्ति महुरत्त पडिवज्जदे, अव्ववत्थावत्तीदो। =प्रश्न—भिन्न रुचि होनेसे कितने ही जीवोके अमधुर स्वर भी मधुरके समान रुचता है। इसलिए उसके अर्थात् भ्रमरके स्वरके मधुरता क्यो नही मान ली जाती है। उत्तर—यह कोई दोष नही, क्योकि पुरुषोंकी इच्छासे वस्तुका परिणमन नही पाया जाता है। नीम कितने हो जीवोको रुचता है, इसलिए वह मधुरताको नही प्राप्त हो जाता है, क्योकि, वैसा माननेपर अव्यवस्था प्राप्त होती है।

५. वास्तवमें पदार्थ इष्टानिष्ट नहीं

यो सा. अ /५/३६ इष्टोऽपि मोहतोऽनिष्टो भावोऽनिष्टस्तथा पर । न द्रव्यं तत्त्वत किंचिदिष्टानिष्ट हि विद्यते ।३६। =मोहसे जिसे इष्ट समझ लिया जाता है वही अनिष्ट हो जाता है और जिसे अनिष्ट समझ लिया जाता है वही इष्ट हो जाता है, क्योंकि निश्चय नयसे ससारमें न कोई पदार्थ इष्ट है और न अनिष्ट है ।३६। (विशेष दे० सुख/१)।

६. आशा व तृष्णामें अन्तर

भ.आ./मू. आ /११८१/११६७/१६ चिरमेते ईदृशा विषया ममोदितोदिता भूयासुरित्याशसा। तृष्णा इमे मनागपि मत्तो मा विच्छिद्यान्ता इति तीव्र प्रबधप्रवृत्त्यभिलाषम्। =चिरकाल तक मेरेको सुख देने वाले विषय उत्तरोत्तर अधिक प्रमाणसे मिले ऐसी इच्छा करना उसको आशा कहते है। ये सुखदायक पदार्थ कभी भी मेरेसे अलग न होवें ऐसी तीव्र अभिलाषाको तृष्णा कहते है।

७. तृष्णाकी अनन्तता

आ अनु /३६ आशागर्त प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्। कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ।३६। =आशा रूप वह गड्ढा प्रत्येक प्राणीके भीतर स्थित है, जिसमें कि विश्व परमाणुके बराबर प्रतीत होता है। फिर उसमें किसके लिए क्या और कितना आ सकता है। अर्थात् नहीके समान ही कुछ नही आ सकता। अत हे भव्यो, तुम्हारी उन विषयोकी अभिलाषा व्यर्थ है ।३६।

ज्ञा./२०/२८ उदधिरुदकपूरै रिन्धनैश्चित्रभानुर्यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेताम्। न पुनरिह शरीरी काममोगैर्विसख्यैश्चिरतरमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कैश्चित् ।२८। =इस जगत्में समुद्र तो जलके प्रवाहोसे तृप्त नही होता और अग्नि ईंधनोंसे तृप्त नहीं होती, सो कदाचित् दैवयोगसे किसी प्रकार ये दोनों तृप्त हो भी जायें परन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के काम-भोगादिके भोगनेपर भी कभी तृप्त नही होता।

३. व्यक्ताव्यक्त राग निर्देश

१. व्यक्ताव्यक्त रागका स्वरूप

रा वा./हिं/६/४४/७५७-७५८ जहाँ ताईं अनुभवमें मोहका उदय रहै तहाँ ताईं तो व्यक्त रूप इच्छा है और जब मोहका उदय अति मन्द हो जाय है, तब तहाँ इच्छा नाहीं दीखै है। और मोहका जहाँ उपशम तथा क्षय होय जाय तहाँ इच्छाका अभाव है।

२. अप्रमत्त गुणस्थान तक राग व्यक्त रहता है

पं ध/उ/६१० अस्त्युक्तलक्षणोरागश्चारित्रावरणोदयात्। अप्रमत्तगुणस्थानादर्वाक् स्यान्नोर्ध्वमस्त्यसौ।६१०। =रागभाव चारित्रावरण कर्मके उदयसे होता है तथा यह राग अप्रमत्त गुणस्थानके पहले पाया जाता है, अप्रमत्त गुणस्थानसे ऊपरके गुणस्थानोंमें इसका सद्भाव नहीं पाया जाता है।६१०।

रा वा हिं/६/४४/७५८ सातवाँ अप्रमत्त गुणस्थान विषै ध्यान होय है। ताकूँ धर्मध्यान कहा है। तामें इच्छा अनुभव रूप है। अपने स्वरूपमें अनुभव होनेकी इच्छा है। तहाँ ताईं सराग चारित्र व्यक्त रूप कहिये।

३. ऊपरके गुणस्थानोंमें राग अव्यक्त है

ध १/१,१,११२/३५१/७ यतीनामपूर्वकरणादीनां कथं कषायास्तित्वमिति चेन्न, अव्यक्तकषायापेक्षया तथोपदेशात्। =प्रश्न—अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवाले साधुओंके कषायका अस्तित्व कैसे पाया जाता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि अव्यक्त कषायकी अपेक्षा वहाँपर कषायोंके अस्तित्वका उपदेश दिया है।

पं ध/उ/६११ अस्ति चोर्ध्वमसौ सूक्ष्मो रागश्चाबुद्धिपूर्वजः। अर्वाक् क्षीणकषायेभ्यः स्याद्विवक्षावशान्नवा। =ऊपरके गुणस्थानोंमें जो अबुद्धि पूर्वक सूक्ष्म राग होता है, यह अबुद्धि पूर्वक सूक्ष्म राग भी क्षीणकषाय नामके बारहवें गुणस्थानसे पहले होता है। अथवा ७ वें से १० वें गुणस्थान तक होनेवाला यह राग भाव सूक्ष्म होनेसे बुद्धिगम्य नहीं है।६११।

रा वा. हिं/६/४४/७५८ अष्टम अपूर्वकरण गुणस्थान हो है तहाँ मोहके अतिमन्द होनेतै इच्छा भी अव्यक्त होय जाय है। तहाँ शुक्लध्यानका पहला भेद प्रवर्तै है। इच्छाके अव्यक्त होनेतै कषायका मल अनुभवमें रहै नाहीं, उज्ज्वल होय।

४. रागमें इष्टानिष्टता

१. राग हेय है

स सि/७/१७/३५५/१० रागादयः पुनः कर्मोदयतन्त्रा इति अनात्मस्वभावत्वाद्धेयाः। =रागादि तो कर्मोंके उदयसे होते हैं, अतः वे आत्माका स्वभाव न होनेसे हेय है।

स सा./आ/१४७ कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनोरमामनोरमकरेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत्। =जैसे—कुशील-मनोरम और अमनोरम हथिनी रूपी कुट्टनीके साथ (हाथीका) राग और संसर्ग बन्ध (बन्धन) का कारण होता है, उसी प्रकार कुशील अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्ग बन्धके कारण होनेसे, शुभाशुभ कर्मोंके साथ राग और संसर्गका निषेध किया गया है।

आ अनु./१८२ मोहबीजाद्रतिद्वेषौ बीजान्मूलाङ्कुराविव। तस्माज्ज्ञानाग्निना दाह्यं तदेतौ निर्दिधिक्षुणा।१८२। =जिस प्रकार बीजसे जड और अंकुर उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार मोह रूपी बीजसे राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिए जो इन दोनों (राग-द्वेष) को जलाना चाहता है, उसे ज्ञानरूप अग्निके द्वारा उस मोहरूपी बीजको जला देना चाहिए।१८२।

२. मोक्षके प्रतिका राग भी कथंचित् हेय है

मो. पा./मू./५५ आसवहेदू य तहा भावं मोक्खस्स कारणं हवदि। सो तेण दु अण्णाणी आदसहावादु विवरीदो।५५। =रागभाव जो मोक्षका निमित्त भी हो तो आस्रवका ही कारण है। जो मोक्षको पर द्रव्यकी भाँति इष्ट मानकर राग करता है सो जीव मुनि भी अज्ञानी है, आत्म स्वभावसे विपरीत है।५५।

प. प्र./मू./२/१८८ मोक्खु म चिंतहि जोइया मोक्खु ण चिंतिउ होइ। जेण णिबद्धउ जीवडउ मोक्खु करेसइ सोइ।१८८। =हे योगी! अन्य चिन्ताकी तो बात क्या मोक्षकी भी चिन्ता मत कर, क्योंकि मोक्ष चिन्ता करनेसे नहीं होता। जिन कर्मोंसे यह जीव बँधा हुआ है वे कर्म ही मोक्ष करेंगे।१८८।

पं. का./त.प्र./१६७ ततः स्वसमयप्रसिद्ध्यर्थं अर्हदादिविषयोऽपि क्रमेण रागरेणुरपसारणीय इति=जीवको स्वसमयकी प्रसिद्धिके हेतु अर्हतादि विषयक भी रागरेणु क्रमशः दूर करने योग्य है।

प. वि/१/५५ मोक्षेऽपि मोहादभिलाषदोषो विशेषतो मोक्षनिषेधकारी। =अज्ञानतासे मोक्षके विषयमें भी की जानेवाली अभिलाषा दोष रूप होकर विशेष रूपसे मोक्षकी निषेधक होती है। (प. वि/२३/१८)।

३. मोक्षके प्रतिका राग कथंचित् इष्ट है

प. प्र./मू/२/१२८ सिव-पहि णिम्मलि करहि रइ घरु परियणु लहु छडि।१२८। =तू परम पवित्र मोक्षमार्गमें प्रीति कर, और घर आदिको शीघ्र ही छोड।१२८।

क. पा १/१,२१/§३४२/३६६/११ तिरयणसाहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्तिदंसणादो। =रत्नत्रयके साधन विषयक लोभसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति देखी जाती है।

प्र. सा/त. प्र./२५४ रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्यः। =गृहस्थको रागके संयोगसे शुद्धात्माका अनुभव होता है, और इसलिए क्रमशः परम निर्वाण सौख्यका कारण होता है।

आ अनु/१२३ विधूततमसो रागस्तपःश्रुतनिबन्धनः। सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः।१२३। =अज्ञानरूप अन्धकारको नष्ट कर देनेवाले प्राणीके जो तप और शास्त्र विषयक अनुराग होता है वह सूर्यकी प्रभात कालीन लालिमाके समान उसके अभ्युदयके लिए होता है।

४ तृष्णाके निषेधका कारण

ज्ञा./१९/२,३,१२ यावद्यावच्छरीराशा धनाशा वा विसर्पति। तावत्तावन्मनुष्याणां मोहग्रन्थिर्दृढीभवेत्।२। अनिरुद्धा सती शश्वदाशा विश्वं प्रसर्पति। ततो निबद्धमूलासौ पुनश्छेत्तुं न शक्यते।३। यावदाशानलश्चित्ते जाज्वलीति विशृङ्खलः। तावत्तव महादुःखदाहशान्तिः कुतस्तनी।१२। =१ मनुष्योंके जैसे-जैसे शरीर और धनमें आशा फैलती है, तैसे-तैसे मोहकर्मकी गाँठ दृढ होती है।२। २ इस आशाको रोका नहीं जावे तो यह निरन्तर समस्त लोक पर्यन्त विस्तरती रहती है, और उससे इसका मूल दृढ होता है, फिर इसका काटना अशक्य हो जाता है।३। (ज्ञा/२०/३०) ३ हे आत्मन्! जब तक तेरे चित्तमें आशारूपी अग्नि स्वतन्त्रतासे नितान्त प्रज्वलित हो रही है तब तक तेरे महादु खरूपी दाहकी शान्ति कहाँसे हो।१२।

५. ख्याति लाभादिकी भावनासे सुकृत नष्ट हो जाते हैं

आ अनु./१८९ अधीत्य सकलं श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो यदीच्छसि फलं तयोरिह हि लाभपूजादिकम्। छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव

शून्याशय —कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्व फलम् ।१८६। =समस्त आगमका अभ्यास और चिरकाल तक घोर तपश्चरण करके भी यदि उन दोनोंका फल तू यहाँ सम्पत्ति आदिका लाभ और प्रतिष्ठा आदि चाहता है, तो समझना चाहिए कि तू विवेकहीन होकर उस उत्कृष्ट तपरूप वृक्षके फूलको ही नष्ट करता है। फिर-फिर ऐसी अवस्थामें तू उसके सुन्दर व सुस्वादु पके हुए रसीले फलको कैसे प्राप्त कर सकेगा। नहीं कर सकेगा।

और भी दे० ज्योतिष मन्त्र-तन्त्र आदि कार्य लौकिक है (दे० लौकिक) मोक्षमार्गमें इनका अत्यन्त निषेध दे० मन्त्र/१/३-४।

६. लोकेषणा रहित ही तप आदिक साधक है

चा. सा./१३४/१ यत्किंचिद्दृष्टफल मन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्य क्रियमाणमुपवसनमनशनमित्युच्यते। =किसी प्रत्यक्ष फलकी अपेक्षा न रखकर और मन्त्र साधनादि उपदेशोंके बिना जो उपवास किया जाता है, उसे अनशन कहते हैं।

चा. सा./१५०/१ मन्त्रौषधोपकरणयश सत्कारलाभाद्यनपेक्षितचित्तेन परमार्थनिस्पृहमतिनेहलौकिकफलनिरुत्सुकेन कर्मक्षयकाङ्क्षिणा ज्ञानलाभाचार··सिद्ध्यर्थं विनयभावन कर्तव्यम्। =जिनके हृदयमें मन्त्र, औषधि, उपकरण, यश, सत्कार और लाभादिकी अपेक्षा नहीं है, जिनकी बुद्धि वास्तवमें निस्पृह है, जो केवल कर्मोंका नाश करनेकी इच्छा करते हैं, जिनके इस लोकके फलकी इच्छा बिलकुल नहीं है उन्हें ज्ञानका लाभ होनेके लिए· विनय करनेकी भावना करनी चाहिए।

स सा./ता. वृ /२७४/३५३/१२ अभव्यजीवो यद्यपि ख्यातिपूजालाभार्थमेकादशाङ्गश्रुताध्ययनं कुर्यात् तथापि तस्य शास्त्रपाठः शुद्धात्मपरिज्ञानरूपं गुणं न करोति। =अभव्य जीव यद्यपि ख्याति लाभ व पूजाके अर्थ ग्यारह अंग श्रुतका अध्ययन करे, तथापि उसका ज्ञान शुद्धात्म परिज्ञान रूप गुणको नहीं करता है।

दे. तप/२/६ (तप दृष्टफलसे निरपेक्ष होता है)।

५. राग टालने का उपाय व महत्ता

१. रागका अभाव सम्भव है

ध./१/४,१,४४/११७-११८/१ ण कसाया जीवगुणा, पमादासजमा वि ण जीवगुणा, ण अण्णाणं पि, ण मिच्छत्तं पि, तदो णाण-दसण-सजम सम्मत्त खंति-मद्दवज्जव-सतोस-विरागादिसहावो जीवो त्ति सिद्ध। =कषाय जीवके गुण नहीं हैं (विशेष दे० कषाय २/३) प्रमाद व असंयम भी जीवके गुण नहीं हैं, अज्ञान भी जीवके गुण नहीं हैं, मिथ्यात्व भी जीवके गुण नहीं है, इस कारण ज्ञान, दर्शन, संयम, सम्यक्त्व, क्षमा, मृदुता आर्जव, सन्तोष और विरागादि स्वभाव जीव है, यह सिद्ध हुआ। (और इसीलिए इनका अभाव भी किया जा सकता है। और भी दे० मोक्ष/६/४)

२. राग टालने का निश्चय उपाय

प्र सा/मू/८० जो जाणदि अरहतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं। सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ।८०। (उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात्) =जो अरहंतको द्रव्यपने गुणपने और पर्यायपने जानता है, वह (अपने) आत्माको जानता है, और उसका मोह अवश्य लयको प्राप्त होता है ।८०। क्योंकि दोनोंमें निश्चयसे अन्तर नहीं है ।८०।

प का मू/१०४ मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्जदो णिहदमोहो। पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरापरो जीवो ।१०४। =जीव इस अर्थको (इस शास्त्रके अर्थभूत शुद्ध आत्माको) जानकर, उसके अनुसरणका उद्यम करता हुआ हत मोह होकर (जिसे दर्शनमोहका क्षय हुआ हो ऐसा होकर) राग-द्वेषको प्रशमित-निवृत्त करके, उत्तर और पूर्व बन्धका जिसे नाश हुआ है ऐसा होता है।

इ. उ/मू./३७ यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम्। तथा तथा न रोचन्ते विषयाः सुलभा अपि ।३७। =स्वपर पदार्थोंके भेद ज्ञानसे जैसा-जैसा आत्माका स्वरूप विकसित होता जाता है वैसे-वैसे ही सहज प्राप्त रमणीय पंचेन्द्रिय विषय भी अरुचिकर प्रतीत होते जाते हैं ।३७।

स. श./मू /४० यत्र काये मुने प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्। बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ।४०। =जिस शरीरमें मुनिको अन्तरात्माका प्रेम है, उससे भेद विज्ञानके आधारपर आत्माको पृथक् करके उस उत्तम चिदानन्दमय कायमें लगावे। ऐसा करनेसे प्रेम नष्ट हो जाता है ।४०।

प्र. सा./त प्र/८६,९० तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते। अतो हि मोहक्षपणे परम शब्द ब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ।८६। निश्चितस्वपरविवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ।९०। =१. उपरक्त उपाय (दे० ऊपर प्र. सा/मू) वास्तवमें इस उपायान्तरकी अपेक्षा रखता है। मोहका क्षय करनेमें, परम शब्दब्रह्मकी उपासनाका भाव ज्ञानके अवलम्बन द्वारा दृढ किये गये परिणामसे सम्यक् प्रकार अभ्यास करना सो उपायान्तर है ।८६। २ जिसने स्वपरका विवेक निश्चित किया है ऐसे आत्माके विकारकारी मोहांकुरका प्रादुर्भाव नहीं होता।

ज्ञा /२३/१२ महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसगमोत्सुकैः। योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ।१२।

ज्ञा./३२/५२ मुनेर्यदि मनो मोहाद्रागाद्यैरभिभूयते। तन्नियोज्यात्मनस्तत्त्वे तान्येव क्षिप्यते क्षणात् ।५२। = मुक्तिरूपी लक्ष्मीके संगकी वांछा करनेवाले योगीश्वरोंने महाप्रशमरूपी संग्राममें ज्ञानरूपी शस्त्रसे रागरूपी मल्लको निपातन किया। क्योंकि इसके हते बिना मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्ति नहीं है ।१२। मुनिका मन यदि मोहके उदय रागादिकसे पीडित हो तो मुनि उस मनको आत्मस्वरूपमें लगाकर, उन रागादिकोंको क्षणमात्रमें क्षेपण करता है ।५२।

प्र. सा/ता वृ./६२/२१५/१३ की उत्थानिका परमात्मद्रव्यं योऽसौ जानाति स परद्रव्ये मोहं न करोति। =जो उस परमात्म द्रव्यको जानता है वह परद्रव्यमें मोह नहीं करता है।

प्र सा/ता वृ/२४४/३३८/१२ योऽसौ निजस्वरूपं भावयति तस्य चित्त बहि पदार्थेषु न गच्छति ततश्च चिच्चमत्कारमात्राच्च्युतो न भवति। तदच्यवनेन च रागाद्यभावाद्विविधकर्माणि विनाशयतीति। =जो निजस्वरूपको भाता है, उसका चित्त बाह्य पदार्थोंमें नहीं जाता है, फिर वह चित् चमत्कार मात्र आत्मासे च्युत नहीं होता। अपने स्वरूपमें अच्युत रहनेसे रागादिके अभावके कारण विविध प्रकारके कर्मोंका विनाश करता है।

प ध/उ /३७१ इत्येवं ज्ञाततत्त्वोऽसौ सम्यग्दृष्टिर्निजात्मदृक्। वैषयिके सुखे ज्ञाने रागद्वेषौ परित्यजेत् ।३७१। =इस प्रकार तत्त्वोंको जाननेवाला स्वात्मदर्शी यह सम्यग्दृष्टि जीव इन्द्रियजन्य सुख और ज्ञानमें राग तथा द्वेषका परित्याग करे।

३. राग टालनेका व्यवहार उपाय

भ आ /मू /२६४ जावंति केइ संगा उदीरया होंति रागदोसाणं। ते वज्जतो जिणदि हु रागं दोसं च णिस्संगो ।२६४। =राग और द्वेषको उत्पन्न करनेवाला जो कोई परिग्रह है, उनका त्याग करनेवाला मुनि निःसंग होकर राग द्वेषोंको जीतता ही है ।२६४।

आ अनु./२३७ रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम्। तौ च बाह्यार्थसबद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत्। =राग और द्वेषका नाम

प्रवृत्ति तथा दोनोंके अभावका नाम ही निवृत्ति है। चूँकि ये दोनों बाह्य वस्तुओंसे सम्बन्ध रखते हैं, अतएव उन बाह्य वस्तुओंका ही परित्याग करना चाहिए।

४. तृष्णा तोड़नेका उपाय

आ अनु /२५२ यदि सुतपसामाशावल्लीशिखा तरुणायते, भवति हि मनोमूले यावन्ममत्वजलार्द्रता। इति कृतधियः कृच्छ्रारम्भैश्चरन्ति निरन्तर-चिरपरिचिते देहेऽप्यस्मिन्नतीव गतस्पृहा।२५२। =जब तक मनरूपी जड़के भीतर ममत्वरूपी जलसे निर्मित गीलापन रहता है, तब तक महातपस्वियोंकी भी आशारूप बेलकी शिखा जवान सी रहती है। इसलिए विवेकी जीव चिरकालसे परिचित इस शरीरमें भी अत्यन्त निःस्पृह होकर सुख-दुःख एवं जीवन-मरण आदिमें समान होकर निरन्तर कष्टकारक आरम्भोंमें—ग्रीष्मादि ऋतुओंके अनुसार पर्वतकी शिला आदिपर स्थित होकर ध्यानादि कार्योंमें प्रवृत्त रहते हैं।२५२।

५. तृष्णाको वश करनेकी महत्ता

ज्ञा./१७/१०,११,१६ सर्वाशा यो निराकृत्य नैराश्यमवलम्बते। तस्य क्वचिदपि स्वान्तं सगपङ्केर्न लिप्यते।१०। तस्य सत्य श्रुतं वृत्तं विवेकस्तत्त्वनिश्चयः। निर्ममत्वं च यस्याशापिशाची निधनं गता।११। चरस्थिरार्थजातेषु यस्याशा प्रलयं गता। किं किं न तस्य लोकेऽस्मिन्मन्ये सिद्धं समीहितम्।१६। =जो पुरुष समस्त आशाओंका निराकरण करके निराशा अवलम्बन करता है, उसका मन किसी कालमें भी परिग्रहरूपी कर्दमसे नहीं लिपता।१०। जिस पुरुषके आशा रूपी पिशाची नष्टताको प्राप्त हुई उसका शास्त्राध्ययन करना, चारित्र पालना, विवेक, तत्त्वोंका निश्चय और निर्ममता आदि सत्यार्थ है।११। जिस पुरुषकी चराचर पदार्थोंमें आशा नष्ट हो गयी है, उसके इस लोकमें क्या-क्या मनोवांछित सिद्ध नहीं हुए, अर्थात् सर्व मनोवांछित सिद्ध हुए।१६।

बो पा/टी/८६/११४ पर उद्धृत आशादासीकृता येन तेन दासीकृतं जगत्। आशाया यो भवेद्दास स दासः सर्वदेहिनाम्। =जिसने आशाको दासी बना लिया है उसने सम्पूर्ण जगतको दास बना लिया है। परन्तु जो स्वयं आशाका दास है, वह सर्व जीवोंका दास है।

६. सम्यग्दृष्टिकी विरागता तथा तत्सम्बन्धी शंका समाधान

१. सम्यग्दृष्टिको रागका अभाव तथा उसका कारण

स. सा./मू./२०१-२०२ परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स। ण वि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरो वि।२०१। अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो। कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो।२०२। =वास्तवमें जिस जीवके परमाणुमात्र लेशमात्र भी रागादिक वर्तता है, वह जीव भले ही सर्व आगमका धारी हो तथापि आत्माको नहीं जानता।२०१। (प्र सा./मू./२३९), (प. का/मू./१६७), (ति प./६/३७) और आत्माको न जानता हुआ, वह अनात्मा (पर) को भी नहीं जानता। इस प्रकार जो जीव और अजीवको नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है।

मो. पा/मू./६९ परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो। सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ।६९। =जो पुरुष पर द्रव्यमें लेशमात्र भी मोहसे राग करता है, वह मूढ है, अज्ञानी है और आत्मस्वभावसे विपरीत है।६९।

प. प्र./मू./२/८१ जो अणु-मेत्तु वि राउ मणि जाम ण मिल्लइ एत्थु। सो णवि मुच्चइ ताम जिय जाणंतु वि परमत्थु।८१। =जो जीव थोड़ा भी राग मनमेंसे जब तक इस संसारमें नहीं छोड़ देता है, तब तक हे जीव! निज शुद्धात्म तत्त्वको शब्दसे केवल जानता हुआ भी नहीं मुक्त होता।८१। (यो.सा./अ./१/४८)।

पं. ध./उ./२५९ वैषयिकसुखेन स्याद्रागभावः सुदृष्टिनाम्। रागस्याज्ञानभावत्वादस्ति मिथ्यादृशः स्फुटम्।२५९। =सम्यग्दृष्टियोंके वैषयिक सुखमें ममता नहीं होती है क्योंकि वास्तवमें वह आसक्तिरूप राग भाव अज्ञानरूप है, इसलिए विषयोंकी अभिलाषा मिथ्यादृष्टिको होती है।२५९।

२. निचली भूमिकाओंमें रागका अभाव कैसे सम्भव है

स. सा./ता. वृ./२०१,२०२/२७९/८ रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः। तर्हि चतुर्थपञ्चमगुणस्थानवर्तिनः सम्यग्दृष्टयो न भवन्ति। इति तन्न, मिथ्यादृष्टयपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बंधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। कथं इति चेत्, चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां अनन्तानुबन्धिक्रोध...पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्।... पञ्चमगुणस्थानवर्तिनां अप्रत्याख्यानक्रोध... भूमिरेखादि समानानां रागादीनामभावात्। अत्र तु ग्रन्थे पञ्चमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्त्याग्रहणं, सराग सम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टि व्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण ज्ञातव्यम्। =प्रश्न—रागी जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होता, ऐसा आपने कहा है, तो चौथे व पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकेंगे। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षा ४३ प्रकृतियोंके बन्धका अभाव होनेसे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। वह ऐसे कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के तो पाषाण रेखा सदृश अनन्तानुबन्धी चतुष्करूप रागादिकोंका अभाव होता है, और पंचम गुणस्थानवर्ती जीवोंके भूमिरेखा सदृश अप्रत्याख्यान चतुष्करूप रागादिकोंका अभाव होता है। यहाँ इस ग्रन्थमें पंचम गुणस्थान से ऊपर वाले गुणस्थानवर्ती वीतराग सम्यग्दृष्टियोंका मुख्य रूपसे ग्रहण किया गया है और सरागसम्यग्दृष्टियोंका गौण रूपसे। सम्यग्दृष्टिके व्याख्यानकालमें सर्वत्र यही जानना चाहिए।

दे. सम्यग्दृष्टि/३/३/ (ता.वृ/१९३) [सम्यग्दृष्टिका अर्थ वीतराग सम्यग्दृष्टि समझना चाहिए]

स.सा./पं. जयचन्द/२०० जब अपनेको तो ज्ञायक भावरूप सुखमय जाने और कर्मोदयसे उत्पन्न हुए भावोंको आकुलतारूप दुःखमय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावोंसे विरागता यह दोनों अवश्य ही होते हैं। यह बात प्रगट अनुभवगोचर है। यही सम्यग्दृष्टिका लक्षण है।

स सा/पं जयचन्द/२००/१३७/३०७=प्रश्न—परद्रव्यमें जब तक राग रहे तब तक जीवको मिथ्यादृष्टि कहा है, सो यह बात हमारी समझमें नहीं आयी। अविरत सम्यग्दृष्टि इत्यादिके चारित्रमोहके उदयसे रागादि भाव तो होते हैं, तब फिर उनके सम्यक्त्व कैसे। उत्तर—यहाँ मिथ्यात्वसहित अनन्तानुबन्धी राग प्रधानतासे कहा है। जिसे ऐसा राग होता है अर्थात् जिसे परद्रव्यमें तथा परद्रव्यसे होनेवाले भावोंमें आत्मबुद्धिपूर्वक प्रीति-अप्रीति होती है, उसे स्व-परका ज्ञान श्रद्धान नहीं है—भेदज्ञान नहीं है ऐसा समझना चाहिए। (विशेष दे. सम्यग्दृष्टि/३/३ में ता.वृ.)।

३. सम्यग्दृष्टिको ही यथार्थ वैराग्य सम्भव है

स. श. मू/६७ यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत्। अप्रज्ञमक्रियाभोग स शम याति नेतरः।६७। =जिसको चलता-फिरता भी यह जगत स्थिरके समान दीखता है। प्रज्ञारहित तथा परिस्पन्दरूप क्रिया तथा सुखादिके अनुभवसे रहित दीखता है उसे वैराग्य आ जाता है अन्यको नहीं।६७।

स.सा./आ./२०० तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावोपादानापोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति। ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्यसपन्नो भवति=तत्त्वको जानता हुआ, स्वभावके ग्रहण और परभावके त्यागसे उत्पन्न होने योग्य अपने वस्तुत्वको विस्तरित करता हुआ कर्मोदयके विपाकसे उत्पन्न हुए समस्त भावोंको छोडता है। इसलिए वह (सम्यग्दृष्टि) नियमसे ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न होता है।

मू.आ./टी./१०६ यद्यपि कदाचिद्राग स्यात्तथापि पुनरनुबन्ध न कुर्वन्ति, पश्चात्तापेन तत्क्षणादेव विनाशमुपयाति हरिद्रारक्तवस्त्रस्य पीतप्रभारविकिरणस्पृष्टेवेति।=सम्यग्दृष्टि जीवके प्राथमिक अवस्थामें यद्यपि कदाचित् राग होता है तथापि उसमें उसका अनुबन्ध न होनेसे वह उसका कर्ता नहीं है। इसलिए वह पश्चात्तापवश ऐसे नष्ट हो जाता है जैसे सूर्यकी किरणोंका निमित्त पाकर हरिद्राका रंग नष्ट हो जाता है।

४. सरागी भी सम्यग्दृष्टि विरागी है

र.सा./मू./५७ सम्माइट्ठीकालं बोलइ वेरग्गणाण भावेण। मिच्छाइट्ठी वांछा दुब्भावालस्सकलहेहिं।५७।=सम्यग्दृष्टि पुरुष समयको वैराग्य और ज्ञानसे व्यतीत करते है। परन्तु मिथ्यादृष्टि पुरुष दुर्भाव आलस और कलहसे अपना समय व्यतीत करते हैं।

स.सा./आ./१९७/क १३६ सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः। स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या। यस्माज्ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च-स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात्।१३६।=सम्यग्दृष्टिके नियमसे ज्ञान और वैराग्यकी शक्ति होती है, क्योंकि वह स्वरूपका ग्रहण और परका त्याग करनेकी विधिके द्वारा अपने वस्तुत्वका अभ्यास करनेके लिए, 'यह स्व है (अर्थात् आत्मस्वरूप है) और यह पर है' इस भेदको परमार्थसे जानकर स्वमें स्थिर होता है और परसे—रागके योगसे—सर्वतः विरमता है।

स. सा./आ./१९६/क १३५ नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना। ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवक।१३५।=यह (ज्ञानी) पुरुष विषयसेवन करता हुआ भी ज्ञान वैभव और विरागताके बलसे विषयसेवनके निजफलको नहीं भोगता—प्राप्त नहीं होता, इसलिए यह (पुरुष) सेवक होने पर भी असेवक है।१३५।

द्र.स./टी./१/५/११ जितमिथ्यात्वरागादित्वेन एकदेशजिना असयत-सम्यग्दृष्टय।=मिथ्यात्व तथा राग आदिको जीतनेके कारण असयत सम्यग्दृष्टि आदि एकदेशी जिन है।

मो.मा.प्र./६/४६७/१७ क्षायिकसम्यग्दृष्टि · मिथ्यात्व रूप रंजनाके अभावतैं वीतराग है।

५. घरमें वैराग्य व वनमें राग सम्भव है

भा.पा./टी./६१/२१३ पर उद्धृत वनेऽपि दोषा प्रभवन्ति रागिणा गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तप। अकुत्सिते वर्त्मनि य प्रवर्तते, विमुक्तरागस्य गृह तपोवन।=रागी जीवोको वनमें रहते हुए भी दोष विद्यमान रहते है, परन्तु जो रागसे विमुक्त है उनके लिए घर भी तपोवन है, क्योंकि वे घरमें भी पाँचों इन्द्रियोंके निग्रहरूप तप करते है और अकुत्सित भावनाओमें वर्तते हे।

६. सम्यग्दृष्टि को राग नहीं तो भोग क्यों भोगता है

स.सा./ता.वृ./१९४/२६८/१४ उदयागते द्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात् सुख दुःखं जायते तावत्।·· सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्ध्या वेदयति। न च तन्मयो भूत्वा, अह सुखी दु खीत्याद्यहमिति प्रत्ययेन नानुभवति।· मिथ्यादृष्टे पुनरुपादेय बुद्ध्या, सुख्यह दुख्यहमिति प्रत्ययेन बधकारण भवति। किं च, यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरण नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीत सन् मरणमनुभवति। तथा सम्यग्दृष्टि· यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेय च जानाति, विषयसुखं च हेयं जानाति। तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीत सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्तं स्यात्।=द्रव्यकर्मोंके उदयमें वे जीवके द्वारा उपभुक्त होते हे, और तब नियमसे उसे उदयकालपर्यन्त सुख-दुःख होते हैं। · तहाँ सम्यग्दृष्टि जीव उनमें राग-द्वेष न करता हुआ उन्हें हेय बुद्धिसे अनुभव करता है। 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रकारके प्रत्यय सहित तन्मय होकर अनुभव नहीं करता। परन्तु मिथ्यादृष्टि तो उन्हें उपादेय बुद्धिसे 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इस प्रकारके प्रत्ययसहित अनुभव करता है, इसलिए उसे वे बन्धके कारण होते है। और भी—जिस प्रकार कोई चोर यदि मरना नहीं चाहता तो भी कोतवालके द्वारा पकडा जानेपर मरणका अनुभव करता है उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि यद्यपि आत्मासे उत्पन्न सुखको ही उपादेय जानता है, और विषय-सुखको हेय जानता है, तथा चारित्रमोहके उदयरूप कोतवालके द्वारा पकडा हुआ उन वैषयिक सुख-दु'खको भोगता है। इस कारण उसके लिए वे निर्जराके निमित्त ही है।

प.ध./उ./२६१ उपेक्षा सर्वभोगेषु सद्दृष्टेर्दृष्टरोगवत्। अवश्य तदवस्थायास्तथाभावो निसर्गज।२६१।=सम्यग्दृष्टिको सर्वप्रकारके भोगमें रोगकी तरह अरुचि होती है क्योंकि उस सम्यक्त्वरूप अवस्थाका प्रत्यक्ष विषयोमें अवश्य अरुचिका होना स्वत' सिद्ध स्वभाव है।२६१।

७. विषय सेवता भी असेवक है

स.सा./मू./१९७ सेवतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवगो कोई। पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होई।=कोई तो विषयको सेवन करता हुआ भी सेवन नहीं करता, और कोई सेवन न करता हुआ भी सेवन करनेवाला है—जैसे किसी पुरुषके प्रकरणकी चेष्टा पायी जाती है तथापि वह प्राकरणिक नहीं होता।

स. सा./आ./२१४/१४६ पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकात् ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोग तद्भवत्वथ च रागवियोगात् नूनमेति न परिग्रहभावम्।१४६।=पूर्वबद्ध अपने कर्मके विपाकके कारण ज्ञानीके यदि उपभोग हो तो हो, परन्तु रागके वियोग (अभाव) के कारण वास्तवमें वह उपभोग परिग्रहभावको प्राप्त नहीं होता।१४६।

अन.ध./८/२-३ मन्त्रेणेव विषं मृत्यवै मध्वरत्या मदाय वा। न बंधाय हत ज्ञप्त्या न विरक्त्यार्थसेवनम्।२। ज्ञो भुञ्जानोऽपि नो भुङ्क्ते विषयास्तत्फलात्ययात्। यथा परप्रकरणे नृत्यन्नपि न नृत्यति।३।=मन्त्र द्वारा जिसकी सामर्थ्य नष्ट कर दी गयी ऐसे विषका भक्षण करनेपर भी जिस प्रकार मरण नहीं होता, तथा जिस प्रकार बिना प्रीतिके पिया हुआ भी मद्य नशा करनेवाला नहीं होता, उसी प्रकार भेदज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए वैराग्यके अन्तरंगमें रहनेपर विषयोपभोग कर्मबन्ध नहीं करता।२। जिस प्रकार नृत्यकार अन्यपुरुषके विवाहादिमें नृत्य करते हुए भी उपयोगकी अपेक्षा नृत्य नहीं करता है, इसी प्रकार ज्ञानी आत्मस्वरूपमें उपयुक्त है वह चेष्टामात्रसे यद्यपि विषयोको भोगता है, फिर भी उसे अभोक्ता समझना चाहिए।३। (प ध./उ/२७०-२७४)।

प.ध./उ./२७४ सम्यग्दृष्टिरसौ भोगान् सेवमानोऽप्यसेवक। नीरागस्य न रागाय कर्माकामकृतं यत।२७४।=यह सम्यग्दृष्टि भोगोका सेवन करता हुआ भी वास्तवमें भोगोका सेवन करनेवाला नहीं कहलाता है, क्योंकि रागरहित जीवके बिना इच्छाके किये गये कर्म रागको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हैं।२७४।

८. भोगोंकी आकांक्षाके अभावमें भी वह व्रतादि क्यों करता है

पं. ध./उ /५५४,-५७१ ननु कार्यमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते। भोगाकाङ्क्षा विना ज्ञानी तत्कथ व्रतमाचरेत् ।५५४। नैवं यत सुसिद्धं प्रागस्ति चानिच्छत क्रिया। शुभायाश्चाऽशुभायाश्च कोऽवशेषो विशेषभाक् ।५६१। पौरुषो न यथाकाम पस. कर्मोदित प्रति। न परं पौरुषापेक्षो दैवापेक्षो हि पौरुष ।५७१।=प्रश्न—जब अज्ञानी पुरुष भी किसी कार्यके उद्देश्यके बिना प्रवृत्ति नही करता है, तो फिर ज्ञानी सम्यग्दृष्टि भोगोकी आकाक्षाके बिना व्रतोका आचरण क्यों करेगा। उत्तर—यह कहना ठीक नही है, क्योंकि यह पहले सिद्ध किया जा चुका है कि बिना इच्छाके ही सम्यग्दृष्टिके सब क्रियाएँ होती है। इसलिए उसके शुभ और अशुभ क्रियामें विशेषताको बतानेवाला क्या शेष रहा जाता है ।५६१। उदयमें आनेवाले कर्मके प्रति जीवका इच्छानुकूल पुरुषार्थ कारण नही है क्योंकि पुरुषार्थ केवल पौरुषकी अपेक्षा नही रखता है किन्तु दैवकी अपेक्षा रखता है ।५७१।

.ध /उ /७०६-७०७ ननु नेहा बिना कर्म कर्म नेहा बिना क्वचित्। तस्मान्नानीहित कर्म स्यादक्षार्थस्तु वा न वा ।७०६। नैव हेतोरतिव्याप्तेरारादाक्षीणमोहिषु। बन्धस्य नित्यतापत्तेर्भवेन्मुक्तेरसभव ।७०७। प्रश्न—कही भी क्रियाके बिना इच्छा और इच्छाके बिना क्रिया नही होती। इसलिए इन्द्रियजन्य स्वार्थ रहो या न रहो किन्तु कोई भी क्रिया इच्छाके बिना नही हो सकती है। उत्तर—यह ठीक नही है, क्योंकि उपरोक्त हेतुसे क्षीणकषाय और उसके समीपके गुणस्थानोमें उक्त लक्षणमें अतिव्याप्त दोष आता है। यदि उक्त गुणस्थानोमें भी क्रियाके सद्भावसे इच्छाका सद्भाव माना जायेगा तो बन्धके नित्यत्वका प्रसग आनेसे मुक्ति होना भी असम्भव हो जायेगा। (और भी दे. संवर/२/६)।

राजऋषि—दे० ऋषि।

राजकथा—दे० कथा।

राजधानी—१ एक राजधानीमें आठ सौ गाँव होते हैं। (म पु/१६/१७५), २ चक्रवर्तीकी राजधानीका स्वरूप—दे० शलाका पुरुष/२।

राजपिंड—दे० भिक्षा/३।

राजमति विप्रलंभ—पं आशाधर (ई ११७३-१२४३) द्वारा सस्कृत छन्दोमे रचित ग्रन्थ।

राजमल्ल—१. मगध देशके विराट् नगरमें बादशाह अकबरके समयमें कविवर राजमल्लका निवास था। काष्ठासघी भट्टारक आम्नायके पण्डित थे। इसीसे इन्हे 'प बनारसी दास जी पाण्डे' कहा है। क्षेमकीर्तिके आम्नायमें भारु नामका वैश्य था। उसके चार पुत्र थे यथा—दूदा, ठाकुर, जागसी, तिलोक। दूदाके तीन पुत्र थे—न्यू.ता, भोल्हा, और फामन। फामन एक समय विराट् नगरमें आया वहाँ एक ताल्हू नाम जैन विद्वान्से जो हेमचन्द्राचार्यकी आम्नायका था, कुछ धर्मकी शिक्षा प्राप्त की। फिर वह कविराजके पास आया और इन्होने उसकी प्रेरणासे लाटी संहिता लिखी। इसके अतिरिक्त समयसारकी अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकाके ऊपर सुगम हिन्दी वचनिका, पचास्तिकाय टीका, पचाध्यायी जम्बूस्वामी चरित्र, पिंगल, अध्यात्म कमलमार्तण्डकी रचना की। समय—वि १६०३-१६६२ (ला स /१/४-१०), (स सा नाटक/१), (प का/प्र ३ प पन्नालाल), (स. सा कलश टीका/प्र /४/ब्र शीतल), (हिं जै सा ३./कामता) २ आप गगवशीय राजा थे। राजा मारसिहके उत्तराधिकारी थे। चामुण्डराय जी आप हीके मन्त्री थे। आप आचार्य सिंहनन्दि व आचार्य अजितसेन दोनोंके शिष्य रहे हैं। आपका समय प्रेमी जीके अनुसार वि. सं. १०३१-१०४० अर्थात् ई. ई ९७४-९८३ निश्चित है। (बाहुबलि चरित्र/श्लोक. ६, ११), (जैन. सा. इ./२६६ प्रेमी)।

राजमल्ल सत्यवाक्य— इसके राज्य कालमें ही आ० विद्यानन्दि ने १ के द्वारा आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, युक्त्यानुशासन ये तीन ग्रन्थ लिखे गये थे। समय—ई ८१६-८३० (सि. वि./३ प. महेन्द्र)।

राजवलि कथे—ई. १८३८ द्वारा रचित कथानुयोग विषयक कन्नड कृति।

राजवंश—दे० इतिहास/३।

राजवार्तिक—आ० अकलंक भट्ट (ई ६४०-६८०) द्वारा सर्वार्थसिद्धिपर की गयी विस्तृत संस्कृत वृत्ति है। इसमें सर्वार्थसिद्धिके वाक्योंको वार्तिक रूपसे ग्रहण करके उनकी टीका की गयी है। यह ग्रन्थ ज्ञेयार्थसे भरपूर्ण है। यदि इसे दिगम्बर जैन आम्नायका कोष कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। इसपर प पन्नालाल (ई. १७९३-१८६३) कृत भाषा वचनिका उपलब्ध है।

राजशेखर—आप एक कवि थे। आपने वि ९६० कर्पूर मंजरीकी रचना की थी। (धर्म शर्माभ्युदय/प्र.१९/प पन्नालाल)।

राजसदान—दे० दान।

राजसिंह—एक बहुत बडा मल्ल था। इसने मल्लयुद्धमें सुमित्र नामक मल्लको जीत लिया। (म पु./६१/५६-६०) यह मधुक्रीड प्रतिनारायणका दूरवर्ती पूर्व भव है।—दे० मधुक्रीड।

राजा—

ध १/१,१,१/गा ३६/५७ अष्टादशसंख्यानां श्रेणीनामधिपतिर्विनम्राणाम्। राजा स्यान्मुकुटधर कल्पतरु सेवमानानाम् ।३६।=जो नम्रीभूत अठारह श्रेणियोका अधिपति हो, मुकुटको धारण करनेवाला हो और सेवा करनेवालोंके लिए कल्पवृक्षके समान हो उसको राजा कहते हैं। (त्रि. सा /६८४)।

भ आ /वि./४२१/६१३/१६ राज शब्देन इक्ष्वाकुप्रभृतिकुले जाता। राजते प्रकृति रजयति इति वा राजा राजसदृशो महर्द्धिको भण्यते। =इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश इत्यादि कुलमें जो उत्पन्न हुआ है, जो प्रजाका पालन करना, उनको दुष्टोंसे रक्षण करना इत्यादि उपायोसे अनुरंजन करता है उसको राजा कहते है। राजाके समान जो महर्द्धिका धारक है उसको भी राजा कहते हैं।

२. राजाके भेद

(अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, राजाधिराज, महाराजाधिराज तथा परमेश्वरादि), (ध १/१,१,१/५६/७ का भावार्थ), (राजा, अधीश्वर, महाराज, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, त्रिखण्डाधिपति तथा चक्री आदि), (ध १/१,१,१/गा ३७-४३/५७-५८)।

३. अधिराज व महाराजका लक्षण

ति प /१/४५ पंचसयरायसामी अहिराजो होदि कित्तिभरिददिसो। रायाण जो सहस्सं पालइ सो होदि महाराजो ।४५।=जो पाँच सौ राजाओंका स्वामी हो वह अधिराज है। उसकी कीर्ति सारी दिशाओमें फैली रहती है। जो एक हजार राजाओंका पालन करता है वह महाराज है ।४५। (ध. १/१,१,१/गा ४०/५७), (त्रि सा./६८४)।

४ अर्धमण्डलीक व मण्डलीकका लक्षण

ति. प /१/४६ दुसहस्समउडबद्ध भुववसहो तत्थ अद्धमडलिओ। चउराज-सहस्साण अहिणाओ होइ मडलिओ।४६। =जो दो हजार मुकुटबद्ध भूपोंमे प्रधान हो वह अर्धमण्डलीक है। और जो चार हजार राजाओं-का अधिनाथ हो वह मण्डलीक कहलाता है।४६। (ध. १/१,१,१/गा, ४१/५७), (त्रि. सा./६८५)।

५. महामण्डलीकका लक्षण

ति प /१/४२ अष्टसहस्रमहीपतिनायकमाहुर्बुधा· महामण्डलिकम्·। =बुधजन आठ हजार राजाओंके स्वामीको महामण्डलीक कहते है। (ध. १/१,१,१/गा ४७/५७); (त्रि. सा /६८५)।

* अर्धचक्री व चक्रवर्तीका लक्षण—दे० शलाकापुरुष/८,२।

* कल्कि राजा—दे० कल्कि।

राजीमति—भोजवंशियोंकी राजपुत्री थी। नेमिनाथ भगवान्‌के लिए निश्चित की गयी थी (ह पु /५५/७२) विवाहके दिवस ही नेमिनाथ भगवान्‌की दीक्षापर अत्यन्त दु खी हुई तथा स्वय भी दीक्षा ग्रहण कर ली। (ह पु /६/१३०-१३४) अन्तमें सोलहवें स्वर्गमें देव हुई।

राजू—(ज प /प्र /२३) Raju is according to Colebrook the distance which a Deva flies in six months at the rate of 2 057,152 Yojans in one क्षण i.e instant of time /—Quoted by Von Glasenappin 'Der Jainismus'—Foot Note (Cosmology Old & New P 105/. इस परिभाषाके अनुसार राजुका प्रमाण इस तरह निकाला जा सकता है—६ माह=(५४००००)×६×३०×२४×६० (दे० गणित/I/१)—प्रतिविपलाश या क्षण। और—१ योजन=४५४५ ४५ मील (या क्रोशक) लेनेपर, ६. मासमें तय की हुई दूरी=४५४५ ४५×२०५७१७२×६×३०×२४×६०×५४०००० मील . एक राजू=(१·३०८६६६६२·)×(१०)[२१] मील According G. R Jain. १ राजू=१ ४५×(१०)[२१] मील (डॉ० आइस्टोनके सख्यात लोक त्रिज्या लेकर उसके अनुसार लोकके घनफलके आधारपर) According to प. माधवाचार्य=१००० भारका गोला, इन्द्रलोकसे नीचे गिरकर ६ मासमें जितनी दूर पहुँचे उस सम्पूर्ण लम्बाईको एक राजू कहते है।

राजेन्द्र—चोल वंशी राजा था। समय—ई० १०६२-१०६३ (जीवन्धर चम्पू /प्र /13/ N. Up)।

राज्य—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

राज्यवंश—१ ऐतिहासिक राज्यवंश—दे० इतिहास/३। २ पौराणिक राज्यवंश—दे० इतिहास/७।

राज्योत्तम—रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७।

रात्रि—१ दिन व रात्रि प्रगट होनेका क्रम—दे० ज्योतिष/२/८। २ साधु रात्रिको अत्यन्त अल्प निद्रा लेते हैं—दे० साधु/२। ३ साधुके लिए रात्रिको कथचित् बोलनेकी आज्ञा।—दे० अपवाद/३।

रात्रिपूजा निषेध—दे० पूजा/५।

रात्रि भोजन—जैन आम्नायमें रात्रि भोजनमें त्रस हिंसाका भारी दोष माना गया है। भले ही दीपक व चन्द्रमा आदिके प्रकाशमे आप भोजनको देख सकें पर उसमें पडने वाले जीवोंको नहीं बचा सकते। पाक्षिक श्रावक रात्रि भोजन त्याग व्रतको सापवाद पालते हैं, और छठी प्रतिमावाला निरपवाद पालता है।

१. रात्रिभोजन त्याग व्रत निर्देश

१. रात्रि भोजनका लक्षण

ध १२/४,२,८,७/२८२/१३ रत्तीए भोयण रादि भोयणं। =रात्रिमें भोजन सो रात्रि भोजन।

२. साधुके योग्य आहार काल

मू. आ./३५ उदयत्थमणे कालेणालीतियवज्जिय मज्झम्हि ·।३५। =सूर्यके उदय व अस्त कालकी तीन घडी छोडकर इसके मध्य कालमे कोई भी समय आहार ग्रहण करनेका काल है। (अन. ध / ९/९२), (आचारसार/१/४६)।

रा. वा /७/१/१८/५३५/२ ज्ञानादित्यस्वेन्द्रियप्रकाशपरीक्षितमार्गेण युगमात्रपूर्वापेक्षी देशकाले पर्यट्य यति. भिक्षां शुद्धामुपाददीत इत्याचारोपदेश। न चाय विधि रात्रौ भवतीति चङ्क्रमणाद्यसभव·। =ज्ञानसूर्य तथा इन्द्रियोंसे मार्गकी परीक्षा करके चार हाथ आगे देखकर यतिको योग्य देश कालमे शुद्ध भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए' यह आचारशास्त्रका उपदेश है। यह विधि रात्रिमें नहीं बनती, क्योंकि रात्रिको गमन आदि नहीं हो सकता। अत रात्रि भोजनका निषेध किया जाता है।

३. श्रावकके योग्य आहार काल

ला. स /५/२३४-२३५ काले पूर्वाह्हिके यावत्परतोऽपराह्हेऽपि च। यामस्याद्धं न भोक्तव्यं निशाया चापि दुर्दिने।२३४। याम मध्ये न भोक्तव्य यामयुग्म न लघयेत। आहारस्यास्त्ययं कालो नौषधादेर्जलस्य वा।२३५। =भोजनका समय दोपहरसे पहले-पहल है अथवा दोपहरके पश्चात् दिन ढलेका समय भी भोजनका है। अणुव्रती श्रावकोंको सूर्य निकलनेके पश्चात आधे पहर तक तथा सूर्य अस्तमे आधे पहर पहले भोजन कर लेना चाहिए। इसी प्रकार उन्हे रात्रिको, या जिस समय पानी बरस रहा हो अथवा काली घटा छानेसे अँधेरा हो गया हो उस समय भोजन नहीं करना चाहिए।२३४। अणुव्रती श्रावकोंको पहले पहरमें भोजन नहीं करना चाहिए क्योंकि वह मुनियोंकी भिक्षाचर्याका समय नहीं है। तथा उन्हें दोपहरका समय भी नहीं टालना चाहिए उनके लिए सूर्योदयके पश्चात छह घण्टे बीत जानेपर भोजन करनेका निषेध है, परन्तु औषध व जलके ग्रहणका नहीं।२३५।

४. रात्रि भोजन त्यागके अतिचार

सा ध /३/१५ मुहूर्तेऽन्त्ये तथाद्येऽह्नो. वल्भानस्तमिताशिन। गदच्छिदेऽप्याम्रघृता-द्युपयोगश्च दुष्यति।१५। =रात्रि भोजन त्यागव्रतका पालन करने वाले श्रावकके दिनके अन्तिम और प्रथम मुहूर्तमें भोजन करना तथा रोगको दूर करनेके लिए भी आम और घी वगैरहका सेवन करना अतिचारजनक होता है।१५।

५. रात्रि भोजन त्यागमें अन्य भी व्रतोंका अन्तर्भाव

ध १२/४,२,८८/२८३/१ जेणेद सुत्त देसमामिय तेणेत्थ महु मास पचुवर णिवसण हुल्लभवखण सुरापान अवेलासणादीण पि णाणावरण पच्चयत्त परवेदव्व। =क्योंकि यह सूत्र (रात्रि भोजन प्रत्ययसे ज्ञानावरणीय वेदना या बन्ध होता है) देशामर्षक है अत. उससे यहाँ मधु, मांस, पचुदम्बर फल, निन्द्य भोजन और फूलोंके भक्षण, मद्यपान तथा आसमयिक भोजन आदिको ज्ञानावरणीयका प्रत्यय बतलाना चाहिए।

* रात्रि भोजनका हिंसामें अन्तर्भाव—दे० हिंसा।

* रात्रि भोजन त्याग छठा अणुव्रत है—दे० व्रत/३/३।

पर दयायुक्त चित्त वाला होता हुआ रात्रिमें, अन्न, जल, लाडू आदि खाद्य, और रबडी आदि लेह्य पदार्थोंको नही खाता वह रात्रि भुक्तित्याग नामक प्रतिमाका धारी है।१४२। (का. अनु./३८२), (सा. ध./७/१५)।

आचारसार/५/७०७१ व्रतत्राणाय कर्तव्यं रात्रिभोजनवर्जनम्। सर्वथान्ननिवृत्तिः तत्प्रोक्तं षष्ठमणुव्रतम्।७०७१। =अहिंसा आदि व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिको भोजनका त्याग अथवा उस समय अन्न खानेका त्याग करना छठी रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा या छठा अणुव्रत है।

वसु. श्रा./२९६ मण-वयण-काय-कय-कारियाणुमोएहिं मेहुणं णवधा। दिवसम्मि जो विवज्जइ गुणम्मि सोसावओ छट्ठो। =जो मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना इन नौ प्रकारोसे दिनमें मैथुनका त्याग करता है, वह प्रतिमारूप गुणस्थानमें छठा श्रावक अर्थात् छठा प्रतिमाधारी है।२९६। (गुण. श्रा./१७९), (सा ध/७/१२), (द्र. स/टी/४५/१९५/८)।

चा. सा./१३/२ रात्रावन्नपानखाद्यलेह्येभ्यश्चतुर्भ्यः सत्त्वानुकम्पया विरमणं रात्रिभोजनविरमणं षष्ठमणुव्रतम्।

चा. सा/३८/३ रात्रिभुक्तव्रतः रात्रौ स्त्रीणां भजनं रात्रिभक्तं तद्व्रतयति सेवत इति रात्रिव्रतातिचारा रात्रिभुक्तव्रतः दिवाब्रह्मचारीत्यर्थः। =जीवों पर दयाकर रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य इन चारो प्रकारके आहारका त्याग करना रात्रिभोजन विरमण नामका छठा अणुव्रत है। छठी प्रतिमाका रात्रिभक्त व्रत नाम है। रात्रिमें ही स्त्रियोंके सेवन करनेका व्रत लेना अर्थात् दिनमें ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिज्ञा लेना रात्रिभक्त व्रत प्रतिमा है। रात्रि भोजन त्याग के अतिचार त्याग करना ही रात्रि भक्त व्रत है।

२. पाक्षिक श्रावकके रात्रि भोजन त्यागमें कुछ अपवाद

सा. ध/२/७६ भृत्वाश्रितानवृत्त्यार्तान् कृपयानाश्रितानपि। भुञ्जीताह्न्यम्बुभैषज्य-ताम्बूलैलादि निश्यपि। =गृहस्थ अपने आश्रित मनुष्य और तिर्यंचोंको और आजीविकाके न होनेसे दुःखी अनाश्रित मनुष्य वा तिर्यंचोको भी दिनमें भोजन करावे। जल, दवा, पान और इलायची आदिक रात्रिमें भी खा और खिला सकता है।७६।

सा ध/२/७६ में उद्धृत ताम्बूलमौषधं तोयं, मुक्त्वाहारादिकाक्रियाम्। प्रत्याख्यानं प्रदीयेत यावत् प्रातर्दिनं भवेत्। =दिन उगे तक ताम्बूल, औषध और पानीको छोडकर सब प्रकारके आहारादिके त्यागका व्रत देना चाहिए।

ला. स./२/४२ निषिद्धमन्नमात्रादिस्थूलभोज्यं व्रते दृशः। न निषिद्धं जलाद्यन्न ताम्बूलाद्यपि वा निशि।४२। =इस व्रतमें (रात्रिभोजनत्याग व्रतमें) रात्रिमें केवल अन्नादिक स्थूल भोजनोका त्याग है, इसमें जल तथा आदि शब्दसे औषधिका त्याग नही है।४२।

३. छठी प्रतिमाका रात्रि भोजन त्याग निरपवाद है

ला सं./२/४३ तत्र ताम्बूलतोयादि निषिद्धं यावदञ्जसा। प्राणान्तेऽपि न भोक्तव्यमौषधादि मनीषिणा।४३। =उस छठी प्रतिमामें पानी, पान, सुपारी, इलायची, औषध आदि समस्त पदार्थोंका सर्वथा त्याग बतलाया है, इसलिए छठी प्रतिमाधारी बुद्धिमान् मनुष्यको औषधि व जल आदि पदार्थ प्राणान्तके समय भी रात्रिमें नहीं खाने चाहिए।४३। (सा ध/२/७६)।

दे० रात्रिभोजन/३/१ (छठी प्रतिमाधारी रात्रिमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करता है।)

४. छठी प्रतिमासे पूर्व रात्रि भोजनका निषेध क्यों

ला. सं/२/३९-४१ ननु रात्रि भुक्तित्यागो नात्रोद्देश्यस्त्वया क्वचित्। षष्ठसंख्यक-विख्यातप्रतिमायामास्ते यतः।३९। सत्यं सर्वात्मना तत्र निशाभोजनवर्जनम्। हेतोः किंत्वत्र दिग्मात्रं सिद्धं स्वानुभवागमात्।४०। अस्ति कश्चिद्विशेषोऽत्र स्वल्पाभासोऽर्थतो महान्। सातिचारोऽत्र दिग्मात्रे तत्रातिचारवर्जिता।४१। =प्रश्न—आपको यहाँ पर श्रावकोंके मूलगुणोंके वर्णनमें रात्रिभोजनके त्यागका उपदेश नहीं देना चाहिए, क्योंकि रात्रिभोजन त्याग नामकी छठी प्रतिमा पृथक् रूपसे स्वीकार की गयी है।३९। उत्तर—यह बात ठीक है किन्तु उसके साथ इतना और समझ लेना चाहिए कि छठी प्रतिमामें तो रात्रि भोजनका त्याग पूर्णरूपसे है और यहाँ पर मूल गुणोंके वर्णनमें अपूर्ण रूपसे है। मूल गुणोंमें रात्रि भोजनका त्याग करना अनुभव तथा आगम दोनोंसे सिद्ध है।४०। यहाँ पर इस रात्रिभोजन त्यागमें कुछ विशेषता है, यद्यपि वह थोडी प्रतीत होती है, परन्तु वह है महान्। वह यह है कि यहाँ तो वह व्रत अतिचार सहित है, और छठी प्रतिमामें अतिचार रहित है।४१।

रात्रियोग विधि—दे० कृतिकर्म/४।

राध—स सा/मू व आ/३०४ संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं। ।३०४। परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मन सिद्धिः साधनं वा राधः। संसिद्धि, राध (आराधना, प्रसन्नता, पूर्णता), सिद्ध, साधित और आराधित ये एकार्थवाची शब्द हैं।३०४। पर द्रव्यके परिहारसे शुद्ध आत्माकी सिद्धि अथवा साधन सो राध है।

राम—म. पु./सर्ग/श्लोक नं, राजा दशरथके पुत्र थे (२५/२६) स्वयंवरमें सीतासे विवाह किया (२८/२४५) माता केकयी द्वारा वनवास दिया गया (३१/१९१) वनवास कालमें सीताहरण होनेपर रावणसे युद्ध कर रावणको मारकर सीताको प्राप्त किया (७६/३३) परन्तु लौटनेपर लोकापवादसे सीताका परित्याग किया (९७/१०८) अन्तमें भाई लक्ष्मणकी मृत्युसे पीडित हो दीक्षा ग्रहण कर (११९/२४-२७) मोक्ष प्राप्त की (१२२/६७) इनका अपरनाम 'पद्म' था। ये ८वें बलदेव थे। (विशेष दे० शलाका पुरुष/३)।

रामकथा—आचार्य कीर्तिधर (ई० ६००) द्वारा विरचित जैन रामायण है। इसके आधारपर रविषेणाचार्यने प्रसिद्ध पद्मपुराण तथा स्वयंभू कविने पउमचरिउ लिखे हैं।

रामगिरि—मेघदूतकी अपेक्षा अमरकटक पर्वत और नेमिचरितकी अपेक्षा गिरिनार पर्वत (नेमिचरित/प्र.)।

रामचंद—१. नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप देवकीर्ति पण्डितके शिष्य थे। त्रैविद्यदेव आपकी उपाधि थी। समय—वि. १२१५-१२३९ (ई० ११५८-११८२) (ष. ख. २/प्र ४/H L Jain) दे० इतिहास/५/१४। २ आप एक कवि थे। वि. ११६० से पूर्व आपने हरिवंश पुराणकी रचना की थी। (म. पु./प्र./२१/पन्नालाल)।

रामदत्ता—म. पु/५९ श्लोक पोदनपुरके राजा पूर्णचन्दकी पुत्री थी (२१०) पति सिंहसेनकी मृत्युसे व्याकुलित हो दीक्षा ग्रहण कर ली (२०२) अन्तमें मरकर महाशुक्र स्वर्गमें देव हुई (२०५-२२६) यह मेरुगणधरका पूर्वका नवाँ भव है—दे० मेरु।

रामनंदि—माघनन्दिसंघकी गुर्वावलिके अनुसार श्री नन्दिसंघका अपरनाम था—दे० श्रीनन्दि।

रामपुत्र—भगवान् वीरके तीर्थमें अन्तकृत केवली हुए हैं—दे० अन्तकृत।

रामल्य—दे० स्थूलभद्र।

रामानुज वेदांत—अपरनाम विशिष्टाद्वैत—दे० वेदांत/IV।

रामसेन—१. इन्होंने मथुरा नगरमें माथुरसंघ चलाया था, जिसमें मुनिको पीछी रखनेका निषेध किया गया है और स्वगुरुके अतिरिक्त अन्य गुरुका मान भंग करना बताया है। समय—वि. ८६०-६१० (ई० ८०३-८५३), (द. सा./४०)। २. तत्त्वानुशासन ग्रन्थके कर्ता हुए है। समय—ई० श० १२-१३ (प. प्र./प्र./१२१)। ३. काष्ठासंघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) यह रत्नकीर्तिके गुरु थे। समय—वि. १४३१, ई० १३७४। —दे० इतिहास/५/६।

रायचंद—गुजरात देशमें राज्यान्तरगत ववणिया गाँवमें रवजी भाई पचाणभाई मेहताके पुत्र थे। माताका नाम देवाबाई था। कार्तिक शु. १५ वि स. १९२४ (ई० १८६७) में आपका जन्म हुआ। आपका जाति स्मरण था, तथा आप शतावधानी थे। केवल ३४ वर्षकी आयुमें चैत्र कृ. ५ वि. स. १९५७ को आपका स्वर्गवास हो गया। समय—१९०० (का अ./प्र. १/गुणभद्र जैन)।

रायधू—दे० रइधू।

रायमल—१ मुनि अनन्तकीर्तिके शिष्य थे। हनुमन्तचरित्र व भविष्यदत्तचरित्रकी रचना की थी। समय—वि. १६१६-१६६२ (हिं. जे सा. ई /८९ कामता)। २. सकलचन्द्र भट्टारकके शिष्य थे। हूमड जातिके थे। वि. १६६७ में भक्तामर कथा लिखी। (हिं जै. सा. इ /९० कामता)। ३ एक अत्यन्त विरक्त श्रावक थे। २२ वर्षकी अवस्थामें अनेक उत्कट त्याग कर दिये थे। आप प टोडरमलजीके अन्तेवासी थे। आपकी प्रेरणासे ही पं. टोडरमलजीने गोम्मटसारकी टीका लिखी थी। फिर आपने प. टोडरमलजीका जीवनचरित लिखा। समय—वि. १८११-१८३८ (मो. मा. प्र /प्र./१२/परमानन्दशा)

रावण—प. प्र./सर्ग/श्लोक नं रत्नश्रवाका पुत्र था (७/२०९) अपरनाम दशानन था। लंकाका राजा था (९/४९) सीताका हरण करनेपर रामसे युद्ध किया। लक्ष्मण द्वारा मारा गया (७६/३४) यह ८वाँ प्रतिनारायण था—(विशेष दे० शलाका पुरुष/५)।

राशि—Aggregate (ध. ५/प्र. २८) any number or numbers arranged in a difinite order as ११,१५,१६,५६,६५,७०.

राष्ट्रकूट वंश—दे० इतिहास/३/२।

रासभ—मालवा (मगध) देशके राज्यवंशमें (ह पु /६०/४९०) मे गन्धर्व या गर्दभिल्लके स्थानपर रासभ नाम दिया गया है। अत. गर्दभिल्लका ही दूसरा नाम रासभ था—दे० गर्दभिल्ल, इतिहास/३/१।

रिक्कु—क्षेत्रका प्रमाण विशेष। अपर नाम किष्कु या गजा—दे० गणित/I/१।

रिट्ठनेमिचरिउ—कवि स्वयंभू (ई० ६७७-७८३) द्वारा प्राकृत छन्दोंमें बद्ध यह काव्य रचना भगवान् नेमिनाथके चरित्रका वर्णन करता है।

रिण—Minus (ज. प /प्र./१०८)।

रिणराशि—मूल राशिमेंसे जिस राशिको घटाया जाता है। —दे० गणित/II/१/४।

रिष्टक संभवा—आकाशोपपन्नदेव—दे० देव/II/१।

रुक्मणिव्रत—प्रतिवर्ष भाद्रपद शु. ७ को एकाशन ८ को उपवास, ९ को पारणा, १० को उपवास, ११ को पारणा, १२ को उपवास, १३ को पारणा, १४ को उपवास, १५ को पारणा करे। इसे ८ वर्ष पर्यन्त करे तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (व्रतविधान सं./पृ. ६४)।

रुक्मपात्रांकित तीर्थमंडलयंत्र—दे० यन्त्र।

रुक्मपात्रांकित वरुणमंडल यंत्र—दे० यन्त्र।

रुक्मपात्रांकित वज्रमंडलयंत्र—दे० यन्त्र।

रुक्मि—१. रा. वा./३/११/६/१८३/२८ रजतसद्भावादस्य रुक्मीत्यभिधानम्।—(रम्यक क्षेत्रके उत्तरमें स्थित पूर्वापर लम्बायमान वर्षधर पर्वत है) क्योंकि इसमें चाँदी पायी जाती है इसलिए इसका रुक्मि नाम रूढ है। २. रुक्मि पर्वतके विस्तारादिके लिए—दे० लोक/३.७। ३. रुक्मि पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७। ४. रुक्मि पर्वतस्थ रुक्मि कूटका स्वामी—दे० लोक/७। ५. कुण्डिनपुरके राजा भीष्मका पुत्र था। बहन रुक्मिणीके कृष्ण द्वारा हर लिये जानेपर कृष्णसे युद्ध किया, जिसमें बन्दी बना लिया गया (ह. पु./४२/६५)।

रुक्मिणी—(ह. पु./सर्ग/श्लोक नं. भीष्म राजाकी पुत्री थी। (४२/३५) कृष्ण द्वारा हरकर विवाह की गयी (४२/३२) उनसे ही इसका प्रद्युम्न नामका पुत्र हर लिया गया था (४३/४२)। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली (६१/४०)।

रुचक—सौधर्म स्वर्गका १५ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

रुचक कांता—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

रुचककीर्ति—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

रुचक गिरि—पुष्कर द्वीपवत् इसके मध्य भागमें भी एक कुण्डलाकार पर्वत है। इस पर्वतपर चार या आठ चैत्यालय हैं। १३ द्वीप चैत्यालयोंमें इनकी गणना है। इसपर अनेकों कूट हैं, जिनपर कुमारी देवियाँ निवास करती हैं, जो कि भगवान्‌के गर्भावतरणके लिए उनकी माताकी सेवा करती हैं—दे० लोक/७।

रुचक प्रभा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

रुचक वर—मध्य लोकका तेरहवाँ द्वीप व सागर—दे० लोक/५/७।

रुचका—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी महत्तरिका—दे० लोक/७

रुचकी—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी देवी—दे० लोक/७।

रुचकोभा—रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी महत्तरिका —दे० लोक/७।

रुचि—दे० निशंकित/१ (वस्तुका स्वरूप ऐसा ही है इस प्रकार अकंप रुचि होना निशंकित अंग है।)

ध १/१,११/१६६/७ दृष्टि' श्रद्धा रुचि' प्रत्यय इति यावत्। =दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय ये पर्यायवाची हैं।

द्र. स /टी /४१/१६५/१ श्रद्धान रुचिर्निश्चय इदमेवेत्थमेवेति। =श्रद्धान, रुचि, निश्चय अथवा जो जिनेन्द्रने कहा वही है…।

पं. ध /उ./४१२ सात्म्य रुचि.। =तत्त्वार्थोंके विषयमें तन्मयपना रुचि कहलाती है।

रुचिर—१. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७। २ सौधर्म स्वर्गका १६ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

रुजा—नि. सा./ता. वृ./६ वातपित्तश्लेष्मणा वैषम्यसंजातकलेवर-विपीडैव रुजा। =वात, पित्त और कफकी विषमतासे उत्पन्न होनेवाली कलेवर (शरीर) सम्बन्धी पीडा वही रोग (रुजा) है।

रुद्र—१. एक ग्रह—दे० ग्रह। २ असुरकुमार (भवनवासी देव)—दे० असुर। ३. ग्यारह रुद्र परिचय—दे० शलाका पुरुष/७।

ति प./४/५२१ रुद्दा रउद्दकम्मा अहम्मवावारसंलग्गा। =(जो) अधर्मपूर्ण व्यापारमें सलग्न होकर रौद्रकर्म किया करते हैं (वे रुद्र कहलाते हैं)।

रा वा./६/२९/२/६२७/२८ रोदयतीति रुद्र' क्रूर इत्यर्थ। =रुलाने वालेको रुद्र-क्रूर कहते हैं।

प. प्र./टी./१/४२ पश्चात् पूर्वकृत चारित्रमोहोदयेन विषयासक्तो भूत्वा रुद्रो भवति। =उसके बाद (जिनदीक्षा लेकर पुण्यबध करनेके बाद) पूर्वकृत चारित्र मोहके उदयसे विषयोंमें लीन हुआ रुद्र कहलाता है।

त्रि सा./८४१ विज्जाणुवादपढणे दिट्ठफला णट्ठसंजमा भव्वा। कदिचि भवे सिज्झंति हु गहिदुज्झियसम्ममहिमादो ।८४१। =ये रुद्र विद्यानुवाद पूर्वके पढनेसे इस लोक सम्बन्धी फलके भोक्ता हुए। तथा जिनका सयम नष्ट हो गया है, जो भव्य है, और जो ग्रहण कर छोडे हुए सम्यक्त्वके माहात्म्यसे कुछ ही भवोंमें मुक्ति पायेंगे ऐसे वे रुद्र होते हैं।

रुद्रदत्त—भगवान् ऋषभदेवके तीर्थमें एक ब्राह्मण था। पूजाके लिए प्राप्त किये द्रव्यसे जुआ खेलनेके फलस्वरूप सातवें नरकमें गया (ह. पु./१८/९७-१०१)।

रुद्रवसंत व्रत—क्रमश २,३,४,५,६,६,४,३,२ इस प्रकार ३५ उपवास करे। बीचके (,) वाले स्थानोंमें सर्वत्र एक पारणा। नमस्कार मन्त्रकी त्रिकाल जाप करे। (व्रत विधान स./पृ. ६७)।

o o
o o o
o o o o
o o o o o
o o o o o o
o o o o o o
o o o o
o o o
o o
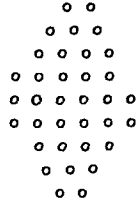
रुद्राश्व—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

रुधिर—१ औदारिक शरीरमें रुधिरका प्रमाण—दे० औदारिक/२। २. सौधर्म स्वर्गका दसवाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५।

रूढसंख्या—Prime (ध ५/प्र./२८)।

रूप—

रा. वा./१/२७/१/८८/४ अथ रूपशब्दोऽनेकार्थ' क्वचिच्चाक्षुषे वर्तते यथा—रूपरसगन्धस्पर्शा इति। क्वचित्स्वभावे वर्तते यथा अनन्तरूपमनन्तस्वभावम् इति। =रूप शब्दके अनेक अर्थ है कहींपर चक्षुके द्वारा ग्राह्य शुक्लादि गुण भी है, जैसे—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श। कहींपर रूपका अर्थ स्वभाव भी है जैसे-अनन्तरूप अर्थात् अनन्त स्वभाव। (और भी—दे० मूर्त/१) [एककी संख्याको रूप कहते है।]

प्र. सा./ता वृ./२०३/२७६/८ अन्तरङ्गशुद्धात्मानुभूतिरूपक निर्ग्रन्थ-निर्विकार रूपमुच्यते। =अन्तरग शुद्धात्मानुभूतिकी द्योतक निर्ग्रन्थ एव निर्विकार साधुओंकी वीतराग मुद्राको रूप कहते हैं।

रूपकुला—हैरण्यवर्त क्षेत्रकी प्रसिद्ध नदी, व कुण्ड—दे लोक/३/६,१०।

रूपगता चूलिका—द्वादशाग श्रुतज्ञानमें बारहवे अगके उत्तर भेदोंमेंसे एक।—दे० श्रुतज्ञान/III।

रूपचंद—१. कवि बनारसी दासके समयमें हुए हैं। बनारसी दास-जीने इनकी बडी प्रशसा की है। कृति—परमार्थी दोहा शतक, गीत-परमार्थी, मगलगीत प्रबन्ध। समय—वि. १६९३ (हिं. जै. सा. इ./१०७ कामता) २. प. बनारसी दासजी कृत समयसार नाटककी विशद टीकाकार थे। समय—१७९८. (हि. जै. सा. ई/१८० कामता)।

रूपनिभ—एक ग्रह—दे० ग्रह।

रूपपाली—किन्नर नामा जाति व्यन्तर देवका एक भेद—दे० किन्नर।

रूपयमाष फल—तोलका प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१।

रूपरेखा—General outline (ध./५/प्र./२८)।

रूपसत्य—दे० सत्य/१।

रूपस्थ—

१. रूपस्थ ध्यानका लक्षण व विधि

वसु श्रा./४७२-४७५ आयास-फलिहसंणिह-तणुप्पहासलिलणिहिणिव्वुडतं। णर-सुरतिरीडमणिकिरणसमूहरंजियपयंबुरुहो।४७२। वर अट्ठपाडिहेरेहिं परिउट्ठो समवसरणमज्झगओ। परमप्पणंतचउट्ठयण्णिओ पवणमग्गट्ठो।४७३। एरिसओच्चिय परिवारवज्जिओ खीरजलहिमज्झे वा। वरखीरवण्णकदुत्थकण्णियामज्झदेसट्ठो।४७४। खीरुवहिसलिलधाराहिसेयधवलीकयग सव्वगो। ज झाइज्जइ एव रूवत्थं जाण तं झाण।४७५। =१ आकाश और स्फटिक मणिके समान स्वच्छ एवं निर्मल अपने शरीर की प्रभारूपी सलिल-निधिमें निमग्न, मनुष्यों और देवोंके मुकुटोंमें लगी हुई मणियोंकी किरणोंके समूहसे अनुरंजित हैं, चरणकमल जिनके, ऐसे तथा श्रेष्ठ आठ महा प्रातिहार्योंसे परिवृत्त, समवशरणके मध्यमें स्थित, परम अनन्त चतुष्टयसे समन्वित, पवन मार्गस्थ अर्थात् आकाशमें स्थित अरहन्त भगवान्का जो ध्यान किया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान है।४७१-४७३। (ज्ञा./३९/१-८), (गुण. श्रा./२४०-२४१)। २ अथवा ऐसे ही अर्थात् उपर्युक्त सर्व शोभासे समन्वित किन्तु समवशरण आदि परिवारसे रहित, और क्षीर सागरके मध्यमें स्थित, अथवा उत्तम क्षीरसागरके समान धवल वर्णके कमलकी कर्णिकाके मध्य देशमें स्थित, क्षीर सागरके जलकी धाराओंके अभिषेकसे धवल हो रहा है सर्वांग जिनका, ऐसे अरहन्त परमेष्ठीका जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपस्थ ध्यान जानना चाहिए।४७२-४७४। (गुण. श्रा./२४२)।

ज्ञा./३६/१४ ३६, अनेकवस्तुसम्पूर्णं जगद्यस्य चराचरम्। स्फुरत्यविकल बोधविशुद्धादर्शमण्डले।१४। दिव्यपुष्पानकाशोकराजित रागवर्जितम्। प्रातिहार्यमहालक्ष्मीलक्षित परमेश्वरम्।२३। नवकेवललब्धिश्रीसभवं स्वात्मसभवम्। तूर्यध्यानमहावह्नौ हुतकर्मेन्धनोत्करम्।२४। सर्वज्ञ सर्वद सार्वं वर्धमान निरामयम्। नित्यमव्ययमव्यक्त परिपूर्णं पुरातनम्।३०। इत्यादि सान्वयानेकपुण्यनामोपलक्षितम्। स्मर सर्वगत देव वीरममरनायकम्।३१। अनन्यशरण साक्षात्तत्सलीनैकमानस। तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयता गत'।३२। तस्मिन्निरन्तराभ्यास वशात्सजातनिश्चला। सर्वावस्थासु पश्यन्ति तमेव परमेष्ठिनम्।३६। =१ हे मुने! तू आगे लिखे हुए प्रकारसे सर्वज्ञ देवका स्मरण कर - कि जिस सर्वज्ञ देवके ज्ञान रूप निर्मल दर्पणके मण्डलमें अनेक वस्तुओंसे भरा हुआ चराचर यह जगत् प्रकाशमान है।१४। दिव्य पुष्पवृष्टि दुन्दुभि बाजों तथा अशोक वृक्षों सहित विराजमान है, राग रहित है, प्रातिहार्य महालक्ष्मीसे चिह्नित है, परम ऐश्वर्य करके सहित है।२३। अनन्तज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र इन नवलब्धिरूपी लक्ष्मीकी जिससे उत्पत्ति है, तथा अपने आत्मासे ही उत्पन्न है, और शुक्लध्यानरूपी महान् अग्निमें होम दिया है कर्मरूप इन्धनका समूह ऐसा है।२४। सर्वज्ञ है, सबका दाता है, सर्व हितैषी है, वर्द्धमान है, निरामय है,

नित्य है, अव्यय है, अव्यक्त है, परिपूर्ण है, पुरातन है ।३०। इत्यादिक अनेक सार्थक नामसहित, सर्वगत, देवोंका नायक, सर्वज्ञ जो श्री वीर तीर्थंकर है उसको हे मुने ! तू स्मरण कर ।३१। २ उपर्युक्त सर्वज्ञ देवका ध्यान करनेवाला ध्यानी अनन्य शरण हो, साक्षात उसमें ही सल्लीन है मन जिसका ऐसा हो, तन्मयताको पाकर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है ।३२। उस सर्वज्ञ देवके ध्यानमें अभ्यास करनेके प्रभावसे निश्चल हुए योगीगण सर्व अवस्थाओंमें उस परमेष्ठीको देखते हैं ।३६।

द्र स /टी /४८/२०५ पर 'उद्धृत रूपस्थ चिद्रूपं'—सर्व चिद्रूपका चिन्तवन रूपस्थध्यान है। (प प./टी /१/६/६ पर उद्धृत); (भा. पा /टी./८६/२३६ पर उद्धृत)।

* अर्हन्त चिंतवन पदस्थादि तीनों ध्यानोंमें समान है

—दे० ध्येय।

२. रूपस्थध्यानका फल

ज्ञा /३६/३३-३७ यमाराध्य शिवं प्राप्ता योगिनो जन्मनिस्पृहाः। यं स्मरन्त्यनिशं भव्या शिवश्रीसंगमोत्सुका ।३३। तदालम्ब्य परं ज्योतिस्तद्गुणग्रामरञ्जित । अविक्षिप्तमनायोगी तत्स्वरूपमुपाश्नुते ।३७। =जिस सर्वज्ञ देवको आराधन करके संसारसे निस्पृह मुनिगण मोक्षको प्राप्त हुए हैं तथा मोक्ष लक्ष्मीके संगममें उत्सुक भव्यजीव जिसका निरन्तर ध्यान करते हैं ।३३। योगी उस सर्वज्ञदेव परमज्योतिको आलम्बन करके गुण ग्रामोंमें रंजायमान होता हुआ मनमें विक्षेप रहित होकर, उसी स्वरूपको प्राप्त होता है ।३७।

रूपातीत—

१. रूपातीत ध्यानका लक्षण व विधि

वसु. श्रा /४७६ वण्ण-रस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसणसरूवो। जं झाइज्जइ एवं तं झाणं रूवरहियं त्ति ।४७६। =वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्शसे रहित, केवलज्ञान-दर्शन स्वरूप जो सिद्ध परमेष्ठीका या शुद्ध आत्माका ध्यान किया जाता है, वह रूपातीत ध्यान है ।४७६। (गुण श्रा /२४३), (द्र. सं /टी /५१ की पातनिका/२१६/१)।

ज्ञा /४०/१५-२६ अथरूपे स्थिरीभूतचित्त प्रक्षीणविभ्रम । अमूर्तमजमव्यक्तं ध्यातु प्रक्रमते ततः ।१५। चिदानन्दमयं शुद्धममूर्तं परमाक्षरम्। स्मरेद्यत्रात्मनात्मानं तद्रूपातीतमिष्यते ।१६। सर्वावयवसम्पूर्णं सर्वलक्षणलक्षितम् । विशुद्धादर्शसंक्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभम् ।२६। =रूपस्थध्यानमें स्थिरीभूत है चित्त जिसका तथा नष्ट हो गये हैं विभ्रम जिसके ऐसा ध्यानी अमूर्त्त, अजन्मा, इन्द्रियोंसे अगोचर, ऐसे परमात्मके ध्यानका प्रारम्भ करता है ।१५। जिस ध्यानमें ध्यानी मुनि चिदानन्दमय, शुद्ध, अमूर्त, परमाक्षररूप, आत्माको आत्मा करि ही स्मरण करै सो रूपातीत ध्यान माना गया है ।१६। समस्त अवयवोंसे परिपूर्ण और समस्त लक्षणोंसे लक्षित ऐसे निर्मल दर्पणमें पड़ते हुए प्रतिबिम्बके समान प्रभावाले परमात्माका चिन्तवन करै ।२६।

द्र सं /टी /४८/२०५ पर उद्धृत 'रूपातीतं निरञ्जनम्'। =निरंजनका ध्यान रूपातीत ध्यान है। (प. प्र /१/६/६ पर उद्धृत), (भा. पा./टी / ८६/२३६ पर उद्धृत)।

२ ध्येयके साथ तन्मयता

ज्ञा /४०/२८-३० सोऽहं सकलवित्सार्वः सिद्धः साध्यो भवच्युतः । परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः ।२८। तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो निष्कलङ्को जगद्गुरुः । चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ।२९। पृथग्भावमतिक्रम्य तथैक्यं परमात्मनि । प्राप्नोति स मुनि साक्षाद्यथान्यत्वं न बुध्यते ।३०। =जब परमात्माका प्रत्यक्ष होने लगता है तब ऐसा ध्यान करे कि ऐसा परमात्मा मैं हूँ, मैं ही सर्वज्ञ हूँ, सर्व व्यापक हूँ, सिद्ध हूँ, तथा मैं ही साध्य था। संसारसे रहित, परमात्मा, परमज्योति स्वरूप, समस्त विश्वको देखनेवाला मैं ही हूँ। मैं ही निरंजन हूँ, ऐसा परमात्माका ध्यान करे। उस समय अपना स्वरूप निश्चल, अमूर्त, निष्कलंक, जगतका गुरु, चैतन्यमात्र और ध्यान तथा ध्याताके भेद रहित ऐसा अतिशय स्फुरायमान होता है ।२८-२९। उस समय परमात्मामें पृथक् भाव अर्थात् अलगपनेका उल्लंघन करके साक्षात एकताको इस तरह प्राप्त हो जाता है कि, जिससे पृथक्पनेका बिलकुल भान नहीं होता ।३०। —(और भी दे० अगला शीर्षक)।

* शुक्लध्यान व रूपातीतध्यानमें एकता

—दे० पद्धति।

* शून्यध्यानका स्वरूप—दे० शुक्लध्यान/१।

रूपानुपात—स. सि./७/३१/३६६/११ स्वविग्रहदर्शनं रूपानुपातः। =(देशव्रतके अतिचारोंके अन्तर्गत) उन्हीं पुरुषोंको (जो उद्योगमें जुटे हैं) अपने शरीरको दिखलाना रूपानुपात है।

रा. वा./७/३१/४/५५६/८ मम रूपं निरीक्ष्य व्यापारमचिरान्निष्पादयन्ति इति स्वविग्रहप्ररूपणं रूपानुपात इति निर्णीयते। ='मुझे देखकर काम जल्दी होगा' इस अभिप्रायसे अपने शरीरको दिखाना रूपानुपात है। (चा. सा./१६/७)।

रूपी—दे० मूर्त।

रूप्य कुल—रुक्मि पर्वतस्थ एक कूट व उसका स्वामीदेव—दे० लोक/७।

रूप्यवर—मध्यलोकके अन्तका दशम सागर व द्वीप—दे० लोक/५।

रेखा—सरल रेखा Streight line (ज. प /प्र. १०८)।

रेचक प्राणायाम—दे० प्राणायाम/२।

रेवती—१. एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र। २ श्रावस्ती नगरीकी सम्यक्त्वसे विभूषित एक श्राविका थी। मथुरास्थ मुनिगुप्तने एक विद्याधरके द्वारा इसके लिए आशीष भेजी। तब उस विद्याधरने ब्रह्मा व तीर्थंकर आदिका ढोंग रचकर इसकी परीक्षा ली। जिसमें यह अडिग रही थी। (बृ क को./कथा ७)।

रेवस्या—पूर्वी मध्य आर्यखण्डस्थ एक नदी—दे० मनुष्य/४।

रेवा—भरत क्षेत्रस्थ आर्यखण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

रेशम—दे० वस्त्र।

रैनमंजूसा—हंसद्वीपके राजा कनककेतुकी पुत्री थी। सहस्रकूट चैत्यालयके कपाट उघाडनेसे श्रीपालसे विवाही गयी थी। फिर धवलसेठके इसपर मोहित होनेपर धर्मसे स्थित रही। अन्तमें दीक्षा ले, तपकर स्वर्ग सिधारी। (श्रीपालचरित्र)।

रैवतक—सौराष्ट्र देशमें जूनागढ राज्यका गिरनार पर्वत। (म. पु /प्र. ४९/प. पन्नालाल)।

रोग—कुष्ठादि विशेष प्रकारके रोग हो जानेपर जिन दीक्षाकी योग्यता नहीं रहती है।—दे० प्रव्रज्या/१।

रोग परीषह—स. सि /९/९/४२५/६ सर्वाशुचिनिधानमिदमनित्यमपरित्राणमिति शरीरे निःसङ्कल्पत्वाद्विगतसंस्कारस्य गुणरत्नभाण्डसंचयप्रवर्धनसंरक्षणसंधारणकारणत्वादभ्युपगतस्थिति-विधानस्याक्षम्रक्षणवद् व्रणानुलेपनवद्वा बहूपकारमाहारमभ्युपगच्छतो विरुद्धाहारपानसेवनवैषम्यजनितवातादिविकाररोगस्य युगपदनेकशतसंख्य-

व्याधिप्रकोपे सत्यपि तद्वशवर्तिता विजहतो जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेक-तपोविशेषर्द्धियोगे सत्यपि शरीरनिःस्पृहत्वात्तत्प्रतिकारानपेक्षिणो रोगपरिषहसहनमवगन्तव्यम् । = यह सब प्रकारके अशुचि पदार्थोंका आश्रय है, यह अनित्य है, और परित्राणसे रहित है, इस प्रकार इस शरीरमें संकल्प रहित होनेसे जो विगत संस्कार है, गुणरूपी रत्नोंके संचय, वर्धन, संरक्षण और संधारणका कारण होनेसे जिसने शरीर-की स्थिति विधानको भले प्रकार स्वीकार किया है, धुरको ओंगन लगानेके समान या व्रणपर लेप करनेके समान जो बहुत उपकारवाले आहारको स्वीकार करता है, विरुद्ध आहार-पानके सेवनरूप विषमतासे जिसके वातादि विकार रोग उत्पन्न हुए हैं, एक साथ सैकड़ो व्याधियोंका प्रकोप होनेपर भी जो उनके आधीन नहीं हुआ है, तथा तपोविशेषसे जल्लौषधि और प्राप्ति आदि अनेक ऋद्धियोंका सम्बन्ध होनेपर भी शरीरसे निस्पृह होनेके कारण जो उनके प्रतिकारकी अपेक्षा नहीं करता उसके रोगपरीषह सहन जानना चाहिए। (रा. वा /९/९/२१/६११/२४); (चा. सा /१२४/३)।

रोचक शैल—भद्रशाल वनस्थ एक दिग्गजेन्द्र पर्वत—दे० लोक/७।

रोट तीज व्रत—त्रिलोक तीजव्रत्।

रोम—औदारिक शरीरमें रोमोंका प्रमाण—दे० औदारिक/२।

रोमश—एक क्रियावादी—दे० क्रियावाद।

रोमहर्षिणी—एक विनयवादी—दे० वैनयिक।

रोष—नि. सा./ता. वृ./६ क्रोधिनस्य पुंसस्तीव्रपरिणामो रोष। =क्रोधी पुरुषका तीव्र परिणाम वह रोष है।

रोहिणी—१. भगवान् अजितनाथकी शासक यक्षिणी—दे० यक्ष। २. एक विद्या—दे० विद्या। ३ एक नक्षत्र—दे० नक्षत्र।

रोहिणीव्रत— प्रतिवर्ष रोहिणी नक्षत्रके दिन उपवास करे। तथा उस दिन वासुपूज्य भगवान्की पूजन तथा नमस्कार मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। इसका अपरनाम अशोक रोहिणी है। (वसु. श्रा./३६३-३६५), (धर्मपरीक्षा/२०/१९-२०); (व्रत विधान स /९२)।

रोहित—१ हैमवत क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे० लोक/३/१०। २ हैमवत क्षेत्रमें स्थित एक कुण्ड जिसमेंसे कि रोहित नदी निकलती है—दे० लोक/३/९। ३. महाहिमवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७। ४. रोहित कुण्डकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७। ५. रोहित कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

रोहितास्या—१. हैमवत क्षेत्रकी प्रधान नदी—दे० लोक/३। हैमवत क्षेत्रमें स्थित एक कुण्ड जिसमेंसे रोहितास्या नदी निकलती है—दे० लोक/३। २. हिमवान् पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७। ३. रोहितास्या कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७। ४. रोहितास्या कूटकी स्वामिनी देवी—दे० लोक/७।

रौद्रध्यान—हिंसा आदि पाप कार्य करके गर्वपूर्वक डींगे मारते रहनेका भाव रौद्रध्यान कहलाता है। यह अत्यन्त अनिष्टकारी है। हीनाधिक रूपसे पंचम गुणस्थान तक ही होना सम्भव है, आगे नहीं।

१. रौद्र सामान्य का लक्षण

भ. आ./मू./१७०३/१५२८ तेणिक्कमोससारक्खणेसु तह चेव छव्विहारंभे। रुद्दं कसायसहियं झाणं भणियं समासेण।१७०३। =दूसरेके द्रव्य लेनेका अभिप्राय, झूठ बोलनेमें आनन्द मानना, दूसरेके मारनेका अभिप्राय, छहकायके जीवोंकी विराधना अथवा असिमसि आदि परिग्रहके आरम्भ व संग्रह करनेमें आनन्द मानना इनमें जो कषाय सहित मनको करना वह संक्षेपसे रौद्रध्यान कहा गया है।१७०३। (मू. आ./३९६)।

स सि./९/२८/४४५/१० रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्। =रुद्रका अर्थ क्रूर आशय है, इसका कर्म या इसमें होनेवाला (भाव) रौद्र है। (रा वा /९/२८/२/६२७/२८); (ज्ञा /२६/२); (भा पा./टी / ७८/२२६/१७)।

म. पु /२१/४२ प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृणः। पुमांस्तत्र भवं रौद्रं विद्धि ध्यानं चतुर्विधम्।४२। =जो पुरुष प्राणियोंको रुलाता है वह रुद्र क्रूर अथवा सब जीवोंमें निर्दय कहलाता है ऐसे पुरुषमें जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं।४२। (भ. आ./वि./१७०२/१५३० पर उद्धृत)।

चा. सा /१७०/२ स्वसंवेद्यमाध्यात्मिकं (रौद्रध्यानम्)। =जिसे अपना ही आत्मा जान सके उसे आध्यात्मिक रौद्रध्यान कहते हैं।

नि सा./ता. वृ /८९ चौरजारशात्रवजनवधबन्धनसन्निबद्धमहद्द्वेषजनित रौद्रध्यानम्। =चोर-जार-शत्रुजनोंके वध-बन्धन सम्बन्धी महाद्वेषसे उत्पन्न होनेवाला जो रौद्रध्यान।

२. रौद्रध्यानके भेद

त. सू./९/३५ हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रम्॥३५॥ =हिंसा-असत्य, चोरी और विषय संरक्षणके लिए सतत चिन्तन करना रौद्र-ध्यान है।३५।

म पु /२१/४३ हिंसानन्दमृषानन्दस्तेयसंरक्षणात्मकम्।४३। =हिंसानन्द, मृषानन्द, स्तेयानन्द और संरक्षणानन्द अर्थात् परिग्रहकी रक्षामें रात-दिन लगा रहकर आनन्द मानना ये रौद्रध्यानके चार भेद है।३५। (चा. सा./१७०/२), (ज्ञा./२६/३), (का अ./४७३-४७४)।

चा सा /१७०/१ रौद्रं च बाह्याध्यात्मिकभेदेन द्विविधम्। =रौद्र-ध्यान भी बाह्य और आध्यात्मिकके भेदसे दो प्रकारका है।

३. रौद्रध्यानके भेदोंके लक्षण

चा. सा./१७०/२ तीव्रकषायानुरंजनं हिंसानन्दं प्रथमरौद्रम्। स्वबुद्धि-विकल्पितयुक्तिभिः परेषां श्रद्धेयरूपाभिः परवञ्चनं प्रति मृषाकथने संकल्पाध्यवसानं मृषानन्दं द्वितीयरौद्रम्। हठात्कारेण प्रमादप्रतीक्षया वा परस्वापहरणं प्रति संकल्पाध्यवसानं तृतीयरौद्रम्। चेतना-चेतन लक्षणे स्वपरिग्रहे ममेवेदं स्वमहमेवास्य स्वामीत्यभिनिवेशात्त-दपहारकव्यापादनेन संरक्षणं प्रति संकल्पाध्यवसानं संरक्षणानन्दं चतुर्थं रौद्रम्। =तीव्रकषायके उदयसे हिंसामें आनन्द मानना पहला रौद्रध्यान है। जिन पर दूसरोको श्रद्धा न हो सके ऐसी अपनी बुद्धिके द्वारा कल्पना की हुई युक्तियोंके द्वारा दूसरोंको ठगनेके लिए झूठ बोलनेके संकल्पका बार-बार चिन्तवन करना मृषानन्द रौद्रध्यान है। जबरदस्ती अथवा प्रमादकी प्रतीक्षापूर्वक दूसरेके धनको हरण करनेके संकल्पका बार-बार चिन्तवन करना तीसरा रौद्रध्यान है। चेतन-अचेतनरूप अपने परिग्रहमें यह मेरा परिग्रह है, मै इसका स्वामी हूँ, इस प्रकार ममत्व रखकर उसके अपहरण करने वालेका नाश कर उसकी रक्षा करनेके संकल्पका बार-बार चिन्तवन करना विषय संरक्षणानन्द नामका चौथा रौद्र-ध्यान है।

का. अ /४७५-४७६ हिंसाणंदेण जुदो असच्च-वयणेण परिणदो जो हु। तत्थेव अथिर-चित्तो रुद्दं झाणं हवे तस्स।४७५। पर-विसय-हरण-सीलो सगीय-विसए सुरक्खणे दक्खो। तग्गय-चिंताविट्ठो णिरंतरं तं पि रुद्दं पि।४७६। =जो हिंसामें आनन्द मानता है, और असत्य बोलनेमें आनन्द मानता है तथा उसीमें जिसका चित्त विक्षिप्त रहता है, उसके रौद्रध्यान होता है।४७५। जो पुरुष दूसरोंकी विषयसामग्रीको हरनेका स्वभाव वाला है, और अपनी विषय-

सामग्रीकी रक्षा करनेमें चतुर है, तथा निरन्तर जिसका चित्त इन कामोंमें लगा रहता है वह भी रौद्रध्यानी है।

ज्ञा./२६/४-३४ का भावार्थ—हते निष्पीडिते ध्वस्ते जन्तुजाते कदर्थिते। स्वेन चान्येन यो हर्षस्तद्धिंसारौद्रमुच्यते।४। [illegible] कश्मलीकृतमानसः। चेष्टते यत्तदत्र हि मृषारौद्रं प्रकीर्तितम्।१६। यच्चौर्याय शरीरिणामहरहश्चिन्ता समुत्पद्यते—[illegible] प्रमोदमतुलं कुर्वन्ति यत्संततम्। चौर्याद्यपि हते परे, परधने यन्मायते संभ्रम—स्तच्चौर्यप्रभवं वदन्ति निपुणा रौद्रं सुनिन्दास्पदम्।२५। बह्वारम्भपरिग्रहेषु नियतं रक्षार्थमभ्युद्यते—यत्संकल्पपरम्परां वितनुते प्राणीह रौद्राशयः। यच्चालम्ब्य महत्त्वमुन्नतमना राजेत्यहं मन्यते—तत्प्राहुः प्रवदन्ति निर्मलधियो रौद्रं भवाशंसिनाम्।२६। —१. जीवोंके समूहको अपनेसे तथा अन्यके द्वारा मारे जाने पर तथा पीडित किये जाने पर तथा ध्वंस करने पर और घात करनेके सम्बन्ध मिलाये जाने पर जो हर्ष माना जाये उसे हिंसानन्द नामा रौद्रध्यान कहते हैं।४। मनि आदि वैरि [illegible] निग्रह करना।७। जीवोंको कष्ट पड़ने व दुःख पड़ने आदिको देखकर खुश होना।८। युद्धमें हार-जीत सम्बन्धी भावना करना।१०। वैरीसे बदला लेनेकी भावना।११। परलोकमें बदला लेनेकी भावना करना।१२। हिंसानन्दी रौद्रध्यान है। (म.पु./२१/४५)। २. जो मनुष्य असत्य रूपी कल्पनाओंके समूहसे पापरूपी मैलसे मलिनचित्त होकर जो कुछ चेष्टा करे उसे निश्चय करके मृषानन्द नामा रौद्रध्यान कहा है।१६। जो ठगाईके शास्त्र रचने आदिके द्वारा दूसरोंको आपदामें डालकर धन आदि ग्रहण करे।१७-१९। असत्य बोलकर अपने शत्रुको दण्ड दिलाये।२०। असत्य चतुराईसे मनवांछित प्रयोजनोंकी सिद्धि तथा अन्य व्यक्तियोंके ठगनेकी।२१-२२। भावनाएँ करना मृषानन्दी रौद्रध्यान है। ३. जीवोंके चौर्यकर्मके लिए निरन्तर चिन्ता उत्पन्न हो तथा चोरी कर्म करके भी निरन्तर अतुल हर्ष माने आनन्दित हो तथा कोई चोरीके द्वारा परधनको हरे उसमें हर्ष माने उसे निपुण पुरुष चौर्यकर्मसे उत्पन्न हुआ रौद्रध्यान कहते हैं, यह ध्यान अतिशय निन्दाका कारण है।२५। अमुक स्थानमें बहुत धन है जिसे मैं तुरन्त हरण करके लानेमें समर्थ हूँ।२६। दूसरोंके स्त्री आदि सबको मेरे ही आधीन समझो, क्योंकि मैं जब चाहूँ उनको हरण करके ला सकता हूँ।२७-२८। इत्यादि रूपचिन्तन चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। ४. यह प्राणी रौद्र (क्रूर) चित्त होकर बहुत आरम्भ परिग्रहोंमें रक्षार्थ नियमसे उद्यम करे और उसमें ही संकल्पकी परम्पराको विस्तारे तथा रौद्रचित्त होकर ही महत्ताका अवलम्बन करके उन्नतचित्त हो, ऐसा माने कि मैं राजा हूँ, ऐसे परिणामको निर्मल बुद्धिवाले महापुरुष संसारको भोगा करने वाले जीवोंके चौथा रौद्रध्यान है।२६। मैं बाहुबलसे सैन्यबलसे सम्पूर्ण पुर ग्रामोंको दग्ध करके असाध्य ऐश्वर्यको प्राप्त कर सकता हूँ।३०। मेरे धन पर दृष्टि रखने वालोंको मैं क्षण भरमें दग्ध कर दूँगा।३१। मैंने यह राज्य शत्रुके मस्तक पर पाँव रखकर उसके दुर्गमें प्रवेश करके पाया है।३२। इसके अतिरिक्त जल, अग्नि, सर्प, विषादिके प्रयोगों द्वारा भी मैं समस्त शत्रु-समूहको नाश करके अपना प्रताप स्फुरायमान कर सकता हूँ।३४। इस प्रकार चिन्तवन करना विषय संरक्षणानन्द है।

४. रौद्रध्यानके बाह्यचिह्न

म.पु./२१/४९-५३ अनानृशंस्य हिंसोपकरणादानतत्परता। निमर्म-हिंस्रता चेति लिङ्गान्यस्य स्मृतानि वै।४९। ·· वाक्पारुष्यादिलिङ्गं तद् द्वितीयं रौद्रमिष्यते।५०। ·· प्रतीतलिङ्गमेवेतद् रौद्रध्यानद्वयं [illegible] ।५३। [illegible] भ्रूभङ्गं मुखवैकृतम्। प्रस्वेदमङ्गकम्पं च नेत्रयोश्चातिताम्रताम्।५४। —क्रूर होना, हिंसाके उपकरण तलवार आदिको धारण करना, हिंसाकी कथा करना, और स्वभावसे ही हिंसक होना ये हिंसानन्द रौद्रध्यानके चिह्न माने गये हैं।४९। कठोर वचन आदि बोलना द्वितीय रौद्रध्यानका चिह्न है।५०। [illegible] रौद्रध्यानके बाह्यचिह्न प्रसिद्ध हैं।५३। और भौंहका टेढ़ा हो जाना, मुखका विकृत हो जाना, पसीना आने लगना, शरीर काँपने लगना और नेत्रोंका अतिशय लाल हो जाना आदि रौद्रध्यानके बाह्यचिह्न हैं।५४। (ज्ञा./२६/३५-३६)।

चा.सा./१७१/१ [illegible] —कठोर वचन, [illegible] तिरस्कार करना, [illegible] आदि करना बाह्य रौद्रध्यान कहलाता है।

ज्ञा./२६/३-३५ [illegible] —जो [illegible] ।३। [illegible] ।१। (ज्ञा./२६/६)। [illegible] ।३। [illegible] सो रौद्रध्यानका चिह्न है।३३। [illegible] क्रूर जीवोंका [illegible] रौद्रध्यानके बाह्य चिह्न कहलाते हैं।३४।

५. रौद्रध्यानमें सम्भव भाव व लेश्या

म.पु./२१/४४ प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहितम्। अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भाव इष्यते।४४। (क्षायोपशमिको भावो भावलेश्या-कषायप्राधान्यात्। भा.पा.)। —यह रौद्रध्यान अत्यन्त अशुभ है, कृष्ण आदि तीन खोटी लेश्याओंके बलसे उत्पन्न होता है। अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और पहले आर्तध्यानके समान इसका क्षायोपशमिक भाव होता है।४४। (ज्ञा./२६/३६,३८)। अथवा भावलेश्या और कषायोंकी प्रधानता होनेसे औदयिक भाव है। (चा.सा./१७०/५)।

★ रौद्रध्यानका फल—दे० आर्त/३।

६. रौद्रध्यानमें सम्भव गुणस्थान

त.सू./९/३५ रौद्रमविरतदेशविरतयोः।३५। वह रौद्रध्यान अविरत और देशविरतके होता है।

म.पु./२१/४३ षष्ठात्तु तद्गुणस्थानात् प्राक् पञ्चगुणभूमिकम्। —यह ध्यान छठवें गुणस्थानके पहले-पहले पाँच गुणस्थानोंमें होता है। (चा.सा./१७१/१), (ज्ञा./२६/३६)।

द्र.स./टी./४८/२०१/६ रौद्रध्यानं·· तारतम्येन मिथ्यादृष्ट्यादिपञ्चमगुणस्थानवर्तिजीवसंभवम्। —यह रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टिसे पंचम गुणस्थान तकके जीवोंके तारतम्यतासे होता है।

७. देशव्रतीको कैसे सम्भव है

स. सि./६/३५/४४८/८ अविरतस्य भवतु रौद्रध्यानं, देशविरतस्य कथम् । तस्यापि हिंसाद्यावेशाद्वित्तादिसंरक्षणतन्त्रत्वाच्च कदाचिद्‌ भवितुमर्हति। तत्पुनर्नारकादीनामकारणं; सम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् ।=प्रश्न—रौद्रध्यान अविरतके होओ, देशविरतके कैसे हो सकता है ? उत्तर—हिंसादिके आवेशमें या वित्तादिके संरक्षणके परतन्त्र होनेसे कदाचित उसके भी हो सकता है। किन्तु देशविरतके होनेवाला रौद्रध्यान नरकादि दुर्गतियोंका कारण नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शनकी ऐसी ही सामर्थ्य है। (रा. वा./६/३५/३/६२६/१६); (ज्ञा./२६/३६ भाषा)।

८. साधुको कदापि सम्भव नहीं

स सि /६/३५/४४८/१० संयतस्य तु न भवत्येव, तदारम्भे संयमप्रच्युते । =परन्तु यह संयतके तो होता ही नहीं है; क्योंकि उसका आरम्भ होनेपर संयमसे पतन हो जाता है। (रा. वा./६/३५/४/६२६/२२)।

रौरव—पहले नरकका तीसरा पटल—दे० नरक/५।

रौरुक—प्रथम पृथिवीका तीसरा पटल—दे० नरक/५।

[ल]

लंका—रावणके पूर्वज मेघवाहनको राक्षसोंके इन्द्र ने भी उसकी रक्षार्थ यह लंका नामका द्वीप प्रदान किया था। यह त्रिकूटाचल पर्वतकी तलहटीमें है। (प. पु./५/१५७)।

लंब संक्षेत्र—Right Prism. (ज प./प्र १०८)।

लंबित—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

लक्खण—वि. श. १३ में अणुवय रयण पईवके रचयिता एक कवि थे। (हिं जै. सा. इ./३० कामता)।

लक्षण—

रा. वा./२/८/२/११६/६ परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्व लक्ष्यते तल्लक्षणम् ।२। =परस्पर सम्मिलित वस्तुओंसे जिसके द्वारा किसी वस्तुका पृथक्करण हो वह उसका लक्षण होता है।

न्या वि /टी /१/३/८५/५ लक्ष्यतेऽनेनेति लक्षणम् । =जिसके द्वारा पदार्थ लक्ष्य किया जाये उसको लक्षण कहते हैं।

ध /७/२,१,५५/६६/३ किं लक्खणं । जस्साभावे दव्वस्साभावो होदि तं तस्स लक्खणं, जहा पोग्गलदव्वस्स रूव-रस-गंध-फासा, जीवस्स उवजोगो । =जिसके अभावमें द्रव्यका भी अभाव हो जाता है, वही उस द्रव्यका लक्षण है। जैसे-पुद्गल द्रव्यका लक्षण रूप, रस, गन्ध और; जीवका उपयोग।

न्या. दी./१/§३/५/६ व्यतिकीर्ण-वस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम् । =मिली हुई वस्तुओंमेंसे किसी एक वस्तुको अलग करनेवाले हेतुको (चिह्नको) लक्षण कहते हैं।

दे गुण /१/१ (शक्ति, लक्षण, विशेष, धर्म, रूप, गुण, स्वभाव, प्रकृति, शील, आकृति और अंग एकार्थवाची हैं।)।

न्या सू./टी /१/१/२/८/७ उद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । =उद्दिष्ट (नाम मात्रसे कहे हुए) पदार्थके अयथार्थ (विपरीत या असत्य) बोधके निवारण करनेवाले धर्मको लक्षण कहते हैं।

२. लक्षणके भेद व उनके लक्षण

रा वा./२/८/३/११६/११ तल्लक्षणं द्विविधम्-आत्मभूतमनात्मभूत चेति । तत्र आत्मभूतमग्नेरौष्ण्यम्, अनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्ड । =लक्षण आत्मभूत और अनात्मभूतके भेदसे दो प्रकार होता है। अग्निकी उष्णता आत्मभूत लक्षण है और दण्डी पुरुषका भेदक दण्ड अनात्मभूत है।

न्या. दी /१/§४/६/४ द्विविधं लक्षणम्, आत्मभूतमनात्मभूतं चेति । तत्र यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्, यथाग्नेरौष्ण्यम् । औष्ण्यं ह्यग्नेः स्वरूपं सदग्निमवादिभ्यो व्यावर्त्तयति । तद्विपरीतमनात्मभूतम्, यथादण्ड पुरुषस्य । दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्ड पुरुषाननुप्रविष्ट एव पुरुष व्यावर्त्तयति । =लक्षणके दो भेद हैं—आत्मभूत और अनात्मभूत। जो वस्तुके स्वरूपमें मिला हुआ हो उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं जैसे अग्निकी उष्णता। यह उष्णता अग्निका स्वरूप होती हुई अग्निको जलादि पदार्थोंसे जुदा करती है। इसलिए उष्णता अग्निका आत्मभूत लक्षण है। जो वस्तुके स्वरूपमें मिला हुआ न हो उससे पृथक् हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे—दण्डीपुरुषका दण्ड। दण्डीको लाओ ऐसा कहनेपर दण्ड पुरुषमें न मिलता हुआ ही पुरुषको पुरुषभिन्न पदार्थोंसे पृथक् करता है। इसलिए दण्ड पुरुषका अनात्मभूत लक्षण है।

३. लक्षणाभास सामान्यका लक्षण

न्या. दी /१/§५/७/२२ की टिप्पणी सदोषलक्षणं लक्षणाभासम् । =मिथ्या-अर्थात् सदोष लक्षणको लक्षणाभास कहते हैं।

४. लक्षणाभासके भेद व उनके लक्षण

न्या./दी /१/§५/७/१ त्रयोलक्षणाभासभेदा —अव्याप्तमतिव्याप्तमसंभवि चेति। तत्र लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम्, यथा गो शावलेयत्वम् । लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम् । बाधितलक्ष्यवृत्त्यसंभवति, यथा नरस्य विषाणित्वम् । =लक्षणाभासके तीन भेद हैं—अव्याप्त, अतिव्याप्त, और असम्भवि। (मोक्ष पचाशत। १४) लक्ष्यके एक देशमें लक्षणके रहनेको अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे—गायका शावलेयत्व। शावलेयत्व सब गायोंमें नहीं पाया जाता वह कुछ ही गायोंका धर्म है, इसलिए अव्याप्त है। लक्ष्य और अलक्ष्यमें लक्षणके रहनेको अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गायका ही पशुत्व लक्षण करना। यह पशुत्व गायके सिवाय अश्वादि पशुओंमें भी पाया जाता है इसलिए पशुत्व अतिव्याप्त है। जिसकी लक्ष्यमें वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्यमें बिलकुल ही न रहे वह असम्भवि लक्षणाभास है। जैसे—मनुष्यका लक्षण सींग। सींग किसी भी मनुष्यमें नहीं पाया जाता। अत वह असम्भवि लक्षणाभास है। (मोक्ष-पचाशत/१५-१७)।

मोक्षपचाशत/१७ लक्ष्ये त्वनुपपन्नत्वमसंभव इतीरित । यथा वर्णादियुक्तत्वमसिद्धं सर्वथात्मनि । =लक्ष्यमें उत्पन्न न होना सो असम्भव दोषका लक्षण है, जैसे आत्मामें वर्णादिकी युक्ति असिद्ध है।

५. आत्मभूत लक्षणकी सिद्धि

रा. वा./२/८/८-६/११६/२४ इह लोके यदात्मकं न तत्तेनोपयुज्यते यथा क्षीरं क्षीरात्मकं न तत्तेनैवात्मनोपयुज्यते । जीव एव ज्ञानादनन्यत्वे सति ज्ञानात्मनोपयुज्यते ।· आकाशस्य रूपाद्युपयोगाभाववत् । आत्मापि ज्ञानादिस्वभावशक्तिप्रत्ययवशात् घटपटाद्याकारावग्रहरूपेण परिणमतीत्युपयोग सिद्ध । =प्रश्न—जैसे दूधका दूध रूपसे परिणमन नहीं होता किन्तु दही रूपसे, उसी तरह ज्ञानात्मक आत्माका ज्ञानरूपसे परिणमन नहीं हो सकेगा। अत जीवके ज्ञानादि उपयोग नहीं होना चाहिए ? उत्तर—चूँकि आत्मा और ज्ञानमें अभेद है इसलिए उनका ज्ञान रूपसे उपयोग होता है। आकाशका सर्वथा भिन्न रूपादिक रूपसे उपयोग नहीं देखा जाता। . ज्ञान पर्यायके अभिमुख जीव भी ज्ञान व्यपदेशको प्राप्त करते स्वयं

१. लब्धि सामान्य निर्देश

१. लब्धि सामान्यका लक्षण

१. क्षयोपशम शक्तिके अर्थमें

स. सि./२/१८/१७६/३ लम्भन लब्धिः। का पुनरसौ। ज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमविशेष। यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रतिव्याप्रियते। =लब्धि शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ—लम्भनं लब्धिः—प्राप्त होना। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते है। जिसके संसर्गसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचना करनेके लिए उद्यत होता है। (रा. वा/२/१८/१-२/१३०/२०)।

ध. १/१,१,३३/२३६/५ इन्द्रियनिर्वृत्तिहेतु क्षयोपशमविशेषे लब्धिः। यत्संनिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रति व्याप्रियते स ज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषो लब्धिरिति विज्ञायते। =इन्द्रियकी निर्वृत्तिका कारणभूत जो क्षयोपशम विशेष है, उसे लब्धि कहते है। अर्थात् जिसके सन्निधानसे आत्मा द्रव्येन्द्रियकी रचनामें व्यापार करता है, ऐसे ज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषको लब्धि कहते है।

गो. जी./जी. प्र./१६५/३९१/४ मतिज्ञानावरणक्षयोपशमोत्था विशुद्धिर्जीवस्यार्थग्रहणशक्तिलक्षणलब्धिः। =जीवके जो मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुई विशुद्धि और उससे उत्पन्न पदार्थोंका ग्रहण करनेकी जो शक्ति उसको लब्धि कहते है।

२. गुणप्राप्तिके अर्थमें

स. सि./२/४७/१९७/८ तपोविशेषादृद्धिप्राप्तिर्लब्धि। =तप विशेषसे प्राप्त होनेवाली ऋद्धिको लब्धि कहते है। (रा वा/२/४७/२/१५१/३१)।

ध. ८/३,४१/८६/३ सम्मद्दंसण-णाण-चरणेसु जीवस्स समागमो लद्धी णाम। =सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्रमें जो जीवका समागम होता है उसे लब्धि कहते हैं।

ध १३/५,५,५०/२८३/१ विकरणा अणिमादयो मुक्तिपर्यन्ता इष्टवस्तूपलम्भा लब्धय। =मुक्ति पर्यंत इष्ट वस्तुको प्राप्त कराने वाली अणिमा आदि विक्रियाएँ लब्धि कही जाती है।

नि सा./ता वृ./१५६ जीवाना सुखादिप्राप्तेर्लब्धिः। =जीवोंको सुखादि की प्राप्तिरूप लब्धि।

३. आगमके अर्थमें

ध १३/५,५,५०/२८३/२ लब्धीना परम्परा यस्मादागमात् प्राप्यते यस्मिन् तत्प्राप्त्युपायो निरूप्यते वा स परम्परालब्धिरागम। =लब्धियोंकी परम्परा जिस आगमसे प्राप्त होती है या जिसमें उनकी प्राप्तिका उपाय कहा जाता है वह परम्परा लब्धि अर्थात् आगम है।

२. क्षायिक व क्षयोपशमकी दानादि लब्धि

त. सू/२/५ लब्धयः पञ्च (क्षायोपशमिक्य दानलब्धिर्लाभलब्धिर्भोगलब्धिरुपभोगलब्धिर्वीर्यलब्धिश्चेति। रा. वा.)। =पाँच लब्धि होती है—(दानलब्धि, लाभलब्धि, भोगलब्धि, उपभोगलब्धि, और वीर्यलब्धि। ये पाँच लब्धियाँ दानान्तराय आदिके क्षयोपशमसे होती है। (रा. वा/२/५/८/१०७/२८)।

ध. ५/१,७,१/१९१/३ लद्धी पंच वियप्पा दाण-लाह-भोगुपभोग-वीरियमिदि। =(क्षायिक) लब्धि पाँच प्रकारकी है—क्षायिक दान, क्षायिक लाभ, क्षायिक भोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक वीर्य।

ल. सा/मू./१६६/२१८ सत्तण्हं पयडीणं खयादु अवरं तु खइयलद्धी दु। उक्कस्सखइयलद्धीघाइचउक्कखएण हवे।१६६। =सात प्रकृतियोंके क्षयसे असंयत सम्यग्दृष्टिके क्षायिक सम्यक्त्व रूप जघन्य क्षायिक

है अर्थात् भव्य-अभव्य दोनोंके होती है। किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व होनेके समय होती है। (ध. ६/१,९-८,३/२०५/३); (गो. जी./मू./६५१/११००), (ल. सा./मू./३/४२), (द्र. स./टी./३६/१५६/३)।

३. देशनालब्धि निर्देश

१. देशनालब्धिका लक्षण

ध. ६/१,९-८,३/२०४/७ छद्दव्व-णवपदत्थोवदेशो देसणा णाम। तीए देसणाए परिणदआइरियादीणमुवलभो, देसिदत्थस्स गहण-धारण-विचारणसत्तीए समागमो अ देसणलद्धी णाम। =छह द्रव्यों और नौ पदार्थोंके उपदेशका नाम देशना है। उस देशनासे परिणत आचार्य आदिकी उपलब्धिको और उपदिष्ट अर्थके ग्रहण, धारण तथा विचारणकी शक्तिके समागमको देशनालब्धि कहते हैं। (ल. सा./मू./६/४४)।

२. सम्यग्दृष्टिके उपदेशसे ही देशना सम्भव है

नि. सा./मू./५३ सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा। अतरहेऊ भणिदा दसणमोहस्स खयपहुदी।५३। =सम्यक्त्वका निमित्त जिनसूत्र है, जिनसूत्रको जानने वाले पुरुषोंको अन्तरंग हेतु कहे हैं, क्योंकि उनको दर्शनमोहके क्षयादिक है।५३। (विशेष दे० इसकी टीका)।

इ. उ./मू./२३ अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रय।·।२३। =अज्ञानीकी उपासनासे अज्ञानकी और ज्ञानीकी उपासनासे ज्ञान-की प्राप्ति होती है।२३।

दे० आगम/५ (दोष रहित व सत्य स्वभाव वाले पुरुषके द्वारा व्याख्यात होनेसे आगम प्रमाण है।)

ध. १/१,१,२२/१९६/२ व्याख्यातारमन्तरेण स्वार्थाप्रतिपादकस्य (वेदस्य) तस्य व्याख्यात्रधीनवाच्यवाचकभाव। ···प्राप्ताशेषवस्तुविषयबोध-स्तस्य व्याख्यातेति प्रतिपत्तव्यम्। =व्याख्याताके बिना वेद स्वय अपने विषयका प्रतिपादक नहीं है, इसलिए उसका वाच्य-वाचक भाव व्याख्याताके आधीन है। जिसने सम्पूर्ण वस्तु-विषयक ज्ञान-को जान लिया है वही आगमका व्याख्याता हो सकता है।

सत्तास्वरूप/३/१५ राग, धर्म, सच्ची प्रवृत्ति, सम्यग्ज्ञान व वीतराग दशा रूप निरोगता, उसका आदिसे अन्त तक सच्चा स्वरूप स्वाश्रितपने उस (सम्यग्दृष्टि) को ही भासे है और वह ही अन्यको दर्शाने वाला है।)

३. मिथ्यादृष्टिके उपदेशसे देशना संभव नहीं

प्र. सा./मू./२५६ छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो। ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि।२५६। =जो जीव छद्मस्थ विहित वस्तुओंमें (अज्ञानीके द्वारा कथित देव, गुरु-धर्मादिमें) व्रत-नियम अध्ययन-ध्यान-दानमें रत होता है वह मोक्षको प्राप्त नहीं होता, किन्तु सातात्मक भावको प्राप्त होता है।

ध. १/१,१,२२/१९५/८ ज्ञानविज्ञानविरहादप्राप्तप्रामाण्यस्य व्याख्यातु-र्वचनस्य प्रामाण्याभावात्। =ज्ञान-विज्ञानसे रहित होनेके कारण जिसने स्वय प्रमाणता प्राप्त नहीं किया ऐसे व्याख्याताके वचन प्रमाणरूप नहीं हो सकते।

ज्ञा./२/१०/३ न सम्यग्गदितु शक्य यत्स्वरूप कुदृष्टिभि'।·।३। =धर्मका स्वरूप मिथ्यादृष्टियोंके द्वारा नहीं कहा जा सकता है।

मो. मा. प्र./१/२२/४ वक्ता कैसा चाहिए जो जैन श्रद्धान विषै दृढ होय जातैं जो आप अश्रद्धानी होय तौ और कौ श्रद्धानी केसे करै?

द. पा./प. जयचन्द/२/४/१९ जाकै धर्म नाहीं तिसतै धर्मकी प्राप्ति नाहीं ताकूं धर्मनिमित्त काहेकूं वन्दिए···।

४. कदाचित् मिथ्यादृष्टिसे भी देशनाकी सम्भावना

ला. सं./५/१९ न वाच्य पाठमात्रत्वमस्ति तस्येह नार्थत'। यतस्तस्योप-देशाद्वै ज्ञान विन्दन्ति केचन।१९। =मिथ्यादृष्टिके जो ग्यारह अगका ज्ञान होता है वह केवल पाठमात्र है, उसके अर्थोंका ज्ञान उसको नहीं होता, यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि शास्त्रोंमें कहा गया है कि मिथ्यादृष्टि मुनियोंके उपदेशसे अन्य कितने ही भव्य जीवोंको सम्यग्दर्शन पूर्वक सम्यग्ज्ञान प्रगट हो जाता है।१९।

४. निश्चय तत्त्वोंका मनन करनेपर देशनालब्धि सम्भव है

प्र. सा./मू./८६ जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहि बुज्झदो णियमा। खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं।८६। =जिन-शास्त्र द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे पदार्थोंको जानने वालेके नियमसे मोह-समूह क्षय हो जाता है, इसलिए शास्त्रका सम्यक् प्रकारसे मनन करना चाहिए।८६।

भ. आ./वि./१०५/२५०/१२ अयमभिप्राय'-श्रद्धानसहचारिबोधाभावा-च्छ्रुतमप्यश्रुतमिति। =शब्दात्म श्रुत सुनकर उसके अर्थको भी समझ लिया परन्तु उसके ऊपर यदि श्रद्धा नहीं है तो वह सब सुनकर और जान लेनेपर भी अश्रुतपूर्व ही समझना चाहिए। इस शब्दके अध्ययनसे अपूर्व अर्थोंका ज्ञान होता है।

पु. सि. उ./६ व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति। =जो जीव केवल व्यवहार नयको ही साध्य जानता है, उस मिथ्यादृष्टिके लिए उपदेश नहीं है।६।

४. करणलब्धि निर्देश

१. करणलब्धि व अन्तरंग पुरुषार्थमें केवल भाषा भेद है

द्र. स./टी./३७/१५६/५ इति गाथाकथितलब्धिपञ्चकसंज्ञेनाध्यात्मभाषया निजशुद्धात्माभिमुखपरिणामसज्ञेन च निर्मलभावनाविशेषखड्गेन पौरुषं कृत्वाकर्मशत्रु हन्तीति।

द्र. स./टी./४१/१६५/११ आगमभाषया दर्शनचारित्रमोहनीयोपशम-क्षयसज्ञेनाध्यात्मभाषया स्वशुद्धात्माभिमुखपरिणामसज्ञेन च कालादिलब्धिविशेषेण मिथ्यात्व विलयं गतम्। =१ पाँच लब्धियों-से और अध्यात्म भाषामें निज शुद्धात्माके समुख परिणाम नामक निर्मल भावना विशेषरूप खड्गसे पौरुष करके, कर्मशत्रुको नष्ट करता है। (पं. का./ता. वृ./१५०/२१७/१४)। २ आगम भाषामें दर्शन मोहनीय तथा चारित्र मोहनीयके क्षयोपशमसे और अध्यात्म भाषामें निज शुद्धात्माके संमुख परिणाम तथा काल आदि लब्धिके विशेषसे उनका मिथ्यात्व नष्ट हो जायेगा।

२. करणलब्धि भव्यको ही होती है

ल. सा./मू./३३/६६ तत्तो अभव्वजोग्गं परिणाम बोलिऊण। भव्वो हु। करणं करेदि कमसो अधापवत्त अपुव्वमणियट्ठि।३३। =अभव्यके भी योग्य ऐसी चार लब्धियोंरूप परिणामको समाप्त करके जो भव्य है, वह जीव अध प्रवृत्त, अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण-को करता है।३३।

गो. जी./जी. प्र./६५१/११००/६ करणलब्धिस्तु भव्य एव स्यात्।=करण लब्धि तो भव्य ही के होती है।

जिनेन्द्रदेव कथित (श्रामण्यका अन्तरंग) लिंग है जो कि मोक्षका कारण है।२०६।

भा. पा/मू/५६ देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो। अप्पा अप्पम्मिरओ स भावलिंगी हवे साहू। =जो देहादि के परिग्रहसे रहित, मान कषायसे रहित है, अपनी आत्मामें लीन है, वह साधु भावलिंगी है।५६।

३. मुनि आर्यिका आदि लिंग निर्देश

द पा/मू/१८ एग जिणस्स रूव बीय उक्किट्ठसावयाणं तु। अवरट्ठियाण तइय चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।१८। =दर्शन अर्थात् शास्त्रमें एक जिन भगवान्‌का जैसा रूप है वह लिंग है। दूसरा उत्कृष्ट श्रावकका लिंग है और तीसरा जघन्य पदमें स्थित आर्यिकाका लिंग है। चौथा लिंग दर्शनमें नहीं है।

दे. वेद/७ (आर्यिका का लिंग सावरण ही होता है)।

४. उत्सर्ग व अपवाद लिंग निर्देश

भ आ/मू./७७-८१/२०७-२१० उस्सग्गियलिंगकदस्स लिंगमुस्सग्गियं तय चेव। अववादियलिंगस्स वि पसत्थमुवसग्गियं लिंग।७७। जस्स वि अव्वभिचारी दोसो तिट्ठाणिगो विहारम्मि। सो वि हु सथारगदो गेण्हेज्जोस्सुग्गिय लिंग।७८। आवसधे वा अप्पाउग्गे जो वा महड्ढिओ हिरिम। मिच्छजणे सजणे वा तस्स होज्ज अववादिय लिंगं।७९। अच्चेलक्क लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं। ऐसो ही लिंगकप्पो चदुव्विहो होदि उस्सग्गे।८०। इत्थीवि य ज लिंग दिट्ठ उस्सग्गियं व इदर वा। त तह होदि हु लिंग परित्तमुवधिं करेंतीए।८१।

भ. आ/वि/८०/२१०/१३ लिङ्ग तपस्विनीना प्राक्तनम्। इतरासां पुसामिव योज्यम्। यदि महर्द्धिका लज्जावती मिथ्यादृष्टि स्वजना च तस्या प्राक्तनं लिङ्गं विविक्ते आवसथे, उत्सर्गलिङ्गं वा सकलपरिग्रहत्यागरूपम्। उत्सर्गलिङ्गं कथ निरूप्यते स्त्रीणामित्यत आह-तत् उत्सर्गलिङ्ग तत्थ स्त्रीणा होदि भवति। परित्तं अल्पम्। उवधिं परिग्रहम्। करेंतीए कुर्वत्या'। =१. संपूर्ण परिग्रहोका त्याग करना उत्सर्ग है। सम्पूर्ण परिग्रहोका त्याग जब होता है उस समय जो चिह्न मुनि धारण करते है उसको औत्सर्गिक कहते है अर्थात् नग्नताको औत्सर्गिक लिंग कहते हैं। यतीको परिग्रह अपवादका कारण है अत' परिग्रह सहित लिंगको अपवादलिंग कहते है। अर्थात् अपवाद लिंग धारक गृहस्थ जब भक्त प्रत्याख्यानके लिए उद्यत होता है तब उसके पुरुष लिंगमें कोई दोष न हो तो वह नग्नता धारण कर सकता है।७७। २ जिसके लिंगमें तीन दोष (दे० प्रव्रज्या/१/४) औषधादिकोसे नष्ट होने लायक नहीं है वह वसतिकामें जब सस्तरारूढ होता है तब पूर्ण नग्न रह सकता है। सस्तरारोहणके समयमें ही वह नग्न रह सकता है अन्य समयमें उसको मना है।७८। ३. जो श्रीमान्, लज्जावान् है तथा जिसके बन्धुगण मिथ्यात्व युक्त है ऐसे व्यक्तिो एकान्त रहित वसतिकामें सवस्त्र ही रहना चाहिए।७९। ४. वस्त्रोका त्याग अर्थात् नग्नता, लोच—हाथसे केश उखाडना, शरीरपरसे ममत्व दूर करना, प्रतिलेखन प्राणि दयाका चिह्न—मयूरपिच्छका हाथमें ग्रहण, इस तरह चार प्रकारका औत्सर्गिक लिंग है।८०। ५. परमागममें स्त्रियों अर्थात् आर्यिकाओका और श्राविकाओका जो उत्सर्गलिंग अपवाद लिंग कहा है वही लिंग भक्तप्रत्याख्यानके समय समझना चाहिए। अर्थात् आर्यिकाओका भक्तप्रत्याख्यानके समय उत्सर्ग लिंग विविक्त स्थानमें होना चाहिए अर्थात् वह भी मुनिवत् नग्न लिंग धारण कर सकती है ऐसी आगमाज्ञा है। ६. परन्तु श्राविकाका उत्सर्ग लिंग भी है और अपवाद लिंग भी है। यदि वह श्राविका सपत्ति वाली, लज्जावती होगी, उसको बांधवगण मिथ्यात्वी हो तो वह अपवाद लिंग धारण करे अर्थात् पूर्ववेषमें ही मरण करे। तथा जिस श्राविकाने अपना परिग्रह कम किया है वह एकान्त वसतिकामें उत्सर्ग लिंग-नग्नता धारण कर सक्ती है।

* उत्सर्ग व अपवाद लिंगका समन्वय—दे० अपवाद/४।

२. भावलिंगकी प्रधानता

१. साधु लिंगमें सम्यक्त्वका स्थान

भ. आ./मू/७७०/९२९ 'लिंगग्गहण च दसणविहूणं' जो कुणदि णिरत्थयं कुणदि।७७०। =सम्यग्दर्शन रहित लिंग अर्थात् मुनि दीक्षा धारण करना व्यर्थ है। इससे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। (शी. पा./मू/५)।

र. सा./मू./८७ कम्मु ण खवेइ जो हु परब्रह्म ण जाणेइ सम्मउमुक्को। अत्थु ण तत्थु ण जीवो लिंगं घेत्तूण किं करई।८७। =जो जीव परब्रह्मको नहीं जानता है, और जो सम्यग्दर्शनसे रहित है। वह न तो गृहस्थ अवस्थामें है और न साधु अवस्थामें है। केवल लिंगको धारणकर क्या कर सकते है। कर्मोंका नाश तो सम्यक्त्वपूर्वक जिन लिंग धारण करनेसे होता है।

दे० विनय/४/४ (द्रव्य लिंगी मुनि असयत तुल्य है।)

रा. वा/९/४६/११/६३७/१५ दृष्ट्या सह यत्र रूप तत्र निर्ग्रन्थव्यपदेश न रूपमात्र इति। =जहाँ सम्यग्दर्शन सहित निर्ग्रन्थरूप है वही निर्ग्रन्थ है।

ध. १/१,१,१४/१७७/५ आप्तागमपदार्थेष्वनुत्पन्नश्रद्धस्य त्रिमूढालीढचेतस' संयमानुपपत्ते। सम्यक् ज्ञात्वा श्रद्धाय यत सयत इति व्युत्पत्तितस्तदवगते'। =आप्त, आगम, पदार्थोंमें जिस जीवके श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई है, तथा जिसका चित्त मूढताओंसे व्याप्त है, उसके सयमकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। 'भले प्रकार जानकर और श्रद्धान कर जो यम सहित है उसे संयत कहते है। सयत शब्दकी इस प्रकार व्युत्पत्ति करनेसे यह जाना जाता है कि यहाँपर द्रव्य संयमका प्रकरण नहीं है (और भी दे० चारित्र/३)।

प्र. सा./त प्र./२०७ कायमुत्सृज्य यथाजातरूप आत्मन्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति, उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति। =कायका उत्सर्ग करके यथाजात रूपवाले स्वरूपको··· अवलम्बित करके उपस्थित होता है। और उपस्थित होता हुआ, सर्वत्र समदृष्टित्वके कारण साक्षात् श्रमण होता है।

२. भाव लिंग ही यथार्थ लिंग है

स. सा/मू/४१० ण वि एस मोक्खमग्गो पासडीगिहिमयाणि लिंगाणि। दसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्ग जिणा बिंति।४१०। (न खलु द्रव्यलिङ्ग मोक्षमार्ग)। =मुनियो और गृहस्थोके लिंग यह मोक्षमार्ग नहीं है। ज्ञान दर्शन चारित्रको जिनदेव मोक्षमार्ग कहते है।४१०। (द्रव्यलिंग वास्तवमें मोक्षमार्ग नहीं है)।

मू. आ/१००२ भावसमणा हु समणा ण सेससमणाण सुग्गई जम्हा। १००२। =भाव श्रमण है वे ही श्रमण है क्योंकि शेष नामादि श्रमणोंको सुगति नहीं होती।

लिं पा. मू/२ धम्मेण होइ लिंग ण लिंगमत्तेण धम्मसंपत्ती। जाणेहि भावधम्म किं ते लिंगेण कायव्वो।२। =धर्म सहित लिंग होता है, लिंग मात्रसे धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए हे भव्य। तू भावरूप धर्मको जान, केवल लिंगमे क्या होगा तेरे कुछ नहीं।

भा. पा./मू/२,७४,१०० भावो हि पढमलिंग ण दव्वलिंग च जाणपरमत्थं। भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा बिंति।२। भावो वि दिव्वसिवसुक्खभायणे भाववज्जिओ सवणो। कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो।७४। पावंति भावसवणा कल्लाणपरपराइं सोक्खाइ। दुक्खाइ दव्वसवणा णरतिरियकुदेवजो-

होय ।१००। —१. भाव ही प्रथम लिंग है इसलिए हे भव्य जीव ! तू द्रव्यलिंगको परमार्थरूप मत जान । और गुण दोषका कारणभूत भाव ही है, ऐसा जिन भगवान् कहते हैं ।२। (भा. पा./मू./६,७,४८, ५४,५५); (स. सा. आ./४/४७)। २. भाव ही स्वर्ग मोक्षका कारण है। भावसे रहित श्रमण पाप स्वरूप है, तिर्यंच गतिका स्थानक है और कर्ममलसे मलिन है चित्त जिसका ऐसा है ।७४। जो भाव श्रमण हैं वे परम्परा कल्याण है जिसमें ऐसे सुखको पाते हैं। जो द्रव्य श्रमण हैं वे मनुष्य कुदेव आदि योनियोंमें दुःख पाते हैं ।१००।

३. भावके साथ द्रव्य लिंगकी व्याप्ति है द्रव्यके साथ भावकी नहीं

स. सा./ता.वृ./४१४/५०८/११ बहिरङ्गद्रव्यलिङ्गे सति भावलिङ्गं भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यन्तरे तु भावलिङ्गे सति सर्वसङ्गपरित्यागरूपं द्रव्यलिङ्गं भवत्येवेति । —बहिरंग द्रव्यलिंगके होनेपर भावलिंग होता भी है, नहीं भी होता, कोई नियम नहीं है। परन्तु अभ्यन्तर भावलिंगके होनेपर सर्व संग (परिग्रह) के त्याग रूप बहिरंग द्रव्यलिंग अवश्य होता ही है।

मो. मा. प्र./६/४६२/१२ मुनि लिंग धारें बिना तो मोक्ष न होय, परन्तु मुनि लिंग धारें मोक्ष होय भी अर नाहीं भी होय।

* पंचमकाल भरतक्षेत्रमें भी भाव लिंगकी सम्भावना —दे० संयत/२।

३. द्रव्यलिंग की कथंचित् गौणता व प्रधानता

१. केवल बाह्य लिंग मोक्षका कारण नहीं

दे. वर्ण व्यवस्था/२/३ (लिंग व जाति आदिसे ही मुक्ति मानना मानना मिथ्या है।)

स. सा./मू./४०८-४१० पासंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि । घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गो त्ति ।४०८। ण दु होइ मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा । लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ।४०९। ण वि एस मोक्खमग्गो पासंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।४१०। —बहुत प्रकारके मुनिलिंगोंको अथवा गृहीलिंगोंको ग्रहण करके मूढ (अज्ञानी) जन यह कहते हैं कि 'यह लिंग मोक्षमार्ग है' ।४०८। परन्तु लिंग मोक्षमार्ग नहीं है क्योंकि अर्हन्तदेव देहके प्रति निर्ममत्व वर्तते हुए लिंगको छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रका सेवन करते हैं ।४०९। मुनियों और गृहस्थोंके लिंग यह मोक्षमार्ग नहीं है ।४१०।

मू. आ./६०० लिंगग्गहणं च संजमविहूणं । ' जो कुणइ णिरत्थयं कुणदि । —जो पुरुष संयम रहित जिन लिंग धारण करता है, वह सब निष्फल है।

भा. पा./मू./७२ जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा । न लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमले ।७२। —जो मुनि राग अर्थात् अन्तरंग परिग्रहसे युक्त हैं, जिन स्वरूपकी भावनासे रहित हैं वे द्रव्य-निर्ग्रन्थ हैं। उसे जिनशासनमें कही समाधि और बोधिकी प्राप्ति नहीं होती ।७२।

स. श./मू./८७ लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः । न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ।८७। —लिंग (वेष) शरीरके आश्रित है, शरीर ही आत्माका संसार है, इसलिए जिनको लिंगका ही आग्रह है वे पुरुष संसारसे नहीं छूटते ।८७।

यो. सा. अ./५/५६ शरीरमात्मनो भिन्नं लिङ्गं येन तदात्मकम् । न मुक्तिकारणं लिङ्गं जायते तेन तत्त्वतः ।५६। —शरीर आत्मासे भिन्न है और लिंग शरीर स्वरूप है इसलिए आत्मासे भिन्न होनेके कारण निश्चय नयसे लिंग मोक्षका कारण नहीं ।५६।

२. केवल द्रव्यलिंग अकिंचित्कर व व्यर्थ है

भा. पा./मू./[illegible] [illegible] भावरहितो [illegible] [illegible] नहीं हुआ है ।[illegible]।

भा. पा./मू./६,६८,११९ [illegible] (और भी भा. पा./मू./[illegible])।

३. भाव रहित द्रव्य लिंगका अत्यन्त तिरस्कार

मो. पा./मू./६१ बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो । सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ।६१। —जो जीव बाह्य लिंग सहित है और अभ्यन्तर लिंगसे रहित है और [illegible] है वह [illegible] चारित्रसे भ्रष्ट है, इसलिए मोक्षमार्गका विनाशक है ।६१।

दे० लिंग/३/२ ([illegible] लिंग सहित [illegible] है। [illegible] है।)

भा. पा./मू./[illegible] [illegible] सम्मत्तविहीणो [illegible] । [illegible] ।६९। [illegible] ।६९। [illegible] ।७०। [illegible] मुनि भाव लिंग [illegible] ।७१। [illegible] लोभ, [illegible] पाये जाते हैं। इसलिए ऐसा वे नग्न [illegible] मलिन और [illegible] स्थान है ।६९। जो धर्मसे रहित है, दोषोंका [illegible] है। और [illegible] जिसमें कुछ भी गुण नहीं है, ऐसा [illegible] नग्नरूपसे नटश्रमण [illegible] नाचनेवाला [illegible] है ।७१। [illegible] भेष [illegible] मत धारण कर ।९०।

स. सा./आ./४११ अतो द्रव्यलिङ्गं न मोक्षमार्गः । —द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है।

* द्रव्यलिंगीकी सूक्ष्म पहचान—दे० साधु/८।

* द्रव्य लिंगीको दिये गये घृणास्पद नाम— —दे० निन्दा।

* पुलाक आदि साधु द्रव्यलिंगी नहीं—दे० साधु/५।

४. द्रव्य लिंगकी कथंचित् प्रधानता

भा. पा /टी./२/१२६ पर उद्धृत-उक्तं चेन्द्रनन्दिना भट्टारकेण समय-भूषणप्रवचने-द्रव्यलिङ्गं समास्याय भावलिङ्गी भवेद्यति'। विना तेन न वन्द्य स्यान्नानाव्रतधरोऽपि सन् ।१। द्रव्यलिङ्गमिद ज्ञेयं भाव-लिङ्गस्य कारणम्। तदध्यात्मकृतं स्पष्टं न नेत्रविषयं यत. ।२। =इन्द्रनन्दि भट्टारकने समय भूषण प्रवचनमें कहा है—कि द्रव्य-लिंगको भले प्रकार प्राप्त करके यति भावलिंगी होता है। उस द्रव्य-लिंगके विना वह वन्द्य नहीं है, भले ही नाना व्रतोको धारण क्यों न करता हो। द्रव्यको भावलिगका कारण जानो। भावलिंग तो केवल अध्यात्म द्वारा ही देखा जा सकता है, क्योकि वह नेत्रका विषय नही है।

दे० मोक्ष/४/५ (निर्ग्रन्थ लिंगसे ही मुक्ति होती है।)

दे० वेद/७ (सवस्त्र होनेके कारण स्त्रीको सयतत्व व मोक्ष नही होता।)

५. भरत चक्रीने भी द्रव्यलिंग धारण किया

स. सा./ता वृ /४१४/५०८/२० येऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गता भरत-चक्रवर्त्यादयस्तेऽपि निर्ग्रंथरूपेणैव। पर किन्तु तेषा परिग्रहत्यागं लोका न जानन्ति स्तोककालत्वादिति भावार्थ'। =जो ये दीक्षाके बाद घडीकालमें ही भरत-चक्रवर्ती आदिने मोक्ष प्राप्त किया है, उन्होने भी निर्ग्रन्थ रूपसे ही (मोक्ष प्राप्त किया है)। परन्तु समय स्तोक होनेके कारण उनका परिग्रह त्याग लोग जानते नही है।

प. प्र./टी./२/५२ भरतेश्वरोऽपि पूर्वजिनदीक्षां प्रस्तावे लोचानन्तर हिंसादिनिवृत्तिरूप महाव्रतरूप कृत्वान्तर्मुहूर्ते गते ·· निजशुद्धात्म-ध्याने स्थित्वा पश्चान्निर्विकल्पो जात'। पर किन्तु तस्य स्तोककाल-त्वान्महाव्रतप्रसिद्धिर्नास्ति। =भरतेश्वरने पहले जिनदीक्षा धारण की, सिरके केश लुचन किये, हिंसादि पापोंकी निवृत्ति रूप पच महाव्रत आदरे। फिर अन्तर्मुहूर्तमें निज शुद्धात्माके ध्यानमें ठहरकर निर्विकल्प हुए। तब भरतेश्वरने अन्तर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्राप्त किया इसलिए महाव्रतकी प्रसिद्धि नही हुई। (द्र. स /टी./-५७/२३१/२)।

४. द्रव्य व भाव लिंगका समन्वय

१. रत्नत्रयसे प्रयोजन है नग्नताकी क्या आवश्यकता

भ. आ./मू /८२-८७/२११-२२२ नन्वर्हस्य रत्नत्रयभावनाप्रकर्षेण मृति-रुपयुज्यते किममुना लिङ्गविकल्पोपादानेनेत्यस्योत्तरमाह—जत्ता-साधणचिन्हकरणखु जगपच्चयादाठिदिकरणं। गिहभावविवेगो वि य लिंगग्गहणे गुणा होति ।८२। गथच्चाओ लाघवमप्पडिलिहण च गदभयत्त च। ससज्जणपरिहारो परिकम्म विवज्जणा चेव ।८३। विस्सासकर रूव अणादरो विसयदेहसुक्खेसु। सव्वत्थ अप्पवसदा परिसहअधिवासणा चेव ।८४। जिणपडिरूवं विरिया-यारो रागादिदोसपरिहरणं। इच्चेवमादिवहुगा अच्चेलक्के गुणा होंति ।८५। इय सव्वसमिदिकरणो ठाणासणसयणगमण-किरियासु। णिगिण गुत्तिमुवगदो पग्गहिददर परक्कमदि ।८६। अववादिय लिंगकदो विसयासत्ति अगूहमाणा य। णिंदणगरहण-जुत्तो सुज्झदि उवधिं परिहरतो ।८७। =प्रश्न—जो भक्त प्रतिज्ञा योग्य है उसको रत्नत्रयका प्रकर्ष करके मरना योग्य है। उत्सर्ग लिंग अथवा अपवाद लिंग धारण करके मरना चाहिए ऐसा हठ क्यो। उत्तर—नग्नता यात्राका साधन है। गृहस्थ वेपसे उनके विशिष्ट गुण ज्ञात न होनेसे गृहस्थ उनको दान न देगे, तब क्रमसे शरीरस्थिति तथा रत्नत्रय व मोक्षकी प्राप्ति कैसे होगी। अत. नग्नता गुणीपनेका सूचक है इससे दानादिकी प्रवृत्ति होती है। मोक्षके साधन रत्नत्रय उसका नग्नता चिह्न है। इसमें जगत प्रत्ययता—सर्व जगतकी इसके ऊपर श्रद्धा होना, आत्मस्थितिकरण गुण है ।८२। ग्रथ त्याग-परिग्रह त्याग, लाघव-हल्कापन, अप्रति-लेखन, परिकर्मवर्जना अर्थात् वस्त्र विषय धोनादि क्रियासे रहित-पन, गतभयत्व, परिपहाधिवासना आदि गुण मुनिलिंगमें समाविष्ट हुए है ।८३। निर्वस्त्रता विश्वास उत्पन्न कराने वाली है, अनादर, विषयजनित सुखोंमें अनादर, सर्वत्र आत्मवशता तथा शीतादि परीपहोंको सहन करना चाहिए ऐसा अभिप्राय सिद्ध होता है ।८४। जिनरूप-तीर्थंकरोने जो लिंग धारण किया वही मुमुक्षुको धारण करना चाहिए, वीर्याचार, रागादि दोष परिहरण वस्त्रका त्याग करनेसे सर्व रागादि दोष नही रहते सब महागुण मुनिराजको मिलते है ।८५। स्पर्शनादि इन्द्रियाँ अपने विषयोंमे समिति युक्त प्रवृत्ति करती है। स्थान क्रिया, आसन क्रिया, शयनक्रिया, गमनक्रिया, इत्यादि कार्योंमें समिति युक्त वर्तते हैं। गुप्तिको पालनेवाले मुनि शरीरसे प्रेम दूर करते है। इस प्रकार अनेकों गुण नग्नतामें है ।८६। अपवादलिंगधारी ऐलक आदि भी अपनी चारित्र धारणकी शक्तिको न छिपाता हुआ कर्ममल निकल जानेसे शुद्ध होता है क्योकि वह अपनी निन्दा गर्हा करता है 'सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग करना ही मुक्तिका मार्ग है परन्तु मेरे परि-पहोंके डरके कारण परिग्रह है' ऐसा मनमें पश्चात्ताप पूर्वक परिग्रह स्वल्प करता है अत उसके कर्म निर्जरा होकर आत्मशुद्धि होती है ।८७। (और भी दे० अचेलकत्व)।

२. द्रव्य लिंगके निपेधका कारण व प्रयोजन

स. सा./आ /४१०-४११ न खलु द्रव्यलिङ्गं मोक्षमार्ग , शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात्। दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्ग आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात् ।४१०। तत. समस्तमपि द्रव्यलिङ्गं त्यक्त्वा दर्शन-ज्ञानचारित्रे चैव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति। =द्रव्यलिंग वास्तवमें मोक्षमार्ग नही है, क्योंकि वह शरीराश्रित होनेसे परद्रव्य है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही मोक्षमार्ग है, क्योंकि वे आत्माश्रित होनेसे स्वद्रव्य है। इसलिए समस्त द्रव्यलिंगका त्याग करके दर्शन-ज्ञान चारित्रमे ही वह मोक्षमार्ग होनेसे आत्माको लगाना योग्य है।

स सा /ता. वृ./४१४/५०८/५ अहो शिष्य। द्रव्यलिङ्ग निषिद्धमेवेति त्व मा जानीहि किंतु भावलिङ्गरहिताना यतीना सबोधन कृत। कथं। इति चेत्, अहो तपोधना.। द्रव्यलिङ्गमात्रेण सतोषं मा कुरुत किन्तु-द्रव्यलिङ्गाधारेण निर्विकल्पसमाधिरूपभावना कुरुत।· भावलिङ्ग-रहित द्रव्यलिङ्गं निषिद्ध न च भावलिङ्गसहित। कथ। इति चेत् द्रव्यलिङ्गाधारभूतो योऽसौ देहस्तस्य ममत्व निषिद्धं। =हे शिष्य। द्रव्यलिंग निषिद्ध ही है ऐसा तू मत जान। किंतु भावलिंगसे रहित यतियोंको यहाँ सबोधन किया गया है। वह ऐसे कि—हे तपोधन। द्रव्यलिंग मात्रसे सन्तोष मत करो किन्तु द्रव्यलिंगके आधारसे·· निर्विकल्प समाधि रूप भावना करो। भावलिंग रहित द्रव्यलिंग निषिद्ध है न कि भावलिंग सहित। क्योकि द्रव्यलिंगका आधारभूत जो यह देह है, उसका ममत्व निषिद्ध है।

स. सा /प जयचन्द/४११ यहाँ मुनि श्रावकके व्रत छुडानेका उपदेश नही है जो केवल द्रव्यलिंगको ही मोक्षमार्ग मानकर भेष धारण करते है उनको द्रव्यलिंगका पक्ष छुडाया है कि वेष मात्रसे मोक्ष नहीं है। (भा. पा./प जयचन्द ।११३।)

३. द्रव्यलिंग धारनेका कारण

पं वि./१/४१ म्लाने क्षालनत' कुत' कृतजलाद्यारम्भत सयमो नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यत' प्रार्थनम्॥ कौपीनेऽपि हृते परैश्च झटिति क्रोध' समुत्पद्यते तन्नित्य शुचिरागहृत् शमवता वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ।४१। =वस्त्रके मलिन हो जानेपर उसके धोनेके लिए

१. भेद लक्षण व तत्सम्बन्धी शंका समाधान

१. लेश्या सामान्यके लक्षण

प स./प्रा./१/१४२-१४३ लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च। जीवो त्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया।१४२। जह गेरुवेण कुड्डो लिप्पइ लेवेण आमपिट्ठेण। तह परिणामो लिप्पइ सुहासुह य त्ति लेव्वेण।१४३।=जिसके द्वारा जीव पुण्य-पापसे अपनेको लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते है।१४२। (ध. १/१,१,४/गा ६४/१५०), (गो जी./मू /४८९) जिस प्रकार आमपिष्टसे मिश्रित गेरु मिट्टीके लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भावरूप लेपके द्वारा जो आत्माका परिणाम लिप्त किया जाता है उसको लेश्या कहते है।१४३।

ध. १/१,१,४/१४९/६ लिम्पतीति लेश्या। कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारापेक्षित्वात्। अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकारी लेश्या। प्रवृत्ति—शब्दस्य कर्मपर्यायित्वात्।=जो लिम्पन करती है उसको लेश्या कहते है अर्थात् जो कर्मोमे आत्माको लिप्त करती है उसको लेश्या कहते है। (ध १/१,१,१३६/३८३/६) अथवा जो आत्मा और कर्मका सबन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते है। यहाँपर प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची हे। (ध. ७/२,१,३/७/७)।

ध. ८/३,२७३/३५६/४ का लेस्सा णाम। जीव-कम्माण ससिलेसयणयरी, मिच्छत्तासजम-कसायजोगा त्ति भणिद होदि।=जीव व कर्मका सम्बन्ध कराती है वह लेश्या कहलाती हे। अभिप्राय यह हे कि मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योग ये लेश्या है।

२. लेश्याके भेद-प्रभेद

१. द्रव्य व भाव दो भेद—

स. सि /२/६/१५९/१० लेश्या द्विविधा, द्रव्यलेश्या भावलेश्या चेति।=लेश्या दो प्रकारकी है—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या (रा वा /२/६/८/१०९/२२), (ध. २/१,१/४१९/८), (गो. जी /जी प्र./४८९/८९४/१२)।

२. द्रव्य-भाव लेश्याके उत्तर भेद—

ष. ख./१/१,१/सू १३६/३८६ लेस्साणुवादेण अत्थि किण्हलेस्सिया णीललेस्सिया काउलेस्सिया तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सुक्कलेस्सिया अलेस्सिया चेदि।१३६।=लेश्या मार्गणाके अनुवादसे कृष्णलेश्या, नीललेश्या कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या और अलेश्यावाले जीव होते है।१३६। ध /१६/४८५/७।

स सि /२/६/१५९/१२ सा षड्विधा—कृष्णलेश्या, नीललेश्या. कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या चेति।=लेश्या छह प्रकारकी है—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, पीतलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या। (रा वा /२/६/८/१०९/२७), (रा. वा /९/७/११/६०४/१३), (ध १/१,१,१३६/३८८/५), (गो. जी /मू /४९३/८९६); (द्र. स /टी./१३/३८)।

गो जी /मू /४९४-४९५/८९७ दव्वलेस्सा। सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण।४९४। छप्पय णीलकवोदसुहेमम बुजसखसण्णिहा वण्णे। सखेज्जासखेज्जाणतवियप्पा य पत्तेय।४९५।=द्रव्यलेश्या कृष्णादिक छह प्रकारकी है उनमें एक-एक भेद अपने-अपने उत्तर भेदोके द्वारा अनेक रूप है।४९४। कृष्ण-भ्रमरके सदृश काला वर्ण, नील-नील मणिके सदृश. कापोत-कापोतके सदृश वर्ण, तेजो-सुवर्ण सदृश वर्ण, पद्म-कमल समान वर्ण, शुक्ल-शखके समानवर्ण वाली है। जिस प्रकार कृष्णवर्ण हीन-उत्कृष्ट-पर्यन्त अनन्त भेदोको लिये है उसी प्रकार छहो द्रव्य-लेश्याके जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त शरीरके वर्णकी अपेक्षा सख्यात, असख्यात व अनन्त तक भेद हो जाते है।४९५।

गो. जी./जी. प्र./७०४/११४१/५ लेश्या सा च शुभाशुभभेदाद् द्वेधा। तत्र अशुभा कृष्णनीलकपोतभेदाद् त्रेधा, शुभापि तेजःपद्मशुक्लभेदात्त्रेधा।=वह लेश्या शुभ व अशुभके भेदसे दो प्रकारकी है। अशुभ लेश्या कृष्ण, नील व कपोतके भेदसे तीन प्रकारकी है। और शुभ लेश्या भी पीत, पद्म व शुक्लके भेदसे तीन प्रकारकी है।

३. द्रव्य-भाव लेश्याओंके लक्षण

१. द्रव्य लेश्या

पं स /प्रा./१/१८३-१८४ किण्हा भमर-सवण्णा णीला पुण णील-गुलिय-सकासा। काऊ कओदवण्णा तेऊ तवणिज्जवण्णा दु।१८३। पम्हा पउमसवण्णा सुक्का पुणु कासकुसुमसकासा। वण्णंतर च एदे हवति परिमिता अणंता वा।१८४। =कृष्ण लेश्या, भौंरेके समान वर्णवाली, नील लेश्या-नीलकी गोली, नीलमणि या मयूरकण्ठके समान वर्णवाली। कापोत—कबूतरके समान वर्णवाली, तेजो-तप्त सुवर्णके समान वर्णवाली पद्म लेश्या पद्मके सदृश वर्णवाली। और शुक्ललेश्या कांसके फूलके समान श्वेत वर्णवाली है। (ध. १६/गा. १-२/४८५)।

रा. वा /९/७/११/६०४/१३ शरीरनामोदयापादिता द्रव्यलेश्या।=शरीरनाम कर्मोदयसे उत्पन्न द्रव्यलेश्या होती है।

गो. जी /मू./४९४ वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा।=वर्ण नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ जो शरीरका वर्ण उसको द्रव्य-लेश्या कहते है।४९४। (गो जी./मू /५३६)।

२. भावलेश्या

स. सि./२/६/१५९/११ भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।=भावलेश्या कषायके उदयसे अनुरंजित योगकी प्रवृत्ति रूप है, इसलिए वह औदयिकी कही जाती है। (रा. वा./२/६/८/१०९/१४'; (द्र. स./टी /१३/३८/५)।

ध. १/१,१,४/१४९/८ कषायानुरञ्जिता कायवाङ्मनोयोगप्रवृत्तिर्लेश्या=कषायसे अनुरंजित मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते है। (गो.जी /मू /४९०/८९५), (पं.का./त.प्र./११९)।

गो जी./मू /५३६/९३१ लेस्सा। मोहोदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदण भावो।=मोहनीय कर्मके उदय, क्षयोपशम, उपशम अथवा क्षयसे उत्पन्न हुआ जो जीवका स्पन्द सो भावलेश्या है।

४. कृष्णादि भावलेश्याओंके लक्षण

१. कृष्णलेश्या

पं. स./प्रा /१/१४४-१४५ चडो ण मुयदि वेरं भडण-सीलो य धम्म दयरहिओ। दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेद तु किण्हस्स।२००। मदो बुद्धि-विहीणो णिव्विणाणी य विसय-लोलो य। माणी मायी य तहा आलस्सो चेय भेज्जो य।२०१। =तीव्र क्रोध करने वाला हो, वैरको न छोडे, लडना जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, दुष्ट हो, जो किसीके वशको प्राप्त न हो, ये सब कृष्णलेश्यावालोके लक्षण है।२००। मन्द अर्थात् स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमे विवेकरहित हो, कलाचातुर्यसे रहित हो, पचेन्द्रियके विषयोमें लम्पट हो, मानी, मायावी, आलसी और भीरु हो, ये सब कृष्णलेश्यावालोंके लक्षण है।२०१। (ध.१/१,१,१३६/गा २००-२०१/-३८८), (गो.जी /मू /५०९-५१०)।

ति प./२/२९५-२९६ किण्हादितिलेस्सजुदा जे पुरिसा ताण लक्खणं एद। गोत्त सकलत्तं एक्क वछेदि मारिदु दुट्ठो।२९५। धम्म दया परिचत्तो अमुक्कवेरो पयंडकलहयरो। बहुकोहो किण्हाए जम्मदि धूमादि चरिमते।२९६। =कृष्णलेश्यासे युक्त दुष्ट पुरुष अपने ही गोत्रीय तथा एकमात्र स्वकलत्रको भी मारनेकी इच्छा करता है।२९५। दया-धर्मसे रहित, वैरको न छोडने वाला, प्रचण्ड कलह करनेवाला

और क्रोधी जीव कृष्णलेश्याके साथ धूमप्रभा पृथिवीमें अन्तिम पृथिवी तक जन्म लेता है।

रा. वा /४/२२/१०/२३६/२५ अनुनयानभ्युपगमोपदेशाग्रहणवैरामोच-नातिचण्डत्व - दुर्मुखत्व - निरनुकम्पता-क्लेशन - मारणा - परितोप-णादि कृष्णलेश्या लक्षणम्। =दुराग्रह, उपदेशावमानन, तीव्र वैर, अतिक्रोध, दुर्मुख, निर्दयता, क्लेश, ताप, हिंसा, असन्तोष आदि परम तामसभाव कृष्णलेश्याके लक्षण हैं।

२. नीललेश्या

पं. सं./प्रा./१/१४६ णिद्दावचण-बहुलो धण-धण्णे होइ तिव्व-सण्णो य। लक्खणमेद भणिय समासदो णील-लेस्सस्स ।२०२। =बहुत निद्रालु हो, पर वचनमें अतिदक्ष हो, और धन-धान्यके संग्रहादि-में तीव्र लालसावाला हो, ये सब संक्षेपसे नीललेश्यावालेके लक्षण कहे गये हैं।१४६। (ध. १/१,१,१३६/गा. २०२/३८६); (गो. जी./मू./५११/९१०), (पं. सं./सं./१/२७४)।

ति. प./२/२९७–२९८ विसयासत्तो- विमदी, माणी विण्णाणवज्जिदो मदो। अलसो भीरू मायापवंचबहुलो य णिद्दालू ।२९७। परवंचण-प्पसत्तो लोहंधो धणसुहाकखी। बहुसण्णा णीलाए जम्मदि त चेव धूमतं ।२९८। =विषयोंमें आसक्त, मतिहीन, मानी, विवेक बुद्धिसे रहित, मन्द, आलसी, कायर प्रचुर माया प्रपंचमें संलग्न, निद्रा-शील, दूसरोंके ठगनेमें तत्पर, लोभसे अन्ध, धन-धान्यजनित सुखका इच्छुक और बहुसंज्ञायुक्त अर्थात् आहारादि संज्ञाओंमें आसक्त ऐसा जीव नीललेश्याके साथ धूम्रप्रभा तक जाता है।२९७–२९८।

रा. वा./४/२२/१०/२३६/२६ आलस्य - विज्ञानहानि - कार्यानिष्ठापन-भीरुता-विषयातिगृद्धि-माया-तृष्णातिमानवञ्चनानृतभाषणचापला-तिलुब्धत्वादि नीललेश्यालक्षणम्। =आलस्य, मूर्खता, कार्यानिष्ठा, भीरुता, अतिविषयाभिलाष, अतिगृद्धि, माया, तृष्णा, अतिमान, वंचना, अनृत भाषण, चपलता, अतिलोभ आदि भाव नीललेश्याके लक्षण हैं।

३. कापोतलेश्या

पं. स./प्रा./१/१४७–१४८ रूसइ णिंदइ अण्णे दूसणबहुलो य सोय-भय-बहुलो। असुवइ परिभवइ परं पसंसइ य अप्पयं बहुसो।१४७। ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं पिव परं पि मण्णतो। तूसइ अइ-थुव्वतो ण य जाणइ हाणि-वड्ढीओ।१४८। मरणं पत्थेइ रणे देइ सु बहुयं पि थुव्वमाणो हु। ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स।१४९। =जो दूसरोंके ऊपर रोष करता हो, दूसरोंकी निन्दा करता हो, दूषण बहुल हो, शोक बहुल हो, भय बहुल हो, दूसरोंसे ईर्ष्या करता हो, परका पराभव करता हो, नाना प्रकारसे अपनी प्रशंसा करता हो, परका विश्वास न करता हो, अपने समान दूसरेको भी न मानता हो, स्तुति किये जानेपर अति सन्तुष्ट हो, अपनी हानि और वृद्धिको न जानता हो, रणमें मरणका इच्छुक हो, स्तुति या प्रशंसा किये जानेपर बहुत धनादिक देवे और कर्तव्य-अकर्तव्यको कुछ भी न गिनता हो, ये सब कापोत लेश्या-वालेके चिह्न हैं। (ति. प./२/२९९–३०१), (ध. १/१,१,१३६/गा. २०३–२०५/३८९), (गो. जी./मू./५१२–५१४/९१०–९११); (पं. सं./सं./१/२७६–२७७)।

रा. वा./४/२२/१०/२३६/२८ मात्सर्य - पैशुन्य - परपरिभवात्मप्रशंसा - परपरिवादवृद्धिहान्यगणनात्मीयजीवितनिराशता प्रशस्यमानधनदान-युद्धमरणोद्यमादि कापोतलेश्यालक्षणम्। =मात्सर्य, पैशुन्य, परपरि-भव, आत्मप्रशंसा, परपरिवाद, जीवन नैराश्य प्रशंसकको धन देना, युद्ध मरणोद्यम आदि कापोत लेश्याके लक्षण हैं।

४. पीत लेश्या

पं. सं./प्रा./१/१५० जाणइ कज्जाकज्जं सेयासेयं च सव्वसमपासी। दय-दाणरदो य विदू लक्खणमेयं तु तेउस्स।१५०। =जो अपने कर्तव्य और अकर्तव्य, और सेव्य-असेव्यको जानता हो, सबमें सम-दर्शी हो, दया और दानमें रत हो, मृदु स्वभावी और ज्ञानी हो, ये सब तेजोलेश्यावालेके लक्षण हैं।१५०। (ध. १/१,१,१३६/गा. २०६/३८९); (गो. जी./मू./५१५/९११), (पं. सं./सं./१/२७९), (दे. आयु/३)।

रा. वा./४/२२/१०/२३६/२९ दृढमित्रता सानुक्रोशत्व-सत्यवाद दानशीला-त्मीयकार्यसंपादनपटुविज्ञानयोग - सर्वधर्मसमदर्शनादि तेजोलेश्या लक्षणम्। =दृढता, मित्रता, दयालुता, सत्यवादिता, दानशीलत्व, स्वकार्य-पटुता, सर्वधर्म समदर्शित्व आदि तेजोलेश्याके लक्षण हैं।

५. पद्मलेश्या

पं. सं./प्रा./१/१५१ चाई भद्दो चोक्खो उज्जुयकम्मो य खमइ बहुयं पि। साहुगुणपूयणिरओ लक्खणमेयं तु पउमस्स।१५१। =जो त्यागी हो, भद्र हो, चोखा (सच्चा) हो, उत्तम काम करने वाला हो, बहुत भी अप-राध या हानि होनेपर क्षमा कर दे, साधुजनोंके गुणोंके पूजनमें निरत हो, ये सब पद्मलेश्याके लक्षण हैं।१५१। (ध. १/१,१,१३६/२०६/३९०), (गो.जी./मू./५१६/९१२), (पं. सं./सं./१/१५१)।

रा. वा./४/२२/१०/२३६/३१ सत्यवाक्यक्षमोपेत-पण्डित-सात्त्विकदान-विशारद-चतुरर्जुगुरुदेवतापूजाकरणनिरतत्वादि पद्मलेश्यालक्षणम्। =सत्यवाक्, क्षमा, सात्त्विकदान, पाण्डित्य, गुरु-देवता पूजनमें रुचि आदि पद्मलेश्याके लक्षण हैं।

६. शुक्ललेश्या

पं. सं./प्रा./१/१५२ ण कुणेइ पक्खवायं ण वि य णिदाणं समो य सव्वेसु। णत्थि य राओ दोसो णेहो वि हु सुक्कलेसस्स।१५२। =जो पक्षपात न करता हो, और न निदान करता हो, सबमें समान व्यवहार करता हो, जिसे परमें राग-द्वेष वा स्नेह न हो, ये सब शुक्ललेश्याके लक्षण हैं।१५२। (ध. १/१,१,१३६/२०८/३९०), (गो. जी./मू./५१७/९१२), (पं. सं./सं./१/२८१)।

रा. वा./४/२२/१०/२३६/३३ वैररागमोहविरह-रिपुदोषाग्रहणनिदानवर्जन-सार्व-सावद्यकार्यारम्भौदासीन्य-श्रेयोमार्गानुष्ठानादि शुक्ललेश्यालक्ष-णम्। =निर्वैर, वीतरागता, शत्रुके भी दोषोंपर दृष्टि न देना, निन्दा न करना, पाप कार्योंसे उदासीनता, श्रेयोमार्ग रुचि आदि शुक्ल लेश्याके लक्षण हैं।

५. अलेश्याका लक्षण

पं. सं./प्रा./१/१५३ किण्हाइलेसरहिया संसारविणिग्गया अणंतसुहा। सिद्धिपुरीसंपत्ता अलेसिया ते मुणेयव्वा।१५३। =जो कृष्णादि छहों लेश्यासे रहित हैं, पंच परिवर्तन रूप संसारसे विनिर्गत हैं, अनन्त सुखी हैं, और आत्मोपलब्धि रूप सिद्धिपुरीको सम्प्राप्त हैं, ऐसे अयोगिकेवली और सिद्ध जीवोंको अलेश्य जानना चाहिए।१५३। (ध. १/१,१,१३६/२०९/३९०), (गो. जी./मू./५५६), (पं. सं./सं./१/२८३)।

६. लेश्याके लक्षण सम्बन्धी शंका

१. 'लिम्पतीति लेश्या' लक्षण सम्बन्धी

ध. १/१,१,४/१४९/६ न भूमिलेपिकयातिव्याप्तिदोषः कर्मभिरात्मान-मित्यध्याहारापेक्षित्वात्। अथवात्मप्रवृत्तिसंश्लेषणकरी लेश्या। नातिप्रसङ्गदोषः प्रवृत्तिशब्दस्य कर्मपर्यायत्वात्। =प्रश्न—(लिम्पन करती है वह लेश्या है इस लक्षणसे भूमिलेपिका आदिमें

चला जाता है।) उत्तर—इस प्रकार लक्षण करनेपर भी भूमि लेपिका आदिमें अतिव्याप्त दोष नहीं होता, क्योंकि इस लक्षणमें 'कर्मोंसे आत्माको इस अध्याहारकी अपेक्षा है' इसका तात्पर्य है जो कर्मोंसे आत्माको लिप्त करती है वह लेश्या है अथवा जो प्रवृत्ति कर्मका सम्बन्ध करनेवाली है उसको लेश्या कहते हे ऐसा लक्षण करनेपर अतिव्याप्त दोष भी नहीं आता क्योंकि यहाँ प्रवृत्ति शब्द कर्मका पर्यायवाची ग्रहण किया है।

ध. १/१,१,१३६/३८६/१० कषायानुरञ्जितैव योगप्रवृत्तिर्लेश्येति नात्र परिगृह्यते सयोगकेवलिनोऽलेश्यत्वापत्ते अस्तु चेन्न, 'शुक्ललेश्य. सयोगकेवली' इति वचनव्याघातात्। =कषायसे अनुरञ्जितयोग प्रवृत्तिको लेश्या कहते है, 'यह अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए', क्योंकि इस अर्थके ग्रहण करनेपर सयोगिकेवलीको लेश्या रहितपनेकी आपत्ति होती है। प्रश्न—ऐसा ही मान लें तो। उत्तर—नही, क्योंकि केवलीको शुक्ल लेश्या होती है' इस वचनका व्याघात होता है।

२. 'कर्म बन्ध सश्लेषकारी'के अर्थमें

ध. ७/२,१,६१/१०४/४ जदि बंधकारणाण लेस्सत्त उच्चदि तो पमादस्स वि लेस्सत्त किण्ण इच्छिज्जदि। ण, तस्स कसाएसु अतब्भावादो। असजमस्स किण्ण इच्छिज्जदि। ण, तस्स वि लेस्सायम्मे अतब्भावादो। मिच्छत्तस्स किण्ण इच्छिज्जदि। होदु तस्स लेस्सावत्तएसो, विरोहाभावादो। किंतु कसायाण चेव एत्थ पहाणत्तं हिंसादिलेस्सायम्मकरणादो, सेसेसु तदभावादो। =प्रश्न—बन्धके कारणोंको ही लेश्याभाव कहा जाता है तो प्रमादको भी लेश्याभाव क्यो न मान लिया जाये। उत्तर—नहीं, क्योंकि प्रमादका तो कषायोमे ही अन्तर्भाव हो जाता है। (और भी दे० कषाय/३/४)। प्रश्न—असयमको भी लेश्या क्यों नहीं मानते? उत्तर—नहीं, क्योंकि असंयमका भी तो लेश्या कर्ममे अन्तर्भाव हो जाता है। प्रश्न—मिथ्यात्वको लेश्या भाव क्यो नहीं मानते। उत्तर—मिथ्यात्वको लेश्याभाव कह सकते हे, क्योंकि उसमें कोई विरोध नही आता। किन्तु यहाँ कषायोका ही प्राधान्य है, क्योंकि कषाय ही लेश्या कर्मके कारण हे और अन्य बन्ध कारणोमें उसका अभाव है।

७. लेश्याके दोनों लक्षणोंका समन्वय

ध. १/१,१,१३६/३८८/१ ससारवृद्धिहेतुर्लेश्येति प्रतिज्ञायमाने लिम्पतीति लेश्येत्यनेन विरोधश्चेन्न, लेपाविनाभावित्वेन, तद्वृद्धेरपि तद्व्यपदेशाविरोधात्। =प्रश्न—ससारकी वृद्धिका हेतु लेश्या है ऐसी प्रतिज्ञा करनेपर 'जो लिप्त करती है उसे लेश्या कहते हैं', इस वचनके साथ विरोध आता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि, कर्म लेपकी अविनाभावी होने रूपसे ससारकी वृद्धिको भी लेश्या ऐसी संज्ञा देनेसे कोई विरोध नहीं आता है। अत उन दोनोसे पृथग्भूत लेश्या है यह बात निश्चित हो जाती है।

२. कषायानुरंजित योग प्रवृत्ति सम्बन्धी

१. तरतमताकी अपेक्षा लेश्याओंमें छह विभाग

ध. १/१,१,१३६/३८८/३ षड्विध' कषायोदय'। तद्यथा, तीव्रतम' तीव्रतर तीव्र मन्द मन्दतर मन्दतमम् इति। एतेभ्य' षड्भ्य. कषायोदयेभ्य परिपाट्या षड् लेश्या भवन्ति। =कषायका उदय छह प्रकारका होता है। वह इस प्रकार है, तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर और मन्दतम। इन छह प्रकारके कषायके उदयसे उत्पन्न हुई परिपाटी क्रमसे लेश्या भी छह हो जाती है।—(और भी दे० आयु/३/१६)।

२. लेश्या नाम कषायका है, योगका है वा दोनोंका :

ध. १/१,१,१३६/३८६/११ लेश्या नाम योग' कषायस्ताबुभौ वा। किंचातो नाद्यौ विकल्पौ योगकषायमार्गणयोरेव तस्या अन्तर्भावात्। न तृतीयविकल्पस्तस्यापि तथाविधत्वात्।...कर्मलेपैककार्यकर्तृत्वेनैकत्वमापन्नयोर्योगकषाययोर्लेश्यात्वाभ्युपगमात्। नैकत्वात्तयोरन्तर्भवति द्वयात्मकैकस्य जात्यन्तरमापन्नस्य केवलेनैकेन सहैकत्वसमानत्वयोर्विरोधात्।

ध १/१.१.४/१४९/८ ततो न केवल कषायो लेश्या, नापि योग', अपि तु कषायानुविद्धा योगप्रवृत्तिर्लेश्येति सिद्धम्। ततो न वीतरागाणा योगो लेश्येति न प्रत्यवस्थेयं तन्त्रत्वाद्योगस्य, न कषायस्तन्त्र विशेषणत्वात्तस्य प्राधान्याभावात्। =प्रश्न—लेश्या योगको कहते है, अथवा, कषायको कहते है, या योग और कषाय दोनोंको कहते हे। इनमेसे आदिके दो विकल्प (योग और कषाय) तो मान नहीं सकते, क्योकि वैसा माननेपर योग और कषाय मार्गणामें ही उसका अन्तर्भाव हो जायेगा। तीसरा विकल्प भी नहीं मान सकते हैं क्योंकि वह भी आदिके दो विकल्पोंके समान है। उत्तर—१ कर्म लेप रूप एक कार्यको करनेवाले होनेकी अपेक्षा एकपनेको प्राप्त हुए योग और कषायको लेश्या माना है। यदि कहा जाये कि एकताका प्राप्त हुए योग और कषायरूप लेश्या होनेसे उन दोनोंमें लेश्याका अन्तर्भाव हो जायेगा, सो भी ठीक नहीं है क्योंकि दो धर्मोंके संयोगसे उत्पन्न हुए द्वयात्मक अतएव किसी एक तीसरी अवस्थाको प्राप्त हुए किसी एक धर्मका केवल एकके साथ एकत्व अथवा समानता माननेमें विरोध आता है। २. केवल कषाय और केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते है किन्तु कषायानुविद्ध योगप्रवृत्तिको ही लेश्या कहते हे, यह बात सिद्ध हो जाती है। इससे बारहवे आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियोके केवल योगको लेश्या नहीं कह सकते ऐसा निश्चय नहीं कर लेना चाहिए, क्योंकि लेश्यामें योगकी प्रधानता है, कषाय प्रधान नही है, क्योंकि, वह योग प्रवृत्तिका विशेषण हे, अतएव उसकी प्रधानता नहीं हो सकती है।

ध ७/२,१,६३/१०४/१२ जदि कसाओदए लेस्साओ उच्चति तो खीणकसायाण लेस्साभावो पसज्जदे। सच्चमेदं जदि कसाओदयादो चेव लेस्सुप्पत्ती इच्छिज्जदि। किंतु सरीरणामकम्मोदयजणिदजोगो वि लेस्सा त्ति इच्छिज्जदि, कम्मबधणिमित्तत्तादो। =३. क्षीणकषाय जीवोमें लेश्याके अभावका प्रसग आता यदि केवल कषायोदयसे ही लेश्याकी उत्पत्ति मानी जाती। किन्तु शरीर नामकर्मके उदयसे उत्पन्न योग भी तो लेश्या माना गया है, क्योंकि वह भी कर्मके बन्धमें निमित्त होता है।

३. योग व कषायसे पृथक् लेश्या माननेकी क्या आवश्यकता

ध १/१,१,१३६/३८७/५ योगकषायकार्याद्व्यतिरिक्तलेश्याकार्यानुपलम्भान्न ताभ्या पृथग्लेश्यास्तीति चेन्न, योगकषायाभ्यां प्रत्यनीकत्वाद्यालम्बनाचार्यादिबाह्यार्थसंनिधानेनापन्नलेश्याभावाभ्या ससारवृद्धिकार्यस्य तत्केवलकार्याद्व्यतिरिक्तस्योपलम्भात्। =प्रश्न—योग और कषायोंसे भिन्न लेश्याका कार्य नही पाया जाता है, इसलिए उन दोनोसे भिन्न लेश्या नहीं मानी जा सकती। उत्तर- नही, क्योंकि, विपरीतताको प्राप्त हुए मिथ्यात्व, अविरति आदिके आलम्बन रूप आचार्यादि बाह्य पदार्थोके सम्पर्कसे लेश्या भावको प्राप्त हुए याग और कषायोंसे केवल योग और केवल कषायके कार्यसे भिन्न ससारकी वृद्धि रूप कार्यकी उपलब्धि है जो केवल योग और केवल कषायका कार्य नहीं कहा जा सकता है, इसलिए लेश्या उन दोनोसे भिन्न है, यह बात सिद्ध हो जाती हे।

४. लेश्याका कषायोंमें अन्तर्भाव क्यों नहीं कर देते

रा वा./२/६/८/१०६/२५ कषायश्चौदयिको व्याख्यातः, ततो लेश्यानर्थान्तरभूतेति, नैष दोष', कषायोदयतीव्रमन्दावस्थापेक्षा भेदादर्थान्तरत्वम् । =प्रश्न—कषाय औदयिक होती हैं, इसलिए लेश्याका कषायोंमें अन्तर्भाव हो जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है। क्योंकि, कषायोदयके तीव्र-मन्द आदि तारतम्यसे अनुरंजित लेश्या पृथक् ही है।

दे० लेश्या/२/२ (केवल कषायको लेश्या नहीं कहते अपितु कषायानुविद्ध योग प्रवृत्तिकी लेश्या कहते हैं)।

३. द्रव्य लेश्या निर्देश

१. अपर्याप्त कालमें शुक्ल व कापोत लेश्या ही होती है

ध २/१,१/४२२/६ जम्हा सव्व-कम्मस्स विस्सोवचओ सुक्किलो भवदि तम्हा विग्गहगदीए वट्टमाण-सव्वजीवाणं सरीरस्स सुक्कलेस्सा भवदि। पुणो सरीरं घेत्तूण जाव पज्जत्तीओ समाणेदि ताव छव्वण्ण-परमाणु पुंज-णिप्पज्जमाण-सरीरत्तादो तस्स सरीरस्स लेस्सा काउलेस्सेत्ति भण्णदे, एवं दो सरीरलेस्साओ भवंति। =जिस कारणसे सम्पूर्ण कर्मोका विस्रसोपचय शुक्ल ही होता है, इसलिए विग्रहगतिमें विद्यमान सम्पूर्ण जीवोंके शरीरकी शुक्ललेश्या होती है। तदनन्तर शरीरको ग्रहण करके जब तक पर्याप्तियोंको पूर्ण करता है तब तक छह वर्णवाले परमाणुओंके पुंजसे शरीरकी उत्पत्ति होती है, इसलिए उस शरीरको कापोत लेश्या कही जाती है। इस प्रकार अपर्याप्त अवस्थामें शरीर सम्बन्धी दो ही लेश्याएँ होती हैं। (ध. २/१,१/६५४/१, ६०६/६।

२. नरक गतिमें द्रव्यसे कृष्ण लेश्या ही होती है

गो. जी /मू. व. जी. प्र /४९६/८८८ णिरया किण्हा।४९६। नारका सर्वे कृष्णा एव। =नारकी सर्व कृष्ण वर्णवाले ही हैं।

३. जलकी द्रव्यलेश्या शुक्ल ही है

ध २/१,१/६०६/६ सुहुम आऊणं काउलेस्सा वा बादरआऊण फलिहवण्णलेस्सा। कुदो। घणोदधि-घणवलयागासपदिद-पाणीयाण धवलवण्ण दंसणादो। धवल-किसण-णील-पीयल-रत्ताअब्भ-पाणीय दंसणादो ण धवलवण्णमेव पाणीयमिदि वि पि भणंति, तण्ण घडदे। कुदो। आयारभावे मट्टियाए सजोगेण जलस्स बहुवण्ण-ववहारदंसणादो। आऊणं सहावण्णो पुण धवलो चेव। =सूक्ष्म अपकायिक जीवोंके अपर्याप्त कालमें द्रव्यसे कापोतलेश्या और बादरकायिक जीवोंके स्फटिकवर्णवाली शुक्ल कहना चाहिए, क्योंकि, घनोदधिवात और घनवलयवात द्वारा आकाशसे गिरे हुए पानीका धवल वर्ण देखा जाता है। प्रश्न—कितने ही आचार्य ऐसा कहते हैं कि धवल, कृष्ण, नील पीत, रक्त और आताम्र वर्णका पानी देखा जानेसे धवल वर्ण ही होता है। ऐसा कहना नहीं बनता। उत्तर—उनका कहना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि, आधारके होनेपर मिट्टीके संयोगसे जल अनेक वर्णवाला हो जाता है ऐसा व्यवहार देखा जाता है। किन्तु जलका स्वाभाविक वर्ण धवल ही होता है।

४. भवन त्रिकमें छहों द्रव्यलेश्या सम्भव है

ध. २/१,१/५३२-५३४/६ देवाण पज्जत्तकाले दव्वदो छ लेस्साओ हवंति त्ति एदं ण घडदे, तेसिं पज्जत्तकाले भावदो छ-लेस्साभावादो।.. जा भावलेस्सा तल्लेस्सा चेव णोकम्मपरमाणवो आगच्छंति।५३२। ण ताव अपज्जत्तकालभावलेस्सा · पज्जत्तकाले भावलेस्सं पि णियमेण अणुहरह पज्जत्त-दव्वलेस्सा· । धवलवण्णबलायाए भावदो सुक्कलेस्सप्पसंगादो।.. दव्वलेस्सा णाम वण्णणामकम्मोदयादो भवदि, ण भावलेस्सादो। ' वण्णणामकम्मोदयादो भवणवासिय-वाणवेंतर-जोइसियाणं दव्वदो छ लेस्साओ भवंति, उवरिमदेवाणं तेउ-पम्म-सुक्क लेस्साओ भवंति। =प्रश्न—देवोंके पर्याप्तकालमें द्रव्यसे छहों लेश्याएँ होती हैं यह वचन घटित नहीं होता है, क्योंकि उनके पर्याप्त कालमें भावसे छहों लेश्याओंका अभाव है।· क्योंकि जो भावलेश्या होती है उसी लेश्यावाले ही · नोकर्म परमाणु आते हैं। उत्तर—द्रव्यलेश्या अपर्याप्तकालमें इसी प्रकार पर्याप्त कालमें भी पर्याप्त जीव सम्बन्धी द्रव्यलेश्या भावलेश्याका नियमसे अनुकरण नहीं करती है क्योंकि वैसा माननेपर तो धवल वर्णवाले बगुलेके भी भावसे शुक्ललेश्याका प्रसंग प्राप्त होगा।. दूसरी बात यह भी है कि द्रव्यलेश्या वर्ण नामा नामकर्मके उदयसे होती है भावलेश्यासे नहीं।· वर्ण नामा नामकर्मके उदयसे भवनवासी, वानव्यन्तर और ज्योतिषी देवोंके द्रव्यकी अपेक्षा छहों लेश्याएँ होती हैं तथा भवनत्रिकसे ऊपर देवोंके तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ होती हैं। (गो. जी./मू /४९६/८९८)।

५. आहारक शरीरकी शुक्ललेश्या होती है

ध. १४/५,४,२३६/३२७/६ पचवण्णाणमाहारसरीरपरमाणूणं कथं सुक्किलत्त जुज्जदे। ण, विस्सासुवचयवण्ण पडुच्च धवलत्तुवलभादो। =प्रश्न—आहारक शरीरके परमाणु पाँच वर्णवाले हैं। उनमें केवल शुक्लपना कैसे बन सकता है। उत्तर—नहीं, क्योंकि विस्रसोपचयके वर्णकी अपेक्षा धवलपना उपलब्ध होता है।

६. कपाट समुद्‌घातमें कापोतलेश्या होती है

ध. २/१,१/६५४/३ कवाडगद-सजोगिकेवलिस्स वि सरीरस्स काउलेस्सा। चेव हवदि। एत्थ वि कारणं पुव्वं व वत्तव्व। सजोगिकेवलिस्स पुव्विल्ल-सरीरं छव्वण्णं जदि वि हवदि तो वि तण्ण घेप्पदि; कवाडगद-केवलिस्स अपज्जत्तजोगे वट्टमाणस्स पुव्विल्लसरीरेण सह संबंधाभावादो। अहवा पुव्विल्लछव्वण्ण-सरीरमस्सिऊण उवयारेण दव्वदो सजोगिकेवलिस्स छ लेस्साओ हवंति। =कपाट समुद्घातगत सयोगिकेवलीके शरीरकी भी कापोतलेश्या ही होती है। यहाँपर भी पूर्व (अपर्याप्तवत् दे० लेश्या/३/१) के समान ही कारण कहना चाहिए। यद्यपि सयोगिकेवलीके पहलेका शरीर छहों वर्ण वाला होता है; क्योंकि अपर्याप्त योगमें वर्तमान कपाट-समुद्घातगतसयोगिकेवलीका पहलेके शरीरके साथ सम्बन्ध नहीं रहता है। अथवा पहलेके षड्वर्णवाले शरीरका आश्रय लेकर उपचार द्रव्यकी अपेक्षा सयोगिकेवलीके छहों लेश्याएँ होती हैं। (ध. २/१,१/६६०/२)।

४ भाव लेश्या निर्देश

१. लेश्यामार्गणामें भाव लेश्या अभिप्रेत है

स सि./२/६/१५९/१० जीवभावाधिकाराद् द्रव्यलेश्यानाधिकृता। =यहाँ जीवके भावोंका अधिकार होनेसे द्रव्यलेश्या नहीं ली गयी है। (रा. वा /२/६/८/१०९/२३)।

ध २/१,१/४३१/६ केई सरीर-णिव्वत्तणट्ठमागद-परमाणुवण्णं घेत्तूण सजदासंजदादीण भावलेस्स परूवयंति। तण्ण घडदे, वयणव्वाघातात्त्च। कम्म-लेवहेदूदो जोग-कसाया चेव भाव-लेस्सा त्ति गेण्हिदव्व। =कितने ही आचार्य, शरीर-रचनाके लिए आये हुए परमाणुओंके वर्णको लेकर संयतासंयतादि गुणस्थानवर्ती जीवोंके भावलेश्याका वर्णन करते हैं किन्तु उनका यह कथन घटित नहीं होता है।· आगमका वचन भी व्याघात होता है। इसलिए कर्म लेपका कारण होनेसे कषायसे अनुरंजित (जीव) प्रकृति ही भावलेश्या है। ऐसा अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

२. छहों भाव लेश्याओंके दृष्टान्त हैं

पं. स./प्रा./१/१९२ णिम्मूल खंध साहा गुंछा चुणिऊण कोइ पडिदाइं । जह एदेसिं भावा तह विय लेसा मुणेयव्वा । =कोई पुरुष वृक्षके फलोंको जड-मूलमे उखाडकर, कोई स्कन्धसे काटकर, कोई गुच्छोंको तोडकर, कोई शाखाको काटकर, कोई फलोंको चुनकर, कोई गिरे हुए फलोंको बीनकर खाना चाहें तो उनके भाव उत्तरोत्तर विशुद्ध हैं, उसी प्रकार कृष्णादि लेश्याओंके भाव भी परस्पर विशुद्ध हैं ।१९२।

ध. २/१,१/गा. २२५/५३३ णिम्मूलखधसाहुवसाहं चुच्चितु वाउपडिदाइ । अब्भतरलेस्साणंभिंदइ एदाइ वयणाहं ।२२५।

गो. जी./मू./५०६ पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारण्णमज्झदेसम्हि । फलभरियरुक्खमेग पेक्खित्ता ते विचिंतंति ।५०६। =१. छह लेश्यावाले छह पथिक वनमें मार्गसे भ्रष्ट होकर फलोंसे पूर्ण किसी वृक्षको देखकर अपने मनमें विचार करते है, और उसके अनुसार वचन कहते है–(गो सा.) २ जड-मूलसे वृक्षको काटो, स्कन्धको काटो, शाखाओसे काटो, उपशाखाओसे काटो, फलोको तोडकर खाओ और वायुसे पतित फलोंको खाओ, इस प्रकार ये अभ्यन्तर अर्थात् भावलेश्याओके भेदको प्रकट करते है ।२२५। (ध. गो. सा/मू/५०७) ।

३. लेश्या अधिकारमें १६ प्ररूपणाएँ

गो जी /मू /४९१-४९२/८९६ णिद्देसवण्णपरिणामसकमो कम्मलक्खणगदी य । सामी साहणसखा खेत्तं फास तदो कालो।४९१। अतरभावप्पबहु अहियारा सोलसा हवंति त्ति । लेस्साण साहणट्ठं जहाकमं तेहिं वोच्छामि ।४९२। =निर्देश, वर्ण, परिणाम, सक्रम, कर्म, लक्षण, गति, स्वामी, साधन, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्प-बहुत्व ये लेश्याओकी सिद्धिके लिए सोलह अधिकार परमागममें कहे है ।४९१-४९२।

४. वैमानिक देवोंमें द्रव्य व भावलेश्या समान होती है परन्तु अन्य जीवोंमें नियम नहीं

ति. प /८/६७२ सोहम्मप्पहुदीणं एदाओ दव्वभावलेस्साओ ।=सौधर्मादिक देवोंके ये द्रव्य व भाव लेश्याएँ समान होती हैं । (गो. जी./मू./४९६) ।

ध. २/१,१/५३४/६ ण ताव अपज्जत्तकाल भावलेस्समणुहरइ दव्वलेस्सा, उत्तम-भोगभूमि-मणुस्साणमपज्जत्तकाले असुह-त्ति-लेस्साणं गउरवण्णा भावापत्तीदो । ण पज्जत्तकाले भावलेस्सं पि णियमेण अणुहरइ पज्जत्तदव्वलेस्सा, छव्विह-भाव-लेस्सासु परियट्टंत-तिरिक्खमणुसपज्जत्ताणं दव्वलेस्साए अणियमप्पसगादो । धवलवण्णबलायाए-भावदो सुक्कलेस्सप्पसगादो । आहारसरीराण धवलवण्णाण विग्गहगदि-ट्ठिय-सव्व जीवाणं धवलवण्णाण भावदो सुक्कलेस्सावत्तीदो चेव । किं च, दव्वलेस्सा णाम वण्णणामकम्मोदयादो भवदि ण भावलेस्सादो ।=द्रव्यलेश्या अपर्याप्त कालमें होनेवाली भावलेश्याका तो अनुकरण करती नहीं है, अन्यथा अपर्याप्त कालमें अशुभ तीनों लेश्यावाले उत्तम भोगभूमियाँ मनुष्योके गौर वर्णका अभाव प्राप्त हो जायेगा । इसी प्रकार पर्याप्तकालमें भी पर्याप्त जीवसम्बन्धी द्रव्यलेश्या भावलेश्याका नियमसे अनुकरण नहीं करती है क्योंकि वैसा माननेपर छह प्रकारकी भाव लेश्याओंमें निरन्तर परिवर्तन करनेवाले पर्याप्त तिर्यंच और मनुष्योंके द्रव्य लेश्याके अनियमपनेका प्रसग प्राप्त हो जायेगा । और यदि द्रव्यलेश्याके अनुरूप ही भावलेश्या मानी जाये, तो धवल वर्णवाले बगुलेके भी भावसे शुक्ललेश्याका प्रसग प्राप्त होगा । तथा धवल वर्णवाले आहारक शरीरोंके और धवल वर्णवाले विग्रहगतिमें विद्यमान सभी जीवोके भावकी अपेक्षासे शुक्ललेश्याकी आपत्ति प्राप्त होगी । दूसरी बात यह भी है कि द्रव्य लेश्या वर्णनामा नाम कर्मके उदयसे होती है, भाव लेश्यासे नहीं ।

५. शुभ लेश्याके अभावमें भी नारकियोंके सम्यक्त्वादि कैसे

रा. वा./३/३/४/१६३/३० नित्यग्रहणाल्लेश्याद्यनिवृत्तिप्रसङ्ग इति चेत्; न; आभीक्ष्ण्यवचनत्वात् नित्यप्रहसितवत् ।४। ...लेश्यादीनामपि व्ययोदयाभावान्नित्यत्वे सति नरकादप्रच्यवः स्यादिति । तन्न, किं कारणम् । आभीक्ष्ण्यवचनान्नित्यप्रहसितवत् । ...अशुभकर्मोदयनिमित्तवशात् लेश्यादयोऽनारतं प्रादुर्भवन्तीति आभीक्ष्ण्यवचनो नित्यशब्दः प्रयुक्तः । ...एतेषां नारकाणां स्वायुःप्रमाणावधृता द्रव्यलेश्या उक्ता., भावलेश्यास्तु षडपि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तपरिवर्तिन्य । =प्रश्न—लेश्या आदिको उदयका अभाव न होनेसे, अर्थात् नित्य होनेसे नरकसे अच्युतिका तथा लेश्याकी अनिवृत्तिका प्रसग आ जावेगा । उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि यहाँ नित्य शब्द बहुधाके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है । जैसे—देवदत्त नित्य हँसता है, अर्थात् निमित्त मिलने पर देवदत्त जरूर हँसता है, उसी तरह नारकी भी कर्मोदयसे निमित्त मिलने पर अवश्य ही अशुभतर लेश्या वाले होते है, यहाँ नित्य शब्दका अर्थ शाश्वत व कूटस्थ नहीं है । ...नारकियोंमें अपनी आयुके प्रमाण काल पर्यन्त (कृष्णादि तीन) द्रव्यलेश्या कही गयी है । भाव लेश्या तो छहों होती हैं और वे अन्तर्मुहूर्तमें बदलती रहती हैं ।

ल. सा./जी. प्र./१०१/१३८/८ नरकगतौ नियताशुभलेश्यात्वेऽपि कषायाणां मन्दानुभागोदयवशेन तत्त्वार्थश्रद्धानानुगुणकारणपरिणामरूपविशुद्धिविशेषसभवस्याविरोधात् । =यद्यपि नारकियोंमें नियमसे अशुभलेश्या है तथापि वहाँ जो लेश्या पायी जाती है उस लेश्यामें कषायोंके मन्द अनुभाग उदयके वशसे तत्त्वार्थ श्रद्धानुरूप गुणके कारण परिणाम रूप विशुद्धि विशेषकी असम्भावना नहीं है ।

६. भाव लेश्याके कालसे गुणस्थानका काल अधिक है

ध ४/१,५.३०८/१४९/१ लेस्साद्धादो गुणद्धाए बहुत्तुवदेसा । =लेश्याके कालसे गुणस्थानका काल बहुत होता है, ऐसा उपदेश पाया जाता है ।

७. लेश्या परिवर्तन क्रम सम्बन्धी नियम

गो. क./मू /४९९-५०३ लोगाणमसखेज्जा उदयट्ठाणा कसायग्ग होंति । तत्थ किलिट्ठा असुहा सुहाविसुद्धा तदालावा ।४९९। तिव्वतमा तिव्वतरा तिव्वसुहा सुहा तहा मदा । मदतरा मदतमा छट्ठाणगया हु पत्तेयं ।५००। असुहाण वरमज्झिम अवरसे किण्हणीलकाउतिए । परिणमदि कमेणप्पा परिहाणीदो किलेसस्स ।५०१। काऊ णीलं किण्हं परिणमदि किलेसवड्ढिदो अप्पा । एव किलेसहाणीवड्ढीदो होदि असुहतिय ।५०२। तेऊ पउमे सुक्के सुहाणमवरादि असंगे अप्पा । सुद्धिस्स य वड्ढीदो हाणीदो अण्णदा होदि ।५०३। सकमण सट्ठाणपरट्ठाण होदि किण्हसुकाण । वड्ढीसु हि सट्ठाण उभय हाणिम्मि सेस,उभये वि ।५०४। लेस्साणुक्कस्सादो वरहाणी अवरगादवरवड्ढी । सट्ठाणे अवरादो हाणी णियमापरट्ठाणे ।५०५। =कषायोके उदयस्थान असंख्यात लोकप्रमाण है । इसमेंसे अशुभ लेश्याओके सक्लेश रूप स्थान यद्यपि सामान्यसे असंख्यात लोकप्रमाण है तथापि विशेषताकी अपेक्षा असख्यात लोक प्रमाणमें असख्यात लोक प्रमाण राशिका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसके बहु भाग संक्लेश रूप स्थान है और एक भाग प्रमाण शुभ लेश्याओके स्थान है ।४९९। अशुभ लेश्या सम्बन्धी तीव्रतम, तीव्रतर और तीव्र ये तीन स्थान, और शुभ लेश्या सम्बन्धी मन्द

मन्दतर मन्दतम ये तीन स्थान होते है।५००। कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य अश रूपमें यह आत्मक्रमसे सक्लेशकी हानि होनेसे परिणमन करता है।५०१। उत्तरोत्तर संक्लेश परिणामोंकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा कापोतसे नील और नीलसे कृष्ण लेश्यारूप परिणमन करता है। इस तरह यह जीव संक्लेशकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षासे तीन अशुभ लेश्या रूप परिणमन करता है।५०२। उत्तरोत्तर विशुद्धि होनेसे यह आत्मा पीत, पद्म, शुक्ल इन शुभ लेश्याओंके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अंश रूप परिणमन करता है। विशुद्धिकी हानि होनेसे उत्कृष्टसे जघन्य पर्यन्त शुक्ल पद्म पीत लेश्या रूप परिणमन करता है।५०३। परिणामोंकी पलटनको संक्रमण कहते है उसके दो भेद है—स्वस्थान, परस्थान संक्रमण। कृष्ण और शुक्लमें वृद्धिकी अपेक्षा स्वस्थान संक्रमण ही होता है। और हानिकी अपेक्षा दोनों संक्रमण होते है। तथा शेष चार लेश्याओमें स्वस्थान परस्थान दोनो संक्रमण सम्भव है।५०४। स्वस्थानकी अपेक्षा लेश्याओके उत्कृष्ट स्थानके समीपवर्ती परिणाम उत्कृष्ट स्थानके परिणामसे अनन्त भाग हानिरूप है। तथा स्वस्थानकी अपेक्षासे ही जघन्य स्थानके समीपवर्ती स्थानका परिणाम जघन्य स्थानसे अनन्त भाग वृद्धिरूप है। सम्पूर्ण लेश्याओंके जघन्य स्थानसे यदि हानि हो तो नियमसे अनन्त गुण हानिरूप परस्थान सक्रमण होता है।५०५। (गो. क./जी. प्र./५४१/७२६/१६)।

दे. काल/५/१८ (शुक्ल लेश्यासे क्रमश कापोत नील लेश्याओंमें परिणमन करके पीछे कृष्ण लेश्या रूप परिणमन स्वीकार किया गया है (पद्म, पीतमें आनेका नियम नहीं) कृष्ण लेश्यासे परिणतिके अनन्तर ही कापोत रूप परिणमन शक्ति का अभाव है)।

दे. काल/५/१६-१७ (विवक्षित लेश्याको प्राप्त करके अन्तर्मुहूर्तसे पहले गुणस्थान या लेश्या परिवर्तन नही होता)।

५. भाव लेश्याओंका स्वामित्व व शंका समाधान

१. सम्यक्त्व व गुणस्थानोंमें लेश्या

पं. सं. १/,१/सू. १३७-१४० किण्हलेस्सिया पीतलेस्सिया काउलेस्सिया एइंदियप्पहुडि जाव असंजद-सम्माइट्ठि त्ति।१३७। तेउलेस्सिया पम्मलेस्सिया सण्णि-मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति।१३८। सुक्कलेस्सिया सण्णि मिच्छाइट्ठि-प्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति।१३९। तेण परमलेस्सिया।१४०। =कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्यावाले जीव एकेन्द्रियसे लेकर असयत सम्यग्दष्टि गुणस्थान तक होते है।१३७। पीत लेश्या और पद्म लेश्यावाले जीव सज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्त सयत गुणस्थान तक होते है।१३८। शुक्ल लेश्यावाले जीव सज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगि केवली गुणस्थान तक होते है।१३९। तेरहवें गुणस्थानके आगेके सभी जीव लेश्या रहित हैं।१४०।

ध. ६/१,६-८,१२/२६३/१ कदकरणिज्जकालब्भतरे तस्स मरणं पि होज्ज, काउ-तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साणमण्णदराए लेस्सा वि परिणाममेज्ज ..। =कृतकृत्य वेदक कालके भीतर उसका मरण भी हो, कापोत, तेज पद्म और शुक्ल, इन लेश्याओंमेंसे किसी एक लेश्याके द्वारा परिणमित भी हो।

गो. क./जी. प्र./३५४/५०६/१५ शुभलेश्यात्रये तद्विराधनासंभवात्। =तीनो शुभ लेश्याओंमें सम्यक्त्वकी विराधना नही होती।

२. ऊपरके गुणस्थानोंमें लेश्या कैसे सम्भव है

स. सि./२/६/१६०/१ ननु च उपशान्तकषाये सयोगकेवलिनि च शुक्ललेश्यास्तीत्यागमः। तत्र कषायानुरञ्जना भावादौदयिकत्वं नोपपद्यते। नैष दोष; पूर्वभावप्रज्ञापननयापेक्षया यासौ योगप्रवृत्तिः कषायानुरञ्जिता सैवेत्युपचारादौदयिकीत्युच्यते। तदभावादयोगकेवल्यलेश्य इति निश्चीयते। =प्रश्न—उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय और सयोगकेवली गुणस्थानमें शुक्ललेश्या है ऐसा आगम है, परन्तु वहाँपर कषायका उदय नहीं है इसलिए औदयिकपना नहीं बन सकता। उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि जो योगप्रवृत्ति कषायके उदयसे अनुरंजित है वही यह है इस प्रकार पूर्वभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षा उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानोंमें भी लेश्याको औदयिक कहा गया है। किन्तु अयोगकेवलीके योग प्रवृत्ति नहीं है इसलिए वे लेश्या रहित हैं, ऐसा निश्चय है। (रा. वा./२/६/८/१०६/२६); (गो. जी. मू./५३३/६२६)।

दे० लेश्या/२/२ (बारहवें गुणस्थानवर्ती वीतरागियोंके केवल योगको लेश्या नहीं कहते, ऐसा निश्चय नहीं करना चाहिए।)

ध १/१,१,१३६/३८१/८ कथं क्षीणोपशान्तकषायाणां शुक्ललेश्येति चेन्न, कर्मलेपनिमित्तयोगस्य तत्र सत्त्वापेक्षया तेषां शुक्ललेश्यास्तित्वाविरोधात्। =प्रश्न—जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गयी है उनके शुक्ललेश्याका होना कैसे सम्भव है? उत्तर—नहीं, क्योंकि जिन जीवोंकी कषाय क्षीण अथवा उपशान्त हो गयी है उनमें कर्मलेपका कारण योग पाया जाता है, इसलिए इस अपेक्षासे उनके शुक्ल लेश्याके सद्भाव माननेमें विरोध नहीं आता। (ध. २/१,१/४३६/५), (ध. ७/२,१,६१/१०५/१)।

३. नरकके एक ही पटलमें भिन्न-भिन्न लेश्याएँ कैसे सम्भव हैं

ध. ४/१,५,२६०/४६१/२ सव्वेसिं णेरइयाणं तत्थ (पंचम पुढवीए) तणाणं तीए (कीण्ह) चेव लेस्साए अभावा। एक्कम्हि पत्थडे भिण्णलेस्साणं कधं संभवो। विरोहाभावा। एसो अत्थो सव्वत्थ जाणिदव्वो। =पाँचवीं पृथ्वीके अधस्तन प्रस्तारके समस्त नारकियोंके उसी ही (कृष्ण) लेश्याका अभाव है। (इसी प्रकार अन्य पृथिवियोंमें भी)। प्रश्न—एक ही प्रस्तारमें दो भिन्न-भिन्न लेश्याओंका होना कैसे सम्भव है। उत्तर—एक ही प्रस्तारमें भिन्न-भिन्न जीवोंके भिन्न-भिन्न लेश्याके होनेमें कोई विरोध नहीं है। यही अर्थ सर्वत्र जानना चाहिए।

४. मरण समयमें सम्भव लेश्याएँ

ध. ८/३,२५८/३२३/१ सव्वे देवा मुदक्खणेण चेव अणियमेण असुहतिलेस्सासु णिवदंति त्ति गहिदे जुज्जदे।...मुददेवाणं सव्वेसिं पि काउ लेस्साए चेव परिणामब्भुवगमादो। =१. सब देव मरण क्षणमें ही नियम रहित अशुभ तीन लेश्याओंमें गिरते हैं। २. सब ही मृत देवोंका कापोत लेश्यामें ही परिणमन स्वीकार किया गया है।

ध. २/१,१/५११/३ णेरइया असंजदसम्माइट्ठिणो पढमपुढवि आदि जाव छट्ठी पुढविपज्जवसाणासु पुढवीसु ट्ठिदा कालं काऊण मणुस्सेसु चेव अप्पप्पणो पुढविपाओग्गलेस्साहि सह उप्पज्जति त्ति किण्ह-णील-काउलेस्सा लब्भंति। देवा वि असंजदसम्माइट्ठिणो कालं काऊण मणुस्सेसु उप्पज्जमाणा तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साहि सह मणुस्सेसु उववज्जंति।

ध २/१,१/६५६/१२ देव-मिच्छाइट्ठि-सासणसम्मादिट्ठिणो तेउ-पम्म-सुक्कलेस्सासु वट्टमाणा णट्ठलेस्सा होऊण तिरिक्खमणुस्सेसुप्पज्जमाणा उप्पण्ण-पढमसमए चेव किण्हणील-काउलेस्साहि सह परिणमति। =१, प्रथम पृथिवीसे लेकर छठी पृथिवी पर्यंत पृथिवियोंमें रहनेवाले असंयत सम्यग्दृष्टि नारकी मरण करके मनुष्योंमें अपनी-अपनी पृथिवीके योग्य लेश्याओंके साथ ही उत्पन्न होते है। इसलिए उनके कृष्ण, नील, कापोत लेश्याएँ पायी जाती है। २, उसी प्रकार असयत सम्यग्दृष्टि देव भी मरण करके मनुष्योंमें उत्पन्न होते हुए अपनी-अपनी पीत, पद्म और शुक्ल लेश्याओंके साथ ही मनुष्योमें उत्पन्न होते है। ३, तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याओंमें वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देव तिर्यंच और मनुष्योमें उत्पन्न होते समय नष्टलेश्या होकर अर्थात् अपनी-अपनी पूर्वकी लेश्याको छोडकर मनुष्यो और तिर्यंचोमें उत्पन्न होनेके प्रथम समय कृष्ण, नील और कापोत लेश्यासे परिणत हो जाते है। (ध. २/१,१/७६४/५)।

४. अपर्याप्त कालमें सम्भव लेश्याएँ

ध. २/१,१/पृ /पंक्ति न णेरइय-तिरिक्ख-भवणवासिय - वाणवितर - जोइसियदेवाणमपज्जत्तकाले किण्ह-णीलकाउलेस्साओ भवंति। सोधम्मादि उवरिमदेवाणमपज्जत्तकाले तेउ-पम्मसुक्कलेस्साओ भवंति (४२२/१०) असजदसम्माइट्ठीणमपज्जत्तकाले छ लेस्साओ हवंति (५११/७)। ओरालियमिस्सकायजोगे· भावेण छ लेस्साओ। ·· मिच्छाइट्ठि-सासणसम्माइट्ठीणं ओरालियमिस्सकायजोगे वट्टमाणाण किण्ह-णीलकाउलेस्सा चेव हवंति (६५४/१,७)। देव-मिच्छाइट्ठिसासणसम्माइट्ठीण तिरिक्ख-मणुस्सेसुप्पज्जमाणाण संकिलेसेण तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साओ फिट्टिऊण किण्ह-णील-काउलेस्साणं एगदमा भवदि। सम्माइट्ठीण पुण तेउ-पम्म-सुक्कलेस्साओ चिरतणाओ जाव अतोमुहुत्त ताव ण णस्सति। (७६४/-५)। = १. नारकी, तिर्यंच, भवनवासी, वान व्यन्तर और ज्योतिषी देवोके अपर्याप्त कालमें कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ होती है। तथा सौधर्मादि ऊपरके देवोंके अपर्याप्त कालमें पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या होती है। ऐसा जानना चाहिए। २. असयत सम्यग्दृष्टियोके अपर्याप्त कालमें छहो लेश्याएँ होती है। ३. औदारिक मिश्रकाययोगीके भावसे छहों लेश्याएँ होती है। औदारिक-मिश्रकाययोगमें वर्तमान मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि जीवोंके भावसे कृष्ण, नील और कापोत लेश्याएँ ही होती है। ४, मिथ्यादृष्टि और सासादनसम्यग्दृष्टि देवोंके मरते समय संक्लेश उत्पन्न हो जानेसे तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याएँ नष्ट होकर कृष्ण, नील और कापोत लेश्यामेंसे यथा सम्भव कोई एक लेश्या हो जाती है। किन्तु सम्यग्दृष्टि देवोंके चिरतन (पुरानी तेज, पद्म और शुक्ललेश्याएँ मरण करनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त तक नष्ट नही होती है, इसलिए शुक्ल लेश्यावाले मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि देवोके औदारिककाय नही होता (ध २/१,१/६५६/१२)।

गो, क/जी प्र./६२१/४६८/१२ तद्भवप्रथमकालान्तर्मूहूर्तं पूर्वभवलेश्यासद्भावात्। = वर्तमान भवके प्रथम अन्तर्मुहूर्तकालमें पूर्वभवकी लेश्याका सद्भाव होनेसे '।

५. अपर्याप्त या मिश्र योगमें लेश्या सम्बन्धी शंका समाधान

१. मिश्रयोग सामान्यमें छहों लेश्या सम्बन्धी

ध २/१,१/६५४/६ देवणेरइयसम्माइट्ठिणं मणुसगदीए उप्पण्णाणं ओरालियमिस्सकायजोगे वट्टमाणाण अविणट्ट-पुव्विल्ल-भावलेस्साणं भावेण छ लेस्साओ लब्भंति त्ति। =देव और नारकी मनुष्यगतिमें उत्पन्न हुए है, औदारिक मिश्रकाय योगमें वर्तमान है, और जिनकी पूर्वभव सम्बन्धी भाव लेश्याएँ अभीतक नष्ट नहीं हुई है, ऐसे जीवोंके भावसे छहो लेश्याएँ पायी जाती है; इसलिए औदारिकमिश्र काययोगी जीवोके छहो लेश्याएँ कही गयी है।

२. मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टिके शुभ लेश्या सम्बन्धी

दे० लेश्या/५/४ में ध. २/१,१/७६४/५ (मिथ्यादृष्टि व सासादन सम्यग्दृष्टि देवोंके मरते समय संक्लेश हो जानेसे पीत, पद्म व शुक्ल लेश्याएँ नष्ट होकर कृष्ण, नील व कापोतमेंसे यथा सम्भव कोई एक लेश्या हो जाती है।)

१. अविरत सम्यग्दृष्टिमें छहों लेश्या सम्बन्धी

ध /२/१,१/७५२/७ छट्ठीदो पुढवीदो किण्हलेस्सासम्माइट्ठिणो मणुसेसु जे आगच्छति तेसिं वेदगसम्मत्तेण सह किण्हलेस्सा लब्भदि त्ति। =छठी पृथिवीसे जो कृष्ण लेश्यावाले अविरत सम्यग्दृष्टि जीव मनुष्योंमें आते है, उनके अपर्याप्त कालमें वेदक सम्यक्त्वके साथ कृष्ण लेश्या पायी जाती है।

दे० लेश्या/५/३ में ध. २/१,१/५११/३ (१-६ पृथिवी तकके असयत सम्यग्दृष्टि नारकी जीव अपने-अपने योग्य कृष्ण, नील व कापोत लेश्याके साथ मनुष्योंमें उत्पन्न होते है। उसी प्रकार असंयत सम्यग्दृष्टि देव भी अपने-अपने योग्य पीत, पद्म व शुक्ल लेश्याओके साथ मनुष्योमें उत्पन्न होते है। इस प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि देवोंके अपर्याप्त कालमें छहो लेश्याएँ बन जाती है।

ध. २/१,१/६५७/३ सम्माइट्ठिणो तहा ण परिणमति, अंतोमुहुत्त पुव्विल्ललेस्साहि सह अच्छिय अण्णलेरसं गच्छति। किं कारणं। सम्माइट्ठीण वुड्ढिट्ठिय परमेट्ठीण मिच्छाइट्ठीण मरणकाले सकिलासाभावादो। णेरइय-सम्माइट्ठिणो पुण चिराण-लेस्साहि सह मणुस्सेसुप्पज्जति। =सम्यग्दृष्टि देव अशुभ लेश्याओं रूपसे परिणत नहीं होते है, किन्तु तिर्यंच और मनुष्योमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयसे लगाकर अन्तर्मुहूर्त तक पूर्व रहकर पीछे अन्य लेश्याओको प्राप्त होते है। किन्तु नारकी सम्यग्दृष्टि तो पुरानी चिरंतन लेश्याओके साथ ही मनुष्योंमे उत्पन्न होते है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टिके अपर्याप्त अवस्थामें छहो लेश्याएँ बन जाती है।

६. कपाट समुद्घातमें लेश्या

ध. २/१,१/६५४/६ कवाडगद-सजोगिकेवलिस्स सुक्कलेस्सा चेव भवदि। =कपाट समुद्घातगत औदारिक मिश्र काययोगी सयोगिकेवलीके एक शुक्ललेश्या होती है।

७. चारों गतियोंमें लेश्या की तरतमता

मू आ./११३४-११३७ काऊ काऊ तह काउणील णीला य णीलकिण्हाय। किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा रदणादिपुढवीसु।११३४। तेऊ तेऊ तह तेउ पम्म पम्मा य पम्मसुक्का य। सुक्का य परमसुक्का लेस्साभेदो मुणेयव्वो।११३५। तिण्हं दोण्ह दोण्ह छण्हं दोण्हं च तेरसण्ह च। एतो य चोद्दसण्ह लेस्सा भवणादिदेवाणं।११३६। एइंदियवियलिंदिय असण्णिणो तिण्णि होंति असुहाओ। सकादीदाऊणं तिण्णि सुहा छप्पि सेसाण।११३७। =नरकगति—रत्नप्रभा आदि नरककी पृथिवियो में जघन्य कापोती, मध्यम कापोती, उत्कृष्ट कापोती, तथा जघन्य नील, मध्यम नील, उत्कृष्ट नील तथा जघन्य कृष्ण लेश्या और उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या है।११३४। देवगति—भवनवासी आदि देवोंके

क्रमसे जघन्य तेजोलेश्या भवनत्रिकमें है, दो स्वर्गोमें मध्यम तेजोलेश्या है, दोमें उत्कृष्ट तेजोलेश्या है जघन्य पद्मलेश्या है, छहमें मध्यम पद्मलेश्या है, दोमें उत्कृष्ट पद्मलेश्या है और जघन्य शुक्ल लेश्या है, तेरहमें मध्यम शुक्ललेश्या है और चौदह विमानोमे चरम शुक्ललेश्या है ।११३५-११३६। तिर्यंच व मनुष्य—एकेंद्री, विकलेंद्री असंज्ञीपचेंद्रोके तीन अशुभ लेश्या होती है, असख्यात वर्षकी आयु वाले भोगभूमिया कुभोगभूमिया जीवोके तीन शुभलेश्या है और बाकीके कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यंचोके छहों लेश्या होती है ।११३७। (स सि /३/३/२०७/१,४/२२/२५३/४) (पं. स./प्रा./१/१८५-१८६); (रा. वा./३/३/४/१६४/६,४/२२/२४०/२४), (गो. जी /मू./५२६-५३४) ।

लोंच—दे० केश लोंच ।

लोक—कालका एक प्रमाण विशेष—दे० गणित/I/१ ।

लोक—

१. लोक स्वरूपका तुलनात्मक अध्ययन

१. लोकनिर्देशका सामान्य परिचय

[पृथिवी, इसके चारों ओरका वायुमण्डल, इसके नीचेकी रचना तथा इसके ऊपर आकाशमें स्थित सौरमण्डलका स्वरूप आदि, इनके ऊपर रहनेवाली जीव राशि, इनमें उत्पन्न होनेवाले पदार्थ, एक दूसरेके साथ इनका सम्बन्ध ये सब कुछ वर्णन भूगोलका विषय है। प्रत्यक्ष होनेसे केवल इस पृथिवी मण्डलकी रचना तो सर्व सम्मत है, परन्तु अन्य बातोंका विस्तार जाननेके लिए अनुमान ही एकमात्र आधार है। यद्यपि आधुनिक यन्त्रोंसे इसके अतिरिक्त कुछ अन्य भूखण्डोंका भी प्रत्यक्ष करना सम्भव है पर असीम लोककी अपेक्षा वह किसी गणनामें नहीं है। यन्त्रोंसे भी अधिक विश्वस्त योगियोंकी सूक्ष्म दृष्टि है। आध्यात्मिक दृष्टिकोणसे देखनेपर लोकों-की रचनाके रूपमें यह सब कथन व्यक्तिकी आध्यात्मिक उन्नति व अवनतिका प्रदर्शन मात्र है। एक स्वतन्त्र विषय होनेके कारण उसका दिग्दर्शन यहाँ कराया जाना सम्भव नहीं है। आज तक भारतमें भूगोलका आधार वह दृष्टि ही रही है। जैन, वैदिक व बौद्ध आदि सभी दर्शनकारोंने अपने-अपने ढंगसे इस विषयका स्पर्श किया है और आजके आधुनिक वैज्ञानिकोंने भी। सभीकी मान्यताएँ भिन्न-भिन्न होती हुई भी कुछ अंशोंमें मिलती हैं। जैन व वैदिक भूगोल काफी अंशोंमें मिलता है। वर्तमान भूगोलके साथ किसी प्रकार भी मेल बैठता दिखाई नहीं देता, परन्तु यदि विशेषज्ञ चाहें तो इस विषयकी गहराइयोंमें प्रवेश करके आचार्योंके प्रतिपादनकी सत्यता

भू लोक

सप्त द्वीप व सप्तसागर पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर दूना विस्तार है

चित्र १

१ जम्बू द्वीप
लवणोद १
२ प्लक्ष द्वीप
इक्षुरस २
३ शाल्मल द्वीप
सुरोद ३
४ कुश द्वीप
सर्पिस्सलिल ४
५ क्रौंच द्वीप
दधितोय ५
६ शाक द्वीप
क्षीरोद ६
७ अभ्यन्तर पुष्करार्ध द्वीप
मानुषोत्तर पर्वत
७ बाह्यार्ध पुष्करार्ध द्वीप
स्वादु सलिल ७

जम्बू द्वीप

चित्र-२

उत्तरकुरु
शृंगी पर्वत
हिरण्यमय
श्वेत पर्वत
रम्यक
नील पर्वत
इलावृत
पीपल वृक्ष
विपुल पर्वत
सुपार्श्व पर्वत
कदम्ब वृक्ष
निषध पर्वत
जम्बू वृक्ष
हरिवर्ष
हेमकूट पर्वत
किंपुरुष
हिमवान पर्वत
भारत
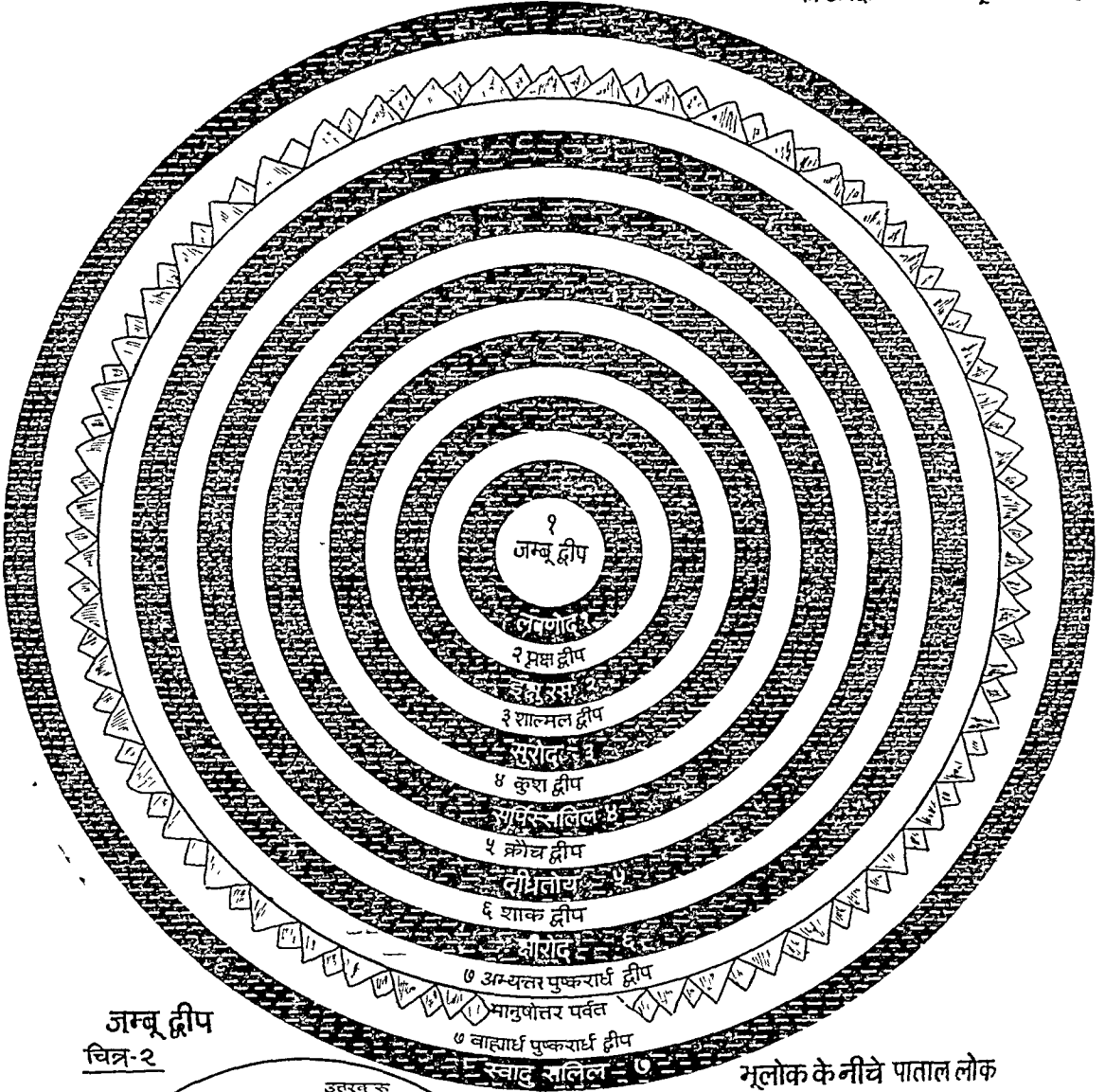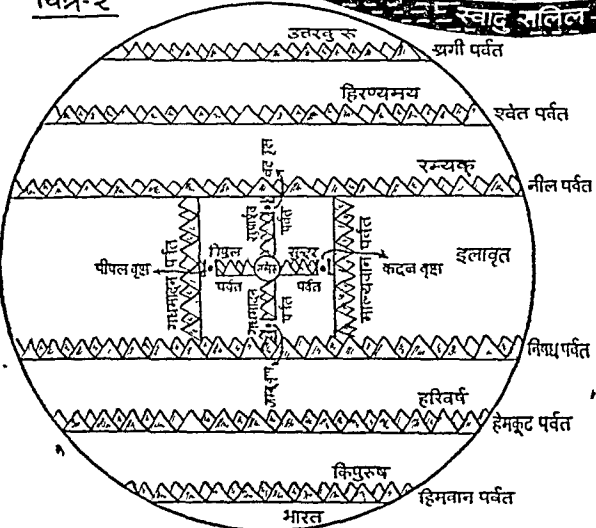
भूलोक के नीचे पाताल लोक

भूलोक के नीचे सप्त पाताल है। तथा उनके नीचे शेष शायी भगवान विष्णु विश्राम करते हैं

चित्र ३

सुतल
पाताल
महातल
अतल
गभिस्तल
वितल
नितल
भूलोक
शेष शायी विष्णु भगवान
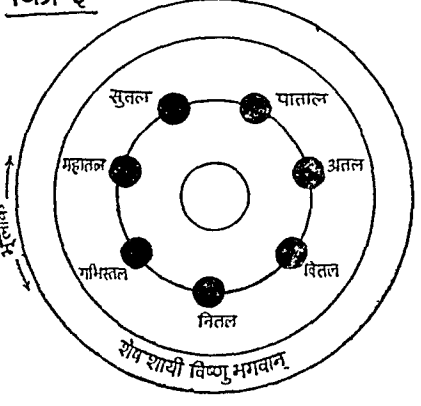
(अध्याय ६) पृथिवीतल और जलके नीचे रौरव, सूकर, रोध, ताल, विशसन, महाज्वाल, तप्तकुम्भ, लवण, विलोहित, रुधिराम्भ, वैतरणी, कृमीश, कृमिभोजन, असिपत्र वन, कृष्ण, लालाभक्ष, दारुण, पूयवह, पाप, वह्निज्वाल, अधःशिरा, सन्दंश, कालसूत्र, तमस्, अवीचि, श्वभोजन, अप्रतिष्ठ, और अरुचि आदि महाभयंकर नरक है, जहाँ पापी जीव मरकर जन्म लेते हैं। (अध्याय ६) भूमिसे एक लाख योजन ऊपर जाकर, एक एक लाख योजनके अन्तरालसे सूर्य, चन्द्र व नक्षत्र मण्डल स्थित है, तथा उनके ऊपर दो-दो लाख योजनके अन्तरालसे बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि, तथा इसके ऊपर एक एक लाख योजनके अन्तरालसे सप्तऋषि व ध्रुव तारे स्थित है। इससे १ करोड योजन ऊपर महर्लोक है जहाँ कल्पो तक जीवित रहनेवाले कल्पवासी भृगु आदि सिद्धगण रहते हैं। इससे २ करोड योजन ऊपर जनलोक है जहाँ ब्रह्माजीके पुत्र सनकादि रहते हैं। आठ करोड़ योजन ऊपर तप लोक है जहाँ वैराज देव निवास करते है। १२ करोड योजन ऊपर सत्यलोक है, जहाँ फिरसे न मरनेवाले जीव रहते है, इसे ब्रह्मलोक भी कहते हैं। भूलोक व सूर्यलोकके मध्यमें मुनिजनोंसे सेवित भुवर्लोक है और सूर्य तथा ध्रुवके बीचमें १४ लाख योजन स्वर्लोक कहलाता है। ये तीनों लोक कृतक है। जनलोक, तपलोक व सत्यलोक ये तीन अकृतक है। इन दोनों कृतक व अकृतकके मध्यमें महर्लोक है। इसलिए यह कृताकृतक है। (अध्याय ७)।

४. बौद्धाभिमत भूगोल परिचय
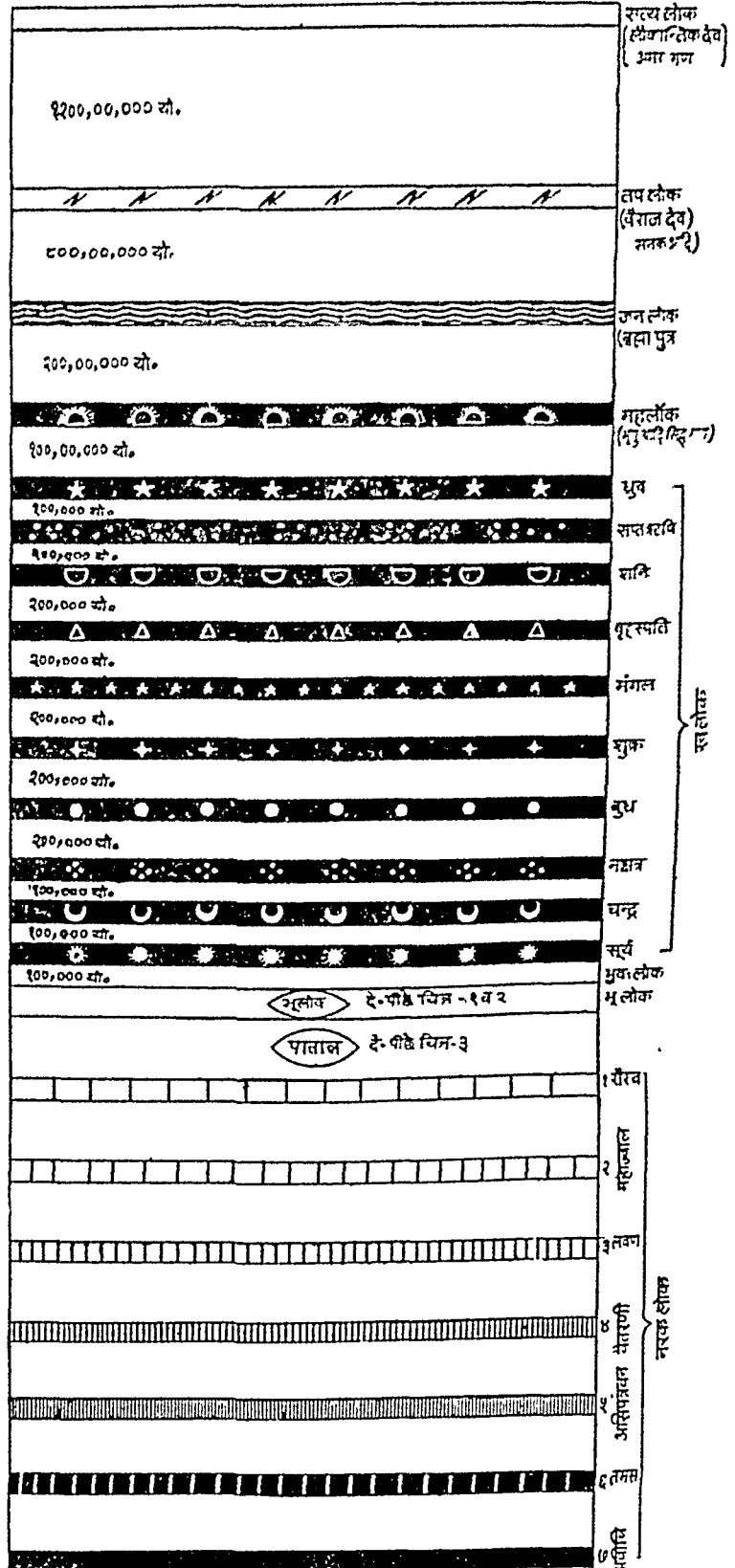
(५वीं शताब्दीके वसुबन्धुकृत अभिधर्मकोशके आधारपर ति प / प्र ८७/ H L Jain द्वारा कथितका भावार्थ)। लोकके अधोभाग-में १६००,००० योजन ऊँचा अपरिमित वायुमण्डल है। इसके ऊपर ११२०,००० योजन ऊँचा जलमण्डल है। इस जलमण्डलमें ३२०,००० यो० भूमण्डल है। इस भूमण्डलके बीचमें मेरु पर्वत है। आगे ८०,००० योजन विस्तृत सीता (समुद्र) है जो मेरुको चारो ओरमे वेष्टित करके स्थित है। इसके आगे ४०,००० योजन विस्तृत युगन्धर पर्वत वलयाकारसे स्थित है। इसके आगे भी इसी प्रकार एक एक सीता (समुद्र) के अन्तरालसे उत्तरोत्तर आधे आधे विस्तारसे युक्त क्रमश: ईषाधर, खदिरक, सुदर्शन, अश्वकर्ण, विनतक, और निमिंधर पर्वत है। अन्तमें लोहमय चक्रवाल पर्वत है।

भूमण्डल

चित्र-५
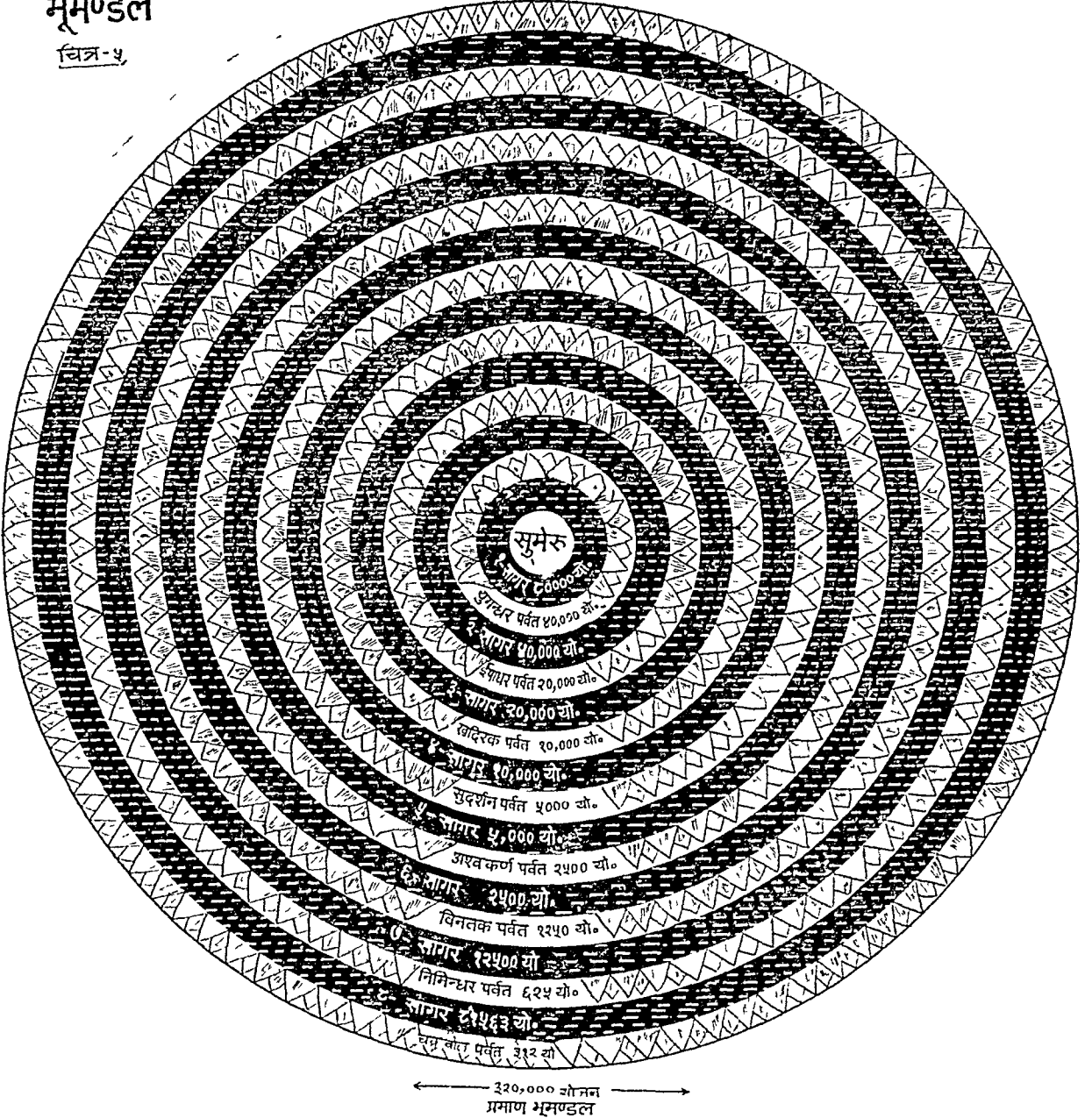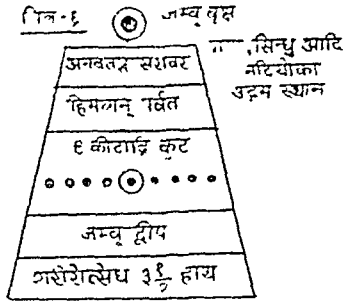
चित्र-६
जम्बू वृक्ष
अनवतप्त सरवर
सिन्धु आदि नदियोंका उद्गम स्थान
हिमवान् पर्वत
९ कीटाद्रि कूट
जम्बू द्वीप
शरीरोत्सेध ३१/७ हाथ
भूगोल सामान्य
चित्र-७(क)
रूपधातु प्रवीचार (शरीरोत्सेध १२५ गो०) - १७
रूपधातु प्रवीचार १ ब्रह्मकायिक
रूपधातु प्रवीचार देवों के ब्रह्मकायिक आदि १७ स्वर्ग
स्वर्ग लोक
अवलोकन प्रवीचार ५
हसित प्रवीचार ४
पाणि संयोग प्रवीचार ३ तुषित देव
आलिंगन प्रवीचार २ याम देव
काय प्रवीचार १ त्रायस्त्रिंश
कामधातु देव
तारे
नक्षत्र
ग्रह
चन्द्र
सूर्य
ज्योतिष् लोक
४०,००० यो०
३२०,००० यो०
भूमण्डल
मेरु शिखर के ऊपर की रचना
नोट - भूमण्डलसे नीचेकी रचना - दे० चित्र ७(ख)
चित्र-७(ख)
भूमडलसे ऊपर की रचना के लिए देखो बराबर वाला चित्र ७(क)
३२०,००० यो०
भूमण्डल
उत्तर कुरु
मनुष्य द्वीप
अवर गोदनीय द्वीप
७ समुद्र पर्वत
पूर्व विदेह
राक्षस द्वीप
दे० चित्र ६ जम्बू द्वीप
चक्रवाल पर्वत
विशेष दे०
चित्र सं० ५
आठ शीत नरक
मेरु पर्वत (भूमण्डल) के नीचे की रचना
१६०,००० यो०
वायुमण्डल

यहाँ यह बात अवश्य ध्यानमें रखने योग्य है कि वैज्ञानिक जनोंके अनुमानका आधार पृथिवीका कुछ करोड वर्ष मात्र पूर्वका इतिहास है, जब कि आचार्योंकी दृष्टि करोडों पूर्वके इतिहासको स्पर्श करती है। जैसे कि – १ पृथिवीके लिए पहले अग्निका गोला होनेकी कल्पना, उसका धीरे-धीरे ठण्डा होना और नये सिरेसे उसपर जीवों व मनुष्योंकी उत्पत्तिका विकास लगभग जैनमान्य प्रलयके स्वरूपसे मेल खाता है (दे० प्रलय)। २ पृथिवीके चारों ओरके वायुमण्डलमें ५०० मील तक उत्तरोत्तर तरलता जैन मान्य तीन वातवलयोंवत् ही है। ३. एशिया आदि महाद्वीप जैनमान्य भरतादि क्षेत्रोंके साथ काफी अंशमें मिलते हैं (दे० अगला शीर्षक)। ४. आर्य व म्लेच्छ जातियोंका यथायोग्य अवस्थान भी जैनमान्यताको सर्वथा उल्लंघन करनेको समर्थ नहीं। ५ सूर्य-चन्द्र आदिके अवस्थानमें तथा उनपर जीव राशि सम्बन्धी विचारमें अवश्य दोनों मान्यताओंमें भेद है। तहाँ भी सूर्य-चन्द्र आदिमें जीवोंका सर्वथा अभाव मानना वैज्ञानिकोंकी अल्पज्ञताका भी द्योतक है, क्योंकि वहाँ रहनेवाले जैनमान्य वैक्रियक शरीरधारी जीव विशेषोंको उनकी स्थूल दृष्टि यन्त्रों द्वारा भी स्पर्श करनेको समर्थ नहीं है।

७. जैन भूगोलका कुछ समन्वय

यद्यपि निश्चित रूपसे इस विषयमें कुछ भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु वर्तमानके भूगोलकी, जिसका आधार कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, भी अवहेलना करना या उसे विश्वास योग्य न मानना युक्त नहीं। अतः समन्वयात्मक दृष्टिसे विचारकर आचार्य प्रणीत सूत्रोंका अर्थ करना योग्य है। ऐसा करनेसे इस विषय सम्बन्धी अनेकों उलझनें सुलझ सकती है और वर्तमान भूगोलके साथ उनका मेल स्पष्ट हो सकता है। यथा – १. नरक, स्वर्गोंके पटलोंको पृथिवीमयी न समझकर केवल आकाशके भीतर कल्पना किये गये वे क्षेत्र समझने चाहिए जिनमें कि आचार्य प्रणीत इन्द्रकों आदिकी वह वह रचना विशेष अवस्थित है। २ नरक व स्वर्गोंके इन्द्रक, श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक बिल व विमान इस पृथिवीकी भाँति ही स्वतन्त्र भूखण्ड हैं। तथा ऐसा माना भी गया है – (दे० विमान)। ३ यद्यपि इन पृथिवियोंके भ्रमनेका कोई निर्देश नहीं है पर साथ ही निश्चित रूपसे उनके भ्रमनेका कहीं निषेध भी नहीं है, इसलिए उन सभी पृथिवियोंका प्रकृतिके नियमानुसार एक-दूसरेके गिर्द घूमना स्वीकार करनेमें कोई हानि नहीं पडती। तथा उनका चक्राकारसे अवस्थान भी कुछ इस बातका अनुमान कराता है कि वे पृथिवियाँ अवश्य नित्य घूम रही हैं (दे० आगे लोक, ७ में इन्द्रकों व श्रेणीबद्धोंकी रचना विशेषका आकार)। ४ इनके भ्रमनेका क्रम भी उसी प्रकारका होना चाहिए जैसा कि प्रत्येक भौतिक पदार्थमें एक प्रोटोनके गिर्द अनेकों इलेक्ट्रानोंका घूमना अथवा सौर मण्डलमें एक सूर्यके गिर्द चन्द्र, पृथिवी, ग्रह आदि अनेकों पृथिवियोंका घूमना। ५. एक सौरमण्डलमें अनेकों पृथिवियाँ एक सूर्यके गिर्द घूमती हैं और वह एक पूराका पूरा सौरमण्डल किसी दूसरे सौरमण्डलके गिर्द घूमता है, और ये दोनों समुदित रूपसे किसी तीसरे बडे सौरमण्डलके गिर्द घूमते हैं इत्यादि। इसी प्रकार यहाँ इन्द्रक सर्व प्रधान है। इसके गिर्द चक्रके अरोंके आकारसे स्थित श्रेणीबद्धोंके अनेकों बिल व विमान घूमते हैं। प्रत्येक श्रेणीबद्धको मध्यमें करके अनेकों प्रकीर्णक मण्डल घूमते हैं। एक-एक प्रकीर्णक मण्डलमें भी इसी प्रकारकी क्षुद्र रचना अनुमान की जाती है। ६. नित्य घूमते रहते भी वे आकाशमें निश्चित उपरोक्त अपनी-अपनी सीमाको उल्लंघन नहीं करते, यही उन पटलोंका रूप व अवस्थान है। ये पटल एकके पश्चात् एक करके गणनातीत योजनोंके अन्तरालसे ऊपर-ऊपर अवस्थित हैं। ७ नरकमें उन इन्द्रक आदि भूखण्डोंकी 'बिल' संज्ञा और स्वर्गमें उन्हींको 'विमान' संज्ञा देनेका कारण यही है कि पहलेके निवासी वहाँ अत्यन्त अन्धकार पूर्ण अत्यन्त शीत या अत्यन्त उष्ण, अनेकों प्रकारके विषैले व तीक्ष्ण दाँतवाले क्षुद्र जीवोंसे पूर्ण, दलदलवाली गुफाओंमें रहते हैं और दूसरेके निवासी वहाँ अत्यन्त सुखमय भवनोंमें रहते हैं। ८. उपरोक्त पटलोंकी भाँति मध्यलोक भी एक पटल है। अन्तर इतना ही है कि उपरोक्त पटलोंमें नारकी व देवोंकी निवासभूत पृथिवियाँ है और यहाँ मनुष्य व तिर्यंचोंकी निवासभूत हैं। वहाँ वे पृथिवियाँ श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णकोंके रूपमें अवस्थित रहती हुई घूमती हैं और यहाँ सभी पृथिवियाँ एक श्रेणीमें अवस्थित रहती हुई घूमती हैं। एक के पश्चात् एक करके उत्तरोत्तर दूने प्रमाणको लिये उनका अवस्थान तथा उनकी असंख्यात विरोधको प्राप्त नहीं होती। ९. विवाद पडता है उनके आकारके विषयमें। भारतीय दर्शनकार उन्हें वलयाकार मानते हैं, जब कि वैज्ञानिक नारंगीवत गोल। सो इसका भी समन्वय इस प्रकार किया जा सकता है कि द्वीप रूपसे निर्दिष्ट उन्हें भूखण्ड न मानकर, भूखण्डोंका संचारक्षेत्र मान लिया जाये। जम्बूद्वीप सुमेरुके गिर्द, धातकी खण्ड जम्बूद्वीपके गिर्द और इसी प्रकार आगे-आगेके द्वीप पूर्व-पूर्वके द्वीपके गिर्द घूम रहे हैं। सुमेरुके गिर्द लट्टूकी भाँति घूमनेसे जम्बूद्वीपका संचार क्षेत्र जम्बूद्वीप प्रमाण ही है, परन्तु अगले द्वीपोंका संचार क्षेत्र पूर्व-पूर्व द्वीपके गिर्द वलयाकार रूप बनता है। उन संचार क्षेत्रोंका विष्कम्भ या विस्तृत अपनी-अपनी पृथिवीके बराबर होना स्वाभाविक है, सुमेरु पर्वत व उस-उस पृथिवीके बीच जो अन्तराल है वही इन वलयोंकी सूचीका प्रमाण है। यद्यपि यह अनुमान प्रमाणभूत नहीं कहा जा सकता है, पर प्रत्यक्षदृष्ट आधुनिक भूगोलके साथ जैन भूगोलकी संगति बैठानेके लिए इसमें कुछ विरोध भी नहीं है। १०. द्वीपोंके मध्यवर्ती सागरोंका निर्देश वास्तवमें जलपूर्ण सागररूप प्रतीत नहीं होता, बल्कि उन द्वीपोंके मध्यवर्ती अन्तरालोंमें स्थित घन व घनोदधि वातवलयरूप प्रतीत होता है। वलयाकार संचार क्षेत्रोंके मध्य रहनेवाले उस अन्तरालका भी वलयाकार होना युक्तिसंगत है। ११. मध्यलोककी उपरोक्त सर्व पृथिवियोंको पृथक्-पृथक् रूपसे नारंगीवत गोल मान लेनेपर भी मध्यलोकका समुदित घण्टा थालीके आकारवाला रूप विरोधको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उक्त संचार क्षेत्रोंका समुदितरूपका वही आकार है। १२ इस पृथिवीको ही जम्बूद्वीप मानकर इसमें भरत आदि क्षेत्रों तथा हिमवान पर्वतोंका अवस्थान भी यथायोग्य रूपमें फिर बैठाया जा सकता है। भले ही शब्दश व्याख्याका मेल न बैठाया जा सके पर लगभग मेल बैठ जाता है। परन्तु ऐसा करनेके लिए हमें भौगोलिक इतिहासपर दृष्टि डालनी होगी, कि किस-किस समयमें इनके नाम क्या-क्या रहे हैं, किस प्रकारसे उस मान्यताने बदलकर यह रूप धारण कर लिये। प्रकृतिके परिवर्तनकी अटूट धारामें कब-कब व किस-किस प्रकार पहले-पहले पर्वत आदि भूगर्भमें समा गये और नये उत्पन्न हो गये इत्यादि। इस विषयका कुछ स्पष्टीकरण चातुर्द्वीपिक भूगोल नामके अगले शीर्षकके अन्तर्गत दिया गया है।

८. चातुर्द्वीपिक भूगोल परिचय

(ज. प/प्र १३८/H. L. Jain का भावार्थ) १. काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थमें दिये गये, श्री रायकृष्णदासजीके एक लेखके अनुसार, वैदिक धर्म मान्य सप्तद्वीपिक भूगोल (दे० शीर्षक न० ३) की अपेक्षा चातुर्द्वीपिक भूगोल अधिक प्राचीन है। इसका अस्तित्व अब भी वायुपुराणमें कुछ-कुछ मिलता है। चीनी यात्री मेगस्थनीजके समयमें भी यही भूगोल प्रचलित था, क्योंकि वह लिखता है—भारतके सीमान्तपर तीन और देश माने जाते हैं—सीदिया, बैक्ट्रिया तथा एरियाना। सीदियासे उसके भद्राश्व व उत्तरकुरु तथा बैक्ट्रिया व एरियानासे केतुमाल द्वीप अभिप्रेत है। अशोकके समयमें भी यही भूगोल प्रचलित था, क्योंकि उसके शिलालेखोंमें जम्बूद्वीप भारतवर्षकी संज्ञा है। महाभाष्यमें आकर सर्वप्रथम सप्तद्वीपिक भूगोलकी चर्चा है। अतएव वह अशोक तथा महाभाष्यकालके बीचकी कल्पना जान पडती है। २ सप्तद्वीपिक भूगोलकी भाँति यह चातुर्द्वीपिक भूगोल कल्पनामात्र नहीं है, बल्कि इसका आधार वास्तविक है। उसका सामंजस्य आधुनिक भूगोलसे हो जाता है। ३. चातुर्द्वीपिक भूगोलमें जम्बूद्वीप पृथिवीके चार महाद्वीपोंमें से एक है और भारतवर्ष जम्बूद्वीपका ही दूसरा नाम है। वही सप्तद्वीपिक भूगोलमें आकर इतना बडा हो जाता है कि उसकी बराबरीवाले अन्य तीन द्वीप (भद्राश्व, केतुमाल व उत्तरकुरु) उसके वर्ष बनकर रह जाते हैं। और भारतवर्ष नामवाला एक अन्य वर्ष (क्षेत्र) भी उसीके भीतर कल्पित कर लिया जाता है। ४. चातुर्द्वीपी भूगोलका भारत (जम्बूद्वीप) जो मेरु तक पहुँचता है, सप्तद्वीपिक भूगोलमें जम्बूद्वीपके तीन वर्षों या क्षेत्रोंमें विभक्त हो गया है—भारतवर्ष, किंपुरुष व हरिवर्ष। भारतका वर्ष पर्वत हिमालय है। किंपुरुष हिमालयके परभागमें मंगोलोंकी बस्ती है, जहाँसे सरस्वती नदीका उद्गम होता है, तथा जिसका नाम आज भी कन्नौरमें अवशिष्ट है। यह वर्ष पहले तिब्बत तक पहुँचता था, क्योंकि वहाँ तक मंगोलोंकी बस्ती पायी जाती है। तथा इसका वर्ष पर्वत हेमकूट है, जो कतिपय स्थानोंमें हिमालयान्तर्गत ही वर्णित हुआ है। (जैन मान्यतामें किंपुरुषके स्थानपर हैमवत और हिमकूटके स्थानपर महाहिमवानका उल्लेख है)। हरिवर्षसे हिरातका तात्पर्य है जिसका पर्वत निषध है, जो मेरु तक पहुँचता है। इसी हरिवर्षका नाम अवेस्तामें हरिवरजो मिलता है। ५ इस प्रकार रम्यक, हिरण्मय और उत्तरकुरु नामक वर्षोंमें विभक्त होकर चातुर्द्वीपिक भूगोलवाले उत्तरकुरु महाद्वीपके तीन वर्ष बन गये हैं। ६ किन्तु पूर्व और पश्चिमके भद्राश्व व केतुमाल द्वीप यथापूर्व दोके दो ही रह गये। अन्तर केवल इतना है कि यहाँ वे दो महाद्वीप न होकर एक द्वीपके अन्तर्गत दो वर्ष या क्षेत्र हैं। साथ ही मेरुको मेखलित करनेवाला, सप्तद्वीपिक भूगोलका, इलावृत भी एक स्वतन्त्र वर्ष बन गया है। ७ यों उक्त चार द्वीपोंसे पल्लवित भारतवर्ष आदि तीन दक्षिणी, हरिवर्ष आदि तीन उत्तरी, भद्राश्व व केतुमाल ये दो पूर्व व पश्चिमी तथा इलावृत नामका केन्द्रीय वर्ष, जम्बूद्वीपके नौ वर्षोंकी रचना कर रहा है। ८. [जैनाभिमत भूगोलमें ९ की बजाय १० वर्षोंका उल्लेख है। भारतवर्ष, किंपुरुष व हरिवर्षके स्थानपर भरत, हैमवत व हरि ये तीन मेरुके दक्षिणमें हैं। रम्यक, हिरण्यमय तथा उत्तरकुरुके स्थानपर रम्यक हैरण्यवत व ऐरावत ये तीन मेरुके उत्तरमें हैं। भद्राश्व व केतुमालके स्थानपर पूर्व विदेह व पश्चिमविदेह ये दो मेरुके पूर्व व पश्चिममें हैं। तथा इलावृतके स्थानपर देवकुरु व उत्तरकुरु ये दो मेरुके निकटवर्ती हैं। यहाँ वैदिक मान्यतामें तो मेरुके चौगिर्द एक ही वर्ष मान लिया गया और जैन मान्यतामें
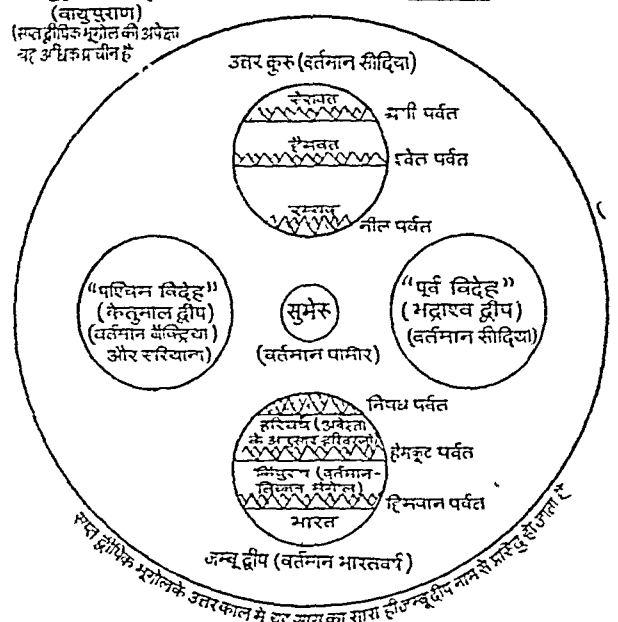
नोट १ अशोकके अनुसार 'जम्बूद्वीप' भारतवर्षका ही नाम है
२-मैगस्थनीजके अनुसार भारतवर्षकी सीमापर सीदिया बैक्ट्रिया और एरियाना द्वीप अवस्थित है

उसे दक्षिण व उत्तर दिशावाले दो भागोंमें विभक्त कर दिया है। पूर्व व पश्चिमी भद्राश्व व केतुमाल द्वीपोंमें वैदिकजनोंने क्षेत्रोंका विभाग न दर्शाकर अखण्ड रखा पर जैन मान्यतामें उनके स्थानीय पूर्व व पश्चिम विदेहोंको भी १६,१६ क्षेत्रोंमें विभक्त कर दिया गया]। ९. मेरु पर्वत वर्तमान भूगोलका पामीर प्रदेश है। उत्तरकुरु पश्चिमी तुर्किस्तान है। सीता नदी यारकन्द नदी है। निषध पर्वत हिन्दुकुश पर्वतोंकी शृंखला है। हैमवत भारतवर्षका ही दूसरा नाम रहा है। (दे० वह-वह नाम)।

२. लोकसामान्य निर्देश

१. लोकका लक्षण

दे. आकाश/१/३ [१. आकाशके जितने भागमें जीव पुद्गल आदि षट् द्रव्य देखे जायें सो लोक है और उसके चारों तरफ शेष अनन्त आकाश अलोक है, ऐसा लोकका निरुक्ति अर्थ है। २. अथवा षट् द्रव्योंका समवाय लोक है]।

दे लौकान्तिक/१। [३. जन्म-जरामरणरूप यह संसार भी लोक कहलाता है।]

रा. वा./५/१२/१०-१३/४५५/२० यत्र पुण्यपापफललोकनं स लोकः ।१०।.. क पुनरसौ। आत्मा। लोकति पश्यत्युपलभते अर्थानिति लोकः ।११। .. सर्वज्ञेनानन्ताप्रतिहतकेवलदर्शनेन लोक्यते यः स लोकः। तेन धर्मादीनामपि लोकत्वं सिद्धम् ।१३। —जहाँ पुण्य व पापका फल जो सुख-दुःख वह देखा जाता है सो लोक है इस व्युत्पत्तिके अनुसार लोकका अर्थ आत्मा होता है। जो पदार्थोंको देखे व जाने सो लोक इस व्युत्पत्तिसे भी लोकका अर्थ आत्मा है। आत्मा स्वयं अपने स्वरूपका लोकन करता है अतः लोक है। सर्वज्ञके द्वारा अनन्त व अप्रतिहत केवलदर्शनसे जो देखा जाये सो लोक है, इसप्रकार धर्म आदि द्रव्योंके भी लोकपना सिद्ध है।

२. लोकका आकार

ति प./१/१३७-१३८ हेट्ठिमलोयायारो वेत्तासणसण्णिहो सहावेण। मज्झिमलोयायारो उब्भियमुरअद्धसारिच्छो ।१३७। उवरिमलोयाआरो उब्भियमुरवेण होइ सरिसत्तो। संठाणो एदाणं लोयाणं एण्हि साहेमि ।१३८। —इन (उपरोक्त) तीनोंमेंसे अधोलोकका आकार स्वभावसे वेत्रासनके सदृश है, और मध्यलोकका आकार खड़े किये हुए आधे मृदंगके ऊर्ध्वभागके समान है ।१३७। ऊर्ध्वलोकका आकार खड़े किये हुए मृदंगके सदृश है।१३८। (ध ४/१,३,२/गा० ६/११) (त्रि. सा./६), (ज. प/४/४-६), (द्र. स./टी./टी./३५/११२/११)।

ध. ४/१,३,२/गा. ७/११ तलरुक्खसंठाणो ।७। —यह लोक तालवृक्षके आकारवाला है।

ज. प./प्र./२८ प्रो. लक्ष्मीचन्द—मिस्रदेशके गिरजेमें बने हुए महास्तूपसे यह लोकाकाशका आकार किंचित समानता रखता प्रतीत होता है।

३. लोकका विस्तार

ति. प/१/१४९-१६३ सेढिपमाणायामं भागेसु दक्खिणुत्तरेसु पुढं। पुव्वावरेसु वासं भूमिमुहे सत्त येक्कपंचेक्का ।१४९। चोद्दसरज्जुपमाणो उच्छेहो होदि सयललोगस्स। अद्धमुरज्जस्सुदवो समग्गमुरवोदयसरिच्छो ।१५०। व हेट्ठिममज्झिमउवरिमलोउच्छेहो कमेण रज्जुवो। सत्त य जोयणलक्खं जोयणलक्खूणसगरज्जू ।१५१। इह रयणसक्करावालुपंकधूमतममहातमादिपहा। सुरवद्धम्मि महीओ सत्त च्चिय रज्जुअन्तरिआ ।१५२। घम्मावंसामेघाअंजणरिट्ठाणउब्भमघवीओ। माघविया इय ताण पुढवीण गोत्तणामाणि ।१५३। मज्झिमजगस्स हेट्ठिमभागादो णिग्गदो पढमरज्जू। सक्करपहपुढवीए हेट्ठिमभागम्मि णिट्ठादि ।१५४। तत्तो दोइरज्जू वालुयपहहेट्ठि समप्पेदि। तह य तइज्जारज्जू पंकपहहेट्ठस्स भागम्मि ।१५५। धूमपहाए हेट्ठिमभागम्मि समप्पदे तुरियरज्जू। तह पंचमिया रज्जू तमप्पहाहेट्ठिमपएसे ।१५६। महतमहेट्ठिमयंते छट्ठी हि समप्पदे रज्जू। तत्तो सत्तमरज्जू लोयस्स तलम्मि णिट्ठादि ।१५७। मज्झिमजगस्स उवरिमभागादु दिवड्ढरज्जुपरिमाणं। इगिजोयणलक्खूण सोहम्मविमाणधयदंडे ।१५८। वच्चदि दिवड्ढरज्जू माहिंदसणक्कुमारउवरिम्मि। णिट्ठादि अद्धरज्जू बम्हुत्तर उड्ढभागम्मि ।१५९। अवसादि वड्ढगदं [illegible]भागम्मि। स सिहरा हुवेदि रज्जू वारदि अ म [illegible] ।१६०। तत्तो य [illegible] उवरिमभागे। स य आहट्ठम [illegible] उवरिमभागम्मि गेविज्जं ।१६१। तत्तो उवरिमभागे [illegible] रज्जूओ। एवं उवरिमलोए रज्जुविभागो समुद्दिट्ठं ।१६२। णियणिय चरिमिंदयधयदंडग्गं कप्पभूमिअवसाणं कप्पादीदमहीए विच्छेदो लोयविच्छेदो ।१६३। —दक्षिण और उत्तर भागमें लोकका आयाम जगश्रेणी प्रमाण अर्थात् सात राजू है। पूर्व और पश्चिम भागमें भूमि और मुखका व्यास क्रमसे सात, एक, पाँच और एक राजू है। तात्पर्य यह है कि लोककी मोटाई सर्वत्र सात राजू है, और विस्तार क्रमसे लोकके नीचे सात राजू, मध्यलोकमें एक राजू, ब्रह्म स्वर्गपर पाँच राजू और लोकके अन्तमें एक राजू है।१४९। सम्पूर्ण लोककी ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है। अर्धमृदंगकी ऊँचाई सम्पूर्ण मृदंगकी ऊँचाईके सदृश है। अर्थात् अर्धमृदंग सदृश अधोलोक जैसे सात राजू ऊँचा है उसी प्रकार ही पूर्ण मृदंगके सदृश ऊर्ध्वलोक भी सात ही राजू ऊँचा है।१५०। इसमें अधोलोककी ऊँचाई सात राजू, मध्यलोककी ऊँचाई १००,००० योजन, और ऊर्ध्वलोककी ऊँचाई एक लाख योजन कम सात राजू है।१५१। (ध ४/१,३,२/गा ८/११); (त्रि. सा./११३); (ज. प/४/११,१८-१९)। ३. वहाँ भी —तीनों लोकोंमेंसे अर्धमृदंगाकार अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा, ये सात पृथिवियाँ एक राजूके अन्तरालसे हैं।१५२। घर्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी ये इन उपर्युक्त पृथिवियोंके अपरनाम हैं।१५३। मध्यलोकके अधोभागसे प्रारम्भ होकर पहला राजू शर्कराप्रभा पृथिवीके अधोभागमें समाप्त होता है।१५४। इसके आगे दूसरा राजू प्रारम्भ होकर बालुकाप्रभाके अधोभागमें समाप्त होता है। तथा तीसरा राजू पंकप्रभाके अधोभागमें ।१५५। चौथा धूमप्रभाके अधोभागमें, पाँचवाँ तमःप्रभाके अधोभागमें ।१५६। और छठा राजू महातमःप्रभाके अन्तमें समाप्त होता है। इससे आगे सातवाँ राजू लोकके तलभागमें समाप्त होता है।१५७। [इस प्रकार अधोलोकमें ७ राजू ऊँचाईका विभाग है।] ४. रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भागोंमें से खरभाग १६००० यो० पंक भाग ८४००० यो० और अब्बहुल भाग ८०,००० योजन मोटे हैं। दे० रत्नप्रभा/२। ५. लोकमें मेरुके तलभागसे उसकी चोटी पर्यन्त १००,००० योजन ऊँचा व १ राजू प्रमाण विस्तार युक्त मध्यलोक है। इतना ही तिर्यक्लोक है।—दे० तिर्यंच/३/१)। मनुष्यलोक चित्रा पृथिवीके ऊपरसे मेरुकी चोटी तक ९९००० योजन विस्तार तथा अढाई द्वीप प्रमाण ४५००,००० योजन विस्तार युक्त है।—दे० मनुष्य/४]। ६. [चित्रा पृथिवीके नीचे खर व पंक भागमें १००,००० यो० तथा चित्रा पृथिवीके ऊपर मेरुकी चोटी तक ९९००० योजन ऊँचा और एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त भावनलोक है।—दे० लोक/२/६। इसी प्रकार व्यन्तरलोक भी जानना।—दे० लोक/२/१०। चित्रा पृथिवीसे ७९० योजन ऊपर जाकर ११० योजन बाहल्य व १ राजू विस्तार युक्त ज्योतिष लोक है।—दे० ज्योतिष/२/१]। ७. मध्यलोकके ऊपरी भागमें सौधर्म विमानका ध्वजदण्ड १००,००० योजन कम १½ राजू प्रमाण ऊँचा है।१५८। इसके आगे १½ राजू माहेन्द्र व सनत्कुमार स्वर्गके ऊपरी भागमें, १/२ राजू ब्रह्मोत्तरके ऊपरी भागमें।१५९। १/२ राजू कापिष्टके ऊपरी भागमें, १/२ राजू महाशुक्रके ऊपरी भागमें, १/२ राजू सहस्रारके ऊपरी भागमें।१६०। १/२ राजू आनतके ऊपरी भागमें और १/२ राजू आरण-अच्युतके ऊपरी भागमें समाप्त हो जाता है।१६१। उसके ऊपर एक राजूकी ऊँचाईमें नवग्रैवेयक, नव अनुदिश, और ५ अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोकमें ७ राजूका विभाग कहा गया।१६२। अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक-विमान सम्बन्धी ध्वजदण्डके अग्रभाग तक उन-उन
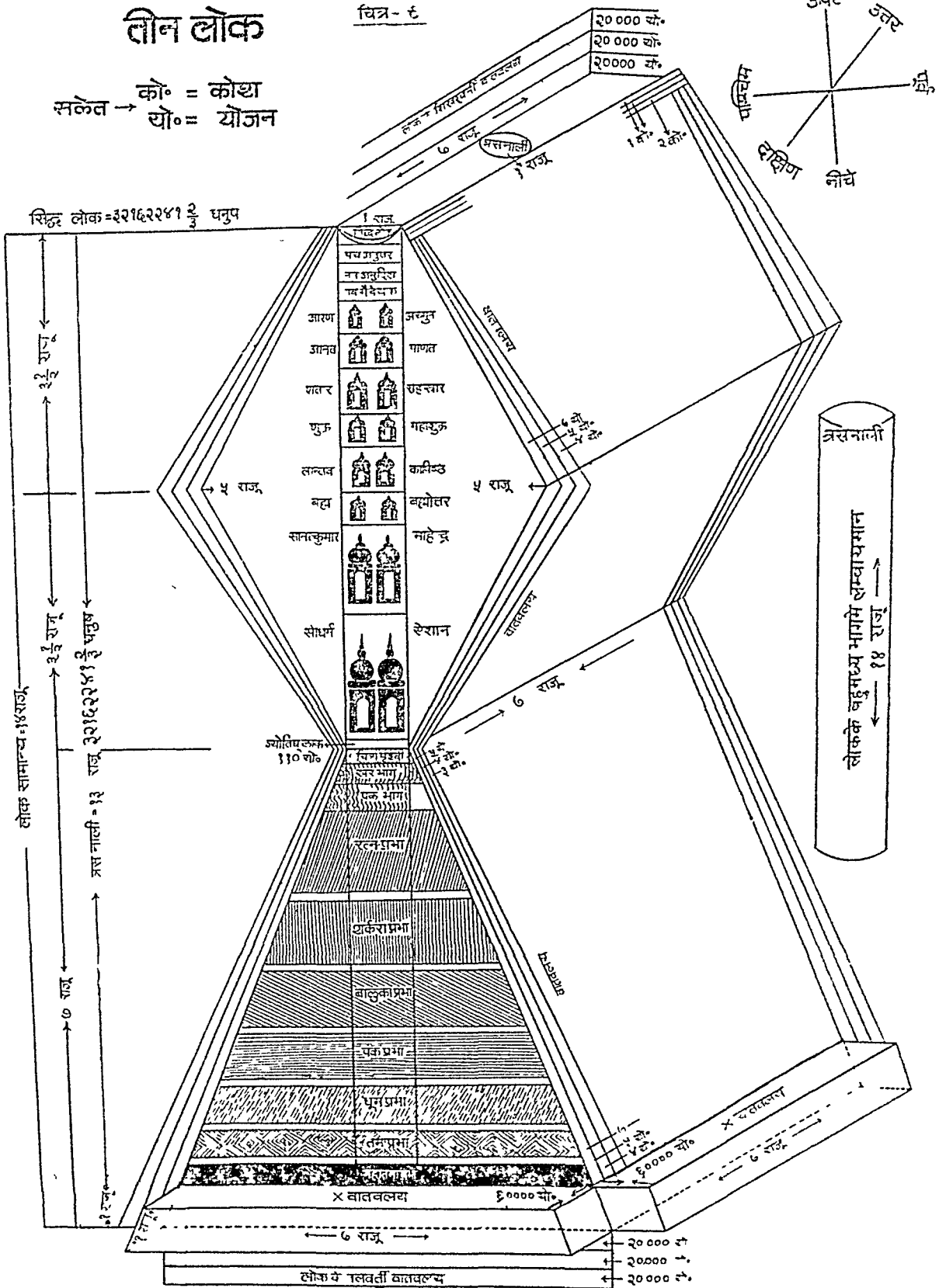
× लोक के नीचे वाले एक राजू प्रमाण कलकल नामक स्थावरलोक को चारो ओर से घेर कर अवस्थित ६०,००० यो० मोटा वातवलय।

स्वर्गोंका अन्त समझना चाहिए। और कल्पातीत भूमिका जो अन्त है वही लोकका भी अन्त है।१६३। ८. [लोक शिखरके नीचे ४२५ धनुष और २१ योजन मात्र जाकर अन्तिम सर्वार्थसिद्धि इन्द्रक स्थित है (दे० स्वर्ग/५/१) सर्वार्थसिद्धि इन्द्रकके ध्वजदण्डसे १२ योजन मात्र ऊपर जाकर अष्टम पृथिवी है। वह ८ योजन मोटी व एक राजू प्रमाण विस्तृत है। उसके मध्य ईषत् प्राग्भार क्षेत्र है। वह ४५००,००० योजन विस्तार युक्त है। मध्यमें ८ योजन और सिरोंपर केवल अंगुल प्रमाण मोटा है। इस अष्टम पृथिवीके ऊपर ७०५० धनुष जाकर सिद्धिलोक है (दे० मोक्ष/१/७)]

४. वातवलयोंका परिचय

१. वातवलय सामान्य परिचय

ति.प/१/२६८ गोमुत्तमुग्गवण्णा घणोदधी तह घणाणिलओ वाऊ। तणुवादो बहुवण्णो रुक्खस्स तय व वलयातिय।२६८। =गोमूत्रके समान वर्णवाला घनोदधि, मूगके समान वर्णवाला घनवात तथा अनेक वर्णवाला तनुवात। इस प्रकार ये तीनों वातवलय वृक्षकी त्वचाके समान (लोकको घेरे हुए) है।२६८। (रा वा/३/१/८/१६०/१६); (त्रि. सा/१२३), (दे० सामने चित्र सं० ६)।

२. तीन वातवलयोंका अवस्थान क्रम

ति. प/१/२६६ पढमो लोयाधारो घणोवही इह घणाणिलो तत्तो। तप्परदो तणुवादो अंतम्मि णह णिआधार।२६६। =इनमेंसे प्रथम घनोदधि वातवलय लोकका आधारभूत है, इसके पश्चात् घनवातवलय, उसके पश्चात् तनुवातवलय और फिर अंतमें निजाधार आकाश है।।२६६। (स. सि/३/१/२०४/३), (रा. वा./३/१/८/१६०/१४), (तत्त्वार्थ वृत्ति/३/१/श्लो १-२/११२)।

तत्त्वार्थ वृत्ति/३/१/१११/१६ सर्वा सप्तापि भूमयो घनवातप्रतिष्ठा वर्तन्ते। स च घनवात अम्बुवातप्रतिष्ठोऽस्ति। स चाम्बुवातस्तनुवातस्तनुप्रतिष्ठो वर्तते। स च तनुवात आकाशप्रतिष्ठो भवति। आकाशस्यालम्बनं किमपि नास्ति।=दृष्टि न. २ —ये सभी सातों भूमियाँ घनवातके आश्रय स्थित है। वह घनवात भी अम्बु (घनोदधि) वातके आश्रय स्थित है और वह अम्बुवात तनुवातके आश्रय स्थित है। वह तनुवात आकाशके आश्रय स्थित है, तथा आकाशका कोई भी आलम्बन नहीं है।

३. पृथिवियोंके साथ वातवलयोंका स्पर्श

ति प/२/२४ सत्तच्चिय भूमीओ णवदिसभाएण घणोवहिविलग्गा। अट्ठमभूमीदसदिस भागेसु घणोवहिं छिवदि।२४।

ति प ८/२०६-२०७ सोहम्मदुगविमाणा घणस्सरूवस्स उवरि सलिलस्स। चेट्ठंते पवणोवरि माहिंदसणक्कुमाराणि।२०६। बम्हाई चत्तारो कप्पा चेट्ठंति सलिलवादूढ। आणदपाणदपहुदी सेसा सुद्धम्मि गयणयले।२०७।=सातो (नरक) पृथिवियाँ ऊर्ध्व दिशाको छोडकर शेष नौ दिशाओंमे घनोदधि वातवलयसे लगी हुई है, परन्तु आठवीं पृथिवी दशो दिशाओंमें ही वातवलयको छूती है।२४। सौधर्म युगलके विमान घनस्वरूप जलके ऊपर तथा माहेन्द्र व सनत्कुमार कल्पके विमान पवनके ऊपर स्थित है।२०६। ब्रह्मादि चार कल्प जल व वायु दोनोके ऊपर, तथा आनत प्राणत आदि शेष विमान शुद्ध आकाशतलमें स्थित है।२०७।

४. वातवलयोंका विस्तार

ति. प/१/२७०-२८१ जोयणवीससहस्सा वहलतम्मारुदाण पत्तेक्क। अट्ठाखिदीण हेट्ठेलोअतले उवरि जाव इगिरज्जू।२७०। सगपण चउजोयणय सत्तमणारयम्मि पुहविपणधीए। पचचउतियंपमाण तिरीयखेत्तस्स पणिधीए।२७१। सगपचचउसमाणा पणिधीए होंति बम्हकप्पस्स। पणचउतिय जोयणया उवरिमलोयस्स अंतम्मि।२७२। कोसदुगमेक्ककोसं किंचूणेक्क च लोगसिहरम्मि। ऊणपमाण दंडा चउस्सया पंचवीस जुदा।२७३। तीस इगिदालदल कोसा तियभाजिदा य उणवणया। सत्तमखिदिपणिधीए बम्हजुदे वाउबहलत्तं।२८०। दो छब्बारस भाग भहिओ कोसो कमेण वाउघणं। लोयउवरिम्मि एवं लोय विभायम्मि पण्णत्तं।२८१। =दृष्टि नं० १—आठ पृथिवियोंके नीचे लोकके तलभागसे एक राजूकी ऊँचाई तक इन वायुमण्डलोंमेंसे प्रत्येककी मोटाई २० ००० योजन प्रमाण है।२७०। सातवें नरकमें पृथिवियोंके पार्श्व भागमें क्रमसे इन तीनों वातवलयोकी मोटाई ७,५ और ४ तथा इसके ऊपर तिर्यग्लोक (मर्त्यलोक) के पार्श्वभागमें ५,४ और ३ योजन प्रमाण है।२७१। इसके आगे तीनों वायुओंकी मोटाई ब्रह्म स्वर्गके पार्श्व भागमें क्रमसे ७,५ और ४ योजन प्रमाण, तथा ऊर्ध्वलोकके अन्तमें (पार्श्व भागमें) ५, ४ और ३ योजन प्रमाण है।२७२। लोकके शिखरपर (पार्श्व भागमें) उक्त तीनों वातवलयोंका बाहल्य क्रमशः २ कोस, १ कोस और कुछ कम १ कोस है। यहाँ कुछ कमका प्रमाण ४२५ धनुष समझना चाहिए।२७३। [शिखर पर प्रत्येककी मोटाई २०,००० योजन है —दे० मोक्ष/१/७] (त्रि सा./१२४-१२६)। दृष्टि न० २—सातवीं पृथिवी और ब्रह्म युगलके पार्श्वभागमें तीनो वायुओंकी मोटाई क्रमसे ३०, ४१/२ और ४६/३ कोस है।२८०। लोक शिखरपर तीनो वातवलयोंकी मोटाई क्रमसे $१\frac{१}{३}$, $१\frac{१}{२}$ और $१\frac{१}{१२}$ कोस प्रमाण है। ऐसा लोक विभागमें कहा गया है।२८१।—विशेष दे. चित्र स. १ पृ. ४५५.

५. लोकके आठ रुचक प्रदेश

रा. वा/१/२०/१२/७६/१३ मेरुप्रतिष्ठावज्रवैडूर्यपटलान्तररुचकसंस्थिता अष्टावाकाशप्रदेशलोकमध्यम्। =मेरु पर्वतके नीचे वज्र व वैडूर्य पटलोंके बीचमें चौकोर संस्थान रूपसे अवस्थित आकाशके आठ प्रदेश लोकका मध्य है।

६. लोक विभाग निर्देश

ति प/१/१३६ सयलो एस य लोओ णिप्पण्णो सेढिविंदमाणेण। तिवियप्पो णादव्वो हेट्ठिममज्झिमउड्ढ भेएण।१३६। =श्रेणी वृन्दके मानसे अर्थात् जगश्रेणीके घन प्रमाणसे निष्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण लोक, अधोलोक मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकके भेदसे तीन प्रकारका है।१३६। (वा. अ./३६), (ध. १३/५,५,५०/२८८/४)।

७. त्रस व स्थावर लोक निर्देश

[पूर्वोक्त वेत्रासन व मृदंगाकार लोकके बहु मध्य भागमें, लोक शिखरसे लेकर उसके अन्त पर्यन्त १४ राजू लम्बी व मध्यलोक समान एक राजू प्रमाण विस्तार युक्त नाडी है। त्रस जीव इस नाडीसे बाहर नहीं रहते इसलिए यह त्रसनाली नामसे प्रसिद्ध है। (दे० त्रस/२/३,४)। परन्तु स्थावर जीव इस लोकमें सर्वत्र पाये जाते है। (दे० स्थावर/६) तहाँ भी सूक्ष्म जीव तो लोकमें सर्वत्र ठसाठस भरे है, पर बादर जीव केवल त्रसनालीमें होते है (दे० सूक्ष्म/७) उनमें भी तेजसकायिक जीव केवल कर्मभूमियोंमें ही पाये जाते है अथवा अधोलोक व भवनवासियोके विमानोमें पाँचो कायोंके जीव पाये जाते है, पर स्वर्ग लोकमें नहीं — दे० काय/२/५। विशेष दे, चित्र स. १ पृ. ४५५.

८. अधोलोक सामान्य परिचय

[सर्वलोक तीन भागोमें विभक्त है—अधो, मध्य व ऊर्ध्व—दे० लोक/२/२ मेरु तलके नीचेका क्षेत्र अधोलोक है, जो वेत्रासनके आकार वाला है। ७ राजू ऊँचा व ७ राजू मोटा है। नीचे ७ राजू व ऊपर १ राजू प्रमाण चौडा है। इसमें ऊपरसे लेकर नीचे तक क्रम-

अधो लोक संकेत यो०= योजन
चित्र सं० - १०
ऊपर
नीचे
१ राजू
सुमेरु
चित्रा
खर भाग
पंक भाग
१ सीमन्तक
२ निरय
३ रौरुक
४ भ्रान्त
५ उद्भ्रान्त
६ सम्भ्रान्त
७ असंभ्रान्त
८ विभ्रान्त
९ तप्त
१० त्रसित
११ वक्रान्त
१२ अवक्रान्त
१३ विक्रान्त
प्रत्येक पटल का अन्तराल = १००० यो
१ प्रथम नरक (घम्मा)
कुल बिल ३० लाख
(विशेष दे० - रत्नप्रभा)
खर व पंक भाग विशेष दे० भवन/४
वातवलय
अन्तराल पृथ्वी की अपेक्षा असंख्यात गुणा है
१ स्तनक
२ तनक
३ मनक
४ वनक
५ घात
६ संघात
७ जिह्वा
८ जिह्विक
९ लोल
१० लोलक
११ स्तनक
कुल बिल २५ लाख
अन्तराल
३ वालुका प्रभा (मेघा)
कुल बिल - १५ लाख
१ तप्त
२ शीत
३ तपन
४ तापन
५ निदाघ
६ प्रज्वलित
७ उज्वलित
८ संज्वलित
९ सम्प्रज्वलित
४ पंकप्रभा (अंजना)
बिल = १० लाख
१ आर
२ मार
३ तार
४ तत्व
५ तमक
६ वाद
७ खडखड
५ धूमप्रभा
(अरिष्ट)
बिल = ३ लाख
१ तमक
२ भ्रमक
३ झषक
४ वाविल
५ तिमिस्र
२ वर्दल
२०००० यो०
१६००० यो०
८००० यो०
१ राजू
७ राजू
कलकल पृथ्वी
७ महातम प्रभा
(माघवी)
बिल ५
× ६ तम प्रभा (मघवी)
कुल बिल ९९९९५
प्रत्येक पटल में इन्द्रक व श्रेणी बद्ध
चित्र स० ११
उत्तर
ईशान
पूर्व
आग्नेय
दक्षिण
नैऋत्य
पश्चिम
वायव्य
प्रथम नरक का
प्रथम पटल
सीमन्तक
पटल
इन्द्रक
श्रेणीबद्ध
प्रकीर्णक
[त्रस नाली मे ऊपर की
ओर से देखने पर]
अंतिम नरक का
अंतिम पटल
अवधि स्थान
पटल
काल
महा काल
महा रौरव
रौरव
अवधि-इन्द्रक
स्थान
यहाँ प्रत्येक दिशा
में केवल एक
एक श्रेणीबद्ध
है। विदिशाओं में
नहीं है। नहीं
प्रकीर्णक है।
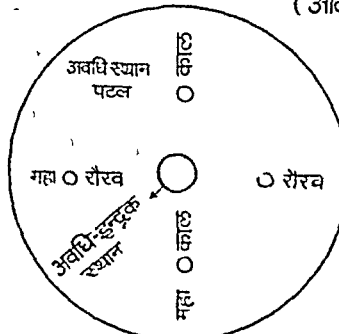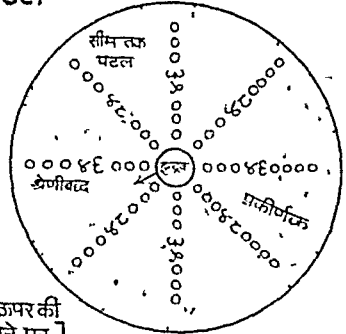
ने रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमप्रभा व महातमप्रभा नामकी ७ पृथिवियाँ लगभग एक राजू अन्तरालसे स्थित है। प्रत्येक पृथिवीमें यथायोग्य १३,११ आदि पटल १००० योजन अन्तरालसे अवस्थित है। कुल पटल ४६ हैं। प्रत्येक पटलमें अनेकों बिल या गुफाएँ है। पटलका मध्यवर्ती बिल इन्द्रक कहलाता है। इसकी चारों दिशाओं व विदिशाओंमें एक श्रेणीमें अवस्थित बिल श्रेणीबद्ध कहलाते है और इनके बीचमें रत्नराशिवत् बिखरे हुए बिल प्रकीर्णक कहलाते हैं। इन बिलोंमें नारकी जीव रहते है। (दे० नरक/५)। सातों पृथिवियों के नीचे अन्तमें एक राजू प्रमाण क्षेत्र खाली है। (उसमें केवल निगोद जीव रहते है) —दे० लोक/३/१४। (विशेष देखो, नरक/५)

★ रत्नप्रभा पृथिवीके खर व पंक भागका चित्र—दे० भवन/४।

★ रत्नप्रभा पृथिवीके अब्बहुल भाग का चित्र—दे० रत्नप्रभा।

९. भावनलोक निर्देश

[उपरोक्त सात पृथिवियोमें जो रत्नप्रभा नामकी प्रथम पृथिवी है, वह तीन भागोमें विभक्त है—खरभाग, पकभाग व अब्बहुल भाग। खरभाग भी चित्रा, वैडूर्य, लोहिताक आदि १६ प्रस्तरोंमें विभक्त है। प्रत्यक प्रस्तर १००० योजन मोटा है। उनमें चित्रा नामका प्रथम प्रस्तर अनेको रत्नों व धातुओंकी खान है। (दे० रत्नप्रभा)। तहाँ खर व पकभागमें भावनवासी देवोंके भवन है और अब्बहुल भागमें नरक पटल है (दे० भवन/४/१)। इसके अतिरिक्त तिर्यक् लोकमें भी यत्र-तत्र-सर्वत्र उनके पुर, भवन व आवास है। (दे० व्यतर/४/१,५)। (विशेष दे० भवन/४)]

१०. व्यन्तर लोक निर्देश

[चित्रा पृथिवीके तल भागसे लेकर सुमेरुकी चोटी तक तिर्यग्लोक प्रमाण विस्तृत सर्वक्षेत्र व्यन्तरोंके रहनेका स्थान है। इसके अतिरिक्त खर व पकभागमे भी उनके भवन है। मध्यलोकके सर्व-द्वीप समुद्रोंकी वेदिकाओंपर, पर्वतोंके कूटोंपर, नदियोंके तटोंपर इत्यादि अनेक स्थलोपर यथायोग्य रूपमें उनके पुर, भवन व आवास है। (विशेष दे० व्यन्तर/४)]।

११. मध्यलोक निर्देश

१ द्वीप-सागर आदि निर्देश

ति प /५/८-१०,२७ सव्वे दीवसमुद्दा सखादीदा भवंति समवट्टा। पढमो दीओ उवही चरिमो मज्झम्मि दीउवही।८। चित्तोवरि बहुमज्झे रज्जुपरिमाणदीहविक्खंभे। चेट्ठंति दीवउवही एक्केक्क वेढिऊण हु प्परिदो।९। सव्वे वि वाहिणीसा चित्तखिदि खंडिदूण चेट्ठंति। वज्जखिदीए उवरिं दीवा वि हु उवरि चित्ताए।१०। जम्बूदीवे लवणो उवही कालो त्ति धादईसंडे। अवसेसा वारिणिही वत्तव्वा दीव-समणामा।२८। =१ सब द्वीप-समुद्र असख्यात एवं समवृत्त है। इनमेंसे पहला द्वीप, अन्तिम समुद्र और मध्यमें द्वीप समुद्र है।८। चित्रा पृथिवीके ऊपर बहुमध्य भागमें एकराजू लम्बे-चौडे क्षेत्रके भीतर एक-एकको चारो ओरसे घेरे हुए द्वीप व समुद्र स्थित है।९। सभी समुद्र चित्रा पृथिवीको खण्डित कर वज्रा पृथिवीके ऊपर, और सब द्वीप चित्रा पृथिवीके ऊपर स्थित है।१०। (मू. आ./१०७६), (त सू /३/७-८), (ह पु /५/२,६२६-६२७), (ज प /१/१६)। २. जम्बूद्वीपमें लवणोदधि और घातकीखण्डमें कालोद नामक समुद्र है। शेष समुद्रोंके नाम द्वीपोंके नामके समान ही कहना चाहिए। ।२८। (मू आ /१०७७), (रा वा /३/३८/७/२०८/१७), (ज प./११/८३)।

त्रि, सा /८८६ वज्जमयमूलभागा वेलुरियकयाइरम्मा सिहरजुदा। दीवो वहीणमते पायारा होति सव्वत्थ ।८८६। =सभी द्वीप व समुद्रोंके अन्तमें परिधि रूपसे वैडूर्यमयी वेदिका होती है, जिनका मूल वज्रमयी होता है तथा जो रमणीक शिखरोंसे सयुक्त है। (—विशेष दे० लोक/३-४)।

नोट—[द्वीप-समुद्रोंके नाम व समुद्रोंके जलका स्वाद—दे० लोक/५]।

२. तिर्यक्लोक, मनुष्यलोक आदि विभाग

ध. ४/१,३,१/९/३ देसभेएण तिविहो, मदरचिलियादो, उवरिमुड्ढ-लोगो, मदरमूलादो हेट्ठा अधोलोगो, मंदरपरिच्छिण्णो मज्झलोगो त्ति। =देशके भेदसे क्षेत्र तीन प्रकारका है। मन्दराचल (सुमेरु-पर्वत) की चूलिकासे ऊपरका क्षेत्र ऊर्ध्वलोक है। मन्दराचलके मूलसे नीचेका क्षेत्र अधोलोक है। मन्दराचलसे परिच्छिन्न अर्थात् तत्प्रमाण मध्यलोक है।

ह. पु./५/१ तनुवातान्तपर्यन्तस्तिर्यग्लोको व्यवस्थित'। लक्षितावधि-रूर्ध्वाधो मेरुयोजनलक्षया।१। =१. तनुवातवलयके अन्तभाग तक तिर्यग्लोक अर्थात् मध्यलोक स्थित है। मेरु पर्वत एक लाख योजन विस्तारवाला है। उसी मेरु पर्वत द्वारा ऊपर तथा नीचे इस तिर्यग्लोककी अवधि निश्चित है।१। [इसमें असख्यात द्वीप, समुद्र एक दूसरेको वेष्टित करके स्थित हैं दे० लोक/३/१। यह साराका सारा तिर्यक्लोक कहलाता है, क्योंकि तिर्यंच जीव इस क्षेत्रमें सर्वत्र पाये जाते है। २. उपरोक्त तिर्यग्लोकके मध्यवर्ती, जम्बूद्वीपसे लेकर मानुषोत्तर पर्वत तक अढाई द्वीप व दो सागरसे रुद्ध ४५००,००० योजन प्रमाण क्षेत्र मनुष्यलोक है। देवों आदिके द्वारा भी उनका मानुषोत्तर पर्वतके पर भागमें जाना सम्भव नहीं है। (—दे० मनुष्य/४)। ३ मनुष्य लोकके इन अढाई द्वीपोंमेंसे जम्बूद्वीपमें १ और घातकी व पुष्करार्धमें दो-दो मेरु हैं। प्रत्येक मेरु सम्बन्धी ६ कुलधर पर्वत होते है, जिनसे वह द्वीप ७ क्षेत्रोंमें विभक्त हो जाता है। मेरुके प्रणिधि भागमें दो कुरु तथा मध्यवर्ती विदेह क्षेत्रके पूर्व व पश्चिमवर्ती दो विभाग होते है। प्रत्येकमें ८ वक्षार पर्वत, ६ विभगा नदियाँ तथा १६ क्षेत्र है। उपरोक्त ७ व इन ३२ क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकमें दो-दो प्रधान नदियाँ है। ७ क्षेत्रोंमेंसे दक्षिणी व उत्तरीय दो क्षेत्र तथा ३२ विदेह इन सबके मध्यमें एक-एक विजयार्ध पर्वत है, जिनपर विद्याधरोंकी बस्तियाँ है। (दे० लोक/३)। ४. इस अढाई द्वीप तथा अन्तिम द्वीप सागरमें ही कर्म-भूमि है, अन्य सर्व द्वीप व सागरमें सर्वदा भोगभूमिकी व्यवस्था रहती है। कृष्यादि षट्कर्म तथा धर्म-कर्म सम्बन्धी अनुष्ठान जहाँ पाये जायें वह कर्मभूमि है, और जहाँ जीव बिना कुछ किये प्राकृतिक पदार्थोंके आश्रयपर उत्तम भोग भोगते हुए सुखपूर्वक जीवन-यापन करें वह भोगभूमि है। अढाई द्वीपके सर्व क्षेत्रोंमें भी सर्व विदेह क्षेत्रोंमें त्रिकाल उत्तम प्रकारकी कर्मभूमि रहती है। दक्षिणी व उत्तरी दो-दो क्षेत्रोंमें षट्काल परिवर्तन होता है। तीन कालोंमें उत्तम, मध्यम व जघन्य भोगभूमि और तीन कालोंमें उत्तम, मध्यम व जघन्य कर्मभूमि रहती है। दोनों कुरुओंमें सदा उत्तम भोगभूमि रहती है, इनके आगे दक्षिण व उत्तरवर्ती दो क्षेत्रोंमें सदा मध्यम भोगभूमि और उनसे भी आगेके शेष दो क्षेत्रोंमें सदा जघन्य भोगभूमि रहती है (दे० भूमि) भोगभूमिमें जीवकी आयु शरीरोत्सेध बल व सुख क्रमसे वृद्धिगत होता है और कर्मभूमिमें क्रमश हानिगत होता है। —दे० काल/४। ५ मनुष्य लोक व अन्तिम स्वयप्रभ द्वीप व सागरको छोडकर शेष सभी द्वीप सागरोंमें विकलेन्द्रिय व जलचर नहीं होते है। इसी प्रकार सर्व ही भोगभूमियोंमें भी वे नहीं होते है। वैर वश देवोंके द्वारा ले जाये गये वे सर्वत्र सम्भव है।—दे० तिर्यंच/३/१।

१२. ज्योतिष लोक सामान्य निर्देश

[पूर्वोक्त चित्रा पृथिवीसे ७९० योजन ऊपर जाकर ११० योजन पर्यन्त आकाशमें एक राजू प्रमाण विस्तृत ज्योतिष लोक है। नीचेसे
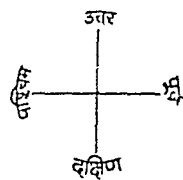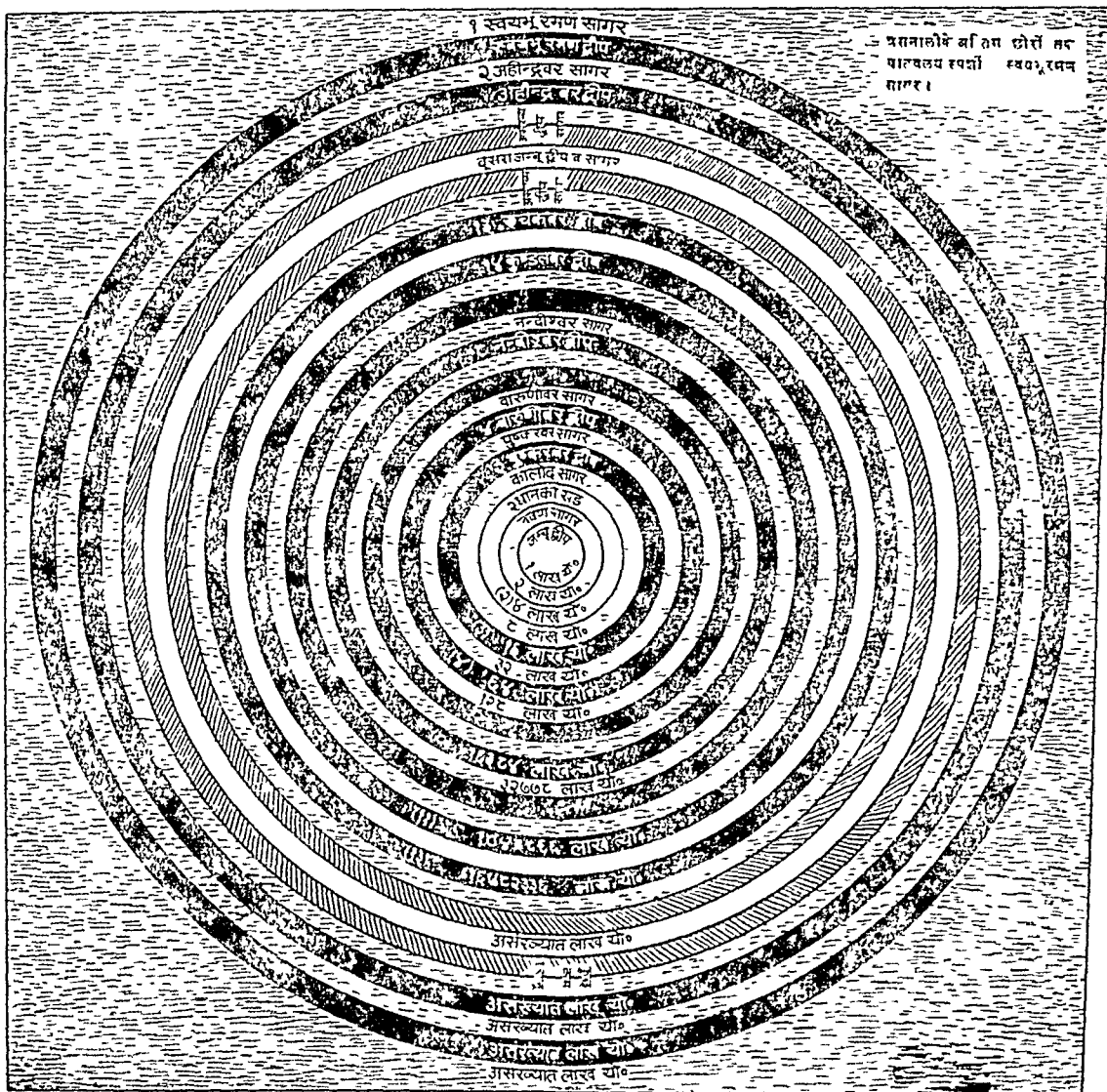
नोट — त्रस नाली मे ऊपर की ओर से देखने पर ऐसा दिखाई देता है।

ऊपरको आर क्रमसे तारागण, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, शुक्र, बृहस्पति, मंगल, शनि व शेष अनेक ग्रह अवस्थित रहते हुए अपने-अपने योग्य संचार क्षेत्रमें मेरुकी प्रदक्षिणा देते रहते हैं। इनमेंसे चन्द्र इन्द्र है और सूर्य प्रतीन्द्र। १ सूर्य, ८८ ग्रह, २८ नक्षत्र व ६६९७५ तारे, ये एक चन्द्रमाका परिवार है। जम्बूद्वीपमें दो, लवणसागरमें ४, धातकी खण्डमें १२, कालोदमें ४२ और पुष्करार्धमें ७२ चन्द्र है। ये सब तो चर अर्थात् चलनेवाले ज्योतिष विमान है। इससे आगे पुष्करके परार्धमें ८, पुष्करोदमें ३२, वारुणीवर द्वीपमें ६४ और इससे आगे सर्व द्वीप समुद्रोंमें उत्तरोत्तर दुगुने चन्द्र अपने परिवार सहित स्थित हैं। ये अचर ज्योतिष विमान हैं—दे० ज्योतिष/२।]

१३. ऊर्ध्वलोक सामान्य परिचय

[सुमेरु पर्वतकी चोटीसे एक बाल मात्र अन्तरसे ऊर्ध्वलोक प्रारम्भ होकर लोक-शिखर पर्यन्त १००४०० योजनकम ७ राजू प्रमाण-ऊर्ध्वलोक है। उसमें भी लोक शिखरसे २१ योजन ४२५ धनुष नीचे तक तो स्वर्ग है और उससे ऊपर लोक शिखर पर सिद्ध लोक है। स्वर्गलोकमें ऊपर-ऊपर स्वर्ग पटल स्थित है। इन पटलोंमें दो विभाग है—कल्प व कल्पातीत। इन्द्र सामानिक आदि १० कल्पनाओं युक्त देव कल्पवासी है और इन कल्पनाओसे रहित अहमिन्द्र कल्पातीत विमानवासी हैं। आठ युगलों रूपसे अवस्थित कल्प पटल १६ हैं—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, और अच्युत। इनसे ऊपर ग्रैवेयेक, अनुदिश व अनुत्तर ये तीन पटल कल्पातीत है। प्रत्येक पटल लाखों योजनोंके अन्तरालसे ऊपर-ऊपर अवस्थित है। प्रत्येक पटलमें असंख्यात योजनोंके अन्तरालसे अन्य क्षुद्र पटल है। सर्वपटल मिलकर ६३ है। प्रत्येक पटलमें विमान है। नरकके बिलोंवत ये विमान भी इन्द्रक श्रेणिबद्ध व प्रकीर्णकके भेदसे तीन प्रकारोंमें विभक्त हैं। प्रत्येक क्षुद्र पटलमें एक-एक इन्द्रक है और अनेकों श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक। प्रथम महापटलमें ३३ और अन्तिममें केवल एक सर्वार्थसिद्धि नामका इन्द्रक है, इसकी चारों दिशाओमें केवल एक-एक श्रेणीबद्ध है। इतना यह सब स्वर्गलोक कहलाता है (नोट—चित्र सहित विस्तारके लिए दे० स्वर्ग) सर्वार्थसिद्धि विमानके ध्वजदण्डसे २९ योजन ४२५ धनुष ऊपर जाकर सिद्धलोक है। जहाँ मुक्तजीव अवस्थित है। तथा इसके आगे लोकका अन्त हो जाता है (दे० मोक्ष/१/७)।]

३. जम्बूद्वीप निर्देश

१. जम्बूद्वीप सामान्य निर्देश

स सृ/३/९-२३ तन्मध्ये मेरुनाभिवृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीप ।९। भरतहेमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षा क्षेत्राणि ।१०। तद्विभाजिन पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील-रुक्मिशिखरिणा वर्षधरपर्वताः ।११। हेमार्जुनतपनीयवैडूर्यरजत-हेममया ।१२। मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्तारा ।१३। पद्ममहापद्मतिगिंछकेसरिमहापुण्डरीकपुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि ।१४। तन्मध्ये योजन पुष्करम् ।१७। तद्द्विगुणद्विगुणा ह्रदा' पुष्कराणि च ।१८। तन्निवासिन्यो देव्य श्रीह्रीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्य पल्योपम-स्थितय ससामानिकपरिषत्का' ।१९। गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्या-हरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदा सरितस्तन्मध्यगा' ।२०। द्वयोर्द्वयो पूर्वा पूर्वगा' ।२१। शेषास्त्वपरगा' ।२२। चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गासिन्ध्वादयो नद्य ।२३। —१. उन सब (पूर्वोक्त असंख्यात द्वीप समुद्रों—दे० लोक/२/११) के बीचमें गोल और १००,००० योजन विष्कम्भवाला जम्बूद्वीप है। जिसके मध्यमें मेरु पर्वत है।९। (ति. प./४/११ व ५/८); (ह पु./५/३); (ज. प./१/२०)। २. उसमें भरतवर्ष, हैमवतवर्ष, हरिवर्ष, विदेहवर्ष, रम्यकवर्ष, हैरण्यवतवर्ष और ऐरावतवर्ष ये सात वर्ष अर्थात् क्षेत्र है।१०। उन क्षेत्रोको विभाजित करनेवाले और पूर्व-पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मी, और शिखरी ये छह वर्षधर या कुलाचल पर्वत है।११। (ति प./४/९०-९४), (ह. पु/५/१३-१५), (ज. प./२/२ व ३/२); (त्रि. सा./५६४)। ३. ये छहो पर्वत क्रमसे सोना, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्यमणि, चाँदी, और सोना इनके समान रंगवाले है।१२। इनके पार्श्वभाग मणियोंसे चित्र विचित्र है। तथा ये ऊपर, मध्य और मूलमें समान विस्तारवाले है।१३। (ति. प./४/९४-९५), (त्रि. सा./५६६)। ४. इन कुलाचल पर्वतोके ऊपर क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक, और पुण्डरीक, ये तालाब है।१४। (ह. पु/५/१२०-१२१), (ज. प./३/६६)। ५ पहिला जो पद्म नामका तालाब है उसके मध्य एक योजनका कमल है [इसके चारो तरफ अन्य भी अनेकों कमल है—दे० आगे लोक/३।] इससे आगेके ह्रदोंमें कमल है। वे तालाब व कमल उत्तरोत्तर दूने विस्तार वाले है।१७-१८। (ह. पु/५/१२६), (ज. प./३/६९)। ६. पद्म ह्रदको आदि लेकर इन कमलोपर क्रमसे श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी ये देवियाँ, अपने-अपने सामानिक, परिषद् आदि परिवार देवोके साथ रहती है—(दे० व्यतर/-३)।१९। (ह. पु./५/१३०)। ७. [उपरोक्त पद्म आदि द्रहोंमेंसे निकल कर भरत आदि क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येकमें दो-दो करके क्रमसे] गगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित-हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा नदियाँ बहती है।२०। (ह. पु./५/१२२-१२५)। [तिनमें भी गगा, सिन्धु व रोहितास्या ये तीन पद्म द्रहसे, रोहित व हरिकान्ता महापद्म द्रहसे, हरित व सीतोदा तिगिंछ द्रहसे, सीता व नरकान्ता केशरी द्रहसे, नारी व रूप्यकूला महापुण्डरीकसे तथा सुवर्णकूला, रक्ता व रक्तोदा पुण्डरीक सरोवरसे निकली है—(ह. पु/५/१३२-१३५)]। ८. उपरोक्त युगलरूप दो-दो नदियोंमेंसे पहली-पहली नदी पूर्व समुद्रमें गिरती है और पिछली-पिछली नदी पश्चिम समुद्रमें गिरती है।२१-२२। (ह. पु./५/१६०); (ज. प./३/१९२-१९३)। ९. गगा सिन्धु आदि नदियोंकी चौदह-चौदह हजार परिवार नदियाँ है। [यहाँ यह विशेषता है कि प्रथम गंगा सिन्धु युगलमेंसे प्रत्येककी १४०००, द्वि. युगलमें प्रत्येककी २८००० इस प्रकार सीतोदा नदी तक उत्तरोत्तर दूनी नदियाँ है। तदनन्तर शेष तीन युगलोंमें पुन. उत्तरोत्तर आधी-आधी है। (स. सि/३/२३/२२०/१०), (रा. वा./३/२३/३/१९०/१३), (ह. पु./५/२७५-२७६)]।

ति प/४/गा का भावार्थ—१०. यह द्वीप एक जगती करके वेष्टित है।१५। (ह. पु/५/३), (ज प/१/२६)। ११. इस जगतीकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नामके चार द्वार हैं।४१-४२। (रा वा/३/९/१/१७०/२९), (ह. पु./५/३९०); (त्रि सा/८९२), (ज. प/१/३८,४२)। १२. इनके अतिरिक्त यह द्वीप अनेकों वन उपवनो, कुण्डों, गोपुर द्वारो, देव नगरियो व पर्वत, नदी, सरोवर, कुण्ड आदि सबकी वेदियों करके शोभित है।९२-९९। १४ [प्रत्येक पर्वतपर अनेकों कूट होते है (दे० आगे उन पर्वतोंका निर्देश) प्रत्येक पर्वत व कूट, नदी, कुण्ड, द्रह, आदि वेदियों करके संयुक्त होते है—(दे० अगला शीर्षक)। प्रत्येक पर्वत, कुण्ड, द्रह, कूटोंपर भवनवासी व व्यन्तर देवोंके पुर, भवन व आवास हैं—(दे० व्यन्तर/४)। प्रत्येक पर्वत आदिके ऊपर तथा उन देवोंके भवनोंमें जिन चैत्यालय होते है। (दे० चैत्यालय/३/२)।]

२. जम्बूद्वीपमें क्षेत्र पर्वत नदी आदिका प्रमाण

१. क्षेत्र, नगर आदिका प्रमाण

(ति प /४/२३९६–२३९७), (ह. पु /५/८–११); (ज. प /१/५५)।

नं.	नाम	गणना	विवरण
१	महाक्षेत्र	७	भरत हैमवत आदि (दे० लोक/३/-१/२)।
२	कुरुक्षेत्र	२	देवकुरु व उत्तर कुरु।
३	कर्मभूमि	३४	भरत, ऐरावत व ३२ विदेह।
४	भोगभूमि	६	हैमवत, हरि, रम्यक व हैरण्यवत तथा दोनों कुरुक्षेत्र।
५	आर्यखण्ड	३४	प्रति कर्मभूमि एक।
६	म्लेच्छ खण्ड	१७०	प्रति कर्मभूमि पाँच।
७	राजधानी	३४	प्रति कर्मभूमि एक।
८	विद्याधरोके नगर।	३७४० (३७५०)	भरत व ऐरावतके विजयार्धोंमेंसे प्रत्येकपर ११५ तथा ३२ विदेहोंके विजयार्धोंमि से प्रत्येक पर ११० (दे० विद्याधर)।

२. पर्वतोंका प्रमाण

(ति. प.४/२३९४–२३९७), (ह. पु /५/८–१०), (त्रि. सा /७३१); (ज. प./१/५५–५८,६६)।

नं.	नाम	गणना	विवरण
१	मेरु	१	जम्बूद्वीपके बीचोबीच।
२	कुलाचल	६	हिमवान् आदि (दे० लोक/३/१/२)।
३	विजयार्ध	३४	प्रत्येक कर्मभूमिमें एक।
४	वृषभगिरि	३४	प्रत्येक कर्मभूमिके उत्तर-मध्य म्लेच्छ खण्डमें एक।
५	नाभिगिरि	४	हैमवत, हरि, रम्यक व हैरण्यवत क्षेत्रोंके बीचोबीच।
६	वक्षार	१६	पूर्व व अपर विदेहके उत्तर व दक्षिण-में चार-चार।
७	गजदन्त	४	मेरुकी चारों विदिशाओमें।
८	दिग्गजेन्द्र	८	विदेह क्षेत्रके भद्रशालवनमें व दोनों कुरुओंमें सीता व सीतोदा नदीके दोनों तटोपर।
९	यमक	४	दो कुरुओंमें सीता व सीतोदाके दोनो तटोपर।
१०	काचनगिरि	२००	दोनों कुरुओमे पाँच-पाँच द्रहोके दोनों पार्श्वभागोमें दस-दस।
		३११	

३. नदियोंका प्रमाण

(ति. प./४/२३८०-२३८५), (ह. पु /५/२७२-२७७), (त्रि. सा./७४७-७५०); (ज. प /३/१९७-१९८)।

नाम	गणना	प्रत्येक का परिवार	कुल प्रमाण	विवरण
गगा-सिन्धु	२	१४०००	२८००२	भरतक्षेत्रमें
रोहित-रोहितास्या	२	२८०००	५६००२	हैमवत क्षेत्रमें
हरित-हरिकान्ता	२	५६०००	११२००२	हरि क्षेत्रमें
नारी नरकान्ता	२	५६०००	११२००२	रम्यक क्षेत्रमें
सुवर्णकूला व रूप्यकूला	२	२८०००	५६००२	हैरण्यवत क्षेत्रमें
रक्ता-रक्तोदा	२	१४०००	२८००२	ऐरावतक्षेत्रमें
छह क्षेत्रोंकी कुल नदियाँ			३९२०१२	
सीता-सीतोदा	२	८४०००	१६८००२	दोनो कुरुओंमें
क्षेत्र नदियाँ	६४	१४०००	८९६०६४	३२ विदेहोंमें
विभगा	१२	×	१२	
विदेहकी कुल नदियाँ			१०६४०७८	ह. पु व ज. प की अपेक्षा
जम्बू द्वीपकी कुल नदी			१४५६०९०	
विभगा	१२	२८०००	३३६०००	
जम्बूद्वीपकी कुल नदी			१७९२०९०	ति. प. की अपेक्षा

४. द्रह-कुण्ड आदि

न.	नाम	गणना	विवरण व प्रमाण
१	द्रह	१६	कुलाचलोपर ६ तथा दोनो कुरुमे १०– (ज. प /१/६७)।
२	कुण्ड	१७९२०९०	नदियोंके बराबर (ति प /४/२३८६)।
३	वृक्ष	२	जम्बू व शाल्मली (ह पु /५/८)
४	गुफाएँ	६८	३४ विजयार्धोंकी (ह पु /५/१०)
५	वन	अनेक	मेरुके ४ वन भद्रशाल, नन्दन, सौमनस व पाण्डुक। पूर्वापर विदेहके छोरोंपर देवारण्यक व भूतारण्यक। सर्व पर्वतों-के शिखरोपर, उनके मूलमें, नदियों-के दोनो पार्श्वभागोमें इत्यादि।
६	कूट	५६८	(ति प /४/२३९६)
७	चैत्यालय	अनेक	कुण्ड, वनसमूह, नदियाँ, देव नगरियाँ, पर्वत, तोरण द्वार, द्रह, दोनो वृक्ष, आर्य खण्डके तथा विद्याधरोंके नगर आदि सबपर चैत्यालय है —(दे० चैत्यालय)।

नं.	नाम	गणना	विवरण व प्रमाण
८	वेदियाँ	अनेक	उपरोक्त प्रकार जितने भी कुण्ड आदि तथा चैत्यालय आदि हैं उतनी ही उनकी वेदियाँ हैं। (ति. प./४/२३-८८-२३६०)।
		१८	जम्बूद्वीपके क्षेत्रोंकी (ज. प./१/६०-६७)
		३११	सर्व पर्वतोंकी
		१६	द्रहोंकी
		२४	पद्मादि द्रहोंकी
		६०	कुण्डोंकी
		१४	गंगादि महानदियोंकी
		५२००	कुण्डज महानदियोंकी
९	कमल	२२४१८५६	कुल द्रह = १६ और प्रत्येक द्रहमें कमल = १४०११६-(दे० आगे द्रहनिर्देश)

२. क्षेत्र निर्देश

१—जम्बूद्वीपके दक्षिणमें प्रथम भरतक्षेत्र जिसके उत्तरमें हिमवान् पर्वत और तीन दिशाओंमें लवणसागर है। (रा. वा./३/१०/३/१७१/-१२)। उसके बीचोंबीच पूर्वापर लम्बायमान एक विजयार्ध पर्वत है। (ति. प./४/१०७), (रा. वा./३/१०/४/१७१/१७); (ह. पु./५/२०); (ज. प./२/३२)। इसके पूर्वमें गंगा और पश्चिममें सिन्धु नदी बहती है। (दे० लोक/३/१/७)। ये दोनों नदियाँ हिमवान्के मूल भागमें स्थित गंगा व सिन्धु नामके दो कुण्डोंसे निकलकर पृथक्-पृथक् पूर्व व पश्चिम दिशामें, उत्तरसे दक्षिणकी ओर बहती हुई विजयार्ध की गुफाओंसे निकलकर दक्षिण क्षेत्रके अर्धभाग तक पहुँचकर और पश्चिमकी ओर मुड जाती है, और अपने-अपने समुद्रमें गिर जाती हैं—(दे० आगे नदी निर्देश)। इस प्रकार इन दो नदियों व विजयार्धसे विभक्त इस क्षेत्रके छह खण्ड हो जाते है। (ति. प./४/२६६); (स. सि./३/१०/२१३/६); (रा. वा./३/१०/३/१७१/१३)। विजयार्धकी दक्षिणके तीन खण्डोंमेंसे मध्यका खण्ड आर्यखण्ड है और शेष पाँच खण्ड म्लेच्छ खण्ड है —(दे० आर्यखण्ड)। आर्य खण्डके मध्य १२×९ यो० विस्तृत विनीता या अयोध्या नामकी प्रधान नगरी है जो चक्रवर्तीकी राजधानी होती है। (रा. वा./३/१०/१/१७१/६)। विजयार्धके उत्तरवाले तीन खण्डोंमें मध्यवाले म्लेच्छ खण्डके बीचोंबीच वृषभगिरि नामका एक गोल पर्वत है जिसपर दिग्विजय कर चुकनेपर चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है। (ति. प./४/२६८-२६९), (त्रि. सा./७१०), (ज. प./२/१०७)। २ इसके पश्चात् हिमवान् पर्वतके उत्तरमें तथा महाहिमवान्के दक्षिणमें दूसरा हैमवत क्षेत्र है (रा. वा./३/१०/५/१७२/१७), (ह. पु./५/५७)। इसके बहुमध्य भागमें एक गोल शब्दवान् नामका नाभिगिरि पर्वत है (ति प./१७०४); (रा.वा./३/१०/७/१७२/२१)। इस क्षेत्रके पूर्वमें रोहित और पश्चिममें रोहितास्या नदियाँ बहती है। (दे० लोक/३/१/७)। ये दोनों ही नदियाँ नाभिगिरिके उत्तर व दक्षिणमें उससे २ कोस परे रहकर ही उसकी प्रदक्षिणा देती हुई अपनी-अपनी दिशाओंमें मुड जाती हैं, और बहती हुई अन्तमें अपनी-अपनी दिशावाले सागरमें गिर जाती है। —(दे० आगे नदी निर्देश)। ३. इसके पश्चात् महाहिमवान्के उत्तर तथा निषध पर्वतके दक्षिणमें तीसरा हरिक्षेत्र है (रा. वा./३/१०/६/१७२/१६)। नीलके उत्तरमें और रुक्मि पर्वतके दक्षिणमें पाँचवाँ रम्यकक्षेत्र है। (रा. वा./३/१०/१५/१८१/१५) पुन. रुक्मिके उत्तर व शिखरी पर्वतके दक्षिणमें छठा हैरण्यवत क्षेत्र है। (रा. वा./३/१०/१८/१८१/२१) तहाँ विदेह क्षेत्रको छोडकर इन चारोंका कथन हैमवतके समान है। केवल नदियों व नाभिगिरि पर्वतके नाम भिन्न हैं—दे० लोक/३/१/७ व लोक/५)। ४. निषध पर्वतके उत्तर तथा नीलपर्वतके दक्षिणमें विदेह क्षेत्र स्थित है। (ति प./४/२४७४); (रा. वा./३/१०/१२/१७३/४)। इस क्षेत्रकी दिशाओंका यह विभाग भरत क्षेत्रकी अपेक्षा है सूर्योदयकी अपेक्षा नहीं, क्योंकि वहाँ इन दोनों दिशाओंमें भी सूर्यका उदय व अस्त दिखाई देता है। (रा. वा./३/१०/१३/१७३/१०)। इसके बहुमध्यभागमें सुमेरु पर्वत है (दे० लोक/३/६)। [ये क्षेत्र दो भागोंमें विभक्त हैं—कुरुक्षेत्र व विदेह] मेरु पर्वतकी दक्षिण व निषधके उत्तरमें देवकुरु है (ति. प./४/२१३८-२१३९)। मेरुके उत्तर व नीलके दक्षिणमें उत्तरकुरु है (ति. प./४/२१९१-२१९२)। मेरुके पूर्व व पश्चिम भागमें पूर्व व अपर विदेह हैं, जिनमें पृथक् पृथक् १६,१६ क्षेत्र हैं, जिन्हें ३२ विदेह कहते है। (ति. प./४/२१९९)। (दोनों भागोंका इकट्ठा निर्देश—रा. वा./३/१०/१३/१७३/६)। [नोट—इन दोनों भागोंके विशेष कथनके लिए दे० आगे पृथक् शीर्षक (दे० लोक/३/११,१२)]। ५. सबसे अन्तमें शिखरी पर्वतके उत्तरमें तीन तरफसे लवणसागरके साथ स्पर्शित सातवाँ ऐरावतक्षेत्र है। (रा. वा./३/१०/२१/१८१/२८)। इसका सम्पूर्ण कथन भरतक्षेत्रवत् है (ति. प./४/२३६५), (रा. वा./३/१०/२२/१८१/३०) केवल इसकी दोनों नदियोंके नाम भिन्न हैं (दे० लोक/३/१/७)।

४. कुलाचल पर्वत निर्देश

१. भरत व हैमवत इन दोनों क्षेत्रोंकी सीमापर पूर्व-पश्चिम लम्बायमान (दे० लोक/३/१/२) प्रथम हिमवान् पर्वत है—(रा. वा./३/११/२/१८२/६)। इसपर ११ कूट है—(ति. प./४/१६३२); (रा.वा./३/११/२/१८२/१६), (ह. पु./५/५२), (त्रि. सा./७२१); (ज. प./३/३९)। पूर्व दिशाके कूटपर जिनायतन और शेष कूटोंपर यथा योग्य नामधारी व्यन्तर देव व देवियोंके भवन है (दे० लोक/५)। इस पर्वतके शीर्षपर बीचोंबीच पद्म नामका ह्रद है (ति. प./४/१६-५८); (दे० लोक/३/१/८)। २. तदनन्तर हैमवत क्षेत्रके उत्तर व हरिक्षेत्रके दक्षिणमें दूसरा महाहिमवान् पर्वत है। (रा. वा./३/११/४/१८२/३१)। उसपर पूर्ववत् आठ कूट हैं (ति. प./४/१७२४); (रा. वा./३/११/४/१८३/४), (ह. पु./५/७०); (त्रि. सा./७२४); (ज. प./३/३९)। इसके शीर्षपर पूर्ववत् महापद्म नामका द्रह है। (ति. प./४/१७२७); (दे० लोक/३/१/४)। ३ तदनन्तर हरिवर्षके उत्तर व विदेहके दक्षिणमें तीसरा निषधपर्वत है। (रा. वा./३/११/६/१८३/११)। इस पर्वतपर पूर्ववत् ९ कूट है (ति. प./४/१७५८), (रा. वा./३/११/६/१८३/१७), (ह. पु./५/८७), (त्रि. सा./७२५), (ज. प./३/३९)। इसके शीर्षपर पूर्ववत् तिगिंछ नामका द्रह है (ति. प./४/१७६१-), (दे० लोक/३/१/५)। ४. तदनन्तर विदेहके उत्तर तथा रम्यकक्षेत्रके दक्षिण दिशामें दोनों क्षेत्रोंको विभक्त करनेवाला निषधपर्वतके सदृश चौथा नीलपर्वत है। (ति. प./४/२३२७), (रा. वा./३/११/८/२३)। उसपर पूर्ववत् ९ कूट है। (ति. प./४/२३२८) (रा. वा./३/११/८/१८३/२४), (ह. पु./५/९९), (त्रि. सा./७२६), (ज. प./३/३९)।

३. मेरुकी परिधियाँ

नीचेसे ऊपरकी ओर इस पर्वतकी परिधि सात मुख्य भागोंमें विभाजित है—हरितालमयी, वैडूर्यमयी, सर्वरत्नमयी, वज्रमयी, मद्यमयी और पद्मरागमयी अर्थात् लोहिताक्षमयी। इन छहोंमें से प्रत्येक १६५०० यो० ऊँची है। भूमितल अवगाही सप्त परिधि (पृथिवी उपल बालुका आदि रूप होनेके कारण) नाना प्रकार है। (ति. प./४/१८०२-१८०४), (ह. पु /५/३०४)। दूसरी मान्यताके अनुसार ये सातों परिधियाँ [क्रमसे लोहिताक्ष, पद्म, तपनीय, वैडूर्य, वज्र, हरिताल और जाम्बूनद—सुवर्णमयी हैं। प्रत्येक परिधिकी ऊँचाई १६५०० योजन है। पृथिवीतलके नीचे १००० यो. पृथिवी, उपल, बालुका और शर्करा ऐसे चार भाग रूप है। तथा ऊपर चूलिकाके पास जाकर तीन काण्डकों रूप है। प्रथम काण्डक सर्वरत्नमयी, द्वितीय जाम्बूनदमयी और तीसरा काण्डक चूलिकाका है जो वैडूर्यमयी है।
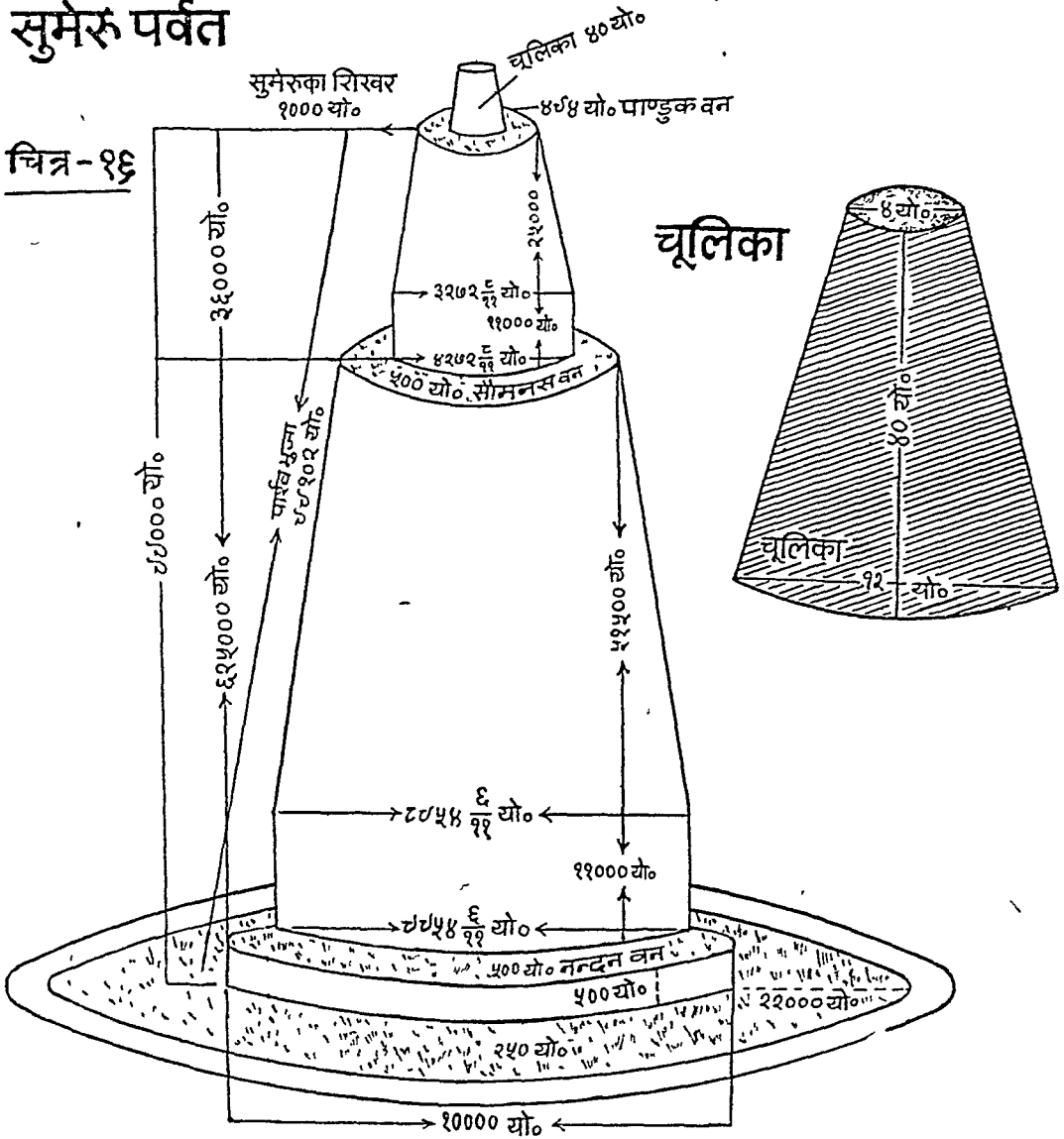
४. वनखण्ड निर्देश

१. सुमेरु पर्वतके तलभागमे भद्रशाल नामका प्रथम वन है जो पॉच भागोंमें विभक्त है—भद्रशाल, मानुषोत्तर, देवरमण, नागरमण और भूतरमण। (ति प./४/१८०५); (ह. पु./५/३०७) इस वनकी चारों दिशाओंमें चार जिनभवन हैं। (ति. प./४/२००३); (त्रि सा./६११); (ज. प./४/४६) इनमेंसे एक मेरुसे पूर्व तथा सीता नदीके दक्षिणमें है। दूसरा मेरुकी दक्षिण व सीतोदाके पूर्वमें है। तीसरा मेरुसे पश्चिम तथा सीतोदाके उत्तरमें है और चौथा मेरुके उत्तर व सीताके पश्चिममें है। (रा. वा /३/१०/१७८/१८) इन चैत्यालयोंका विस्तार पाण्डुक वनके चैत्यालयोंसे चौगुना है (ति. प /४/२००४)। इस वनमें मेरुकी चारों तरफ सीता व सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर एक-एक करके आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत है। (दे० लोक/३/१६) २. भद्रशाल वनसे ५०० योजन ऊपर जाकर मेरु पर्वतकी कटनीपर द्वितीय वन स्थित है। (दे० लोक/३/६)। इसके दो विभाग है—नन्दन व उपनन्दन। (ति. प./४/-१८०६), (ह पु./५/३०८) इसकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें पर्वतके पास क्रमसे मान, धारणा, गन्धर्व व चित्र नामके चार भवन है जिनमें क्रमसे सौधर्म इन्द्रके चार लोकपाल सोम, यम, वरुण व कुबेर क्रीडा करते है।) (ति प./४/१९९४-१९९६), (ह पु/३१५-३१७), (त्रि. सा./६१९, ६२१), (ज. प./४/८३-८४)। कहीं-कहीं इन भवनोको गुफाओके रूपमें बताया जाता है। (रा. वा./३/१०/-१३/१७९/१४)। यहाँ भी मेरुके पास चारों दिशाओंमें चार जिनभवन हैं। (ति. प /४/१९९८); (रा. वा /३/१०/१३/१७९/३२); (ह. पु./५/३५८), (त्रि सा./६११)। प्रत्येक जिनभवनके आगे दो-दो कूट है—जिनपर दिक्कुमारी देवियाँ रहती है। ति. प. की अपेक्षा ये आठ कूट इस वनमें न होकर सौमनस वनमें हैं। (दे० लोक/५)। चारो विदिशाओंमें सौमनस वनकी भाँति चार-चार करके कुल १६ पुष्करिणियाँ है। (ति. प./४/१९९८), (रा. वा /-३/१०/१३/१७९/२५); (ह पु /५/३३४-३३५ + ३४३-३४६); (त्रि सा /६२८), (ज प /४/११०-११३)। इस वनकी ईशान दिशामे एक बलभद्र नामका कूट है जिसका कथन सौमनस वनके बलभद्र कूटके समान है। इसपर बलभद्र देव रहता है। (ति प /४/१९९७), (रा. वा./३/१०/१३/१७९/१६), (ह. पु./५/३२८), (त्रि सा /-६२४); (ज प /४/९९)। ३ नन्दन वनसे ६२५०० योजन ऊपर जाकर सुमेरु पर्वतपर तीसरा **सौमनस वन** स्थित है। (दे० लोक/-३/६)। इसके दो विभाग है—सौमनस व उपसौमनस (ति. प /-४/१८०९), (ह पु /५/३०८)। इसकी पूर्वादि चारों दिशाओंमें मेरुके निकट वज्र, वज्रमय, सुवर्ण व सुवर्णप्रभ नामके चार पुर है, (ति प./४/१९४३), (ह पु./५/३१९), (त्रि. सा /६२०), (ज. प /४/९१) इनमे भी नन्दन वनके भवनोंवत् सोम आदि लोकपाल क्रीडा करते हैं। (त्रि सा /६२१)। चारो विदिशाओंमें चार-चार पुष्करिणी है। (ति प./४/१९४६, १९६२-१९६६), (रा. वा./३/१०/१३/१८०/७)। पूर्वादि चारों दिशाओंमें चार जिनभवन है (ति. प./४/१९६८); (ह. पु /५/३५७); (त्रि. सा./-६११); (ज. प /४/६८)। प्रत्येक जिन मन्दिर सम्बन्धी बाह्य कोटोंसे बाहर उसके दोनों कोनोंपर एक-एक करके कुल आठ कूट हैं। जिनपर दिक्कुमारी देवियाँ रहती हैं। (दे० लोक/५)। इसकी ईशान दिशामें बलभद्र नामका कूट है जो ५०० योजन तो वनके भीतर है और ५०० योजन उसके बाहर आकाशमें निकला हुआ है। ति. प./४/१९८१); (ज. प /४/१०१); इसपर बलभद्र देव रहता है। (ति. प /४/१९८४) मतान्तरकी अपेक्षा इस वनमें आठ कूट व बलभद्र कूट नहीं है। (रा. वा./३/१०/१३/१८०/६)। (दे. सामनेवाला चित्र)। ४. सौमनस वनसे ३६००० योजन ऊपर जाकर मेरुके शीर्षपर चौथा पाण्डुक वन है। (दे० लोक/३/६) जो चूलिकाको वेष्टित करके शीर्षपर स्थित है (ति प /४/१८१४)। इसके दो विभाग हैं—पाण्डुक व उपपाण्डुक। (ति. प /४/१८०६); (ह पु./५/३०६)। इसके चारों दिशाओंमें लोहित अजन हरिद्र और पाण्डुक नामके चार भवन हैं जिनमें सोम आदि लोकपाल क्रीडा करते है। (ति. प./४/१८३६, १८५२), (ह. पु./५/३२२), (त्रि. सा./६२०), (ज. प./४/६३), चारों विदिशाओंमें चार-चार करके १६ पुष्करिणियाँ हैं। (रा. वा./३/१०/१६/१८०/२६)। वनके मध्य चूलिकाकी चारों दिशाओंमें चार जिनभवन हैं। (ति. प./४/१८५५, १९३५), (रा. वा /३/१०/१३/१८०/२८), (ह. पु./५/३५४); (त्रि सा /६११), (ज प /४/६४)। वनकी ईशान आदि दिशाओंमें अर्ध चन्द्राकार चार शिलाएँ हैं—पाण्डुक शिला, पाण्डुकंबला शिला, रक्तकंबला शिला, और रक्तशिला। रा वा. के अनुसार ये चारों पूर्वादि दिशाओंमें स्थित हैं। (ति. प./४/१८१८, १८३०-१८३४), (रा. वा /३/१०/१३/१८०/१५), (ह पु /५/३४७); (त्रि सा /६३३), (ज प /४/१३८-१४१)। इन शिलाओंपर क्रमसे भरत, अपरविदेह, ऐरावत और विदेहके तीर्थंकरोंका जन्माभिषेक होता है। (ति. प./४/१८२७, १८३१-१८३५); (रा वा /३/१०/१३/१८०/२२); (ह. पु /५/३५३); (त्रि सा /६३४); (ज. प./४/१४८-१५०)।
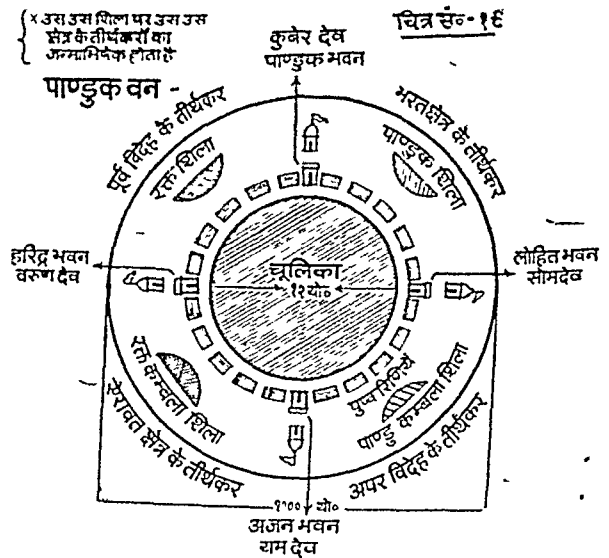
नन्दन व सौमनस वन - (दृष्टि सं० १)

चित्र सं० - १७

दिक्कुमारी देवियां
सागर चित्र
वज्र
नलिन
नलिन गुल्मा
श्री निलया
श्री महिता
श्री कान्ता
श्री भद्रा
पुष्करिणियें
कुवेर
मणिभद्रया बलभद्रदेव बलभद्रकूट
१००० यो०
५०० यो०
कुमुद
कुमुद प्रभा
सुमेरु पर्वत
नन्दन वन के बीच ३२७२ यो०
सौमनस वन के बीच ८३५४ यो०
प्रत्येक पुष्करिणी मे इन्द्र के क्रीडा भवन है
यम
हिमवान्
निषध
दिक्कुमारी देवियां
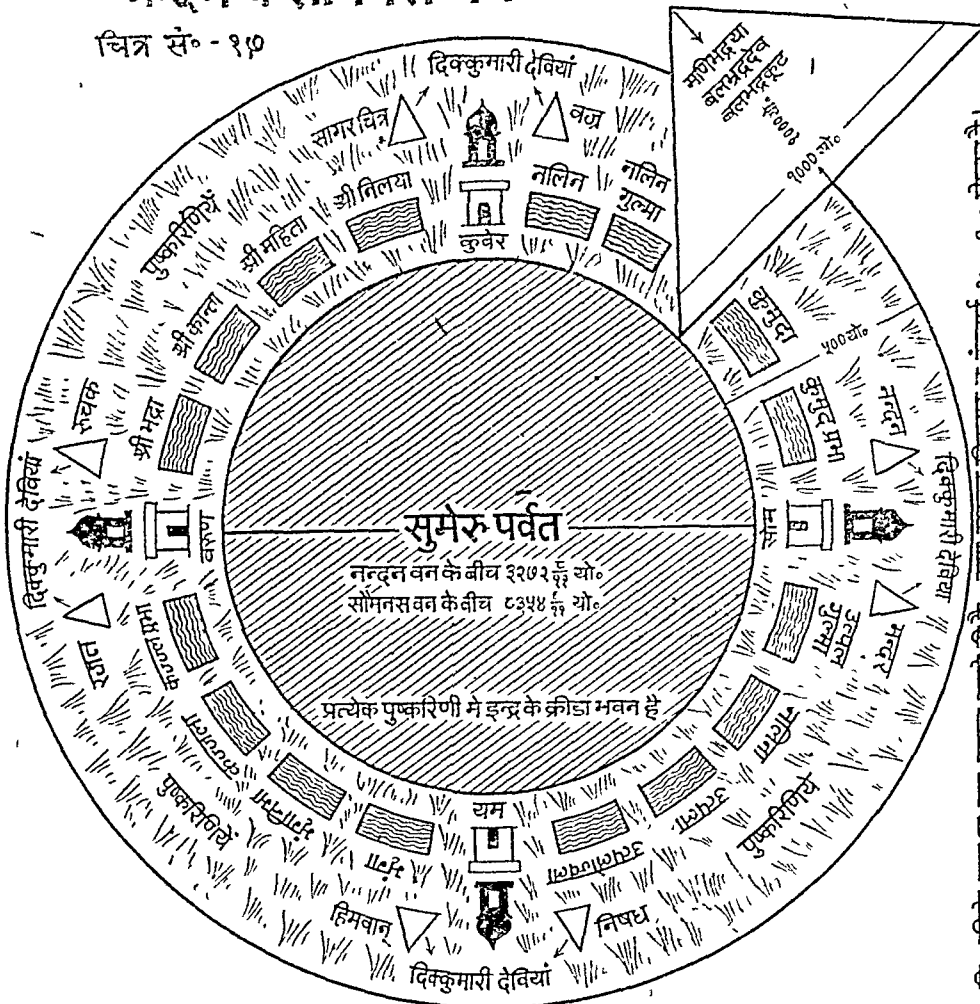
१- द्वि० दृष्टिसे बलभद्र कूट नन्दन वनमें ही है, तथा उसका विस्तार व ऊंचाई १००, १०० योजन है।
२- द्वि० दृष्टिसे कुवेर आदि लोकपालोंके ४ भवनोंको ४ गुफाएं कहा गया है।
३- प्रथम दृष्टिसे चैत्यालयोके कोनोवाले ८ कूट सौमस वनमें हैं और द्वि० दृष्टिसे नन्दन वनमें।
४- पूर्व दिशाको आदि लेकर सोम आदि लोकपालोंके ४ कूटोंके नाम प्रथम दृष्टिसे क्रमशः मान, धारण, गन्धर्व व चित्र हैं, तथा द्वि० दृष्टिसे वज्र, वज्रमय, स्वर्ण व स्वर्णप्रभ हैं।

चित्र सं० - १८ इस वन की पुष्करिणी में इन्द्र सभा की रचना

(ह-पु । ५।३३८-३४०)

ईशान व नैऋत्य दिशावाले विद्युत्प्रभ व माल्यवान गजदन्तोके मूलमे सीता व सीतोदा नदियोके निकलनेके लिए एक-एक गुफा होती है। (ति. प /४/२०५५,२०६३)।

३. देवकुरु व उत्तरकुरुमें सीतोदा व सीता नदीके दोनो तटोपर एक यमक पर्वत है (दे० आगे लोक/३/११)। ये गोल आकार वाले है। (दे० लोक/६ में इनका आकार)। इनपर इन-इनके नामवाले व्यन्तरदेव सपरिवार रहते है। (ति. प /४/२०८४); (रा. वा./३/१०/१३/१७४/२८)। उनके प्रासादों का सर्वकथन पद्मद्रहके कमलोवत् है। (ज. प /६/६२-१०२)। ४. उन्ही देवकुरु व उत्तरकुरुमें स्थित द्रहोके दोनो पार्श्व-भागोमें काचन शैल स्थित है। (दे० आगे लोक/३/१०)। ये पर्वत गोल आकार वाले है। (दे० लोक/६ में इनका विस्तार)। इनके ऊपर काचन नामक व्यन्तरदेव रहते है। (ति. प./४/-
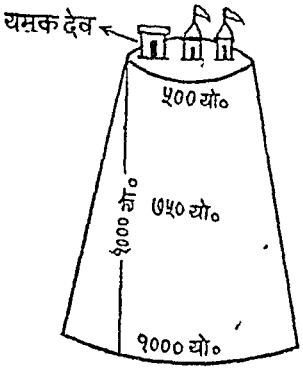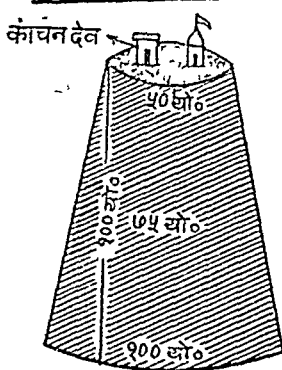
२०६६), (ह. पु /५/२०४), (त्रि. सा./६५६)। ५ देवकुरु व उत्तरकुरुके भीतर व बाहर भद्रशाल वनमें सीतोदा व सीता नदीके दोनो तटोपर आठ दिग्गजेन्द्र पर्वत है (दे० लोक/३/११)। ये गोल आकार वाले है (दे० लोक/६ में इनका विस्तार)। इनपर यम व वैश्रवण नामक वाहन देवोंके भवन है। (ति प /४/२१०६, २१०८, २०३१)। उनके नाम पर्वतोवाले ही है (ह पु/५/२०६), (ज. प./२/८१)। ६ पूर्व व पश्चिम विदेहमें सीता व सीतोदा नदीके दोनो तरफ उत्तर-दक्षिण लम्बायमान, ४, ४ करके कुल १६ वक्षार पर्वत है। एक ओर ये निषध व नील पर्वतोको स्पर्श करते है और दूसरी ओर सीता व सीतोदा नदियोको। (ति प./४/२२००, २२२४, २२३०), (ह पु /५/२२८-२३२) (और भी दे० आगे लोक/३/१२)। प्रत्येक वक्षार पर चार चार कूट है, नदीकी तरफ सिद्धायतन है और शेष कूटोपर व्यन्तर देव रहते है। (ति. प./४/२३०६-२३११); (रा. वा./३/१०/१३/१७६/४), (ह. पु./५/२३४-२३५)। इन कूटोका सर्व कथन हिमवान पर्वतके कूटोवत् है। (रा वा /३/१०/१३/१७६/७)। ७. भरत क्षेत्रके पाँच म्लेच्छ खण्डोमें से उत्तर वाले तीनके मध्यवर्ती खण्डमें बीचों-बीच एक वृषभ गिरि है, जिसपर दिग्विजयके पश्चात् चक्रवर्ती अपना नाम अकित करता है (दे० लोक/३/३)। यह गोल आकार वाला है। (दे० लोक/७ में इसका विस्तार) इसी प्रकार विदेहके ३२ क्षेत्रोमें-से प्रत्येक क्षेत्रमे भी जानना (दे० लोक/३/१२)।

८. द्रह निर्देश

१. हिमवान पर्वतके शीषपर बीचोबीच पद्म नामका द्रह है। (दे० लोक/३/४)। इसके तटपर चारो कोनोपर तथा उत्तर दिशा में ५ कूट है और जलमें आठो दिशाओंमे आठ कूट है। (दे० लोक/५)। ह्रदके मध्यमें एक बडा कमल है, जिसके ११००० पत्ते है। (ति. प /१६६७, १६७०); (त्रि सा./५६६), (ज. प /३/७५), इस कमलपर 'श्री' देवी रहती है (ति प /४/१६७२); (दे० लोक/३/१/६)। इस प्रधान कमलकी दिशा-विदिशाओंमें उसके परिवारके अन्य भी अनेको कमल है। कुल कमल १४०११६ हैं। तहाँ वायव्य, उत्तर व ईशान दिशाओमे कुल ४००० कमल उसके सामानिक देवोके है। पूर्वादि चार दिशाओमें से प्रत्येकमें ४००० (कुल १६०००) कमल आत्मरक्षकोके है। आग्नेय दिशामें ३२००० कमल आभ्यन्तर पारिषदोंके, दक्षिण दिशामे ४०,००० कमल मध्यम पारिषदोके, नैऋत्य दिशामें ४८००० कमल बाह्य पारिषदोके है। पश्चिममें ७ कमल सप्त अनीक महत्तरोंके हे। तथा दिशा व विदिशाके मध्य आठ अन्तर दिशाओमे १०८ कमल त्रायस्त्रिंशोके है। (ति. प./४/१६७५-१६८६), (रा वा /३/१७/-/१८५/११), (त्रि सा./-५७२-५७६), (ज प /३/६१-१२३)। इसके पूर्व पश्चिम व उत्तर द्वारोसे क्रममे गगा, सिन्धु व रोहितास्या नदी निकलती है। (दे० आगे नदी निर्देश) । (दे० चित्र स. २४, पृ ४७०)। २ महाहिमवान् आदि शेष पाँच कुलाचलों पर स्थित महापद्म, तिगिछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नामके ये पाँच द्रह है । (दे० लोक/३/४), इन ह्रदोका सर्व कथन कूट कमल आदिका उपरोक्त पद्महदवत ही जानना। विशेषता यह कि तन्निवासिनी देवियोके नाम क्रमसे ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि और लक्ष्मी है। तथा कमलोकी सख्या तिगिछ तक उत्तरोत्तर दूनी है। केसरीकी तिगिछवत्, महापुण्डरीकको महापद्मवत और पुण्डरीककी पद्मवत् है। (ति. प /४/१७२८-१७२६, १७६१-६२; २३३२-३३, २३४५-२३६१)। अन्तिम पुण्डरीक द्रहसे पद्मद्रहवत् रक्ता, रक्तोदा व सुवर्णकूला ये तीन नदियाँ निकलती है और शेष द्रहोसे दो-दो नदियाँ केवल उत्तर व दक्षिण द्वारोसे निकलती हे। (दे० लोक/-३/१ व १०)। [ति प में महापुण्डरीकके स्थानपर रुक्मि पर्वतपर पुण्डरीक और पुण्डरीकके स्थानपर शिखरी पर्वतपर महापुण्डरीक द्रह कहा है—(दे० लोक/३/४)। ३. देवकुरु व उत्तरकुरुमें दस दह है। अथवा दूसरी मान्यतासे २० द्रह है। (दे० आगे लोक/३/११) इनमें देवियोंके निवासभूत कमलो आदिका सम्पूर्ण कथन पद्मद्रहवत् जानना (ति. प /४/२०१३, २१२६), (ह पु./५/१६८-१६६), (त्रि सा./६५८); (ज प /६/१२४-१२६)। ये द्रह नदीके प्रवेश व निकासके द्वारोसे सयुक्त है। (त्रि. सा./६५८)। ४ सुमेरु पर्वतके नन्दन, सौमनस व पाण्डुक वनमें १६, १६ पुष्करिणी है, जिनमें सपरिवार सौधर्म व ऐशानेन्द्र क्रीडा करते है। तहाँ मध्यमें इन्द्रका आसन है। उसकी चारो दिशाओंमे चार आसन लोकपालोंके है, दक्षिणमें एक आसन प्रतीन्द्रका, अग्रभागमें आठ आसन अग्रमहिषियोके, वायव्य और ईशान दिशामे ८४००,००० आसन सामानिक देवोके, आग्नेय दिशामे १२००,००० आसन अभ्यन्तर पारिषदोसे, दक्षिणमें १४००,००० आसन मध्यम पारिषदोके, नैऋत्य दिशामें १६००,००० आसन बाह्य पारिषदोके, तथा उसी दिशामें ३३ आसन त्रायस्त्रिंशोके, पश्चिममें छह आसन महत्तरोके और एक आसन महत्तरिकाका है। मूल मध्य सिहासनके चारो दिशाओमें ८४००० आसन अगरक्षकोंके है। (इस प्रकार कुल आसन १२६८४०५४ होते है)। (ति. प./४/१६४६-१६६०), (ह. पु./५/३३६-३४२)।
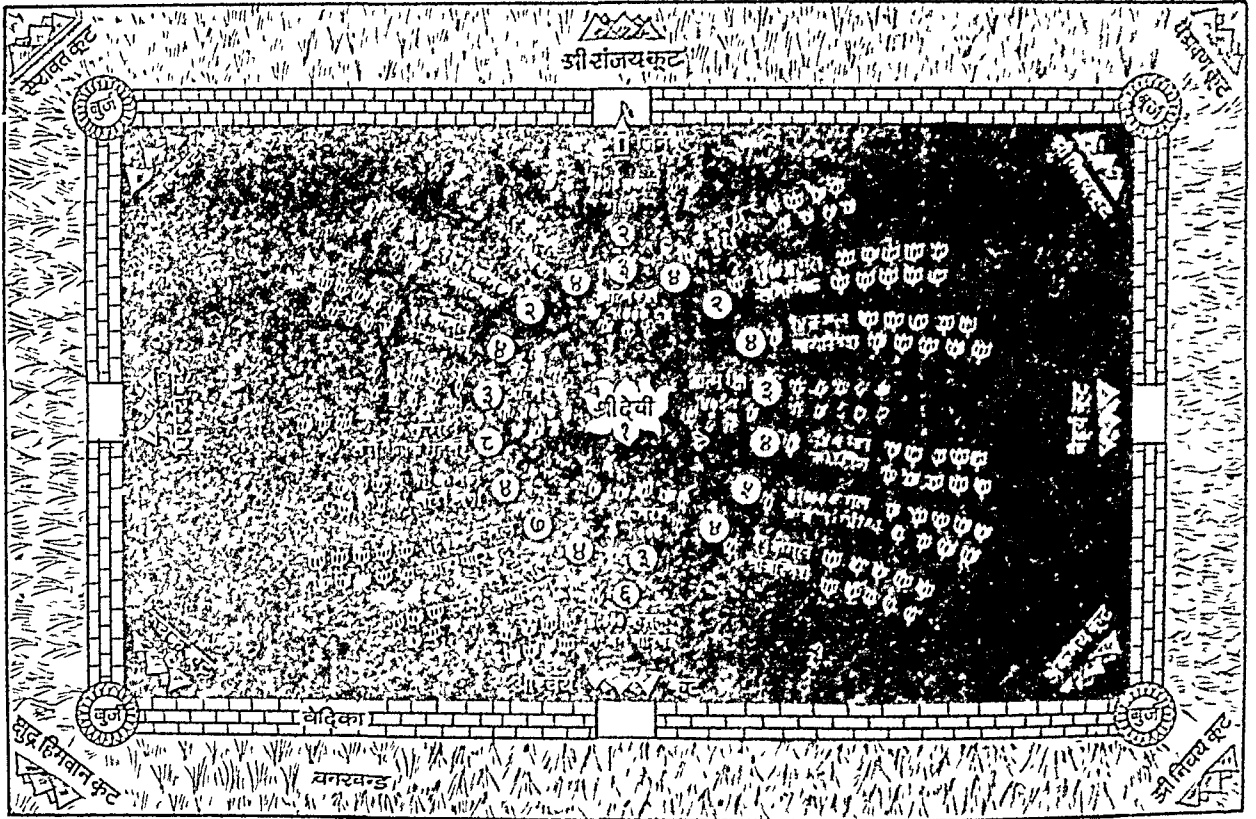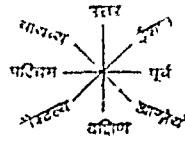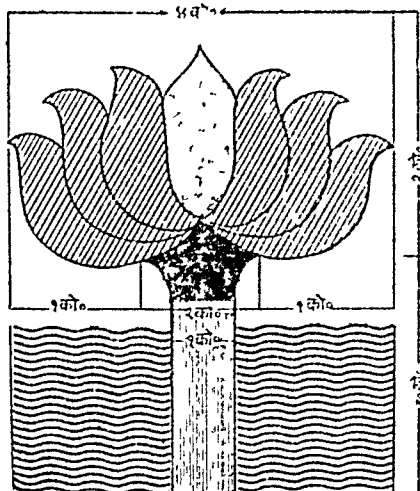
९. कुण्ड निर्देश

१. हिमवान् पर्वतके मूलभागसे २५ योजन हटकर गगा कुंड स्थित है। उसके बहुमध्य भागमें एक द्वीप है, जिसके मध्यमें एक शैल है। शैलपर गगा देवीका प्रासाद है। इसीका नाम गंगाकूट है। उस कूटके ऊपर एक जिनप्रतिमा है, जिसके शीशपर गगाकी धारा गिरती है। (ति. प./४/२१६–२३०), (रा वा./३/२२/१/१८७/२६ व १८८/१), (ह. पु./५/१४२); (त्रि सा./५८६–५८७), (ज. प./-३/३४–३७ व १५४–१६२)। २. उसी प्रकार सिन्धु आदि शेष नदियों के पतन स्थानोंपर भी अपने-अपने क्षेत्रोंमें अपने-अपने पर्वतोंके नीचे सिन्धु आदि कुण्ड जानने। इनका सम्पूर्ण कथन उपरोक्त गगा कुण्डवत है विशेषता यह कि उन कुण्डोंके तथा तन्निवासिनी देवियोंके नाम अपनी-अपनी नदियोंके समान है। (ति प /४/-२६१–२६२; १६६६), (रा. वा./३/२२/१/१८८/१,१८,२६,२६ + १८८/-६,६,१२,१६,२०,२३,२६,२६)। भरत आदि क्षेत्रोंमें अपने-अपने पर्वतों उन कुण्डोंका अन्तराल भी क्रमसे २५,५०,१००,२००,१००,५० २५ योजन है। (ह. पु./५/१५१–१५७)। ३. ३२ विदेहोंमे गंगा, सिन्धु व रक्ता रक्तोदा नामवाली ६४ नदियोंके भी अपने-अपने नाम वाले कुण्ड नील व निषध पर्वतके मूलभागमें स्थित है। जिनका सम्पूर्ण वर्णन उपरोक्त गंगा कुण्डवत ही है। (रा वा./३/१०/१३/-१७६/२४,२६ + १७७/११)।

१०. नदी निर्देश

१ हिमवान् पर्वतपर पद्मद्रहके पूर्वद्वारसे गगानदी निकलती है (ति. प /४/१९६), (रा वा /३/२२/१/१८७/२२), (ह. पु /५/१३२), (त्रि सा /५८२), (ज. प./३/१४७)। द्रहकी पूर्व दिशामें इस नदीके-मध्य एक कमलाकार कूट है, जिसमें बला नामकी देवी रहती है। (ति प /४/२०५–२०६); (रा. वा/३/२२/२/१८८/३)। द्रहसे ५०० योजन आगे पूर्व दिशामें जाकर पर्वतपर स्थित गगा-कूटसे १/२ योजन इधर ही इधर रहकर दक्षिणकी ओर मुड जाती है, और पर्वतके ऊपर ही उसके अर्ध विस्तार प्रमाण अर्थात ५२३ २६/१९२ योजन आगे जाकर वृपभाकार प्रणालीको प्राप्त होती है। फिर उसके मुखमें-से निकलती हुई पर्वतके ऊपरसे अधोमुखी होकर उसकी धारा नीचे गिरती है। (ति. प./४/२१०–२१४), (रा वा/३/२२/१/१८७/२२); (ह पु./५/१३८–१४०), (त्रि. सा./५८२–५८४), (ज प /३/१४७–१४६)। वहाँ पर्वतके मूलसे २५ योजन हटकर वह धार गंगाकुण्डमें स्थित गगाकूटके ऊपर गिरती है (दे० लोक/३/६)। इस गंगाकुण्डके दक्षिण द्वारसे निकलकर वह उत्तर भारतमें दक्षिणमुखी बहती हुई विजयार्धकी तमिस्र गुफामें प्रवेश करती है (ति. प /४/२३२–२३३); (रा. वा/३/२२/१/१८७/२७), (ह पु/५/१४८), (त्रि सा/५९१), (ज प./३/१७४)। ['रा. वा' व 'त्रि सा'में तमिस्र गुफाकी बजाय खण्डप्रपात नामकी गुफामें प्रवेश कराया है] उस गुफाके भीतर वह उन्मग्ना व निमग्ना नदीको अपनेमें समाती हुई (ति. प /४/२४१), (दे० लोक/३/५) गुफाके दक्षिण द्वारसे निकलकर वह दक्षिण भारतमें उसके आधे विस्तार तक अर्थात् ११९ ३/१९ योजन तक दक्षिणकी ओर जाती है। तत्पश्चात पूर्वकी ओर मुड जाती है और मागध तीर्थके स्थानपर लवण सागरमें मिल जाती है। (ति. प /४/२४३–२४४), (रा वा/३/२२/१/१८७/२८); (ह पु./५/-१४८–१४९), (त्रि सा./५९६)। इसकी परिवार नदियाँ कुल १४००० है। (ति. प /१/२४४); (ह. पु./५/१४९); (दे० लोक/३/१) ये सब परिवार नदियाँ म्लेच्छ खण्डमें ही होती है आर्यखण्डमें नही (दे० म्लेच्छ/१)। २. सिन्धुनदीका सम्पूर्ण कथन गंगा नदीवत् है। विशेष यह कि पद्मद्रहके पश्चिम द्वारसे निकलती है। इसके भीतरी कमलाकारकूटमें लवणा देवी रहती है। सिन्धुकुण्डमें स्थित सिन्धुकूटपर गिरती है। विजयार्धकी खण्डप्रपात गुफाको प्राप्त होती है अथवा 'रा-वा' व 'त्रि. सा' की अपेक्षा तमिस्र गुफाको प्राप्त होती है। पश्चिमकी ओर मुडकर प्रभास तीर्थके स्थानपर पश्चिम लवण-सागरमें मिलती है। (ति. प./४/२५२-२६४), (रा वा./३/२२/२/१८७/३१); (ह. पु./५/१५१), (त्रि सा /५९७)—(दे० लोक/३/१) इसकी परिवार नदियाँ १४००० हैं (ति. प /४/२६४); (दे० लोक/३/१)। ३. हिमवान् पर्वतके ऊपर पद्मद्रहके उत्तर द्वारसे रोहितास्या नदी निकलती है जो उत्तरमुखी ही रहती हुई पर्वतके ऊपर २७६ ६/१९ योजन चलकर पर्वतके उत्तरी किनारेको प्राप्त होती है, फिर गंगा नदीवत ही धार बनकर नीचे रोहितास्या-कुण्डमे स्थित रोहितास्याकूटपर गिरती है। (ति प /४/१६६५); (रा. वा. ३/२२/३/१८८/७), (ह पु /५/१५३ + १६३), (त्रि. सा /५९८) कुण्डके उत्तरी द्वारसे निकलकर उत्तरमुखी रहती हुई वह हैमवत क्षेत्रके मध्यस्थित नाभिगिरि तक जाती है। परन्तु उससे दो कोस इधर ही रहकर पश्चिमकी ओर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिम दिशामें उसके अर्धभागके सम्मुख होती है। वहाँ पश्चिम दिशाकी ओर मुड जाती है और क्षेत्रके अर्ध आयाम प्रमाण क्षेत्रके बीचोबीच बहती हुई अन्तमें पश्चिम लवणसागरमें मिल जाती है। (ति. प /४/१७१३-१७१६), (रा वा./३/२२/३/१८८/११); (ह. पु./५/१६३), (त्रि सा /५९८), (दे० लोक/३/१) इसकी परिवार नदियोका प्रमाण २८००० है। (ति. प /४/१७१६), (दे० लोक/३/१)। ४. महाहिमवान् पर्वतके ऊपर महापद्म ह्रदके दक्षिण द्वारसे रोहित नदी निकलती है। दक्षिणमुखी होकर १६०५ ५/१९ यो० पर्वतके ऊपर जाती है। वहाँसे पर्वतके नीचे रोहितकुण्डमें गिरती है और दक्षिणमुखी बहती हुई रोहितास्यावत ही हैमवतक्षेत्रमें, नाभिगिरिसे २ कोस इधर रहकर पूर्व दिशाकी ओर उसकी प्रदक्षिणा देती है। फिर वह पूर्वकी ओर मुडकर क्षेत्रके बीचमें बहती हुई अन्तमें पूर्व लवणसागरमें गिर जाती है। (ति. प./४/१७३५-१७३७), (रा. वा./३/२२/४/१८८/१५), (ह. पु /५/१५४ + १६३), (ज प./३/२१२), (दे० लोक/३/१)। इसकी परिवार नदियाँ २८००० है। (ति. प /४/१७३७), (दे० लोक/३/१)। ५ महाहिमवान् पर्वतके ऊपर महापद्म ह्रदके उत्तर द्वारसे हरिकान्ता नदी निकलती है। वह उत्तरमुखी होकर पर्वतपर १६०५ ५/१९ यो० चलकर नीचे हरिकान्ता कुण्डमें गिरती है। वहाँसे उत्तरमुखी बहती हुई हरिक्षेत्रके नाभिगिरिको प्राप्त हो उससे दो कोस इधर ही रहकर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पश्चिमकी ओर मुड जाती है और क्षेत्रके बीचोबीच बहती हुई पश्चिम लवणसागरमें मिल जाती है। (ति प./४/१७४७-१७४९), (रा. वा /३/२२/५/१८८/१९), (ह पु./५/१५५ + १६३)। (दे० लोक/३/१) इसकी परिवार नदियाँ ५६००० है (ति. प /४/१७४९), (दे० लोक/३/१)। ६ निषध पर्वतके तिगिंछद्रहके दक्षिण द्वारसे निकलकर हरित नदी दक्षिणमुखी हो ७४२१ १/१९ यो० पर्वतके ऊपर जा, नीचे हरित कुण्ड-में गिरती है। वहाँसे दक्षिणमुखी बहती हुई हरिक्षेत्रके नाभिगिरिको प्राप्त हो उससे दो कोस इधर ही रहकर उसकी प्रदक्षिणा देती हुई पूर्वकी ओर मुड जाती है। और क्षेत्रके बीचोबीच बहती हुई पूर्व लवणसागरमें गिरती है। (ति प /४/१७७०-१७७२), (रा. वा /३/२२/६/१८८/२७); (ह. पु /५/१५६ + १६३), (दे० लोक/३/१) इसकी परिवार नदियाँ ५६००० है। (ति प./४/१७७२), (दे० लोक/३/१)। ७ निषध पर्वतके तिगिछह्रदके उत्तर द्वारसे सीतोदा नदी निकलती है, जो उत्तरमुखी हो पर्वतके ऊपर ७४२१ १/१९ यो० जाकर नीचे विदेह-क्षेत्रमें स्थित सीतोदा कुण्डमें गिरती है। वहाँसे उत्तरमुखी बहती

हुई वह सुमेरु पर्वत तक पहुँचकर उससे दो कोस इधर ही पश्चिमकी ओर उसको प्रदक्षिणा देती हुई, विद्युत्प्रभ गजदन्तकी गुफामें से निकलती है। सुमेरुके अर्धभागके सम्मुख हो वह पश्चिमकी ओर मुड जाती है। और पश्चिम विदेहके बीचोंबीच बहती हुई अन्तमें पश्चिम लवणसागरमें मिल जाती है। (ति. प.४//२०६५-२०७३); (रा. वा /३/२२/७/१८८/३२); (ह. पु./५/१५७+१६३); (दे० लोक/३/१)। इसकी सर्व परिवार नदियाँ देवकुरुमें ८४००० और पश्चिम विदेहमें ४४८०३८ (कुल ५३२०३८) है (विभगाकी परिवार नदियाँ न गिनकर लोक/३/२/३ वत); (ति. प /४/२०७१-२०७२)। लोक/३/१ की अपेक्षा ११२००० है। ८. सीता नदीका सर्व कथन सीतोदावत् जानना। विशेषता यह कि नील पर्वतके केसरी द्रहके दक्षिण द्वारसे निकलती है। सीता कुण्ड में गिरती है। माल्यवान् गजदन्तकी गुफासे निकलती है। पूर्वविदेहमेंसे बहती हुई पूर्व सागरमें मिलती है। (ति प.//४/२११६-२१२१); (रा. वा / ३/२२/८/१८६ /८); (ह पु./५/१५६), (ज. प./६/५५ ५६); (दे० लोक/३/१) इसको परिवार नदियाँ भी सीतोदावत् जानना। (ति. प /४/२१२१-२१२२)। ६ नरकान्ता नदीका सम्पूर्ण कथन हरितवत् है। विशेषता यह कि नीलपर्वतके केसरी द्रहके उत्तर द्वारसे निकलती है, पश्चिमी रम्यकक्षेत्रके बीचमेंसे बहती है और पश्चिम सागरमें मिलती है। (ति प./४/२३३७-२३३६); (रा. वा./३/२२/६/ १८६/११), (ह. पु /५/१५६), (दे० लोक/३/१)। १०. नारी नदी का सम्पूर्ण कथन हरिकान्तावत् है। विशेषता यह कि रुक्मिपर्वतके महापुण्डरीक (ति प. की अपेक्षा पुण्डरीक) द्रहके दक्षिण द्वारसे निकलती है और पूर्व रम्यक्क्षेत्रमें बहती हुई पूर्वसागरमें मिलती है। (ति प /४/२३४७-२३४६), (रा. वा./३/२२/१०/१८६/१४); (ह. पु./ ५/१५६), (दे० लोक/३/१) ११. रूप्यकूला नदीका सम्पूर्ण कथन रोहितनदीवत है। विशेषता यह कि यह रुक्मि पर्वतके महापुण्डरीक ह्रदके (ति. प. की अपेक्षा पुण्डरीकके) उत्तर द्वारसे निकलती है और पश्चिम हैरण्यवत क्षेत्रमें बहती हुई पश्चिमसागरमें मिलती है। (ति प./४/२३५२), (रा वा./३/२२/११/१८६/१८); (ह पु / ५/१५६); (दे० लोक/३/१)। १२. सुवर्णकूला नदीका सम्पूर्ण कथन रोहितास्या नदीवत् है। विशेषता यह कि यह शिखरीके पुण्डरीक (ति प की अपेक्षा महापुण्डरीक) ह्रदके दक्षिणद्वारसे निकलती है और पूर्वी हैरण्यवत् क्षेत्रमें बहती हुई पूर्वसागरमें मिल- जाती है। (ति. प /४/२३६२); (रा. वा /३/२२/१२/१८६/२१); (ह पु /५/१५६); (दे० लोक/३/१)। १३-१४. रक्ता व रक्तोदाका सम्पूर्ण कथन गगा व सिन्धुवत है। विशेषता यह कि ये शिखरी पर्वतके महापुण्डरीक (ति प. की अपेक्षा पुण्डरीक) ह्रदके पूर्व और पश्चिम द्वारमे निकलती है। इनके भीतरी कमलाकार कूटोंके पर्वतके नीचेवाले कुण्डों व कूटोके नाम रक्ता व रक्तोदा है। ऐरावत क्षेत्रके पूर्व व पश्चिममें बहती है। (ति प /४/२३६७); (रा वा /३/ २२/१३-१४/१८६/२५,२८), (ह पु /५/१५६), (त्रि सा /५६६); (दे० लोक/३/१)। १५. विदेहके ३२ क्षेत्रोमे भी गगा नदीकी भाँति गगा, सिन्धु व रक्ता-रक्तोदा नामकी क्षेत्र नदियाँ (दे० लोक/३/- १२)। इनका सम्पूर्ण कथन गगानदीवत जानना। (ति. प /४/२२- ६३); (रा. वा /३/१०/१३/१७६/२७), (ह पु./५/१६८), (त्रि. सा./ ६६१), (ज. प./७/२२)। इन नदियोकी भी परिवार नदियाँ १४०००,१४००० है। (ति. प /४/२२६५), (रा. वा./३/१०/१३/१७६/ २८)। १६. पूर्व व पश्चिम विदेहमे-से प्रत्येकमें सीता व सीतोदा नदीके दोनो तरफ तीन तीन करके कुल १२ विभगा नदियाँ है। (दे०लोक/३/१२)ये सब नदियाँ निषध या नील पर्वतोसे निकलकर सीतोदा या सीता नदियोमें प्रवेश करती है (ह. पु /५/२३६-२४३) ये नदियाँ जिन कुण्डोंसे निकलती है वे नील व निषध पर्वतके ऊपर स्थित है। (रा. वा./३/१०/१३/१७६/१२)। प्रत्येक नदीका परिवार २८००० नदी प्रमाण है। (ति. प./४/२२३२); (रा. वा /३/१०/१३/ १७६/१४)।

११. देवकुरु व उत्तरकुरु निर्देश

१. जम्बूद्वीपके मध्यवर्ती चौथे नम्बरवाले विदेहक्षेत्रके बहुमध्य प्रदेशमें सुमेरु पर्वत स्थित है। उसके दक्षिण व निषध पर्वतकी उत्तर दिशा- में देवकुरु तथा उसकी उत्तर व नीलपर्वतकी दक्षिण दिशामें उत्तर- कुरु स्थित है (दे० लोक/३/३)। सुमेरु पर्वतकी चारों दिशाओंमें चार गजदन्त पर्वत है जो एक ओर तो निषध व नील कुलाचलोंको स्पर्श करते है और दूसरी ओर सुमेरुको—दे० लोक /३/७। अपनी पूर्व व पश्चिम दिशामें ये दो कुरु इनमेंसे ही दो-दो गजदन्त पर्वतोंसे घिरे हुए है। (ति. प./४/२१३१,२१६१); (ह. पु./५/१६७); (ज. प /६/२,८१)। २. तहाँ देवकुरुमें निषधपर्वतसे १००० योजन उत्तरमें जाकर सीतोदा नदीके दोनों तटोंपर यमक नामके दो शैल है, जिनका मध्य अन्त- राल ५०० योजन है; अर्थात् नदीके तटोंसे नदीके अर्ध विस्तारसे हीन २२५ यो० हटकर स्थित है। (ति प./४/२०७५-२०७७); (रा. वा./३/१०/१३/१७५/२६); (ह. पु./५/१६२); (त्रि. सा ६५४-६५५), (ज. प /६/८७)। इसी प्रकार उत्तर कुरुमें नील पर्वतके दक्षिणमें १००० योजन जाकर सीतानदीके दोनों तटोंपर दो यमक है। (ति.प / ४/२१२३-२१२४), (रा वा/३/१०/१३/१७४/२५), (ह. पु /५/१६१); (त्रि सा./६५४), (ज. प./६/१५-१८)। ३. इन यमकोंसे ५०० योजन उत्तरमें जाकर देवकुरुकी सीतोदा नदीके मध्य उत्तर दक्षिण लम्बायमान ५ द्रह है। (ति प /४/२०८६); (रा. वा./३/- १०/१३/१७५/२८); (ह. पु /५/१६६); (ज. प./६/८३)। मतान्तरसे कुलाचलसे ५५० योजन दूरीपर पहला द्रह है। (ह पु./५/१६४)। ये द्रह नदियोंके प्रवेश व निकास द्वारो से संयुक्त हैं। (त्रि. सा /- ६५८)। [तात्पर्य यह है कि यहाँ नदीकी चौडाई तो कम है और ह्रदोंकी चौड़ाई अधिक। सीतोदा नदी ह्रदोंके दक्षिण द्वारोंसे प्रवेश करके उनके उत्तरी द्वारोंसे बाहर निकल जाती है। ह्रद नदी के दोनों पार्श्व भागोंमें निकले रहते हैं।] अन्तिम द्रहसे २०९२ २/१९ योजन उत्तरमें जाकर पूर्व व पश्चिम गजदन्तोंकी वनकी वेदी आ जाती है। (ति. प /४/२१००-२१०१); (त्रि. सा./६६०)। इसी प्रकार उत्तरकुरुमें भी सीता नदीके मध्य ५ द्रह जानना। उनका सम्पूर्ण वर्णन उपरोक्तवत् है। (ति. प /४/२१२५), (रा. वा./३/- १०/१३/१४/२१), (ह. पु /५/१६४), (ज प /६/२६)। [इस प्रकार दोनों कुरुओमें कुल १० द्रह हैं। परन्तु मतान्तरसे द्रह २० है]—मेरु पर्वतको चारो दिशाओंमें-से प्रत्येक दिशामें पाँच हे। उपरोक्तवत ५०० योजन अन्तरालसे सीता व सोतोदा नदीमें ही स्थित है। (ति. प./४/२१३६); (त्रि. सा./६५६)। इनके नाम ऊपर वालोके समान है। —(दे०/लोक/५)। ४ दस द्रह वाली प्रथम मान्यताके अनुसार प्रत्येक द्रहके पूर्व व पश्चिम तटोपर दस- दस करके कुल २०० कांचन शैल है। (ति. प /४/२०९४-२१२६); (रा. वा /३/१०/१३/१७४/२+७१५/१), (ह पु./५/२००), (ज. प. /६/४४,१४४)। पर २० द्रहों वाली दूसरी मान्यताके अनुसार प्रत्येक द्रहके दोनों पार्श्व भागोंमें पाँच-पाँच करके कुल २०० काचन शैल है। (ति. प./४/२१३७); (त्रि सा /६५६)। ५ देवकुरु व उत्तरकुरुके भीतर भद्रशाल वनमें सीतोदा व सीता नदीके पूर्व व पश्चिम तटोपर, तथा इन कुरुक्षेत्रोसे बाहर भद्रशाल वनमें उक्त दोनों नदियोके उत्तर व दक्षिण तटोंपर एक-एक करके कुल ८ दिग्गजेन्द्र पर्वत है। (ति प /४/२१०३, २११२, २१३०, २१३४), (रा वा /३/१०/१३/१७८/५), (ह. पु /५/२०५-२०६); (त्रि. सा./६६१), (ज प /४/७४)। ६. देवकुरुमें सुमेरुके दक्षिण भागमें

देवकुरु व उत्तर कुरु

त्रिलोक चूडामणि नामका चैत्यालय

वायव्य पूर्व ईशान
उत्तर दक्षिण
नैऋत्य पश्चिम आग्नेय

नोट:— १ पर्वतो आदिके वर्ण — माल्यवान=वैडूर्यवत् नील, सौमनस=रजतवत् श्वेत, विद्युतप्रभ=तपनीयवत् रक्त, गन्धमादन व वनवेदी=हेमवत पीत।

दृष्टिभेद.— १. गजदन्तोके अवस्थान क्रममे अन्तर—(दे० लोक/५ ३)।
२ इनपर स्थित कूटोके प्रमाण व नामोमे अन्तर—(दे० लोक/५ ४)।
३. मेरुकी चारो दिशाओमे नदियोके बीच ५-५ करके कुल २० द्रह हैं —(दे० लोक/३ १०)
४ इस मतके अनुसार प्रत्येक द्रहके दोनों पार्श्व भागो मे ५-५ काञ्चन गिरि है —(दे० लोक/३ १०)

चित्र सं० - २६

सीता नदी
सीतोदा नदी
सुमेरु
१०,००० यो०
सिद्धायतन
माल्यवान
सौमनस
विद्युत्प्रभ
गन्धमादन
जम्बू वृक्ष स्थल
शाल्मली वृक्षस्थल
देवकुरु
उत्तर कुरु
यमक (चित्रकूट)
(विचित्रकूट) यमक
यमक (यमकूट)
प्रत्येक द्रह की प्रत्येक बाजू मे २० काञ्चन शैल
प्रत्येक अन्तराल=५०० यो०
वापि=१००० x ५०० यो०
केसरी द्रह
तिगिंछ द्रह
रजतवत श्वेत
हेमवत पीत
कांचन
विशिष्ट
विमल
मंगल
देवकुरु
सौमनस
उत्तरकुरु
लोहित
स्फटिक
आनन्द
देवारण्यक वन
भद्रशाल वन
नील पर्वत
निषध पर्वत
२२००० यो०
३०२०९ $\frac{६}{१९}$ यो०
३३६८४ $\frac{४}{१९}$ यो०
१०० यो०
५०० यो०
२५०
२००
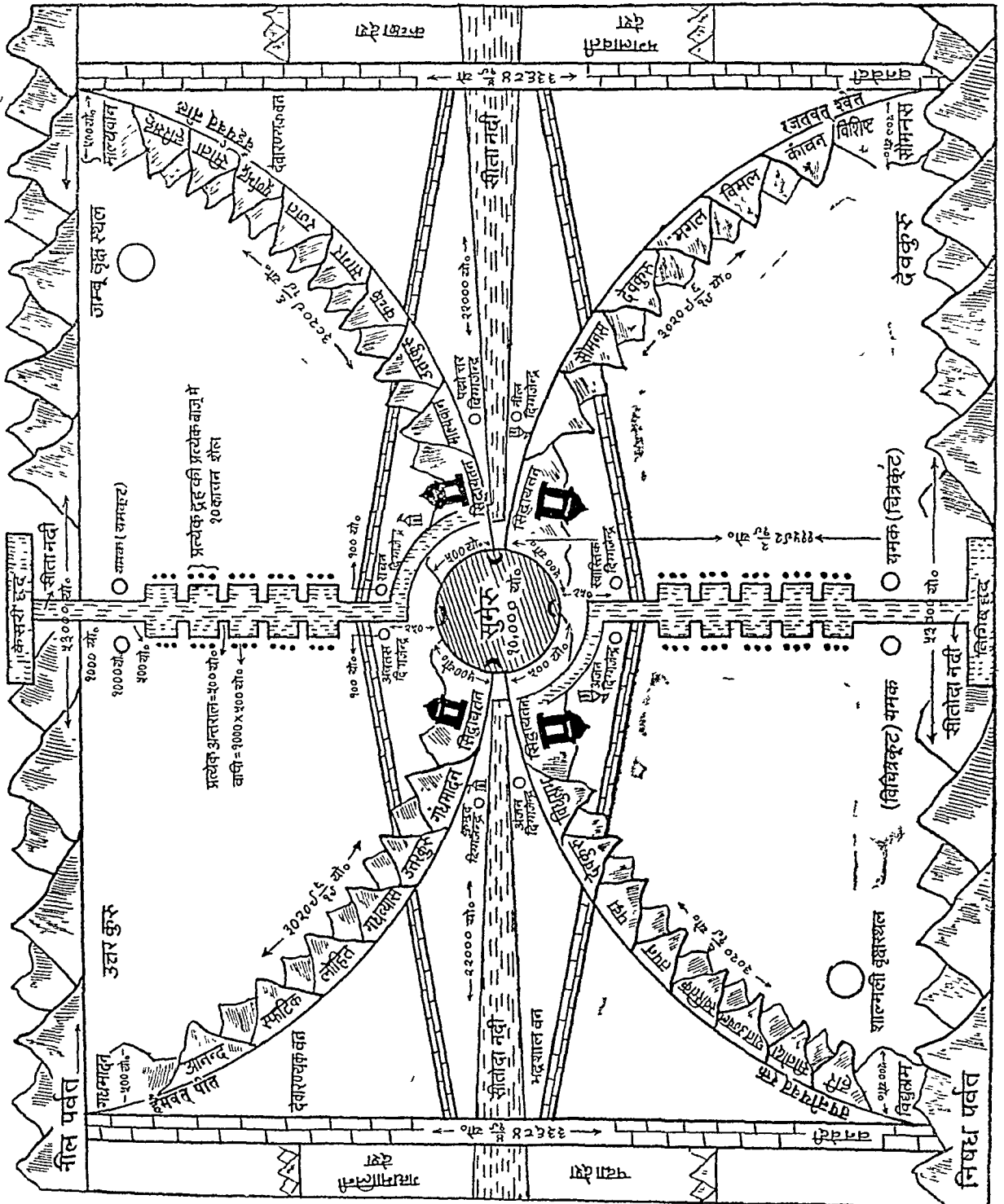
सीतोदा नदीके पश्चिम तटपर तथा उत्तरकुरुमें सुमेरुके उत्तर भागमें सीता नदीके पूर्व तटपर, तथा इसी प्रकार दोनों कुरुओंसे बाहर मेरुके पश्चिममें सीतोदाके उत्तर तटपर और मेरुकी पूर्व-दिशामें सीता नदीके दक्षिण तटपर एक-एक करके चार त्रिभुवन चूडामणि नाम वाले जिन भवन हैं। (ति. प./४/२१०६–२१११+२१३२–२१३३)। ७. निषध व नील पर्वतोंसे संलग्न सम्पूर्ण विदेह क्षेत्रके विस्तार समान लम्बी, दक्षिण उत्तर लम्बायमान भद्रशाल वनकी वेदी है। (ति प./४/२११४)। ८. देवकुरुमें निषध पर्वतके उत्तरमें, विद्युत्प्रभ गजदन्तके पूर्वमें, सीतोदाके पश्चिममें और सुमेरुके नैऋत्य दिशामें शाल्मली वृक्षस्थल है। (ति. प./४/२१४६–२१४७); (रा. वा./३/१०/१३/१७५/२३), (ह. पु./५/१८७); (विशेष दे० आगे/लोक/३/१) सुमेरुकी ईशान दिशामें, नील पर्वतके दक्षिणमें, माल्यवंत गजदन्तके पश्चिममें, सीता नदीके पूर्वमें जम्बू वृक्षस्थल है। (ति. प /४/२१६४–२१६५); (रा. वा./३/१०/१३/१७/७), (ह पु /५/१७२), (त्रि. सा./६३९), (ज. प /-६।५७)।
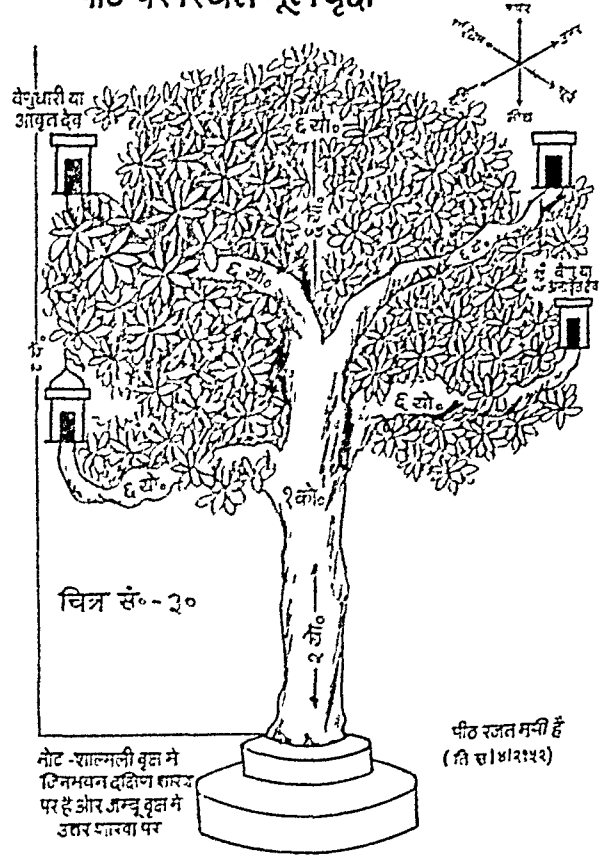
१२. जम्बू व शाल्मली वृक्षस्थल

१. देवकुरु व उत्तरकुरुमें प्रसिद्ध शाल्मली व जम्बूवृक्ष है। (दे० लोक/३/११) ये वृक्ष पृथिवीमयी है (दे० वृक्ष) तहाँ शाल्मली या जम्बू वृक्षका सामान्यस्थल ५०० योजन विस्तार युक्त होता है। तथा मध्यमें ८ योजन और किनारोंपर २ कोस मोटा है। (ति प/४/२१४८-२१४९), (ह पु./५/१७४), (त्रि. सा /६४०)। मतान्तर-की अपेक्षा वह मध्यमें १२ योजन और किनारोंपर २ कोस मोटा

चित्र सं०-२९
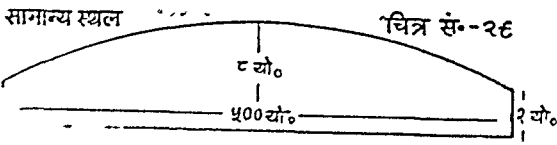
है। (रा. वा /३/७/१/१६९/१८), (ज. प./६/५८, १४९)। २. यह स्थल चारों ओरसे स्वर्णमयी वेदिकासे वेष्टित है। इसके बहुमध्य भागमें एक पीठ है, जो आठ योजन ऊँचा है तथा मूलमें १२ और ऊपर ४ योजन विस्तृत है। पीठके मध्यमें मूलवृक्ष है, जो कुल आठ योजन ऊँचा है। उसका स्कन्ध दो योजन ऊँचा तथा एक कोस मोटा है। (ति प /४/२१५१–२१५५); (रा. वा /३/७/१/१६९/१९), (ह पु /५/१७३–१७७); (त्रि. सा./६३९–६४१/६४८); (ज. प /६/६०–६४, १५४–१५५)। ३. इस वृक्षकी चारो दिशाओंमें छह-छह योजन लम्बी तथा इतने ही अन्तरालसे स्थित चार महाशाखाएँ हैं। शाल्मली वृक्षकी दक्षिण शाखापर और जम्बूवृक्षकी उत्तर शाखापर जिनभवन है। शेष तीन शाखाओं-पर व्यन्तर देवोंके भवन हैं। तहाँ शाल्मली वृक्षपर वेणु व वेणुधारी तथा जम्बू वृक्षपर इस द्वीपके रक्षक आदृत व अनादृत नामके देव रहते है। (ति. प /४/२१५६–२१६५–२१६६); (रा वा /-३/१०/१३/१७४/७/१७५/२५), (ह. पु /५/१७७–१८२+१८९), (त्रि. सा /६४७–६४९+६५२); (ज. प./६/६५–६७–८६, १५६–१६०)।

चित्र सं०-३०

४. इस स्थलपर एकके पीछे एक करके १२ वेदियाँ है, जिनके बीच १२ भूमियाँ हैं। यहाँ पर ह. पु. में वापियों आदि वाली ५ भूमियोंको छोडकर केवल परिवार वृक्षों वाली ७ भूमियाँ बतायी हैं। (ति. प /५/१२६७), (ह. पु /५/१८३), (त्रि. सा /६४१); (ज. प./६/१५१–१५२)। इन सात भूमियोमें आदृत युगल या वेणु-युगलके परिवार देवोंके वृक्ष है। ५. तहाँ प्रथम भूमिके मध्यमें उपरोक्त मूल वृक्ष स्थित है। द्वितीयमें वन-वापिकाएँ है। तृतीयकी प्रत्येक दिशामें २७ करके कुल १०८ वृक्ष महामान्यों अर्थात् त्राय-स्त्रिंशोंके है। चतुर्थकी चारों दिशाओंमें चार द्वार है, जिनपर स्थित वृक्षोपर उसकी देवियाँ रहती है। पाँचवींमें केवल वापियाँ है। छठीमें वनखण्ड हे। सातवींकी चारों दिशाओंमें कुल १६००० वृक्ष अंगरक्षकोंके हैं। अष्टमकी वायव्य, ईशान व उत्तर दिशामें कुल ४००० वृक्ष सामानिकोंके है। नवमकी आग्नेय दिशामें कुल ३२००० वृक्ष आभ्यन्तर पारिषदोके है। दसवींकी दक्षिण दिशामें ४०,००० वृक्ष मध्यम पारिषदोंके है। ग्यारहवींकी नैऋत्य दिशामें ४८००० वृक्ष बाह्य पारिषदोके है। बारहवींकी पश्चिम दिशामें सात वृक्ष अनीक महत्तरोंके है। सब वृक्ष मिलकर १४०१२० होते है। (ति प./४/२१६९–२१८१), (रा वा./३/१०/१३/१७४/१०), (ह. पु /५/-१८३–१८६), (त्रि सा /६४२–६४६), (ज. प /६/६८–७४,१६२-१६७)। ६. स्थलके चारों ओर तीन वन खण्ड हैं। प्रथमकी चारों दिशाओंमें देवोंके निवासभूत चार प्रासाद है। विदिशाओंमें से प्रत्येकमें चार-चार पुष्करिणी है प्रत्येक पुष्करिणीकी चारों दिशाओमें आठ-आठ कूट हैं। प्रत्येक कूटपर चार-चार प्रासाद है। जिनपर उन आदृत आदि देवोंके परिवार देव रहते है। [रा. वा/ मे इसी प्रकार प्रासादोंके चारों तरफ भी आठ कूट बताये है] इन

जम्बू व शाल्मली वृक्षस्थल
चित्र सं० - ३१
५०० यो०
सामानिको के १००० वृक्ष
आत्मरक्षको के ४००० वृक्ष
सामानिको के १५०० वृक्ष
वन खण्ड
वेवल वापियें
द्वारपर देवियों के वृक्ष
मूल वृक्ष
आत्मरक्षको के ४००० वृक्ष
मध्यम पारिषदो के ४०००० वृक्ष
अभ्यन्तर पारिषदों के ३२००० वृक्ष
वृक्षकी मूलभूत प्रथम भूमि
चित्र सं० - ३२
तृतीय वन खण्ड
द्वितीय वन खण्ड
प्रथम वन खण्ड
पीठके ऊपर स्थित मूल वृक्ष
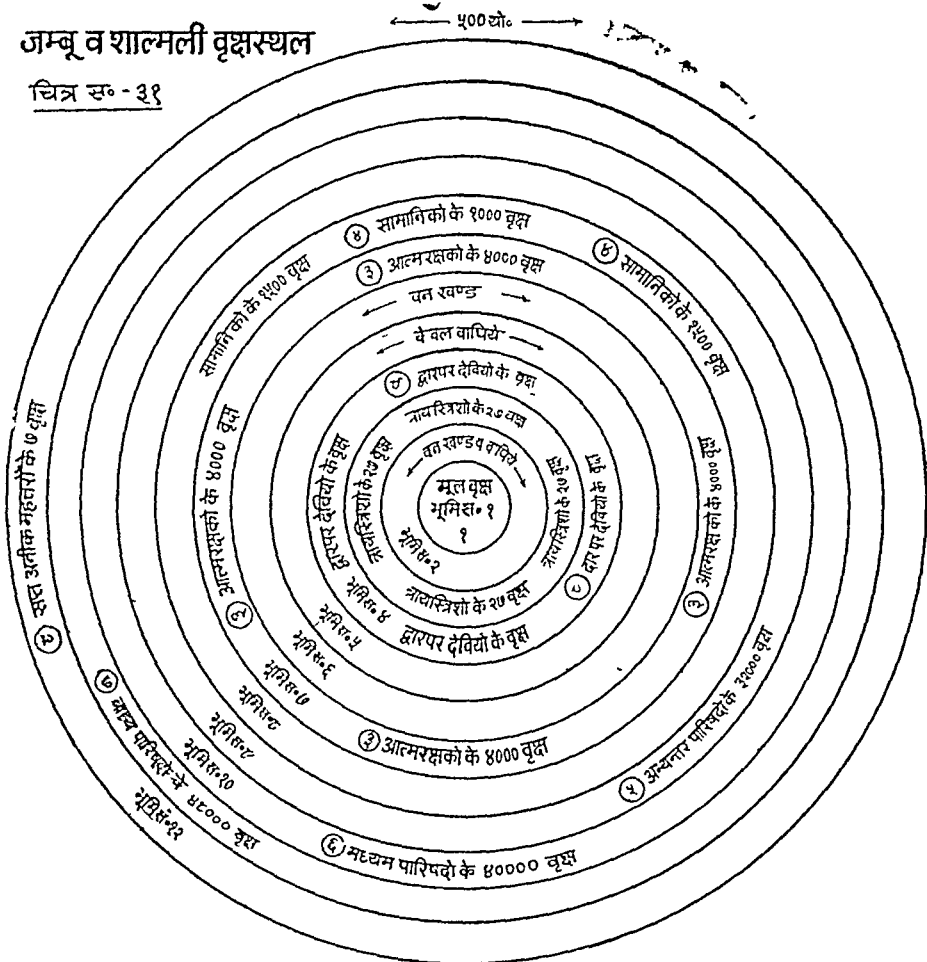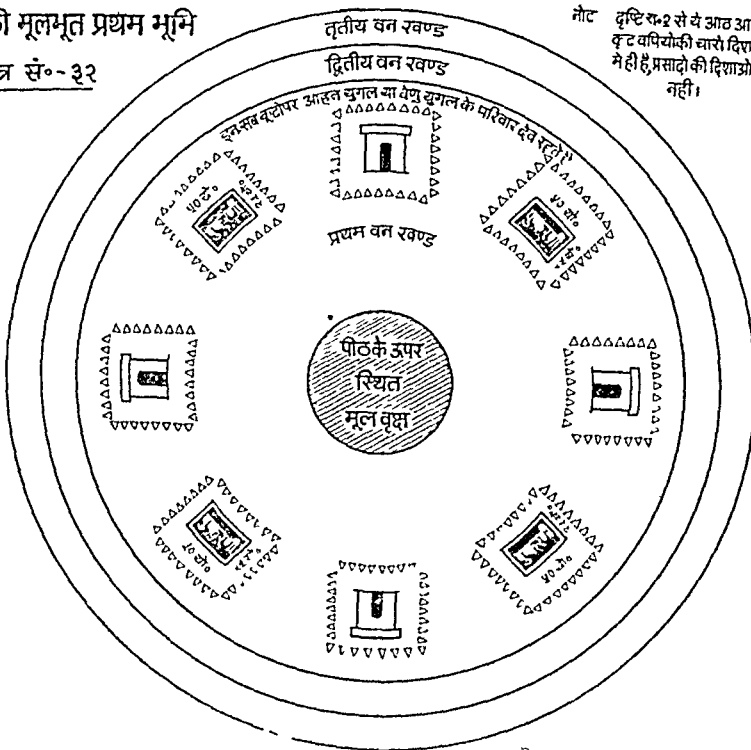
कूटोंपर उन आदृत युगल या वेणु युगलका परिवार रहता है। (ति. प/४/२१८४-२१९०), (रा. वा./३/१०/१३/१७४/१८)।

१३. विदेहके ३२ क्षेत्र

१. पूर्व व पश्चिमकी भद्रशाल वनकी वेदियों (दे० लोक/३/-११/७) से आगे जाकर सीता व सीतोदा नदीके दोनों तरफ चार-चार वक्षारगिरि और तीन-तीन विभंगा नदियाँ एक वक्षार व एक विभंगाके क्रमसे स्थित हैं। इन वक्षार व विभंगाके कारण उन नदियोंके पूर्व व पश्चिम भाग आठ-आठ भागोंमें विभक्त हो जाते हैं। विदेहके ये ३२ खण्ड उसके ३२ क्षेत्र कहलाते हैं। (ति. प./४/२२००-२२०९); (रा. वा./३/१०/१३/१७५/३०+१७७/५, १५, २४), (ह. पु./५/२२८, २४३, २४४); (त्रि सा./६६५); (ज. प./का पूरा ८ वाँ अधिकार)। २. उत्तरीय पूर्व विदेहका सर्वप्रथम क्षेत्र कच्छा नामका है। (ति प/४/२२३३), (रा. वा./३/१०/१३/१७६/१४); (ज. प./७/३३)। इनके मध्यमें पूर्वापर लम्बायमान भरत क्षेत्रके विजयार्धवत् एक विजयार्ध पर्वत है। (ति. प./४/२२५७), (रा वा/१०/१३/१७६/१६)। उसके उत्तरमें स्थित नील पर्वतकी वनवेदीके दक्षिण पार्श्वभागमें पूर्व व पश्चिम दिशाओंमें दो कुण्ड हैं, जिनसे रक्ता व रक्तोदा नामकी दो नदियाँ निकलती हैं। दक्षिणमुखी होकर बहती हुई वे विजयार्धकी दोनों गुफाओंमें-से निकलकर नीचे सीता नदीमें जा मिलती हैं। जिसके कारण भरत क्षेत्रकी भाँति यह देश भी छह खण्डोंमें विभक्त हो गया है। (ति प./४/-२२६२-२२६४), (रा. वा/३/१०/१३/१७६/२३); (ज. प/८/७२) यहाँ भी उत्तर म्लेच्छ खण्डके मध्य एक वृषभगिरि है, जिसपर दिग्विजयके पश्चात चक्रवर्ती अपना नाम अंकित करता है। (ति. प/४/२२९०-२२९१); (त्रि. सा/७१०) इस क्षेत्रके आर्य-खण्डकी प्रधान नगरीका नाम क्षेमा है। (ति. प/४/२२६८); (रा. वा/३/१०/१३/१७६/३२)। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्रमें दो नदियाँ व एक विजयार्धके कारण छह-छह खण्ड उत्पन्न हो गये हैं। (ति. प/४/२२९२); (ह पु/५/२६७); (त्रि. सा./६९१)। विशेष यह है कि दक्षिणवाले क्षेत्रोंमें गंगा-सिन्धु नदियाँ बहती हैं (ति. प./४/-२२९५-२२९६) मतान्तरसे उत्तरीय क्षेत्रोंमें गंगा-सिन्धु व दक्षिणी क्षेत्रोंमें रक्ता-रक्तोदा नदियाँ हैं। (ति प./४/२३०४); (रा. वा/-३/१०/१३/१७६/२८, ३१+१७७/१०); (ह. पु./५/२६७-२६९); (त्रि. सा/६९२)। ३. पूर्व व अपर दोनों विदेहोंमें प्रत्येक क्षेत्रके सीता सीतोदा नदीके दोनों किनारोंपर आर्यखण्डोंमें मागध, वरतनु और प्रभास नामवाले तीन-तीन तीर्थस्थान हैं। (ति. प./-४/२३०५-२३०६); (रा. वा./३/१०/१३/१७७/१२); (त्रि. सा./६७८) (ज. प./७/१०४)। ४. पश्चिम विदेहके अन्तमें जम्बूद्वीपकी जगतीके पास सीतोदा नदीके दोनों ओर, भूतारण्यक वन है। (ति. प./४/२२०३,२३२५), (रा. वा/३/१०/१३/१७७/१); (ह पु./५/२८१), (त्रि. सा./६७२)। इसी प्रकार पूर्व विदेहके अन्तमें जम्बूद्वीपकी जगतीके पास सीता नदीके दोनों ओर देवारण्यक वन है। (ति. प/४/२३१५-२३१६)।

विदेहका कच्छा क्षेत्र चित्र सं० - २७

दृष्टि भेद - कोई आचार्य गंगा सिन्धुके स्थानपर रक्ता रक्तोदा नदियां कहते हैं।

४. अन्य द्वीप सागर निर्देश

१. लवण सागर निर्देश

१. जम्बूद्वीपको घेरकर २००,००० योजन विस्तृत वलयाकार यह प्रथम सागर स्थित है, जो एक नावपर दूसरी नाव मुँधी रखनेसे उत्पन्न हुए आकारवाले है। (ति. प./४/२३९८-२३९९), (रा. वा./३/३२/३/१९३/८); (ह. पु./५/४३०-४४१), (त्रि सा./९०१); (ज. प./१०/

सागर तल व पाताल चित्र सं० - ३३
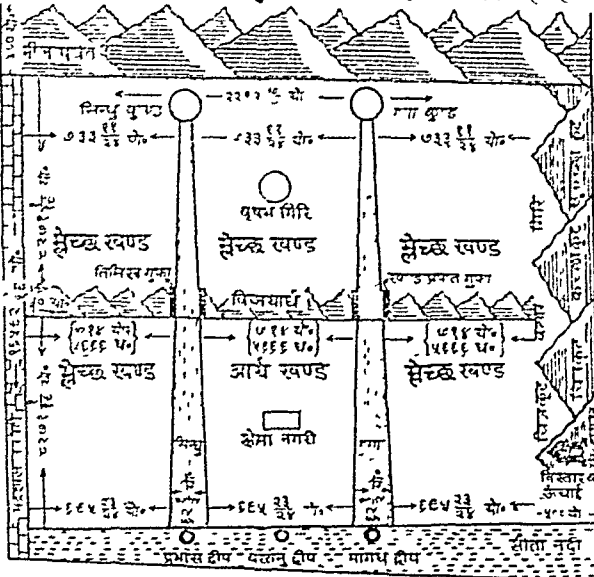
२-४) तथा गोल है। (त्रि. सा/८९७)। २. इसके मध्य तलभाग चारों ओर १००८ पाताल या विवर है। इनमें ४ उत्कृष्ट, ४ मध्यम और १००० जघन्य विस्तारवाले हैं। (ति प/४/२४०८,२४०९); (त्रि. सा./८९६); (ज प/१०/१२)। तटोंसे ९५००० योजन भीतर प्रवेश करनेपर चारों दिशाओंमें चार ज्येष्ठ पाताल हैं। ९९५०० योजन प्रवेश करनेपर उनके मध्य विदिशामें चार मध्यम पाताल और उनके मध्य प्रत्येक अन्तर दिशामें १२५,१२५ करके १००० जघन्य पाताल मुक्तावली रूपसे स्थित हैं। (ति. प/४/२४११+२४१४+२४२८), (रा वा/३/३२/४-६/१९६/१३,२५,३२), (ह. पु/५/४४२,४५१,४५५) १००,००० योजन गहरे महापाताल नरक सीमन्तक बिलके ऊपर सलग्न हैं। (ति. प/४/२४१३)। ३. तीनों प्रकारके पातालोंकी ऊँचाई तीन बराबर भागोंमें विभक्त है। तहाँ निचले भागमें वायु, उपरले भागमें जल और मध्यके भागमें यथायोग रूपसे जल व वायु दोनों रहते हैं। (ति. प./४/२४३०), (रा. वा./३/३२/४-६/१९६/१७; २८,३२), (ह. पु./५/४४६-४४७), (त्रि. सा./८९८), (ज. प./१०/६-८) ४ मध्य भागमें जल व वायुकी हानि वृद्धि होती रहती है। शुक्ल पक्षमें प्रतिदिन २२२२$\frac{2}{9}$ योजन वायु बढ़ती है और कृष्ण पक्षमें इतनी ही घटती है। यहाँ तक कि इस पूरे भागमें पूर्णिमाके दिन केवल वायु ही तथा अमावस्याको केवल जल ही रहता है। (ति. प./
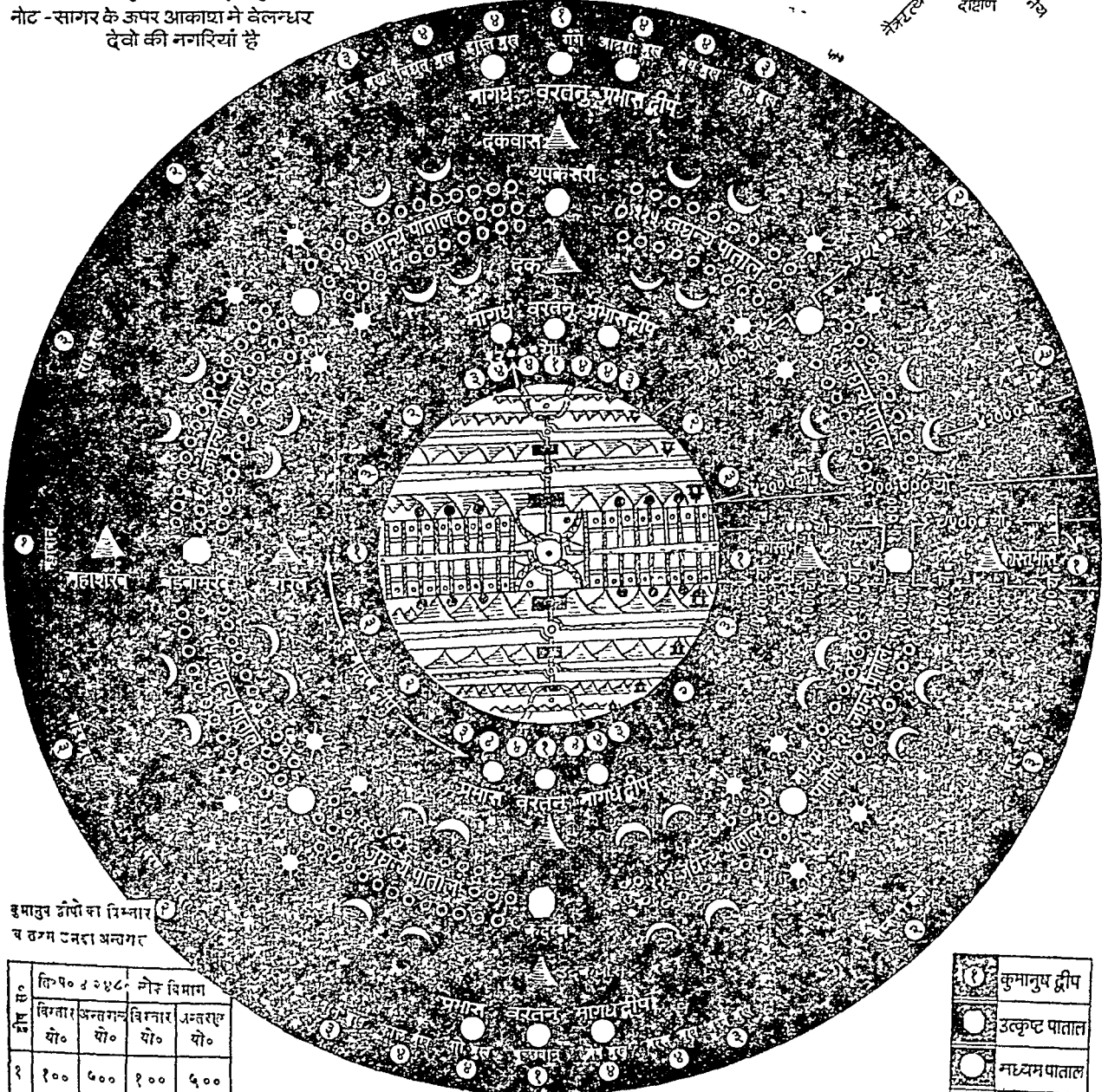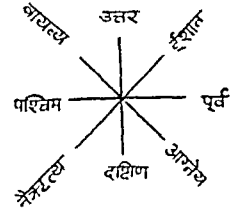
द्वीप सं०	ति०प० ४।२४८०		लोक विभाग	
	विस्तार यो०	अन्तराल यो०	विस्तार यो०	अन्तराल यो०
१	१००	५००	१००	५००
२	५५	५००	५०	५५०
३	५०	५५०	१००	५००
४	२५	६००	२५	६००

भागका विस्तार कम व बाह्य भागका विस्तार अधिक है। (ति. प./४/२५५३); (स. सि./३/३३/२२७/६); (रा. वा/३/३३/६/१९६/४); (ह. पु/५/४९८); (त्रि. सा./९२७)। ६. तहाँ भी सर्व कथन पूर्व व पश्चिम दोनों धातकी खण्डोंमें जम्बूद्वीपवत् है। विदेह क्षेत्रके बहु मध्य भागमें पृथक्-पृथक् सुमेरु पर्वत हैं। उनका स्वरूप तथा उनपर स्थित जिन भवन आदिका सर्व कथन जम्बूद्वीपवत् है। (ति. प/४/२५७५-२५७६); (रा. वा./३/३३/६/१९५/२८); (ह. पु/५/४९४ (ज. प./४/६५)। इन दोनोंपर भी जम्बूद्वीपके सुमेरुवत् पाण्डुक आदि चार वन हैं। विशेषता यह है कि यहाँ भद्रशालसे ५०० योजन ऊपर नन्दन, उससे ५५५०० योजन सौमनस वन और उससे २८००० योजन ऊपर पाण्डुक वन है। (ति. प./४/२५८४-२५८८); (रा. वा/३/३३/६/१९५/३०), (ह. पु/५/५१८-५१९), (ज. प./११/२२-२८) पृथिवी तलपर ९४०० योजन है, ५०० योजन ऊपर जाकर नन्दन वनपर ९३५० योजन रहता है। तहाँ चारो तरफसे युगपत् ५०० योजन सुकडकर ८३५० योजन ऊपर तक समान विस्तारसे जाता है। तदनन्तर ४५५०० योजन क्रमिक हानि सहित जाता हुआ सौमनस वनपर ३८०० योजन रहता है तहाँ चारों तरफसे युगपत् ५०० योजन सुकडकर २८०० योजन रहता है, ऊपर फिर १०,००० योजन समान विस्तारसे जाता है तदनन्तर १८००० योजन क्रमिक हानि सहित जाता हुआ शीषपर १००० योजन विस्तृत रहता है। (ह. पु/५/५२०-५३०)। ७ जम्बूद्वीपके शाल्मली वृक्षवत् यहाँ दोनों कुरुओंमें दो-दो करके कुल चार धातकी (आँवलेके) वृक्ष स्थित हैं। प्रत्येक वृक्षका परिवार जम्बूद्वीपवत् १४०१२० है। चारो वृक्षोंका कुल परिवार ५६०४८० है। (विशेष दे० लोक/३/१३) इन वृक्षोंपर इस द्वीपके रक्षक प्रभास व प्रियदर्शन नामक देव रहते हैं। (ति. प./४/२६०१-२६०३); (स. सि/३/३३/२२७/७), (रा. वा/३/३३/१९६/३), (त्रि. सा/९३४)। ८ इस द्वीपमें पर्वतों आदिका प्रमाण निम्न प्रकार है।—मेरु २, इष्वाकार २, कुल गिरि १२, विजयार्ध ६८, नाभिगिरि ८, गजदन्त ८; यमक ८, काँचन शैल ४००, दिग्गजेन्द्र पर्वत १६; वक्षार पर्वत ३२, वृषभगिरि ६८, (क्षेत्र या विजय ६८); (ज प्र./११/८१) कर्मभूमि ६; (भोगभूमि १२, (ज. प./११/७६) महानदियाँ २८: विदेह क्षेत्रकी नदियाँ १२८, विभंगा नदियाँ २४। द्रह ३२, महानदियों व क्षेत्र नदियोंके कुण्ड ११६, विभगाके कुण्ड २४; धातकी वृक्ष २, शाल्मली वृक्ष २ है। (ज. प./११/२९-३८), (ज प/११/७५-८१) में पुष्करार्धकी अपेक्षा इसी प्रकार कथन किया है।)

३. कालोद समुद्र निर्देश

१ धातकी खण्डको घेरकर ८००,००० योजन विस्तृत वलयाकार कालोद समुद्र स्थित है। जो सर्वत्र १००० योजन गहरा है। (ति. प./४/२७१८-२७१९); (रा वा/३/३३/६/१९६/५), (ह पु/५/५६२), (ज. प./११/४३)। २ इस समुद्रमें पाताल नहीं है। (ति. प./४/१७१९), (रा. वा/३/३२/८/१९४/१३), (ज प./११/४४)। ३. इसके अभ्यन्तर व बाह्य भागमें लवणोदवत् दिशा, विदिशा, अन्तरदिशा व पर्वतोंके प्रणिधि भागमें २४,२४ अन्तर्द्वीप स्थित है। (ति. प/४/१७२०), (ह. पु/५/५६७-५७२+५७५), (त्रि सा/९१३), (ज. प. ११/४९) वे दिशा विदिशा आदि वाले द्वीप क्रमसे तटसे ५००, ६५०, ५५० व ६५० योजनके अन्तरसे स्थित है तथा २००, १००, ५०, ५० योजन है। (ति. प/४/२७२२-२७२५) मतान्तरसे इनका अन्तराल क्रमसे ५००, ५५०, ६०० व ६५० है तथा विस्तार लवणोद वालोंकी अपेक्षा दूना अर्थात् २००, १००० व ५० योजन है। (ह. पु/५/५७४)।

४. पुष्कर द्वीप

१. कालोद समुद्रको घेरकर १६००,००० के विस्तार युक्त पुष्कर द्वीप स्थित है। (ति. प/४/२७४४), (रा. वा/३/३३/६/१९६/८), (ह पु/५७६), (ज. प/११/५७)। २. इसके बीचो-बीच स्थित कुण्डलाकार मानुषोत्तर पर्वतके कारण इस द्वीपके दो अर्ध भाग हो गये है, एक अभ्यन्तर और दूसरा बाह्य। (ति. प/४/२७४८); (रा. वा/३/३४/६/१९७/७), (ह पु/५/५७७); (त्रि. सा/९३७); (ज. प./११/५८)। अभ्यन्तर भागमें मनुष्योंकी स्थिति है पर मानुषोत्तर पर्वतको उल्लंघकर बाह्य भागमें जानेकी उनकी सामर्थ्य नहीं है। (दे० मनुष्य/४/१)। (दे० चित्र सं. ३६, पृ. ४८०)। ३ अभ्यन्तर धातकी खण्डवत् ही दो इष्वाकार पर्वत है जिनके कारण यह पूर्व व पश्चिमके दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। दोनों भागोंमें धातकी खण्डवत् रचना है। (त. सू./३/३४), (ति. प./४/२७८४-२७८५), (ह. पु/५/५७८)। धातकी खण्डके समान यहाँ ये सब कुलगिरि तो पहियेके अरोवत् समान विस्तारवाले और क्षेत्र उनके मध्य छिद्रोंमें हीनाधिक विस्तारवाले हैं। दक्षिण इष्वाकारके दोनों तरफ दो भरत क्षेत्र और इष्वाकारके दोनों तरफ दो ऐरावत क्षेत्र हैं। क्षेत्रों, पर्वतों आदिके नाम जम्बूद्वीपवत् हैं। (ति. प/४/२७९४-२७९६), (ह. पु/५/५७९)। ४. दोनों मेरुओंका वर्णन धातकी मेरुओवत् है। (ति. प./४/२८१२), (त्रि सा/६०९), (ज प/४/६४)। ५ मानुषोत्तर पर्वतका अभ्यन्तर भाग दीवारकी भाँति सीधा है, और बाह्य भागमें नीचेसे ऊपर तक क्रमसे घटता गया है। भरतादि क्षेत्रोंकी १४ नदियोंके गुजरनेके लिए इसके मूलमें १४ गुफाएँ है। (ति. प./४/२७५१-२७५२), (ह पु/५/५९५-५९६), (त्रि. सा./९३७)। ६ इस पर्वतके ऊपर २२ कूट है।—तहाँ पूर्वादि प्रत्येक दिशामें तीन-तीन कूट है। पूर्वी विदिशाओंमें दो-दो और पश्चिमी विदिशाओंमें एक-एक कूट है। इन कूटोंकी अग्रभूमिमें अर्थात् मनुष्यलोककी तरफ चारों दिशाओंमें ४ सिद्धायतन कूट है। (ति. प./४/-२७६५-२७७०), (रा वा/३/३४/६/१९७/१२); (ह पु./५/५९८-६०१)। सिद्धायतन कूटपर जिनभवन है और शेषपर सपरिवार व्यन्तर देव रहते है। (ति. प/४/२७७५) मतान्तरकी अपेक्षा नैर्ऋत्य व वायव्य दिशावाले एक-एक कूट नहीं हैं। इस प्रकार कुल २० कूट हैं। (ति. प./४/२७८३); (त्रि. सा/९४०)। ७. इसके ४ कुरुओंके मध्य जम्बू वृक्षवत् सपरिवार ४ पुष्कर वृक्ष हैं। जिनपर सम्पूर्ण कथन जम्बूद्वीपके जम्बू व शाल्मली वृक्षवत् हैं। (स. सि./३/३४/२२८/४), (रा. वा/३/३४/५/१९७/४); (त्रि. सा./९३४)। ८ पुष्करार्ध द्वीपमें पर्वत क्षेत्रादिका प्रमाण बिलकुल धातकी खण्डवत् जानना (दे० लोक/४/२)।

५. नन्दीश्वर द्वीप

१. अष्टम द्वीप नन्दीश्वर द्वीप है। (दे० चित्र स. ३८, पृ ४८१)। उसका कुल विस्तार १६३८४०,००० योजन प्रमाण है। (ति प./५/५२-५३), (रा. वा./३/-३५/१९८/४); (ह पु/५/६४७), (त्रि. सा/९६६)। २. इसके बहुमध्य भागमें पूर्व दिशाकी ओर काले रगका एक-एक अजनगिरि पर्वत है। (ति प./५/५७), (रा. वा/३/-/१९८/७), (ह पु/-५/६५२); (त्रि. सा/९६७)। ३. उस अजनगिरिके चारों तरफ १००,००० योजन छोडकर ४ वापियाँ हैं। (ति. प/५/६०), (रा. वा/३/३५/-/१९८/९), (ह पु/५/६५५), (त्रि. सा/९७०)। चारो वापियोंका भीतरी अन्तराल ६५०४५ योजन है और बाह्य अन्तर २२३६६१ योजन है (ह. पु/५/६६६-६६८)। ४. प्रत्येक

मानुषोत्तर पर्वत
चित्र सं० - ३६
दृष्टिभेद :—२२ की बजाय २० कूट हैं। नैऋत्य व वायव्य दिशा वाले कूट नहीं है।
उत्तर
ईशान
पूर्व
आग्नेय
दक्षिण
नैऋत्य
पश्चिम
वायव्य
स्फटिककूट अंककूट प्रवालकूट
सुदर्शनदेव मेघदेव सुप्रबुद्धदेव
वेलम्बकूट
वेलम्बदेव
वज्रकूट
हनुमानदेव
वैडूर्यकूट
यशस्वानदेव
अश्मगर्भकूट
यशस्कान्तदेव
सौगन्धीकूट
यशोधरदेव
रजतकूट
मानसदेव
कनककूट
वैश्रवणदेव
अञ्जनमूलकूट
सिद्धार्थदेव
धातकीखण्ड
अढाई द्वीप
अभ्यन्तर पुष्करार्ध
तपनीयकूट
स्वातिदेव
रत्नकूट
वेणुदेव
वेणुधारीदेव
अञ्जनअशनि-घोषदेव
लोहित नन्दोत्तरदेव
रुचककूट नन्ददेव
बाह्यार्ध पुष्कर द्वीप
← ४२४यो० →
← ७२३यो० →
← १०२२यो० →
४३० यो० १को०
अभ्यन्तर पुष्करार्ध की ओर
बाह्य पुष्करार्ध की ओर
नाभिगिरि
चित्र सं० - २१
स्वाति देवका विहार स्थान
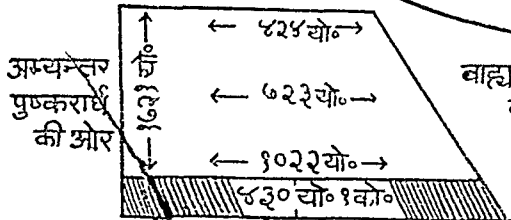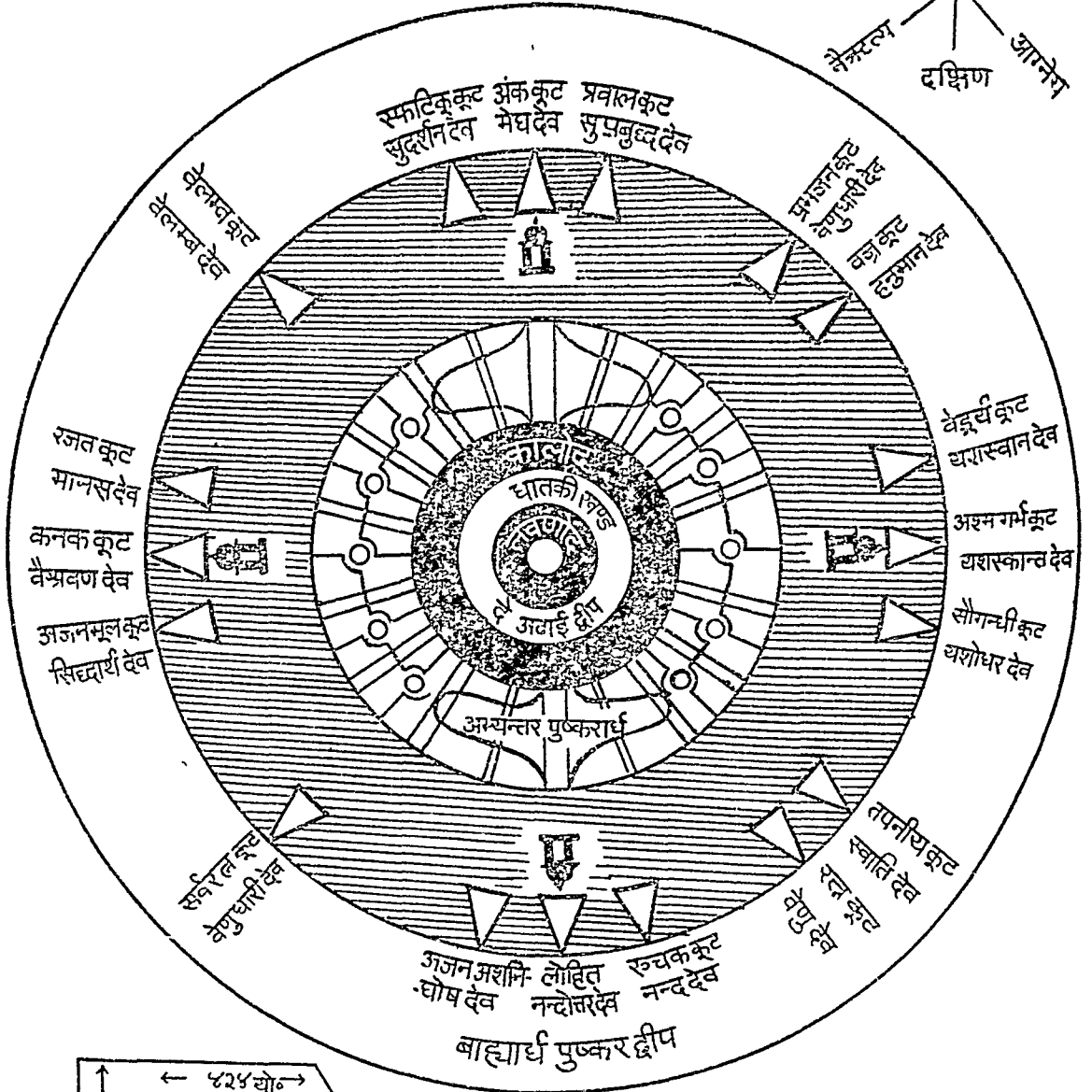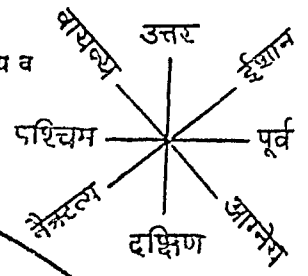
नन्दीश्वर द्वीप

चित्र सं०-३८

दृष्टिभेद —प्रत्येक वापीके प्रत्येक कोण पर एक एक करके चार रतिकर हैं। परन्तु चैत्यालय बाह्य कोणो वाले दो रतिकरो पर ही हैं। ———
वापियोके नामोंमे अन्तर।
—(दे० लोक/५ १२)
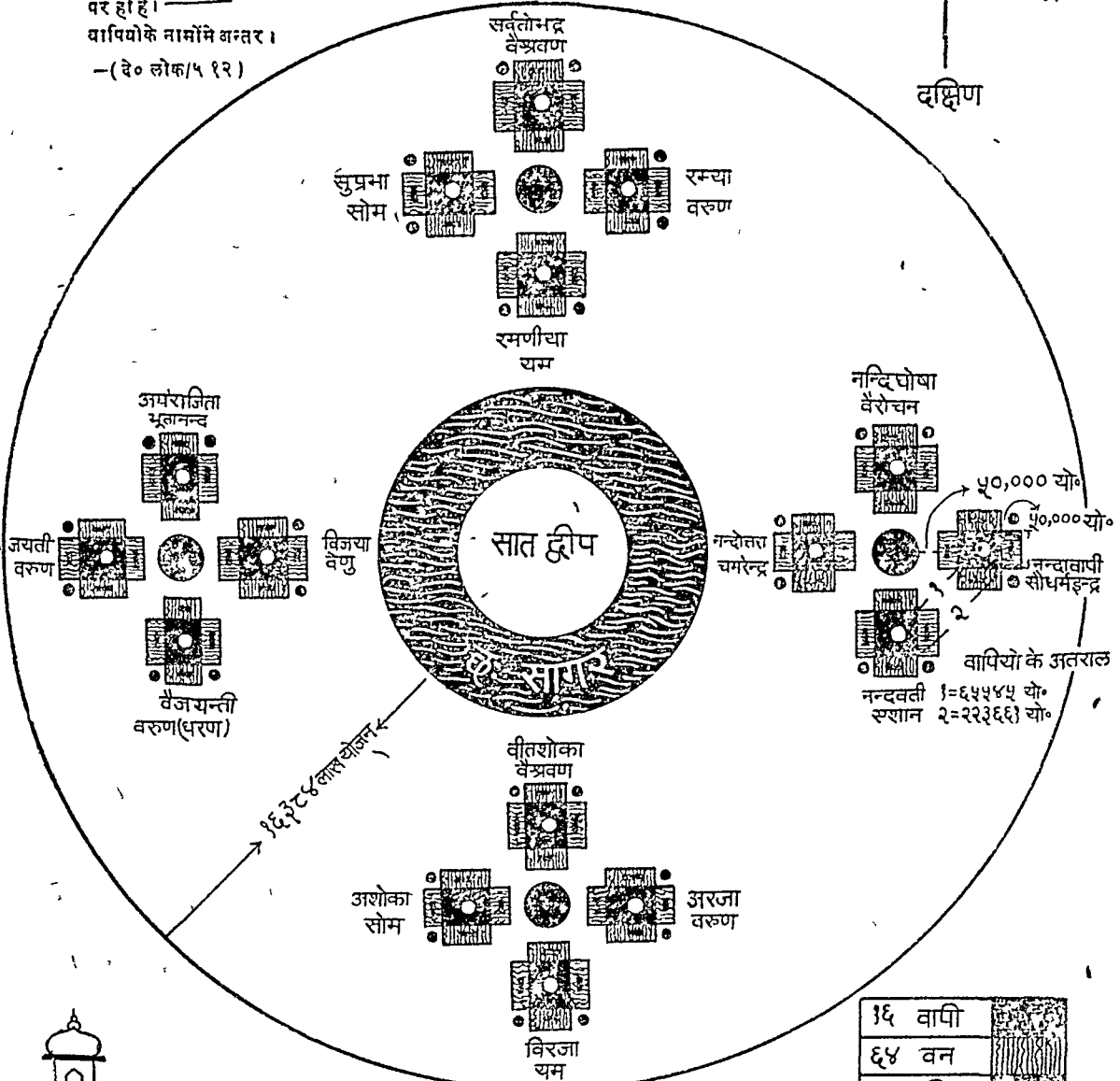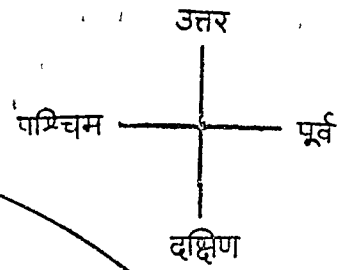
नोट-इसी प्रकार दधिमुख व रतिकर भी जानने। विशेषता यह कि उनके रंग क्रमश श्वेत व लाल हैं, तथा उनका विस्तार क्रमश: १०००० यो० व १००० यो० है।
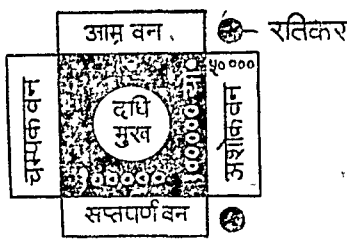
१६ वापी	
६४ वन	
१६ दधिमुख	
३२ रतिकर	
४ अंजन गिरि	
६ समुद	
७ द्वीप	
वन मे देवो के आवास	

वापीकी चारों दिशाओंमें अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्र नामके चार वन है। (ति प./५/६३०), (रा वा./३/३५/-/१९८/-२७), (ह. पु./५/६७१,६७२), (त्रि सा./९७१)। इस प्रकार द्वीपकी एक दिशामे १६ और चारों दिशाओंमें ६४ वन हैं। इन सब पर अवतंस आदि ६४ देव रहते हैं। (रा वा/३/३५/-/१९९/-३), (ह. पु/५/६८१)। ५. प्रत्येक वापीमें सफेद रगका एक-एक दधिमुख पर्वत है। (ति प./५/६५); (रा वा./३/३५/-/१९८/-२५), (ह पु./५/६६९), (त्रि. सा./९६७)। ६. प्रत्येक वापीके बाह्य दोनो कोनोंपर लाल रगके दो रतिकर पर्वत हैं। (ति. प./-५/६७), (त्रि. सा./९६७)। लोक विनिश्चयकी अपेक्षा प्रत्येक द्रहके चारों कोनोंपर चार रतिकर हैं। (ति. प./५/६६), (रा. वा/३/३५/-/१९८/३१), (ह. पु./५/६७३)। जिनमन्दिर केवल बाहरवाले दो रतिकरोंपर ही होते हैं, अभ्यन्तर रतिकरोंपर देव क्रीडा करते है। (रा. वा./३/३५/-/१९८/३३)। ७ इस प्रकार एक दिशामें एक अजनगिरि, चार दधिमुख, आठ रतिकर ये सब मिलकर १३ पर्वत है। इनके ऊपर १३ जिनमन्दिर स्थित हैं। इसी प्रकार शेष तीन दिशाओंमें भी पर्वत द्रह, वन व जिन मन्दिर जानना। [कुल मिलकर ५२ पर्वत, ५२ मन्दिर, १६ वापियाँ और ६४ वन हैं। ति.प/५/७० ७५) (रा वा./३/३५/-(१९९/१); (ह पु/५/६७६) त्रि.सा/९७३)। ८. अष्टाह्निक पर्वमें सौधर्म आदि इन्द्र व देवगण बड़ी भक्तिसे इन मन्दिरोंकी पूजा करते हैं। (ति. प/५/८३, १०२), (ह. पु./५/६८०); (त्रि. सा./९७५-९७६)। तहाँ पूर्व दिशामें कल्पवासी, दक्षिणमें भवनवासी, पश्चिममें व्यन्तर ओर उत्तरमे देव पूजा करते हैं। (ति प/५/१००-१०१)।

६. कुण्डलवर द्वीप

१. ग्यारहवाँ द्वीप कुण्डलवर नामका है, जिसके बहुमध्य भागमें मानुषोत्तरवत् एक कुण्डलाकार पर्वत है। (ति प/५/११७), (ह पु./६८६)। २. तहाँ पूर्वादि प्रत्येक दिशामें चार-चार कूट है। उनके अभ्यन्तर भागमें अर्थात् मनुष्यलोककी तरफ एक-एक सिद्धवर कूट है। इस प्रकार इस पर्वतपर कुल २० कूट है। (ति प./-५/१२०-१२१); (रा. वा./३/३५/-/१९९/१२+१९); (त्रि सा./-९४४)। जिनकूटोके अतिरिक्त प्रत्येकपर अपने-अपने कूटोके नामवाले देव रहते है। (ति. प/५/१२५)। मतान्तरकी अपेक्षा आठों दिशाओंमें एक-एक जिनकूट है। (ति प/५/१२८)। ३. लोक विनिश्चयकी अपेक्षा इस पर्वतकी पूर्वादि दिशाओंमें-से प्रत्येकमें चार-चार कूट है। पूर्व व पश्चिम दिशावाले कूटोकी अग्रभूमिमें द्वीपके अधिपति देवोके दो कूट है। इन दोनो कूटोंके अभ्यन्तर भागोंमें चारो दिशाओमे एक-एक जिनकूट है। (ति. प/५/१३०-१३६), (रा. वा./३/३५/-/१९९/३); (ह. पु/५/६९८-६९८)। मतान्तरकी अपेक्षा इनके उत्तर व दक्षिण भागोंमें एक-एक जिनकूट है। (ति. प./५/१४०)। (दे० सामनेवाला चित्र)।

७. रुचकवर द्वीप

१. तेरहवाँ द्वीप रुचकवर नामका है। इसमें बीचोबीच रुचकवर नामका कुण्डलाकार पर्वत है। (ति. प./५/१४१); (रा. वा./३/३५/-/१९९/२२); (ह. पु./५/६९९)। २. इस पर्वतपर कुल ४४ कूट हैं। (ति. प./५/१४४)। पूर्वादि प्रत्येक दिशामें आठ-आठ कूट हैं जिनपर दिक्कुमारियाँ देवियाँ रहती हैं, जो भगवान्‌के जन्म कल्याणकके अवसर पर माताकी सेवामें उपस्थित रहती हैं। पूर्वादि दिशाओंवाली आठ आठ देवियाँ क्रमसे झारी, दर्पण, छत्र व चँवर धारण करती हैं। (ति प./५/१४५, १४८-१५६), (त्रि. सा./९४७+९५५-९५६) इन कूटोंके अभ्यन्तर भागमें चारों दिशाओंमें चार महाकूट हैं तथा इनकी भी अभ्यन्तर दिशाओंमें चार अन्य कूट हैं। जिनपर दिशाएँ स्वच्छ करने वाली तथा भगवान्‌का जातकर्म करनेवाली देवियाँ रहती हैं। इनके अभ्यन्तर भागमें चार सिद्धकूट हैं। (दे० चित्र सं. ४०, पृ. ४८४)। किन्हीं आचार्योंके अनुसार विदिशाओंमें भी चार सिद्धकूट हैं। (ति प/५/१६२-१६६); (त्रि. सा/९४७,९५८-९५९)। ३. लोक विनिश्चयके अनुसार पूर्वादि चार दिशाओंमें एक-एक करके चार कूट हैं जिनपर दिग्गजेन्द्र रहते हैं। इन चारोंके अभ्यन्तर भागमें चार दिशाओंमें आठ-आठ कूट हैं जिनपर उपरोक्त माताकी सेवा करनेवाली ३२ दिक्कुमारियाँ रहती हैं। उनके बीचकी विदिशाओंमें दो-दो करके आठ कूट हैं, जिनपर भगवान्‌का जातकर्म करनेवाली आठ महत्तरियाँ रहती हैं। इनके अभ्यन्तर भागमें पुन पूर्वादि दिशाओंमें चार कूट है जिनपर दिशाएँ निर्मल करनेवाली देवियाँ रहती है। इनके अभ्यन्तर भागमें चार सिद्धकूट है। (ति. प./५/१६७-१७८); (रा. वा./३/३५/-/१९९/२४); (ह पु/५/७०४-७२१)।(दे० चित्र सं. ४१, पृ ४८५)।

८. स्वयम्भूरमण समुद्र

अन्तिम द्वीप स्वयम्भूरमण है। इसके मध्यमें कुण्डलाकार स्वयंप्रभ पर्वत है। (ति. प./५/२३८), (ह. पु/५/७३०)। इस पर्वतके अभ्यन्तर भाग तक तिर्यंच नही होते, पर उसके परभागसे लेकर अन्तिम स्वयम्भूरमण सागरके अन्तिम किनारे तक सब प्रकारके तिर्यंच पाये जाते है। (दे० तिर्यंच/३/४-६)। (दे० चित्र सं. १२, पृ. ४५१)।

कुण्डलवर पर्वत व द्वीप
दृष्टिभेद —विदिशाओ वाले सिद्धायतन कूटोको कोई आचार्य मानते हैं और कोई नही।
चित्र सं० -३८
उत्तर
ईशान
पूर्व
आग्नेय
दक्षिण
नैऋत्य
पश्चिम
वायव्य
वज्र कूट
विशिष्ट देव
वज्रप्रभ कूट
पंचशिर देव
कनक कूट
महाशिर देव
कनकप्रभ कूट
महाबाहू देव
हिमवान् कूट
पाण्डुक देव
मन्दर कूट
पाण्डुर देव
१० द्वीप
१० सागर
अभ्यन्तर कुण्डलवर द्वीप
कुण्डलवर पर्वत
बाह्यार्ध कुण्डलवर द्वीप
४२४०
७२३०यो०
१०२२०यो०
१०००यो०
७५००० यो०
विस्तार विषयक दृष्टिभेद
(दे०लोक /६.५.४)
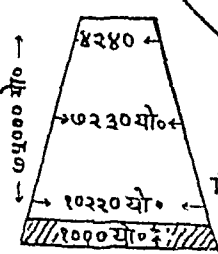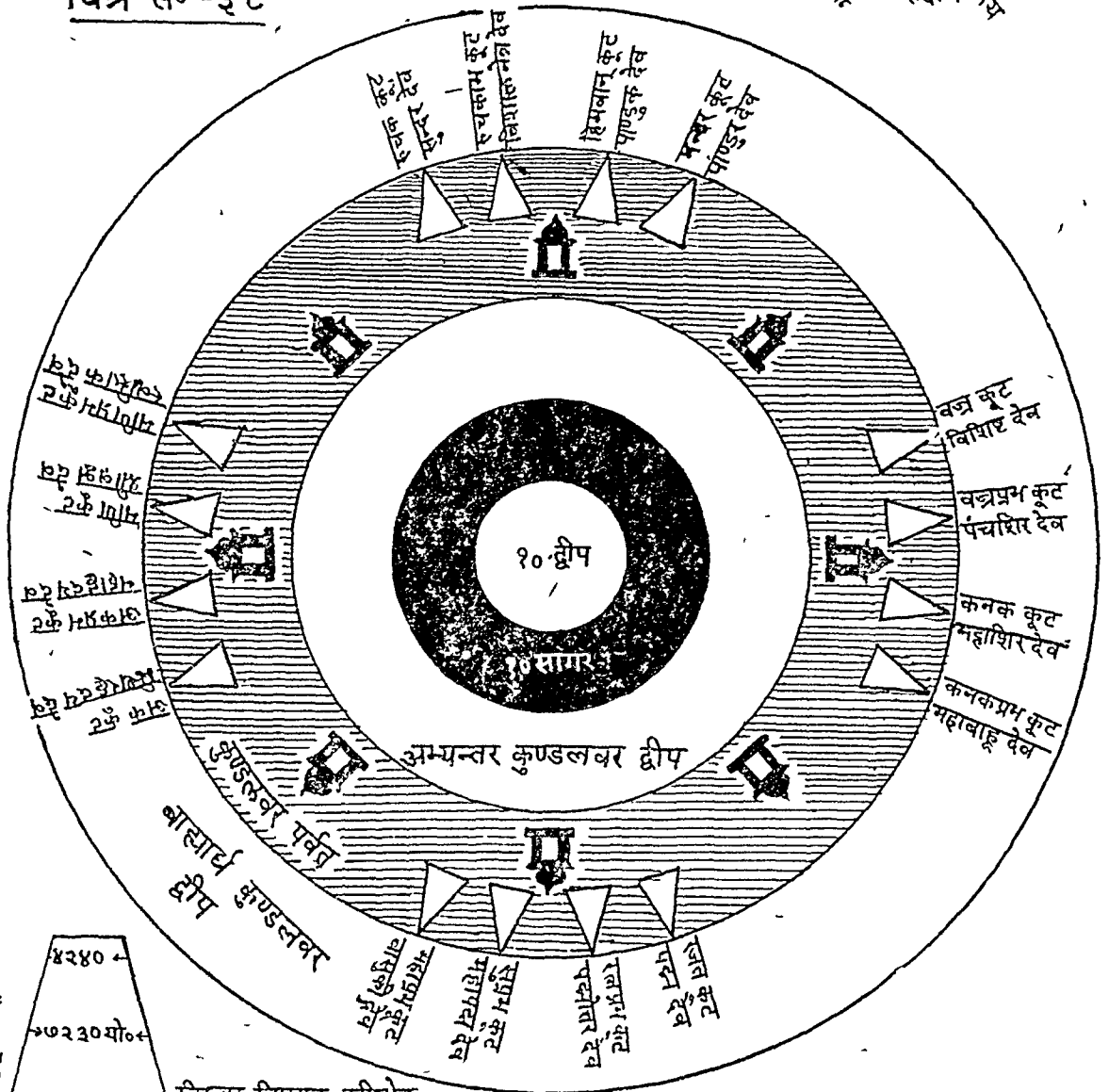
रुचकवर पर्वत व द्वीप
दृष्टि सं० १
दृष्टिभेद —विदिशाओं वाले सिद्धायतन कूटोंको कोई आचार्य मानते हैं और कोई नहीं।
कूटों व देवियोंके नामोंमे अन्तर। —(दे० लोक/५.१२)
चित्र सं०-४०
उत्तर
पश्चिम
पूर्व
दक्षिण
आग्नेय
चंवर धारण करती हैं
नित्योद्योत कूट
सौदामिनी देवी
वैडूर्य कूट
रुचका देवी
तीर्थंकरोंके जन्म कल्याणकमें माता की सेवा करनेवाली देवियाँ
कनक कूट
विजया देवी
काञ्चन कूट
वैजयन्ती देवी
तपन कूट
जयन्ती देवी
स्वस्तिक कूट
अपराजिता देवी
सुभद्र कूट
नन्दा देवी
अंजनमूल कूट
आनन्दवती देवी
अंजन कूट
नन्दोत्तरा देवी
वज्र कूट
नन्दिषेणा देवी
१२ द्वीप
अभ्यन्तरार्ध रुचकवर द्वीप
रुचकवर पर्वत
बाह्यार्ध रुचकवर द्वीप
रुचकवर पर्वत
१००० यो०
विस्तार सम्बन्धी दृष्टिभेद-(दे० लोक/६ ५.१)
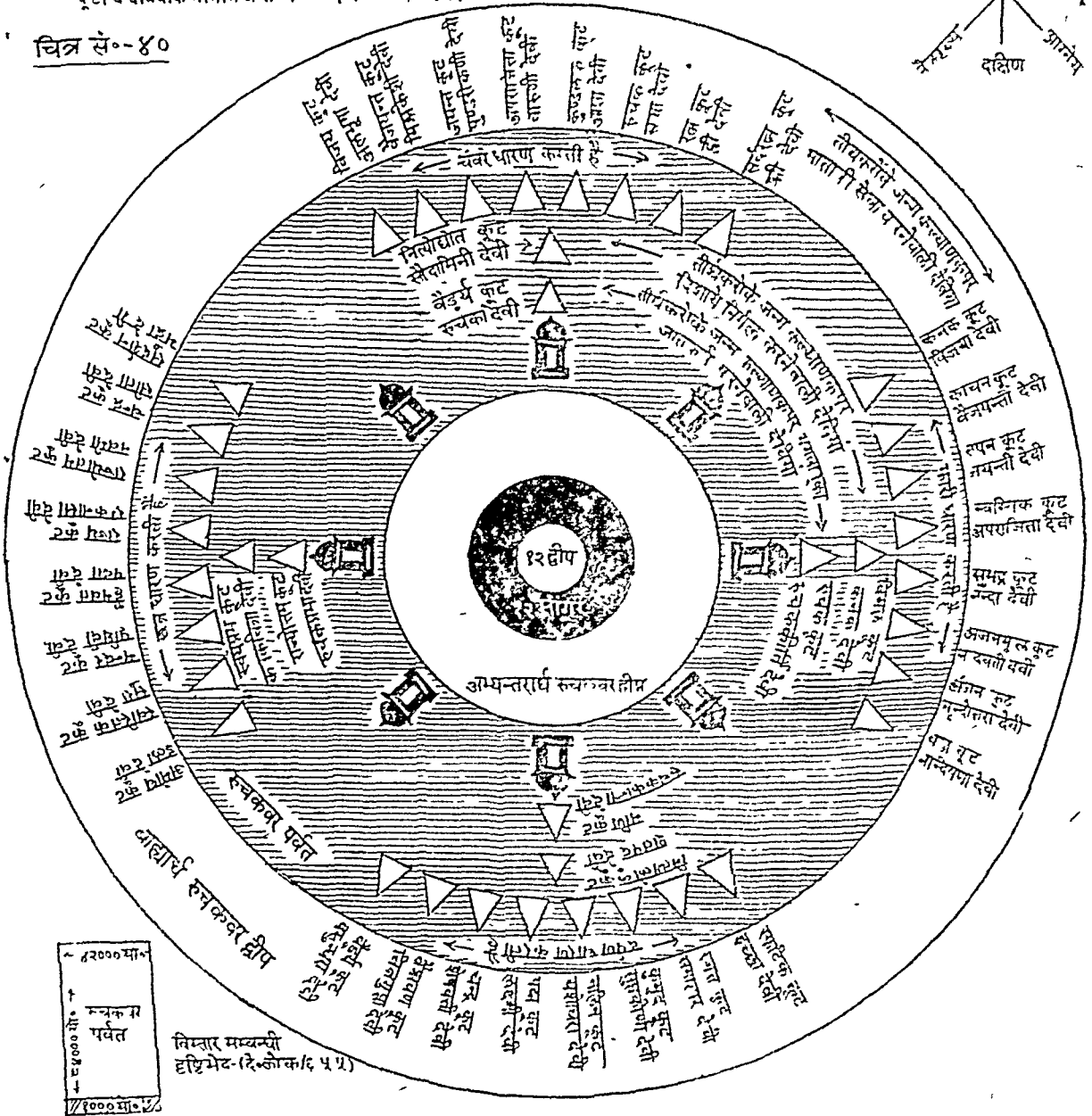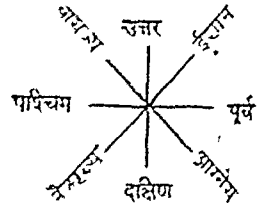
रुचकवर पर्वत व द्वीप
दृष्टि नं०२
दृष्टिभेद — कूटो व देवियोके नामोमे अन्तर। —(दे० लोक/५.१२)
चित्र सं०-४१
उत्तर
पूर्व
दक्षिण
पश्चिम
ईशान
आग्नेय
नैऋत्य
वायव्य
तीर्थकरोंके जन्म कल्याणकपर माता की सेवा करने वाली देवियां
नित्योद्योत कूट सौदामिनी देवी
वैडूर्य कूट रुचका देवी
मणिभद्र कूट विजया देवी
वैडूर्य कूट विजया देवी
काचन कूट वैजयन्ती देवी
कनक कूट जयन्ती देवी
अरिष्ट कूट अपराजिता देवी
दिक्स्वस्तिक कूट नन्दा देवी
नन्दन कूट नन्दोत्तरा देवी
अजन कूट आनन्दा देवी
अजनमूल कूट नान्दिवर्द्धना देवी
१२ द्वीप
अभ्यन्तरार्ध रुचकवर द्वीप
रुचक कूट रुचककान्ता देवी
रुचकवर पर्वत
बाह्यार्ध रुचकवर द्वीप
स्वयंप्रभ कूट कनकचित्रा देवी
४२००० यो०
रुचकवर पर्वत
१००० यो०
विस्तार सम्बन्धी दृष्टिभेद - (दे० लोक/६ ५५)
१ नन्द्यावर्त कूट पद्मोत्तर दिग्गजेन्द्र
२ स्वस्तिक कूट सुभद्र दिग्गजेन्द्र
३ श्रीवृक्ष कूट नील दिग्गजेन्द्र
४ वर्द्धमान कूट अजनगिरि दिग्गजेन्द्र
दिशा उद्योतकारी देवियोके ४ कूट
तीर्थकरके जातकर्मकारी देवियोके कूट
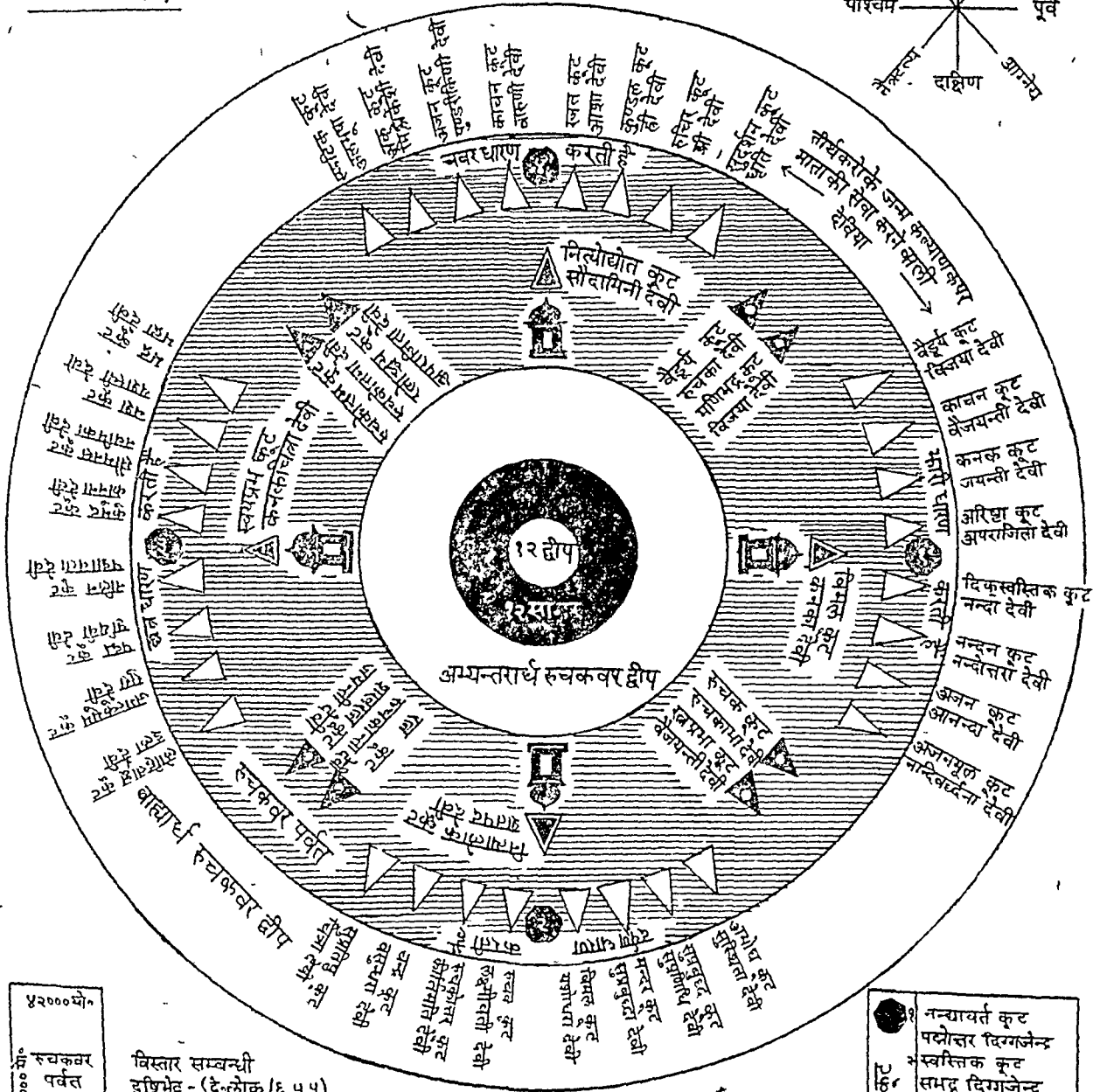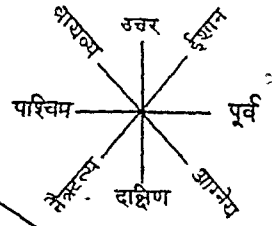
५. द्वीप पर्वतों आदिके नाम रस आदि

१. द्वीप समुद्रोंके नाम

१. मध्य भागसे प्रारम्भ करनेपर मध्यलोकमें क्रमसे १. जम्बू द्वीप; २. लवण सागर; धातकी खण्ड-कालोद सागर, ३. पुष्करवर द्वीप-पुष्करवर समुद्र, ४. वारुणीवर द्वीप-वारुणीवर समुद्र; ५ क्षीरवर द्वीप—क्षीरवर समुद्र, ६. घृतवर द्वीप—घृतवर समुद्र; ७. क्षौद्रवर (इक्षुवर) द्वीप—क्षौद्रवर (इक्षुवर) समुद्र; ८ नन्दीश्वर द्वीप—नन्दीश्वर समुद्र, ९. अरुणीवर द्वीप—अरुणीवर समुद्र; १०. अरुणाभास द्वीप—अरुणाभास समुद्र, ११. कुण्डलवर द्वीप—कुण्डलवर समुद्र; १२. शंखवर द्वीप—शंखवर समुद्र; १३. रुचकवर द्वीप - रुचकवर समुद्र; १४. भुजगवर द्वीप—भुजगवर समुद्र, १५ कुशवर द्वीप—कुशवर समुद्र; १६ क्रौंचवर द्वीप—क्रौंचवर समुद्र ये १६ नाम मिलते हैं। (मू आ./१०७४-१०७८); (स. सि /३/७/२११/३ में केवल नं. ९ तक दिये हैं); (रा वा./३/७/२/१६९/३० में नं. ८ तक दिये हैं); (ह पु /५/६१३-६२०); (त्रि. सा./३०४-३०७); (ज प /११/८४-८६); २ असंख्यात द्वीप समुद्र आगे जाकर पुन एक जम्बूद्वीप है। (इनके आगे पुन: उपरोक्त नामोंका क्रम चल जाता है।) ति प /५/१७६); (ह. पु./५/१६६, ३९७); ३. मध्य लोकके अन्तसे प्रारम्भ करनेपर—१. स्वयंभूरमण समुद्र—स्वयंभूरमण द्वीप, २ अहीन्द्रवर सागर—अहीन्द्रवर द्वीप, ३ देववर समुद्र—देववर द्वीप; ४. यक्षवर समुद्र—यक्षवर द्वीप; ५. भूतवर समुद्र—भूतवर द्वीप; ६ नागवर समुद्र—नागवर द्वीप, ७. वैडूर्य समुद्र—वैडूर्य द्वीप; ८ वज्रवर समुद्र—वज्रवर द्वीप, ९. कांचन समुद्र—कांचन द्वीप, १०. रुप्यवर समुद्र—रुप्यवर द्वीप, ११ हिंगुल समुद्र—हिंगुल द्वीप; १२ अंजनवर समुद्र—अञ्जनवर द्वीप; १३. श्याम-समुद्रश्याम द्वीप, १४ सिन्दूर समुद्र— सिन्दूर द्वीप, १५ हरिताल समुद्र—हरिताल द्वीप, १६ मन.शिलसमुद्र—मन शिलद्वीप। (ह. पु./५/६२२-६२५); (त्रि. सा./३०५-३०७)।

२. सागरोंके जलका स्वाद—चार समुद्र अपने नामोंके अनुसार रसवाले, तीन उदक रस अर्थात् स्वाभाविक जलके स्वादसे संयुक्त, शेष समुद्र ईख समान रससे सहित हैं। तीसरे समुद्रमें मधुरूप जल है। वारुणीवर, लवणाब्धि, घृतवर और क्षीरवर, ये चार समुद्र प्रत्येक रस; तथा कालोद, पुष्करवर और स्वयम्भूरमण, ये तीन समुद्र उदकरस है। (ति. प /५/२९-३०), (मू आ /१०७९-१०८०); (रा. वा./३/३२/८/१९४/१७); (ह. पु /५/६२८-६२९), (त्रि. सा /३१९); (ज.प /११/८४-८६)।

२. जम्बू द्वीपके क्षेत्रोंके नाम

१. जम्बूद्वीपादि महाक्षेत्रोंके नाम

जम्बूद्वीपमें ७ क्षेत्र हैं—भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत, व ऐरावत। (त० सू०/३/१/२)।

२. विदेह क्षेत्रके ३२ क्षेत्र व उनके प्रधान नगर

१. क्षेत्रों सम्बन्धी प्रमाण—(ति प./४/२२०६), (रा, वा./३/१०/१३/१८६/१०१/१५+१०७/८,१६,२०); (ह. पु /५/२४४-२५२) (त्रि. सा./६८८-६९०), (ज प./का पूरा ८ वाँ व ९ वाँ अधिकार)। २. नगरी सम्बन्धी प्रमाण—(ति. प./४/२२९३-२३०१), (रा. वा /३/१०/१३/१७५/१६+१७७/९,२०,२८), (ह. पु /५/२५७-२६४), (त्रि. सा./७१२-७१५); (ज. प./का पूरा ८-९ वाँ अधिकार)।

अवस्थान	क्रम	क्षेत्र	नगरी
उत्तरी पूर्व विदेहमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर	१	कच्छा	क्षेमा ति.प./४/२२६८
	२	सुकच्छा	क्षेमपुरी
	३	महाकच्छा	रिष्टा (अरिष्टा)
	४	कच्छकावती	अरिष्टपुरी
	५	आवर्ता	खड्गा
	६	लांगलावर्ता	मंजूषा
	७	पुष्कला	औषध नगरी
	८	पुष्कलावती (पुष्कलावर्ती)	पुण्डरीकिणी
दक्षिण पूर्व विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१	वत्सा	सुसीमा
	२	सुवत्सा	कुण्डला
	३	महावत्सा	अपराजिता
	४	वत्सकावती (वत्सवत्)	प्रभंकरा (प्रभाकरी)
	५	रम्या	अंका (अंकावती)
	६	सुरम्या (रम्यक)	पद्मावती
	७	रमणीया	शुभा
	८	मंगलावती	रत्नसंचया
दक्षिण पश्चिम विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१	पद्मा	अश्वपुरी
	२	सुपद्मा	सिंहपुरी
	३	महापद्मा	महापुरी
	४	पद्मकावती (पद्मवत्)	विजयपुरी
	५	शंखा	अरजा
	६	नलिनी	विरजा
	७	कुमुदा	अशोका
	८	सरित	वीतशोका
उत्तरी पश्चिम विदेहमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर	१	वप्रा	विजया
	२	सुवप्रा	वैजयन्ता
	३	महावप्रा	जयन्ता
	४	वप्रकावती (वप्रावत)	अपराजित
	५	गंधा (वल्गु)	चक्रपुरी
	६	सुगन्धा-सुवल्गु	खड्गपुरी
	७	गन्धिला	अयोध्या
	८	गन्धमालिनी	अवध्या

३. जम्बू द्वीपके पर्वतोंके नाम

१. कुलाचल आदिके नाम

१. जम्बूद्वीपमें छह कुलाचल है—हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी (दे० लोक/३/१/२)। २. सुमेरु पर्वतके अनेको नाम है। (दे० सुमेरु) ३ काचन पर्वतोका नाम काचन पर्वत ही है। विजयार्ध पर्वतोंके नाम प्राप्त नहीं है। शेषके नाम निम्न प्रकार है—

२ नाभिगिरि तथा उनके रक्षक देव

न०	क्षेत्रका नाम	पर्वतोंके नाम: ति प /४/१७०४, १७४५, २३३५, २३५०	पर्वतोंके नाम: रा.वा /३/१०/७/१७२/२१ + १०/१७२/३१ + १६/१८१/१७ + १९/१८१/२३	पर्वतोंके नाम: ह.पु /५/१६१/त्रि. सा /७१९	पर्वतोंके नाम: ज. प./३/२०९	देवोंके नाम: ति.प./पूर्वोक्त रा वा /,, ह. पु./५/१६४ त्रि.सा./७१९
१	हैमवत	शब्दवान्	→	श्रद्धावान्	श्रद्धावती	शाती (स्वाति)
२	हरि	विजयवान्	विकृतवान्	विजयवान्	विकटावती	चारण (अरुण)
३	रम्यक	पद्म	गन्धवान्	पद्मवान्	गन्धवती	पद्म
४	हैरण्यवत	गन्धमादन	माल्यवान्	गंधवान्	माल्यवान्	प्रभास

३. विदेह वक्षारोंके नाम

(ति प /४/२२१०-२२१४), (रा वा /३/१०/१३/१७५/३२ + १७७/६, १७,२५), (ह पु /५/२२८-२३२), (त्रि सा./६६६-६६९); (ज. प / ८वाँ ९वाँ अधिकार)।

अवस्थान	क्रम	ति. प	शेष प्रमाण
उत्तरीय पूर्व विदेहके पश्चिमसे पूर्व की ओर	१	चित्रकूट	←
	२	नलिनकूट	पद्मकूट
	३	पद्मकूट	नलिनकूट
	४	एक शैल	←
दक्षिण पूर्व विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	५	त्रिकूट	←
	६	वैश्रवणकूट	←
	७	अजन शैल	←
	८	आत्माजन	←
दक्षिण उत्तर विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	९	श्रद्धावान्	×
	१०	विजयवान्	×
	११	आशीविष	←
	१२	सुखावह	←
उत्तर अपर विदेहमें	१३	चन्द्रगिरि (चन्द्र माल)	←
	१४	सूर्यगिरि (सूर्य माल)	←
पश्चिमसे पूर्व-की ओर	१५	नागगिरि (नाग माल)	←
	१६	देवमाल	+

नोट—न. ९ पर ज प. में श्रद्धावती। न. १० पर रा. वा. में विकृतवान् त्रि सा में विजयवान् और ज प में विजटावती है। नं. १६ पर ह पु में मेघमाल है।

४. गजदन्तोंके नाम

वायव्य आदि दिशाओंमें क्रमसे सौमनस, विद्युत्प्रभ, गन्धमादन, व माल्यवान् ये चार हैं। (ति. प./४/२०१५) मतान्तरसे गन्धमादन, माल्यवान्, सौमनस व विद्युत्प्रभ ये चार है। (रा. वा./३/१०/१३/१७३/२७,२८ + १७५/११,१७); (ह. पु /५/२१०-२१२), (त्रि. सा./६६३)।

५ यमक पर्वतोंके नाम

अवस्थान	क्रम	दिशा	ति प /४/२०७७-२१२४ ह.पु /५/१९१-१९२ त्रि.सा /६५४-६५५	रा वा./३/१०/१३/१७४,२५;१७५/२६ ज प /६/१५,१८ ८७
देवकुरु	१	पूर्व	यमकूट	चित्रकूट
	२	पश्चिम	मेघकूट	विचित्र कूट
उत्तरकुरु	३	पूर्व	चित्रकूट	यमकूट
	४	पश्चिम	विचित्र कूट	मेघकूट,

६. दिग्गजेन्द्रोंके नाम

देवकुरुमें सीतोदा नदीके पूर्व व पश्चिममें क्रमसे स्वस्तिक, अजन, भद्रशाल वनमें सीतोदाके दक्षिण व उत्तर तटपर अजन व कुमुद, उत्तरकुरुमें सीता नदीके पश्चिम व पूर्वमे अवतंस व रोचन, तथा पूर्वी भद्रशाल वनमें सीता नदीके उत्तर व दक्षिण तटपर पद्मोत्तर व नील नामक दिग्गजेन्द्र पर्वत है। (ति. प./४/२१०३ + २१२२ + २१३० + २१३४), (रा वा./३/१०/१३/१७८/६), (ह पु./५/२०५-२०९), (त्रि. सा./६६१-६६२), (ज. प./४/७४-७५)।

४ जम्बूद्वीपके पर्वतीय कूट व तन्निवासी देव

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
	१. भरत विजयार्ध—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर) (ति प./४/१४८ + १६७), (रा. वा./३/१०/४/१७२/१०), (ह. पु /५/२६), (त्रि. सा./७३२-७३३), (ज प /२/४९)।				
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	पूर्णभद्र	←
२	(दक्षिणार्ध) भरत	←	७	तिमिस्र गुहा	कृतमाल
३	खण्ड प्रपात	नृत्यमाल	८	(उत्तरार्ध)भरत	←
४	मणिभद्र	←	९	वैश्रवण	←
५	विजयार्ध कुमार	←			
	नोट—त्रि. सा. में मणिभद्रके स्थानपर पूर्णभद्र और पूर्णभद्रके स्थान पर मणिभद्र है।				
	२. ऐरावत विजयार्ध—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर) (ति प /४/२३६७), (ह. पु /५/११०-११२), (त्रि. सा /७३३-७३५)				
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	पूर्णभद्र	←
२	(उत्तरार्ध) ऐरावत	←	७	तिमिस्र गुहा	नृत्यमाल
३	खण्ड प्रपात	कृतमाल	८	(दक्षिणार्ध)ऐरावत	←
४	मणिभद्र	←	९	वैश्रवण	←
५	विजयार्ध कुमार	←			

नोट—त्रि. सा. मे न. २ व ७ पर क्रमसे तिमिस्र गुह व खण्डप्रपात नाम कूट व कृतमाल नृत्यमाल देव बताये है।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव

३. विदेहके ३२ विजयार्ध—(ति. प./४/२२६०, २३०२-२३०३)

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	देवोंके नाम	६	मणिभद्र	देवोंके नाम
२	(दक्षिणार्ध)स्वदेश	भरत विजयार्ध	७	तिमिस्रगुह्य	भरत विजयार्ध
३	खण्ड प्रपात	वत् जानने	८	(उत्तरार्ध) स्वदेश	वत् जानने
४	पूर्णभद्र		९	वैश्रवण	
५	विजयार्धकुमार				

४. हिमवान्—

(ति प./४/१६३२+१६५१), (रा वा /३/११/२/१८२/२४), (ह. पु /५/५३-५५), (त्रि सा./७२१), (ज प /३/४०]

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	७	रोहितास्या	रोहितास्या देवी
२	हिमवान्	←			
३	भरत	←	८	सिन्धु	सिन्धु देवी
४	इला	इलादेवी	९	सुरा	सुरा देवी
५	गगा	गंगादेवी	१०	हैमवत	←
६	श्री	श्रीदेवी	११	वैश्रवण	←

५ महाहिमवान् (पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प /४/१७२४-१७२६); (रा वा /३/११/४/१८३/४); (ह. पु /५/७१-७२), (त्रि. सा /७२४); (ज. प /३/४१)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिन मन्दिर	५	हरि (ह्री)	←
२	महाहिमवान्	←	६	हरिकान्त	←
३	हैमवत	←	७	हरिवर्ष	←
४	रोहित	←	८	वैडूर्य	←

६ निषध पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प./४/१७५८-१७६०), (रा वा./३/११/६/१८३/१७), (ह. पु /५/८८-८९); (त्रि सा /७२५), (ज. प./३/४२)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	विजय	←
२	निषध	←	७	सीतोदा	←
३	हरिवर्ष	←	८	अपर विदेह	←
४	पूर्व विदेह	←	९	रुचक	←
५	हरि (ह्री)	←			←

नोट—रा. वा. व त्रि सा. में नं ६ पर धृत या धृति नामक कूट व देव कहे है। तथा ज. प में नं. ४, ५, ६ पर क्रमसे धृति, पूर्वविदेह और हरिविजय नामक कूटदेव कहे है।

७. नील पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति प /४/२३२८+२३३१), (रा.वा /३/११/८/१८३/२४), (ह. पु./५/९९-१०१), (त्रि सा /७२६), (ज. प /३/४३)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	६	नारी	←
२	नील	←	७	अपर विदेह	←
३	पूर्व विदेह	←	८	रम्यक	←
४	सीता	←	९	अपदर्शन	←
५	कीर्ति	←			←

नोट—रा वा. व त्रि. सा में नं. ६ पर नरकान्ता नामक कूट व देव कहा है।

८. रुक्मि पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प /४/२३४१+१२४३); (रा. वा./३/११/१०/१८३/३१); (ह. पु./५/१०२-१०४); (त्रि. सा /७२७); (ज. प./३/४४)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	५	बुद्धि	←
२	रुक्मि (रूप्य)	←	६	रूप्यकूला	←
३	रम्यक	←	७	हैरण्यवत	←
४	नरकान्ता	←	८	मणिकांचन (कांचन)	←

नोट—रा. वा. व त्रि सा. में नं. ४ पर नारी नामक कूट व देव रहता है।

९ शिखरी पर्वत—(पूर्वसे पश्चिमकी ओर)

(ति. प./४/२३५३-२३५६+१२४३); (रा. वा./३/११/१२/१८४/४), (ह. पु /५/१०५-१०८); (त्रि. सा./७२८); (ज. प /३/४५)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	७	कांचन (सुवर्ण)	←
२	शिखरी	←	८	रक्तवती	रक्तवती देवी
३	हैरण्यवत	←	९	गन्धवती (गान्धार)	गन्धवती देवी
		←			
४	रस देवी		१०	रैवत (ऐरावत)	←
५	रक्ता	रक्तादेवी	११	मणिकांचन	←
६	लक्ष्मी	लक्ष्मी देवी			

नोट—रा. वा में नं. ६, ७, ८, ९, १०, ११ पर क्रमसे प्लक्षणकूला, लक्ष्मी, गन्धदेवी, ऐरावत, मणि व काचन नामक कूट व देव देवी कहे है।

१० विदेहके १६ वक्षार—

(ति. प./४/२३१०), (रा. वा./३/१०/१३/१७७/११); (ह. पु./५/२३४-२३५), (त्रि. सा./७४३)।

क्रम	कूट	देव	क्रम	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	३	पहले क्षेत्रका नाम	कूट सदृश नाम
२	स्व वक्षारका नाम	कूट सदृश नाम	४	पिछले क्षेत्रका नाम	कूट सदृश नाम

नोट—ह. पु में न. ४ कूटपर दिक्कुमारी देवीका निवास बताया है।

११ सौमनस गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)

(ति प /४/२०३१+२०४३-२०४४); (रा.वा./३/१०/१३/१७५/१३); (ह पु./५/२२१,२२७), (त्रि. सा./७३६)।

क्रम	कूट (ति प ; ह पु.; त्रि. सा)	देव	क्रम	कूट (रा. वा.)	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	सौमनस	←	२	सौमनस	←
३	देवकुरु	←	३	देवकुरु	←
४	मगल	←	४	मंगलावत	मंगल
५	विमल	वत्समित्रा देवी	५	पूर्वविदेह	←
६	काचन	सुवत्सा (सुमित्रा देवी)	६	कनक	सुवत्सा
			७	कांचन	वत्समित्रा
७	विशिष्ट	←	८	विशिष्ट	←

१२. विद्युत्प्रभ गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)

(ति प./४/२०४५–२०४६+२०५३+२०५४); (रा वा./३/१०/१३/१७५/१८), (ह. पु./५/२२३, २२७), (त्रि. सा /७३९–७४०)।

स	कूट (ति. प., ह. पु., व त्रि. सा.)	देव	स	कूट (रा. वा.)	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	विद्युत्प्रभ	←	२	विद्युत्प्रभ	←
३	देवकुरु	←	३	देवकुरु	←
४	पद्म	←	४	पद्म	←
५	तपन	वारिषेणादेवी	५	विजय	वारिषेणादेवी
६	स्वस्तिक	बला देवी	६	अपर विदेह	बलादेवी
७	शतउज्ज्वल (शतज्वाल)	←	७	स्वस्तिक	←
		←	८	शतज्वाल	←
८	सीतोदा	←	९	सीतोदा	←
९	हरि	←	१०	हरि	←

नोट—ह. पु. में बलादेवीके स्थानपर अचलादेवी कहा है।

१३. गन्धमादन गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)

(ति प /४/२०५७–२०५९); (रा. वा /३/१०/१३/१७३/२४), (ह पु./५/२१७–२१८+२२७), (त्रि. सा /७४०–७४१)।

स	कूट	देव	स	कूट	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	५	लोहित	भोगवती
२	गन्धमादन	←	६	स्फटिक	भोगहति (भोगंकरा)
३	देवकुरु	←			
४	गन्धव्यास (गन्धमालिनी)	←	७	आनन्द	←

नोट—त्रि सा. में सं ३ पर उत्तरकुरु कहा है। और रा. वा. में लोहितके स्थान पर स्फटिक व स्फटिकके स्थानपर लोहित कहा है।

१४ माल्यवान् गजदन्त—(मेरुसे कुलगिरिकी ओर)

(ति प./४/२०६०–२०६२), (रा. वा./३/१०/१३/१७३/३०), (ह. पु /५/२१९–२२०+२२४), (त्रि. सा./७३८)।

स	कूट (ति. प, ह. पु; त्रि. सा.)	देव	स	कूट (रा वा.)	देव
१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर	१	सिद्धायतन	जिनमन्दिर
२	माल्यवान्	←	२	माल्यवान्	←
३	उत्तरकुरु	←	३	उत्तरकुरु	←
४	कच्छ	←	४	कच्छ	←
५	सागर	भोगवतीदेवी (सुभोगा)	५	विजय	←
६	रजत	भोगमालिनी देवी	६	सागर	भोगवती
७	पूर्णभद्र	←	७	रजत	भोगमालिनी
८	सीता	सीतादेवी	८	पूर्णभद्र	←
९	हरिसह	←	९	सीता	←
			१०	हरि	←

५. सुमेरु पर्वतके वनोंमें कूटोंके नाम व देव

(ति. प /४/१९६६–१९७७); (रा. वा./३/१०/१३/१७९/१९), (ह. पु./५/३२९), (त्रि सा./६२७), (ज. प./४/१०५)।

स.	कूट (ति प.) सोमनस वनमें	देव	सं.	कूट (शेष ग्रन्थ) नन्दन वनमें	देव
१	नन्दन	मेघंकरा	१	नन्दन	मेघकरी
२	मन्दर	मेघवती	२	मन्दर	मेघवती
३	निषध	सुमेघा	३	निषध	सुमेघा
४	हिमवान्	मेघमालिनी	४	हेमवत	मेघमालिनी
५	रजत	तोयधरा	५	रजत	तोयन्धरा
६	रुचक	विचित्रा	६	रुचक	विचित्रा
७	सागरचित्र	पुष्पमाला	७	सागरचित्र	पुष्पमाला
८	वज्र	अनिन्दिता	८	वज्र	आनन्दिता

नोट—ह पु. में सं. ४ पर हिमवत, सं. ६ पर रजत, सं. ८ पर चित्रक नाम दिये है। ज. प. में सं ४ पर हिमवान्, सं. ५ पर विजय नामक कूट कहे है। तथा स. ७ पर देवीका नाम मणिमालिनी कहा है।

६. जम्बूद्वीपके द्रहों व वापियोंके नाम

१. हिमवान् आदि कुलाचलोंपर—

[क्रमसे पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक व पुण्डरीक द्रह है। ति. प. में रुक्मि पर्वतपर महापुण्डरीकके स्थानपर पुण्डरीक तथा शिखरी पर्वतपर पुण्डरीकके स्थानपर महापुण्डरीक कहा है। (दे० लोक/३/१ व लोक/३/४)।

२. सुमेरु पर्वतके वनोंमें—आग्नेय दिशाको आदि करके (ति. प./४/१९४६,१९६२–१९६३), (रा. वा /३/१०/१३/१७९/२६), (ह. पु./५/३३४–३४६), (त्रि सा./६२८–६२९), (ज. प./४/११०–११३)।

	सौमनसवन (ति. प)	नन्दन वन (रा. वा.)		सौमनसवन (ति. प.)	नन्दनवन (रा. वा.)
१	उत्पलगुल्मा	←	७	कज्जला	←
२	नलिना	←	८	कज्जलप्रभा	←
३	उत्पला	←	९	श्रीभद्रा	श्रीकान्ता
४	उत्पलोज्ज्वला	←	१०	श्रीकान्ता	श्रीचन्द्रा
५	भृंगा	←	११	श्रीमहिता	श्रीनिलया
६	भृंगनिभा	←	१२	श्रीनिलया	श्रीमहिता

सं०	सौमनसवनमें ति. प.	नन्दनवनमें रा. वा.	सं०	सौमनसवनमें ति. प.	नन्दनवनमें रा. वा.
१३	नलिना (पद्मा)	←	१५	कुमुदा	←
१४	नलिनगुल्मा (पद्मगुल्मा)	←	१६	कुमुदप्रभा	←

नोट—ह. पु., त्रि सा. व ज. प. में नन्दनवनकी अपेक्षा ति. प. वाले ही नाम दिये है।

३. देव व उत्तरकुरुमें

(ति. प./४/२०९१,२१२६), (रा. वा /३/१०/१३/१७४/२९ + १७५/५,६, ९, ३८), (ह पु /५/१९४-१९६); (त्रि. सा./६५७); (ज. प./६/२८, ८३)।

सं.	देवकुरुमें दक्षिणसे उत्तरकी ओर	उत्तरकुरुमें उत्तरसे दक्षिणकी ओर	सं.	देवकुरुमें दक्षिणसे उत्तरकी ओर	उत्तरकुरुमें उत्तरसे दक्षिणकी ओर
१	निषध	नील	४	सुलस	ऐरावत
२	देवकुरु	उत्तरकुरु	५	विद्युत् (तडित्प्रभ)	माल्यवान्
३	सूर	चन्द्र			

७. महाह्रदोंके कूटोंके नाम

१. पद्मद्रहके तटपर ईशान आदि चार विदिशाओंमें वैश्रवण, श्रीनिचय, क्षुद्रहिमवान् व ऐरावत ये तथा उत्तर दिशामें श्रीसचय ये पाँच कूट हैं। उसके जलमें उत्तर आदि आठ दिशाओंमें जिनकूट, श्रीनिचय, वैडूर्य, अकमय, आश्चर्य, रुचक, शिखरी व उत्पल ये आठ कूट हैं। (ति. प /४/१६६०-१६६५)। २ महापद्म आदि द्रहोंके कूटोंके नाम भी इसी प्रकार हैं। विशेषता यह है कि हिमवान्‌के स्थानपर अपने-अपने पर्वतोंके नामवाले कूट है। (ति. प./४/१७३०-१७३४,१७६५-१७६६)।

८. जम्बूद्वीपकी नदियोंके नाम

१. भरतादि महाक्षेत्रोंमें

क्रमसे गंगा-सिन्धु, रोहित-रोहितास्या, हरित् हरिकान्ता, सीता-सीतोदा, नारी-नरकान्ता, सुवर्णकूला-रूप्यकूला, रक्ता-रक्तोदा ये-१४ नदियाँ है। (दे० लोक/३/१ व लोक/३/१०)।

२. विदेहके ३२ क्षेत्रोंमें

गंगा-सिन्धु नामकी १६ और रक्ता-रक्तोदा नामकी १६ नदियाँ हैं। (दे० लोक/३/१०)।

२. विदेह क्षेत्रकी १२ विभंगा नदियोंके नाम

(ति. प./४/२२१५-२२१६); (रा. वा./३/१०/१३/१७५/३३ + १७७/३, १७,२५), (ह पु./५/२३९-२४३); (त्रि सा./६६६-६६८); (ज. प./८-९वाँ अधिकार)।

अवस्थान	सं.	नदियोंके नाम ति. प.	रा. वा	त्रि सा.	ज. प.
उत्तरीपूर्व विदेहमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर	१	द्रहवती	ग्राहवती	गाधवती	ग्रहवती
	२	ग्राहवती	ह्रदवती	द्रहवती	←
	३	पंकवती	पंकावती	पंकवती	←
दक्षिणी पूर्व विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१	तप्तजला	←	←	←
	२	मत्तजला	←	←	←
	३	उन्मत्तजला	←	←	←
दक्षिणी अपर विदेहमें पूर्वसे पश्चिमकी ओर	१	क्षीरोदा	←	←	←
	२	सीतोदा	←	←	←
	३	औषध वाहिनी	स्रोतान्तरवाहिनी	स्रोतोवाहिनी	स्रोतोवाहिनी
उत्तरी अपर विदेहमें पश्चिमसे पूर्वकी ओर	१	गंभीरमालिनी	←	←	←
	२	फेनमालिनी	←	←	←
	३	ऊर्मिमालिनी	←	←	←

९. लवणसागरके पर्वत पाताल व तन्निवासी देवोंके नाम

(ति. प./४/२४१० + २४६०-२४६६), (ह. पु /५/४४३,४६०); (त्रि. सा./८९७ + ९०५-९०७), (ज. प /१०/६ + ३०-३३)।

दिशा	सागरके अभ्यन्तर भागकी ओर — पर्वत	देव	मध्यवर्ती पातालका नाम	सागरके बाह्यभागकी ओर — पर्वत	देव
पूर्व	कौस्तुभ	←	पाताल	कौस्तुभावास	←
दक्षिण	उदक	शिव	कदम्ब	उदकावास	शिवदेव
पश्चिम	शंख	उदकावास	बडवामुख	महाशंख	उदक
उत्तर	दक	लोहित (रोहित)	यूपकेशरी	दकवास	लोहितांक

नोट—त्रि. सा. में पूर्वादि दिशाओंमें क्रमसे बडवामुख, कदंबक, पाताल व यूपकेशरी नामक पाताल बताये है।

१०. मानुषोत्तर पर्वतके कूटों व देवोंके नाम

(ति. प./४/२७६६+२७७६-२७८२), (रा. वा /३/३४/६/१९७/१४); (ह. पु./५/६०२-६१०), (त्रि. सा./९४२) ।

दिशा	सं०	कूट	देव
पूर्व	१	वैडूर्य	यशस्वान्
	२	अश्मगर्भ	यशस्कान्त
	३	सौगन्धी	यशोधर
दक्षिण	४	रुचक	नन्द (नन्दन)
	५	लोहित	नन्दोत्तर
	६	अंजन	अशनिघोष
पश्चिम	७	अंजनमूल	सिद्धार्थ
	८	कनक	वैश्रवण (क्रमण)
	९	रजत	मानस (मानुष्य)
उत्तर	१०	स्फटिक	सुदर्शन
	११	अंक	मेघ (अमोघ)
	१२	प्रवाल	सुप्रबुद्ध
आग्नेय	१३	तपनीय	स्वाति
	१४	रत्न	वेणु
ईशान	१५	प्रभंजन	वेणुधारी
	१६	वज्र	हनुमान
वायव्य	१७	वेलम्ब	वेलम्ब
नैर्ऋत्य	१८	सर्वरत्न	वेणुधारी (वेणुनीत)

नोट—रा. वा. व ह. पु में स. १५, १७ व १८ के स्थानपर क्रमसे सर्वरत्न, प्रभंजन व वेलम्ब नामक कूट है। तथा वेणुतालि, प्रभंजन व वेलम्ब ये क्रमसे उनके देव हैं।

११. नन्दीश्वर द्वीपकी वापियाँ व उनके देव

पूर्वादि क्रमसे

(ति. प./५/६३-७८); (रा. वा./३/३५/-/१९८/१); (ह. पु /५/६५६-६६५); (त्रि. सा /९६९-९७०) ।

दिशा	सं	ति प. व. त्रि. सा	रा. वा.	ह. पु.
पूर्व	१	नन्दा	←	सौधर्म
	२	नन्दवती	←	ऐशान
	३	नन्दोत्तरा	←	चमरेन्द्र
	४	नन्दिघोष	←	वैरोचन
दक्षिण	१	अरजा	विजया	वरुण
	२	विरजा	वैजयन्ती	यम
	३	अशोका	जयन्ती	सोम
	४	वीतशोका	अपराजिता	वैश्रवण
पश्चिम	१	विजया	अशोका	वेणु
	२	वैजयन्ती	सुप्रबुद्धा	वेणुताल
	३	जयन्ती	कुमुदा	धरण (धरण)
	४	अपराजिता	पुण्डरीकिणी	भूतानन्द
उत्तर	१	रम्या	प्रभंकरा	वरुण
	२	रमणीय	सुमना	यम
	३	सुप्रभा	आनन्दा	सोम
	४	सर्वतोभद्रा	सुदर्शना	वैश्रवण

नोट – दक्षिणके कूटोंपर सौधर्म इन्द्रके लोकपाल, तथा उत्तरके कूटोंपर ऐशान इन्द्रके लोकपाल रहते है।

१२. कुण्डलवर पर्वतके कूटों व देवोंके नाम

दृष्टि सं० १—(ति. प /५/१२२-१२५), (त्रि. सा /९४४-९४५),

दृष्टि स० २—(ति. प./५/१३३), (रा. वा /३/३५/-/१९९/१०) (ह. पु./५/६९०-६९४)।

दिशा	कूट	देव	
		दृष्टि स. १	दृष्टि स. २
पूर्व	वज्र		विशिष्ट (त्रिशिरा)
	वज्रप्रभ		पंचशिर
	कनक		महाशिर
	कनकप्रभ		महाबाहु
दक्षिण	रजत	[illegible]	पद्म
	रजतप्रभ (रजताभ)		पद्मोत्तर
	सुप्रभ		महापद्म
	महाप्रभ		वासुकी
पश्चिम	अंक		स्थिरहृदय
	अंकप्रभ		महाहृदय
	मणि		श्री वृक्ष
	मणिप्रभ		स्वस्तिक
उत्तर	रुचक		सुन्दर
	रुचकाभ		विशालनेत्र
	हिमवान्		पाण्डुर
	मन्दर		पाण्डुर

नोट—रा. वा. व ह. पु. में उत्तर दिशाके कूटोंका नाम क्रमसे स्फटिक, स्फटिकप्रभ, हिमवान् व महेन्द्र बताया है। अन्तिम दो देवोंके नामोंमें पाण्डुरकके स्थानपर पाण्डुर और पाण्डुरके स्थानपर पाण्डुक बताया है।

१३. रुचकवर पर्वतके कूटों व देवोंके नाम

१. दृष्टि सं० १ की अपेक्षा

(ति. प /५/१४५-१६३); (रा. वा./3/३५/ /१९९/२८), (ह. पु./५/-७०५-७१७), (त्रि. सा./९४८-९५८)।

दिशा	स	ति प , त्रि सा.		देवियोंका काम	रा. वा. ; ह. पु.		देवियोंका काम
		कूट	देवी		कूट	देवी	
पूर्व	१	कनक	विजया	जन्म कल्याणकपर झारी धारण करना	वैडूर्य	विजया	जन्म कल्याणकपर झारी धारण करना
	२	काचन	वैजयन्ती		काचन	वैजयन्ती	
	३	तपन	जयन्ता		कनक	वैजयन्ती	
	४	स्वतिक-दिशा	अपराजिता		अरिष्ट	अपराजिता	
	५	सुभद्र	नन्दा		दिक्स्वतिक	नन्दा	
	६	अजनमूल	नन्दवती		नन्दन	नन्दोत्तरा	
	७	अजन	नन्दोत्तर		अंजन	आनन्दा	
	८	वज्र	नन्दिषेणा		अजनमूल	नन्दिवर्धना	
दक्षिण	१	स्फटिक	इच्छा	जन्म कल्याणकपर दर्पण धारण करना	अमोघ	सुस्थिता	दर्पण धारण करना
	२	रजत	समाहार		सुप्रबुद्ध	सुप्रणिधि	
	३	कुमुद	सुप्रकीर्णा		मन्दिर	सुप्रबुद्धा	
	४	नलिन	यशोधरा		विमल	यशोधरा	
	५	पद्म	लक्ष्मी		रुचक	लक्ष्मीवती	
	६	चन्द्र	शेषवती		रुचकोत्तर	कीर्तिमती	
	७	वैश्रवण	चित्रगुप्ता		चन्द्र	वसुन्धरा	
	८	वैडूर्य	वसुन्धरा		सुप्रतिष्ठ	चित्रा	
पश्चिम	१	अमोघ	इला	जन्म कल्याणकपर छत्र धारण करना	लोहिताक्ष	इला	जन्म कल्याणकपर छत्र धारण करना
	२	स्वस्तिक	सुरादेवी		जगत्कुसुम	सुरा	
	३	मन्दर	पृथिवी		पद्म	पृथिवी	
	४	हैमवत्	पद्मा		नलिन (पद्म)	पद्मावती	
	५	राज्य	एकनासा		कुमुद	कानना (काचना)	
	६	राज्योत्तम	नवमी		सौमनस	नवमिका	
	७	चन्द्र	सीता		यश	यशस्वी (सीता)	
	८	सुदर्शन	भद्रा		भद्र	भद्रा	
उत्तर	१	विजय	अलंभूषा	जन्म कल्याणकपर चँवर धारण करना	स्फटिक	अलंभूषा	जन्म कल्याणकपर चँवर धारण करना
	२	वैजयन्त	मिश्रकेशी		अक	मिश्रकेशी	
	३	जयन्त	पुण्डरीकिणी		अजन	पुण्डरीकिणी	
	४	अपराजित	वारुणी		काचन	वारुणी	
	५	कुण्डलक	आशा		रजत	आशा	
	६	रुचक	सत्या		कुण्डल	ह्री	
	७	रत्नकूट	ह्री		रुचिर (रुचक)	श्री	
	८	सर्वरत्न	श्री		सुदर्शन	धृति	

दिशा	स	ति. प. ; त्रि. सा.		देवियोंका काम	ति. प. ; त्रि. सा.		देवियोंका काम
		कूट	देवी		कूट	देवी	
उपरोक्त की अभ्यन्तर दिशाओंमें	१	विमल	कनका	दिशाएँ निर्मल करना	×	×	
	२	नित्यालोक	शतपद (शतह्रदा)				
	३	स्वयंप्रभ	कनकचित्रा				
	४	नित्योद्योत	सौदामिनी				
उपरोक्त की अभ्यन्तर दिशाओंमें	१	रुचक	रुचककीर्ति	जातकर्म करना			
	२	मणि	रुचककान्ता				
	३	राज्योत्तम	रुचकप्रभा				
	४	वैडूर्य	रुचका				

२. दृष्टि नं २ की अपेक्षा—

(ति. प /५/१६९–१७७); (रा. वा /३/३५/-/१९९/२४), (ह. पु /-५/७०२-७२७)।

दिशा	स.	(ति. प.)		देवीका काम	रा. वा.; ह पु.		देवीका काम
		कूट	देवी		कूट	देवी	
चारों दिशाओंमें	१	नन्द्यावर्त	पद्मोतर	दिग्गजेन्द्र	←	←	
	२	स्वस्तिक	सुभद्र		←	सहस्ती	
	३	श्रीवृक्ष	नील		←	←	
	४	वर्धमान	अंजनगिरि		←	←	
अभ्यतर दिशामें ३२ दे० पूर्वोक्त दृष्टि स. १ में प्रत्येक दिशाके आठ कूट							
विदिशामें प्रदक्षिणा रूपसे	१	वैडूर्य	रुचका	जातकर्म करनेवाली महत्त.	←	←	जातकर्म करनेवाली महत्तरिका
	२	मणिप्रभ	विजया		रत्न	विजया	
	३	रुचक	रुचकाभा		←	←	
	४	रत्नप्रभ	वैजयन्ती		←	←	
	५	रत्न	रुचकान्ता		मणिप्रभ	रुचककान्ता	
	६	शंखरत्न	जयन्ती		सर्वरत्न	जयन्ती	
	७	रुचकोत्तम	रुचकोत्तमा		←	रुचकप्रभा	
	८	रत्नोच्चय	अपराजिता		←	←	
उपरोक्तके अभ्यन्तर भागमें चारों दिशाओंमें	१	विमल	कनका	दिशाओंमें उद्योत करना	←	चित्रा	दिशाओंमें उद्योत करना
	२	नित्यालोक	शतपद (शतह्रदा)		←	कनकचित्रा	
	३	स्वयंप्रभ	कनकचित्रा		←	त्रिशिरा	
	४	नित्योद्योत	सौदामिनी		←	सूत्रमणि	

१४. पर्वतों आदिके वर्ण—

स.	नाम	प्रमाण					वर्ण	
		ति प./४/ गा. स.	रा वा/३/सू / वा /पृ /पंक्ति	ह पु./५/ श्लो. सं.	त्रि. सा / गा स.	ज. प./ अधि./गा.	उपमा	वर्ण
१	हिमवान्	९५	{ १२/-/१८४/११	×	५६६	३/३	सुवर्ण	पीत (रा. वा.)
२	महाहिमवान्	”	{ त. सू /३/१२	×	×	”	चाँदी	शुक्ल (रा वा.)
३	निषध	”	”	×	”	”	तपनीय	तरुणादित्य (रक्त)
४	नील	”	”	×	”	”	वैडूर्य	मयूरग्रीव (रा वा.)
५	रुक्मि	”	”	×	”	”	रजत	शुक्ल
६	शिखरी	”	”	×	”	”	सुवर्ण	पीत (रा. वा.)
७	विजयार्ध	१०७	१०/४/१७१/१५	२१	×	२/३२	रजत	शुक्ल
८	विजयार्धके कूट	×	×	×	६७०	×	सुवर्ण	पीत
९	सुमेरु '—	→	दे० लोक/३/५	←				
	पाण्डुकशिला	१८२०	१०/१३/१८०/१८	३४७	६३३	४/१३	अर्जुन सुवर्ण	श्वेत
	पाण्डुकम्बला	१८३०	”	”	”	”	रजत	विद्रुम (श्वेत)
	रक्तकम्बला	१८३४	”	”	”	”	रुधिर	लाल
	अतिरक्त	१८३२	”	”	”	”	सुवर्ण तपनीय	रक्त
१०	नाभिगिरि	×	^	×	६१६	×	दधि	श्वेत
	मतान्तर	×	×	×	×	३/२१०	सुवर्ण	पीत
११	वृषभगिरि	२२६०	×	×	७१०	×	”	”
१२	गजदन्त '—							
	सौमनस	२०१६	१०/१३/१७५/११	२१२	६६३	×	चाँदी	स्फटिक रा. वा.
	विद्युत्प्रभ	”	१०/१३/१७५/१७	”	”	×	तपनीय	रक्त
	गन्धमादन	”	१०/१३/१७३/१६	२१०	”	×	कनक	पीत
	माल्यवान्	”	१०/१३/१७३/२६	२११	”	×	वैडूर्य	(नीला)
१३	{ कांचन	×	१०/१३/१७५/१	२०२	×	×	काचन	पीत
	{ मतान्तर	×	×	×	६५६	×	तोता	हरा
१४	वक्षार	×	×	×	६७०	×	सुवर्ण	पीत
१५	वृषभगिरि	२२६०	×	×	७१०	×	”	पीत
१६	गंगाकुडमें—							
	शैल	२२१	×	×	×	×	वज्र	श्वेत
	गंगाकूट	२२३	×	×	×	×	सुवर्ण	पीत
१७	पद्मद्रहका कमल '—							
	मृणाल	१६६७	१७/-/१८५/६	×	×	×	रजत	श्वेत
	कन्द	”	”	×	×	×	अरिष्टमणि	ब्राउन
	नाल	”	”	×	५७०	३/७५	वैडूर्य	नील
	पत्ते	×	२२/२/१८८/३	×	×	×	लोहिताक्ष	रक्त
	कर्णिका	×	”	×	×	×	अर्कमणि	केशर
	केसर	×	”	×	×	×	तपनीय	रक्त
१८	जम्बूवृक्षस्थल '—							
	सामान्य स्थल	२१५२	×	१७५	×	×	सुवर्ण	पीत
	{ इसकी वापियोके	×	१०/१३/१७४/२२	×	×	×		
	{ कूट	×	”	×	×	×	अर्जुन	श्वेत
	स्कन्ध	२१५५	×	×	×	×	पुखराज	पीत
	पीठ	२१५२	×	×	×	×	रजत	श्वेत
१९	वेदियाँ '—							
	जम्बूद्वीपकी जगती	१६	×				सुवर्ण	पीत
	भद्रशालवन (वेदी)	२११४	१०/१३/१७८/५	×	×	×	”	पद्मनर (रा वा)
	नन्दनवन वेदी	१६८६	१०/१३/१७६/६	×	×	×	”	”

सं.	नाम	प्रमाण					वर्ण	
		ति. प./४/-गा. सं.	रा वा /३/सूत्र/-वा./पृ./पंक्ति	ह.पु./५/-श्लो. सं.	त्रि. सा./-गा. सं.	ज. प./-अधि./गा.	उपमा	वर्ण
	सोमनसवन (वेदी)	१६३८	१०/१३/१८०/२	×	×	×	सुवर्ण	पद्मवर (रा. वा.)
	पाण्डुकवन वेदी	×	१०/१३/१८०/१२	×	×	×	×	"
	जम्बूवृक्ष वेदी	×	७/१/१६६/१८	×	×	×	(जाम्बूनद सुवर्ण)	रक्तायुक्त पीत
	जम्बूवृक्षकी १२ वेदियाँ	२१५१	७/१/१६६/२० तथा १०/१३/१७४/१७	×	६४१	×	सुवर्ण	पद्मवर
	सर्व वेदियाँ	×	×	×	६७१	१/५२,६४	सुवर्ण	पीत
२०	नदियोंका जल—							
	गंगा-सिन्धु					३/१६६	हिम	श्वेत
	रोहित-रोहितास्या					"	कुंदपुष्प	"
	हरित-हरिकान्ता					"	मृणाल	हरित
	सीता-सीतोदा					"	शंख	श्वेत
२१	लवणसागरके पर्वत—	२४६१	×	४६०	६०८	×	रजत	धवल
	पूर्व दिशा वाले	×	×	×	×	१०/३०	सुवर्ण	पीत
	दक्षिण दिशा वाले	×	×	×	×	१०/३१	अंकरत्न	
	पश्चिम दिशा वाले	×	×	×	×	१०/३२	रजत	श्वेत
	उत्तर दिशा वाले	×	×	×	×	१०/३३	वैडूर्य	नील
२२	इष्वाकार	×	×	×	६२५	×	सुवर्ण	पीत
२३	मानुषोत्तर	२७५१	×	५९५	६२७	×	"	"
२४	अंजनगिरि	५७	×	६५४	६६८	×	इन्द्रनीलमणि	काला
२५	दधिमुख	६५	×	६६६	"	×	दही	सफेद
२६	रतिकर	६७	×	६७३	"	×	सुवर्ण	रक्तायुक्त पीत
२७	कुण्डलगिरि	×	×	×	६४३	×	"	"
२८	रुचकवर पर्वत	१४१	३/३५/-/१९९/२२	×	६४३	×	"	"

६. द्वीप क्षेत्र पर्वत आदिका विस्तार

१. द्वीप सागरोंका सामान्य विस्तार

१. जम्बूद्वीपका विस्तार १००,००० योजन है। तत्पश्चात् सभी समुद्र व द्वीप उत्तरोत्तर दुगुने-दुगुने विस्तारयुक्त है। (त.सू./३/८), (ति प./५/३२)

२. लवणसागर व उसके पातालादि

१. सागर

सं.	स्थलविशेष	विस्तारादिमें क्या	प्रमाण यो.
	दृष्टि सं. १—(ति. प./४/२४००-२४०७), (रा. वा./३/३२/३/१९३/८), (ह. पु./५/४३४); (त्रि. सा./९१५); (ज. प./१०/२२)।		
१	पृथिवीतल पर	विस्तार	२००,०००
२	किनारोसे ९५००० योजन भीतर जानेपर तलमे	"	१०,०००
३	" " " " " आकाशमें	"	१०,०००
४	" " " " "	गहराई	१०००
५	" " " " " आकाशमें	ऊँचाई	७००
	दृष्टि स. २—		
६	लोगायणीके अनुसार उपरोक्त प्रकार आकाशमें अवस्थित (ति. प./४/२४४५), (ह. पु./५/४३४)।	"	११०००
	दृष्टि स. ३—		
७	सग्गायणीके अनुसार उपरोक्त प्रकार आकाशमें अवस्थित (ति. प./४/२४४८)।	"	१०,०००
८	तीनों दृष्टियोसे उपरोक्त प्रकार आकाशमे पूर्णिमाके दिन	ऊँचाई	दे० लोक/४/१

२. पाताल

पाताल विशेष	विस्तार यो. मूलमें	विस्तार यो. मध्यमें	विस्तार यो. ऊपर	गहराई	दीवारोंकी मोटाई	ति. प./४ गा.	रा. वा./३/३२/४/१३३/प.	ह. पु /५/गा०	त्रि. सा./ गा.	ज. प /१०/ गा.
ज्येष्ठ	१०,०००	१००,०००	१०,०००	१००,०००	५००	२४१२	१४	४४४	८९६	५
मध्यम	१०००	१०,०००	१०००	१०,०००	५०	२४१४	२६	४५१	,,	१३
जघन्य	१००	१०००	१००	१०००	५	२४३३	३१	४५६	,,	१२

३. पर्वत व द्वीप

नाम	विशेष	विस्तार	ऊँचाई	ति. प./४/ गा नं.	त्रि. सा./ गा नं.	ज. प /१० गा नं.
पर्वत	सागरके विस्तारकी दिशामें	११६०००	१०००	२४५८	६०८	२८
गौतम द्वीप	गोलाईका व्यास	१२०००	१२०००	×	६१०	४०
		विस्तार दृष्टि सं. १	विस्तार दृष्टि सं. २			
कुमानुष द्वीप	दिशाओं वाले	१००	१००	दे० लोक/४/१)		
	विदिशा वाले	५५	५०			
	अन्तरदिशा वाले	५०	१००			
	पर्वतके पास वाले	२५	२५			

२. अढाई द्वीपके क्षेत्रोंका विस्तार—१. जम्बू द्वीपके क्षेत्र

नाम	विस्तार (योजन)	जीवा दक्षिण	जीवा उत्तर (योजन)	पार्श्व भुजा (योजन)	प्रमाण ति. प /४/ गा न.	ह पु /५/गा.	त्रि सा./गा	ज. प / अ /गा
भरत सामान्य	५२६ ६/१९	अपने अपने पर्वतोंकी उत्तर जीवा	१४४७१ ५/१९	धनुषपृष्ठ १४५२८ ११/१९	१०५+१९२	१८+४०	६०४+७७१	२/१०
दक्षिण भरत	२३८ ३/१९		९७४८ १२/१९	धनुपपृष्ठ ९७६६ १/१९	१८४			
उत्तर भरत	,,		१४४७१ ५/१९	१८१२ १५/३८	१९१			
हैमवत्	२१०५ ५/१९		३७६७४ १६/१९	६७५५ ३/१९	१६६८	५७	७७३	
हरिवर्ष	८४२१ १/१९		७३९०१ १७/१९	१३३६१ १३/३८	१७३६	७४	७७५	३/२२८
विदेह	३३६८४ ४/१९		मध्यमें १००,००० उत्तर व दक्षिणमें पर्वतोंकी जीवा	३३७६७ ७/१९	१७७५	६१	६०५+७७७	७/३
रम्यक	→		हरिवर्षवत्	←	२३३५	६७	७७८	२/२०८
हैरण्यवत्	→		हैमवतवत्	←	२३५०	,,	,,	,,
ऐरावत	→		भरतवत्	←	२३६५	,,	,,	,,
देवकुरु व उत्तर कुरु— दृष्टि सं १	११५९२ २/१९		५३०००	६०४१८ १२/१९ (धनुप पृष्ठ)	२१४०			
दृष्टि सं २	,,		५८०००	,,	२१२६			
दृष्टि सं. ३	११८४२ २/१९		५३०००	६०४१८ १२/१९ (धनुप पृष्ठ), (रा. वा./३/१०/१३/१७४/३)	×	१६८	×	६/२
३२ विदेह	पूर्वापर २२१२ ७/८		दक्षिण-उत्तर १६५९२ २/१९ (रा वा /३/१०/१३/१७६/१८)		२२१७+२२३१	२५३	६०५	७/११+२०

२. धातकीखण्डके क्षेत्र

नाम	लम्बाई	विस्तार			प्रमाण
		अभ्यन्तर (योजन)	मध्यम (योजन)	बाह्य (योजन)	
भरत	द्वीपके विस्तार वत्	६६१४ १२९/२१२	१२५८१ ३६/२१२	१८५४७ १५५/२१२	(ति. प./४/२५५४-२५७२), (ज. प./३/३१/२-७/११२/२); (ह. पु./५/५०२-५०४), (त्रि. सा./९३६), (ज. प./११/६-१७)
हैमवत		२६४५८ ९२/२१२	५०३२४ १४४/२१२	७४१९० १९६/२१२	
हरिवर्ष		१०५८३३ १५६/२१२	२०१२९८ १५२/२१२	२९६७६३ १४८/२१२	
विदेह		४२३३३४ २००/२१२	८०५१९४ १८४/२१२	११८७०५४ १६८/२१२	
रम्यक		→	हरिवर्षवत्	←	
हैरण्यवत्		→	हैमवतवत्	←	
ऐरावत		→	भरतवत्	←	

नाम		बाण	जीवा	धनुपृष्ठ	ति.प./४ गा.	ह.पु./५/श्लो.
दोनों कुरु		३६६६८०	२२३१५८	१२५४८६	२५९३	५३५

नाम	पूर्व पश्चिम विस्तार	दक्षिण-उत्तर लम्बाई (योजन)			ति. प./४/ गा.
		आदि	मध्यम	अन्तिम	
दोनों बाह्य विदेहोंके क्षेत्र—(ति. प./४/गा. सं.); (ह. पु./५/४९८-४९९); (त्रि. सा./६३१-६३३)					
कच्छा-गन्धमालिनी	प्रत्येक क्षेत्र = ९७०३ ३/८ यो० (ति. प./४/२६०७)	५०९५७० २०९/२१२	५१४१५४ २०९/२१२	५१८७३८ २०९/२१२	२६३२
सुकच्छा-गन्धिला		५१९६९३ १०८/२१२	५२४२७७ १०६/२१२	५२८८६१ १०८/२१२	२६३४
महाकच्छा-सुगन्धा		५२९१००	५३३६८४	५३८२६८	२६३८
कच्छकावती-गन्धा		५३९२२२ १२०/२१२	५४३८०६ १२०/२१२	५४८३९० १२०/२१२	२६४२
आवर्ता-वप्रकावती		५४८६२९ १२/२१२	५५३२१३ १२/२१२	५५७७९७ १२/२१२	२६४६
लांगलावर्ता-महावप्रा		५५८७५१ १३२/२१२	५६३३३५ १३२/२१२	५६७९१९ १३२/२१२	२६५०
पुष्कला-सुवप्रा		५६८१५८ २४/२१२	५७२७४२ २४/२१२	५७७३२६ २४/२१२	२६५६
वप्रा-पुष्कलावती		५७८२८० १४४/२१२	५८२८६४ १४४/२१२	५८७४४८ १४४/२१२	२६५८
दोनों अभ्यन्तर विदेहोंके क्षेत्र—(ति. प./४/गा. सं.), (ह. पु./५/५५५), (त्रि. सा./६३१-६३३)					
पद्मा-मंगलावती	प्रत्येक क्षेत्र = ९६०३ ३/८ (ति. प./४/२६०७)	२९४६२३ १६६/२१२	२९००३९ १६६/२१२	२८५४५५ १६६/२१२	२६७०
सुपद्मा-रमणीया		२८४५०१ ७६/२१२	२७९९१७ ७६/२१२	२७५३३३ ७६/२१२	२६७४
महापद्मा-सुरम्या		२७५०९४ १८४/२१२	२७०५१० १८४/२१२	२६५९२६ १८४/२१२	२६७८
पद्मकावती-रम्या		२६४९७२ ६४/२१२	२६०३८८ ६४/२१२	२५५८०४ ६४/२१२	२६८२
शंखा-वत्सकावती		२५५५६५ १७२/२१२	२५०९८१ १७२/२१२	२४६३९७ १७२/२१२	२६८६
नलिना-महावत्सा		२४५४४३ ५२/२१२	२४०८५९ ५२/२१२	२३६२७५ ५२/२१२	२६९०
कुमुदा-सुवत्सा		२३६०३६ १६०/२१२	२३१४५२ १६०/२१२	२२६८६८ १६०/२१२	२६९४
सरिता-वत्सा		२२५९१४ ४०/२१२	२२१३३० ४०/२१२	२१६७४६ ४०/२१२	२६९८

३. पुष्करार्धके क्षेत्र

नाम	लम्बाई	विस्तार			प्रमाण
		अभ्यन्तर (यो०)	मध्यम (यो०)	बाह्य (यो०)	
भरत	द्वीपके विस्तार वत्	४१५७९ $\frac{१७३}{२१२}$	५३५१२ $\frac{१६६}{२१२}$	६५४४६ $\frac{१३}{२१२}$	(ति. प /४/२८०५-२८२७); (रा. वा /३/३४/२-५/१९६/१३); (ह पु./५/५८०-५८४); (त्रि सा./९३३), (ज प./११/६७-७२)
हैमवत		१६६३१९ $\frac{५६}{२१२}$	२१४०५१ $\frac{१६०}{२१२}$	२६१७८४ $\frac{५२}{२१२}$	
हरि		६६५२७७ $\frac{१२}{२१२}$	८५६२०७ $\frac{४}{२१२}$	१०४७१३६ $\frac{२०८}{२१२}$	
विदेह		२६६११०८ $\frac{४८}{२१२}$	३४२४८२८ $\frac{१६}{२१२}$	४१८८५४७ $\frac{१६६}{२१२}$	
रम्यक		६६५२७७ $\frac{१२}{२१२}$	५३५१२ $\frac{१६९}{२१२}$	६५४४६ $\frac{१३}{२१२}$	
हैरण्यवत्		१६६३१९ $\frac{५६}{२१२}$	२१४०५१ $\frac{१६०}{२१२}$	२६१७८४ $\frac{५२}{२१२}$	
ऐरावत		४१५७९ $\frac{१५३}{२१२}$	८५६२०७ $\frac{४}{२१२}$	१०४७१३६ $\frac{२०८}{२१२}$	
नाम		वाण	जीवा	धनुपपृष्ठ	प्रमाण
दोनों कुरु		१४८६६३१	४३६६१६	३६६८३२५	उपरोक्त

नाम	पूर्व पश्चिम विस्तार	दक्षिण उत्तर लम्बाई			ति.प /४/गा.
		आदिम	मध्यम	अन्तिम	
दोनों बाह्य विदेहोंके क्षेत्र—(ति प /४/गा न.), (त्रि सा./९३१-९३३)					
कच्छा-गन्धमालिनी		१९२१८७४ $\frac{५६}{२१२}$	१९३१३२२ $\frac{११२}{२१२}$	१९४०७७० $\frac{१६८}{२१२}$	२८३७
सुकच्छा-गन्धिला		१९४२६७९ $\frac{१९६}{२१२}$	१९५२१२८ $\frac{४०}{२१२}$	१९६१५७६ $\frac{९६}{२१२}$	२८४८
महाकच्छा-सुवल्गु		१९६२०५३ $\frac{१५६}{२१२}$	१९७१५०२	१९८०९५० $\frac{५६}{२१२}$	२८५२
कच्छकावती-गन्धा		१९८२८५९ $\frac{८४}{२१२}$	१९९२३०७ $\frac{१४०}{२१२}$	२००१७५५ $\frac{१९६}{२१२}$	२८५६
आवर्ता-वप्रकावती		२००२२३३ $\frac{४४}{२१२}$	२०११६८१ $\frac{१००}{२१२}$	२०२११२९ $\frac{१५६}{२१२}$	२८६०
लांगलावती-महावप्रा		२०२३०३८ $\frac{१८४}{२१२}$	२०३२४८७ $\frac{२८}{२१२}$	२०४१९३५ $\frac{८४}{२१२}$	२८६४
पुष्कला व सुवप्रा		२०४२४१२ $\frac{१४४}{२१२}$	२०५१८६० $\frac{२००}{२१२}$	२०६१३०९ $\frac{४४}{२१२}$	२८६८
वप्रा व पुष्कलावती		२०६३२१८ $\frac{७२}{२१२}$	२०७२६६६ $\frac{१२८}{२१२}$	२०८२११४ $\frac{१८४}{२१२}$	२८७२
दोनों अभ्यन्तर विदेहोंके क्षेत्र–	(ति प /४/गा), (त्रि सा /९३१-९३३)				
पद्मा व मंगलावती		१५००९५३ $\frac{२०४}{२१२}$	१४९१५०५ $\frac{१४८}{२१२}$	१८४२०५७ $\frac{९२}{२१२}$	२८८०
सुपद्मा व रमणीया		१४८०१४८ $\frac{६}{२१२}$	१४७०७०० $\frac{८}{२१२}$	१४६१२५१ $\frac{१६४}{२१२}$	२८८४
महापद्मा-सुरम्या		१४६०७७४ $\frac{१०४}{२१२}$	१४५१३२६ $\frac{४८}{२१२}$	१४४१८७७ $\frac{२०४}{२१२}$	२८८८
रम्या-पद्मकावती		१४३९९६८ $\frac{१७६}{२१२}$	१४३०५२० $\frac{१२०}{२१२}$	१४२१०७२ $\frac{६४}{२१२}$	२८९२
शला-वप्रकावती		१४२०५९५ $\frac{४}{२१२}$	१४१११४६ $\frac{१६०}{२१२}$	१४०१६९८ $\frac{१०४}{२१२}$	२८९६
महावप्रा नलिन		१३९९७८९ $\frac{७६}{२१२}$	१३९०३४१ $\frac{२०}{२१२}$	१३८०८९२ $\frac{१७६}{२१२}$	२९००
कुमुदा-सुवप्रा		१३८०४१५ $\frac{११६}{२१२}$	१३७०९६७ $\frac{६०}{२१२}$	१३६१५१९ $\frac{४}{२१२}$	२९०४
सरिता-वप्रा		१३५९६०९ $\frac{१८८}{२१२}$	१३५०१६१ $\frac{१३२}{२१२}$	१३४०७१३ $\frac{७६}{२१२}$	२९०८

२. गोल पर्वत—

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./ ४/गा.	रा. वा /३/१० वा./पृ./पं.	ह. पु./ ५/गा.	त्रि. सा / गा.	ज प / अ /गा.
			मूलमें	मध्यमें	ऊपर					
	यो.		यो.	यो.	यो.					
वृषभगिरि	१००		१००	७५	५०	२७०			७१०	
नाभिगिरि—										
दृष्टि स. १	१०००		१०००	१०००	१०००	१७०४	७/१८२/१२	×	७१८	३/२१०
दृष्टि स. २	१०००		१०००	७५०	५००	१७०६	×	×	×	×
सुमेरु —										
पर्वत	९९०००	१०००	१०,०००	दे. लोक/ ३/५/१	१०००	१७८१	७/१७७/३२	२८३	६०६	४/२२
चूलिका	४०	×	१२	८	४	१७९५	७/१८०/१४	३०२	६२७	४/१३२
यमकः—										
दृष्टि स. १	२०००	ऊँचाईसे चौथाई	१०००	७५०	५००	२०७७	×	×	×	×
दृष्टि स २	१०००		,,	,,	,,	×	७/१७४/२६	१९३	६५५	६/१६
काचनगिरि	१००		१००	७५	५०	२०९४	७/१७५/१	×	६५९	६/४५
दिग्गजेन्द्र	१००		१००	७५	५०	२१०४, २११३	×	×	६६१	४/७६

३. पर्वतीय व अन्य कूट—

कूटोंके विस्तार सम्बन्धी सामान्य नियम—सभी कूटोंका मूल विस्तार अपनी ऊँचाईका अर्धप्रमाण है । ऊपरी विस्तार उससे आधा है। उनकी ऊँचाई अपने-अपने पर्वतोंकी गहराईके समान है।

अवस्थान	ऊँचाई	विस्तार			त्रि. प. ४/गा.	रा. वा./३/सू. वा /पृ./प.	ह. पृ./ ५/गा.	त्रि.सा./ गा	ज. प / अ /गा.
		मूलमें	मध्यमें	ऊपर					
	यो.	यो.	यो	यो.					
भरत विजयार्ध	६$\frac{1}{4}$	६$\frac{1}{4}$	४$\frac{11}{16}$	३$\frac{1}{8}$	१४९	×	२८	७२३	३/४६
ऐरावत विजयार्ध	→	भरत विजयार्धवत्		←	×	×	११२	,,	,,
हिमवान्	२५	२५	१८$\frac{3}{4}$	१२$\frac{1}{2}$	१६३३	×	५५	७२३	३/४६
महाहिमवान्	→	हिमवान्से दुगुना		←	१७२५	×	७२	,,	,,
निषध	→	हिमवान्से चौगुना		←	१७५९	×	९०	,,	,,
नील	→	निषधवत्		←	२३२७	×	१०१	,,	,,
रुक्मि	→	महाहिमवान्‌वत्		←	२३४०	×	१०४	,,	,,
शिखरी	→	हिमवान्‌वत्		←	२३५५	×	१०५	,,	,,
हिमवान्‌का सिद्धायतन	५००	५००	३७५	२५०	×	११/२/१८२/१६	×	×	×
शेष पर्वत	→	हिमवान्‌के समान		←					
	(रा वा /३/११/४/१८३/५; ६/१८३/१८, ८/१८३/२५; १०/१८३/३२; १२/१८४/५)								
चारों गजदन्त	पर्वतसे चौथाई	उपरोक्त नियमानुसार जानना'			२०३२, २०४८, २०५८, २०६०	१०/१३/१७३/-२३	२२४	२७६	×
पद्मद्रह	→	हिमवान् पर्वतवत्		←	१६६६	×	×	×	×
अन्यद्रह	→	अपने अपने पर्वतोंवत्		←	×	×	×	×	×
भद्रशालवन	→	(दे. दिग्गजेन्द्र पर्वत)			×	×	×	×	×
नन्दनवन	५००	५००	३७५	२५०	१९९७	×	३३१	६२६	
सौमनसवन	२५०	२५०	१८७$\frac{1}{2}$	१२५	१९७१				
नन्दनवनका बलभद्रकूट	→	सौमनस वन वालेके समान		←	१९९७	×	×	×	×
सौमनस वनका बलभद्र कूट—									
दृष्टि स. १	१००	१००	७५	५०	१९७८	×		×	×
दृष्टि सं २	१०००	१०००	७५०	५००	१९८०	(१०/१३/१७९/१६)	×	×	×

४ नदी कुण्ड द्वीप व पाण्डुक शिला आदि—

अवस्थान	ऊँचाई	गहराई	विस्तार	त्रि प./४/गा.	रा. वा /३/२२/वा /पृ /पं	ह. पु /५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प /अ./गा.
नदी कुण्डोंके द्वीप—								
गंगाकुण्ड	२ कोस	१० यो.	८ यो.	२२१	१/१८७/२६	१४३	५८७	३/१६५
सिन्धुकुण्ड	→	गंगावत्	←	×	२/१८७/३१	×	×	×
शेष कुण्डयुगल	"	"	उत्तरोत्तर दूना	×	३-१४/१८८-१८६	×	×	×
उपरोक्त द्वीपोंके शैल—			विस्तार					
			मूल / मध्य / ऊपर					
गंगा कुण्ड	१० यो.		४ यो. / २ यो / १ यो	२२२	×	१४४	×	३/१६५
		लम्बाई	चौड़ाई					
पाण्डुकशिला—								
दृष्टि सं १	८ यो.	१०० यो.	५० यो.	१८१६	×	३४६	६३५	×
दृष्टि सं २	४ यो	५०० यो.	२५० यो	१८२१	१८०/२०	×	×	४/१४२
			विस्तार					
			मूल / मध्य / ऊपर					
पाण्डुक शिलाके सिंहासन व आसन	५०० ध.		५०० ध. / २७५ ध. / २५० ध.					

५ अढाई द्वीपोंकी सर्व वेदियाँ—

वेदियोंके विस्तार सम्बन्धी सामान्य नियम—देवारण्यक व भूतारण्यक वनोंके अतिरिक्त सभी कुण्डों, नदियों, वनों, नगरो, चैत्यालयों आदिकी वेदियाँ समान होती हुई निम्न विस्तार-सामान्यवाली है। (ति प./४/२३८८-२३९१), (ज. प./१/६०-६६)

अवस्थान	ऊँचाई	गहराई	विस्तार	ति. प./४/गा.	रा. वा./३/सू/वा./पृ/प.	ह. पु./५/गा	त्रि. सा./गा.	ज. प./अ./गा.
सामान्य	१/२ यो	ऊँचाईसे चौथाई	५०० धनुष	२३९०	×	११६	×	१/६६
भूतारण्यक	१ यो	"	१००० "	२३९१	×	×	×	×
देवारण्यक	"	"	"	×	×	×	×	×
हिमवान्	→	सामान्य वेदीवत्	←	१६२६	×	×	×	×
पद्मद्रह	→	"	←		१५/-/१८५/१	×	×	×
शाल्मली वृक्षस्थल	→	"	←	२१६८	×	×	×	×
गजदन्त	→	भूतारण्यक वत्	←	२१००, २१२८	×	×	×	×
भद्रशालवन	→	"	←	२००६	×	×	×	×
धातकीखण्डकी सर्व	→	उपरोक्त वत्	←	×	×	५११	×	×
पुष्करार्धकी सर्व	→	"	←					
इष्वाकार	→	सामान्य वत्	←	२५३५	×	×	×	×
मानुषोत्तर की—तटवेदी	→	सामान्य वत् १ 1/4 को	←	२७५४	×	×	×	×
शिखरवेदी	४०००			×	×	×	×	×
जम्बूद्वीपकी जगती		गहराई	विस्तार: मूल / मध्य / ऊपर					
	८ यो.	१/२ यो	१२ यो / ८ यो. / ४ यो.	१५-२७	६/१/३७०/२६	३७८	८८५	१/२६
		प्रवेश	आयाम					
जगतीके द्वार—								
दृष्टि सं १	८ यो.	४ यो.	४ यो	४३	×	×	×	×
दृष्टि सं २	७५० यो.	×	५०० यो	७३	×	×	×	×
लवणसागर	→	जम्बूद्वीपकी जगती वत्	←	२५१६				

५. शेष द्वीपोंके पर्वतों व कूटोंका विस्तार—

१. धातकीखण्डके पर्वत—

नाम	ऊँचाई	लम्बाई	विस्तार	ति. प./४/गा.	रा. वा./३/३२/वा./पृ./पं.	ह. पु./५/गा.	त्रि सा./गा.	ज. प./अ./गा.
पर्वतोंके विस्तार व ऊँचाई सम्बन्धी सामान्य नियम—								
कुलाचल	जम्बूद्वीपवत्	स्वदीपवत्	जम्बूद्वीपसे दूना	२५४४-२५४६	५/१९५/२०	४९७,५०६	×	×
विजयार्ध	,,	निम्नोक्त	,,	,,	×	,,	×	×
वक्षार	,,	,,	,,	,,	×	,,	×	×
गजदन्त दृष्टि सं० १	,,	,,	,,	,,	×	,,	×	×
दृष्टि सं. २	→	जम्बूद्वीपवत्	←	२५४७	×	×	×	×
उपरोक्त सर्व पर्वत-	→	,,	←					
वृषभगिरि	→	,,	←	×	×	५११	×	×
यमक	→	,,	←	×	×	,,	×	×
कांचन	→	,,	←	×	×	,,	×	×
दिग्गजेन्द्र	→	,,	←	×	×	,,	×	×
		विस्तार						
		दक्षिण उत्तर	पूर्व पश्चिम					
इष्वाकार	४०० यो.	स्वद्वीपवत्	१००० यो.	२५३३	६/१९५/२६	४९५	६२५	११/४
विजयार्ध	जम्बूद्वीपवत्	जम्बूद्वीपसे दूना	स्वक्षेत्रवत्	२६०७+उपरोक्त सामान्य नियम				
वक्षार	जम्बूद्वीपवत्	निम्नोक्त	जम्बूद्वीपसे दूना	४०८+	उपरोक्त सामान्य	नियम		
गजदन्त—								
अभ्यन्तर	,,	२५६२२७	,,	२५६१	×	५३३	७५६	×
बाह्य	,,	५६६२५७	,,	२५६२	×	५३४	,,	×
सुमेरु पर्वत—		गहराई	विस्तार (मूल / मध्य / ऊपर)					
पृथिवीपर	८४०००	१०००	मूल: ६४०००; मध्य: दे. लाक ३/६/३; ऊपर: १०००	२५७७	६/१९५/२८	५१३		११/१८
पातालमें	दृष्टि सं' १ की अपेक्षा विस्तार=१०,००० ,, ,, २ ,, ,, ,, =९५००			,,	×	,,	×	×
चूलिका	→ जम्बूद्वीपके मेरुवत् ←			२५८३				

नाम	ऊँचाई व चौडाई	दक्षिण उत्तर विस्तार			ति. पा. ४/गा.	
		आदिम	मध्यम	अन्तिम		
दोनो बाह्य विदेहोके वक्षार —						
चित्र व देवमाल कूट	दे० पूर्वोक्त सामान्य नियम	५१८७३८ २००/२१२	५१९२१६ ४५/२१२	५१९६९३ १०५/२१२	२६३२	त्रि सा /६३४-६३३
नलिन व नागकूट		५३८२६८	५३८७४५ ६०/२१२	५३९२२२ १२०/२१२	२६४०	
पद्म व सूर्यकूट		५५७७९७ १२/२१२	५५८२७४ ७२/२१२	५५८७५१ १३२/२१२	२६४८	
एकशैल व चन्द्रनाग		५७७३२६ २४/२१२	५७७८०३ ८४/२१२	५७८२८० १४४/२१२	२६५६	
दोनो अभ्यन्तर विदेहोंके वक्षार						
श्रद्धावान् व आत्माजन		२८५४५५ १९६/२१२	२८४९७८ १३६/२१२	२८४५०१ ७६/२१२	२६७२	
अजन व विजयवान्		२६५९२६ १८४/२१२	२६५४४९ १२४/२१२	२६४९७२ ६४/२१२	२६८०	
आशीविष व वैश्रवण		२४६३९७ १७२/२१२	२४५९२० ११२/२१२	२४५४४३ ५२/२१२	२६८८	
सुखावह व त्रिकूट		२२६८६८ १६०/२१२	२२६३९१ १००/२१२	२२५९१४ ४०/२१२	२६९६	

२. पुष्कर द्वीपके पर्वत व कूट

नाम	ऊँचाई यो	लम्बाई यो	विस्तार यो.	ति.प./४/गा.	रा. वा./३/३४/ वा /पृ./प.	ह पु./५/गा	त्रि सा./गा.	ज.प./ अ /गा.
पर्वतोके विस्तार व ऊँचाई सम्बन्धी सामान्य नियम								
कुलाचल	जम्बूद्वीपवत्	स्वद्वीप प्रमाण	जम्बूद्वीपसे चौगुना	२७८९-२७९०	५/१९७/२	५८८-५८९	×	×
विजयार्ध	,,	निम्नोक्त	,,	,,	×	,,	×	×
वक्षार	,,	,,	,,	,,	×	,,	×	×
गजदन्त	,,	,,	,,	,,	×	,,	×	×
नाभिगिरि	,,	,,	,,	,,	×	,,	×	×
उपरोक्त सर्वपर्वत								
दृष्टि सं. २	→	जम्बूद्वीपवत्	←	२७९१	×	×	×	×
वृषभगिरि	→	,,	←	×	×	×	×	×
यमक	→	,,	←	×	×	×	×	×
काचन	→	,,	←	×	×	×	×	×

नाम	ऊँचाई	लम्बाई		विस्तार		ति.प./४/गा.	रा.वा./३/३४/वा./पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज.प./अ/गा
	यो.	यो.		यो.						
दिग्गजेन्द्र	→	जम्बूद्वीपवत् ←				×	×	×	×	×
मेरु व इष्वाकार	→	धातकीवत् ←				२८१२	५/१९७/४	५८६	×	×
		विस्तार								
		दक्षिण उत्तर		पूर्व पश्चिम						
		यो.		यो.						
विजयार्ध	उपरोक्त जम्बूद्वीपवत्	उपरोक्त नियम		स्व क्षेत्रवत्		२८२६	+ उपरोक्त सामान्य नियम			
वक्षार		निम्नोक्त		जम्बूद्वीपसे चौगुना		२८२७	+ उपरोक्त सामान्य नियम			
गजदन्त—										
अभ्यन्तर	”	१६२६११६		”		२८१३	×	×	२५७	×
बाह्य	”	२०४२२१६		”		२८१४	×	×	”	×
		विस्तार								
		गहराई	मूल	मध्य	ऊपर					
मानुषोत्तरपर्वत	१७२१	चौथाई	१०२२	७२३	४२४	२७४९	६/१९७/८	५९१	९३४०+९४२	११/५९
मानुषोत्तरके कूट—										
		लोक/६/४/३ में कथित नियमानुसार								
दृष्टि स. १	४३० १/४	×	४३० १/४		२१५ १/८					
दृष्टि सं. २	५००	×	५००	३७५	२५०	×	६/१९७/१६	६००	×	×

नाम	ऊँचाई व चौडाई	विस्तार			ति प./४/गा	
		आदिम	मध्यम	अन्तिम		
दोनों बाह्य विदेहोंके वक्षार—						
चित्रकूट व देवमाल	दे० पूर्वोक्त सामान्य नियम	१९४०७७० १६८/२१२	१९४१७२५ ७६/२१२	१९४२६७९ ११६/२१२	२८४६	त्रि. सा./६३१-६३३
पद्म व वैडूर्य कूट		१९८०९५० ५६/२१२	१९८१९०४ १७६/२१२	१९८२८५९ ८४/२१२	२८५४	
नलिन व नागकूट		२०२११२९ १५६/२१२	२०२२०८४ ६४/२१२	२०२३०३८ १८४/२१२	२८६२	
एक शैल व चन्द्रनाग		२०६१३०९ ४४/२१२	२०६२२६३ १६४/२१२	२०६३२१८ ७२/२१२	२८७०	
दोनों अभ्यन्तर विदेहोके वक्षार—						
श्रद्धावान् व आत्माजन	दे० पूर्वोक्त सामान्य नियम	१४८२०५७ ९२/२१२	१४८११०२ १८४/२१२	१४८०१४८ ६/२१२	२८८२	
अंजन व विजयवान		१४४१८७७ २०४/२१२	१४४०९२३ ८४/२१२	१४३९९६८ १७६/२१२	२८९०	
आशीविष व वैश्रवण		१४०१६९८ १०४/२१२	१४००७४३ १९६/२१२	१३९९७८९ ७६/२१२	२८९८	
सुखावह व त्रिकूट		१३६१५१९ ४/२१२	१३६०५६४ ९६/२१२	१३५९६०९ १८८/२१२	२९०६	

३. नन्दीश्वर द्वीपके पर्वत

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./५/गा.	रा वा./३/३५/–पृ/प.	ह.पु /५/गा.	त्रि सा /गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
	यो.	यो	यो	यो.	यो.				
अंजनगिरि	८४०००	१०००	८४०००	८४०००	८४०००	५८	१९८/८	६५२	९६८
दधिमुख	१०,०००	१०००	१०,०००	१०,०००	१०,०००	६५	१९८/२५	६७०	”
रतिकर	१०००	२५०	१०००	१०००	१०००	६८	१९८/३१	६७४	”

४. कुण्डलवर पर्वत व उसके कूट

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./५/गा.	रा.वा./३/३५/-/३/प.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
	यो.	यो.	यो.	यो.	यो.				
पर्वत—									
दृष्टि सं. १	७५०००	१०००	१०२२०	७२३०	४२४०	११८	१९९/८	६८७	९४३
दृष्टि स. २	४२०००	१०००	→	मानुषोत्तरवत्	←	१३०		×	×
इसके कूट	→	मानुषोत्तरके दृष्टि सं. २ वत्			←	१२४,१३१	१९९/१२		९४०
द्वीपके स्वामी देवोंके कूट	→	सर्वत्र उपरोक्तसे दूने			←	१३७	×	६८७	×

५. रुचकवर पर्वत व उसके कूट

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./५/गा.	रा.वा./३/३५/-/३/पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
पर्वत—									
दृष्टि स. १	८४०००	१०००	८४१००	८४०००	८४०००	१४२			९४३
दृष्टि स. २	८४०००	१०००	४२०००	४२०००	४२०००	×	१९९/२३	७००	×
इसके कूट—									
दृष्टि स. १	→	मानुषोत्तरकी दृष्टि सं. २ वत्			←	१४६	×	×	९५०
दृष्टि स. २	५००	×	१०००	७५०	५००	१६६,१९१	२००/२०	७०१	×
३२ कूट	५००	×	१०००	१०००	१०००	×	१९९/२५	×	×

६. स्वयंभूरमण पर्वत

नाम	ऊँचाई	गहराई	विस्तार			ति.प./५/गा.	रा.वा./३/३५/-/पृ./पं.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.
			मूल	मध्य	ऊपर				
पर्वत	×	१०००	×	×	×	२३९	×	×	×

६. अढाई द्वीपके वनखण्डोंका विस्तार

१. जम्बूद्वीपके वनखण्ड

नाम	विस्तार	ति.प./४/गा.	रा.वा./३/१०/१३/पृ.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज.प./अ./गा.
जम्बूद्वीप जगतीके अभ्यन्तर भागमें	२ को.	८७				
विजयार्धके दोनों पार्श्वोंमें	२ को.	१७१				
हिमवान्‌के दोनों पार्श्वोंमें	२ को.	१६३०		११५	७३०	

नाम	विस्तार पूर्वापर	विस्तार उत्तर दक्षिण	ति.प./४/गा.	रा.वा./३/१०/१३/पृ.	ह.पु./५/गा.	त्रि.सा./गा.	ज.प./अ./गा.
देवारण्यक	२९२२ यो.	१६५९२ $\frac{2}{19}$ यो.	२३२०	१७७/२	२८२	×	७/१५
भूतारण्यक	→	देवारण्यकवत् ←	×	×	×	×	×

नाम	विस्तार			ति. प./४/गा	रा.वा./३/१०/१३/पृ./पं.	ह पु /५/गा.	त्रि सा./गा.	ज.प /अ /गा
	मेरुके पूर्व या पश्चिममें	मेरुके उत्तर या दक्षिणमें	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार					
	यो.	यो.	यो.					
भद्रशाल	२२०००	२५०	विदेहक्षेत्रवत्	२००२	१७८/३	२३७	६१०+६१२	४/४३
	वलय व्यास	बाह्य व्यास	अभ्यन्तर व्यास					
	यो.	यो.	यो.					
नन्दनवन	५००	९९५४ ६/११	८९५४ ६/११	११८६	१७६/७	२९०	६१०	४/८२
सौमनसवन	५००	४२७२ ८/११	३२७२ ८/११	१९३८+१९८६	१८०/१	२९६	"	४/१२७
पाण्डुकवन	४९४	१०००		१८१०+१८१४	१८०/१२	३००	"	४/१३१

२. धातकीखण्डके वनखण्ड

सामान्य नियम—सर्व वन जम्बूद्वीप वालोंसे दूने विस्तार वाले है। (ह. पु./५/५०६)

नाम	पूर्वापर विस्तार	उत्तर दक्षिण विस्तार			ति.प./४/गा.	रा.वा./३/३३/६/पृ./पं.	ह पु./५/गा.
		आदिम	मध्यम	अन्तिम			
	यो.	यो.	यो.	यो.			
बाह्य	५८४४	५८७४४८ १४४/२१२	५९०२३८ २४/२१२	५९३०२७ ११६/२१२	२६०६+२६६०		
अभ्यन्तर	"	२१६७४६ ४०/२१२	२१३९५६ १६०/२१२	२१११६७ ६८/२१२	२६०६+२७००		
	मेरुसे पूर्व या पश्चिममें	मेरुके उत्तर या दक्षिणमें	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार				
	यो.	यो.	यो.				
भद्रशाल	१०७८७९	नष्ट,	१२२५ ७६/८८		२५२८	×	५३१
	वलयव्यास	बाह्यव्यास	अभ्यन्तरव्यास				
	यो.	यो.	यो				
नन्दन	५००	९३५०	८३५०		×	१९५/३१	५२०
सौमनस	५००	३८००	२८००		×	१९६/१	५२४
पाण्डुक	४९४	१०००	१२ चूलिका		×	×	५२७

३. पुष्करार्ध द्वीपके वनखण्ड

नाम	पूर्वापर विस्तार	उत्तर दक्षिण विस्तार			ति.प./४/गा.
		आदिम	मध्यम	अन्तिम	
देवारण्यक— बाह्य	११६८८	२०८२११४ १८४/२१२	२०८७६९३ १७६/२१२	२०९३२७२ १२८/२१२	२८२८+२८७४
अभ्यन्तर	"	१३४०७१३ ७६/२१२	१३३५१३४ १०४/२१२	१३२९५५५ १३८/२१२	२८२८+२९१०
	मेरुके पूर्व या पश्चिममें	मेरुके उत्तर या दक्षिणमें	उत्तर दक्षिण कुल विस्तार		ति प./४/गा.
भद्रशाल	२१५७५८	नष्ट	२४५१ ७०/८८		२८२१
नन्दन आदि वन	→	धातकीखण्डवत्	←	(दे० लोक/४/४)	

४. नन्दीश्वरद्वीपके वन

वापियोंके चारों ओर वनखण्ड हैं, जिनका विस्तार—

(१००,०००×५०,०००) योजन है। (ति. प./५/६४); (रा. वा./३/३५/-/१९८/२८); (त्रि. सा./९७२)

७. अढाई द्वीपकी नदियोंका विस्तार

१. जम्बूद्वीपकी नदियाँ

नाम	स्थल विशेष	चौड़ाई	गहराई	ऊँचाई	ति. प./४/गा.	रा. वा./३/२२/-/पृ./प.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प./-/अ./गा
नदियोंके विस्तार व गहराई आदि सम्बन्धी सामान्य नियम—भरत व ऐरावतक्षेत्रकी नदियोंका विस्तार प्रारम्भमें ६ १/४ यो. और अन्तमें उससे दसगुणा होता है। आगे-आगेके क्षेत्रोंमें विदेह पर्यन्त वह प्रमाण दुगुना-दुगुना होता गया है। (त्रि. सा./६००); (ज. प./३/१९४)। नदियोंका विस्तार उनकी गहराईसे ५० गुणा होता है। (ह. पु./५/५०७)।									
वृषभाकार प्रणाली—									
गंगा-सिन्धु	हिमवान्	६ १/४ यो.	२ को. प्रवेश	२ को. प्रवेश	२१४	×	१४०	५८३	३/१४०
आगेके नदी युगल	विदेह तक उत्तरोत्तर दुगुने				×	×	१५१	५९९	३/१५२
	ऐरावत तक उत्तरोत्तर आधे				×	×	१५६	"	३/१५३
गंगा—	उद्गम	६ १/४ यो.	१/२ को.	×	१९७	×	१३६	६००	३/१६४
	पर्वतसे गिरनेवाली धार			पर्वतकी ऊँचाई	२१३	×	×	५८६	×
	दृष्टि सं. १	१०	×	"					
	दृष्टि सं. २	२५	×	"	२१७	×	×	×	३/१६८
	गुफा द्वार पर	८ यो.	×	×	२३६	×	१४८	×	७/६३
	समुद्र प्रवेश पर	६२ १/२ यो	×	५ को.	२४६	१/१८७/२६	१४६	६००	३/१७७
सिन्धु	→ गंगानदीवत् ←				२५२	२/१८७/३२	१५१	"	३/१६४
रोहितास्या	→ गंगासे दूना ←				१६६६	३/१८८/६	१५१	५९९	३/१८०
रोहित	→ रोहितास्यावत् ←				१७३७	४/१८८/१७	"	"	"
हरिकान्ता	→ रोहितसे दुगुना (गंगासे चौगुना) ←				१७५८	५/१८८/२१	"	"	३/१८१
हरित	→ हरिकान्तावत् ←				१७७३	६/१८८/२६	"	"	"
सीतोदा	→ हरिकान्तासे दूना (गंगासे आठ गुना) ←				२०७४	७/१८८/३३	"	"	३/१८२
सीता	→ सीतोदावत् ←				२१२२	८/१८९/६	"	"	"
उत्तरकी छः नदियाँ	→ क्रमसे हरितादिवत् ←				×	९–१४/१८९	१५६	×	×
विदेहकी ६४ नदियाँ	→ गंगानदीवत् ←				→	(दे. लोक/३/१०)			←
विभंगा	कुण्डके पास	५० को	१६५९२ २/१९ (उत्तर दक्षिण)		२२१८	×	×	६०५	×
	महानदीके पास	५०० को			२२१९	×	×	×	×
	दृष्टि सं. २	→ सर्वत्र गंगासे दूना ←			×	३/१०/१३/-/१७६/१३	×	×	७/२७

२. धातकीखण्डकी नदियाँ

नाम	पूर्व पश्चिम	उत्तर दक्षिण लम्बाई			ति. प/४/गा.
		आदिम	मध्यम	अन्तिम	
सामान्य नियम—सर्व नदियाँ जम्बूद्वीपसे दुगुने विस्तार वाली हैं। (ति. प/४/२१४६)					
दोनों बाह्य विदेहोंकी विभगा—	सर्वत्र २५० यो० (ति. प./४/२६०८)				
द्रहवती व ऊर्मिमालिनी		५२८८६१ १०८/२१२	५२८९८० १६०/२१२	५२९१००	२६३६
ग्रहवती व फेनमालिनी		५४८३९० १२०/२१२	५४८५०९ १७२/२१२	५४८६२९ १२/२१२	२६४४
गम्भीरमालिनी व पंकावती		५६७९१९ १३२/२१२	५६८०३८ १८४/२१२	५६८१५८ २४/२१२	२६५२
दोनों अभ्यन्तर विदेहोंकी विभगा					
क्षीरोदा व उन्मत्तजला		२७५३३३ ७६/२१२	२७५२१४ २४/२१२	२७५०९४ १८४/२१२	२६७६
मत्तजला व सीतोदा		२५५८०४ ६४/२१२	२५५६८५ २/२१२	२५५५६५ १७२/२१२	२६८४
तप्तजला व औषधवाहिनी		२३६२७५ ५२/२१२	२३६१५६	२३६०३६ १६०/२१२	२६९२

३. पुष्करद्वीपकी नदियाँ

नाम	उत्तर दक्षिण लम्बाई			ति. प/४/गा.
	आदिम	मध्यम	अन्तिम	
सामान्य नियम—सर्व नदियाँ जम्बूद्वीपवालीसे चौगुनी विस्तार युक्त है। (ति. प/४/२७८८)				
दोनों बाह्य विदेहोंकी विभगा—				
द्रहवती व ऊर्मिमालिनी	१९६१५७६ ९६/२१२	१९६१८१५ २०/२१२	१९६२०५३ १५६/२१२	२८५०
ग्रहवती व फेनमालिनी	२००१७५५ १६६/२१२	२००१९९४ १२०/२१२	२००२२३३ ४४/२१२	२८५८
गम्भीरमालिनी व पंकावती	२०४१९३५ ८४/२१२	२०४२१७४ २/२१२	२०४२४१२ १४४/२१२	२८६६
दोनो अभ्यन्तर विदेहोंकी विभगा—				
क्षीरोदा व उन्मत्तजला	१४६१२५१ १६४/२१२	१४६१०१३ ७८/२१२	१४६०७७४ १०४/२१२	२८८६
मत्तजला व सीतोदा	१४२१०७२ ६४/२१२	१४२०८३३ १४०/२१२	१४२०५९५ ४/२१२	२८९४
तप्तजला व अन्तर्वाहिनी	१३८०८९२ १७६/२१२	१३८०६५४ ४०/२१२	१३८०४१५ ११६/२१२	२९०२

८. मध्यलोककी वापियों व कुण्डोंका विस्तार

१. जम्बूद्वीप सम्बन्धी—

नाम	लम्बाई	चौडाई	गहराई	ति. प./४/गा.	रा. वा./३/सू./वा./पृ./पं.	ह. पु./५/गा.	त्रि. सा./गा.	ज. प./अ./गा.
सामान्य नियम—सरोवरोका विस्तार अपनी गहराईसे ५० गुना है (ह. पु /५/५०७) द्रहोंकी लम्बाई अपने-अपने पर्वतोंकी ऊँचाईमे १० गुनी है, चौडाई ५ गुनी और गहराई दसवें भाग है। (त्रि. सा./५६८) ; (ज. प./३/७१)								
जम्बूद्वीप जगतीके मूलवाली—								
उत्कृष्ट	२०० ध.	१०० ध.	२० ध.	३३	×	×	×	×
मध्यम	१५० ,,	७५ ,,	१५ ,,	"	×	×	×	×
जघन्य	१०० ,,	५० ,,	१० ,,	"	×	×	×	×
पद्मद्रह	१००० ,,	५००	१०	१६५८	(त. सू./३/१५-१६)	१२६	×	×
महापद्म	→ पद्मसे दुगुना ←			१७२७	×	१२६		
तिगिंछ	→ पद्मसे चौगुना ←			१७६१		,,	दे० उपरोक्त सामान्य नियम	दे० उपरोक्त सामान्य नियम
केसरी	→ तिगिंछवत् ←			२३२३		,,		
पुण्डरीक	→ महापद्मवत् ←			२३४४		,,		
महापुण्डरीक	→ पद्मवत् ←			२३५५		,,		
देवकुरुके द्रह	→ पद्मद्रहवत् ←			२०९०	१०/१३/१७४/३०	१९५	६५६	६/५७
उत्तरकुरुके द्रह	→ देवकुरुवत ←			२१२६	×	×	×	×
नन्दनवनकी वापियाँ	५० यो.	२५ यो.	१० यो.					
सौमनसवनकी वापियाँ								
दृष्टि स. १	२५ ,,	२५ ,,	५ यो.	१९४७	×	×	×	×
दृष्टि स. २	→	नन्दनवनवत्	←	×	१०/१३/१८०/७	×	×	×
गगा कुण्ड—	गोलाईका व्यास		गहराई					
दृष्टि सं. १	१० यो.		१० यो.	२१६+२२१				
दृष्टि स २	६० ,,		१० ,,	२१८	२२/१/१८७/२५	१४२	५८७	×
दृष्टि स. ३	६२½ ,,		१० ,,	२१९	×	×	×	×
सिन्धुकुण्ड	→ गगाकुण्डवत ←			×	२२/५/१८७/३२	×	×	×
आगे सीतासीतोदा तक	→ उत्तरोत्तर दुगुना ←			×	२२/३-८/१८९	×	×	×
आगे रक्तारक्तोदा तक	→ उत्तरोत्तर आधा ←			×	२२/९-१४/१८९	×	×	×
३२ विदेहोकी नदियोके कुण्ड	६३ यो.		१० यो.		१०/१३/१७६/२४	×	×	×
विभगाके कुण्ड	१२० यो.		१० यो.		१०/१३/१७६/१०	×	×	×

२. अन्य द्वीप सम्बन्धी

नाम	लम्बाई	चौडाई	गहराई	ति. प. ५/गा.	रा. वा /३/सू / व./पृ /प.	ह. पु./ ५/गा.	त्रि. सा / गा.	ज. प / अ / गा.
	यो०	यो०	यो०					
धातकीखण्डके पद्म आदि द्रह	→	जम्बूद्वीपसे दूने	←	×	३३/५/१९५/२३	×	×	×
नन्दीश्वरद्वीपकी वापियाँ	१००,०००	१००,०००	१०००	६०	३५/-/१९८/११	६५७	९७१	×

९. अढाई द्वीपके कमलोंका विस्तार

नाम	ऊँचाई या विस्तार	कमल सामान्य को०	नाल को०	मृणाल को०	पत्ता को०	कर्णिका को०	ति प./ ४/गा	रा. वा /३/ १७/-/१८५/ पंक्ति	ह पु./ ५/गा	त्रि. सा./ गा	ज. प./ अ / गा.
पद्म द्रहका मूल कमल	ऊँचाई—										
	दृष्टि स. १	४	४२	×	×	१	१६६७	×	१२८	५७०-५७१	६/७४
	दृष्टि सं २	×	×	×	२	२	१६७०	८,९	×	×	×
	विस्तार—										
	दृष्टि स १	४ या. २	१	३	×	१	१६६७ १६६९	×	×	५७०-५७१	×
	दृष्टि स. २	४	१	३	१	२	१६६७+ १६७०	८	१२८	×	३/७४
नोट— ' जलके भीतर १० योजन या ४० कोस तथा ऊपर दो कोस (रा. वा /-/१८५/९); (ह. पु.५/१२८), (त्रि. सा /५७१), (ज. प /३/७४)											
परिवार कमल	→	सर्वत्र उपरोक्तसे आधा ←					×	१६	×	×	×
आगे तिगिंछ द्रह तक	→	उत्तरोत्तर दूना ←					×	त. सू /३/१८	×	×	३/१२७
केसरी आदि द्रहके	→	तिगिंछ आदि वत् ←					×	त. सू./३/२६	×	×	×
हिमवान् पर	ऊँचाई	१ जलके ऊपर	×	×	×	१	२०६	२२/२/१८८/३	×	×	३/७४
कमलाकार कूट	विस्तार	२	×	×	१/२	१	२५४	×	×	×	×
धातकीखण्डके		→ जम्बूद्वीपवालोसे दूने ← (रा. वा./३/३३/५/१९५/२३)									

लोकचंद्र—नन्दीसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप कुमारनन्दीके शिष्य तथा प्रभाचन्द्र नं. १ के गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ४२७-४५३ (ई. ५०५-५३१) दे० इतिहास/५/१३।

लोकपंक्ति—यो. सा./अ./८/२० आराधनाय लोकानां मलिनेनान्तरात्मना। क्रियते या क्रिया बालैर्लोकपङ्क्तिरसौ मता।२०। =अन्तरात्माके मलिन होनेसे मूर्ख लोग जो लोकको रंजायमान करनेके लिए क्रिया करते है उसे लोकपंक्ति कहते हैं।

लोकपाल—

स. सि./४/४/२३६/५ अर्थचरा रक्षकसमाना लोकपालाः। लोकं पालयन्तीति लोकपालाः। =जो रक्षकके समान अर्थचर हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो लोकका पालन करते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं (रा. वा./४/४/६/२१३/४); (म. पु./२२/२८)।

ति.प./३/६६ चत्तारि लोयपाला सावण्णा होंति तंतवलाणं। तणुरक्खाण समाणा सरीररक्खा सुरा सव्वे।६६। =(इन्द्रोंके परिवारमेंसे) चारों लोकपाल तन्त्रपालोंके सदृश होते हैं।

त्रि. सा./भाषा/२२४ जैसे राजाका सेनापति तैसे इन्द्रके लोकपाल दिगीन्द्र है।

२. चारों दिशाओंके रक्षक चार लोकपाल

१. इन्द्रकी अपेक्षा—

ति. प./३/७१ पत्तेक्कइंदयाण सोमो यमवरुणधणदणामा य। पुव्वादि लोयपाला हवंति चत्तारि चत्तारि।७१। =प्रत्येक इन्द्रके पूर्वादि दिशाओंके रक्षक क्रमसे सोम, यम, वरुण और धनद (कुबेर) नामक चार-चार लोकपाल होते हैं।७१।

२. पूजा मण्डपकी अपेक्षा

प्रतिष्ठासारोद्धार/३/१८७-१८८ पूर्वदिशाका इन्द्र; आग्नेयका अग्नि, दक्षिणका यम; नैरृत्यका नैरृत्य, पश्चिमका वरुण, वायव्यका वायु, उत्तरका कुबेर, ईशानका सोम व धरणेन्द्र।

३. प्रतिष्ठा मण्डपके द्वारपालोंका नाम निर्देश

प्रतिष्ठासारोद्धार/२/१३६ कुमुद, अञ्जन, वामन, पुष्पदन्त, नाग, कुबेर, हरितप्रभ, रत्नप्रभ, कृष्णप्रभ, व देव।

४. वैमानिक इन्द्रोंके लोकपालोंका परिवार

ति. प./८/२८७-२९९ सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लांतव, महाशुक्र, सहस्रार और आनतादि चार इन सब इन्द्रोंके चार चार लोकपाल हैं—सोम, यम, वरुण व कुबेर। इन चारों का परिवार क्रमसे निम्न प्रकार है—१. देवियाँ—प्रत्येककी ३$\frac{1}{2}$ करोड। २. आभ्यन्तर परिषद्-५०,५०,६०,७०। ३. मध्यम परिषद्-४००,४००,५००,६००; ४. बाह्य परिषद्-५००,५००,६००,७००। ५. चारोंके ही अनीकोंमें सामन्त अपने-अपने इन्द्रोकी अपेक्षा क्रमसे ४०००,४०००,१०००,१००० ५००,४००,३००,२००, १०० है। ६. सभी इन्द्रोके चारो ही लोकपालोंकी प्रथम कक्षामें सामान्य=२८०००, और शेष कक्षाओंमें उत्तरोत्तर दूने दूने हैं। ७. वृषभादि-३५५६०००। ८ कुल अनीक-२४८६२०००। ९ विमान-६६६६६६६।

५. सौधर्म इन्द्रके लोकपाल द्विचरम शरीरी हैं

ति प./८/३७५-३७६ सक्को सहग्गमहिसी सलोयवालो. णियमा दुचरिमदेहा।=अग्रमहिषी और लोकपालोसहित सौधर्म इन्द्र नियमसे द्विचरम शरीर है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. लोकपाल देव सामान्यके १० विकल्पोंमें से एक है—दे० देव/१।

२. भवनवासी व वैमानिक इन्द्रोंके परिवारोंमें लोकपालोंका निर्देशादि —दे० भवनवासी आदि भेद।

३. जन्म, शरीर, आहार, सुख, दुःख, सम्यक्त्व, आदि विषयक —दे० देव/II/२।

लोक प्रतर—(७)^2=४९।

लोक विभाग—यह ग्रन्थ लोकके स्वरूपका वर्णन करता है। मूल ग्रन्थ प्राकृत गाथाबद्ध आ० सर्वनन्दि द्वारा ई० ४५८ में रचा गया था। पीछे आ० सिंहसूरि (ई. श. ११ के पश्चात्) द्वारा इसका संस्कृत रूपान्तर कर दिया गया। रूपान्तर ग्रन्थ ही उपलब्ध है मूल नहीं। इसमें ११ प्रकरण हैं और २००० श्लोक प्रमाण है।

लोक श्रेणी—७ राजू।

लोकसेन—पंचस्तूपसंघकी गुर्वावलीके अनुसार (दे० इतिहास) आप आचार्य गुणभद्रके प्रमुख शिष्य थे। राजा अकालवर्षके समकालीन राजा लोकादित्यकी राजधानी बंकापुरमें रहकर, आचार्य गुणभद्र रचित अधूरे उत्तर पुराणको श्रावण कृ. ५ श ८२० को पूरा किया था। तदनुसार इनका समय—ई. ८४७-८९८ (जीवन्धरचम्पू प्र./८/A. N. Up.), (म. पु./प्र.३१/पं. पन्नालाल)—दे० इतिहास/५/१७।

लोकादित्य—उत्तर पुराणकी अन्तिम प्रशस्तिके अनुसार राजा अकालवर्षके समकालीन थे। इनकी राजधानी बंकापुर थी तथा राजा बंकेयके पुत्र थे। आचार्य लोकसेनने इनके समयमें ही उत्तरपुराणको पूर्ण किया था। तदनुसार इनका समय—श. ८२० (ई. ८९८) आता है। (म. पु./प्र.४२/ पन्नालाल)।

लोकायत—दे० चार्वाक।

लोकेषणा—दे० राग/४।

लोकोत्तर प्रमाण—(वर्ण श्रेणी आदि)—दे० प्रमाण/६।

लोकोत्तरवाद—

ध. १३/५,५,५०/२८८/३ लोक एव लौकिक। लोक्यन्ते उपलभ्यन्ते यस्मिन् जीवादयः पदार्थाः स लोकः। स त्रिविध ऊर्ध्वाधोमध्यलोकभेदेन। स लोकः कथ्यते अनेनेति लौकिकवादः सिद्धान्तः। लोइयवादो त्ति गदं लोकोत्तरं अलोकः स उच्यते अनेनेति लोकोत्तरवादः। लोकोत्तरीयवादो त्ति गदं। =लौकिक शब्दका अर्थ लोक ही है।—जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जाते हैं अर्थात् उपलब्ध होते हैं उसे लोक कहते हैं। वह तीन प्रकारका है—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक। जिसके द्वारा इस लोकका कथन किया जाता है वह सिद्धान्त लौकिकवाद कहलाता है। इस प्रकार लौकिकवादका कथन किया। लोकोत्तर पदका अर्थ अलोक है, जिसके द्वारा उसका कथन किया जाता है वह श्रुत लोकोत्तरवाद कहा जाता है, इस प्रकार लोकोत्तरका कथन किया।

गो. क./मू./८९३ सइउट्ठिया पसिद्धी दुव्वारा मेलिदेहिवि सुरेहि। मज्झिमपंडवखित्ता माला पंचसु वि खित्तेव। =एक ही बार उठी हुई लोक प्रसिद्धि देवोंसे भी मिलकर दूर नहीं हो सकती और की तो बात क्या? जैसे कि द्रौपदीकर केवल अर्जुन-पाण्डवके गलेमें डाली हुई मालाकी 'पाँचो पाण्डवोंको पहनायी है' ऐसी प्रसिद्धि हो गयी। इस प्रकार लोकवादी लोक प्रवृत्तिको सर्वस्व मानते हैं।—और भी दे० सत्य/संवृति व व्यवहार सत्य)।

लोभ—१ आहारका एक दोष—दे० आहार/II/२। २. वसतिकाका एक दोष—दे० वसतिका।

रा. वा./८/६/५/५७४/३२ अनुग्रहप्रवणद्रव्याद्यभिकाङ्क्षावेशो लोभ' कृमिराग-कज्जल-कर्दम-हरिद्रारागसदृशश्चतुर्विध' ।=धन आदिकी तीव्र आकांक्षा या गृद्धि लोभ है । यह किरकिची रंग, काजल, कीचड और हलदीके रंगके समान चार प्रकारका है ।

ध १/१,१,१११/३४२/८ गर्हा काङ्क्षा लोभ' । =गर्हा या कांक्षाको लोभ कहते है ।

ध, ६/१,६-१,२३/४१/५ लोभो गृद्धिरित्येकोऽर्थ' ।=लोभ और गृद्धि एकार्थक है ।

ध, १२/४,२,८,८/२८३/८ बाह्यार्थेषु ममेद बुद्धिर्लोभः ।=बाह्य पदार्थोंमें जो 'यह मेरा है' इस प्रकार अनुरागरूप बुद्धि होती है वह लोभ है ।

नि सा /ता. वृ./११२ युक्तस्थले धनव्ययाभावो लोभ', निश्चयेन निखिलपरिग्रहपरित्यागलक्षणनिरंजननिजपरमात्मतत्त्वपरिग्रहात अन्यत् परमाणुमात्रद्रव्यस्वीकारो लोभ' ।=योग्यस्थान पर धन व्ययका अभाव वह लोभ है, निश्चयसे समस्त परिग्रहका परित्याग जिसका लक्षण है, ऐसे निरजन निज परमात्म तत्त्वके परिग्रहसे अन्य परमाणुमात्र द्रव्यका स्वीकार वह लोभ है ।

२. लोभके भेद

रा. वा./९/६/८/५९६/४ लोभश्चतु'प्रकार'—जीवनलोभ आरोग्यलोभ इन्द्रियलोभ उपभोगलोभश्चेति, स प्रत्येकं द्विधा भिद्यते स्वपरविषयत्वात्।=लोभ चार प्रकारका है—जीवनलोभ, आरोग्यलोभ, इन्द्रिय लोभ, उपभोगलोभ। ये चारो भी प्रत्येक स्व पर विषयके भेदसे दो-दो प्रकार हैं। (चा, सा /६२/५) (इनके लक्षण दे० शौच) ।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. लोभ कषायके अन्य भेद	दे० मोहनीय/३ ।
२. लोक कषाय सम्बन्धी विषय	—दे० कषाय ।
३ लोभ व परिग्रह संज्ञामें अन्तर	—दे० सज्ञा ।
४. लोभ कषाय राग है	—दे० कषाय/४ ।
५. लोभकी इष्टता-अनिष्टता	—दे० राग/४ ।

लोल—दूसरे नरकका नवाँ पटल—दे० नरक/५ ।

लोलक—दूसरे नरकका दसवाँ पटल—दे० नरक/५ ।

लोलवत्स—दूसरे नरकका दसवाँ पटल—दे० नरक/५ ।

लोहागल—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर ।

लोहाचार्य—१. सुधर्माचार्यका अपरनाम था—दे० सुधर्माचार्य । २ श्रुतावतारके अनुसार आठ अंग अथवा आचारागधारी थे । आपका नाम भद्रबाहु द्वितीयके पश्चात् आता है । श्रुतावतार न १ के अनुसार इनका समय वी नि ६८३ (ई० १५७) और श्रुतावतार न २ के अनुसार वी. नि ५१५-५६५ (ई. पू १२–ई. ३८) है ।–दे० इतिहास/४/१ (स सि /प्र ७८/ प. फूलचन्द), (ह. पु. प्र ३/ प पन्नालाल)। ३, नन्दिसघ बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार आप उमास्वामीके शिष्य तथा यश कीर्तिके गुरु थे। विक्रम स० १४२-१४३ (ई० २२०-२३१)—दे० इतिहास/५/१३ ।

लोहित—१ लवण समुद्रस्थ दिक् पर्वतका स्वामी देव—दे० लोक/७, २. सौधर्मस्वर्गका २४ वाँ पटल व इन्द्रक—दे० स्वर्ग/५ ।

लोहिताक्ष—१ गन्धमादन विजयार्ध पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७; २. लवण समुद्रस्थ दिक्वास पर्वतका स्वामी देव—दे० लोक/७, ३ मानुषोत्तर पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७, ४. रुचक पर्वतस्थ एक कूट—दे० लोक/७ ।

लौंच—दे० केश लौच ।

लौकांतिक देव—

स. सि./४/२४/२५५/१ एत्य तस्मिन् लीयन्त इति आलय आवासः । ब्रह्मलोक आलयो येषां ते ब्रह्मलोकालया लौकान्तिका देवा वेदितव्या' । · ·ब्रह्मलोको लोक' तस्यान्तो लोकान्त तस्मिन्भवा लौकान्तिका इति न सर्वेषां ग्रहणम् । ···अथवा जन्मजरामरणाकीर्णो लोक' संसार, तस्यान्तो लोकान्त' । लोकान्ते भवा लौकान्तिका' ।"

स सि./४/२५/२५६/७ एते सर्वे स्वतन्त्रा' हीनाधिकत्वाभावात् । विषयरतिविरहाद्देवर्षय इतरेषा देवानामर्चनीया', चतुर्दशपूर्वधरा. । [सततं ज्ञानभावनावहितमनस', ससारान्नित्यमुद्विग्ना. अनित्याशरणाद्यनुप्रेक्षासमाहितमानसा , अतिविशुद्धसम्यग्दर्शना', रा. वा.] तीर्थंकरनिष्क्रमणप्रतिबोधनपरा वेदितव्या । =१. आकर जिसमें लयको प्राप्त होते है, वह आलय या आवास कहलाता है । ब्रह्मलोक जिनका घर है वे ब्रह्मलोकमें रहने वाले लौकान्तिक देव जानने चाहिए । · लौकान्तिक शब्दमें जो लोक शब्द है उससे ब्रह्म लोक लिया है और उसका अन्त अर्थात् प्रान्त भाग लोकान्त कहलाता है । वहाँ जो होते है वे लौकान्तिक कहलाते है । (रा.वा /४/२४/१/–२४२/२५) । ··· २. अथवा जन्म जरा और मरणसे व्याप्त संसार लोक कहलाता है और उसका अन्त लोकान्त कहलाता है।' इस प्रकार संसारके अन्तमें जो है वे लौकान्तिक हैं। (ति प /८/–६१५); (रा. वा /४/२४/१–२/२४२/२१), ३. ये सर्व देव स्वतन्त्र है, क्योकि हीनाधिक्ताका अभाव है । विषय-रतिसे रहित होनेके कारण देव ऋषि है । दूसरे देव इनकी अर्चा करते है । चौदह पूर्वोके ज्ञाता है । [सतत ज्ञान भावनामें निरत मन, ससारसे उद्विग्न, अनित्यादि भावनाओके भाने वाले, अति विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होते है । रा वा.] वैराग्य कल्याणकके समय तीर्थंकरोंको सम्बोधन करनेमें तत्पर है । (ति. प./८/६४१–६४६), (रा वा /४/२५/३/२४४/–४), (त्रि. सा./५३९–५४०) ।

२. लौकान्तिक देवके भेद

त. सु /४/२५ सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ।२५।

स सि.·४/२५/२५६/३ सारस्वतादित्यान्तरे अग्न्याभसूर्याभा । आदित्यस्य च वह्नेश्चान्तरे चन्द्राभसत्याभा । वह्न्यरुणान्तराले श्रेयस्करक्षेमंकरा. । अरुणगर्दतोयान्तन्तराले वृषभेष्ट-कामचारा । गर्दतोयतुषितमध्ये निर्माणरजोदिगन्तरक्षिता' । तुषिताव्याबाधमध्ये आत्मरक्षितसर्वरक्षिता' । अव्याबाधारिष्टान्तराले मरुद्वसव । अरिष्टसारस्वतान्तराले -अश्वविश्वा' । =सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध और अरिष्ट ये लौकान्तिक देव है।२५। च शब्दसे इनके मध्यमें दो-दो देवगण और है इनका सग्रह होता है यथा—सारस्वत और आदित्यके मध्यमें अग्न्याभ और सूर्याभ है। आदित्य और वह्निके मध्यमें चन्द्राभ और सत्याभ है। वह्नि और अरुणके मध्यमें श्रेयस्कर और क्षेमकर, अरुण और गर्दतोयके मध्यमें वृषभेष्ट और कामचर, गर्दतोय और तुषितके मध्यमें निर्माणरजस् और दिगन्तरक्षित है । और तुषित अव्याबाधके मध्यमें आत्मरक्षित और सर्वरक्षित, अव्याबाध और अरिष्टके मध्यमें मरुत और वसु है। तथा अरिष्ट और सारस्वतके मध्यमें अश्व और विश्व है। (रा वा /४/२५/३/२४३/–१५), (ति.प./८/६१९–६२४) ।

३. लौकान्तिक देवोंकी संख्या

ति प /८/६२४–६३४ सारस्वत ७००, आदित्य ७००, वह्नि ७००७, अरुण ७००७, गर्दतोय ९००९, तुषित ९००९, अव्याबाध ११०११,

अरिष्ट ११०११, अग्न्याभ ७००७, सूर्याभ ९००९, चन्द्राभ ११०११, सत्याभ १३०१३, श्रेयस्कर १५०१५, क्षेमकर १७०१७, वृषभेष्ट १९०१९, कामचर २१०२१, निर्माणरज २३०२३, दिगन्तरक्षित २५०२५, आत्मरक्षित २७०२७, सर्वरक्षित २९०२९, मरुत, ३१०३१, वसु ३३०३३ अश्व ३५०३५, विश्व ३७०३७ है। इस प्रकार इन चालीस लौकान्तिकोंकी समग्र संख्या ४०७८६ है। (रा.वा./४/२५/३/२४३/२०)।

ति प./८/६३९ लोक विभागके अनुसार सारस्वतदेव ७०७ है।

४. लौकान्तिक देवोंका अवस्थान

स. सि./४/२४,२५/२५५/५ तेषां हि (लौकान्तिकानां) विमानानि ब्रह्मलोकस्यान्तेषु स्थितानि ।२४। अष्टास्वपि पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु यथाक्रममेते सारस्वतादयो देवगणा वेदितव्या । तद्यथा—पूर्वोत्तरकोणे सारस्वतविमानम्, पूर्वस्यां दिशि आदित्यविमानम्, पूर्वदक्षिणस्या दिशि वह्निविमानम्, दक्षिणस्या दिशि अरुणविमानम् दक्षिणापरकोणे गर्दतोयविमानम्, अपरस्या दिशि तुषितविमानम्, उत्तरापरस्यां दिशि अव्याबाधविमानम्, उत्तरस्या दिशि अरिष्टविमानम्। तेषामन्तरेषु द्वौ देवगणौ। =इन लौकान्तिक देवोंके विमान ब्रह्मलोकके प्रान्त भागमें (किनारे पर) स्थित आठ राजियो (Seetors) के अन्तरालमें (ति प.) है। पूर्व-उत्तर आदि आठों ही दिशाओंमें क्रमसे ये सारस्वत आदि देवगण रहते है ऐसा जानना चाहिए। यथा—पूर्वोत्तर कोणमें सारस्वतोके विमान, पूर्व दिशामें आदित्योके विमान, पूर्वदक्षिणमें वह्निदेवोंके विमान, दक्षिण दिशामें अरुणके विमान, दक्षिण-पश्चिम कोनेमें गर्दतोयके विमान, पश्चिम दिशा में तुषितके विमान, उत्तर-पश्चिम दिशामें अव्याबाधके विमान, और उत्तर दिशामें अरिष्ट विमान है। इनके मध्यमें दो दो देवगण है। (उनकी स्थिति व नाम दे० लौकांतिक/२), (ति. प./८/६१६-६१९), (रा वा./४/२५/३/२४३/११), (त्रि. सा/५३४-५३८)।

५. लौकान्तिक देव एक भवावधारी हैं

स. सि /४/२४/२५५/७ लौकान्तिका:...सर्वे परीतसंसारा' ततश्च्युता, एकं गर्भावासं प्राप्य परिनिर्वास्यन्तीति। =लौकान्तिक देव क्योंकि संसारके पारको प्राप्त हो गये है इसलिए वहाँसे च्युत होकर और एक बार गर्भमें रहकर निर्वाणको प्राप्त होंगे। (ति. प./८/६७६), (रा. वा./४/२४/२४२/३०)।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. द्विचरम शरीरका स्पष्टीकरण। —दे० चरम।
२. कैसो योग्यता वाला जीव लौकान्तिक देवोंमें जाता है। —दे० जन्म/५।
३. ब्रह्म लोक। —दे० स्वर्ग/५।

लौकिक—१ लौकिक जन संगतिका विधि निषेध—दे० 'संगति'। २. प्र सा /मू./२५३, २६९ लोगिगजणसंभासा [शुद्धात्मवृत्तिशून्यजनसंभाषण (त प्र.)] ।२५३। णिग्गंथं पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहि कम्मेहिं। सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तोवि ।२६९। =लौकिक जन संभाषण अर्थात् शुद्धात्म परिणति शून्य लोकोंके साथ बातचीत...।२५३। जो (जीव) निर्ग्रन्थ रूपसे दीक्षित होनेके कारण संयम तप संयुक्त हो उसे भी यदि वह ऐहिक कार्यों (ख्याति लाभ पूजाके निमित्त ज्योतिष, मन्त्र, वादित्व आदि 'ता.वृ.' सहित वर्तता हो तो लौकिक कहा गया है ।२६९।

लौकिक—दूसरे नरकका नवमा पटल—दे० नरक/५।

लौकिक प्रमाण—दे० प्रमाण/६।

लौकिक वाद—दे० लोकोत्तर।

लौकिक शुचि—दे० शुचि।

लौगाक्षि भास्कर—मीमासा दर्शनका टीकाकार। —दे० मीमांसा दर्शन।
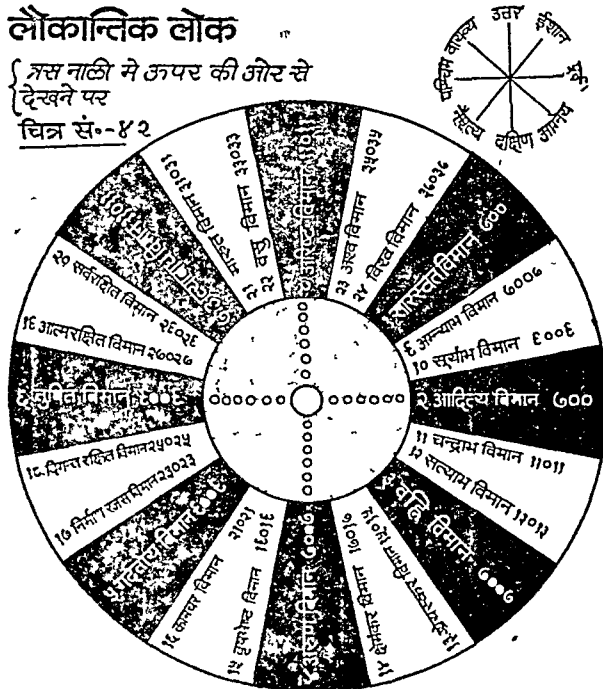
'व'

वंग—दे० वग।

वंगा—मध्य आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

वंचना—दे० माया।

वंदना—द्वादशांगके १४ पूर्वोमें से तीसरा पूर्व। —दे० श्रुतज्ञान/१।

वंदना १. कृतिकर्मके अर्थमें

रा. वा /६/२४/११/५३०/१३ वन्दना त्रिशुद्धि' द्व्यासना चतु शिरोऽवनतिः द्वादशावर्तना। =मन, वचन, कायकी शुद्धि पूर्वक खड्गासन या पद्मासनसे चार बार शिरोनति और बारह आवर्त पूर्वक वन्दना होती है।—(विशेष दे० कृतिकर्म)।

भ. आ /वि /५०९/७२८/१३ वन्दनीयगुणानुस्मरणं मनोवन्दना। वाचा तद्गुणमाहात्म्यप्रकाशनपरवचनोच्चारणम्। कायेन वन्दना प्रदक्षिणीकरण कृतानतिश्च। =वन्दना करने योग्य गुरुओ आदिके गुणोंका स्मरण करना मनोवन्दना है, वचनोंके द्वारा उनके गुणोंका महत्त्व प्रगट करना यह वचन वन्दना है और प्रदक्षिणा करना, नमस्कार करना यह कायवन्दना है।—(और भी दे० नमस्कार/१)।

क.पा १/१-१/§ ८६/१११/५ एयरस्स तित्थयरस्स णमसण वंदणा णाम । =एक तीर्थंकरको नमस्कार करना वन्दना है। (भा. पा./टी./७७/ २२१/१४)।

ध. ८/३.४१/८४/३ उसहाजिय -वड्ढमाणादितित्थयराणं भग्हादि-केवलीणं आइरिय-चइत्तालयादीणं भेयं काऊण णमोक्कारो गुणगण-मल्लीणो सयकलावाउलो गुणाणुसरणसरूवो वा वंदणा णाम।

ध. ८/३.४२/९२/५ तुहुं णिट्ठवियट्ठकम्मो केवलणाणेण दिट्ठसव्वट्ठो धम्मुम्मुहसिट्ठगोट्ठीए पुट्ठाभयदाणो सिट्ठपरिवालओ दुट्ठणिग्ग-हकरो देव त्ति पससावदणा णाम। =ऋषभ, अजित वर्धमानादि तीर्थंकर, भरतादि केवली, आचार्य एव चैत्यालयादिकोंके भेदको करके अथवा गुणगण भेदके आश्रित, शब्द कलापसे व्याप्त गुणानु-स्मरण रूप नमस्कार करनेको वन्दना कहते है ।८८। 'आप अष्ट कर्मोको नष्ट करनेवाले, केवलज्ञानसे समस्त पदार्थोको देखनेवाले, धर्मोन्मुख शिष्टोंकी गोष्ठीमें अभयदान देनेवाले, शिष्ट परिपालक और दुष्ट निग्रहकारी देव है' ऐसी प्रशसा करनेका नाम वन्दना है।

भ. आ /वि./११६/२७५/१ वन्दना नाम रत्नत्रयसमन्वितानां यतीना आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविराणां गुणातिशय विज्ञाय श्रद्धापुर-सरेण विनये प्रवृत्ति । =रत्नत्रयधारक यति, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्धसाधु इनके उत्कृष्ट गुणोको जानकर श्रद्धा सहित होता हुआ विनयोमें प्रवृत्ति करना, यह वन्दना है।—(दे० नमस्कार/१)।

२. निश्चय वन्दनाका लक्षण

यो सा /अ /५/४९ पवित्रदर्शनज्ञानचारित्रमयमुत्तमं । आत्मान वन्द्य-मानस्य वन्दनाकथि कोविदै' ।४९। =जो पुरुष पवित्र दर्शन ज्ञान और चारित्र स्वरूप उत्तम आत्माकी वन्दना करता है, विद्वानोने उसी वन्दनाको उत्तम वन्दना कहा है।

२. वन्दनाके भेद व स्वरूप निर्देश

भ आ /वि./११६/२७५/२ वंदना अभ्युत्थानप्रयोगभेदेन द्विविधे विनये प्रवृत्ति प्रत्येक तयोरनेकभेदता। =अभ्युत्थान और प्रयोग-के भेदसे दो प्रकार विनयमें प्रवृत्ति करना वन्दना है। इन दोनोमेंसे प्रत्येकके अनेक भेद है। (तिनमें अभ्युत्थान विनय तो आचार्य साधु आदिके समक्ष खडे होना, हाथ जोडना, पीछे-पीछे चलना आदि रूप है। इसका विशेष कथन 'विनय' प्रकरणमे दिया गया है और प्रयोग विनय कृतिकर्म रूप है। इसका विशेष कथन निम्न प्रकार है।)

* **मन वचन काय वन्दना**—दे० नमस्कार।

३. वन्दनामें आवश्यक अधिकार

भ आ /वि /११६/२७५/२ कर्त्तव्यं केन, कस्य, कदा, कस्मिन्कति वारानिति । अभ्युत्थानं केनोपदिष्टं किंवा फलमुद्दिश्य कर्तव्य।·· उपदिष्ट' सर्वैर्जिनै कर्मभूमिषु। =यह वन्दना कार्य किसको करना चाहिए, किसके द्वारा करना चाहिए, कब करना चाहिए, किसके प्रति कितने वार करना चाहिए। अभ्युत्थान कर्तव्य है, वह किसने बताया है, तथा किस फलकी अपेक्षा करके यह करना चाहिए। सो इस कर्तव्यका कर्मभूमि वालोके लिए सर्व जिनेश्वरोने उपदेश दिया है। (इसका क्या फल व महत्त्व है यह बात 'विनय' प्रकरणमें बतायी गयी है। शेष बाते आगे क्रम पूर्वक निर्दिष्ट है।)

४. वन्दना किनकी करनी चाहिए

चा सा /१५९/२ अतरचैत्यस्य तदाश्रयचैत्यालयस्यापि वन्दना कार्या। ·गुरूणां पुण्यपुरुषोषितनिरवद्यनिपद्यास्थानादीनामुच्यते क्रियाविधानम्। =जिन बिम्बकी तथा उसके आश्रयभूत चैत्यालय-की वन्दना करनी चाहिए। आचार्य आदि गुरुओंकी तथा पुण्य पुरुषोके द्वारा सेवनीय उनके निषद्या स्थानोकी वन्दना विधि कहते है।

दे. वदना/१ (चौबीस तीर्थंकरोकी, भरत आदि केवलियोंकी, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, वृद्ध साधु, तथा चैत्य चैत्यालयकी वन्दना करनी चाहिए।)—(और भी दे०/कृतिकर्म/२/४)।

५. वन्दनाकी तीन वेलाएँ व काल परिमाण

ध. १३/५.४,२८/८९/१ पदाहिणाणमसणादिकिरियाण तिण्णिवार-करण तिक्खुत्त णाम। अधवा एक्कम्हि चेव दिवसे जिणगुरुरिसिवंद-णाओ तिण्णिवारं किज्जति त्ति तिक्खुत्त णाम। तिसज्झासु चेव वंदणा कीरदे अण्णत्थ किण्ण करिदे। ण अण्णत्थ वि तप्पडिसेह-णियमाभावादो। तिसज्झासु वंदणणियमपरूवणट्ठ तिक्खुत्तमिदि भणिदं। =प्रदक्षिणा और नमस्कार आदि क्रियाओका तीन बार करना त्रि कृत्वा है। अथवा एक ही दिनमें जिन, गुरु, ऋषियोंकी वन्दना तीन बार की जाती है, इसलिए इसका नाम त्रि कृत्वा है। **प्रश्न**—तीनो ही सन्ध्याकालोंमें वन्दना की जाती है, अन्य समयमें क्यो नही की जाती। **उत्तर**—नहीं, क्योकि, अन्य समयमें भी वन्दनाके प्रतिषेधका कोई नियम नही है। तीनो सन्ध्याकालोंमें वन्दनाके नियमका कथन करनेके लिए 'त्रि कृत्वा' ऐसा कहा है।

अन.ध /८/७९/८०७ तिस्रोऽहोन्त्या निशश्चाद्या नाड्यो व्यत्यासिताश्च ता । मध्याह्नस्य च षट्कालास्त्रयोऽमी नित्यवन्दने ।७९। —उक्त च— मुहूर्तत्रितय काल सध्याना त्रितये बुधै'। कृतिकर्मविधेर्नित्य परो नैमित्तिको मत ॥ =तीन सन्ध्याकालोंमें अर्थात् पूर्वाह, अपराह, व मध्याहमें वन्दनाका काल छह-छह घडी होता है। वह इस प्रकार है कि, सूर्योदयसे तीन घडी पूर्वसे लेकर सूर्योदयके तीन घडी पश्चात् तक पूर्वाह्न वन्दना, मध्याह्नमे तीन घडी पूर्वसे लेकर मध्याहके तीन घडी पश्चात् तक मध्याह्न वन्दना, और इसी प्रकार सूर्यास्तमें तीन घडी पूर्वसे सूर्यास्तके तीन घडी पश्चात् तक अपराह्निक वन्दना। यह तीनो सन्ध्याओका उत्कृष्ट काल है जैसे कि कहा भी है —कृति-कर्मकी नित्यकी विधिके कालका परिमाण तीनों सन्ध्याओंमें तीन-तीन मुहूर्त है। (अन. ध /९/१३)।

* अन्य सम्बन्धित विषय

१. वन्दनाका फल गुणश्रेणी निर्जरा। —दे० पूजा/२।
२ वन्दनाके अतिचार। —दे० व्युत्सर्ग/१।
३ वन्दनाके योग्य आसन मुद्रा आदि। —दे० कृतिकर्म/३।
४. एक जिन या जिनालयकी वन्दनासे सबकी वन्दना हो जाती है। —दे० पूजा/३।
५ साधुसघमें परस्पर वन्दना व्यवहार। —दे० विनय/३, ४।
६ चैत्यवन्दना या देववन्दना विधि।

चा. सा./१५९/५ आत्माधीन सच्चैत्यादीन् प्रतिवन्दनार्थं गत्वा धौत-पादस्त्रिप्रदक्षिणीकृत्येर्यापथकायोत्सर्गं कृत्वा प्रथममुपविश्यालोच्य चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्योत्थाय जिनेन्द्रचन्द्रदर्शन-मात्रन्निजनयनचन्द्रकान्तोपलविगलदानन्दाश्रुजलधारापूरपरिप्लावि-तपक्ष्मपुटोऽनादिभवदुर्लभभगवदर्हत्परमेश्वरपरमभट्टारकप्रतिबिम्बद-र्शनजनितहर्षोत्कर्षपुलकिततनुरतिभक्तिभरावनतमस्तकन्यस्तहस्तकु-शेशयकुड्मलो दण्डकद्वयस्यादावन्ते च प्राक्तनक्रमेण प्रवृत्त्य चैत्य-स्तवेन त्रि परीत्य द्वितीयवारेऽप्युपविश्यालोच्य पञ्चगुरुभक्ति-कायोत्सर्गं करोमीति विज्ञाप्योत्थाय पञ्चपरमेष्ठिन स्तुत्वा

तृतीयवारेऽप्युपविश्यालोचनीय'। ......प्रदक्षिणीकरणे च दिक्चतुष्टयावनतौ चतुःशिरो भवति।.. एवं देवतास्तवनक्रियायां चैत्यभक्तिः पञ्चगुरुभक्तिश्च कुर्यात्। =आत्माधीन होकर जिनबिम्ब आदिकोंकी वन्दनाके लिए जाना चाहिए। सर्व प्रथम पैर धोकर तीन प्रदक्षिणा दे ईर्यापथ कायोत्सर्ग करे। फिर बैठकर आलोचना करे। तदनन्तर मैं 'चैत्यभक्ति कायोत्सर्ग करता हूँ' इस प्रकार प्रतिज्ञा कर तथा खडे होकर श्री जिनेन्द्रके दर्शन करे। जिससे कि आँखोंमें हर्षाश्रु भर जायें, शरीर हर्षसे पुलकित हो उठे और भक्तिसे नम्रीभूत मस्तकपर दोनों हाथोंको जोडकर रख ले। अब सामायिक दण्डक व थोस्सामिदण्डक इन दोनों पाठोंको आदि व अन्तमें तीन-तीन आवर्त व एक-एक शिरोनति सहित पढे। दोनोंके मध्यमें एक नमस्कार करे (दे० कृतिकर्म/४) तदनन्तर चैत्यभक्तिका पाठ पढे तथा बैठकर तत्सम्बन्धी आलोचना करे। इसी प्रकार पुन: दोनों दण्डकों व कृतिकर्म सहित पंचगुरुभक्ति व तत्सम्बन्धी आलोचना करे। प्रदक्षिणा करते समय भी प्रत्येक दिशामें तीन-तीन आवर्त और एक शिरोनति की जाती है। इस प्रकार चैत्य वन्दना या देव वन्दनामें चैत्यभक्ति व पंचगुरु भक्ति की जाती है। (भ. आ./वि./११६/२७५/११ पर उद्धृत), (अन. ध./९/१३-२१)।

७. गुरु वन्दना विधि

अन. ध./९/३१ लघ्व्या सिद्धगणिस्तुत्या गणी वन्द्यो गवासनात्। सैद्धान्तोऽन्त श्रुतस्तुत्या तथान्यस्तन्नुतिं विना ।३१। —उक्तं च—सिद्धभक्त्या बृहत्साधुर्वन्द्यते लघुसाधुना। लघ्व्या सिद्धश्रुतस्तुत्या सैद्धान्त: प्रणम्यते। सिद्धाचार्यलघुस्तुत्या वन्द्यते साधुभिर्गणी। सिद्धश्रुतगणिस्तुत्या लघ्व्या सिद्धान्तविद्गणी। =साधुओंको आचार्यकी वन्दना गवासनसे बैठकर लघुसिद्धभक्ति व लघु आचार्यभक्ति द्वारा करनी चाहिए। यदि आचार्य सिद्धान्तवेत्ता है, तो लघु सिद्धभक्ति, लघु श्रुतभक्ति व लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिए। जैसा कि कहा भी है—छोटे साधुओंको बडे साधुओंकी वन्दना लघु सिद्धभक्ति पूर्वक तथा सिद्धान्तवेत्ता साधुओंकी वन्दना लघुसिद्धभक्ति और लघुश्रुतभक्तिके द्वारा करनी चाहिए। आचार्यकी वन्दना लघुसिद्धभक्ति व लघु आचार्यभक्ति द्वारा, तथा सिद्धान्तवेत्ता आचार्यकी वन्दना लघु सिद्धभक्ति, लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्यभक्ति द्वारा करनी चाहिए।

८. वन्दना प्रकरणमें कायोत्सर्गका काल

दे० कायोत्सर्ग/१ (वन्दना क्रियामें सर्वत्र २७ उच्छ्वासप्रमाण कायोत्सर्गका काल होता है।)

वंदनामुद्रा—दे० मुद्रा।

वंश—१ ऐतिहासिक राज्यवंश—दे० इतिहास/३। २ पौराणिक राज्यवंश—दे० इतिहास/९। ३ जैन साधुओंके वंश या संघ —दे० इतिहास/४,५।

वंशपत्र— दे० योनि।

वंशा—नरककी दूसरी पृथिवी। अपर नाम शर्कराप्रभा। —दे० शर्कराप्रभा।

वंशाल—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर। —दे० विद्याधर।

वक्तव्य—१. वस्तु कथंचित् वक्तव्य है और कथंचित् अवक्तव्य —दे० सप्तभंगी/६। २. शब्द अल्प हैं और अर्थ अनन्त —दे० आगम/४।

वक्तव्यता—

ध. १/१,१,१/८२/५ वत्तव्वदा तिविहा, ससमयवत्तव्वदा परसमयवत्तव्वदा तदुभयवत्तव्वदा चेदि। जम्हि सत्थम्हि स-समयो चेव वणिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं सत्थं ससमयवत्तव्वं, तस्स भावो ससमयवत्तव्वदा। पर समयो मिच्छत्तं जम्हि पाहुडे अणियोगे वा वणिज्जदि परूविज्जदि पण्णाविज्जदि तं पाहुडमणियोगो वा परसमयवत्तव्वं, तस्स भावो परसमयवत्तव्वदा णाम। जत्थ दो वि परूवेऊण पर-समयो दूसिज्जदि स-समयो थाविज्जदि तत्थ सा तदुभयवत्तव्वदा णाम भवदि। =वक्तव्यताके तीन प्रकार—स्वसमय वक्तव्यता, परसमय वक्तव्यता और तदुभय वक्तव्यता। जिस शास्त्रमें स्वसमयका ही वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है, अथवा विशेष रूपसे ज्ञान कराया जाता है, उसे स्वसमय वक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थात् उसमें रहने वाली विशेषताको स्वसमय वक्तव्यता कहते हैं। पर समय मिथ्यात्वको कहते हैं, उसका जिस प्राभृत या अनुयोगमें वर्णन किया जाता है, प्ररूपण किया जाता है या विशेष ज्ञान कराया जाता है उस प्राभृत या अनुयोगको परसमय वक्तव्य कहते हैं और उसके भावको अर्थात् उसमें होने वाली विशेषताको परसमय वक्तव्यता कहते हैं। जहाँपर स्वसमय और परसमय इन दोनोंका निरूपण करके परसमयको दोषयुक्त दिखलाया जाता है और स्वसमयकी स्थापना की जाती है, उसे तदुभय वक्तव्य कहते हैं, और उसके भावको अर्थात् उसमें रहनेवाली विशेषताको तदुभयवक्तव्यता कहते हैं। (ध. ९/४,१,४५/१४०/३)।

२ जैनागममें कथंचित् स्वसमय व तदुभय वक्तव्यता

ध. १/१,१,१/८२/१० एत्थ पुण जीवट्ठाणे ससमयवत्तव्वदा ससमयस्सेव परूवणादो। =इस जीवस्थान नामक (धवला) शास्त्रमें स्वसमय वक्तव्यता ही समझनी चाहिए, क्योंकि इसमें स्वसमयका ही निरूपण किया गया है।

क. पा./१/१,१/§८१/९७/२ तत्थ सुदणाणे तदुभयवत्तव्वदा; सुणयदुण्णयाण दोण्हं पि परूवणाए तत्थ संभवादो। =श्रुतज्ञानमें तदुभय वक्तव्यता समझना चाहिए, क्योंकि, श्रुतज्ञानमें सुनय और दुर्नय इन दोनोंकी ही प्ररूपणा संभव है।

वक्ता—

रा वा./१/२०/१२/७५/१८ वक्तारश्चाविष्कृतवक्तृपर्याया द्वीन्द्रियादय। =जिनमें वक्तृत्व पर्याय प्रगट हो गयी है ऐसे द्वीन्द्रियसे आदि लेकर सभी जीव वक्ता है। (ध. १/१,१,२/११७/६); (गो. जी./जी.प्र/३६५/७७८/२४)।

२ वक्ताके भेद

स सि./१/२०/१२३/१० त्रयो वक्तार —सर्वज्ञस्तीर्थकर इतरो वा श्रुतकेवली आरातीयश्चेति। =वक्ता तीन प्रकारके हैं—सर्वज्ञ तीर्थंकर या सामान्य केवली, श्रुतकेवली और आरातीय।

३. जिनागमके वास्तविक उपदेष्टा सर्वज्ञ देव ही हैं

दे० आगम/५/१ (समस्त वस्तु-विषयक ज्ञानको प्राप्त सर्वज्ञ देवके निरूपित होनेसे ही आगमकी प्रमाणता है।)

दे० दिव्यध्वनि/२/१५ (आगमके अर्थकर्ता तो जिनेन्द्रदेव हैं और ग्रन्थकर्ता गणधर देव है।)

द. पा./टी/२२/२०/८ केवलज्ञानिभिर्जिनैर्भणितं प्रतिपादितम्। केवलज्ञानं विना तीर्थंकरपरमदेवा धर्मोपदेशनं न कुर्वन्ति। अन्यमुनीनामुपदेशस्त्वनुवादरूपो ज्ञातव्य। =केवलज्ञानियोंके द्वारा कहा

गया है। केवलज्ञानके विना तीर्थंकर परमदेव उपदेश नहीं करते। अन्य मुनियोका उपदेश उसका अनुवादरूप जानना चाहिए।

४. धर्मोपदेष्टाकी विशेषताएँ

कुरल/अधि/श्लो. भो भो' शब्दार्थवेत्तार' शास्तार पुण्यमानसा। श्रोतृणा हृदयं वीक्ष्य तदर्हां ब्रूत भारतीम्॥ (७२/२)। विद्वद्गोष्ठ्या निजज्ञानं यो हि व्याख्यातुमक्षम ॥ तस्य निस्सारता याति पाण्डित्य सर्वतोमुखम्। (७३/८)। =ऐ शब्दोंका मूल जानने वाले पवित्र पुरुषो! पहले अपने श्रोताओंकी मानसिक स्थितिको समझ लो और फिर उपस्थित जनसमूहकी अवस्थाके अनुसार अपनी वक्तृता देना आरम्भ करो। (७२/२)। जो लोग विद्वानोंकी सभामें अपने सिद्धान्त श्रोताओके हृदयमें नहीं बिठा सकते उनका अध्ययन चाहे कितना भी विस्तृत हो, फिर भी वह निरुपयोगी ही है। (७३/८)।

आ. अनु/५-६ प्राज्ञ' प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदय' प्रव्यक्तलोकस्थिति', प्रास्ताश प्रतिभापर प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तर। प्राय प्रश्नसह प्रभु परमनोहारो परानिन्दया, ब्रूयाद्धर्मकथा गणी गुणनिधि प्रस्पष्टमिष्टाक्षर ।५। श्रुतमविकलं शुद्धा वृत्ति परप्रतिबोधने, परिणतिरुरुद्योगो मार्गप्रवर्तनसद्विधौ। बुधनुतिरनुत्सेको लोकज्ञता मृदुतास्पृहा, यतिपतिगुणा यस्मिन्नन्ये च सोऽस्तु गुरु' सताम् ।६। =जो प्राज्ञ है, समस्त शास्त्रोंके रहस्यको प्राप्त है, लोकव्यवहारसे परिचित है, समस्त आशाओंसे रहित है, प्रतिभाशाली है, शान्त है, प्रश्न होनेसे पूर्व ही उसका उत्तर दे चुका है, श्रोताके प्रश्नोंको सहन करनेमें समर्थ है, (अर्थात् उन्हें सुनकर न तो घबराता है और न उत्तेजित होता है), दूसरोंके मनोगत भावोंको ताडने वाला है, अनेक गुणोंका स्थान है, ऐसा आचार्य दूसरोंकी निन्दा न करके स्पष्ट एव मधुर शब्दोंमें धर्मोपदेश देनेका अधिकारी होता है।५। जो समस्त श्रुतको जानता है, जिसके मन वचन कायकी प्रवृत्ति शुद्ध है, जो दूसरोंको प्रतिबोधित करनेमें प्रवीण है, मोक्ष-मार्गके प्रचाररूप समीचीन कार्यमें प्रयत्नशील है, दूसरोके द्वारा प्रशसनीय है तथा स्वय भी दूसरोंकी यथायोग्य प्रशसा व विनय आदि करता है, लोकज्ञ है, मृदु व सरल परिणामी है, इच्छाओंसे रहित है, तथा जिसमें अन्य भी आचार्य पदके योग्य गुण विद्यमान है, वही सज्जन शिष्योंका गुरु हो सकता है।६।

दे० आगम/५/६ (वक्ताको आगमार्थके विषयमें अपनी ओरसे कुछ नहीं कहना चाहिए)।
दे० अनुभव/३/१ (आत्म स्वभाव विषयक उपदेश देनेमें स्वानुभवका आधार प्रधान है।)
दे० आगम/६/१ (वक्ता ज्ञान व विज्ञानसे युक्त होता हुआ ही प्रमाणताको प्राप्त होता है।)
दे० लब्धि/३ (मोक्षमार्गका उपदेष्टा वास्तवमें सम्यग्दृष्टि होना चाहिए मिथ्यादृष्टि नहीं।)

* अन्य सम्बन्धित विषय

वक्रग्रीव— कुन्दकुन्दका अपर नाम—दे० कुंदकुंद।

वक्रांत— पहले नरकका ११ वाँ पटल—दे० नरक/५।

वक्षार— पूर्व और विदेहके कक्षा आदि ३२ क्षेत्रोंमें विभाजित करनेवाले १६ पर्वत है।—दे० लोक/३/७।

वचन—

१. वचन सामान्य निर्देश

१. वचनके अभ्याख्यान आदि १२ भेद

ष. ख. १२/४,२,८/सूत्र १०/२८५ अब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छणाण-मिच्छादंसण-पओअ-पच्चए। =अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, मेय, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग इन प्रत्ययोंसे ज्ञानावरणीय वेदना होती है।

रा. वा/१/२०/१२/७५/१० वाक्प्रयोग शुभेतरलक्षणो वक्ष्यते। अभ्याख्यानकलहपैशुन्यासंबद्धप्रलापरत्यरत्युपधिनिकृत्प्रणतिमोषमम्यद्-

मिथ्यादर्शनात्मिका भाषा द्वादशधा ।=शुभ और अशुभके भेदसे वाक्प्रयोग दो प्रकारका है। अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, असम्बद्ध-प्रलाप, रति, अरति, उपधि, निकृति, अप्रणति, मोष, सम्यग्दर्शन और मिथ्यादर्शनके भेदसे भाषा १२ प्रकारकी है। (ध. १.१.२/-११६/१०); (ध / ९/४,१,४५/२१७/१); (गो. जी./जी.प्र./३६५/-७७८/२०)।

२. अभ्याख्यान आदि भेदोंके लक्षण

रा. वा /१/२०/१२/७५/१२ हिंसादे' कर्मण; कर्तुर्विरतस्य विरताविरतस्य वायमस्य कर्तेत्यभिधानम् अभ्याख्यानम्। कलह' प्रतीत। पृष्ठतो दोषाविष्करणं पैशुन्यम्। धर्मार्थकाममोक्षासम्बद्धा वाग् असम्बद्धप्रलाप। शब्दादिविषयदेशादिषु रत्युत्पादिका, रतिवाक्। तेष्वेवारत्युत्पादिका अरतिवाक्। या वाच श्रुत्वा परिग्रहार्जनरक्षणादिष्वासज्यते सोपधिवाक्। वणिग्व्यवहारे यामवधार्य निकृतिप्रवण आत्मा भवति सा निकृतिवाक्। या श्रुत्वा तपोविज्ञानाधिकेष्वपि न प्रणमति सा अप्रणतिवाक्। या श्रुत्वा स्तेये वर्तते सा मोषवाक्। सम्यङ्मार्गस्योपदेष्ट्री सा सम्यग्दर्शनवाक्। तद्विपरीता मिथ्यादर्शनवाक्।=हिंसादिसे विरक्त मुनि या श्रावकको हिंसादिका दोष लगाना अभ्याख्यान है (विशेष दे० अभ्याख्यान)। कलहका अर्थ स्पष्ट ही है (विशेष दे० कलह)। पीठ पीछे दोष दिखाना पैशुन्य है (विशेष दे० पैशुन्य) धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष इन चार पुरुषार्थोंके सम्बन्धसे रहित वचन असम्बद्ध प्रलाप है। इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें या देश नगर आदिमें रति उत्पन्न करनेवाला रतिवाक् है। इन्हींमें अरति उत्पन्न करनेवाला अरतिवाक् है। जिसे सुनकर परिग्रहके अर्जन, रक्षण आदिमें आसक्ति उत्पन्न हो वह उपधिवाक् है। जिससे व्यापारमें ठगनेको प्रोत्साहन मिले वह निकृतिवाक् है। जिसे सुनकर तपोनिधि या गुणी जीवोंके प्रति अविनयकी प्रेरणा मिले वह अप्रणतिवाक् है। जिससे चोरीमें प्रवृत्ति हो वह मोषवाक् है। सम्यक् मार्गप्रवर्तक उपदेश सम्यग्दर्शनवाक् है और मिथ्यामार्ग प्रवर्तक उपदेश मिथ्यादर्शनवाक् है। (ध. १/१,१, २/११६/१२), (ध. ९/४,१,४५/२१७/३); (गो जी./जी. प्र./३६५/ ७७८/१९) (विशेष दे० वह-वह नाम)।

३. गर्हित सावद्य व अप्रिय वचन

भ. आ /मू /८३०-८३२ कक्कस्सवयणं णिठ्ठुरवयणं पेसुण्णहासवयण च। ज किंचि विप्पलाव कहिदवयण समासेण ।८३०। जत्तो पाणवधादी दोसा जायति सावज्जवयण च। अविचारित्ता थेण थेणत्ति जहेवमादीय ।८३१। परुस कडुय वयण वेर कलह च ज भय कुणइ। उत्तासणं च हीलणमप्पियवयणं समासेण ।८३२। =कर्कश-वचन, निष्ठुर भाषण, पैशुन्यके वचन, उपहासका वचन, जो कुछ भी बड-बड करना, ये सब संक्षेपसे गर्हित वचन है ।८३०। [छेदन-भेदन आदिके (पु सि उ.)] जिन वचनोंसे प्राणिवध आदि दोष उत्पन्न हों अथवा बिना विचारे बोले गये, प्राणियोंकी हिंसाके कारणभूत वचन सावद्य वचन है। जैसे—इस भैंसको पानी पिलाओ ।८३१। परुष वचन जैसे—तू दुष्ट है, कटु वचन, वैर उत्पन्न करनेवाले वचन, कलहकारी वचन, भयकारी या त्रासकारी वचन, दूसरोंकी अवज्ञाकारी होलन वचन, तथा अप्रिय वचन संक्षेपसे असत्य वचन है। (पु सि उ./९६-९८)।

४. मोषवचन चोरीमें अन्तर्भूत नहीं है

ध १२/४ २,८,१०।२८६/३ मोष' स्तेय। ण मोसो अदत्तादाणे पविस्सदि, हदपदिदपमुक्कणिहिदादाणविसयम्मि अदत्तादाणम्मि एदस्स पवेसविरोहादो। =मोषका अर्थ चोरी है। यह मोष अदत्तादानमें प्रविष्ट नहीं होता, क्योंकि हत, पतित, प्रमुक्त और निहित पदार्थके ग्रहण विषयक अदत्तादानमें इसके प्रवेशका विरोध है।

२. वचनयोग निर्देश

१. वचनयोग सामान्यका लक्षण

स, सि./६/१/३१८/६ शरीरनामकर्मोदयापादितवाग्वर्गणालम्बने सति वीर्यान्तरायमत्यक्षराद्यावरणक्षयोपशमापादिताभ्यन्तरवाग्लब्धिसान्निध्ये वाक्परिणामाभिमुखस्यात्मन प्रदेशपरिस्पन्दो वाग्योग'। =शरीर नामकर्मके उदयसे प्राप्त हुई वचनवर्गणाओंका आलम्बन होनेपर तथा वीर्यान्तराय और मत्यक्षरादि आवरणके क्षयोपशमसे प्राप्त हुई भीतरी वचन लब्धिके मिलनेपर वचनरूप पर्यायके अभिमुख हुए आत्माके होनेवाला प्रदेश-परिस्पन्द वचनयोग कहलाता है। (रा. वा /६/१/१०/५०५/१३)।

ध. १/१,१,४७/२७९/२ वचस समुत्पत्त्यर्थ' प्रयत्नो वाग्योग।

ध. १/१,१,६५/३०८/५ चतुर्णां वचसां सामान्यं वच'। तज्जनितवीर्येणात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणेन योगो वाग्योगः। =वचनकी उत्पत्तिके लिए जो प्रयत्न होता है, उसे वचनयोग कहते हैं। अथवा सत्यादि चार प्रकारके वचनोंमें जो अन्वयरूपसे रहता है, उसे सामान्य वचन कहते हैं। उस वचनसे उत्पन्न हुए आत्मप्रदेश परिस्पन्द लक्षण वीर्यके द्वारा जो योग होता है उसे वचनयोग कहते हैं।

ध, ७/२,१,३३/७६/७ भासावग्गणापोग्गलखंधे अवलंबिय जीवपदेसाणं संकोचविकोचो सो वचिजोगो णाम। =भाषावर्गणासम्बन्धी पुद्गलस्कन्धोंके अवलम्बनसे जो जीव प्रदेशोंका सकोच विकोच होता है वह वचनयोग है। (ध. १०/४,२,४, १०५/४३७/१०)।

२. वचनयोगके भेद

प ख १/१,१/सूत्र ५२/२८६ वचिजोगो चउव्विहो सच्चवचिजोगो मोसवचिजोगो सच्चमोसवचिजोगो असच्चमोसवचिजोगो चेदि ।५२। =वचनयोग चार प्रकारका है—सत्य वचन योग, असत्य वचनयोग, उभयवचन योग और अनुभय वचन योग ।५२। (भ. आ मू /११९२/ ११८८); (मू. आ /३१४), (रा. वा./९/७/११/६०४/२), (गो जी. मू / २१७/४७४), (द्र. स / टी /१३/३७/७)।

३. वचनयोगके भेदोंके लक्षण

प. सं./प्रा./१/९१-९२ दसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो। तव्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोस त्ति ।९१। जो णेव सच्चमोसो त जाण असच्चमोसवचिजोगो। अमणाणं जा भासा सण्णीणामंतणीयादी ।९२।=दस प्रकारके सत्य वचनमें (दे० सत्य) वचनवर्गणाके निमित्तसे जो योग होता है, उसे सत्य वचनयोग कहते हैं। इससे विपरीत योगको मृषा वचनयोग कहते हैं। सत्य और मृषा वचनरूप योगको उभयवचनयोग कहते है। जो वचनयोग न तो सत्यरूप हो और न मृषारूप ही हो, उसे असत्यमृषावचनयोग कहते है। असंज्ञी जीवोंकी जो अनक्षररूप भाषा है और संज्ञी जीवोंकी जो आमन्त्रणी आदि भाषाएँ है (दे भाषा) उन्हें अनुभय भाषा जानना चाहिए। (मू. आ./३१४), (ध. १/१,१,५२/गा. १५८-१५९/२८६); (गो. जी /मू /२२०-२२१/४७८)।

ध. १/१,१.५२/२८६ चतुर्विधमनोभ्य समुत्पन्नवचनानि चतुर्विधान्यपि तद्व्यपदेश प्रतिलभन्ते तथा प्रतीयते च। =चार प्रकारके मनसे उत्पन्न हुए चार प्रकारके वचन भी उन्हीं संज्ञाओंको प्राप्त होते हैं, और ऐसी प्रतीति भी होती है।

गो. जी /जी प्र./२१७/४७५/५ सत्याद्यर्थे. सहयोगात्—सबन्धात्, खलु स्फुटं, ता मनोवचनप्रवृत्तय, तद्योगा—सत्यादिविशेषणविशिष्टा,

चत्वारो मनोयोगाश्चत्वारो वाग्योगाश्च भवन्ति । =सत्यादि पदार्थके सम्बन्धसे जो मन व वचनकी प्रवृत्ति होती है, वह सत्यादि विशेषणसे विशिष्ट चार प्रकारके मनोयोग व वचनयोग है। —विशेष दे० मनोयोग/४।

४. शुभ-अशुभ वचनयोग

बा. अ./४३,५५ भत्तिच्छिरायचोरकहाओ वयण वियाण असुहमिदि ।५३। ससारछेदकारणवयण सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठ ।५५। =भोजन-कथा, स्त्रीकथा, राजकथा और चोरकथा करनेको अशुभवचनयोग और संसारका नाश करनेवाले वचनोंको शुभ वचनयोग जानना चाहिए।

दे० प्रणिधान—(निरर्थक अशुद्ध वचनका प्रयोग दुष्ट प्रणिधान है।)

रा. वा./६/३/१,२/पृष्ठ/पंक्ति अनृतभाषणपरुषासत्यवचनादिरशुभो वाग्योग ।(५०६/३३)। सत्यहितमितभाषणादि शुभो वाग्योग । (५०७/२। =असत्य बोलना, कठोर बोलना आदि अशुभ वचन-योग हैं और सत्य हित मित बोलना शुभ वचनयोग है। (स. सि./६/३/६११/११)।

वचनगुप्ति—दे० गुप्ति।

वचनबल—१. १० प्राणोंमेंसे एक—दे० प्राण। २. एक ऋद्धि। —दे० ऋद्धि।

वचनबाधित—दे० बाधित।

वचनयोग—दे० वचन/२।

वचन विनय—दे० विनय/१।

वचन शुद्धि—दे० समिति।

वचनातिचार—दे० अतिचार।

वचनोपगत—दे० निक्षेप/५।

वज्र—१ नन्दनवन, मानुषोत्तर पर्वत व रुचक पर्वतपर स्थित कूटोंका नाम। —दे० लोक/७। २ सौधर्म स्वर्गका २५वाँ पटल —दे० स्वर्ग/५। ३ बौद्ध मतानुयायी एक राजा जिसने नालन्दा मठका निर्माण कराया। समय—ई० श. ५।

वज्र ऋषभ नाराच—दे० संहनन।

वज्र खंडिक—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश। —दे० मनुष्य/४।

वज्रघोष—म. पु./७३/श्लोक न.—पार्श्वनाथ भगवान्‌का जीव बडे भाई कमठ द्वारा मारा जानेपर सल्लकी वनमें वज्रघोष नामका हाथी हुआ।११-१२। पूर्वजन्मका स्वामी राजा सयम लेकर ध्यान करता था। उसपर उपसर्ग करनेको उद्यत हुआ, पर पूर्वभवका सम्बन्ध जान शान्त हो गया। मुनिराजके उपदेशसे श्रावकव्रत अंगीकार किये। पानी पीनेके लिए एक तालाबमें घुसा तो कीचडमें फँस गया। वहाँ पुन कमठके जीवने सर्प बनकर डँस लिया। तब वह मरकर सहस्रार स्वर्गमें देव हुआ।१६-२४। यह पार्श्वनाथ भगवान्‌का पूर्वका आठवाँ भव है।—विशेष दे० पार्श्वनाथ।

वज्रजंघ—१ म. पु./सर्ग/श्लो.—"पुष्कलावती देशके उत्पलखेट नगरके राजा वज्रबाहुका पुत्र था। (६/२६)। पूर्वके देव भवकी देवी स्वयप्रभामें अत्यन्त अनुरक्त था। (६/५८)। श्रीमतीका चित्र देखकर पूर्व भव स्मरण हो आया। (७/१३७-१४०)। और उसका पाणिग्रहण किया। (७/२४६)। ससुरके दीक्षा लेनेपर ससुराल जाते समय मार्गमें मुनियोंको आहार दान दिया। (८/१७३)। एक दिन शयनागारमें धूपघटोंके सुगन्धित धूएँसे दम घुट जानेके कारण अकस्मात् मृत्यु पा गयी। (६/२७)। पात्रदानके प्रभावसे भोगभूमिमें उत्पन्न हुआ। (६/३३)। यह भगवान् ऋषभ-देवका पूर्वका सातवाँ भव है। (दे० ऋषभदेव)। २. प. पु./सर्ग/श्लोक—पुण्डरीकपुरका राजा था। (६७/१८३)। राम द्वारा परित्यक्त सीताको वनमें देख उसे अपने घर ले गया। (६६/१-४)। उसीके घर पर लव और कुश उत्पन्न हुए। (१००/१७-१८)।

वज्रदंत—म. पु./सर्ग/श्लोक—पुण्डरीकिणी नगरका राजा था। (६/५८)। पिता यशोधर केवलज्ञानी हुए। (६/१०८)। वहाँ ही इन्हें भी अवधिज्ञानकी उत्पत्ति हुई। (६/११०)। दिग्विजय करके लौटा। (६/१६२-१६४)। तो अपनी पुत्री श्रीमतीको बताया कि तीसरे दिन उसका भानजा वज्रजंघ आयेगा और वह ही उसका पति होगा। (७/१०५)। अन्तमें अनेको रानियों व राजाओंके साथ दीक्षा धारण की। (८/८४-८५)। यह वज्रजंघका ससुर था। —दे० वज्रजंघ।

वज्रनंदि—१. नन्दिसंघके बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप गुणनन्दिके शिष्य तथा कुमारनन्दिके गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ३६४-३८६ (ई ४४२-४६४)। —(दे० इतिहास/५/१३)। २. आ. पूज्यपादके शिष्य थे। गुरुसे विगडकर द्रविडसंघकी स्थापना की। समय—वि. सं. ५२६ (ई. ४६६)। (द. सा./मू./२४). (स. सि./प्र. ८५/प. फूलचन्द, प. नाथूरामजी प्रेमीके अनुसार); (म तन्त्र/प्र २४/प. जुगल किशोर); (ह. पु./प्र ७/प. पन्नालाल)।

वज्रनाभि—१ म. पु./सर्ग/श्लो. न.—पुण्डरीकिणीके राजा वज्र-सेनका पुत्र था। (११/८६)। चक्ररत्न प्राप्त किया। (११/३८-५५)। अपने पिता वज्रसेन तीर्थंकरके समीप दीक्षा धारण कर (११/६१-६२)। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया (११/७६-८०)। प्रायोप-गमन सन्यासपूर्वक। (११/६४)। श्रीप्रभ नामक पर्वतपर उप-शान्तमोह गुणस्थानमें शरीरको त्याग सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुए। (११/११०-१११)। यह भगवान् ऋषभदेवका पूर्वका तीसरा भव है। —दे० ऋषभदेव। २. म पु./७३/श्लो न.—पद्म नामक देशके अश्वपुर नगरके राजा वज्रवीर्यका पुत्र था। २६-३२। सयम धारण किया।३४-३५। पूर्व भवके वैरी कमठके जीव कुरंग भीलके उपसर्ग।३८-३६। को जीतकर सुभद्र नामक मध्यम ग्रैवेयकमें अहमिन्द्र हुए।४०। यह भगवान् पार्श्वनाथका पूर्वका चौथा भव है।—दे० पार्श्वनाथ।

वज्र नाराच—दे० संहनन।

वज्र पंजर विधान—दे० पूजा।

वज्रपुर—भरतक्षेत्रका एक नगर।—दे० मनुष्य/४।

वज्रप्रभ—कुण्डल पर्वतका एक कूट—दे० लोक/७।

वज्रबाहु—१. प. पु./२१/श्लो.—सुरेन्द्रमन्युका पुत्र।७७। ससुराल जाते समय मार्गमें मुनियोंके दर्शनकर विरक्त हो गये।१२१-१२३। यह सुकौशल मुनिका पूर्वज था। २. म पु./सर्ग/श्लो.—वज्रजंघ (भगवान् ऋषभदेवका पूर्वका सातवाँ भव) का पिता था। (६/२६)। पुष्कला-वती देशके उत्पलखेट नगरका राजा था। (६/२८) अन्तमें दीक्षित हो गये थे। (८/५१-५७)।

वह्नि—१. अग्नि सम्बन्धी विषय—दे० अग्नि। लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकान्तिक।

वपु—दे० शरीर।

वप्र—१ अपर विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २. चन्द्रगिरि वक्षारका एक कूट व उसका स्वामी देव—दे० लोक/७।

वप्रवान—१. अपर विदेहका एक क्षेत्र—दे० लोक/७। २. सूर्यगिरि वक्षारका एक कूट व उसका स्वामी —दे० लोक/७।

वय—प्र. सा./ता वृ /२०३/२७६/६ शुद्धात्मसंवित्तिविनाशकारिवृद्ध-बालयौवनोद्रेकजनितबुद्धिविकल्परहितं वयश्चेति=शुद्ध आत्माके संवेदनकी विनाश करनेवाली, वृद्ध, बालक व यौवन अवस्थाके उद्रेकसे उत्पन्न होनेवाली बुद्धिकी विकलतासे रहित वय होती है।

वरतनु—लवण समुद्रकी दक्षिण व उत्तर दिशामें स्थित द्वीप व उनके स्वामी देव—दे० लोक/७।

वरवीर—म पु./सर्ग/श्लोक—'पूर्व भव सं. ७ में लोलुप नामक हलवाई था। (८/२३४)। पूर्व भव स ६ में नकुल हुआ। (८/२४१)। पूर्वभव स ५ में उत्तरकुरुमें मनुष्य हुआ। (६/६०)। पूर्व भव स. ४ मे ऐशानस्वर्गमें मनोरथ नामक देव हुआ। (६/१८७)। पूर्व भव स ३ में प्रभजन राजाका पुत्र प्रशान्त मदन हुआ। (१०/१५२)। पूर्व भव स. २ में अच्युत स्वर्गमें देव हुआ। (१०/१७२)। पूर्ववाले भवमें अपराजित स्वर्गमें अहमिन्द्र हुआ। (११/१०)। अथवा सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र हुआ। (११/१६०) और वर्तमान भवमें वरवीर हुआ। (१६/३)। जिसका अपरनाम जयसेन भी था। (४७/३७६)।—[युगपत समस्त भवोंके लिए दे० (४७/३७६-३८७)]। यह ऋषभदेवके पुत्र भरतका छोटा भाई था। (१६/३)। भरत द्वारा राज्य माँगनेपर दीक्षा ले ली। (३४/१२६)। भरतके मुक्ति जानेके पश्चात् मोक्ष सिधारे। (४७/३६६)।

वररुचि—१. शुभचन्द्राचार्य व कवि कालिदासके समकालीन एक विद्वान्। समय—ई १०२१-१०५५। (ज्ञा प्र. ।१। प पन्नालाल बाकलीवाल)। २. एक प्रसिद्ध व्याकरणकार। समय ई ५०० (प प्र/प्र ११६/A.N Up)

वरांगकुमार—वराग चरित्र/सर्ग/श्लोक—उत्तमपुरके भोजवशीय राजा धर्मसेनका पुत्र था। (२/१)। अनुपमा आदि १० कन्याओंका पाणिग्रहण किया। (२/८७)। मुनिदर्शन। (३/३५, ११/३४)। अणुव्रत धारण। (११/४३)। राज्यप्राप्ति (११/६५)। सौतेले भाइयोंका द्वेष (११।८५)। मन्त्रियोने षड्यन्त्र करके कुशिक्षित घोडेपर सवार कराया। (१२/३७)। घोडेने अन्ध कूपमें गिरा दिया। वहाँसे लता पकडकर बाहर निकला। (१२/४६)। सिंहके भयसे सारी रात वृक्षपर बसेरा (१२/८६)। हाथी द्वारा सिंहका हनन। (१२/६६) सरोवरमें स्नान करते हुए नक्रने पाँव पकड लिया (१३/३)। देवने रक्षा की। देवीके द्वारा विवाहकी प्रार्थना की जानेपर अपने व्रतपर दृढ रहा। (१३/३८)। भीलों द्वारा बाँधा गया। (१३/४६)। देवीपर बलि चढानेको ले गये। भीलराजके पुत्रके सर्प काटेका विष दूर करने-से वहाँसे छुटकारा मिला। (१३/६५)। पुन एक साँपने पकड लिया। (१३/७८)। दोनोमे परस्पर प्रेम हो गया। भीलोंके साथ युद्धमें कौशल दिखाया। पूज्यता प्राप्त हुई। (१४/७१)। श्रेष्ठी पद प्राप्ति (१४/८६)। राजा देवसेनके साथ युद्ध तथा विजय प्राप्ति (१८/१०३)। राजकन्या सुनन्दासे विवाह। (१६/२०)। मनोरमा कन्याके मोहित होनेपर दूत भेजना पर शीलपर दृढ रहना। (१६/६१)। मनोरमाके साथ विवाह। (२०/४२)। पिता धर्मपर शत्रुकी चढाई सुनकर अपने देशमें गये। उनके जाते ही शत्रु भाग गया। (२०।८०)। राज्य प्राप्ति। (२०/८५) धर्म व न्यायपूर्वक राज्यकार्यकी सुव्य-वस्था। (सर्ग २१-२७)। पुत्रोत्पत्ति। (२८/५)। दीक्षा धारण। (२६/८७)। सर्वार्थसिद्धिमें देव हुए। (३१/१०६)।

वराटक—कौडी—दे० निक्षेप/४।

वराह—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वराहमिहिर—राजा विक्रमादित्यके नव रत्नोमें-से एक प्रसिद्ध कवि थे। समय—ई ५०५-५८७। (न्यायावतार ।प्र.२। सतीशचन्द्र विद्याभूषण), (भद्रबाहुचरित ।प्र १४। प. उदयलाल)।

वरुण—१ लोकपाल देवोंका एक भेद—दे० लोकपाल। २ मल्लिनाथ भगवान्‌का शासक यक्ष—दे० यक्ष। ३. दक्षिण वारुणीवर द्वीपका रक्षक देव—दे० व्यन्तर/४। ४ विजयार्धके दक्षिणमें स्थित एक पर्वत—दे० मनुष्य ।४। ५. प पु /१६/५६-६१ रसातलका राजा था। रावणके साथ युद्ध होनेपर हनुमान्‌ने इसके सौ पुत्रोंको बाँध लिया और अन्तमें इसको भी पकड लिया। ६. भद्रशाल वनमें कुमुद व पलाशगिरि नामक दिग्गजेन्द्र पर्वतोंके स्वामी देव—दे० लोक/७।

वरुणकायिक—आकाशोपपन्न देव—दे० देव/II/१।

वरुणप्रभ—उत्तर वारुणीवरद्वीपका रक्षक व्यन्तर देव—दे० व्यन्तर/४।

वर्ग—रा. वा./२/५/४/१०७/६ उदयप्राप्तस्य कर्मण प्रदेशा अभव्या-नामनन्तगुणा' सिद्धानामनन्तभागप्रमाणा'। तत्र सर्वजघन्यगुण प्रदेश परिगृहीत, तस्यानुभाग' प्रज्ञाछेदेन तावद्धा परिच्छिन्न' यावत्पुनर्विभागो न भवति। ते अविभागपरिच्छेदा सर्वजीवानाम-नन्तगुणा, एको राशि' कृत। अपर एकाविभागपरिच्छेदाधिक, प्रदेश परिगृहीत, तथैव तस्याविभाग-परिच्छेदा' कृता। स एको राशिर्वर्ग।=उदय प्राप्त कर्मके प्रदेश अभव्योंके अनन्त गुणे तथा सिद्धोंके अनन्तवें भाग प्रमाण होते हैं। उनमें-से सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशके अनुभागका बुद्धिके द्वारा उतना सूक्ष्म विभाग किया जाये जिससे आगे विभाजन न हो सकता हो। ये अविभाग प्रतिच्छेद सर्व जीवराशिके अनन्त गुण प्रमाण होते हैं। एकके पीछे एक स्थापित करके इनकी एक राशि बनानी चाहिए। सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी इस राशिको वर्ग कहते हैं। इसी प्रकार दूसरे-तीसरे आदि सर्व जघन्य गुणवाले प्रदेशोंके पृथक्-पृथक् वर्ग बनाने चाहिए। पुन एक अविभाग प्रतिच्छेद अधिक गुणवालोंके सर्वजीव-राशिके अनन्तगुण प्रमाण राशिरूप वर्ग बनाने चाहिए। (समान गुणवाले सर्व प्रदेशोंकी वर्गराशिको वर्गणा कहते हैं (दे० वर्गणा)] (क पा ५/४-२२/§५७२/३४४/१), (ध. १२/४,२,७,१६६/६२/८।

ध १०/४,२,४, १७८/४४१/६ एगजीवपदेसाविभागपरिच्छेदाणं वग्गववएसादो।=एक जीवप्रदेशके अविभाग प्रतिच्छेदोंकी वर्ग यह संज्ञा है।

स सा./आ ५२ शक्तिसमूहलक्षणो वर्ग।=शक्तियोंका अर्थात् अवि-भागप्रतिच्छेदोंका समूह वर्ग है। (गो जी./मं' प्र./५६/१५३/१४)।

२. जघन्य वर्गका लक्षण

ल सा /भाषा/२२३/२७७/८ सबतै थोरे जिस परमाणु विषै अनुभागके अविभाग प्रतिच्छेद पाइए ताका नाम जघन्य वर्ग है।

३. गणित प्रकरणमें वर्गका लक्षण

किसी राशिको दो बार माँडकर परस्पर गुणा करनेसे ताका वर्ग होता है। अर्थात् Square।—(विशेष दे० गणित ।II/१/७)।

* **द्विरूप वर्गधारा**—दे० गणित/II/५।

वर्गण संवर्गण—दे० गणित/II/१/६।

उत्कृष्ट कर्मस्थिति तक और नोकर्म द्रव्यकी अपेक्षा एक समयमे लेकर असख्यात लोकप्रमाण काल तक ये सब काल वर्गणाएँ है।··औदयिकादि पाँच भावोके जो भेद है वे सब नोआगम-भाव वर्गणा है।

४. वर्गणाके २३ भेद

ध १४/५,६,९७/गा. ७-८/११७ अणुसंखासखेज्जा तधणता वग्गणा अगेज्झाओ। आहार-तेज-भासा-मण-कम्मइयधुयक्खधा ।७। सातर-णिरतरेदरसुण्णा पत्तेयदेह धुवसुण्णा। बादरणिगोदसुण्णा सुहुमा सुण्णा महाखधो ।८। =अणुवर्गणा, सख्याताणुवर्गणा, असख्याताणु-वर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, तैजसवर्गणा, अग्रहणवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्रहणवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्रहण-वर्गणा, कार्मणशरीरवर्गणा, ध्रुवस्कन्धवर्गणा, सान्तरनिरन्तरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोद-वर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा और महास्कन्धवर्गणा। ये तेईस वर्गणाएँ है (ष. ख/१४/५,६। सूत्र ७६-९७/५४/११७ तथा सूत्र ७०८-७१८/५४२-५४३)। (ध. १३/५,५, ८२/३५१/११), (गो जी./मू/५९४-५९५/१०३२)।

५. आहारक आदि पाँच वर्गणाओंके लक्षण

ष ख. १४/५,६/सूत्र/पृष्ठ ओरालिय-वेउव्विय-आहारसरीराण जाणि दव्वाणि घेत्तूण ओरालियवेउव्विय-आहारसरीरत्ताए परिणामेदूर्ण परिणमति जीवा ताणि दव्वाणि आहारदव्ववग्गणा णाम (७३०/५४६) जाणि दव्वाणि घेत्तूण तेयासरीरत्ताए परिणामेदूण परिणमति जीवा ताणि दव्वाणि तेजादव्ववग्गणा णाम। (७३७/५४६)। सच्चभासाए मोसभासाए सच्चमोसभासाए असच्चमोसभासाए जाणि दव्वाणि घेत्तूण सच्चभासत्ताए मोसभासत्ताए सच्चमोसभासत्ताए असच्चमोसभासत्ताए परिणामेदूण णिस्सारति जीवा ताणि भासाद-व्ववग्गणा णाम। (७४४/५५०)। सच्चमणस्स मोसमणस्स सच्चमोस-मणस्स असच्चमोसमणस्स जाणि दव्वाणि घेत्तूण सच्चमणत्ताए मोसमणत्ताए सच्चमोसमणत्ताए असच्चमोसमणत्ताए परिणामेदूण परिणमति जीवा ताणि दव्वाणि मणदव्ववग्गणा णाम। (७५१/५५२)। णाणावरणीयस्स दसणावरणीयस्स वेयणीयस्स मोहणीयस्स आउअस्स णामस्स गोदस्स अन्तराइयस्स जाणि दव्वाणि घेत्तूण णाणावरणीयत्ताए दंसणावरणीयत्ताए वेयणीयत्ताए मोहणीयत्ताए आउअत्ताए णामत्ताए गोदत्ताए अतराइयत्ताए परिणामेदूण परिण-मति जीवा ताणि दव्वाणि कम्मइयदव्ववग्गणा णाम। (७५८/५५३)। =औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरोके जिन द्रव्योको ग्रहणकर औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीररूपसे परिणमाकर जीव परिणमन करते है, उन द्रव्योकी आहारद्रव्यवर्गणा सज्ञा है। (७३०/५४६)। जिन द्रव्योको ग्रहणकर तैजस् शरीररूपसे परि-णमाकर जीव परिणमन करते हैं, उन द्रव्योंकी तैजसद्रव्यवर्गणा सज्ञा है। (७३७/५४६)। सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोषभाषा, और असत्यमोषभाषाके जिन द्रव्योको ग्रहणकर सत्यभाषा, मोषभाषा, सत्यमोषभाषा और असत्यमोषभाषारूपसे परिणमाकर जीव उन्हे निकालते है उन द्रव्योंकी भाषाद्रव्यवर्गणा सज्ञा है। (७४४/५५०)। सत्यमन, मोषमन, सत्यमोषमन और असत्यमोषमनके जिन द्रव्यो-को ग्रहणकर सत्यमन, मोषमन, सत्यमोषमन और असत्यमोषमन रूपसे परिणमाकर जीव परिणमन करते है उन द्रव्योकी मनोद्रव्य-वर्गणा सज्ञा है। (७५१/५५२)। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायके जो द्रव्य हैं उन्हें ग्रहणकर ज्ञानावरणरूपसे, दर्शनावरणरूपसे, वेदनीयरूपसे, मोहनीयरूपसे, आयुरूपसे, नामरूपसे, गोत्ररूपसे और अन्तरायरूपसे परिणमाकर जीव परिणमन करते है, अत उन द्रव्योंकी कार्मण-द्रव्यवर्गणा संज्ञा है (७५८/५५३)।

ध १४/५,६,७९-८७/पृष्ठ/पक्ति ओरालियवेउव्वियआहारसरीर-पाओग्ग-पोग्गलक्खधाणं आहारदव्ववग्गणा त्ति सण्णा। (५९/१०)। एसा सत्तमी वग्गणा। एदिस्से पोग्गलक्खधा तेजइयसरीरपाओग्गा। (६०/१०)। भासादव्ववग्गणाए परमाणुपोग्गलक्खधा चदुण्णं भासाणं पाओग्गा। पटह-भेरी-काहलभगज्जणादिसद्दाणं पि एसा चेव वग्गणा पाओग्गा। (६१/१०)। एसा एक्कारसमी वग्गणा। एदीए वग्गणाए दव्वमणणिव्वत्तणं करिदे। (६२/१४)। एसा तेरसमी वग्गणा। एदिस्से वग्गणाए पोग्गलक्खधा अट्ठकम्मपाओग्गा। (६३/१४)।=औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीरके योग्य, पुद्गलस्कन्धोंकी आहारद्रव्यवर्गणा सज्ञा है। (५९/१०)। यह सातवी वर्गणा है। इसके पुद्गलस्कन्ध तैजसशरीरके योग्य होते है। (६०/१०)। भाषावर्गणाके परमाणुपुद्गलस्कन्ध चार भाषाओंके योग्य होते हैं। तथा ढोल, भेरी, नगारा और मेघका गर्जन आदि शब्दोके भी योग्य ये ही वर्गणाएँ होती है। (६१/१०)। यह ग्यारहवीं वर्गणा है, इस वर्गणामे द्रव्यमनकी रचना होती है। (६२/१४)। यह तेरहवीं वर्गणा है, इस वर्गणाके पुद्गलस्कन्ध आठ कर्मोंके योग्य होते हैं। (६३/१४)।

६. ग्राह्य अग्राह्य वर्गणाओंके लक्षण

ष. ख १४/५,६/सूत्र/पृष्ठ अग्गहणदव्ववग्गणा आहारदव्वमधिच्छिदा तेया दव्ववग्गण ण पावदि ताण दव्वाणमंतरे अगहण दव्ववग्गणा णाम। (७३३/५४८)। अगहणदव्ववग्गणा तेजादव्वमविच्छिदा भासादव्व ण पावेदि ताण दव्वाणमतरे अगहणदव्ववग्गणा णाम। (७४०/५४९)। अग्गहणदव्ववग्गणा भासा दव्वमधिच्छिदा मणदव्व ण पावेदि ताण दव्वाणमतरे अगहणदव्ववग्गणा णाम। (७४७/५५१)। अगहण दव्ववग्गणा [मण] दव्वमविच्छिदा कम्मइयदव्व ण पावदि ताण दव्वाणमतरे अगहणदव्ववग्गणा णाम। (७५४/५५२)। =अग्रहणवर्गणा आहार द्रव्यसे प्रारम्भ होकर तैजसद्रव्यवर्गणाको नहीं प्राप्त होती है, अथवा तैजसद्रव्यवर्गणासे प्रारम्भ होकर भाषा द्रव्यको नही प्राप्त होती है, अथवा भाषा द्रव्यवर्गणासे प्रारम्भ होकर मनोद्रव्यको नहीं प्राप्त होती है, अथवा मनोद्रव्यवर्गणासे प्रारम्भ होकर कार्मण द्रव्यको नही प्राप्त होती है। अत उन दोनो द्रव्योंके मध्यमें जो होती है उसकी अग्रहण द्रव्यवर्गणा सज्ञा है।

ध. १४/५,६,७११/५४३/१० पचण्ण सरीराण जा गेज्झा सा गहणपा-ओग्गा णाम। जा पुण तासिमगेज्झा [सा] अगहण पाओग्गा णाम। =पाँच शरीरोके जो ग्रहणयोग्य है वह ग्रहणप्रायोग्य कहलाती है। परन्तु जो उनके ग्रहण योग्य नहीं है वह अग्रहणप्रायोग्य कहलाती है। (ध १४/५,६,८२/६१/३)।

७. ध्रुव, ध्रुवशून्य व सान्तर निरन्तर वर्गणाओंके लक्षण

ष ख १४/५,६/सूत्र/पृष्ठ कम्मइयदव्ववग्गणाणमुवरि धुवक्खधदव्ववग्गणा णाम। (८८/६३)। धुवक्खधदव्ववग्गणाणमुवरि सातरणिरतरदव्व-वग्गणा णाम। (८९/६४) सातरणिरतरदव्ववग्गणाणमुवरि धुवसुण्ण-वग्गणा णाम। (९०/६५)।=कार्मण द्रव्यवर्गणाओंके ऊपर ध्रुव-स्कन्ध द्रव्यवर्गणा है। (८८/६३)। ध्रुवस्कन्ध द्रव्यवर्गणाओंके ऊपर सान्तरनिरन्तर द्रव्यवर्गणा है। (८९/६४)। सान्तर निरन्तर द्रव्यवर्गणाओंके ऊपर ध्रुवशून्यवर्गणा है। (९०/६५)।

ध १४/५,६,८९-९०/पृष्ठ/पक्ति धुवक्खधणिद्देसो अतदीवओ। तेण हेट्ठिम सव्ववग्गणाओ धुवाओ चेव अंतरविरहिदाओ त्ति घेत्तव्वं। एत्तोप्पहुडि उवरि भण्णमाणसव्ववग्गणासु अगहणभावो णिरंतर मणुवट्टावेदव्वो। (६४/१)। अतरेण सह णिरतरं गच्छदि त्ति सातरणिरतरदव्ववग्गणामण्णा एदिस्से अत्थाणुगया। (६४/१२)।

एसा वि अगहणवग्गणा चेव, आहारतेजा-भासा-मण-कम्माणजोग्गत्तादो। (६५/२)। अदीदाणागदवट्टमाणकालेसु एदेण सरूवेण परमाणुपोग्गलसंचयाभावादो धुवसुण्णदव्ववग्गणा त्ति अत्थाणुगया सण्णा। सव्वुक्कस्ससांतरणिरंतरदव्ववग्गणाए उवरि परमाणुत्तरो परमाणुपोग्गलक्खंधो तिसु वि कालेसु णत्थि। दुपदेसुत्तरा वि णत्थि। एवं तिपदेसुत्तरादिकमेण सव्वजीवेहि अणंतगुणमेत्तमद्धाणं गंतूण पढमधुवसुण्णवग्गणाए उक्कस्सवग्गणा होदि।... एसा सोलसमी वग्गणा। सव्वकालं सुण्णभावेण अवट्ठिदा। =यह ध्रुवस्कन्ध पदका निर्देश अन्तर्दीपक है। इससे पिछली सब वर्गणाएँ ध्रुव ही हैं अर्थात् अन्तरसे रहित हैं, यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यहाँसे लेकर आगे कही जानेवाली सब वर्गणाओंमें अग्रहणवर्गणाकी निरन्तर अनुवृत्ति करनी चाहिए। (६४/१)। जो वर्गणा अन्तरके साथ निरन्तर जाती है, उसकी सान्तर-निरन्तर द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। यह सार्थक संज्ञा है। (६४/१२)। यह भी अग्रहण वर्गणा ही है, क्योंकि यह आहार तैजस, भाषा, मन और कर्मके अयोग्य है। (६५/२)। अतीत अनागत और वर्तमान कालमें इस रूपसे परमाणु पुद्गलोंका संचय नहीं होता, इसलिए इसकी ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा यह सार्थक संज्ञा है। उत्कृष्ट सान्तरनिरन्तर द्रव्यवर्गणाके ऊपर एक परमाणु अधिक परमाणुपुद्गलस्कन्ध तीनों ही कालोंमें नहीं होता, दो प्रदेश अधिक भी नहीं होता, इस प्रकार तीन प्रदेश आदिके क्रमसे सब जीवोंसे अनन्तगुणे स्थान जाकर प्रथम ध्रुवशून्य द्रव्यवर्गणा सम्बन्धी उत्कृष्ट वर्गणा होती है। यह सोलहवीं वर्गणा है जो सर्वदा शून्यरूपसे अवस्थित है।

ध १३/५.५,८२/३८१/१६ एत्थ तेवीस वग्गणासु चदुसु धुवसुण्णवग्गणासु अवणिदासु एगूणवीसदिविधा पोग्गला होंति। पादेक्कमणंतभेदा। =तेईस वर्गणाओंमेंसे चार ध्रुवशून्यवर्गणाओंके निकाल देनेपर उन्नीस प्रकारके पुद्गल होते हैं। और वे प्रत्येक अनन्त भेदोंको लिये हुए हैं। विशेषार्थ—(शीर्षक नं १० के अनुसार जबतक वर्गणाओंमें एक प्रदेश या परमाणुकी वृद्धिका अटूट क्रम पाया जाता है, तबतक उनकी एक प्रदेशी व आहारक वर्गणा आदि विशेष संज्ञाएँ कही जाती हैं। ध्रुवस्कन्धवर्गणा तक यह अटूट क्रम चलता रहता है। तत्पश्चात् एक वृद्धिक्रम भंग हो जाता है। एक प्रदेश वृद्धिके कुछ स्थान जानेके पश्चात् एकदम संख्यात या असंख्यात प्रदेश अधिकवाली ही वर्गणा प्राप्त होती है, उससे कमकी नहीं। पुनः एक प्रदेश अधिकवाली और पुनः संख्यात आदि प्रदेश अधिकवाली वर्गणाएँ जबतक प्राप्त होती रहती हैं, तबतक उनकी सान्तरनिरन्तर वर्गणा संज्ञा है, क्योंकि वे कुछ-कुछ अन्तराल छोड़कर प्राप्त होती हैं। तत्पश्चात् एकसाथ अनन्त प्रदेश अधिक वाली वर्गणा ही उपलब्ध होती है। उससे कम प्रदेशोंवाली वर्गणा तीन कालमें भी उपलब्ध नहीं होती। इसलिए यह स्थान वर्गणाओंसे सर्वथा शून्य रहता है। जहाँ-जहाँ भी प्रदेश वृद्धिक्रममें ऐसा शून्य स्थान प्राप्त होता है, वहाँ-वहाँ ही ध्रुव शून्य वर्गणाका निर्देश किया गया है। यही कारण है कि इन ४ ध्रुवशून्य वर्गणाओंको पुद्गलरूप नहीं गिना है। ये सत रूप नहीं हैं। शेष १९ वर्गणाएँ सत रूप होनेसे पुद्गल संज्ञाको प्राप्त हैं)।

८. प्रत्येक शरीर व अन्य वर्गणाओंके लक्षण

ध १४/५.६/सूत्र/पृष्ठ/पंक्ति एक्कस्स जीवस्स एक्कम्हि देहे उवचिदकम्मणोकम्मक्खंधो पत्तेयसरीरदव्ववग्गणा णाम। (९१/६५/१२)। बादरसुहुमणिगोदेहि असंबद्धजीवा पत्तेयसरीरवग्गणा त्ति घेत्तव्वा। (११६/१४४/६)। पंचण्हं सरीराणं बाहिरवग्गणा त्ति सिद्धा सण्णा। (११७/२२४/४) =एक-एक जीवके एक-एक शरीरमें उपचित हुए कर्म और नोकर्मस्कन्धोंकी प्रत्येक शरीर द्रव्यवर्गणा संज्ञा है। बादरनिगोद और सूक्ष्मनिगोदसे असम्बद्ध जीव प्रत्येकशरीर वर्गणा होते हैं। पाँच शरीरोंकी बाह्यवर्गणा यह संज्ञा सिद्ध होती है (दे० वर्गणा/२/६)।

दे वनस्पति/१/६ (प्रत्येकशरीरवर्गणा असंख्यात लोक प्रमाण है)।

दे. वनस्पति/२/६ (बादर व सूक्ष्म निगोद वर्गणा आवलिके असंख्यात भागप्रमाण है)।

ध. १४/५.६,७८/५८/८ परित्त-अपरित्तवग्गणाओ दुधुविट्ठाओ अणंतपदेसियवग्गणासु चेव णिवदंति। अणंत अणंताणंतेहिंतो वदिरित्त-परित्तअपरित्ताणमभावादो। =परीत और अपरीत वर्गणाएँ अनन्तप्रदेशी वर्गणाओंमें ही सम्मिलित हैं, क्योंकि, अनन्त व अनन्तानन्तसे अतिरिक्त वे उपलब्ध नहीं होतीं।

२. वर्गणा निर्देश

१. वर्गणाओंमें प्रदेश व रसादिका निर्देश

ष. खं. १४/५.६/सूत्र ७५९-७८३/५५०-५५५ ओरालियसरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए अणंताणंतपदेसियाओ। (७५९)। पंचवण्णाओ। (७६०)। पंचरसाओ। (७६१)। दुगंधाओ। (७६२)। अट्ठफासाओ। (७६३)। वेउव्वियसरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए अणंताणंतपदेसियाओ। (७६४)। पंचवण्णाओ। (७६५)। पंचरसाओ। (७६६)। दुगंधाओ। (७६७)। अट्ठफासाओ। (७६८)। आहारसरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए अणंताणंतपदेसियाओ। (७६९)। पंचवण्णाओ। (७७०)। पंचरसाओ। (७७१)। दुगंधाओ। (७७२)। अट्ठफासाओ। (७७३)। तेयासरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए अणंताणंतपदेसियाओ। (७७४)। पंचवण्णाओ। (७७५)। पंचरसाओ। (७७६)। दुगंधाओ। (७७७)। चदुफासाओ। (७७८)। भासा-मण-कम्मइयसरीरदव्ववग्गणाओ पदेसट्ठदाए अणंताणंतपदेसियाओ। (७७९)। पंचवण्णाओ। (७८०)। पंचरसाओ। (७८१)। दुगंधाओ। (७८२)। चदुफासाओ। (७८३)। =(आहारवर्गणाके अन्तर्गत) औदारिक, वैक्रियक व आहारक शरीरोंकी वर्गणाएँ अनन्तानन्त प्रदेशवाली हैं। पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध व आठ स्पर्शवाली हैं। ७५९-७७३। तैजस, भाषा, मनो व कार्मण ये चारों वर्गणाएँ अनन्तानन्त प्रदेशवाली हैं। पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध और चार स्पर्शवाली हैं। ७७४-७८३।

ध./पु. १४/५.६,७९६/५४५/१० आहारवग्गणाए पहुडि जाव महाखंधदव्ववग्गणे त्ति ताव एदाओ अणंताणंतपदेसियवग्गणाओ त्ति एत्थ सुत्ते घेत्तव्वाओ। =आहार वर्गणासे लेकर महास्कन्ध द्रव्यवर्गणा तक ये सब अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाएँ हैं, इस प्रकार यहाँ सूत्रमें ग्रहण करना चाहिए।

दे अल्पबहुत्व/३/८.—(औदारिक आदि तीन शरीरोंकी वर्गणाएँ प्रदेशार्थताकी अपेक्षा उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी हैं। तथा इससे आगे तैजस, भाषा, मन व कार्मण शरीर वर्गणाएँ उत्तरोत्तर अनन्तगुणी हैं।१। अवगाहनाकी अपेक्षा कार्मण, मनो, भाषा, तैजस, आहारक, वैक्रियक व औदारिककी वर्गणाएँ क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यात गुणी हैं।२। औदारिक आदि शरीरोंमें विस्रसोपचयोंका प्रमाण क्रमसे उनके जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त उत्तरोत्तर अनन्तगुणा है।

२. प्रदेशोंकी क्रमिक वृद्धि द्वारा वर्गणाओंकी उत्पत्ति

ष खं. १४/५,६/सूत्र/पृष्ठ—वग्गणपरूवणदाए इमा एयपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम। (७६/५४)। इमा दुपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम। (७७/५५)। एवं तिपदेसिय-चदुपदेसिय-पंचपदेसिय-छप्पदेसिय सत्तपदेसिय-अट्ठपदेसिय, णवपदेसिय-दसपदेसिय-संखेज्जपदेसिय-असंखेज्जपदेसिय-परित्तपदेसिय-अपरित्तपदेसिय-अणंतपदेसिय-अणंताणंतपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणा णाम (७८/५७)। अणंताणंतपदेसियपरमाणुपोग्गलदव्ववग्गणाणमुवरि आहारदव्ववग्गणा णाम। (७९/५९)। आहारदव्ववग्गणाणमुवरि अगहणदव्ववग्गणा णाम। (८०/५९)। अगहण दव्ववग्गणाण-

मुवरि तेयादव्ववग्गणा णाम ।(८१/६०)। तेयादव्ववग्गणाणमुवरि अगहणदव्ववग्गणा णाम । (८२/६०)। अगहणदव्ववग्गणाणमुवरि भासादव्ववग्गणा णाम । (८३/६१)। भासादव्ववग्गणाणमुवरि अगहण दव्ववग्गणा णाम । (८४/६२)। अगहणदव्ववग्गणाणमुवरि मणदव्ववग्गणा णाम । (८५/६२)। मणदव्ववग्गणाणमुवरि अगहण-दव्ववग्गणा णाम । (८६/६३)। अगहण दव्ववग्गणाणमुवरि कम्मइय-दव्ववग्गणा णाम । (८७/६३)। कम्मइयदव्ववग्गणाणमुवरि धुवक्खंधदव्ववग्गणा णाम । (८८/६३)। धुवक्खधदव्ववग्गणाणमुवरि सातरणिरंतरदव्ववग्गणा णाम । (८९/६४)। सातरणिरंतरदव्ववग्गणाणमुवरि धुवसुण्णदव्ववग्गणा णाम । (९०/६५)। धुवसुण्णदव्ववग्गणाणमुवरि पत्तेयसरीरदव्ववग्गणा णाम । (९१/६५)। पत्तेयसरीर-दव्ववग्गणाणमुवरि धुवसुण्णदव्ववग्गणा णाम । (९२/८३)। धुवसुण्ण-वग्गणाणमुवरि बादरणिगोददव्ववग्गणा णाम । (९३/८४)। बादर-णिगोददव्ववग्गणाणमुवरि धुवसुण्णदव्ववग्गणा णाम । (९४/११२)। धुवसुण्णदव्ववग्गणाणमुवरि सुहुमणिगोददव्ववग्गणा णाम । (९५/११३)। सुहुमणिगोददव्ववग्गणाणमुवरि धुवसुण्णदव्ववग्गणा णाम । (९६/११६)। धुवसुण्णदव्ववग्गणाणमुवरि महाखध दव्ववग्गणा णाम । (९६/११७)।

ध. १४/५,६,६९/४९/४ तत्थ वग्गणपरूवणा किमट्ठं कीरदे। एगपरमाणु-वग्गणप्पहुडि एगपरमाणुत्तरकमेण जाव महाक्खधो त्ति ताव सव्व वग्गणाणमेगसेडिपरूवणट्ठ करीदे। =प्रश्न—यहाँ वर्गणा अनुयोग द्वारकी प्ररूपणा किस लिए की गयी है। (ध.) उत्तर—एक परमाणुरूप वर्गणासे लेकर एक-एक परमाणुकी वृद्धि क्रमसे महास्कन्ध तक सब वर्गणाओकी एक श्रेणी है, इस बातका कथन करनेके लिए की है। (ध.)। अर्थात (ष. ख)— वर्गणाकी प्ररूपणा करनेपर सर्वप्रथम यह एकप्रदेशी परमाणुपुद्गल द्रव्यवर्गणा है ।७६। उसके ऊपर क्रमसे एक-एक प्रदेशकी वृद्धि करते हुए द्विप्रदेशी, त्रिप्रदेशी, सख्यातप्रदेशी, असंख्यातप्रदेशी, परीत व अपरीतप्रदेशी तथा अनन्त व अनन्तानन्तप्रदेशो वर्गणा होती है ।७७-७८। इस अनन्तानन्तप्रदेशी वर्गणाके ऊपर [उसी एक प्रदेश वृद्धिके क्रमसे अपने-अपने जघन्यसे उत्कृष्ट पर्यन्त और पूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणासे उत्तरवर्ती जघन्यवर्गणा पर्यन्त क्रमसे] आहार, अग्रहण, तैजस्, अग्रहण, भाषा, अग्रहण, मनो, अग्रहण, कार्मण, ध्रुवस्कन्ध, सान्तरनिरन्तर, ध्रुवशून्य, प्रत्येकशरीर, ध्रुवशून्य, बादरनिगोद, ध्रुवशून्य, सूक्ष्मनिगोद, ध्रुवशून्य और महास्कन्ध नामवाली वर्गणाएँ होती हैं। (७९-९७)। (इन वर्गणाओका स्वस्थान व परस्थान प्रदेश वृद्धिका क्रम निम्न प्रकार जानना—]

ध. १४/५,६,७९-८०/५९/६—उक्कस्स अणतपदेसियदव्ववग्गणाए उवरि एकरूवे पक्खित्ते जहण्णिया आहारदव्ववग्गणा होदि। तदो रूवुत्तर-कमेण अभवसिद्धिएहि अणतगुण सिद्धाणमणंतभागमेत्तवियप्पे गतूण सम्पप्पदि। जहण्णादो उक्कस्सिया विसेसाहिया। विसेसो पुण अभवसिद्धिएहि अणतगुणो सिद्धाणमणतभागमेत्तो होतो वि आहार-उक्कस्सदव्ववग्गणाए अणंतिमभागो। उक्कस्स आहारदव्ववग्गणाए उवरि एगरूवे पक्खित्ते पढमअगहण दव्ववग्गणाएसव्वजहण्णवग्गणा होदि। तदो रूवुत्तरकमेण अभवसिद्धिएहि अणतगुण-सिद्धाणमणत-भागमेत्तद्धाण गतूण उक्कस्सिया अगहणदव्ववग्गणा होदि। जहण्णादो उक्कस्सिया अणतगुणा। को गुणगारो। अभवसिद्धिएहि अणंतगुणो सिद्धाणमणतभागो।

ध. १४/५,६,९७/गा ९-१४/११७ अणु सखा संखगुणा परित्तवग्गणम-सखलोगगु। गुणगारो पचण्ण अग्गहणाणं अभव्वणतगुणो ।९। आहारतेजभासा मणेण कम्मेण वग्गणाण भवे। उक्कस्स विसेसो अभव्वजोवेहि अधियो दु ।१०। धुवक्खधसांतराणं धुवसुण्णस्स य हवेज्ज गुणगारो। जीवेहि अणतगुणो जहण्णियादो दु उक्कस्से ।११। पल्लासखेज्जदि भागा पत्तेयदेहगुणगारो। सुण्णे अणतलोग थूलणिगोदगुणो वोच्छं ।१२। सेडिअसंखेज्जदिमो भागो सुण्णस्स अंगुलस्सेव। पलिदोवमस्स सुहुमे पदरस्स गुणो दु सुण्णस्स ।१३। एदेसिं गुणगारो जहण्णियादो दु जाण उक्कस्से। साहिअम्हि महखंधे-असंखेज्जदियो दु पल्लस्स ।१४। =उत्कृष्ट अनन्तप्रदेशी द्रव्यवर्गणामें एक अंकके मिलानेपर जघन्य आहार द्रव्यवर्गणा होती है। फिर एक अधिकके क्रमसे अभव्योसे अनन्तगुणे और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण भेदोंके जाननेपर अन्तिम (उत्कृष्ट) आहार द्रव्यवर्गणा होती है। यह जघन्यसे उत्कृष्ट विशेष अधिक है विशेषका प्रमाण अभव्योंसे अनन्तगुणा और सिद्धोंके अनन्तवें भागप्रमाण होता हुआ भी उत्कृष्ट आहार द्रव्यवर्गणाके अनन्तवें भाग प्रमाण है। उत्कृष्ट आहार द्रव्यवर्गणामें एक अक मिलानेपर प्रथम अग्रहण द्रव्यवर्गणा-सम्बन्धी सर्वजघन्यवर्गणा होती है। फिर एक-एक बढाते हुए अभव्योसे अनन्तगुणे और सिद्धोके अनन्तवे भागप्रमाण स्थान जाकर उत्कृष्ट अग्रहण द्रव्यवर्गणा होती है। यह जघन्यसे उत्कृष्ट अनन्त-गुणी होती है। गुणकार अभव्योसे अनन्तगुणा और सिद्धोके अनन्तवें भाग प्रमाण है। [इसी प्रकार पूर्वकी उत्कृष्ट वर्गणामें एक प्रदेश अधिक करनेपर उत्तरवर्ती जघन्य वर्गणा, तथा अपनी ही जघन्यमें क्रमसे एक-एक प्रदेश अधिक करते जानेपर, अनन्तस्थान आगे जाकर उसहीकी उत्कृष्ट वर्गणा प्राप्त होती है। यहाँ अनन्तका प्रमाण सर्वत्र अभव्योका अनन्तगुणा तथा सिद्धोका अनन्तवाँ भाग जानना। प्रत्येक वर्गणाके उत्कृष्ट प्रदेश अपने ही जघन्य प्रदेशोसे कितने अधिक होते हैं, इसका सकेत निम्न प्रकार है]—

सं.	वर्गणाका नाम	जघन्य व उत्कृष्ट वर्गणाओका अल्प बहुत्व	
		कितना अधिक	गुणकार व विशेषका प्रमाण
१	अणुवर्गणा	एक	×
२	सख्याताणुवर्गणा	सख्यातगुणा	सख्यात
३	असख्याताणुवर्गणा	असख्यगुणा	असख्यात
४	अनन्ताणुवर्गणा	अनन्तगुणा	(अभव्य×अनन्त) तथा (सिद्ध/अनन्त)
५	आहारवर्गणा	विशेषाधिक	,,
६	प्र० अग्राह्य	अनन्तगुणा	,,
७	तैजस् वर्गणा	विशेषाधिक	,,
८	द्वि० अग्राह्य	अनन्तगुणा	,,
९	भाषा वर्गणा	विशेषाधिक	,,
१०	तृ० अग्राह्य	अनन्तगुणा	,,
११	मनो व०	विशेषाधिक	,,
१२	चतु० अग्राह्य	अनन्तगुणा	,,
१३	कार्मण वर्गणा	विशेषाधिक	अभव्य×अनन्त, सिद्ध/अनन्त
१४	ध्रुवस्कन्ध व०	अनन्तगुणा	सर्वजो० अनन्त
१५	सान्तरनिरन्तर०	,,	,,
१६	प्र० ध्रुवशून्य	,,	,,
१७	प्रत्येक शरीर०	असख्य गुणा	पल्य – असख्यात
१८	द्वि० ध्रुवशून्य०	अनन्तगुणा	अनन्तलोकप्रदेश
१९	बा० निगोद०	असख्य गुणा	जगश्रेणी – असख्यात
२०	तृ० ध्रुवशून्य०	,,	अगुल – असख्यात
२१	सूक्ष्म निगोद०	,,	पल्य ÷ असख्यात
२२	चतु० ध्रुवशून्य	,,	जगत्प्रतर ÷ असख्यात
२३	महा स्कन्ध	विशेषाधिक	पल्य ÷ असंख्यात

संख्याके भेदसे अलग-अलग है, तो आहार द्रव्यवर्गणा एक ही है, ऐसा किस लिए कहते है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अग्रहण वर्गणाओंके द्वारा अन्तरके अभावकी अपेक्षा इन वर्गणाओके एकत्वका उपदेश दिया गया है। सख्याभेद असिद्ध नहीं है, क्योकि, आगे कहे जानेवाले अल्पबहुत्वसे ही उसकी सिद्धि होती है। भावार्थ—[वास्तवमें जातिकी अपेक्षा यद्यपि तीनो शरीरोंकी वर्गणाएँ भिन्न है, परन्तु एक प्रदेश वृद्धिक्रममें अन्तर पडे बिना इनकी उपलब्धि होनेके कारण इन तीनोको एक आहार वर्गणामें गर्भित कर दिया गया। अथवा यों कहिए कि जिस प्रकार अन्य सर्व वर्गणाओके बीचमें अग्रहण वर्गणा या ध्रुवशून्य वर्गणाका अन्तराल पडता है उस प्रकार इन तीनोमें नहीं पडता, इस कारण इनमें एकत्व है।]

३. आठों कर्मोंकी वर्गणाओंमें कथंचित् भेदाभेद।

ध. १४/५,६,७५८/५५३/६ णाणावरणीयस्स जाणि पाओग्गाणि दव्वाणि ताणि चेव मिच्छत्तादिपच्चएहि पचणाणावरणीयसरूवेण परिणमति ण अण्णेसिं सरूवेण। कुदो। अप्पाओग्गत्तादो। एवं सव्वेसिं कम्माणं वत्तव्वं। जदि एव तो कम्मइयवग्गणाओ अट्ठे त्ति किण्ण परूविदाओ। ण अतराभावेण तथोवदेसाभावादो। एदाओ अट्ठ वि वग्गणाओ किं पुध-पुध अच्छति आहो करंबियाओ त्ति। पुध-पुध ण अच्छति किंतु करबियाओ। कुदो एद णव्वदे। 'आउभागो थोवो णाण-गोदे समो तदो अहिओ' एदीए गाहाए णव्वदे। सेस जाणिदूण वत्तव्व।=ज्ञानावरणीयके योग्य जो द्रव्य है वे ही मिथ्यात्व आदि प्रत्ययोंके कारण पाँच ज्ञानावरणीय रूपसे परिणमन करते है, अन्य रूपसे वे परिणमन नहीं करते, क्योकि, वे अन्यके अयोग्य होते है। इसी प्रकार सब कर्मोंके विषयमें कहना चाहिए। प्रश्न—यदि ऐसा है तो कार्मणवर्गणाएँ आठ हे, ऐसा कथन क्यो नही किया [उसे एक कार्मण वर्गणाके नाममे क्यो कहा गया]। उत्तर—नहीं, क्योकि, अन्तरका अभाव होनेमे उम प्रकारका उपदेश नही पाया जाता (विशेष देखो ऊपरवाला उपशीर्षक)। प्रश्न—ये आठ ही वर्गणाएँ क्या पृथक्-पृथक् रहती है या मिश्रित होकर रहती है ? उत्तर—पृथक्-पृथक् नही रहती है, किन्तु मिश्रित होकर ही रहती है। प्रश्न—यह किस प्रमाणसे जाता है ? उत्तर—(एक समय प्रबद्ध कार्मण द्रव्यमें) आयु कर्मका भाग स्तोक है। नामकर्म और गोत्रकर्मका भाग उसमे अधिक है। इस गाथासे जाना जाता है। शेपका कथन जानकर करना चाहिए।

ध. १५/८/३१/१ ण च एयादो अणेयाण कम्माण वुत्पत्ती विरुद्धा कम्मइमवग्गणाए अणताणतसखाए अट्ठकम्मपाओग्गभावेण अट्ठविहत्तमावण्णाए एयत्तविरोहादो। णत्थि एत्थ एयतो, एयादो घडादो अणेयाणं खप्पराणमुप्पत्तिदसणादो। वुत्त च–'कम्म ण होदि एय अणेयविहमेय बधसमकाले। मूलुत्तरपयडीण परिणामवसेण जीवाण।१७। जीव परिणामाण भेदेण परिणामिज्जमाणकम्मइयवग्गणाण भेदेण च कम्माण बधसमकाले चेव अणेयविहत्तं होदि त्ति घेत्तव्वं।=एकसे अनेक कर्मोंकी उत्पत्ति विरुद्ध है, ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योकि, आठ कर्मोंकी योग्यतानुसार आठ भेदको प्राप्त हुई अनन्तानन्त सख्यारूप कार्मण वर्गणाको एक माननेका विरोध है। दूसरे, एकसे अनेक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, ऐसा एकान्त भी नहीं है, क्योकि, एक घटसे अनेक खप्परोकी उत्पत्ति देखी जाती है। कहा भी हे—'कर्म एक नही है, वह जीवोके परिणामानुसार मूल व उत्तर प्रकृतियोके बन्धके समान कालमें ही अनेक प्रकारका हे।१७।' जीवपरिणामोंके भेदसे और परिणायी जानेवाली कार्मण वर्गणाओंके भेदसे बन्धके समकालमे ही कर्म अनेक प्रकारका होता है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए।

४. प्रत्येक शरीर वर्गणा अपनेसे पहले या पीछेवाली वर्गणाओंसे उत्पन्न नहीं होती

ध. १४/५,६,११०/१२८/३ परमाणुवग्गणमादिं कादूण जाव सातरणिरंतरउक्कस्सवग्गणे त्ति ताव एदासिं वग्गणाण समुदयसमागमेण पत्तेयसरीरवग्गणा ण समुप्पज्जदि। कुदो। उक्कस्ससातरणिरतरवग्गणाणसरूवं मोत्तूण रूवाहियादिउवरिमवग्गणसरूवेण परिणमणसत्तीए अभावादो। ⋯ पत्तेयसरीर समागमेण विणा हेट्ठिमवग्गणाणं चेव समुदयसमागमेण समुप्पज्जमाणपत्तेयसरीरवग्गणाणुवलभादो। किंच जोगवसेण एगवंधणबद्धओरालिय-तेजाकम्मइयपरमाणुपोग्गलक्खधा अणंताणतविस्सासुवचएहि उपचिदा। ण ते सव्वे सांतरणिरतरादिहेट्ठिमवग्गणासु कत्थ वि सरिसधणिया होति, पत्तेयवग्गणाए असखेज्जदिभागत्तादो। ⋯ उवरिल्लीण दव्वाण भेदेण विणा पत्तेयसरीरवग्गणा उप्पज्जदि, बादर-सुहुमणिगोदवग्गणाणमोरालिय-तेजा-कम्मइयवग्गणक्खधेसु अधट्ठिदिगलणाए गलिदेसु पत्तेयसरीरवग्गण वोलेदूण हेट्ठा सातरणिरतरादिवग्गणसरूवेण सरिसधणियभावेण अवट्ठाणुवलभादो। उवरिमवग्गणादो आगदपरमाणु-पोग्गलेहि चेव पत्तेयसरीरवग्गणाणिप्पत्तीए अभावादो। उवरिल्लीणं वग्गणाणं भेदो णाम विणासो। ण च बादरसुहुमणिगोदवग्गणाण मज्झे एग्गा वग्गणा णट्ठा सती पत्तेयसरीरवग्गणासरूवेण परिणमदि; पत्तेयवग्गणाए आणत्तियप्पसंगादो।=१. परमाणु वर्गणासे लेकर सान्तरनिरन्तर उत्कृष्ट वर्गणासे तक इन (१५) वर्गणाओके समुदय समागममे प्रत्येक शरीर वर्गणा (१६वी वर्गणा) नही उत्पन्न होती है, क्योकि उत्कृष्ट सान्तरनिरन्तर वर्गणाओका अपने स्वरूपको छोडकर एक अधिक आदि उपरिम वर्गणारूपमे परिणमन करनेकी शक्तिका अभाव है। ⋅ प्रत्येकशरीर वर्गणाके समागमके बिना केवल नीचेकी (१ से १५ तककी) वर्गणाओके समुदय समागमसे उत्पन्न होनेवाली प्रत्येकशरीरवर्गणाएँ नहीं उपलब्ध होती। दूसरे योगके वशमे एक बन्धनबद्ध औदारिक तैजस और कार्मण परमाणुपुद्गलस्कन्ध अनन्तानन्त विससोपचयोंसे उपचित होते हैं। परन्तु वे सब सान्तरनिरन्तर आदि नीचेकी वर्गणाओमें कहीं भी सदृशधनवाले नहीं होते, क्योकि वे प्रत्येक वर्गणाके असंख्यातवे भागप्रमाण होते है। २ ऊपरके द्रव्योंके भेदके बिना प्रत्येक शरीरवर्गणा उत्पन्न होती है, क्योंकि बादरनिगोदवर्गणा और सूक्ष्मनिगोदवर्गणा (१६वीं व २१वीं वर्गणाएँ) के औदारिक, तेजस और कार्मणवर्गणास्कन्धोके अधःस्थिति गलनाके द्वारा गलित होनेपर प्रत्येक शरीर वर्गणाको उल्लघन कर उनका नीचे सदृशधनरूप सान्तरनिरन्तर आदि वर्गणारूपसे अवस्थान उपलब्ध होता है। उपरिम वर्गणासे आये हुए परमाणुपुद्गलोंसे ही प्रत्येक शरीर वर्गणाकी निष्पत्तिका अभाव है। =प्रश्न—ऊपरके द्रव्योंके भेदसे प्रत्येक शरीरद्रव्य वर्गणाकी उत्पत्ति क्यों नहीं कहते ? उत्तर—नही, क्योंकि, ऊपरकी वर्गणाओके भेदका नाम ही विनाश है और बादरनिगोदवर्गणा तथा सूक्ष्मनिगोदवर्गणामें-से एक वर्गणा नष्ट होती हुई प्रत्येक शरीर वर्गणारूपसे नही परिणमती, क्योकि, ऐसा होनेपर प्रत्येक शरीर वर्गणाएँ अनन्त हो जायेंगी।

८. ऊपर व नीचेकी वर्गणाओंमें परस्पर संक्रमणकी सम्भावना व समन्वय

दे वर्गणा/२/३ [एक प्रदेशी वर्गणा अपनेसे ऊपरवाली वर्गणाओके भेद द्वारा उत्पन्न होती है और सख्यातप्रदेशीको आदि लेकर सान्तरनिरन्तर पर्यन्त सर्व वर्गणाएँ ऊपरवालीके भेदसे नीचेवालीके सघातसे तथा स्वस्थानमें भेद व सघात दोनोंसे उत्पन्न होती हे। इससे ऊपर ध्रुवशून्यसे महास्कन्ध पर्यन्त केवल स्वस्थानमें भेदसघात द्वारा ही उत्पन्न होती है।]

वर्गशलाका—Logarithum of logarithum (ध. ५/प्र २८), (विशेष दे० गणित/II/२)।

वर्गसमीकरण—quadratic equation—(ध. ५/प्र. २८)

वर्गित संवर्गित—Raising a number to its own power (संख्यात तुल्य घात), (ध ५/प्र /२८), (विशेष दे० गणित/ II/१/६)।

वर्चस्क—चतुर्थ नरकका चतुर्थ पटल—दे० नरक/५।

वर्ण—

१. वर्णका अनेकों अर्थोंमें प्रयोग

स. सि /२/२०/१७८/१ वर्ण्यत इति वर्ण । वर्णन वर्ण ।=जो देखा जाता है वह वर्ण है, अथवा वर्णन वर्ण है। (रा. वा /२/२०/१/ १३२/३२)।

स. सि /५/२३/२६४/१ वर्ण्यते वर्णनमात्र वा वर्ण ।=जिसका कोई वर्ण है या वर्णमात्रको वर्ण कहते है।

ध. १/१,१,३३/५४६/१ अय वर्णशब्द कर्मसाधन'। यथा यदा द्रव्यं प्राधान्येन विवक्षितं तदेन्द्रियेण द्रव्यमेव सनिकर्ष्यते, न ततो व्यतिरिक्ता' स्पर्शादय सन्तीत्येतस्या विवक्षाया कर्मसाधनत्वं स्पर्शादीनामवसीयते, वर्ण्यत इति वर्ण'। यदा तु पर्याय' प्राधान्येन विवक्षितस्तदा भेदोपपत्तेरौदासीन्यावस्थितभावकथनाद्भावसाधनत्वं स्पर्शादीना युज्यते वर्णन वर्ण'।=यह वर्ण शब्द कर्मसाधन है। जेसे जिस समय प्रधानरूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, उस समय इन्द्रियसे द्रव्यका ही ग्रहण होता है, क्योंकि, उससे भिन्न स्पर्श (वर्णादि) पर्यायें नहीं पायी जाती है। इसलिए इस विवक्षामें स्पर्शादिके कर्म साधन जाना जाता है। उस समय जो देखा जाये उसे वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति करना चाहिए। तथा जिस समय पर्याय प्रधान रूपसे विवक्षित होती है, उस समय द्रव्यसे पर्यायका भेद बन जाता है, इसलिए उदासीन रूपसे अवस्थित जो भाव है, उसीका कथन किया जाता है। अतएव स्पर्शादिके भाव साधन भी बन जाता है। उस समय देखनेरूप धर्मको वर्ण कहते हैं, ऐसी निरुक्ति होती है।

भ. आ./वि /४७/१६०/१ वर्णशब्द' क्वचिद्रूपवाची शुक्लवर्णमानय शुक्लरूपमिति। अक्षरवाची क्वचिद्यथा सिद्धो वर्णसमाम्नाय' इति। क्वचित् ब्राह्मणादौ यथात्रैव वर्णानामधिकार इति। क्वचिद्यशसि—वर्णार्थी ददाति।=वर्ण शब्दके अनेक अर्थ है। वर्ण—शुक्लादिक वर्ण, जेसे सफेद रंगको लाओ। वर्ण शब्दका अर्थ अक्षर ऐसा भी होता है, जेसे वर्णोंका समुदाय अनादि कालसे है। वर्ण शब्दका अर्थ ब्राह्मण आदिक ऐसा भी है। यथा—इस कार्यमें ही ब्राह्मणादिक वर्णोंका अधिकार है। यहाँपर वर्ण शब्दका अर्थ यश ऐसा माना जाता है। जैसे—यशकी कामनासे देता है।

दे निक्षेप/५/६ (चिन्तित मनुष्य तुरग आदि आकार वर्ण कहे जाते है।)

२. वर्ण नामकर्मका लक्षण

स. सि /८/११/३९०/११ यद्धेतुको वर्णविभागस्तद्वर्णनाम।=जिसके निमित्तसे वर्णमें विभाग होता है, वह वर्ण नामकर्म है। (रा.वा./८/ ११/१०/५७७/१७), (गो. क /जी. प्र /३३/२९/१३)।

ध. ६/१,९-१,२८/५५/१ जस्स कम्मस्स उदएण जीवसरीरे वण्णणिप्फत्ती होदि, तस्स कम्मक्खधस्स वण्णसण्णा। एदस्स कम्मस्साभावे अणियदवण्ण सरीर होज्ज। ण च एव, भमर-कलयठी-हस-बलायादिसु सुणियदवण्णुवलभा।=जिस कर्मके उदयसे जीवके शरीरमें वर्णकी उत्पत्ति होती है, उस कर्मस्कन्धकी 'वर्ण' यह संज्ञा है। इस कर्मके अभावमें अनियत वर्णवाला शरीर हो जायगा। किन्तु, ऐसा देखा नहीं जाता। क्योंकि, भौरा, कोयल, हंस और बगुला आदिमें सुनिश्चित वर्ण पाये जाते है। (ध १३/५,५,१०१/३६४/६)।

३. वर्ण व वर्ण नामकर्मके भेद

प ख. ६/१,९-१/सूत्र ३७/७४ ज त वण्णणामकम्म त पचविहं, किण्हवण्णणाम णीलवण्णणाम रुहिरवण्णणाम हालिद्दवण्णणाम सुक्किलवण्णणामं चेदि।३७।=जो वर्ण नामकर्म है, वह पाँच प्रकारका है—कृष्णवर्ण नामकर्म, नीलवर्ण नामकर्म, रुधिरवर्ण नामकर्म, हारिद्रवर्ण नामकर्म और शुक्लवर्ण नामकर्म।' (प.ख /१३/५/सूत्र ११०/३७०), (पं. सं /प्रा /४/४७/३०); (स. सि./८/११/३९०/१२), (रा वा./८/ ११/१०/५७७/१८); (गो क./जी प्र./३३/२९/१,३३/२९/१३)।

स सि /५/२३/२९४/२ स पञ्चविध'; कृष्णनीलपीतशुक्ललोहितभेदात्।=काला, नीला, पीला, सफेद और लालके भेदसे वर्ण पाँच प्रकारका है। (रा. वा./५/२३/१०/४८५/३), (प. प्रा. टी./१/२१/२६/१); द्र स./टी./७/१९/६), (गो. जी /जी. प्र /४७९/८८५/१५)।

४. नामकर्मोंके वर्णादि सकारण हैं या निष्कारण

ध ६/१,९-१,२८/५७/४ वण्ण-गंध-रस-फासकम्माण वण्ण गध-रस-पासा सकारणा णिक्कारणा वा। पढमपक्खे अणवत्था। बिदियपक्खे सेसणोकम्म-गध-रस-फासा वि णिक्कारणा होतु, विसेसाभावा। एत्थ परिहारो उच्चदे—ण पढमे पक्खे उत्तदोसो, अणब्भुवगमादो। ण बिदियपक्खदोसो वि, कालदव्वं व दुस्सहावत्तादो एदेसिमुभयत्थ वावारविरोहाभावा।=प्रश्न—वर्ण, गन्ध, रस, और स्पर्श नामकर्मोंके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श सकारण होते हैं, या निष्कारण। प्रथम पक्षमें अनवस्था दोष आता है। (क्योंकि जिस अन्य कर्मके कारण ये कर्म वर्णादिमान होंगे, वह स्वय किसी अन्य ही कर्मके निमित्तसे वर्णादिमान होगा)। द्वितीय पक्षके माननेपर शेष नोकर्मोंके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी निष्कारण होने चाहिए (अर्थात् उन्हें वर्णादिमान करनेके लिए वर्णादि नामकर्मोका निमित्त मानना व्यर्थ है), क्योंकि, दोनोमें कोई भेद नहीं है। उत्तर—यहाँपर उक्त शकाका परिहार कहते हैं—प्रथम पक्षमें कहा गया अनवस्थादोष तो प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि, वैसा माना नहीं गया है। (अर्थात् वर्णादि नाम कर्मोको वर्णादिमान करनेके लिए अन्य वर्णादि कर्म माने नहीं गये है।) न द्वितीय पक्षमें दिया गया दोष भी प्राप्त होता है, क्योंकि, कालद्रव्यके समान द्विस्वभावी होनेसे इन वर्णादिकके उभयत्र व्यापार करनेमें कोई विरोध नहीं है। (अर्थात् जिस प्रकार काल द्रव्य स्वय परिणमन स्वभावी होता हुआ अन्य द्रव्योंके भी परिणमनमें कारण होता है उसी प्रकार वर्णादि नाम कर्म स्वय वर्णादिमान होते हुए ही नोकर्मभूत शरीरोके वर्णादिमें कारण होते है।)।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. शरीरोंके वर्ण	—दे० लेश्या।
२. वायु आदिकमें वर्ण गुणकी सिद्धि	—दे० पुद्गल/२।
३ वर्णनामकर्मके बन्ध उदय सत्त्व	—दे० वह वह नाम।

वर्णलाभ क्रिया—दे० संस्कार/२।

वर्ण व्यवस्था—गोत्रकर्मके उदयसे जीवोका ऊँच तथा नीच कुलोमें जन्म होता है, अथवा उनमें ऊँच व नीच संस्कारोको प्रतीति होती है। उस ही के कारण ब्राह्मण क्षत्रिय आदि चार प्रकार वर्णोकी व्यवस्था होती है। इस वर्णव्यवस्थामें जन्मकी अपेक्षा गुणकर्म अधिक प्रधान माने गये है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीन ही वर्ण उच्च होने कारण जिन दीक्षाके योग्य है। शूद्रवर्ण नीच

से निन्द्य अर्थात् दरिद्र अप्रसिद्ध और दु:खाकुल कुलोंमें जन्म हो वह नीचगोत्र है। जिससे आत्मा नीच व्यवहारमें आवे वह नीच-गोत्र है।

ध. ६/१,९-१,४५/७७/१० जस्स कम्मस्स उदएण उच्चागोदं होदि तमुच्चागोदं। गोत्रं कुलं वंशः सतानमित्येकोऽर्थ । जस्स कम्मस्स उदएण जीवाणं णीचगोदं होदि तं णीचगोदं णाम। =गोत्र, कुल, वंश, सन्तान ये सब एकार्थवाचक नाम है। जिस कर्मके उदयसे जीवोंके उच्चगोत्र कुल या वंश होता है वह उच्चगोत्र कर्म है और जिस कर्मके उदयसे जीवोंके नीचगोत्र, कुल या वंश होता है वह नीचगोत्रकर्म है।

दे० अगला शीर्षक—(साधु आचारकी योग्यता उच्चगोत्रका चिह्न है तथा उसकी अयोग्यता नीचगोत्रका चिह्न है।)

४. गोत्रकर्मके अस्तित्व सम्बन्धी शंका

ध. १३/५,५,१३५/३८८/३ उच्चैर्गोत्रस्य क्व व्यापार । न तावद् राज्यादिलक्षणायां सपदि, तस्या सद्वेद्यत समुत्पत्ते:। नापि पञ्च-महाव्रतग्रहणयोग्यता उच्चैर्गोत्रेण क्रियते, देवेष्वभव्येषु च तद्ग्रहण प्रत्यययोग्येषु उच्चैर्गोत्रस्य उदयाभावप्रसगात। न सम्यग्ज्ञानोत्पत्तौ व्यापार:, ज्ञानावरणक्षयोपशमसहायसम्यग्दर्शनतस्तदुत्पत्ते:। तिर्यग्-नारकेष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदय: स्यात, तत्र सम्यग्ज्ञानस्य सत्त्वात्। नादेयत्वे यशसि सौभाग्ये वा व्यापार:, तेषा नामत समुत्पत्ते:। नेक्ष्वाकुकुलाद्युत्पत्तौ, काल्पनिकानां तेषां परमार्थतोऽसत्त्वात् विड्ब्राह्मणसाधुष्वपि उच्चैर्गोत्रस्योदयदर्शनात्। न संपन्नेभ्यो जीवोत्पत्तौ तद्व्यापार म्लेच्छराजसमुत्पन्नपृथुकस्यापि उच्चैर्गोत्रोदयप्रसगात्। नाणुव्रतिभ्य समुत्पत्तौ तद्व्यापार, देवेष्वौपपादिकेषु उच्चैर्गोत्रोदयस्यासत्त्वप्रसगात् नाभेयस्य नीचैर्गोत्रतापत्तेश्च। ततो निष्फलमुच्चैर्गोत्रम्। तत एव न तस्य कर्मत्वमपि। तदभावे न नीचैर्गोत्रमपि, द्वयोरन्योन्याविनाभावित्वात् । ततो गोत्रकर्माभाव इति। न जिनवचनस्यासत्त्वविरोधात्। तद्विरोधोऽपि तत्र तत्कारणाभावतोऽवगम्यते । न च केवलज्ञानविषयीकृतेष्वर्थेषु सकलेष्वपि रजोजुषां ज्ञानानि प्रवर्तन्ते येनानुपलम्भाज्जिनवचनस्याप्रमाणत्वमुच्यते। न च निष्फलं गोत्रम्, दीक्षायोग्यसाध्वाचाराणां साध्वाचारै कृतसंबन्धानां आर्यप्रत्ययाभिधान-व्यवहार-निबन्धनानां पुरुषाणां सतान उच्चैर्गोत्रं तत्रोत्पत्तिहेतुकर्माप्युच्चैर्गोत्रम्। न चात्र पूर्वोक्तदोषा संभवन्ति, विरोधात्। तद्विपरीतं नीचैर्गोत्रम्। एवं गोत्रस्य द्वे एव प्रकृती भवतः। =प्रश्न—उच्चगोत्रका व्यापार कहाँ होता है। राज्यादि रूप सम्पदाकी प्राप्तिमें तो उसका व्यापार होता नही है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति सातावेदनीयकर्मके निमित्तसे होती है। पाँच महाव्रतोंके ग्रहण करनेकी योग्यता भी उच्चगोत्रके द्वारा नहीं की जाती है, क्योंकि, ऐसा माननेपर जो सब देव और अभव्य जीव पाँच महाव्रतोंको धारण नहीं कर सकते हैं, उनमें उच्चगोत्रके उदयका अभाव प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञानकी उत्पत्तिमें उसका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, उसकी उत्पत्ति ज्ञानावरणके क्षयोपशमसे सहकृत सम्यग्दर्शनसे होती है। तथा ऐसा माननेपर तिर्यंचों और नारकियोंके भी उच्चगोत्रका उदय मानना पड़ेगा, क्योंकि, उनके सम्यग्ज्ञान होता है। आदेयता, यश और सौभाग्यकी प्राप्तिमें इसका व्यापार होता है; यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, इनकी उत्पत्ति नामकर्मके निमित्तसे होती है। इक्ष्वाकु कुल आदिकी उत्पत्तिमें भी इसका व्यापार नहीं होता, क्योंकि वे काल्पनिक हैं, अत परमार्थसे उनका अस्तित्व ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वैश्य और ब्राह्मण साधुओंमें उच्चगोत्रका उदय देखा जाता है। सम्पन्न जनोंसे जीवोंकी उत्पत्तिमें उच्चगोत्रका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि, इस तरह तो म्लेच्छराजसे उत्पन्न हुए बालकके भी उच्चगोत्रका उदय प्राप्त होता है। अणुव्रतियोंसे जीवोंकी उत्पत्तिमें उच्चगोत्रका व्यापार होता है, यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेपर औपपादिक देवोंमें उच्चगोत्रके उदयका अभाव प्राप्त होता है, तथा नाभिपुत्र नीचगोत्री ठहरते हैं। इसलिए उच्चगोत्र निष्फल है, और इसलिए उसमें कर्मपना भी घटित नहीं होता। उसका अभाव होनेपर नीचगोत्र भी नहीं रहता, क्योंकि, वे दोनों एक-दूसरेके अविनाभावी है। इसलिए गोत्रकर्म है ही नहीं? उत्तर—नहीं, क्योंकि, जिनवचनके असत्य होनेमें विरोध आता है। वह विरोध भी वहाँ उसके कारणोंके नहीं होनेसे जाना जाता है। दूसरे केवलज्ञानके द्वारा विषय किये गये सभी अर्थोंमें छद्मस्थोंके ज्ञान प्रवृत्त भी नहीं होते हैं। इसीलिए छद्मस्थोंको कोई अर्थ यदि नही उपलब्ध होते हैं, तो इससे जिनवचनको अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। तथा गोत्रकर्म निष्फल है, यह बात भी नहीं है, क्योंकि, जिनका दीक्षायोग्य साधु आचार है साधु आचारवालोंके साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है (ऐसे म्लेच्छ), तथा जो 'आर्य' (भोगभूमिज) इस प्रकारके ज्ञान और वचन व्यवहारके निमित्त है, उन पुरुषोंकी परम्पराको उच्चगोत्र कहा जाता है। तथा उनमें उत्पत्तिका कारणभूत कर्म भी उच्चगोत्र है। यहाँ पूर्वोक्त दोष सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि, उनके होनेमें विरोध है। उससे विपरीत कर्म नीचगोत्र है। इस प्रकार गोत्रकर्मकी दो ही प्रकृतियाँ होती है।

दे० वर्ण व्यवस्था/३/१/म. पु /७४/४९१-४९५—(ब्राह्मणादि उच्चकुल व शूद्रोंमें शरीरके वर्ण व आकृतिका कोई भेद नहीं है, न ही कोई जातिभेद है। जो शुक्लध्यानके कारण है वे त्रिवर्ण कहलाते है और शेष शूद्र कहे जाते है।)

ध. १५/१५२/७ उच्चागोदे देस-सयलसजमणिबधणे सते मिच्छाइट्ठीसु तदभावो त्ति णासकणिज्ज, तत्थ, वि उच्चागोदजणिदसजमजोगत्तावेक्खाए उच्चागोदत्त पडि विरोहाभावादो । =प्रश्न—यदि उच्चगोत्रके कारण देशसंयम और सकलसंयम है तो फिर मिथ्यादृष्टियोंमें उसका अभाव होना चाहिए? उत्तर—ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है, क्योंकि, उनमें भी उच्चगोत्रके निमित्तसे उत्पन्न हुई सयम ग्रहणकी योग्यताकी अपेक्षा उच्चगोत्रके होनेमें कोई विरोध नहीं है।

५. उच्चगोत्र व तीर्थंकर प्रकृतिमें अन्तर

रा. वा /८/११/४२/५८०/७ स्यान्मत—तदेव उच्चैर्गोत्रं तीर्थकरत्वस्यापि निमित्त भवतु किं तीर्थकरत्वनाम्नेति। तन्न, किं कारणम्। तीर्थप्रवर्तनफलत्वात्। तीर्थप्रवर्तनफलं हि तीर्थकरनामेष्यते नोच्चैर्गोत्रोदयात् तदवाप्यते चक्रधरादीनां तदभावात्। =प्रश्न—उच्चगोत्र ही तीर्थकरत्वका भी निमित्त हो जाओ। पृथक्से तीर्थकत्व नामकर्म माननेकी क्या आवश्यकता। उत्तर—तीर्थकी प्रवृत्ति करना तीर्थंकर प्रकृतिका फल है। यह उच्चगोत्रसे नहीं हो सकता; क्योंकि उच्चगोत्री चक्रवर्ती आदिके वह नहीं पाया जाता। अत इसका पृथक् निर्देश किया है।

६. उच्च नीच गोत्रके बन्धयोग्य परिणाम

भ आ /मू /१३७५/१३२२ तथा १३८९ कुलरूवाणाबलसुदलाभिस्सरियत्थमदितवादीहिं। अप्पाणमुण्णमेंतो नीचागोदं कुणदि कम्म।१३७५। माया करेदि णीचगोदं··।१३८९। =कुल, रूप, आज्ञा, शरीरबल, शास्त्रज्ञान, लाभ, ऐश्वर्य, तप और अन्यपदार्थोंसे अपनेको ऊँचा समझनेवाला मनुष्य नीचगोत्रका बन्ध कर लेता है।१३७५। मायासे नीचगोत्रकी प्राप्ति होती है।१३८९।

त. सू /६/२५-२६ परात्मनिन्दाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च नीचैर्गोत्रस्य।२५। तद्विपर्ययो नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकौ चोत्तरस्य।२६।

बादरतेउवाउक्काइयपज्जत्तएसु जादजहण्णाणुभागेण सह अण्णत्थ उप्पत्तीए अभावादो। जदि अण्णत्थ उप्पज्जदि तो णियमा अणंतगुणवड्ढीए वड्ढिदो चेव उप्पज्जदि ण अण्णहा। =सर्वोत्कृष्ट विशुद्धिके द्वारा हतसमुत्पत्ति को करके उत्पन्न कराये गये जघन्य अनुभागकी अपेक्षा सर्वविशुद्ध सूक्ष्मसाम्परायिक संयतके द्वारा बाँधा गया उच्चगोत्रका उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा पाया जाता है। प्रश्न—गोत्रके जघन्य अनुभागमें भी उच्चगोत्रका जघन्य अनुभाग होता है? उत्तर—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जिन्होंने पल्योपमके असंख्यातवें भागमात्र कालके द्वारा उच्चगोत्रका उद्वेलन किया है व जिन्होंने अतिशय विशुद्धिके द्वारा नीचगोत्रका घात कर लिया है उन बादर तेजस्कायिक जीवोंमें गोत्रका जघन्य अनुभाग स्वीकार किया गया है। अतएव गोत्रके जघन्य अनुभागमें उच्चगोत्रका अनुभाग सम्भव नहीं है। प्रश्न—जिन्होंने उत्कृष्ट विशुद्धिके द्वारा नीचगोत्रके अनुभागका घात कर लिया है, उन बादर तेजस्कायिक व वायुकायिक जीवोंमें गोत्रके अनुभागको जघन्य करके उस जघन्य अनुभागके साथ ऋजुगतिके द्वारा सूक्ष्म निगोद जीवोंमें उत्पन्न होकर त्रिसमयवर्ती आहारक और तद्भवस्थ होनेके तृतीय समयमें वर्तमान उसके क्षेत्रके साथ भाव जघन्य क्यों नहीं होता? उत्तर—नहीं, क्योंकि, बादर तेजकायिक व वायुकायिक पर्याप्त जीवोंमें उत्पन्न जघन्य अनुभागके साथ अन्य जीवोंमें उत्पन्न होना सम्भव नहीं है। यदि वह अन्य जीवोंमें उत्पन्न होता है तो नियमसे वह अनन्तगुणवृद्धिसे वृद्धिको प्राप्त होकर ही उत्पन्न होता है, अन्य प्रकारसे नहीं।

१०. दोनों गोत्रोंका जघन्य व उत्कृष्ट काल

ध. १५/६७/८ णीचगोदस्स जहण्णेण एगसमओ, उच्चागोदादो णीचागोदं गंतूण तत्थ एगसमयमच्छिय विदियसमए उच्चागोदो उदयमागदे एगसमओ लब्भदे। उक्कस्सेण असंखेज्जापरियट्टा। उच्चागोदस्स जहण्णेण एगसमओ, उत्तरसरीरं विउव्विय एगसमएण मुदस्स तदुवलंभादो। एवं णीचागोदस्स वि। उक्कस्सेण सागरोवमसदपुधत्तं। =नीचगोत्रका उदीरणाकाल जघन्यसे एक समयमात्र है, क्योंकि, उच्चगोत्रसे नीचगोत्रको प्राप्त होकर और वहाँ एक समय रहकर द्वितीय समयमें उच्चगोत्रका उदय होनेपर एक समय उदीरणाकाल पाया जाता है। उत्कर्षसे वह असंख्यात पुद्गलपरिवर्तन प्रमाण है। (तिर्यंच गतिमें उत्कृष्टरूप इतने काल तक रह सकता है)। उच्चगोत्रका उदीरणाकाल जघन्यसे एक समयमात्र है, क्योंकि, उत्तर शरीरकी विक्रिया करके एक समयमें मृत्युको प्राप्त हुए जीवके उक्त काल पाया जाता है। (उच्चगोत्री शरीरवाला तो नीचगोत्रीके शरीरकी विक्रिया करके तथा नीचगोत्री उच्चगोत्रीके शरीरकी विक्रिया करके एक समय पश्चात् मृत्युको प्राप्त होवे) नीचगोत्रका भी जघन्यकाल इसी प्रकारसे घटित किया जा सकता है। उच्चगोत्रका उत्कृष्टकाल सागरोपम शतपृथक्त्व प्रमाण है। (देवों व मनुष्योंमें भ्रमण करता रहे तो) — (और भी दे० वर्णव्यवस्था/१/३)।

२. वर्णव्यवस्था निर्देश

१. वर्णव्यवस्थाकी स्थापनाका इतिहास

ति.प./४/१६१८ चक्कधराउ दिजाणं हवेदि वंसस्स उप्पत्ती।१६१८। =हुंडावसर्पिणीकालमें चक्रवर्तीसे की गयी द्विजोंके वर्णकी उत्पत्ति भी होती है।

प.पु./४/९१-१२२ का भावार्थ—भगवान् ऋषभदेवका समवशरण आया जान भरत चक्रवर्तीने संघके मुनियोंके उद्देश्यसे उत्तम उत्तम भोजन बनवाये और नौकरोंके सिरपर रखवाकर भगवान्‌के पास पहुँचा। परन्तु भगवान्‌ने उद्दिष्ट होनेके कारण उस भोजनको स्वीकार न किया।९१-९७। तब भरतने अन्य भी आवश्यक सामग्रीके साथ उस भोजनको दान देनेके द्वारा व्रती श्रावकोंका सम्मान करनेके अर्थ उन्हें अपने यहाँ निमन्त्रित किया।९८-१०३। क्योंकि आनेवालोंमें सम्यग्दृष्टि व मिथ्यादृष्टि सभी थे इसलिए भरत चक्रवर्तीने अपने भवनके आँगनमें जौ, धान, मूँग, उडद आदिके अंकुर बोकर उन सबकी परीक्षा की और सम्यग्दृष्टि पुरुषोंकी छाँट कर ली।१०४-११०। भरतका सम्मान पाकर उन्हें अभिमान जागृत हो गया और अपनेको महान् समझकर समस्त पृथिवी तलपर याचना करते हुए विचरण करने लगे।१११-११४। अपने मन्त्रीके मुखसे उनके आगामी भ्रष्टाचारकी सम्भावना सुन चक्रवर्ती उन्हें मारनेके लिए उद्यत हुआ, परन्तु वे सब भगवान् ऋषभदेवकी शरणमें जाकर प्रार्थना करने लगे। और भगवान्‌ने भरतको उनका वध करनेसे रोक दिया।११५-१२२।

ह.पु./९/३३-३९ का भावार्थ—कल्पवृक्षोंके लोपके कारण भगवान् ऋषभदेवने प्रजाको असि मसि आदि षट्कर्मोंका उपदेश दिया।३३-३६। उसे सीखकर शिल्पीजनोंने नगर ग्राम आदिकी रचना की।३७-३८। उसी समय क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र ये तीन वर्ण भी उत्पन्न हुए। विनाशसे जीवोंकी रक्षा करनेके कारण क्षत्रिय, वाणिज्य व्यापारके योगसे वैश्य और शिल्प आदिके सम्बन्धसे शूद्र कहलाये।३९। (म.पु./१६/१७९-१८३)।

म.पु./१६/१८४-१८७ का भावार्थ—उनमें भी शूद्र दो प्रकारके हो गये—कारु और अकारु (विशेष दे० वर्णव्यवस्था/४)। ये सभी वर्णोंके लोग अपनी-अपनी निश्चित आजीविकाको छोडकर अन्य वर्णकी आजीविका नहीं करते थे।१८४-१८७।

म.पु./३८/५-५० का भावार्थ—दिग्विजय करनेके पश्चात् भरत चक्रवर्तीको परोपकारमें अपना धन लगानेकी बुद्धि उपजी।५। तब महामह यज्ञका अनुष्ठान किया।६। सद्व्रती गृहस्थोंकी परीक्षा करनेके लिए समस्त राजाओंको अपने-अपने परिवार व परिकर सहित उस उत्सवमें निमन्त्रित किया।७-१०। उनके विवेककी परीक्षाके अर्थ अपने घरके आँगनमें अंकुर फल व पुष्प भरवा दिये।११। जो लोग बिना सोचे समझे उन अंकुरोंको कुचलते हुए राजमन्दिरमें घुस आये उनको पृथक् कर दिया गया।१२। परन्तु जो लोग अंकुरों आदिपर पाँव रखनेके भयसे अपने घरोंको वापस लौटने लगे, उनको दूसरे मार्गसे आँगनमें प्रवेश कराके चक्रवर्तीने बहुत सम्मानित किया।१३-२०। उनको उन-उनके व्रतों व प्रतिमाओंके अनुसार यज्ञोपवीतसे चिह्नित किया।२१-२२। (विशेष दे० यज्ञोपवीत)। भरतने उन्हें उपासकाध्ययन आदिका उपदेश देकर अर्हत् पूजा आदि उनके नित्य कर्म व कर्तव्य बताये।२४-२५। पूजा, वार्ता, दत्ति (दान), स्वाध्याय, संयम और तप इन छह प्रकारकी विशुद्ध वृत्तिके कारण ही उनको द्विज संज्ञा दी। और उन्हें उत्तम समझा गया।४२-४४। (विशेष दे० ब्राह्मण)। उनको गर्भान्वय, दीक्षान्वय और कर्त्रन्वय इन तीन प्रकारकी क्रियाओंका भी उपदेश दिया। —(विशेष दे० संस्कार)।५०।

म.पु./४०/२२१ इत्थं स धर्मविजयी भरताधिराजो, धर्मक्रियासु कृतधीर्नृपलोकसाक्षि। तान् सुव्रतान् द्विजवरान् विनियम्य सम्यक् धर्मप्रियः समसृजत् द्विजलोकसर्गम्।२२१। =इस प्रकार जिसने धर्मके द्वारा विजय प्राप्त की है, जो धार्मिक क्रियाओंमें निपुण है, और जिसे धर्म प्रिय है, ऐसे भरतक्षेत्रके अधिपति महाराज भरतने राजा लोगोंकी साक्षीपूर्वक अच्छे-अच्छे व्रत धारण करनेवाले उन उत्तम द्विजोंको अच्छी शिक्षा देकर ब्राह्मण वर्णकी सृष्टि व स्थापना की/२२१।

२. जैनाम्नायमें चारों वर्णोंका स्वीकार

ति.प./४/२२५० बहुविहवियप्पजुत्ता खत्तियवइसाण तह य सुद्दाणं। वंसा हवंति कच्छे तिण्णि च्चिय तत्थ ण हु अण्णे।२२५०। =विदेह क्षेत्रके कच्छा देशमें बहुत प्रकारके भेदोंसे युक्त क्षत्रिय, वैश्य तथा

२. गुणवान् नीच भी ऊँच है

दे० सम्यग्दर्शन/I/५ (सम्यग्दर्शनसे सम्पन्न मातंग देहज भी देव तुल्य है। मिथ्यात्व युक्त मनुष्य भी पशुके तुल्य है, और सम्यक्त्व सहित पशु भी मनुष्यके तुल्य है।)

नीतिवाक्यामृत/१२ आचारमनवद्यत्व शुचिरुपकर' शरीरी च विशुद्धि । करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्विपरिकर्मयोग्यम्। =अनवद्य चारित्र तथा शरीर व वस्त्रादि उपकरणोंकी शुद्धिमे शूद्र भी देवों द्विजो व तपस्वियोंकी सेवाका (तथा धर्मश्रवणका) पात्र बन जाता है। (सा. ध./२/२२)।

दे० प्रव्रज्या/१/२—(म्लेच्छ व सत शूद्र भी कदाचित मुनि व क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण कर लेते है।) (विशेष दे० वर्णव्यवस्था/४/२)।

दे० वर्णव्यवस्था/१/८ (संयमासयमका धारक तिर्यंच भी उच्चगोत्री समझा जाता है)

३. उच्च व नीच जातिमें परिवर्तन

ध. १५/२८८/२ अजसकित्ति-दुभग-अणादेज्जं को वेदओ। अगुणपडिवण्णो अण्णदरो तप्पाओगो। तित्थयरणामाए को वेदओ। सजोगो अजोगो वा। उच्चागोदस्स तित्थयरभंगो। णीचागोदस्स अणादेज्जभगो। =अयश कीर्ति, दुर्भग और अनादेयका वेदक कौन होता है? उनका वेदक गुणप्रतिपन्नसे भिन्न तत्प्रायोग्य अन्यतर जीव होता है। तीर्थंकर नामकर्मका वेदक कौन होता है? उसका वेदक सयोग (केवली) और अयोग (केवली) जीव भी होता है। उच्चगोत्रके उदयका कथन तीर्थंकर प्रकृतिके समान है और नीचगोत्रके उदयका कथन अनादेयके समान है। (अर्थात गुणप्रतिपन्नसे भिन्न जीव नीचगोत्रका वेदक होता है गुणप्रतिपन्न नहीं। जैसे कि तिर्यंच—दे० वर्णव्यवस्था/३/२।

दे० वर्णव्यवस्था/१/१० (उच्चगोत्री जीव नीचगोत्रीके शरीरकी और नीचगोत्री जीव उच्चगोत्रीके शरीरकी विक्रिया करे तो उनके गोत्र भी उतने समयके लिए बदल जाते है। अथवा उच्चगोत्र उसी भवमें बदलकर नीचगोत्र हो जाये और पुन बदलकर उच्चगोत्र हो जाये, यह भी सम्भव है।)

दे० यज्ञोपवीत/२ (किसीके कुलमें किसी कारणवश दोष लग जानेपर वह राजाज्ञासे शुद्ध हो सकता है। किन्तु दीक्षाके अयोग्य अर्थात नाचना-गाना आदि कार्य करनेवालोको यज्ञोपवीत नही दिया जा सकता। यदि वे अपनी योग्यतानुसार व्रत धारण कर ले तो यज्ञोपवीत धारणके योग्य हो जाते हैं।)

धर्म परीक्षा/१७/२८-३१ (बहुत काल बीत जानेपर शुद्ध शीलादि सदाचार छूट जाते है और जातिच्युत होते देखिये है।२८। जिन्होंने शील सयमादि छोड दिये ऐसे कुलीन भी नरकमें गये है।३१।)

४. कथंचित् जन्मकी प्रधानता

दे० वर्णव्यवस्था/१/३— (उच्चगोत्रके उदयसे उच्च व पुज्य कुलोंमे जन्म होता है और नीच गोत्रके उदयसे गहित कुलोंमे।)

दे० प्रव्रज्या/१/२ (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य इन तीन कुलोंमें उत्पन्न हुए व्यक्ति ही प्राय प्रव्रज्याके योग्य समझे जाते है।)

दे० वर्णव्यवस्था/१/१० (वर्णसाकर्यकी रक्षाके लिए प्रत्येक वर्णका व्यक्ति अपने वर्णकी अथवा अपने नीचेके वर्णकी ही कन्याके साथ विवाह करे, ऊपरके वर्णकी कन्याके साथ नही और न ही अपने वर्णकी आजीविकाको छोडकर अन्यके वर्णकी आजीविका करे।)

दे० वर्णव्यवस्था/४/१ (शूद्र भी दो प्रकारके है सत शूद्र और असत शूद्र। तिनमें सत शूद्र स्पृश्य है और असत् शूद्र अस्पृश्य है। सत् शूद्र कदाचित् प्रव्रज्याके योग्य होते है, पर असत शूद्र कभी भी प्रव्रज्याके योग्य नहीं होते।)

मो मा प्र./३/९७/१५ क्षत्रियादिकनिकै (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य इन तीन वर्ण वालोंके) उच्चगोत्रका भी उदय होता है।

दे० यज्ञोपवीत/२ (गाना नाचना आदि नीच कार्य करनेवाले सत शूद्र भी यज्ञोपवीत धारण करने योग्य नहीं है)।

५. गुण व जन्मकी अपेक्षाओंका समन्वय

दे० वर्णव्यवस्था/१/३ (यथा योग्य ऊँच व नीच कुलोंमें उत्पन्न करना भी गोत्रकर्मका कार्य है और आचार ध्यान आदिकी योग्यता प्रदान करना भी।)

६. निश्चयसे ऊँच नीच भेदको स्थान नहीं

प. प्र./मू./२/१०७ एक्कु करे मण बिण्णि करि म करि वण्ण-विसेसु। इक्कइँ देवइँ जें वसइ तिहुयणु एहु असेसु।१०७। =हे आत्मन्! तू जातिकी अपेक्षा सब जीवोंको एक जान, इसलिए राग और द्वेष मत कर। मनुष्य जातिकी अपेक्षा ब्राह्मणादि वर्णभेदको भी मत कर, क्योंकि, अभेद नयसे शुद्धात्माके समान ये सब तीन लोकमें रहनेवाली जीव राशि ठहरायी हुई है। अर्थात जीवपनेसे सब एक हैं।

४. शूद्र निर्देश

१. शूद्रके भेद व लक्षण

म. पु /३८/४६ शूद्रा न्यग्वृत्तिसंश्रयात।४६।

म. पु./१६/१८५-१८६ तेषा शुश्रुषणाच्छूद्रास्ते द्विधा कार्वकारव'। कारवो रजकाद्या स्यु ततोऽन्ये स्युरकारव।१८५। कारवोऽपि मता द्वेधास्पृश्यास्पृश्यविकल्पत। तत्रास्पृश्या प्रजाबाह्या स्पृश्या स्यु' कर्त्तकादय'।१८६। =नीच वृत्तिका आश्रय करनेसे शूद्र होता है।४६। जो उनकी (ब्राह्मणादि तीन वर्णोंकी) सेवा शुश्रूषा करते थे वे शूद्र कहलाते थे। वे शूद्र दो प्रकारके थे—कारु और अकारु। धोबी आदि शूद्र कारु कहलाते थे और उनसे भिन्न अकारु कहलाते थे। कारु शूद्र भी स्पृश्य तथा अस्पृश्यके भेदसे दो प्रकारके माने गये है। उनमें जो प्रजासे बाहर रहते है उन्हें अस्पृश्य और नाई वगैरहको स्पृश्य कहते है।१८६। (मो. मा प्र./८/४१८/२१)।

प्रायश्चित्त चूलिका/गा. १५४ व उसकी टीका—"कारिणो द्विविधा सिद्धा भोज्याभोज्यप्रभेदत। यदन्नपान ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा भुञ्जन्ते भोज्या। अभोज्या तद्विपरीतलक्षणा।" =कारु शूद्र दो प्रकारके होते है—भोज्य व अभोज्य। जिनके हाथका अन्नपान ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र खाते है, उन्हें भोज्य कारु कहते है और इनसे विपरीत अभोज्य कारु जानने चाहिए।

२. स्पृश्य शूद्र ही क्षुल्लक दीक्षाके योग्य हैं

प्र. सा./ता वृ./२२५/प्रक्षेपक १० की टीका/३०६/२ यथायोग्य सच्छूद्राद्यपि। =सत शूद्र भी यथायोग्य दीक्षाके योग्य होते है (अर्थात क्षुल्लक दीक्षाके योग्य होते हैं)।

प्रायश्चित्त चूलिका/मूल व टीका/१५४ भोज्येष्वेव प्रदातव्य सर्वदा क्षुल्लकव्रतम्।१५४। भोज्येष्वेव प्रदातव्या क्षुल्लकदीक्षा नापरेषु।टीका। =कारु शूद्रोमें भी केवल भोज्य या स्पृश्य शूद्रोंको ही क्षुल्लक दीक्षा दी जाने योग्य है, अन्यको नहीं।

वर्ण्यसमा—

न्या सू /मू. व भाष्य/५।१।४/२८८ साध्यदृष्टान्तयोर्द्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसम।४। ...लोष्ट. खलु क्रियावान् विभुर्दृष्ट काममात्मापि क्रियावान् विभुरस्तु विपर्यय वा विशेषो वक्तव्य इति। ख्यापनीयो वर्ण्यो विपर्ययादवर्ण्य तावेतौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यतो वर्ण्यावर्ण्यसमौ भवत'।

भ. आ./मू./२२६/४४२ वियडाए अवियडाए समविसमाए बहिं च अंतो वा। ।२२६। =१. जो उद्गम उत्पादन और एषणा दोषोंसे रहित है, जिसमें जन्तुओंका वास न हो, अथवा बाहरसे आकर जहाँ प्राणी वास न करते हों, सस्काररहित हो, ऐसी वसतिकामें मुनि रहते है। (भ. आ./मू./२३०/४४३)—(विशेष दे. वसतिका/७) २. जिसमें प्रवेश करना या जिसमेंसे निकलना सुखपूर्वक हो सके, जिसका द्वार ढका हो, जहाँ विपुल प्रकाश हो ।६३७। जिसके किवाड व दीवारें मजबूत हों, जो ग्रामके बाहर हो, जहाँ बाल, वृद्ध और चार प्रकारके गण (मुनि आर्यिका श्रावक श्राविका) आ जा सकते हों ।६३८। जिसके द्वार खुले हो या भिडे हों, जो समभूमि युक्त हो या विषम भूमि युक्त हो, जो ग्रामके बाह्यभागमें हो अथवा अन्तमें हो ऐसी वसतिकामें मुनि रहते है ।२२६।

२. ध्यानाध्ययनमें बाधा कारक व मोहोत्पादक न हो

भ. आ./मू./२२८, ६३५ जत्थ ण सोत्तिग अत्थि दु मसणरसरूवगंधफासेहिं। सज्झायज्झाणवाधादो वा वसधी विवित्ता सा ।२२८। पंचिदियप्पयारो मणस्सखोभकरणो जहिं णत्थि। चिट्ठदि तहिं तिगुत्तो ज्झाणेण सहप्पवत्तेण ।६३५। =जहाँ अमनोहर या मनोहर स्पर्श रस गन्ध रूप और शब्दो द्वारा अशुभ परिणाम नही होते, जहाँ स्वाध्याय व ध्यानमें विघ्न नही होता ।२२८। जहाँ रहनेसे मुनियोंकी इन्द्रियाँ विषयोंकी तरफ नहीं दौडतीं, मनकी एकाग्रता नष्ट नहीं होती और ध्यान निर्विघ्न होवे, ऐसी वसतिकामें मुनि निवास करते हैं ।६३५।

मू. आ./६४६ जत्थ कसायुप्पत्तिरभत्तिदियदारइत्थिजणबहुल। दुक्खमुवसग्गबहुल भिक्खू खेत्त विवज्जेऊ ।६४६। =जिस क्षेत्रमें कषायकी उत्पत्ति हो, आदरका अभाव हो, मूर्खता हो, इन्द्रियविषयोंकी अधिकता हो, स्त्री आदि बहुत जनोंका ससर्ग हो, तथा क्लेश व उपसर्ग हो, ऐसे क्षेत्रको मुनि अवश्य छोड दें।

ज्ञा./२७/३१ किं च क्षोभाय मोहाय यद्विकाराय जायते। स्थान तदपि मोक्तव्य ध्यानविध्वंसशङ्कितैः ।३१। =ध्यानविध्वंसके भयसे क्षोभकारक, मोहक तथा विकार करनेवाला स्थान भी छोड देना चाहिए ।३१। (अन. ध./७/३०/६८१)

३. कुशीलसंसक्त स्थानोंसे दूर होनी चाहिए

भ. आ./मू./६३३-६३४/८३४ गंधव्वणट्टजट्टस्सचक्कजतग्गिकम्मफरुसे य। णत्तिजया पाडहि पाडहिडोंबणडरायमग्गे ।६३३। चारण कोट्टगकल्लालकरकचे पुप्फदयसमीपे च। एवविध वसधीए होज्ज समाधीए वाधादो ।६३४। =गन्धर्व, गायन, नृत्य, गज, अश्व आदि शालाओंके, तेली, कुम्हार, धोबी, नट, भांड, शिल्पी, कुलाल आदिके घरोंके तथा राजमार्गके तथा बगीचे व जलाशयके समीपमें वसतिका होनेसे ध्यानमें विघ्न पडता है ।६३३-६३४।

मू. आ./३५७ तेरिक्खी माणुस्सिय सविकारिणि-देविगेहिससत्ते। वज्जेंति अप्पमत्ता णिलए सयणासणट्ठाणे ।३५७। =गाय आदि तिर्यंचिनी, कुशील स्त्री, भवनवासी व्यन्तरी देवी, असयमी गृहस्थ, इनके रहनेके निवासोंको यत्नचारी मुनि शयन करने, बैठने व खडे होनेके लिए छोडे।

रा. वा./९/६/१६/५९७/३४ संयतेन शयनासनशुद्धिपरेण स्त्रीक्षुद्रचौरपानाक्षशौण्डशाकुनिकादिपापजनवासा वर्ज्याः, शृङ्गारविकारभूषणोज्ज्वलवेषवेश्याक्रीडाभिरामगीतनृत्यवादित्राकुलशालादयश्च परिहर्तव्याः। =शय्या और आसनकी शुद्धिमें तत्पर सयतको स्त्री, क्षुद्रजन्तु, चोर, मद्यपान, जूआ, शराबी, और चिडीमार आदिके स्थानोंमें नही बसना चाहिये। और शृंगार, विकार, आभूषण, उज्ज्वलवेष, वेश्याक्रीडा, मनोहर गीत, नृत्य, वादित्र आदिसे परिपूर्ण शालाओं आदिमें रहने आदिका त्याग करना चाहिए। (चा. पा./टी./५७/१२०/२०)

दे कृतिकर्म/३/४/३ (रुद्र आदिके मन्दिर तथा दुष्ट स्त्री पुरुषोंसे ससक्त स्थान ध्यानके लिए अत्यन्त निषिद्ध है)

४. स्त्रियों व अन्य जन्तुओं आदिकी बाधासे रहित व अनुकूल होनी चाहिए

भ. आ./मू./२२९/४४२ इत्थिणउंसयसुवज्जिदाए सीदाए उसिणाए ।२२९। =जो स्त्री पुरुष व नपुंसक जनोंसे वर्जित हो, तथा जो शीत व उष्ण हो अर्थात् गर्मियोंमें शीत और सर्दियोंमें उष्ण हो, ऐसी वसतिका योग्य है।

स. सि./९/१९/४३८/१० विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु सयतस्य शय्यासनम् कर्तव्यमिति। =एकान्त व जन्तुओंकी पीडासे रहित स्थानोंमें मुनिको शय्या व आसन लगाना चाहिए। (रा. वा./९/१९/१२/६१९/१३)

ध १३/५,४,२६/५८/८ त्थी-पसु-सढयादीहि ज्झाणज्झेयविग्घकारणेहि वज्जिय पदेसा विवित्त णाम। =ध्यान और ध्येयमें विघ्नके कारणभूत स्त्री, पशु और नपुंसक आदिसे रहित प्रदेश विविक्त कहलाते हैं। (चो पा./टी./५७, १२०/१९ तथा ७८/२२२/५)

दे. वसतिका/१ [जिसमें जन्तुओंका वास न हो और जहाँ प्राणी बाहरसे आकर न ठहरते हों, ऐसा स्थान योग्य है। (वसतिका/१ में भ. आ./मू./६३६)। स्त्रियों व बहुजन संसर्ग तथा क्लेश व उपसर्गसे रहित स्थान मुनियोंके रहने योग्य है। (वसतिका/२ में मू. आ./६४६)। कुशीलो स्त्रियों, तिर्यंचिनियों, देवियों, दुष्ट पुरुषोंसे ससक्त स्थान तथा देवी-देवताओंके मन्दिर वर्जनीय है (वसतिका/३)।]

दे. कृतिकर्म/३/४/२ [पवित्र, सम, निर्जन्तुक, स्त्रियों, नपुंसकों व पशुपक्षियोंकी कटक आदिकी बाधाओंसे रहित स्थान ही ध्यानके योग्य है।]

५. नगर व ग्राममें बसनेका निषेध

दे वसतिका/१ में भ. आ./मू./२२९, ६३८ (मुनिकी या क्षपककी वसतिका ग्रामसे बाहर या ग्रामके अन्तमें होनी चाहिए।)

आ अनु./१९७-१९८ इतस्ततश्च त्रस्यन्तो विभावर्यां यथा मृगाः। वनाद्विशत्युपग्राम कलौ कष्ट तपस्विनः ।१९७। वर गार्हस्थ्यमेवाद्य तपसो भाविजन्मनः। श्व स्त्रीकटाक्षलुण्टाकलोप्यवैराग्यसपदः ।१९८। =जिस प्रकार सिंहादिके भयसे मृगादि रात्रिके समय गाँवके निकट आ जाते हैं, उसी प्रकार इस कलिकालमें मुनिजन भी वनको छोड गाँवके समीप रहने लगे है, यह खेदकी बात है ।१९७। यदि आजका ग्रहण किया तप कल स्त्रियोंके कटाक्षरूप लुटेरोंके द्वारा वैराग्य सम्पत्तिसे रहित कर दिया जाय तो इस तपकी अपेक्षा तो गृहस्थ जीवन ही कहीं श्रेष्ठ था ।१९८।

६. शून्य गृह, गिरिगुहा, वृक्षकी कोटर, श्मशान आदि स्थान साधुके योग्य हैं

भ. आ./मू./गा. सुण्णघरगिरिगुहारुक्खमूल· विचित्ताइ ।२३१। उज्जाणघरे गिरिकंदरे गुहाए व सुण्णहरे ।६३८। =शून्यघर, पर्वतकी गुफा, वृक्षका मूल, अकृत्रिम गृह ये सब विविक्त वसतिकाएँ हैं ।२३१। उद्यानगृह, गुफा और शून्यघर ये भी वसतिका व क्षपकका सस्तर करनेके योग्य माने गये है ।६३८।

मू आ./९५० गिरिकदरं मसाणं सुण्णागारं च रुक्खमूलं वा। ठाण विरागबहुल धीरा भिक्खू णिसेवेऊ ।९५०। =पर्वतकी गुफा (व कन्दरा) श्मशानभूमि, शून्यघर, और वृक्षकी कोटर ऐसे वैराग्यके कारण-स्थानोंमें धीर मुनि रहे ।९५०। (मू. आ./७८९-७८६), (अन ध./७/३०/६८१)।

अचित्त पदार्थ देकर खरीदा हुआ जो घर उसको अचित्तद्रव्यक्रीत कहते हैं। विद्या मन्त्रादि देकर खरीदे हुए घरको भावक्रीत कहते हैं। १२. अल्प ऋण करके और उसका सूद देकर अथवा न देकर संयतोंके लिए जो मकान लिया जाता है वह पामिच्छदोषसे दूषित है। १३ "मेरे घरमें आप ठहरो और आपका घर मुनियोंको रहनेके लिए दो—" ऐसा कहकर उनसे लिया जो घर वह परिवट्टदोषसे दूषित समझना चाहिए। १४ अपने घरकी भीतके लिए जो स्तम्भादिक सामग्री तैयार की थी वह संयतोंके लिए लाना, सो अभिघट नामका दोष है। इसके आचरित व अनाचरित ऐसे दो भेद हैं। जो सामग्री दूर देशसे अथवा अन्य ग्रामसे लायी गयी होय तो उसको अनाचरित कहते हैं और जो ऐसी नहीं होय तो वह आचरित समझनी चाहिए। १५. ईंट, मिट्टीके पिण्ड, काँटोंकी बाड़ी अथवा किवाड़, पाषाणोंसे ढका हुआ जो घर खुला करके मुनियोंको रहनेके लिए देना वह उद्भिन्न दोष है। १६ "नसैनी (सीढ़ी) वगैरहसे चढ़कर आप यहाँ आइए, आपके लिए यह वसतिका दी जाती है," ऐसा कहकर संयतोंको दूसरा अथवा तीसरा मजिला रहनेके लिए देना, यह मालारोह नामका दोष है। १७ राजा अथवा प्रधान इत्यादिकोंसे भय दिखाकर दूसरेका गृहादिक यतियोंको रहनेके लिए देना वह अच्छेज्ज नामका दोष है। १८. अनिसृष्ट दोषके दो भेद हैं—जो दानकार्यमें नियुक्त नहीं हुआ है ऐसे स्वामीसे जो वसतिका दी जाती है वह अनिसृष्ट दोषसे दूषित है। और जो वसतिका बालक और परवश ऐसे स्वामीसे दी जाती है वह अनिसृष्ट दोषसे दूषित समझनी चाहिए।—इस तरह उद्गम दोष निरूपण किये।

२. उत्पादनदोष निरूपण

भ आ/वि. २३०/४४४/६ उत्पादनदोषा निरूप्यन्ते—पञ्चविधानां धात्रीकर्मणा अन्यतमेनोत्पादिता वसतिः। काचिद्दारकं स्नपयति, भूषयति, क्रीडयति, आशयति, स्वापयति वा। वसत्यर्थमेवोत्पादिता वसतिर्धात्रीदोषदुष्टा। ग्रामान्तरान्नगरान्तराच्च देशाद्देन्य देशतो वा सम्बन्धिना वार्तामभिधायोत्पादिता दूतकर्मोत्पादिता। अङ्गं, स्वरो, व्यञ्जनं, लक्षणं, छिन्नं, भौमं, स्वप्नोऽन्तरिक्षमिति एवंभूतनिमित्तोपदेशेन लब्धा वसतिर्निमित्तदोषदुष्टा। आत्मनो जातिं, कुलं, ऐश्वर्यं वाभिधाय स्वमाहात्म्यप्रकटनेनोत्पादिता वसतिराजीवशब्देनोच्यते। भगवन्सर्वेषां आहारदानाद्वसतिदानाच्च पुण्यं किमु महदुपजायते इति पृष्टो न भवतीत्युक्ते गृहिजनः प्रतिकूलवचनरुष्टो वसतिं न प्रयच्छेदिति एवमिति तदनुकूलमुक्त्वा योत्पादिता सा वणिगवा शब्देनोच्यते। अष्टविधया चिकित्सया लब्धा चिकित्सोत्पादिता। क्रोधोत्पादिता (क्रोधं, मानं, माया, लोभं वा प्रयुज्योत्पादिता क्रोधादिचतुष्टयदुष्टा)। गच्छतामागच्छतां च यतीनां भवदीयमेव गृहमाश्रय इतीयं वार्ता दूरादेवास्माभिः श्रुतेति पूर्वं स्तुत्वा या लब्धा। वसनोत्तरकालं च गच्छन्प्रशंसां करोति पुनरपि वसतिं लप्स्ये इति। एवं उत्पादितासंस्तवदोषदुष्टा। विद्यया, मन्त्रेण, चूर्णप्रयोगेण वा गृहिणं वशे स्थापयित्वा लब्धा। मूलकर्मणा वा भिन्नकन्यायोनिसंस्थापना मूलकर्म। विरक्तानां अनुरागजननं वा। उत्पादनाख्योऽभिहितो दोषः षोडशप्रकारः।—१. धात्री पाँच प्रकारकी है—बालकको स्नान करानेवाली, उसे वस्त्राभूषण पहनानेवाली, उसका मन प्रसन्न करनेवाली, उसे अन्नपान करानेवाली, और उसे सुलानेवाली। इन पाँच कार्योंमेंसे किसी भी कार्यका गृहस्थको उपदेश देकर उससे यति अपने रहनेके लिए वसतिका प्राप्त करते हैं। अतः वह वसतिका धात्रीदोषसे दुष्ट है। २. अन्यग्राम, अन्य नगर और अन्यदेशके सम्बन्धीजनोंकी वार्ता श्रावकको निवेदित कर वसतिका प्राप्त करना दूतकर्म नामका दोष है। ३. अंग, स्वर आदि आठ प्रकारके निमित्तशास्त्रका उपदेश कर श्रावकसे वसतिकाकी प्राप्ति करना निमित्त नामका दोष है। ४ अपनी जाति, कुल, ऐश्वर्य वगैरहका वर्णनकर अपना माहात्म्य श्रावकको निवेदनकर वसतिकाकी प्राप्ति करना आजीव नामक दोष है। ५ हे भगवन्! सर्व लोगोंको आहार व वसतिकाका दान देनेसे क्या महान् पुण्यकी प्राप्ति न होगी? ऐसा श्रावकका प्रश्न सुनकर यदि मैं पुण्य प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कहूँ तो श्रावक वसतिका न देगा ऐसा मनमें विचार कर उसके अनुकूल वचन बोलकर वसतिकाकी प्राप्ति करना वणिग दोष है। ६. आठ प्रकारकी चिकित्सा करके वसतिकाकी प्राप्ति करना चिकित्सा नामक दोष है। ७-१०. क्रोध, मान, माया व लोभ दिखाकर वसतिका प्राप्त करना क्रोधादि चतुष्टय दोष हैं। ११. जानेवाले और आनेवाले मुनियोंको आपका घर ही आश्रय स्थान है। यह वृत्तान्त हमने दूर देशमें भी सुना है ऐसी प्रथम स्तुति करके वसतिका प्राप्त करना पूर्वस्तुति नामका दोष है। १२ निवासकर जानेके समय पुन भी कभी रहनेके लिए स्थान मिले इस हेतुसे (उपरोक्त प्रकार ही) स्तुति करना पश्चात्स्तुति नामका दोष है। १३-१५. विद्या, मन्त्र अथवा चूर्ण प्रयोगसे गृहस्थको अपने वशकर वसतिकाकी प्राप्ति कर लेना विद्यादि दोष हैं। १६. भिन्न जातिकी कन्याके साथ सम्बन्ध मिलाकर वसतिका प्राप्त करना अथवा विरक्तोंको अनुरक्त करनेका उपाय कर उनसे वसतिका प्राप्त कर लेना मूलकर्म नामका दोष है। इस प्रकार उत्पादन नामक दोषके १६ भेद हैं।

३. एषणादोष निरूपण

भ. आ/वि/२३०/४४४/१६ अथ एषणादोषान्दश प्राह—किमियं योग्या वसतिर्नेति शङ्किता। तदानीमेव सिक्ता सत्यालिप्ता सती वा छिद्रस्रुतजलप्रवाहेण वा, जलभाजनलोटनेन वा तदानीमेव लिप्ता वा म्रक्षितेत्युच्यते। सचित्तपृथिव्या, अपां, हरितानां, बीजानां त्रसानां उपरि स्थापितं पीठफलकादिकं अत्र शय्या कर्तव्येति या दीयते सा पिहिता। काष्ठचेलकण्टकप्रावरणाद्याकर्षणं कुर्वता पुरोयायिनोपदर्शिता वसतिः साहारणशब्देनोच्यते। मृतजातसूतकयुक्तगृहिजनेन, मत्तेन, व्याधितेन, नपुंसकेन, पिशाचगृहीतेन, नग्नया वा दीयमाना वसतिर्दायकदुष्टा। स्थावरैः पृथिव्यादिभिः, त्रसैः पिपीलिकमत्कुणादिभिः सहितोन्मिश्रा। अधिकवितस्तिमात्राया भूमेरधिकाया अपि भुवो ग्रहणं प्रमाणातिरेकदोषः। शीतवातातपाद्युपद्रवसहिता वसतिरियमिति निन्दां कुर्वतो वसनं धूमदोषः। निर्वाता, विशाला, नात्युष्णा शोभनेयमिति तत्रानुरागः इंगाल इत्युच्यते।= १ 'यह वसतिका योग्य है अथवा नहीं है,' ऐसी जिस वसतिकाके विषयमें शंका उत्पन्न होगी वह शंकितदोषसे दूषित समझनी चाहिए। २. वसतिका तत्काल ही लीपी गयी है, अथवा छिद्रसे निकलनेवाले जलप्रवाहसे किंवा पानीका पात्र लुढ़काकर जिसको लीपापोती की गयी है वह म्रक्षित वसतिका समझनी चाहिए। ३. सचित्त जमीनके ऊपर अथवा पानी, हरित वनस्पति, बीज वा त्रसजीव इनके ऊपर पीठ फलक वगैरह रखकर 'यहाँ आप शय्या करें' ऐसा कहकर जो वसतिका दी जाती है वह निक्षिप्तदोषसे युक्त है। ४. हरितकाय वनस्पति, काँटे, सचित्त मृत्तिका, वगैरहका आच्छादन हटाकर जो वसतिका दी जाती है वह पिहितदोषसे युक्त है। ५ लकड़ी, वस्त्र, काँटे इनका आकर्षण करता हुआ अर्थात् इनको घसीटता हुआ आगे जानेवाला जो पुरुष उससे दिखायी गयी जो वसतिका वह साधारणदोषसे युक्त होता है। ६ जिसको मरणाशौच अथवा जननाशौच है, जो मत्त, रोगी, नपुंसक, पिशाचग्रस्त और नग्न है ऐसे दोषसे युक्त गृहस्थके द्वारा यदि वसतिका दी गयी हो तो वह दायकदोषसे दूषित है। ७ पृथिवी जल स्थावर जीवोंसे और चींटी खटमल वगैरह वगैरह त्रस जीवोंसे जो युक्त है, वह वसतिका उन्मिश्रदोष सहित समझना चाहिए। ८ मुनियोंको जितने बालिश्त प्रमाण भूमि ग्रहण करनी चाहिए, उससे अधिक प्रमाण भी भूमिका ग्रहण करना यह प्रमाणातिरेक दोष है। ९. "ठण्ड,

हवा और कड़ी धूप वगैरह उपद्रव इस वसतिकामें है" ऐसी निन्दा करते हुए वसतिकामें रहना धूमदोष है। १० "यह वसतिका वात रहित है", विशाल है, अधिक उष्ण है और अच्छी है, ऐसा समझकर उसके ऊपर राग भाव करना यह इंगाल नामका दोष है।

८. अन्य सम्बन्धित विषय

१. वीतरागियोंके लिए स्थानका कोई नियम नहीं। —दे. कृतिकर्म/३/८/४।
२. विविक्त वसतिकाका महत्त्व। —दे. विविक्त शय्यासन।
३ वसतिकामें प्रवेश आदिके समय नि.सही और असही शब्दका प्रयोग। —दे. असही।
४. अनियत स्थानोंमें निवास तथा इसका कारण प्रयोजन। —दे विहार।
५ एक स्थानपर टिकनेकी सीमा। —दे. विहार।
६. पंचमकालमें संघसे बाहर रहनेका निषेध। —दे. विहार।
७ वसतिकाके अतिचार। —दे. अतिचार/१।

वसतिकातिचार—दे० अतिचार/१।

वसा—औदारिक शरीरमें वसा धातुका प्रमाण—दे० औदारिक/१।

वसुंधर—म. पु /६६/श्लोक सं.—ऐरावतक्षेत्रके श्रीपुर नगरका राजा था।७४। स्त्रीकी मृत्युसे विरक्त हो दीक्षा धार महाशुक्र स्वर्गमें उत्पन्न हुआ।७५-७७। यह जयसेन चक्रवर्तीके पूर्वका तीसरा भव है।—दे० जयसेन।

वसुंधरा—रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी देवी। —दे० लोक/७।

वसु—१ लौकान्तिक देवोंका एक भेद—दे० लौकान्तिक। २ एक अज्ञानवादी—दे० अज्ञानवाद। ३ प. पु./११/ श्लोक सं —इक्ष्वाकु कुलके राजा ययातिका पुत्र।१३। क्षीरकदम्ब गुरुका शिष्य था।१४। सत्यवादी होते हुए भी गुरुमाताके कहनेसे उसके पुत्र पर्वतके पक्षको पुष्ट करनेके लिए,'अजैर्यष्टव्यम्' शब्दका अर्थ तिसाला जौ न करके 'बकरेसे यज्ञ करना चाहिए' ऐसा कर दिया।६२। फलस्वरूप सातवें नरकमें गया।७३। (म पु /६७/२५६-२८१, ४१३-४३६)। ४ चन्देरीका राजा था। महाभारतसे पूर्ववर्ती है। "इन्होंने इन्द्र व पर्वत दोनोंका इकट्ठे ही हव्य ग्रहण किया था" ऐसा कथन आता है। समय—ई० पू० २००० (ऋग्वेद मण्डल सूक्त ५३)।

वसुदेव—ह पु /सर्ग/श्लोक—अन्धकवृष्णिका पुत्र समुद्रविजयका भाई। (१८/१२)। बहुत अधिक सुन्दर था। स्त्रियाँ सहसा ही उसपर मोहित हो जाती थीं। इसलिए देशसे बाहर भेज दिये गये जहाँ अनेक कन्याओंसे विवाह हुआ। (सर्ग १९-३१) अनेक वर्षों पश्चात भाईसे मिलन हुआ। (सर्ग ३२) कृष्णकी उत्पत्ति हुई। (३५।१९) तथा अन्य भी अनेक पुत्र हुए। (४८/५४-६५)। द्वारका जलनेपर संन्यास मरण कर स्वर्ग सिधारे। (६१/८७-९१)।

वसुधा—बृ स. स्तो/टी./३/७ वसु द्रव्यं दधातीति वसुधा पृथिवी। =वसु अर्थात् द्रव्योंको धारण करती है। इसलिए पृथिवी वसुधा कहलाती है।

वसुनंदि—१ नन्दिसंघ बलात्कार गणकी गुर्वावलीके अनुसार आप सिंहनन्दिके के शिष्य तथा वीरनन्दिके गुरु थे। समय—विक्रम शक सं. ५२५-५३१ (ई० ६०३-६०९) (दे० इतिहास/५/१३)। २. नन्दिसंघके देशीयगणकी गुर्वावलीके अनुसार देवेन्द्राचार्यके शिष्य और रविचन्द्रके गुरु थे। समय—वि० ९५०-९९० (ई० ८९३-९३३)। —दे० इतिहास/५/१४ (ष. खं./प्र./H. L. Jain)। ३. माघनन्दिकी गुर्वावलीके अनुसार श्री नेमिचन्द्रके शिष्य थे। अपर नाम जयसेन था। कृतियाँ—आप्तमीमांसावृत्ति, वस्तुविद्या, मूलाचारवृत्ति, जिनशतक, प्रतिष्ठापाठ, श्रावकाचार। समय—वि० ११००-११५० (ई० १०४३-१०५३)। —दे० इतिहास/५/२२। (यु. अनु /प्र. २१/प. जुगलकिशोर)।

वसुनंदि श्रावकाचार—आ. वसुनन्दि सं. ३ (ई. १०४३-१०५३) रचित प्राकृत गाथाबद्ध ग्रन्थ है। इसमें ५४६ गाथाएँ हैं।

वसुपाल—मगधका एक प्रसिद्ध जैन राजा जिसने आबू पर्वतपर ऐतिहासिक व आश्चर्यकारी जिनमन्दिरोंका निर्माण कराया। समय ई० ११६७।

वसुबंधु—ई० २८०-३६० के 'अभिधर्मकोश' के रचयिता एक अजैन विद्वान्। (सि. वि./प्र. २१/पं महेन्द्र)।

वसुमति—१. भरतक्षेत्र आर्यखण्डकी एक नदी। —दे० मनुष्य/४। २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

वसुमत्का—विजयार्धकी उत्तरश्रेणी का एक नगर—दे० विद्याधर।

वसुमित्र—मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार यह शक जातिका एक सरदार था, जिसने मौर्यकालमें ही मगधदेशके किसी एक भागपर अपना अधिकार जमा रखा था। अपरनाम बलमित्र था और अग्निमित्रका समकालीन था। समय—वी. नि २८५-३४५ (ई पू. २४६-१८१)—दे० इतिहास/३/१।

वसुषेण—म पु./६०/श्लोक सं.—"पोदनपुर नगरका राजा था।५०। मलयदेशके राजा चण्डशासन द्वारा स्त्रीका अपहरण होनेपर।५१-५२। दीक्षा धार ली और निदान बन्धसहित संन्यासमरण कर सहसारस्वर्गमें देव हुआ।६४-६७।

वस्तु—

नि. वि /मूलवृत्ति/४/१५/२६३/११ परिणामो वस्तुलक्षणम्। =परिणमन करते रहना यहाँ वस्तुका लक्षण है।

का. अ /मू./२२५ जं वत्थु अणेयंतं तं चिय कज्जं करेदि णियमेण। बहु धम्मजुदं अत्थं कज्जकरं दीसदे लोए। =जो वस्तु अनेकान्तस्वरूप है, वही नियमसे कार्यकारी है। क्योंकि लोकमें बहुत धर्म युक्त पदार्थ ही कार्यकारी देखा जाता है।—(विशेष दे० द्रव्य)

स्या. म /५/३०/६ वस्तुनस्तावदर्थक्रियाकारित्वं लक्षणम्।

स्या. म /२३/२७२/६ वसन्ति गुणपर्याया अस्मिन्निति वस्तु। =अर्थक्रियाकारित्व ही वस्तुका लक्षण है। अथवा जिसमें गुणपर्यायें वास करें वस्तु है।

दे द्रव्य/१/७—(सत्ता, सत्त्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु, अर्थ, विधि ये सब एकार्थवाची शब्द हैं)।

दे द्रव्य/१/४ (वस्तु गुणपर्यायात्मक है)।

दे. सामान्य (वस्तु सामान्य विशेषात्मक है)।

दे. श्रुतज्ञान/II (वस्तु श्रुतज्ञानके एक भेदका नाम है)।

वस्तुत्व—आ प /६ वस्तुनो भावो वस्तुत्वम्, सामान्यविशेषात्मकं वस्तु। =वस्तुके भावको वस्तुत्व कहते हैं। वह वस्तु सामान्य विशेषात्मक है। [अथवा अर्थक्रियाकारी है अथवा गुण पर्यायोंको वास देनेवाली है (दे. वस्तु)]।

स. भ. त /३५/५ स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थाप्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्। =अपने स्वरूपके ग्रहण और अन्यके स्वरूपके त्यागसे ही वस्तुके वस्तुत्वका व्यवस्थापन किया जाता है।

वस्तु विद्या—आ. वसुनन्दि (ई. १०४३-१०५३) रचित एक ग्रन्थ।

वस्तुसमास—श्रुतज्ञानका एक भेद—दे श्रुतज्ञान/II।

वस्त्र—भा. पा /टी./७९/२३०/६ पञ्चविधानि पञ्चप्रकाराणि चेलानि वस्त्राणि .अडज वा-कोशजं तसरिचीरम् (१) बोडज वा कर्पासवस्त्रं (२) रोमज वा ऊर्णामय वस्त्र एडकोष्ट्रादिरोमवस्त्रं (वल्कज वा वल्क वृक्षादित्वग्भङ्गादिछल्लिवस्त्र तट्टादिकं चापि (४) चर्मजं वा मृगचर्मव्याघ्रचर्म चित्रकचर्मगजचर्मादिकम् ·।=वस्त्र पाँच प्रकारके होते है—अडज, बोडज, रोमज, वल्कज और चर्मज। रेशमसे उत्पन्न वस्त्र अंडज है। कपाससे उपजा बोडज है। बकरे, ऊँट आदिकी ऊनसे उपजा रोमज है। वृक्ष या बेल आदि छालसे उपजा वल्कज या वल्कलज है मृग, व्याघ्र, चीता, गज आदिके चर्मसे उपजा चर्मज है।

२. रेशमी वस्त्रकी उत्पत्तिका ज्ञान आचार्योंको अवश्य था

भ. आ./मू /९११ वेढेइ विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोएहिं। कोसेण कोसियारुव्व दुम्मदी णिच्च अप्पाणं ।९११।=विषयी जीव स्त्रीके स्नेहपाशमें अपनेको इस तरह वेष्टित करता है। जैसे रेशमको उत्पन्न करनेवाला कीडा अपने मुखमेंसे निकले हुए तन्तुओंसे अपनेको वेष्टित करता है।

*** साधुको वस्त्रका निषेध**—दे० अचेलकत्व।

***सवस्त्र मुक्तिका निषेध**—दे० वेद/७।

वस्त्रांग—वस्त्र प्रदान करनेवाला कल्पवृक्ष।—वृक्ष/१।

वस्वौक—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर।—दे० विद्याधर।

वाइम—द्रव्य निक्षेपका एक भेद—दे० निक्षेप/५६।

वाक्—दे० वचन।

वाक्छल—दे० छल।

वाकुस—भ. आ./वि./६०६/८०७/६ गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे लिंगो। गृहस्थानां भाजनेषु कुम्भकरकशरावादिषु कस्यचिन्निक्षेपण, तैर्वा कस्यचिद्दान चारित्राचार'।=गिहिमत्तणिसेज्जवाकुसे अर्थात् गृहस्थोके भाजन अर्थात् कुम्भ, घडा, करक-कमण्डलु, शराब वगैरह पात्रोंमेंसे किसी पात्रमें कोई पदार्थ रखे होंगे अथवा किसीको दिये होंगे ये सब चारित्राचार है।

वाक्य—न्या. वि /वृ /१/६/१३७/१४ वाक्यं नाम पदसदोहकल्पितं नाखण्डेकरूपम्।=वाक्य नाम पदोके समूहका है, अखण्ड एक रूपका नही।

न्या. सू /मू /२/१/६२-६५ विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात ।६२। विधिर्विधायकः ।६३। स्तुतिर्निन्दा परकृति पुराकल्प इत्यर्थवाद ।६४। विधिविहितस्यानुवचनमनुवाद ।६५।=ब्राह्मण ग्रन्थोंका तीन प्रकारसे विनियोग होता है—विधिवाक्य, अर्थवाक्य, अनुवादवाक्य ।६२। आज्ञा या आदेश करनेवाले वाक्य विधिवाक्य है। अर्थवाद चार प्रकारका है—स्तुति, निन्दा, परकृति, और पुराकल्प (इनके लक्षणोंके लिए दे० वह वह नाम)। विधिका अनुवचन और विधिसे जो विधान किया गया उसके अनुवचनको अनुवाद कहते है।

*** वचनके अनेकों भेद व लक्षण**—दे० वचन।

वाक्यशुद्धि—दे० समिति/१।

वाग्भट्ट—कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी टीकाके रचयिता एक दिगम्बर साधु—(का अ./प्र १ (प० पन्नालाल)।

वाचक—ध. १४/५,६,२०/२२/८। द्वादशाङ्गविद्वाचक'=बारह अंगका ज्ञाता वाचक कहलाता है।

वाचना—

स सि /९/२५/४४३/४ निरवद्यग्रन्थार्थोभयप्रदानं वाचना।=निर्दोष ग्रन्थ, उसके अर्थका उपदेश अथवा दोनो ही उसके पात्रका प्रदान करना वाचना है। (रा. वा /९/२५/१/६२४/६), (त सा /७/१७); (चा सा /१५३/१); (अन. ध /७/८३/७१४)।

ध. ९/४,१,५५/२६२/७ जा तत्थ णवसु आगमेसु वायणा अण्णेसिं भवियाणं जहासत्तीए गथत्थपरूवणा।

ध. ६/४,१,५४/२५२/६ शिष्याध्यापन वाचना।=१ वाचना आदि नौ आगमोंमें वाचना अर्थात् अन्य भव्य जीवोंके लिए शक्त्यनुसार ग्रन्थके अर्थकी प्ररूपणा। (ध. १४/५,६,१२/९/३)। २. शिष्योंको पढानेका नाम वाचना है। (ध. १४/५ ६,१२/८/६)।

२. वाचनाके भेद व लक्षण

ध ९/४ १,५४/२५२/५ सा चतुर्विधा नन्दा भद्रा जया सौम्या चेति। पूर्वपक्षीकृतपरदर्शनानि निराकृत्य स्वपक्षस्थापिका व्याख्या नन्दा। तत्र युक्तिभिः प्रत्यवस्थाय पूर्वापरविरोधपरिहारेण विना तन्त्रार्थकथनं जया। क्वचित् क्वचित् स्खलितवृत्तेर्व्याख्या सौम्या।=वह (वाचना) चार प्रकार है—नन्दा, भद्रा, जया और सौम्या। अन्य दर्शनोको पूर्वपक्ष करके उनका निराकरण करते हुए अपने पक्षको स्थापित करनेवाली व्याख्या नन्दा कहलाती है। युक्तियो द्वारा समाधान करके पूर्वापर विरोधका परिहार करते हुए सिद्धान्तमें स्थित समस्त पदार्थोंकी व्याख्याका नाम भद्रा है। पूर्वापर विरोधके परिहारके बिना सिद्धान्तके अर्थोंका कथन करना जया वाचना कहलाती है। कहीं-कहीं स्खलनपूर्ण वृत्तिसे जो व्याख्या की जाती है, वह सौम्या वाचना है।

वाचनोपगत—दे० निक्षेप/५/८।

वाचस्पति मिश्र—वैदिक दर्शनके एक प्रसिद्ध भाष्यकार जिन्होंने न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन व वेदान्तदर्शनके ग्रन्थोंपर अनेकों टीकाओके अतिरिक्त योगदर्शनके व्यासभाष्यपर भी तत्त्वकौमुदी' नामकी एक टीका लिखी है। (दे० वह वह दर्शन)। समय—ई० ८४०—दे० न्याय/१/७।

वाटग्राम—डॉ० आल्टेके अनुसार वर्तमान बडौदा नगर ही वाटग्राम है, क्योकि, बडोदाका प्राचीन नाम वटपद है और वह गुजरात प्रान्तमें है। (क. पा /पु १/प्र ७४/प महेन्द्र)।

वाटवान—भरतक्षेत्र उत्तर आर्यखण्डका एक देश।—दे० मनुष्य/४।

वाण—भरतक्षेत्रका एक देश—दे० मनुष्य/४।

वाणिज्य—वाणिज्यकर्म, विषवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, दन्त-वाणिज्य, केशवाणिज्य, रसवाणिज्य--दे० सावद्य/२।

वाणी—१ पश्यन्ती आदि वाणी—दे० भाषा। २ असम्बद्धप्रलाप, कलह आदि वचन—दे० वचन/१।

वातकुमार—भवनवासी देवोंका एक भेद—दे० भवन/१। उनका लोकमें अवस्थान—दे० भवन/४।

वातवलय—स. सि./३/१/२०४/३। टिप्पणीमें अन्य प्रतिसे गृहीत पाठ—घन च घनो मन्दो महान् आयत' इत्यर्थः। अम्बु च जलं उदकमित्यर्थ.। वातशब्दोऽन्त्यदीपक तत एव सम्बन्धनीय । घनो घनवात । अम्बु अम्बुवात'। वातस्तनुवात'। इति महदापेक्षया तनुरिति सामर्थ्यगम्य'। अन्य' पाठ । सिद्धान्तपाठस्तु घनाम्बु च वात चेति वातशब्द. सोपक्रियते। वातस्तनुवात इति वा।=(मूल सूत्रमें 'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा' ऐसा पाठ है। उसकी व्याख्या करते हुए कहते हे)—घन, मन्द, महान्, आयत ये एकार्थवाची नाम हैं और अम्बु, जल व उदक ये एकार्थवाची हैं। वात शब्द अन्त्य दीपक होनेके कारण घन व अम्बु दोनोंके साथ जोडना चाहिए। यथा—घनो अर्थात् घनवात, अम्बु अर्थात् अम्बुवात और वात अर्थात तनुवात। महत या घनकी अपेक्षा हलकी है, यह बात अर्थापत्तिसे हो जान ली जाती है। यह अन्य पाठकी अपेक्षा कथन है। सिद्धान्त-पाठके अनुसार तो घन व अम्बुरूप भी है और वातरूप भी है ऐसा वात शब्दका अभिप्राय हे। वातका अर्थ तनुवात अर्थात् हलकी वायु है।

दे. लोक/२/५ [घनोदधि वातका वर्ण गोमूत्रके समान है, घनवातका मगके समान, और तनुवातका वर्ण अव्यक्त है अर्थात अनेक वर्ण-वाला है।]

* **वातवलयोंका लोकमें अवस्थान**—दे. लोक/२।

वात्सल्य—

पं. ध./उ./४७० तत्र भक्तिरनौद्धत्यं वाग्वपुश्चेतसा शमात्। वात्सल्यं तद्गुणोत्कर्षहेतवे सोद्यत मन' ।४७०। =दर्शनमोहनीयका उपशम होनेसे मन वचन कायके उद्धतपनेके अभावको भक्ति कहते हैं, तथा उनके गुणोंके उत्कर्षके लिए तत्पर मनको वात्सल्य कहते हैं।

२. वात्सल्य अंगका व्यवहार लक्षण

मू. आ./२६३ चादुव्वण्णे सघे चदुगदिसंसारणित्थरणभूदे। वच्छल्लं कादव्व वच्छे गावी जहा गिद्धो। =चतुर्गतिरूप ससारसे तिरनेके कारणभूत मुनि आर्यिका आदि चार प्रकार सघमें, बछडेमें गायकी प्रीतिकी तरह प्रीति करना चाहिए। यही वात्सल्य गुण है।—(विशेष दे. आगे प्रवचन वात्सल्यका लक्षण) (पु सि. उ./२९)

भ. आ./वि./४५/१५०/५ धर्मस्थेषु मातरि पितरि भ्रातरि वानुरागो वात्सल्यम्। =धार्मिक लोगोपर, ओर माता-पिता भ्राताके ऊपर प्रेम रखना वात्सल्य गुण है।

चा सा/५/३ सद्य प्रसूता यथा गोर्वत्से स्निह्यति। तथा चातुर्वर्ण्ये सघेऽकृत्रिमस्नेहकरण वात्सल्यम्। =जिस प्रकार तुरतकी प्रसूता गाय अपने बच्चेपर प्रेम करती है, उसी प्रकार चार प्रकारके सघपर अकृत्रिम या स्वाभाविक प्रेम करना वात्सल्य अग कहा जाता है।—(दे. आगे शीर्षक स. ४)

का. आ./मू./४२१ जो धम्मिएसु भत्तो अणुचरण कुणदि परमसद्धाए। पिय वयण जप्पतो वच्छल्ल तस्स भव्वस्स ।४२१। =जो सम्यग्दृष्टि जीव प्रिय वचन बोलता हुआ अत्यन्त श्रद्धासे धार्मिक जनोंमें भक्ति रखता है तथा उनके अनुसार आचरण करता है, उस भव्य जीवके वात्सल्य गुण कहा है।

द्र. स./टी/४१/१७५/११ बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयाधारे चतुर्विधसघे वत्से धेनुवत्पञ्चेन्द्रियविषयनिमित्त पुत्रकलत्रसुवर्णादिस्नेहवद्वा यदकृत्रिम-स्नेहकरणं तद्व्यवहारेण वात्सल्य भण्यते। =बाह्य और अभ्यन्तर रत्नत्रयको धारण करनेवाले मुनि आर्यिका श्रावक तथा श्राविकारूप चारो प्रकारके सघमे, जैसे गायकी बछडेमें प्रीति रहती है उसके समान, अथवा पाँचो इन्द्रियोके विषयोके निमित्त पुत्र, स्त्री, सुवर्ण आदिमें जो स्नेह रहता है, उसके समान स्वाभाविक स्नेह करना, वह व्यवहारनयकी अपेक्षासे वात्सल्य कहा जाता है।

पं ध/उ./८०६ वात्सल्य नाम दासत्व सिद्धार्हद्बिम्बवेश्मसु। सघे चतुर्विधे शास्त्रे स्वामिकार्ये सुभृत्यवत्। =स्वामीके कार्यमें उत्तम सेवककी तरह सिद्ध प्रतिमा, जिनबिम्ब, जिनमन्दिर, चार प्रकारके सघमें और शास्त्रमें जो दासत्व भाव रखना है, वही सम्यग्दृष्टिका वात्सल्य नामक अग या गुण है।

दे. अगले शीर्षकमें स. सा. की व्याख्या—('त्रयाणां साधूनां' इस पदके दो अर्थ होते हैं। व्यवहारकी अपेक्षा अर्थ करनेपर आचार्य, उपाध्याय व साधु इन तीन साधुओंसे वात्सल्य करना सम्यग्दृष्टिका गुण है]

३. वात्सल्यका निश्चय लक्षण

स. सा/मू/२३५ जो कुणदि वच्छलत्त तियेह साहूण मोक्खमग्गम्मि। सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो। =जो (चेतयिता) मोक्षमार्गमें स्थित सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप तीन साधकों या साधनोंके प्रति (अथवा व्यवहारसे आचार्य उपाध्याय और मुनि इन तीन साधुओंके प्रति) वात्सल्य करता है, वह वात्सल्यभावसे युक्त सम्यग्दृष्टि जानना चाहिए।

रा. वा/६/२४/१/५२९/१५ जिनप्रणीतधर्मामृते नित्यानुरागता वात्सल्यम्। =जिन प्रणीत (रत्नत्रय) धर्मरूप अमृतके प्रति नित्य अनुराग करना वात्सल्य है। (म पु./६३/३२०); (चा सा./५/३)

भ. आ/वि/४५/१५०/५ वात्सल्यं, रत्नत्रयादरो वा आत्मन। =अथवा अपने रत्नत्रय धर्ममें आदर करना वात्सल्य है।

पु सि. उ/२९ अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे। सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परम वात्सल्यमालम्ब्यम्। =मोक्षसुखकी सम्पदाके कारणभूत जैनधर्ममे, अहिंसामे और समस्त ही उक्त धर्मयुक्त साधर्मी जनोंमें निरन्तर उत्कृष्ट वात्सल्य व प्रीतिको अवलम्बन करना चाहिए।

द्र. स/टी/४१/१७६/१० निश्चयवात्सल्यं पुनस्तस्यैव व्यवहारवात्सल्य-गुणस्य सहकारित्वेन धर्मे दृढत्वे जाते सति मिथ्यात्वरागादिसमस्त-शुभाशुभबहिर्भावेषु प्रीति त्यक्त्वा रागादिविकल्पोपाधिरहितपरम-स्वास्थ्यसंवित्तिसंजातसदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वाद प्रति प्रीतिकरणमेवेति सप्तमाङ्ग व्याख्यातम्। =पूर्वोक्त व्यवहार वात्सल्य-गुणके सहकारीपनेसे जब धर्ममें दृढता हो जाती है, तब मिथ्यात्व, राग आदि समस्त शुभ अशुभ बाह्य पदार्थोंमें प्रीति छोडकर रागादि विकल्पोंकी उपाधिसे रहित परमस्वास्थ्यके अनुभवसे उत्पन्न सदा आनन्दरूप सुखमय अमृतके आस्वादके प्रति प्रीतिका करना ही निश्चय वात्सल्य है। इस प्रकार सप्तम वात्सल्य अगका व्याख्यान हुआ।

४. प्रवचन वात्सल्यका लक्षण

स. सि/६/२४/३३९/६ वत्से धेनुवत्सधर्मणि स्नेह प्रवचनवत्सलत्वम्। =जैसे गाय बछडेपर स्नेह रखती है उसी प्रकार साधर्मियोपर स्नेह रखना प्रवचनवत्सलत्व है। (भा पा/टी/७७/२२१/१७)

रा वा/६/२४/१३/५३०/२० यथा धेनुर्वत्से अकृत्रिमस्नेहमुत्पादयति तथा सधर्माणमवलोक्य तद्गतस्नेहार्द्रीकृतचित्तता, प्रवचनवत्सलत्वमित्युच्यते। य सधर्मणि स्नेह' स एव प्रवचनस्नेह इति। =जैसे गाय अपने बछडेमे अकृत्रिम स्नेह करती है उसी तरह धार्मिक जनको देखकर स्नेहसे ओतप्रोत हो जाना प्रवचनवत्सलत्व है। जो धार्मिकोमें स्नेह है वही तो प्रवचन स्नेह है।

ध. ८/३,४१/९०/७ तेसु अणुरागो आकंखा ममेदंभावो पवयणवच्छलदा णाम। =[उक्त प्रवचनों अर्थात् सिद्धान्त या बारह अगोमें अथवा उनमें होनेवाले देशव्रती महाव्रती व असयतसम्यग्दृष्टियोमें—(दे. प्रवचन)] जो अनुराग, आकांक्षा अथवा ममेदं बुद्धि होती है, उसका नाम प्रवचनवत्सलता है। (चा. सा./५६/५)

५. एक प्रवचनवात्सल्यसे ही तीर्थंकर प्रकृति बन्ध सम्भावनामें हेतु

ध. ८/३,४१/८०,८ तीए तित्थयरकम्मं बज्झइ। कुदो। पंचमहव्वदादि-आगमत्थविसयमुक्कट्ठाणुरायस्स दंसणविसुज्झदादीहि अविणाभावादो।

चा. सा./५७/१ तेनैकेनापि तीर्थंकरनामकर्मबन्धो भवति। =इस एक प्रवचन वात्सल्यसे ही तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध हो जाता है, क्योंकि, पाँच महाव्रतादिरूप आगमार्थ विषयक उत्कृष्ट अनुरागका दर्शन-विशुद्धतादिकोंके साथ अविनाभाव है। (चा. सा./५८/१), (और भी दे भावना/२)

६. वात्सल्य रहित धर्म निरर्थक है

कुरल काव्य/८/७ अस्थिहीनं यथा कीटं सूर्यो दहति तेजसा। तथा दहति धर्मश्च प्रेमशून्य नृकीटकम्।७। =देखो, अस्थिहीन कीड़ेको सूर्य किस तरह जला देता है। ठीक उसी तरह धर्मशीलता उस मनुष्यको जला डालती है जो प्रेम नहीं करता।

वात्सायन—अक्षपाद गौतमके न्यायसूत्रके सर्वप्रधान भाष्यकार। समय—ई. श./४/—दे. न्याय/१/७।

वाद—चौथे नरकका छठा पटल।—दे. नरक/५।

वाद—हार-जीतके अभिप्रायसे की गयी किसी विषय सम्बन्धी चर्चा वाद कहलाता है। वीतरागीजनोंके लिए यह अत्यन्त अनिष्ट है। फिर भी व्यवहारमें धर्म प्रभावना आदिके अर्थ कदाचित इसका प्रयोग विद्वानोंको सम्मत है।

१. वाद व विवादका लक्षण

दे० कथा (न्याय/३) (प्रतिवादीके पक्षका निराकरण करनेके लिए अथवा हार-जीतके अभिप्रायसे हेतु या दूषण देते हुए जो चर्चा की जाती है वह विजिगीषु कथा या वाद है।)

न्या सू./मू./१/२/१/४१ प्रमाणतर्कसाधनोपलम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः।१। =पक्ष और प्रतिपक्षके परिग्रहको वाद कहते हैं। उसके प्रमाण, तर्क, साधन, उपालम्भ, सिद्धान्तसे अविरुद्ध और पंच अवयवसे सिद्ध ये तीन विशेषण हैं। अर्थात् जिसमें अपने पक्षका स्थापन प्रमाणसे, प्रतिपक्षका निराकरण तर्कसे परन्तु सिद्धान्तसे अविरुद्ध हो, और जो अनुमानके पाँच अवयवोंसे युक्त हो, वह वाद कहलाता है।

स्या. म./१०/१०७/८ परस्पर लक्ष्मीकृतपक्षाधिक्षेपदक्षः वादो—वचनोपन्यासो विवादः। तथा च भगवान् हरिभद्रसूरि —'लब्धख्यात्यर्थिना तु स्याद् दुःस्थितेनामहात्मना। छलजातिप्रधानो यः स विवाद इति स्मृतः।' =दूसरेके मतका खण्डन करनेवाले वचनका कहना विवाद है। हरिभद्रसूरिने भी कहा है, "लाभ और ख्यातिके चाहनेवाले कलुषित और नीच लोग छल और जातिसे युक्त जो कुछ कथन करते हैं, वह विवाद है।"

२. संवाद व विसंवादका लक्षण

स. सि./६/२२/३३७/१ विसंवादनमन्यथाप्रवर्तनम्।

स. सि./७/६/३४५/१२ ममेदं तवेदमिति सधर्मभिरसंवादः। =१. अन्यथा प्रवृत्ति (या प्रतिपादन—रा. वा.) करना विसंवाद है। (रा वा./६/२२/२/५२८/११)। २. 'यह मेरा है, यह तेरा है' इस प्रकार साधर्मियोंसे विसंवाद नहीं करना चाहिए। (रा वा./७/६/–/५३६/१६); (चा. सा./६४/५))

न्या वि./वृ./१/४/११८/१३ संवादो निर्णय एव 'नात परो विसंवाद' इति वचनात्। तदभावो विसंवादः। =संवाद निर्णय रूप होता है, क्योंकि, 'इससे दूसरा विसंवाद है' ऐसा वचन पाया जाता है। उसका अभाव अर्थात् निर्णय रूप न होना और वैसे ही व्यर्थमें चर्चा करते रहना, सो विसंवाद है।

३. वीतराग कथा वाद रूप नहीं होती

न्या दी./३/§८४/८०/२ केचिद्वीतरागकथा वाद इति कथयन्ति तत्स्वपरिभाषितमेव। न हि लोके गुरुशिष्यादिवाग्व्यापारे वादव्यवहारः। विजिगीषुवाग्व्यवहार एव वादत्वप्रसिद्धेः। =कोई (नैयायिक लोग) वीतराग कथाको भी वाद कहते हैं। (दे० आगे शीर्षक नं. ५) पर वह स्वग्रहमान्य अर्थात् अपने घरकी मान्यता ही है, क्योंकि लोकमें गुरु-शिष्य आदिकी सौम्य चर्चाको वाद या शास्त्रार्थ नहीं कहा जाता। हाँ, हार-जीतकी चर्चाको अवश्य वाद कहा जाता है।

४. वितण्डा आदि करना भी वाद नहीं है वादाभास है

न्या. वि./मू./२/२१५/२४४ तदाभासो वितण्डादिः अभ्युपेताव्यवस्थितेः। =वितण्डा आदि करना वादाभास है, क्योंकि, उससे अभ्युपेत (अंगीकृत) पक्षकी व्यवस्था नहीं होती है।

५. नैयायिकोंके अनुसार वाद व वितण्डा आदिमें अन्तर

न्या. सू./टिप्पणी/१/२/१/४१/२६ तत्र गुर्वादिभिः सह वादः विजिगीषुणा सह जल्पवितण्डे। =गुरु, शिष्य आदिकोंमें वाद होता है और जीतनेकी इच्छा करनेवाले वादी व प्रतिवादीमें जल्प व वितण्डा होता है।

६. वादीका कर्तव्य

सि वि./वृ./५/१०/३३५/२१ वादिना उभयं कर्तव्यम् स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणम्।

सि वि./वृ./५/११/३३७/१६ विजिगीषुणाभयं कर्तव्यं स्वपक्षसाधनं परपक्षदूषणम्। =वादी या जीतकी इच्छा करनेवाले विजिगीषुके दो कर्तव्य हैं—स्वपक्षमें हेतु देना और परपक्षमें दूषण देना।

७. मोक्षमार्गमें वाद-विवादका निषेध

त. सू./७/६ सधर्माविसंवादाः। =सधर्मियोंके साथ विसंवाद अर्थात् मेरा तेरा न करना यह अचौर्य महाव्रतकी भावना है।

यो सा./अ./८/३३ वादानां प्रतिवादानां भाषितारो विनिश्चितं। नैव गच्छन्ति तत्त्वान्तं गतेरिव विलम्बितं।३३। =जो मनुष्य वाद-प्रतिवादमें उलझे रहते हैं, वे नियमसे वास्तविक स्वरूपको प्राप्त नहीं हो सकते।

नि सा./ता. वृ./१५६ ततः परमार्थवेदिभिः स्वपरसमयेषु वादो न कर्तव्य इति। =इसलिए परमार्थके जाननेवालोंको स्वसमयों तथा परसमयोंके साथ वाद करने योग्य नहीं है।

प्र. सा./ता. वृ./२२७/प्रक्षेपक गा. ८ की टीका/३०५/१० इदमत्र तात्पर्यम्—स्वयं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यं परं प्रति विवादो न कर्तव्यः। कस्मात्। विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति, ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यतीति। =यहाँ यह तात्पर्य समझना चाहिए कि स्वयं वस्तु-स्वरूपको जानना ही योग्य है। परके प्रति विवाद करना योग्य नहीं, क्योंकि, विवादमें रागद्वेषकी भावना नष्ट हो जाती है। (और उससे संसारकी वृद्धि होती है—द्र. स.)। —(द्र. स./टी./२२/६७/६)।

८. परधर्म हानिके अवसरपर बिना बुलाये बोले अन्यथा चुप रहे

भ. आ./मू./८३१/९७१ अण्णस्स अप्पणो वा विधम्मिए विहडमाए कज्जे। जं ण पुच्छिज्जंतो अण्णेहिं य पुच्छिओ जंप ।८३१। = दूसरोंका अथवा अपना धार्मिक कार्य नष्ट होनेका प्रसंग आनेपर बिना पूछे ही बोलना चाहिए। यदि कार्य विनाशका प्रसंग न हो तो जब कोई पूछेगा तब बोलो। नहीं पूछेगा तो न बोलो।

ज्ञा./९/१५ धर्मनाशे क्रियाध्वंसे सुसिद्धान्तार्थविप्लवे। अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपप्रकाशने ।१५। = जहाँ धर्मका नाश हो क्रिया बिगड़ती हो तथा समीचीन सिद्धान्तका लोप होता हो उस समय धर्म-क्रिया और सिद्धान्तके प्रकाशनार्थ बिना पूछे भी विद्वानोंको बोलना चाहिए।

अन्य सम्बन्धित विषय

१. योगवक्रता व विसंवादमें अन्तर। —दे० योगवक्रता।
२. वस्तु विवेचनका उपाय। —दे० न्याय/१।
३. वाद व जय पराजय सम्बन्धी। —दे० न्याय/२।
४. अनेकों एकान्तवादों व मतोंके लक्षण निर्देश आदि। —दे० वह-वह नाम।
५. वादमें पक्ष को ही हेतु होते हैं। —दे० अनुमान/३।
६. नैयायिक लोग वादमें भी पाँच अवयव मानते हैं। —दे० वाद/१।

वादन्याय—आ. कुमारनन्दि (ई. ७७६) की न्याय विषयक रचना।

वादमहार्णव—श्वेताम्बराचार्य श्री अभयदेव (ई. श. १०) द्वारा रचित संस्कृत भाषाका एक न्याय विषयक ग्रन्थ।

वादिचंद्र—वि. सं. १६४८ (ई. १६०१) के पाण्डवपुराणके कर्ता एक भट्टारक। (म. पु/प्र २०/प पन्नालाल)।

वादित्व ऋद्धि—दे० ऋद्धि/२।

वादिदेव सूरि—बड़े तार्किक व नैयायिक एक श्वेताम्बराचार्य जिन्होंने 'परीक्षामुख' ग्रन्थपर 'प्रमाण नय तत्त्वालंकार स्याद्वाद रत्नाकर' नामकी टीका लिखी है। आपके शिष्यका नाम रत्नप्रभ समय—ई. १११७-११६९। (सि. वि./प्र. ३०,४१/प. महेन्द्र कुमार)।

वादिराज—१. मूलसंघ विभाजनके अनुसार समन्तभद्र व पूज्य-पादके मध्यवर्ती आचार्य थे। समय—वि. श. ३-५ (ई. श. ३-५) —दे० इतिहास/५/३। २ अनन्तवीर्यकी गुर्वावलीके अनुसार आप श्रीपालाचार्यके प्रशिष्य थे, और महाराज चालुक्य जयसिंह द्वि. जगदेकमल्लके गुरु थे। [आपके सम्बन्धमें यह कथा प्रसिद्ध है कि आपने अपने भक्तराज श्रेष्ठीकी झूठी बातको भी सच्ची करनेके लिए रात-रातमें ही एकीभाव स्तोत्रकी रचना करके अपने कुष्टी शरीरको बिलकुल निर्मल कर लिया था]। कृतियाँ—न्यायविनि-श्चयवृत्ति, एकीभावस्तोत्र, पार्श्वनाथचरित्र, यशोधर चरित्र, काकुत्स्थ चरित्र। समय—पार्श्वनाथकी रचना वि. १०८२ में हुई थी अत आपका काल ई. १०००-१०४० निश्चित है। —दे० इतिहास/५/४। (जैन साहित्य इतिहास/पृ. २७८/प्रेमी जी), (सि. वि./प्र. ७९, ८०, ७८/प. महेन्द्र), (जीवन्धर चम्पू/प्र. ९/A. N. Up.)।

वादिसिंह—अपर नाम वादीभसिंह।

वादीभसिंह—१. आचार्य पुष्पसेनके शिष्य थे। मद्रास प्रान्तके तिनिवेल्ली जिलेके आसपासके रहनेवाले थे। राजा सत्यंधर राजा कृष्ण प्रथम (अकालवर्ष), (ई. ७७८-८१२) के समकालीन थे। अपर नाम वादिसिंह था। कृतियाँ—आप्तमीमांसाकी टीका, स्याद्वाद-सिद्धि। समय—ई. ७७०-८६२। (दे. इतिहास/५/३); (क्षत्र चूडामणि/प्र./पृ. ५/प्रेमी जी), (पं. का/प्र./प./H. L. Jain); (म. पु./प्र./४१/प. पन्नालाल), (स्याद्वादसिद्धि/प्र./१३,१५,२४/ पं. दरबारीलाल कोठिया), २. अपर नाम ओडयदेव व उडयदेव थे। उत्तर पुराण (ई. ८९८) के आधारपर क्षत्रचूडामणि ग्रन्थ लिखा था। सम्भवतः वादीभसिंह इनकी उपाधि थी। कृतियाँ—गद्यचिन्तामणि, क्षत्रचूडामणि। समय—ई. १०१५-११५०। (जीवन्धरचम्पू/प्र. ८,९,११,१२/ A N.Up.); (जीवन्धरचम्पू/ प्र. २१ (K. K. Handiqui)।

वानप्रस्थ—चा. सा./२१/३ वानप्रस्था अपरिगृहीतजिनरूपा वस्त्र-खण्डधारिणः निरतिशयतपः समुद्यता भवन्ति। = जिन्होंने भगवत् अर्हन्तदेवका दिगम्बर रूप धारण नहीं किया है, जो खण्डवस्त्रोंको धारणकर निरतिशय तपश्चरण करनेमें तत्पर रहते हैं, उन्हें वानप्रस्थ कहते हैं।

वान वंश—दे० इतिहास/१/३।

वानायुज—भरत क्षेत्रका एक देश—दे० मनुष्य/४।

वामन राजाकी नगरी—दे० वनस्थली।

वामनसंस्थान—दे० संस्थान।

वामा—भगवान् पार्श्वकी माता। अपर नाम ब्राह्मी, वर्मिला, वर्मा। —दे० तीर्थंकर/५।

वायव्य—पश्चिमोत्तर कोणवाली विदिशा।

वायु—वायु भी अनेक प्रकारकी है। उनमें कुछ अचित्त होती है, और कुछ सचित्त। प्राणायाम ध्यान आदिमें भी वायुमण्डल व वायवी धारणाओंका प्रयोग किया जाता है।

१. वायुके अनेकों भेद व लक्षण

दे. पृथिवी—(वायु, वायुकायिक, वायुकाय और वायु इस प्रकार वायु के चार भेद हैं। तहाँ वायुकायिक निम्नरूपसे अनेक प्रकार है)।

मू. आ./२१२ वादुब्भामो उक्कलि मंडलि गुंजा महा घणु तणु य। ते जाण वाउजीवा जाणित्ता परिहरेदव्वा ।२१२। = सामान्य पवन, भ्रमता हुआ ऊँचा जानेवाला पवन, बहुत रज सहित गूँजनेवाला पवन, पृथिवीमें लगता हुआ चलनेवाला पवन, गूँजता हुआ चलनेवाला पवन, महापवन, घनोदधि वात, घनवात, तनुवात (विशेष दे० वातवलय)—ये वायुकायिक जीव हैं। (प. सं./प्रा./१/८०); (ध १/ १,१,४२/गा. १५२/२७३), (त. सा./२/६५)।

भ. आ./वि./६०८/८०५/२० झंझामण्डलिकादयो वायवः। = वायुके झंझावात और माण्डलिक ऐसे दो भेद हैं। जल वृष्टि सहित जो वायु बहती है उसको झंझावात कहते हैं और जो वर्तुलाकार भ्रमण करती है उसको माण्डलिक वायु कहते हैं।

२. प्राणायाम सम्बन्धी वायु मण्डल

ज्ञा./२९/२१,२६ सुवृत्तं बिन्दुसंकीर्णं नीलाञ्जनघनप्रभम्। चञ्चलं पव-नोपेतं दुर्लक्ष्यं वायुमण्डलम् ।२१। तिर्यग्वहत्यविश्रान्तः पवनाख्यः

पङ्गुलः। पवन' कृष्णवर्णोऽसौ उष्ण' शीतश्च लक्ष्यते।२६। =सुवृत्त कहिए गोलाकार तथा बिन्दुओं सहित नीलांजन' घनके समान है वर्ण जिसका, तथा चंचला (बहता हुआ) पवन बीजाक्षर सहित, दुर्लक्ष्य (देखनेमें न आवे) ऐसा वायुमण्डल है। यह पवनमण्डलका स्वरूप कहा।२१। जो पवन सब तरफ तिर्यक् बहता हो, विश्राम न लेकर निरन्तर बहता हो रहै तथा ६ अंगुल बाहर आवै, कृष्णवर्ण हो, उष्ण हो तथा शीत भी हो ऐसा पवनमण्डल सम्बन्धी पवन पहचाना जाता है।

३. मारुती धारणाका स्वरूप

ज्ञा./३७/२०-२३ विमानपथमापूर्य संचरन्तं समीरणम्। स्मरत्यविरत योगी महावेगं महाबलम्।२०। चालयन्त सुरानीक ध्वनन्तं त्रिदशालयम्। दारयन्त घनव्रात क्षोभयन्त महार्णवम्।२१। व्रजन्तं भुवनाभोगे सचरन्तं हरिन्मुखे। विसर्पन्त जगन्नीडे निविशन्तं धरातले।२२। उद्घूय तद्रज शीघ्र तेन प्रबलवायुना। तत' स्थिरीकृताभ्यास' समीर शान्तिमानयेत।२३। =योगी आकाशमें पूर्ण होकर विचरते हुए महावेगवाले और महाबलवान् ऐसे वायुमण्डलका चिन्तवन करै।२०। तत्पश्चात् उस पवनको ऐसा चिन्तवन करै कि—देवोकी सेनाको चलायमान करता है, मेरु पर्वतको कँपाता है, मेघोके समूहको बखेरता हुआ, समुद्रको क्षोभरूप करता है।२१। तथा लोकके मध्य गमन करता हुआ दशो दिशाओंमें संचरता हुआ जगत्‌रूप घरमें फैला हुआ, पृथिवीतलमें प्रवेश करता हुआ चिन्तवन करै।२२। तत्पश्चात ध्यानी (मुनि) ऐसा चिन्तवन करै कि वह जो शरीरादिकका भस्म है (दे० आग्नेयी धारणा) उसको इस प्रबल वायुमण्डलने तत्काल उड़ा दिया, तत्पश्चात् इस वायुको स्थिररूप चिन्तवन करके स्थिर करे।२३।

त० अनु /१८४ अकार मरुता पूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना। दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म, स्वतो भस्म विरेच्य च।१८४। =अर्हं मन्त्रके 'अ' अक्षरको पूरक पवनके द्वारा पूरित और कुम्भित करके रेफकी अग्निसे कर्मचक्रको अपने शरीर सहित भस्म करके फिर भस्मको स्वयं विरेचित करे।१८४।

४. बादर वायुकायिकोंका लोकमें अवस्थान

प ख /४/१,३/सूत्र २४/६६ बादरवाउक्काइयपज्जत्ता केवडि खेत्ते, लोगस्स संखेज्जदिभागे।२४।

ध ४/१,३,१७/८३/६ मंदरमूलादो उवरि जाव सदरसहस्सारकप्पो त्ति पंचरज्जु उस्सेधेण लोगणाली समचउरसा वादेण आउण्णा।

ध ४/३,२४/६६/८ बादरवाउपज्जत्तरासी लोगस्स संखेज्जदिभागमेत्तो मारणंतिय उववादगदो सव्वलोगे किण्ण होदि त्ति वुत्ते ण होदि, रज्जुपदरमुहेण पंचरज्जुआयामेण ट्ठिदखेत्ते चेव पाएण तेसिमुप्पत्तीदो। =बादर वायुकायिक पर्याप्त जीव कितने क्षेत्रमें रहते है? लोकके संख्यातवें भागमें रहते है।२४। (वह इस प्रकार कि)—मन्दराचलके मूलभागसे लेकर ऊपर शतार और सहस्रार कल्प तक पाँच राजू उत्सेधरूपसे समचतुरस्र लोकनाली वायुसे परिपूर्ण है।—प्रश्न—बादर वायुकायिक पर्याप्त राशि लोकके संख्यातवें भागप्रमाण है जब वह मारणान्तिक समुद्घात और उपपाद पदोको प्राप्त हो तब वह सर्व लोकमें क्यो नहीं रहती है? उत्तर—नही रहती है, क्योकि, राजुप्रतरप्रमाण मुखसे और पाँच राजु आयामसे स्थित क्षेत्रमें ही प्राय करके उन बादर वायुकायिक पर्याप्त जीवोकी उत्पत्ति होती है।

५. अन्य सम्बन्धित विषय

१. बादर तैजसकायिक आदिकोंका भवनवासियोंके विमानों व आठों पृथिवियोंमें अवस्थान (दे० काय/४)।
२ सूक्ष्म तैजसकायिक आदिकोंका लोकमें सर्वत्र अवस्थान (दे० क्षेत्र/४)।
३. वायुमें पुद्गलके सर्व गुणोंका अस्तित्व (दे० पुद्गल/२)।
४. वायु कायिकोंमें कथचित् त्रसपना (दे० स्थावर)।
५ वायुकायिकोंमें वैक्रियिक योगकी सम्भावना (दे० वैक्रियिक)।
६. मार्गणा प्रकरणमें भाव मार्गणाकी इष्टता तथा तहाँ आयके अनुसार ही व्यय होनेका नियम (दे० मार्गणा)।
७. वायुकायिकोंमें गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणास्थान आदि २० प्ररूपणाएँ (दे० सत)।
८. वायुकायिकों सम्बन्धी सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव व अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणाएँ (दे० वह वह नाम)।
९. वायुकायिकोंमें कर्मोंका बन्ध उदय सत्त्व (दे० वह वह नाम)।

वायुभूति—ह. पु /४३/श्लोक—मगधदेश शालिग्राम सोमदेव ब्राह्मणका पुत्र था।१००। मुनियो द्वारा अपने पूर्व भवका वृत्तान्त सुन रुष्ट हुआ। रात्रिको मुनिहत्याको निकला पर यक्ष द्वारा कील दिया गया। मुनिराजने दयापूर्वक छुड़वा दिया, तब अणुव्रत धारण किया और मरकर सौधर्म स्वर्गमें उपजा। (१३६-१४६)। यह कृष्णके पुत्र शम्बके पूर्वका छठा भव है—दे० शब।

वायुरथ—म प /५९/८०-८२ भरतक्षेत्रके महापुर नगरका राजा था। धनरथ नामक पुत्रको राज्य देकर दीक्षा ले ली। प्राणत स्वर्गके अनुत्तर विमानमें उत्पन्न हुआ। यह 'अचलस्तोक' बलभद्रका पूर्वभव नं २ है।—दे० अचलस्तोक।

वारिणी—विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर।

वारिषेण—१. बृहत्कथा कोश/कथा नं. १०/पृ०—राजा श्रेणिकका पुत्र था।३५। विद्युच्चर चोरने रानी चेलनाका सूरदत्त नामक हार चुराकर।३६। कोतवालके भयसे श्मशान भूमिमें ध्यानस्थ इनके आगे डाल दिया, जिसके कारण यह पकड़े गये। राजाने प्राणदण्डकी आज्ञा की पर शस्त्र फूलोंके हार बन गये। तब विरक्त हो दीक्षा ले ली।३८। सोमशर्मा मित्रको जबरदस्ती दीक्षा दिलायी।३६। परन्तु उसकी स्त्री सम्बन्धी शल्यको न मिटा सका। तब उसके स्थितिकरणार्थ उसे अपने महलमें ले जाकर समस्त रानियोको शृंगारित होनेकी आज्ञा दी। उनका सुन्दर रूप देखकर उसके मनकी शल्य धुल गयी और पुन दीक्षित हो धर्ममें स्थित हुआ।४२। २. भगवान् वीरके तीर्थके एक अनुत्तरोपपादक—दे० अनुत्तरोपपादक।

वारुणी—ज्ञा /३७/२४-२७ वारुण्या स हि पुण्यात्मा घनजालचित नभ'। इन्द्रायुधतडिद्गर्जच्चमत्काराकुल स्मरेत्।२४। सुधाम्बुप्रभवै' सान्द्रैर्बिन्दुभिर्मौक्तिकोज्ज्वलै'। वर्षन्त ते स्मरेद्धीर' स्थूलस्थूलैर्निरन्तरम्।२५। ततोऽर्द्धेन्दुसमं कान्त पुर वरुणलाञ्छितम्। ध्यायेत्सुधापय'पूरैः प्लावयन्त नभस्तलम्।२६। तेनाचिन्त्यप्रभावेण दिव्यध्यानोत्थिताम्बुना। प्रक्षालयति नि शेष तद्रजःकायसभवम्। =वही पुण्यात्मा (ध्यानी मुनि) इन्द्रधनुष, बिजली, गर्जनादि चमत्कार सहित मेघोंके समूहसे भरे हुए आकाशका ध्यान करै।२४। तथा उन मेघोको अमृतसे उत्पन्न हुए मोतियोंके समान उज्ज्वल बड़े-बड़े बिन्दुओसे निरन्तर धाररूप वर्षते हुए आकाशको धीर, वीर मुनि

स्मरण करे अर्थात् ध्यान करे ।२५। तत्पश्चात् अर्द्धचन्द्राकार, मनोहर, अमृतमय, जलके प्रवाहसे आकाशको बहाते हुए वरुणपुर (वरुण मण्डलका) चिन्तवन करे ।२६। अचिन्त्य है प्रभाव जिसका ऐसे दिव्य ध्यानसे उत्पन्न हुए जलसे, शरीरके जलनेसे (दे० आग्नेयी धारणा) उत्पन्न हुए समस्त भस्मको प्रक्षालन करता है, अर्थात् धोता है, ऐसा चिन्तवन करे ।२७।

त अनु./१८५ ह-मन्त्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि । तेनान्यत्तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलम् ।१८५। ='ह' मन्त्रको आकाशमें ऐसे ध्याना चाहिए कि उसमें आत्मामें अमृत झर रहा है, और उस अमृतसे अन्य शरीरका निर्माण होकर वह अमृतमय और उज्ज्वल बन रहा है।

वारुणी—१ रुचक पर्वत निवासिनी एक दिक्कुमारी —दे० लोक । २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका नगर ।—दे० विद्याधर ।

वारुणीवर—मध्यलोकका चतुर्थ द्वीप व सागर—दे० लोक/५ ।

वार्ता—म पु /३८/३५ वार्ता विशुद्धवृत्त्या स्यात् कृष्यादीनामनुष्ठितं । =विशुद्ध आचरण पूर्वक खेती आदिका करना वार्ता कहलाती है। (चा० सा./४३/५)।

वार्तिक—श्लो. वा /१/प १ पं २/२०/१० वार्तिक हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधान प्रसिद्धम् ।=सूत्रके नहीं अवतार होने देनेकी तथा सूत्रोंके अर्थको न सिद्ध होने देनेकी ऊहापोह या तर्कणा करना और उसका परिहार करना, तथा ग्रन्थके विशेष अर्थको प्रतिपादित करना, ऐसे वाक्यको वार्तिक कहते हैं।

वार्षगण्य—सांख्यमतके प्रसिद्ध प्रणेता। समय—ई० २३०-३०० । —दे० सांख्य ।

वाल्मीकि—एक विनयवादी—दे० वैनयिक ।

वाल्हीक—भरतक्षेत्र उत्तर आर्यखण्डका एक देश ।—दे० मनुष्य/४

वाविल—पाँचवें नरकका चौथा पटल ।—दे० नरक/५ ।

वासना—१. स.श./टी /३७ शरीरादौ शुचिस्थिर स्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्तासामभ्यास पुन' पुन' प्रवृत्तिस्तेन जनिता' संस्कारा वासना । =शरीरादिको शुचि, स्थिर और आत्मीय माननेरूप जो अविद्या अज्ञान है उसके पुन पुन' प्रवृत्तिरूप अभ्याससे उत्पन्न संस्कार वासना कहलाते हैं।

* **अनन्तानुबन्धी आदि कषायोंका वासनाकाल** —दे० वह वह नाम ।

वासव—गन्धर्व नामक व्यन्तर देवोंका एक भेद ।—दे० गन्धर्व ।

वासुकि—कुण्डल पर्वतके महाप्रभकूटका स्वामी नागेन्द्र देव ।—दे० लोक/७ ।

वासुदेव—१. कृष्णका अपरनाम है ।—दे० कृष्ण । २. नव वासुदेव परिचय व वासुदेवका लक्षण । —दे० शलाका पुरुष/८ ।

वासुदेव सार्वभौम—नव्य न्यायके प्रसिद्ध प्रणेता। समय—ई० १५०० ।—दे० न्याय/१/७ ।

वासुपूज्य—म. पु /५८/श्लोक—पूर्वभव नं० २ में पुष्करार्ध द्वीपके पूर्व मेरु सम्बन्धी वत्सकावती देशमें रत्नपुर नगरके राजा 'पद्मोत्तर' थे ।२। पूर्व भवमें महाशुक्र स्वर्गमें देव हुए ।१३। वर्तमानभवमें १२ वें तीर्थंकर हुए ।—दे० तीर्थंकर/५ ।

वाहिनी—सेनाका एक अंग ।—दे० सेना ।

विदफल—Volume (ज. प./प्र. १०८) ।

विंध्य पर्वत—श्रवणबेलगोलमें दो पर्वत प्रसिद्ध हैं—एक चन्द्रगिरि और दूसरा विन्ध्यगिरि । (द.सा./पृ. ११ की टिप्पणी। प्रेमी जी)।

विंध्य वर्मा—भोजवंशकी वंशावलीके अनुसार यह अजयवर्माका पुत्र और सुभटवर्माका पिता था । मालवादेश (मगध) का राजा था। धारा नगरी व उज्जैनी इसकी राजधानी थी। अपरनाम विजयवर्मा था। समय—वि० सं० १२४६-१२५७ (ई० ११९२-१२००)। —दे० इतिहास/३ ।

विंध्यव्यासी—वार्षगण्यका शिष्य तथा सांख्य दर्शनका प्रसिद्ध प्रणेता । समय—ई० २५०-३२० ।—दे० सांख्य ।

विंध्यशक्ति—म पु /५८/श्लोक —भरतक्षेत्रके मलयदेशका राजा था ।६३। भाई सुषेणकी नर्तकीको युद्ध करके छीन लिया ।७६। चिरकाल तक अनेकों योनियोंमें भ्रमण करनेके पश्चात् ।८०। भरतक्षेत्रके भोगवर्द्धन नामक नगरके राजा श्रीधरका 'तारक' नामका पुत्र हुआ । यह तारक प्रतिनारायणका दूरवर्ती पूर्वभव है । —दे० तारक ।

विंध्याचल—भरतक्षेत्र आर्यखण्डका एक पर्वत या देश जिसमें निम्न प्रान्त सम्मिलित हैं । —दशार्णक, किष्किन्ध, त्रिपुर, आवर्त, नैषध, नैपाल, उत्तमवर्ण, वैदिश, अन्तप, कौशल, पत्तन, विनिहात्र । —दे० मनुष्य/४ ।

विकट—दे० ग्रह ।

विकथा—दे० कथा ।

विकल—१. विकल दोष । —दे० शून्य । २. साध्य साधन विकल दृष्टान्त—दे० दृष्टान्त ।

विकलन—Distribution (ध ५/प्र. २८) ।

विकलादेश—

रा वा /४/४२/१३/२५२/२२ धर्मिणा भेदेन विवक्षा तदैकस्य शब्दस्यानेकार्थप्रत्यायनशक्त्यभावात् क्रम' ।.. यदा तु क्रम तदा विकलादेश', स एव नय इति व्यपदिश्यते । =जब वस्तुके अस्तित्व आदि अनेक धर्म कालादिकी अपेक्षा भिन्न भिन्न विवक्षित होते हैं, उस समय एक शब्दमें अनेक अर्थोंके प्रतिपादनकी शक्ति न होनेसे क्रमसे प्रतिपादन होता है। इसे विकलादेश कहते हैं। और यह नयके आधीन है।"—विशेष—दे० नय/I/२ । (श्लो. वा./२/१/६/४५१/१६)। (स म /२३/२८३/१६)।

रा वा./४/४२/१६/२६०/१२ निरंशस्यापि गुणभेदादंशकल्पना विकलादेश' ।१६। स्वेन तत्त्वेनाप्रविभागस्यापि वस्तुनो विविक्त गुणरूपं स्वरूपोपरञ्जकमपेक्ष्य प्रकल्पितमंशभेदं कृत्वा अनेकात्मकैकत्व व्यवस्थाया नरसिंहसिंहत्ववत समुदायात्मकमात्मरूपमभ्युपगम्य कालादिभिरन्योन्यविषयानुप्रवेशरहितांशकल्पन विकलादेश', न तु केवल सिंहे सिंहत्ववत एकात्मकैकत्वपरिग्रहात् । यथा वा पानकमनेकखण्डदाडिमकर्पूरादिरसानुविद्धमास्वाद्य अनेकरसात्मकत्वमस्यावसाय पुन' स्वशक्तिविशेषादिदमप्यस्तीति विशेषनिरूपणं क्रियते, तथा अनेकात्मकैकवस्त्वभ्युपगमपूर्वकं हेतुविशेषसामर्थ्यात् अर्पितसाध्यविशेषावधारणं विकलादेश । कथं पुनरर्थस्याभिन्नस्य गुणो भेदक ? दृष्टो हि अभिन्नस्याप्यर्थस्य गुणस्तत्त्वभेदं कल्पयन् यथा परुत भवान् पटुरासीत् पटुतर एवम् इति गुणविविक्तरूपस्य द्रव्यासभवात् गुणभेदेन गुणिनोऽपि भेद ।=निरंश वस्तुमें गुणभेदसे अंशकल्पना करना विकलादेश है। स्वरूपसे अविभागी अखण्ड सत्ताक वस्तुएँ विविध गुणोंकी अपेक्षा अंश कल्पना करना अर्थात् अनेक और एकत्वकी व्यवस्थाके लिए मूलत नरसिंहमें सिंहत्वकी तरह समुदा-

यात्मक वस्तुस्वरूपको स्वीकार करके ही काल आदिकी दृष्टिसे परस्पर विभिन्न अंशोकी कल्पना करना विकलादेश है। केवल सिंहमें सिंहत्वकी तरह एकमे एकांशकी कल्पना करना विकलादेश नहीं है। जैसे दाडिम कर्पूर आदिसे बने हुए शर्बतमें विलक्षण रसकी अनुभूति और स्वीकृतिके बाद अपनी पहिचान शक्तिके अनुसार 'इस शर्बतमें इलाइची भी है कर्पूर भी है' इत्यादि विवेचन किया जाता है, उसी अनेकान्तात्मक एक वस्तुकी स्वीकृतिके बाद हेतुविशेषसे किसी विवक्षित अंशका निश्चय करना विकलादेश है। प्रश्न—गुण अभिन्न अर्थका भेदक कैसे हो सकता है? उत्तर—अखण्ड भी वस्तुमें गुणोंसे भेद देखा जा सकता है, जैसे—'गतवर्ष आप पटु थे, इस वर्ष पटुतर हैं' इस प्रयोगमें अवस्था भेदसे तदभिन्न द्रव्यमें भेद व्यवहार होता है। गुण भेदसे गुणिभेदका होना स्वाभाविक ही है। —(विशेष दे० द्रव्य/४/४), (और भी दे० सकलादेश)।

श्लो वा २/१/६/५६/४६०/२३ सकलाप्रतिपादकत्वात् प्रत्येक सदादिवाक्य विकलादेश इति न समीचीना युक्तिस्तत्समुदायस्यापि विकलादेशत्वप्रसङ्गात्। =सम्पूर्ण वस्तुका प्रतिपादक न होनेके कारण प्रत्येक बोला गया सत् असत् आदि वाक्य विकलादेश है, यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि यो तो उन सातों वाक्योंके समुदायको भी विकलादेशपनेका प्रसंग होगा। सातों वाक्य समुदित होकर भी वस्तुभूत अर्थके प्रतिपादक न हो सकेंगे। (स. भ. त./१६/२)।

क पा १/§१७१/२०३/६ को विकलादेश'। अस्त्येव नास्त्येव अवक्तव्य एव घट इति विकलादेश। कथमेतेषां सप्तानां दुर्नयानां विकलादेशत्वम्। न, एकधर्मविशिष्टस्यैव वस्तुन प्रतिपादनात्।=प्रश्न—विकलादेश क्या है? उत्तर—घट है ही, घट नहीं ही है, घट अवक्तव्यरूप ही है·· इस प्रकार यह (सप्तभंगी) विकलादेश है। प्रश्न—इन सातों दुर्नयरूप अर्थात् सर्वथा एकान्तरूप वाक्योंको विकलादेशपना कैसे प्राप्त हो सकता है? उत्तर—ऐसी आशंका ठीक नहीं, क्योंकि, ये सातों वाक्य एकधर्मविशिष्ट वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं, इसलिए ये विकलादेश रूप हैं।

स भ त /१६/३ अत्र केचित् · एक धर्मात्मकवस्तुविषयकबोधजनकवाक्यत्व विकलादेशत्वम् इत्याहु। तेषां · नयवाक्याना च सप्तविधत्वव्याघात।

स. म. त /१७/१ यत्तु धर्म्यविषयकधर्मविषयकबोधजनकवाक्यत्वं विकलादेशत्वमिति—तन्न। · धर्मिवृत्तित्वाविशेषितस्य धर्मस्यापि तथात्वादुक्तलक्षणस्यासम्भवात्।=यहाँपर कोई ऐसा कहते हैं कि वस्तुके सत्त्व असत्त्वादि धर्मोंमेंसे किसी एक धर्मका ज्ञान उत्पन्न करानेवाला वाक्य विकलादेश है। उनके मतमें नयवाक्योंके सप्तभेदका व्याघात होगा (दे० सप्तभंगी)। और जो कोई ऐसा कहते हैं कि धर्मीको छोडकर केवल विशेषणीभूत धर्ममात्रविषयक बोधजनक वाक्य विकलादेश है, सो यह भी युक्त नहीं है क्योंकि धर्मीमें वृत्तितारूपसे अविशेषित धर्मका भी शाब्दबोधमें भान नहीं होता है।

विकलेन्द्रिय—विकलेन्द्रिय जीवका लक्षण —दे० त्रस/१। २ विकलेन्द्रियोंके स्थान व दु स्वरपने सम्बन्धी शंका समाधान—दे० उदय/५। ३ विकलेन्द्रियों सम्बन्धी प्ररूपणाएँ—दे० इन्द्रिय।

विकल्प—विकल्प दो प्रकारका होता है—रागात्मक व ज्ञानात्मक। रागके सद्भावमें ही ज्ञानमें ज्ञप्तिपरिवर्तन होता है। और उसके अभावके कारण ही केवलज्ञान, स्वसंवेदन ज्ञान व शुक्लध्यान निर्विकल्प होते है।

१. विकल्प सामान्यका लक्षण

१. रागकी अपेक्षा

द्र स./टी./४१/१७४/१ अभ्यन्तरे सुख्यहं दु ख्यहमिति हर्षविषादकारण विकल्प इति। अथवा वस्तुवृत्त्या संकल्प इति कोऽर्थो विकल्प इति तस्यैव पर्याय'। =अन्तरंगमें मैं सुखी हूँ मैं दु:खी हूँ इस प्रकार जो हर्ष तथा खेदका करना है, वह विकल्प है। अथवा वास्तवमें जो संकल्प (पुत्र आदि मेरे हैं, ऐसा भाव) है, वही विकल्प है, अर्थात् विकल्प संकल्पकी पर्याय है। (प. का /ता. वृ /७/१६/८), (प प्र /टी /१/१६/२४/१)

२. ज्ञानमें आकारावभासनकी अपेक्षा

प्र. सा /त. प्र./१२४ विकल्पस्तदाकारावभासनम्। यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारोऽर्थ विकल्पस्तज्ज्ञानम्। =(स्वपरके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ है)। उसके आकारोंका अवभासन विकल्प है। दर्पणके निजविस्तारकी भाँति जिसमें एक ही साथ स्व-पराकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थ विकल्प ज्ञान है। (अर्थात ज्ञानभूमिमें प्रतिभासित बाह्य पदार्थोंके आकार या प्रतिबिम्ब ज्ञानके विकल्प कहे जाते है।)

द्र. स./टी./४२/१८१/३ घटोऽयं पटोऽयमित्यादिग्रहणव्यापाररूपेण साकार सविकल्पं व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थ'। = यह घट है, यह पट है' इत्यादि ग्रहण व्यापाररूपसे ज्ञान साकार, सविकल्प, व्यवसायात्मक व निश्चयात्मक होता है।—(और भी दे आकार/१)

पं. ध./५/६०८ अर्थालोकविकल्प।

पं ध /उ /३९१ आकारोऽर्थविकल्प स्यादर्थ स्वपरगोचर। सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ।३९१। =अर्थका प्रतिभास विकल्प कहलाता है।६०८। साकार शब्दमें आकार शब्दका अर्थ, अर्थ विकल्प होता है और वह अर्थ स्व तथा पर विषयरूप है। विकल्प शब्दका अर्थ उपयोगसहित अवस्था होता है, क्योंकि, ज्ञानका यह आकार लक्षण है।३९१। (पं ध /उ /८३७)

३. ज्ञप्तिपरिवर्तनकी अपेक्षा

पं. ध /उ /८३४ विकल्पो योगसंक्रान्तिरर्थाज्ज्ञानस्य पर्यय। ज्ञेयाकार स ज्ञेयार्थात ज्ञेयार्थान्तरसगत'।८३४। =योगोंकी प्रवृत्तिके परिवर्तनको विकल्प कहते हैं, अर्थात् एक ज्ञानके विषयभूत अर्थसे दूसरे विषयान्तरत्वको प्राप्त होनेवाली जो ज्ञेयाकाररूप ज्ञानकी पर्याय है, वह विकल्प कहलाता है।

मो. मा प्र /७/३१०/१ रागद्वेषके वशतै किसी ज्ञेयके जाननेविषै उपयोग लगावना। किसी ज्ञेयके जाननेतै छुडावना, ऐसे बरावर उपयोगका भ्रमावना, ताका नाम विकल्प है। बहुरि जहाँ वीतरागरूप होय जाकों जानै हैं, ताकौ यथार्थ जानै है। अन्य अन्य ज्ञेयके जाननेके अर्थि उपयोगकौं नाहीं भ्रमावै है। तहाँ निर्विकल्प दशा जाननी।

२. ज्ञान सविकल्प है और दर्शन निर्विकल्प

द्र सं /टी /४/१३/१ निर्विकल्पकं दर्शनं सविकल्पक ज्ञानं। =दर्शन तो निर्विकल्पक है और ज्ञान सविकल्पक है। (प. का /ता. वृ /४०/८०/११)

★ ज्ञानके अतिरिक्त सर्व गुण निर्विकल्प हैं—दे गुण/२।

३. सम्यग्दर्शनमें कथंचित् विकल्प व निर्विकल्पपना

पं ध./उ./८३८ विकल्प सोऽधिकारेऽस्मिन्नाधिकारो मनागपि। योगसंक्रान्तिरूपो यो विकल्पोऽधिकृतोऽधुना।८३८। =ज्ञानका स्वलक्षणभूत व विकल्प सम्यग्दर्शनके निर्विकल्प व सविकल्पके कथनमें कुछ भी अधिकार नहीं है, किन्तु योग-संक्रान्तिरूप जो विकल्प, वही इस समय सम्यक्त्वके सविकल्प और निर्विकल्पके विचार करते समय अधिकार रखता है।

४. लब्धिरूप ज्ञान निर्विकल्प होता है

प. ध./उ./८५८ सिद्धमेतावतोक्तेन लब्धिर्या प्रोक्तलक्षणा। निरुपयोगरूपत्वान्निर्विकल्पा स्वतोऽस्ति सा ।८५८। =इतना कहनेसे यह सिद्ध होता है, कि जिसका लक्षण कहा जा चुका है ऐसी जो लब्धि है, वह स्वत' उपयोगरूप न होनेसे निर्विकल्प है।

*** मति श्रुत ज्ञानकी कथंचित् निर्विकल्पता** —दे. विकल्प/५।

५. स्वसंवेदन ज्ञान निर्विकल्प होता है

द्र. सं /टी /५/१६/३ यच्च निश्चयभावश्रुतज्ञानं तच्च शुद्धात्माभिमुखसुखसंवित्तिस्वरूप स्वसंवित्त्याकारेण सविकल्पमपीन्द्रियमनोजनितरागादिविकल्पजालरहितत्वेन निर्विकल्पम्। =जो निश्चय भावश्रुत ज्ञान है, वह शुद्ध आत्माके अभिमुख होनेसे सुखसंवित्ति या सुखानुभव स्वरूप है। वह यद्यपि निज आत्माके आकारसे सविकल्प है तो भी इन्द्रिय तथा मनसे उत्पन्न जो विकल्पसमूह है उनसे रहित होनेके कारण निर्विकल्प है। (द्र सं /टी /४२/१८४/२)

दे. जीव/१/३/३ [समाधिकालमें स्वसंवेदनकी निर्विकल्पताके कारण ही जीवको कथंचित् जड कहा जाता है।]

पं. ध /पू /७१६ तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मन। किंतु विशिष्टदशायां भवतीह मन स्वयं ज्ञानम् ।७१६। पं. ध./उ./८५६ शुद्ध' स्वात्मोपयोगो य. स्वयं स्यात ज्ञानचेतना। निर्विकल्प' स एवार्थादिमक्रान्तात्मसंगते' ।८५६। =यहाँपर यह कथन निर्दोष है कि स्वात्माके ग्रहणमें निश्चयसे मन ही उपयोगी है, किन्तु इतना विशेष है कि विशिष्ट दशामें मन स्वत' ज्ञानरूप हो जाता है ।७१६। वास्तवमें स्वयं ज्ञानचेतनारूप जो शुद्ध स्वकीय आत्माका उपयोग होता है वह संक्रान्त्यात्मक न होनेसे निर्विकल्परूप ही है ।८५६।

६. स्वसंवेदनमें ज्ञानका सविकल्प लक्षण कैसे घटित होगा

द्र स /टी /४२/१८४/६ अत्राह शिष्य' इत्युक्तप्रकारेण यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञान भण्यते तन्न घटते। कस्मादिति चेत उच्यते। सत्तावलोकरूप चक्षुरादिदर्शन यथा जैनमते निर्विकल्प कथ्यते, तथा बौद्धमते ज्ञानं निर्विकल्पकं भण्यते। पर किंतु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनक भवति। जैनमते तु विकल्पस्योत्पादक भवत्येव न, किंतु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति। तथैव स्वपरप्रकाशक चेति। तत्र परिहार. कथंचित सविकल्पक निर्विकल्पकं च। तथाहि—यथा विषयानन्दरूप स्वसंवेदन रागसंवित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमिति शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पाना सद्भावेऽपि सति तेषा मुख्यत्व नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। तथा स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूप वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पाना सद्भावेऽपि सति तेषा मुख्यत्व नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। यत एवेहापूर्वस्वसंवित्त्याकारान्तर्मुखप्रतिभासेऽपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मा विकल्पा अपि सन्ति तत एव कारणात स्वपरप्रकाशक च सिद्धम्। =प्रश्न—यहाँ शिष्य कहता है कि इस कहे हुए प्रकारसे प्राभृत शास्त्रमें जो विकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञान कहा है, वह घटित नहीं होता, क्योंकि, जैनमतमें जैसे सत्तावलोकनरूप चक्षुदर्शन आदि हैं, उसको निर्विकल्प कहते हैं, उसी प्रकार बौद्धमतमें ज्ञान निर्विकल्प है, तथापि विकल्पको उत्पन्न करनेवाला होता है। और जैनमतमें तो ज्ञान विकल्पको उत्पन्न करनेवाला है ही नहीं, किन्तु स्वरूपसे ही विकल्प सहित है। और इसी प्रकार स्वपरप्रकाशक भी है। उत्तर—परिहार करते है।—जैनसिद्धान्तमें ज्ञानको कथंचित् सविकल्प और कथंचित निर्विकल्प माना गया है। सो ही दिखाते है।—जैसे विषयोमें आनन्दरूप जो स्वसंवेदन है वह रागके जाननेरूप विकल्पस्वरूप होनेसे सविकल्प है, तो भी शेष अनिच्छित जो सूक्ष्म विकल्प है उनका सद्भाव होनेपर भी उन विकल्पोंकी मुख्यता नही; इस कारणसे उस ज्ञानको निर्विकल्प भी कहते है। इसी प्रकार निज शुद्धात्माके अनुभवरूप जो वीतराग स्वसंवेदन ज्ञान है वह आत्मसंवेदनके आकाररूप एक विकल्पके होनेसे यद्यपि सविकल्प है, तथापि बाह्य विषयोंके अनिच्छित विकल्पोंका उस ज्ञानमें सद्भाव होनेपर भी उनकी उस ज्ञानमें मुख्यता नही है, इस कारणसे उस ज्ञानको निर्विकल्प भी कहते हैं। तथा—क्योंकि यहाँ अपूर्व संवित्तिके आकाररूप अन्तरंगमें मुख्य प्रतिभासके होनेपर भी बाह्य विषय वाले अनिच्छित सूक्ष्म विकल्प भी है। इस कारण ज्ञान निज तथा परको प्रकाश करनेवाला भी सिद्ध हुआ।

७. शुक्लध्यानमें कथंचित् विकल्प व निर्विकल्पपना

ज्ञा /४१/८ न पश्यति तदा किंचिन्न शृणोति न जिघ्रति। स्पृष्टं किंचिन्न जानाति साक्षान्निर्वृत्तिलेपवत्। =उस (शुक्ल) ध्यानके समय चित्रामकी मूर्त्तिकी तरह हो जाता है। इस कारण यह योगी न तो कुछ देखता है, न कुछ सुनता है, न कुछ सूंघता है और न कुछ स्पर्श किये हुएको जानता है ।८।

प ध /उ./८४२-८४३ यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्। अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमोऽर्थत. ।८४२। एकरूपमिवाभाति ज्ञान ध्यानैकतानत.। तत स्यात् पुन पुनर्वृत्तिरूपं स्यात्क्रमवर्ति च। ।८४३। =किन्तु जो किसी विषयमें निरन्तर रूपसे ज्ञान रहता है, उसे ध्यान कहते है, और इस ध्यानमें भी वास्तवमें क्रम ही है, किन्तु अक्रम नहीं है ।८४२। ध्यानकी एकाग्रताके कारण ध्यानरूप ज्ञान अक्रमवर्ति की तरह प्रतीत होता है, परन्तु वह ध्यानरूप ज्ञान पुन-पुन' उसी-उसी विषयमें होता रहता है, इसलिए क्रमवर्ती ही है ।८४३।

८. केवलज्ञानमें कथंचित् निर्विकल्प व सविकल्पपना

प्र. सा./मू./४२ परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं तस्स। णाणं त्ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ।४२। =ज्ञाता यदि ज्ञेयपदार्थ रूप परिणमित होता है (अर्थात 'यह काला है, यह पीला है' ऐसा विकल्प करता है तो उसके क्षायिकज्ञान होता ही नहीं। जिनेन्द्रदेवोंने ऐसे ज्ञानको कर्मको ही अनुभव करनेवाला कहा है ।४२।

प ध./उ /८३६, ८४५ अस्ति क्षायिकज्ञानस्य विकल्पत्वं स्वलक्षणात्। नार्थादर्थान्तराकारयोगसंक्रान्तिलक्षणात ।८३६। नोह्य तत्राप्यतिव्याप्ति क्षायिकात्यक्षसंविदि। स्यात्परिणामवत्त्वेऽपि पुनर्वृत्तेरसंभवात ।८४५। =स्वलक्षणकी अपेक्षासे क्षायिकज्ञानमें जो विकल्पपना है वह अर्थसे अर्थान्तराकाररूप योग संक्रान्तिके विकल्पकी अपेक्षा नही है ।८३६। क्षायिक अतीन्द्रिय केवलज्ञानमें अतिव्याप्तिका प्रसंग भी नही आता, क्योंकि, उसमें स्वाभाविक रूपसे परिणमन होते हुए भी पुनर्वृत्ति सम्भव नही है ।८४५।

९. निर्विकल्प केवलज्ञान ज्ञेयको कैसे जाने

नि. सा./ता. वृ /१७० कथमिति चेत, पूर्वोक्तस्वरूपमात्मानं खलु न जानात्यात्मा स्वरूपावस्थित संतिष्ठति। यथोष्णस्वरूपस्याग्नेः स्वरूपमग्नि' किं जानाति, तथैव ज्ञानज्ञेयविकल्पाभावात सोऽयमात्मात्मनि तिष्ठति। हहो प्राथमिकशिष्य अग्निवदयमात्मा किमचेतन। किं बहुना। तमात्मानं ज्ञान न जानाति चेद्द देवदत्तरहितपरशुवत इद हि नार्थक्रियाकारि, अतएव आत्मन. सकाशाद

व्यतिरिक्त भवति । तत्र खलु सयत स्वभाववादिनामिति । =प्रश्न—वह (विपरीत वितर्क) किस प्रकार है? पूर्वोक्तस्वरूप आत्माको आत्मा वास्तवमें जानता नहीं है, स्वरूपमें अवस्थित रहता है। जिस प्रकार उष्णतास्वरूप अग्निके स्वरूपको क्या अग्नि जानती है? उसी प्रकार ज्ञानज्ञेय सम्बन्धी विकल्पके अभावसे यह आत्मा आत्मामें स्थित रहता है । उत्तर—हे प्राथमिक शिष्य, अग्निकी भाँति क्या आत्मा अचेतन है? अधिक क्या कहा जाय, यदि उस आत्माको ज्ञान न जाने तो वह ज्ञान, देवदत्त रहित कुल्हाडीकी भाँति अर्थक्रियाकारी सिद्ध नहीं होगा, और यह इसलिए वह आत्मासे भिन्न सिद्ध होगा। और वास्तवमें स्वभाववादियोंको सम्मत नहीं है। —(विशेष दे० केवलज्ञान/६)।

विकल्पसमा—न्या. सू./मू. व वृ./५/१/४/२८८ साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमा' ।४। साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात्साध्यधर्मविकल्प प्रसजतो विकल्पसम । क्रियाहेतुगुणयुक्तं किंचिद् गुरु यथा लोष्ट किंचिल्लघु यथा वायुरेवं क्रियाहेतुगुणयुक्त किंचित्क्रियावत्स्याद् यथा लोष्ट किंचिदक्रियं यथात्मा विशेषो वा वाच्य इति। =साधनधर्मसे युक्त दृष्टान्तमें अन्य धर्मके विकल्पसे साध्यधर्मके विकल्पका प्रसग करानेवालेका नाम 'विकल्पसम' है। 'आत्मा क्रियावान् है, क्रियाहेतु गुणसे युक्त होनेके कारण, जैसे कि लोष्ट,' वादीके ऐसा कहे जानेपर प्रतिवादी कहता है—क्रिया हेतुगुणसे युक्त है तो आत्माको कुछ भारी होना चाहिए जैसे लोष्ट या कुछ हलका होना चाहिए जैसे वायु । अथवा लोष्टको भी कुछ क्रियारहित होना चाहिए जैसे आत्मा । या विशेष कहना चाहिए।

श्लो. वा/४/भाषाकार/१/३३/न्या. ३३७/४७३/१६ पक्ष और दृष्टान्तमें जो धर्म उसका विकल्प यानी विरुद्ध कल्प व्यभिचारीपन आदिसे प्रसग देना है, वह विकल्पसमाके उत्थानका बीज है। चाहे जिस किसी भी धर्मका कहीं भी व्यभिचार दिखला करके धर्मपनकी अविशेषतासे प्रकरण प्राप्त हेतुका भी प्रकरणप्राप्त साध्यके साथ व्यभिचार दिखला देना विकल्पसमा है। जैसे कि 'शब्द अनित्य है, कृतक होनेसे' इस प्रकार वादीके कह चुकनेपर यहाँ प्रतिवादी कहता है कि कृतकत्वका गुरुत्वके साथ व्यभिचार देखा जाता है। घट, पट, पुस्तक आदिमें कृतकत्व है, साथमें भारीपना भी है। किन्तु बुद्धि, दुःख, द्वित्व, भ्रमण, मोक्ष आदिमें कृतकपना होते हुए भी भारीपना नहीं है। (और इसी प्रकार भारीपनका भी कृतकत्वके साथ व्यभिचार देखा जाता है। जल और पृथिवीमें गुरुत्व है और वह अनित्य भी है। परन्तु उनके परमाणु नित्य है। अनित्यत्व व कृतकत्व तथा नित्यत्व व अकृतकत्व एकार्थवाची है।)

विकस—दे० वह।

विकार—

स. सि./५/२४/२९६/११ त एते शब्दादय. पुद्गलद्रव्यविकारा । =ये सब शब्द आदि (शब्द, बन्ध, सौक्ष्म्य, स्थौल्य, सस्थान, भेद, तम, छाया आदि) पुद्गलद्रव्यके विकार है।

रा वा./५/२०/१३/४७५/२८ परिणामान्तरसक्रान्तिलक्षणस्य विकारस्य ·। =परिणामान्तर रूपसे सक्रान्ति करना विकारका लक्षण है।

* विकार सम्बन्धी विषय—दे० विभाव।

विकार्य—दे० कर्ता/१।

विकाल—दे० ग्रह।

विकृतवान—विदेह क्षेत्रका एक वक्षार, उसका एक कूट तथा उसका रक्षक देव—दे० लोक/७।

विकृति—दे० निर्विकृति—(जिस भोजनसे जिह्वा व मनमें विकार उत्पन्न हो वह विकृति कहलाता है। जैसे—घी, दूध, चटनी आदि)।

विक्रम—सांगणका एक जैन कवि था जिसने नेमिदूत (नेमि चरित) नामका ग्रन्थ लिखा है। (नेमि चरित/प्र. ३/प्रेमीजी)।

विक्रम प्रबन्ध टीका—आ. श्रुतसागर (ई. १४७३-१५३३) द्वारा रचित ग्रन्थ।

विक्रम संवत्—दे० इतिहास/२।

विक्रमादित्य—१. मालवा (मगध) के राजा थे। इनके नामपर ही इनकी मृत्युके पश्चात् प्रसिद्ध विक्रमादित्य सवत् प्रचलित हुआ था। इनकी आयु ८० वर्षकी थी। १८ वर्षकी आयुमें राज्याभिषेक हुआ और ६० वर्ष पर्यन्त इनका राज्य रहा। (विशेष दे० इतिहास/२/विक्रम सवत्) तथा (इतिहास/३/मगध देशके राज्यवंश)। २. मगधदेशकी राज्य वंशावलीके अनुसार गुप्तवंशके तीसरे राजा चन्द्रगुप्तका अपर नाम था। यह विद्वानोंका बडा सत्कार करता था। भारतका प्रसिद्ध कवि शकुन्तला नाटककार कालिदास इसीके दरबारका रत्न था।—दे० इतिहास/३। ३. चीनी यात्री ह्यूनत्साग (ई० ६२६) कहता है कि उसके भारत आनेसे ६० वर्ष पूर्व यहाँ इस नामका कोई राजा राज्य करता था। तदनुसार उसका समय ई. ५०५-५८७ आता है।

विक्रांत—प्रथम नरकका १३ वाँ पटल—दे० नरक/५।

विक्रिया—१ विक्रिया ऋद्धि--दे० ऋद्धि/3। २ वैक्रियक शरीर व योग—दे० वैक्रियक।

विक्षेप—

न्या सू./मू./५/२/१९ कार्यव्यासगात्कथाविच्छेदो विक्षेप'। =जहाँ प्रतिवादी यों कहकर समाधानके समयको टाल देवे कि 'मुझे इस समय कुछ आवश्यक काम है, उसे करके पीछे शास्त्रार्थ करूँगा' तो इस प्रकारके कथाविक्षेप रूप निग्रहस्थानका नाम विक्षेप है। (श्लो. वा/४/१/३३/न्या/३६३/४२१/७) (नोट —श्लो वा. में इसका निषेध किया गया है)

विक्षेपिणी कथा—दे० कथा।

विज्ञप्ति—अवायज्ञानका पर्यायवाची—दे० अवाय।

विज्ञान—

न्या वि/वृ. में उद्धृत/१/११५/२० विज्ञान मेयबोधनम्। =जानने योग्य पदार्थका ज्ञान विज्ञान है।—(विशेष दे० ज्ञान)। (ध. ५/प्र. २८)—Science

विज्ञानभिक्षु—सांख्यदर्शनके प्रसिद्ध प्रणेता। इन्होने ही सांख्यमतमें ईश्वरवादका समावेश किया था। (दे० सांख्य)। इन्होंने ही योगदर्शनके व्यासभाष्यपर योगवार्तिक लिखा है (दे० योग दर्शन)। तथा अविभागाद्वैतवादरूप वेदान्तके सस्थापक भी यही थे।—दे० वेदान्त/VIII।

विज्ञानवाद—१. मिथ्या विज्ञानवाद

ज्ञा./४/२३ ज्ञानादेवेष्टसिद्धि स्यात्ततोऽन्य' शास्त्रविस्तर। मुक्तेरुक्तमतो बीज विज्ञान ज्ञानवादिभि' ।२३। =ज्ञानवादियोंका मत तो ऐसा है, कि एकमात्र ज्ञानसे ही इष्ट सिद्धि होती है, इससे अन्य जो

कुछ है सो सब शास्त्रका विस्तारमात्र है। इस कारण मुक्तिका बीजभूत विज्ञान ही है।—(विशेष दे० सांख्य व वेदान्त)।

* विज्ञानवादी बौद्ध—दे० बौद्ध दर्शन।

७ सम्यक् विज्ञानवाद

ज्ञा./४/२७ में उद्धृत—ज्ञानहीने क्रिया पुंसि परं नारभते फलम्। तरोश्छायेव किं लभ्या फलश्रीर्नष्टदृष्टिभिः ।१। ज्ञानं पङ्गौ क्रिया चान्धे निःश्रद्धे नार्थकृद्द्वयम्। ततो ज्ञानं क्रिया श्रद्धा त्रयं तत्पदकारणम् ।२। हतं ज्ञानं क्रियाशून्यं हता चाज्ञानिनः क्रिया। धावन्नप्यन्धको नष्टः पश्यन्नपि च पङ्गुकः ।३।=ज्ञानहीन पुरुषकी क्रिया फलदायक नहीं होती। जिसकी दृष्टि नष्ट हो गयी है, वह अन्धा पुरुष चलते-चलते जिस प्रकार वृक्षकी छायाको प्राप्त होता है, उसी प्रकार क्या उसके फलको भी पा सकता है ।१। (विशेष दे० चेतना/३/८, धर्म/२)। पगुमें तो वृक्षके फलका देख लेना प्रयोजनको नहीं साधता और अन्धेमें फल जानकर तोड़नेरूप क्रिया प्रयोजनको नहीं साधती। श्रद्धान रहितके ज्ञान और क्रिया दोनों ही, प्रयोजनसाधक नहीं है। इस कारण ज्ञान क्रिया, श्रद्धा तीनों एकत्र होकर ही वांछित अर्थकी साधक होती है ।२। क्रिया रहित तो ज्ञान नष्ट है और अज्ञानीकी क्रिया नष्ट होती है। दौड़ते-दौड़ते अन्धा नष्ट हो गया और देखता-देखता पगु नष्ट हो गया ।३। (विशेष दे० मोक्षमार्ग/१/२)।

दे. नय /I/५/४ नय न ४२—(आत्मा द्रव्य ज्ञाननयकी अपेक्षा विवेककी प्रधानतामें सिद्ध होता है)।

दे. ज्ञान/IV/३/१ (ज्ञान ही सर्व प्रधान है। वह अनुष्ठान या क्रियाका स्थान है)।

विज्ञानाद्वैत—दे. अद्वैत।

विग्रह—विग्रहो देहः।.. अथवा।

स. सि./२/२५/१८२/७ विरुद्धो ग्रहो विग्रहो व्याघातः। कर्मादानेऽपि नोकर्मपुद्गलादाननिरोध इत्यर्थः।

स. सि./२/२७/१८४/७ विग्रहो व्याघातः कौटिल्यमित्यर्थः।—१. विग्रहका अर्थ देह है। (रा. वा./२/२५/१/ (त. सा./२/९६), १३६/२६), (ध. १/१,१,६०/२९९/१)। २ अथवा विरुद्ध ग्रहको विग्रह कहते है, जिसका अर्थ व्याघात है। तात्पर्य यह है कि जिस अवस्थामें कर्मके ग्रहण होनेपर भी नोकर्मरूप पुद्गलोंका ग्रहण नहीं होता वह विग्रह है। (रा. वा./२/२५/२/१३७/४), (ध. १/१,१,६०/२९९/३)। ३. अथवा विग्रहका अर्थ व्याघात या कुटिलता है। (रा. वा./२/२७/ /१३८/८), (ध १/१,१,६०/२९९/८)।

रा. वा /२/२५/१/१३६/२९ औदारिकादिशरीरनामोदयात् तन्निर्वृत्तिसमर्थान् विविधान् पुद्गलान् गृह्णाति, विगृह्यते वासौ संसारिणेति विग्रहो देहः।=औदारिकादि नामकर्मके उदयसे उन शरीरोंके योग्य पुद्गलोंका ग्रहण विग्रह कहलाता है। अतएव ससारी जीवके द्वारा शरीरका ग्रहण किया जाता है। इसलिए देहको विग्रह कहते है। (ध १/१,१,६०/२९९/२)।

ध ४/१,३,२/२९/८ विग्गहो वक्को कुटिलो त्ति एगट्ठो।=विग्रह, वक्र और कुटिल ये सब एकार्थवाची नाम हैं।

विग्रहगति—एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरको प्राप्त करनेके लिए जो जीवका गमन होता है, उसे विग्रहगति कहते हैं। वह दो प्रकारकी है मोड़ेवाली और बिना मोड़ेवाली, क्योंकि गतिके अनुश्रेणी ही होनेका नियम है।

१. विग्रहगति सामान्यका लक्षण

स. सि./२/२५/१८२/७ विग्रहार्था गतिर्विग्रहगतिः।..विग्रहेण गतिर्विग्रहगतिः।=विग्रह अर्थात् शरीरके लिए जो गति होती है, वह विग्रहगति है। अथवा विग्रह अर्थात् नोकर्म पुद्गलोंके ग्रहणके निरोधके साथ जो गति होती है उसे विग्रह गति कहते है। (रा. वा./२/२५/१/१३६/२०; २/१३७/५), (ध. १/१,१,६०/१,४), (त. सा./२/९६)।

गो. क./जी. प्र./११८/११२ विग्रहगतौ—नष्ट पूर्वभवशरीरः उत्तरभवग्रहणार्थं गच्छतीत्यर्थः।=विग्रहगतिका अर्थ है पूर्वभवके शरीरको छोड़कर उत्तरभव ग्रहण करनेके अर्थ गमन करना।

२. विग्रहगतिके भेद, लक्षण व काल

रा. वा./२/२८/४/१३९/४ आसां चतसृणां गतीनामार्षोक्ताः संज्ञाः—इषुगति, पाणिमुक्ता, लाङ्गलिका, गोमूत्रिका चेति। तत्राविग्रहा प्राञ्जलिमती, इषोरिव गतिरिषुगतिः। क उपमार्थः। यथेषोर्गतिरालक्ष्यदेशात् ऋज्वी तथा संसारिणां सिद्ध्यतां च जीवानां ऋज्वी गतिरेकसामयिकी। पाणिमुक्तेव पाणिमुक्ता। क उपमार्थः। यथा पाणिना तिर्यक्प्रक्षिप्तस्य द्रव्यस्य गतिरेकविग्रहा तथा संसारिणामेकविग्रहा गतिः पाणिमुक्ता द्विसामयिकी। लाङ्गलमिव लाङ्गलिका। क उपमार्थः। यथा लाङ्गलं द्विवक्रितं तथा द्विविग्रहा गतिर्लाङ्गलिका त्रैसामयिकी। गोमूत्रिकेव गोमूत्रिका। क उपमार्थः। यथा गोमूत्रिका बहुवक्रा तथा त्रिविग्रहा गतिर्गोमूत्रिका चातुःसामयिकी।=वे (विग्रह) गतियाँ चार हैं—इषुगति, पाणिमुक्ता, लांगलिका, और गोमूत्रिका। इषुगति विग्रहरहित है और शेष विग्रहसहित होती हैं। सरल अर्थात् धनुषसे छूटे हुए बाणके समान मोड़ारहित गतिको इषुगति कहते हैं। इस गतिमें एक समय लगता है। जैसे हाथसे तिरछे फेंके गये द्रव्यकी एक मोड़ेवाली गति होती है, उसी प्रकार संसारी जीवोंके एक मोड़ेवाली गतिको पाणिमुक्ता गति कहते हैं। यह गति दो समयवाली होती है। जैसे हलमें दो मोड़े होते हैं, उसी प्रकार दो मोड़ेवाली गतिको लांगलिका गति कहते हैं। यह गति तीन समयवाली होती है। जैसे गायका चलते समय मूत्रका करना अनेक मोड़ोंवाला होता है, उसी प्रकार तीन मोड़ेवाली गतिको गोमूत्रिका गति कहते है। यह गति चार समयवाली होती है। (ध १/१,१,६०/२९९/६), (ध. ४/१,३,२/२९/७); (त. सा/२/१००-१०१), (चा सा./१७६/२)।

त सा /२/९९ सविग्रहाऽविग्रहा च सा विग्रहगतिर्द्विधा।=विग्रह या मोड़ेसहित और विग्रहरहितके भेदसे वह विग्रहगति दो प्रकारकी है।

३. विग्रहगति सम्बन्धी कुछ नियम

त. सू /२/२५—२९ विग्रहगतौ कर्मयोगः ।२५। अनुश्रेणि गतिः ।२६। विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ।२८। एकसमयाविग्रहा ।२९। एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः ।३०। =विग्रहगतिमें कर्म (कार्मण) योग होता है (विशेष दे० कार्मण/२) ।२५। गति श्रेणीके अनुसार होती है (विशेष दे० शीर्षक न. ५) ।२६। विग्रह या मोड़ेवाली गति चार समयोंसे पहले होती है; अर्थात् अधिकसे अधिक तीन समय तक होती है (विशेष दे० शीर्षक नं. ५) ।२८। एक समयवाली गति विग्रह या मोड़ेरहित होती है। (विशेष दे० शीर्षक न २ में इषुगतिका लक्षण) ।२९। एक, दो या तीन समय तक (विग्रह गतिमें) जीव अनाहारक रहता है (विशेष दे० आहारक)।

ध. १३/५,५,१२०/३७८/४ आणुपुव्विउदयाभावेण उजुगदीए गमणाभावप्पसंगादो। =ऋजुगतिमें आनुपूर्वीका उदय नहीं होता।

दे० कार्मण/२ (विग्रहगतिमें नियमसे कार्मणयोग होता है, पर ऋजुगतिमें कार्मणयोग न होकर औदारिकमिश्र और वैक्रियकमिश्र काय योग होता है।)

दे० अवगाहना/१/३ (मारणान्तिक समुद्घातके बिना विग्रह व अविग्रह गतिसे उत्पन्न होनेवाले जीवोंके प्रथम समयमें होनेवाली अवगाहनाके

समान ही अवगाहना होती है। परन्तु दोनों अवगाहनाके आकारोंमें समानताका नियम नहीं है।)

दे० आनुपूर्वी—(विग्रहगतिमें जीवोंका आकार व संस्थान आनुपूर्वी नामकर्मके उदयसे होता है, परन्तु ऋजुगतिमें उसके आकारका कारण उत्तरभवकी आयुका सत्त्व माना जाता है।)

दे० जन्म/१/२ (विग्रहगतिमें जीवोंके प्रदेशोंका संकोच हो जाता है।)

ध. ६/१,६-१,२८/६४/७ सजोगिकेवलिपरघादस्सेव तत्थ अव्वत्तोदएण अवट्ठाणादो। =सयोगिकेवलीको परघात प्रकृतिके समान विग्रहगतिमें उन (अन्य) प्रकृतियोंका अव्यक्तउदयरूपसे अवस्थान देखा जाता है।

★ विग्रहगतिमें जीवका जन्म मान ले तो—दे० जन्म/१।

★ विग्रहगतिमें संज्ञीको भुजगार स्थिति कैसे सम्भव है—दे० स्थिति/५।

४. विग्रह-अविग्रहगतिका स्वामित्व

त. सू./२/२७-२८ अविग्रहा' जीवस्स ।२७। विग्रहवती च संसारिण ।२८। =मुक्त जीवकी गति विग्रहरहित होती है। और संसारी जीवोंकी गति विग्रहरहित व विग्रहसहित दोनों प्रकारकी होती है। (त. सा./२/९८)।

ध. ११/४,२,५,११/२०/१० तसेसु दो विग्गहे मोत्तूण तिण्णि विग्गहाणमभावादो। =त्रसोंमें दो विग्रहोंको छोडकर तीन विग्रह नहीं होते।

५. जीव व पुद्गलोंकी गति अनुश्रेणी ही होती है

त. सू./२/२६ अनुश्रेणि गति ।२६। =गति श्रेणीके अनुसार होती है। (त सा./२/९८)।

दे० गति/१/५-७ (गति ऊपर-नीचे व तिरछे अर्थात् सीधी दिशाओंको छोडकर विदिशाओंमें गमन नहीं करती)।

स सि /२/२६/१८३/७ लोकमध्यादारभ्य ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च आकाशप्रदेशाना क्रम निविष्टाना पङ्क्ति. श्रेणि इत्युच्यते। 'अनु' शब्दस्यानुपूर्व्येण वृत्ति'। श्रेणेरानुपूर्व्येण्यनुश्रेणीति जीवाना पुद्गलाना च गतिर्भवतीत्यर्थ ।· ·ननु चन्द्रादीना ज्योतिष्काणा मेरुप्रदक्षिणाकाले विद्याधरादीना च विश्रेणिगतिरपि दृश्यते, तत्र किमुच्यते अनुश्रेणि गति इति। कालदेशनियमोऽत्र वेदितव्य । तत्र कालनियमस्तावज्जीवाना मरणकाले भवान्तरसक्रममुक्ताना चोर्ध्वगमनकाले अनुश्रेण्येव गति' । देशनियमोऽपि ऊर्ध्वलोकादधोगति', अधोलोकादूर्ध्वगति , तिर्यग्लोकादधोगतिरूर्ध्वा वा तत्रानुश्रेण्येव। पुद्गलाना च या लोकान्तप्रापिणी सा नियमादनुश्रेण्येव । इतरा गतिर्भजनीया। =लोकके मध्यसे लेकर ऊपर-नीचे और तिरछे क्रमसे स्थित आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते है। 'अनु' शब्द आनुपूर्वी अर्थमें समसित है। इसलिए अनुश्रेणीका अर्थ श्रेणीकी आनुपूर्वीसे होता है । इस प्रकारकी गति जीव और पुद्गलोंकी होती है, यह इसका भाव है। प्रश्न—चन्द्रमा आदि ज्योतिषियोंकी और मेरुकी प्रदक्षिणा करते समय विद्याधरोंकी विश्रेणी गति देखी जाती है, इसलिए जीव और पुद्गलोंकी अनुश्रेणी गति होती है, यह किस लिए कहा? उत्तर—यहाँ कालनियम और देशनियम जानना चाहिए। कालनियम यथा—मरणके समय जब जीव एक भवको छोडकर दूसरे भवके लिए गमन करते है और मुक्तजीव जब ऊर्ध्वगमन करते है, तब उनकी गति अनुश्रेणि ही होती है। देशनियम यथा—जब कोई जीव ऊर्ध्वलोकसे अधोलोकके प्रति या अधोलोकसे ऊर्ध्वलोकके प्रति आता-जाता है। इसी प्रकार तिर्यग्लोकसे अधोलोकके प्रति या ऊर्ध्वलोकके प्रति जाता है तब उस अवस्थामें गति अनुश्रेणी ही होती है। इस प्रकार पुद्गलोंकी जो लोकके अन्तको प्राप्त करानेवाली गति होती है वह अनुश्रेणि ही होती है। हाँ, इसके अतिरिक्त जो गति होती है वह अनुश्रेणि भी होती है और विश्रेणि भी। किसी एक प्रकारकी होनेका नियम नहीं है।

६. तीन मोड़ों तकके नियममें हेतु

स. सि /२/२८/१८५/५ चतुर्थात्समयात्प्राग्विग्रहवती गतिर्भवति न चतुर्थे इति। कुत इति चेद् । सर्वोत्कृष्टविग्रहनिमित्तनिष्कुटक्षेत्रे उत्पित्सु' प्राणी निष्कुटक्षेत्रानुपूर्व्यनुश्रेण्यभावादिषुगत्यभावे निष्कुटक्षेत्रप्रापणनिमित्ता त्रिविग्रहां गतिमारभते नोर्ध्वाम्, तथाविधोपपादक्षेत्राभावात्। =प्रश्न—मोडेवाली गति चार समयसे 'पूर्व अर्थात् तीन समय तक ही क्यों होती है चौथे समयमें क्यों नहीं होती? उत्तर—निष्कुट क्षेत्रमें उत्पन्न होनेवाले जीवको सबसे अधिक मोडे लेने पडते हैं, क्योंकि वहाँ आनुपूर्वीसे अनुश्रेणीका अभाव होनेसे इषुगति नहीं हो पाती। अत' यह जीव निष्कुट क्षेत्रको प्राप्त करनेके लिए तीन मोडेवाली गतिका आरम्भ करता है। यहाँ इससे अधिक मोडोंकी आवश्यकता नहीं पडती, क्योंकि, इस प्रकारका कोई उपपाद क्षेत्र नहीं पाया जाता है, अत. मोडेवाली गति तीन समय तक ही होती है, चौथे समयमें नहीं होती। (रा वा./२/२८/४/१३९/५)।
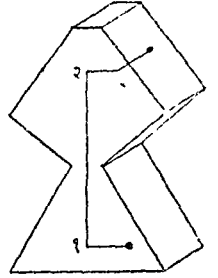
ध.१/१,१,६०/३००/४ स्वस्थितप्रदेशादारभ्योर्ध्वाधस्तिर्यगाकाशप्रदेशानां क्रमसनिविष्टाना पङ्क्ति. श्रेणिरित्युच्यते। तयैव जीवाना गमन नोच्छ्रेणिरूपेण। ततस्त्रिविग्रहा गतिर्न विरुद्धा जीवस्येति। =जो प्रदेश जहाँ स्थित है वहाँसे लेकर ऊपर, नीचे और तिरछे क्रमसे विद्यमान आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिको श्रेणी कहते है। इस श्रेणीके द्वारा ही जीवोंका गमन होता है, श्रेणीको उल्लघन करके नहीं होता है। इसलिए विग्रहगतिवाले जीवके तीन मोडेवाली गति विरोधको प्राप्त नहीं होती है। अर्थात् ऐसा कोई स्थान ही नहीं है, जहाँपर पहुँचनेके लिए चार मोडे लग सकें।

★ उपपाद स्थानको अतिक्रमण करके गमन होने व न होने सम्बन्धी दृष्टिभेद—दे० क्षेत्र/३/४।

विघ्न—स. सि /६/२७/३४१/१ तेषां विहननं विघ्न । =उनका अर्थात् दान, लाभ, भोग, उपभोग व वीर्यका नाश करना विघ्न है। (रा. वा./६/२७/१/५३१/२६)॥

विचय—

स सि./९/३६/४४६/४ विचयन विचयो विवेको विचारणेत्यर्थ'। =विचयन करना विचय है। विचय, विवेक और विचारणा ये पर्याय नाम है। (रा. वा./९/३६/१/६३०/२)।

ध ८/३,१/२/३ विचओ विचारणा मीमांसा परिक्खा इदि एयट्ठो। =विचय, विचारणा, मीमासा और परीक्षा ये समानार्थक शब्द है। —(और भी दे० परीक्षा)।

विचार या वीचार—

त. सू /९/४४ वीचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्ति' ।४४। —अर्थ, व्यजन और योगकी सक्रान्ति वीचार है।

स. सि./९/४४/४५५/१३ एव परिवर्तन वीचार इत्युच्यते । =इस प्रकार-के (अर्थ व्यञ्जन व योगके) परिवर्तनको वीचार कहते हैं। (रा. वा./९/४४/-/६३४/१३)।

रा. वा./१/१३/११/५५/१८ आलम्बने अर्पणा वितर्क, तत्रैवानुमर्शनं विचार.। =विषयके प्रथम ज्ञानको वितर्क कहते हैं। उसीका बार-बार चिन्तवन विचार कहलाता है।

दे० विचय—(विचय, विचारणा, परीक्षा और मीमांसा ये समानार्थक शब्द हैं।)

* **सविचार अविचार भक्त प्रत्याख्यान**

—दे० सल्लेखना/3।

* **सविचार व अविचार शुक्लध्यान**

—दे० शुक्लध्यान।

विचिकित्सा—दे० निर्विचिकित्सा।

विचित्र—

न्या वि./वृ./१/८/१४८/४७ तद्विपरीतं विचित्रं — क्षणक्षयविषयत्वं प्रत्यक्षस्य।

न्या वि /वृ /१/८/१५७/१६ तद्विशिनष्टि विचित्रं शबलं सामान्यस्य विशेषात्मकं विशेषस्य सामान्यात्मकमिति। = उस (चित्र) से विपरीत विचित्र है। प्रत्यक्षज्ञान क्षणक्षयी विषय इसका अर्थ है। विचित्र शबल अर्थात् सामान्यका विशेषात्मक रूप और विशेषका सामान्यात्मकरूप।

विचित्रकूट—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।

—दे० विद्याधर।

विचित्रा—नन्दनवनमें स्थित रुचककूटकी स्वामिनी दिक्कुमारी। —दे० लोक/७।

विचित्राश्रयाकोर्ण—सुमेरुपर्वतका अपर नाम।—दे० सुमेरु।

विजय—१. यक्षोंका एक भेद व सुपार्श्वनाथ भगवान्‌का शासक—दे० यक्ष। २ एक ग्रह—दे० ग्रह। ३. कल्पातीत देवोंका एक भेद—दे० स्वर्ग/१; उनका लोकमें अवस्थान—दे० स्वर्ग/५। ४ पूर्वधातकी खण्डका मेरु—दे० लोक/७। ५. नन्दीश्वरद्वीपकी पश्चिम दिशामें स्थित वापी—दे० लोक/७। ६ निषध पर्वतका एक कूट—दे० लोक/७। ७. जम्बूद्वीपकी वेदिकाका पूर्वद्वार—दे० लोक/७। ८ हरिक्षेत्रके बहुमध्य भागमें स्थित एक कूटाकार पर्वत—दे० लोक ६, ७। ९. नन्दन वनमें स्थित एक कूट—दे० लोक/७। १०. पूर्व विदेहके मन्दर वक्षारके कच्छवत्कूट का स्वामी देव—दे० लोक/७। ११. म पु/५७/श्लो० पूर्वभव न० २ में राजगृह नगरके राजा विश्वभूतिका छोटा भाई 'विशाखभूति' था।७३। पूर्वभव नं १ में महाशुक्र स्वर्गमें देव हुआ।८२। वर्तमान भवमें प्रथम बलदेव हुए—दे० शलाकापुरुष/३। १२. वृ कथाकोश/कथा न० ६/पृ.—सिंहलद्वीपके शासक गगनादित्यका पुत्र था।१७। पिताकी मृत्युके पश्चात् अपने पिताके मित्रके घर 'विषान्न' शब्दका अर्थ 'पौष्टिक अन्न' समझकर उसे खा गया, पर मरा नहीं।१८। फिर दीक्षा ले मोक्ष सिधारे।१९।

विजयकीर्ति—नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप ज्ञानभूषणके शिष्य तथा शुभचन्द्र न० ६ के गुरु थे। समय— A N. Up. के अनुसार ई० १५००-१५११, पं० गजाधरलालके अनुसार वि० १५५५ (ई० १५२८)—(दे० इतिहास/५/३) (तत्त्वज्ञानतरंगिनी/मू./१८/२१ प्रशस्ति), (तत्त्वज्ञानतरंगिनी/प्र.२/प. गजाधरलाल); (का अ./प्र./७६/A N. Up)।

विजयवरो—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे०विद्याधर।

विजयनगर—विजयार्धकी उत्तर व दक्षिण दोनों श्रेणियोंके नगर। —दे० विद्याधर।

विजयपुरी—अपरविदेह पद्मवान् क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे०लोक/७।

विजयवंश—नन्दवंशका अपर नाम है। मगध देशकी राज्य वंशावलीके अनुसार दिगम्बर आम्नायमें जहाँ विजयवंशका नाम दिया है, वहाँ ही श्वेताम्बर आम्नायमें नन्दवंशका नाम दिया है।—दे० नन्दवंश।

विजय वर्मा—विन्ध्यवर्माका अपर नाम।—दे० विन्ध्य वर्मा।

विजयसेन—१. श्रुतावतारके अनुसार भद्रबाहु श्रुतकेवलीके पश्चात् आठवें ११ अंग व १० पूर्वधारी हुए। समय- वी० नि० २८२-२९५ (ई० पू० २४८-२३२)।—दे० इतिहास/४/१)। २ तत्त्वानुशासनके रचयिता श्री नागसेनके दादागुरु थे। तदनुसार आपका समय—वि० श० १३ से पहले ई० श० ११ आता है।

विजया—१. अपर विदेहस्थ वप्रक्षेत्रकी प्रधान नगरी।—दे० लोक/७। २ रुचक पर्वत निवासिनी दिक्कुमारी—दे० लोक/७। ३. भगवान् मल्लिनाथकी शासक यक्षिणी।—दे० यक्ष।

विजयाचार्य—अपर नाम अपराजित था।—दे० अपराजित।

विजयार्ध—१ रा वा./३/१०/४/१७१/१६ चक्रभृद्विजयार्धकरत्वाद्विजयार्ध इति गुणत. कृताभिधानो। =चक्रवर्तीके विजयक्षेत्रकी आधी सीमा इस पर्वतसे निर्धारित होती है, अत. इसे विजयार्ध कहते हैं। (विशेष दे० लोक/३-७)। २. विजयार्ध पर्वतका एक कूट व उसका स्वामी देव।—दे० लोक/७।

विजयोदया—आ० अपराजित (ई० श० ९-११) द्वारा विरचित भगवती आराधना ग्रन्थकी विस्तृत संस्कृत टीका।

विजस्का—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।

—दे० विद्याधर।

विजाति—१. विजाति उपचार। —दे० उपचार/१। २ विजाति द्रव्य पर्याय=दे० पर्याय।

विजिगीषुकथा—शास्त्रार्थ या वाद। —दे० कथा।

विजिष्णु—एक ग्रह—दे० ग्रह।

विडौषध ऋद्धि—दे० ऋद्धि/७।

वितंडा—

न्या. सू./मू./१/२/3 प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा। =प्रतिपक्षके साधनसे रहित जल्पका नाम वितंडा है। अर्थात् अपने किसी भी पक्षको स्थापना किये बिना केवल परपक्षका खण्डन करना वितंडा है। (न्या म./१०/१०९/१३)।

स्या.म/१०/१०७/१५ वस्तुतस्त्वपरामृष्टतत्त्वातत्त्वविचारं मौखर्यं वितंडा। =वास्तवमें तत्त्व अतत्त्वका विचार न करके खाली बकवास करनेको वितंडा कहते हैं।

* **वाद जल्प व वितंडामें अन्तर**—दे० वाद/५।

२. नैयायिकों द्वारा जल्प वितंडा आदिके प्रयोगका समर्थन व प्रयोजन

न्या सू./मू /४/२/५०-५१/२८४ तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहणसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्।५०। ताभ्यां विगृह्य कथनम्।५१।

न्या. सू /भा /१/२/२/४३/१० यत्तत्प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्त छलजातिनिग्रहस्थानामङ्गभावी रक्षणार्थत्वात् तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्षं रक्षन्ति। =जैसे बीजकी रक्षाके लिए सब ओरसे काँटेदार शाखा लगा देते है, उसी प्रकार तत्त्वनिर्णयकी इच्छारहित केवल जीतनेके अभिप्रायसे जो पक्ष लेकर आक्षेप करते है, उनके दूषणके समाधानके लिए जल्प वितंडाका उपदेश किया गया है।५०। जीतनेकी इच्छासे न कि तत्त्वज्ञानकी इच्छासे जल्प और वितंडाके द्वारा वाद करे।५१। यद्यपि छल जाति और निग्रहस्थान साक्षात् अपने पक्षके साधक नहीं होते है, तथा दूसरेके पक्षका खण्डन तथा अपने पक्षकी रक्षा करते है।

* जय पराजय व्यवस्था—दे० न्याय/२।

वितत — एक प्रकारका प्रायोगिक शब्द। —दे० शब्द।

वितथ — ध. १३/५,५,५०/२८६/६ वितथमसत्यम्, न विद्यते वितथ यस्मिन् श्रुतज्ञाने तदवितथम्, तथ्यमित्यर्थः। =वितथ अर्थात् असत्य ये समानार्थक शब्द हैं। (विशेष दे० असत्य) जिस श्रुतज्ञानमें वितथपना नहीं पाया जाता वह अवितथ अर्थात् तथ्य है।

वितर्क—

त. सू /९/४३ वितर्क: श्रुतम् ।४३। =वितर्कका अर्थ श्रुत है।

दे० ऊहा—(विशेष रूपसे ऊहा या तर्कणा करना वितर्क अर्थात् श्रुतज्ञान कहलाता है।

दे० विचार—(विषयके प्रथम ज्ञानको वितर्क कहते है।)

द्र स./टी./४८/२०३/६ स्वशुद्धात्मानुभूतिलक्षणं भावश्रुतं तद्वाचकमन्तर्जल्पवचनं वा वितर्को भण्यते। =निज शुद्ध आत्माका अनुभवरूप भावश्रुत अथवा निज शुद्धात्माको कहनेवाला जो अन्तरग जल्प (सूक्ष्म शब्द) है वह वितर्क है।

वितस्ता—पंजाबकी वर्तमान भेलम नदी। (म पु/प्र ५६/पं. पन्नालाल)।

वितस्ति—एक बालिश्त—दे० गणित/I/१।

विदर्भ—वर्तमानका बरार प्रान्त। इसकी प्राचीन राजधानी विदर्भपुर (बीदर) अथवा कुण्डिनपुर थी। (म. पु /प्र. ४६/पं. पन्नालाल)।

विदर्भपुर—वर्तमानका बीदर—(म. पु. प्र. ४६/पं. पन्नालाल)।

विदल—दे. भक्ष्याभक्ष्य/३।

विदारणक्रिया—दे. क्रिया/३।

विदिशा—१ दे दिशा। २ मालवा प्रान्तमें वर्तमान भेलसा नगर। (म. पु.प्र./४६/प. पन्नालाल)।

विदुर—पां पु./सर्ग/श्लोक—भीष्मके सौतेले भाई व्यासका पुत्र। (७/११७)। कौरव पाण्डवोके युद्धमें इन्होंने काफी भाग लिया। कौरवोको बहुत समझाया पर वे न माने। (१६/१८७)। अन्तमें दीक्षित हो गये। (१९/५-७)।

विदेह—१. रा. वा./३/१०/११/१७२/३३ विगतदेहाः विदेहाः। के पुनस्ते। येषा देहो नास्ति, कर्मबन्धसंतानोच्छेदात्। ये वा सत्यपि देहे विगतशरीरसंस्कारास्ते विदेहाः। तद्योगाज्जनपदे विदेहव्यपदेश। तत्र हि मनुष्यो देहोच्छेदार्थं यतमाना विदेहत्वमास्कन्दन्ति। ननु च भरतैरावतयोरपि विदेहा सन्ति। सत्य, सन्ति कदाचिन्न तु सर्वकालम्, तत्र तु सतत धर्मोच्छेदाभावाद्विदेहा. सन्तीति प्रकर्षापेक्षो विदेहव्यपदेश। क्व पुनरसौ। निषधनीलवतोरन्तराले तत्संनिवेशः। =विगतदेह अर्थात् देहरहित सिद्धभगवान् विदेह कहलाते है, क्योंकि, उनके कर्मबन्धनका उच्छेद हो गया है। अथवा देहके होते हुए भी जो शरीरके संस्कारोंसे रहित है ऐसे अर्हंत भगवान् विदेह है। उनके योगसे उस देशको भी विदेह कहते हैं। वहाँ रहनेवाले मनुष्य देहका उच्छेद करनेके लिए यत्न करते हुए विदेहत्वको प्राप्त किया करते है। प्रश्न—इस प्रकार तो भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें भी विदेह होते है? उत्तर—होते अवश्य है. परन्तु सदा नहीं, कभी-कभी होते है और विदेहक्षेत्रमें तो सतत धर्मोच्छेदका अभाव ही रहता है, अर्थात् वहाँ धर्मकी धारा अविच्छिन्न रूपसे बहती है, इसलिए वहाँ सदा विदेही जन (अर्हंत भगवान्) रहते है। अत प्रकर्षकी अपेक्षा उसको विदेह कहा जाता है। यह क्षेत्र निषध और नील पर्वतोंके अन्तरालमें है। [इसके बहु मध्य भागमें एक सुमेरु व चार गजदन्त पर्वत है, जिनसे रोका गया भू-खण्ड उत्तरकुरु व देवकुरु कहलाते है। इनके पूर्व व पश्चिम में स्थित क्षेत्रोंको पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह कहते है। यह दोनों ही विदेह चार-चार वक्षार गिरियो, तीन-तीन विभगा नदियो और सीता व सीतोदा नामकी महानदियों द्वारा १६-१६ देशोमें विभाजित कर दिये गये है। इन्हे ही ३२ विदेह कहते हैं। इस एक-एक सुमेरु सम्बन्धी ३२-३२ विदेह है। पाँच सुमेरुओंके मिलकर कुछ १६० विदेह होते है।]—(विशेष दे० लोक/३/११,१२)।

त्रि. सा./मू./६८०-६८१ देसा दुब्भिक्खीदीमारिकुदेववण्णलिंगमदहीणा। भरिदा सदावि केवलिसलागपुरिसिड्ढिसाहूहिं।६८०। तित्थद्धसयलचक्की सट्ठिसय पुह वरेण अवरेण। वीस वीस सयले खेत्ते सत्तरिसयं वरदो।६८१। =विदेहक्षेत्रके उपरोक्त सर्व देश अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूसा, टीडी, सूवा, अपनी सेना और परकी सेना इन सात प्रकारकी ईतियोंसे रहित है। रोग मरी आदिसे रहित है। कुदेव, कुलिंगी और कुमतसे रहित है। केवलज्ञानी, तीर्थंकरादि शलाकापुरुष और ऋद्धिधारी साधुओंसे सदा पूर्ण रहते है।६८०। तीर्थंकर, चक्रवर्ती व अर्धचक्री नारायण व प्रतिनारायण, ये यदि अधिकसे अधिक होवे तो प्रत्येक देशमें एक-एक होते है और इस प्रकार कुल १६० होते है। यदि कमसे कम होवें तो सीता और सीतोदाके दक्षिण और उत्तर तटोपर एक-एक होते हैं, इस प्रकार एक विदेहमें चार और पाँचो विदेहोंमें २० होते है। पाँचों भरत व पाँचों ऐरावतके मिलाने पर उत्कृष्ट रूपसे १७० होते है। (म पु /७६/४९६-४९७)। २ द्वारवंग (दरभगा) के समीपका प्रदेश है। मिथिला या जनकपुरी इसी देशमें है। (म. पु /प्र ५०/प. पन्नालाल)।

विद्रावण—ध. १३/५,४,२२/४६/११ अंगच्छेदनादिव्यापार विद्रावणं णाम। =प्राणियोके अंगच्छेदन आदिका व्यापार विद्रावण कहलाता है।

विद्धणू—ज्ञानपचमी अर्थात् श्रुत पचमीव्रत माहात्म्य नामक भाषा छन्दरचनाके कर्ता एक कवि। समय—वि. स. १४२३ (ई १३७६)। (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास/पृ ६६/ बा. कामता प्रसाद)।

विद्या—

न्या वि./वृ./१/३८/२८२/६ विद्यया यथावस्थितवस्तुरूपावलोकनशक्त्या। =विद्याका अर्थ है यथावस्थित वस्तुके स्वरूपका अवलोकन करनेकी शक्ति।

नोट—(इसके अतिरिक्त मन्त्र-तन्त्रो आदिके अनुष्ठान विशेषसे सिद्ध की गयी भी कुछ विद्याएँ होती है, जिनका निर्देश निम्न प्रकार है।)

२. विद्याके सामान्य भेदोंका निर्देश

रा. वा /१/२०/१२/७६/७ कथ्यते विद्यानुवादम्। तत्राङ्गुष्ठप्रसेनादीनामल्पविद्याना सप्तशतानि महारोहिण्यादीना महाविद्याना पञ्च-

शतानि । अन्तरिक्षभौमाङ्गस्वरस्वप्नलक्षणव्यञ्जनछिन्नानि अष्टौ महानिमित्तानि । =विद्यानुवादपूर्वमें अंगुष्ठ, प्रसेन आदि ७०० अल्प विद्याएँ और महारोगिणी आदि ५०० महाविद्याएँ सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त अन्तरिक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यंजन व छिन्न (चिह्न) ये आठ महानिमित्तज्ञान रूप विद्याएँ भी हैं। [अष्टांगनिमित्तज्ञानके लिए दे० निमित्तज्ञान]।

ध ९/४,१,१६/७७/६ तिविहाओ विज्जाओ जातिकुलतवविज्जाभेएण उत्तं च—जादीसु होइ विज्जा कुलविज्जा तह य होइ तवविज्जा। विज्जाहरेसु एदा तवविज्जा होइ साहूण ।२०। तत्थ सगमादुपक्खादो लद्धविज्जाओ जादिविज्जाओ णाम । पिदुपक्खुवलद्धादो कुलविज्जाओ । छट्ठट्ठमादिउववासविहाणेहि साहिदाओ तवविज्जाओ । =जातिविद्या, कुलविद्या और तपविद्याके भेदसे विद्याएँ तीन प्रकारकी हैं। कहा भी है—"जातियोंमें विद्या अर्थात् जातिविद्या है, कुलविद्या तथा तपविद्या भी विद्या हैं। ये विद्याएँ विद्याधरोंमें होती हैं और तपविद्या साधुओंके होती है ।२०।" इन विद्याओंमें स्वकीय मातृपक्षसे प्राप्त हुई विद्याएँ जातिविद्याएँ और पितृपक्षमें प्राप्त हुई कुलविद्याएँ कहलाती हैं। षष्ठ और अष्टम आदि उपवासों (बेला तेला आदि) के करनेसे सिद्ध की गयीं विद्याएँ तपविद्याएँ हैं।

३. कुछ विद्यादेवियोंके नाम निर्देश

प्रतिष्ठासारोद्धार/३/३४-३५ भगवति रोहिणि महति प्रज्ञप्ते वज्रशृङ्खले स्खलिते। वज्राङ्कुशे कुशलिके जाम्बूनदिकेस्तदुर्मदिके।३४। पुरुषाग्नि पुरुषदत्ते कालिकलादये कले महाकालि । गौरि वरदे गुणर्द्धे गान्धारि ज्वालिनि ज्वलज्ज्वाले।३५। =रोहिणी, प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्रांकुशा, जाम्बूनदा, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गान्धारी, ज्वालामालिनी, मानसी, वैरोटी, अच्युता, मानसी, महामानसी।

४. कुछ विशेष विद्याओंके नामनिर्देश

ह. पु/२२/५१-७३ का भावार्थ—भगवान् ऋषभदेवसे नमि और विनमि द्वारा राज्यकी याचना करने पर धरणेन्द्रने अनेक देवोंके संग आकर उन दोनोंको अपनी देवियोंसे कुछ विद्याएँ दिलाकर सन्तुष्ट किया। तहाँ अदिति देवीने विद्याओंके आठ निकाय तथा गन्धर्वसेनक नामक विद्याकोष दिया। आठ विद्या निकायोंके नाम—मनु, मानव, कौशिक, गौरिक, गान्धार, भूमितुण्ड, मूलवीर्यक, शकुक। ये निकाय आर्य, आदित्य, गन्धर्व तथा व्योमचर भी कहलाते हैं। दिति देवी ने—मालंक, पाण्डु, काल, स्वपाक, पर्वत, वंशालय, पाशुमूल, वृक्षमूल ये आठ विद्यानिकाय दिये। दैत्य, पन्नग, मातंग इनके अपर नाम हैं। इन सोलह निकायोंमें निम्न विद्याएँ हैं—प्रज्ञप्ति, रोहिणी, अगारिणी, महागौरी, गौरी, सर्वविद्या, प्रकर्षिणी, महाश्वे[illegible], मायूरी, हारी, निर्वज्ञशाड्वला, तिरस्कारिणी, छायासक्रामिणी, [illegible]कूष्माण्ड-गणमाता, सर्वविद्याविराजिता, आर्यकूष्माण्ड देवी, अच्युता, आ[illegible]र्यवती, गान्धारी, निर्वृत्ति, दण्डाध्यक्षगण, दण्डभूतसहस्रक, भद्रकाल[illegible]ी, महाकाली, काली, कालमुखी, इनके अतिरिक्त—एकपर्वा, द्विप[illegible]र्वा, त्रिपर्वा, दशपर्वा, शतपर्वा, सहस्रपर्वा, लक्षपर्वा, उत्पातिनी, [illegible]पातिनी, धारिणी, अन्तर्विचारिणी, जलगति और अग्निगति [illegible]मस्त निकायोंमे नानाप्रकारकी शक्तियोंसे सहित नाना पर्वतोंपर [illegible]वास करनेवाली एव नाना औषधियोंकी जानकार है। सर्वार्थसिद्ध[illegible], सिद्धार्था, जयन्ती मंगला, जया, प्रहारसक्रामिणी, अशय्याराधिन[illegible]ी, विशल्याकारिणी, व्रणसरोहिणी, सवर्णकारिणी, मृतसजीवनी, [illegible]ये सब विद्याएँ कल्याणरूप तथा मन्त्रोंसे परिष्कृत, विद्याबलसे युक्त त[illegible]था लोगोंका हित करनेवाली हैं। (म पु./७/३४-३३४)।

* अन्य सम्बन्धी विषय

१. मन्त्र तन्त्र विद्या। —दे० मन्त्र।
२. साधुओंको कथंचित विद्याओंके प्रयोगका निषेध। —दे० मन्त्र।

विद्याकर्म—दे० सावद्य/२।

विद्याधर्म—

ध. ९/४,१,१६/७८/१० एवमेदाओ तिविहाओ विज्जाओ होंति विज्जाहराणं। तेण वेअड्ढणिवासिमणुआ वि विज्जाहरा, सयलविज्जाओ छड्डिऊण गहिदसंजमविज्जाहरा वि होंति विज्जाहरा, विज्जाविसयविण्णाणस्स तत्थुवलंभादो। पढिदविज्जाणुपवादा विज्जाहरा, तेसि पि विज्जाविसयविण्णाणुवलंभादो। = इस प्रकारसे तीन प्रकारकी विद्याएँ (जाति कुल व तप विद्या) विद्याधरोंके होती हैं। इससे वैताढ्य पर्वतपर निवास करनेवाले मनुष्य भी विद्याधर होते हैं। सब विद्याओंको छोड़कर संयमको ग्रहण करनेवाले भी विद्याधर होते हैं, क्योंकि, विद्याविषयक विज्ञान वहाँ पाया जाता है जिन्होंने विद्यानुप्रवादको पढ़ लिया है वे भी विद्याधर हैं, क्योंकि उनके भी विद्याविषयक विज्ञान पाया जाता है।

त्रि. सा /७०९ विज्जाहरा तिविज्जा वसंति छक्कम्मसंजुत्ता। =विद्याधर लोग तीन विद्याओंसे तथा पूजा उपासना आदि षट्कर्मोंसे संयुक्त होते हैं।

१. विद्याधर खचर नहीं हैं

ध. ११/४,२,६,१२/११५/६ ण विज्जाहराणं खगचरत्तमत्थि विज्जाए विणा सहावदो चेव गगणगमणसमत्थेसु खगयत्तप्पसिद्धीदो। = विद्याधर आकाशचारी नहीं हो सकते, क्योंकि, विद्याकी सहायताके बिना जो स्वभावसे ही आकाश गमनमें समर्थ हैं उनमें ही खचरत्वकी प्रसिद्धि है।

३. विद्याधर सुमेरु पर्वतपर जा सकते हैं

म. पु./१३/२१६ साशङ्कं गगनेचरैः किमिदमित्यालोकितो यः स्फुरन्मेरोर्मूर्द्धनि स नोऽवताज्जिनविभोर्जन्मोत्सवाम्भःप्लवः ।२१६। =मेरु पर्वतके मस्तकपर स्फुरायमान होता हुआ, जिनेन्द्र भगवान्के जन्माभिषेकको उस जलप्रवाहको, विद्याधरोंने 'यह क्या है' ऐसी शका करते हुए देखा था ।२१६।

४. विद्याधर लोक निर्देश

ति प./४/गा.-का भावार्थ—जम्बूद्वीपके भरतक्षेत्रमें स्थित विजयार्ध पर्वतके ऊपर दश योजन जाकर उस पर्वतके दोनों पार्श्व भागोंमें विद्याधरोंकी एक-एक श्रेणी है।१०९। दक्षिण श्रेणीमें ५० और उत्तर श्रेणीमें ६० नगर हैं।१११। इससे भी १० यो० ऊपर जाकर आभियोग्य देवोंकी दो श्रेणियाँ हैं।१४०। विदेह क्षेत्रके कच्छा देशमें स्थित विजयार्द्धके ऊपर भी उसी प्रकार दो श्रेणियाँ हैं।२२५८। दोनों ही श्रेणियोंमें ५५-५५ नगर हैं।२२५९। शेष ३१ विदेहोंके विजयार्द्धोंपर भी इसी प्रकार ५५-५५ नगरवाली दो दो श्रेणियाँ हैं।२२९२। ऐरावत क्षेत्रके विजयार्धका कथन भी भरतक्षेत्र वत् जानना।२३६५। जम्बूद्वीपके तीनों क्षेत्रोंके विजयार्धोंके सदृश ही धातकी खण्ड व पुष्करार्ध द्वीपमें जानना चाहिए।२७१६,२९२१। (रा. वा./३/१०/४/१७२/१), (ह पु./२२/८४), (म. पु/१९/२७-३०), (ज प/२/३८-३९), (त्रि सा /६९५-६९६)।

दे० काल/४/१९-[इसमें सदा चौथा काल वर्तता है]।

५. विद्याधरोंकी नगरियोंके नाम

(ति प /४/११२-१२५), (ह पु /२२/८५-१०१); (म. पु./१६/३१-८७); (त्रि सा /६६६-७०८)।

नं.	ति. प.	म. पु.	त्रि सा.	ह पु.
	दक्षिण श्रेणी.—			
१	किंनामित	←	←	रथनूपुर
२	किन्नरगीत	←	←	आनन्द
३	नरगीत	←	←	चक्रवाल
४	बहुकेतु	←	←	अरिजय
५	पुण्डरीक	←	←	मण्डित
६	सिंहध्वज	←	←	बहुकेतु
७	श्वेतकेतु	←	श्वेतध्वज	शकटामुख
८	गरुडध्वज	←	←	गन्धसमृद्ध
९	श्रीप्रभ	←	←	शिवमन्दिर
१०	श्रीधर	←	←	वैजयन्त
११	लोहार्गल	←	←	रथपुर
१२	अरिंजय	←	←	श्रीपुर
१३	वज्रार्गल	←	←	रत्नसंचय
१४	वज्राढ्य	←	वज्राढ्यपुर	आषाढ
१५	विमोचिता	निमोच	विमोचिपुर	मानस
१६	जयपुरी	पुरंजय	जय	सूर्यपुर
१७	शकटमुखी	←	←	स्वर्णनाभ
१८	चतुर्मुख	←	←	शतहद
१९	बहुमुख	←	←	अङ्कावर्त
२०	अरजस्का	←	←	जलावर्त
२१	विरजस्का	←	←	आवर्तपुर
२२	रथनूपुर	←	←	बृहद्गृह
२३	मेखलापुर	←	←	शंखवज्र
२४	क्षेमपुर	←	क्षेमचरी	नाभान्त
२५	अपराजित	←	←	मेघकूट
२६	कामपुष्प	←	←	मणिप्रभ
२७	गगनचरी	←	←	कुञ्जरावर्त
२८	विजयचरी	विनयचरी	विनयचरी	असितपर्वत
	(विनयपुरी)	×	×	×
२९	शक्रपुरी	चक्रपुर	शुक्र	सिन्धुकक्ष
३०	संजयन्त	संजयन्ती	संजयन्ती	महाकक्ष
३१	जयन्त	जयन्ती	जयन्ती	सकक्ष
३२	विजय	विजया	विजया	चन्द्रपर्वत
३३	वैजयन्त	वैजयन्ती	वैजयन्ती	श्रीकूट
३४	क्षेमंकर	←	←	गौरीकूट
३५	चन्द्राभ	←	←	लक्ष्मीकूट
३६	सूर्याभ	←	←	धराधर
३७	पुरोत्तम	रतिकूट	रतिकूट	कालकेशपुर
३८	चित्रकूट	←	←	रम्यपुर
३९	महाकूट	←	←	हिमपुर
४०	सुवर्णकूट	हेमकूट	हेमकूट	किन्नरोद्गीत नगर
४१	त्रिकूट	मेघकूट	त्रिकूट	नभस्तिलक
४२	विचित्रकूट	←	←	मगधसारनलक
४३	मेघकूट	वैश्रवणकूट	वैश्रवणकूट	पांशुमूल
४४	वैश्रवणकूट	सूर्यपुर	सूर्यपुर	दिव्यौषध
४५	सूर्यपुर	चन्द्रपुर	चन्द्रपुर	अर्कमूल
४६	चन्द्र	नित्योद्योतिनी	नित्योद्योतिनी	उदयपर्वत
४७	नित्योद्योत	विमुखी	विमुखी	अमृतधारा
४८	विमुखी	नित्यवाहिनी	नित्यवाहिनी	कूटमातंगपुर
४९	नित्यवाहिनी	सुमुखी	सुमुखी	भूमिमण्डल
५०	सुमुखी	पश्चिमा	पश्चिमा	जम्बूशंकुपुर
	उत्तर श्रेणी.—			
१	अर्जुणी	←	←	आदित्यनगर
२	अरुणी	वारुणी	अरुणी	गगनवल्लभ
३	कैलास	←	←	चमरचम्पा
४	वारुणी	←	←	गगनमण्डल
५	विद्युत्प्रभ	←	←	विजय
६	किलकिल	←	←	वैजयन्त
७	चूडामणि	←	←	शत्रुंजय
८	शशिप्रभ	शशिप्रभ	शशिप्रभ	अरिंजय
९	वंशाल	←	←	पद्माल
१०	पुष्पचूल	पुष्पचूड	पुष्पचूल	केतुमाल
११	हंसगर्भ	←	←	रुद्राश्व
१२	बलाहक	←	←	धनञ्जय
१३	शिवकर	←	←	वस्त्रौक
१४	श्रीसौध	श्रीहर्म्य	श्रीसौध	सारनिवह
१५	चमर	←	←	जयन्त
१६	शिवमंदर	शिवमन्दिर	शिवमन्दिर	अपराजित
१७	वसुमत्का	वसुमत्क	वसुमत्का	वराह
१८	वसुमती			हास्तिन
१९	सर्वार्थपुर	×	×	×
	(सिद्धार्थपुर)	सिद्धार्थक	सिद्धार्थ	सिंह
२०	शत्रुंजय			सौकर
२१	केतुमाल	केतुमाला	ध्वजमाल	हस्तिनायक
२२	सुरपतिकांत	सुरेन्द्रकान्त	सुरेन्द्रकान्त	पाण्डुक
२३	गगननन्दन			कौशिक
२४	अशोक	अशोका	अशोका	वीर
२५	विशोक	विशोका	विशोका	गौरिक
२६	वीतशोक	वीतशोका	वीतशोका	मानव
२७	अलका			मनु
२८	तिलक	तिलका	तिलका	चम्पा
२९	अंबरतिलक			काञ्चन
३०	मन्दर	मन्दिर	मन्दर	ऐशान
३१	कुमुद			मणिवज्र
३२	कुन्द			जयावह
३३	गगनवल्लभ			नैमिष
३४	दिव्यतिलक	द्युतिलक	दिव्यतिलक	हास्तिविजय
३५	भूमितिलक			खण्डिका
३६	गन्धर्वपुर	गन्धर्वपुर	गन्धर्व नगर	मणिकांचन
३७	मुक्ताहर	मुक्ताहार	मुक्ताहार	अशोक
३८	नैमिष	निमिष	नैमिष	वेणु
३९	अग्निज्वाल			आनन्द
४०	महाज्वाल			नन्दन
४१	श्रीनिकेत			श्री निकेतन

न.	ति. प.	म. पु.	त्रि सा.	ह. पु.
४२	जयावह	जय	जयावह	अग्निज्वाल
४३	श्रीनिवास			महाज्वाल
४४	मणिवज्र			माल्य
४५	भद्राश्व			पुरु
४६	धनंजय	भवनंजय	धनंजय	नन्दिनी
४७	माहेन्द्र	गोक्षीरफेन	गोक्षीरफेन	विद्युत्प्रभ
४८	विजयनगर	अक्षोभ्य	अक्षोभ	महेन्द्र
४९	सुगन्धिनी	गिरिशिखर	गिरिशिखर	विमल
५०	वज्रार्द्धतर	धरणी		गन्धमादन
५१	गोक्षीरफेन	धारण		महापुर
५२	अक्षोभ	दुर्ग		पुष्पमाल
५३	गिरिशिखर	दुर्धर		मेघमाल
५४	धरणी	सुदर्शन	सुदर्शन	शशिप्रभ
५५	वारिणी	महेन्द्रपुर	महेन्द्र	चूडामणि
	(धारिणी)	×	×	×
५६	दुर्ग	विजयपुर	विजयपुर	पुष्पचूड
५७	दुर्द्धर	सुगन्धिनी	सुगन्धिनी	हंसगर्भ
५८	सुदर्शन	वज्रपुर	वज्रार्द्धतर	वलाहक
५९	रत्नाकर			वंशालय
६०	रत्नपुर	चन्द्रपुर	रत्नपुर	सौमनस

६. अन्य सम्बन्धित विषय

१. विद्याधरोंमें सम्यक्त्व व गुणस्थान। —दे आर्यखण्ड।

२ विद्याधर नगरोंमें सर्वदा चौथा काल वर्तता है। —दे. काल/४/१६।

विद्याधर जिन—दे. जिन।

विद्याधर वंश—दे इतिहास/७/१४।

विद्यानन्द महोदय—आ. विद्यानन्दि (ई. ७७५-८४०) की सर्व प्रथम न्यायविषयक रचना है। अनुमान है कि यह ग्रन्थ श्लोक वार्तिकसे भी महान् होगा। परन्तु आज यह उपलब्ध नहीं है। इसे केवल 'महोदय' नामसे भी कहते है।

विद्यानन्दि—१ आप मगधराज अवनिपालकी सभाके एक प्रसिद्ध विद्वान् थे। पूर्व नाम पात्रकेसरी था। वैदिक धर्मानुयायी थे, परन्तु पार्श्वनाथ भगवान्के मन्दिरमें चारित्रभूषण नामक मुनिके मुखसे समन्तभद्र रचित देवागम स्तोत्रका पाठ सुनकर जैन धर्मानुयायी हो गये थे। मूल संघ विभाजनके अनुसार (दे इतिहास/५/३) आप अकलंकभट्टकी ही आम्नायमें उनके कुछ ही काल पश्चात् हुए थे। आपकी अनेकों रचनाएँ उपलब्ध हैं जो सभी न्याय व तर्कसे पूर्ण हैं। कृतियाँ—१ प्रमाण परीक्षा, २. प्रमाणमीमांसा, ३ प्रमाणनिर्णय, ४. पत्रपरीक्षा, ५ आप्तपरीक्षा, ६. सत्यशासन परीक्षा, ७. जल्पनिर्णय, ८. नयविवरण ९. युक्त्यनुशासन, १०. अष्टसहस्री, ११ तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक, १२. विद्यानन्द महोदय, १३. बुद्धेशभवन व्याख्यान। समय—वि. सं. ८३२-८९७ (ई ७७५-८४०), (न. च./प्र. २/प्रेमी जी), (सतीशचन्द्र विद्याभूषण M A P.H.D), (सि. वि/प्र. ३०/प महेन्द्र), (म पु/प्र. ४५/पं पन्नालाल), (आप्त प./प्र ७/प. उमराव सिंह जैन)। २ नन्दिसंघ बलात्कारगणकी गुर्वावलीके अनुसार आप देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य और तत्त्वार्थ वृत्तिकार श्रुतसागर व मल्लिभूषणके गुरु थे। कृति-सुदर्शन चरित्र। समय—वि १५०५-१५५५ (ई. १४४८-१४९८)। (दे. इतिहास/५/१३); (भद्रबाहु चरित्रकी प्रशस्ति), (भद्रबाहु चरित्र/प्र. ४/५. उदय लाल), (त. वृ/प्र. ९८/पं. महेन्द्रकुमार)। ३. आप एक भट्टारक थे। आपका उल्लेख हुम्बुजके शिलालेख और वर्द्धमान मनीन्द्रके दशभक्त्यादि महाशास्त्रमें आता है। आप सांगानेरवाले देवकीर्ति भट्टारकके शिष्य थे। समय—वि. १६४७-१६६७ (ई १५९०-१६१०)। (स्याद्वाद सिद्धि/प्र. १८/प. दरबारी लाल); (भद्रबाहु चरित्र/प्र. १४/पं. उदयलाल)

विद्यानुवाद—अंग श्रुतज्ञानका नवमाँ पूर्व—दे श्रुतज्ञान/III।

विद्युच्चर—बृ कथाकोष/कथा न ४/पृ. अग्निदत्त सोमदत्तसे आकाशगामी विद्याका साधन पूछकर स्वयं विद्या सिद्ध कर ली। फिर चैत्यालयोंकी वन्दना की।१३। दीक्षा ले।१४। स्वर्गमें ऋद्धिधारी देव हुआ।१५।

विद्युच्चोर—दे. विद्युत्प्रभ/६।

विद्युज्जिह्व—एक ग्रह—दे. ग्रह।

विद्युत्करण—Protors and Electrons. (ध. ५/प्र. २८)।

विद्युत्कुमार—भवनवासी देवोंका एक भेद—दे. भवन/१.४।

विद्युत्केश—प. पु/६/श्लोक—भगवान् मुनिसुव्रतके समय लंकाका राक्षस वंशीय राजा था। वानर वंशीय महोदधि राजाके साथ परम स्नेह था। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली (२२२-२२५)।

विद्युत्प्रभ—१ एक गजदन्त पर्वत—दे. लोक/७। २. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर। ३. विद्युत्प्रभ गजदन्तका एक कूट—दे. लोक/७। ४. देवकुरुके १० द्रहोंमें-से एक—दे लोक/७। ५. यदुवंशी अन्धकवृष्णिके पुत्र हिमवान्का पुत्र तथा नेमिनाथ भगवान्का चचेरा भाई—दे इतिहास/८/१०। ६ म. पु/७६/श्लोक—पोदनपुरके राजा विद्युद्राजका पुत्र था। विद्युच्चर नामका कुशल चोर बना। जम्बूकुमारके घर चोरी करने गया।४६-५८। वहाँ दीक्षाको कटिबद्ध जम्बूकुमारको अनेकों कथाएँ बताकर रोकनेका प्रयत्न किया।५८-१०७। पर स्वयं उनके उपदेशोंसे प्रभावित होकर उनके साथ ही दीक्षा धारण कर ली।१०८-११०।

विद्युद्दंष्ट्र—म पु/५९/श्लोक—पूर्व भव श्रीभूति, सर्प, चमर, कुर्कुट, सर्प, तृतीय नरक, सर्प, नरक, अनेक योनियोंमें भ्रमण, मृगशृंग। (३१३-३१५)। वर्तमान भवमें विद्युद्दंष्ट्र नामका विद्याधर हुआ, ध्यानस्थ मुनि संजयंतपर घोर उपसर्ग किया। मुनिको केवलज्ञान हो गया। धरणेन्द्रने क्रुद्ध होकर उसे सपरिवार समुद्रमें डुबोना चाहा पर आदित्यप्रभ देव द्वारा बचा लिया गया। (११६-१३२)।

विद्युन्माली—पश्चिमी पुष्करार्धका मेरु—दे लोक/७।

विद्योपजीवन—१. आहारका एक दोष—दे आहार/II/४। २ वसतिकाका एक दोष—दे. वसतिका।

विद्रावण—दे विद्रावण।

विद्वज्जनबोधक—पं. पन्नालाल (ई. १७९३-१८६३) द्वारा रचित भाषा छन्दबद्ध एक आध्यात्मिक कृति।

विध—दे. पर्याय/१/१—(अंश, पर्याय, भाग, हार, विध, प्रकार, भेद, छेद, भंग ये सब शब्द एकार्थवाची है।)

विधाता—कर्मका पर्यायवाची नाम—दे कर्म/२।

विधान—स. सि/१/७/२२/४ विधान प्रकार। =विधानका अर्थ प्रकार या भेद है। (रा वा/१/७/-/३८/३)।

* विधान व संख्यामें अन्तर—दे. संख्या।

* पूजा सम्बन्धी विधान—दे. पूजा।

विधि—

ध. १३/५,५,५०/२८५/१२ कथं श्रुतस्य विधिव्यपदेश । सर्वनयविषयाणामस्तित्वविधायकत्वात । =चूँकि वह सब नयोके विषयके अस्तित्वका विधायक है, इसलिए श्रुतकी विधि सज्ञा उचित ही है।

दे० द्रव्य/१/७ (सत्ता, सत्त्व, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु विधि, अविशेष ये एकार्थवाची शब्द है)।

दे० सामान्य [सामान्य विधि रूप होता है और विशेष उसके निषेध रूप]।

दे० कर्म/३/१ (विधि कर्मका पर्यायवाची नाम है)।

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. दानकी विधि। —दे० दान/५।

२. विधि निषेधकी परस्पर सापेक्षता। —दे० सप्तभंगी/३।

विधि चंद—दे० बुधजन।

विधि दान क्रिया—दे० संस्कार/२।

विधि विधायक वाक्य—दे० वाक्य।

विधि साधक हेतु—दे० हेतु।

विध्यात संक्रमण—दे० संक्रमण/५।

विनमि—दे० नमि/१।

विनयंधर—१ पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार लोहाचार्य नं० २ के शिष्य तथा गुप्ति श्रुतिके गुरु थे। समय—वी नि. ५३० (ई. स ३), (दे० इतिहास/५/१८)। २ वृ कथा कोष/कथा न १३/पृ.—कुम्भिपुरका राजा था।७१। सिद्धार्थ नामक श्रेष्ठि पुत्र द्वारा दिये गये भगवान्के गन्धोधक जलसे उसकी शारीरिक व्याधियाँ शान्त हो गयीं। तब उसने श्रावकव्रत धारण कर लिये। (७२-७३)।

विनय—मोक्षमार्गमें विनयका प्रधान स्थान है। वह दो प्रकारका है—निश्चय व व्यवहार। अपने रत्नत्रयरूप गुणकी विनय निश्चय है और रत्नत्रयधारी साधुओं आदिकी विनय व्यवहार या उपचार विनय है। यह दोनों ही अत्यन्त प्रयोजनीय है। ज्ञान-प्राप्तिमें गुरु विनय अत्यन्त प्रधान है। साधु आर्यका आदि चतुर्विध संघमें परस्परमें विनय करने सम्बन्धी जो नियम है उन्हें पालन करना एक तप है। मिथ्यादृष्टियो व कुलिंगियोकी विनय योग्य नहीं।

१. भेद व लक्षण

१. विनय सामान्यका लक्षण

स. सि /९/२०/४३९/७ पूज्येष्वादरो विनयः। =पूज्य पुरुषोंका आदर करना विनय तप है।

रा. वा /६/२४/२/५२९/१७ सम्यग्ज्ञानादिषु मोक्षसाधनेषु तत्साधकेषु गुर्वादिषु च स्वयोग्यवृत्त्या सत्कार आदरः कषायनिवृत्तिर्वा विनयसम्पन्नता। =मोक्षके साधनभूत सम्यग्ज्ञानादिकमें तथा उनके साधक गुरु आदिकोंमें अपनी योग्य रीतिसे सत्कार आदर आदि करना तथा कषायकी निवृत्ति करना विनयसम्पन्नता है। (स. सि./६/२४/३३८/७), (चा. सा./५३/१), (भा. पा./टी./७८/-२२१/५)।

ध १३/५,४,२६/६३/४ रत्नत्रयवत्सु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। =रत्नत्रयको धारण करनेवाले पुरुषोंके प्रति नम्र वृत्ति धारण करना विनय है। (चा. सा /१४७/५), (अन ध /७/६०/७०२)।

क. पा /१/१-१/§६०/११७/२ गुणाधिकेषु नीचैर्वृत्तिर्विनयः। =गुण-वृद्ध पुरुषोंके प्रति नम्र वृत्तिका रखना विनय है।

भ. आ /वि./३००/५११/२१ विलयं नयति कर्ममलमिति विनयः। =कर्म मलको नाश करता है, इसलिए विनय है। (अन. ध./७/६१/७०२); (दे० विनय/२/२)।

भ. आ /वि /६/३२/२३ ज्ञानदर्शनचारित्रतपसामतीचारा अशुभक्रियाः। तासामपोहनं विनयः। =अशुभ क्रियाएँ ज्ञानदर्शन चारित्र व तपके अतिचार है। इनका हटाना विनय तप है।

का अ /मू./४५७ दंसणणाणचरित्ते सुविसुद्धो जो हवेइ परिणामो। बारस-भेदे वि तवे सो च्चिय विणओ हवे तेसिं। =दर्शन, ज्ञान और चारित्रके विषयमें तथा बारह प्रकारके तपके विषयमें जो विशुद्ध परिणाम होता है वही उनकी विनय है।

चा सा./१४७/५ कषायेन्द्रियविनयन विनय। =कषायों और इन्द्रियों-को नम्र करना विनय है। (अन. ध /७/६०/७०२)।

प्र.सा/ता वृ/२२५/३०६/२३ स्वकीयनिश्चयरत्नत्रयशुद्धिर्निश्चयविनय तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहारविनयः। =स्वकीय निश्चय रत्नत्रयकी शुद्धि निश्चयविनय है और उसके आधारभूत पुरुषों (आचार्य आदिको) को भक्तिके परिणाम व्यवहारविनय है।

सा ध /७/३५ सुदृग्धीवृत्ततपसां मुमुक्षोर्निर्मलीकृतौ। यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु।३५। =मुमुक्षुजन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तपके दोष दूर करनेके लिए जो कुछ प्रयत्न करते है, उसको विनय कहते है और इस प्रयत्न में शक्तिको न छिपा कर शक्ति अनुसार उन्हें करते रहना विनयाचार है।

२. विनयके सामान्य भेद

मू. आ/५८० लोगाणुवित्तिविणओ अत्थणिमित्ते य कामतंते य। भयविणओ य चउत्थो पंचमओ मोक्खविणओ य।५८०। =लोकानुवृत्ति विनय, अर्थ निमित्तक विनय, कामतन्त्र विनय, भयविनय, और मोक्षविनय इस प्रकार विनय पाँच प्रकार की है।

३. मोक्षविनयके सामान्य भेद

भ. आ /मू /११२ विणओ पुण पंचविहो णिद्दिट्ठो णाणदंसणचरित्ते। तवविणओ य चउत्थो चरियो उवयारिओ विणओ।११२। =विनय आचार पाँच प्रकारका है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, तपविनय और उपचारविनय। (मू. आ/ ३६४, ५८४), (ध/ पु १३/५,४,२६/६३/४), (क. पा. १/१-१/§६०/११७/१); (वसु. श्रा/ ३२०, (अन. ध./७/६४/७०३)।

त. सू /९/२३ ज्ञानदर्शनचारित्रोपचाराः। =विनय तप चार प्रकारका है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय। (चा सा./१४७/५) (द्र. सं./८/२०)।

ध. ८/३,४१/८० विणओ तिविहो णाण-दंसण-चरित्तविणओ त्ति। =विनय सम्पन्नता तीन प्रकार की है—ज्ञानविनय, दर्शनविनय और चारित्रविनय।

४. उपचार विनयके प्रभेद

भ. आ /मू /११८/२६५ काइयवाइयमाणसिओ त्ति तिविहो दु पचमो विणओ। सो पुण सव्वो दुविहो पच्चक्खो चेव परोक्खो।११८। =उपचार विनय तीन प्रकारकी है—कायिक, वाचिक और मानसिक। उनमेंसे प्रत्येकके दो दो भेद हैं—प्रत्यक्ष व परोक्ष। (मू. आ./३७२), (चा. सा./१४८/३); वसु. श्रा/३२१);

लोकानुवृत्त्यादि सामान्य विनयोंके लक्षण

मू. आ./५८१-५८३ अब्भुट्ठाणं अंजलिआसणदाणं च अतिहिपूजा य। लोगाणुवित्तिविणओ देवदपूया सविभवेण।५८१। भासाणुवित्ति छंदाणुवत्तणं देसकालदाणं च। लोकाणुवित्तिविणओ अंजलिकरणं च अत्थकदे।५८२। एमेव कामतंते भयविणओ चेव आणुपुव्वीए। पचमओ खलु विणओ परूवणा तस्सिमा होदि।५८३। =आसनसे उठना, हाथ जोडना, आसन देना, पाहुणगति करना, देवताकी पूजा अपनी अपनी सामर्थ्यके अनुसार करना—ये सब लोकानुवृत्ति विनय है।५८१। किसी पुरुषके अनुकूल बोलना तथा देश व कालयोग्य अपना द्रव्य देना—ये सब लोकानुवृत्ति विनय है। अपने प्रयोजन या स्वार्थ वश हाथ जोडना आदि अर्थनिमित्त विनय है।५८२। इसी तरह काम-पुरुषार्थके निमित्त विनय करना कामतन्त्र विनय है। भयके कारण विनय करना भय विनय है। पाँचवीं मोक्ष विनयका कथन आगे करते हैं।५८३।

६. ज्ञान दर्शन आदि विनयोंके लक्षण

भ. आ./मू./११३-११७/२६०-२६४ काले विणये उवधाणे बहुमाणे तहे व णिण्हवणे। वजण अत्थ तदुभये विणओ णाणम्मि अट्ठविहो।११३। उवगूहणादिया पुव्वुत्ता तह भत्तियादिया य गुणा। संकादिवज्जणं पि य णेओ सम्मत्तविणओ सो।११४। इंदियकसायपणिधाणं पि य गुत्तीओ चेव समिदीओ। एसो चरित्तविणओ समासदो होइ णायव्वो।११५। उत्तरगुणउज्जमणं सम्मं अधिआसणं च सड्ढाए। आवासयाणमुचिदाण अपरिहाणी अणुस्सेओ।११६। भत्ती तवाधिगम्मि य तवम्मि य अहीलणा य सेसाणं। एसो तवम्मि विणओ जहुत्तचारित्स साधुस्स।११७। =काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, व्यञ्जन, अर्थ, तदुभय ऐसे ज्ञान विनयके आठ भेद हैं। (और भी दे. ज्ञान /III/ २/१) ।११३। पहिले कहे गये (दे. सम्यग्दर्शन/I/२) उपगूहन आदि सम्यग्दर्शनके अंगोंका पालन, भक्ति पूजा आदि गुणोंका धारण, तथा शंकादि दोषोंके त्यागको सम्यक्त्व विनय या दर्शन विनय कहते हैं।११४। इन्द्रिय और कषायोंके प्रणिधान या परिणामका त्याग करना तथा गुप्ति समिति आदि चारित्रके अंगोंका पालन करना संक्षेप में चारित्र विनय जाननी चाहिए।११५। संयम रूप उत्तरगुणोंमें उद्यम करना, सम्यक् प्रकार श्रम व परीषहोंको सहन करना, यथा योग्य आवश्यक क्रियाओंमें हानि वृद्धि न होने देना—यह सब तप विनय है।११६। तपमें तथा तप करनेमें अपनेसे जो ऊँचा है उसमें, भक्ति करना तप विनय है। उनके अतिरिक्त जो छोटे तपस्वी हैं उनकी तथा चारित्रधारी मुनियोंकी भी अवहेलना नहीं करनी चाहिए। यह तपविनय है।११७। मू आ /३६५, ३६७, ३६६, ३७०, ३७१), (अन. ध /७/६५-६६/७०४-७०६ तथा ७५/७१०)।

भ. आ /मू /४६-४७/१५३ अरहतसिद्धचेइय सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य। आयरिय उवज्झाए सुपवयणे दंसणे चावि ।४६। भत्ती पूया वण्णजणण च णासणमवण्णवादस्स। आसादणपरिहारो दंसणविणओ समासेण ।४७। =अरहत, सिद्ध, इनकी प्रतिमाएँ, श्रुतज्ञान, जिन धर्म आचार्य उपाध्याय, साधु, रत्नत्रय, आगम और सम्यग्दर्शनमें भक्ति व पूजा आदि करना, इनका महत्त्व बताना, अन्य मतियों द्वारा आरोपित किये गये अवर्णवादको हटाना, इनके आसादनका परिहार करना यह सब दर्शन विनय है ।४६-४७।

मू. आ./गा. अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे। तह रोचेदि णरो दंसणविणओ हवदि एसो ।३६६। णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि। णाणेण कुणदि णाय णाणविणीदो हवदि एसो ।३६८। =श्रुत ज्ञानमें जिनेन्द्रदेव द्वारा उपदिष्ट द्रव्य व उनकी स्थूल सूक्ष्म पर्याय उनकी प्रतीति करना दर्शन विनय है ।३६६ ज्ञानको सीखना, उसीका चिन्तवन करना दूसरेको भी उसीका उपदेश देना तथा उसीके अनुसार न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना—यह सब ज्ञानविनय है ।३६८। (मू. आ./५८५-५८६)।

स. सि./६/२३/४४१/४ सबहुमान मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादि-र्ज्ञानविनयः। शंकादिदोषविरहितं तत्त्वार्थश्रद्धानं दर्शनविनयः। तद्वतश्चारित्रे समाहितचित्तता चारित्रविनयः। =बहुत आदरके साथ मोक्षके लिए ज्ञानका ग्रहण करना, अभ्यास करना और स्मरण करना आदि ज्ञानविनय है। शंकादि दोषोंसे रहित तत्त्वार्थका श्रद्धान करना दर्शनविनय है। सम्यग्दृष्टिका चारित्रमें चित्तका लगना चारित्रविनय है। (त. सा /७/३१-३३)।

रा. वा./६/२३/२-४/६२२/१६ अनलसेन शुद्धमनसा देशकालादिविशुद्धि-विधानविचक्षणेन सबहुमानो यथाशक्ति निषेव्यमाणो मोक्षार्थं ज्ञानग्रहणाभ्यासस्मरणादिर्ज्ञानविनयो वेदितव्यः। यथा भगवद्भि-रुपदिष्टाः पदार्थाः तेषां तथाश्रद्धाने निःशङ्कितत्वादिलक्षणोपेतता दर्शनविनयो वेदितव्यः। ज्ञानदर्शनवतः पञ्चविधदुश्चरचरणश्रवणा-नन्तरमुद्भिन्नरोमाञ्चाभिव्यज्यमानान्तर्भक्तेः परप्रसादो मस्तकाञ्जलि-करणादिभिर्भावतश्चानुष्ठातृत्वं चारित्रविनयः प्रत्येतव्यः। =आलस्य-रहित हो देशकालादिकी विशुद्धिके अनुसार शुद्धचित्तसे बहुमान पूर्वक यथाशक्ति मोक्षके लिए ज्ञानग्रहण अभ्यास और स्मरण आदि करना ज्ञानविनय है। जिनेन्द्र भगवान्‌ने श्रुत समुद्रमें पदार्थोंका जैसा उपदेश दिया है, उसका उसी रूपसे श्रद्धान करने आदिमें निःशंक आदि होना दर्शनविनय है। ज्ञान और दर्शनशाली पुरुषके पाँच प्रकारके दुश्चर चारित्रका वर्णन सुनकर रोमांच आदिके द्वारा अन्त-र्भक्ति प्रगट करना, प्रणाम करना, मस्तकपर अंजलि रखकर आदर प्रगट करना और उसका भाव पूर्वक अनुष्ठान करना चारित्रविनय है। (चा सा /१४७/६), (भा पा/टी/७८/२२४/११)।

वसु. श्रा/३२१-३२४ णिस्संकिय संवेगाइ जे गुणा वण्णिया मए पुव्वं। तेसिमणुपालणं जं वियाण सो दंसणो विणओ ।३२१। णाणे णाणुवयरणे य णाणवतम्मि तह य भत्तीए। जं पडियरणं कीरइ णिच्चं तं णाण विणओ हु ।३२२। पंचविह चारित्तं अहियारा जे य वण्णिया तस्स। जं तेसिं बहुमाणं वियाण चारित्तविणओ सो ।३२३। बालो य बुड्ढो य संकप्पं वज्जिऊण तवसीण। जं पणिवायं कीरइ तवविणयं तं वियाणीहि ।३२४। =निःशंकित, संवेग आदि जो गुण मैंने पहिले वर्णन किये हैं उनके परिपालनको दर्शनविनय जानना चाहिए ।३२१। ज्ञानमें, ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदिकमें तथा ज्ञानवंत पुरुषमें भक्तिके साथ नित्य जो अनुकूल आचरण किया जाता है, वह ज्ञान विनय है ।३२२। परमागममें पाँच प्रकारका चारित्र और उसके जो अधिकारी या धारक वर्णन किये गये हैं, उनके आदर सत्कारको चारित्र विनय जानना चाहिए ।३२३। यह बालक है, यह वृद्ध है, इस प्रकारका संकल्प छोड़कर तपस्वी जनोंका जो प्रणिपात अर्थात् आदरपूर्वक वन्दन आदि किया जाता है, उसे तप विनय जानना ।३२४।

दे० विनय/२/३-(सोलह कारण भावनाओंकी अपेक्षा लक्षण)।

७. उपचार विनय सामान्यका लक्षण

स. सि./९/२३/४४२/२ प्रत्यक्षेष्वाचार्यादिष्वभ्युत्थानाभिगमनाञ्जलि-करणादिरुपचारविनयः। परोक्षेष्वपि कायवाङ्मनोऽभिरञ्जलि-क्रियागुणसंकीर्तनानुस्मरणादिः। =आचार्य आदिके समक्ष आनेपर खड़े हो जाना, उनके पीछे-पीछे चलना और नमस्कार करना आदि उपचार विनय है, तथा उनके परोक्षमें भी काय वचन और मनसे नमस्कार करना, उनके गुणोंका कीर्तन करना और स्मरण करना आदि उपचार विनय है। (रा. वा /९/२३/५-६/६२२/२५), (त. सा./७/३४), (भा. पा /टी /७८/२२४/१४)।

का. अ /मू /४५८ रयणत्तयजुत्ताणं अणुकूलं जो चरेदि भत्तीए। भिच्चो जह रायाणं उवयारो सो हवे विणओ ।४५८। =जैसे सेवक राजाके अनुकूल प्रवृत्ति करता है वैसे ही रत्नत्रयके धारक मुनियोंके अनुकूल भक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना उपचार विनय है।

८. कायिकादि उपचार विनयोंके लक्षण

भ आ /मू /११९-१२६/२६६-३०३ अब्भुट्ठाणं किदियम्मं णवसणं अंजली य मुंडाणं। पच्चुग्गच्छणमेत्तो पच्छिद अणुसाधणं चेव ।११९। णीचं ठाणं णीचं गमणं णीचं च आसणं सयणं। आसणदाणं उवगरणदाणं-भोगासदाणं च ।१२०। पडिरूवकायसफासणदा पडिरूवकालकिरिया य। पेसणकरणं संथारकरणमुवकरणपडिलिहणं ।१२१। इच्चेवमादि-विणओ उवयारो कीरदे सरीरेण। एसो काइयविणओ जहारिहो साहु-वग्गम्मि ।१२२। पूयावयणं हिदभासणं च मिदभासणं च महुरं च। सुत्ताणुवीचिवयणं अणिट्ठुरमकक्कसं वयणं ।१२३। उवसंतवयणमगि-हत्थवयणमकिरियमहीलणं वयणं। एसो वाइयविणओ जहारिहो होदि कादव्वो ।१२४। पापविसोत्तिय परिणामवज्जणं पियहिदे य परिणामो। णायव्वो संखेवेण एसो माणसिओ विणओ ।१२५। इय एसो पच्चक्खो विणओ पारोक्खिओ वि जं गुरुणो। विरहम्मि विवट्टिज्जइ आणाणिद्देसचरियाए ।१२६। = साधुको आते देख आसनसे उठ खड़े होना, कायोत्सर्गादि कृतिकर्म करना, अंजुली मस्तकपर चढ़ाकर नमस्कार करना, उनके सामने जाना, अथवा जानेवालेको विदा करनेके लिए साथ जाना ।११९। उनके पीछे खड़े रहना, उनके पीछे-पीछे चलना, उनसे नीचे बैठना, नीचे सोना, उन्हें आसन देना, पुस्तकादि उपकरण देना, ठहरनेको वसतिका देना ।१२०। उनके बलके अनुसार उनके शरीरका स्पर्शन मर्दन करना, कालके अनुसार क्रिया करना अर्थात् शीतकालमें उष्णक्रिया और उष्णकालमें शीतक्रिया करना, आज्ञाका अनुकरण करना, संथारा करना, पुस्तक आदिका शोधन करना ।१२१। इत्यादि प्रकारसे जो गुरुओंका तथा अन्य साधुओंका शरीरसे यथायोग्य उपकार करना सो सब कायिक विनय जानना ।१२२। पूज्य वचनोंसे बोलना, हितरूप बोलना, थोड़ा बोलना, मिष्ट बोलना, आगमके अनुसार बोलना, कठोरता रहित बोलना ।१२३। उपशान्त वचन, निर्बन्ध वचन, सावद्य क्रियारहित वचन, तथा अभिमान रहित वचन बोलना वाचिक विनय है ।१२४। पापकार्योंमें दुःश्रुति (विकथा सुनना आदि) में अथवा सम्यक्त्वकी विराधनामें जो परिणाम, उनका त्याग करना, और धर्मोपकारमें व सम्यक्त्व ज्ञानादिमें परि-णाम होना वह मानसिक विनय है ।१२५। इस प्रकार ऊपर यह तीन प्रकारका प्रत्यक्ष विनय कहा। गुरुओंके परोक्ष होनेपर अर्थात् उनकी अनुपस्थितिमें उनको हाथ जोड़ना, जिनाज्ञानुसार श्रद्धा व प्रवृत्ति करना परोक्ष विनय है ।१२६। (मू आ /३७३-३८०); (वसु श्रा / ३२६-३३१)।

ये ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनोकी ही विनय है, क्योंकि, रत्नत्रय समूहको साधु व प्रवचन संज्ञा प्राप्त है। इसी कारण क्योंकि विनय-सम्पन्नता एक भी होकर सोलह अवयवोंसे सहित है, अत' उस एक ही विनयसम्पन्नतासे मनुष्य तीर्थंकर नामकर्मको बाधते है। प्रश्न—यह. विनय सम्पन्नता देव नारकियोंके कैसे सम्भव है। उत्तर—उक्त शका ठीक नहीं है, क्योंकि उनमें ज्ञान व दर्शन-विनयकी संभावना देखी जाती है। प्रश्न—यदि (देव और नारकियोको) दो ही विनयोसे तीर्थंकर नामकर्म बाँधा जा सकता है तो फिर चारित्र-विनयको उसका कारण क्यों कहा जाता है। उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि विरोधी चारित्रविनय नहीं होता, इस बातको सूचित करनेके लिए चारित्रविनयको भी कारण मान लिया गया है।

४. विनय तपका माहात्म्य

भा. पा./मू./१०२ विणय पचपयार पालहि मणवयणकायजोएण अविणयणरा सुविहियं तत्तो मुत्ति ण पावति।१०२। =हे मुने! पाँच प्रकारकी विनयको मन वचन काय तीनो योगोसे पाल, क्योंकि, विनय रहित मनुष्य सुविहित मुक्तिको प्राप्त नहीं करते है। (वसु. श्रा./३३५)।

भ. आ./मू./१२६-१३१ विणओ मोक्खद्दार विणयादो सजमो तवो णाणं। विणएणाराहिज्जइ आयरिओ सव्वसघो य।१२६। आयारजीदकप्प-गुणदीवणा अत्तसोधिणिज्झझा। अज्जव मद्दव लाघव भत्ती पल्हाद-करण च।१३०। कित्ती मेत्ती माणस्स भजण गुरुजणे य बहुमाणो। तित्थयराण आणा गुणाणुमोदो य विणयगुणा।१३१। =विनय मोक्ष-का द्वार है, विनयसे सयम तप और ज्ञान होता है और विनयसे आचार्य व सर्वसघकी सेवा हो सकती है।१२६। आचारके, जीदप्राय-श्चित्तके और कल्पप्रायश्चित्तके गुणोंका प्रगट होना, आत्मशुद्धि, कलह रहितता, आर्जव, मार्दव, निर्लोभता, गुरुसेवा, सबको सुखी करना—ये सब विनयके गुण है।१३०। सर्वत्र प्रसिद्धि, सर्व मैत्री गर्व-का त्याग, आचार्यादिकोंसे बहुमानका पाना, तीर्थकरोकी आज्ञाका पालन, गुणोसे प्रेम—इतने गुण विनय करने वालेके प्रगट होते है।१३१। (मू. आ./३८६-३८८) (भ. आ./वि./११६/२७५/३)।

मू. आ./३६४ दसणणाणे विणओ चरित्ततव ओवचारिओ विणओ। पच-विहो खलु विणओ पचमगइणायगो भणिओ।३६४। =दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप व उपचार ये पाँच प्रकारके विनय मोक्ष गतिके नायक कहे गये है।३६४।

वसु. श्रा./३३२-३३६ विणएण ससकुज्जलजसोहधवलियदियतओ पुरिसो। सव्वत्थ हवइ सुहओ तहेव आदिज्जवयणो य।३३२। जे केइ वि उवएसा इह परलोए सुहावहा संति। विणएण गुरुजणाणं सव्वे पाउणइ ते पुरिसा।३३३। देविंद चक्कहरमडलीयरायाइज सुह लोए। तं सव्व विणयफल णिव्वाणसुह तहा चेव।३३४। सत्तू व मित्तभाव जम्हा उवयाइ विणयसीलस्स। विणओ तिविहेण तओ कायव्वो देसविरएण।३३६। =विनयसे पुरुष चन्द्रमाके समान उज्ज्वल यशसमूहसे दिगन्तको धवलित करता है, सर्वत्र सबका प्रिय हो जाता है, तथा उसके वचन सर्वत्र आदर योग्य होते है।३३२। जो कोई भी उपदेश इस लोक और पर लोकमें जीवोको सुखके देनेवाले होते है, उन सबको मनुष्य गुरुजनोंकी विनयसे प्राप्त करते है।३३३। ससारमें देवेन्द्र, चक्रवर्ती, और मण्डलीक राजा आदिके जो सुख प्राप्त होते है वह सब विनयका ही फल है और इसी प्रकार मोक्ष सुख भी विनयका ही फल है।३३४। चूँकि विनयशील मनुष्यका शत्रु भी मित्रभावको प्राप्त हो जाता है इसलिए, श्रावकको मन, वचन, कायसे विनय करना चाहिए।३३६।

अन. ध./७/६२/७०२ सार सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हति। शिक्षास्या विनय सम्यगस्मिन् काम्या सता गुणा'।६२। =मनुष्य भवका सार आर्यता कुलीनता आदि है। उनका भी सार जिनलिंग धारण है। उसका भी सार जिनागमकी शिक्षा है और शिक्षाका भी सार यह विनय है, क्योंकि, इसके होनेपर ही सज्जन पुरुषोके गुण सम्यक् प्रकार स्फुरायमान होते है।

५. मोक्षमार्गमें विनयका स्थान व प्रयोजन

भ. आ./मू./१२८/३०५ विणएण विप्पहूणस्स हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा। विणओ सिक्खाए फलं विणयफल सव्वकल्लाणं।१२८। =विनयहीन पुरुषका शास्त्र पढना निष्फल है, क्योंकि विद्या पढनेका फल विनय है और उसका फल स्वर्ग मोक्षका मिलना है। (मू. आ./३८५) (अन. ध./७/६३/७०३)।

र. सा./८२ गुरुभत्तिविहीणाण सिस्साणं सव्वसगविरदाण। ऊसरछेत्ते वविय सुवीयसम जाण सव्वणुट्ठाणं।८२। =सर्वसंग रहित गुरुओंकी भक्तिसे विहीन शिष्योकी सर्व क्रियाएँ, ऊसर भूमिमें पडे बीजके समान व्यर्थ है।

रा. वा./६/२३/७/६२२/३१ ज्ञानलाभाचारविशुद्धिसम्यगाराधनाद्यर्थं विनयभावनम्।७। ततश्च निर्वृत्तिसुखमिति विनयभावन क्रियते। =ज्ञानलाभ, आचारविशुद्धि और सम्यग् आराधना आदिकी सिद्धि विनयसे होती है, और अन्तमें मोक्षसुख भी इसीसे मिलता है, अत' विनयभाव अवश्य ही रखना चाहिए। (चा. सा./१५०/२)।

भ. आ./वि./३००/५११ शास्त्रोक्तवाचनास्वाध्यायकालयोरध्ययनं श्रुतस्य श्रुत प्रयच्छतश्च भक्तिपूर्व कृत्वा, अवग्रह परिगृह्य, बहुमाने कृत्वा, निह्नव निराकृत्य, अर्थव्यञ्जनतदुभयशुद्धि सपाद्य एव भाव्यमान श्रुतज्ञान सवर निर्जरा च करोति। अन्यथा ज्ञानावरणस्य कारण भवेत्। =शास्त्रमें वाचना और स्वाध्यायका जो काल कहा हुआ है उसी कालमें श्रुतका अध्ययन करो, श्रुतज्ञानको बतानेवाले गुरुकी भक्ति करो, कुछ नियम ग्रहण करके आदरसे पढो, गुरु व शास्त्रका नाम न छिपाओ, अर्थ-व्यजन व तदुभयशुद्धि पूर्वक पढो, इस प्रकार विनयपूर्वक अभ्यस्त हुआ श्रुतज्ञान कर्मोंकी सवर निर्जरा करता है, अन्यथा वही ज्ञानावरण कर्मके बन्धका कारण है। (और भी दे. विनय/१/६ मे ज्ञानविनयका लक्षण, ज्ञान/III/२/१ में सम्यग्ज्ञानके आठ अग)

प. वि./६/१६ ये गुरुं नैव मन्यन्ते तदुपास्तिं न कुर्वते। अन्धकारो भवत्तेषामुदितेऽपि दिवाकरे।१६। =जो न गुरुको मानते है, न उनकी उपासना ही करते है, उनके लिए सूर्यका उदय होनेपर भी अन्धकार जैसा ही है।

दे. विनय/४/३ (चारित्रवृद्धके द्वारा भी ज्ञानवृद्ध वन्दनीय है।)

दे. सल्लेखना/१० (क्षपकको निर्यापकका अन्वेषण अवश्य करना चाहिए।

३. उपचार विनय विधि

१. विनय व्यवहारमें शब्दप्रयोग आदि सम्बन्धी कुछ नियम

सू. पा./मू./१२-१३ जे बावीसपरीसह सहंति सत्तीसएहिं संजुत्ता। ते होंति वदणीया कम्मक्खयणिज्जरासाहू।१२। अवरेसा जे लिंगी दसणणाणेण सम्मसजुत्ता। चेलेण य परिगहिया ते भणिया इच्छणि-ज्जाय।१३। =सैकडो शक्तियोसे सयुक्त जो २२ परीषहोंको सहन करते हुए नित्य कर्मोंकी निर्जरा करते है, ऐसे दिगम्बर साधु वन्दना करने योग्य है।१२। और शेष लिंगधारी, वस्त्र धारण करनेवाले परन्तु जो ज्ञान दर्शनसे सयुक्त हैं वे इच्छाकार करने योग्य है।१३।

मू. आ./१३१, १६५ सजमणाणुवकरणे अण्णुवकरणे च जायणे अण्णे। जोग्ग गहणादीसु अ इच्छाकारो दु कादव्वो।१३१। पच छ सत्त हत्थे

सूरी अज्झावगो य साधु य। परिहरिऊणज्झाओ गवासणेणेव वंदंति ।१९५। =सयमोपकरण, ज्ञानोपकरण तथा अन्य भी जो उपकरण उनमे, औषधादिमें, आतापन आदि योगोंमे इच्छाकार करना चाहिए ।१३१। आर्यिकाए आचार्योंको पाँच हाथ दूरसे, उपाध्यायको छह हाथ दूरसे और साधुओंको सात हाथ दूरसे गवासनसे बेठकर वन्दना करती है ।१९५।

मो. पा /टी /१२/३१४ पर उद्धृत गा.—"वरिसमयदिखियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू। अभिगमण'-वदण-णमंसणण विणएण सो पुज्जो ।१। =सौ वर्षकी दीक्षित आर्यिकाके द्वारा भी आजका नव-दोक्षित साधु अभिगमन, वन्दन, नमस्कार व विनयसे पूज्य है। (प्र. सा /ता. वृ /२२५ प्रक्षेपक ८/३०४/२७)।

मो पा./टी /१२/३१३/१६ मुनिजनस्य स्त्रियाश्च परस्पर वन्दनापि न युक्ता। यदि ता वन्दन्ते तदा मुनिभिर्नमोऽस्त्विति न वक्तव्यं, किं तर्हि वक्तव्य। समाधिकर्मक्षयोऽस्त्विति। =मुनिजन व आर्यिकाओं-के बीच परस्पर वन्दना भी युक्त नहीं है। यदि वे वन्दन करें तो मुनिको उनके लिए 'नमोऽस्तु' शब्द नहीं कहना चाहिए, किन्तु 'समाधिरस्तु' या 'कर्मक्षयोऽस्तु' कहना चाहिए।

२. विनय व्यवहारके योग्य व अयोग्य अवस्थाएँ

मू. आ /५९७-५९९ वखित्तपराहुत्त तु पमत्त मा कदाइ वंदिज्जो। आहार च करतो णीहार वा जदि करेदि ।५९७। आसणे आसणत्थ च उवसंतं च उवट्ठिद। अणुविण्णय मेधावी किदियम्मं पउजदे ।५९८। आलोयणाय करणे पडिपुच्छा पूजणे य सज्झाए। अवराधे य गुरुणं वदणमेदेसु ठाणेसु ।५९९। =व्याकुल चित्तवालेको, निद्रा विकथा आदि से प्रमत्त दशाको प्राप्तको तथा आहार व णीहार करतेको वन्दना नहीं करनी चाहिए ।५९७। एकान्त भूमिमें पद्मासनादिसे स्वस्थ चित्तरूपसे बेठे हुए मुनिको वन्दना करनी चाहिए और वह भी उनकी विज्ञप्ति लेकर ।५९८। आलोचनाके समय, प्रश्नके समय, पूजा व स्वाध्यायके समय तथा क्रोधादि अपराधके समय आचार्य उपाध्याय आदिकी वन्दना करनी चाहिए ।५९९। (अन. ध /७/५३-५४/६७२)

भ आ /वि /११६/२७५/६ वसतेः, कायभूमितः, भिक्षातः, चैत्यात्, गुरुसकाशात्, ग्रामान्तराद्वा आगमनकालेऽभ्युत्थातव्यम्। गुरुजनश्च यदा निष्क्रामति निष्क्राम्य प्रविशति वा तदा तदा अभ्युत्थानं कार्यम्। अनया दिशा यथागममितरदप्यनुगन्तव्यम्। =वसतिका स्थानसे, कायभूमिसे (१), भिक्षा लेकर लौटते समय, चैत्यालयसे आते समय, गुरुके पाससे आते समय अथवा ग्रामान्तरसे आते समय अथवा गुरु-जन जब बाहर जाते है या बाहरसे आते है, तब तब अभ्युत्थान करना चाहिए। इसी प्रकार अन्य भी जानना चाहिए।

३. उपचार विनयकी आवश्यकता ही क्या

भ. आ /मू. व वि /७५६-७५७/९२० ननु सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपांसि ससारमुच्छिन्दन्ति यद्यपि न स्यान्नमस्कार इत्यशङ्कायामाह— जो भावणमोक्कारेण विणा सम्मत्तणाणचरणतवा। ण हु ते होति समत्था संसारुच्छेदण कादु ।७५६। यद्येव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्ष-मार्ग इति सूत्रेण विरुध्यते। नमस्कारमात्रमेव कर्मणा विनाशने उपाय इत्येकमुक्तिमार्गकथनादित्याशङ्कायामाह—चदुरगाए सेणाए णायगो जह पवत्तवो होदि। तह भावणमोक्कारो मरणे तवणाणचरणाणं ।७५७। =प्रश्न—सम्यक्त्व ज्ञान, चारित्र और तप ससारका नाश करते है, इसलिए नमस्कारकी क्या आवश्यकता है? उत्तर—भाव नमस्कारके बिना सम्यक्त्व ज्ञान चारित्र और तप ससारका नाश करनेमें समर्थ नहीं होते है। प्रश्न—यदि ऐसा है तो 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग' इस सूत्र के साथ विरोध उत्पन्न होगा, क्योकि, आपके मतके अनुसार नमस्कार अकेला ही कर्मविनाशका उपाय है? उत्तर—चतुरगो सेनाका जैसे सेनापति प्रवर्तक माना जाता है वैसे यह भाव नमस्कार भी मरण समयमें तप, ज्ञान, चारित्रका प्रवर्तक है।

४. उपचार विनयके योग्यायोग्य पात्र

१. यथार्थ साधु आर्यिका आदि वन्दनाके पात्र हैं

भ आ./मू /१२७/३०४ राइणिय अराइणीएसु अज्जासु चेव गिहिवग्गे। विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ।१२७। ='राइणिय' उत्कृष्ट परिणामवाले मुनि, 'अराइणीग' न्यून भूमिकाओंवाले अर्थात् आर्यिका व श्रावक तथा गृहस्थ आदि इन सबका उन उनकी योग्यतानुसार आदर व विनय करना चाहिए। (मू आ./३८४)

द. पा /मू. २३ दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालमुपसत्था। एदे दु वदणीया जे गुणवादी गुणधराणं। =दर्शन ज्ञान चारित्र तथा तपविनय इनमें जो स्थित हैं वे सराहनीय व स्वस्थ हैं, और गणधर आदि भी जिनका गुणानुवाद करते हैं, ऐसे साधु वन्दने योग्य हैं ।२३। (सू पा./मू./१२), (बो. पा /मू /११)

प. ध /उ./६९४, ७३५ इत्याद्यनेकधानेकैः साधुः साधुगुणैः श्रित। नमस्य श्रेयसेऽवश्यं.. ।६९४। नारीभ्योऽपि व्रताढ्याभ्यो न निषिद्धं जिनागमे। देयं सन्मानदानादि लोकानामविरुद्धत ।७३५। =अनेक प्रकारके साधु सम्बन्धी गुणोंसे युक्त पूज्य साधु ही मोक्षकी प्राप्तिके लिए तत्त्वज्ञानियो द्वारा वन्दने योग्य है ।६९४। जिनागममें व्रतोंसे परिपूर्ण स्त्रियोंका भी सम्मान आदि करना निषिद्ध नहीं है, इसलिए उनका भी लोक व्यवहारके अनुसार सम्मान आदि करना चाहिए ।७३५।

दे. विनय/३/१—(सौ वर्षकी दीक्षित आर्यिकासे भी आजका नव-दीक्षित साधु वन्द्य है।)

२. जो इन्हें वन्दन नहीं करता सो मिथ्यादृष्टि है

द पा./मू /२४ सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठु जो मण्णएण मच्छरिओ। सो सजमपडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवइ एसो।२४। =जो सहजोत्पन्न यथाजात रूपको देखकर मान्य नहीं करता तथा उसका विनय सत्कार नहीं करता और मत्सरभाव करता है, वे यदि संयमप्रतिपन्न भी हैं, तो भी मिथ्यादृष्टि हे।

३. चारित्रवृद्धसे भी ज्ञानवृद्ध अधिक पूज्य है

भ आ /वि /११६/२७५/८ वाचनामनुयोग वा शिक्षयत' अवमरत्नत्रय-स्याभ्युत्थातव्यं तन्मूलेऽध्ययन कुर्वद्भि सर्वैरेव। =जो ग्रन्थ और अर्थको पढाता है अथवा सदादि अनुयोगोंका शिक्षण देता है वह व्यक्ति यदि अपनेसे रत्नत्रयमें हीन भी है, तो भी उसके आनेपर जो-जो उसके पास अध्ययन करते है वे सर्वजन खडे हो जावें।

प्र सा /ता वृ /२६३/३५४/१५ यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वाच्छ्रुतविनयार्थमभ्यु-त्थेयाः।

प्र. सा /ता. वृ /२६७/३५८/१७ यदि बहुश्रुतानां पार्श्वे ज्ञानादिगुणवृद्ध्यर्थं स्वय चारित्रगुणाधिका अपि वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा दोषो नास्ति। यदि पुन केवल ख्यातिपूजालाभार्थं वर्तन्ते तदातिप्रसंगा-द्दोषो भवति। =चारित्र व तपमें अधिक न होते हुए भी सम्यग्ज्ञान गुणमे ज्येष्ठ होनेके कारण श्रुतकी विनयके अर्थ वह अभ्युत्थानादि विनयके योग्य है। यदि कोई चारित्र गुणमें अधिक होते हुए भी ज्ञानादि गुणकी वृद्धिके अर्थ बहुश्रुत जनोंके पास वन्दनादि क्रियामें वर्तता है तो कोई दोष नहीं है। परन्तु यदि केवल ख्याति पूजा व लाभके अर्थ ऐसा करता है तब अतिदोषका प्रसग प्राप्त होता है।

।
)

।५ सयतैः
।८ कुदेवोंकी
, नहीं करनी

।ह्या। न वन्दनीया ।
।५र्म बाह्य है, इसलिए

=इन गुणोसे रहित जो
नही है।

वन्द्य नहीं हैं

।५ पडिच्छगो जो वि होमि समणो
सो होदि अणतपसारी । =जो
'तथापि हीन गुणवालोंके प्रति (वन्द-
। है वे मिथ्या उपयुक्त होते हुए चारित्रसे

७ भट्ठा पाए पाडति दमणधराण । ते होति
दुल्लहा तेसिं ।१२। =जो पुरुष दर्शनभ्रष्ट होकर
ोंको अपने पाँवमें पड़ाते हैं, वे गूँगे-लूले होते है
निगोद योनिमें जन्म पाते हे। उनको बोधिकी
होती है।

।२६/२७५/५ असयतस्य संयतासयतस्य वा नाभ्युत्थानं
=मनुष्योको असयत व सयतासयत जनोंके आनेपर खडा
योग्य नहीं है।

ध /७/५२/७७१ श्रावकेणापि पि॰ गुरु राजाप्यसयता । कुलि-
कुदेवाश्च न वन्द्या॰ ।५२। =माता, पिता,
व शिक्षागुरु, एवं और मन्त्री आदि असयत
तथा श्रावककी भी ।ओंको वन्दना नहीं करनी
और व्रती श्रावकोंको परोक्त दसयमियोकी वन्दना
चाहिए।

असजदं ण वंदे =असंयत जन वद्य नहीं है।
दे० आगे शीर्षक ।

।दिक आदिका कड़ा निषेध व

वि ५७। ।स जाणंता लज्जागारवभएण। तेसिं
पावं ।यमाणाण ।१३। =जो दर्शनयुक्त पुरुष
द ।नते हुए भी लज्जा गारव या भयके
ग। पड़ते हैं अर्थात् उनकी विनय आदि करते है,
नि प्राप्ति नहीं होती है, क्योकि, वे पापके अनु-
म

मो कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंग च वदए जो दु।
।ग्वदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु। =कुत्सित देवको,
धर्मको और कुत्सित लिंगधारी गुरुको जो लज्जा भय
।रवके वश वन्दना आदि करता है, वह प्रगट मिथ्यादृष्टि
ि।

पा /मू /१४ कुमयकुसुदपससा जाणता बहुविहाइ सत्थाइ । सील-
वदणाणरहिदा ण हु ते आराधया होंति ।१४। =बहु प्रकारसे शास्त्रको
जाननेवाला होकर भी यदि कुमत व कुशास्त्रकी प्रशसा करता है, तो
वह शील, व्रत व ज्ञान इन तीनोंसे रहित है, इनका आराधक
नहीं है।

र. क. श्रा /३० भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् । प्रणाम विनय
चैव न कुर्यु शुद्धदृष्टय ।३०। =शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव भय आशा
प्रीति और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुलिंगियोको प्रणाम और
विनय भी न करे।

पं. वि /१/१६७ न्यायादन्धकवर्तकीयकजनाख्यानस्य ससारिणां, प्राप्त
वा बहुकल्पकोटिभिरिद कृच्छ्रान्नरत्व यदि । मिथ्यादेवगुरूपदेश-
विषयव्यामोहनीचान्वय-प्रायै प्राणभृता तदेव सहसा वैफल्यमा-
गच्छति ।१६७। =ससारी प्राणियोंको यह मनुष्यपर्याय इतनी ही
कष्ट प्राप्य है जितनी कि अन्धेको बटेरकी प्राप्ति । फिर यदि
करोड़ों कल्पकालोंमें किसी प्रकार प्राप्त भी हो गयी, तो वह मिथ्या
देव एव मिथ्यागुरुके उपदेश, विषयानुराग और नीच कुलमें
उत्पत्ति आदिके द्वारा सहसा विफलताको प्राप्त हो जाती है।१६७।

और भी दे० मूढता—(कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र व कुधर्मको देवगुरु शास्त्र
व धर्म मानना मूढता है।)

दे० अमूढ दृष्टि/३ (प्राथमिक दशामें अपने श्रद्धानकी रक्षा करनेके लिए
इनसे बचकर ही रहना योग्य है।)

७. द्रव्य लिंगी भी कथंचित् वन्द्य है

यो. सा /अ /५/५६ द्रव्यतो यो निवृत्तोऽस्ति स पूज्यो व्यवहारिभि ।
भावतो यो निवृत्तोऽसौ पूज्यो मोक्ष यियासुभि ।५६। =व्यवहारी
जनोंके लिए द्रव्यलिंगी भी पूज्य है, परन्तु जो मोक्षके इच्छुक हैं
उन्हे तो भाव-लिंगी ही पूज्य है।

सा ध /२/६४ विन्यस्यैदयुगीनेषु प्रतिमासु जिनानिव । भक्त्या पूर्व-
मुनीनर्चेत्कुत श्रेयोऽतिचर्चिनाम् ।६४।

उपरोक्त श्लोककी टीकामें उद्धृत—"यथा पूज्य जिनेन्द्राणा रूपं
लेपादिनिर्मितम् । तथा पूर्वमुनिच्छाया' पूज्या सप्रति सयता ।

=जिस प्रकार प्रतिमाओंमें जिनेन्द्र देवकी स्थापना कर उनकी पूजा करते है, उसी प्रकार सद्गृहस्थको इस पंचमकालमें होनेवाले मुनियोंमें पूर्वकालके मुनियोकी स्थापना कर भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिए। कहा भी है "जिस प्रकार लेपादिसे निर्मित जिनेन्द्र देवका रूप पूज्य है, उसी प्रकार वर्तमान कालके मुनि पूर्वकालके मुनियोके प्रतिरूप होनेसे पूज्य है। [परन्तु अन्य विद्वानो का इस प्रकार स्थापना द्वारा इन मुनियोको पूज्य मानना स्वीकार नही है—(दे० विनय/५/३)]।

८. साधुओंको नमस्कार क्यों

ध. ६/४,१,१/११/१ होदु णाम सयलजिणणमोक्कारो पावप्पणासओ, तत्थ सव्वगुणाणमुवलभादो। ण देसजिणाणमेदेसु तदणुवलभादो त्ति। ण, सयलजिणेसु व देसजिणेसु तिण्ह रयणाणमुवलभादो। =प्रश्न—सकल जिन नमस्कार पापका नाशक भले ही हो, क्योंकि, उनमें सब गुण पाये जाते है। किन्तु देशजिनोको किया गया नमस्कार पाप प्रणाशक नही हो सकता, क्योकि इनमें वे सब गुण नही पाये जाते? उत्तर—नही, क्योकि, सकल जिनोके समान देश जिनामें (आचार्य उपाध्याय साधुमें) भी तीन रत्न पाये जाते है। [जो यद्यपि असम्पूर्ण है, परन्तु सकल जिनोके सम्पूर्ण रत्नोसे भिन्न नही है।]—(विशेष दे० देव/I/१/५)।

९. असंयत सम्यग्दृष्टि वन्द्य क्यों नहीं

ध. ६/४,१,२/४१/१ महव्वयविरहिददोरयणहराणं। ओहिणाणीणमणोहिणाणीण च किमट्ठ णमोक्कारो ण कीरदे। गारवगुरुवेसु जीवेसु चरणाचारपयट्टावणट्ठ उत्तिमग्गविसयभत्तिपयासणट्ठं च ण कीरदे। =प्रश्न—महाव्रतोसे रहित दो रत्नो अर्थात् सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानके धारक अवधिज्ञानी तथा अवधिज्ञानसे रहित जीवोंको भी क्यो नहीं नमस्कार किया जाता? उत्तर—अहंकारसे महान् जीवोमे चरणाचार अर्थात् सम्यग्चारित्र रूप प्रवृत्ति करानेके लिए तथा प्रवृत्तिमार्ग विषयक भक्तिके प्रकाशनार्थ उन्हे नमस्कार नहीं किया जाता है।

५. साधुकी परीक्षाका विधि-निषेध

१. आगन्तुक साधुकी विनय पूर्वक परीक्षा विधि

भ.आ/मू /४१०-४१४ आएसं एज्जतं अब्भुट्ठिति सहसा हु दट्ठूणं। आणासंगहवच्छल्लदाए चरणे य णादुजे।४१०। आगंतुगवत्थव्वा पडिलेहाहिं तु अण्णमण्णेहि। अण्णोण्णचरणकरण जाणणहेदुं परिक्खंति।४११। आवासयठाणादिसु पडिलेहणवयणगहणणिक्खेवे। सज्झाए य विहारे भिक्खग्गहणे परिच्छंति।४१२। आएसस्स तिरत्त णियमा संघाडओ दु दादव्वो। सेज्जा संथारो वि य जइ वि असंभोइओ होइ।४१३। तेण परं अवियाणिय ण होदि संघाडओ दु दादव्वो। सेज्जा संथारो वि य गणिणा अविजुत्त जोगिस्स।४१४। =१ अन्य गणसे आये हुए साधुको देखकर परगणके सब साधु, वात्सल्य, सर्वज्ञ आज्ञा, आगन्तुकको अपना बनाना, और नमस्कार करना इन प्रयोजनोके निमित्त उठकर खडे हो जाते है।४१०। वह नवागन्तुक मुनि और इस संघके मुनि परस्परमें एक दूसरेकी प्रतिलेखन क्रिया व तेरह प्रकार चारित्रकी परीक्षाके लिए एक दूसरेको गौरसे देखते है।४११। षट् आवश्यक व कायोत्सर्ग क्रियाओंमे, पीछी आदिसे शोधन क्रिया, भाषा बोलनेकी क्रिया, पुस्तक आदिके उठाने रखनेकी क्रिया, स्वाध्याय, एकाकी जाने आनेकी क्रिया, भिक्षा ग्रहणार्थ चर्या, इन सब क्रिया स्थानोंमे परस्पर परीक्षा करें।४१२। आये हुए अन्य संघस्थ मुनिको स्वाध्याय संस्तर भिक्षा आदिका स्थान बतलानेके लिए तथा उनकी शुद्धताकी परीक्षा करनेके लिए, तीन दिन रात तक सहायक मुनि साथ रहें।४१३। (मू आ /१६०, १६३, १६४, १६२)। २. तीन दिनके पश्चात् यदि वह मुनि परीक्षामें ठीक नहीं उतरता तो उसे सहाय प्रदान नही करते, तथा वसतिका व संस्तर भी उसे नही देते और यदि उसका आचरण योग्य है परन्तु परीक्षा पूरी नहीं हुई है, तो भी आचार्य उसको सहाय वसतिका व संस्तर नही देते है।४१४।

२. साधुकी परीक्षा करनेका निषेध

सा ध /२/६४ मे उद्धृत—भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्। ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुध्यति। "काले कलौ चले चित्ते देहे चान्नादिकीटके। एतच्चित्रं यदद्यापि जिनरूपधरा नरा।= केवल आहारदान देनेके लिए मुनियोंकी क्या परीक्षा करनी चाहिए? वे मुनि चाहे अच्छे हो या बुरे, गृहस्थ तो उन्हे दान देनेसे शुद्ध ही हो जाता है अर्थात् उसे तो पुण्य हो ही जाता है। इस कलिकालमें चित्त सदा चलायमान रहता है, शरीर एक तरहसे केवल अन्नका कीडा बना हुआ है, ऐसी अवस्थामे भी वर्तमानमे जिन रूप धारण करनेवाले मुनि विद्यमान है, यही आश्चर्य है।

३. साधु परीक्षा सम्बन्धी शंका समाधान

मो मा. प्र / अधिकार/पृष्ठ/पंक्ति—

प्रश्न—१. शील संयमादि पालै हैं, तपश्चरणादि करै है, सो जेता करैं तितना ही भला है? उत्तर—यहु सत्य है, धर्म थोरा भी पाल्या हुआ भला है। परन्तु प्रतिज्ञा तौ बडे धर्मकी करिए अर पालिए थोरा तौ वहाँ प्रतिज्ञा भंगतैं महापाप हो है।· शील संयमादि होतैं भी पापी ही कहिए।· यथायोग्य नाम धराय धर्मक्रिया करतैं तौ पापीपना होता नाहीं। जेता धर्म्म साधै तितना ही भला है। (५/२३४/६)। प्रश्न—२. पंचम कालके अन्ततक चतुर्विध संघका सद्भाव कह्या है। इनकौ साधु न मानिय तौ किसकौ मानिए? उत्तर—जैसें इस कालविषै हंसका सद्भाव कह्या है अर गम्यक्षेत्र विषै हंस नाहीं दीसै है, तौ औरनिकौ तौ हंस माने जाते नाहीं, हंसकासा लक्षण मिलें ही हंस मानें जायँ। तैसें इस कालविषै साधुका सद्भाव है, अर गम्य क्षेत्र विषै साधु न दीसै है, तौ औरनिकौ तौ साधु माने जाते नाहीं। साधु लक्षण मिलै ही साधु माने जायँ। (५/२३४/२२) प्रश्न—३. अब श्रावक भी तौ जैसे सम्भवै तैसे नाहीं। तातैं जैसे श्रावक तैसे मुनि? उत्तर—श्रावक संज्ञा तौ शास्त्रविषै सर्व गृहस्थ जनौकी है। श्रेणिक भी असंयमी था, ताकौ उत्तर पुराण विषै श्रावकोत्तम कह्या। बारह सभाविषै श्रावक कहे, तहाँ सर्व व्रतधारी न थे। ·तातैं गृहस्थ जैनी श्रावक नाम पावै है। अर 'मुनि' संज्ञा तौ निर्ग्रन्थ बिना कहीं कही नाहीं। बहुरि श्रावककै तौ आठ मूलगुण कहे है। सो मद्यमांस मधु पंचउदंबरादि फलनिका भक्षण श्रावकनिकै है नाहीं, तातैं काहू प्रकार श्रावकपना तौ सम्भवै भी है। अर मुनिकै २८ मूलगुण है, सो भेषीनिकै दीसते ही नाहीं। तातैं मुनिपनो काहू प्रकारकरि सम्भवै नाहीं। (६/२७४/१) प्रश्न—४ ऐसे गुरु तौ अबार यहाँ नाही, तातैं जैसे अर्हन्तकी स्थापना प्रतिमा है, तैसें गुरुनिकी स्थापना ये भेषधारी हैं? उत्तर—अर्हन्तादिकी पाषाणादिमें स्थापना बनावै, तौ तिनिका प्रतिपक्षी नाहीं, अर कोई सामान्य मनुष्य आपकौ मुनि मनावै, तौ वह मुनिनिका प्रतिपक्षी भया। ऐसै भी स्थापना होती होय, तो अरहन्त भी आपकौ मनावो। (६/२७३/१५) [पंचपरमेष्ठी भगवान्के असाधारण गुणोकी गृहस्थ या सामान्य मनुष्यमें स्थापना करना निषिद्ध है। (श्लो. वा २/भाषाकार /१/५/५४/२६४/६)।

विनयचन्द्र—'उवएसमाला' तथा 'कहाणय छप्पय' नामक दो अपभ्रंश ग्रन्थोके रचयिता। समय ई. श /१३/ (हिन्दी जैन साहित्य इतिहास /५१/ बा० कामता प्रसाद)।

परिणमनशीलतासे ही होती है तो उनमें फिर स्वाभाविकी क्रियासे क्या भेद है। उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि, बद्ध और अबद्ध ज्ञानमें भेद (स्पष्ट) है। मोहनीय कर्मसे आवृत ज्ञान बद्ध है और उससे रहित अबद्ध।६६। प्रश्न—वस्तुत बद्धत्व व अशुद्धत्व क्या है।७१। उत्तर—वैभाविकी शक्तिके उपयोगरूप हो जानेपर जो परद्रव्यके निमित्तसे जीव व पुद्गलके गुणोंका संक्रमण हो जाता है वह बन्ध कहलाता है।७२। [परगुणाकाररूप पारिणामिकी क्रियाबन्ध है और उस क्रियाके होनेपर जीव व पुद्गल दोनोंको अपने गुणोंसे च्युत हो जाना अशुद्धता है—दे. अशुद्धता] उस बन्धमें केवल वैभाविकी शक्ति कारण नहीं है और न केवल उसका उपयोग कारण है, किन्तु उन दोनोंका परस्परमें एक दूसरेके आधीन होकर रहना ही प्रयोजक है।७३। यदि वैभाविकी शक्ति ही बन्धका कारण माना जायेगा, तो जीवकी मुक्ति ही असम्भव हो जायेगी, क्योंकि, यह शक्ति द्रव्योपजीवी है।७४। शक्तिकी अपने विषयमें अधिकार रखनेवाली व्यक्तता उपयोग कहलाता है। वह भी अकेला बन्धका कारण नहीं है, क्योंकि, ऐसा माननेपर भी सभी प्रकारका बन्ध उसीमें समा जायेगा।७५। अत उसकी हेतुभूत समस्त सामग्रीके मिलनेपर अपने-अपने आकारका परद्रव्यके निमित्तसे, जिसके साथ बन्ध होना है उसके गुणाकाररूपसे संक्रमण हो जाता है। इसीसे यह अपराधी जीव बँधा हुआ है।७६।

३. वह शक्ति नित्य है पर स्वयं स्वभाव या विभाव रूप परिणत हो जाती है

प.ध./उ./श्लोक—ननु वैभाविकी शक्तिस्तथा स्यादन्ययोगत। परयोगाद्विना किं न स्याद्वास्ति तथान्यथा।७६। सत्यं नित्या तथा शक्ति शक्तित्वाच्छुद्धशक्तिवत्। अथान्यथा सतो नाश शक्तीनां नाशत क्रमात्।८०। किंतु तस्यास्तथाभाव शुद्धादन्योन्यहेतुक। तन्निमित्ताद्विना शुद्धो भाव स्यात्केवलं स्वत।८१। अस्ति वैभाविकी शक्ति स्वतस्तेषु गुणेषु च। जन्तो संसृत्यवस्थायां वैकृतास्ति स्वहेतुत।८४६। =प्रश्न—यदि वैभाविकी शक्ति जीव पुद्गलके परस्पर योगसे बन्ध करानेमें समर्थ होती है तो क्या पर योगके बिना वह बन्ध करानेमें समर्थ नहीं है। अर्थात् कर्मोंका सम्बन्ध छूट जानेपर उसमें बन्ध करानेकी सामर्थ्य रहती है या नहीं। उत्तर—तुम्हारा कहना ठीक है, परन्तु शक्ति होनेके कारण अन्य स्वाभाविकी शक्तियोंकी भाँति वह भी नित्य रहती है, अन्यथा तो क्रमसे एक-एक शक्तिका नाश होते-होते द्रव्यका ही नाश हो जायेगा।७६-८०। किन्तु उस शक्तिका अशुद्ध परिणमन अवश्य पर निमित्तसे होता है। निमित्तके हट जानेपर स्वयं उसका केवल शुद्ध ही परिणमन होता है।८१। सिद्ध जीवोंके गुणोंमें भी स्वत सिद्ध वैभाविकी शक्ति होती है जो जीवकी संसार अवस्थामें स्वयं अनादि-कालसे विकृत हो रही है।८४६।

४. स्वाभाविक व वैभाविक दो शक्तियाँ मानना योग्य नहीं

पं.ध./उ./श्लो. ननु चैवं चैका शक्तिस्तद्भावो द्विविधो भवेत्। एक स्वाभाविको भावो भावो वैभाविको पर।८३। चेदवश्यं हि द्वे शक्ती सत स्त का क्षति सताम्। स्वाभाविकी स्वभावै स्वै स्वैर्विभावैर्विभावजा।८४। नैवं यतोऽस्ति परिणामि शक्तिजातं सतोऽखिलम्। कथं वैभाविकी शक्तिर्न स्याद्वैपारिणामिकी।८८। पारिणामात्मिका काचिच्छक्तिश्चापारिणामिकी। तद्ग्राहकप्रमाणस्याभावात्सदृष्टान्तत।८६। तस्माद्वैभाविकी शक्ति स्वयं स्वाभाविकी भवेत्। परिणामात्मिका भावैरभावे कृत्स्नकर्मणाम्।९०। =प्रश्न—इससे तो ऐसा सिद्ध होता है कि शक्ति तो एक है, पर उसका ही परिणमन दो प्रकारका होता है—एक स्वाभाविक और दूसरा वैभाविक।८३। तो फिर द्रव्योंमें स्वाभाविकी और वैभाविकी ऐसी दो स्वतन्त्र शक्तियाँ मान लेनेमें क्या क्षति है, क्योंकि, द्रव्यके स्वभावोंमें स्वाभाविकी शक्ति और उसके विभावोंमें वैभाविकी शक्ति सदा प्रवर्तन करती रहेगी।८४। उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, द्रव्यकी सब शक्तियाँ जब परिणमन स्वभावी हैं, तो फिर यह वैभाविकी शक्ति भी नित्य पारिणामिकी क्यों न होगी।८८। कोई शक्ति तो परिणामी हो और कोई अपरिणामी, इस प्रकारके उदाहरणका तथा उसके ग्राहक प्रमाणका अभाव है।८६। इसलिए ऐसा ही मानना योग्य है कि वैभाविकी शक्ति सम्पूर्ण कर्मोंका अभाव होनेपर अपने भावोंसे ही स्वयं स्वाभाविक परिणमनशील हो जाती है।९०।

५. स्वभाव व विभाव शक्तियोंका समन्वय

प.ध./उ./९१-९३ सत सिद्धं सतोऽवश्यं स्यात्सदा शक्तिद्वयं यत। सदवस्थाभेदतो द्वैतं न द्वैतं युगपत्तयो।९१। यौगपद्ये महान् दोषस्तद्द्वयस्य नयादपि। कार्यकारणयोर्नाशो नाश स्याद्बन्धमोक्षयो।९२। नैवं शक्तेर्द्विधाभावो यौगपद्यानुषङ्गत। सति तत्र विभावस्य नित्यत्वं स्यादबाधितम्।९३। =इसलिए यह सिद्ध होता है कि स्वभावानुसार पदार्थमें जो शक्तियाँ तो अवश्य हैं, परन्तु उन दोनों शक्तियोंमें सत्की अवस्था भेदसे ही भेद है। उसमें युगपद् दोनों शक्तियोंका द्वैत नहीं है।९१। क्योंकि दोनोंका युगपत् सद्भाव माननेसे महान् दोष उत्पन्न होता है। क्योंकि, इस प्रकार कार्यकारण भावके नाशका तथा बन्ध व मोक्षके नाशका प्रसंग प्राप्त होता है।९२। न ही एक शक्तिके युगपत् दो परिणाम माने जा सकते हैं, क्योंकि इस प्रकार माननेसे स्वभाव व विभाव की युगपतता तथा विभाव परिणामकी नित्यता प्राप्त होती है।९३।

२. रागादिकमें कथंचित् स्वभाव-विभावपना

१. कषाय चारित्रगुणकी विभाव पर्याय हैं

पं.ध./उ./१०७४,१०७९ श्लोक ते कषायाख्यास्तदर्थागाद्यौदयिका स्मृता। चारित्रस्य गुणस्यास्य पर्याया वैकृतात्मन।१०७४। तत-श्चारित्रमोहस्य कर्मणो ह्युदयाद्ध्रुवम्। चारित्रस्य गुणस्यापि भावा वैभाविका अमी।१०७९। =ये चारों ही कषायें औदयिक भावमें आती हैं, क्योंकि ये आत्माके चारित्र गुणकी विकृत पर्याय हैं।१०७४। सामान्यरूपसे उक्त तीनों वेद (स्त्री पुरुष नपुंसक वेद) चारित्र मोहके उदयसे होते हैं, इसलिए ये तीनों ही भावलिंग निश्चयसे चारित्र-गुणके ही वैभाविक भाव हैं।

२. रागादि जीवके अपने अपराध हैं

स.सा./मू./१०२, ३७१ जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता। तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा।१०२। रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा। एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि।३७१। =आत्मा जिस शुभ या अशुभ भावको करता है, उस भावका वह वास्तवमें कर्ता होता है, वह भाव उसका कर्म होता है और वह आत्मा उसका भोक्ता होता है।१०२। (स सा./मू./९०)। राग द्वेष और मोह जीवके ही अनन्य परिणाम हैं, इस कारण रागादिक (इन्द्रियोंके) शब्दादिक विषयोंमें नहीं है।३७१।

स.सा./आ./१६० अनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वात्। =अनादि कालसे अपने पुरुषार्थके अपराधसे प्रवर्तमान कर्ममलके द्वारा लिप्त होनेसे। (स सा./आ./४१२)।

स.सा./आ./क.न. भुङ्क्षे हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भो। बन्ध स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते।१५१।

नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो, भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ।१८७। यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः, कतरदपि परेषा दूषणं नास्ति तत्र । स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो, भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोध ।२२०। =हे ज्ञानी ! जो तू कहता है कि "सिद्धान्तमें यह कहा है कि पर-द्रव्यके उपभोगसे बन्ध नहीं होता इसलिए भोगता हूँ," तो क्या तुझे भोगनेकी इच्छा है ? ।१५१। जो सापराध आत्मा है वह तो नियमसे अपनेको अशुद्ध सेवन करता हुआ सापराध है। निरपराध आत्मा तो भली-भाँति शुद्ध आत्माका सेवन करने वाला होता है ।१८७। इस आत्मामें जो राग-द्वेष रूप दोषोंकी उत्पत्ति होती है, उसमें पर-द्रव्यका कोई भी दोष नहीं है, वहाँ तो स्वयं अपराधी यह अज्ञान ही फैलाता है,—इस प्रकार विदित हो, और अज्ञान अस्त हो जाय ।२२०।

दे० अपराध—(राध अर्थात् आराधनासे हीन व्यक्ति सापराध है।)

३. विभाव भी कथंचित् स्वभाव है

प्र. सा./त. प्र./११६ इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसन्निधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति । —यहाँ (इस जगतमें) अनादि कर्मपुद्गलकी उपाधिके सद्भावके आश्रयसे जिसके प्रतिक्षण विपरिणमन होता रहता है ऐसे संसारी जीवकी क्रिया वास्तवमें स्वभाव निष्पन्न ही है।

प्र. सा./ता. वृ./१८४/२४७/१६ कर्मबन्धप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽप्यशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते । =कर्मबन्धके प्रकरणमें रागादि परिणाम भी अशुद्ध निश्चयनयसे जीवके स्वभाव कहे जाते है। (प. का./ता. वृ./६१/११३/१३,६५/११७/१०)।

दे० भाव/२ (औदयिकादि सर्व भाव निश्चयसे जीवके स्वतत्त्व तथा पारिणामिक भाव हैं।)

४. शुद्ध जीवमें विभाव कैसे हो जाता है ?

स. सा./मू. व आ./८६ मिथ्यादर्शनादिश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत्—उपओगस्स अणाई परिणामा तिण्ण मोहजुत्तस्स । मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ।८६। =प्रश्न—जीव-मिथ्यात्वादि चैतन्य परिणामका विकार कैसे है ? उत्तर—अनादिसे मोहयुक्त होनेसे उपयोगके अनादिसे तीन परिणाम है—मिथ्यात्व, अज्ञान व अरतिभाव।

३. विभावका कथंचित् सहेतुकपना

१. जीवके कषाय आदि विभाव सहेतुक हैं

स. सा./मू./गा "सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं । तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ।१६१। जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमेईहिं । रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ।२७८। एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं । राइज्जदि अण्णेहि दु सो रागादीहिं दोसेहिं ।२७९। =१ सम्यक्त्वको रोकनेवाला मिथ्यात्व (कर्म) है, ऐसा जिनवरोंने कहा है, उसके उदयसे जीव मिथ्यादृष्टि होता है ।१६१। [इसी प्रकार ज्ञान व चारित्रके प्रतिबन्धक अज्ञान व कषाय नामक कर्म है ।१६२-१६३। (स. सा./मू./१५७-१५९)। २. जैसे स्फटिकमणि शुद्ध होनेसे ललाई आदि रूप स्वयं नहीं परिणमता, परन्तु अन्य रक्तादि द्रव्योंसे रक्त आदि किया जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी अर्थात् आत्मा शुद्ध होनेसे रागादि रूप स्वयं नहीं परिणमता परन्तु अन्य रागादि दोषोंसे (रागादिके निमित्तभूत परद्रव्योंसे—टीका) रागी आदि किया जाता है ।२७८-२७९। (स. सा./आ./८९), (स. सा./ता. वृ./१२५/१७९/११); (दे० परिग्रह/४/३)।

पं. का./मू./५८ कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा । खइयं खओवसमियं तम्हा भावं तु कम्मकदं ।५८। =कर्म बिना जीवको उदय, उपशम, क्षायिक, अथवा क्षायोपशमिक (भाव) नहीं होते है, इसलिए (ये चारों) भाव कर्मकृत है।

त. सू./१०/२ बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष । =बन्ध हेतुओंके अभाव और निर्जरासे सब कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

क. पा./१/१,१३,१४/§२८५/३२०/२ वत्थालंकाराइसु बज्झावलंबणेण विणा तदणुप्पत्तीदो । =वस्त्र और अलंकार आदि बाह्य आलम्बनके बिना कषायकी उत्पत्ति नहीं होती है।

दे० कषाय/२/३ (कर्मके बिना कषायकी उत्पत्ति नहीं होती है।)

दे० कारण/III/५/६ (कर्मके उदयसे ही जीव उपशान्त-कषाय गुणस्थानसे नीचे गिरता है।)

ध. १२/४,२,८,१/२७५/४ सव्वं कम्मं कज्जं चेव, अकज्जस्स कम्मस्स ससविसाणस्सेव अभावावत्तीदो । ण च एवं, कोहादिकज्जाणमत्थित्तण्णहाणुववत्तीदो कम्माणमत्थित्तसिद्धीए । कज्जं पि सव्वं सहेउअं चेव, णिक्कारणस्स कज्जस्स अणुवलंभादो । =सब कर्म कार्य स्वरूप ही है, क्योंकि, जो कर्म अकार्यस्वरूप होते है, उनका खरगोशके सींगके समान अभावका प्रसंग आता है। परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि, क्रोधादि रूप कार्योंका अस्तित्व बिना कर्मके बन नहीं सकता, अतएव कर्मका अस्तित्व सिद्ध ही है। कार्य भी जितना है वह सब सकारण ही होता है, क्योंकि, कारण रहित कार्य पाया नहीं जाता। (आप्त प./टी./११५/§२९६/२४८/७)।

न. च. वृ./१९ जीवे जीवसहावा ते वि विहावा हु कम्मकदा ।१। =जीवमें जीवस्वभाव होते है। तथा कर्मकृत उसके स्वभाव विभाव कहलाते है।

पं. ध./उ./१०५४ यत्र कुत्रापि वान्यत्र रागांशो बुद्धिपूर्वकः । स स्याद्द्वैविध्यमोहस्य पाकाद्वान्यतमोदयात् ।१०५४। =जहाँ कहीं अन्यत्र भी अर्थात् किसी भी दशामें बुद्धिपूर्वक रागांश पाया जाता है वह केवल दर्शन व चारित्रमोहनीयके उदयसे अथवा उनमेंसे किसी एकके उदयसे ही होता है ।१०५४।

दे० विभाव/१/२,३ (जीवका विभाव वैभाविकी शक्तिके कारणसे होता है और वह वैभाविकी शक्ति भी अन्य सम्पूर्ण सामग्रीके सद्भावमें ही विभाव रूप परिणमन करती है।)

२ जीवकी अन्य पर्यायें भी कर्मकृत है

स. सा./मू./२५७-२५८ जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो । तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ।२५७। जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु । तम्हा ण मारिदो णो 'दुहाविदो' चेदि ण हु मिच्छा ।२५८। =जो मरता है और जो दुखी होता है वह सब कर्मोदयसे होता है, इसलिए 'मैंने मारा, मैंने दुखी किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तवमें मिथ्या नहीं है ।२५७। और जो न मरता है और न दुखी होता है वह भी वास्तवमें कर्मोदयसे ही होता है, इसलिए 'मैंने नहीं मारा, मैंने दुखी नहीं किया,' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तवमें मिथ्या नहीं है ।२५८।

प्र. सा./त. प्र./११७ यथा खलु ज्योतिः स्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिःकार्यं तथा कर्मस्वभावेन स्वस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्याया कर्मकार्यम् । =जिस प्रकार ज्योतिके स्वभावके द्वारा तेलके स्वभावका पराभव करके किया जानेवाला दीपक ज्योतिका कार्य है, उसी प्रकार कर्मस्वभावके द्वारा जीवके

स्वभावका पराभव करके की जानेवाली मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य हैं।
दे० कर्म/३/२ (जीवोंके ज्ञानमें वृद्धि हानि कर्मके बिना नहीं हो सकती।)
दे० मोक्ष/५/८ (जीव प्रदेशोंका संकोच विस्तार भी कर्म सम्बन्धसे ही होता है।)
दे० कारण/III/५/३—(शेर, भेड़िया आदिमें शूरता-क्रूरता आदि कर्मकृत है।)
दे० आनुपूर्वी—(विग्रहगतिमें जीवका आकार आनुपूर्वी कर्मके उदयसे होता है।)
दे० मरण/५/८—(मारणान्तिक समुद्घातमें जीवके प्रदेशोंका विस्तार आयु कर्मका कार्य है।)
दे० सुख (अलौकिक)—(सुख तो जीवका स्वभाव है पर दुःख जीवका स्वभाव नहीं है, क्योंकि, वह असाता वेदनीय कर्मके उदयसे होता है।)

३. पौद्गलिक विभाव सहेतुक है

न. च. वृ./२० पुग्गलदव्वे जो पुण विब्भाओ कालपेरिओ होदि। सो णिद्धरुक्खसहिदो बंधो खलु होई तस्सेव।२०। =कालसे प्रेरित होकर पुद्गलका जो विभाव होता है उसका ही स्निग्ध व रूक्ष सहित बन्ध होता है।
प. वि./२३/७ यत्तस्मात्पृथगेव स द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्। =लोकमें जो भी विकार होता है वह दो पदार्थोंके निमित्तसे होता है।
दे मोक्ष/६/४ (द्रव्यकर्म भी सहेतुक हैं, क्योंकि, अन्यथा उनका विनाश बन नहीं सकता)।

४. विभावका कथंचित् अहेतुकपना

१. जीव रागादिरूपसे स्वयं परिणमता है

स. सा./मू./१२१-१२५, १३६ ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं। जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी।१२१। अपरिणमतम्हि सयं जीवे कोहादिएहि भावेहिं। संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा।।१२२। पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणाम-एदि कोहत्तं। तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो।१२३। अह सयमप्पा परिणदि कोहभावेण एस दे बुद्धी। कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा।१२४। कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा। माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो।१२५। तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया। तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावाणं।१३६। =सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति कहते हैं कि हे भाई। यदि यह जीव कर्ममें स्वयं नहीं बँधा है और क्रोधादि भावसे स्वयं नहीं परिणमता है, ऐसा तेरा मत है तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है।१२१। और इस प्रकार संसारके अभावका तथा सांख्यमतका प्रसंग प्राप्त होता है।१२२। यदि क्रोध नामका पुद्गल कर्म जीवको क्रोधरूप परिणमाता है, ऐसा तू माने तो हम पूछते हैं, कि स्वयं न परिणमते हुएको वह क्रोधकर्म कैसे परिणमन करा सकता है?।१२३। अथवा यदि आत्मा स्वयं क्रोधभावरूपसे परिणमता है, ऐसा मानें तो 'क्रोध जीवको क्रोधरूप परिणमन कराता है' यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है।१२४। इसलिए यह सिद्धान्त है कि, क्रोध, मान, माया व लोभमें उपयुक्त आत्मा स्वयं क्रोध, मान, माया व लोभ है।१२५। कार्माण वर्गणागत पुद्गलद्रव्य जब वास्तवमें जीवमें बँधता है तब जीव (अपने अज्ञानमय) परिणामभावोंका हेतु होता है।१३६।
स सा./आ./कलश न कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्, कुर्वाण फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः।।१५२। रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या, नान्यद्द्रव्यं वीक्ष्यते किंचनापि। सर्व-द्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति, व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात्।२१९। रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते। उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं, शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः।२२१। =कर्म ही उसके कर्ताको अपने फलके साथ बलात् नहीं जोड़ता। फलकी इच्छावाला ही कर्मको करता हुआ कर्मके फलको पाता है।१५२। तत्त्वदृष्टिसे देखा जाय तो, रागद्वेषको उत्पन्न करनेवाला अन्य द्रव्य किंचित् मात्र भी दिखाई नहीं देता, क्योंकि, सर्व द्रव्योंकी उत्पत्ति अपने स्वभावसे ही होती हुई अन्तरंगमें अत्यन्त प्रगट प्रकाशित होती है।२१९। जो रागकी उत्पत्तिमें परद्रव्यका ही निमित्तत्व मानते हैं, वे जिनकी बुद्धि शुद्धज्ञानसे रहित अन्ध है, ऐसे मोहनदीको पार नहीं कर सकते।२२१।
स सा./आ./३७२ न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीनुत्पादयतीति शङ्क्यं; अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकस्यायोगात्, सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात्।३७२। =ऐसी आशंका करने योग्य नहीं, कि परद्रव्य जीवको रागादि उत्पन्न करते हैं, क्योंकि, अन्यद्रव्यके द्वारा अन्य द्रव्यके गुणोंको उत्पन्न करनेकी अयोग्यता है, क्योंकि सर्व द्रव्योंका स्वभावसे ही उत्पाद होता है। (दे. कर्ता/[illegible])।
पु. सि. उ./१३ परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः। भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि।१३। =निश्चय करके अपने चेतनास्वरूप रागादि परिणामोंसे आप ही परिणमते हुए पूर्वोक्त आत्माके भी पुद्गल सम्बन्धी ज्ञानावरणादिक द्रव्य कर्म कारणमात्र होते हैं।
दे विभाव/५-(ऋजुसूत्रादि पर्यायार्थिक नयोंसे जीवके कषाय आदि अहेतुक हैं, क्योंकि, इन नयोंकी अपेक्षा कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है)।
दे. विभाव/२/२/२ (रागादि जीवके अपने अपराध हैं, तथा कथंचित् जीवके स्वभाव हैं)।
दे. नियति/२/३ (कालादि लब्धिके मिलनेपर स्वयं सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति होती है)।

२. ज्ञानियोंको कर्मोंका उदय भी अकिंचित्कर है

स. सा./आ./३२ यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवन्तमपि दूरत एव तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्य... आत्मानं सञ्चेतयते स खलु जितमोहो जिन ।=मोहकर्म फल देनेकी सामर्थ्यसे प्रगट उदयरूप होकर भावकपनेसे प्रगट होता है, तथापि तदनुसार जिसकी प्रवृत्ति है, ऐसा जो अपना आत्मा-भाव्य, उसको भेदज्ञानके बल द्वारा दूरसे ही अलग करनेसे, इस प्रकार बलपूर्वक मोहका तिरस्कार करके, अपने आत्माको जो अनुभव करते हैं, वे निश्चयसे जितमोह जिन हैं।
प्र. सा./ता. वृ./४५/५८/१६ अत्राह शिष्यः—'औदयिका भावाः बन्ध-कारणं' इत्यागमवचनं तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह—औदयिका भावाः बन्धकारणं भवन्ति, परं किंतु मोहोदयसहिताः। द्रव्यमोहो-दयेऽपि सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुनः कर्मोदयमात्रेण बन्धो भवति तर्हि संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदैव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्रायः।=[पुण्यके फलरूप अर्हन्तकी विहार आदि क्रियाएँ यद्यपि औदयिकी हैं परन्तु फिर भी मोहादि भावोंसे रहित होनेके कारण उन्हें क्षायिक माना गया है—प्र. सा./मू. ४५] प्रश्न—इस प्रकार माननेसे औदयिक भाव बन्धके कारण हैं' यह आगमवचन मिथ्या हो जाता है? उत्तर—उसका परिहार करते हैं। औदयिक भाव बन्धके कारण होते हैं किन्तु यदि मोहके उदयसे सहित हों तो। द्रव्यमोहके उदय होनेपर भी यदि शुद्धात्म भावनाके बलसे भावमोहरूपसे नहीं परिणमता है, तब बन्ध नहीं होता है। यदि

कर्मोदय मात्रसे बन्ध हुआ होता तो ससारियोको सदैव बन्ध ही हुआ होता मोक्ष नहीं, क्योकि, उनके कर्मका उदय सदैव विद्यमान रहता है। [यहाँ द्रव्य मोहसे तात्पर्य दर्शनमोहमें सम्यक्त्व प्रकृति तथा चारित्रमोहमें क्रोधादिका अन्तिम जघन्य अंश है, ऐसा प्रतीत होता है]

स. सा /ता वृ./१३६/१९१/१३ उदयागतेपु द्रव्यप्रत्ययेपु यदि जीव' स्वस्वभावं मुक्त्वा रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमतीति तदा बन्धो भवतीति नैवोदयमात्रेण घोरोपसर्गेऽपि पाण्डवादिवद्। यदि पुनरुदयमात्रेण बन्धो भवति तदा सर्वदैव संसार एव। कस्मादिति चेत ससारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात।=उदयागत द्रव्य प्रत्ययोंमें (द्रव्य कर्मोंमें) यदि जीव स्व स्वभावको छोडकर रागादि रूप भावप्रत्यय (भावकर्म) रूपसे परिणमता है तो उसे बन्ध होता है, केवल उदयमात्रसे नहीं। जैसे कि घोर उपसर्ग आनेपर भी पाण्डव आदि। (शेष अर्थ ऊपरके समान); (स सा./ता. वृ./१६४-१६५/२३०/१८)।

दे कारण/III/३/५—ज्ञानियोंके लिए कर्म मिट्टीके ढेलेके समान है)।

दे बध/३/५,६। (मोहनीयके जघन्य अनुभागका उदय उपशम श्रेणीमें यद्यपि ज्ञानावरणीय आदि कर्मोंके बन्धका तो कारण है, परन्तु स्वप्रकृति बन्धका कारण नही)।

५. विभावके सहेतुक-अहेतुकपनेका समन्वय

१. कर्म जीवका पराभव कैसे कर सकता है

रा. वा/८/४/१४/५६६/७ यथा भिन्नजातीयेन क्षीरेण तेजोजातीयस्य चक्षुषोऽनुग्रह, तथैवात्मकर्मणोश्चेतनाचेतनत्वात् अतुल्यजातीय कर्म आत्मनोऽनुग्राहकमिति सिद्धम्।=जैसे पृथिवीजातीय दूधसे तेजोजातीय चक्षुका उपकार होता है, उसी तरह अचेतन कर्मसे भी चेतन आत्माका अनुग्रह आदि हो सकता है। अत' भिन्न जातीय द्रव्योंमें परस्पर उपकार माननेमें कोई विरोध नहीं है।

ध ६/१,९-१,५/८/८ कध पोग्गलेण जीवादो पुधभूदेण जीवलक्खण णाण विणासिज्जदि। ण एस दोसो, जीवादो पुधभूदाणं घड-पड-त्थभघयारादीणं जीवलक्खणणाणविणासयाणमुवलंभा। =प्रश्न —जीव द्रव्यसे पृथग्भूत पुद्गलद्रव्यके द्वारा जीवका लक्षणभूत ज्ञान कैसे विनष्ट किया जाता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, जीवद्रव्यसे पृथग्भूत घट, पट, स्तम्भ, और अन्धकार आदिक पदार्थ जीवके लक्षण स्वरूप ज्ञानके विनाशक पाये जाते है।

२. रागादि भाव संयोगी होनेके कारण किसी एकके नही कहे जा सकते

स. सा /ता. वृ./१११/१७१/१८ यथा स्त्रीपुरुषाभ्या समुत्पन्न' पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्ना मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धा शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतना' पौद्गलिका'। परमार्थत पुनरेकान्तेन न जीवरूपा' न च पुद्गलरूपा, सुधाहरिद्रयो' सयोगपरिणामवत्। ...ये केचन वदन्त्येकान्तेन रागादयो जीव सबन्धिन' पुद्गलसबन्धिनो वा तदुभयमपि वचन मिथ्या। 'सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन तेषामस्तित्वमेव नास्ति पूर्वमेव भणितं तिष्ठति कथमुत्तरं प्रयच्छाम इति। =जिस प्रकार स्त्री व पुरुष दोनोसे उत्पन्न हुआ पुत्र विवक्षा वश देवदत्ता (माता) का भी कहा जाता है और देवदत्त (पिता) का भी कहा जाता है। दोनों ही प्रकारसे कहनेमें कोई दोष नहीं है। उसी प्रकार जीव पुद्गलके सयोगसे उत्पन्न मिथ्यात्व रागादि प्रत्यय अशुद्धनिश्चयनयसे अशुद्ध उपादानरूपसे चेतना हैं, जीवसे सम्बद्ध है, और शुद्ध निश्चयनयसे शुद्ध उपादानरूपसे अचेतन है, पौद्गलिक है। परमार्थसे तो न वे एकान्तसे जीवरूप है और न पुद्गलरूप, जैसे कि चूने व हल्दीके संयोगके परिणामरूप लाल रंग। जो कोई एकान्तसे रागादिकोको जीवसम्बन्धी या पुद्गल सम्बन्धी कहते है उन दोनोके ही वचन मिथ्या है। सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनयसे पूछो तो उनका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा पहले कहा जा चुका है, तब हमसे उत्तर कैसे पूछते हो। (द्र. स /टी /४८/२०६/१)।

३. ज्ञानी व अज्ञानीकी अपेक्षासे दोनों बातें ठीक हैं

स सा /ता. वृ./३८२/४६२/२१ हे भगवन् पूर्वं बन्धाधिकारे भणितं··· रागादीनामकर्ता ज्ञानी, परजनितरागादय' इत्युक्तं। अत्र तु स्वकीयबुद्धिदोषजनिता रागादय' परेषा शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणा दूषणं नास्तीति पूर्वापरविरोध। अत्रोत्तरमाह—तत्र बन्धाधिकारव्याख्याने ज्ञानिजीवस्य मुख्यता। ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमति तेन कारणेन परद्रव्यजनिता भणिता। अत्र चाज्ञानिजीवस्य मुख्यता स चाज्ञानी जीव, स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्तमात्रमाश्रित्य रागादिभि परिणमति, तेन कारणेन परेषा शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणा दूषण नास्तीति भणित। =प्रश्न—हे भगवन्। पहले बन्धाधिकारमें तो कहा था कि ज्ञानी रागादिका कर्ता नहीं है वे परजनित हैं। परन्तु यहाँ कह रहे है कि रागादि अपनी बुद्धिके दोषसे उत्पन्न होते है, इसमें शब्दादि पंचेन्द्रिय विषयोंका दोष नहीं है। इन दोनो बातोंमें पूर्वापर विरोध प्रतीत होता है? उत्तर—वहाँ बन्धाधिकारके व्याख्यानमें तो ज्ञानी जीवकी मुख्यता है। ज्ञानी जीव रागादिरूप परिणमित नहीं होता है इसलिए उन्हे परद्रव्यजनित कहा गया है। यहाँ अज्ञानी जीवकी मुख्यता है। अज्ञानी जीव अपनी बुद्धिके दोषसे परद्रव्यरूप निमित्तमात्रको आश्रय करके रागादिरूपसे परिणमित होता है, इसलिए पर जो शब्दादि पचेन्द्रियोंके विषय उनका कोई दोष नहीं है, ऐसा कहा गया है।

४. दोनोंका नयार्थ व मतार्थ

दे. नय/IV/३/६/१ (नैगमादि नयोंकी अपेक्षा कषाये कर्तृ साधन है, क्योंकि, इन नयोंमें कारणकार्यभाव सम्भव है, परन्तु शब्दादि नयोंकी अपेक्षा कषाय किसी भी साधनसे उत्पन्न नही होती, क्योकि, इन दृष्टियोंमें कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। और यहाँ पर्यायोसे भिन्न द्रव्यका अभाव है। (और भी दे० नय/IV/३/३/१)।

दे० विभाव/५/२ (अशुद्ध निश्चयनयसे ये जीवके है, शुद्धनिश्चय नयसे पुद्गलके हैं और सूक्ष्म शुद्ध निश्चय नयसे इनका अस्तित्व ही नहीं है।)

प. का /ता. वृ /५६/१११/६ पूर्वोक्तप्रकारेणात्मा कर्मणा कर्ता न भवतीति दूषणे दत्ते सति सांख्यमतानुसारिशिष्यो वदति अस्माकं मते आत्मन कर्माकर्तृत्वं भूषणमेव न दूषण। अत्र परिहार'। यथा शुद्धनिश्चयेन रागाद्यकर्तृत्वमात्मन तथा यद्यशुद्धनिश्चयेनाप्यकर्तृत्वं भवति तदा द्रव्यकर्मबन्धाभावस्तदभावे ससाराभाव', संसाराभावे सर्वदेव मुक्तप्रसङ्ग स च प्रत्यक्षविरोध इत्यभिप्राय। =पूर्वोक्त प्रकारसे 'कर्मोंका आत्मा नही है' इस प्रकार दूषण देनेपर सांख्यमतानुसारी शिष्य कहता है कि हमारे मतमें आत्माको जो कर्मोंका अकर्तृत्व बताया गया है, वह भूषण ही है, दूषण नहीं। इसका परिहार करते है—जिस प्रकार शुद्ध निश्चयनयसे आत्माको रागादिका अकर्तापना है, यदि उसी प्रकार अशुद्ध निश्चयनयसे भी अकर्तापना होवे तो द्रव्यकर्मबन्धका अभाव हो जायेगा। उसका

अभाव होनेपर ससारका अभाव और ससारके अभावमें सर्वदा मुक्त होने का प्रसग प्राप्त होगा। यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है, ऐसा अभिप्राय है।

५. दोनों बातोंका कारण व प्रयोजन

स. सा /आ /गा सर्वे तेऽध्यवसानादयो भावा' जीवा इति यद्भगवद्भि' सकलज्ञै प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम्। व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वाद-परमार्थेऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात्त्रसस्थावराणां भस्मन इव नि.शङ्कमुपमर्दनेन हिंसाभावाद्भवत्येव बन्धस्याभाव.। तथा · मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभाव.।४६। कारणानु विधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीव । गुणस्थानाना नित्यमचेतनत्व चागमाच्चे-तन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोऽतिरिक्तत्वेन विवेचकै' स्वयमुपलभ्यमा-नत्वाच्च प्रसाध्यम् ।६८। स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्ये-भ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षण-सबन्धाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामा सन्ति ।५७। ससारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो मोक्षा-वस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्त्याभावतश्च जीवस्य वर्णादिभि सह तादात्म्यलक्षण सम्बन्धो न कथचनापि स्यात् ।६१। =१. ये सब अध्यवसान आदि भाव जीव है, ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेवने कहा है, वह यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि व्यवहारनयको भी बताया है, क्योकि, जैसे म्लेच्छोंको म्लेच्छभाषा वस्तुस्वरूप बतलाती है. उसी प्रकार व्यवहारनय व्यवहारी जीवोंको परमार्थका कहनेवाला है, इसलिए अपरमार्थभूत होनेपर भी, धर्म तीर्थकी प्रवृत्ति करनेके लिए वह बतलाना न्याय! संगत ही है। परन्तु यदि व्यवहार नय न बताया जाय तो परमार्थसे जीवको शरीरसे भिन्न बताया जानेपर भी, जैसे भस्मको मसल देनेसे हिंसाका अभाव है उसी प्रकार, त्रस स्थावर जीवोको नि शंकतया मसल देनेसे भी हिंसाका अभाव ठहरेगा और इस कारण बन्धका ही अभाव सिद्ध होगा। इस प्रकार मोक्षके उपायके ग्रहणका अभाव हो जायेगा, और इससे मोक्षका ही अभाव होगा।४६। (दे० नय/V/८/४)। २. कारण जैसा ही कार्य होता है ऐसा समझकर जौ पूर्वक होनेवाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं इसी न्यायसे, वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं। और गुणस्थानोंका अचेतनत्व तो आगमसे सिद्ध होता है तथा चैतन्य स्वभावसे व्याप्त जो आत्मा उससे भिन्नपनेसे वे गुणस्थान भेदज्ञानियोंके द्वारा स्वय उपलभ्यमान हे, इसलिए उनका सदा ही अचेतनत्व सिद्ध होता है।६८। ३. स्वलक्षणभूत उपयोग गुणके द्वारा व्याप्त होनेसे आत्मा सर्व द्रव्योसे अधिकपनेसे प्रतीत होता है, इसलिए, जैसा अग्निका उष्णताके साथ तादात्म्य सम्बन्ध है वैसा वर्णादि (गुणस्थान मार्गणास्थान आदि) के साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है, इसलिए निश्चयसे वर्णादिक (या गुणस्थानादिक) पुद्गलपरिणाम आत्माके नहीं हैं।५७। क्योंकि, ससार अवस्थामें कथंचित् वर्णादि रूपतासे व्याप्त होता है (फिर भी) मोक्ष अवस्थामें जो सर्वथा वर्णादिरूपताकी व्याप्तिसे रहित होता है। इस प्रकार जीवका इनके साथ किसी भी तरह तादात्म्यलक्षण सम्बन्ध नहीं है।

६. वस्तुत. रागादि भावकी सत्ता नहीं है

स. सा /आ /३७१/ क २१८ रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्, तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किंचित्। सम्यग्दृष्टि क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुट तौ ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहज येन पूर्णाचलार्चि' ।२१८। =इस जगतमें ज्ञान ही अज्ञानभावसे रागद्वेषरूप परिणमित होता है, वस्तुत्वस्थापित दृष्टिसे देखनेपर वे रागद्वेष कुछ भी नहीं है। सम्यग्दृष्टि पुरुष तत्त्वदृष्टिसे प्रगटतया उनका क्षय करो कि जिससे पूर्ण और अचल जिसका प्रकाश है ऐसी सहज ज्ञानज्योति प्रकाशित हो। (दे. नय/V/१/५). (दे. विभाव/५/२)।

विभावानित्य पर्यायार्थिक नय—दे. नय/IV/२।

विभाषा—ध. ६/१,६-१,३/५/३ विविहा भासा विहासा, परूवणा, णिरूवणा वक्खाणमिदि एयट्ठो। =विविध प्रकारके भाषण अर्थात् कथन करनेको विभाषा कहते हैं। विभाषा, प्ररूपणा, निरूपण और व्याख्यान ये सब एकार्थ वाचक नाम हैं।

विभीषण—प.पु /सर्ग/श्लोक—"रावणका छोटा भाई, व रत्नश्रवाका पुत्र था।८/२२५। अन्तमें दीक्षा धारण कर ली (११९/३९)।

विभुत्व शक्ति—स. सा./आ./परि /शक्ति नं. ८ सर्वभावव्यापकै-कभावरूपा विभुत्वशक्ति ।८। =सर्व भावोंमें व्यापक ऐसी एक भावरूप विभुत्वशक्ति। (जैसे ज्ञानरूपी एक भाव सर्व भावोंमें व्याप्त होता है)।

विभ्य—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे. व्युत्सर्ग/१।

विभ्रम—१. मिथ्याज्ञानके अर्थमें

न्या. वि./वृ /१/३१/२८२/२१ विभ्रमेश्च मिथ्याकारग्रहणशक्तिविशेषैश्च। =विभ्रम अर्थात् मिथ्याकाररूपसे ग्रहण करनेकी शक्तिविशेष।

नि. सा./ता./वृ /५१ विभ्रमो ह्यज्ञानत्वमेव। =(वस्तुस्वरूपका) अज्ञान-पना या अजानपना ही विभ्रम है।

द्र. स/टी /४२/१८०/६ अनेकान्तात्मकवस्तुनो नित्यक्षणिकैकान्तादिरूपेण ग्रहण विभ्रम। तत्र दृष्टान्त' शुक्तिकायां रजतविज्ञानम्। =अनेका-न्तात्मक वस्तुको 'यह नित्य ही है, या अनित्य ही है' ऐसे एकान्तरूप जानना सो विभ्रम है। जैसे कि सीपमें चाँदीका और चाँदीमें सीपका ज्ञान हो जाना।

२. स्त्रीके हाव-भावके अर्थमें

प. प्र./टी./१/१२१/१११/८ पर उद्धृत—हावो मुखविकार स्याद्भावश्चित्तोत्थ उच्यते। विलासो नेत्रजो ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूयुगान्तयो ।=स्त्री-रूपके अवलोकनकी अभिलाषासे उत्पन्न हुआ मुखविकार 'हाव' कहलाता है, चित्तका विकार 'भाव' कहलाता है, मुँहका अथवा दोनों भवोंका टेढा करना 'विभ्रम' है, और नेत्रोंके कटाक्षको 'विलास' कहते है।

विभ्रांत—प्रथम नरकका अष्टम पटल —दे. नरक/५।

विमर्श—न्यायदर्शन/भा./१/१/४०/३१/१२ किमुत्पत्तिधर्मकोऽनुत्पत्ति-धर्मक इति विमर्श। ='वह उत्पत्ति धर्मवाला है या अनुत्पत्ति धर्मवाला है' ऐसा विचार करना विमर्श है।

विमल—१. विजयार्धकी उत्तर श्रेणीका एक नगर —दे. विद्याधर। २. एक ग्रह —दे ग्रह। ३ उत्तर क्षीरवर समुद्रका रक्षक देव —दे. व्यतर ४। ४ सौमनस नामक गजदन्त पर्वतका एक कूट —दे. लोक/७। ५ रुचक पर्वतका एक कूट —दे. लोक/७। ६ सौधर्म स्वर्गका द्वि. पटल —दे स्वर्ग/५। ७. भावी कालीन २२वें तीर्थंकर —दे. तीर्थंकर/५। ८. वर्तमान १३वें तीर्थंकर —दे. विमलनाथ।

विमलदास—'सप्तभगी तरगिनी के रचयिता एक दिगम्बर जैन गृहस्थ। निवास स्थान-तजानगर। गुरुनाम अनन्तदेव स्वामी। समय—प्लवग सवत्सर ' अनुमानत ई श १५ (स भ त/प्र/१)।

विमलदेव—नय चक्रके रचयिता श्रीदेवसेन (वि ९९०) के गुरु थे। समय—तदनुसार वि. ९६५ (ई. ९०९)।

विमलनाथ—म पु /५९/श्लोक न.—पूर्वभव नं २ में पश्चिम धातकी खण्डके पश्चिम मेरुके वत्सकावती देशके रम्यकावती नगरीके

राजा पद्मसेन थे।२-३। पूर्वभव न. १ में सहस्रार स्वर्गमें इन्द्र हुए।१०। वर्तमान भवमें १३वें तीर्थंकर हुए। —दे तीर्थंकर/५।

विमलपुराण—ब्र. कृष्णदास (ई० १६१७) द्वारा रचित संस्कृत छन्द बद्ध एक ग्रन्थ है। इस में १० सर्ग हैं।

विमलप्रभ—१ भूतकालीन चौथे तीर्थंकर। —दे. तीर्थंकर/५। २. दक्षिण क्षीरवर समुद्रका रक्षक व्यन्तर। —दे, व्यन्तर/४।

विमलवाहन—१. म. पु /११७-११६ सप्तम कुलकर थे, जिन्होंने तबकी जनताको हाथी घोडे आदिकी सवारीका उपदेश दिया। —दे. शलाका पुरुष।६। २ म पु /४८/ श्लोक—पूर्व विदेहकी सुसीमा नगरी-के राजा थे।२-४। दीक्षा धारण कर।११। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया।१२। समाधिमरणपूर्वक देह त्याग.अनुत्तर विमानमें उत्पन्न हुए।१३। यह अजितनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है। —दे अजितनाथ। ३ म, पु./४६/श्लोक—पूर्व विदेहमें क्षेमपुरी नगरके राजा थे।२। दीक्षा धारणकर।७। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया। संन्यास विधिमे शरीर छोड सुदर्शन नामक नवम ग्रैवेयकमें उत्पन्न हुए।६-६। यह सम्भवनाथ भगवान्का पूर्वका दूसरा भव है। —दे. सम्भवनाथ।

विमल सूरि—राहुके शिष्य विजयसूरिके शिष्य थे। वी. नि. ५६० (ई. ३४) में 'पउम चरिय' ग्रन्थकी रचना की। विन्टर निट्ज-के अनुसार यह समय ठीक है, परन्तु डॉ. जेकोबी आदि कुछ विद्वानों-के अनुसार ई. श. ३-४ माना गया है। पं. पन्नालाल वि ७००-८३५ (ई. ६४४-७७८) बताते है। पं. पु /प्र. २२/प. पन्नालाल)।

विमलेश्वर—भूतकालीन १८वें तीर्थंकर —दे तीर्थंकर/५।

विमा—Dimension (ज प /प्र १०८)

विमान—

स. सि./४/१६/२४८/३ विशेषेणात्मस्थान् सुकृतिनो मानयन्तीति विमानानि। =जो विशेषत अपनेमें रहनेवाले जीवोंको पुण्यात्मा मानते है वे विमान हैं।(रा. वा./४/१६/१/२२२/२६)।

ध. १४/५,६,६४१/४९५/६ वलहि-कूडसमण्णिदा पासादा विमाणाणि णाम। =वलभि और कूटसे युक्त प्रासाद विमान कहलाते है।

२. विमानके भेद

स. सि /४/१६/२४८/४ तानि विमानानि त्रिविधानि—इन्द्रकश्रेणीपुष्प-प्रकीर्णभेदेन। =इन्द्रक, श्रेणिबद्ध और पुष्पप्रकीर्णकके भेदसे विमान तीन प्रकारके है। (रा वा./४/१६/१/२२२/३०)।

२. स्वाभाविक व वैक्रियिक दोनों प्रकारके होते हैं

ति. प./८/४४२-४४३ याणविमाणा दुविहा विक्किरियाए सहावेण।४४२। ते विक्किरियाजादा याणविमाणा विणासिणो होंति। अविणासिणो य णिच्च सहावजादा परमरम्मा।४४३। =ये विमान दो प्रकार है—एक विक्रियासे उत्पन्न हुए और दूसरे स्वभावसे।४४२। विक्रियासे उत्पन्न हुए वे यान विमान विनश्वर और स्वभावसे उत्पन्न हुए वे परम रम्य यान विमान नित्य व अविनश्वर होते है।४४३।

*** इन्द्रक आदि विमान**—दे. वह वह नाम।

विमान पंक्तिव्रत—

स्वर्गोंमें कुल ६३ पटल है। प्रत्येक पटलमें एक-एक इन्द्रक और उसके चारों दिशाओंमें अनेक श्रेणीबद्ध विमान है। प्रत्येक विमानमें जिन चैत्यालय है। उनके दर्शनकी भावनाके लिए यह व्रत किया जाता है। प्रारम्भमें एक तेला करे। फिर पारणा करके ६३ पटलोंमेंसे प्रत्येकके लिए निम्न प्रकार उपवास करे।

श्रेणीबद्धका
१ उपवास
श्रेणीबद्धका १ उपवास | इन्द्रकका १ बेला | श्रेणीबद्धका एक उपवास
श्रेणीबद्धका
१ उपवास

प्रत्येक इन्द्रकका एक बेला, चारो दिशाओंके श्रेणीबद्धोके लिए पृथक् एक-एक करके चार उपवास करे। बीचमें एक-एक पारणा करे। इस प्रकार प्रत्येक पटलके १ बेला, चार उपवास और ५ पारणा होते है। ६३ पटलोंके ६३ बेले, २५२ उपवास और ३१५ पारणा होते हैं। अन्तमें पुन: एक तेला करे। "ओं ह्रीं ऊर्ध्वलोकसंबन्धि-असंख्यात-जिनचैत्यालयेभ्यो नम." इस मन्त्रका त्रिकाल जाप्य करे। (ह. पु/ ३४/८६-८७); (वसु. श्रा /३७६-३८१); (व्रत विधान सग्रह/ पृ ११५)

विमानवासी देव—दे स्वर्ग/५।

विमिचिता—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे विद्याधर।

विमुख—न्या. वि./वृ /१/२०/२१७/२४ विषयात् विभिन्न मुखं रूपं यस्य तत् ज्ञानं विमुखज्ञानम्। =ज्ञेय विषयोंसे विभिन्न रूपवाले ज्ञानको विमुखज्ञान कहते है।

विमुखी—विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर।—दे. विद्याधर।

विमोह—

नि. सा./ता. वृ./५१ विमोह शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चय। =शाक्य आदि (बुद्ध आदि) कथित वस्तुमें निश्चय करना विमोह है।

द्र स /टी /४२/१८०/८ परस्परसापेक्षनयद्वयेन द्रव्यगुणपर्यायादिपरि-ज्ञानाभावो विमोह तत्र दृष्टान्त —गच्छत्तृणस्पर्शवद्दिग्मोहवद्वा। =गमन करते हुए मनुष्यको जैसे पैरोंमें तृण (घास) आदिका स्पर्श होता है और उसको स्पष्ट मालूम नहीं होता कि क्या लगा अथवा जैसे जंगलमें दिशाका भूल जाना होता है, उसी प्रकार परस्पर सापेक्ष द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयोके अनुसार जो द्रव्य, गुण और पर्यायों आदिका नही जानना है, उसको विमोह कहते है।

विरजा —१. अपर विदेहके नलिन क्षेत्रकी प्रधान नगरी—दे. लोक/ ७। २. नन्दीश्वर द्वीपकी दक्षिण दिशामें स्थित वापी।—दे. लोक/७।

विरत—स. सि./६/४५/४५८/१० स एव पुन प्रत्याख्यानावरणक्षयोप-शमकारणपरिणामविशुद्धियोगात् विरतव्यपदेशभाक् सन्। =वह (सम्यग्दृष्टि श्रावक) ही प्रत्याख्यानावरणके क्षयोपशम निमित्तक परिणामोकी विशुद्धिवश विरत (सयत) संज्ञाको प्राप्त होता है।

रा. वा /६/४५/—/६३६/८ पुनर्निर्दिष्ट ततो विशुद्धिप्रकर्षात् पुनरपि सर्व-गृहस्थसगविप्रमुक्तो निर्ग्रन्थतामनुभवन् विरत इत्यभिलप्यते। =फिर (वह श्रावक) विशुद्धि प्रकर्षसे समस्त गृहस्थ सम्बन्धी परिग्रहोसे मुक्त हो निर्ग्रन्थताका अनुभव कर महाव्रती बन जाता है। उसीको 'विरत' ऐसा कहा जाता है।—विशेष दे. सयत।

विरत—एक ग्रह—दे. ग्रह।

विरताविरत—स. सि./७/२१/३५९/८ एतैर्व्रतैः सम्पन्नो गृही विरताविरत इत्युच्यते। =इन (१२) व्रतोंसे जो सम्पन्न है वह गृही विरताविरत कहा जाता है।—(विशेष दे. संयतासंयत)—

विरति—स. सि./७/१/३४२/४ तेभ्यो विरमणं विरतिः। =उनसे (हिंसादिकसे) विरक्त होना विरति है। (रा. वा./७/१/२/५३३/१३)

विरलन—Distribution-, Spreading (ध ५/प्र २८)—(विशेष दे. गणित/II/१/६)

विरलन देय—Spread and give. (ध. ५/प्र. २८)—(विशेष दे गणित/II/१/६)

विराग—

रा. वा./७/१२/२/५३९/१२ रागकारणाभावात् विषयेभ्यो विरञ्जनं विरागः। =रागके कारणोंका अर्थात् चारित्रमोहके उदयका अभाव हो जानेसे पंचेन्द्रियके विषयोंसे विरक्त होनेका नाम विराग है।

प्र, सा./ता. वृ /२३९/प्रक्षेपक गा. १ की टीका/३३०/१२ पञ्चेन्द्रियसुखाभिलाषत्यागो विषयविरागः। =पाँचो इन्द्रियोंके सुखकी अभिलाषाका त्याग विषयविराग है।

विराग विचय—दे. धर्मध्यान/१।

विराट—पा. पु./सर्ग/श्लो—विराट नगरका राजा था। (१७/४१)। वनवासी पाँचों पाण्डवोंने छद्मवेशमें इसीका आश्रय लिया था। (१७/४२)। गोकुल हरण करनेको उद्यत कौरवोंके साथ युद्ध करता हुआ उनके बन्धनमें पड गया। (१८/२३)। तब गुप्तवेशमें अर्जुनने इसे मुक्त कराया। (१९/८०)। प्रसन्न होकर अपनी कन्या उत्तरा अर्जुनके पुत्र अभिमन्युसे परणा दी। (१९/१६३)।

विराधन—

नि. सा./ता. वृ /८४ विगतो राधो यस्य परिणामस्य स विराधनः। =जो परिणाम राध (आराधना) रहित है, वह विराधन है।

विराधित—प पु./सर्ग/श्लो.—चन्द्रारका पुत्र था। युद्धमें रामका सर्वप्रथम सहायक था। (९)। अन्तमें दीक्षित हो गया। (११९/३९)।

विरुद्ध धर्मत्वशक्ति—

स. सा./आ./परि./शक्ति न. २८ तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः। =तद्रूपमयता और अतद्रूपमयता जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्ध धर्मत्व शक्ति है।

विरुद्धराज्यातिक्रम—

स सि /७/२७/३६७/४ उचितन्यायादन्येन प्रकारेण दानग्रहणमतिक्रमः। विरुद्धं राज्यं विरुद्धराज्यं, विरुद्धराज्येऽतिक्रमः विरुद्धराज्यातिक्रमः। 'तत्र ह्यल्पमूल्यलभ्यानि महार्घ्याणि द्रव्याणीति प्रयत्नः। =विरुद्ध जो राज्य वह विरुद्धराज्य है। राज्यमें किसी प्रकारका विरोध होनेपर मर्यादाका न पालना विरुद्धराज्यातिक्रम है। यदि वहाँ अल्पमूल्यमें वस्तुएँ मिल गयीं तो उन्हें महँगा बेचनेका प्रयत्न करना (अर्थात् ब्लेकमार्केट करना) विरुद्धराज्यातिक्रम है। न्याय मार्गको छोडकर अन्य प्रकारसे वस्तु ली गयी है, इसलिए यह अतिक्रम या अतिचार है। (रा वा /७/२७/३/५५४/११)

विरुद्ध हेत्वाभास—

प मु./६/२९ विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्। =जिस हेतुकी व्याप्ति या अविनाभाव सम्बन्ध साध्यसे विपरीतके साथ निश्चित हो उसे विरुद्धहेत्वाभास कहते है। जैसे—शब्द परिणामी नहीं है, क्योंकि, कृतक है। यहाँपर कृतकत्व हेतुकी व्याप्ति अपरिणामित्वसे विपरीत परिणामित्वके साथ है, इसलिए कृतकत्व हेतु विरुद्धहेत्वाभास है। (न्या दी./३/§७८/१६, §६१/१०१)

न्या. वि /वृ /२/१९७/२२६/१ विरुद्धो नाम साध्यासंभव एव भावी। =जो हेतु अपने साध्यके प्रति असम्भव भावी है वह विरुद्ध कहलाता है।

न्या.दी./३/§२१/७० विरुद्धः प्रत्यक्षादिबाधितम्। =प्रत्यक्षादिसे बाधितको विरुद्ध कहते है।

न्या. सू /मू./१/२/६ सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः। =जिस सिद्धान्तको स्वीकार करके प्रवृत्त हो, उसी सिद्धान्तका जो विरोधी (दूषक) हो वह, विरुद्ध हेत्वाभास है। (श्लो. वा ४/भाषा/१/३३/न्या./२७३/४२६/१६)।

२. भेद व उनके लक्षण

न्या. वि./वृ /२/१९७/२२६/१ स च द्वेधा विपक्षव्यापी तदेकदेशवृत्तिश्चेति। तत्र तद्व्यापि निरन्वयविनाशसाधनं, सत्त्वकृतकत्वादि तेन परिणामस्यैव तद्विपक्षस्यैव साधनात्, सर्वत्र च परिणामिनि भावात्। तदेकदेशवृत्ति प्रयत्नानन्तरीयकत्वश्रावणत्वादि' तस्य तत्साधनस्यापि विद्युदादौ परिणामिन्यप्यभावात्। =विरुद्ध हेत्वाभास दो प्रकारका है—विपक्ष व्यापी और तदेकदेशवृत्ति। निरन्वय विनाशके साधन सत्त्व, कृतकत्व आदि विपक्षव्यापी हैं। क्योंकि उनसे निरन्वय विनाशके विपक्षी परिणामकी ही सिद्धि होती है, सभी परिणामी वस्तुओंमें सत्त्व पाया जाता है। तदेक—देशवृत्ति इस प्रकार है जैसे कि उसी शब्दको नित्य सिद्ध करनेके लिए दिया गया प्रयत्नानन्तरीयकत्व व श्रावणत्व हेतु, क्योंकि, विद्युत आदि अनित्य पदार्थोंमें भी उसका अभाव है।

विरुद्धोपलब्धि हेतु—दे० हेतु।

विरोध—

रा. वा /५/४२/१८/२६१/२० [अनुपलम्भसाध्यो हि विरोधः—(स. भ. त /८३/२]—इह विरोधः कल्प्यमानः त्रिधा व्यवतिष्ठते—बध्यघातकभावेन वा सहानवस्थात्मना वा प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकरूपेण वा। तत्र बध्यघातकभावः अहिनकुलाग्न्युदकादिविषयः। स त्वेकस्मिन् काले विद्यमानयोः सति संयोगे भवति, संयोगस्यानेकाश्रयत्वात् द्वित्ववत्। नासंयुक्तमुदकमग्निं विध्यापयति सर्वत्राग्न्यभावप्रसङ्गात्। ततः सति संयोगे बलीयसोत्तरकालमितरद् बाध्यते। ...सहानवस्थानलक्षणो विरोधः। स ह्ययुगपत्कालयोर्भवति यथा आम्रफले श्यामतापीततयोः पीततोत्पद्यमाना पूर्वकालभाविनीं श्यामतां निरुणद्धि। प्रतिबन्ध्यप्रतिबन्धकः विरोधः...। यथा सति फलवृन्तसंयोगे प्रतिबन्धके गौरवं पतनकर्म नारभते प्रतिबन्धात्, तदभावे तु पतनकर्म दृश्यते "संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् [वैशे. सू /५/१/७] इति वचनात्। [सति मणिरूपप्रतिबन्धके वह्निना दाहो न जायत इति मणिदाहयो प्रतिबध्यप्रतिबन्धकभावो युक्तः (स भ त./८८/६)]। =अनुपलम्भ अर्थात् अभावके साध्यको विरोध कहते है। विरोध तीन प्रकारका है—बध्यघातक भाव, सहानवस्थान, प्रतिबन्धक भाव। बध्यघातक भाव विरोध सर्प और नेवले या अग्नि और जलमें होता है। यह दो विद्यमान पदार्थोंमें संयोग होनेपर होता है। संयोगके बाद जो बलवान् होता है वह निर्बलको बाधित करता है। अग्निसे असंयुक्त जल अग्निको नहीं बुझा सकता है। दूसरा सहानवस्थान विरोध एक वस्तुको क्रमसे होने वाली दो पर्यायोंमें होता है। नयी पर्याय उत्पन्न होती है तो पूर्व पर्याय नष्ट हो जाती है, जैसे आमका हरा रूप नष्ट होता है और पीत रूप उत्पन्न होता है। प्रतिबन्ध्य प्रतिबन्धक भाव विरोध ऐसे है जैसे आमका फल जबतक डालमें लगा हुआ है तबतक

फल और डंठलका संयोग रूप प्रतिबन्धकके रहनेसे गुरुत्व मौजूद रहनेपर भी आमको नीचे नहीं गिराता। जब संयोग टूट जाता है तब गुरुत्व फलको नीचे गिरा देता है। संयोगके अभावमें गुरुत्व पतनका कारण है, यह सिद्धान्त है। अथवा जैसे दाहके प्रतिबन्धक चन्द्रकान्त मणिके विद्यमान रहते अग्निसे दाह क्रिया नहीं उत्पन्न होती इसलिए मणि तथा दाहके प्रतिबध्य प्रतिबन्धक भाव युक्त है। (स. भ. त./८७/४)।

ध. १/१,१.१३/१७४/१ अस्तु गुणानां परस्परपरिहारलक्षणो विरोध इष्टत्वात्, अन्यथा तेषां स्वरूपहानिप्रसङ्गात्। =गुणोंमें परस्पर परिहारलक्षण विरोध इष्ट ही है, क्योंकि, यदि गुणोंका एक दूसरेका परिहार करके अस्तित्व नहीं माना जावे तो उनके स्वरूपकी हानिका प्रसंग आता है।

श्लो. वा./२/भाषाकार/१/८/३/५६१/१७ ज्ञानको मान लेनेपर सब पदार्थोंका शून्यपना नहीं बन पाता है और सबका शून्यपना मान लेनेपर स्वसंवेदनकी सत्ता नहीं ठहरती है। यह तुल्यबल वाला विरोध है।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. स्व वचन बाधित विरोध। —दे० बाधित।

२. वस्तुके विरोधी धर्मोंमें अविरोध। —दे० अनेकान्त/५।

३. आगममें पूर्वापर विरोधमें अविरोध। —दे० आगम/५/६।

विलसित—असुरकुमार जातिका एक भवनवासी देव। —दे० असुर।

विलास—नेत्र कटाक्ष। —दे० विभ्रम/२।

विलेपन—चन्दन व कुंकुम आदि द्रव्य। —दे० निक्षेप/५/६।

विल्लाल—मलबार कार्टर्ली रिव्युमें मर थामसंसी राइसके अनुसार मैसूरके जैन राजाओंमें एक विल्लाल वंशके राजा भी थे, जो पहले द्वारसमुद्रतक राज्य करते थे, और पीछे श्रंगापटामके १२ मील उत्तर तोनूरके शासक हुए। इनका आधिपत्य पूर्ण कर्णाटकमें था। इस वंशके संस्थापक चामुण्डराय (ई. ६६३-७१३) थे।

विवक्षा—

स. भ. त./३/३ प्राश्निकप्रश्नज्ञानेन प्रतिपादकस्य विवक्षा जायते, विवक्षया च वाक्यप्रयोगः। =प्रश्नकर्ताके प्रश्नज्ञानसे ही प्रतिपादन करनेवालेकी विवक्षा होती है, और विवक्षासे वाक्य प्रयोग होता है।

स्व. स्तो./२५/६१ वक्तुरिच्छा विवक्षा। =वक्ताकी इच्छाको विवक्षा कहते हैं। [अर्थात् नयको विवक्षा कहते हैं। —दे० नय/I/१/१/२]।

*** विवक्षाका विषय**—दे० स्याद्वाद/२,३।

विवर—लवण समुद्रकी तलीमें स्थित बड़े-बड़े खड्ड, जिन्हें पाताल भी कहते हैं। उत्तम, मध्य व जघन्यके भेदसे ये तीन प्रकारके होते हैं—(विशेष दे० लोक/४/१)।

विवर्त—न्या. वि./वृ./१/१०/१७८/११ परिणामो विवर्त्तः। =परिणाम या परिणमनको विवर्त कहते हैं। —(विशेष दे० परिणाम)।

विवाद—दे० वाद।

विवाह—

रा. वा./७/२८/१/५५४/२२ सद्वेद्यस्य चारित्रमोहस्य चोदयात् विवहनं कन्यावरणं विवाह इत्याख्यायते। =साता वेदनीय और चारित्रमोहके उदयसे कन्याके वरण करनेको विवाह कहते हैं।

*** विवाह सम्बन्धी विधि विधान**—दे० संस्कार/२।

२. विवाह सन्तानोत्पत्तिके लिए किया जाता है, विलासके लिए नहीं

म. पु./३८/१३४ संतानार्थमृतावेव कामसेवां मिथो भजेत्। =केवल सन्तान उत्पन्न करनेकी इच्छासे ऋतुकालमें ही परस्पर कामसेवन करें।

३. मामा फूफी आदिकी सन्तानमें परस्पर विवाहकी प्रसिद्धि

ह. पु./३३/२६ स्वसारं प्रददौ तस्मै देवकीं गुरुदक्षिणाम्। =कंसने गुरुदक्षिणास्वरूप वसुदेवको अपनी 'देवकी' नामकी बहन प्रदान कर दी। [यह देवकी वसुदेवके चचा देवसेनकी पुत्री थी—]।

म. पु./७/१०६ पितृष्वस्रीय एवायं तव भर्ता भविष्यति। =हे पुत्री! वह ललितांग तेरी बुआके ही पुत्र उत्पन्न हुआ है और वही तेरा भर्ता होगा।

म. पु./१०/१४३ चक्रिणोऽभयघोषस्य स्वस्रीयोऽयं यतो युवा। ततश्चक्रिसुतानेन परिणिन्ये मनोरमा।१४३। =तरुण अवस्थाको धारण करनेवाला वह सुविधि अभयघोष चक्रवर्तीका भानजा था, इसलिए उसने उन्हें चक्रवर्तीकी पुत्री मनोरमाके साथ विवाह किया था।१४३।

म. पु./७२/२२७-२३० का भावार्थ—(सोमदेवके—सोमदत्त सोमिल और सोमभूति ये तीन पुत्र थे। उन तीनोंके मामा अग्निभूतिके धनश्री, मित्रश्री, और नागश्री नामकी तीन कन्याएँ थीं, जो उसने उपरोक्त तीनों पुत्रोंके साथ-साथ परणा दीं।)

*** चक्रवर्ती द्वारा म्लेच्छ कन्याओंका ग्रहण**

—दे० प्रव्रज्या/१/३।

४. गन्धर्व आदि विवाहोंका निषेध

दे. ब्रह्मचर्य/२/३/२ परस्त्री त्याग व्रतकी शुद्धिकी इच्छासे गन्धर्व विवाह आदि नहीं करने चाहिए और न ही किन्हीं कन्याओंकी निन्दा करनी चाहिए।

*** धर्मपत्नीके अतिरिक्त अन्य स्त्रियोंका निषेध**

—दे. स्त्री।

विवाह क्रिया—दे. संस्कार/२।

विवाह पटल—आ. ब्रह्मदेव (ई. १२९२-१३२३) द्वारा रचित एक ग्रन्थ।

विविक्त शय्यासन—

स. सि./९/१९/४३८/१० शून्यागारादिषु विविक्तेषु जन्तुपीडाविरहितेषु संयतस्य शय्यासनमबाधात्ययब्रह्मचर्यस्वाध्यायध्यानादिप्रसिद्ध्यर्थं कर्तव्यमिति पञ्चमं तपः। =एकान्त जन्तुओंकी पीडासे रहित शून्य घर आदिमें निर्बाध ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदिकी प्रसिद्धिके लिए संयतको शय्यासन लगाना चाहिए।—(विशेष दे. वसतिका/६) (रा. वा./९/१९/१२/६१९/१२)।

का. अ./मू./४४७-४४८ जो रायदोसहेदू आसण सिज्जादियं परिच्चयइ। अप्पा णिव्विसय सया तस्स तवो पंचमो परमो।४४७। पयादिसु

होना भावत' इन्द्रियविवेक है। द्रव्यत कषाय विवेकके शरीरसे और वचनसे दो भेद हैं। भौहें सकुचित करना इत्यादि शरीरकी प्रवृत्ति न होना कायक्रोध विवेक है। मैं मारूँगा इत्यादि वचनका प्रयोग न करना वचन क्रोध विवेक है। दूसरोंका पराभव करना, वगैरहके द्वेषपूर्वक विचार मनमें न लाना यह भावक्रोधविवेक है। इसी प्रकार द्रव्य, मान, माया व लोभ कषाय विवेक भी शरीर और वचनके व भावके भेदसे तीन तीन प्रकारके है। तहाँ शरीरके अवयवोको न अकडाना, मेरेसे अधिक शास्त्र प्रवीण कौन है ऐसे वचनोंका प्रयोग न करना ये काय व वचनगत मानविवेक हैं। मनके द्वारा अभिमानको छोड़ना भाव मानकषाय विवेक है। मानो अन्यके विषयमें बोल रहा है ऐसा दिखाना, ऐसे वचनका त्याग करना अथवा कपटका उपदेश न करना वाचा मायाविवेक है। शरीरसे एक कार्य करता हुआ भी मैं अन्य ही कर रहा हूँ ऐसा दिखानेका त्याग करना काय मायाविवेक है। जिस पदार्थमें लोभ है उसकी तरफ अपना हाथ पसारना इत्यादिक शरीर क्रिया न करना काय लोभ विवेक है। इस वस्तु ग्राम आदिका मैं स्वामी हूँ ऐसे वचन उच्चारण न करना वाचा लोभ विवेक है। ममेदं भावरूप मोहज परिणतिको न होने देना भाव लोभ विवेक है।१६८। अपने शरीरसे अपने शरीरके उपद्रवको दूर न करना काय शरीर विवेक है। शरीरको तुम पीडा मत करो अथवा मेरा रक्षण करो इस प्रकारके वचनोका न कहना वाचा शरीर विवेक है। जिस वसतिकामें पूर्वकालमें निवास किया था उसमें निवास न करना और इसी प्रकार पहिले वाले सस्तरमें न सोना बैठना काय वसति-सस्तर विवेक है। मैं इस वसति व सस्तरका त्याग करता हूँ। ऐसे वचनका बोलना वाचा वसतिसंस्तर विवेक है। शरीरके द्वारा उप-करणोको ग्रहण न करना काय उपकरण विवेक है। मैं ने इन ज्ञानो-पकरणादिका त्याग किया है ऐसा वचन बोलना वाचा उपकरण विवेक है। आहार पानके पदार्थ भक्षण न करना काय भक्तपान विवेक है। इस तरहका भोजन पान मैं ग्रहण नहीं करूँगा ऐसा वचन बोलना वचाभक्तपान विवेक है। वैयावृत्त्य करनेवाले अपने शिष्या-दिकोंका सहवास न करना काय वैयावृत्त्य विवेक है। तुम मेरी वैयावृत्त्य मत करो ऐसे वचन बोलना वाचा वैयावृत्त्य विवेक है। सर्वत्र शरीरादिक पदार्थोंपरसे प्रेमका त्याग करना अथवा ये मेरे है ऐसा भाव छोड देना भावविवेक है।

२. विवेक तपके अतिचार

भ आ /वि./४८७/७०७/२२ भावतोऽविवेको विवेकातिचार ।=परि-णामोंके द्वारा विवेकका न होना विवेकका अतिचार है।

*** विवेक प्रायश्चित्त किस अपराधमें दिया जाता है**

—दे, प्रायश्चित्त/४।

विवेचन—१ वस्तु विवेचन विधि=दे न्याय। २ आगम व अध्यात्म पद्धति—दे. पद्धति।

विशद—

सि वि /मू /१/६/३८ पश्यन् स्वलक्षणान्येक स्थूलमक्षणिक स्फुटम् यद्व्यवस्यति वैशद्य तद्विद्धि सदृशस्मृते' ।६।=परस्परमें विलक्षण निरंश क्षणरूप स्वलक्षणोको देखनेवाला स्थूल और अक्षणिक एक वस्तुको स्पष्ट रूपसे निश्चित करता है। अत वैशद्य व्यवसायात्मक सविकल्पकप्रत्यक्षसे सम्बद्ध है।

प. मु /२/४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासन वैशद्य'। =जो प्रतिभास बिना किसी दूसरे ज्ञानकी सहायताके स्वतन्त्र हो, तथा हरा पीला आदि विशेष वर्ण और सीधा टेढा आदि विशेष आकार लिये हो, उसे वैशद्य कहते है।

न्या. दी./२/§२/२४ किमिद विशदप्रतिभासत्व नाम। उच्यते; ज्ञाना-वरणस्य क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा शब्दानुमानाद्यसभवि यन्नैर्मल्य-मनुभवसिद्धम् दृश्यते खल्वग्निरस्तीत्याप्तवचनाद्धूमादि लिङ्गाच्चो-त्पन्नाज्ज्ञानादयमग्निरित्युत्पन्नस्यैन्द्रियकस्य ज्ञानस्य विशेष'। स एव नैर्मल्य, वैशद्यम्, स्पष्टत्वमित्यादिभि' शब्दैरभिधीयते ।=प्रश्न—विशद प्रतिभास किसको कहते हैं? उत्तर—ज्ञानावरण कर्मके सर्वथा क्षयसे अथवा विशेष क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली और शब्द तथा अनुमानादि (परोक्ष) प्रमाणोंसे नहीं हो सकनेवाली जो अनुभवसिद्ध निर्मलता है वही विशद-प्रतिभास है। किसी प्रामाणिक पुरुषके 'अग्नि है' इस प्रकारके वचनसे और 'यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि, धुआँ है' इस प्रकारके धूमादि लिंगसे उत्पन्न हुए ज्ञानकी अपेक्षा 'यह अग्नि है' इस प्रकारके इन्द्रियज्ञानमें विशेषता देखी जाती है। वही विशे-षता निर्मलता, विशदता, और स्पष्टता इत्यादि शब्दों द्वारा कही जाती है।

विशल्या—प पु /६४/श्लो. न. राजा द्रोणमेघकी पुत्री थी।६६। पूर्व-भवके कठिन तपके प्रभावसे उसके स्नान जलमें सर्वरोग शान्त करनेकी शक्ति थी।६८। रावणकी शक्तिके प्रहारसे मूर्च्छित लक्ष्मणको इसीने जीवन दिया था।३७-३८। इसका विवाह भी लक्ष्मणसे हुआ था।८०।

विशल्याकारिणी—एक विद्या—दे विद्या।

विशाखनंदि—म. पु./५७/श्लो न.—राजगृहीके राजा विश्वभूतिके छोटे भाई विशाखभूतिका पुत्र था।७२। विश्वभूतिके पुत्र विश्वनन्दि का वन छीन लेनेपर युद्ध हुआ, जिसमें यह भाग गया।७५-७७। देशाटन करता हुआ मथुरामें रहने लगा। वेश्याके घर बैठे विश्व-नन्दीको गाय द्वारा गिरा दिया जानेपर हँसी उडायी।८०-८१। चिर-काल पर्यंत अनेक योनियोमें भ्रमण किया।८७।

विशाखभूति—म पु /५७/श्लो.—राजगृह नगरके राजा विश्वभूति-का छोटा भाई था।७३। पिताके दीक्षा लेनेके अनन्तर इसने भी अपने ताऊके पुत्र विश्वनन्दीके साथ दीक्षा ले ली।७८। महा शुक्र स्वर्गमें देव उत्पन्न हुआ।८२।

विशाखा—एक नक्षत्र—दे. नक्षत्र।

विशाखाचार्य—श्रुतावतारके अनुसार आप भद्रबाहु प्रथमके पश्चात् प्रथम ११ अग व १० पूर्वधारी थे। [द्वादश वर्षीय दुर्भिक्षके अवसरपर आप भद्रबाहु स्वामीके साथ दक्षिणकी ओर चले गये थे। भद्रबाहु स्वामीकी तो वहाँ ही समाधि हो गयी पर आप दुर्भिक्ष समाप्त होनेपर पुन उज्जैन लौट आये (भद्रबाहु चरित/३)] समय—वी. नि १६२-१७२ (ई. पू ३६५-३५५)।—दे० इतिहास/४/१।

विशाला—भरत क्षेत्र आर्य खण्डकी एक नदी—दे० मनुष्य/४।

विशालाक्ष—कुण्डल पर्वतके स्फटिकप्रभ कूटका स्वामी नागेन्द्रदेव—दे० लोक/७।

विशिष्ट—१. ध. १०/४,२,४,३/२३/६ सिया विसिट्ठा, कयाइं वयादो अहियाय दसणादो।=(ज्ञानावरणीय द्रव्य) स्यात् विशिष्ट है, क्योंकि कदाचित व्ययकी अपेक्षा अधिक आय देखी जाती है।

*** नोओम नोविशिष्ट**—दे ओम। २. सौमनस पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७।

विशिष्टाद्वैत—दे. वेदान्त/III-V

विशुद्ध—

स सि /२/४९/१९८/४ विशुद्धकार्यत्वाद्विशुद्धव्यपदेश। विशुद्धस्य पुण्यकर्मण अशबलस्य निरवद्यस्य कार्यत्वाद्विशुद्धमित्युच्यते तन्तूना कार्पासव्यपदेशवत्।=विशुद्धकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीरको

साता इन दोनोंके बन्धका संक्लेश और विशुद्धि, इन दोनोंको छोड़कर अन्य कोई कारण नहीं है, क्योंकि, वैसा कोई कारण पाया नहीं जाता है। ३. कषायोंकी वृद्धि केवल असाताके बन्धका कारण नहीं है, क्योंकि, उसके अर्थात् कषायोंकी वृद्धिके कालमें साताका बन्ध भी पाया जाता है। इसी प्रकार कषायोंकी हानि केवल साताके बन्धका कारण नहीं है, क्योंकि, वह भी साधारण है, अर्थात् कषायोंकी हानिके कालमें भी असाताका बन्ध पाया जाता है।

ध. ११/४,२,६,५१/२०८/६ वड्ढमाणकसाओ संकिलेसो, हायमाणो विसोहि त्ति किण्ण घेप्पदे। ण, संकिलेस-विसोहिट्ठाणाणं संखाए सामणत्तप्पसंगादो। कुदो। जहण्णुक्कस्सपरिणामाणं जहाकमेण विसोहिसंकिलेसणियमदंसणादो। मज्झिमपरिणामाणं च संकिलेस-विसोहिपक्खवुत्तिदंसणादो ण च संकिलेस-विसोहिट्ठाणाणं संखाए समाणमत्थि—। सम्मत्तुप्पत्तीए सादद्धाणपरूवणं कादूण पुणो संकिलेसविसोहीणं परूवणं कुणमाणा वक्खाणाइरिया जाणावेंति जहा हायमाणकसाउदयट्ठाणाणि चेव विसोहिसण्णिदाणि त्ति भणिदे होदु णाम तत्थ तधाभावो, दंसण-चरित्तमोहक्खवणोवसामणासु पुव्विल्लसमए उदयमागदो अणुभागफद्दएहिंतो अणंतगुणहीणफद्दयाणमुदएण जादकसायउदयट्ठाणस्स विसोहित्तमुवगमादो। ण च एस णियमो संसारावत्थाए अत्थि, तत्थ छव्विहवड्ढिहाणीहि कसाउदयट्ठाणाणं उप्पत्तिदंसणादो। संसारावत्थाए वि अंतोमुहुत्तमणंतगुणहीणकमेण अणुभागफद्दयाणं उदओ अत्थि त्ति वुत्ते होदु, तत्थ वि तधाभावं पडुच्च विसोहित्तब्भुवगमादो। ण च एत्थ अणंतगुणहीणफद्दयाणमुदएण उप्पण्णकसाउदयट्ठाणं विसोहि त्ति घेप्पदे, एत्थ एवंविहविवक्खाभावादो। किंतु सादबंधपाओग्गकसाउदयट्ठाणाणि विसोही, असादबंधपाओग्गकसाउदयट्ठाणाणि संकिलेसो त्ति घेत्तव्वमण्णहा विसोहिट्ठाणाणमुक्कस्सट्ठिदीए थोवत्तविरोहादो त्ति। =**प्रश्न**—बढ़ती हुई कषायको संक्लेश और हीन होती हुई कषायको विशुद्धि क्यों नहीं स्वीकार करते? **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, ४ वैसा स्वीकार करनेपर संक्लेश स्थानों और विशुद्धिस्थानोंकी संख्याके समान होनेका प्रसंग आता है। कारण यह है कि जघन्य और उत्कृष्ट परिणामोंके क्रमशः विशुद्धि और संक्लेशका नियम देखा जाता है, तथा मध्यम परिणामोंका संक्लेश अथवा विशुद्धिके पक्षमें अस्तित्व देखा जाता है। परन्तु संक्लेश और विशुद्धिस्थानोंमें संख्याकी अपेक्षा समानता है नहीं। **प्रश्न**—सम्यक्त्वोत्पत्तिमें सातावेदनीयके अध्वानकी प्ररूपणा करके पश्चात् संक्लेश व विशुद्धिकी प्ररूपणा करते हुए व्याख्यानाचार्य यह ज्ञापित करते हैं कि हानिको प्राप्त होनेवाले कषायके उदयस्थानोंकी ही विशुद्धि संज्ञा है? **उत्तर**—वहाँपर वैसा कथन ठीक है, क्योंकि, ५ दर्शन और चारित्र मोहकी क्षपणा व उपशामनामें पूर्व समयमें उदयको प्राप्त हुए अनुभागस्पर्धकोंकी अपेक्षा अनन्तगुणे हीन अनुभागस्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न हुए कषायोदयस्थानके विशुद्धपना स्वीकार किया गया है। परन्तु यह नियम संसारावस्थामें सम्भव नहीं है, क्योंकि, वहाँ छह प्रकारकी वृद्धि व हानियोंसे कषायोदयस्थानकी उत्पत्ति देखी जाती है। **प्रश्न**—संसारावस्थामें भी अन्तर्मुहूर्त कालतक अनन्तगुणे हीन क्रमसे अनुभाग स्पर्धकोंका उदय है ही? **उत्तर**—६. संसारावस्थामें भी उनका उदय बना रहे, वहाँ भी उक्त स्वरूपका आश्रय करके विशुद्धता स्वीकार की गयी है। परन्तु यहाँ अनन्तगुणे हीन स्पर्धकोंके उदयसे उत्पन्न कषायोदयस्थानको विशुद्धि नहीं ग्रहण किया जा सकता है, क्योंकि, यहाँ इस प्रकारकी विवक्षा नहीं है। किन्तु सातावेदनीयके बन्धयोग्य कषायोदयस्थानोंको विशुद्धि और असातावेदनीयके बन्धयोग्य कषायोदयस्थानोंको संक्लेश ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि, इसके बिना उत्कृष्ट स्थितिमें विशुद्धिस्थानोंकी स्तोकताका विरोध है।

* **दर्शन विशुद्धि**—दे. दर्शन विशुद्धि।

५. जीवोंमें विशुद्धि व संक्लेशकी तरतमताका निर्देश

ष. ख. ११/४,२,६/सूत्र १६७-१७४/३१२ तत्थ जे ते सादबंधा जीवा ते तिविहा-चउट्ठाणबंधा तिट्ठाणबंधा बिट्ठाणबंधा।१६७। असादबंधा जीवा तिविहा बिट्ठाणबंधा तिट्ठाणबंधा चउट्ठाणबंधा त्ति।१६८। सव्वविसुद्धा सादस्स चउट्ठाणबंधा जीवा।१६९। तिट्ठाणबंधा जीवा संकिलिट्ठदरा।१७०। बिट्ठाणबंधा जीवा संकिलिट्ठदरा।१७१। सव्वविसुद्धा असादस्स बिट्ठाणबंधा जीवा।१७२। तिट्ठाणबंधा जीवा संकिलिट्ठदरा।१७३। चउट्ठाणबंधा जीवा संकिलिट्ठदरा।१७४। =सातबन्धक जीव तीन प्रकार हैं—चतुःस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और द्विस्थानबन्धक।१६७। असातबन्धक जीव तीन प्रकारके हैं—द्विस्थानबन्धक, त्रिस्थानबन्धक और चतुःस्थानबन्धक।१६८। सातावेदनीय चतुःस्थानबन्धक जीव सबसे विशुद्ध है।१६९। त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर है।१७०। द्विस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर है।१७१। असातावेदनीयके द्विस्थानबन्धक जीव सर्वविशुद्ध हैं।१७२। त्रिस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर है।१७३। चतुःस्थानबन्धक जीव संक्लिष्टतर है।१७४।

६. विशुद्धि व संक्लेशमें हानिवृद्धिका क्रम

ध. ६/१,९-७-२/१८२/२ विसोहीओ उक्कस्सट्ठिदिम्हि थोवा होदूण गणणाए वड्ढमाणाओ आगच्छंति जाव जहण्णट्ठिदि त्ति। संकिलेसा पुण जहण्णट्ठिदिम्हि थोवा होदूण उवरि पक्खेउत्तरकमेण वड्ढमाणा गच्छंति जा उक्कस्सट्ठिदि त्ति। तदो संकिलेसेहिंतो विसोहीओ पुधभूदाओ त्ति दट्ठव्वाओ। तदो ट्ठिदमेदं सादबंधजोग्गपरिणामो विसोहि त्ति। =विशुद्धियाँ उत्कृष्ट स्थितिमें अल्प होकर गणनाकी अपेक्षा बढ़ती हुई जघन्य स्थितितक चली आती हैं। किन्तु संक्लेश जघन्य स्थितिमें अल्प होकर ऊपर प्रक्षेप उत्तर क्रमसे, अर्थात् सदृश प्रचयरूपसे बढ़ते हुए उत्कृष्ट स्थितितक चले जाते हैं। इसलिए संक्लेशोंसे विशुद्धियाँ पृथग्भूत होती हैं, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए। अतएव यह स्थित हुआ कि साताके बन्ध योग्य परिणामका नाम विशुद्धि है।

ध. ११/४,२,६,५१/२१०/१ तदो संकिलेसट्ठाणाणि जहण्णट्ठिदिप्पहुडि विसेसाहियवड्ढीए, उक्कस्सट्ठिदिप्पहुडि विसोहिट्ठाणाणि विसेसाहियवड्ढीए गच्छंति [त्ति] विसोहिट्ठाणेहिंतो संकिलेसट्ठाणाणि विसेसाहियाणि त्ति सिद्धं। =अतएव संक्लेशस्थान जघन्य स्थितिसे लेकर उत्तरोत्तर विशेष अधिकके क्रमसे तथा विशुद्धिस्थान उत्कृष्टस्थितिसे लेकर विशेष अधिक क्रमसे जाते हैं। इसलिए विशुद्धिस्थानोंकी अपेक्षा संक्लेशस्थान विशेष अधिक हैं।

७. द्विचरम समयमें ही उत्कृष्ट संक्लेश सम्भव है

ष. ख. १०/४,२,४/सूत्र ३०/१०७ दुचरिमतिचरिमसमए उक्कस्ससंकिलेसं गदो।३०।

ध. १०/४,२,४,३०/पृष्ठ/पंक्ति दो समए मोत्तूण बहुसु समएसु णिरंतरमुक्कस्ससंकिलेसं किण्ण णीदो। ण, एदे समए मोत्तूण णिरंतरमुक्कस्ससंकिलेसेण बहुकालमवट्ठाणाभावादो। (१०७/६)। हेट्ठा पुण सव्वत्थ समयविरोहेण उक्कस्ससंकिलेसो चेव। (१०८/२)। =द्विचरम व त्रिचरम समयमें उत्कृष्ट संक्लेशको प्राप्त हुआ। **प्रश्न**—उक्त दो समयोंको छोड़कर बहुत समयतक निरन्तर उत्कृष्ट संक्लेशको क्यों नहीं प्राप्त कराया गया। **उत्तर**—नहीं, क्योंकि, इन दो समयोंको छोड़कर निरन्तर उत्कृष्ट संक्लेशके साथ बहुत कालतक रहना सम्भव नहीं है। ...चरम समयके पहिले तो सर्वत्र यथा समय उत्कृष्ट संक्लेश ही होता है।

विपरथ—वृ कथा कोप/कथा नं. ५/पृ —उज्जैनीके राजाका पुत्र था।१५। अति भोजन करनेसे विसूचिका रोग हो गया और अन्तमें मर गया।१६।

विष्कंभ—Width—(ज. प./प्र. १०८)।

विष्कंभ क्रम—दे. क्रम/१।

विष्कंभ सूची—दे. सूची।

विष्टा—१. औदारिक शरीरमें विष्टाका प्रमाण—दे. औदारिक/२। २. मल मूत्र क्षेपण विधि।—दे. समिति/१/प्रतिष्ठापना।

विष्णु—ति. प./४/५१८ तह य तिविट्ठदुविट्ठा सयंभु पुरिसुत्तमो पुरिससीहो। पुडरीयदत्तणारायणा य किण्हो हुवंति णव विण्हू।५१८। =त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयम्भू, पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुण्डरीक, दत्त, नारायण और कृष्ण ये नौ विष्णु (नारायण) है।५१८।—(विशेष दे. शलाका पुरुष)

दे० जीव/१/३/५—(प्राप्त हुए शरीरको व्याप्त करनेके कारण जीवको विष्णु कहते है।)

द्र. स./टी./१४/४७/३ सकलविमलकेवलज्ञानेन येन कारणेन समस्तं लोकालोकं जानाति व्याप्नोति तेन कारणेन विष्णुर्भण्यते। =क्योंकि पूर्ण निर्मल केवलज्ञान द्वारा लोक-अलोकमें व्याप्त होता है, इस कारण वह परमात्मा विष्णु कहा जाता है।

* **परम विष्णुके अपर नाम** —दे० मोक्षमार्ग/२/५।

विष्णुकुमार—ह. पु /२०/श्लो. "महापद्म चक्रवर्तीके पुत्र थे। पिताके साथ दीक्षा ले घोर तप किया।१४। अकम्पनाचार्यके ७०० मुनियोके संघपर बलि कृत उपसर्गको अपनी विक्रिया द्वारा दूर किया।२६-६२। अन्तमें तप कर मोक्ष गये।६३।"

विष्णुदत्त—वृ कथा कोप/कथा ३/पृ. एक दरिद्र अन्धा था।५। वृक्षसे सर टकरानेके कारण आँखें खुल गयीं।५। दूसरे अन्धोंने भी उसकी नकल की, पर सब मर गये।६।

विष्णुनंदि—श्रुतावतारके अनुसार आप भगवान् वीरके पश्चात् पंचम श्रुतकेवली हुए। समय—वी. नि ६२-७६ (ई. पू. ४६५-४५१)। अपर नाम नन्दि था—दे० इतिहास/४/१।

विष्णु यशोधर्म—कल्की राजा मिहिरकुलको परास्त करनेवाला एक वैष्णव धर्मानुयायी राजा। समय—ई ५३३-५८७। वी. नि. १०५९-१०७३ — दे० कल्की।

विष्णुवर्धन—कर्णाटक देशके पोय्सल नरेश थे। गगराज इनके मन्त्री थे, जिसने अपने गुरु शुभचन्द्रको निपद्यका श. स. १०४५ में बनवायी थी। यह पहले जैन थे जिन्होने श. सं. १०३९ (ई. १११७) में वैष्णव धर्म स्वीकार करके हलेबेड अर्थात् दोरसमुद्रमें अनेक जिनमन्दिर का ध्वंस किया था। उसके उत्तराधिकारी नारसिंह और तत्पश्चात् वीर बल्लालदेव हुए जिन्होंने जैनियोंके क्षोभको नीति पूर्वक शान्त किया। समय—अनुमानत श. सं. १०२५-१०५० (ई. ११०३-११२८), (ध. प्र. ११/H. L. Jain)।

विसंयोजना—उपशम व क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्ति विधिमें अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभका अप्रत्याख्यानादि क्रोध, मान, माया, लोभ रूपसे परिणमित हो जाना विसंयोजना कहलाता है।

१. विसंयोजनाका लक्षण

क. पा /२/२-२२/§२४६/२१९/६ का विसंयोजना। अणंताणुबंधिचउक्कक्खंधाणं परपयडिसरूवेण परिणमनं विसंयोजना। =अनन्तानुबन्धी चतुष्कके स्कन्धोंके परप्रकृति रूपसे परिणमा देनेको विसंयोजना कहते हैं।

गो. क /जी. प्र /३३६/४८७/१ युगपदेव विसंयोज्य द्वादशकषायनोकषायरूपेण परिणमय्य···। =अनन्तानुबन्धी चतुष्कको युगपत् विसंयोजना करके अर्थात् बारह कषायों व नव नोकषायों रूपसे परिणमा कर।

२. विसंयोजना, क्षय व उपशममें अन्तर

क पा /२/२-२२/§२४६/२१९/७ ण परोदयकम्मक्खवणाए वियहिचारो, तेसिं परसरूवेण परिणदाणं पुणरुप्पत्तीए अभावादो। =विसंयोजनाका इस प्रकार लक्षण करनेपर, जिन कर्मोंकी पर-प्रकृतिरूपसे क्षपणा होती है, उनके साथ व्यभिचार (अतिव्याप्ति) आ जायेगी सो भी बात नहीं है, क्योंकि अनन्तानुबन्धीको छोडकर पररूपसे परिणत हुए अन्य कर्मोंकी पुन उत्पत्ति नहीं पायी जाती है। अतः विसंयोजनाका लक्षण अन्य कर्मोंकी क्षपणामें घटित न होनेसे अतिव्याप्ति दोष नहीं आता है।

दे० उपशम/१/६ (अपने स्वरूपको छोडकर अन्य प्रकृति रूपसे रहना अनन्तानुबन्धीका उपशम है और उदयमें नहीं आना दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंका उपशम है।)

३. विसंयोजनाका स्वामित्व

क पा /२/२-२२/§२४५/२१८/५ अट्ठावीससंतकम्मिएण अणंताणुबंधी विसंजोइदे चउवीस विहत्तीओ होदि। को विसंजोअओ। सम्मादिट्ठी। मिच्छाइट्ठी ण विसंजोएदि त्ति कुदो णव्वदे। सम्मादिट्ठी वा सम्मामिच्छादिट्ठी वा चउवीस विहत्तिओ होदि त्ति एदम्हादो सुत्तादो णव्वदे। अणंताणुबंधिविसंजोइदसम्मादिट्ठिम्हि मिच्छत्तं पडिवण्णे चउवीस विहत्ती किण्ण होदि। ण, मिच्छत्तं पडिवण्णपढमसमए चेव चरित्तमोहकम्मक्खंधेसु अणंताणुबंधिसरूवेण परिणदेसु अट्ठावीसपयडिसंतुप्पत्तीदो। अविसंजोएंतो सम्मामिच्छाइट्ठी कध चउवीसविहत्तीओ। ण, चउवीस संतकम्मियसम्मादिट्ठीसु सम्मामिच्छत्तं पडिवण्णेसु तत्थ चउवीसपयडिसंतुवलंभादो। चारित्तमोहणीयं तत्थ अणंताणुबंधिसरूवेण किण्ण परिणमइ। ण, तत्थ तप्परिणमनहेदुमिच्छत्तुदयाभावादो, सासणे इव तिव्वसंकिलेसाभावादो वा। =अट्ठाईस प्रकृतियोंकी सत्तावाला जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना कर देनेपर चौबीस प्रकृतियोंकी सत्तावाला होता है। प्रश्न—विसंयोजना कौन करता है? उत्तर—सम्यग्दृष्टि जीव विसंयोजना करता है। प्रश्न—मिथ्यादृष्टि जीव विसंयोजना नहीं करता है, यह कैसे जाना जाता है? उत्तर—'सम्यग्दृष्टि या सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव चौबीस प्रकृतिक स्थानका स्वामी है' इस सूत्रसे जाना जाता है। प्रश्न—अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना करनेवाले सम्यग्दृष्टि जीवके मिथ्यात्वको प्राप्त हो जानेपर मिथ्यादृष्टि जीव चौबीस प्रकृतिक स्थानका स्वामी क्यों नहीं होता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, ऐसे जीवके मिथ्यात्वको प्राप्त होनेके प्रथम समयमें ही चारित्र मोहनीयके कर्मस्कन्ध अनन्तानुबन्धी रूपसे परिणत हो जाते हैं। अत उसके चौबीस प्रकृतियोंकी सत्ता न रहकर अट्ठाईस प्रकृतियोंकी ही सत्ता पायी जाती है। प्रश्न—जब कि सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीव अनन्तानुबन्धीकी विसंयोजना नहीं करता है तो वह चौबीस प्रकृतिक स्थानका स्वामी कैसे हो सकता है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, चौबीस कर्मोंकी सत्तावाले सम्यग्दृष्टि जीवोंके सम्यग्मिथ्यात्वको प्राप्त होनेपर उनके भी चौबीस प्रकृतियोंकी सत्ता पायी जाती है। प्रश्न—सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानमें जीव चारित्रमोहनीयको अनन्तानुबन्धी रूपसे क्यों नहीं परिणमा लेता है? उत्तर—नहीं क्योंकि, वहाँ पर चारित्रमोहनीयको अनन्तानुबन्धीरूपसे परिणमानेका कारण-

विस्रसोपचय—

ध. १४/५, ६, ५०२/४३०/११ को विस्सासुवचओ णाम। पंचण्णं सरीराणं परमाणुपोग्गलाणं जे णिद्धादिगुणेहि तेसु पंचसरीरपोग्गलेसु लग्गा पोग्गला तेसिं विस्सासुवचओ त्ति सण्णा। तेसिं विस्सासुवचयाण संबंधस्स जो कारणं पंचसरीरपरमाणुपोग्गलगओ णिद्धादिगुणो तस्स वि विस्सासुवचओ त्ति सण्णा, कारणे कज्जुवयारादो। =प्रश्न—विस्रसोपचय किसकी संज्ञा है? उत्तर—पाँच शरीरोंके परमाणुपुद्गलोंके मध्य जो पुद्गल स्निग्ध आदि गुणोंके कारण उन पाँच शरीरोंके पुद्गलोंमें लगे हुए हैं, उनकी विस्रसोपचय संज्ञा है। उन विस्रसोपचयोंके सम्बन्धका पाँच शरीरोंके परमाणु पुद्गलगत स्निग्ध आदि गुणरूप जो कारण है उसकी भी विस्रसोपचय संज्ञा है, क्योंकि, यहाँ कार्यमें कारणका उपचार किया है।

गो. जी./मू. व जी. प्र./२४९/५१५/१५ जीवादोणंतगुणा पडिपरमाणुम्हि विस्ससोवचया। जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पडिसमाणा हु।२४९। विस्रसा स्वभावेनैव आत्मपरिणामनिरपेक्षतयैव उपचीयन्ते—तत्तत्कर्मनोकर्मपरमाणुस्निग्धरूक्षत्वगुणेन स्कन्धतां प्रतिपद्यन्ते इति विस्रसोपचयाः कर्मनोकर्मपरिणतिरहितपरमाणव इति भावः। =कर्म या नोकर्मके जितने परमाणु जीवके प्रदेशोंके साथ बद्ध हैं, उनमेंसे एक-एक परमाणुके प्रति जीवराशिसे अनन्तानन्त गुणे विस्रसोपचयरूप परमाणु जीवप्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाही रूपसे स्थित है।२४९। विस्रसा अर्थात् आत्मपरिणामसे निरपेक्ष अपने स्वभावसे ही उपचीयन्ते अर्थात् मिलते हैं वे परमाणु विस्रसोपचय हैं। कर्म व नोकर्म रूपसे परिणमे बिना जो उनके साथ स्निग्ध व रूक्ष गुणके द्वारा एक स्कन्धरूप होकर रहते हैं वे विस्रसोपचय है ऐसा भाव है।

* विस्रसोपचय बन्ध—दे० प्रदेशबन्ध।

* विस्रसोपचयोंमें अल्पबहुत्व—दे० अल्पबहुत्व/३।

विहायोगति—

स. सि./८/११/३९१/७ विहाय आकाशम्। तत्र गतिनिर्वर्तकं तद्विहायोगतिनाम। =विहायस्‌का अर्थ आकाश है। उसमें गतिका निर्वर्तक कर्म विहायोगति नामकर्म है। (रा. वा./८/११/१९/५७८/११); (ध. ६/१,९-१,२८/६१/१), (गो. क./जी. प्र./३३/२९/२२)।

ध. १३/५,५,१०१/३६५/२ जस्स कम्मस्सुदएण भूमिमोट्ठहिय अणोट्ठहिय वा जीवाणमागासे गमणं होदि तं विहायगदिणाम। =जिस कर्मके उदयसे भूमिका आश्रय लेकर या बिना उसका आश्रय लिये भी जीवोंका आकाशमें गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है।

ध. ६/१,९-१,२८/६१/२ तिरिक्ख-मणुसाणं भूमीए गमणं कस्स कम्मस्स उदएण। विहायगदिणामस्स। कुदो। विहत्थिमेत्तप्पायजीवपदेसेहि भूमिमोट्ठहिय सयलजीवपदेसाणमागासे गमणुवलंभा। =प्रश्न—तिर्यंच और मनुष्योंका भूमिपर गमन किस कर्मके उदयसे होता है? उत्तर—विहायोगति नामकर्मके उदयसे, क्योंकि, विहस्तिमात्र (बारह अंगुल प्रमाण) पाँववाले जीवप्रदेशोंके द्वारा भूमिको व्याप्त करके जीवके समस्त प्रदेशोंका आकाशमें गमन पाया जाता है।

२. विहायोगति नामकर्मके भेद

ष. खं. ६/१,९-१/सूत्र ४३/७६ जं तं विहायगदिणामकम्मं तं दुविहं, पसत्थविहायोगदी अप्पसत्थविहायोगदी चेदि।४३। =जो विहायोगति नामकर्म है वह दो प्रकारका है—प्रशस्त विहायोगति और अप्रशस्तविहायोगति। (प. सं./प्रा./२/४/व्याख्या/४८/११), (स. सि./८/११/३९१/७); (रा. वा./८/११/१८/५७८/१२), (गो. क./जी. प्र./३३/२९/२२)।

३. प्रशस्ताप्रशस्त विहायोगति नामकर्म

रा. वा./८/११/१९/५७८/१२ वरवृषभद्विरदादिप्रशस्तगतिकारणं प्रशस्तविहायोगतिनाम। उष्ट्रखरादिअप्रशस्तगतिनिमित्तमप्रशस्तविहायोगतिनाम चेति। =हाथी बैल आदिकी प्रशस्त गतिमें कारण प्रशस्त विहायोगति नामकर्म होता है और ऊँट, गधा आदिकी अप्रशस्त गतिमें कारण अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म होता है।

४. मनुष्यों आदिमें विहायोगतिका लक्षण कैसे घटित हो

रा. वा./८/११/१८/५७८/१४ सिद्धस्य जीवपुद्गलानां विहायोगतिः कुत इति चेत्। सा स्वाभाविकी। ननु च विहायोगतिनामकर्मोदयः पक्ष्यादिष्वेव प्राप्नोति न मनुष्यादिषु। कुतः। विहायसि गत्यभावात्; नैष दोषः सर्वेषां विहायस्येव गतिरवगाहनशक्तियोगात्। =प्रश्न—नाम कर्मके अभावमें मुक्तजीवों और पुद्गलोंमें गति कैसे होती है? उत्तर—उनकी गति स्वाभाविक है (दे गति/१)। प्रश्न—विहायोगति नामकर्मका ऐसा लक्षण करनेसे वह पक्षियोंमें ही घटित होगा, मनुष्यादिकोंमें नहीं, क्योंकि, उनके आकाशमें गमनका अभाव है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि, अवगाहना शक्तिके योगसे सभी प्राणियोंके आकाशमें ही गति होती है।—(और भी दे विहायोगति/१ में ध./६)।

* विहायोगति नाम कर्मके बंध उदय सत्त्व सम्बन्धी विषय—दे. वह वह नाम।

विहार—

एक स्थानपर रहनेसे राग बढ़ता है इसलिए साधु जन नित्य विहार करते हैं। वर्षायोगके अतिरिक्त अधिक काल एक स्थानपर नहीं ठहरते। संघमें ही विहार करते हैं, क्योंकि, इस कालमें अकेले विहार करनेका निषेध है। भगवान्‌का विहार इच्छा रहित होता है।

१ साधुकी विहार चर्या

* एकल विहारी साधुका स्वरूप—दे० एकल विहारी।

१. एकाकी विहार व स्थानका निषेध

मू. आ./गा. सच्छंदगदागदसयणणिसियणादाणभिक्खवोसरणे। सच्छंदजंपरोचि य मा मे सत्तूवि एगागी।१५०। गुरुपरिवादो सुदवोच्छेदो तित्थस्स मइलणा जडदा। भेंभलकुसीलपासत्थदा य उस्सारकप्पम्हि।१५१। कंटयखण्णुयपडिणियसाणागोणादिसप्पमेच्छेहिं। पावइ आदविवत्ती विसेण व विसूइया चेव।१५२। गारविओ गिद्धीओ माइल्लो अलसलुद्धणिद्धम्मो। गच्छेवि संवसंतो णेच्छइ संघाडयं मंदो।१५३। आणा अणवत्था वि य मिच्छत्ताराहणादणासो य। संजमविराहणा वि य एदे दु णिकाइया ठाणा।१५४। तत्थ ण कप्पइ वासो जत्थ इमे णत्थि पंच आधारा। आइरियउवज्झायापवत्तथेरा गणधरा य।१५५। आइरियकुलं मुच्चा विहरदि समणो य जो दु एगागी। ण य गेण्हदि उवदेसं पावस्समणोत्ति वुच्चदि दु।१५६। आयरियत्तण तुरिओ पुव्वं सिस्सत्तणं अकाऊणं। हिंडइ ढुंढायरिओ णिरंकुसो मत्तहत्थिव्व।१६०। =सोना, बैठना, ग्रहण करना, भिक्षा, मल त्याग करना, इत्यादि कार्योंमें जिसका स्वच्छन्द गमनागमन है, स्वेच्छासे ही बिना अवसर बोलनेमें अनुरक्त है, ऐसा एकाकी मेरा वैरी भी न हो।१५०। गुरुको छोड़ अकेले विहार करनेमें इतने दोष होते हैं—दीक्षागुरुकी निन्दा, श्रुतका विनाश, जिनशासनमें कलंक (जैसे—सब साधु ही ऐसे होंगे), मूर्खता, विह्वलता, कुशीलपना, पार्श्वस्थता।१५१। जो स्वच्छन्द विहार करता

७. साधुके विहार योग्य क्षेत्र व मार्ग

भ आ./मू व वि /१५२/३४६ संजदजणस्स य जहिं फासुविहारो य सुलभवुत्ती य। त खेत्तं विहरंतो णाहिदि सल्लेहणाजोग्गं।१५२। फासुविहारो य प्रासुकं विहरण जीवबाधारहितं गमनं अत्रसहरित-बहुलत्वादप्रचुरोदककर्दमत्वाच्च क्षेत्रस्य । सुलभवुत्ती य सुखेना-क्लेशेन लभ्यते वृत्तिराहारो यस्मिन्क्षेत्रे। त खेत्तं तं क्षेत्रं। =सयमी मुनिको प्रासुक और सुलभ वृत्ति योग्य क्षेत्रोका अवलोकन करना योग्य है। जहाँ गमन करनेमे जीवोंको बाधा न हो, जो त्रस जीवों व वनस्पतियोंसे रहित हो, जहाँ बहुत पानी व कीचड न हो वह क्षेत्र प्रासुक है। मुनियोके विहारके योग्य है। जिस क्षेत्रमें मुनियोंको सुलभतासे आहार मिलेगा वह क्षेत्र अपनेको व अन्य मुनियोंको सल्लेखनाके योग्य है।

मू. आ./३०४-३०६ सयडं जाणं जुग्ग वा रहो वा एवमादिया। बहुसो जेण गच्छति सो मग्गो फासुओ हवे।३०४। हत्थी अस्सो खरोट्ठो वा गामहिसगवेलया। बहुसो जेण गच्छंति सो मग्गो फासुओ हवे।३०५। इत्थी पुसादि गच्छति आदावेण य जं हद। सत्थपरि-णदो चेव सो मग्गो फासुओ हवे।३०६। =बैलगाडी, हाथीकी असवारी, डोली आदि, रथ इत्यादिक बहुत बार जिस मार्गसे चलते हो वह मार्ग प्रासुक है।३०४। हाथी, घोडा, ऊँट, गाय, भैंस, बकरी आदि जीव बहुत बार जिस मार्गसे गये हों, वह मार्ग प्रासुक है।३०५। स्त्री, पुरुष, जिस मार्गमें तेजीसे गमन करें और जा सूर्य आदिके आतापसे व्याप्त हो, तथा हलादिसे जोता गया हो, वह मार्ग प्रासुक है। ऐसे मार्गसे चलना योग्य है।३०६।

२. अर्हंत भगवान्‌की विहार चर्या

*** भगवान्‌का विहार इच्छा रहित है**—दे० दिव्य-ध्वनि/१/२

१. आकाशमें पदविक्षेप द्वारा गमन होता है

स्व स्तो /१०८ ...। भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुज-मृदुहासा।१०८। =हे मल्लिनाथ जिन । आपके विहारके समय पृथिवी भी पद-पदपर विकसित कमलोंसे मृदु हास्यको लिये हुए रमणीक हुई थी।

ह. पु./३/२४ पादपद्मं जिनेन्द्रस्य सप्तपद्मैः पदे पदे। भुवेव नभसा-गच्छदुद्गच्छद्भिः प्रपूजितम् ।२४। =भगवान् पृथिवीके समान आकाश मार्गसे चल रहे थे, तथा उनके चरण कमल पद-पदपर खिले हुए सात-सात कमलोंसे पूजित हो रहे थे।२४। (चैत्यभक्ति/१ की टीका)।

एकीभावस्तोत्र/७ पादन्यासादपि च पुनतो यात्रया ते त्रिलोकीं, हेमाभासो भवति सुरभिः श्रीनिवासश्च पद्मः । ·। =हे भगवन्। आपके पादन्याससे यह त्रिलोककी पृथिवी स्वर्ण सरीखी हो गयी।

भक्तामर स्तोत्र/३६ पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः पद्मानि तत्र विबुधाः परिकल्पयन्ति।३६। =हे जिनेन्द्र। आप जहाँ अपने दोनों चरण रखते हैं वहाँ ही देव गन कमलोंकी रचना कर देते हैं।

दे० अर्हंत/१/६—('आकाश गमन' यह भगवान्‌के केवलज्ञानके अति-शयोंमें-से एक है)।

चैत्य भक्ति/टीका/१ तेषां वा प्रचारो रचना 'पादन्यासे पद्म' सप्त पुरः पृष्ठतश्च सप्त' इत्येवंरूप तत्र विजृम्भितौ प्रवृत्तौ विलसितौ वा। =[मूलमें 'हैमाम्भोजप्रचारविजृम्भिता' ऐसा पद है। उसका अर्थ करते हैं।] भगवान्‌के दोनों चरणोंका प्रचार अर्थात् रचना। भगवान्‌के पादन्यासके समय उनके चरणोके नीचे सात सात कमलोंकी रचना होती है। उसमे उनके चरण शोभित होते हैं।

२. आकाशमें चरणक्रम रहित गमन होता है

चैत्य भक्ति/टीका/१ प्रचार' प्रकृष्टोऽन्यजनासंभवी चरणक्रमसंचार-रहितश्चारो गमन तेन विजृम्भितौ विलसितौ शोभितौ। =[मूल श्लोकमें 'हैमाम्भोजप्रचारविजृम्भितौ' यह पद दिया है। इसका अर्थ करते हैं] प्रचार अर्थात् प्रकृष्ट चार या गमन। अन्य जनोंको जो सम्भव नहीं ऐसा चरणक्रम सचारसे रहित गमनके द्वारा भगवान्‌के दोनों चरण शोभित होते हैं।

३. कमलासनपर बैठे-बैठे ही विहार होता है

जिन सहस्रनाम (ज्ञानपीठ प्रकाशन)। पृ. २०७, १०८, ६०, १६७, १८३ का भावार्थ—[भगवान् ऋषभदेवका केवलज्ञान काल कुछ कम पूर्वकोटि और भगवान् महावीरका ३० वर्ष प्रमाण था—(दे० तीर्थंकर/५)।]—उपरोक्त प्रमाणोंमें भगवान्‌को उत्कृष्टतः कुछ कम पूर्वकोटि और जघन्यतः ३० वर्षप्रमाण कालतक पद्मासनसे स्थित रहना बताया है। इस प्रकार अपने सम्पूर्ण केवलज्ञान कालमें एक आसनपर स्थित रहते हुए ही विहार व उपदेश आदि देते हैं। अथवा जिस १००० पाँखुडी वाले स्वर्ण कमलपर ४ अगुल ऊँचे स्थित हैं वही कमलासन या पद्मासन है। ऐसे पद्मासनसे ही वे उपदेश व विहार आदि करते हैं।

विहारवत् स्वस्थान—दे क्षेत्र/१।

वीचार—दे. विचार।

वीचारस्थान—दे. स्थिति/१।

वीतभय—म. पु./५९/श्लोक—पूर्व धातकी खण्डमें राजा अर्हद्दासकी पुत्रीसे उत्पन्न एक बलभद्र था। दीर्घकाल राज्य किया।२७६-२७९। अन्तमें दीक्षा ले लान्तव स्वर्गमें उत्पन्न हुआ।२८०। यह 'मेरु' नामक गणधरका पूर्वका दूसरा भव है—दे. मेरु।

वीतराग—१. लक्षण

ध. १/१.१.११/१८८/६ वीतो नष्टो रागो येषा ते वीतरागा । =जिनका राग नष्ट हो गया है उन्हे वीतराग कहते हैं।

प्र. सा /ता. प्र./१४ सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृत-निर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतराग । =सकल मोहनीयके विपाकसे भेदकी भावनाकी उत्कृष्टतासे (समस्त मोहनीय कर्मके उदयसे भिन्न-त्वकी उत्कृष्ट भावनासे निर्विकार आत्मस्वरूपको प्रगट किया होनेसे जो वीतराग है, (वह श्रमण शुद्धोपयोगी है)।

ल सा /जी. प्र /३०४/३८४/१७ वीतोऽपगतो राग सक्लेशपरिणामो यस्मादसौ वीतराग । =राग अर्थात् सक्लेश परिणाम नष्ट हो जानेसे वीतराग है।

दे. सामायिक/१/समता (समता, माध्यस्थ्य शुद्धभाव, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभावकी आराधना ये सब एकार्थवाची हैं।)—(और भी दे मोक्षमार्ग/२/५)

*** वैराग्य व वैरागी**—दे. वैराग्य।

वीतराग कथा—दे. कथा।

वीतराग चारित्र—दे. चारित्र/१।

वीतराग छद्मस्थ—दे. छद्मस्थ/२।

वीतराग सम्यग्दर्शन—दे. सम्यग्दर्शन/II/४।

वीतराग स्तोत्र—श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र सूरि (ई. १०८८-११७३) कृत एक संस्कृत छन्दबद्ध स्तोत्र।

ध. १३/५,५,१३८/३९०/३ वीर्यं शक्तिरित्यर्थः। =वीर्यका अर्थ शक्ति है।

मोक्ष पचाशत/४७ आत्मनो निर्विकारस्य कृतकृत्यत्वधीश्च या। उत्साहो वीर्यमिति तत्कीर्तितं मुनिपुगवैः।४७। =निर्विकार आत्माका जो उत्साह या कृतकृत्यत्वरूप बुद्धि, उसे ही मुनिजन वीर्य कहते हैं।

स, सा /आ./परि/शक्ति नं. ६ स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः। =स्वरूप (आत्मस्वरूपकी) रचनाकी सामर्थ्यरूप वीर्य शक्ति है।

२. वीर्यके भेद

न. च. वृ /१४ की टिप्पणी—क्षायोपशमिकी शक्तिः क्षायिकी चेति शक्तेर्द्वौ भेदौ। =क्षायोपशमिकी व क्षायिकीके भेदसे शक्ति दो प्रकार है।

३. क्षायिक वीर्यका लक्षण

स. सि /२/४/१५४/१० वीर्यान्तरायस्य कर्मणोऽत्यन्तक्षयादाविर्भूतमनन्तवीर्यं क्षायिकम्। =वीर्यान्तराय कर्मके अत्यन्त क्षयसे क्षायिक अनन्त वीर्य प्रगट होता है। (रा. वा /२/४/६/१०६/६)।

रा वा /२/४/७/१५४/१५ केवलज्ञानरूपेण अनन्तवीर्यवृत्तिः। =सिद्ध-भगवान्‌में केवलज्ञानरूपसे अनन्त वीर्यकी वृत्ति है।

प. प्र./टी /१/६१/६१/१२ केवलज्ञानविषये अनन्तपरिच्छित्तिशक्तिरूपमनन्तवीर्यं भण्यते। =केवलज्ञानके विषयमें अनन्त पदार्थोंको जाननेकी जो शक्ति है वही अनन्तवीर्य है (द्र. स /टी /१४/४२/११)।

४. वीर्यगुण जीव व अजीव दोनोंमें होता है

गो. क /जी प्र /१६/११/१० वीर्यं तु जीवाजीवगतमिति। =वीर्य जीव तथा अजीव दोनोंमें पाया जाता है।

५. वीर्य सर्व गुणोंका सहकारी है

द्र. सं./टी/५/१५/७ छद्मस्थाना वीर्यान्तरायक्षयोपशमः केवलिनां तु निरवशेषक्षयो ज्ञानचारित्राद्युत्पत्तौ सहकारी सर्वत्र ज्ञातव्यः। =छद्मस्थानोंके तो वीर्यान्तरायका क्षयोपशम और केवलियोंके उसका सर्वथा क्षय ज्ञान चारित्र आदिकी उत्पत्तिमें सर्वत्र सहकारी कारण है।

*** सिद्धोंमें अनन्त वीर्य क्या**—दे दान/२।

वीर्य प्रवाद—श्रुतज्ञानका तीसरा पूर्व—दे. श्रुतज्ञान/III।

वीर्य लब्धि—दे. लब्धि/१।

वीर्यांतराय—दे. अन्तराय।

वीर्याचार—दे आचार।

वृंदावन—शाहाबाद जिलेके बनारस व आराके मध्य बारा नामके ग्राममें वि. १८४८ में जन्म हुआ। अग्रवालवंशके गोयल गोत्री थे। पीछे वि स १८६० में बारा छोड़कर काशी रहने लगे। भाषाके प्रसिद्ध कवि थे। प्रवचनसारकी प्रशस्तिके अनुसार आपकी वंशावली निम्न प्रकार है—
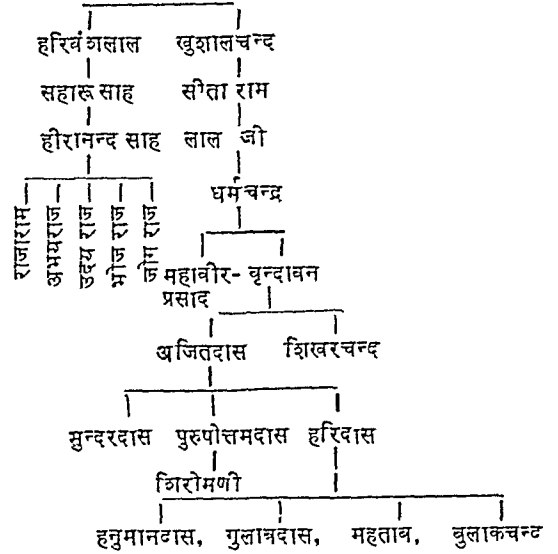
कृतियाँ—१. तीस चौबीसी पाठ, २ चौबीसी पाठ, ३. समवशरण पूजा पाठ, ४. अर्हत्पासाकेवली, ५. छन्दशतक, ६ वृन्दावन विलास, (पिंगल ग्रन्थ), ७. प्रवचनसार टीका। समय, ई. १७९१-१८४८। वि १८४८-१९०५। १९०५ मे अन्तिम कृति प्रवचन सार टीका पूरी की। (वृन्दावन विलास/प्र ५/प्रेमी जी)।

वृंदावन विलास—कवि वृन्दावन (ई १७९१-१८४८) रचित एक भाषा पदसंग्रह।

वृंदावली—आवलीके समय/३।

वृकार्थक—भरतक्षेत्र मध्य आर्यखण्डका एक देश—दे. मनुष्य/४।

वृक्ष—जैनाम्नायमें कल्पवृक्ष व चैत्य वृक्षोंका प्रायः कथन आता है। भोगभूमिमें मनुष्योंकी सम्पूर्ण आवश्यकताओंको चिन्ता मात्रसे पूरी करने वाले कल्पवृक्ष है और प्रतिमाओंके आश्रयभूत चैत्यवृक्ष है। यद्यपि वृक्ष कहलाते है, परन्तु ये सभी पृथिवीकायिक होते है, वनस्पति कायिक नहीं।

१. कल्पवृक्ष निर्देश

१. कल्पवृक्षका सामान्य लक्षण

ति प./४/३४१ गामणयरादि सव्वं ण होदि ते होंति सव्वकप्पतरू। णियणियमणसंकप्पियवत्थूणि देंति जुगलाणं।३४१। =इस (भोगभूमिके) समय वहाँपर गाँव व नगरादिक सब नहीं होते, केवल वे सब कल्पवृक्ष होते है, जो जुगलोंको अपने-अपने मनकी कल्पित वस्तुओंको दिया करते है।

२. १० कल्पवृक्षोंके नाम निर्देश

ति प /४/३४२ पाणंगतूरियंगा भूसणवत्थंगभोयणगा य। आलयदीवियभायणमालातेजंग आदि कप्पतरू।३४२। =भोगभूमिमें पानाग, तूर्यांग, भूषणाग, वस्त्राग, भोजनाग, आलयाग, दीपाग, भाजनाग, मालाग और तेजाग आदि कल्पवृक्ष होते है।३४२। (म. पु /९/३५), (त्रि. सा./७८७)।

३. १० कल्पवृक्षोंके लक्षण

ति. प./४/३४३-३५३ पाणं मधुरसुसाद छरसेहि जुदं पसत्थमइसीदं। बत्तीसभेदजुत्तं पाणगा देंति तुट्ठिपुट्ठियरं।३४३। तूरगा

२. वृत्ति परिसंख्यान तपका प्रयोजन

स. सि./९/१९/४३८/८ वृत्तिपरिसंख्यानमाशानिवृत्त्यर्थमवगन्तव्यम्। =वृत्तिपरिसंख्यान तप आशाकी निवृत्तिके अर्थ किया जाता है। (रा. वा./९/१९/४/६१८/२५); (चा. सा./१३५/२)

ध १३/५,४,२६/५७/६ एसो केसिं कायव्वो। भगवदोविमेसेण भव्वजणमुवसमेदूण सगरस-रुहिर-माससोसणदुवारेण इंदियसजममिच्छंतेहि साहूहि कायव्वो भायण-भोयणादिविसगरागादिपरिहरणचित्तेहि वा। =प्रश्न—यह किसको करना चाहिए? उत्तर—जो अपने तप विशेषके द्वारा भव्यजनोको शान्त करके अपने रस, रुधिर और मासके शोषण द्वारा इन्द्रिय सयमकी इच्छा करते है, उन साधुओको करना चाहिए, अथवा जो भाजन और भोजनादि विषय रागादिको दूर करना चाहते है, उन्हे करना चाहिए (चा सा./१३५/१)

भ. आ./वि./६/३२/१८ आहारसंज्ञाया जयो वृत्तिपरिसंख्यान। =आहार संज्ञाका जय करना वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप है।

३. वृत्तिपरिसंख्यान नित्य करनेका नियम नहीं

भ. आ मू./वि/१४७/४६९ अणुपुव्वेणाहारं सवट्टंतो य सल्लिहइ देहं। दिवसुग्गहिएण तवेण चावि सल्लेहण कुणइ।२४७। दिवसुग्गहिगेण तवेण चावि एकैकदिनं प्रतिगृहीतेन तपसा च, एकस्मिन्दिनेऽनशनं, एकस्मिन्दिने वृत्तिपरिसंख्यान इति। =क्रमसे आहार कमी करते-करते क्षपक अपना देह कृश करता है। प्रतिदिन जिसका नियम किया है ऐसे तपश्चरणसे अर्थात् एक दिन अनशन, दूसरे दिन वृत्तिपरिसंख्यान इस क्रमसे क्षपक सल्लेखना करता है, अपना देह कृश करता है।

४. वृत्तिपरिसंख्यान तपके अतिचार

भ आ/वि/४८७/७०७/८ वृत्तिपरिसंख्यानस्यातिचारा'। गृहसप्तकमेव प्रविशामि, एकमेव पाटक दरिद्रगृहमेक। एवंभूतेन दायकेन दायिकया वा दत्त गृहीष्यामीति वा कृतसकल्प। गृहसप्तकादिकादधिकप्रवेश', पाटान्तरप्रवेशश्च। परं भोजयामीत्यादिकं'। ="मै सात घरोमें ही प्रवेश करूँगा, अथवा एक दरवाजेमे प्रवेश करूँगा, किंवा दरिद्रीके घरमे ही आज प्रवेश करूँगा, इस प्रकारके दातासे अथवा इस प्रकारकी स्त्रीसे यदि दान मिलेगा तो लेंगे"—ऐसा सकल्प कर सात घरोसे अधिक घरोमें प्रवेश करना, दूसरोको मै भोजन कराऊँगा इस हेतुसे भिन्न फाटकमे प्रवेश करना, ये वृत्तिपरिसंख्यानके अतिचार है।

वृत्तिमत्त्व—वृत्तिता सम्बन्धसे पदार्थमें अन्वयवाला। जेसे—'भूतले घटोऽस्ति' यहाँ विवक्षित भूमिपर घटका वृत्तिमत्त्व है।

वृत्तिमान—वृत्तिवाला या वृत्तिसहित। जैसे द्रव्य अपने गुणोकी वृत्तिसहित होनेके कारण वृत्तिमान है।

वृत्तिविलास—कन्नड भाषाके 'धर्म परीक्षा' ग्रन्थके कर्ता एक जेन कवि। समय—वि. श. १२। (समाधितत्र/प्र. ९/प जुगल किशोर)

वृद्ध—

भ आ/मू/१०७०/१०९६ थेरा वा तरुणा वा वुड्ढा सीलेहि होंति वुड्ढीहि। थेरा वा तरुणा वा तरुणा सीलेहि तरुणेहिं।१०७०। =मनुष्य वृद्ध हो अथवा तरुण यदि उसके क्षमा आदि शील गुण वृद्धिगत है तो वह वृद्ध है और यदि ये गुण वृद्धिगत नही है तो वह तरुण है। (केवल वय अधिक होनेसे वृद्ध नही होता।)

ज्ञा./१५/४,५,१० स्वतत्त्वनिकषोद्भूत विवेकालोकवर्द्धितम्। येषां बोधमयं चक्षुस्ते वृद्धा विदुषां मता।४। तपःश्रुतधृतिध्यानविवेकयमसयमै। ये वृद्धास्तेऽत्र शस्यन्ते न पुन पलिताङ्कुरै।५। हीनाचरणसंभ्रान्तो वृद्धोऽपि तरुणायते। तरुणोऽपि सता धत्ते श्रिय सत्सगवासित.।१०। =जिनके आत्मतत्त्वरूप कसौटीसे उत्पन्न भेदज्ञानरूप आलोकसे बढाया हुआ ज्ञानरूपी नेत्र है उनको विद्वानोने वृद्ध कहा है।४। जो मुनि तप, शास्त्राध्ययन, धैर्य, विवेक (भेदज्ञान), यम तथा संयमादिकसे वृद्ध अर्थात् बढे हुए है वे ही वृद्ध होते है। केवल अवस्था मात्र अधिक होनेसे या केश सफेद होनेसे ही कोई वृद्ध नही होता।५। जो वृद्ध होकर भी हीनाचरणोसे व्याकुल हो भ्रमता फिरे वह तरुण है और सत्सगतिसे रहता है वह तरुण होनेपर भी सत्पुरुषोकी-सी प्रतिष्ठा पाता है।१०।

वृद्धि—

रा वा./४/४२/४/२५०/१८ अनुवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावान्तरेण आधिक्यं वृद्धि। =पूर्व स्वभावको कायम रखते हुए भावान्तररूपसे अधिकता हो जाना वृद्धि है। २ चय अर्थात् Common difference,

२. अन्य सम्बन्धित विषय

१. षट् वृद्धियोंके लिए नियत सहनानियाँ। —दे० गणित/I/३/४।

२. षट् गुणहानि-वृद्धि। —दे० गणित/II/५।

वृष—स्व स्तो./५/१३ वृषो धर्म.। =वृष अर्थात् धर्म।

वृषभ—द्र. स./टी/१/६/१ वृषभो प्रधान। =१. वृषभ अर्थात् प्रधान।

स्व. स्तो./५/१३ वृषो धर्मस्तेन भाति शोभते स [वा भाति प्रगटीभवति यस्मादसौ वृषभ। =वृष नाम धर्मका है। उसके द्वारा शोभाको प्राप्त होता है या प्रगट होता है इसलिए वह वृषभ कहलाता है—अर्थात् आदिनाथ भगवान्।

ति प./४/२१५ सिंगमुहकण्णजिहालोयणभूआदिएहि गोसरिसो। वसहो त्ति तेण भण्णइ रयणामरजीहिया तत्थ।२१५। =(गंगा नदीका) वह कूटमुख सींग, मुख, कान, जिह्वा, लोचन और भ्रकुटी आदिकसे गौके सदृश है, इसलिए उस रत्नमयी जिहिका (जृम्भिका) को वृषभ कहते है। (ह. पु./५/१४०-१४१); (त्रि. सा./५८५); (ज प/३/१५१)।

वृषभ गिरि—ति. प/४/२६८-२६९ सेसा वि पच खंडा णामेणं होंति म्लेच्छखड त्ति। उत्तरतियखडेसु मज्झिमखंडस्स बहुमज्झे।२६८। चक्कीण माणमलणो णाणाचक्कहरणामसंछण्णो। मूलोवरिममज्झेसुं रयणमओ होदि वसहगिरि।२६९। =(भरत क्षेत्रके आर्यखण्डको छोडकर) शेष पाँचो ही खण्ड म्लेच्छखण्ड नामसे प्रसिद्ध है। उत्तर भारतके तीन खण्डोमें-से मध्यखण्डके बहुमध्य भागमें चक्रवर्तियोके मानका मर्दन करनेवाला, नाना चक्रवर्तियोके नामोसे व्याप्त और मूलमें ऊपर एव मध्यमें रत्नोसे निर्मित ऐसा वृषभ गिरि है।२६८-२६९। (त्रि. सा/७१०)। इसी प्रकार ऐरावत क्षेत्रमें जानना। —दे० लोक/७।

वृषभसेन—म. पु/सर्ग/श्लो पूर्वभव न ७ में पूर्वविदेहमे प्रीतिवर्धन राजाका सेनापति। (८/२११); पूर्वभव न. ६ में उत्तरकुरुमें मनुष्य। (८/२१२)। पूर्वभव नं. ५ में ऐशान स्वर्गमे प्रभाकर नामका देव। (८/२१४), पूर्वभव न. ४ मे अकम्पनसेनिक। (८/२१६)। पूर्वभव न. ३ मे अधोग्रैवेयकमे अहमिन्द्र। (९/९०,९२); पूर्वभव न. २ मे राजा वज्रसेनका पुत्र 'पीठ'। (११/१३)। पूर्वभव न. १ में सर्वार्थसिद्धिमें अहमिन्द्र। (११/१६०)। वर्तमान भवमें ऋषभदेवका पुत्र भरतका छोटा भाई। (१६/२)। [युगपत सर्व भव—४७/३६७-३६९]। पुरिमताल नगरका राजा था। भगवान् ऋषभदेवके प्रथम गणधर हुए। (२४/१७१)। अन्तमें मोक्ष सिधारे। (४७/३६९)।

बृहत् कथा—बृहत् कथाकोष, बृहत् कथा मञ्जरी, बृहत् कथा सरित् सागर—दे० कथा कोष।

५	**गति आदिकी अपेक्षा वेद मार्गणाका स्वामित्व**
*	नरकवेदीमें गुणस्थान मार्गणास्थान आदि रूप २० प्ररूपणाएँ। —दे० सत्।
*	वेद मार्गणाके स्वामी सम्बन्धी सत्, संख्या क्षेत्र-काल भाव व अल्पबहुत्व रूप ८ प्ररूपणाएँ। —दे० वह-वह नाम।
१	नरकमें केवल नपुंसकवेद होता है।
२	भोगभूमिज तिर्यंच मनुष्योंमें तथा सभी देवोंमें दो ही वेद होते हैं।
३	कर्मभूमिज विकलेंद्रिय व सम्मूर्च्छिम तिर्यंचोंमें केवल नपुंसकवेद होता है।
४	कर्मभूमिज संज्ञी तिर्यंच व मनुष्य तीनों वेदवाले होते हैं।
५	एकेन्द्रियोंमें वेदभावकी सिद्धि।
६	चींटी आदि नपुंसकवेदी ही कैसे।
७	विग्रहगतिमें अव्यक्त वेद होता है।
६	**वेदमार्गणामें सम्यक्त्व व गुणस्थान**
१	सम्यक्त्व व गुणस्थान स्वामित्व निर्देश।
२	अप्रशस्त वेदोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि अत्यन्त अल्प होते हैं।
*	सम्यग्दृष्टि हुण्डावसर्पिणीमें स्त्रियोंमें भी उत्पन्न होते हैं। —दे० जन्म/३।
*	मनुष्यणीमें १४ गुणस्थान कैसे। —दे० वेद/७/६।
*	ऊपरके गुणस्थानोंमें वेदका उदय कैसे।—दे० संज्ञा।
३	अप्रशस्त वेदके साथ आहारक आदि ऋद्धियोंका निषेध।
७	**स्त्री प्रव्रज्या व मुक्ति निषेध**
१	स्त्रीको तद्भवसे मोक्ष नहीं।
२	फिर भी भवान्तरमें मुक्तिकी अभिलाषासे जिन-दीक्षा लेती है।
३	तद्भव मुक्तिनिषेधमें हेतु उसका चंचल व प्रमाद-बहुल स्वभाव।
४	तद्भव मुक्तिनिषेधमें हेतु सचेलता।
*	स्त्रीको भी कदाचित् नग्न रहनेकी आज्ञा। —दे० लिंग/१/४।
५	आर्यिकाको महाव्रती कैसे कहते हो।
६	फिर मनुष्यणीको १४ गुणस्थान कैसे कहे गये।
७	स्त्रीके सवस्त्रलिंगमें हेतु।
८	मुक्तिनिषेधमें हेतु उत्तम संहननादिका अभाव।
*	मुक्ति निषेधमें हेतु शुक्लध्यानका अभाव। —दे० शुक्लध्यान/३।
९	स्त्रीको तीर्थंकर कहना युक्त नहीं।

१. भेद, लक्षण व तद्गत शंका-समाधान

१. वेद सामान्यका लक्षण—लिंगके अर्थमें।

स. सि./२/५२/२००/४ वेद्यत इति वेदः लिङ्गमित्यर्थः। =जो वेदा जाता है उसे वेद कहते हैं। उसका दूसरा नाम लिंग है। (रा. वा./२/५२/१/१५७/२); (ध. १/१,१,४/१४०/५)।

प. सं./प्रा./१/१०१ वेदस्सुदीरणाए बालत्तं पुण णियच्छदे बहुसो। इत्थी पुरिस णउंसय वेयंति तदो हवदि वेदो।१०१। =वेदकर्मकी उदीरणा होनेपर यह जीव नाना प्रकारके बालभाव अर्थात् चांचल्यको प्राप्त होता है; और स्त्रीभाव, पुरुषभाव एवं नपुंसकभावका वेदन करता है। अतएव वेद कर्मके उदयसे होनेवाले भावको वेद कहते हैं। (ध. १/१,१,४/गा. ८६/१४१), (गो. जी./मू./२७२/५९३)।

ध. १/१,१,४/पृष्ठ/पंक्ति—वेद्यत इति वेदः। (१४०/५)। अथवात्मप्रवृत्तेः समोहोत्पादो वेदः। (१४०/७)। अथवात्मप्रवृत्तेर्मैथुनसमोहोत्पादो वेदः। (१४१/१)।

ध. १/१,१,१०१/३४१/१ वेदनं वेदः।=१. जो वेदा जाय अनुभव किया जाय उसे वेद कहते हैं। २. अथवा आत्माकी चैतन्यरूप पर्यायमें सम्मोह अर्थात् रागद्वेष रूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको मोह कहते हैं। यहाँपर मोह शब्द वेदका पर्यायवाची है। (ध. ७/२,१,३/७); (गो. जी./जी. प्र./२७२/५९४/३)। ३. अथवा आत्माकी चैतन्यरूप पर्यायमें मैथुनरूप चित्तविक्षेपके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं। ४. अथवा वेदन करनेको वेद कहते हैं।

ध. ५/१,७,४२/२२२/८ मोहणीयदव्वकम्मक्खंधो तज्जणिदजीवपरिणामो वा वेदो। =मोहनीयके द्रव्यकर्म स्कन्धको अथवा मोहनीय कर्मसे उत्पन्न होनेवाले जीवके परिणामको वेद कहते हैं।

२. शास्त्रके अर्थमें

ध. १३/५,५,५०/२८६/८ अशेषपदार्थान् वेत्ति वेदिष्यति अवेदीदिति वेदः सिद्धान्तः। एतेन सूत्रकण्ठग्रन्थकथाया वितथरूपाया वेदत्वमपास्तम्। =अशेष पदार्थोंको जो वेदता है, वेदेगा और वेद चुका है, वह वेद अर्थात् सिद्धान्त है। इससे सूत्रकण्ठो अर्थात् ब्राह्मणोंकी ग्रन्थकथा वेद है, इसका निराकरण किया गया है। (श्रुतज्ञान ही वास्तवमें वेद है।)

२. वेदके भेद

ष. खं./१/१,१/सूत्र १०१/३४० वेदाणुवादेण अत्थि इत्थिवेदा पुरिसवेदा णवुंसयवेदा अवगदवेदा चेदि।१०१। =वेदमार्गणाके अनुवादसे स्त्री-वेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद और अपगतवेदवाले जीव होते हैं।१०१।

पं. सं./प्रा./१/१०४ इत्थि पुरिस णउंसय वेया खलु दव्वभावदो होंति। =स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक ये तीनों ही वेद निश्चयसे द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो प्रकारके होते हैं।

स. सि./२/६/१५९/५ लिङ्गं त्रिभेदं, स्त्रीवेदः पुंवेदो नपुंसकवेद इति। =लिंग तीन प्रकारका है—स्त्री वेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। (रा. वा./२/६/११/६०४/५), (द्र. सं./टी./१३/३७/१०)।

स. सि./२/५२/२००/४ तद् द्विविधं-द्रव्यलिङ्गं भावलिङ्गं चेति।= इसके दो भेद हैं—द्रव्यलिंग और भावलिंग। (स. सि./९/४७/४६२/३); (रा. वा./२/६/३/१०९/१), (रा. वा./९/४७/४/६३८/१०), (पं. ध./उ./१०७९)।

३. द्रव्य व भाव वेदके लक्षण

स. सि./२/५२/२००/५ द्रव्यलिङ्गं योनिमेहनादिनामकर्मोदयनिर्वर्तितम्। नोकषायोदयापादितवृत्ति भावलिङ्गम्। =जो योनि मेहन आदि नाम कर्मके उदयसे रचा जाता है वह द्रव्यलिंग है और जिसकी

स्थिति नोकषायके उदयसे प्राप्त होती है वह भावलिंग है। (गो. जी./मू./२७१/५९१); (पं. ध./उ./१०८०-१०८२)।

रा. वा./२/६/३/१०९/२ द्रव्यलिङ्गं नामकर्मोदयापादितं···भावलिङ्गमात्मपरिणामः स्त्रीपुंनपुंसकान्योन्याभिलाषलक्षणः। स पुनश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्योदयाद्भवति। =नामकर्मके उदयसे होनेवाला द्रव्यलिंग है और भावलिंग आत्मपरिणामरूप है। वह स्त्री पुरुष व नपुंसक इन तीनोंमें परस्पर एक दूसरेकी अभिलाषा लक्षण वाला होता है और वह चारित्रमोहके विकल्परूप स्त्री पुरुष व नपुंसकवेद नामके नोकषायके उदयसे होता है।

४. अपगतवेदका लक्षण

प. सं./प्रा./१/१०८ करिसतणेट्टावग्गीसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का। अवगयवेदा जीवा सयसंभवणंतवरसोक्खा ।१०८। = जो कारीष अर्थात् कण्डेकी अग्नि तृणकी अग्नि और इष्टपाककी अग्निके समान क्रमशः स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेदरूप परिणामोंके वेदनसे उन्मुक्त है और अपनी आत्मामें उत्पन्न हुए श्रेष्ठ अनन्त सुखके धारक या भोक्ता है, वे जीव अपगत वेदी कहलाते हैं। (ध. १/१,१, १०१/गा. १७३/३४३); (गो. जी./मू./२७६/५९७)।

ध. १/१,१,१०१/३४२/३ अपगतास्त्रयोऽपि वेदसंतापा येषां तेऽपगतवेदाः। प्रक्षीणान्तर्दाह इति यावत्। =जिनके तीनों प्रकारके वेदोंसे उत्पन्न होनेवाला सन्ताप या अन्तर्दाह दूर हो गया है वे वेदरहित जीव हैं।

५. वेदके लक्षणों सम्बन्धी शंकाएँ

ध. १/१,१,४/१४०/५ वेद्यत इति वेदः। अष्टकर्मोदयस्य वेदव्यपदेशः प्राप्नोति वेद्यत्वं प्रत्यविशेषादिति चेन्न, 'सामान्यचोदनाश्च विशेषेष्ववतिष्ठन्ते' इति विशेषावगतेः 'रूढितन्त्रा व्युत्पत्तिः' इति वा। अथवात्मप्रवृत्तेः संमोहोत्पादो वेदः। अत्रापि मोहोदयस्य सकलस्य वेदव्यपदेशः स्यादिति चेन्न, अत्रापि रूढिवशाद्वेदनाम्नः कर्मणामुदयस्यैव वेदव्यपदेशात्। अथवात्मप्रवृत्तेर्मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः। =जो वेदा जाय उसे वेद कहते हैं। प्रश्न—वेदका इस प्रकारका लक्षण करनेपर आठ कर्मोंके उदयको भी वेद संज्ञा प्राप्त हो जायेगी, क्योंकि, वेदनकी अपेक्षा वेद और आठ कर्म दोनों ही समान हैं? उत्तर—ऐसा नहीं है, १. क्योंकि, सामान्यरूपसे की गयी कोई भी प्ररूपणा अपने विशेषोंमें पायी जाती है, इसलिए विशेषका ज्ञान हो जाता है। (ध. ७/२,१,३७/७९/३) अथवा २ रौढिक शब्दोंकी व्युत्पत्ति रूढिके अधीन होती है, इसलिए वेद शब्द पुरुषवेदादिमें रूढ होनेके कारण 'वेद्यते' अर्थात् जो वेदा जाय इस व्युत्पत्तिसे वेदका ही ग्रहण होता है, ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंके उदयका नहीं। अथवा आत्म प्रवृत्तिमें सम्मोहके उत्पन्न होनेको वेद कहते हैं। प्रश्न—इस प्रकारके लक्षणके करनेपर भी सम्पूर्ण मोहके उदयको वेद संज्ञा प्राप्त हो जावेगी, क्योंकि, वेदकी तरह शेष मोह भी व्यामोहको उत्पन्न करता है? उत्तर—ऐसी शका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि, रूढिके बलसे वेद नामके कर्मके उदयको ही वेद सज्ञा प्राप्त है।

दे० वेद/२/१ (यद्यपि लोकमें मेहनादि लिंगोंको स्त्री पुरुष आदि पना प्रसिद्ध है, पर यहाँ भाव वेद इष्ट है द्रव्य वेद नहीं)।

२. वेद निर्देश

१. वेदमार्गणामें भाववेद इष्ट है

रा वा/८/९/४/५७४/२२ ननु लोके प्रतीतं योनिमृदुस्तनादिस्त्रीवेदलिङ्गम्, न, तस्य नामकर्मोदयनिमित्तत्वात्, अतः पुंसोऽपि स्त्रीवेदोदयः। कदाचित्स्त्रियोऽपि पुंवेदोदयोऽप्याभ्यन्तरविशेषात्। शरीराकारस्तु नामकर्मनिर्वर्तितः। एतेनेतरौ व्याख्यातौ।

रा. वा./२/६/३/१०९/२ द्रव्यलिङ्गं नामकर्मोदयापादितं तदिह नाधिकृतम् आत्मपरिणामप्रकरणात्। भावलिङ्गमात्मपरिणामः। =प्रश्न—लोकमें योनि व मृदुस्तन आदिको स्त्री वेद या लिंग कहते हैं, आप दूसरी प्रकार लक्षण कैसे करते हैं? उत्तर—नहीं, क्योंकि १. वह नामकर्मोदयसे उत्पन्न होता है, अतः कदाचित् पुरुष परिणामोंकी विशेषतासे द्रव्य पुरुषको स्त्रीवेदका और द्रव्य स्त्रीको पुरुषवेदका उदय देखा जाता है (दे० वेद/४) शरीरके आकार नामकर्मसे निर्मित हैं, इसलिए अन्य प्रकारसे व्याख्या की गयी है। २. यहाँ जीवके औदयिकादि भावोंका प्रकरण है, इसलिए नामकर्मोदयापादित द्रव्य लिंगका यहाँ अधिकार नहीं है। भावलिंग आत्म परिणाम है, इसलिए उसका ही यहाँ अधिकार है।

ध. १/१,१,१०४/३४५/१ न द्रव्यवेदस्याभावेन तदभावः। अधिकृतोऽत्र भाववेदस्ततस्तदभावादपगतवेदो नान्यथेति। =यद्यपि इन गुणस्थानों आगे द्रव्यवेदका सद्भाव पाया जाता है, परन्तु केवल द्रव्यवेदसे ही विकार उत्पन्न नहीं होता है। यहाँ पर तो भाववेदका अधिकार है। इसलिए भाववेदके अभावसे ही उन जीवोंको अपगतवेद जानना चाहिए, द्रव्यवेदके अभावसे नहीं।—(विशेष दे. शीर्षक नं. ३)।

ध. २/१,१/५१३/८ इत्थिवेदो अवगदवेदो वि अत्थि, एत्थ भाववेदेण पयदं ण दव्ववेदेण। किं कारणं। अवगदवेदो वि अत्थि त्ति वयणादो। =मनुष्य स्त्रियोंके (मनुष्यिनीके) स्त्रीवेद और अपगत वेद स्थान भी होता है। यहाँ भाववेदसे प्रयोजन है, द्रव्य वेदसे नहीं। इसका कारण यह है कि यदि यहाँ द्रव्यवेदसे प्रयोजन होता तो अपगत वेदरूप स्थान नहीं बन सकता था, क्योंकि, द्रव्यवेद चौदहवें गुणस्थानके अन्ततक होता है। परन्तु 'अपगत वेद भी होता है' इस प्रकार वचन निर्देश नौवें गुणस्थानके अवेद भागसे किया गया है (दे. ष. खं. १/१,१/सूत्र १०४/३४४)। जिससे प्रतीत होता है कि यहाँ भाववेदसे प्रयोजन है द्रव्यसे नहीं।

ध ११/४,२,६,१२/११४/६ देवणेरइयाणं उक्कस्साउअबंधस्स तीहि वेदेहि विरोहो णत्थि त्ति जाणावणट्ठं इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णवुंसयवेदस्स वा त्ति भणिदं। एत्थ भाववेदस्स गहणमण्णहा दव्वित्थिवेदेण वि णेरइयाणमुक्कस्साउअस्स बंधप्पसंगादो। ण च तेण सह तस्स बंधो, आ पंचमीत्ति सीहा इत्थीओ जंति छट्ठिपुढवि त्ति एदेण सुत्तेण सह विरोहादो। ण च देवाणं उक्कस्साउअं दव्वित्थिवेदेण सह बज्झइ, णियमा णिग्गंथलिंगेणे त्ति सुत्तेण सह विरोहादो। ण च दव्वित्थीणं णिग्गंथत्तमत्थि। =देवों और नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुके बन्धका तीनों वेदोंके साथ विरोध नहीं है, यह जतलानेके लिए 'इत्थिवेदस्स वा पुरिसवेदस्स वा णवुंसयवेदस्स वा' ऐसा उपरोक्त सूत्र नं. १२ में कहा है। यहाँ भाववेदका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि १. द्रव्यवेदका ग्रहण करनेपर द्रव्य स्त्रीवेदके साथ भी नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुके बन्धका प्रसंग आता है। परन्तु उसके साथ नारकियोंकी उत्कृष्ट आयुका बन्ध होता नहीं है, क्योंकि, पाँचवीं पृथिवी तक सिंह और छठी पृथिवी तक स्त्रियाँ जाती हैं इस सूत्रके साथ विरोध आता है। (दे. जन्म/६/४)। देवोंकी भी उत्कृष्ट आयु द्रव्य स्त्रीवेदके साथ नहीं बँधती क्योंकि, अन्यथा 'अच्युत कल्पसे ऊपर नियमतः निर्ग्रन्थ लिंगसे ही उत्पन्न होते हैं इस सूत्रके साथ विरोध आता है। (दे० जन्म/६/३,६) और द्रव्य स्त्रियों (व द्रव्य नपुंसकों) के निर्ग्रन्थता सम्भव नहीं है (दे. वेद/७/४)।

दे. मार्गणा—(सभी मार्गणाओंकी प्ररूपणाओंमें भाव मार्गणाएँ इष्ट हैं द्रव्य मार्गणाएँ नहीं)।

२. वेद जीवका औदयिक भाव है

रा. वा /२/६/३/१०९/२ भावलिङ्गमात्मपरिणाम । स पुनश्चारित्रमोहविकल्पस्य नोकषायस्य स्त्रीवेदपुंवेदनपुंसकवेदस्योदयाद्भवतीत्यौदयिक' । =भावलिंग आत्मपरिणाम रूप है। वह चारित्रमोहके विकल्प रूप जो स्त्री पुरुष व नपुंसकवेद नामके नोकषाय उनके उदयसे उत्पन्न होनेके कारण औदयिक है (पं. ध./उ./१०७५); (और भी. दे. उदय/६/२)।

३. अपगत वेद कैसे सम्भव है

ध. ५/१,७,४२/२२२/३ एत्थ चोदगो भणदि—जोणिमेहणादीहि समण्णिदं सरीर वेदो, ण तस्स विणासो अत्थि, संजदाणं मरणप्पसगा। ण भाववेदविणासो वि अत्थि, सरीरे अविणट्ठे तब्भावस्स विणासविरोहा। तदो णावगदवेदत्त जुज्जदे इदि। एत्थ परिहारो उच्चदे—ण सरीरमित्थिपुरिसवेदो, णामकम्मजणिदस्स सरीरस्स मोहणीयत्तविरोहा। ण माहणीयजणिदमवि सरीर, जीवविवाइणो मोहणीयस्स पोग्गलविवाइत्तविरोहा। ण सरीरभावो वि वेदो, तस्स तदो पुधभूदस्स अणुवलंभा। परिसेसादा मोहणीयदव्वकम्मक्खंधो तज्जणिदजीवपरिणामो वा वेदो। तत्थ तज्जणिदजीवपरिणामस्स वा परिणामेण सह कम्मक्खंधस्स वा अभावेण अवगदवेदो होदि त्ति तेण णेस दोसो त्ति सिद्धं ।=प्रश्न—योनि और लिंग आदिसे संयुक्त शरीर वेद कहलाता है। सो अपगतवेदियोंके इस प्रकारके वेदका विनाश नहीं होता, क्योंकि ऐसा माननेसे अपगतवेदी संयतोंके मरणका प्रसग प्राप्त होता है। इसी प्रकार उनके भाववेदका विनाश भी नहीं है, क्योंकि, शरीरके विनाशके विना उसके धर्मका विनाश माननेमें विरोध आता है। इसलिए अपगतवेदता युक्ति सगत नहीं है? उत्तर—न तो शरीर स्त्री या पुरुषवेद है, क्योंकि नामकर्मजनित शरीरके मोहनीयपनेका विरोध है। न शरीर मोहनीयकर्मसे ही उत्पन्न होता है, क्योंकि, जीवविपाकी मोहनीय कर्मके पुद्गलविपाकी होनेका विरोध है। न शरीरका धर्म ही वेद है, क्योंकि शरीरसे पृथग्भूत वेद पाया नहीं जाता। पारिशेष न्यायसे मोहनीयके द्रव्य कर्मस्कन्धको अथवा मोहनीय कर्मसे उत्पन्न होनेवाले जीवके परिणामको वेद कहते है। उनमें वेद जनित जीवके परिणामका अथवा परिणामके सहित मोहकर्म स्कन्धका अभाव होनेसे जीव अपगत वेदी होता है। इसलिए अपगतवेदता माननेमें उपर्युक्त कोई दोष नहीं आता, यह सिद्ध हुआ।

४. तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है

ध १/१,१,१०२/३४२/१० उभयोर्वेदयोरक्रमेणैकस्मिन् प्राणिनि सत्त्व प्राप्नोतीति चेन्न, विरुद्धयोरक्रमेणैकस्मिन् सत्त्वविरोधात्। =प्रश्न—इस प्रकार तो दोनों वेदोंका एक जीवमें अस्तित्व प्राप्त हो जायेगा। उत्तर—नहीं, क्योंकि, विरुद्ध दो धर्मोंका एक साथ एक जीवमें सद्भाव माननेमें विरोध आता है।—(विशेष दे० वेद/४/३)।

ध. १/१,१,१०७/३४६/७ त्रयाणा वेदाना क्रमेणैव प्रवृत्तिर्नाक्रमेण पर्यायत्वात्। =तीनों वेदोंकी प्रवृत्ति क्रमसे ही होती है, युगपत् नहीं, क्योंकि वेद पर्याय है।

३. तीनों वेदोंके अर्थमें प्रयुक्त शब्दोंका परिचय

१. स्त्री पुरुष व नपुंसकका प्रयोग

दे० वेद/५ (नरक गतिमें, सर्व प्रकारके एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियोंमें तथा सम्मूर्च्छन मनुष्य व पचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें एक नपुंसक वेद ही होता है। भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यचोंमें तथा सर्व प्रकारके देवोंमें स्त्री व पुरुष ये दो वेद होते है। कर्मभूमिज मनुष्य व पचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें स्त्री पुरुष व नपुंसक तीनों वेद होते हैं।)

दे० जन्म/३/३ (सम्यग्दृष्टि जीव सन प्रकारकी स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होते।)

२. तिर्यंच व तिर्यंचनीका प्रयोग

ध १/१,१,२६/२०६/४ तिरश्चीष्वपर्याप्ताद्धाया मिथ्यादृष्टिसासादना एव सन्ति, न शेषास्तत्र तन्निरूपकार्षाभावात्। तत्रासंयतसम्यग्दृष्टीनामुत्पत्तेरभावात्। =तिर्यचनियोंके अपर्याप्तकालमें मिथ्यादृष्टि और सासादन ये दो गुणस्थान ही होते है, शेष तीन गुणस्थान नहीं होते, क्योंकि तिर्यंचनियोंमें असंयत सम्यग्दृष्टिकी उत्पत्ति नहीं होती।

दे० वेद/६ (तिर्यंचिनियोंमें क्षायिक सम्यग्दर्शन नहीं होता।)

दे० वेद/५ (कर्मभूमिज व तिर्यंचनियोंमें तीनों वेद सम्भव हैं। पर भोगभूमिज तिर्यचोंमें स्त्री व पुरुष दो ही वेद सम्भव है।)

३, तिर्यंच व योनिमति तिर्यंचका प्रयोग

दे० तिर्यंच/२/१,२ (तिर्यंच चौथे गुणस्थानमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते है, परन्तु पाँचवें गुणस्थानमें नहीं होते। योनिमति पंचेन्द्रिय तिर्यच चौथे व पाँचवें दोनों ही गुणस्थानोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि नहीं होते।)

दे० वेद/६ (क्योंकि, योनिमति पचेन्द्रिय तिर्यंचोंमें क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरकर उत्पन्न नहीं होते।)

ध० ८/३, ६४/११४/३ जोणिणीसु पुरिसवेदबधो परोदओ। =योनिमती तिर्यंचोंमें पुरुष वेदका बन्ध परोदयसे होता है।

४. मनुष्य व मनुष्यणीका प्रयोग

गो जी /जी प्र /७०४/११४१/२२ क्षायिकसम्यक्त्वं तु असंयतादिचतुर्गुणस्थानमनुष्याणा असंयतदेशसंयतोपचारमहाव्रतमानुषीणा च कर्मभूमिवेदकसम्यग्दृष्टीनामेव। =क्षायिक सम्यग्दर्शन, कर्मभूमिज वेदक सम्यग्दृष्टि असंयतादि चार गुणस्थानवर्ती मनुष्योंको तथा असंयत और देशसंयत और उपचारसे महाव्रतधारी मनुष्यणीको ही होता है।

दे० वेद/५—(कर्मभूमिज मनुष्य और मनुष्यनीमें तीनों वेद सम्भव है। पर भोगभूमिज मनुष्योंमें केवल स्त्री व पुरुष ये दो ही वेद सम्भव है।)

दे० मनुष्य/३/१, २ (पहले व दूसरे गुणस्थानमें मनुष्य व मनुष्यणी दोनों ही पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते है, पर चौथे गुणस्थानमें मनुष्य तो पर्याप्त व अपर्याप्त दोनों होते है और मनुष्यणी केवल पर्याप्त ही होती है।५-९। गुणस्थान तक दोनों पर्याप्त ही होते हैं।

दे० वेद/६/१/गो जी. (योनिमति मनुष्य पाँचवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं जाता।)

दे० आहारक/४/३ (मनुष्यणी अर्थात् द्रव्य पुरुष भाव स्त्रीके आहारक व आहारक मिश्र काय योग नहीं होते हैं, क्योंकि अप्रशस्त वेदोंमें उनकी उत्पत्ति नहीं होती।)

५. उपरोक्त शब्दोंके सैद्धान्तिक अर्थ

[वेद मार्गणामें सर्वत्र स्त्री आदि वेदी कहकर निरूपण किया गया है (शीर्षक न १)। तहाँ सर्वत्र भाव वेद ग्रहण करना चाहिए (दे० वेद/२/१)। गति मार्गणामें तिर्यंच, तिर्यंचनी और योनिमती तिर्यंच इन शब्दोंका तथा मनुष्य व मनुष्यणी व योनिमती मनुष्य इन शब्दोंका प्रयोग उपलब्ध होता है। तहाँ 'तिर्यंच' व 'मनुष्य' तो जैसा कि अगले सन्दर्भमें स्पष्ट बताया गया है भाव पुरुष व नपुंसक लिंगीके लिए प्रयुक्त होते हैं। तिर्यंचिनी व मनुष्यणी शब्द जैसा कि प्रयोगोपरसे स्पष्ट है द्रव्य पुरुष भाव स्त्रीके

लिए प्रयुक्त है। यद्यपि मनुष्यणी शब्दका प्रयोग द्रव्य स्त्री अर्थमें भी किया गया है, पर वह अत्यन्त गौण है, क्योंकि, ऐसे प्रयोग अत्यन्त अल्प है। योनिमती तिर्यंच व योनिमती मनुष्य ये शब्द विशेष विचारणीय है। तहाँ मनुष्यणीके लिए प्रयुक्त किया गया तो स्पष्ट ही द्रव्यस्त्रीको सूचित करता है, परन्तु तिर्यंचोमें प्रयुक्त यह शब्द द्रव्य व भाव दोनो प्रकारकी स्त्रियोके लिए समझा जा सकता, क्योंकि, तहाँ इन दोनोके ही आलापोमें कोई भेद सम्भव नहीं है। कारण कि तिर्यंच पुरुषोकी भाँति तिर्यंच स्त्रियाँ भी पाँचवें गुणस्थानसे ऊपर नहीं जातीं। इसी प्रकार द्रव्य स्त्रीके लिए भी पाँचवे गुणस्थान तक जानेका विधान है।]

क. पा ३/३-२२/§ ४२६/२४१/१२ मणुस्सो त्ति वुत्ते पुरिसणवुसयवेदोदइल्लाण गहण। मणुस्सिणी त्ति वुत्ते इत्थिवेदोदयजीवाण गहणं। =सूत्रमें मनुष्य ऐसा कहनेपर उससे पुरुषवेद और नपुंसकवेदके उदयवाले मनुष्योका ग्रहण होता है। 'मनुष्यिनी' ऐसा कहनेपर उससे स्त्रीवेदके उदयवाले मनुष्य जीवोका ग्रहण होता है। (क. पा. २/२-२२/§३३८/२१२/१)।

४. द्रव्य व भाव वेदोमें परस्पर सम्बन्ध

१. दोनोंके कारणभूत कर्म भिन्न हैं

पं. स /प्रा./१/१०३ उदयादु णोकसायाण भाववेदो य होइ जतूण। जोणी य लिगमाई णामोदय दव्ववेदो दु।१०३। =नोकषायोके उदयसे जीवोके भाववेद होता है। तथा योनि और लिंग आदि द्रव्यवेद नामकर्मके उदयसे होता है।१०३। (त. सा /२/७६), (गो जी/मू /२७१/५९१), (और भी दे० वेद/१/३ तथा वेद/२)।

२. दोनों कहीं समान होते हैं और कहीं असमान

पं सं /प्रा /१/१०२, १०४ तिव्वेद एव सव्वे वि जीवा दिट्ठा हु दव्वभावादो। ते चेव हु विवरीया सभवति जहाकम सव्वे।१०२। इत्थी पुरिस णउंसय वेया खलु दव्वभावदो होति। ते चेव य विवरीया हवति सव्वे जहाकमसो।१०४। =द्रव्य और भावकी अपेक्षा सर्व ही जीव तीनो वेदवाले दिखाई देते है और इसी कारण वे सर्व ही यथाक्रमसे विपरीत वेदवाले भी सम्भव है।१०२। स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुसकवेद निश्चयसे द्रव्य और भावकी अपेक्षा दो प्रकारके होते है और वे सर्व ही विभिन्न नोकषायोंके उदय होनेपर यथाक्रमसे विपरीत वेदवाले भी परिणत होते है।१०४। [अर्थात् कभी द्रव्यसे पुरुष होता हुआ भावसे स्त्री और कभी द्रव्यसे स्त्री होता हुआ भावसे पुरुष भी होता है—दे० वेद/२/१]

गो. जी/ मू/२७१/५९१ पुरिच्छिसढवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंडओ भावे। णामोदयेण दव्वे पाएण समा कहिं विसमा।२७१। =पुरुष स्त्री और नपुसक वेदकर्मके उदयसे जीव पुरुष स्त्री और नपुंसक रूप भाववेदोको प्राप्त होता है और निर्माण नामक नामकर्मके उदयसे द्रव्य वेदोको प्राप्त करता है। तहाँ प्राय करके तो द्रव्य और भाव दोनो वेद समान होते है, परन्तु कहीं-कहीं परिणामोंकी विचित्रताके कारण ये असमान भी हो जाते है।२७१। —(विशेष दे० वेद/२/१)।

३. चारों गतियोकी अपेक्षा दोनोंमें समानता व असमानता

गो जी./जी प्र /२७१/५९२/२ एते द्रव्यभाववेदा प्रायेण प्रचुरवृत्त्या देवनारकेपु भोगभूमिसर्वतिर्यग्मनुष्येषु च समा द्रव्यभावाभ्या समवेदोदयाङ्किता भवन्ति। क्वचित्कर्मभूमि-मनुष्यतिर्यग्गतिद्वये विषमा—विसदृशा अपि भवन्ति। तद्यथा—द्रव्यत पुरुषे भावपुरुष भावस्त्री भावनपुसक। द्रव्यस्त्रिया भावपुरुषः भावस्त्री भावनपुंसकं। द्रव्यनपुंसके भावपुरुष भावस्त्री भावनपुंसकं इति विषमत्व द्रव्यभावयोरनियम' कथितः। कुतः द्रव्यपुरुषस्य क्षपकश्रेण्यारूढानिवृत्तिकरणसवेदभागपर्यन्तं वेदत्रयस्य परमागमे "सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झति।" इति प्रतिपादकत्वेन संभवात्। =ये द्रव्य और भाववेद दोनों प्राय' अर्थात् प्रचुररूपसे देव नारकियोंमें तथा सर्व ही भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंचोमें समान ही होते है, अर्थात् उनके द्रव्य व भाव दोनों ही वेदोंका समान उदय पाया जाता है। परन्तु क्वचित् कर्मभूमिज मनुष्य व तिर्यंच इन दोनों गतियोंमें विषम या विसदृश भी होते है। वह ऐसे कि द्रव्यवेदसे पुरुष होकर भाववेदमे पुरुष, स्त्री व नपुसक तीनो प्रकारका हो सकता है। इसी प्रकार द्रव्यमे स्त्री और भावसे स्त्री, पुरुष व नपुसक तथा द्रव्यसे नपुंसक और भावसे पुरुष स्त्री व नपुंसक। इस प्रकार की विषमता होनेमे तहाँ द्रव्य और भाववेदका कोई नियम नहीं है। क्योकि, आगममें नवें गुणस्थानके सवेदभाग पर्यन्त द्रव्यसे एक पुरुषवेद और भावसे एक पुरुषवेद ही है ऐसा कथन किया है।—दे० वेद/७। (पं. ध./उ /१०९२-१०९६)।

४. भाववेदमें परिवर्तन सम्भव है

ध. १/१,१,१०७/३४६/७ कपायवन्नान्तर्मुहूर्तस्थायिनो वेदो आजन्म आमरणात्तदुदयस्य सत्त्वात्। =[पर्यायरूप होनेके कारण तीनो वेदोकी प्रवृत्ति क्रमसे होती है—(दे० वेद/२/४); परन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि] जैसे विवक्षित कषाय केवल अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहती है, वैसे सभी वेद केवल एक-एक अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही नहीं रहते है, क्योकि, जन्मसे लेकर मरणतक भी किसी एक वेदका उदय पाया जाता है।

ज ४/१,५,६१/३६६/४ वेदतरसकतीए अभावादो। =भोगभूमिमें वेद परिवर्तनका अभाव है।

५. द्रव्य वेदमें परिवर्तन सम्भव नहीं

गो. जी /जी प्र /२७१/५९१/१८ पुवेदोदयेन निर्माणनामकर्मोदययुक्ताङ्गोपाङ्गनोकर्मोदयवशेन श्मश्रुकूर्चशिश्नादिलिङ्गाङ्कितशरीरविशिष्टो जीवो भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यंत द्रव्यपुरुषो भवति। भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्त द्रव्यस्त्री भवति। ·· भवप्रथमसमयमादि कृत्वा तद्भवचरमसमयपर्यन्त द्रव्यनपुसक जीवो भवति। =पुरुषवेदके उदयसे तथा निर्माण नामकर्मके उदयसे युक्त अंगोपांग नामकर्मके उदयके वशसे मंछ दाढी व लिंग आदि चिह्नोसे अंकित शरीर विशिष्ट जीव, भवके प्रथम समयको आदि करके उस भवके अन्तिम समयतक द्रव्य पुरुष होता है। इसी प्रकार भवके प्रथम समयसे लेकर उस भवके अन्तिम समयतक द्रव्य-स्त्री व द्रव्य नपुसक होता है।

५. गति आदिकी अपेक्षा वेद मार्गणाका स्वामित्व

१. नरकमें केवल नपुंसक वेद होता है

प खं /१/१,१/ सू. १०५/३४५ णेरइया चदुसु ट्ठाणेसु सुद्धा णवुंसयवेदा।१०५। =नारकी जीव चारो ही गुणस्थानोमें शुद्ध (केवल) नपुसकवेदी होते है—(और भी दे० वेद/५/३)।

प. ध /उ /१०८९ नारकाणा च सर्वेषा वेदश्चैको नपुसक'। द्रव्यतो भावतश्चापि न स्त्रीवेदो न वा पुमान्।१०८९। =सम्पूर्ण नारकियोके द्रव्य व भाव दोनो प्रकारसे एक नपुसक ही वेद होता है उनके न स्त्री वेद होता है और न पुरुष वेद।१०८९।

२. भोगभूमिज तिर्यंच मनुष्योंमें तथा सभी देवोंमें दो ही वेद होते हैं

ष. खं. १/१,१/सूत्र ११०/३४७ देवा चदुसु ट्ठाणेसु दुवेदा, इत्थिवेदा पुरिसवेदा ।११०। =देव चार गुणस्थानोमें स्त्री और पुरुष इस प्रकार दो वेदवाले होते है।

मू. आ./११२९ देवा य भोगभूमा असंखवासाउगा मणुवतिरिया। ते होंति दोसु वेदेसु णत्थि तेसिं तदियवेदो ।११२९। =चारो प्रकारके देव तथा असंख्यात वर्षकी आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच, इनके दो (स्त्री व पुरुष) ही वेद होते हैं, तीसरा (नपुंसकवेद) नही। (ध १/१,१,११०/३४७/१२)।

त. सू. व. स सि./२/५१/१९९ न देवा ।५१। न तेषु नपुंसकानि सन्ति। =देवोमें नपुंसकवेदी नही होते। (रा वा /२/५१/१५६/२७) (त सा./२/८०)।

गो. जी./मू /९३/२१४.. । सुरभोगभूमा पुरिसिच्छीवेदगा चेव ।९३। = देव तथा भोगभूमिज मनुष्य व तिर्यंच केवल पुरुष व स्त्री वेदी ही होते है।

प. ध /उ /१०८७-१०८८ यथा दिविजनारीणा नारीवेदोऽस्ति नेतर। देवाना चापि सर्वेषा पाक पुंवेद एव हि ।१०८७। भोगभूमौ च नारीणा नारीवेदो न चेतर। पुंवेद' केवल' पुंसा नान्यो वान्योन्यसभव'। ।१०८८। =जेसे सम्पूर्ण देवागनाओके केवलस्त्री वेदका उदय रहता है अन्य वेदका नहीं, वैसे ही सभी देवोके एक पुरुषवेदका ही उदय है अन्यका नहीं ।१०८७। भोगभूमिमें स्त्रियोके स्त्री वेद तथा पुरुषवेद ही होता है, अन्य नही। स्त्रीवेदीके पुरुषवेद और पुरुषवेदीके स्त्रीवेद नही होता है ।१०८८।—और भी दे०/वेद/४/३)।

३. कर्मभूमिज विकलेन्द्रिय व सम्मूर्च्छिम तिर्यंच व मनुष्य केवल नपुंसक वेदी होते है

प. ख १/१,१/सूत्र १०६/३४५ तिरिक्खा सुद्धा णवुंसगवेदा एइंदिय-प्पहुडि जाव चउरिंदिया त्ति ।१०६। —तिर्यंच एकेन्द्रिय जीवोसे लेकर चतुरिन्द्रिय तक शुद्ध (केवल) नपुसकवेदी होते है ।१०६।

मू. आ./११२८ एइंदिय विगलिंदिय णारय सम्मुच्छिमा य खलु सव्वे। वेदो णवुंसगा ते णादव्वा होंति णियमादु ।११२८। =एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, नारकी, सम्मूर्च्छिम असज्ञी व सज्ञी तिर्यंच तथा सम्मूर्च्छिम मनुष्य नियमसे नपुसक लिंगी होते है। (त्रि.सा /३३१)।

त. सू /२/५० नारक संमूर्च्छिनो नपुंसकानि ।५०। =नारक और सम्मूर्च्छिम नपुसक होते है। (त. सा /२/८०), (गो जी /मू /९३/२१४)

ध. १/१,१,११०/३४७/११ तिर्यङ्मनुष्यलब्ध्यपर्याप्ता समूर्च्छिमपञ्चेन्द्रियाश्च नपुसका एव। =लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंच और मनुष्य तथा सम्मूर्च्छन पंचेन्द्रिय जीव नपुसक ही होते है।

प. ध /उ./१०९०-१०९१ तिर्यग्जातौ च सर्वेषा एकाक्षाणा नपुसक-वेदो विकलत्रयाणा क्लीब· स्यात् केवल. किल ।१०९०। पञ्चाक्षासज्ञिना चापि तिरश्चा स्यान्नपुसक। द्रव्यतो भावतश्चापि वेदो नान्य कदाचन ।१०९१। =तिर्यंचजातियोमें भी निश्चय करके द्रव्य और भाव दोनोंकी अपेक्षासे सम्पूर्ण एकेन्द्रियोंके, विकलेन्द्रियोंके और (सम्मूर्च्छिम) असज्ञी पचेन्द्रियोके केवल एक नपुंसक वेद होता है, अन्य वेद कभी नही होता ।१०९०-१०९१।

४. कर्मभूमिज संज्ञी तिर्यंच व मनुष्य तीनों वेदवाले होते है

प ख १/१ १/सूत्र १०७-१०९/३४६ तिरक्खा तिवेदा असण्णिपचिंदिय-प्पहुडि जाव सजदासजदा त्ति ।१०७। मणुस्सा तिवेदा मिच्छाइट्ठिप्पहुडि जाव अणियट्टि त्ति ।१०८। तेण परमगदवेदा चेदि ।१०९। =तिर्यंच असंज्ञी पचेन्द्रियसे लेकर सयतासयत गुणस्थान तक तीनो वेदोसे युक्त होते है ।१०७। मनुष्य मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर अनिवृत्तिकरण गुणस्थान तक तीनो वेदवाले होते है ।१०८। नवमें गुणस्थानके सवेदभागके आगे सभी गुणस्थानवाले जीव वेद रहित होते है ।१०९।

मू आ /११३० पचिंदिया दु सेसा सण्णि असण्णि य तिरिय मणुसा य। ते होंति इत्थिपुरिसा णपुंसगा चावि वेदेहिं ।११३०। =उपरोक्त सर्व विकल्पोसे शेष जो सज्ञी असज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य स्त्री पुरुष व नपुसक तीनों वेदोवाले होते हैं ।११३०।

त. सू /२/५२ शेषास्त्रिवेदा' ।५२। =शेषके सब जीव तीन वेद वाले होते हे। (त. सा./२/८०)।

गो. जी /मू./९३/२१४ णर तिरिये तिण्णि होंति। =नर और तिर्यंचोंमें तीनो वेद होते है।

त्रि सा /१३१ तिवेदा गब्भणरतिरिया। =गर्भज मनुष्य व तिर्यंच तीनो वेदवाले होते है।

पं. ध /उ /१०९२ कर्मभूमौ मनुष्याणा मानुषीणा तथैव च। तिरश्चा वा तिरश्चीना त्रयो वेदास्तथोदयात् ।१०९२। =कर्मभूमिमें मनुष्योके और मनुष्यनियोंके तथा तिर्यंचोके और तिर्यंचिनियोंके अपने-अपने उदयके अनुसार तीनो वेद होते है ।१०९२। [अर्थात् द्रव्य वेदकी अपेक्षा पुरुष व स्त्री वेदी होते हुए भी उनके भाववेदकी अपेक्षा तीनोमेंसे अन्यतम वेद पाया जाता है ।१०९३-१०९५।]

५. एकेन्द्रियोंमें वेदभावकी सिद्धि

ध. १/१,१,१०३/३४३/८ एकेन्द्रियाणं न द्रव्यवेद उपलभ्यते, तदनुपलब्धौ कथ तस्य तत्र सत्त्वमिति चेन्माभूत्तत्र द्रव्यवेद, तस्यात्र प्राधान्याभावात्। अथवा नानुपलब्ध्या तदभाव सिद्ध्येत्, सकलप्रमेयव्याप्युपलम्भबलेन तत्सिद्धि। न स छद्मस्थेष्वस्ति। एकेन्द्रियाणामप्रतिपन्नस्त्रीपुरुषाणा कथं स्त्रीपुरुषविषयाभिलाषे घटत इति चेन्न, अप्रतिपन्नस्त्रीवेदेन भूमिगृहान्तर्वृद्धिमुपगतेन यूना पुरुषेण व्यभिचारात्। =प्रश्न—एकेन्द्रिय जीवोंके द्रव्यवेद नही पाया जाता है, इसलिए द्रव्यवेदकी उपलब्धि नही होनेपर एकेन्द्रिय जीवोंमे नपुंसक वेदका अस्तित्व कैसे बतलाया? उत्तर—एकेन्द्रियोंमें द्रव्यवेद मत होओ, क्योकि, उसकी यहाँपर प्रधानता नहीं है। अथवा द्रव्यवेदकी एकेन्द्रियोमें उपलब्धि नहीं होती है, इसलिए उसका अभाव सिद्ध नहीं होता है। किन्तु सम्पूर्ण प्रमेयोमें व्याप्त होकर रहनेवाले उपलम्भप्रमाण (केवलज्ञानसे) उसकी सिद्धि हो जाती है। परन्तु वह उपलम्भ (केवलज्ञान) छद्मस्थोंमे नहीं पाया जाता है। प्रश्न—जो स्त्रीभाव और पुरुषभावसे सर्वथा अनभिज्ञ है ऐसे एकेन्द्रियोको स्त्री ओर पुरुष विषयक अभिलाषा कैसे बन सकती है? उत्तर—नही, क्योकि, जो पुरुष स्त्रीवेदसे सर्वथा अज्ञात है और भूगृहके भीतर वृद्धिको प्राप्त हुआ है, ऐसे पुरुषके साथ उक्त कथनका व्यभिचार देखा जाता है।

६. चींटी आदि नपुंसक वेदी ही कैसे

ध. १/१,१,१०६/३४६/२ पिपीलिकानामण्डदर्शनान्न ते नपुसका इति चेन्न, अण्डाना गर्भे एवोत्पत्तिरिति नियमाभावात्। =प्रश्न—चींटियोंके अण्डे देखे जाते है, इसलिए वे नपुसकवेदी नहीं हो सकते है? उत्तर—अण्डोकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है। ऐसा कोई नियम नहीं।

७. विग्रह गतिमें भी अव्यक्तवेद होता है

ध १/१,१,१०६/३४६/३ विग्रहगतौ न वेदाभावस्तत्राप्यव्यक्तवेदस्य सत्त्वात्। =विग्रहगतिमें भी वेदका अभाव नहीं है, क्योंकि, वहाँ भी अव्यक्त वेद पाया जाता है।

कुर्णंतम्स कधं वेयणाववएसो। ण, उत्तरकाले फलदाइत्तणणहाणुवव-त्तीदो बंधसमए वि वेदणभावसिद्धीए। =कथंचित् बध्यमान वेदना होती है, क्योंकि, उससे अज्ञानादिरूप फलकी उत्पत्ति देखी जाती है। प्रश्न—चूँकि बाँधा जानेवाला कर्म उस समय फलको करता नहीं है, अत उसकी वेदना संज्ञा कैसे हो सकती है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, इसके बिना वह उत्तरकालमें फलदाता बन नहीं सकता, अतएव बन्धसमयमें भी उसे वेदना सिद्ध है।

* **वेदना नामका आर्तध्यान**—दे० आर्तध्यान।

वेदनाभय—दे० भय।

वेदना समुद्घात—

रा. वा./१/२०/१२/७७/१३ वातिकादिरोगविषादिद्रव्यसंबन्धसंतापापादितवेदनाकृतो वेदनासमुद्घात'। = बात पित्तादि विकार जनित रोग या विषपान आदिकी तीव्रवेदनासे आत्म प्रदेशोका बाहर निकलना वेदना समुद्घात है।

ध. ४/१,३,२/२६/७ तत्थ वेदणसमुग्घादो णाम अक्खि-सिरोवेदणादीहि जीवाणमुक्कस्सेण सरीरतिगुणविप्फुज्जणं। =नेत्र वेदना, शिरोवेदना, आदिके द्वारा जोवोके प्रदेशोका उत्कृष्टत' शरीरसे तिगुणे प्रमाण विसर्पणका नाम वेदनासमुद्घात है। (ध ७/२,६,१/२९९/८); (ध ११/४,२,५,६/१८/७)।

द्र स /टी /१०/२५/३ तीव्रवेदनानुभवान्मूलशरीरमत्यक्त्वा आत्मप्रदेशाना बहिर्निर्गमनमिति वेदनासमुद्घात।=तीव्र पीडाके अनुभवसे मूल शरीर न छोडते हुए जो आत्माके प्रदेशोका शरीरसे बाहर निकलना सो वेदना समुद्घात है।

२. वेदना समुद्घातमें प्रदेशोंका विस्तार

ध. ११/४,२,५,६/१८/७ वेयणावसेण जीवपदेसाणं विक्खंभुस्सेहेहि तिगुणविप्फुज्जणं वेयणासमुग्घादो णाम। ण च एस णियमो सव्वेसि जीवपदेसा वेयणाए तिगुणं चेव विप्फुज्जंति त्ति, किंतु सगविक्खंभादो तरतमसरूवेण द्विदवेयणावसेण एगदोपदेसादीहि वि वड्ढी होदि। = १—वेदनाके वशमे जीव प्रदेशोंके विष्कम्भ और उत्सेधकी अपेक्षा तिगुने प्रमाणमें फैलनेका नाम वेदना समुद्घात है। (ध ७/२,६,१,२९९/८), (ऊपरवाला लक्षण); (गो जी /जी. प्र /५८४/१०२५/८)। २ परन्तु सबके जीवप्रदेश वेदनाके वशसे तिगुणे ही फैलते हों, ऐसा नियम नहीं है। किन्तु तरतम रूपसे स्थित वेदनाके वशसे अपने विष्कम्भकी अपेक्षा एक दो प्रदेशादिकोंसे भी वृद्धि होती है।

३. निगोद जीवको यह सम्भव नहीं

ध. ११/४,२,५,१२/२१/२ णिगोदेसुप्पज्जमाणस्स अइतिव्ववेयणाभावेण सरीरतिगुणवेयणसमुग्घादस्स अभावादो। =निगोद जीवोंमें उत्पन्न होनेवाले जीवके अतिशय तीव वेदनाका अभाव होनेसे विवक्षित शरीरसे तिगुणा वेदना समुद्घात सम्भव नहीं है।

४. जीव प्रदेशोंके खण्डित होनेकी संभावना

स्या म./६/१०२/१६ शरीरसंबद्धात्मप्रदेशेभ्यो हि कतिपयात्मप्रदेशाना खण्डितशरीरप्रदेशेऽवस्थानादात्मन. खण्डनम्। तच्चात्र विद्यत एव। अन्यथा शरीरात् पृथग्भूतावयवस्य कम्पोपलब्धिर्न स्यात्। न च खण्डितावयवानुप्रविष्टस्यात्मप्रदेशस्य पृथगात्मत्वप्रसङ्ग', तत्रैवानुप्रवेशात्। कथ खण्डितावयवयो. सघट्टन पश्चाद् इति चेत्, एकान्तेन छेदानभ्युपगमात्। पद्मनालतन्तुवद् छेदस्यापि स्वीकारात्। =शरीरसे सम्बद्ध आत्म-प्रदेशोमें कुछ आत्मप्रदेशोके खण्डित शरीरमें रहनेकी अपेक्षासे आत्माका खण्डन होता है, अन्यथा तलवार आदिसे कटे हुए शरीरके पृथग्भूत अवयवोंमें कम्पन न देखा जाता। खण्डित अवयवोंमें प्रविष्ट आत्मप्रदेशोमे पृथक् आत्माका प्रसग भी नहीं आता है, क्योंकि, वे फिरसे पहले ही शरीरमें लौट आते है। प्रश्न—आत्माके अवयव खण्डित हो जानेपर पीछे फिर एक कैसे हो जाते है? उत्तर—हम उनका सर्वथा विभाग नही मानते। कमलनालके तन्तुओंकी तरह आत्माके प्रदेशोका छेद स्वीकार करते है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

- * बद्धायुष्क व अबद्धायुष्क सबको होता है। —दे० मरण/५/७।
- * वेदना व मारणान्तिक समुद्घातमें अन्तर।
- * वेदना समुद्घातका स्वामित्व। —दे० क्षेत्र/३।
- * वेदना समुद्घातकी दिशाएँ व काल स्थिति। —दे० समुद्घात।

वेदनीय—बाह्य सामग्रीके संयोग व वियोग द्वारा जीवके बाह्य सुख-दु खको कारण वेदनीयकर्म दो प्रकारका होता है—सुखको कारणभूत सातावेदनीय और दु.खको कारणभूत असाता वेदनीय। क्योंकि बाह्य पदार्थोंमें इष्टानिष्टकी कल्पना मोहके आधीन है, इसलिए इस कर्मका व्यापार भी मोहनीयके सहवर्ती है।

१. वेदनीय कर्मका सामान्य लक्षण

स. सि./८/४/३८०/४ वेदयति वेद्यत इति वा वेदनीयम्।

स सि /८/३/३७९/१ वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुखदु खसंवेदनम्। =जो वेदन कराता है या जिसके द्वारा वेदन किया जाता है वह वेदनीय कर्म है। सत्-असत लक्षणवाले वेदनीयकर्मकी प्रकृति सुख व दु खका संवेदन कराना है। (रा वा /८/३/२/५६८/१+४/५६७/३), (ध. ६/१,९-१,७/१०/७,६), (गो. क /मू./१४/१०); (गो. क./जी. प्र /२०/१३/१४)।

ध ६/१,९-१,७/१०/६ जीवस्स सुह-दुक्खाणुहवणणिबंधणो पोग्गलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चयवसेण कम्मपज्जयपरिणदो जीवसमवेदो वेदणीयमिदि भण्णदे। =जीवके सुख और दु खके अनुभवनका कारण, मिथ्यात्व आदिके प्रत्ययोके वशसे कर्मरूप पर्यायसे परिणत और जीवके साथ समवाय सम्बन्धको प्राप्त पुद्गलस्कन्ध 'वेदनीय' इस नामसे कहा जाता है।

ध. १३/५,५,१९/२०८/७ जीवस्स सुह-दुक्खुप्पायर्य कम्मं वेयणीयं णाम। =जीवके सुख और दु खका उत्पादक कर्म वेदनीय है। (ध. १५/३/-६/६), (द्र. सं /टी./३३/९२/१०)।

२. वेदनीय कर्मके भेद-प्रभेद

ष खं./६/१,९-१/सूत्र १७-१८/३४ वेदणीयस्स कम्मस्स दुवे पयडीओ ।१७। सादावेदणीयं चेव असादावेदणीयं चेव ।१८। =वेदनीय कर्मकी दो प्रकृतियाँ है।१७। सातावेदनीय और असातावेदनीय, ये दो ही वेदनीय कर्मकी प्रकृतियाँ है।१८। (ष खं./१२/४,२,१४/-सूत्र ६-७/४८१), (ष. खं /१३/५०५/सूत्र ८७-८८/३५६), (म. ब /१/§५/२८); (मू आ./१२२६), (त सू /८/८), (प सं./प्रा./२/-४), (त. सा /५/२७), (गो क /जी प्र./२५/१७/७)।

ध. १२/४,२,१४,७/४८१/४ सादावेदणीयमसादावेदणीयमिदि दो चेव सहावा, सुहदुक्खवेयणाहिंतो पुधभूदाए अण्णिस्से वेयणाए अणुवलंभादो। सुहभेदेण दुहभेदेण च अणंतवियप्पेण वेयणीयकम्मस्स अणंताओ सत्तीओ किण्ण पदिदाओ। सच्चमेद जदि पज्जवट्ठियणओ अवलंबिदो किंतु एत्थ दव्वट्ठियणओ अवलंबिदो त्ति वेयणीयस्स ण तत्तियमेत्तसत्तीओ, दुवे चेव। =सातावेदनीय और असातावेदनीय इस प्रकार वेदनीयके दो ही स्वभाव है, क्योंकि, सुख व दुखरूप वेदनाओसे भिन्न अन्य कोई वेदना पायी नही जाती। प्रश्न—अनन्त विकल्प रूप सुखके भेदसे और दुखके

ध. १५/पृष्ठ/पंक्ति—सादस्स जहण्णएण एयसमओ, उक्कस्सेण छम्मासा। असादस्स जहण्णएण एगसमओ, उक्कस्सेण तेत्तीससागरोवमाणि अंतोमुहुत्तब्भहियाणि। कुदो। सत्तमपुढविपवेसादो पुव्वं पच्छा च असादस्स अंतोमुहुत्तमेत्तकालमुदीरणुवलंभादो। (६२/२)। सादस्स जहण्णेण एगसमओ, उक्कस्सेण तेत्तीसं सागरोवमाणि सादिरेयाणि। सादस्स गदियाणुवादेण जहण्णमंतरमंतोमुहुत्तं, उक्कस्सं पि अंतोमुहुत्तं चेव। असादस्स जहण्णमंतरमेगसमओ उक्कस्सं छम्मासा। मणुसगदीए असादस्स उदीरणंतरं जहण्णेण एयसमओ, उक्कस्सेण अंतोमुहुत्तं। (६८/६)। = सातावेदनीयकी उदीरणाका काल जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे छह मास है। असातावेदनीयकी उदीरणाका काल जघन्यसे एक समय और उत्कर्षतः अन्तर्मुहूर्तसे अधिक तेत्तीस सागरोपम प्रमाण है, क्योंकि, सातवीं पृथिवीमें प्रवेश करनेसे पूर्व और पश्चात् अन्तर्मुहूर्त मात्र काल तक असातावेदनीयकी उदीरणा पायी जाती है। सातावेदनीयकी उदीरणामें अन्तरकाल जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे साधिक तेत्तीस सागरोपम प्रमाण है। गतिके अनुवादसे सातावेदनीयकी उदीरणाका अन्तरकाल जघन्य व उत्कृष्ट भी अन्तर्मुहूर्त ही है। असातावेदनीयका जघन्य अन्तर एक समय और उत्कृष्ट छह मास प्रमाण है। मनुष्य गतिमें असाताकी उदीरणाका अन्तर जघन्यसे एक समय और उत्कर्षसे अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

ध. १२/४,२,१३,५५/४००/२ वेयणीयउक्कस्साणुभागबंधस्स ट्ठिदी बारसमुहुत्तमेत्ता। = वेदनीयके उत्कृष्ट अनुभागकी स्थिति बारह मुहूर्त मात्र है।

७. अन्य कर्मोंको वेदनीय नहीं कहा जा सकता

ध. ६/१,९-१,७/१०/७ वेद्यत इति वेदनीयम्। एदीए उप्पत्तीए सव्वकम्माणं वेदणीयत्तं पसज्जदे। ण एस दोसो, रूढिवसेण कुसलसद्दो व्व अप्पिदपोग्गलपुंजे चेव वेदणीयसद्दुप्पउत्तीदो। = प्रश्न—'जो वेदन किया जाय वह वेदनीय कर्म है' इस प्रकारकी व्युत्पत्तिके द्वारा तो सभी कर्मोंके वेदनीयपनेका प्रसंग प्राप्त होता है? उत्तर—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि, रूढिके वशसे कुशल शब्दके समान विवक्षित पुद्गल पुंजमें ही वेदनीय, इस शब्दकी प्रवृत्ति पायी जाती है। (जैसे 'कुशल' शब्दका अर्थ 'कुशको लानेवाला' ऐसा होनेपर भी वह 'चतुर' अर्थमें प्रयोग होता है, इसी प्रकार सभी कर्मोंमें वेदनीयता होते हुए भी वेदनीय संज्ञा एक कर्म विशेषके लिए ही रूढ है।)

ध. १०/४,२,३,३/१६/६ वेदणा णाम सुह-दुक्खाणि, लोगे तहा संववहारदंसणादो। ण च ताणि सुहदुक्खाणि वेयणीयपोग्गलक्खंधं मोत्तूण अण्णकम्मदव्वेहिंतो उप्पज्जंति, फलाभावेण वेयणीयकम्माभावप्पसंगादो। तम्हा सव्वकम्माणं पडिसेहं काऊण पत्तोदयवेयणीयदव्वं चेव वेयणा त्ति उत्तं। अट्ठण्णं कम्माणमुदयगदपोग्गलक्खंधो वेदणा त्ति किमट्ठ एत्थ ण घेप्पदे। ण, एदम्हि अहिप्पाए तदसंभवादो। ण च अण्णम्हि उजुसुदे अण्णस्स उजुसुदस्स संभवो, भिण्णविसयाण णयाणमेयविसयत्तविरोहादो। = वेदनाका अर्थ सुख दुख है क्योंकि, लोकमें वैसा व्यवहार देखा जाता है। और वे सुख दुख वेदनीय रूप पुद्गलस्कन्धके सिवा अन्य कर्म द्रव्योंसे नहीं उत्पन्न होते हैं, क्योंकि, इस प्रकार फलका अभाव होनेसे वेदनीय कर्मके अभावका प्रसंग आता है। इसलिए प्रकृतमें सब कर्मोंका प्रतिषेध करके उदयगत वेदनीय द्रव्यको ही वेदना ऐसा कहा है। प्रश्न—आठ कर्मोंका उदयगत पुद्गलस्कन्ध वेदना है, ऐसा यहाँ क्यों नहीं ग्रहण करते—दे. वेदना। उत्तर—नहीं, क्योंकि, वेदनाको स्वीकार करनेवाले ऋजुसूत्र नयके अभिप्रायमें वैसा मानना सम्भव नहीं है। और अन्य ऋजुसूत्रमें अन्य ऋजुसूत्र सम्भव नहीं है, क्योंकि, भिन्न-भिन्न विषयोंवाले, नयोंका एक विषय माननेमें विरोध आता है।—दे. नय/IV/३/३।

ध. १३/५,५,८८/३५७/४ अण्णाणं पि दुक्खुप्पाययं दिस्सदि त्ति तस्स वि असादावेदणीयत्तं किण्ण पसज्जदे। ण, अणियमेण दुक्खुप्पायस्स असादत्ते संते खग्गमोग्गरादीणं पि असादावेदणीयत्तप्पसंगादो। = प्रश्न—अज्ञान भी तो दुःखका उत्पादक देखा जाता है, इसलिए, उसे भी असाता वेदनीय क्यों न माना जाये? उत्तर—नहीं, क्योंकि, अनियमसे दुःखके उत्पादकको असाता वेदनीय मान लेनेपर तलवार और मुद्गर आदिको भी असाता वेदनीय मानना पड़ेगा।

८. वेदनीयका कार्य बाह्य सामग्री सम्पादन है

ध. ६/१,९-१,१८/३६/पंक्ति—दुक्खुवसमहेउसुदव्वसंपादणे तस्स वावारादो।१। ण च सुहदुक्खहेउदव्वसंपादयमण्णं कम्ममत्थि त्ति अणुवलंभादो।७। = दुःख उपशमनेके कारणभूत सुद्रव्योंके सम्पादनमें सातावेदनीय कर्मका व्यापार होता है। सुख और दुःखके कारणभूत द्रव्योंका सम्पादन करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है।

ध. १३/५,५,८८/३५७/२ दुक्खपडिकारहेदुदव्वसंपादयं कम्मं सादावेदणीयं णाम। दुक्खसमणहेदुदव्वाणमवसारयं च कम्ममसादावेदणीयं णाम। = दुःखके प्रतीकार करनेमें कारणभूत सामग्रीका मिलनेवाला कर्म सातावेदनीय है और दुःख प्रशमन करनेमें कारणभूत द्रव्योंका अपसारक कर्म असातावेदनीय कहा जाता है।

ध. १५/३/६/६ दुक्खुवसमहेउदव्वादिसंपत्ती वा सुहं णाम। तत्थ वेयणीयं णिबद्धं, तदुप्पत्तिकारणत्तादो। = दुःखोपशान्तिके कारणभूत द्रव्यादिकी प्राप्ति होना, इसे सुख कहा जाता है। उनमें वेदनीय कर्म निबद्ध है, क्योंकि वह उनकी उत्पत्तिका कारण है।

पं. ध./पू./५८१ सद्वेद्योदयभावान् गृहधनधान्यं कलत्रपुत्रांश्च। स्वयमिह करोति जीवो भुनक्ति वा स एव जीवश्च।५८१। = सातावेदनीयके उदयसे प्राप्त होनेवाले घर धनधान्य और स्त्री पुत्र वगैरहको जीव स्वयं ही करता है तथा स्वयं ही भोगता है।

दे. प्रकृतिबंध/३/३ (अघाती कर्मोंका कार्य संसारकी निमित्तभूत सामग्रीका प्रस्तुत करना है।)

वर्णव्यवस्था/१/४ (राज्यादि सम्पदाकी प्राप्तिमें साता वेदनीयका व्यापार है)।

९. उपघात नाम कर्म उपरोक्त कार्यमें सहायक है

ध. ६/१,९-१,२८/५९/५ जीवस्स दुक्खुप्पायणे असादावेदणीयस्स वावारो चे, होदु तत्थ तस्स वावारो, किंतु उवघादकम्मं पि तस्स सहकारिकारणं होदि, तदुदयणिमित्तपोग्गलदव्वसंपादणादो। = जीवके दुःख उत्पन्न करनेमें तो असातावेदनीय कर्मका व्यापार होता है। [फिर यहाँ उपघात कर्मको जीव पीड़ाका कारण कैसे बताया जा रहा है]? उत्तर—वहाँ असाता वेदनीयका व्यापार रहा आवे, किन्तु उपघात-कर्म भी उस असातावेदनीयका सहकारी कारण होता है, क्योंकि, उसके उदयके निमित्तसे दुःखकर पुद्गल द्रव्यका सम्पादन होता है।

१०. सातावेदनीय कथंचित् जीवपुद्गल विपाकी है

ध. ६/१,९-१,१८/३६/२ एवं संते सादावेयणीयस्स पोग्गलविवाइत्तं होइ त्ति णासंकणिज्जं, दुक्खुवसमेणुप्पण्णसुवत्थियकणस्स दुक्खाविणाभाविस्स उवयारेणेव लद्धसुहसण्णस्स जीवादो पुधभूदस्स हेदुत्तणेण सुत्ते तस्स जीवविवाइत्तसुहहेदुत्ताणमुवदेसादो। तो वि जीवपोग्गलविवाइत्तं सादावेदणीयस्स पावेदि त्ति चे ण, इट्ठत्तादो। तहोवएसो णत्थि त्ति चेण, जीवस्स अत्थित्तण्णहाणुववत्तीदो तहोवदेसत्थित्तसिद्धीए। ण च सुह-दुक्खहेउदव्वसंपादयमण्णं कम्ममत्थि त्ति अणुवलंभादो। = [सुखके हेतुभूत बाह्य सामग्री सम्पादनमें

सातावेदनीयका व्यापार होता है] इस व्यवस्थाके माननेपर साता-वेदनीय प्रकृतिके पुद्गलविपाकित्व प्राप्त होगा, ऐसी भी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि दु:खके उपशमसे उत्पन्न हुए दु:खके अविनाभावी उपचारसे ही सुख संज्ञाको प्राप्त और जीवसे अपृथग्भूत ऐसे स्वास्थ्यके कणका हेतु होनेसे सूत्रमें सातावेदनीय कर्मके जीव-विपाकित्वका और सुख हेतुत्वका उपदेश दिया गया है। यदि कहा जाय कि उपर्युक्त व्यवस्थानुसार तो सातावेदनीय कर्मके जीव-विपाकीपना और पुद्गलविपाकीपना प्राप्त होता है, सो भी कोई दोष नहीं है, क्योंकि, यह बात हमें इष्ट है। यदि कहा जाये कि उक्त प्रकारका उपदेश प्राप्त नहीं है, सो भी नहीं, क्योंकि, जीवका अस्तित्व अन्यथा बन नहीं सकता है, इसलिए उस प्रकारके उपदेशकी सिद्धि हो जाती है। सुख और दु:खके कारणभूत द्रव्योंका सम्पादन करने-वाला दूसरा कोई कर्म नहीं है, क्योंकि वैसा पाया नहीं जाता।

* वेदनीय कर्म जीव विपाकी है—दे प्रकृति बन्ध/२।

११. अघाती होनेसे केवल वेदनीय वास्तवमें सुखका विपक्षी नहीं है

पं ध/उ/१११४-१११५ कर्माष्टक विपक्षि स्यात् सुखस्यैकगुणस्य च। अस्ति किंचिन्न कर्मैकं तद्विपक्षं ततः पृथक्।१११४। वेदनीयं हि कर्मैकमस्ति चेत्तद्विपक्षि च। न यतोऽस्यास्त्यघातित्वं प्रसिद्धं परमागमात्।१११५। =आत्माके सुख नामक गुणके विपक्षी वास्तवमें आठों ही कर्म हैं, पृथक्से कोई एक कर्म नहीं।१११४। यदि ऐसा कहो कि उसका विपक्षी एक वेदनीय कर्म ही है तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि, परमागममें इस वेदनीय कर्मको अघातियापना प्रसिद्ध है।१११५।—(और भी दे मोक्ष/३/३)

१२. वेदनीयका व्यापार कथंचित् सुख-दु:खमें होता है

प खं १३/५ ३, १५/पृष्ठ ६, ११ वेयणीयं सुहदुक्खम्हि णिबद्धं।३। सादासादाणमप्पाणम्हि णिबधो।१५। =वेदनीय सुख व दु:खमें निबद्ध है।३। सातावेदनीय और असाता वेदनीय आत्मामें निबद्ध है।१५।

प्र सा/त. प्र/७६ विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदय-प्रवृत्ततयानुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया। =विच्छिन्न होता हुआ असाता वेदनीयका उदय जिसे च्युत कर देता है, ऐसे सातावेदनीयके उदयमें प्रवर्तमान होता हुआ अनुभवमें आता है, इसलिए इन्द्रिय सुख विपक्षकी उत्पत्तिवाला है।

दे अनुभाग/३/४ (वेदनीय कर्म कथंचित् घातिया प्रकृति है।)

दे वेदनीय/१/३ (साता सुखका अनुभव कराता है और असातावेदनीय दु:खका।)

१३. मोहनीयके सहवर्ती ही वेदनीय कार्यकारी है अन्यथा नहीं

ध १३/५,४,२४/५३/२ वेदिदं पि असादवेदणीयं ण वेदिदं, सगसहकारि-कारणघादिकम्माभावेण दुक्खजणणसत्तिरोहादो। =असाता वेदनीयसे वेदित होकर भी (केवली भगवान्) वेदित नहीं हैं, क्योंकि अपने सहकारिकारणभूत घाति कर्मोंका अभाव हो जानेसे उसमें दु:खको उत्पन्न करनेकी शक्ति माननेमें विरोध है। —और भी दे० केवली/४/११/१।

दे० अनुभाग/३/३ (घातिया कर्मोंके बिना वेदनीय अपना कार्य करनेको समर्थ नहीं है, इसलिए उसे घातिया नहीं कहा गया है।)

१४. वेदनीयके बाह्य व अन्तरंग व्यापारका समन्वय

ध. १३/५,५,६३/३३४/४ इट्ठत्थसमागमो अणिट्ठत्थवियोगो च सुहं णाम। अणिट्ठत्थसमागमो इट्ठत्थवियोगो च दुक्खं णाम। =इष्ट अर्थके समागम और अनिष्ट अर्थके वियोगका नाम सुख है। तथा अनिष्ट अर्थके समागम और इष्ट अर्थके वियोगका नाम दु:ख है। [और मोहके कारण बिना पदार्थ इष्टानिष्ट होता नहीं है।—दे० राग/२/५।

ध १५/३/६/६ सिरोवेयणादी दुक्खं णाम। तस्स उवसमो तदणुप्पत्ती वा दुक्खुवसमहेउदव्वादि संपत्ती वा सुहं णाम। तत्थ वेयणीयं णिबद्धं, तदुप्पत्तिकारणत्तादो। =सिरकी वेदना आदिका नाम दु:ख है। उक्त वेदनाका उपशान्त हो जाना अथवा उसका उत्पन्न ही न होना, अथवा दुखोपशान्तिके कारण भूत द्रव्यादिककी प्राप्ति होना, इसे सुख कहा जाता है। उसमें वेदनीय कर्म निबद्ध है।

दे० वेदनीय/२/३ (दु:खके उपशमसे प्राप्त और उपचारसे सुख संज्ञाको प्राप्त जीवके स्वास्थ्यका कारण होनेसे ही साता वेदनीयको जीव विपाकी कहा है अन्यथा वह पुद्गल विपाकी है।)

दे० अनुभाग/३/३,४ (मोहनीय कर्मके साथ रहते हुए वेदनीय घातिया वत् है, अन्यथा वह अघातिया है)।

दे० सुख/२ (दु:ख अवश्य असाताके उदयसे होता है, पर स्वाभाविक सुख असाताके उदयसे नहीं होता। साता जनित सुख भी वास्तवमें दु:ख ही है।)

दे० वेदनीय/१/३ (बाह्य सामग्री सन्निधानमें ही सुख-दुख उत्पन्न करती है।)

* अन्य सम्बन्धित विषय—

१. वेदनीय कर्मके उदाहरण। —दे० प्रकृतिबन्ध/३।
२ साता असाताका उदय युगपत् भी सम्भव है। —दे० केवली/४,११,१२,।
३. वेदनीय प्रकृतिमें दसों करण सम्भव हैं। —दे० करण/२।
४. वेदनीयके बन्ध उदय सत्त्व। —दे० वह वह नाम।
५ वेदनीयका कथंचित् घाती-अघातीपना। —दे० अनुभाग,३।
६. तीर्थंकर व केवलीमें साता असाताके उदय आदि सम्बन्धी। —दे० केवली/४।
७ वेदनीयके अभावसे सासारिक सुख नष्ट होता है। स्वाभाविक सुख नहीं। —दे० सुख/२।
८ असाताके उदयमें औषधियां आदि भी सामर्थ्यहीन हो जाती है। —दे० कारण/III/५/४।

वेदान्त—

१. वेदान्त सामान्य

१. सामान्य परिचय

स्या म./परि. च./४३८ १ उत्तर मीमांसा या ब्रह्ममीमांसा ही वेदान्त है। वेदोंके अन्तिम भागमें उपदिष्ट होनेके कारण ही इसका नाम वेदान्त है। यह अद्वैतवादी है। २. इनके साधु ब्राह्मण ही होते हैं। वे चार प्रकारके होते हैं—कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस। ३ इनमेंसे कुटीचर मठमें रहते है, त्रिदण्डी होते है, शिखा व ब्रह्मसूत्र रखते हैं। गृहत्यागी होते है। यजमानोंके अथवा कदाचित् अपने पुत्रके यहाँ भोजन करते है। ४ बहूदक भी कुटीचरके समान हैं, परन्तु ब्राह्मणोके घर नीरस भोजन लेते है। विष्णुका जाप करते है, तथा नदीमें स्नान करते हैं। ५. हंस साधु ब्रह्म सूत्र व शिखा नहीं रखते। कषाय वस्त्र धारण करते हैं, दण्ड रखते है, गाँवमें एक रात और नगरमें तीन रात रहते हैं। धुँआ निकलना बन्द हो जाय तब ब्राह्मणोके घर भोजन करते है। तप करते हैं और देश विदेशमें भ्रमण करते है। ६ आत्मज्ञानी हो जानेपर वही हंस परमहंस कहलाते है। ये चारों वर्णोंके घर भोजन करते हैं। शंकरके वेदान्तकी तुलना Bradley के सिद्धान्तोसे की जा सकती है। इसके अन्तर्गत समय-समयपर अनेक दार्शनिक धाराएँ उत्पन्न रहीं जो अद्वैतका प्रतिकार करती हुई भी किन्हीं-किन्हीं बातोमें दृष्टिभेदको प्राप्त रहीं। उनमें-से कुछके नाम ये हैं—भर्तृ प्रपंच वेदान्त (ई. श ७); शंकर वेदान्त या ब्रह्माद्वैत (ई. श ८); भास्कर वेदान्त, रामानुज वेदान्त या विशिष्टाद्वैत (ई. श ११), माध्ववेदान्त या द्वैतवाद (ई श. १२-१३), वल्लभ वेदान्त या शुद्धाद्वैत (ई श १५), श्रीकण्ठ वेदान्त या अविभागद्वैत (ई. श. १७)।

२. प्रवर्तक साहित्य व समय

स्या मं./परि च/४३८ १ वेदान्तका कथन महाभारत व गीतादि प्राचीन ग्रन्थोंमें मिलता है। तत्पश्चात् औडुलोमि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि, बादरि, आत्रेय और जैमिनी वेदान्त दर्शनके प्रतिपालक हुए। २ वेदान्त साहित्यमें बादरायणका ब्रह्मसूत्र सर्व प्रधान है। जिसका समय ई० ४०० है। ३ तत्पश्चात् बोधायन व उपवर्षने उनपर वृत्ति लिखी है। ४ द्रविडाचार्य टंक व भर्तृ प्रपंच (ई. श. ७) भी टीकाकारोंमें प्रसिद्ध है। ५ गौडपाद (ई० ७८०) उनके शिष्य गोविन्द और उनके शिष्य शंकराचार्य हुए। इनका समय ई० ८०० है। शंकराचार्यने ईशा, केन, कठ आदि १० उपनिषदोंपर तथा भगवद्गीता व वेदान्त सूत्रोंपर टीकाएँ लिखी है। ६ मण्डन और मण्डन मिश्र भी शंकरके समकालीन थे। मण्डनने ब्रह्म सिद्धि आदि अनेक ग्रन्थ रचे। ७ शंकरके शिष्य सुरेश्वर (ई० ८२०) थे। इन्होंने नैष्कर्म्य सिद्धि, बृहदारण्यक उपनिषद् भाष्य आदि ग्रन्थ लिखे। नैष्कर्म्य आदिके चित्सुख आदिने टीकाएँ लिखी। ८ पद्मपाद (ई० ८२०) शंकराचार्यके दूसरे शिष्य थे। इन्होंने पंचपद आदि ग्रन्थोंकी रचना की। ९ वाचस्पति मिश्र (ई० ८४०) ने शंकर भाष्यपर भामती और ब्रह्मसिद्धिपर तत्त्व समीक्षा लिखी। १० सुरेश्वरके शिष्य सर्वज्ञात्म मुनि (ई० ९००) थे, जिन्होंने संक्षेप शारीरिक नामक ग्रन्थ लिखा। ११ इनके अतिरिक्त आनन्दबोध (ई० श० ११-१२) का न्याय मकरन्द और न्याय दीपावली श्री हर्ष (ई० ११५०) का खण्डन खण्ड खाद्य, चित्सुखाचार्य (ई० १२५०) की चित्सुखी, विद्यारण्य (ई० १३५०) की पंचदशी और जीवन्मुक्ति-विवेक, मधुसूदन सरस्वती (ई० श० १६ की) अद्वैत सिद्धि, अप्पय दीक्षित (ई० श० १७) का सिद्धान्त लेश और सदानन्दका वेदान्त सार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

३. जैन व वेदान्तकी तुलना

(जैनमत भी किसी न किसी अपेक्षा वेदान्तके सिद्धान्तोंको स्वीकार करता है, संग्रह व व्यवहारनयके आश्रयपर विचार करनेसे यह रहस्य स्पष्ट हो जाता है। जैसे—पर संग्रह नयकी अपेक्षा एक सत् मात्र ही है इसके अतिरिक्त अन्य किसी चीजकी सत्ता नहीं। इसीका व्यवहार करनेपर वह सत् उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तीन शक्तियोंसे युक्त है, अथवा जीव व अजीव दो भेद रूप है। सत् ही वह एक है, वह सर्व व्यापक, ब्रह्म है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप शक्ति उसकी माया है। जीव व अजीव पुरुष व प्रकृति है। उत्पादादि त्रयसे ही उसमें परिणमन या चचलता होती है। उसीसे सृष्टिकी रचना होती है। इत्यादि (दे० सांख्य) इस प्रकार दोनोंमें समानता है। परन्तु अनेकान्तवादी होनेके कारण जैन तो इनके विपक्षी नयोंको भी स्वीकार करके अद्वैतके साथ द्वैत पक्षका भी ग्रहण कर लेते है। परन्तु वेदान्ती एकान्तवादी होनेके कारण द्वैतका सर्वथा निरास करते है। इस प्रकार दोनोंमें भेद है। वेदान्तवादी संग्रहनयाभासी है। (दे० अनेकान्त/२/६)।

४. द्वैत व अद्वैत दर्शनका समन्वय

प. वि./६/२६ द्वैतं संसृतिरेव निश्चयवशादद्वैतमेवामृत, संक्षेपादुभयत्र जल्पितमिद पर्यन्तकाष्ठागतम्। निर्गत्यादिपदाच्छनैः शबलितादन्यत्समालम्बते, य सोऽसंज्ञ इति स्फुट व्यवहृते ब्रह्मादिनामेति च ।२६। =निश्चयसे द्वैत ही संसार तथा अद्वैत ही मोक्ष है, यह दोनोंके विषयमें संक्षेपसे कथन है, जो चरम सीमाको प्राप्त है। जो भव्य जीव धीरे-धीरे इस प्रथम (द्वैत) पदसे निकलकर दूसरे अद्वैत पदका आश्रय करता है वह यद्यपि निश्चयतः वाच्य वाचक भावका अभाव हो जानेके कारण संज्ञा (नाम) से रहित हो जाता है, फिर भी व्यवहारसे वह ब्रह्मादि (पर ब्रह्म परमात्मा आदि) नामको प्राप्त करता है।

दे. द्रव्य/४ वस्तु स्वरूपमें द्वैत व अद्वैतका विधि निषेध व उसका समन्वय।

दे. उत्पाद/२ (नित्य पक्षका विधि निषेध व उसका समन्वय)।

५. भर्तृप्रपंच वेदांत

स्या. म./परि-च/पृ ४४० भर्तृप्रपच नामक आचार्य द्वारा चलाया गया। इसका अपना कोई ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। भर्तृप्रपच वैश्वानरके उपासक थे। शंकरकी भाँति ब्रह्मके पर अपर दो मत मानते थे।

२. शंकर वेदांत या ब्रह्माद्वैत

१. शंकर वेदांतका तत्त्व विचार

षड्दर्शन समुच्चय/६८/६७), (भारतीय दर्शन) १. सत्ता तीन प्रकार है—पारमार्थिक, प्रातिभासिक व व्यावहारिक। इनमें-से ब्रह्म ही एक पारमार्थिक सत् है। इसके अतिरिक्त घट, पट आदि व्यावहारिक सत् हैं। वास्तवमें ये सब रस्सीमें सर्पकी भाँति प्रातिभासिक हैं। २ ब्रह्म, एक निर्विशेष, सर्वव्यापी, स्वप्रकाश, नित्य, स्वय सिद्ध चेतन तत्त्व है। ३. मायासे अवच्छिन्न होनेके कारण इसके दो रूप हो जाते है—ईश्वर व प्राज्ञ। दोनोंमे समष्टि व व्यष्टि, एक व अनेक, विशुद्ध सत्त्व व मलिन सत्त्व, सर्वज्ञ व अल्पज्ञ, सर्वेश्वर व अनीश्वर, समष्टिका कारण शरीर और व्यष्टिका कारण शरीर आदि रूपसे दो भेद है। ईश्वर, नियन्ता, अव्यक्त, अन्तर्यामी, सृष्टिका रचयिता व जीवोंको उनके कर्मानुसार फलदाता है। ४ सांख्य प्ररूपित बुद्धि व पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे मिलकर एक विज्ञानमय कोश बनता है। इसीमें घिरा हुआ चैतन्य उपचारसे जीव कहलाता है, जो कर्ता, भोक्ता, सुख, दुःख, जन्म मरण आदि सहित है। ५. इस शरीर युक्त चैतन्य (जीव) में ही ज्ञान, इच्छा व क्रिया रूप शक्तियाँ रहती है। वास्तवमें (चैतन्य) ब्रह्म इन सबसे अतीत है। ६. जगत् इस ब्रह्मका विवर्त मात्र है। जो जल-बुद्बुद्वत् उसमें-से अभिव्यक्त होता है और उसीमें लय हो जाता है।

२. माया व सृष्टि

(तत्त्व बोध), (भारतीय दर्शन) १. सत्त्वादि तीन गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम अव्यक्त प्रकृति है। व्यक्त प्रकृतिमें सत्त्व गुण ही प्रधान होनेपर उसके दो रूप हो जाते हैं—माया व अविद्या। विशुद्ध सत्त्व प्रधान माया और मलिन सत्त्व प्रधान अविद्या है। २. मायासे अवच्छिन्न ब्रह्म ईश्वर तथा अविद्यासे अवच्छिन्न जीव कहाता है। ३. माया न सत् है न असत्, बल्कि अनिर्वचनीय है। समष्टि रूपमे एक होती हुई भी व्यष्टि रूपसे अनेक है। मायावच्छिन्न ईश्वर तीनों मात्रसे सृष्टिकी रचना करता है। चेतन्य तो नित्य, सूक्ष्म व अपरिणामी है। जितने भी सूक्ष्म व स्थूल पदार्थ है वे मायाके विकार है। त्रिगुणोंकी साम्यावस्थामें माया कारण शक्तिरूपसे विद्यमान रहती है। पर तमोगुणका प्राधान्य होनेपर उसकी विक्षेप शक्तिके सम्पन्न चेतन्यसे आकाशकी, आकाशसे वायुकी, वायुसे अग्निकी, अग्निसे जलकी, और जलसे पृथिवीकी क्रमशः उत्पत्ति होती है। इन्हें अपचीकृत भूत कहते है। इन्हींसे आगे जाकर सूक्ष्म व स्थूल शरीरोंकी उत्पत्ति होती है। ४. अविद्याकी दो शक्तियाँ है—आवरण व विक्षेप। आवरण द्वारा ज्ञानकी हीनता और विक्षेप द्वारा राग द्वेष होता है।

३. इन्द्रिय व शरीर

(तत्त्व बोध); (भारतीय दर्शन) १ आकाशादि अपचीकृत भूतोंके पृथक्-पृथक् सात्त्विक अशोंसे क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, और घ्राण इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है। २. इन्हीं पाँचके मिलित सात्त्विक अशोंसे बुद्धि, मन, चित्त व अहकारकी उत्पत्ति होती है। ये चारों मिलकर अतःकरण कहलाते हैं। ३. बुद्धि व पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके सम्मेलको ज्ञानमय कोष कहते है। इसमें घिरा हुआ चेतन्य ही जीव कहलाता है। जो जन्म मरणादि करता है। ४. मन व ज्ञानेन्द्रियोंके सम्मेलको मनोमय कोष कहते है। ज्ञानमय कोषकी अपेक्षा यह कुछ स्थूल है। ५ आकाशादिके व्यष्टिगत राजसिक अशोंसे पाँच कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। ६. और इन्हीं पाँचोंके मिलित अशसे प्राणकी उत्पत्ति होती है। वह पाँच प्रकारका होता है—प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान। नासिकामें स्थित वायु प्राण है, गुदाकी ओर जानेवाला अपान है, समस्त शरीरमें व्याप्त व्यान है, कण्ठमें स्थित उदान और भोजनका पाक करके बाहर निकलनेवाला समान है। ७ पाँच कर्मेन्द्रियों व प्राणके सम्मेलसे प्राणमय कोष बनता है। ८. शरीरमें यही तीन कोष काम आते है। ज्ञानमय कोषसे ज्ञान, मनोमय कोषसे इच्छा तथा प्राणमय कोषसे क्रिया होती है। ९. इन तीनों कोषोंके सम्मेलसे सूक्ष्म शरीर बनता है। इसीमें वासनाएँ रहती है। यह स्वप्नावस्था रूप तथा अनुपभोग्य है। १०. समष्टि रूप सूक्ष्म शरीरमें आच्छादित चैतन्य सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ या प्राण कहा जाता है तथा उसीके व्यष्टि रूपसे आच्छादित चैतन्य तैजस कहा जाता है। ११ पचीकृत उपरोक्त पच भूतोंसे स्थूलशरीर बनता है। इसे ही अन्नमय कोष कहते है। यह जागृत स्वरूप तथा उपभोग्य है। वह चार प्रकारका है—जरायुज, अण्डज, स्वेदज, व उद्भिज्ज (वनस्पति)। १२ समष्टि रूप स्थूल शरीरसे आच्छादित चैतन्य वैश्वानर या विराट कहा जाता है। तथा व्यष्टि रूप स्थूल शरीरसे आच्छादित चैतन्य विश्व कहा जाता है।

४. पंचीकृत विचार

(तत्त्व बोध), (भारतीय दर्शन) प्रत्येक भूतका आधा भाग ग्रहण करके उसमें शेष चार भूतोंके १/८-१/८ भाग मिला देनेसे वह पचीकृत भूत कहलाता है। जैसे—१/२ आकाश+१/८ वायु+१/८ तैजस +१/८ जल+१/८ पृथिवी, इन्ही पचीकृत भूतोंसे समष्टि व व्यष्टि रूप स्थूल शरीरोकी उत्पत्ति होती है।

५. मोक्ष विचार

(तत्त्व बोध); (भारतीय दर्शन) अविद्या वश ईश्वर व प्राज्ञ, सूत्रात्मा व तैजस, वैश्वानर व विश्व आदिमें भेदकी प्रतीति होती है। तत्त्वमसि ऐसा गुरुका उपदेश पाकर उन सर्व भेदोंसे परे उस अद्वैत ब्रह्मकी ओर लक्ष्य जाता है। तब पहले 'सोऽहं' और पीछे 'अहं ब्रह्म'की प्रतीति होनेसे अज्ञानका नाश होता है। चित्त वृत्तियाँ नष्ट हो जाती है। चित्प्रतिबिम्ब ब्रह्मसे एकाकार हो जाता है। यही जीव व ब्रह्मका ऐक्य है। यही ब्रह्म साक्षात्कार है। इस अवस्थाकी प्राप्तिके लिए श्रवण, मनन, निदिध्यासन, व अष्टांग योग साधनकी आवश्यकता पड़ती है। यह अवस्था आनन्दमय तथा अवाङ्मनसगोचर है। तत्पश्चात् प्रारब्ध कर्म शेष रहने तक शरीरमें रहना पड़ता है। उस समय तक वह जीवन्मुक्त कहलाता है। अन्तमें शरीर छूट जानेपर पूर्ण मुक्ति हो जाती है।

६. प्रमाण विचार

(भारतीय दर्शन) १. प्रमाण छह है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति व अनुपलब्धि। पिछले चारके लक्षण मीमांसकों वत् है। चित्त वृत्तिका इन्द्रिय द्वारसे बाहर निकलकर विषयाकार हो जाना प्रत्यक्ष है। पर ब्रह्मका प्रत्यक्ष चित्त वृत्तिसे निरपेक्ष है। २. इस प्रत्यक्षके दो भेद है—सविकल्प व निर्विकल्प अथवा जीवसाक्षी व ईश्वर साक्षी अथवा ज्ञप्तिगत व ज्ञेयगत अथवा इन्द्रियज व अतीन्द्रियज। सविकल्प व निर्विकल्प तो नैयायिकों वत् है। अन्तःकरणकी उपाधि सहित चैतन्यका प्रत्यक्ष जीव साक्षी है जो नाना रूप है। इसी प्रकार मायोपहित चैतन्यका प्रत्यक्ष ईश्वर साक्षी है जो एक रूप है। ज्ञप्तिगत स्वप्रकाशक है और ज्ञेयगत ऊपर कहा गया है। पाँचो इन्द्रियोंका ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष और सुख दुखका वेदन अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। ३. व्याप्ति ज्ञानसे उत्पन्न अनुमतिके कारणको अनुमान कहते है। वह केवल अन्वय रूप ही होता है व्यतिरेक रूप नही। नैयायिकोकी भाँति तृतीय लिंग परामर्शका स्वीकार नहीं करते।

३. भास्कर वेदान्त या द्वैताद्वैत

१. सामान्य परिचय

स्या./सं. म./परि-च./४४१ ई. श १० में भट्ट भास्करने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य रचा। इनके यहाँ ज्ञान व क्रिया दोनो मोक्षके कारण हैं। ससारमें जीव अनेक रहते है। परन्तु मुक्त होनेपर सब ब्रह्ममें लय हो जाते है। ब्रह्म व जगत्में कारण कार्य सम्बन्ध है, अतः दोनों ही सत्य है।

२. तत्त्व विचार

(भारतीय दर्शन) १. मूल तत्त्व एक है। उसके दो रूप है—कारण ब्रह्म व कार्य ब्रह्म। २. कारण ब्रह्म एक, अखण्ड, व्यापक, नित्य, चैतन्य है और कार्य ब्रह्म जगत् स्वरूप व अनित्य है। ३. स्वत परिणामी होनेके कारण वह कारण ब्रह्म ही कार्य ब्रह्ममें परिणमित हो जाता है। ४ जीव व जगत्का प्रपञ्च ये दानो उसी ब्रह्मकी शक्तियाँ है। प्रलयावस्थामें जगत्का सर्व प्रपञ्च और मुक्तावस्थामें जीव स्वयं ब्रह्ममें लय हो जाते हैं। जीव उस ब्रह्मकी भोक्तृशक्ति है और आकाशादि उसके भोग्य। ५. जीव अणु रूप व नित्य है। कर्तृत्व उसका स्वभाव नहीं है। ६. जड जगत् भी ब्रह्मका ही परिणाम है। अन्तर केवल इतना है कि जीवमें उसकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष है और उसमें अप्रत्यक्ष।

३. मुक्ति विचार

(भारतीय दर्शन) १. क्रियाके निरन्तर अभ्याससे ज्ञान प्रगट होता है और आजीवन शम, दम आदि योगानुष्ठानोंके करनेसे शरीरका पतन, भेदका नाश, सर्वज्ञत्वकी प्राप्ति और कर्तृत्वका नाश हो जाता है। २. निवृत्ति मार्गके क्रममें इन्द्रियाँ मनमें, बुद्धि आत्मामें और अन्तमें वह आत्मा भी परमात्मामें लय हो जाता है। ३. मुक्ति दो प्रकार की है—सद्योमुक्ति व क्रममुक्ति। सद्योमुक्ति साक्षात् ब्रह्मकी उपासनासे तत्क्षण प्राप्त होती है। और क्रममुक्ति, कार्य ब्रह्म द्वारा सत्कृत्योंके कारण देवयान मार्गसे अनेकों लोकोंमें घूमते हुए हिरण्यगर्भके साथ-साथ होती है। ४. जीवन्मुक्ति कोई चीज नही। बिना शरीर छूटे मुक्ति असम्भव है।

४. रामानुज वेदान्त या विशिष्टाद्वैत

१. सामान्य परिचय

(भारतीय दर्शन) यामुन मुनिके शिष्य रामानुजने ई १०५० में श्री भाष्य व वेदान्तसारकी रचना द्वारा विशिष्टाद्वैतका प्रचार किया है। क्योंकि यहाँ चित् व अचित्को ईश्वरके विशेष रूपसे स्वीकार किया गया है। इसलिए इसे विशिष्टाद्वैत कहते हैं। इसके विचार बहुत प्रकारसे निम्बार्क वेदान्तसे मिलते है। (दे. वेदान्त/V)

२. तत्त्व विचार

भारतीय दर्शन
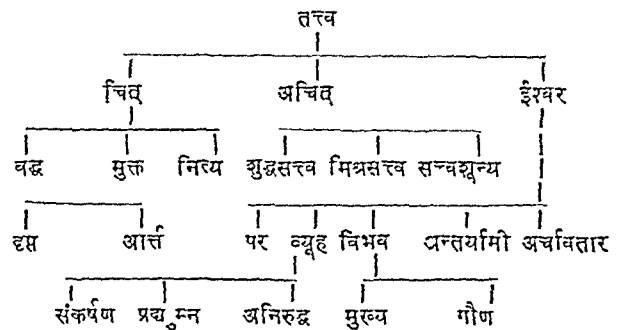
१. मम बुद्धिसे भिन्न ज्ञानका आश्रयभूत, अणु प्रमाण, निरवयव, नित्य, अव्यक्त, अचिन्त्य, निर्विकार, आनन्दरूप जीवात्मा चित् है। यह ईश्वरकी बुद्धिके अनुसार काम करता है। २. ससारी जीव बद्ध है इनमें भी प्रारब्ध कर्मका आश्रय लेकर मोक्षकी प्रतीक्षा करनेवाले दृप्त और शीघ्र मोक्षकी इच्छा करनेवाले आर्त है। अनुष्ठान विशेष द्वारा वैकुण्ठको प्राप्त होकर वहाँ भगवान्की सेवा करते हुए रहनेवाला जीव मुक्त है। यह सर्व लोकोंमें अपनी इच्छासे विचरण करता है। कभी भी ससारमें न आनेवाला तथा सदा ईश्वरेच्छाके आधीन रहनेवाला नित्य जीव है। भगवान्के अवतारके समान इनके भी अवतार स्वेच्छासे होते है। ३. अचित् जड तत्त्व व विकारवान् होता है। रजतम गुणसे रहित तथा आनन्दजनक शुद्धसत्त्व है। वैकुण्ठ धाम तथा भगवान्के शरीरोंके निर्माणका कारण है। जड है या अजड यह नही कहा जा सकता। त्रिगुण मिश्रित तथा बद्ध पुरुषोंके ज्ञान व आनन्दका आवरक मिश्रसत्त्व है। प्रकृति, महत्, अहंकार, मन

इसीमे लीन हो जाता है। ४. प्रकृति तीन प्रकार है—अप्राकृत, प्राकृत और काल। तीनो ही नित्य व विभु है। त्रिगुणोंसे अतीत अप्राकृत है। भगवान्‌का शरीर इसीसे बना है। त्रिगुणरूप प्राकृत है। संसारके सभी पदार्थ इसीसे बने है। इन दोनोंसे भिन्न काल है।

३. शरीर व इन्द्रिय

पृथिवीसे मास व मन, जलसे मूत्र, शोणित व प्राण; तेजसे हड्डी, मज्जा व वाक् उत्पन्न होते हैं। मन पार्थिव है। प्राण अणु प्राण है तथा अवस्थान्तरको प्राप्त वायु रूप है। यह जीवका उपकरण है। इन्द्रिय ग्यारह है—पॉच ज्ञानेन्द्रिय, पॉच कर्मेन्द्रिय, और मन। स्थूल शरीरकी गरमीका कारण इसके भीतर स्थित सूक्ष्म शरीर है। (विशेष दे० वेदान्त/II)।

६. माध्व वेदान्त या द्वैतवाद

१. सामान्य परिचय

ई. श १२-१३ मे पूर्ण प्रज्ञा माध्व देव द्वारा इस मतका जन्म हुआ। न्याय सुधा व पदार्थ सग्रह इनके मुख्य ग्रन्थ है। अनेक तत्त्व मानने-से भेदवादी है।

२. तत्त्व विचार

पदार्थ १० हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अशी, शक्ति, सादृश्य व अभाव।

३. द्रव्य विचार

१ द्रव्य दो-दो भागोमे विभाजित है—गमन प्राप्य, उपादान कारण, परिणाम व परिणामी दोनो स्वरूप, परिणाम व अभि-व्यक्ति। उसके २० भेद हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत-आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहकार, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, तन्मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल तथा प्रतिबिम्ब। २. परमात्मा—यह शुद्ध, चित्स्वरूप, सर्वज्ञाता, सर्वद्रष्टा, नित्य, एक, दोष व विकार रहित, सृष्टि, सहार, स्थिति, बन्ध, मोक्ष आदिका कर्ता, ज्ञान शरीरी तथा मुक्त पुरुषमे भी परे है। जीवो व भगवान्‌के अवतारोमें यह ओत-प्रोत है। मुक्त जीव तो स्वेच्छासे शरीर धारण करके छोड देता है। पर यह ऐसा नही करता। उसका शरीर अप्राकृत है। ३ लक्ष्मी—पर-मात्माकी कृपासे लक्ष्मी, उत्पत्ति, स्थिति व लय आदि सम्पादन करती है। ब्रह्मा आदि लक्ष्मीके पुत्र हैं। नित्य मुक्त व आप्त काम है। लक्ष्मी परमात्माकी पत्नी समझी जाती है। श्री, भू, दुर्गा, तृणी, ह्री, महालक्ष्मी, दक्षिणा, सीता, जयंती, सत्या, रुक्मिणी, आदि सब लक्ष्मीकी मूर्तियाँ है। अप्राकृत शरीर धारिणी है। ४. जीव—ब्रह्मा आदि भी ससारी जीव है। यह असख्य है। अज्ञान, दुख, भय आदिमे आवृत है। एक परमाणु प्रदेशमें अनन्त जीव रह सकते हैं। इसके तीन भेद है—मुक्ति योग्य, तमो योग्य व नित्य ससारी। ब्रह्मा आदि देव, नारदादि ऋषि, विश्वामित्रादि पितृ, चक्रवर्ती व मनुष्योत्तम मुक्ति योग्य ससारी है। तमो योग्य ससारी दो प्रकार है—चतुर्गुणोपासक, एकगुणोपासक है। उपासना द्वारा कोई इस शरीरमे रहते हुए भी मुक्ति पाता है। तमोयोग्य जीव पुन अपि चार प्रकार है—दैत्य, राक्षस, पिशाच तथा अधम मनुष्य। नित्य ससारी जीव सदैव सुख भोगते हुए नरकादिमें घूमते रहते है। ये अनन्त है। ५. अव्याकृत आकाश—यह नित्य व विभु है, परन्तु भूताकाशसे भिन्न है। वैशेषिकके दिक् पदार्थ वत है। ६. प्रकृति—जड, परिणामी, सत्त्वादि गुणत्रयसे अतिरिक्त, अव्यक्त व नाना रूपा है। नवीन सृष्टिका कारण तथा नित्य है। लिंग शरीरकी समष्टि रूप है। ७ गुणत्रय—सत्त्व, रजस् व तमस् ये तीन गुण है। इनकी साम्यावस्थाको प्रलय कहते है। रजो गुणसे सृष्टि, सत्त्व गुणसे स्थिति, तथा तमोगुणसे सहार होता है। ८ महत्—त्रिगुणोके अंशोके मिश्रणसे उत्पन्न होता है। बुद्धि तत्त्वका कारण है। ९. अहकार—इसका लक्षण साख्य वत है। यह तीन प्रकारका है—वैकारिक, तैजस व तामस। १०. बुद्धि—महत्से बुद्धिकी उत्पत्ति होती है। यह दो प्रकार है—तत्त्व रूप व ज्ञान रूप। ११. मनस्—यह दो प्रकार है—तत्त्वरूप व तत्त्वभिन्न। प्रथमकी उत्पत्ति वैकारिक अहकारसे होती है। तत्त्व-भिन्न मन इन्द्रिय है। वह दो प्रकार है—नित्य व अनित्य। परमात्मा आदि सब जीवोके पास रहनेवाला नित्य है। बद्ध जीवोका मन अचेतन व मुक्त जीवोका चेतन है। अनित्य मन बाह्य पदार्थ है। तथा सर्व जीवोके पास है। यह पाँच प्रकार है—मन, बुद्धि, अह-कार, चित्त व चेतना। मन सकल्प विकल्पात्मक है। निश्चया-त्मिका बुद्धि है। परमें स्वकी मति अहंकार है। स्मरणका हेतु चित्त है। कार्य करनेकी शक्ति स्वरूप चेतना है। १२. इन्द्रिय—तत्त्वभूत व तत्त्वभिन्न दोनो प्रकारकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ, नित्य व अनित्य दो-दो प्रकारकी है। अनित्य इन्द्रियाँ तैजस अहंकारकी उपज हैं। और नित्य इन्द्रिया परमात्मा व लक्ष्मी आदि सब जीवोंके स्वरूप भूत है। ये साक्षी कहलाती है। १३. तन्मात्रा—शब्द स्पर्शादि रूप पॉच है। ये दो प्रकार हैं। तत्त्व रूप व तत्त्वभिन्न। तत्त्व रूपकी उपज तामस अहकारसे है। (साख्य वत)। १४. भूत—पाँच तन्मात्राओसे उत्पन्न होने वाले आकाश पृथिवी आदि पाँच भूत हे। (साख्य वत्)। १५. ब्रह्माण्ड—पचास कोटि योजन विस्तीर्ण ब्रह्माण्ड २४ उपादानोसे उत्पन्न होता है। विष्णुका बीज है। घडेके दो कपालो वत् इसके दो भाग है। ऊपरला भाग 'द्यौ' और निचला भाग 'पृथिवी' कहलाता है। इसीमें चौदह भुवनोका अवस्थान है। भगवान्‌ने महत् आदि तत्त्वोके अंशको उदरमें रखकर ब्रह्माण्डमें प्रवेश किया है। तब उसकी नाभिमे कमल उत्पन्न हुआ, जिससे चतुर्मुख ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् देवता, मन, आकाश आदि पाँच भूतोकी क्रमशः उत्पत्ति हुई। १६ अविद्या—पाँच भूतोके पश्चात् सूक्ष्म मायामे भगवान्‌ने स्थूल अविद्या उत्पन्न की, जिसको उसने चतु-र्मुखमें धारण किया। इसकी पाँच श्रेणियाँ है—मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र, तथा तम, विपर्यय, आग्रह, क्रोध, मरण, तथा शार्वर क्रमश इनके नामान्तर हैं। १७. वर्णतत्त्व—सर्व शब्दो-के मूल भूत वर्ण ५१ है। यह नित्य है तथा समवाय सम्बन्धसे रहित है। १८. अन्धकार—यह भाव रूप द्रव्य है। जड प्रकृतिसे उत्पन्न होता है। इतना घनीभूत हो सकता है कि हथियारोसे काटा जा सके। १९ वासना—स्वप्नज्ञानके उपादान कारणको वासना कहते हैं। स्वप्न ज्ञान सत्य हे। जाग्रतावस्थाके अनुभवोसे वासना उत्पन्न होती है, और अन्तःकरणमे टिक जाती है। इस प्रकार अनादिकी वासनाएँ संस्कार रूपसे वर्तमान हैं, जो स्वप्न-के विषय बनते है। 'मनोरथ' प्रयत्न सापेक्ष है और 'स्वप्न' अदृष्ट सापेक्ष। यही दोनोमे अन्तर है। २० काल—प्रकृतिसे उत्पन्न, क्षण लव आदि रूप काल अनित्य है, परन्तु इसका प्रवाह नित्य है। २१. प्रतिबिम्ब—बिम्बसे पृथक्, क्रियावान्, तथा बिम्ब-के सदृश प्रतिबिम्ब है। परमात्माका प्रतिबिम्ब दैत्योमें है। यह दो प्रकार है—नित्य व अनित्य। सर्व जीवोमें परमात्माका प्रतिबिम्ब नित्य है तथा दर्पणमे मुखका प्रतिबिम्ब अनित्य है। छाया, परिवेष, चन्द्रचाप, प्रतिसूर्य, प्रतिध्वनि, स्फटिकका लौहित्य इत्यादि भी प्रतिबिम्ब कहलाते है।

ज्ञान, तथा छ' इन्द्रियोसे साक्षात् उत्पन्न ज्ञान । ४. अनुमान तीन प्रकार है—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी। पाँच अवयवोका नियम नही। यथावसर हीनाधिक भी हो सकते है। ५ शब्द—दो प्रकार है—पौरुषेय व अपौरुषेय। आप्तोक्त पौरुषेय है और वेद वाक्य अपौरुषेय है ।

७. शुद्धाद्वैत (शैव दर्शन)

१. सामान्य परिचय

ई श. १५ में इसकी स्थापना हुई। वल्लभ, श्रीकण्ठ व भास्कर इसके प्रधान संस्थापक थे। श्रीकण्ठकृत शिवसूत्र व भास्कर कृत वार्तिक प्रधान ग्रन्थ है। इनके मतमें ब्रह्मके पर अपर दो रूप नही माने जाते। पर ब्रह्म ही एक तत्त्व है। ब्रह्म अंशी और जड व अजड जगत् इसके दो अश है।

२. तत्त्व विचार

१. शिव ही केवल एक सत् है। शकर वेदान्त मान्य माया व प्रकृति सर्वथा कुछ नहीं है। उस शिवकी अभिव्यक्ति १६ प्रकारसे होती है—परम शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, मायाके पॉच कुचक या कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति, महान् या बुद्धि, अहकार, मन, पॉच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रियॉ, पाँच तन्मात्राएँ, और पाँच भूत। उनमेंसे पुरुष आदि तत्त्व तो साख्यवत् है। शेष निम्न प्रकार है।—२ एक व्यापक, नित्य, चैतन्य, स्वरूप शिव है। जड व चेतन सबमे यही ओतप्रोत है। आत्मा, परमेश्वर व परासंवित इसके अपरनाम है। ३ सृष्टि, स्थिति व सहार (उत्पाद, ध्रौव्य व्यय) यह तीन उस शिवकी शक्तियाँ है। सृष्टि शक्ति द्वारा वह स्वय विश्वाकार होता है। स्थिति शक्तिसे विश्वका प्रकाशक, सहार शक्तिसे सबको अपनेमें लय कर लेता है। इसके पाँच भेद है—चित्, आनन्द, ज्ञान, इच्छा व क्रिया। ४. 'अहं' प्रत्यय द्वारा सदा अभिव्यक्त रहनेवाला सदाशिव है। यहॉ इच्छा शक्तिका प्राधान्य है। ५. जगत्की क्रमिक अभिव्यक्ति करता हुआ वही सदाशिव ईश्वर है। यहॉ 'इद अह' की भावना होनेके कारण ज्ञान शक्तिका प्राधान्य है। ६ 'अह इद' यह भावना शुद्धविद्या है। ७ 'अह' पुरुष रूपमें और 'इदं' प्रकृति रूपमें अभिव्यक्त होकर द्वैत को स्पष्ट करते है यही शिवकी माया है। ८. इस मायाके कारण वह शिव पाँच कञ्चुकोमें अभिव्यक्त होता है। सर्व कर्तासे असर्व कर्ता होनेके कारण कलावान् है, सर्वज्ञसे असर्वज्ञ होनेके कारण विद्यावान्, अपूर्णताके बोधके कारण रागी, अनित्यत्वके बोधके कारण काल सापेक्ष तथा सकुचित ज्ञान शक्तिके कारण नियतिवान् हो जाता है। ९. इन पाँच कंचुकोसे आवेष्टित पुरुष ससारी हो जाता है।

३. सृष्टि व मुक्ति विचार

१. जेसे वट बीजमें वट वृक्षकी शक्ति रहती है वैसे ही शिवमें ३५ तत्त्व सदा शक्तिरूपसे विद्यमान है। उपरोक्त क्रमसे वह शिव ही ससारी होता हुआ सृष्टिकी रचना करता है। २ पाँच कंचुकोंसे आवृत पुरुषकी शक्ति सकुचित रहती है। सूक्ष्म तत्त्वमें प्रवेश करनेपर वह अपनेको प्रकृतिके सूक्ष्म रूपके बराबर समझता हुआ 'यह मै हूँ' ऐसे द्वैतकी प्रतीति करता है। इस प्रतीतिमें 'यह' और 'मै' समान महत्त्ववाले होते है। तत्पश्चात 'यह मै हूँ' की प्रतीति होती है। यहाँ 'यह' प्रधान है और 'मै' गोण। आगे चलकर 'यह' 'मै' में अन्तर्लीन हो जाता है। तब 'मै हूँ' ऐसी प्रतीति होती है। यहाँ भी 'मै' और 'हूँ' का द्वैत है। यही सदाशिव तत्त्व है। पश्चात् इससे भी सूक्ष्म भूमिमें प्रवेश करनेपर केवल 'अह' की प्रतीति होती है यही शक्ति तत्त्व है। यह परम शिवकी उन्मीलनावस्था है। यहाँ आनन्दका प्रथम अनुभव होता है। यह प्रतीति भी पीछे परम शिवमें लीन होनेपर शून्य प्रतीति रह जाती है। यहाँ वास्तवमें सर्व चिन्मय दीखने लगता है। यही वास्तविक अद्वैत है। ३. जबतक शरीरमें रहता है तबतक जीवन्मुक्त कहाता है। शरीर पतन होनेपर शिवमें प्रविष्ट हो जाता है। यहाँ आकर 'एकमेवाद्वितीय नेह नानास्ति किंचन' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का वास्तविक अनुभव होता है।

वेदिका—पर्वत नदी द्वीप आदिको घेरे रहनेवाली दीवारको वेदिका कहते है। लोकमें इनका अवस्थान व विस्तार—दे० लोक/७।

वेदिका बद्ध—कायोत्सर्गका एक अतिचार—दे० व्युत्सर्ग/१।

वेदिम—द्रव्य निक्षेपका एक भेद—दे० निक्षेप/५/६।

वेदा—Boundary wall

वेद्य—दे० वेदना/१।

वेलंब—मानुषोत्तर पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक एक भवनवासी देव—दे० लोक/७।

वेश्या—वेश्या गमन निषेध—दे० ब्रह्मचर्य/३।

वैकालिक—गो जी /जी प्र /३६७/७९०/६ विशिष्टा काला विकालास्तेषु भवानि वैकालिकानि। दश वैकालिकानि वर्ण्यन्तेऽस्मिन्निति दशवैकालिक तच्च मुनिजनाना आचरणगोचरविधि पिण्डशुद्धिलक्षणं च वर्णयति। =विशेषरूप कालको विकाल कहते है। उस कालके होनेपर जो होते है वे वैकालिक कहलाते है। इसमें दश वैकालिकका प्ररूपण है, इसलिए इसका नाम दशवैकालिक प्रकीर्णक है। इसमें मुनियोके आचार व आहारकी शुद्धता और लक्षणका प्ररूपण है।

वैक्रियिक—देवो और नारकियोके चक्षु अगोचर शरीर विशेषको वैक्रियिक शरीर कहते है। यह छोटे बडे हल्के भारी अनेक प्रकारके रूपोंमें परिवर्तित किया जा सकता है। किन्ही योगियोको ऋद्धिके बलसे प्रगटा वैक्रियिक शरीर वास्तवमें औदारिक ही है। इस शरीरके साथ होनेवाला आत्म प्रदेशोका कम्पन वैक्रियिक काययोग है और कुछ आत्मप्रदेशोका शरीरसे बाहर निकल कर फैलना वैक्रियिक समुद्घात है।

१	वैक्रियिक शरीर निर्देश
१	वैक्रियिक शरीरका लक्षण।
२	वैक्रियिक शरीरके भेद व उनके लक्षण।
३	वैक्रियिक शरीरका स्वामित्व।
४	कौन कैसी विक्रिया करे।
५	वैक्रियिक शरीरके उ ज प्रदेशोका स्वामित्व।
६	मनुष्य तिर्यंचोंका वैक्रियिक शरीर वास्तवमें अप्रधान है।
७	तिर्यंच मनुष्योमें वैक्रियिक शरीरके विधि निषेधका समन्वय।
८	उपपाद व लब्धि प्राप्त वैक्रियिक शरीरोंमें अन्तर।
९	वैक्रियिक व आहारकमें कथचित् प्रतिघातीपना।
*	इस शरीरकी अवगाहना व स्थिति।—दे वह वह नाम
*	पाँचो शरीरोंमें उत्तरोत्तर सूक्ष्मता। —दे शरीर/१।

अवृत्तित्व अर्थात न रहना निश्चित हो उसको वैधर्म्य कहते है। २ उदाहरणका एक भेद—दे० उदाहरण।

वैधर्म्यसमा—दे० साधर्म्यसमा।

वैनयिक—१. वैनयिक मिथ्यात्वका स्वरूप

स. सि./८/१/३७५/८ सर्वदेवताना सर्वसमयाना च समदर्शन वैनयिकम्। =सब देवता और सब मतोको एक समान मानना वैनयिक मिथ्यादर्शन है। (रा. वा./८/१/२८/५६४/२१), (त. सा /५/८)।

ध. ८/३,६/२०/७ अइहिय-पारत्तियसुहाइ सव्वाइ पि विणयादो चेव, ण णाण-दंसण-तवोववासकिलेसेहितो त्ति अहिणिवेसो वेणइय-मिच्छत्त। =ऐहिक एवं पारलौकिक सुख सभी विनयसे ही प्राप्त होते हैं, न कि ज्ञान, दर्शन, तप और उपवास जनित क्लेशोसे, ऐसे अभिनिवेशका नाम वैनयिक मिथ्यात्व है।

द. सा /मू /१८–१६ सव्वेसु य तित्थेसु य वेणइयाण समुब्भवो अत्थि। सजडा मुडियसीसा सिहिणो णगा य केइ य।१८। दुट्ठे गुणवते वि य समया भत्ती य सव्वदेवाण। णमणं दंडुव्व जणे परिकलिय तेहि मूटेहिं।१६। =सभी तीर्थंकरोके तीर्थोमें वैनयिकोका उद्भव होता रहा है। उनमें कोई जटाधारी, कोई मुण्डे, कोई शिखाधारी और कोई नग्न रहे है।१८। चाहे दुष्ट हो चाहे गुणवान् दोनोंमें समानतासे भक्ति करना और सारे ही देवोको दण्डवत नमस्कार करना, इस प्रकारके सिद्धान्तोको उन मूर्खोने लोगोमें चलाया।१६।

भावसग्रह/८८, ८६ वेणइयमिच्छादिट्ठी हवइ फुडं तावसो हु अण्णाणी। णिगुणजणं पि विणओ पउज्जमाणो हु गयविवेओ।८८। विणयादो इह मोक्खं किज्जइ पुणु तेण गद्दहाईणं। अमुणिय गुणागुणेण य विणय मिच्छत्तनडिएण।८६। =वैनयिक मिथ्यादृष्टि अविवेकी तापस होते हे। निर्गुण जनोंकी यहाँ तक कि गधेकी भी विनय करने अथवा उन्हे नमस्कार आदि करनेसे मोक्ष होता है, ऐसा मानते है। गुण और अवगुणसे उन्हे कोई मतलब नही।

गो. क./मू /८८८/१०७० मणवयणकायदाणगविणवो सुरणिवइणाणि जदिवुड्ढे। बाले पिदुम्मि च कायव्वो चेदि अट्ठचऊ।८८। =देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, बालक, माता, पिता इन आठोकी, मन-वचन, काय व दान, इन चारो प्रकारोसे विनय करनी चाहिए।८८। (ह पु /१०/५६)।

अन. ध./२/६/१२३ शिवपूजादिमात्रेण मुक्तिमभ्युपगच्छताम्। नि शङ्क भूतघातोऽयं नियोग कोऽपि दुर्विधे।६। =शिव या गुरुकी पूजादि मात्रसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है, जो ऐसा मानने वाले है, उनका दुर्दैव नि शक होकर प्राणिवधमे प्रवृत्त हो सकता है। अथवा उनका सिद्धान्त जीवोको प्राणिवधकी प्रेरणा करता है।

भा. पा./टी /१३५/२८३/२१ मातृपितृनृपलोकादिविनयेन मोक्षक्षेपिणां तापसानुसारिणा द्वात्रिंशन्मतानि भवन्ति। =माता, पिता, राजा व लोक आदिके विनयसे मोक्ष माननेवाले तापसानुसारी मत ३२ होते है।

२. विनयवादियोंके ३२ भेद

रा. वा /८/१/१२/५६२/१० वशिष्ठपाराशरजतुकर्णवाल्मीकिरोमहर्षिणि-सत्यदत्तव्यासैलापुत्रौपमन्यवैन्द्रदत्तायस्थूलादिमार्गभेदात् वैनयिका द्वात्रिंशद्गणना भवन्ति। =वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यु, ऐन्द्रदत्त, अयस्थून आदिकोके मार्गभेदसे वैनयिक ३२ होते है। (रा. वा./१/२०/१२/७४/७), (ध १/१,१,२/१०८/३), (ध /६/४,१,४५/२०३/८)।

ह. पु /१०/६० मनोवाक्कायदानाना मात्राद्यष्टकयोगत। द्वात्रिंशत्परिसख्याता वैनयिकयो हि दृश्य।६०। =[देव, राजा आदि आठकी मन, वचन, काय व दान इन चार प्रकारोसे विनय करनी चाहिए—दे० पहले शीर्षकमें गो. क./मू./८८८] इसलिए मन, वचन, काय और दान इन चारका देव आदि आठके साथ सयोग करनेपर वैनयिक मिथ्यादृष्टियोके ३२ भेद हो जाते है।

★ अन्य सम्बन्धित विषय

१. सम्यक् विनयवाद। —दे० विनय/१/५।
२. द्वादशाग श्रुतज्ञानका पाँचवाँ अंग। —दे० श्रुतज्ञान/III।
३. वैनयिक मिथ्यात्व व मिश्रगुणस्थानमें अन्तर। —दे० मिश्र/२।

वैभाविक शक्ति—दे० विभाव/१।

वैभाषिक—दे० बौद्ध दर्शन।

वैमनस्क—चतुर्थ नरकका पाँचवाँ पटल—दे० नरक/५।

वैमानिक देव—दे० स्वर्ग।

वैयधिकरण्य—

श्लो. वा /४/१/३३/न्या /४५६/५५१/१६ पर भाषाकार द्वारा उद्धृत—युगपदनेकत्रावस्थितिर्वैयधिकरण्यम्। =एक वस्तुमें एक साथ दो विरोधी धर्मोके स्वीकार करनेसे, नैयायिक लोग अनेकान्तवादियो पर वैयधिकरण्य दोष उठाते है।

स भ त./८२/१ अस्तित्वस्याधिकरणमन्यन्नास्तित्वस्याधिकरणमन्य-दित्यस्तित्वनास्तित्वयोर्वैयधिकरण्यम्। तच्च विभिन्नकरणवृत्तित्वम्। =अस्तित्वका अधिकरण अन्य होता है और नास्तित्वका अन्य होता है, इस रीतिसे अस्तित्व और नास्तित्वका वैयधिकरण्य है। वैयधिकरण्य भिन्न-भिन्न अधिकरणमे वृत्तित्वरूप है। [अर्थात् इस अनेकान्त वादमें अस्तित्व और नास्तित्व दोनों एक ही अधिकरणमें है। इसलिए नैयायिक लोग इसपर वैयधिकरण्य नामका दोष लगाते है।]

वैयाकरणी—१. वैशेषिक दर्शन शब्दार्थ परसे सिद्धान्तका निर्धारण करनेके कारण वैयाकरणी है—दे० वैशेषिक दर्शन। २ वैयाकरणी मत शब्द समभिरूढ व एवभूत नयाभासी है—दे० अनेकान्त/२/६।

वैयावृत्त्य—

१. व्यवहार लक्षण

र. क. श्रा./११२ व्यापत्तिव्यपनोद पदयो सवाहन च गुणरागात। वैयावृत्त्य यावानुपग्रहोऽन्योऽपि सयमिना।११२। =गुणोंमें अनुरागपूर्वक सयमी पुरुषोके खेदका दूर करना, पाँव दबाना तथा और भी जितना कुछ उपकार करना है, सो वैयावृत्त्य कहा जाता है।

स. सि./६/२४/३३६/3 गुणवद्दु खोपनिपाते निरवद्येन विधिना तदपहरण वैयावृत्त्यम्।

स. सि /६/२०/४३६/७ कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं वैयावृत्त्यम्। =१. गुणी पुरुषोके दु खमें आ पडनेपर निर्दोष विधिसे उसका दु ख दूर करना वैयावृत्त्य भावना है। (रा. वा./६/२४/६/५३०/?), (चा. सा /५५/१), (त. सा./७/२८); (भा.पा./टी./७७/२२१/६)। २. शरीरकी चेष्टा या दूसरे द्रव्य द्वारा उपासना करना वैयावृत्त्य तप है। (रा. वा./६/२४/२/६२३/६)।

रा. वा /६/२४/१५-१६/६२३/३१ तेषामाचार्यादीना व्याधिपरीषह-मिथ्यात्वाद्युपनिपाते प्रासुकौषधिभक्तपानप्रतिश्रयपीठफलकसंस्तर-णादिभिर्धर्मोपकरणैस्तत्प्रतीकार सम्यक्त्वप्रत्यवस्थापनमित्येवमादि वैयावृत्त्यम्।१५। बाह्यस्यौषधभक्तपानादेरसभवेऽपि स्वकायेन श्लेष्मसिंघाणकाद्यन्तर्मलापकर्षणादि तदानुकूल्यानुष्ठानं च वैया-

योग अर्थात् दर्शन विशुद्धतादि गुण है, उनसे संयुक्त होनेका नाम वैयावृत्त्ययोगयुक्तता है। इस प्रकारकी उस एक ही वैयावृत्त्ययोगयुक्ततासे तीर्थंकर नामकर्म बँधता है। यहाँ शेष कारणोका यथासम्भव अन्तर्भाव कहना चाहिए।

८. वैयावृत्त्य गृहस्थोको मुख्य और साधुको गौण है

प्र. सा./मू./२५३-२५४ वेज्जावच्चणिमित्त गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं। लोगिगजणसभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा।२५३। एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाण। चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्ख।२५४।

प्र सा./त प्र/२५४ एवमेष प्रशस्तचर्या रागसंगत्वाद्गौण' श्रमणाना, गृहिणा तु क्रमत' परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्य।=रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणोकी वैयावृत्त्यके निमित्त शुभोपयोगयुक्त लौकिकजनोंके साथकी बातचीत निन्दित नही है।२५३। यह प्रशस्तभूत चर्या रागसहित होनेके कारण श्रमणोको गौण होती है और गृहस्थोको क्रमश परमनिर्वाण सौख्यका कारण होनेसे मुख्य है। ऐसा शास्त्रोमें कहा है।

* अन्य सम्बन्धित विषय

* एक वैयावृत्त्यसे ही तीर्थंकरत्वका बन्ध सम्भव है —दे० भावना/२।
* सल्लेखनागत क्षपकके योग्य वैयावृत्त्यकी विशेषताएँ —दे० सल्लेखना/५।
* वैयावृत्त्यका अर्थ सावद्य कर्मयोग्य नहीं —दे० सावद्य/८।

वैर—साम्यभावके प्रभावसे जाति विरोधी भी जीव अपना वैर छोड देते है।—दे० सामायिक/३/७।

वैरकुमार—बृ कथा कोष/कथा न १२/पृष्ठ—इसके पिता सोमदत्तने इसके गर्भमें रहनेपर ही दीक्षा ले ली थी। इसकी माता इसको ध्यानस्थ अपने पतिके चरणोमें छोड गयी। तब दिवाकर नामके विद्याधरने इसे उठा लिया।६१। अपने मामासे विद्या प्राप्त की। एक विद्याधर कन्यासे विवाह किया और अपने छोटे भाईको युद्धमें हराया।६२-६३। जिसके कारण माता रुष्ट हो गयी, तभी अपने विद्याधर पितासे अपनी कथा सुनकर पिता सोमदत्तके पासमें दीक्षा ले ली।६४-६५। बौद्धोके रथसे पहले जैनोंका रथ चलवाकर प्रभावना की।६६-७१।

वैराग्य—

रा. वा./७/१२/४/५३९/१३ विरागस्य भाव' कर्म वा वैराग्यम्=(विषयोंसे विरक्त होना विराग है। दे० विराग) विरागका भाव या कर्म वैराग्य है

द्र. स/टी./३५/११२/८ पर उद्धृत—संसारदेहभोगेषु विरक्तभावो य वैराग्यं।=ससार देह तथा भोगोमें जो विरक्त भाव है सो वैराग्य है।

दे. सामायिक/१। (माध्यस्थ्य, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, परमशान्ति, ये सब एकार्थवाची है।)

२. वैराग्य की कारणभूत भावनाएँ

त. सू./७/१२ जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्।१२।

स. सि/७/१२/३५०/५ जगत्स्वभावस्तावदनादिरनिधनो वेत्रासनझल्लरीमृदङ्गनिभ। अत्र जीवा अनादिससारेऽनन्तकाल नानायोनिषु दु ख भाज भोज पर्यटन्ति। न चात्र किंचिन्नियतमस्ति जलबुद्बुदोपम जीवितम्, विद्युन्मेघादिविकारचपला भोगसपद इति। एवमादिजगत्स्वभावचिन्तनात्ससारात्संवेगो भवति। कायस्वभावश्च अनित्यता दु खहेतुत्वं नि सारता अशुचित्वमिति। एवमादिकायस्वभावचिन्तनाद्विषयरागनिवृत्तेर्वैराग्यमुपजायते। इति जगत्कायस्वभावौ भावयितव्यौ।=सवेग और वैराग्यके लिए जगतके स्वभाव और शरीरके स्वभावकी भावना करनी चाहिए।१२। जगत्का स्वभाव यथा—यह जगत् अनादि है, अनिधन है, वेत्रासन, झल्लरी और मृदगके समान है (दे. लोक)। इस अनादि ससारमें जीव अनन्त कालतक नाना योनियोमें दु खको पुन' पुन भोगते हुए भ्रमण करते हैं। इसमें कोई भी वस्तु नियत नहीं है। जीव जलके बुलबुलेके समान है, और भोग सम्पदाएँ बिजली और इन्द्रधनुषके समान चचल है। इत्यादिरूपसे जगत्के स्वभावका चिन्तन करनेसे ससारमें सवेग या भय उत्पन्न होता है। कायका स्वभाव यथा—यह शरीर अनित्य है, दु खका कारण है, नि सार है और अशुचि है इत्यादि। इस प्रकार कायके स्वभावका चिन्तन करनेसे विषयोसे आसक्ति हटकर वैराग्य उत्पन्न होता है। अत' जगत और कायके स्वभावकी भावना करनी चाहिए। (रा. वा./७/१२/४/५३९/१५)।

दे. अनुप्रेक्षा—(अनित्य अशरण आदि १२ भावनाओका पुन चिन्तवन करना वैराग्यके अर्थ होता है इसीलिए वे १२ वैराग्य भावना कहलाती है)।

* सम्यग्दृष्टि विरागी है —दे. राग/६।

वैराग्यमाला—आ श्रीचन्द्र (ई. १४९८-१५१८) द्वारा रचित एक उपदेशात्मक ग्रन्थ।

वैरात्रिक—मू आ/भाषा/२७० आधी रातके बाद दो घडी बीत जानेपर वहाँसे लेकर दो घडी रात रहे तबतक कालको वैरात्रिक काल कहते है।

वैरिसिंह—एक राजा। समय—वि. ९०० (ई. ८४३) (सा. ध/पं. आशाधरका परिचय/९)।

वैरोटी—१ भगवान् अनन्तनाथकी शासक यक्षिणी (—दे. यक्ष) २. एक विद्या (—दे. विद्या)।

वैवस्वत यम—इक्ष्वाकु वशके एक राजा थे (रामाकृष्णा द्वारा संशोधित इक्ष्वाकु वशावली)।

वैशाख—बृ कथाकोष/कथा नं ८/पृष्ठ—पाटलीपुत्र नगरके राजा विशाखका पुत्र था। सात दिनकी नव विवाहिता पत्नीको छोड मित्र मुनिदत्त मुनिको आहार दानकर दीक्षा ले ली।२८। स्त्री मरकर व्यतरी हुई, जिसके उपसर्गके कारण एक महीना तक उपवास करना पडा। चेलनाने परदा डालकर आहार दिया। अन्तमें मोक्ष पधारे।२९।

वैशेषिक—१. सामान्य परिचय

(वैशेषिक लोग भेदवादी है, ये द्रव्य, गुण, पर्याय तथा वस्तुके सामान्य व विशेष अशोकी पृथक्-पृथक् सत्ता स्वीकार करके समवाय सम्बन्धसे उनकी एकता स्थापित करते है। ईश्वरको सृष्टि व प्रलयका कर्ता मानते हैं। शिवके उपासक हैं, प्रत्यक्ष व अनुमान दो प्रमाण स्वीकार करते हैं। इनके साधु वैरागी होते है।)

२. प्रवर्तक, साहित्य व समय

इस मतके आद्य प्रवर्तक कणाद ऋषि थे, जिन्हें उनकी कापोती वृत्तिके कारण कण भक्ष तथा उलूक ऋषिका पुत्र होनेके कारण औलूक्य कहते थे। इन्होंने ही वैशेषिक सूत्रकी रचना की थी। जिसपर अनेकों भाष्य व टीकाएँ प्राप्त है, जैसे—प्रशस्तपाद भाष्य, रावण भाष्य, भारद्वाज वृत्ति। इनमें-से प्रशस्तपाद भाष्य प्रधान है जिसपर अनेकों वृत्तियाँ लिखी गयी हैं, जैसे—व्योमशेखरकृत व्योमवती, श्रीधरकृत न्यायकन्दली, उदयनकृत किरणावली, श्री वत्सकृत लीलावती, जगदीश भट्टाचार्यकृत भाष्य सूक्ति तथा शकर मिश्रकृत

कणाद रहस्य। इसके अतिरिक्त भी शिवादित्यकृत सप्त पदार्थी, लोगाक्षिभास्करकृत तर्ककौमुदी, विश्वनाथकृत भाषा परिच्छेद, तर्कसंग्रह, तर्कामृत आदि वैशेषिक दर्शनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इनमें-से वैशेषिक सूत्रकी रचना ई. श. १ का अन्त तथा प्रशस्तपाद भाष्य-की रचना ई. श ५-६ अनुमान की जाती है। [स. म./परि-ग./पृ ४१८)

३. तत्त्व विचार

(वेशे. सू /अधिकार १-५) (षट् दर्शन समुच्चय/६०-६६/६२-६६) (भारतीय दर्शन) १ पदार्थ ७ है—द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय व अभाव। २. द्रव्य ६ है—पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा तथा मनस्। प्रथम ४ नित्य व अनित्यके भेदसे दो-दो प्रकार हैं और शेष पाँच अनित्य है। नित्यरूप पृथिवी आदि तो कारण रूप तथा परमाणु है और अनित्य पृथिवी आदि उस परमाणुके कार्य है। इनमें क्रमसे एक, दो, तीन व चार गुण पाये जाते है। नित्य द्रव्योंमें आत्मा, काल, दिक् व आत्मा तो विभु हैं और मनस् अभौतिक परमाणु है। आकाश शब्दका समवायि कारण है। समय व्यवहारका कारण काल, और दिशा-विदिशाका कारण दिक् है। आत्मा व मनस् नैयायिकोकी भ्रान्ति है। (दे. न्याय/१/५)। ३. कार्यका असमवायि कारण गुण हैं। वे २४ है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रव्यत्व, स्नेह, शब्द, ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार। प्रथम ४ भौतिक गुण है, शब्द आकाशका गुण है, ज्ञानसे संस्कार पर्यन्त आत्माके गुण हैं और शेष आपेक्षिक धर्म है। धर्म व अधर्म दोनों गुण जीवोके पुण्य पापात्मक भाग्यके वाचक है। इन दोनोको अदृष्ट भी कहते है। ४. कर्म—क्रियाका कर्म कहते हे। वह पाँच प्रकारको है—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुचन, प्रसारण, व गमनागमन। वह कर्म तीन प्रकारका है—सत्प्रत्यय, असत्प्रत्यय और अप्रत्यय। जीवके प्रयत्नसे उत्पन्न कायिक चेष्टा सत्प्रत्यय है, बिना प्रयत्नकी चेष्टा असत्प्रत्यय है और पृथिवी आदि जडपदार्थोंमें होनेवाली क्रिया अप्रत्यय है। ५. अनेक वस्तुओंमें एकत्वकी बुद्धिका कारण सामान्य है। यह नित्य है तथा दो प्रकार है—पर सामान्य या सत्ता सामान्य, अपर सामान्य या सत्ता विशेष। सर्व व्यापक महा सत्ता पर सामान्य है तथा प्रत्येक वस्तु व्यापक द्रव्यत्व गुणत्व आदि अपर सामान्य है, क्योंकि अपनेसे ऊपर-ऊपरकी अपेक्षा इनमें विशेषता है। ६ द्रव्य, गुण, कर्म आदिमें परस्पर विभाग करनेवाला विशेष है। ७. अयुत सिद्ध पदार्थोंमें आधार आधेय सम्बन्धको समवाय कहते है जैसे—द्रव्य व गुणमें सम्बन्ध, यह एक व नित्य है। ८ अभाव चार प्रकारका है प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव व अत्यन्ताभाव (दे. वह-वह नाम)। ९ ये लोक नैगम नयाभासी हैं।—(दे. अनेकात/२/९)

४. ईश्वर, सृष्टि व प्रलय

१ यह लोग सृष्टि कर्ता वादी हैं। शिवके उपासक है (दे. परमात्मा/३/५)। २. आहारके कारण घट आदि कार्य द्रव्योके अवयवोंमें क्रिया विशेष उत्पन्न होनेसे उनका विभाग हो जाता है तथा उनमेंसे संयोग गुण निकल जाता है। इस प्रकार वे द्रव्य नष्ट होकर अपने-अपने कारण द्रव्य परमाणुओंमें लय हो जाते हैं। इसे ही प्रलय कहते हैं। इस अवस्थामें सृष्टि निष्क्रिय होती है। समस्त आत्माएँ अपने अदृष्ट, मनस् और संस्कारोके साथ विद्यमान रहती है। ३. ईश्वरकी इच्छा होनेपर जीवके अदृष्ट तथा परमाणु कार्योन्मुख होते है, जिसके कारण परस्परके संयोगसे द्विअणुक आदि स्थूल पदार्थोंकी रचना हो जाती है। परमाणु या द्विअणुकोंके मिलनेसे स्थूल द्रव्य नहीं होते त्रिअणुकोके मिलनेसे ही होते हैं। यही सृष्टिकी रचना है। सृष्टिकी प्रक्रियामें ये लोग पीलुपाक सिद्धान्त मानते हे—(दे आगे न. ४)। ४. पूर्वोपार्जित कर्मोंके अभावसे जीवके शरीर, योनि, कुल आदि होते है। वही संसार है। उस अदृष्टके विपाक समाप्त हो जानेपर मृत्यु और अदृष्ट समाप्त हो जानेपर मुक्ति हो जाती हैं।

५. पीलुपाक व पिठरपाक सिद्धान्त

(भारतीय दर्शन) १. कार्य वस्तुएँ सभी छिद्रवाली (Porous) होती है। उनके छिद्रोंमें तैजस द्रव्य प्रवेश करके उन्हें पका देता है। वस्तु ज्यों की त्यों बनी रहती है। यह पिठरपाक है। २. कार्य व गुण पहले समवायि कारणमें उत्पन्न होते हैं। पीछे उन समवायि कारणोंके संयोगसे कार्य द्रव्योंकी उत्पत्ति होती है, जैसे—घटको आगमें रखनेसे उस घटका नाश हो जाता है फिर, उसके परमाणु पककर लाल रंगसे युक्त होते हैं, पीछे इन परमाणुओंके योगसे घडा बनता है और उसमें लाल रंग आता है। पर यह पीलुपाक है।

६. ज्ञान प्रमाण विचार

(वैशे द./अधिकार ८-९), (षट्दर्शन समुच्चय/६७/६६), (भारतीय दर्शन) १ नैयायिकोवत् बुद्धि व उपलब्धिका नाम ही ज्ञान है, ज्ञान दो प्रकार है—विद्या व अविद्या। प्रमाण ज्ञान विद्या है और संशय आदिको अविद्या कहते है। २ प्रमाण २ हे—प्रत्यक्ष, अनुमान। नैयायिको वत् इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष है. अनुमानका स्वरूप नैयायिकोवत् है। योगियोको भूत, भविष्यग्राही प्रातिभ ज्ञान आर्ष है। ३. अविद्या—चार प्रकारकी है—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, तथा स्वप्न। संशय, विपर्यय व अनध्यवसायके लिए दे. वह वह नाम। श्रयके कारण इन्द्रियाँ मनमें विलीन हो जाती है और मन मनोवह नाडीके द्वारा पुरीतत नाडीमें चला जाता है। तहाँ अदृष्टके सहारे, संस्कारो व वात पित्त आदिके कारण उसे अनेक विषयोंका प्रत्यक्ष होता है। इसे स्वप्न कहते है।

७. साधु चर्या

(स म./परि-ग /पृ ४१०) इनके साधु, दण्ड, कमण्डलु, या तुम्बी, कमण्डल, लँगोटी व यज्ञोपवीत रखते है, जटाएँ बढाते है तथा शरीरपर भस्म लगाते है। नीरस भोजन या कन्दमूल खाते हैं। शिवका ध्यान करते हे। कोई-कोई स्त्रीके साथ भी रहते है। परन्तु उत्कृष्ट स्थितिमें नग्न व रहित ही रहते है। प्रात काल दाँत, पैर आदिको साफ करते हें। नमस्कार करनेवालोको 'ॐ नम शिवाय' तथा संन्यासियोको 'नम. शिवाय' कहते है।

८. वैशेषिकों व नैयायिकोंमें समानता व असमानता

स्या म./परि-ग./पृ ४१०-४११/—१ नैयायिक व वैशेषिक बहुतसी मान्यताओमें एक मत है। उद्योतकर आदिके लगभग सभी प्राचीन न्यायशास्त्रोंमें वैशेषिक सिद्धान्तोका उपयोग किया गया है। २. पीछे वैशेषिक लोग आत्मा अनात्मा व परमाणुका विशेष अध्ययन करने लगे और नैयायिक तर्क आदिका। तब इनमें भेद पड गया है। ३. दोनो ही वेदको प्रमाण मानते है। वैशेषिक लोक प्रत्यक्ष व अनुमान दो ही प्रमाण मानते है, पर नैयायिक उपमान व शब्दको भिन्न प्रमाण मानते हैं। ४. वैशेषिक सूत्रोमें द्रव्य गुण कर्म आदि प्रमेयकी और न्याय सूत्रोंमें तर्क, अनुमान आदि प्रमाणोकी चर्चा प्रधान है। ५. न्याय सूत्रमें ईश्वर की चर्चा है पर वैशेषिक सूत्रोंमें नहीं। ६ वैशेषिक लोग मोक्ष को निःश्रेयस या मोक्ष कहते है। और नैयायिक लोग—अपवर्ग। ७. वैशेषिक लोग पीलुपाक वादी है और नैयायिक लोग पीठरपाक वादी।

*** वैदिक दर्शनोंका स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर विकासक्रम**
—दे दर्शन।

९. जैन व वैशेषिक मतकी तुलना

वैशेषिकोंकी भाँति जैन भी पर्यायार्थिक व सद्भूत व्यवहार नयकी दृष्टिमे द्रव्यके गुण व पर्यायोंको, उसके प्रदेशोंको तथा उसके सामान्य व विशेष सर्व भावोंको पृथक्-पृथक् मानते हुए द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव रूप चतुष्टयसे वस्तुमें भेद करते हैं (दे नय/IV/३ व V/४, ५) परन्तु उसके साथ-साथ द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे उसका विरोधी अभेद पक्ष भी स्वीकार करनेके कारण जैन तो अनेकान्तवादी हैं (दे. नय./V/१,२), परन्तु वैशेषिक लोग अभेद पक्षको सर्वथा स्वीकार न करनेके कारण एकान्तवादी हैं। यही दोनोंमें अन्तर है।)

वैश्य—म. पु /सर्ग/श्लोक—"वैश्याश्च कृषिवाणिज्यपाशुपाल्योपजीविताः। (१६/१०४)। ऊरुभ्यां दर्शयन् यात्राम् अस्राक्षीद् वणिज प्रभु। जलस्थलादियात्राभि' तद्वृत्तिर्वार्त्तया यत'। (१६/२४४)। वणिजोऽर्थार्जनान्न्यायात्। (३८/४६)। =जो खेती व्यापार तथा पशुपालन आदिके द्वारा जीविका करते थे वे वैश्य कहलाते थे। (१६/१८४)। भगवान्‌ने अपने ऊरुओंसे यात्रा दिखलाकर अर्थात् परदेश जाना सिखलाकर वैश्योंकी रचना की सो ठीक ही है, क्योंकि, जल, स्थल आदि प्रदेशोंमें यात्रा कर व्यापार करना ही उनकी मुख्य आजीविका है। (१६/२४४)। न्याय पूर्वक धन कमानेसे वैश्य होता है। (३८/४६)।

वैश्रवण—१ लोकपाल देवोंका एक भेद—दे० लोकपाल। २ आकाशोपपन्न देवोंमें-से एक—दे० देव/II/१। ३. विजयार्धकी दक्षिण श्रेणीका एक नगर—दे० विद्याधर। ४. हिमवान् पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७। ५. विजयार्ध पर्वतका एक कूट व उसका रक्षक देव—दे० लोक/७। ६ पद्म ह्रदके वनमें स्थित एक कूट—दे० लोक/७। ७ रुचक पर्वतका एक कूट—दे० लोक/७। ८ पूर्व विदेहका एक वक्षार व उसका कूट तथा रक्षक देव—दे० लोक/७। ९. मानुषोत्तर पर्वतके कनककूटका रक्षक सुपर्ण, कुमार देव—दे० लोक/७।

वैश्रवण—१. प. पु /७/श्लोक—यक्षपुरके धनिक विश्रवसका पुत्र था।१२१। विद्याधरोंके राजा इन्द्र द्वारा प्रदत्त लंकाका राज्य किया, फिर रावण द्वारा परास्त किया गया।२४६। अन्तमें दीक्षित हो गया।२५१। २ म पु/६६/श्लोक—कच्छकावती देशके वीतशोक नगरका राजा था।२। तप कर तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध किया और मरकर अपराजित विमानमें अहमिन्द्र हुआ।१४-१६। यह मल्लिनाथ भगवान्‌का पूर्वका दूसरा भव है।—दे० मल्लिनाथ।

वैश्वानर—अपर नाम विशालनयन था। यह चतुर्थ रुद्र हुए हैं—दे० शलाका पुरुष/७।

वैष्णव दर्शन—१. दर्शनकी अपेक्षा भेद परिचय—इस दर्शनमें भक्तिको बहुत महत्त्व दिया जाता है। इसके चार प्रधान विभाग हैं—श्री सम्प्रदाय, हंस सम्प्रदाय, ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय। श्री सम्प्रदाय विशिष्टाद्वैतवादी है जो रामानन्दी भी कहलाते हैं। (दे० वेदान्त/*IV*)। हंस सम्प्रदाय द्वैताद्वैत या भेदाभेदवादी है। इन्हें हरिव्यासी भी कहते हैं (दे० वेदान्त/III, *V*)। ब्रह्म सम्प्रदाय द्वैतवादी है इन्हें मध्य या गौडिया भी कहते हैं (दे० वेदान्त/*VI*)। रुद्र सम्प्रदाय शुद्धाद्वैत वादी है। इसे विष्णु स्वामी या वल्लभ सम्प्रदाय भी कहते हैं। —दे० वेदान्त/*VII*।

२. शक्ति व भक्ति आदिकी अपेक्षा भेद व परिचय

शक्तिसंग तन्त्रके अनुसार इसके १० भेद हैं—वैखानस, श्री राधावल्लभी, गोकुलेश, वृन्दावनी, रामानन्दी, हरिव्यासी, निम्बार्क, भागवत, पांचरात्र और वीर वैष्णव। १. वैखानस मुनिके उपदेशानुसार दीक्षित होनेवाले ये स्मार्त वैष्णव कहे जाते हैं। २. श्री राधावल्लभीके आदिप्रवर्तक १५०३ ई. में हरिवंश गोस्वामी हुए। ये लोग जप, त्याग आदि व्यवहारमें संलग्न रहते हैं। ३. गोकुलेश कृष्णकी केलि या रासलीलाके उपासक हैं। गौओंसे प्रेम करते हैं। अपने शरीरको लताओं, आभूषणों व सुगन्धित द्रव्योंमे सजाते हैं। शक्तिके उपासक हैं। ४ वृन्दावनी विष्णुके भक्त हैं। अपनेको पूर्णकाम मानते हैं। स्त्रियोंके ध्यानमें रत रहते हैं। शरीरपर सुगन्धित द्रव्योंका प्रयोग करते हैं। सारूप्य मुक्तिको स्वीकार करते हैं। ५ रामानन्दी शक्ति व शिवके सामरस्य प्रयुक्त आनन्दमें मग्न रहते हैं। रामानन्द स्वामी द्वारा ई. १३०० में इसका जन्म हुआ था। ६ हरिव्यासी विष्णु भक्त व जितेन्द्रिय हैं। यम नियम आदि अष्टांग योगका अभ्यास करते हैं। ई. १५१० में हरिराम शुक्लने इसकी स्थापना की थी। ७ निम्बार्क विष्णुके भक्त हैं। पूजाके बाह्य स्वरूपमें नियम पूर्वक लगे रहते हैं। शरीर एवं वस्त्रोंको स्वच्छ रखते हैं। ८. भागवत विष्णुके भक्त और शिवके कट्टर द्वेषी हैं। इन्द्रिय वशी हैं। ९. पांचरात्र शिवके द्वेषी व 'रण्डा' को श्रीकृष्णके नामसे पूजने वाले हैं। पंचरात्रि व्रत करते हैं। १० वीर विष्णु केवल विष्णुके भक्त तथा अन्य सर्व देवताओंके द्वेषी हैं।

वैसादृश्य—दे० विसदृश।

वैस्रसिक क्रिया—दे० क्रिया/१।

वैस्रसिक बंध—दे० बन्ध/१।

वैस्रसिक शब्द—दे० शब्द।

व्यंजन—

स सि./१/१८/११६/७ व्यञ्जनमव्यक्तं शब्दादिजातं।

स. सि /६/४४/४५५/६ व्यञ्जनं वचनम्। =१ अव्यक्त शब्दादिके समूहको व्यंजन कहते हैं। (रा. वा /१/१८/-/६६/२७)। २ व्यंजनका अर्थ वचन है। (रा. वा /६/४४/-/६३४/१०)।

ध १३/५,५,४५/आ /१/२/२४८ व्यञ्जनं त्वर्द्धमात्रकम्। =व्यंजन अर्ध मात्रा वाला होता है।

*** व्यंजनकी अपेक्षा अक्षरोंके भेद-प्रभेद**—दे. अक्षर।

*** निमित्तज्ञान विशेष**—दे० निमित्त/२।

व्यंजन नैगम नय—दे० नय/III/२।

व्यंजन पर्याय—दे० पर्याय/३।

व्यंजन शुद्धि—भ.आ./वि./११३/२६१/१० तत्र व्यञ्जनशुद्धिर्नाम यथा गणधरादिभिर्द्वात्रिंशद्दोषवर्जितानि सूत्राणि कृतानि तेषां तथैव पाठः। शब्दश्रुतस्यापि व्यज्यते ज्ञायते अनेनेति ग्रहे ज्ञानशब्देन गृहीतत्वात् तन्मूलं ही श्रुतज्ञानं। =गणधरादि आचार्योंने बत्तीस दोषोंसे रहित सूत्रोंका निर्माण किया है, उनको दोष रहित पढना व्यंजन शुद्धि है। शब्दके द्वारा ही हम वस्तुको जान लेते हैं। ज्ञानोत्पत्तिके लिए शब्द कारण है। समस्त श्रुतज्ञान शब्दकी भित्तिपर खडा हुआ है। अत शब्दोंको 'ज्ञायतेऽनेन' इस विग्रहसे ज्ञान कह सकते हैं।—(विशेष दे० उभय शुद्धि)।

व्यंजनावग्रह—दे० अवग्रह।

व्यंतर—भूत, पिशाच जातिके देवोंको जैनागममें व्यंतर देव कहा गया है। ये लोग वैक्रियिक शरीरके धारी होते हैं। अधिकतर मध्यलोकके सूने स्थानोंमें रहते हैं। मनुष्य व तिर्यंचोंके शरीरमें प्रवेश करके उन्हें लाभ हानि पहुँचा सकते हैं। इनका काफी कुछ वैभव व परिवार होता है।

१. व्यंतरदेव निर्देश

१. व्यंतरदेवका लक्षण

स. सि./४/११/२४३/१० विविधदेशान्तराणि येषां निवासास्ते 'व्यन्तरा.' इत्यन्वर्था सामान्यसंज्ञेयमष्टानामपि विकल्पानाम्। =जिनका नाना प्रकारके देशोंमें निवास है, वे व्यन्तरदेव कहलाते हैं। यह सामान्य संज्ञा सार्थक है जो अपने आठों ही भेदोंमें लागू है। (रा. वा./४/११/१/२१७/१५)।

२. व्यंतरदेवोंके भेद—

त. सू./४/११ व्यन्तरा किन्नरकिंपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ।११। =व्यन्तरदेव आठ प्रकारके हैं—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच (ति. प./६/२५), (त्रि. सा./२५१)।

३. व्यंतरोंके आहार व श्वासका अन्तराल

ति. प./६/८८-८९ पल्लाउजुदे देवे कालो असणस्स पंच दिवसाणि। दोण्णि च्चिय णादव्वो दसवाससहस्सआउम्मि ।८८। पलिदोवमाउजुत्तो पंचमुहुत्तेहिं एदि उस्सासो। सो अजुदाउजुदे वेंतरदेवम्मि अ सत्त पाणेहिं ।८९। =पल्यप्रमाण आयुसे युक्त देवोंके आहारका काल ५ दिन, और १०,००० वर्षप्रमाण आयुवाले देवोंके आहारका काल दो दिन मात्र जानना चाहिए ।८८। व्यन्तर देवोंमें जो पल्यप्रमाण आयुसे युक्त हैं वे पाँच मुहूर्त्तोंमें और जो दश हजार प्रमाण आयुसे संयुक्त हैं वे सात प्राणों (उच्छ्वास निश्वासपरिमित काल विशेष दे० गणित/I/१/४) में उच्छ्वासको प्राप्त करते हैं ।८९। (त्रि. सा./३०१)।

४. व्यंतरोंके ज्ञान व शरीरकी शक्ति विक्रिया आदि

ति. प./६/गा. अवरा ओहिधरित्ती अजुदाउजुदस्स पंचकोसाणि। उक्किट्ठा पण्णासा हेट्ठोवरि पस्समाणस्स ।९०। पलिदोवमाउजुत्तो वेंतरदेवो तलम्मि उवरिम्मि। अवधीए जोयणाणं एक्कं लक्खं पलोएदि ।९१। दसवाससहस्साऊ एक्कसयं माणुसाण मारेदुं। पोसेदुं पि समत्थो एक्केक्को वेंतरो देवो ।९२। पण्णाधियसयदंडप्पमाणविक्खंभबहुलजुत्तं सो। खेत्तं णियसत्तीए उक्खणिदूणं खवेदि अण्णत्थ ।९३। पल्लट्टदि भाजेहिं छक्खंडाणि पि एक्कपल्लाऊ। मारेदुं पोसेदुं तेसु समत्थो ठिदं लोयं ।९४। उक्कस्से रूवसदं देवो विक्करेदि अजुदमेत्ताऊ। अवरे सगरूवाणि मज्झिमयं विविहरूवाणि ।९५। सेसा वेंतरदेवा णियणिय ओहीण जेत्तियं खेत्तं। पूरंति तेत्तियं पि हु पत्तेक्कं विक्करणबलेण ।९६। संखेज्जजोयणाणि संखेज्जाऊ य एक्कसमयेण। जादि असंखेज्जाणि ताणि असंखेज्जाऊ य ।९७। =नीचे व ऊपर देखनेवाले दश हजार वर्षप्रमाण आयुसे युक्त व्यन्तर देवोंके जघन्य अवधिका विषय पाँच कोश और उत्कृष्ट ५० कोश मात्र है ।९०। पल्योपमप्रमाण आयुसे युक्त व्यन्तरदेव अवधिज्ञानसे नीचे व ऊपर एक लाख योजन प्रमाण देखते हैं ।९१। दश हजार प्रमाण आयुका धारक प्रत्येक व्यन्तर देव एक सौ मनुष्योंको मारने व पालनेके लिए समर्थ है ।९२। वह देव एक सौ पचास धनुषप्रमाण विस्तार व बाहल्यसे युक्त क्षेत्रको अपनी शक्तिसे उखाड़कर अन्यत्र फेंक सकता है ।९३। एक पल्यप्रमाण आयुका धारक प्रत्येक व्यन्तर देव अपनी भुजाओंसे छह खण्डोंको उलट सकता है और उनमें स्थित लोगोंको मारने व पालनेके लिए भी समर्थ है ।९४। दश हजार वर्षमात्र आयुका धारक व्यंतर देव उत्कृष्टरूपसे सौ रूपोंकी और जघन्य रूपसे सात रूपोंकी विक्रिया करता है। मध्यमरूपसे वह देव सातसे ऊपर और सौ से नीचे विविध रूपोंकी विक्रिया करता है ।९५। बाकीके व्यन्तर देवोंमेंसे प्रत्येक देव अपने-अपने अवधिज्ञानोंका जितना क्षेत्र है

उतने मात्र क्षेत्रको विक्रिया बलसे पूर्ण करते है ।६६। सख्यात वर्ष-प्रमाण आयुसे युक्त व्यन्तर देव एक समयमें सख्यात योजन और असख्यात वर्षप्रमाण आयुसे युक्त असंख्यात योजन जाता है ।६७।

५. व्यतरदेव मनुष्योंके शरीरोंमें प्रवेश करके उन्हे विकृत कर सकते हैं

भ आ./मू /१९७९/१७४१ जदि वा एस ण कीरेज्ज विधी तो तत्थ देवदा कोई। आदाय तं कलेवरमुट्ठिज्ज रमिज्ज बाधेज्ज ।१९७७। =यदि यह विधि न की जावेगी अर्थात् क्षपकके मृत शरीरके अग बाँधे या छेदे नहीं जायेगे तो मृत शरीरमें क्रीडा करनेका स्वभाव-वाला कोई देवता (भूत अथवा पिशाच) उसमे प्रवेश करेगा। उस प्रेतको लेकर वह उठेगा, भागेगा, क्रीडा करेगा ।१९७७।

स्या. म/११/१३५/१० यदपि च गयाश्राद्धादियाचनमुपलभ्यते, तदपि तादृशविप्रलम्भकविभगज्ञानिव्यन्तरादिकृतमेव निश्चेयम् ।=बहुत-से पितर पुत्रोंके शरीरमें प्रविष्ट होकर जो गया आदि तीर्थस्थानोंमे श्राद्ध करनेके लिए कहते हैं, वे भी कोई ठगनेवाले विभगज्ञानके धारक व्यन्तर आदि नीच जातिके देव ही हुआ करते है।

६. व्यंतरोंके शरीरोंके वर्ण व चैत्य वृक्ष

तिप /६/गा. नं. (त्रि. सा./२५२-२५३)

नाम गा २५	वर्ण गा. ५५-५६	वृक्ष गा २८	नाम गा. २५	वर्ण गा. ५७-५८	वृक्ष गा. २८
किन्नर	प्रियगु	अशोक	यक्ष	श्याम	न्यग्रोध
किम्पुरुष	सुवर्ण	चम्पक	राक्षस	श्याम	कण्टक वृक्ष
महोरग	श्याम	नागद्रुम	भूत	श्याम	तुलसी
गन्धर्व	सुवर्ण	तुम्बुर	पिशाच	कज्जल	कदंब

२. व्यंतर इन्द्र निर्देश

१. व्यन्तरोंके इन्द्रोंके नाम व संख्या

ति प /६/गा. ताणं किंपुरुसा किणरा दुवे इंदा ।३५। इय किंपुरिसा-णिंदा सप्पुरुसो ताण सह महापुरिसो ।३७। महोरगया। महाकाओ अतिकाओ इंदा ।३९। गधव्वा। गीदरदी गीदरसा इदा ।४१। ताण वे माणिपुण्णभद्दिंदा ।४३। रक्खसइदा भीमो महाभीमो ।४५। भूदिंदा सरूवो पडिरूवो ।४७। पिसाचइदा य कालमहाकाला ।४९। सोलस-मोम्हिंदाणं किणरपहुदीण होंति ।५०। पढमुच्चारिदणासा दक्खिणइंदा हवंति एदेसु। चरिद उच्चारिदणामा उत्तरइदा पभावजुदा ।५१। (त्रि सा./२७३-२७४)।

देवका नाम	दक्षिणेद्र	उत्तरेंद्र	देवका नाम	दक्षिणेद्र	उत्तरेंद्र
किन्नर	किंपुरुष	किन्नर	यक्ष	मणिभद्र	पूर्णभद्र
किंपुरुष	सत्पुरुष	महापुरुष	राक्षस	भीम	महाभीम
महोरग	महाकाय	अतिकाय	भूत	स्वरूप	प्रतिरूप
गधर्व	गीतरति	गीतरस	पिशाच	काल	महाकाल

इस प्रकार किन्नर आदि सोलह व्यन्तर इन्द्र है ।५०।

२. व्यंतरेन्द्रोंका परिवार

ति. प /६/६८ पडिइंदा सामणिय तणुरक्खा होंति तिण्णि परिसाओ। सत्ताणीय-पइणा अभियोगं ताण पत्तेयं ।६८। =उन उपरोक्त इन्द्रोंमें-से प्रत्येकके प्रतीन्द्र, सामानिक, तनुरक्ष, तीनों पारिषद, सात अनीक, प्रकीर्णक और आभियोग्य इस प्रकार ये ८ परिवार देव होते है (और भी दे० ज्योतिष/१/५)।

दे० व्यतर/३/१ (प्रत्येक इन्द्रके चार-चार देवियाँ और दो-दो महत्त-रिकाएँ होती है।)

प्रत्येक इन्द्रके अन्य परिवार देवोंका प्रमाण — (ति. प /६/६९ ७६), (त्रि. सा./२७९-२८२)।

नं०	परिवार देवका नाम	गणना	नं०	परिवार देवका नाम	गणना
१	प्रतीन्द्र	१	८	प्रत्येक अनीककी प्रथम कक्षा	२८०००
२	सामानिक	४०००			
३	आत्मरक्ष	१६०००	९	द्वि० आदि कक्षा	दूनी दूनी
४	अभ्यतर पारि०	८०००	१०	हाथी (कुल)	३५५६०००
५	मध्य पारि०	१०,०००	११	सातों अनीक	२४८९२०००
६	बाह्य पारि०	१२,०००	१२	प्रकीर्णक	असख्य
७	अनीक	७		आभियोग्य व किल्विष	,, (त्रि.सा. ,,

३. व्यंतरोंकी देवियोंका निर्देश

२. १६ इन्द्रोंकी देवियोंके नाम व संख्या

(ति प /६/३५-५४); (त्रि. सा./२५८-२७८)।

नं०	इन्द्रका नाम	गणिका नं० १	गणिका नं० २	वल्लभिका नं० १	वल्लभिका नं० २
१	किंपुरुष	मधुरा	मधुरालापा	अवतंसा	केतुमती
२	किन्नर	सुस्वरा	मृदुभाषिणी	रतिसेना	रतिप्रिया
३	सत्पुरुष	पुरुषाकांता	सोम्या	राहिणी	नवमी
४	महापुरुष	पुरुषदर्शिनी	भोगा	ह्री	पुष्पवती
५	महाकाय	भोगवती	भुजगा	भोगा	भोगवती
६	अतिकाय	भुजगप्रिया	विमला	आनन्दिता	पुष्पगधी
७	गीतरति	सुघोषा	अनिन्दिता	सरस्वती	स्वरसेना
८	गीतरस	सुस्वरा	सुभद्रा	नन्दिनी	प्रियदर्शना
९	मणिभद्र	भद्रा	मालिनी	कुन्दा	बहुपुत्रा
१०	पूर्णभद्र	पद्ममालिनी	सर्वश्री	तारा	उत्तमा
११	भीम	सर्वसेना	रुद्रा	पद्मा	वसुमित्रा
१२	महाभीम	रुद्रवती	भूता	रत्नाढ्या	कंचनप्रभा
१३	स्वरूप	भूतकान्ता	महाबाहु	रूपवती	बहुरूपा
१४	प्रतिरूप	भूतरक्ता	अम्बा	सुमुखी	सुसीमा
१५	काल	कला	रसा	कमला	कमलप्रभा
१६	महाकाल	सुरसा	सदर्शनिका	उत्पला	सदर्शना

६. मध्यलोकमें व्यंतर देवियोंका निवास

ति. प /४/ गा	स्थान	देवी	भवनादि
२०४	गगा नदीके निर्गमन स्थानकी समभूमि	दिक्कुमारिया	भवन
२०६	गंगा नदीमें स्थित कमलाकार कूट	वला	,,
२५१	जम्बूद्वीपकी जगतीमे गगा नदी के बिलद्वारपर	दिक्कुमारी	,,
२५८	सिन्धु नदीके मध्य कमलाकार कूट	अवना या लवणा	,,
२६२	हिमवान्के मूलमें सिन्धुकूट	सिन्धु	,,
१६५१	हिमवान् पर्वतके ११ में से ६ कूट	कूटके नामवाली	,,
१६७२	पद्म ह्रदके मध्य कमलपर	श्री	,,
१७२८	महा पद्म ह्रदके ,, ,, ,,	ह्री	,,
१७६२	तिगिछ ,, ,, ,, ,, ,,	धृति	,,
१९७६	सुमेरु पर्वतके सौमनस वनकी चारो दिशाओमें ८ कूट	मेघकरा आदि ८	निवास
२०४३	सौमनस गजदन्तका काचन कूट	सुवत्सा	,,

ति. प./४/ गा.	स्थान	देवी	भवनादि
२०४३	सौमनस गजदन्त विमलकूट	श्रीवत्समित्रा	निवास
२०५४	विद्युत्प्रभ गजदन्तका स्वस्तिक कूट	वला	,,
,,	,, ,, का कनककूट	वारिषेणा	,,
२०५६	गन्धमादन गजदन्तपर लोहितकूट	भोगवती	,,
,,	,, ,, स्फटिक कूट	भोगंकृति	,,
२०६२	माल्यवान् गजदन्तपर सागरकूट	भोगवती	,,
,,	,, ,, रजतकूट	भोगमालिनी	,,
२१७३	शाल्मलीवृक्ष स्थलकी चौथी भूमिके चार तोरण द्वार	वेणु युगलकी देवियाँ	,,
२१९६	जम्बूवृक्ष स्थलकी भी चौथी भूमिके चार तोरण द्वार	आदर युगलकी देवियाँ	,,
जं. प./६/ ३१–४३	देवकुरु व उत्तरकुरुके २० द्रहोंके कमलोंपर	सपरिवार नील-कुमारी आदि	भवन
ति. प./५/ १४४–१७२	रुचकवर पर्वतके ४४ कूट	दिक्कन्याएँ	,,

७. द्वीप समुद्रोंके अधिपति देव

(ति. प./५/३८-४९); (ह. पु /५/६३७-६४६), (त्रि सा /९६१-९६५)

संकेत—द्वी=द्वीप, सा=सागर, ← =इसके समान

द्वीप या समुद्र	ति. प./४/३८-४९		ह पु /५/६३७-६४६		त्रि. सा./९६१-९६५	
	दक्षिण	उत्तर	दक्षिण	उत्तर	दक्षिण	उत्तर
जम्बू द्वी०	आदर	अनादर	अनावृत		←	—
लवण सा.	प्रभास	प्रियदर्शन	सुस्थित		←	—
धातकी	प्रिय	दर्शन	प्रभास	प्रियदर्शन	←	←
कालोद	काल	महाकाल	←	←	←	←
पुष्करार्ध	पद्म	पुण्डरीक	←	←	पद्म	पुण्डरीक
मानुषोत्तर	चक्षु	सुचक्षु	←	←	←	←
पुष्करार्ध	×	×	×	×	चक्षुष्मान्	सुचक्षु
पुष्कर सा०	श्रीप्रभु	श्रीधर	←	←	←	←
वारुणीवर द्वी०	वरुण	वरुणप्रभ	←	←	←	←
,, सा०	मध्य	मध्यम	←	←	←	←
क्षीरवर द्वी०	पाण्डुर	पुष्पदन्त	←	←	←	←
,, सा०	विमल प्रभ	विमल	विमल	विमलप्रभ	←	←
घृतवर द्वी०	सुप्रभ	घृतवर	सुप्रभ	महाप्रभ	←	←
,, सा०	उत्तर	महाप्रभ	कनक	कनकाभ	कनक	कनकप्रभ
क्षौद्रवर द्वी०	कनक	कनकाभ	पूर्ण	पूर्णप्रभ	पुण्य	पुण्यप्रभ
,, सा०	पूर्ण ।	पूर्णभद्र	गन्ध	महागन्ध	←	←
नदीश्वर द्वी०	गन्ध	महागन्ध	नन्दी	नन्दीप्रभ	←	←
,, सा०	नन्दि	नन्दिप्रभु	भद्र	सुभद्र	←	←
अरुणवर द्वी०	चन्द्र	सुभद्र	अरुण	अरुणप्रभ	←	←
,, सा०	अरुण	अरुणप्रभ	सुगन्ध	सर्वगन्ध	←	←
अरुणाभास द्वी०	सुगन्ध	सर्वगन्ध	×	×	×	×
अन्य—	→ कथन नष्ट है ←					

८. भवनों आदिका विस्तार

१. सामान्य प्ररूपणा

ति. प./६/गा. का भावार्थ—१. उत्कृष्ट भवनोंका विस्तार और बाहल्य क्रमसे १२००० व ३०० योजन है। जघन्य भवनोंका २५ व १ योजन अथवा १ कोश है ।८-१०। उत्कृष्ट भवनपुरोका ५१०००,०० योजन और जघन्यका १ योजन है ।२१। [त्रि. सा./३०० में उत्कृष्ट भवनपुरका विस्तार १०००,०० योजन बताया है।] उत्कृष्ट आवास १२२०० योजन और जघन्य ३ कोश प्रमाण विस्तारवाले हैं। (त्रि. सा./२९८-३००)। [नोट—ऊँचाई सर्वत्र लम्बाई व चौडाईके मध्यवर्ती जानना, जैसे १०० यो. लम्बा और ५० यो. चौडा हो तो ऊँचा ७५ यो. होगा। कूटाकार प्रासादोंका विस्तार मूलमें ३, मध्यमें २ और ऊपर १ होता है। ऊँचाई मध्य विस्तारके समान होती है।

२. विशेष प्ररूपणा

ति. प./४/गा.	स्थान	भवनादि	ज. उ.	आकार	लम्बाई	चौडाई	ऊँचाई
२५-२८	जंबूद्वीपकी जगतीपर	भवन	ज.	चौकोर	१०० ध.	५० ध	७५ ध.
३०	जगतीपर	,,	मु.	,,	३०० ध	१५० ध.	२२५ ध.
३२		,,	प.	,,	२०० ध	१०० ध	१५० ध.
७४	विजय द्वार	पुर		,,	×	२ यो.	४ यो
७७		नगर		,,	१२००० यो०	६००० यो	
१६६	विजयार्ध	प्रासाद		,,	१ को.	१/२ को	३/४ को.
२२५	गंगाकुण्ड	,,		कूटाकार	×	३००० ध.	२००० ध
१६५३	हिमवान्	भवन		चौकोर	×	३१$\frac{१}{४}$ यो.	६२$\frac{१}{२}$ यो.
१६७१	पद्म ह्रद	,		,,	१ को	१/२ को.	३/४ को.
१७२६	अन्य ह्रद	भवन		,,	→ पद्म ह्रदसे उत्तरोत्तर दूना ←		
१७५६	महाहिमवान आदि	भवन		,	→ हिमवानसे उत्तरोत्तर दूना ←		
१८३६-३७	पाडुकवन	प्रासाद		,,	३० को.	१५ को	१ को.
१९४४	सौमनस	पुर		,,	→ पांडुकवनवालेसे दुगुने ←		
१९९५	नन्दन	भवन		,,	→सौमनस वालेसे दुगुने←		
२०८०	यमकगिरि	प्रासाद		,,	×	१२५ को	२५० को.
२१०७	दिग्गजेंद्र	,,		,,	१२५ को.	६२$\frac{१}{२}$ को.	९३$\frac{३}{४}$ को.
२१६२	शाल्मली वृक्ष	,,		,,	१ को.	१/२ को.	३/४ को.
२१८५	,, स्थल	,,		,,	,,	,,	,,
२५४०	इष्वाकार	भवन		,,	→ निषध पर्वतवत ←		
८०	नंदीश्वरके वनोंमें	प्रासाद		,,	३१ यो.	३१ यो	६२ यो
१४७	रुचकवर द्वी.	भवन			→ गौतमदेवके भवनके समान ←		
१८१	द्वि. जम्बूद्वीप विजयादिके	नगर		,,	१२००० यो.	(६००० यो)	×
१८५	उपरोक्त नगरके	भवन		,,	६२ यो.	३१ यो.	
१८६	उपरोक्त नगरके मध्यमें	प्रासाद		,,	×	१२५ यो	२५० यो
१९५	उपरोक्त नगरके प्रथम दो मडल	,,		,,	→ मध्य प्रासादवत ←		
१९५	तृ० चतु० मडल	,,		,,	→ मध्य प्रासादसे आधा ←		
२३२-२३३	चैत्य वृक्षके बाहर	,,		,,	×	३१$\frac{१}{४}$ यो.	६२$\frac{१}{२}$ यो.
ति प./६/गा. ७६	व्यतरोंकी गणिकाओके	नगर		,,	८४०००यो.	८४००० यो.	×

व्यकलन—घटाना या Substraction,—(विशेष दे० गणित/II/१)

व्यक्त राग—दे० राग/३।

व्यक्ति—

न्या. सू./२/२/६४ व्यक्तिगुणविशेषाश्रयो मूर्त्ति ।६४। न्या. सू./भा./२/२/६४/१४५/१६ व्यक्तिरात्मलाभ ।=१. इन्द्रियोंसे ग्रहण करने योग्य विशेषगुणोंकी आश्रयरूप मूर्त्ति व्यक्ति है। २ अथवा स्वरूपके लाभको व्यक्ति कहते हैं।

न्या. वि./वृ./१/११५/४२८/१६ व्यक्तिश्च दृश्यमान रूपं 'व्यज्यत इति व्यक्ति' इति व्युत्पत्ते । =जो व्यक्त होता है उसे व्यक्ति कहते हैं ऐसी व्युत्पत्ति होनेके कारण दृश्यमान रूप व्यक्ति है।

न्या. वि./वृ./१/३४/२५७/१४ अनभिव्यक्तिः अप्रतिपत्तिः। = अप्रतिपत्ति अर्थात् वस्तुके स्वरूपका ज्ञान न होना अनभिव्यक्ति है।

व्यतिकर—

स्या. मं./२४/२९२/११ येन स्वभावेन सामान्यं तेन विशेषः, येन विशेषस्तेन सामान्यमिति व्यतिकरः। = पदार्थ, जिस स्वभावसे सामान्य है उसी स्वभावसे विशेष है और जिस स्वभावसे विशेष है उसीसे सामान्य है अनेकान्तवादमें यह बात दर्शाकर नैयायिक लोग इस सिद्धान्तमें व्यतिकर दोष उठाते हैं।

स. भ. त./८२/८ परस्परविषयगमनं व्यतिकरः। = जिस अवच्छेदक स्वभावसे अस्तित्व है उससे नास्तित्व क्यों न बन बैठे और जिस स्वभावसे नास्तित्व नियत किया है उससे अस्तित्व व्यवस्थित हो जाय। इस प्रकार परस्परमें व्यवस्थापक धर्मोंका विषयगमन कर लेनेसे अनेकान्त पक्षमें व्यतिकर दोष आता है, ऐसा नैयायिक कहते हैं।

व्यतिक्रम— सामायिक पाठ। अमितगति/९ व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलङ्घनम्। = शील व्रतोंका उल्लंघन करना व्यतिक्रम है।

व्यतिरेक—

रा. वा./४/४२/११/२५२/१६ अथ के व्यतिरेकाः। वाग्विज्ञानव्यावृत्तिलिङ्गसमधिगम्यपरस्परविलक्षणा उत्पत्तिस्थितिविपरिणामवृद्धिक्षयविनाशधर्माणः गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानदर्शनसंयमलेश्यासम्यक्त्वादयः। = व्यावृत्ताकार अर्थात् भेद द्योतक बुद्धि और शब्दप्रयोगके विषयभूत परस्पर विलक्षण उत्पत्ति, स्थिति, विपरिणाम, वृद्धि, ह्रास, क्षय, विनाश, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, दर्शन, संयम, लेश्या, सम्यक्त्व आदि व्यतिरेक धर्म हैं।

प. मु./४/९ अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्। = भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें रहनेवाले विलक्षण परिणामको व्यतिरेक विशेष कहते हैं, जैसे गौ और भैंस।

दे० अन्वय—(अन्वय व व्यतिरेक शब्दसे सर्वत्र विधि निषेध जाना जाता है।)

२. व्यतिरेकके भेद

पं. ध./पू./भाषाकार/१४९ द्रव्यक्षेत्र काल व भावसे व्यतिरेक चार प्रकारका होता है।—विशेष दे० सप्तभंगी।

३. द्रव्यके धर्मों या गुणोंमें परस्पर व्यतिरेक नहीं है

पं. ध./पू./श्लो ननु च व्यतिरेकत्वं भवतु गुणानां सदन्वयत्वेऽपि। तदनेकत्वप्रसिद्धौ भावव्यतिरेकतः सतामिति चेत् ।१४५। तन्न यतोऽस्ति विशेषो व्यतिरेकस्यान्वयस्य चापि यथा। व्यतिरेकिणो ह्यनेकेऽप्येकः स्यादन्वयी गुणो नियमात् ।१४६। भवति गुणांशः कश्चित् स भवति नान्यो भवति स चाप्यन्यः। सोऽपि न भवति तदन्यो भवति तदन्योऽपि भावव्यतिरेकः ।१५०। तल्लक्षणं यथा स्याज्ज्ञानं जीवो य एव तावांश्च। जीवो दर्शनमिति वा तदभिज्ञानात् एव तावांश्च ।१५५। = प्रश्न—स्वत सत् रूप गुणोंमें सत् सत् यह अन्वय बराबर रहते हुए भी, उनमें परस्पर अनेकताकी प्रसिद्धि होनेपर उनमें भावव्यतिरेक हेतुक व्यतिरेकत्व होना चाहिए? ।१४५। उत्तर—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अन्वयका और व्यतिरेकका परस्परमें भेद है। जैसे—नियमसे व्यतिरेकी अनेक होते हैं और अन्वयी गुण एक होता है ।१४६। [भाव व्यतिरेक भी गुणोंमें परस्पर नहीं होता है, बल्कि] जो कोई एक गुणका अविभागी प्रतिच्छेद है, वह वह ही होता है, अन्य नहीं हो सकता, और वह दूसरा भी वह पहिला नहीं हो सकता, किन्तु जो उससे भिन्न है वह उससे भिन्न ही रहता है ।१५०। उसका लक्षण और गुणोंमें भावव्यतिरेकका अभाव इस प्रकार है, जैसे कि जो ही और जितना ही जीव ज्ञान है वही तथा उतना ही जीव एकत्व प्रत्यभिज्ञान प्रमाणसे दर्शन भी है ।१५५।

* पर्याय व्यतिरेकी होती हैं—दे. पर्याय/२।

* अन्वय व्यतिरेकमें साध्यसाधक भाव—दे. सप्तभंगी/५/३।

व्यतिरेक व्याप्त अनुमान— दे. अनुमान।

व्यतिरेकी दृष्टांत— दे. दृष्टांत।

व्यतिरेकी हेतु— दे. हेतु।

व्यधिकरण— किसी एक धर्मीमें एक धर्म रहता है और अन्य कोई धर्म नहीं रहता। तब वह अभावरूप धर्म उस पहले धर्मका व्यधिकरण कहलाता है। जैसे पटरूप धर्म घटका व्यधिकरण है।

व्यभिचार—

रा. वा./१/१२/१/५२/४ व्रताभिसन्धिलोपो व्यभिचारः। = व्रतको तब रूपसे ग्रहण करना व्यभिचार है।

२. व्यभिचारी हेत्वाभास सामान्यका लक्षण

प. मु./६/३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः ।३०। = जो हेतु पक्ष, विपक्ष व सपक्ष तीनोंमें रहे उसे अनैकान्तिक कहते हैं।

न्या. दी./३/§६८/१०६/११ सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः (न्या. सू./मू./१/२/५) यथा—'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्' इति। प्रमेयत्वं हि हेतुः साध्यभूतमनित्यत्वं व्यभिचरति, गगनादौ नित्येऽपि वृत्तेः। ततो विपक्षादप्यव्यावृत्तत्वादनैकान्तिकः। पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः। = जो हेतु व्यभिचारी होता है उसे अनैकान्तिक है। जैसे—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रमेय है', यहाँ 'प्रमेयत्व' हेतु अपने साध्य अनित्यत्वका व्यभिचारी है। कारण, आकाशादि विपक्षमें नित्यत्वके साथ भी वह रहता है। अतः विपक्षसे व्यावृत्ति न होनेसे अनैकान्तिक हेत्वाभास है।४०। जो पक्ष, सपक्ष और विपक्षमें रहता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है।६२।

३. व्यभिचारी हेत्वाभासके भेद

न्या. दी./३/§६३/१०१ स द्विविधः—निश्चितविपक्षवृत्तिकः शङ्कितविपक्षवृत्तिकश्च। = वह दो प्रकारका है—निश्चित विपक्षवृत्ति और शंकित विपक्षवृत्ति।

४. निश्चित व शंकित विपक्ष वृत्तिके लक्षण

प. मु./६/३१-३४ निश्चितविपक्षवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत् ।३१। आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात् ।३२। शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात् ।३३। सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात् ।३४। = जो हेतु विपक्षमें निश्चित रूपसे रहे उसे निश्चित विपक्षवृत्ति अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे—शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेय है जैसे घड़ा ।३१-३२। जो हेतु विपक्षमें सन्देहरूपसे रहे उसे शंकितवृत्ति अनैकान्तिक कहते हैं। जैसे—सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि, वक्ता है।

न्या. दी./३/§६३/१०१ तत्राद्यो यथा धूमवानयं प्रदेशोऽग्निमत्त्वादिति। अत्र अग्निमत्त्वं पक्षीकृते सन्दिह्यमानधूमे पुरोवर्तिनि प्रदेशे वर्तते, सपक्षे धूमवति महानसे च वर्तते, विपक्षे धूमरहितत्वेन निश्चितेऽङ्गारावस्थापन्नाग्निमत्प्रदेशे वर्तते इति निश्चयान्निश्चितविपक्षवृत्तिकः। द्वितीयो यथा, गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामो भवितुमर्हति मैत्रीतनयत्वादितरतत्तनयवदिति। अत्र मैत्रीतनयत्वं हेतुः पक्षीकृते गर्भस्थे वर्तते, सपक्षे इतरतत्पुत्रे वर्तते, विपक्षे अश्यामे वर्ततापीति शङ्काया अनिवृत्तेः शङ्कितविपक्षवृत्तिकः। अपरमपि शङ्कितविपक्षवृत्तिकस्योदाहरणम्, अर्हन्सर्वज्ञो न भवितुमर्हति वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवदिति। वक्तृत्वस्य हि हेतोः पक्षीकृते अर्हति, सपक्षे रथ्यापुरुषे यथा-वृत्तिरस्ति तथा विपक्षे सर्वज्ञेऽपि वृत्तिः सम्भाव्येत, वक्तृत्वज्ञातृत्वयोरविरोधात्। यद्धि येन सह विरोधि तत्खलु तद्वति न वर्तते। न च

वचनज्ञानयोर्लोके विरोधोऽस्ति, प्रत्युत ज्ञानवत एव वचनसौष्ठवं स्पष्ट दृष्टम्। ततो ज्ञानोत्कर्षवति सर्वज्ञे वचनोत्कर्षे कानुपपत्तिरिति। =१ उनमें पहलेका (निश्चितविपक्षवृत्तिका) उदाहरण यह है—'यह प्रदेश धूमवाला है, क्योंकि वह अग्निवाला है।' यहाँ 'अग्नि' हेतु पक्षभूत संदिग्ध धूमवाले सामनेके प्रदेशमें रहता है, और सपक्ष रसोईघरमें रहता है तथा विपक्ष धूमरहित रूपसे निश्चित रूपसे निश्चित अंगारस्वरूप अग्निवाले प्रदेशमें भी रहता है, ऐसा निश्चय है, अतः वह निश्चित विपक्ष वृत्ति अनैकान्तिक है। २. दूसरेका (शंकित विपक्ष वृत्तिका) उदाहरण यह है—'गर्भस्थ मैत्रीका पुत्र श्याम होना चाहिए, क्योंकि मैत्रीका पुत्र है, दूसरे मैत्रीके पुत्रोंकी तरह' यहाँ 'मैत्रीका पुत्रपना' हेतु गर्भस्थ मैत्रीके पुत्रमें रहता है, सपक्ष दूसरे मैत्रीपुत्रोंमें रहता है, और विपक्ष अश्याम—गोरे पुत्रमें भी रहे इस शंकाकी निवृत्ति न होनेसे अर्थात् विपक्षमें भी उसके रहनेकी शंका बनी रहनेसे वह शंकित विपक्षवृत्ति है। ३ शंकित विपक्षवृत्तिका दूसरा भी उदाहरण है—'अर्हंत सर्वज्ञ नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे वक्ता है, जैसे राह चलता पुरुष'। यहाँ 'वक्तापन' हेतु जिस प्रकार पक्षभूत अर्हंतमें और सपक्षभूत रथ्यापुरुषमें रहता है उसी प्रकार सर्वज्ञमें भी उसके रहनेकी सम्भावना की जाय, क्योंकि वक्तापन और ज्ञातापनका कोई विरोध नहीं है। जिसका जिसके साथ विरोध होता है, वह उसवालेमें नहीं रहता है, और वचन तथा ज्ञानका लोकमें विरोध नहीं है, बल्कि ज्ञानीके ही वचनोंमें चतुराई अथवा सुन्दरता स्पष्ट देखनेमें आती है। अतः विशिष्ट ज्ञानवान सर्वज्ञमें विशिष्ट वक्तापनके होनेमें क्या आपत्ति है? इस तरह वक्तापनकी विपक्षभूत सर्वज्ञमें भी सम्भावना होनेसे वह शंकित विपक्षवृत्ति नामका हेत्वाभास है।

*** उपग्रह आदि व्यभिचार**—दे. नय/III/६/८।

व्यय—दे. उत्पाद।

व्यवच्छेद—न्या. वि./वृ./१/४६/६ व्यवच्छेदो निरासः। =निराकरण या निवृत्ति करना व्यवच्छेद है।

*** अन्ययोग आदि व्यवच्छेद**—दे. एव।

व्यवसाय—

न्या. वि./वृ./१/७/१४०/१७ अवसायोऽधिगमस्तदभावो व्यवसायो विशब्दस्याभावार्थत्वात् विमलादिवत्। =अधिगम अर्थात् ज्ञानको अवसाय कहते हैं। उसका अभाव व्यवसाय है, क्योंकि, 'वि' उपसर्ग अभावार्थक है, जैसे 'विमल' का अर्थ मल रहित है।

द्र. सं./४२/१८१/४ व्यवसायात्मकं निश्चयात्मकमित्यर्थः। =व्यवसायात्मक अर्थात् निश्चयात्मक।

दे. अवाय—(अवाय, व्यवसाय, बुद्धि, विज्ञप्ति, आमुंडा, और प्रत्यामुंडा ये पर्यायवाची नाम हैं।)

*** कृषि व्यवसायकी उत्तमता**—दे. कृषि।

व्यवस्था—रा. वा./५/१/२६/४३५/२ अवतिष्ठन्ते पदार्था अनया आकृत्येत्यवस्था, विविधा अवस्था व्यवस्था विविधसंनिवेशो वेत्रासनाकार इत्यर्थः। =जिस आकृतिके द्वारा पदार्थ ठहराये जाते हैं वह अवस्था कहलाती है। विविध अवस्था व्यवस्था है। वेत्रासनादि आकाररूप विविध सन्निवेश, यह इसका अर्थ है।

नोट—(किसी विषयमें स्थितिको व्यवस्था कहते हैं और उससे विपरीतकी अव्यवस्था कहते हैं।)

व्यवस्था पद—दे. पद।

व्यवस्था हानि—दे. हानि।

व्यवहार—* मनुष्य व्यवहार—दे. मनुष्य।

व्यवहारत्व गुण—भ. आ./मू./४४८/६७३ पंचविहं ववहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं। बहुसो य दिट्ठकयपट्ठवणो ववहारवं होइ ।४४८। =पाँच प्रकारके प्रायश्चित्तोंको जो उनके स्वरूपसहित सविस्तार जानते हैं। जिन्होंने अन्य आचार्योंको प्रायश्चित्त देते हुए देखा है, और स्वयं भी जिन्होंने दिया है, ऐसे आचार्यको व्यवहारवान् आचार्य कहते हैं।

व्यवहारद्रव्य—दे. नय/V/४/२/४।

व्यवहार नय—दे. नय/V/८-९।

व्यवहार पल्य—दे. गणित/I/२।

व्यवहार सत्य—दे. सत्य/१।

व्यवहारावलंबी—दे. साधु/२।

व्यसन—

प. वि./१/१६, ३२ द्यूतमांससुरावेश्याखेटचौर्यपराङ्गनाः। महापापानि सप्तेति व्यसनानि त्यजेद्बुधः ।१६। न परमियन्ति भवन्ति व्यसनान्यपराण्यपि प्रभूतानि। त्यक्त्वा सत्पथमपथप्रवृत्तयः क्षुद्रबुद्धीनाम् ।३२। =१. जूआ, मांस, मद्य, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री, इस प्रकार ये सात महापापरूप व्यसन हैं। बुद्धिमान् पुरुषको इन सबका त्याग करना चाहिए। (पं. वि./६/१०), (वसु. श्रा./५९); (चा. पा./टी./२१/४३/पर उद्धृत), (ला. सं./२/११३)। २ केवल इतने ही व्यसन नहीं हैं, किन्तु दूसरे भी बहुतसे हैं। कारण कि अल्पमति पुरुष समीचीन मार्गको छोड़कर कुत्सित मार्गमें प्रवृत्त हुआ करते हैं ।३२।

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. वेश्या व्यसनका निषेध	—दे. ब्रह्मचर्य/१।
२. परस्त्री गमन निषेध	—दे. ब्रह्मचर्य/२।
३. चोरी व्यसन	—दे. अस्तेय।
४. द्यूत आदि अन्य व्यसन	—दे. वह वह नाम।

व्याकरण—१ आगम ज्ञानमें व्याकरणका स्थान—दे. आगम/३। २ वैयाकरणी लोग शब्द, समभिरूढ व एवंभूत नयाभासी हैं।—दे. अनेकांत/२/६।

व्याकरण—जैनाचार्योंने कई व्याकरण शास्त्र लिखे हैं। १ आ. पूज्यपाद (ई. श. ५) द्वारा रचित जैनेन्द्र व्याकरण, जो पाणिनि व्याकरणकी तुलना करता है। २ आ. पूज्यपाद (ई. श. ५) द्वारा रचित मुग्धबोध व्याकरण। ३. श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८-११७३) कृत गुजराती व्याकरण। ४ हेमचन्द्रसूरि (ई. १०८८-११७३) कृत प्राकृत व्याकरण। ५ हेमचन्द्र सूरि (ई. १०८८-११७३) कृत काव्यानुशासन। ६. आ. श्रुतसागर (ई. १४७३-१५३३) कृत प्राकृत व्याकरण। ७ आ. शुभचन्द्र (ई. १५१६-१५५६) कृत प्राकृत व्याकरण।

व्याख्या—नन्दा भद्रा आदि व्याख्याएँ—दे. वाँचना।

व्याख्या प्रज्ञप्ति—१ द्वादशांगका एक भेद—दे. श्रुतज्ञान/III। २ आ. अमितगति (ई. ९९३-१०२१) द्वारा रचित एक ग्रन्थ।

व्याघात—

ध. ७/२,२,१८/१५१/८ अथवा कायजोगद्धाखएण मणजोगेआगदे बिदियसमए वाघादिदस्स पुणरवि कायजोगो चेव आगदो।

ध. ७/२,२,१२६/१८०/१० कोधस्स वाघादेण एगसमओ णत्थि, वाघादिदे वि कोधस्सेव समुप्पत्तीदो। =अथवा काययोगके कालके क्षयसे मनोयोगको प्राप्त होकर द्वितीय समयमें व्याघात (मरण) को प्राप्त हुए उसको फिर भी काययोग ही प्राप्त हुआ। क्रोधके व्याघातसे एक समय नहीं पाया जाता, क्योंकि, व्याघात (मरण) को प्राप्त होनेपर भी पुनः क्रोधकी ही उत्पत्ति होती है।

भ. आ./भाषा/६०/१९/१ जहाँ स्थिति काण्डकघात होइ सो व्याघात कहिए।—(विशेष दे. अपकर्षण/४)

व्याघ्रभूति—एक अक्रियावादी—दे. अक्रियावाद।

व्याघ्रहस्त—पुन्नाट संघकी गुर्वावलीके अनुसार आप अभयसेनके शिष्य और नागहस्तिके गुरु थे।—दे. इतिहास/५/१८।

व्याघ्री—भरत क्षेत्रमें आर्यखण्डकी एक नदी—दे. मनुष्य/४।

व्याज—Interest (ध. ५/प्र. २८)

व्यापक—ध ४/१,३,१/८/२ आगास गगण देवपथ गुज्झगाचरिदं अवगाहणलक्खणं आधेयं वियापगमाधारो भूमि त्ति एयट्ठो। =१. आकाश, गगन, देवपथ, गुह्यकाचरित (यक्षोंके विचरणका स्थान), अवगाहनलक्षण, आधेय, व्यापक, आधार और भूमि ये सब नोआगम द्रव्य क्षेत्रके एकार्थवाचक नाम हैं—दे. क्षेत्र/१/१३। २ जीव शरीरमें व्यापक है पर सर्व व्यापक नहीं है—दे. जीव/३।

व्याप्यानुपलब्धि—अनुमानका एक भेद—दे. अनुमान/१।

व्यापार—

रा. वा./१/१/१/३/२८ व्यापृतिर्व्यापारः अर्थप्रापणसमर्थः क्रियाप्रयोगः। ='व्यापृतिर्व्यापार' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अर्थ प्राप्त करनेकी समर्थ क्रिया प्रयोगको व्यापार कहते हैं।

प्र सा./ता. वृ./२०५/२७६/८ चिच्चमत्कारप्रतिपक्षभूत आरम्भो व्यापारः। =चिच्चमत्कार मात्र जो आत्म स्वभाव उससे प्रतिपक्षभूत आरम्भका नाम व्यापार है।

व्याप्ति—न्या. दी./३/§६४/१०४/२ व्याप्तिर्हि साध्ये वह्न्यादौ सत्येव साधनं धूमादिरस्ति, असति तु नास्तीति साध्यसाधननियतसाहचर्यलक्षणा। एतामेव साध्यं विना साधनस्याभावादविनाभावमिति च व्यपदिश्यन्ते। =साध्य अग्नि आदिके होनेपर ही साधन धूमादिक होते हैं तथा उनके नहीं होनेपर नहीं होते, इस प्रकारके साहचर्यरूप साध्य साधनके नियमको व्याप्ति कहते हैं। इस व्याप्तिको ही साध्यके बिना साधनके न होनेसे अविनाभाव कहते हैं।—(विशेष दे. तर्क व दृष्टान्त/१/१)

स्या. म./२८/३२१/२४ व्याप्तिश्च साहचर्यस्य नियमः स यथा मिथः। सति यत्र यः स्यादेव न स्यादेवासतीह य. ।८९४। =परस्परमें सहचर नियमको व्याप्ति कहते हैं, वह इस प्रकार है, कि यहाँपर जिसके होनेपर जो होवें और जिसके न होनेपर जो नहीं ही होवें।—(विशेष दे. तर्क)

*** अन्य सम्बन्धित विषय**

१. व्यतिरेक व्याप्त अनुमान।	—दे. अनुमान।
२. अव्याप्त, अतिव्याप्त लक्षण।	—दे लक्षण।
३. अन्वय व्यतिरेक व्याप्त दृष्टान्त।	—दे दृष्टान्त।
४. अन्वय व्यतिरेक व्याप्त हेतु।	—दे. हेतु।
५ व्याप्त व्यापक सम्बन्ध।	—दे. सम्बन्ध।
६. कारण कार्यमें परस्पर व्याप्ति।	—दे. कारण/I/३।

व्याप्य—१ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध—दे. सम्बन्ध। २. व्याप्य हेतु—दे. हेतु। ३. व्याप्यासिद्ध हेत्वाभास—दे. असिद्ध।

व्यामोह—मो. पा./टी./२७/३२२/१४ व्यामोहः पुत्रकलत्रमित्रादिस्नेहः। वामानां स्त्रीणां वा मोहो वामोहः तत्संयोगे समाहारो द्वन्द्व। =पुत्र कलत्र मित्रादिका स्नेह व्यामोह है। अथवा वाम अर्थात् स्त्रियोंका मोह वाम मोह है। वाम+मोह ऐसा यहाँपर द्वन्द्व समास है।

व्यावृत्ति—

न्या. वि./वृ./१/३१/६३/७ व्यावृत्तिः स्वलक्षणानां विच्छेदः। =अपने लक्षणोंका विच्छेद व्यावृत्ति है।

स्या./मं./४/१८/१ व्यतिवृत्तिः व्यावृत्तिः, सजातीयविजातीयेभ्यः सर्वथा व्यवच्छेदः।

स्या./मं./१४/१६६/७ व्यावृत्तिर्हि विवक्षितपदार्थे इतरपदार्थप्रतिषेधः। =सजातीय और विजातीय पदार्थोंसे सर्वथा अलग होनेवाली प्रतीतिको व्यावृत्ति अथवा विशेष कहते हैं। अथवा विवक्षित पदार्थमें दूसरे पदार्थके निषेधको व्यावृत्ति कहते हैं।

दे. पर्याय/१/१/२ (पर्याय, व्यावृत्ति, विशेष व अपवाद ये एकार्थवाची हैं।)

व्यास—Diameter (ध. ५/प्र. २८)।

व्यास—१. पां. पु./सर्ग/श्लोक—भीष्मका सौतेला भाई था। धीवरकी कन्यासे उत्पन्न पाराशरका पुत्र था। (७/११४-११७)। इसके तीन पुत्र थे—धृतराष्ट्र, पाण्डु व विदुर। (७/११७)। अपर नाम धृतमर्त्य था (८/१८)। २. महाभारत आदि पुराणोंके रचयिता। समय—अत्यन्त प्राचीन। ३ योगदर्शनके भाष्यकार। समय—ई. श./४ (दे० योगदर्शन)। ४. व्यास एलापुत्र एक विनयवादी था। —दे० वैनयिक।

व्युच्छित्ति—ध./८/३,४/५/पंक्ति एदम्मि गुणट्ठाणे एदासि पयडीण बंधवोच्छेदो होदि त्ति कहिदे हेट्ठिल्ल गुणट्ठाणाणि तासि पयडीणं बंधसामियाणि त्ति सिद्धीदो। किंच वोच्छेदो दुविहो उप्पादाणुच्छेदो अणुप्पादाणुच्छेदो। उत्पाद सत्त्वं, अनुच्छेदो विनाशः अभावः नीरूपिता इति यावत्। उत्पाद एव अनुच्छेद उत्पादानुच्छेदः, भाव एव अभाव इति यावत्। एसो दव्वट्ठियणयववहारो। ण च एसो एयंतेण चप्पलओ, उत्तरकाले अप्पिदपज्जायस्स विणासेण विसिट्ठदव्वस्स पुव्विल्लकाले वि उवलंभादो। (५/८)। अनुत्पाद असत्त्व, अनुच्छेदो विनाशः, अनुत्पाद एव अनुच्छेदः (अनुत्पादानुच्छेद) असतः अभाव इति यावत्, सत. असत्त्वविरोधात्। एसो पज्जवट्ठियणयववहारो। एत्थं पुण उप्पादाणुच्छेदमस्सिदूण जेण सुत्तकारेण अभावव्ववहारो कदो तेण भावो चेव पयडिबंधस्स परूविदो। तेणेदस्स गंथस्स बंधसामित्तविचयसण्णा घडदि त्ति। (६/८)। =१. इस गुणस्थानमें इतनी प्रकृतियोंका बन्धव्युच्छेद होता है, ऐसा कहनेपर उससे नीचेके गुणस्थान उन प्रकृतियोंके बन्धके स्वामी हैं, यह स्वयमेव सिद्ध हो जाता है। २. दूसरी बात यह है कि व्युच्छेद दो प्रकारका है—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। उत्पादका अर्थ सत्त्व और अनुच्छेदका अर्थ विनाश, अभाव अथवा नीरूपीपना है। उत्पाद ही अनुच्छेद सो उत्पादानुच्छेद (इस प्रकार यहाँ कर्मधारय समास है)। उक्त कथनका अभिप्राय भाव या सत्त्वको ही अभाव बतलाना है। यह द्रव्यार्थिक नयके आश्रित व्यवहार है, और यह सर्वथा मिथ्या भी नहीं है, क्योंकि, उत्तरकालमें विवक्षित पर्यायके विनाशसे विशिष्ट द्रव्य पूर्वकालमें भी पाया जाता है। अनुत्पादका अर्थ असत्त्व और अनुच्छेदका अर्थ विनाश है। अनुत्पाद ही अनु-

च्छेद अर्थात् असत्का अभाव होना अनुत्पादानुच्छेद है, क्योंकि सत्के असत्त्वका विरोध है। यह पर्यायार्थिक नयके आश्रित व्यवहार है। ३. यहाँपर चूँकि सूत्रकारने उत्पादानुच्छेदका (अर्थात् पहले भेदका) आश्रय करके ही अभावका व्यवहार किया है, इसलिए प्रकृतिबन्धका सद्भाव ही निरूपित किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थका बन्धस्वामित्वविचय नाम सगत है।

गो. क./जी. प्र./९४/८०/४ बन्धव्युच्छित्तौ द्वौ नयौ इच्छन्ति—उत्पादानुच्छेदोऽनुत्पादानुच्छेदश्चेति। तत्र उत्पादानुच्छेदो नाम द्रव्यार्थिक तेन सत्त्वावस्थायामेव विनाशमिच्छति। असत्त्वे बुद्धिविषयातिक्रान्तभावेन वचनगोचरातिक्रान्ते सति अभावव्यवहारानुपपत्ते। तस्मात् भाव एव अभाव इति सिद्धं। अनुत्पादानुच्छेदो नाम पर्यायार्थिक तेन असत्त्वावस्थायामभावव्यपदेशमिच्छति। भावे उपलभ्यमाने अभावत्वविरोधात्। अत्र पुन' सूत्रे द्रव्यार्थिकनय. उत्पादानुच्छेदोऽवलम्बित. उत्पादस्य विद्यमानस्य अनुच्छेद. अविनाश. यस्मिन् असौ उत्पादानुच्छेदो नय। इति द्रव्यार्थिकनयापेक्षया स्वस्वगुणस्थानचरमसमये बन्धव्युच्छित्ति. बन्धविनाश। पर्यायार्थिकनयेन तु अनन्तरसमये बन्धनाश'। =व्युच्छित्तिका कथन दो नयसे किया जाता है—उत्पादानुच्छेद और अनुत्पादानुच्छेद। तहाँ उत्पादानुच्छेद नाम द्रव्यार्थिकनयका है। इस नयसे सत्त्वकी अवस्थामें ही विनाश माना जाता है, क्योंकि बुद्धिका विषय न बननेपर तब वह अभाव वचनके अगोचर हो जाता है, और इस प्रकार उस अभावका व्यवहार ही नहीं हो सकता। इसलिए सद्भावमे ही असद्भाव कहना योग्य है यह सिद्ध हो जाता है। अनुत्पादानुच्छेद नाम पर्यायार्थिक नयका है। इस नयसे असत्त्वकी अवस्थामें अभावका व्यपदेश किया जाता है। क्योंकि, सद्भावके उपलब्ध होनेपर अभावपनेके होनेका विरोध है। यहाँ सूत्रमें द्रव्यार्थिक नय अर्थात् उत्पादानुच्छेदका अवलम्बन लेकर वर्णन किया गया है। उत्पादका अर्थात् विद्यमानका अनुच्छेद या विनाश जिसमें होता है अर्थात् सद्भावका विनाश जहाँ होता है, वह उत्पादानुच्छेद नय है। इस प्रकार द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे अपने-अपने गुणस्थानके चरम समयमें बन्धव्युच्छित्ति अर्थात् बन्धका विनाश होता है। पर्यायार्थिक नयसे उस चरम समयके अनन्तर वाले अगले समयमें बन्धका नाश होता है, ऐसा समझना चाहिए।

व्युच्छेद—दे० व्युच्छित्ति।

व्युत्सर्ग—बाहरमें क्षेत्र वास्तु आदिका और अभ्यन्तरमें कषाय आदिका अथवा नित्य व अनियत कालके लिए शरीरका त्याग करना व्युत्सर्ग तप या व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तका अपर नाम कायोत्सर्ग है जो दैवसिक, रात्रिक, चातुर्मासिक आदि दोषोंके साधनार्थ विधि पूर्वक किया जाता है। शरीरपरसे ममत्व बुद्धि छोडकर, उपसर्ग आदिको जीतता हुआ, अन्तर्मुहूर्त या एक दिन मास व वर्ष पर्यंत निश्चल खडे रहना कायोत्सर्ग है।

१. कायोत्सर्ग निर्देश

१. कायोत्सर्गका लक्षण

नि सा/मू/१२१ कायाईपरदव्वे थिरभावं परिहरत्तु अप्पाण। तस्स हवे तणुसग्गं जो झायइ णिव्वियप्पेण।१२१। =काय आदि परद्रव्योंमें स्थिर भाव छोडकर, जो आत्माको निर्विकल्परूपसे ध्याता है, उसे कायोत्सर्ग है।१२१।

मू. आ/२८ देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि। जिणगुणचिंतणजुत्तो काओसग्गो तणुविसग्गा।२८। =दैवसिक निश्चित क्रियाओंमें यथोक्त कालप्रमाण पर्यंत उत्तम क्षमा आदि जिनगुणोंकी भावना सहित देहमें ममत्वको छोडना कायोत्सर्ग है।

रा वा/९/२४/११/६३०/१४ परिमितकालविषया शरीरे ममत्वनिवृत्ति' कायोत्सर्ग.। =परिमित कालके लिए शरीरमे ममत्वका त्याग करना कायोत्सर्ग है। (चा. सा/५६/३)।

भा आ/वि/६/३२/२१ देहे ममत्वनिरास कायोत्सर्ग। =देहमें ममत्वका निरास करना कायोत्सर्ग है।

यो. सा./अ./५/५२ ज्ञात्वा योऽचेतन काय नश्वर कर्मनिर्मित। न तस्य वर्तते कार्ये कायोत्सर्गं करोति स'।५२। =देहको अचेतन, नश्वर व कर्मनिर्मित समझकर जो उसके पोषण आदिके अर्थ कोई कार्य नही करता, वह कायोत्सर्गका धारक है।

का अ./मू./४६७-४६८ जल्लमललित्तगत्तो दुस्सहवाहीसु णिप्पडीयारो। मुहधोवणादि-विरओ भोयणसेज्जादिणिरवेक्खो।४६७। ससरूवचिंतणरओ दुज्जणसुयणाण जो हु मज्झत्थो। देहे वि णिम्ममत्तो काओसग्गो तओ तस्स।४६८। =जिस मुनिका शरीर जल्ल और मलसे लिप्त हो, जो दुस्सह रोगके हो जानेपर भी उसका इलाज नहीं करता हो, मुख धोना आदि शरीरके सस्कारसे उदासीन हो, और भोजन शय्या आदिकी अपेक्षा नही करता हो, तथा अपने स्वरूपके चिन्तनमें ही लीन रहता हो, दुर्जन और सज्जनमें मध्यस्थ हो, और शरीरसे भी ममत्व न करता हो उस मुनिके कायोत्सर्ग नामका तप होता है।

नि सा/ता. वृ./७० सर्वेषा जनाना कायेषु बह्व्य' क्रिया विद्यन्ते, तासां निवृत्ति कायोत्सर्ग, स एव गुप्तिर्भवति। =सब जनोंको कायसम्बन्धी बहुत क्रियाएँ होती हैं; उनकी निवृत्ति सो कायोत्सर्ग है। वही गुप्ति है।

दे० ध्यान/३/३ (खडे-खडे या बैठे बैठे शरीरका तथा कषायोंका त्याग करना कायोत्सर्ग है।)

२. कायोत्सर्गके भेद व उनके लक्षण

मू. आ/६७३-६७७ उट्ठिदउट्ठिद उट्ठिदणिविट्ठ उवविट्ठ-उट्ठिदो चेव। उवविट्ठदणिविट्ठोवि य काओसग्गो चदुट्ठाणो।६७३। धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि ज्झाणाणि जो ठिदो सतो। एसो काओसग्गो इह उट्ठिदउट्ठिदो णाम।६७४। अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो सतो। एसो काओसग्गो उट्ठिदणिविट्ठिदो णाम।६७५। धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु। एसो काउसग्गो उवविट्ठउट्ठिदो णाम।६७६। अट्टं रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु। एसो काउसग्गो णिसण्णिदणिसण्णिदो णाम।६७७। =अस्थितास्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित और उपविष्ट निविष्ट, इस प्रकार कायोत्सर्गके चार भेद है।६७३। जो कायोत्सर्गसे खडा हुआ धर्म शुक्ल ध्यानोंको चिन्तवन करता है वह उत्थितोत्थित है।६७४। जो कायोत्सर्गमे खडा हुआ आर्त रौद्र ध्यानोको चिन्तवन करता है वह उत्थितनिविष्ट है।६७५। जो बैठे हुए धर्म व शुक्लध्यानोंका चिन्तवन करता है वह उपविष्टोत्थित है।६७६। और जो बैठा हुआ आर्त रौद्र ध्यानोका चिन्तवन करता है वह उपविष्टोपविष्ट है।६७७। (अन. ध. ८/१२३/८३३)।

भ. आ/वि./११६/२७८/२७ उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्टम्, उपविष्टोत्थित, उपविष्टोपविष्ट इति चत्वारो विकल्पा। धर्मे शुक्ले वा परिणतो यस्तिष्ठति तस्य कायोत्सर्ग' उत्थितोत्थितो नाम। द्रव्यभावोत्थानसमन्वितत्वादुत्थानप्रकर्ष उत्थितोत्थितशब्देनोच्यते। तत्र द्रव्योत्थान शरीर स्थाणुवदूर्ध्वं अविचलमवस्थान। ध्येयैकवस्तुनिष्ठता ज्ञानमयस्य भावस्य भावोत्थानं। आर्तरौद्रयो' परिणतो यस्तिष्ठति तस्य उत्थितनिषण्णो नाम कायोत्सर्ग.। शरीरोत्थाना-

दुत्थितत्व शुभपरिणामोद्गतिरूपस्योत्थानस्याभावान्निषण्ण इत्युच्यते। अतएव विरोधाभावो भिन्ननिमित्तत्वादुत्थानासनयोः एकत्र एकदा। यस्त्वासीन एव धर्मशुक्लध्यानपरिणतिमुपैति तस्य उत्थितनिषण्णो भवति परिणामोत्थानात्कायानुत्थानाच्च। यस्तु निषण्णोऽशुभध्यानपरस्तस्य निषण्णनिषण्णक। कायाशुभपरिणामाभ्यामनुत्थानात्। =कायोत्सर्गके उत्थितोत्थित, उत्थितनिविष्ट, उपविष्टोत्थित, और उपविष्टोपविष्ट ऐसे चार भेद कहे हैं। धर्म व शुक्लध्यानमें परिणत होकर जो खडे होते हैं उनका कायोत्सर्ग उत्थितोत्थित नामवाला है। क्योंकि द्रव्य व भाव दोनोंका उत्थान होनेके कारण यहाँ उत्थानका प्रकर्ष है जो उत्थितोत्थित शब्दके द्वारा कहा गया है। तहाँ शरीरका खम्बेके समान खडा रहना द्रव्योत्थान है तथा ज्ञानका एक ध्येय वस्तुमें एकाग्र होकर ठहरना भावोत्थान है। आर्त और रौद्रध्यानसे परिणत होकर जो खडे होते हैं उनका कायोत्सर्ग उत्थितनिविष्ट है। शरीरके उत्थानसे उत्थित और शुभपरिणामोंकी उद्गतिरूप उत्थानके अभावसे निविष्ट है। शरीर व भावरूप भिन्न-भिन्न कारण होनेसे उत्थितावस्था और आसनावस्थामें यहाँ विरोध नहीं है। जो मुनि बैठकर ही धर्म और शुक्लध्यानमें लवलीन होता है उसका उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग है, क्योंकि उसके परिणाम तो खडे हैं, पर शरीर नहीं खडा है। जो मुनि बैठकर अशुभध्यान कर रहा है वह निषण्णनिषण्ण कायोत्सर्ग युक्त समझना चाहिए। क्योंकि, वह शरीरसे बैठा हुआ है और परिणामोंसे भी उत्थानशील नहीं है।

* कायोत्सर्ग बैठे व खड़े दोनों प्रकारसे होता है

—दे० व्युत्सर्ग/१/२।

३. मानसिक व कायिक कायोत्सर्ग विधि

मू आ /गा वोसरिदबाहुजुगलो चदुरंगुलअंतरेण समपादो। सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु।६५०। जे केई उवसग्गा देव माणुसतिरिक्खचेदणिया। ते सव्वे अधिआसे काओसग्गे ठिदो संते।६५५। काओसग्गम्मि ठिदो चिंतिदु इरियावधस्स अतिचारं। तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च चिंतेज्जो।६६४। =जिसने दोनों बाहु लम्बी की हैं, चार अंगुलके अन्तर सहित समपाद है तथा हाथ आदि अंगोंका चालन नहीं है वह शुद्ध कायोत्सर्ग है।६५०। देव, मनुष्य, तिर्यंच व अचेतनकृत जितने भी उपसर्ग हैं सबको कायोत्सर्गमें स्थित हुआ मैं अच्छी तरह सहन करता हूँ।६५५। कायोत्सर्गमें स्थित ईर्यापथके अतिचारके नाशको चिन्तवन करता मुनि उन सब नियमोंको समाप्त कर धर्मध्यान और शुक्लध्यानका चिन्तवन करो।६६४। (भ आ /वि./११६/२७८/२०), (अन ध /८/९६/८०४)।

भ आ /वि /५०६/७२६/१६ मनसा शरीरे ममेदंभावनिवृत्तिः मानसः कायोत्सर्गः। प्रलम्बभुजस्य, चतुरङ्गुलमात्रपादान्तरस्य निश्चलावस्थानं कायेन कायोत्सर्गः। =मनसे शरीरमें ममेद बुद्धिकी निवृत्ति मानस कायोत्सर्ग है और ('मैं शरीरका त्याग करता हूँ ऐसा वचनोच्चार करना वचनकृत कायोत्सर्ग है')। बाहु नीचे छोडकर चार अंगुलमात्र अन्तर दोनों पाँवोंमें रखकर निश्चल खडे होना वह शरीरके द्वारा कायोत्सर्ग है।

अन ध./८/२२-२४/८६६ जिनेन्द्रमुद्रया गाथां ध्यायेत् प्रीतिविकस्वरे। हृत्पङ्कजे प्रवेश्यान्तर्निरुध्य मनसानिलम्।२२। पृथग् द्विद्व्येकगाथांशचिन्तान्ते रेचयेच्छनैः। नवकृत्वः प्रयोक्तैवं दहत्यंहः सुधीर्महत्।२३। वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः। पुण्यं शतगुणं चैत्तः सहस्रगुणमावहेत्।२४। =व्युत्सर्गके समय अपनी प्राणवायुको भीतर प्रविष्ट करके, उसे आनन्दसे विकसित हृदयकमलमें रोककर, जिनेन्द्र मुद्राके द्वारा णमोकार मन्त्रकी गाथाका ध्यान करना चाहिए।२२। गाथाके दो-दो और एक अंशको पृथक्-पृथक् चिन्तवन करके अन्तमें उस प्राणवायुको धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। इस प्रकार नौ बार प्रयोग करनेवालेके चिरसंचित महान् कर्मराशि भस्म हो जाती है।२३। प्राणायाममें असमर्थ साधु वचनके द्वारा भी उस मन्त्रका जाप कर सकता है, परन्तु उसे अन्य कोई न सुने इस प्रकार करना चाहिए। परन्तु वाचनिक और मानसिक जपके फलमें महान् अन्तर है। दण्डकोंके उच्चारणकी अपेक्षा सौगुना पुण्य संचय वाचनिक जापमें होता है और हजारगुणा मानसिक जापमें।२४।

४. कायोत्सर्गके योग्य दिशा व क्षेत्र

भ. आ /मू /५५०/७६३ पाचीणोदीचिमुहो चेदियहुत्तो व कुणदि एगंते। आलोयणपत्तीयं काउस्सग्गं अणाबाधे।५५०। =पूर्व अथवा उत्तर दिशाकी तरफ मुँह करके किंवा जिनप्रतिमाकी तरफ मुँह करके आलोचनाके लिए क्षपक कायोत्सर्ग करता है। यह कायोत्सर्ग वह एकान्त स्थानमें, अबाधित स्थानमें अर्थात् जहाँ दूसरोंका आनाजाना न हो ऐसे असमार्गमें करता है।

५. कायोत्सर्गके योग्य अवसर

मू. आ /६६३,६६५ भत्ते पाणे गामंतरे य चदुमासिवरिसचरिमेसु। णाऊण ठंति धीरा घणिदं दुक्खक्खयट्ठाए।६६३। तह दिवसियरादियपक्खियचदुमासियवरिसचरिमेसु। तं सव्वं समाणित्ता धम्मं सुक्कं च झायेज्जो।६६५। =भक्त, पान, ग्रामान्तर, चातुर्मासिक, वार्षिक, उत्तमार्थ, इनको जानकर धीरपुरुष अतिशयकर दुःखके क्षयके अर्थ कायोत्सर्गमें तिष्ठते हैं।६६३। इसी प्रकार दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक व उत्तमार्थ इन सब नियमोंको पूर्णकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्यावे।६६५।

दे० अगला शीर्षक—(हिंसा आदि पापोंके अतिचारोंमें, भक्त पान व गोचरीके पश्चात्, तीर्थ व निषद्यका आदिकी वन्दनार्थ जानेपर, लघु व दीर्घ शंका करनेपर, ग्रन्थको आरम्भ करते समय व पूर्ण हो जानेपर, ईर्यापथके दोषोंकी निवृत्तिके अर्थ कायोत्सर्ग किया जाता है।)

६. यथा अवसर कायोत्सर्गके कालका प्रमाण

मू. आ /६५६-६६१ संवच्छरमुक्कस्सं भिण्णमुहुत्तं जहण्णयं होदि। सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु।६५६। अट्ठसदं देवसियं कल्लद्धं पक्खियं च तिण्णिसया। उस्सासा कायव्वा णियमंता अप्पमत्तेण।६५७। चादुम्मासे चउरो सदाइं संवत्थरे य पंचसदा। काओसग्गुस्सासा पंचसु ठाणेसु णादव्वा।६५८। पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेव। अट्ठसदं उस्सासा काओसग्गम्हि कादव्वा।६५९। भत्ते पाणे गामंतरे य अरहंत समणसेज्जासु। उच्चारे पस्सवणे पणवीसं होंति उस्सासा।६६०। उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणेय परिधाणे। सत्तावीसुस्सासा काओसग्गम्हि कादव्वा।६६१। =कायोत्सर्ग एक वर्षका उत्कृष्ट और अन्तर्मुहूर्त प्रमाण जघन्य होता है। शेष कायोत्सर्ग दिन-रात्रि आदिके भेदसे बहुत हैं।६५६।

०	अवसर	उच्छ्वास
१	दैवसिक प्रतिक्र	१०८
२	रात्रिक ,,	५४
३	पाक्षिक ,,	३००
४	चातुर्मासिक ,,	४००
५	वार्षिक ,,	५००
६	हिंसादिरूप अतिचारोंमें	१०८
७	गोचरीसे आनेपर	२५
८	निर्वाण भूमि	२५
९	अर्हंत शय्या	२५
१०	,, निषद्यका	२५
११	श्रमण शय्या	२५
१२	लघु व दीर्घ शंका	२५
१३	ग्रन्थके आरम्भमें	२७
१४	ग्रन्थकी समाप्ति	२७
१५	वन्दना	२७
१६	अशुभ परिणाम	२७
१७	कायोत्सर्गके श्वास भूल जानेपर	८-अधिक

नोट—सर्व प्रतिक्रमणोंमें यह कायोत्सर्ग वीर भक्तिके पश्चात् किया जाता है।

(भ॰ आ /वि /११६/२७८/२२); (चा. सा /१५८/१); (अन. ध./८/७२-७३/८०१)।

७. कायोत्सर्गका प्रयोजन व फल

मू. आ./६६२,६६६ काओसग्गं इरियावहादिचारस्स मोक्खमग्गम्मि। वोसट्ठचत्तदेहा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ।६६२। काओसग्गम्हि कदे जह भिज्जदि अंगुवंगसंधीओ। तह भिज्जदि कम्मरयं काउसग्गस्स करणेण ।६६६। =ईर्यापथके अतिचारको सोधनेके लिए (तथा उपरोक्त सर्व अवसरोंपर यथायोग्य दोषोंको शोधनेके लिए) मोक्षमार्गमें स्थित शरीरमें ममत्वको छोडनेवाले मुनि दुःखके नाश करनेके लिए कायोत्सर्ग करते है।६६२। कायोत्सर्ग करनेपर जैसे अंगोपांगोकी सन्धियाँ भिद जाती है उसी प्रकार इससे कर्मरूपी धूलि भी अलग हो जाती है ।६६६। (अन. ध /८/७६/८०४)।

* **कायोत्सर्ग व धर्मध्यानमें अन्तर**—दे० धर्मध्यान/३।

* **कायोत्सर्ग व कायगुप्तिमें अन्तर**—दे० गुप्ति/१/७।

८. कायोत्सर्ग शक्ति अनुसार करना चाहिए

मू. आ /६६७,६७१-६७२ बलवीरियमासेज्ज य खेत्ते काले सरीरसंहडणं। काओसग्ग कुज्जा इमे दु दोसे परिहरंतो ।६६७। णिक्कूडं सविसेसं बलाणुरूवं वयाणुरूवं च। काओसग्गं धीरा करंति दुक्खक्खयट्ठाए ।६७१। जो पुण तीसदिवरिसो सत्तरिवरिसेण पारणायसमो। विसमो य कूडवादी णिव्विण्णाणी य सो य जडो ।६७२। =बल और आत्म शक्तिका आश्रयकर क्षेत्र काल और संहनन इनके बलकी अपेक्षा कर कायोत्सर्गके कहे जानेवाले दोषोंका त्याग करता हुआ कायोत्सर्ग करे ।६६७। मायाचारीसे रहित (दे आगे इसके अतिचार) विशेषकर सहित, अपनी शक्तिके अनुसार, बाल आदि अवस्थाके अनुकूल धीर पुरुष दुःखके क्षयके लिए कायोत्सर्ग करते हैं।६७१। जो तीस वर्ष प्रमाण यौवन अवस्थावाला समर्थ साधु ७० वर्षवाले असक्त वृद्धके साथ कायोत्सर्गकी पूर्णता करके समान रहता है वृद्धकी बराबरी करता है, वह साधु शान्त रूप नहीं है, मायाचारी है, विज्ञानरहित है, चारित्ररहित है और मूर्ख है ।६७२।

९. मरणके बिना कायका त्याग कैसे ?

भ. आ /वि /११६/२७८/१३ ननु. च आयुषो निरवशेषगलने आत्मा शरीरमुत्सृजति नान्यदा तत्किमुच्यते कायोत्सर्ग इति। ' अनपायित्वेऽपि शरीरे अशुचित्व ' तथानित्यत्व, अपायित्वं, दुर्वहत्व, असारत्व, दुःखहेतुत्व, शरीरगतममताहेतुकमनन्तसंसारपरिभ्रमणं इत्यादिकान्सप्रधार्य दोषान्नेद मम नाहमस्येति संकल्पवतस्तदादरभावात्कायस्य त्यागो घटत एव। यथा प्राणेभ्योऽपि प्रियतमा कृतापराधावस्थिता ह्येकस्मिन्मन्दिरे त्यक्तेत्युच्यते तस्यामनुरागाभावान्ममेद भावव्यावृत्तिमपेक्ष्य एवमिहापि। किंच·· शरीरापायनिराकरणानुत्सुकश्च यतिस्तस्मादुच्यते कायत्याग'। =प्रश्न—१ आयुके निरवशेष समाप्त हो जानेपर आत्मा शरीरको छोडती है, अन्य समयमें नहीं, तब अन्य समयमें कायोत्सर्गका कथन कैसा ' उत्तर—शरीरका बिछोह न होते हुए भी, इसके अशुचित्व, अनित्यत्व, विनाशशील, असारत्व, दुःखहेतुत्व, अनन्तसंसार परिभ्रमणहेतुत्व इत्यादि दोषोंका विचारकर 'यह शरीर मेरा नहीं है और मैं इसका स्वामी नहीं हूँ' ऐसा संकल्प मनमें उत्पन्न हो जानेसे शरीरपर प्रेमका अभाव होता है, उससे शरीरका त्याग सिद्ध होता है। जैसे प्रियतमा पत्नीसे कुछ अपराध हो जानेपर, पतिके साथ एक ही घरमें रहते हुए भी, पतिका प्रेमका हट जानेके कारण वह त्यागी हुई कही जाती है। इसी प्रकार यहाँ भी समझना। २. और भी दूसरी बात यह है कि शरीरके अपायके कारणको हटानेमें यति निरुत्सुक रहते हैं, इसलिए उनका कायत्याग योग्य ही है।

१०. कायोत्सर्गके अतिचार व उनके लक्षण

भ. आ /वि./११६/२७९/८ कायोत्सर्गं प्रपन्न' स्थान्दोषान् परिहरेत्। के ते इति चेदुच्यते। १ तुरग इव कुण्टीकृतपादेन अवस्थानम्, २ लतेवेतस्ततश्चलतोऽवस्थान, ३. स्तम्भवत्स्तब्धशरीरं कृत्वा स्थान, ४. स्तम्भोपाश्रयेण वा कुड्याश्रयेण वा मालावलग्नशिरसा वावस्थानम्. ५. लम्बिताधरतया, स्तनगतदृष्ट्या वायस इव इतस्ततो नयनोद्वर्तनं कृत्वावस्थानम्, ६, खलीनावपीडितमुखहय इव मुखचालन सपादयतोऽवस्थान, ७ युगावष्टब्धबलीवर्द इव शिरोऽध पातयता, ८, कपित्थफलग्राहीव विकाशितकरतल, संकुचिताङ्गुलिपञ्चकं वा कृत्वा, ९. शिरश्चालनं कुर्वन्, १० मूक इव हुकारं संपाद्यावस्थान, ११ मूक इव नासिकया वस्तूपदर्शयता वा, १२. अङ्गुलिस्फोटनं, १३, भ्रूनर्तनं वा कुर्वन्, १४. शबरवधूरिव स्वकौपीनदेशाच्छादनपुरोगं, १५. शृङ्खलाबद्धपाद इवावस्थानं, १६ पीतमदिर इव परवशगतशरीरो वा भूत्वावस्थान इत्यमी दोषा। =१ मुनियोंको उचित कायोत्सर्गके दोषोका त्याग करना चाहिए। उन दोषोंका स्वरूप इस प्रकार है—१. जैसे घोडा अपना एक पाँव अकड लँगडा करके खडा हो जाता है वैसे खडा होना घोटकपाद दोष है। २ बेलकी भाँति इधर-उधर हिलना लतावक्र दोष है। ३ स्तम्भवत् शरीर अकडाकर खडे होना स्तंभस्थिति दोष है। ४. खम्बेके आश्रय स्तंभावष्टंभ। ५ भित्तिके आधारसे कुड्याश्रित। ६. अथवा मस्तक ऊपर करके किसी पदार्थका आश्रय देकर खडा होना मालिकोद्वहन दोष है। ७. अधरोष्ठ लम्बा करके खडे होना या, ८ स्तनकी ओर दृष्टि देकर खडे होना स्तन दृष्टि। ९ कौवेकी भाँति दृष्टिको इतस्तत फेंकते हुए खडे होना काकावलोकन दोष है। १०. लगाममें पीड़ित घोडेवत् मुखको हिलाते हुए खडे होना खलीनित दोष है। ११. जैसे बैल अपने कन्धेमें जूयेको मान नीचे करता है उसपर कन्धे झुकाते हुए खडा होना युगकन्धर

उसे क्षमा किये बिना करना प्रदुष्ट, और १८. तर्जनी अगुलीके द्वारा अन्य साधुओंको भय दिखाते हुए अथवा आचार्य आदिसे स्वयं तर्जित होकर वन्दनादि करना तर्जित दोष है ।१०५। १९ वन्दनाके बीचमें बातचीत करना शब्द, २० वन्दनाके समय दूसरोंको धक्का आदि देना या उनको हँसी आदि करना हेलित, २१ कटि ग्रीवा मस्तक आदिपर तीन बल पड जाना त्रिवलित दोष है ।१०६। २२. दोनों घुटनोंके बीचमें सिर रखना कुंचित, २३ दिशाओंकी तरफ देखना अथवा दूसरे उसकी ओर देखें तब अधिक उत्साहसे स्तुति आदि करना दृष्ट दोष है ।१०७। २४ गुरुकी दृष्टिसे ओझल होकर अथवा पीछेसे प्रतिलेखना न करके वन्दनादि करना अदृष्ट, २५ 'मुझ जबरदस्ती मुझसे वन्दनादि कराता है' ऐसा विचार आना 'संघकर मोचन दोष है ।१०८। २६, उपकरणादिका लोभ हो जानेपर क्रिया करना आलब्ध, २७, उपकरणादिकी आशासे करना अनालब्ध, २८ मात्राप्रमाणकी अपेक्षा हीन अधिक करना हीन, २९, वन्दनाको थोडी ही देरमें ही समाप्त करके उसकी चूलिका रूप आलोचनादिको अधिक समय तक करना उत्तर चूलिका दोष है ।१०९। ३० मन मनमें पढना ताकि दूसरा न सुने अथवा वन्दना करते करते बीच-बीचमें इशारे आदि करना मूक दोष है, ३१. इतनी जोर जोरसे पाठका उच्चारण करना जिससे दूसरोंको बाधा हो सो दुर्दर दोष है ।११०। ३२. पाठको पचम स्वरमे गा गाकर बोलना सुललित या चलुलित दोष है। इस प्रकार ये वन्दनाके ३२ दोष कहे ।१११।

२. व्युत्सर्ग तप या प्रायश्चित्त निर्देश

१. व्युत्सर्ग तप व प्रायश्चित्तका लक्षण

स. सि./९/२०/४३९/८ आत्माऽऽत्मीयसकल्पत्यागो व्युत्सर्गः ।

स. सि /९/२२/४४०/८ कायोत्सर्गादिकरणं व्युत्सर्ग' ।

स. सि /९/२६/४४३/१० व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्याग ।=१. अहकार और ममकाररूप संकल्पका त्याग करना व्युत्सर्ग तप है। २ कायोत्सर्ग आदि करना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है। (रा वा /९/२२/६/६२१/२८); (त सा /७/२४)। ३ व्युत्सर्जन करना व्युत्सर्ग है। जिसका नाम त्याग है। (रा. वा /९/२६/१/६२४/२६)।

ध. ८/३,४१/८५/२ सरीराहारेसु हु मणवयणपवुत्तीओ ओसारिय ज्झेयम्मि एअग्गेण चित्तणिरोहो विओसग्गो णाम।=शरीर व आहारमें मन एवं वचनकी प्रवृत्तियोंको हटाकर ध्येय वस्तुकी ओर एकाग्रतासे चित्तका निरोध करनेको व्युत्सर्ग कहते हैं।

ध १३/५,४ २६/६१/२ झाणेण सह कायमुज्झिदूण मुहुत्त-दिवस-पक्ख-मासादिकालमच्छण उवसग्गो णाम पायच्छित्तं ।=कायका उत्सर्ग करके ध्यानपूर्वक एक मुहूर्त, एक दिन, एक पक्ष और एक महीना आदि काल तक स्थित रहना व्युत्सर्ग नामका प्रायश्चित्त है। (चा. सा./१४२/३), (अन. ध /७/५१/६६५)।

अन ध /७/९४/७२१ बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधा बन्धहेतव । यस्तेषामुत्तम सर्ग स व्युत्सर्गो निरुच्यते ।९४।=बन्धके हेतुभूत विविध प्रकारके बाह्य और अभ्यन्तर दोषोंका उत्तम प्रकारसे त्याग करना, यह 'व्युत्सर्ग' की निरुक्ति है।

२. व्युत्सर्ग तपके भेद-प्रभेद

मू आ /४०६ दुविहो य विउसग्गो अब्भतर बाहिरो मुणेयव्वो ।४०६। व्युत्सर्ग दो प्रकारका है—अभ्यन्तर व बाह्य। (त. सू./९/२६), (त. सा./७/२९)।

चा.सा /पृष्ठ/पक्ति अभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग' स द्विविध -यावज्जीव, नियतकालश्चेति। (१५४/३)। तत्र यावज्जीव त्रिविध —भक्तप्रत्याख्यानेङ्गिनीमरणप्रायोपगमनभेदात्। (१५४/३)। नियतकालो द्विविध — नित्यनैमित्तिकभेदेन। (१५५/१)।=अभ्यन्तर उपधिका व्युत्सर्ग दो प्रकारका है—यावज्जीव व नियतकाल। तहाँ यावज्जीव व्युत्सर्ग तीन प्रकार है—भक्तप्रत्याख्यान, इगिनी, और प्रायोपगमन। नियतकाल दो प्रकारका है—नित्य व नैमित्तिक। (अन ध /७/९६-९८/७२१), (भा. पा /टी./७८/२२५/१६)।

३. बाह्य व अभ्यंतर व्युत्सर्गके लक्षण

मू. आ /४०६ अब्भंतर क्रोधादि' बाह्य' क्षेत्रादिकं द्रव्यं ।४०६। =अभ्यन्तर उपधिरूप क्रोधादिका त्याग करना अभ्यन्तर व्युत्सर्ग है और बाह्य उपधि रूप क्षेत्र वास्तु आदिका त्याग करना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है ।४०६। विशेष (दे० ग्रन्थ/२)।

स सि./९/२६/४४३/११ अनुपात्त वास्तुधनधान्यादि बाह्योपधि'। क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधि । कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीव वाभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते।=आत्मासे एकत्वको नहीं प्राप्त हुए ऐसे वास्तु, धन और धान्य आदि बाह्य उपधि है और क्रोधादि आत्मभाव अभ्यन्तर उपधि है। (इनका त्याग बाह्य व अभ्यन्तर उपधि व्युत्सर्ग है)। तथा नियत काल तक या यावज्जीवन तक कायका त्याग करना भी अभ्यन्तर उपधित्याग कहा जाता है। (रा वा /९/२६/३-५/६२४/३०), (त. सा /७/२९), (चा सा /१५४/१), (अन ध./७/९३,९६/७२०)।

चा. सा./१५५/२ नित्य आवश्यकादय । नैमित्तिक पार्वणी क्रिया निषद्याक्रियाद्याश्च ।=[काय सम्बन्धी अभ्यन्तर व्युत्सर्ग नियत व अनियतकालकी अपेक्षा दो प्रकारका है। तहाँ अनियतकाल व्युत्सर्ग भक्तप्रत्याख्यान, इगिनी व प्रायोपगमन विधिसे शरीरको त्यागनेकी अपेक्षा तीन प्रकारका है। (इन तीनोंके लक्षण दे सल्लेखना/२)। नियतकाल व्युत्सर्ग नित्य व नैमित्तिकके भेदसे दो प्रकारका है—(दे, व्युत्सर्ग/२/२)] इन दोनोंमेंसे आवश्यक आदि क्रियाओंका करना नित्य है तथा पर्वके दिनोंमें होनेवाली क्रियाएँ करना व निषद्या आदि क्रिया करना नैमित्तिक है। (अन. ध /७/९७-९८/७२२)।

भा. पा /टी /२२५/१६ नियतकालो यावज्जीवं वा कायस्य त्यागोऽभ्यन्तरोपधिव्युत्सर्ग'। बाह्यस्त्वनेकप्रायो व्युत्सर्ग ।=कायका नियतकालके लिए अथवा यावज्जीवन त्याग करना अभ्यन्तरोपधि व्युत्सर्ग है। बाह्योपधि व्युत्सर्ग अनेक प्रकारका है।

★ **बाह्य व अभ्यन्तर उपधि—दे. ग्रन्थ/२।**

४. व्युत्सर्गतपका प्रयोजन

स सि /९/२६/४४३/१२ निस्सगत्वनिर्भयत्वजीविताशाव्युदासाद्यर्थ ।

रा. वा /९/२६/१०/६२५/१४ निसङ्गत्व निर्भयत्व जीविताशाव्युदास', दोषोच्छेदो, मोक्षमार्गप्रभावनापरत्वमित्येवमाद्यर्थो व्युत्सर्गोऽभिधीयते द्विविध । =नि'सगत्व, निर्भयत्व, जीविताशाका त्याग, दोषोच्छेद और मोक्षमार्गप्रभावना, तत्परत्व आदिके लिए दोनों प्रकारका व्युत्सर्ग करना आवश्यक है। (चा. सा./१६६/५), (भा पा /टी /७/२२५/१७)

५. व्युत्सर्गतपके अतिचार

भ आ /वि /४८७/७०७/२३ व्युत्सर्गातिचार । कुतो भवति शरीरममतायामनिवृत्ति । =शरीरपरसे ममता हटाना व्युत्सर्ग तप है। परन्तु ममत्व दूर नही करना यह व्युत्सर्ग तपका अतिचार है।

६. व्युत्सर्ग तप व प्रायश्चित्तमें अन्तर

रा. वा /९/२६/८/६२५/७ अथ मतमेतत—प्रायश्चित्ताभ्यन्तरो व्युत्सर्गस्तत पुनस्तस्य वचनमनर्थकमिति, तन्न, किं कारणम्। तस्य प्रतिद्वन्द्विभावात्, तस्य हि व्युत्सर्गस्यातिचार' प्रतिद्वन्द्वी विद्यते, अयं

पुनरनपेक्षः क्रियते इत्यस्ति विशेषः। —प्रश्न—प्रायश्चित्तके भेदोंमें व्युत्सर्ग कह दिया गया। पुनः तपके भेदोंमें उसे गिनाना निरर्थक है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि इनमें भेद है। प्रायश्चित्तमें गिनाया गया व्युत्सर्ग, अतिचार होनेपर उसकी शुद्धिके लिए किया जाता है, पर व्युत्सर्ग तप स्वयं निरपेक्षभावसे किया जाता है।

७. व्युत्सर्गतप व परिग्रहत्याग व्रतमें अन्तर

रा. वा./९/६/६/६२५/१ स्यादेतत्—महाव्रतोपदेशकाले परिग्रहनिवृत्तिरुक्ता, ततः पुनरिदं वचनमनर्थकमिति, तन्न, किं कारणम्। तस्य धनहिरण्यवसनादिविषयत्वात्। —प्रश्न—महाव्रतोंका उपदेश देते समय परिग्रहत्याग कह दिया गया। अब तप प्रकरणमें पुनः व्युत्सर्ग कहना अनर्थक है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, परिग्रहत्याग व्रतमें सोना-चाँदी आदिके त्यागका उपदेश है, अतः यह उससे पृथक् है।

८. व्युत्सर्गतप व त्याग धर्ममें अन्तर

रा. वा./९/६/१६/५९८/६ स्यान्मतम्–वक्ष्यते तपोऽभ्यन्तरं षड्विधम्, तत्रोत्सर्गलक्षणेन तपसाग्रहणमस्य सिद्धमित्यनर्थकं त्यागग्रहणमिति, तन्न; किं कारणम्। तस्यान्यार्थत्वात्। तद्धि नियतकालं सर्वोत्सर्गलक्षणम्, अयं पुनस्त्यागः यथाशक्ति अनियतकालः क्रियते इत्यस्ति भेदः। —प्रश्न—छह प्रकारके अभ्यन्तर तपमें उत्सर्ग लक्षणवाले तपका ग्रहण किया गया है, अतः यहाँ दस धर्मोंके प्रकरणमें त्यागधर्मका ग्रहण निरर्थक है? उत्तर—नहीं, क्योंकि, वहाँ तपके प्रकरणमें तो नियतकालके लिए सर्वत्याग किया जाता है और त्याग धर्ममें अनियतकालके लिए यथाशक्ति त्याग किया जाता है।

रा वा./९/२६/७/६२५/४ स्यादेतत्—दशविधधर्मेऽन्तरीभूतस्त्याग इति पुनरिदं वचनमनर्थकमिति; तन्न; किं कारणम्। प्रासुकनिरवद्याहारादिनिवृत्तितन्त्रत्वात् तस्य। —प्रश्न—दश धर्मोंमें त्याग नामका धर्म अन्तर्भूत है अतः यहाँ व्युत्सर्गका व्याख्यान करना निरर्थक है? उत्तर—ऐसा नहीं है, क्योंकि, त्याग धर्म प्रासुक औषधि व निरवद्य आहारादिका अमुक समय तक त्यागके लिए त्याग धर्म है। अतः यह उससे पृथक् है।

* व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त किसको कब दिया जाता है

—दे. प्रायश्चित्त/४।

व्युदास—दे. अभाव।

व्युत्क्रांत—प्रथम नरकका ११ वाँ पटल। दे. नरक/५।

व्युपरत क्रिया निवृत्ति—दे. शुक्लध्यान।

व्युष्टि-क्रिया—दे. संस्कार/२।

व्रत—यावज्जीवन हिंसादि पापोंकी एकदेश या सर्वदेश निवृत्तिको व्रत कहते हैं। वह दो प्रकारका है—श्रावकोंके अणुव्रत या एकदेशव्रत तथा साधुओंके महाव्रत या सर्वदेशव्रत होते हैं। इन्हें भावनासहित निरतिचार पालनेसे साधकको साक्षात् या परम्परा मोक्षकी प्राप्ति होती है, अतः मोक्षमार्गमें इनका बहुत महत्त्व है।

१. व्रत सामान्य निर्देश

१. व्रत सामान्यका लक्षण

त. सू./७/१ हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।१। =हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे (यावज्जीवन दे. भ. आ/वि तथा द्र. सं/टी) निवृत्त होना व्रत है ।१। (ध. ८/३,४१/८२/१), (भ. आ/वि/११८५/११७१/१६), (भ. आ./वि./४२१/६१४/१६,२०) (द्र. सं./टी/३५/१०१/१)।

स. सि./७/१/३४२/६ व्रतमभिसन्धिकृतो नियमः, इदं कर्त्तव्यमिदं न कर्त्तव्यमिति वा । =प्रतिज्ञा करके जो नियम लिया जाता है वह व्रत है। या 'यह करने योग्य है, यह नहीं करने योग्य है' इस प्रकार नियम करना व्रत है। (रा. वा./७/१/३/५३१/१५), (चा सा/८/३)।

प. प्र/टी./२/५२/१७३/५ व्रतं कोऽर्थः। सर्वनिवृत्तिपरिणाम । =सर्व निवृत्तिके परिणामको व्रत कहते हैं।

सा. ध./२/८० संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमोऽशुभकर्मणः । निवृत्तिर्वा व्रतं स्याद्वा प्रवृत्तिः शुभकर्मणि ।८०। =किन्हीं पदार्थोंके सेवनका अथवा हिंसादि अशुभकर्मोंका नियत या अनियत कालके लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा पात्रदान आदि शुभ कर्मोंमें उसी प्रकार संकल्पपूर्वक प्रवृत्ति करना व्रत है।

२. निश्चयसे व्रतका लक्षण

द्र. सं/टी/३५/१००/१३ निश्चयेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखसुधास्वादबलेन समस्तशुभाशुभरागादि-विकल्पनिवृत्तिर्व्रतम् । =निश्चयनयकी अपेक्षा विशुद्ध ज्ञानदर्शन रूप स्वभाव धारक निज आत्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न सुखरूपी अमृतके आस्वादके बलसे सब शुभ व अशुभ राग आदि विकल्पोंसे रहित होना व्रत है।

प. प्र./२/६७/१८६/२ स्वात्मना कृत्वा स्वात्मनि वर्तनं इति निश्चयव्रतं । =शील अर्थात् अपने आत्मासे अपने आत्मामें प्रवृत्ति करना, ऐसा निश्चय व्रत।

पं. ध./उ./श्लो सर्वतः सिद्धमेवेतद्व्रतं बाह्यं दयाङ्गिषु । व्रतमन्तः कषायाणां त्यागः सैषात्मनि कृपा ।७५३। अर्थाद्रागादयो हिंसा चास्त्यधर्मो व्रतच्युतिः । अहिंसा तत्परित्यागो व्रतं धर्मोऽथवा किल ।७५५। ततः शुद्धोपयोगो यो मोहकर्मोदयादृते । चारित्रापरनामैतद्व्रतं निश्चयतः परम् ।७५८। =१. प्राणियोंपर दया करना बहिरंग व्रत है, यह बात सब प्रकार सिद्ध है। कषायोंका त्याग करना रूप स्वदया अन्तरंग व्रत है।७५३। २. राग आदिका नाम ही हिंसा अधर्म और अव्रत है, तथा निश्चयसे उसके त्यागका ही नाम अहिंसा व्रत और धर्म है।७५५। (और भी दे. अहिंसा/२/१)। ३. इसलिए जो मोहनीय कर्मके उदयके अभावमें शुद्धोपयोग होता है, वही निश्चयनयसे, चारित्र है दूसरा नाम जिसका ऐसा उत्कृष्ट व्रत है।७५८।

३. व्रत सामान्यके भेद

त. सू./७/२ देशसर्वतोऽणुमहती ।२। =देशत्यागरूप अणुव्रत और सर्वत्यागरूप महाव्रत, ऐसे दो प्रकार व्रत हैं। (र. क. श्रा./५०)।

र. क. श्रा./५१ गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणं । पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातं ।५१। =गृहस्थोंका चारित्र पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार १२ भेदरूप कहा गया है। (चा. सा./१३/७); (प वि/६/२४;७/५), (वसु श्रा./२०७), (सा. ध/२/१६)।

४. व्रतोंमें सम्यक्त्वका स्थान

भ. आ/वि./११६/२७७/१६ पर उद्धृत—पंचवदाणि जदीणं अणुव्वदाइं च देसविरदाण । ण हु सम्मत्तेण विणा तो सम्मत्तं पढमदाए । =मुनियोंके अहिंसादि पंच महाव्रत और श्रावकोंके पाँच अणुव्रत, ये सम्यग्दर्शनके बिना नहीं होते हैं, इसलिए प्रथमतः आचार्योंने सम्यक्त्वका वर्णन किया है।

चा. सा/५/६ एवं विधाष्टाङ्गविशिष्टं सम्यक्त्वं तद्विकलयोरणुव्रतमहाव्रतयोर्नामापि न स्यात् । =इस प्रकार आठ अंगोंसे पूर्ण सम्यग्दर्शन होता है। यदि सम्यग्दर्शन न हो तो अणुव्रत तथा महाव्रतोंका नाम तक नहीं होता है।

अ. ग. श्रा/२/२७ दवीयः कुरुते स्थानं मिथ्यादृष्टिरभीप्सितम् । अन्यत्र गमकारीव घोरैर्युक्तो व्रतैरपि ।२७। =घोर व्रतोंसे सहित भी मिथ्यादृष्टि वांछित स्थानको, मार्गसे उलटा चलनेवालेकी भाँति, अति दूर करता है।

दे. धर्म/२/६ (सम्यक्त्व रहित व्रतादि अकिंचित्कर हैं, बाल व्रत है)।
दे. सामायिक/३/ (मिथ्यादृष्टिके व्रतोंको महाव्रत कहना उपचार है)।
दे. अगला शीर्षक (पहिले तत्त्वज्ञानी होता है पीछे व्रत ग्रहण करता है)।

५. व्रतदान व ग्रहण विधि

भ. आ/वि/४२१/६१४/११ ज्ञातजीवनिकायस्य दातव्यानि नियमेन व्रतानि इति षष्ठ स्थितिकल्पः । अचेलतायां स्थितः उद्देशिकराजपिण्डपरिहरणोद्यतः गुरुभक्तिकृतविनीतो व्रतारोपणार्हो भवति । ... इति व्रतदानक्रमोऽयं स्वयमासीनेषु गुरुषु, अभिमुखं स्थिताभ्यो विरतिभ्यः श्रावकश्राविकावर्गाय व्रतं प्रयच्छेत् स्वयं स्थितः सूरिः स्ववामदेशे स्थिताय विरताय व्रतानि दद्यात्। ज्ञात्वा श्रद्धाय पापेभ्यो विरमणं व्रतं—। =जिसको जीवोंका स्वरूप मालूम हुआ है ऐसे मुनिको नियमसे व्रत देना यह व्रतारोपण नामका छठा स्थिति कल्प है। जिसने पूर्ण निर्ग्रन्थ अवस्था धारण की है, उद्देशिकाहार और राजपिंडका त्याग किया है, जो गुरु भक्त और विनयी है, वह व्रतारोपणके लिए योग्य है। (यहाँ इसी अर्थको द्योतक एक गाथा उद्धृत की है) व्रत देनेका क्रम इस प्रकार है—जब गुरु बैठते हैं और आर्यिकाएँ सम्मुख होकर बैठती हैं, ऐसे समयमें श्रावक और श्राविकाओंको व्रत दिये जाते हैं। व्रत ग्रहण करनेवाला मुनि भी गुरुके बायीं तरफ बैठता है। तब गुरु उसको व्रत देते हैं। व्रतोंका स्वरूप जानकर तथा श्रद्धा करके पापोंसे विरक्त होना व्रत है। (इसलिए गुरु उसे पहले व्रतोंका उपदेश देते हैं—(दे० इसी मूल टीकाका अगला भाग)। व्रत दान सम्बन्धी कृतिकर्मके लिए—दे० कृतिकर्म)।

मो. मा. प्र/७/३५१/१७ व ३५२/९ जैन धर्मविषै तौ यह उपदेश है, पहलें तौ तत्त्वज्ञानी होय, पीछै जाका त्याग करे, ताका दोष पहिचाने। त्याग किए गुण होय, ताकौ जानैं। बहुरि अपने परिणामनिकौ ठीक करे। वर्तमान परिणामनि हीकै भरोसै प्रतिज्ञा न करि बैठै। आगामी निर्वाह होता जानैं तौ प्रतिज्ञा करै। बहुरि शरीरकी शक्ति वा द्रव्य क्षेत्र काल भावादिकका विचार करै। ऐसे विचारि पीछै प्रतिज्ञा करनी, सो भी ऐसी करनी जिस प्रतिज्ञातैं निरादरपना न होय, परिणाम चढते रहैं। ऐसी जैनधर्मकी आम्नाय है। ...सम्यग्दृष्टि प्रतिज्ञा करे हैं, सो तत्त्वज्ञानादि पूर्वक ही करे हैं।

६. व्रत गुरु साक्षीमें लिया जाता है

दे. व्रत/१/५ (गुरु और आर्यिकाओं आदिके सम्मुख, गुरुकी बायीं ओर बैठकर श्रावक व श्राविकाएँ व्रत लेते हैं)।

४. कथंचित् श्रावकोंके लिए भी भानेका निर्देश

ला स./४/१८४-१८९ सर्वसागारधर्मेषु देशशब्दोऽनुवर्तते । तेनानगारयोग्यायाः कर्त्तव्यास्ता अपि क्रिया ।१८४। यथा समितयः पञ्च सन्ति तिस्रश्च गुप्तयः । अहिंसाव्रतरक्षार्थं कर्तव्या देशतोऽपि तैः ।१८५। ⋯न चाशङ्क्यमिमाः पञ्च भावना मुनिगोचरा । न पुनर्भावनीयास्ता देशतोव्रतधारिभिः ।१८७। यतोऽत्र देशशब्दो हि सामान्यादनुवर्तते । ततोऽणुव्रतसञ्ज्ञेषु व्रतत्वान्नाव्यापको भवेत् ।१८८। अलं विकल्पसकल्पैः कर्त्तव्या भावना इमाः । अहिंसाव्रतरक्षार्थं देशतोऽणुव्रतादिवत् ।१८९। =गृहस्थोंके धर्मके साथ देश शब्द लगा हुआ है, इसलिए मुनियोंके योग्य कर्तव्य भी एक देशरूपसे उसे करने चाहिए ।१८४। जैसे कि अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए श्रावकको भी साधुकी भाँति समिति और गुप्तिका पालन करना चाहिए ।१८५। यहाँपर यह शंका करनी योग्य नहीं कि अहिंसाव्रतकी 'समिति, गुप्ति आदि रूप' ये पाँच भावनाएँ तो मुनियोंका कर्त्तव्य है, इसलिए देशव्रतियोंको नहीं करनी चाहिए ।१८७। क्योंकि यहाँ देश शब्द सामान्य रीतिसे चला आ रहा है जिससे कि यह व्रतोंकी भाँति समिति गुप्ति आदिमें भी एक देश रूपसे व्यापकर रहता है ।१८८। अधिक कहनेसे क्या, श्रावकको भी अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए ये भावनाएँ अणुव्रतकी तरह ही अवश्य करनी योग्य है ।१८९। —(और भी दे० अगला शीर्षक)।

५. व्रतोंके अतिचार छोड़ने योग्य हैं

सा. ध /४/१५ मुञ्चन् बन्धं वधच्छेदमतिभाराधिरोपणं । भुक्तिरोधं च दुर्भावाद्भावनाभिस्तदाविशेत् ।१५। =दुर्भावसे किये गये वध बन्धन आदि अहिंसा व्रतके पाँच अतिचारोंको छोडकर श्रावकोंको उसकी पाँच भावनाओंरूप समिति गुप्ति आदिका भी पालन करना चाहिए।

व्रत-विधान सग्रह पृ २१ पर उद्धृत—"व्रतानि पुण्याय भवन्ति जन्तोर्न सातिचाराणि निषेवितानि । शस्यानि किं क्वापि फलन्ति लोके मलोपलीढानि कदाचनापि । =जीवको व्रत पुण्यके कारणसे होते है, इसलिए उन्हे अतिचार सहित नही पालना चाहिए, क्या लोकमें कहीं मल लिप्त धान्य भी फल देते है।

दे० व्रत/१/७,८ (किसी प्रकार भी व्रत भंग करना योग्य नहीं। परिस्थिति वश भंग हो जाने अथवा दोष लग जानेपर तुरत प्रायश्चित्त लेकर उसकी स्थापना करनी चाहिए।)

३. महाव्रत व अणुव्रत निर्देश

१. महाव्रत व अणुव्रतके लक्षण

चा. पा./मू /२४ थूले तसकायवहे थूले मोषे अदत्त थूले य । परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाण ।२४। =स्थूल हिंसा मृषा व अदत्तग्रहणका त्याग, पर स्त्री तथा बहुत आरम्भ परिग्रहका परिमाण ये पाँच अणुव्रत है ।२४। (वसु श्रा /२०८)।

त. सू /७/२ देशसर्वतोऽणुमहती ।२। =हिंसादिकसे एक देश निवृत्त होना अणु-व्रत और सब प्रकारसे निवृत्त होना महाव्रत है।

र. क श्रा./५२, ७२ प्राणातिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्य । स्थूलेभ्य पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ।५२। पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवच कायै । कृतकारितानुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महतां ।७२। =हिंसा, असत्य, चोरी, काम (कुशील) और मूर्च्छा अर्थात् परिग्रह इन पाँच स्थूल पापोंसे विरक्त होना अणुव्रत है ।५२। हिंसादिक पाँचों पापोका मन, वचन काय व कृत-कारित अनुमोदनासे त्याग करना महापुरुषोंका महाव्रत है ।५३।

सा.ध./४/५ विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः । क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ।५। =स्थूल वध आदि पाँचों स्थूल पापोंका मन वचन कायसे तथा कृत कारित अनुमोदनासे त्याग करना अणुव्रत है।

प. ध /उ /७२०-७२१ तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् । देशतो विरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ।७२०। सर्वतो विरतिस्तेषां हिंसादीनां व्रतं महत् । नैतत्सागारिभिः कर्तुं शक्यते लिङ्गमर्हताम् ।७२१। =सागार व अनागार दोनों प्रकारके धर्मोंमें हिंसा झूठ चोरी कुशील और सम्पूर्ण परिग्रहमें एक देश विरक्त होना गृहस्थोंका अणुव्रत कहा गया है ।७२०। उन्हीं हिंसादिक पाँच पापोंका सर्वदेशसे त्याग करना महाव्रत कहलाता है। यह जिनरूप मुनिलिंग गृहस्थोंके द्वारा नहीं पाला जा सकता ।७२१।

२. स्थूल व सूक्ष्म व्रतका तात्पर्य

सा. ध./४/६ स्थूलहिंसाद्याश्रयत्वात्स्थूलानामपि दुर्दृशां । तत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वाद्वधादि स्थूलमिष्यते ।६। =हिंसा आदिके स्थूल आश्रयोंके आधारपर होनेवाले, अथवा साधारण मिथ्यादृष्टि लोगोंमें प्रसिद्ध, अथवा स्थूलरूपसे किये जानेवाले हिंसादि स्थूल कहलाते हैं। अर्थात् लोक प्रसिद्ध हिंसादिको स्थूल कहते है, उनका त्याग ही स्थूल व्रत है।—विशेष दे० शीर्षक न ६।

दे. श्रावक/४/२ [मद्य मास आदि त्याग रूप अष्ट मूल गुणोंमें व सप्त व्यसनोंमें ही पाक्षिक श्रावकके स्थूल अणुव्रत गर्भित है।]

३. महाव्रत व अणुव्रतोंके पाँच भेद

भ आ /मू /२०८०/१७६६ पाणवधमुसावादादत्तादाणपरदारगमणेहिं । अपरिमिदिच्छादो वि य अणुव्वयाइं विरमणाइं । =प्राण वध, असत्य, चोरी, परस्त्री सेवन, परिग्रहमें अमर्यादित इच्छा, इन पापोंसे विरक्त होना अणुव्रत है ।२०८०।

चा. पा /मू./३० हिंसाविरइ अहिंसा असच्चविरई अदत्तविरई य । तुरियं अबंभविरई पंचम संगम्मि विरई य । =हिंसासे विरति सो अहिंसा और इसी प्रकार असत्य विरति, अदत्तविरति, अब्रह्मविरति और पाँचवीं परिग्रह विरति है ।३०।

मू. आ./४ हिंसाविरदी सच्चं अदत्तपरिवज्जणं च बंभं च । संगविमुत्ती य तहा महव्वया पंच पण्णत्ता ।४। =हिंसाका त्याग, सत्य, चोरीका त्याग, ब्रह्मचर्य, और परिग्रहत्याग ये पाँच महाव्रत कहे गये है ।४।

दे. शीर्षक न १—[अणुव्रत व महाव्रत दोनों ही हिंसादि पाँचों पापोंके त्यागरूपसे लक्षित है।]

४. रात्रिभुक्ति त्याग छठा अणुव्रत है

स. सि /७/१/३४३/११ ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम् । न, भावनास्वन्तर्भावात् । अहिंसाव्रतभावना हि वक्ष्यन्ते । तत्रालोकितपानभोजनभावना कार्येति । =प्रश्न—रात्रिभोजनविरमण नाम छठा अणुव्रत है, उसकी यहाँ परिगणना करनी थी? उत्तर—नहीं, क्योंकि, उसका भावनाओंमें अन्तर्भाव हो जाता है। आगे अहिंसाव्रतकी भावनाएँ कहेंगे। उनमें एक आलोकित पान-भोजन नामकी भावना है, उसमें उसका अन्तर्भाव होता है। (रा. वा /७/१/१५/५३४/२८)।

पाक्षिकादि प्रतिक्रमण पाठमें प्रतिक्रमणभक्ति—'आधावरे छट्ठे अणुव्वदे सव्वं भंते ! राईभोयणं पच्चक्खामि । = छटे अणुव्रत-रात्रिभोजनका प्रत्याख्यान करता हूँ।'

चा सा /१३/३ पञ्चधाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतं । =पाँच प्रकारका अणुव्रत है और 'रात्रिभोजन त्याग' यह छठा अणुव्रत है।

५. अणुव्रतीको स्थावर घात आदिकी भी अनुमति नहीं है

क पा. १/१ १/गा ५५/१०५ सजदधम्मकहा वि य उवासमाणं मदार-संतोसो। तसवहविरईसिक्खा थावरघादो त्ति णाणुमदो।५५। = सयतधर्मकी जो कथा है उससे श्रावकोंको (केवल) स्वदारसंतोष और त्रसवध विरतिकी शिक्षा दी गयी है। पर इसमे उन्हे स्थावर घातकी अनुमति नही दी गयी है।

सा ध /४/११ यन्मुक्त्यङ्गमहिंसैव तन्मुमुक्षुरुपासक। एकाक्षवधमप्युज्झेद्य स्यान्नावर्ज्यभोगकृत।११। =जो अहिंसा ही मोक्षका साधन है उसका मुमुक्षु जनोको अवश्य सेवन करना चाहिए। भोगोपभोगमें होनेवाली एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसाको छोडकर अर्थात् उसमे बचे शेष एकेन्द्रिय जीवोकी हिंसाका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिए।

६. महाव्रतको महाव्रत व्यपदेशका कारण

भ आ /मू /११८४/११७० साधेंति ज महत्थं आयरिडदा च ज महल्लेहिं। ज च महल्लाइ सय महव्वदाइ हवे ताइ।११८४। = महान् मोक्षरूप अर्थकी सिद्धि करते, महान् तीर्थंकरादि पुरुषोने इनका पालन किया है, सब पापयोगोका त्याग होनेसे स्वत महान् है, पूज्य है, इसलिए इनका नाम महाव्रत है।११८४। (मू आ./२९४), (चा पा /मू /३१)।

७. अणुव्रतको अणुव्रत व्यपदेशका कारण

स सि /७/२०/३५८/६ अणुशब्दोऽल्पवचन'। अणूनि व्रतान्यस्य अणुव्रतोऽगारीत्युच्यते। कथमस्य व्रतानामणुत्वम्। सर्वसावद्यनिवृत्त्यसभवात्। कुतस्तर्ह्यसौ निवृत्त। त्रसप्राणिव्यपरोपणान्निवृत्त अगारीत्याद्यमणुव्रतम्। स्नेहमोहादिवशाद् गृहविनाशे ग्रामविनाशे वा कारणमित्यभिमतादसत्यवचनान्निवृत्तो गृहीति द्वितीयमणुव्रतम्। अन्यपीडाकर पार्थिवभयादिवशादवश्य परित्यक्तमपि यददत्त तत प्रतिनिवृत्तादर श्रावक इति तृतीयमणुव्रतम्। उपात्ताया अनुपात्तायाश्च पराङ्गनाया सङ्गान्निवृत्तरतिर्गृहीति चतुर्थमणुव्रतम्। धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृतपरिच्छेदो गृहीति पञ्चममणुव्रतम्। =अणु शब्द अल्पवाची है। जिसके व्रत अणु अर्थात् अल्प है, वह अणुव्रतवाला अगारी कहा जाता है। प्रश्न—अगारीके व्रत अल्प कैसे है? उत्तर—अगारीके पूरे हिंसादि दोषोका त्याग सम्भव नही है, इसलिए उसके व्रत अल्प है। प्रश्न—तो यह किसका त्यागी है? उत्तर—यह त्रसजीवोकी हिंसाका त्यागी है, इसलिए इसके पहिला अहिंसा अणुव्रत होता है। गृहस्थ स्नेह और मोहादिके वशसे गृहविनाश और ग्रामविनाशके कारण असत्य वचनसे निवृत्त है इसलिए उसके दूसरा सत्याणुव्रत होता है। श्रावक राजाके भय आदिके कारण दूसरेको पीडाकारी जानकर बिना दी हुई वस्तुको लेनेसे उसकी प्रीति घट जाती है, इसीलिए उसके तीसरा अचौर्याणुव्रत होता है। गृहस्थके स्वीकार की हुई या बिना स्वीकार की हुई परस्त्रीका सग करनेसे रति हट जाती है, इसलिए उसके परस्त्रीत्याग नामका चौथा अणुव्रत होता है। तथा गृहस्थ धन, धान्य और क्षेत्र आदिका स्वेच्छासे परिमाण कर लेता है, इसलिए उसके पाँचवाँ परिग्रहपरिमाण अणुव्रत होता है। (रा. वा /७/२०/-/५४७/४)।

८. अणुव्रतमें कथंचित् महाव्रतपना

दे दिग्व्रत, देशव्रत—[की हुई मर्यादासे बाहर पूर्ण त्याग होनेसे श्रावकके अणुव्रत भी महाव्रतपनेको प्राप्त होते है।]

दे. सामायिक/३ [सामायिक कालमें श्रावक साधु तुल्य है।]

९. महाव्रतमें कथंचित् देशव्रतपना

द्र. स /टी /५७/२३०/४ प्रसिद्धमहाव्रतानि कथमेकदेशरूपाणि, जातानि। इति चेदुच्यते—जीवघातनिवृत्तौ सत्यामपि जीवरक्षणे प्रवृत्तिरस्ति। तथैवासत्यवचनपरिहारेऽपि सत्यवचनप्रवृत्तिरस्ति। तथैव चादत्तादानपरिहारेऽपि दत्तादाने प्रवृत्तिरस्तीत्येकदेशप्रवृत्त्यपेक्षया देशव्रतानि तेषामेकदेशव्रतानां त्रिगुप्तिलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले त्याग। =प्रश्न—प्रसिद्ध अहिंसादि महाव्रत एकदेशरूप कैसे हो गये? उत्तर—अहिंसा, सत्य और अचौर्य महाव्रतोंमें यद्यपि जीवघातकी, असत्य बोलनेकी तथा अदत्त ग्रहणकी निवृत्ति है, परन्तु जीवरक्षाकी, सत्य बोलने और दत्तग्रहणकी प्रवृत्ति है। इस एकदेश प्रवृत्तिकी अपेक्षा ये एक देशव्रत है। त्रिगुप्तिलक्षण निर्विकल्प समाधिकालमें इन एक देशव्रतोका भी त्याग हो जाता है [अर्थात् उनका विकल्प नही रहता। —दे० चारित्र/७/१०]। [प. प्र /टी./२/५२/१७३/७), (दे० संवर/२/५)।

दे० धर्म/३/२ [व्रत व अव्रतसे अतीत तीसरी भूमिका ही यथार्थ व्रत है।]

१०. अणु व महाव्रतोंके फलोंमें अन्तर

चा. सा /५/६ सम्यग्दर्शनमणुव्रतयुक्तं स्वर्गाय महाव्रतयुक्तं मोक्षाय च। =अणुव्रत युक्त सम्यग्दर्शन स्वर्गका और महाव्रत युक्त मोक्षका कारण है।

व्रतचर्या क्रिया—दे. संस्कार।

व्रत प्रतिमा—

र.क श्रा/१३८ निरतिक्रमणमणुव्रतपञ्चकमपि शीलसप्तकं चापि। धारयते निःशल्यो योऽसौ व्रतिनां मतो व्रतिक।१३८। =जो शल्य रहित होता हुआ अतिचार रहित पाँचो अणुव्रतोंको तथा शील सप्तक अर्थात् तीन गुणव्रतो और चार शिक्षाव्रतोको भी धारण करता है, ऐसा पुरुष व्रतप्रतिमाका धारी माना गया है। (व. श्रा /२०७); (का. आ./मू /३३०), (द्र स./टी /४५/१९५/४)।

सा. ध /४/१-६४ का भावार्थ—पूर्ण सम्यग्दर्शन व मूल गुणों सहित निरतिचार उत्तर गुणोंको धारण करनेवाला व्रतिक श्रावक है।१। तहाँ अहिंसाणुव्रत गौ आदिका वाणिज्य छोडे। यह न हो सके तो उनका बन्धनादि न करे। यह भी सम्भव न हो तो निर्दयतासे बन्धन आदि न करे।१६। कषायवश कदाचित् अतिचार लगते है।१७। रात्रि भोजनका पूर्ण त्याग करता है।२७। अन्तराय टालकर भोजन करता है।३०। भोजनके समय।३४। व अन्य आवश्यक क्रियाओंके समय मौन रखता है।३८। सत्याणुव्रत—झूठ नहीं बोलता, झूठी गवाही नहीं देता, धरोहर सम्बन्धी झूठ नहीं बोलता परन्तु स्वपर आपदाके समय झूठ बोलता है।३९। सत्यसत्य, असत्यसत्य, सत्यासत्य तो बोलता है पर असत्यासत्य नहीं बोलता।४०। सावद्य वचन व पाँचो अतिचारोंका त्याग करता है।४५। अचौर्याणुव्रत कहींपर भी गडा हुआ या पडा हुआ धन आदि अदत्त ग्रहण नही करता।४८। अपने धनमें भी सशय हो जानेपर उसे ग्रहण नहीं करता।४९। अतिचारोका त्याग करता है।५०। ब्रह्मचर्याणुव्रत—स्वदारके अतिरिक्त अन्य सब स्त्रियोका त्याग करता है।५१-५२। इस व्रतके पाँचो अतिचारोका त्याग करता है।५८। परिग्रहपरिमाणव्रत—एक घर या खेतके साथ अन्य घर या खेत जोडकर उन्हें एक गिनना, एक गाय रखनेके लिए गर्भवती रखना, अपना अधिक धन सम्बन्धियोको दे देना इत्यादि क्रियाओका त्याग करता है।६४।

सा ध./५/१५-२३ भोगोपभोग परिमाण व्रतके अन्तर्गत सर्व अभक्ष्यका त्याग करता है।१५-१६। १५ प्रकारके खर कर्मोका त्याग करता है।२१-२३।

सा. ध /६/१८-२६ अनवद्य व्यापार करे।१८। उद्यानमें भोजन करना, पुष्प तोडना आदिका त्याग करे।२०। अनेक प्रकारके पूजन विधान आदि करे।२३। दान देनेके पश्चात् स्वय भोजन करे।२४। आगम चर्चा करे।२६।

★ व्रत व अन्य प्रतिमाओंमें अन्तर

—दे. वह वह नाम।

व्रत शुद्धि—दे. शुद्धि।

व्रतारोपण योग्यता—दे. व्रत/१/५।

व्रतावरण क्रिया—दे. संस्कार।

व्रती—

स. सि./६/१२/३३०/११ व्रतान्यहिंसादीनि वक्ष्यन्ते, तद्वन्तो व्रतिनः। =अहिंसादिक व्रतोंका वर्णन आगे करेंगे। (कोशमें उनका वर्णन व्रतके विषयमें किया जा चुका है)। जो उन व्रतोंसे युक्त है वे व्रती कहलाते हैं। (रा. वा./६/१२/२/५२२/१४)।

२. व्रतीके भेद व उनके लक्षण

त. सू./७/१९ अगार्यनगारश्च।१९। =उस व्रतीके अगारी और अनगारी ये दो भेद हैं।

स. सि./६/१२/३३०/१२ ते द्विविधा। अगारं प्रति निवृत्तौत्सुक्या: संयता गृहिणश्च संयतासंयता। =वे व्रती दो प्रकारके हैं—पहले वे जो घरसे निवृत्त होकर संयत हो गये हैं। और दूसरे गृहस्थ संयतासंयत। (रा. वा./६/१२/२/५२२/१५)।

त. सा./४/७९ अनगारस्तथागारी स द्विधा परिकथ्यते। महाव्रतानगार: स्यादगारी स्यादणुव्रत:।७९। =वे व्रती अनगार और अगारीके भेदसे दो प्रकारके हैं। महाव्रतधारियोंको अनगार और अणुव्रतियोंको अगारी कहते हैं। (विशेष दे. वह वह नाम अथवा साधु व श्रावक)

२. व्रती निःशल्य ही होता है

भ. आ./मू./१२१४/१२१३ णिस्सल्लसेव पुणो महव्वदाइं सव्वाइं। वदमुवहम्मदि तीहि दु णिदाणमिच्छत्तमायाहिं।१२१४। =शल्य रहित यतिके सम्पूर्ण महाव्रतोंका संरक्षण होता है। परन्तु जिन्होंने शल्योंका आश्रय लिया है, उनके व्रत माया मिथ्या व निदान इन तीनसे नष्ट हो जाते हैं।

त. सू./७/१८ नि:शल्यो व्रती।१८। =जो शल्य रहित है वह व्रती है। (चा. सा./७/५)।

स. सि./७/१८/३५६/६ अत्र चोद्यते—शल्याभावान्नि:शल्यो व्रताभिसंबन्धाद् व्रती, न निःशल्यत्वाद् व्रती भवितुमर्हति। न हि देवदत्तो दण्डसम्बन्धाच्छत्री भवतीति। अत्रोच्यते—उभयविशेषणविशिष्टस्येष्टत्वात्। न हिंसाद्युपरतिमात्रव्रताभिसंबन्धाद् व्रती भवत्यन्तरेण शल्याभावम्। सति शल्यापगमे व्रतसंबन्धाद् व्रती विवक्षितो यथा बहुक्षीरघृतो गोमानिति व्यपदिश्यते। बहुक्षीरघृताभावात्सतीष्वपि गोषु न गोमांस्तथा सशल्यत्वात्सत्स्वपि व्रतेषु न व्रती। यस्तु निःशल्य: स व्रती। =प्रश्न—शल्य न होनेसे निःशल्य होता है और व्रतोंके धारण करनेसे व्रती होता है। शल्यरहित होनेसे व्रती नहीं हो सकता। जैसे—देवदत्तके हाथमें लाठी होनेसे वह छत्री नहीं हो सकता? उत्तर—व्रती होनेके लिए दोनों विशेषणोंमें युक्त होना आवश्यक है। यदि किसीने शल्योंका त्याग नहीं किया और केवल हिंसादि दोषोंको छोड़ दिया है तो वह व्रती नहीं हो सकता। यहाँ ऐसा व्रती इष्ट है जिसने शल्योंका त्याग करके व्रतोंको स्वीकार किया है। जैसे जिसके यहाँ बहुत घी दूध होता है, वह गाय वाला कहा जाता है। यदि उसके घी दूध नहीं होता और गायें हैं तो वह गायवाला नहीं कहलाता। उसी प्रकार जो सशल्य है, व्रतोंके होनेपर भी वह व्रती नहीं हो सकता। किन्तु जो निःशल्य है वह व्रती है। (रा. वा./७/१८/५-७/५४६/४)।

ज्ञा./१९/६३ व्रती नि:शल्य एव स्यात्सशल्यो व्रतघातक:।६३। =व्रती तो निःशल्य ही होता है। सशल्य व्रतका घातक होता है। (भ. आ./वि./११६/२७७/१३)।

अ. ग. श्रा./७/१९ यस्यास्ति शल्यं हृदये त्रिधेयं, व्रतानि नश्यन्त्यखिलानि तस्य। स्थिते शरीरे ह्यवगाह्य काण्डे, जनस्य सौख्यानि कुतस्तनानि।१९। =जिसके हृदयमें तीन प्रकारकी यह शल्य है उसके समस्त व्रत नाशको प्राप्त होते हैं। जैसे—मनुष्यके शरीरमें बाण घुसा हो तो उसे सुख कैसे हो सकता है।१९।

★ सब व्रतोंको एक देश धारनेसे व्रती होता है मात्र एक या दोसे नहीं—दे. श्रावक/३/६।

इति तृतीयः खण्डः